'कल्याण'के आगामी विशेषाङ्क—

संक्षिप्त महाभारताङ्क (प्रथम खण्ड) में

जानेवाले एक बहुरंगे चित्रका इकरंगा नमूना

श्रीहरिः

कल्याणके सोलहवें वर्षकी लेख-सूची

सङ्कलित

चित्र-सूची

इकरंगे

इकरंगे (लाइन)

इकरंगे (लाइन)

इकरंगे (लाइन)

इकरंगे (लाइन)

इकरंगे (लाइन)

इकरंगे (लाइन)

इकरंगे (लाइन)

भगवान राधा-गोविन्द

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, सितम्बर १९४१ सौर भाद्रपद १९९८ { संख्या २ पूर्ण संख्या १८२

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

(श्रीमद्भागवत १ । १ । ३)

'रसिक एवं भावुक भक्तजन ! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका पका हुआ फल है । श्रीशुकदेवरूप तोतेके मुखका सम्बन्ध होनेसे यह परमानन्दमयी सुधासे परिपूर्ण हो गया है । यह मूर्तिमान् रस है । जबतक शरीरमें चेतना रहे तथा जबतक संसारका प्रलय न हो जाय, तबतक इस दिव्य भगवद्-रसका निरन्तर बार-बार पान करते रहो । यह इस पृथ्वीपर ही सुलभ है ।'

भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार

(कुन्तीद्वारा की हुई स्तुतिसे)

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥

आप श्रीकृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्दगोपकुमार, गोविन्दको बार-बार नमस्कार, नम

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥

जिनकी नाभिसे ब्रह्माजीका उत्पत्तिस्थान कमल प्रकट हुआ है, जो कमनीय कमलोंकी माला धारण करते हैं, जिनके कमलके समान कोमल और विशाल नेत्र हैं और जिनके [चरणोंमें] कमल अङ्कित हैं, ऐसे आप श्रीकृष्णको नमस्कार, नमस्कार, नमस्कार, नमस्कार !

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥

'जो निर्धनोंके परम धन हैं, जो माया-प्रपञ्चसे सर्वथा रहित हैं, जो सदा आत्मामें ही र[मण] करते हैं, परम शान्त हैं और कैवल्यमोक्षके मालिक हैं, ऐसे आप श्रीकृष्णको नमस्कार, नमस्कार!

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥

जो लोग आपकी लीलाओंका सदा श्रवण, गायन, कीर्तन और स्मरण करते हैं तथा आन[न्दित] मग्न होते रहते हैं वे जन्म-मरणरूप भवके प्रवाहसे बचा लेनेवाले आपके चरणकमलोंका शीघ्र [ही] दर्शन पा जाते हैं ।

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥

जैसे गङ्गाजीकी धारा सारे विघ्नोंको हटाती हुई निरन्तर समुद्रमें गिरती रहती है वै[से ही] मेरी बुद्धि भी किसी दूसरी ओर न जाकर निरन्तर आपके प्रेमसमुद्रमें ही लीन होती रहे ।

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥

श्रीकृष्ण! अर्जुनके सखा! यदुवंशशिरोमणे! आप पृथ्वीके भारस्वरूप राजवेशधारी दैत्योंके जलानेके लिये अग्निस्वरूप हैं। आपकी शक्ति अनन्त है। गोविन्द! आप गौ, ब्राह्मण और देवताओंके दुःख दूर करनेके लिये ही अवतार लेते हैं। योगेश्वर! चराचरके गुरु भगवन्! आपको नमस्कार है।

समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

हरिः ॐ तत्सत्

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतम्

प्रथमस्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

हरिः ॐ तत्सत्

अथ तृतीयोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतम्

प्रथमस्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतम्

तृतीयस्कन्धः

इति द्वितीयस्कन्धः समाप्तः

इति तृतीयस्कन्धः समाप्तः ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

श्रीमद्भागवतम्

दशमस्कन्धः

(पूर्वार्ध)

अथ प्रथमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ सप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथैकसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ चतुर्थोऽध्याय

राजोवाच

द्रुमिल उवाच

अथ पञ्चमोऽध्याय

राजोवाच

चमस उवाच

अथ षष्ठोऽध्याय

अथ सप्तमोऽध्याय

श्रीभगवानुवाच

श्रीशुक उवाच

उद्धव उवाच

उद्धव उवाच

श्रीभगवानुवाच

उद्धव उवाच

श्रीभगवानुवाच

उद्धव उवाच

श्रीभगवानुवाच

श्रीभगवानुवाच

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

र्ष १६ } गोरखपुर, नवम्बर १९४१ सौर कार्तिक १९९८ { संख्या ४
पूर्ण संख्या १८४

अवधकी वीथियोंमें

बिहरत अवध-बीथिन राम ।
संग अनुज अनेक सिसु नव-नील-नीरद-स्याम ॥
तरुन अरुन सरोज-पद बनी कनकमय पद-त्रान ।
पीतपट कटि तून बर कर ललित लघु धनु बान ॥
लोचननिको लहत फल छबि निरखि पुर नर-नारि ।
बसत तुलसीदास उर अवधचंद सुत चारि ॥

—तुलसीदासजी

कल्याण

विश्वास करो–भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और सबके सुहृद् हैं, और वे सदा-सर्वदा सर्वत्र तुम्हारे साथ हैं, उनका रक्षक हाथ सदा तुम्हारी रक्षाके लिये तैयार है।

विश्वास करो–तुम्हारे अंदर भगवान् विराजमान हैं, तुम्हारे अंदर उनकी शक्ति छिपी हुई है। तुम चाहो तो अपने अंदर उनका अनुभव कर सकते हो, उन्हें देख सकते हो और उनकी अचिन्त्य शक्तिसे शक्तिमान् बन सकते हो!

विश्वास करो–उनकी शक्तिके सामने पाप-तापकी, शोक-मोहकी, विषाद-दुःखकी, माया-ममताकी ताकत नहीं है कि वे तुम्हारे समीप भी आ सकें। तुम्हें वशमें करना तो बहुत दूरकी बात है!

विश्वास करो–तुमपर पाप-ताप आदिका आक्रमण तभी होता है जब तुम भगवान् और भगवान्‌की शक्तिकी ओर नहीं देखते—अपने अंदर ही उनके होनेका विश्वास नहीं करते।

विश्वास करो–तुम चाहो तो सहज ही भगवान्‌की शक्तिके सहारे शान्तिसे अशान्तिको, आनन्दसे शोकको, वैराग्यसे आसक्तिको, ज्ञानसे मोहको, प्रकाशसे तमको, हर्षसे विषादको, आशासे निराशाको, अनुभवसे कल्पनाको और नित्य भगवद्भावसे सारे अभावोंको दूर कर सकते हो!

विश्वास करो—भगवान् समग्र शान्ति, समग्र आनन्द, समग्र ज्ञान, समग्र प्रकाश, समग्र हर्ष, समग्र आशा, समग्र वैराग्य, समग्र अनुभव और समग्र स्वभावको लेकर नित्य-निरन्तर तुम्हारे अंदर विराजमान हैं।

विश्वास करो–विश्वासपूर्वक प्रार्थना करते ही, स्मरण करते ही भगवान् तुम्हें अपनानेके लिये तैयार हैं। उनका अमल प्रकाश तुम्हारे जीवन-पथको सर्वथा प्रकाशित कर देगा और तुम सहज ही उनके मधुर मनोहर मुसकानभरे मुखड़ेको देखकर निहाल हो जाओगे।

विश्वास करो–इसी जीवनमें, इसी यात्रामें तुम अपनी अनन्त कालकी अपूर्ण कामनाको पूर्ण कर सकते हो, भगवान्‌को पाकर अपने अल्प, ससीम और दुःखमय जीव-जीवनको महान, असीम, अनन्त और आनन्दमय बना सकते हो!

'शिव'

जल गयी !

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

त्रेतायुगमें एक राजाने सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ताको अपना गुरु करनेके उद्देश्यसे अपने देशके सभी विद्वान् ब्राह्मणोंको एकत्र किया। ग्यारह हजार ब्राह्मण राजाकी सभामें आये परन्तु उनमेंसे राजाके प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देनेमें कोई भी समर्थ न हो सका। तब राजाने तीन दिनोंतक सब ब्राह्मणोंको परस्पर विचार करने और चौथे दिन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये कहा। ब्राह्मण अनशन रहकर तीन दिनतक अग्निदेवका ध्यान करते रहे। चौथे दिन उदास होकर नियत समयपर राजसभामें पहुँचे। राजा भी मन्त्री आदिसहित आ गया और ब्राह्मणोंसे प्रश्न करनेको ही था कि इतनेमें ही अग्निके समान चमकता हुआ एक ब्राह्मण-बालक सभामें आया। ऐसा मालूम होता था मानो ब्राह्मणोंके उपास्यदेवता स्वयं अग्नि ही बालकका रूप धारण करके अपने उपासकोंकी लाज बचानेके लिये आ गये हों। दिव्य बालकको देखकर राजाने ग्यारह हजार ब्राह्मणोंसहित उठकर उसका स्वागत किया और उसे ऊँचे सिंहासनपर बैठाया। तदनन्तर राजा और बालकमें इस प्रकार बातचीत हुई—

'ब्रह्मज्ञान कितनी देरमें होता है ?'

'क्षणभरमें ।'

'सच्चे वाक्यसे होता है या झूठे वाक्यसे ?'

'झूठे वाक्यसे ।'

'ब्रह्मज्ञानीमें काम-क्रोध-लोभ होते हैं या नहीं ?'

'सब होते हैं ।'

'तब ज्ञानी और अज्ञानीमें क्या विलक्षणता है ?'

'अज्ञानीके काम-क्रोध इस लोकमें उसकी निन्दा कराते हैं और परलोकमें नरककी प्राप्ति कराते हैं, इसके विपरीत ज्ञानीके काम-क्रोध इस लोकमें ज्ञानीकी कीर्ति फैलाते हैं और परलोकमें अपार आनन्द दिखाते हैं ।'

'महाराज ! श्रुति सबसे प्रबल प्रमाण [illegible] युक्तिके बिना श्रुति पानीमें पत्थरके समान है [illegible] कथन लोकदृष्टिसे विरुद्ध-सा जँचता है, [illegible] युक्तिसे सिद्ध कीजिये। युक्तियुक्त वाक्य [illegible] स्वीकार करते हैं, युक्तिरहित वाक्य [illegible] नहीं करता ।'

'राजन् ! सच है, युक्ति बिना कोई [illegible] योग्य नहीं है। अच्छा सुनो, युक्ति [illegible] किसी करोड़पति सेठके एक इकलौता पुत्र [illegible] सिवा सेठके दूसरी कोई सन्तान नहीं [illegible] सेठको बहुत ही प्रिय था। सेठकी हवेली [illegible] किनारेपर थी। एक दिन साहूकारका [illegible] ऊपरकी गोखमें बैठा हुआ था। [illegible] लदे हुए ऊँटोंकी एक लम्बी कतार [illegible] निकली, लड़का बहुत देरतक ऊँटोंको [illegible] परन्तु ऊँटोंकी लैनडोरी ऐसी [illegible] गिन न सका। अमाप अतोल [illegible] आँखें चौंधिया गयीं और आश्चर्य [illegible] उठा—'कौन धुनेगा ! कौन कातेगा ! [illegible] ज्यों-ज्यों ये शब्द उसके मुखसे [illegible] आश्चर्य बढ़ता जाता था। अब तो उसे [illegible] चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते [illegible] लगा, 'कौन धुनेगा ! कौन कातेगा ! [illegible] यों गाते-गाते वह पूरा पागल हो [illegible] बड़ी चिन्ता हुई। वैद्य, डाक्टर और [illegible] भरी गयीं, ज्योतिषी-सयाने [illegible] रुपया खर्च होने लगा। [illegible] गये, नवग्रह आदिके मन्त्र-जप [illegible] किये गये, दान भी बहुत [illegible]

न हुआ, लड़केको [illegible] और बहुत ही दीन [illegible] । और [illegible] गये, [illegible] — [illegible] ! [illegible] है, [illegible] धन [illegible] हो, तो [illegible] दीजिये सेठ !' मनुष्यलोक पुत्रसे है, धन नष्ट होनेसे पुत्रकी रक्षा होती हो, तो निश्चय पुत्रको धनका लोभ छोड़ देना चाहिये। यदि यह अपना आधा धन मुझे देना स्वीकार करे तो लड़केको मैं अच्छा कर दूँ! लड़का अच्छा हो जाय, तब धन देना, मैं पहले नहीं माँगता। बिना काम किये मैं किसीका धन नहीं लेता, यह मेरे गुरुकी आज्ञा है।' साहूकार खुशी-खुशी राजी हो गया। संतकी आज्ञासे एक कमरा राजसी ठाटसे सजाया गया, अनेकों प्रकारके देव-देवियोंके अद्भुत चित्र यथास्थान लगाये गये, झाड़-फानूस लटकाये गये, दिव्य-सुगन्धित पदार्थोंसे सब दिशाएँ महका दी गयीं। जब कमरा पूर्ण रीतिसे सज गया तब संत उस लड़केको लेकर कमरेमें घुस गये। उन्होंने और सबको अंदर आनेकी मनाही कर दी। एकान्तमें संतने लड़केसे पूछा—'बच्चा! क्या कहता है?' लड़का संतकी दिव्यदृष्टि और मधुर वाणीसे प्रभावित और कमरेकी महकसे कुछ शान्त-सा होकर हाथ जोड़कर कहने लगा—'महाराज! कौन धुनेगा! कौन कातेगा! कौन बुनेगा!' संतने हँसते हुए झटसे कहा—'बच्चा! वह तो तभी जल गयी।' लड़का होशमें आकर बोला—'क्या जल गयी?' संत बोले—'हाँ, हाँ, जल गयी।

राजन्! जैसे संतके मिथ्या वचनसे लड़केका पागलपन जाता रहा, इसी प्रकार गुरु-शास्त्रके मिथ्या वचनसे मिथ्या अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। कहा भी है 'जैसा देव वैसी सेव!' गोबरके गोवर्धनमें कौड़ियोंकी ही आँखें लगायी जाती हैं।

जैसे संतकी अग्निरूप वाणीसे क्षणभरमें रूई जल गयी, इसी प्रकार ज्ञानाग्निसे क्षणभरमें कर्मरूपी रूई जल जाती है।* संत स्वाभाविक ही सबके हितके लिये विचरते रहते हैं, यही उनकी कामना—काम है, अधिकारीसे अधिकारके अनुसार लोकसंग्रहार्थ धनादि ले लेते हैं, यही उनका लोभ है, वेदानुसारी धर्ममें उनका राग है और वेदविरुद्ध धर्मसे वे द्वेष भी करते हैं। यों संतोंके काम, क्रोध, लोभ सभी केवल लोकहितके लिये ही होते हैं। उनमें कोई स्वार्थ, आसक्ति, आवेश आदि अज्ञानजनित कारण नहीं होता। सबका निःस्वार्थ हित करना संतोंका स्वाभाविक लक्षण है। जैसे कीले हुए साँप सँपेरेकी हानि नहीं करते किन्तु उसके भरण-पोषणके साधन होते हैं, इसी प्रकार ज्ञानीके ये दीखने-मात्रके कामादि ज्ञानीकी हानि नहीं करते, उलटा उसका यश बढ़ाते हैं और विश्वभरका हित करते हैं।'

राजाने बालक ब्राह्मणको गुरु बनाया और उसके उपदेशसे वह कृतार्थ हो गया। ब्रह्मादि गुरुओंकी जय!

शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

---

* होता है, उसीके कर्म जलते हैं, अन्यके नहीं।

भागवतमें ईश्वर और जीवतत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०)

(१)

…येक दार्शनिक प्रस्थान तथा धर्म-सम्प्रदाय अपने-…ष्टिकोणके अनुसार जीव और ईश्वरतत्त्वका निरूपण …की चेष्टा करते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी विभिन्न प्रसङ्गोंमें …प्रकारकी आलोचना देखनेमें आती है। इस …वनाका आश्रय लेकर आचार्योंने एक बृहत् साहित्यकी …की है। हम यहाँ इसके सम्बन्धमें अपना कोई अभिमत …न करके केवल मूलग्रन्थके अभिप्राय और तात्पर्यकी …ध्यान रखकर यथासम्भव संक्षेपमें दो-चार बातें लिखनेकी …करेंगे। श्रीमद्भागवतमें उपदिष्ट तत्त्वकी ठीक ठीक …ख्या करनेकी योग्यता रखनेवाले पुरुष विरले ही हैं। …कि यह प्रसिद्ध है कि—

> ब्रह्मानुभवसम्पन्नाः शास्त्रज्ञाश्चानसूयवः।
> तात्पर्यरससारज्ञास्त एवात्राधिकारिणः॥

'जो ब्रह्मानुभूतिसे युक्त हैं, शास्त्रके मर्मको …नते हैं, असूयारहित हैं तथा तात्पर्यके ज्ञाता हैं, वे ही …भागवतके गूढ़ार्थको प्रकट करनेका अधिकार रखते हैं।'

हमारी यह चेष्टा तो केवल महाजनोंके चरणचिह्नोंका अनुसरण करते हुए अपनी व्यक्तिगत जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिये क्षुद्र उद्योगमात्र है।

श्रीभगवान्ने अपने तत्त्वके विज्ञानके विषयमें ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेश दिया है—

> अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
> पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥*
>
> (श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही था—दूसरी कोई वस्तु न थी। तब मैं था केवल, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अथवा कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत् अथवा कारणात्मक सूक्ष्म भाव न था; यहाँतक कि दोनोंका कारण-स्वरूप प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें ही लीन था। …ष्टिके पीछे भी मैं ही हूँ अर्थात् यह प्रपञ्च विस्तार अथवा विश्व भी मैं ही हूँ। यह वस्तुतः मुझसे भिन्न नहीं है। फिर प्रलयकालमें सबके लीन हो जानेपर एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा। अतएव मैं अनादि, अनन्त, अद्वितीय तथा परिपूर्णस्वरूप हूँ।'

इससे समझा जा सकता है कि निर्गुण, सगुण, जीव और जगत् सभी ब्रह्मरूप हैं।*

(२)

हम यहाँ और भी स्पष्टरूपसे विभिन्न दृष्टिकोणसे इस विषयको समझनेकी चेष्टा करते हैं।

चैतन्य ही ब्रह्म या भगवान्का स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यह जब सत्त्वगुणरूपी उपाधिके द्वारा अवच्छिन्न नहीं होता तब अव्यक्त और निराकारभावमें वर्तमान रहता है। इसीको साधारणतः 'निर्गुण ब्रह्म' कहकर वर्णन किया जाता है। और जब यह सत्त्वसे अवच्छिन्न होता है तब यह साकार या सगुणरूपमें व्यक्त होता है। वस्तुतः निराकार और साकार एक ही अखण्ड वस्तु है। चिद् वस्तु स्वरूपतः अव्यक्त है, वह प्रकृतिके सत्त्वगुणके सम्बन्धसे व्यक्त होती है। परन्तु व्यक्त होकर भी वह एक ही रहती है। रजोगुणके संयोगके कारण वही एक सत्ता विचित्र नाना रूपोंमें आभासित होती है। इसी प्रकार तमोगुणके संयोगके कारण नानात्वका तिरोधान हो जाता है। यह जो अव्यक्त सत्ताकी व्यक्तता है, यही 'स्थिति' कहलाती है, यह विशुद्ध सत्त्वगुणका व्यापार है। इससे जो नाना रूप फूट पड़ते हैं, उसे 'सृष्टि' कहते हैं। एकमें अन्तर्लीन बहुत्वका प्रकट होना ही सृष्टिका दूसरा नाम है। कालान्तरमें यह बहु रूप उपसंहृत होता है। इसीका नाम 'संहार' है। पहले स्थिति है, उसके पश्चात् सृष्टि और फिर संहार। निर्मल तत्त्वके ऊपर रजोगुण और तमोगुण आवरण विक्षेपके रूपमें,

---

* …गीता (८। ७। १७) में इसी अवस्थाको …सदासीत्' इत्यादि रूपसे वर्णन किया गया है।

* इसी कारण आचार्य शङ्करने '…' के उपोद्घातमें कहा है—

> निर्गुणं सगुणं … जगदात्मकम्। × × ×
> एवं चतुर्विधं ब्रह्म … स्फुटम्॥

यह स्वयं स्वरूपतः निर्गुण, … दोनोंसे सगुण, … कारण … तथा … है।

य एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥
(११ । ४ । ३-४)

आदिदेव नारायण प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर ...की सृष्टि करते हैं तथा उनके द्वारा ब्रह्माण्ड नामक पुरी अथवा देहकी रचना करते हैं । तत्पश्चात् उसमें अंशके द्वारा अथवा 'जीवकला' के द्वारा प्रविष्ट होकर ' संज्ञाको प्राप्त होते हैं । यह दृश्यमान त्रिभुवन उनका है—समष्टि और व्यष्टि जीवोंकी दोनों प्रकारकी इन्द्रियाँ । दिग्वातादि इन्द्रियोंमे उत्पन्न हैं, जीवोंका ज्ञान स्वरूपभूत सत्त्वसे उत्पन्न है । जीवोंका बल शक्ति), तेज (इन्द्रियशक्ति) और क्रिया उनके से उत्पन्न हैं । सत्त्वादि गुणोंके द्वारा वही विश्वकी ... आदिके आदिकर्ता हैं—विष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्र ...क तीनों गुणावतार तो केवल प्रयोजकमात्र हैं ।'*

भागवत (८ । २० । २१–३३)में वामनरूपके वर्णनके ...में पुरुषरूपका वर्णन मिलता है । यह त्रिगुणात्मकरूप ...सका यहाँ उल्लेख है । इस रूपमें वहाँ भूः, आकाश, ...क, पाताल, मेघ, तिर्यक् योनि, मनुष्य, देवता, ऋषि ...दि स्थावर-जंगम समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर हुए थे । ...राज बलिने अपने ऋत्विक् आचार्य और सदस्योंके साथ ...विभूतिसे सम्पन्न श्रीहरिके देहमें त्रिगुणमय विश्वको ...ा था । उसमें पञ्चभूत, दसों इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, ...र अन्तःकरण तथा जीवकी सत्ताको भी प्रत्यक्ष देखा था—

...ये बलिमस्य महाविभूतेः सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत् ।
...र्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २० । २२)

अर्जुनने जिस प्रकार भगवान्के दिये हुए दिव्य ...तुओंके द्वारा उनके विश्वरूपका दर्शन किया था, कहनेकी ...वश्यकता नहीं कि बलिने भी उसी प्रकार भगवत्कृपासे ...व्यचक्षु प्राप्त किया था ।

भगवान्के परम रूपके दर्शनके पूर्व यह विश्वरूप दर्शन अधिकांश साधकोंको हुआ करता है । बुद्धदेवने भी सम्यक् सम्बोधि प्राप्त होनेके पूर्व इस प्रकारके विराट् रूपका दर्शन किया था—इस बातका उल्लेख अश्वघोषने बुद्धचरितमें किया है—

'ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले ।'

पुरुषावतारके पश्चात् गुणावतारके विषयकी आलोचना होनी चाहिये । पूर्ववर्णित आद्यपुरुष सर्वप्रथम जगत्की सृष्टिके लिये रजोगुणके अंशमे ब्रह्मा बनते हैं, स्थितिके लिये सत्त्वगुणके अंशमें धर्म तथा ब्राह्मणोंके रक्षक यज्ञपति विष्णु बनते हैं, तथा संहारके लिये तमोगुणके अंशमें रुद्ररूप धारण करते हैं । गुणत्रयका आश्रय लेकर इस प्रकार एक ही पुरुष उन-उन नामोंको धारण करता हुआ जगत्की उत्पत्ति, रक्षा और प्रलयकी व्यवस्था करता है ।* इनमें ब्रह्माका वाहन हंस, विष्णुका गरुड (सुपर्ण) तथा रुद्रका वृष है । इनके कमण्डलु, चक्र, त्रिशूल आदि अपने-अपने विशिष्ट चिह्न हैं (श्रीमद्भा० ४ । १ । २४) ।

शुद्ध सत्त्वात्मक विष्णुरूपका विशेष वर्णन भागवत (१० । ८९ । ५४-५६) में अन्यत्र किया गया है । इसका श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ द्वारकाके मृत ब्राह्मणकुमारको लानेके लिये गर्भोदकमें जाकर दर्शन किया था । श्रीकृष्ण और अर्जुनने दिव्य रथपर सवार होकर पश्चिम दिशाकी ओर प्रस्थान किया, और सप्तद्वीप, सप्तसमुद्र तथा लोकालोक पर्वतको लाँघकर घनघोर अन्धकारमें प्रवेश किया । उस घने अन्धकारमें दिव्य अश्वकी भी चाल रुक गयी । तब उनके आदेशसे सुदर्शन चक्र सहस्रों सूर्यके समान उज्ज्वल अपनी किरणोंको बिखेरकर अन्धकारका नाश करता हुआ आगे-आगे चलने लगा और उसके दिखलाये हुए मार्गसे रथ आगे बढ़ा । इस प्रकार उन्होंने इस निविड़ तमोराशिको भेद करके उसके दूसरे पार स्थित अनन्त व्यापक ज्योतिराशिका दर्शन किया । † अर्जुनने उस ज्योतिकी झलक सहन न करके अपनी आँखें मूँद लीं । इसके बाद भयानक वायुके

---

* 'आदिकर्ता' शब्दकी यह व्याख्या श्रीधरसम्मत है । ...'सर्गादिरेवास्यादिरित्या' में कहा गया है कि, आदिकर्ता प्रथम कारण अथवा उपादान—अर्थात् पुरुष है । परवर्ती कारण निमित्त अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र हैं ।

* आद्यावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे, ... (श्रीमद्भा० ११ । ४ । ५) ।

† इसकी श्रीधरस्वामीने 'भगवत्-अंगज्योति' के रूपमें व्याख्या की है ।

वेगसे विशुद्ध विशाल दिव्य जलराशि दीख पड़ी। * उत्ताल तरङ्गोंसे तरङ्गायमान इस समुद्रमें एक अत्यन्त द्युतिशाली विशाल भवन दिखलायी दिया। यही 'महाकालपुर' (श्रीधरस्वामीके मतसे) था। यह भवन सहस्रों सुदीप्त मणिमय स्तम्भोंके द्वारा सुशोभित हो रहा था। वहाँ सहस्र मस्तकोंसे युक्त भगवान् शेषनाग विराजमान थे, जिनके प्रत्येक मस्तकपर उज्ज्वल मणिमय फण सुशोभित था तथा शरीर अत्यन्त भयानक और अद्भुत था। भगवान् महाविष्णु इस शेषनागरूपी शय्यापर सोये हुए थे।† उनके शरीरकी घने मेघके समान नील कान्ति थी, वे पीत वस्त्र धारण किये थे, प्रसन्नवदन थे, उनके नेत्र दीर्घ और सुन्दर थे। वे मणिमय किरीट-कुण्डल, बिखरे हुए चमकीले कुन्तल दाम, श्रीवत्सचिह्न, कौस्तुभ और वनमालासे आभूषित थे। उनकी लंबी-लंबी आठों भुजाएँ सुशोभित हो रही थीं। उनके चारों ओर सुनन्द, नन्द आदि पार्षदगण तथा मूर्तिमान् चक्रादि आयुध विराजमान थे। मूर्तिमती पुष्टि, श्री, कीर्ति और अजा तथा अखिल ऋषिवर्ग उनकी सेवा कर रहे थे।

यहाँ जिस रूपका वर्णन किया गया है ... मात्र रूप नहीं है। वे इच्छानुरूप ... इच्छाके अनुसार उन-उन स्वजनोंको ... जो भक्त उनके जिस रूपके दर्शन करनेके ... वे उसके सामने उसी रूपमें प्रकट होते हैं।

> त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
> आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु ...
> यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
> तत्तद्वपुः प्रणयसे ...
> (श्रीमद्...

'हे विष्णो! तुम पुरुषोंके ... हृदय-कमलमें अभिव्यक्त होकर अवस्थान ... पथ अथवा स्वरूपस्थितिका परिचय ... होता है। अतएव भक्तगण तुम्हारे जिस जिस ... मनमें चिन्तन करते हैं, तुम उनपर अनुग्रह ... उसी-उसी रूपमें आविर्भूत होते हो।'

भागवतमें अन्यत्र (३। २४। ३१) ... भगवान् 'अरूपी' हैं—उनका कोई रूप नहीं ... स्वजनोंमें जिनको जो रूप अच्छा ... जानना चाहिये।

> तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवं...
> यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानां ...
> (श्रीमद्भा० ...)"

यहाँतक हमने पुरुषावतार तथा गुणावतारों ... की। मुमुक्षु पुरुष समाधि-अवस्थामें ... करते हैं। परन्तु जिन साधकोंका चित्त अभी ... का अतिक्रमण करके समाधिस्थ नहीं हुआ है, ... और एक प्रकारके अवतारके ध्यान और ... व्यवस्था है। भगवान्‌के दिव्य जन्म तथा कर्म ... रूपी कर्मोंका श्रद्धापूर्वक चिन्तन करनेसे ... हो जाते हैं, और उसे इसकी प्राप्तिमें ... वे सब अवतार कल्पावतार, मन्वन्तरावतार ... और स्वल्पावतार-भेदसे चार ... कल्पावतारोंका वर्णन द्वितीय

---

* यही 'गर्भोदक' है, ऐसा हेमाद्रिने लिखा है। गर्भोदकके अवस्थानादिके विषयमें विशेष वर्णन प्राचीन आगमसाहित्यमें प्राप्त होता है। सप्तद्वीपोंमें अन्तिम द्वीपका नाम 'पुष्कर' है। यह स्वादु जलराशिसे वेष्टित है। इस स्वादु जलमय समुद्रके बाहर सुवर्णभूमि है। यह देवताओंकी क्रीडाभूमि है। इसके आगे वलयाकार लोकालोकपर्वत है। लोकालोकके भीतरकी ओर सूर्य प्रकाशित होता है, बाहर सूर्यका प्रकाश नहीं पहुँचता। सूर्य मेरु और लोकालोकके अन्तरालमें रहता है। लोकालोकके बाहर घोर अन्धकार है। वह 'दुष्प्रेक्ष्य' है। उसके आगे जीवहीन 'गर्भोद' नामक समुद्रराज है। सप्तसमुद्र तथा सप्तद्वीपा पृथ्वी इसीके गर्भमें स्थित है। गर्भोदकके बाहर ही ब्रह्माण्ड-कटाह है। यही प्रचलित मत है। सिद्धयोगीश्वर-तन्त्रके मतसे लोकालोकके निकट 'गर्भोद' और गर्भोदके तीरपर 'श्वेतद्वीप' है। सहस्रों सिद्ध पक्षिमण्डलसे घिरे हुए पक्षिराज गरुड़जी यहाँ निवास करते हैं।

† भागवतकारने 'पुरुषोत्तमोत्तमं' तथा 'परमेष्ठिनां पतिम्' कहकर इसी पुरुषको निर्दिष्ट किया है।

चौदह मन्वन्तरोंमें सम्बन्ध रखनेवाले चौदह [illegible]तारोंका विवरण अष्टम स्कन्धके १, ५, १२ तथा [illegible]ध्यायोंमें देखनेमें आता है। शुक्ल आदि वर्णोंके [illegible] अवतार चार हैं। इनके अतिरिक्त सृष्टिके व्यापारमें [illegible]जापतिगण, ऋषिगण और तप; स्थितिके व्यापारमें [illegible]ज, मनु, अमर और अवनीश अथवा राजा, तथा [illegible] कार्यमें अधर्म, हर और मन्युवश (सर्प)—ये [illegible]पाधिभूतियाँ भी अवतारमें गिनी जाती हैं।

[illegible]गुणातीत और निराकार स्वरूप ही भगवान्‌का परम [illegible]है, यह कहा गया है। परन्तु इस रूपकी धारणा [illegible] बहुत ही कठिन है। प्रथम भूमिकामें त्रैगुण्यविषयक [illegible]णा करनी पड़ती है। यही उनके पुरुषरूपका [illegible]न्तन है। इसके द्वारा चित्तके कुछ स्थिर होनेपर द्वितीय [illegible]मिकामें द्वैगुण्यकी धारणा करनी पड़ती है। यह ब्रह्मा-रुद्रदेवका रूप-चिन्तन है। इनका एक साथ ध्यान करना असम्भव नहीं है। यदि ध्यानके समय दो मूर्त्तियाँ रहें तो दोनोंमें अभिन्न भावना करनी पड़ती है। इस द्विविध धारणाके द्वारा रजोगुण और तमोगुणके अभिभूत होनेपर मुमुक्षु पुरुषको सत्त्वगुणको जय करनेके लिये तृतीय भूमिकामें शुद्धसत्त्वमय विष्णुकी धारणा करनी चाहिये। इसके पश्चात् चतुर्थ भूमिकामें निर्गुणकी धारणाका अधिकार प्राप्त होता है। मनुष्यकी बुद्धि स्थूल तथा सूक्ष्म क्रमका आश्रय लेकर अर्थको स्पर्श करती है। इसी कारण त्रिगुणात्मक भगवत्-रूपमें मनको प्रणिहित करके स्थिर कर लेना पड़ता है। फिर वह द्विगुणात्मकरूपमें, उसके बाद शुद्धसत्त्वमयरूपमें तथा अन्तमें निर्गुण सूक्ष्म ब्रह्ममें प्रविष्ट होकर नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूपका ध्यान करके कृतार्थ होता है।

(क्रमशः)

भागवतका सन्देश

कौन जिसे हम अर्चन करते ?
श्रुति बोली—अव्यक्त, अनन्त।
देखा—यशुदाके ऊखलमें—
बँधा रो रहा वह, हो क्लान्त !

मुनि कहते थे—वह अचिन्त्य है,
पूर्णकाम, निःसंग, अरूप।
विधि-हृत साथी ढूँढ़ रहा था,
कुंजोंमें चरवाहा रूप !!

लोग बताते हैं—वह निर्गुण,
ताथेइ ताथेइवाला कौन—
अद्भुत गुणी, वेणु लहरी सुन—
जिसकी, जड़-चेतन सब मौन !

अन्तरमें संघर्ष हो चला,
सच्चे कौन नेत्र या वेद ?
सत्यवती-सुत होकर आया—
वह चंचल, समझाने भेद।

दोनोंका ही एक समन्वय—
प्रेम, जहाँ वह विभु अव्यक्त—
विवश बना है, अज होकर भी—
बार बार होता है व्यक्त।

सम्भव और असम्भव कैसा ?
दोनों सत्य, दिव्य आदेश—
एकमात्र लीलामय उसमें।
यही भागवतका सन्देश॥

—सुदर्शनसिंह

संत-वचन

(१)

दुःखके दस कारण

कल्याण-पथमें चलनेवाले साधकको नीचे लिखी दस बातोंपर विचार करना चाहिये; क्योंकि ये ही दुःखके दस हेतु हैं।

(१) इस देव-दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर जब हम सत्कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं और जब हमें उस कार्यमें भगवान्‌की शक्ति प्राप्त है, जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थके कार्योंमें गँवाना दुःखका कारण है।

(२) इस परम दुर्लभ, परम पवित्र एवं भगवत्प्रदत्त मनुष्य-शरीरको पाकर भी यदि हम संसारमें और संसारके भोगोंमें ही लिप्त रहे, धर्म और सदाचारमें न लगे और इसी प्रकार विषयासक्ति और अधार्मिकतामें हमारी मृत्यु हो गयी तो यह दुःखका कारण है।

(३) इस कलियुगमें मानव-शरीर इतना अनिश्चित और क्षणभङ्गुर है कि पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय। ऐसी अवस्थामें संसारके प्रपञ्चों और विषय-भोगोंमें समय लगाना दुःखका कारण है।

(४) धर्मकार्यके लिये ही मनुष्यको यह शरीर मिला है, फिर भी यदि हमारा जीवन इस जगत्‌के प्रलोभनोंका शिकार हो जाय तो यह दुःखका कारण है।

(५) गुरु ही साधन-पथके प्रदर्शक हैं। ज्ञानकी प्राप्तिके पहले ही यदि उनके आश्रयका परित्याग कर दिया तो यह दुःखका कारण है।

(६) श्रद्धा, विश्वास, मन, साधनाके द्वारा ही हम इस भवसागरको पार करते हैं—संसारके आकर्षण यदि इन्हें छिन्न-भिन्न कर डालें तो दुःखका कारण है।

(७) गुरुकी कृपासे ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस ज्ञानको प्राप्त कर सांसारि[illegible] वासनाओंमें इसे लुटा देना दुःखका कारण है[illegible]

(८) आध्यात्मिक तत्त्वोंपर रोज़गार च[illegible] उन्हें बेच-बेचकर रोजी कमाना दुःखका का[illegible]

(९) चर-अचर सभी प्राणियोंमें [illegible] निवास है—ऐसी अवस्थामें किसीके प्रति भी [illegible] या घृणाका भाव रखना दुःखका कारण है।

(१०) जवानी ही शरीर, मन, बु[illegible] आत्माको पुष्ट करनेका सबसे उत्तम समय [illegible] अपवित्र कार्योंमें लगाना दुःखका कारण है।

दुःखके ये ही दस कारण हैं।

दस आवश्यकताएँ

(१) अपनी योग्यता और क्षमता जानकर सुनिश्चित कार्यमें लग जानेकी आवश्यकता है।

(२) गुरुकी आज्ञाके पालनमें श्रद्धा-विश्वास तथा अध्यवसायकी आवश्यकता है।

(३) गुरु-चरणमें भूल न हो जाय—इसके लिये अपने दोष-गुणोंका ज्ञान आवश्यक है।

(४) गुरुके ज्ञानके प्रकाशको ठीक-ठीक ग्रहण करनेके लिये आवश्यकता है अन्तःप्रज्ञा और अगाध विश्वासकी।

(५) मन, [illegible] कर्मकी पवित्रताको अक्षुण्ण [illegible] रखनेमें [illegible] है सतत सावधा[illegible]

([illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] होने लगेगी।

(८) सदाचार और सद्विचार और सत्य कर्मोंका पालन करते रहनेके लिये आवश्यकता है अनवरत लगनकी।

(९) मनमें और क्रियामें जब प्रेम और दयाकी कमी लक्षित होने लगे तो अपनेको जन-सेवाके कार्यमें लगा देना चाहिये।

(१०) श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा सद-सद्का इतना ज्ञान हो जाना चाहिये कि हम सत् और असत् दोनोंको ठीक-ठीक समझ जायँ और एकको दूसरेके बदलेमें ग्रहण न कर बैठें।

ये हैं दस आवश्यकताएँ।

(२)

जानने योग्य दस बातें

(१) हमें यह जानना चाहिये कि समस्त दृश्य-प्रपञ्च असत् है।

(२) हमें यह जानना चाहिये कि मनकी कोई स्वतन्त्र और स्थिर सत्ता नहीं है।

(३) हमें यह जानना चाहिये कि भावोंका उदय कारणोंकी शृङ्खला और तज्जन्य घात-प्रतिघातसे होता है।

(४) हमें यह जानना चाहिये कि हमारा शरीर पञ्चभूतोंके सङ्घातसे बना है अतएव यह विनश्वर है।

(५) हमें यह जानना चाहिये कि अशुभ कर्मोंका फल अशुभ ही होता है और सारे दुःखकी जड़ भी यही है।

(६) दुःखसे ही हम इस संसारसे ऊबकर आध्यात्मिक जीवनके अनुसन्धानमें लगते हैं, इसलिये यह दुःख ही हमारा गुरु है।

(७) संसार और संसारके पदार्थोंसे हमारी ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों हम आध्यात्मिक उन्नतिसे वञ्चित होते चले जाते हैं। हमें यह जानना चाहिये कि सांसारिक वैभव और आध्यात्मिक विकासमें महान् अन्तर है।

(८) विपदामें हम ईश्वरका सहारा ढूँढ़ते हैं, इसलिये विपत्ति गुरु है।

(९) संसारकी किसी भी वस्तुकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं।

(१०) संसारके सभी प्राणी और सभी वस्तुएँ परस्पर एक-दूसरेपर आश्रित हैं।

ये हैं दस जानने योग्य बातें।

(३)

आचरणमें लाने योग्य दस बातें

(१) साधनाके पथ चलकर अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, न कि सुनी-सुनायी बातोंको चट मान लेना चाहिये, जैसा प्रायः अधिकांश लोग करते हैं।

(२) न अपने शरीरसे मोह होना चाहिये, न अपने परिवारसे, न अपने देशसे। कारण कि यहाँ प्राप्तिका अर्थ है खोना, सृजनका अर्थ है संहार, मिलनका अर्थ बिछोह और जन्मका अर्थ है मृत्यु। ये साथ-साथ लगे ही रहते हैं।

(३) सच्चे गुरुका आश्रय पाकर हमें मद-मोह-ममता-अहङ्कारसे नाता तोड़ लेना चाहिये और गुरुके वचनोंका सचाईके साथ पालन करना चाहिये।

(४) श्रवण और मननके द्वारा जो कुछ भी प्रकाश प्राप्त हो [illegible] में अभि[illegible] करना चाहिये प्रत्युत [illegible]।

(५) [illegible] पर

प्रमाद-आलस्यके [illegible]

वरं सतत जागरूक [illegible]

उसे अधिकाधिक [illegible]

(६) [illegible]

जाकर उसका [illegible]

लोगोंकी भीड़-भाड़ [illegible]

भगवान्में ही प्रीति जोड़ो [illegible]

संत-वचन

(१)

दुःखके दस कारण

कल्याण-पथमें चलनेवाले साधकको नीचे लिखी दस बातोंपर विचार करना चाहिये, क्योंकि ये ही दुःखके दस हेतु हैं।

(१) इस देव-दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर जब हम सत्कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं और जब हमें उस कार्यमें भगवान्‌की शक्ति प्राप्त है, जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थके कार्योंमें गँवाना दुःखका कारण है।

(२) इस परम दुर्लभ, परम पवित्र एवं भगवत्प्रदत्त मनुष्य-शरीरको पाकर भी यदि हम संसारमें और संसारके भोगोंमें ही लिप्त रहे, धर्म और सदाचारमें न लगे और इसी प्रकार विषयासक्ति और अधार्मिकतामें हमारी मृत्यु हो गयी तो यह दुःखका कारण है।

(३) इस कलियुगमें मानव-शरीर इतना अनिश्चित और क्षणभङ्गुर है कि पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय। ऐसी अवस्थामें संसारके प्रपञ्चों और विषय-भोगोंमें समय लगाना दुःखका कारण है।

(४) धर्मकार्यके लिये ही मनुष्यको यह शरीर मिला है, फिर भी यदि हमारा जीवन इस जगत्‌के प्रलोभनोंका शिकार हो जाय तो यह दुःखका कारण है।

(५) गुरु ही साधन-पथके प्रदर्शक हैं। ज्ञानकी प्राप्तिके पहले ही यदि उनके आश्रयका परित्याग कर दिया तो यह दुःखका कारण है।

(६) श्रद्धा, विश्वास, व्रत, साधनाके द्वारा ही हम इस भवसागरको पार करते हैं—संसारके आकर्षण यदि इन्हें छिन्न-भिन्न कर डालें तो दुःखका कारण है।

(७) गुरुकी कृपासे ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस ज्ञानको प्राप्त कर सांसारिक विषय-वासनाओंमें इसे लुटा देना दुःखका कारण है।

(८) आध्यात्मिक तत्त्वोंपर रोजगार चलाना और उन्हें बेच-बेचकर रोजी कमाना दुःखका कारण है।

(९) चर-अचर सभी प्राणियोंमें ईश्वरका निवास है—ऐसी अवस्थामें किसीके प्रति भी असत्कार या घृणाका भाव रखना दुःखका कारण है।

(१०) जवानी ही शरीर, मन, बुद्धि और आत्माको पुष्ट करनेका सबसे उत्तम समय है। इसे अपवित्र कार्योंमें लगाना दुःखका कारण है।

दुःखके ये ही दस कारण हैं।

दस आवश्यकताएँ

(१) अपनी योग्यता और क्षमता जानकर सुनिश्चित कार्यमें लग जानेकी आवश्यकता है।

(२) गुरुकी आज्ञाके पालनमें श्रद्धा-विश्वास तथा अध्यवसायकी आवश्यकता है।

(३) गुरु-वरणमें भूल न हो जाय—इसके लिये अपने दोष-गुणोंका ज्ञान आवश्यक है।

(४) गुरुके ज्ञानके प्रकाशको ठीक-ठीक ग्रहण करनेके लिये आवश्यकता है अन्तःप्रज्ञा और अगाध विश्वासकी।

(५) मन, वचन और कर्मकी पवित्रताको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये आवश्यकता है सदा सावधानी और अखण्ड तत्परताकी।

(६) हृदयमें धारण किये हुए व्रत और प्रणको भलीभाँति निभानेके लिये आवश्यकता है आत्मिक बल और अखण्ड निष्ठाकी।

(७) बन्धनोंसे मुक्त रहनेके लिये आवश्यकता है

स्वाभाविक दमन और मोहहीन होकर सङ्ग-दोषसे बचनेकी।

(८) सदाचार और सद्विचार और सब कर्मोंके ईश्वरार्पण करते रहनेके लिये आवश्यकता है अनवरत साधनाकी।

(९) मनमें और क्रियामें जब प्रेम और दयाकी लहरें तरङ्गित होने लगें तो अपनेको जन-सेवाके कार्यमें लगा देना चाहिये।

(१०) श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा सद-सत्‌का इतना ज्ञान हो जाना चाहिये कि हम सत् और असत् दोनोंको ठीक-ठीक समझ जायँ और एकको दूसरेके बदलेमें ग्रहण न कर बैठें।

ये हैं दस आवश्यकताएँ।

(२)

जानने योग्य दस बातें

(१) हमें यह जानना चाहिये कि समस्त दृश्य-प्रपञ्च असत् है।

(२) हमें यह जानना चाहिये कि मनकी कोई स्वतन्त्र और स्थिर सत्ता नहीं है।

(३) हमें यह जानना चाहिये कि भावोंका उदय कारणोंकी शृङ्खला और तज्जन्य घात-प्रतिघातसे होता है।

(४) हमें यह जानना चाहिये कि हमारा शरीर पञ्चभूतोंके सङ्घातसे बना है अतएव यह विनश्वर है।

(५) हमें यह जानना चाहिये कि अशुभ कर्मोंका फल अशुभ ही होता है और सारे दुःखकी जड़ भी यही है।

(६) दुःखसे ही हम इस संसारसे ऊबकर आध्यात्मिक जीवनके अनुसन्धानमें लगते हैं, इसलिये यह दुःख ही हमारा गुरु है।

(७) संसार और संसारके पदार्थोंसे हमारी ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों हम आध्यात्मिक उन्नतिसे वञ्चित होते चले जाते हैं। हमें यह जानना चाहिये कि सांसारिक वैभव और आध्यात्मिक विकासमें महान् अन्तर है।

(८) विपदामें हम ईश्वरका सहारा ढूँढ़ते हैं, इसलिये विपत्ति गुरु है।

(९) संसारकी किसी भी वस्तुकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं।

(१०) संसारके सभी प्राणी और सभी वस्तुएँ परस्पर एक-दूसरेपर आश्रित हैं।

ये हैं दस जानने योग्य बातें।

(३)

आचरणमें लाने योग्य दस बातें

(१) साधनाके पथ चलकर अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, न कि सुनी-सुनायी बातोंको चट मान लेना चाहिये, जैसा प्रायः अधिकांश लोग करते हैं।

(२) न अपने शरीरसे मोह होना चाहिये, न अपने परिवारसे, न अपने देशसे। कारण कि यहाँ प्राप्तिका अर्थ है खोना, सृजनका अर्थ है संहार, मिलनका अर्थ विछोह और जन्मका अर्थ है मृत्यु। ये साथ-साथ लगे ही रहते हैं।

(३) सच्चे गुरुका आश्रय पाकर हमें मद-मोह-ममता-अहङ्कारसे नाता तोड़ लेना चाहिये और गुरुके वचनोंका सच्चाईके साथ पालन करना चाहिये।

(४) श्रवण और मननके द्वारा जो कुछ भी प्रकाश प्राप्त हो उसपर हमें अभिमान नहीं करना चाहिये, प्रत्युत आत्मसाक्षात्कारमें लग जाना चाहिये।

(५) आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जानेपर हमें प्रमाद-आलस्यके द्वारा उसे खो नहीं देना चाहिये, वरं सतत जागरूक होकर अनवरत अभ्यासके द्वारा उसे अधिकाधिक प्राप्त करते रहना चाहिये।

(६) आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जानेपर एकान्तमें जाकर उसका आनन्द लूटे, लोकसङ्ग्रहसे हटकर, लोगोंकी भीड़-भाड़ और उनके कोलाहलसे बचकर भगवान्‌में ही प्रीति जोड़े।

(७) आध्यात्मिक तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त कर और उसके लिये अपना सर्वस्व दान कर चुकनेपर भी शिथिल मत हो जाओ; शरीर, मन और वाणीको प्रमादमें फँसने न दो, अपवित्र चिन्तनमें न लगो, अपवित्र क्रियामें न उलझो, अपवित्र बात न बोलो। दीनता, पवित्रता और आज्ञा-पालनका जो व्रत तुमने लिया है, उसका दृढ़ताके साथ पालन करो।

(८) भगवत्प्राप्ति ही तुम्हारे जीवनका महान् लक्ष्य है—अतएव अब स्वार्थकी सीमासे ऊपर उठो और लोकसेवामें लगो।

(९) साधनाके रहस्यमय पथमें प्रवेश हो चुकनेपर भी शरीर, वाणी और मनकी पवित्रताको अक्षुण्ण बनाये रखनेका ध्यान बना रहे।

(१०) युवावस्थामें उन लोगोंसे न मिलो जो तुम्हें अध्यात्मके पथमें प्रेरित और प्रोत्साहित न कर सकें; गुरुके चरणोंका आश्रय लेकर तप-साधन करते हुए ज्ञानका अर्जन करो।

ये हैं आचरणमें लाने योग्य दस बातें।

(४)

आत्मकल्याणकी दस बातें

(१) जगत्के विषय-सुखोंसे मुँह मोड़कर परम पावन धर्म-पथमें चलना ही आत्मकल्याणका सरल साधन है।

(२) स्वजनों, परिजनों और आत्मीय बन्धुओं और मित्रोंसे अलग रहकर भगवान्की सेवा-शुश्रूषामें जीवन लगाना आत्मकल्याणका महान् साधन है।

(३) जगत्के प्रपञ्चोंसे अलग रहकर श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी साधना आत्मकल्याणमें परम सहायक है।

(४) सामाजिक उत्सवों और त्योहारोंसे तटस्थ होकर एकान्तमें ईश्वर-चिन्तन करना आत्मकल्याणका परम सुन्दर साधन है।

(५) मद और भोगकी इच्छाओंका दमन करके कष्ट सहन करनेमें आनन्द मानना ही आत्मकल्याणकी कुञ्जी है।

(६) सरल, निश्छल जीवन, वैभव-ऐश्वर्यके लोभसे सर्वथा अलग रहना—यह है आत्मकल्याणका व्यावहारिक साधन।

(७) दूसरोंसे किसी प्रकारका भी स्वार्थ-साधन न करनेका सङ्कल्प आत्मकल्याणकी साधनामें बहुत बल प्रदान करता है।

(८) संसारके क्षणिक सुखोंकी लालसासे मुक्त होकर मोक्षके अमर-सुखमें लगना ही आत्मकल्याणका उत्तम साधन है।

(९) संसारके लुभानेवाले, भटकानेवाले प्रलोभनोंसे मुँह मोड़कर सत्य वस्तुका ज्ञान अर्जन करना आत्म-कल्याणका मङ्गलमय पथ है।

(१०) शरीर, वाणी और मनके द्वारको बंद कर, उनपर संयम करना और उनका सदुपयोग कर सत्य-मार्गमें आगे बढ़ना—यह है आत्मकल्याणका प्रशस्त मार्ग।

ये हैं आत्मकल्याणकी दस बातें।

(५)

दस सर्वोत्तम वस्तु

(१) जिनके पास बुद्धि थोड़ी है, वे इधर-उधरकी मत्थापच्चीमें न पड़ें। उनके लिये इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि यहाँ इस जगत्में कार्य-कारणकी एक शृङ्खला चल रही है।

(२) साधारण बुद्धिके मनुष्यको इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक क्रिया भी प्रतिक्रिया होती है—घात-प्रतिघात प्रकृतिका सनातन नियम है।

(३) उत्तम बुद्धिके मनुष्यको इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाना ही सर्वोत्तम ज्ञान है।

(४) कम बुद्धिके मनुष्यके लिये सर्वोत्तम है—किसी एक वस्तुपर चित्त स्थिर करना।

(५) साधारण बुद्धिके मनुष्यके लिये सर्वोत्तम ज्ञान है असत् और सत्का विवेक और उस विवेकके द्वारा सत्में स्थिति ।

(६) उत्तम बुद्धिके मनुष्यके लिये सर्वोत्तम ध्यान है समतामें स्थिर हो जाना, विचारके प्रवाहको रोककर ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयकी त्रिपुटीको 'एक' में लय कर देना ।

(७) कम बुद्धिके मनुष्यके लिये कार्य-कारणके नियमको मानकर चलना ही उत्तम धार्मिक अभ्यास है ।

(८) साधारण बुद्धिके मनुष्यके लिये सर्वोत्तम धार्मिक अभ्यास यही है कि वह समस्त दृश्य-प्रपञ्चको स्वप्नमें देखी हुई चीज या जादूकी चीज समझे—जो न होने हुए भी दीख रहा है ।

(९) उत्तम बुद्धिके मनुष्यके लिये यह सर्वोत्तम धार्मिक अभ्यास है कि संसारकी समस्त इच्छाओं और क्रियाओंसे बचे—मानो वे हों ही नहीं ।

(१०) कम, साधारण और उत्तम बुद्धिके मनुष्योंको समानरूपसे ही आध्यात्मिक विकास इस बातमें समझना चाहिये कि संसारके विषयोंके प्रति आकर्षण क्रमशः शिथिल हो रहा हो और स्वार्थकी मात्रा घट रही हो तथा चित्तका सहज प्रवाह अध्यात्मकी ओर हो रहा हो ।

ये हैं दस सर्वोत्तम वस्तु ।*

प्रारब्ध

(श्रीकृष्ण)

मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है—चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक—यदि वह शुद्ध मनसे किसी आसक्तिके विना उदासीनभावसे किया गया है तो उसका अन्तःकरणपर कोई संस्कार नहीं पड़ता । क्योंकि वह क्रिया राग-द्वेषरहित साधारण भावसे की हुई है, विशेष भावसे नहीं । यदि वही क्रिया सामान्य भावसे न होकर विशेष भावसे अर्थात् आसक्तिसे या विकारसहित अशुद्ध मनसे की जाय तो उस क्रियासे तुरंत कितने ही नये संस्कार अन्तःकरणपर पड़ते हैं । फिर वही संस्कार मनको वैसी ही क्रियाओंकी ओर खींचते हैं और उसे इतना बाध्य कर देते हैं कि वह वैसे ही कर्म करनेको तैयार हो जाता है । यों करते-करते उसको उन्हीं कर्मोंमें रस आने लगता है और वे संस्कार धीरे-धीरे विशेष दृढ़ हो जाते हैं, जो उसी प्रकार मनको ऐसी ही क्रियाओं-की ओर दृढ़तासे खींचते रहते हैं । इस तरह पुराने संस्कार कामरूपमें परिणत होकर वास्तविक इच्छा न होनेपर भी बलपूर्वक मनसे ऐसी ही क्रियाएँ कराते रहते हैं । इसी प्रकार क्रियाएँ होती रहती हैं, और नये संस्कार पैदा करती रहती हैं । यह चक्र सदा इसी प्रकार चला करता है, इसका अन्त नहीं होता । इसका अन्त तो तभी हो सकता है, जब नये संस्कार पैदा होने बंद हो जायँ । नये संस्कारोंका पैदा होना तब बंद हो सकता है जब क्रियाओंमें रस ही न हो, वे उदासीनतासे हों, जिनमें केवल पुराने संस्कारोंके कारण ही प्रवृत्ति हो, किसी विशेष इच्छासे नहीं । क्रियामें प्रवृत्ति होनेपर भी उदासीनता रहे, आसक्ति न हो, ऐसा तभी हो सकता है, जब जीवको उस क्रियामें सुख-प्राप्तिकी चाह न हो । यह तब हो सकता है जब उसे अपने आनन्दस्वरूपकी जानकारी हो और दृढ़ ज्ञान हो । वह ज्ञान ही नये संस्कारोंको पैदा नहीं होने देगा ।

पुराने संस्कारोंमेंसे कितने ही ऐसे दृढ़ और परिपक्व होते हैं कि उनका बलात्कारसे भोग होना है ।

* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेससे प्रकाशित "Tibetan Yoga and Secret Doctrines" से).

ऐसे परिपक्व और दृढ़ फलोन्मुख संस्कारोंके भोगनेके लिये अनुकूल भूमि चाहिये। यदि यह शरीर उस भोग भोगनेके अनुकूल न हो और इस शरीरसे भोगने योग्य भोग समाप्त हो गया हो तब जीव इस शरीरको छोड़ देता है और दृढ़ फलोन्मुख संस्कारको भोगने योग्य दूसरा शरीर धारण करता है। इन्हीं फलोन्मुख संस्कार-समुदायको प्रारब्ध कहते हैं। नया शरीर इसी प्रारब्धके भोग भोगनेके लिये प्राप्त होता है। इसीसे शरीरको भोगायतन कहते हैं। प्रारब्धके कितने ही भोग इतने छोटे-छोटे होते हैं कि उनको जीव स्वप्नावस्थाके शरीरसे भोगता है। प्रारब्धकी समाप्ति भोगनेसे ही होती है, ये भोग अन्य कोई उपायसे दूर नहीं होते। जबतक प्रारब्धके भोग भोगने बाकी रहते हैं तबतक शरीर रहता ही है, उसका पतन नहीं हो सकता। प्रारब्ध पूरे होते ही, शरीरका पतन हो जाता है। जो संस्कार अति दृढ़ होते हैं वे फलोन्मुख होकर प्रारब्ध बन जाते हैं और उनके योग्य भोगायतन शरीर प्राप्त हो जाता है। परन्तु बाकीके जो संस्कार अतिदृढ़ नहीं होते, यानी जो फलोन्मुख नहीं होते वे वैसे ही पड़े रहते हैं, इन्हे 'सञ्चित' कहते हैं। इन संस्कारोंमें यदि अपनी जातिके नये-नये संस्कार और मिलें तो ये भी समय पाकर फलोन्मुख बन जाते हैं— 'प्रारब्ध' रूपमें परिणत हो जाते हैं। ज्ञानी हरेक भोगकी क्रिया अनासक्त मनसे उदासीनतापूर्वक करता है, जिससे नये संस्कार उत्पन्न ही नहीं होते। सञ्चित संस्कारोंको नये संस्कारोंकी सहायता न मिलनेसे वे कभी फलोन्मुख नहीं होते। इतना ही नहीं, बल्कि जीवको अपने चिदानन्दस्वरूपका ज्ञान होनेसे परमानन्द-भोगके संस्कार इतने दृढ़ हो जाते हैं कि दूसरे नये संस्कार अपने ही आप मिट जाते हैं, इसीसे कहा जाता है कि ज्ञानाग्नि समस्त संस्कारोंको जला देती है।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि प्रारब्धके भोग भोगनेमें जीव पूर्ण परतन्त्र है अर्थात् वे भोग उसे भोगने ही पड़ेंगे। यह शरीर इस प्रारब्ध-भोगोंके लिये ही बना है, इसीसे वे भोग आवश्यक पुरुषार्थ करावेंगे ही। इस प्रारब्ध-भोगके अतिरिक्त नये संस्कार बनाना या कोई भी नया संस्कार न बनने देना, और इस तरह पुराने संस्कारोंको फलोन्मुख न होने देना अर्थात् उनका नाश कर देना—इसमें जीव पूर्ण स्वतन्त्र है। यह पुरुषार्थ बिना निश्चयके नहीं होता। भोग भोगनेके लिये पुरुषार्थके निश्चयकी कोई आवश्यकता नहीं, वह तो अपने-आप स्वाभाविक ही भोगना पड़ेगा। नये संस्कार बनानेके लिये या कोई भी नया संस्कार न बनने देनेके लिये पुरुषार्थके निश्चयकी आवश्यकता है। स्थूल भोगमें जीव पूर्ण परतन्त्र है किन्तु सूक्ष्म मानसिक सृष्टिमें वह स्वतन्त्र है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोधादि षड् विकार, अहङ्कार, स्वार्थ-परमार्थ, अपना-पराया-भाव, सद्गुण-दुर्गुण ये सब मानसिक सूक्ष्म भोग हैं। इनमें पुराने संस्कार अपना जोर जरूर लगाते हैं। परन्तु यदि अधिक पुरुषार्थ किया जाय तो पुराने संस्कार निर्बल तथा निःसार हो जाते हैं और उनकी कुछ भी नहीं चलती। सारांश यह कि इन सूक्ष्म मानसिक क्रियाओंमें जीव स्वतन्त्र है और अपने इच्छानुसार उनमें वह उलट-फेर कर सकता है इसीसे यहाँ पुरुषार्थकी मुख्य आवश्यकता है। इसीलिये पूजा-पाठ, सत्सङ्ग इत्यादि शुभ-संस्कार बनानेवाले कार्योंमें—जिनसे नये संस्कार बनने बंद होकर ज्ञानकी प्राप्ति हो, पुरुषार्थकी मुख्य आवश्यकता होती है। यह समझ लेना चाहिये परमार्थके लिये पुरुषार्थ अत्यन्त आवश्यक है, प्रारब्धके भोग तो अपने-आप ही मिटेंगे, उनके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। होनहार तो होकर ही रहेगी।

ज्ञानयोगके अनुसार विविध प्रकारके साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस प्रकार योगनिष्ठाकी दृष्टिसे ज्ञान-ध्यानसह कर्म और उपासनाका उल्लेख है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे भी उनका वर्णन है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे किये गये साधनोंकी कर्मसंज्ञा नहीं है, फिर भी उन्हें क्रिया अथवा चेष्टामात्र तो कह ही सकते हैं। उनको कर्म कहना केवल समझानेके लिये ही है।

ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक फलरूप ज्ञान और दूसरा साधनरूप ज्ञान। यहाँ ज्ञाननिष्ठा कहनेका अभिप्राय योगनिष्ठाके समान ही साधनरूप ज्ञान है। योगनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनोंसे ही फलरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है। उसको चाहे परमात्माका यथार्थ ज्ञान कहा जाय अथवा तत्त्वज्ञान; वह सभी साधनोंका फल है और सभी साधकोंको प्राप्त होना है (गीता अध्याय ५ श्लोक ४-५)।

फलरूप ज्ञानसे जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्म, परम पद, परम गति, अमृत और माम् आदि नामसे कहा गया है, यही परमात्माकी प्राप्ति है और यही समस्त साधनोंका अन्तिम फल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस परमपदकी प्राप्तिके लिये सांख्य अथवा ज्ञानयोगकी दृष्टिसे भी अनेकों साधन बतलाये गये हैं। उनका उल्लेख मुख्यरूपसे चार भागोंमें विभक्त करके किया जाता है। इनके अवान्तर भेद भी बहुत-से हो सकते हैं। वे अपनी-अपनी समझ और साधककी दृष्टिपर निर्भर करते हैं। उनके सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला जाता है। अभेदनिष्ठाकी दृष्टिसे साधनके निम्नलिखित चार मुख्य भेद हैं—

(१) जड़, चेतन, चर और अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह क्षणभङ्गुर, नाशवान् और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं है। इन सबका बाध अर्थात् अत्यन्ताभाव होनेपर जो कुछ अबाध और अखण्ड सत्यके रूपमें शेष रह जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है।

(३) जड़-चेतनके रूपमें जो कुछ भी प्रतीत होता है, मै— वह सब 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं है।

(४) शरीर आदि सम्पूर्ण दृश्य नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब सबका अभाव हो जाता है, तब जो अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन सत्य वस्तु शेष रह जाती है, वही 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा है। इस आत्माको ही देही, शरीरी आदि नामसे व्यवहारमें कहा जाता है। यह आत्मा सबका द्रष्टा और साक्षी है।

जैसे भेदभावसे उपासना करनेवाले भक्तको भेदरूपसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है, क्योंकि उसकी धारणा ही वैसी होती है, ठीक वैसे ही पूर्वोक्त ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको भी उनके अपने निश्चयके अनुसार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति अभेदरूपसे ही होती है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि दोनों निष्ठाओंका अन्तिम फल एक ही है। मन और बुद्धिके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। इसीसे उसका शब्दोंके द्वारा वर्णन नहीं होता। वह अनिर्वचनीय है। वह स्थिति भेद-अभेद, व्यक्त-अव्यक्त, ज्ञान-अज्ञान, सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार आदि शब्दोंके वाच्यार्थसे सर्वथा विलक्षण है। मन और बुद्धिसे परे होनेके कारण उसे समझना-समझाना अथवा बतलाना सम्भव नहीं है। जिसे वह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही उसे जानता है—यह कहना भी नहीं बनता। यह बात केवल दूसरोंको समझानेके लिये कही जाती है। भला, शब्दोंके द्वारा भी कहीं उसका वर्णन सम्भव है ? इस ज्ञाननिष्ठाको गीताजीमें कहीं सांख्य और कहीं संन्यासके नामसे बतलाया है।

(१) अब ज्ञाननिष्ठाको लक्ष्यमें रखते हुए उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे पहले साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं।

(क) जितने भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्म हैं, उन्हें यज्ञका रूप देकर कर्ता, कर्म, करण, क्रिया आदि समस्त कारकोंमें ब्रह्मबुद्धि करना। गीताजीमें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें किया गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(४ । २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले पुरुषद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ।'

यह साधन व्यवहारकालकी दृष्टिसे है । साधक व्यवहारके समस्त उचित कर्मोंको करता हुआ इस प्रकारका भाव रखे और जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय—जो-जो सामने आवे, उसमें ब्रह्मदृष्टि करे, इससे बहुत ही शीघ्र ब्रह्मभावकी जागृति हो जाती है ।

(ख) व्यवहारमें कभी प्रिय विषयोंकी प्राप्ति होती है तो कभी अप्रियकी । अनुकूलमें प्रियता और प्रतिकूलमें अप्रियता होती ही है । ज्ञाननिष्ठाके साधकको उनमें प्रिय अथवा अप्रिय-बुद्धि न करके ब्रह्मभाव करना चाहिये, और परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर विचरण करना चाहिये । कहीं भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये । यह साधन प्रारब्धानुसार प्राप्त भोग भोगनेकी दृष्टिसे है । यह गीताके निम्न श्लोकके अनुसार है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
(५ । २०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ।'

(ग) छान्दोग्योपनिषद् (३ । १४ । १) के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म ही है—इस वचनके अनुसार सम्पूर्ण चराचर भूतोंके बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दूर-निकट एवं उन भूतोंके रूपमें भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर उपासना करना । तात्पर्य यह है कि ध्यानके समय केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा [illegible] है—इस भावसे स्थित हो जाना । गीतामें इसका [illegible] वर्णित है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
(१३ [illegible]

'वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परि[illegible] और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म[illegible] अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी वही है ।'

(२) 'जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत हो रहा [illegible] मायामय है—इस प्रकार सबका बाध करके जो शेष बच जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है'—इस द्वितीय साधनके अवान्तर भेदोंका उल्लेख किया जाता है ।

(क) यह जो जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत हो रहा है, वह अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाली शरीर[illegible] उपाधिसे ही है । ज्ञानके अभ्यासद्वारा उस भेदप्रतीतिका बाध करके नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको विलीन करनेका अभ्यास करना चाहिये । ऐसा करते-करते एक निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी [illegible]न्मात्र सत्ता नहीं रहती । उपासनाका यह प्रकार जीव और ब्रह्मकी एकताको लक्ष्यमें रखकर है । गीतामें इसका वर्णन इस प्रकार आया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥
(४ । २५)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं ।'

(ख) साधारणतया ध्यानका अभ्यास प्रारम्भ करनेवा[illegible] साधकको चार वस्तुएँ जान पड़ती हैं । मन, बुद्धि, और[illegible] और ब्रह्म । साधन प्रारम्भ करते ही जो कुछ स्थूल दृश्य प्रतीत होता है, वह सब भुलाकर मन, बुद्धि और अपने आप[illegible] को सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप करनेका अभ्यास करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि एक सच्चिदानन्द[illegible] घन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । ऐसे [illegible]

हो जाते हैं, और केवल परमात्मा ही-परमात्मा रह जाता है। गीतामें इस साधनका वर्णन निम्नलिखित है—

> तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
> गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
> (५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप है, जिनकी बुद्धि तद्रूप है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

(ग) ब्रह्म अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं विलक्षण वस्तु है। वह चराचर जड़ चेतन संसारमें है भी और नहीं भी है। यह संसार परमात्माका सङ्कल्पमात्र है—इसलिये वह इसमें अधिष्ठानरूपसे विराजमान है। इस दृष्टिसे कह सकते हैं कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। वास्तवमें यह संसार संकल्पमात्र ही है, इसलिये कोई वस्तु नहीं है। तब व्यापक-व्याप्य-भाव कैसे बनेगा। इस दृष्टिसे देखें तो एकमात्र परमात्मा ही है। वह किसीमें व्यापक नहीं है। यह संसार भी उस परमात्मामें है और नहीं भी है। इसका कारण यह है कि वह अपने-आपमें ही स्थित है और यह संसार उसीमें प्रतीत हो रहा है। प्रतीतिकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि यह संसार उसीमें है। परन्तु वास्तवमें यह जगत् स्वप्नवत्, कल्पनामात्र होनेके कारण परमात्मामें सर्वथा है ही नहीं। गीताके निम्नश्लोक इस बातका भी संकेत करते हैं—

> मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
> मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
> (९ । ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

> न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
> भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
> (९ । ५)

'और वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

यद्यपि इन दोनों श्लोकोंमें वर्णन तो सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका है, परन्तु ज्ञानयोगका साधक निर्गुण-निराकारकी दृष्टिसे भी यह उपासना कर सकता है।* इस प्रकारका अभ्यास करते करते सारे संसारका अभाव हो जाता है, और एक परमात्मा ही शेष रह जाता है। यह साधन तो ब्रह्मकी अलौकिकताकी दृष्टिसे है। अब आगेका साधन ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, इस दृष्टिसे लिखा जाता है।

(घ) ब्रह्मका स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसे न सत् कह सकते हैं और न असत्। वह सत् और असत् दोनों ही शब्दोंसे अनिर्वचनीय है। वह सत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यकी बुद्धिके द्वारा जिस अस्तित्वका ग्रहण होता है, वह जड़का ही होता है। चेतन वस्तु जड़ बुद्धिका विषय नहीं है। इस दृष्टिसे वह सत्से विलक्षण है। परन्तु उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तवमें उसका अस्तित्व है। जो इस प्रकार सत् और असत्से विलक्षण अचिन्त्य, अनादि, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको समझकर उसका पुनः पुनः चिन्तन करता है, उसके लिये सारे संसारका बाध हो जाता है और उस अमृतमय परब्रह्म परमात्माकी सदाके लिये अभेदरूपसे प्राप्ति हो जाती है। वह स्थिति मन-बुद्धिसे परे और वाणीसे अतीत है। उसका कहना-सुनना नहीं हो सकता।

> ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
> अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
> (१३ । १२)

'जो जाननेयोग्य है, तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

(ङ) ब्रह्मके अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं सत्, असत्से विलक्षण होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण केवल सत्ताको प्रधानता देकर भी उसकी उपासना की जा सकती है। जगत्में जितने भी विनाशी पदार्थ देखनेमें आते हैं, उन सबमें अविनाशी परमात्माको समभावसे देखना चाहिये। जैसे एक ही आकाश घड़ोंकी उपाधिके भेदसे अनेकों रूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें अनेक नहीं है। घड़ोंकी उपाधि नष्ट हो जानेपर वह एक ही दीखने लगता है, और वास्तवमें वह एक ही है। घड़ोंकी उपाधि रहनेपर

---

* इसका विस्तार कल्याणके चौदहवें वर्षके विशेषाङ्क श्रीगीता-तत्त्वाङ्क पृष्ठ ५७० से ५७१ तक देखना चाहिये।

भी आकाशमें भिन्नता नहीं आती। ऐसे ही एक ही परमात्मा शरीरोंके भेदसे अनेक-सा दीखता है, परन्तु वास्तवमें एक ही है। इस प्रकार समझकर जो इस नाशवान् जगत्में एक नित्य विज्ञानानन्दघन अविनाशी परमात्माको सदा-सर्वदा समभावसे देखता है, वह इस जड़ संसारका बाध करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इसका उल्लेख यों हुआ है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
(१३।२७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(१८।२०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

(च) जिस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी सत्ताको प्रधानता देकर उपासना हो सकती है वैसे ही केवल चेतन-भावको प्रधानता देकर भी हो सकती है। उसका प्रकार यह है कि ब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकारसे परे सबका प्रकाशक और विज्ञानमय है। उसका स्वरूप परम चैतन्य एवं अखण्ड अनन्त ज्योतिर्मय है, जो ब्रह्मके इस स्वरूपके ध्यानमें तन्मय हो जाता है, वह भी इस जड़ संसारका बाध करके अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस स्वरूपकी उपासना निम्नलिखित श्लोकमें वर्णित है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(१३।१७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

(छ) सत् और चेतनभावके समान ही आनन्द-भावकी प्रधानतासे भी उपासना होती है। साधकको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि परिपूर्ण, अनन्त, विज्ञानानन्दघन परमात्मा आनन्दका एक महान् समुद्र है और मैं उसमें बर्फकी डलीकी तरह डूब-उतरा रहा हूँ। नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर सर्वत्र आनन्दकी ही धारा बह रही है—आनन्दकी ही तरङ्गें उठ रही हैं और सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्दकी बहार मची हुई है। वह आनन्द कैसा है? पूर्ण है, अपार है, शान्त है, घन है, अनन्त है, यह ध्रुव, नित्य तथा सत्य है, यही बोधस्वरूप है, यही ज्ञानस्वरूप है—यह आनन्द अचिन्त्य है, सर्वश्रेष्ठ है, सम है, यह आनन्द ही सत्ता है, यह आनन्द ही चेतन है, यह आनन्द ही सब कुछ है। जब साधक इस प्रकार आनन्दभावकी भावना करते-करते उसीमें मग्न हो जाता है, तब उसकी स्थिति निम्नलिखित हो जाती है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

यहाँतक जिन उपासनाओंका उल्लेख किया गया है वे तत्पदार्थको लक्ष्यमें रखकर 'इदम्' रूपसे की जानेवाली हैं। वास्तवमें ब्रह्म 'इदम्' अथवा 'अहम्' किसी भी वृत्तिका विषय नहीं है। साधककी उपासनाके लिये ही उसका वृत्त्यारूढ रूपसे वर्णन किया जाता है। जैसे ऊपर 'इदम्' वृत्तिके द्वारा होनेवाली उपासनाका वर्णन हुआ, वैसे ही 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थको दृष्टिमें रखकर 'अहम्' बुद्धिसे होने-वाली उपासनाकी पद्धति नीचे बतलायी जाती है।

(३) 'सर्वं यदयमात्मा' (बृ० उ० २।४।६) इस श्रुतिके अनुसार जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस तृतीय साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं। इनके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं। प्रथममें यह दृष्टि रखी गयी है कि समस्त भूतप्राणी आत्माके अन्तर्गत हैं। दूसरेमें यह दृष्टि रखी गयी है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं। तीसरेमें सबके

के अनुसार अभ्यास करनेकी बात है । उनका निम्नलिखित है—

(क) साधकको चाहिये कि तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुषोंकी में उपस्थित होकर ज्ञाननिष्ठाके तत्त्वको सरलतासे समझे, अज्ञानजनित देहात्मबुद्धिको हटाकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और उसे अनन्त चेतन आत्मस्वरूपके अन्तर्गत सारे चराचर भूत प्राणियोंको एक अंशमें स्थित समझे । यह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाशमें उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंशमें स्थित हैं, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके एक अंशमें यह सारा संसार स्थित है । इस प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेता है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४ । ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
(४ । ३५)

'जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

(ख) जो कुछ जड़-चेतन, चराचर प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है । ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है । जैसे सर्वव्यापी आकाश सम्पूर्ण बादलोंमें सर्वत्र समानभावसे व्यापक रहता है, वैसे ही इन समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें आत्मा समानभावसे व्यापक रहता है । जिस प्रकार आकाशसे ही झुंड-के-झुंड बादल पैदा होते हैं और उसीमें स्थित रहते हैं, इसलिये सारे बादलोंका कारण और आधार ही है, ठीक वैसे ही समस्त भूत प्राणियोंका कारण और आधार आत्मा है । इस प्रकार समझकर चराचर भूत प्राणियोंको अपना स्वरूप ही समझना चाहिये और सबको अपनी आत्मामें तथा आत्माको सारे भूत-प्राणियोंमें समभावसे देखना चाहिये । इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(६ । २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है ।'

(ग) जैसे देहाभिमानी मनुष्य अपने देहके हाथ-पैर आदि सारे अङ्गोंमें अपने आपको और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको समभावसे देखता है, वैसे ही साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझकर समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें अपने आपको और उनके सुख-दुःखोंको समभावसे देखनेका अभ्यास करे । अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य अपने आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये अथक प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक विश्वके किसी भी व्यक्तिको कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परताके साथ उसके सुखके लिये चेष्टा करे । इस प्रकार समस्त भूतोंको आत्मा समझकर उनके हितकी चेष्टा करनेसे मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ! गीतामें इस भावको इस प्रकार प्रकट किया गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

(४) शरीर आदि जितने भी दृश्यपदार्थ हैं, वे सब नाशवान्, क्षणभंगुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें नहीं हैं । 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा अविनाशी नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन होनेसे सत्य वस्तु है ।

ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस चतुर्थ साधनके कुछ अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

(क) आत्मा अर्थात् 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ अजन्मा, अचिन्त्य, अचल, अक्रिय, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। वह शाश्वत, अव्यय, अक्षर और नित्य होनेके कारण सत्य है। उस अविनाशीके ये प्रतीत होनेवाले विनाशशील, अनित्य और क्षणभंगुर देह आदि असत्य हैं, क्योंकि उस अधिष्ठान-रूप, सत्यस्वरूप आत्माके स्वप्नवत् संकल्पके आधारपर ही ये टिके हुए हैं। इस प्रकार समझकर आत्माके सिवा सब विनाशशील जड़वर्गका अत्यन्त अभाव करके अपने अवि-नाशी सत्यस्वरूप आत्मामें ही नित्य-निरन्तर बुद्धिको लगाना चाहिये। जब इस प्रकारके अभ्याससे वृत्ति आत्माकार हो जाती है, तब शेषमें एक आत्मा ही बच रहता है और वही अपना स्वरूप है। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे इस क्षणभंगुर एवं जड़ दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥

(२ । १७-१८)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग—व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(२ । १९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(२ ।

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो ... मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ... क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और ... शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) जिस प्रकार विनाशी पदार्थोंमें ... वस्तुकी सत्ताको प्रधानता देकर उपर्युक्त उपासना ... वैसे ही इन जड पदार्थोंका अभाव करके साक्षी और... रूपमें चेतनको प्रधानता देकर भी होती है। ... क्षणभङ्गुर, नाशवान् अनित्य एवं जड है। इससे ... हटाकर अहंता, ममता, कामना और आसक्तिका ... विवेक एवं वैराग्ययुक्त बुद्धिसे निःसङ्कल्पताका ... करना चाहिये—अर्थात् जो कुछ दृश्य सामने आवे ... अनित्य और नाशवान् समझकर उसके अभावका ... करना चाहिये। उनकी विनाशिता और अनित्यताका ... इसमें सहायक होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः ... तथा निःसङ्कल्पताका अभ्यास करते-करते अन्तमें ... अभावका द्रष्टा-साक्षी चेतन पुरुष ही बच रहता है। ... भाव और अभावका साक्षी ही आत्मा है। वही ब्रह्म है। यह बात समझकर अभ्यास करनेसे अचिन्त्य विज्ञानानन्द... आत्मस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें ... इस प्रकार कही गयी है—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(६ । २

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

(ग) जिस प्रकार सत्की प्रधानता और चेतनकी प्रधानतासे अहम् (त्वम्) पद लक्ष्यार्थ ब्रह्मकी उपासना होती है, वैसे ही आनन्दकी प्रधानतासे भी साधकको चाहिये कि दृश्यमात्रको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर उसको मनसे त्याग दे और एकमात्र आनन्दका ही चिन्तन करे। आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। ऐसा समझकर वह अनुभव करे कि पूर्ण

भक्त-गाथा
[भक्तिमती निर्मला]

निर्मला सचमुच बहुत ही निर्मल थी । कलियुगकी कालिमाएँ उसे छू नहीं गयी थीं । वह दिव्यलोककी देवी, वैराग्यकी मूर्तिमती प्रतिमा और भगवद्‌भक्तिका सजीव विग्रह थी । उसका मुखमण्डल जैसा सुन्दर और भोला-भाला था, उसका अन्तःकरण उससे भी कहीं अधिक मनोहर और सरल था । संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका मन फँसा नहीं था, उसको किसी भी चीज़की चाह नहीं थी और कहीं भी उसकी सीमा-बद्ध गंदी ममता नहीं थी । वह अपने प्राणाराम राममें अनुरक्त थी, राम ही उसकी चाहके एकमात्र लक्ष्य थे और समस्त विश्वमें व्याप्त विश्वातीत रामके ही पावन चरणोंमें उसकी ममता थी । सदा प्रसन्न रहना उसका स्वभाव था । मोटी साफ सफेद साड़ी, सफेद कब्जा, गलेमें तुलसीजीकी माला, मस्तकपर सफेद चन्दन और जीभपर नित्य नाचनेवाला राममनाम—यही उसका स्वाभाविक शृङ्गार था । हृदयमें रामका ध्यान, मुँहमें रामका नाम और शरीरसे दिनभर रामकी भावनासे घरभरकी छोटी-बड़ी सब तरहकी सेवा, यही उसका मन, वाणी, शरीरका काम था । वह कभी न थकती थी, न ऊबती थी, न झल्लाती थी । शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द, मुसकान मानो भगवान्‌की दैनके रूपमें सदा उसकी सेवा करते थे । वह रातके पिछले पहर उठती । शौच-स्नानके बाद छः बजेतक रामजीकी मूर्ति-के सामने बैठकर ध्यान-पूजन और रामायणका पाठ करती; फिर काममें लग जाती । दुपहरको एक समय बिना मसालेका सादा भोजन करती । जीभके स्वादको उसने जीत लिया था । चार घड़ी रात बीतनेपर उसका काम पूरा होता तब जमीनपर टाट बिछाकर उसपर कुशाका आसन डालकर बैठ जाती और प्रातःकालकी भाँति ही रामजीका ध्यान, पूजन करती; एक पहर रात बीत जानेपर कुशाका आसन उठाकर उसी टाटपर ... चरणोंमें उनके नामका स्मरण करती हुई सो जा... जाड़ेमें भी उसका यही नियम चलता । उन दिनों ... वह एक रूईदार कब्जा और ऊनी कम्बल और ...

× × ×

पण्डित विश्वनाथ गौड़ ब्राह्मण थे । थे तो गुज... के, परन्तु काशीमें जाकर बस गये थे । विश्वनाथके पा... भोगविलासके लिये धन तो नहीं था परन्तु भगवान्‌की कृपासे उनके घर किसी बातकी कमी नहीं थी । वे बड़े विद्वान् थे । लोगोंमें उनका बड़ा आदर था । उनकी संस्कृतपाठशाला थी, वे विद्यार्थियोंको बड़े चावसे व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि दर्शनोंकी शिक्षा देते थे । बड़े विलक्षण व्याकरणी तथा दर्शन-शास्त्रके महान् पण्डित होनेपर भी उनके हृदयप्राङ्गण... भक्तिदेवी सदा नाचती रहती थीं । वे सन्ध्याके समय नित्यप्रति वाल्मीकीय रामायणकी बड़ी ही सुन्दर कथा बाँचते थे । जो एक बार उनकी कथा सुन लेता, वह फिर उसे कभी न छोड़ता । उनकी वाणीमें बड़ा मधुर रस था, समझानेकी सुन्दर शैली थी और उससे पवित्र भावोंकी अखण्ड धाराएँ बहती रहती थीं । कथा बाँचते-बाँचते वे गद्‌गद हो जाते, कभी-कभी तो रो पड़ते । श्रोताओंकी भी यही दशा होती । घरमें सदाचारिणी ब्राह्मणी थी । पतिकी भाँति पत्नी भी रामजीकी भक्त थी । निर्मला उन्हींकी एकमात्र पुत्री थी । वह बचपनसे ही कथा सुनने लगी थी । पिता-माता दोनों भक्त थे । इससे बचपनमें ही निर्मलाके निर्मल हृदय-सरोवरमें भक्तिलता लहराने लगी थी । पितासे उसने भगवान् रामकी पूजापद्धति सीख ली थी । बड़ी होनेपर पिताने बड़ी धूमधामसे निर्मलाका ब्याह किया । निर्मला पण्डित-जीकी एकमात्र सन्तान थीं, इससे उनके भक्तोंने

। उसीके साथ मन
...ंग, सुन्दर और
...लवान था। सचमुच
अपने सद्गुणोंकी सुगन्ध-
। विवाहका विधान कोई
के बाद ही जिसने उसका
पर मानो वज्रपात हुआ।
उठा परन्तु प्रभु रामजीको
आतुरतासे ही उनका मन
गया। विश्वनाथजी रोकर
र्जीकी पूजा करने लगे। प्रभु
थी। वे अपने मनःसुखदायी
य स्वरूपमें प्रकट हो गये और भक्त
त बैठाते हुए बोले—'भैया विश्वनाथ!
हो रहे हो? जानते नहीं हो मेरा
मङ्गलमय होता है? निर्मलाको यह
और उसके कल्याणके लिये ही प्राप्त
सुनो! पूर्वजन्ममें भी तुम सदाचारी
। वहाँ भी निर्मला तुम्हारी कन्या थी।
म था जगदीश और निर्मलाका नाम था
तुममें और सरस्वतीमें सभी सद्गुण थे।
म्हारे पड़ोसमें एक क्षत्रियका घर था, वह
दुष्टहृदय था। वह मनसे बड़ा कपटी, हिंसक
दुराचारी था, परन्तु ऊपरसे बहुत मीठा बोलता
वह बातें बनानेमें बहुत चतुर था। सद्गुणी
पर भी उसके कुसङ्गसे तुम्हारे हृदयपर कुछ कालिमा
गयी थी, वह सरस्वतीको कुदृष्टिसे देखता था।
उसके बहकावेमें आकर सरस्वतीने अपने पतिका घोर
अपमान किया था और तुमने उसका समर्थन किया
था। सरस्वतीके पतिने आकुल होकर मन-ही-मन
सरस्वतीको और तुमको शाप दे दिया था। यद्यपि उसके
लिये यह उचित नहीं था, परन्तु दुःखमें मनुष्यको चेत
नहीं रहता। उसी शापके कारण निर्मला इस जन्ममें
विधवा हो गयी है और तुम्हें यह सन्ताप प्राप्त है।
पतिके तिरस्कारके सिवा सरस्वतीका जीवन बड़ा
पवित्र रहा। उसने दुराचारी पड़ोसीके बुरे प्रस्तावको
ठुकरा दिया। जीवनभर तुलसीजीका सेवन, एकादशी-
का व्रत और रामनामका जाप करती रही। तुम इसमें
उसके सहायक रहे। इसीसे तुमको और उसको दूसरी
बार फिर यहाँ ब्राह्मणका शरीर प्राप्त हुआ है और
मेरी कृपासे तुम दोनोंके हृदयमें भक्ति आ गयी है।
मेरी भक्ति एक बार जिसके हृदयमें आ जाती है, वह
कृतार्थ हुए बिना नहीं रहता। भक्तिका यह स्वभाव है
कि एक बार जिसने उसको अपने हृदयमें धारण कर
लिया उसको वह मेरी प्राप्ति कराये बिना नहीं मानती।
बड़ी-बड़ी रुकावटोंको हटाकर, बड़े-बड़े प्रलोभनोंसे
छुड़ाकर वह उसे मेरी ओर लगा देती है और मुझे ले
जाकर उसके हृदयमें बसा देती है। मैं भक्तिके वश
रहता हूँ—यह तो प्रसिद्ध ही है। तुमलोगोंपर जो यह
दुःख आया है, यह भक्तिदेवीकी कृपासे तुम्हारे
कल्याणके लिये ही आया है। यह दुःख तुम्हारे सारे
दुःखोंका सदाके लिये नाश कर देगा।' इतना कहकर
भगवान् अन्तर्धान हो गये।

विश्वनाथ विचित्र स्वप्न देखकर जगे हुए पुरुषकी
भाँति चकित-से रह गये। इतनेमें ही निर्मला सामने आ
गयी। निर्मलाको देखकर विश्वनाथका हृदय फिर भर
आया। उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वे दुःसह
मर्मपीडासे पीड़ित हो गये! परन्तु निर्मलाकी साधना
बहुत ऊँची थी। वह अपने वैधव्यकी हालतको खूब
समझती थी, परन्तु वह साधनाकी जिस भूमिकापर
स्थित थी, उसपर वैधव्यकी भीषणताका कुछ प्रभाव
नहीं था। उसने कहा—'पिताजी! आप विद्वान्, ज्ञानी
और भगवद्भक्त होकर रोते क्यों हैं? शरीर तो मरण-
धर्मा है ही। जड पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीरमें तो
मुर्दापन ही है। फिर उसके लिये शोक क्यों करना
चाहिये? यदि शरीरकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो

हिंदू-स्त्री अपने स्वामीकी अर्धाङ्गिनी है। उसके आधे अङ्गमें वह है और आधे अङ्गमें उसके स्वामी हैं। इस रूपमें स्वामीका विछोह कभी होता ही नहीं। हिंदू-स्त्रीका स्वामी तो सदैव अर्धाङ्गरूपमें उसके साथ मिला हुआ ही रहता है। अतएव हिंदू-स्त्री वस्तुतः कभी विधवा होती ही नहीं। वह विलासके लिये विवाह नहीं करती, वह तो धर्मतः पतिको अपना स्वरूप बना लेती है। ऐसी अवस्थामें—पृथक् शरीरके लिये रोनेकी क्या आवश्यकता है? इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात तो यह है कि सारा जगत् ही प्रकृति है, पुरुष, स्वामी तो एकमात्र भगवान् श्रीरघुनाथजी ही हैं। श्रीरघुनाथजी अजर, अमर, नित्य, शाश्वत, सनातन, अखण्ड, अनन्त, अनामय, पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। प्रकृति कभी उनके अंदर सोती है, कभी बाहर उनके साथ खेलती है। प्रकृति उनकी अपनी ही स्वरूपशक्ति है। इस प्रकृतिसे पुरुषका वियोग कभी होता ही नहीं। पुरुषके बिना प्रकृतिका अस्तित्व ही नहीं रहता। अतएव हमारे रघुनाथजी नित्य ही हमारे साथ हैं। आप इस बातको जानते हैं, फिर आप रोते क्यों हैं! कर्मकी दृष्टिसे देखें तो, जीव अपने-अपने कर्मवश जगत्‌में जन्म लेते हैं, कर्मवश ही सबका परस्पर यथायोग्य संयोग होता है, फिर कर्मवश ही समयपर वियोग हो जाता है। कर्मजनित यह सारा सम्बन्ध अनित्य, क्षणिक और मायिक है। यह नश्वर जगत् संयोग-वियोगमय ही तो है, यहाँपर नित्य क्या है! इस संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद क्यों होना चाहिये!

फिर, भगवान्‌का भक्त तो प्रत्येक बातमें भगवान्‌के मङ्गलमय विधानको देखकर, विधानके रूपमें स्वयं विधाताका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित होता रहता है। चाहे वह विधान देखनेमें कितना ही भीषण क्यों न हो [illegible]। [illegible] पिताजी! आप निश्चय मानिये—भगवान्‌ने हमारे परम मङ्गलके लिये ही यह विधान किया है, [illegible] की दृष्टिमें बड़ा ही अमङ्गलस्वरूप और [illegible] आप निश्चिन्त रहिये हमारा परम कल्याण ही [illegible]

निर्मलाके दिव्य वचन सुनकर विश्वनाथजीकी [illegible] पीड़ा जाती रही। उन्होंने कहा—'बेटी! तू [illegible] नहीं है, तू तो दिव्यलोककी देवी है। तभी तो [illegible] भाव हैं। तूने मुझको शोकसागरसे निकाल दि[illegible] मैं धन्य हूँ, जो तेरे पिता कहलाने योग्य हुआ।'

तभीसे निर्मला पिताके घर रहने लगी और [illegible] पितासहित अपना जीवन भगवान्‌के भजनमें बि[illegible] लगी। घरमें श्रीरघुनाथजीका विग्रह था। माता-पि[illegible] तथा श्रीरघुनाथजीकी सेवा करना ही उसका काम था। घरका काम करते समय भी उसका मन भगवान्‌में लगा रहता। भगवान्‌का सङ्ग उसके जीवनका जीवन बन गया था। वह कुछ भी करती, किसी भी काममें र[illegible] स्वाभाविक ही भगवान्‌के साथ रहती। भगवान्‌के बि[illegible] वह रह ही नहीं सकती।

कुछ समय बाद उसके माता-पिता दोनों एक ही दिन भगवान्‌का स्मरण करते हुए संसारसे विदा हो गये। वह रोयी नहीं। भगवान्‌के नित्य सान्निध्यने उसके जीवनको निर्भय, रसमय, आनन्दमय, [illegible] चिन्मय और भगवन्मय बना दिया था। किसी भी बाहरी अवस्थाका उसकी इस नित्य स्थितिपर असर नहीं पड़ता था। माता-पिताकी यथोचित क्रिया करनेके बाद वह घर छोड़कर गङ्गातीरपर कुछ दूर चली गयी। उस समय काशीका गङ्गातट [illegible] था। वहीं उसने [illegible] भक्तोंके पास [illegible] और अपने शरीरको [illegible] भगवान् [illegible] [illegible]

(१)

धनसे हानि और धनका सदुपयोग

आपका कृपापत्र मिला, उत्तर लिखनेमें बहुत देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। धनकी सार्थकता उसे भगवान्की सेवामें लगानेमें है। लक्ष्मी भगवान्की सेविका हैं, उन्हें निरन्तर भगवान्की सेवामें ही नियुक्त करते रहना चाहिये। इससे लक्ष्मीकी प्रसन्नता प्राप्त होती है और उनका विस्तार होता है। लक्ष्मीपति नारायण तो प्रसन्न होते ही हैं। संसारमें जिसके पास जो कुछ भी है सब भगवान्का है। हमने जो उसपर अपना अधिकार मान लिया है यह तो हमारी बेईमानी है। हम सेवक हैं, हमारा काम है मालिककी सम्पत्तिकी रक्षा करना, और उनके आज्ञानुसार, उनकी माँगके अनुसार उनकी सेवामें उसे समर्पित करते रहना। सारे जीव भगवान्के स्वरूप हैं—उनमें जहाँ जिस वस्तुका अभाव है, वहीं भगवान् उस वस्तुको चाह रहे हैं। जिसके पास वह वस्तु है, उसे चाहिये कि भगवान्की इस माँगको ठुकरावे नहीं, और बड़े आदरके साथ उसपर अपना कोई अधिकार न समझकर उसे यथायोग्य अभावग्रस्त प्राणियोंके अर्पण कर दे। अभावग्रस्त प्राणियोंको दयाका पात्र न समझे और न अपनेको दाता समझकर मनमें अभिमान या उनपर अहसान करे। उन्हें भगवान्का स्वरूप समझे और भगवान्के नाते उस वस्तुपर उनका सहज अधिकार समझे। यह समझे कि मैंने भगवान्की वस्तु भगवान्को ही दी है। जो वस्तुका स्वामी है, उसीको वह वस्तु दी जाय, इसमें हमारे लिये अभिमानकी कौन-सी बात है! इस प्रकार निरभिमान होकर धनके द्वारा भगवान्की सेवा करता रहे, इसीमें धनकी सार्थकता है और ऐसा करनेसे ही धनका उत्तम परिणाम होता है। नहीं तो, धन केवल कष्ट-दायक होता है और नाना प्रकारके पाप उत्पन्न करके नरकोंमें और दुःखपूर्ण योनियोंमें पहुँचा देता है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥

(११।२३।१५—२१)

'प्राय देखा जाता है कि केवल इकट्ठा करनेवाले कृपणोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता। यहाँ तो रात-दिन धन कमाने और उसकी रक्षा करनेकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर—धर्मका सदुपयोग न करके उसे पापकर्मका कारणरूप बनानेके कारण घोर नरकोंमें गिरते हैं। जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वांगसुन्दर शरीरके सौन्दर्यको बिगाड़ देता है, वैसे ही धनका तनिक-सा लोभ भी यशस्वियोंके निर्मल यशको और गुणवानोंके सद्गुणोंमें कलङ्क लगा देता है। धन कमानेमें, कमाकर उसे बढ़ानेमें, रक्षा करनेमें, खर्च करनेमें, भोगनेमें और नाश हो जानेमें दिन-रात परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रममें डूबे रहना पड़ता है। १ चोरी, २ हिंसा, ३ झू

...लोभ, ४ दम्भ—दिखाऊ श्रेष्ठता, ५ काम, ६ क्रोध, ७ गर्व, ८ मद-अहंकार, ९ भेदबुद्धि, १० वैर, ११ अत्यन्त प्यारोंमें भी अविश्वास, १२ स्पर्धा, १३ लम्पटता, १४ जूआ और १५ शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनसे ही पैदा होते हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ऐसे अर्थनामधारी अनर्थ करनेवाले अर्थको दूरसे ही प्रणाम कर लेना (त्याग देना) चाहिये। स्नेह-बन्धनमें बँधकर सदा एक रहनेवाले सगे भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता और सगे-सम्बन्धियों आदिमें भी धनकी कौड़ियोंके कारण इतनी फूट पड़ जाती है कि वे एक दूसरेके वैरी बन जाते हैं। थोड़ेसे धनके लिये वे क्षुब्ध हो जाते हैं, उनके क्रोधकी आग भड़क उठती है। वे आपसमें लड़ने लगते हैं और पुराने प्रेम-बन्धनको तोड़कर सहसा एक दूसरेका गला काटनेको तैयार हो जाते हैं।'

इसपर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है। धनासक्ति, धन-कामना, धनप्राप्ति और धनसंग्रहका यह परिणाम जगत्‌में आज प्रत्यक्ष हो रहा है। यह सत्य है—धन आवश्यक है, धनकी सार्थकता भी है और धन कमाना भी चाहिये, परन्तु कमाना चाहिये उसे भगवान्‌की सेवाके लिये, भगवान्‌के नियमोंकी रक्षा करते हुए, भगवान्‌के अनुकूल उपायोंसे ही, और धनके प्राप्त होनेपर उसका भगवान्‌के आज्ञानुसार सदुपयोग करना चाहिये। अपने धनपर जो गरीबोंका अधिकार समझता है और उनके हितार्थ उसका यथायोग्य उपयोग करता है, वही सच्चा धनी है। शेष धन-संग्रह करनेवाले लोग तो धनके रूपमें पापका संग्रह करते हैं और सदा दरिद्र ही रहते हैं। धनका वही उपयोग उत्तम है, जो परिणाममें शान्ति, प्रसन्नता और सुख उत्पन्न करनेवाला हो। जो किसीको कुछ देकर पछताता है, वह या तो धनका दुरुपयोग करता है, अथवा धनासक्तिमें फँसा हुआ प्राणी है, जो धनके नामपर पाप पकाता रहता है।

मेरी स्पष्ट बातोंसे आपको दुःख नहीं होगा, ऐसी आशा है। और यह भी आशा है कि आप अपनेको धनका स्वामी नहीं, परन्तु ईमानदार सावधान ट्रस्टी समझेंगे और नियमानुसार उसका सदुपयोग करनेकी चेष्टा करेंगे।'

(२)

मनुष्य-जीवनकी सफलता

भैया! आपकी अवस्था अवश्य ही दुःखद है। विषयासक्तिका यही परिणाम होता है। मनुष्य इसमें फँस जाता है कि फिर न तो उसका उसमें रहते बनता है और न वह निकल ही सकता है।

महाकवि कालिदासने कहा है—

> गन्धश्चासौ भुवनविदितः केतकी स्वर्णवर्णा
> पद्मभ्रान्त्या चपलमधुपः पुष्पमध्ये पपात।
> अन्धीभूतः कुसुमरजसा कण्टकैश्छिन्नपक्षः
> स्थातुं गन्तुं द्वयमपि सखे नैव शक्तो द्विरेफः॥

'मधुलोभी चञ्चल भ्रमर भ्रमसे कमल समझकर जगत्प्रसिद्ध सुगन्धवाले स्वर्णवर्ण केतकी पुष्पमें जा पड़ता है, वहाँ केतकीके परागसे उसकी आँखें फूट जाती हैं और काँटोंसे उसकी पाँखें टूट जाती हैं। इससे न तो वह उसमें रह ही सकता है और न वहाँसे उड़कर जा ही सकता है। हे सखे! इस प्रकार भ्रमर उभय संकटमें पड़ जाता है।'

यही दशा विषयोंमें सुख समझकर उनमें फँस जानेवालोंकी होती है। मनुष्य-देह मिला था—सदा सारा बन्धन काटनेके लिये। परन्तु यहाँ आकर वह अपने बन्धनोंकी गाँठोंको और भी कड़ा करता तथा उलझा लेता है। बहुत जन्मोंके बाद यह सुदुर्लभ मनुष्य-शरीर भगवत्कृपासे मिलता है।

"... बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥"

बोलना, ४ दम्भ—दिखाऊ श्रेष्ठता, ५ काम, ६ क्रोध, ७ गर्व, ८ मद-अहंकार, ९ भेदबुद्धि, १० वैर, ११ अत्यन्त प्यारोंमें भी अविश्वास, १२ स्पर्धा, १३ लम्पटता, १४ जूआ और १५ शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनसे ही पैदा होते हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ऐसे अर्थनामधारी अनर्थ करनेवाले अर्थको दूरसे ही प्रणाम कर लेना (त्याग देना) चाहिये। स्नेह-बन्धनमें बँधकर सदा एक रहनेवाले सगे भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता और सगे-सम्बन्धियों आदिमें भी धनकी कौड़ियोंके कारण इतनी फूट पड़ जाती है कि वे एक दूसरेके वैरी बन जाते हैं। थोड़ेसे धनके लिये वे क्षुब्ध हो जाते हैं, उनके क्रोधकी आग भड़क उठती है। वे आपसमें लड़ने लगते हैं और पुराने प्रेम-बन्धनको तोड़कर सहसा एक दूसरेका गला काटनेको तैयार हो जाते हैं।'

इसपर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है। धनासक्ति, धन-कामना, धनप्राप्ति और धनसंग्रहका यह परिणाम जगत्में आज प्रत्यक्ष हो रहा है! यह सत्य है—धन आवश्यक है, धनकी सार्थकता भी है और धन कमाना भी चाहिये, परन्तु कमाना चाहिये उसे भगवान्‌की सेवाके लिये, भगवान्‌के नियमोंकी रक्षा करते हुए, भगवान्‌के अनुकूल उपायोंसे ही, और धनके प्राप्त होनेपर उसका भगवान्‌के आज्ञानुसार सदुपयोग करना चाहिये। अपने धनपर जो गरीबोंका अधिकार समझता है और उनके हितार्थ उसका यथायोग्य उपयोग करता है, वही सच्चा धनी है। शेष धन-संग्रह करनेवाले लोग तो धनके रूपमें पापका संग्रह करते हैं और सदा दरिद्र ही रहते हैं। धनका वही उपयोग उत्तम है, जो परिणाममें शान्ति, प्रसन्नता और सुख उत्पन्न करनेवाला हो। जो किसीको कुछ देकर पछताता है, वह या तो धनका दुरुपयोग करता है, अथवा धनासक्तिमें फँसा हुआ प्राणी है, जो धनके नशेमें चूर पड़ा रहता है।

मेरी स्पष्ट बातोंसे आपको दुःख नहीं होगा, ऐसी आशा है। और यह भी आशा है कि आप अपनेको धनका स्वामी नहीं, परन्तु ईमानदार तथा सावधान ट्रस्टी समझेंगे और नियमानुसार उसका सदुपयोग करनेकी चेष्टा करेंगे।'

(२)

मनुष्य-जीवनकी सफलता

भैया! आपकी अवस्था अवश्य ही दुःखद है। विषयासक्तिका यही परिणाम होता है। मनुष्य ऐसा फँस जाता है कि फिर न तो उसका उसमें रहते ही बनता है और न वह निकल ही सकता है।

महाकवि कालिदासने कहा है—

> गन्धश्चासौ भुवनविदितः केतकी स्वर्णवर्णा
> पद्मभ्रान्त्या चपलमधुपः पुष्पमध्ये पपात।
> अन्धीभूतः कुसुमरजसा कण्टकैश्छिन्नपक्षः
> स्थातुं गन्तुं द्वयमपि सखे नैव शक्तो द्विरेफः॥

'मधुलोभी चञ्चल भ्रमर भ्रमसे कमल समझकर जगत्प्रसिद्ध सुगन्धवाले स्वर्णवर्ण केतकी पुष्पमें जा पड़ता है, वहाँ केतकीके परागसे उसकी आँखें फूट जाती हैं और काँटोंसे उसकी पाँखें टूट जाती हैं। इससे न तो वह उसमें रह ही सकता है और न वहाँसे उड़कर जा ही सकता है। हे सखे! इस प्रकार भ्रमर उभय संकटमें पड़ जाता है।'

यही दशा विषयोंमें सुख समझकर उनमें फँस जानेवालोंकी होती है। मनुष्य-देह मिला था—था सारा बन्धन काटनेके लिये। परन्तु यहाँ आकर यह अपने बन्धनोंकी गाँठोंको और भी कड़ा कर तथा उलझा लेता है। बहुत जन्मोंके बाद यह सुदुर्लभ मनुष्य-शरीर भगवत्कृपासे मिला है।

'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'

यह शरीर भी अनित्य है। इस शरीरको पाकर ... विषय-भोगोंमें न फँसकर भगवान्‌के भजनमें अपना तन-मन लगा देता है, वही भवसागरसे तरकर मनुष्य-जीवनको सफल बनाता है। इस शरीरके कालके गालमें पड़नेसे पहले-पहले ही बड़ी फुर्तीसे यत्न करके भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त कर लेना चाहिये। इसीमें बुद्धिमानी है। विषयभोग तो दूसरी योनियोंमें भी प्राप्त होते हैं—मनुष्य-योनि तो केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही है। कितने दुःखकी बात है कि ऐसे शरीरको पाकर भी हमलोग स्वप्नके पदार्थोंकी तरह असत्, बिजलीकी चमककी भाँति चञ्चल और अनित्य भोगोंकी प्राप्तिमें जीवन खो देते हैं, न मालूम कितना अधर्म करते हैं। कितनोंको सताते और ठगते हैं, कितनोंका दिल दुखाते हैं, कैसे-कैसे छल-छंद रचते हैं, यह हमारी कैसी दुर्दशा है! भागवतमें श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(११।२०।१७)

'यह मनुष्य-शरीर सारे मङ्गलोंका मूल है, शुभ कर्म करनेवाले पुण्यजनोंको यह सुलभतासे मिलता है, और अशुभ कर्म करनेवाले दुर्जनोंके लिये यह अत्यन्त दुर्लभ है। संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह सुदृढ़ नौका है। परमार्थ-तत्त्वके ज्ञाता गुरुदेव विश्वास करते ही इसके केवट बन जाते हैं और शरण लेते ही मैं स्वयं अनुकूल वायु बनकर इसे लक्ष्यकी ओर बहा ले जाता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा भवसागरसे पार नहीं उतर जाता, वह तो अपने हाथों अपनी हत्या करता है।'

तुम्हारी ही भाँति बहुत लोग फँसावटका अनुभव करते हैं परन्तु सच बात तो यह है कि यह विचार तभीतक रहता है, जबतक कोई खास अड़चन रहती है। जहाँ अड़चन हटी कि फिर वही प्रपञ्चका मोह ... तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै॥

यही दशा है। भैया! यदि सचमुच तुम दुखी हो और दुःखसे निकलना चाहते हो तो इसका उपाय है—सीधा उपाय है। वह है भगवान्‌की कृपा-पर विश्वास करके उनके शरण होना और जहाँतक बन सके निरन्तर उन्हें स्मरण रखनेकी चेष्टा करना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(१८।५८)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९।२२)

'मुझमें चित्त लगानेसे तुम मेरी कृपासे सारे संकटोंको अनायास ही पार कर जाओगे। हे अर्जुन! जो पुरुष अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीको बहुत ही सहजमें मैं प्राप्त हो जाता हूँ। जो केवल मुझमें ही प्रेम करनेवाले पुरुष निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मुझे ही भजते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषोंको, जो लौकिक-पारमार्थिक वस्तु प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्ति मैं स्वयं करवा देता हूँ और जो प्राप्त है, उसकी रक्षा मैं स्वयं करता हूँ।'

भगवान्‌की इस वाणीपर विश्वास करके उनपर निर्भर रहना सीखो और निर्भरचित्तसे उनका स्मरण करो। फिर देखोगे कुछ ही समयमें तुम्हारी स्थिति पलट जायगी। तुम्हारा रूपान्तर हो जायगा। और तुम मानव-जीवनकी सफलताकी ओर द्रुतगति दौड़ने लगोगे।

भागवत-माहात्म्य

(लेखक—श्री[illegible] राय)

जिनका वेदोंमें विश्वास नहीं, वह हिंदू नहीं। लोकाचार और सामाजिक विधान युगधर्मके अनुसार बदलते रहते हैं, इनका संस्कार होता है, ग्रहण और त्यागमें इनका रूपान्तर होता है, परन्तु अपौरुषेय वेद नित्य और शाश्वत हैं, प्रलयकालमें स्वयं भगवान् वेदकी रक्षा करते हैं।

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं
विहितवहित्रचरित्रमखेदम्।
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे!

परन्तु वेदोंका अर्थ अत्यन्त कठिन है, सत्यके समझने वाले कुछ ही मनुष्य होते हैं, इसीसे वेद-पाठका अधिकार प्राप्त करनेके लिये विद्यार्थीको कठोर तपस्या करनी पड़ती है। विशुद्ध हुए बिना वेदका अर्थ हृदयङ्गम नहीं होता। तथापि मनुष्य जिसमें सहज ही वेदोंके धर्मको जान सके, इसके लिये महामुनि व्यासजीने असाधारण प्रयत्न किया है। हिंदूधर्मके मर्मको समझनेका एकमात्र उपाय ही है भगवान् व्यासजीके चरणोंकी शरण ग्रहण करना। जिस दिन संसारभरमें सार्वभौम सत्यके रूपमें वेदोंकी पूजा होगी, उस दिन जगत्के आदिगुरु व्यासदेव विश्वविद्यालयोंके केन्द्र-तीर्थमें देवताके आसनपर प्रतिष्ठित होकर विश्वके मानव समाजके द्वारा नित्य पूजाका अर्घ्य ग्रहण करेंगे।

भगवान् व्यास वेदोंका विभाग करके ही नहीं रह गये बल्कि वेदोंकी व्याख्याका विश्वमें अधिकाधिक प्रचार करनेके उद्देश्यसे उन्होंने वेदान्तकी रचना की। उत्तर और पूर्वमीमांसाकी रचना करके वेदान्तके प्रतिपाद्य विषयको और भी सरल बना दिया। इससे भी उनके हृदयको सान्त्वना न मिली; सांसारिक जीवोंका मोह दूर करनेके विचारसे उन्होंने अठारह पर्वोंमें महाभारतकी रचना की, सतरह पुराणोंका प्रणयन किया, तब भी भगवान् व्यासके चित्तको शान्ति न मिली। वे लोकोद्धारकी कामनासे उद्बुद्ध हो गये और अन्तमें उन्होंने परम भक्तिरसमिश्रित श्रीमद्भागवत ग्रन्थको भारतवासियोंके हाथमें देकर उनके भागवत-परायण होनेके लिये अभ्रान्त पथका निर्देश कर दिया। भारतके अंदर महागुरु व्यासदेव तथा असंख्यों ऋषियों-मुनियोंकी इस प्रकारकी कल्याण-कामनाने ऐसे एक प्रबल शक्ति-प्रवाहकी सृष्टि की है कि यह जाति धर्मकी प्राप्तिके लिये इच्छा करने मात्रमें ही सफल हो सकती है। भारतका धर्म सहज ही साध्य है, परन्तु कालचक्रसे हम इतने हृदयहीन हो गये हैं कि धर्मके कल्पवृक्षके नीचे वास करते हुए भी इसके अमृत फलके आस्वादनसे वञ्चित हो रहे हैं—यह अधःपतनका चरम चिह्न है।

उस भागवत-ग्रन्थकी शृंखला भारतके हृदयमें दृढता-पूर्वक बँधी हुई है, जिस भागवतवृक्षके देख-भालका भार अपारविद्ध ऋषि-महापुरुषोंके ऊपर है। वेद-वेदान्त जिसके काण्ड हैं, राम-कृष्ण प्रभृति ईश्वरके अवतार जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं, योग जिसका पत्र है, शुद्धि जिसके फल-फूल हैं। जिसकी प्रत्येक डालीपर शङ्कर, बुद्ध आदि महापुरुष सुन्दर पक्षियोंके समान सुमधुर स्वरमें ईश्वरानुरागका झंकार करते हैं; वही भारत आज मुँहसे धर्मकी महिमाका गुणगान करता है, और उसका हृदय सत्यकी अमर शक्तिसे पूर्ण नहीं है, इससे बढ़कर दारुण दुर्भाग्यकी बात और क्या हो सकती है!

लक्ष्यभ्रष्ट होकर हम आज सहज और सीधे मार्गको छोड़कर विपरीत पथकी ओर यात्रा करके आत्मघाती बन रहे हैं, ईश्वरोपासनाके लिये बैठकर हम अपने क्षुद्र मनकी कल्पनाओंको पूजते हैं। ध्यान और चिन्तन करते हैं विषयोंका और गर्व करते हैं साधनाका। हम परवश हैं यह समझते हैं, परन्तु साहस नहीं होता कि सत्यको स्वीकार करें। ऐसा कबतक चलेगा! हमारे इस विपरीत मार्गमें चलनेका कोई प्रतिकार नहीं, इस भ्रान्तिमें सुख नहीं है, यह माया हमारे लिये विष हो रही है। इस जातिकी जड़ ही ईश्वर-ज्ञानमें गड़ी हुई है, भागवतमय न हो जाना हमारे स्वभावमें नहीं है। हमारा स्वभाव ही है 'भागवत'।

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

इस नित्यमुक्त स्वभावको खोकर, अस्वाभाविक जीवन-यात्रामें विजातीय दुःख-यन्त्रणासे हम आज मृतप्राय हो रहे हैं। हमें अब अपने जीवनको स्वधर्ममें लगाना ही पड़ेगा।

हमारा स्वधर्म है 'ब्राह्मी स्थिति'। इसका उपाय है ब्रह्मयोग। जिस दिनसे हम इस धर्मके सच्चे मर्मकी धारणासे वञ्चित होकर अधःपतनके निचले मार्गपर आ गिरे, उसी दिनसे हमारे अध्यात्मका स्वरूप विकृत हो गया। जबतक

(३)

पापका प्रकट होना हितकर है

आपका पत्र मिला था। आपकी स्थिति अवश्य ही दयनीय है। इस स्थितिमें आपको दुःख होना कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु यह मनुष्यहृदयकी दुर्बलता है। पापके प्रकट हो जानेको असलमें पापका निकल जाना समझना चाहिये और इधर-उधरकी झूठ-कपटभरी चेष्टा करके उसे छिपानेका प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिये। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि छिपा पाप बढ़ता रहता है। जिसको पाप छिपानेमें सफलता मिल जाती है, उसका दिल दूने उत्साहसे पाप करनेकी प्रेरणा करता है। ऐसा मनुष्य अन्तमें पापमय बन जाता है। आपको पाप छिपानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये और पापके प्रकट होनेसे आपका जो अपमान-तिरस्कार हो रहा है। इसे भगवान्‌की कृपा समझनी चाहिये। इसमें आपका पाप नष्ट हो रहा है और आप विशुद्ध हो रहे हैं। असलमें पापका फल सामने आनेपर मनुष्यकी जैसी दशा होती है, इस दशाकी, यदि पाप करते समय मनुष्य कल्पना कर सके तो उससे सहजमें पाप नहीं होने। परन्तु उस समय तो विषयासक्तिवश वह अन्धा हुआ रहता है।

आप घबड़ाइये नहीं। भगवान् दयामय हैं, उनका द्वार पापी-तापी सबके लिये सदा खुला है। फि. आपके पाप तो पश्चात्तापकी आगसे जल रहे हैं। भविष्यमें ऐसा कर्म न बने, इसके लिये प्रतिज्ञा करते है, यह भी बड़ा शुभ लक्षण है। इसे भी भगवत्कृपा ही समझिये। भगवान्‌से शक्ति माँगिये, उनसे प्रार्थना कीजिये और उनके बलपर दृढ़ प्रतिज्ञा कर लीजिये। आपका निश्चय दृढ़ होगा तो पापकी शक्ति नहीं है कि वह आपका स्पर्श कर सके। मनुष्यसे जो बुरे कर्म होते है, वे आत्माके मूक आदेशसे ही होते हैं। आप पापोंका होना और रहना सह लेते हैं, इसीसे पाप बनते हैं। जिस क्षण आप इन्हें सहन नहीं करेंगे और कामरागवर्जित भगवत्स्वरूप जो परम बल आपको प्राप्त हैं, उससे अपनेको बलवान् मानकर मन-इन्द्रियोंको ललकार देंगे, उसी क्षण वे पाप-तापको अपने अंदरसे निकाल देंगे, और भगवान्‌के बलके सामने नये पाप-तापोंको तो आनेका मार्ग ही नहीं मिलेगा।

आप भगवान्‌का पावन स्मरण कीजिये और अपमान-तिरस्कारको पापोंका नाश करनेवाली भगवान्‌की भेजी हुई आग समझकर साहसके साथ प्रसन्नतापूर्वक अपने सारे पापोंकी—पापवासनाओंकी उसमें आहुति दे डालिये। आप पवित्र हो जायँगे।

भागवतमें क्या है ?

(रचयिता—श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, विशारद, काव्यतीर्थ)

आगम-निगम धर्मशास्त्र इतिहास काव्य
न्याय नीति आदिके प्रमाण भागवतमें,
वैभव, विकास, सुख, शान्ति और योग, यज्ञ
निश्चित निहित निरयाण भागवतमें।

पीड़ित निराश्रित निराश अभिशापितका
पापी और पातकीका त्राण भागवतमें,
निर्गुण निरीह निराकार और निर्विकार
पुण्य पुराण है पुराण भागवतमें॥

भागवत-माहात्म्य

(लेखक—श्री[illegible] राव)

जिनका वेदोंमें विश्वास नहीं, वह हिंदू नहीं। लोकाचार और सामाजिक विधान युगधर्मके अनुसार बदलते रहते हैं, इनका संस्कार होता है, ग्रहण और त्यागमें इनका रूपान्तर होता है, परन्तु अपौरुषेय वेद नित्य और शाश्वत हैं, प्रलयकालमें स्वयं भगवान् वेदकी रक्षा करते हैं।

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं
विहितवहित्रचरित्रमखेदम्।
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे।

परन्तु वेदोंका अर्थ अत्यन्त कठिन है, सत्यके समझनेवाले कुछ ही मनुष्य होते हैं, इसीसे वेद-पाठका अधिकार प्राप्त करनेके लिये विद्यार्थीको कठोर तपस्या करनी पड़ती है। विशुद्ध हुए बिना वेदका अर्थ हृदयङ्गम नहीं होता। तथापि मनुष्य जिसमें सहज ही वेदोंके धर्मका जान सके, इसके लिये महामुनि व्यासजीने असाधारण प्रयत्न किया है। हिंदूधर्मके मर्मको समझनेका एकमात्र उपाय ही है भगवान् व्यासजीके चरणोंकी शरण ग्रहण करना। जिस दिन संसारभरमें सार्वभौम सत्यके रूपमें वेदोंकी पूजा होगी, उस दिन जगत्के आदिगुरु व्यासदेव विश्वविद्यालयोंके केन्द्र-तीर्थमें देवताके आसनपर प्रतिष्ठित होकर विश्वके मानव-समाजके द्वारा नित्य पूजाका अर्घ्य ग्रहण करेंगे।

भगवान् व्यास वेदोंका विभाग करके ही नहीं रह गये बल्कि वेदोंकी व्याख्याका विश्वमें अधिकाधिक प्रचार करनेके उद्देश्यसे उन्होंने वेदान्तकी रचना की। उत्तर और पूर्वमीमांसाकी रचना करके वेदान्तके प्रतिपाद्य विषयको और भी सरल बना दिया। इससे भी उनके हृदयको सान्त्वना न मिली; सांसारिक जीवोंका मोह दूर करनेके विचारसे उन्होंने अठारह पर्वोंमें महाभारतकी रचना की, सतरह पुराणोंका प्रणयन किया, तब भी भगवान् व्यासके चित्तको शान्ति न मिली। वे लोकोद्धारकी कामनासे उद्बुद्ध हो गये और अन्तमें उन्होंने परम भक्तिरसमिश्रित श्रीमद्भागवत ग्रन्थको भारतवासियोंके हाथमें देकर उनके भागवत-परायण होनेके लिये अभ्रान्त पथका निर्देश कर दिया। भारतके अंदर महागुरु व्यासदेव तथा असंख्यों ऋषियों-मुनियोंकी इस प्रकारकी कल्याण-कामनाने ऐसे एक प्रबल शक्ति-प्रवाहकी सृष्टि की है कि यह जाति धर्मकी प्राप्तिके लिये इच्छा करने-मात्रसे ही सफल हो सकती है। भारतका धर्म सहज ही साध्य है, परन्तु कालचक्रसे हम इतने हृदयहीन हो गये हैं कि धर्मके कल्पवृक्षके नीचे वास करते हुए भी इसके अमृत फलके आस्वादनसे वञ्चित हो रहे हैं—यह अधःपतनका चरम चिह्न है।

उस भागवत-ग्रन्थकी शृङ्खला भारतके हृदयमें दृढ़ता-पूर्वक बँधी हुई है, जिस भागवतवृक्षके देख भालका भार अनाविल ऋषि महापुरुषोंके ऊपर है। वेद-वेदान्त जिसके काण्ड हैं, राम-कृष्ण प्रभृति ईश्वरके अवतार जिसकी शाखा प्रशाखाएँ हैं, योग जिसका पत्र है, शुद्धि जिसके फल-फूल हैं। जिसकी प्रत्येक डालीपर शङ्कर, बुद्ध आदि महापुरुष सुन्दर पक्षियोंके समान सुमधुर स्वरमें ईश्वरानुरागका झंकार करते हैं; वही भारत आज मुँहसे धर्मकी महिमाका गुणगान करता है, और उसका हृदय सत्यकी अमर शान्तिसे पूर्ण नहीं है, इससे बढ़कर दारुण दुर्भाग्यकी बात और क्या हो सकती है!

लक्ष्यभ्रष्ट होकर हम आज सहज और सीधे मार्गको छोड़कर विपरीत पथकी ओर यात्रा करके आत्मघाती बन रहे हैं, ईश्वरोपासनाके लिये बैठकर हम अपने क्षुद्र मनकी कल्पनाओंको पूजते हैं। ध्यान और चिन्तन करते हैं विषयोंका और गर्व करते हैं साधनाका। हम परवश हैं यह समझते हैं, परन्तु साहस नहीं होता कि सत्यको स्वीकार करें। ऐसा कबतक चलेगा! हमारे इस विपरीत मार्गमें चलनेका कोई प्रतिकार नहीं, इस भ्रान्तिमें सुख नहीं है, यह माया हमारे लिये विष हो रही है। इस जातिकी जड़ ही ईश्वर-ज्ञानमें गड़ी हुई है, भागवतमय न हो जाना हमारे स्वभावमें नहीं है। हमारा स्वभाव ही है 'भागवत'।

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

इस नित्यमुक्त स्वभावको खोकर, अस्वाभाविक जीवन-यात्रामें विजातीय दुःख-यन्त्रणासे हम आज मृतप्राय हो रहे हैं। हमें अब अपने जीवनको स्वधर्ममें लगाना ही पड़ेगा। हमारा स्वधर्म है 'ब्राह्मी स्थिति'। इसका उपाय है ब्रह्मयोग। जिस दिनसे हम इस धर्मके सच्चे मर्मकी धारणासे वञ्चित होकर अधःपतनके निचले मार्गपर आ गिरे, उसी दिनसे हमारे अन्तरात्माका स्वरूप विकृत हो गया। जबतक

भ्रान्त-पथकी नीति धर्मके नामपर हमारे अन्तःकरणको प्रभावित करती रहेगी, तबतक हमारी मुक्ति नहीं। आज हम धर्मके गूढ़ रहस्यकी उपलब्धि न करके बाहरी आचरणों-की सुव्यवस्थामें ही अपनेको लगा रहे हैं। सङ्गठनके मूल तत्त्व, 'सत्य' की अनुभूतिका यदि अभाव है तो मनुष्य एक गढ़ा खोदकर दूसरे गढ़ेको भरने तथा सत्य और मिथ्या दोनोंमें आग लगाकर भस्मका ढेर बनानेकी ही चेष्टामें लगा रहेगा, सत्यकी विजय-मूर्तिकी प्रतिष्ठा उससे न होगी।

हिंदू शास्त्रोंका उद्देश्य है ब्रह्म और संसारके ज्ञानको परिस्फुट करना। जीवको ब्रह्मसे युक्त कर पृथ्वीपर ही स्वर्ग-राज्यकी प्रतिष्ठा करना। ब्रह्मशक्तिको जाग्रत् करके प्रेमतत्त्वसे जातिको भरपूर कर देना। इस मूल तत्त्वकी ही व्याख्या नाना प्रकारसे वेदों, उपनिषदों तथा सांख्य और योगमें है। महाभारत और पुराण, सारे धर्मशास्त्र इस एक ही लक्ष्यका अनुगमन करते हैं, आधुनिक युगके सहजिया और तन्त्र भी इसी एक पथके यात्री हैं। भारतका धर्म सार्वभौम सर्वधर्मसमन्वयका समुद्र है। भारतका यह दुर्भाग्य है कि भारतका धर्म आज सम्प्रदाय विशेषमें खण्डित है, सीमाबद्ध है। भारत निःशङ्क होकर आज जगत्को आलिङ्गन नहीं करता, ऐसा करनेसे उसका धर्म चला जाता है। आज उसका जीवन इस भेदके भँवरमें डूब-उतरा रहा है। हाय! हाय! तुम इतने छोटे नहीं हो, छोटे बनकर गर्वका अनुभव करना पागलपनके सिवा और क्या हो सकता है!

जो ब्रह्मनिष्ठ हैं वे तो सत्यकी प्राप्तिके द्वारा विशुद्ध और [illegible] प्राणियोंके हितमें तत्पर होते हैं—

[illegible] गुहस्थ [illegible] रतः।

[illegible]के इस दिव्य चरित्रकी प्राप्तिके उपाय [illegible] करती हुई भाषामें वर्णित हों तो [illegible] उसके अर्थको ग्रहण करनेमें [illegible] तो छोड़ [illegible] हो सकते हुए [illegible] अधिक [illegible] [illegible] [illegible]

चोट करनेसे हम नहीं चूकते। परन्तु अन्तर्यामी भगवान्‌की यह इच्छा नहीं है, पद-पदपर संकोच और संशयका बिच्छू डंक मारता है, तब भी मनको धोखा देकर इस बाह्य लोकाचारको ही सनातन धर्म बतला रहे हैं। किसीका दोष नहीं है, हम तो अपनी ही खोदी हुई खाईमें डूबकर मर रहे हैं!

भागवत-शास्त्रका मूल उद्देश्य दब गया है। भागवत-शास्त्र एक श्रेष्ठ धर्म-विज्ञान है, ब्रह्ममीमांसाका एक अव्यर्थ अङ्ग है, इस बातको कितने लोग समझते हैं! भागवत-शास्त्रकी व्याख्याके द्वारा ब्रह्म-प्रेम जगानेकी अब कोई चेष्टा नहीं की जाती है। उपन्यास-नाटकादिके समान ब्रह्म-विज्ञानका मीमांसावाद आस्वादरहित साधारण लोगोंके मनोंमें साधारण भाव ही जाग्रत् करता है, भागवत शास्त्रकी सहायतासे श्रेष्ठतम ब्रह्म-साधनाकी प्राप्तिके बदले प्राकृत प्रेमके आदिरस शृङ्गारके रूपमें आज लोग राधा कृष्णकी प्रणय-कथाको ही वर्णन करते हैं, मानो यह लीला प्राकृत साधारण मनुष्यके उपभोगकी वस्तु हो! त्याग और वैराग्यकी आग जिसके हृदयमें जलती है, वही पुरुष इस अमृत-स्रोतमें अवगाहन करके शान्ति-लाभका सुभाग पाता है।

जिस भागवतका प्रणयन भारतके सर्वश्रेष्ठ मनीषी भगवान् व्यासजीने एक ही साथ गृहस्थ और संन्यासी दोनोंके हृदयमें ब्रह्मज्ञान जाग्रत् करनेके लिये किया था, जो आर्य ऋषियोंके द्वारा प्रकाशित अमूल्य शास्त्र ग्रन्थोंमें एक उज्ज्वल रत्न है—तपस्वी, भक्त, परमहंस, गृहस्थ सबके लिये अमृतस्वरूप है, उसीकी व्याख्या सनातनने आज कथा कहानीके रूपमें की जाती है, इससे बढ़कर लज्जाकी बात और क्या हो सकती है!

हम उदीयमान हिंदू-जातिके भीतर [illegible] सत्य धर्मकी धारणा करनेका उद्योग करना चाहते हैं तथा [illegible] व्यवस्था करना चाहते हैं जिससे इसके लिये [illegible] उत्पन्न हो, क्योंकि जबतक भारतका [illegible] नहीं होगा, जबतक भारत अपने धर्मके [illegible] उपलब्धि न करेगा तबतक इस [illegible] जातिके भीतरसे [illegible] हिंदू [illegible] न होगी। [illegible] हम [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible]

[illegible] है। [illegible] नहीं [illegible] [illegible] ... होगी।

[illegible] लिखा है—

[illegible] ।
[illegible] ॥

([illegible])

इस श्लोकका आध्यात्मिक अर्थ जीवनमें जिस [illegible] भगवान् [illegible] प्रदान करता है उसके [illegible] [illegible] समान स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।

नैमिष नामक अनिमेष क्षेत्रमें शौनकादि ऋषियोंने स्वर्गलोककी कामना करके सहस्र वर्षव्यापी यज्ञ किया था। वायुपुराणमें लिखा है—"ब्रह्मणो विसृष्टस्य मनोमयस्य चक्रस्य नेमिः शीर्यते कुण्ठीभवति यत्र तन्नैमिषं नैमिषमेव नैमिषम्।" व्यासजीके अठारह पुराणोंका उद्देश्य इससे समझा जा सकता है। पहले ही कहा गया है कि वेदोंके दुरूह अर्थको विशद करनेके लिये ही उन्होंने वेदान्त तथा पुराणादिकी रचना की है, टुकड़े टुकड़े करके वेदोंका भाव सब जीवोंके भीतर प्रवेश कराकर जगत्‌वासी पुरुषोंको ब्रह्मानन्दमयमें भर देना उनकी सत्यकामना थी।' न जाने किस दिन उनका यह सदुद्देश्य सफल होगा।

गीतामें कहा गया है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥
(२ । ७२)

ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति उसीको होती है जो मृत्युकालमें ब्राह्मी स्थितिकी रक्षा करता है। 'ब्राह्मी स्थिति'—सुख-दुःखसे अतीत नित्य अवस्थामें जो चेतना होती है, समतासम्पन्न योगी उस अपनी व्यक्तिगत चेतनाको ब्रह्ममें संयुक्त करके शान्त हो जाते हैं, अर्थात् उनका स्वतन्त्र अस्तित्व लुप्त हो जाता है। यह मृत्युका नामान्तर नहीं है। निर्वाणका अर्थ है ब्रह्मचेतनामें अपनी आत्माको संयुक्त करनेका आस्वाद—इसे समाधिका आनन्द कहेंगे, वासना-मुक्त जीवनकी यही चेतना है, यही आदर्श [illegible] है, इसीको नैमिषकी भावना [illegible] प्रदान करता है। [illegible] चक्र नैमिष मन नाम [illegible] गठित है—मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कार। यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है। यह जहाँ स्थिर होता है वही नैमिष नामक अनिमेष क्षेत्र है, वहाँ ऋषिलोग हजारों वर्षों तक स्वर्गकी कामनासे यज्ञमें रत रहते हैं। मन कहाँ स्थिर होता है? इसमें, और इसकी प्राप्ति किसको होती है? [illegible] होता है। विश्रामका स्थान रतिके आश्रित [illegible] विश्राम होता है। विना रति उत्पन्न हुए घूमता हुआ मन कैसे स्थिर हो सकता है? मनका धर्म है [illegible] चित्त क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ आदि भूमिमय है, बुद्धि [illegible] है; अहङ्कार, माया सब ही अस्थिर है, चञ्चल है। [illegible] रतिरसके स्पर्शसे, जिस प्रकार भ्रमरी मधुमय पुष्पमें स्थिर होकर बैठ जाती है, उसी प्रकार मन भी स्थिर हो जाता है। रतिमें ही श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है और श्रद्धाकी परिणति भक्तिमें होती है। भक्ति प्रेमका बीज है। इस प्रेमके उदयसे मन निःसङ्कोच हो उठता है। इसीलिये स्थिर मनका अनिमेष क्षेत्र है अनादि हृदयराज्य। ऋषिलोग यहीं बैठकर स्वर्गकी कामनासे सहस्रों वर्ष यज्ञ करते हैं। कामनाहीन होनेपर आत्मा ही स्वर्ग है। सहस्रवर्षका अर्थ है प्रवाहमान काल। निष्काम कर्मयोग ही यज्ञ है। गीतामें यह बात अनेकों बार कही गयी है। अतएव भागवतके प्रथम श्लोकका निगूढ़ आध्यात्मिक अर्थ पाठकको योगका ही—इस योगका ही मार्ग दिखलाता है। इस योग-साधनाकी विधिको रूपकके बहाने भागवतके पात-पातमें बिखेर कर व्यासजी भारतके प्राणोंको उद्बुद्ध कर रहे हैं। जातीय शिक्षाकी पुण्य वेदी-पीठपर बैठकर सत्य कब ब्रह्मज्ञानीके कण्ठमें शृङ्खको झंकृत करेगा! कब भारतके कोटि-कोटि स्त्री-पुरुष भारतीय धर्मके सत्य मर्मको समझकर उदात्त स्वरसे सारी जातिको पुकार उठेंगे! एक ही धर्मके छत्रके नीचे महामेला लगावेंगे! ऐसा सुयोग भारत-को ही प्राप्त है। जीव अधिक दिनोंतक धर्महीन न रहेगा, और न रह सकेगा। अन्तरकी प्यास विषय-तृष्णा नहीं है, भगवान्‌के स्पर्शकी कामना है। उस वाञ्छाके पूर्ण करनेका कल्पतरु है भारतवर्ष। हृदयकी श्रद्धा प्रदान कर इस वृक्षको सञ्जीवित करो—पृथ्वीके पापका भार दूर हो जायगा।

अस्तेय

[अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्]

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'गुरुदेव, कलसे भूखा हूँ !'

'तुम इसी योग्य हो कि भूखों मरो !'

बेचारे बालकके नेत्र भर आये । वह नहीं जान सका कि गुरुदेव उससे इतने असन्तुष्ट क्यों हैं । उसके शरीरपर एकमात्र कौपीन थी और इस शीतकालमें दो दिनसे उसके पेटमें एक दाना भी नहीं गया था । उसका अङ्ग-अङ्ग ठिठुरा जाता था । ऊपरसे यह फटकार । धीरे-धीरे वह सिसकने लगा ।

'रामदास !' गुरुदेव द्रवित हुए और स्नेहसे पुचकारा 'मैं चार दिनके लिये बाहर गया और आश्रम खाली हो गया, सोचो—ऐसा क्यों हुआ ?' बालक सिसकता जाता था । आश्रममें ऐसा था ही क्या जो खाली हो गया ? गुरुदेव कुल आधसेर तो आटा छोड़ गये थे । उसीको उलटा-सीधा सेंककर बिना नमकके ही उसने दो दिन किसी प्रकार काम चलाया । उनके समय जिन भक्तोंकी भीड़ लगी रहती थी, उनकी अनुपस्थितिमें उनमेंसे कोई मुख दिखाने भी नहीं आया था ।

'देखो, झोलेमें थोड़े फल हैं और कुछ मीठा भी । उन्हें निकाल लो !' गुरुदेवकी इस आज्ञाका पालन नहीं हुआ । क्योंकि शिष्य इतना दुखी हो गया था कि उसे रोनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता था । वह रोता जाता था और अपने हाथोंसे आँसू भी पोंछता जाता था ।

'बेटा, रो मत ! झोला उठा तो ला !' चुपचाप उसने आज्ञाका पालन किया और फिर एक ओर खिसककर आँसू पोंछने लगा । गुरुदेवने बहुत-से फल निकाले और कुछ लड्डू भी । अञ्जलि भरकर उसे देने लगे । अब उससे रहा नहीं गया । वह उनके चरणोंमें मस्तक रखकर फूट पड़ा । हिचकी बँध गयी ।

गुरुदेवने उठाकर उसे गोदमें बैठा लिया । आँसू पोंछ दिये । कमण्डलुके जलसे स्वयं मुख धो दिया और स्वयं उसे फल छीलकर खिलाने लगे । 'बच्चे, तुम सदा बच्चे ही नहीं रहोगे ! अपनेको समझो और यह तुच्छ मोह दूर करो !' गुरुदेव यों ही कुछ कहते जाते थे । वे प्रायः ऐसी बातें करते थे, जो उनका बाल-शिष्य समझ नहीं पाता था ।

बालकका दुःख कितनी देरका ? गुरुके स्नेहसे वह चुप हो गया । उनकी गोदसे उतरकर वह स्वयं उन फलोंसे क्षुधा शान्त करने लगा ।

× × ×

(२)

'केवल चोरको अभाव होता है । जो चोरी नहीं करता, उसके चरणोंमें विश्वकी समस्त सम्पत्ति लोटा करती है । जब किसीको फटे हाल और भूखों मरते देखो तो समझ लो कि वह चोर है । यदि कोई किसी प्रकारकी तनिक भी चोरी न करे तो उसे कभी भी आर्थिक कष्ट न होगा ।'

एक छोटा-सा ब्राह्मणकुमार था । सुन्दर गौर एवं लंबे शरीरका । माता-पिता उसे बचपनमें छोड़ चुके थे । वह समीपके प्रसिद्ध संत-सिद्ध महाराजके आश्रम-पर आया । महाराज न तो किसीको शिष्य करते थे और न आश्रमपर रहने देते थे । लेकिन न जाने इस बालकमें उन्होंने क्या देखा अथवा बालकका प्रारब्ध समझिये, इसे उन्होंने अपना लिया । पुत्रकी भाँति वे इसका पालन करते और बालक पितासे कहीं अधिक उन्हें मानता ।

यों तो श्रद्धालु भक्तोंकी सदा ही आश्रमपर भीड़

[illegible] रहती थी; पर आज अभीतक कोई आया नहीं था। [illegible] बाहरसे लौटे थे, इससे सम्भवतः भक्तोंको पता नहीं लगा होगा। एकान्त पाकर वे अपने [शि]ष्यको समझा रहे थे जो अपनी लंबी जटाओंको एक [illegible] सहलाता हुआ कौपीन लगाये उनके सामने बैठा उत्सुकतासे उनके वचनोंको सुन रहा था।

'देखो, संसारका यह नियम है कि तुम दूसरोंके जिस पदार्थको हानि पहुँचाओगे, तुम्हारा वही पदार्थ तुमसे छिन जायगा। यही भगवान्‌का न्याय है। जो दूसरेके लड़कोंको सताता या उनसे द्वेष करता है, उसे लड़के नहीं होते या होकर मर जाते हैं। जो दूसरोंके स्वास्थ्यको बिगाड़ता है, वह रोगी होता है। इसी प्रकार जो चोरी करता है, वह दरिद्र होता है। दीवारपर दूसरोंके ऊपर तुम जो चोट करते हो, वह मारी हुई गेंदकी भाँति तुम्हारे ही ऊपर लौट आती है।'

बालक अभी बालक ही था। उसकी बुद्धि इतने उपदेशोंको ग्रहण नहीं कर सकती थी। उसने स्वाभाविक चपलतासे बीचमें ही पूछा 'गुरुदेव! चोर तो धन चुराता है, फिर उसके पास खूब धन रहेगा। वह दरिद्र कैसे होगा?'

गुरुदेवने गम्भीरतासे शिष्यको देखा 'मैं पहले ही समझता था कि तेरा अधिकार अस्तेय-साधनसे ही प्रारम्भ करनेका है। ठीक है, माता प्रकृति तुझे उत्सुक और उचित कर रही है।' फिर उन्होंने स्वाभाविक स्वरमें कहा 'इसे फिर समझाऊँगा! अभी तो मुझे आज सन्ध्याको पुनः एक यात्रा करनी है। तुम भी साथ चलनेको तैयार रहो!'

गुरुदेवके साथ यात्रामें चलनेका आदेश सुनकर बालक खिल उठा और वह झटपट उठकर उनका झोला ठीक करनेमें लग गया।

× × ×

(३)

'यहीं खड़े रहो और देखो!'

'इस गंदी सँकरी गलीके पास तो खड़े रहनेको जी नहीं चाहता और इस अँधेरी रात्रिमें यहाँ देखनेको है भी क्या? कोई यहाँ खड़ा देखेगा तो जाने क्या समझेगा!'

'अभी यहाँ बहुत कुछ होनेवाला है। तुम शान्त होकर देखो! बोलना मत! आओ, इधर एक ओर छिपकर खड़े रहो!' एक अँधेरी गलीमें श्रावणकी तमसाच्छन्न रजनीमें एक साधु अपने शिष्यसे उपर्युक्त बातें कर रहे थे। आकाशमें बादल छाये थे और छोटी-छोटी बूँदें गिरने लगी थीं। दोनों एक कोनेमें छिप रहे।

गलीमें किसीके आनेकी आहट हुई। दो व्यक्तियोंकी अस्पष्ट फुसफुसाहट सुनायी पड़ी। गली दो अट्टालिकाओंका पिछवाड़ा था। उनमेंसे एककी खिड़की खुली थी। सर्रसे एक ध्वनि हुई और तनिक देरमें कोई काली बड़ी-सी वस्तु ऊपरको जाती दिखलायी दी। एक छोटा-सा खटका हुआ। वह काली वस्तु खिड़कीके भीतर चली गयी। खिड़कीसे आता धीमा प्रकाश बंद हो गया।

बड़ी देरतक गलीमें सन्नाटा रहा। साधुका बालक शिष्य अपने भीतरकी आकुलता दबाये चुपचाप खड़ा था। मनमें बहुत कुछ पूछनेकी उत्सुकता थी; किन्तु गुरुजी बार-बार हाथ दबाकर उसे शान्त रहनेका संकेत कर रहे थे।

ऊपरसे हल्की ताली बजी, नीचेसे भी किसीने [illegible] वैसे ही संकेत किया। अबकी बार ऊपरसे क्रमशः [illegible] काली-काली वस्तुएँ उतरीं। फिर सन्नाटा हो गया [illegible] साधु अपने शिष्यको [illegible] गलीसे निकले और चुप रहनेको कहकर एक ओर तीव्रतासे चल[illegible] बड़ी दूर नगरसे बाहर आकर दो-तीन नाले पार [illegible]

एक झाड़ीके पास वे रुक गये। थोड़ी दूरपर एक बत्ती जलती थी। दो व्यक्ति बैठे थे, जो अभी-अभी कहींसे एक सन्दूक लाये थे। प्रकाशमें उनका मुख स्पष्ट दिखायी देता था। उन्होंने बक्सके तालेको रेतीसे काटकर बक्स खोला। उसमेंसे सोनेके आभूषण और मुहरें निकालीं। बक्स इन्हींसे भरा था। इतना शिष्यको दिखलाकर गुरु उसे लेकर एक ओर चले।

ठीक एक सप्ताह बाद—दोपहरीमें साधु अपने शिष्यके साथ नगरमें घूम रहे थे। एक झोंपड़ीके बाहर दो भाई परस्पर झगड़ रहे थे। झगड़ा था पावभर सत्तूको लेकर। उनमें उस सत्तूका बटवारा हो रहा था और प्रत्येक चाहता था अधिक भाग प्राप्त करना। उनके वस्त्र चिथड़े हो रहे थे। शरीर धूलसे भरा था। मुख देखनेसे पता लगता था कि सम्भवतः कई दिनपर इन्हें यह सत्तू प्राप्त हुआ है।

सत्तू सानकर बाँटना निश्चित हुआ। जल मिलाकर उन्होंने उसका पिण्ड बनाया। फिर बाँटनेके लिये झगड़ा हो ही रहा था कि पीछेसे कूदकर एक बंदर उसे उठा ले गया। उनकी इस दीनतापर वह बालक साधु रो पड़ा।

'रामदास, इन्हें पहले पहचानो और तब रोओ !'

गुरुके वचनोंसे बालकको कुछ स्मरण हुआ। उसने ध्यानसे देखा—ये तो उस रातवाले चोर हैं ! इनके वे गहने और मुहरें क्या हुईं ?'

साधु हँसे—'तू तो कहता था कि चोर धन चुराकर धनी हो जाता।'

'गुरुदेव ! पर इनका धन हो क्या गया ?'

'इन्होंने आभूषण और मुहरें छिपानेके लिये इन्हें [illegible]

धमकी दी। विवश होकर ये लौट आये। इनसे सेठको भय था कि यहाँ रहेंगे तो बदला लेंगे। अतएव उसने अपने आदमियोंसे इनके घरके सब बर्तन, वस्त्र, प[illegible] प्रभृति चोरी करवा दिये। इस प्रकार घरकी पूँजी भी खोकर अब ये दाने-दानेको तरस रहे हैं।'

'गुरुदेव ! इन्होंने तो चोरी की थी, तब भूखे मर रहे हैं। मैंने क्या अपराध किया जो दो दिन मुझे अन्न नहीं मिला और आपने कहा कि तुम इसी योग्य हो कि भूखों मरो !'

'चोरी केवल धनकी ही नहीं होती। जिस वस्तुमें दूसरोंको भाग मिलना चाहिये, उसे छिपाकर खा लेना, दूसरेकी वस्तुको बिना माँगे ले लेना आदि भी चोरी ही है। बेटा ! बड़ी चोरीसे तो बहुत लोग बचते हैं, लेकिन इन छोटी चोरियोंसे ही बचना कठिन है। तुम्हें स्मरण है कि एक दिन एक भक्त तुम्हें इलायची दे रहा था। तुमने उसके देनेपर तो अस्वीकार कर दिया और उसके हटनेपर दो इलायची चुपकेसे उठा ली। इसी चोरीके फलस्वरूप तुम्हें दो दिन अन्न नहीं मिला।'

शिष्यके नेत्र भर आये। गुरुके चरणोंमें मस्तक रखकर उसने फिर कभी कोई चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा की।

× × ×

समर्थ रामदास जब किसीको शिष्य [illegible]

माताजीसे वार्तालाप

(७)

मनोमय जगत्—धनशक्ति कैसे काम करती है—बाधाएँ—शारीरिक व्याधियोंका मूल कारण

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

[भाग १५ पृष्ठ १४९५से आगे]

'विचारके अंदर जो शक्ति है वह किस कोटिकी है ! क्या प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने जगत्‌का कर्त्ता है, यदि हाँ, तो कैसे और किस हदतक !'

बौद्धमतके अनुसार, प्रत्येक मनुष्य अपने ही रचे हुए जगत्‌में रहता और विचरण करता है, उसका यह जगत् दूसरे मनुष्यके जगत्‌से सर्वथा स्वतन्त्र होता है; और इन विभिन्न जगतोंमें जब एक प्रकारका सामञ्जस्य हो जाता है केवल तभी ये जगत् एक दूसरेमें अन्तःप्रविष्ट हो सकते हैं और तभी मनुष्य परस्पर सम्पर्कमें आते और एक दूसरेके विचारोंको समझ सकते हैं। जहाँतक मनसे सम्बन्ध है वहाँतक यह बात ठीक है, कारण, प्रत्येक व्यक्ति अपने ही मानसिक जगत्‌में, जो उसके अपने ही विचारोंद्वारा सृष्ट किया हुआ होता है, विचरण करता रहता है। यह बात यहाँतक सच है कि सदा ही, जब कोई बात कही जाती है तब प्रत्येक व्यक्ति उस एक ही बातको विभिन्न रूपमें समझता है, कारण जो कुछ कि कहा गया है उसको वह ग्रहण नहीं करता, बल्कि वह किसी ऐसी चीजको ग्रहण करता है जो कि उसके मगजमें पहलेसे ही भरी हुई है। परन्तु यह सत्य मनोमय भूमिकाकी गतियोंसे ही सम्बन्ध रखता है और उसी भूमिकापर लागू होता है।

कारण मन कर्म करने और आकार बनानेका करण है, ज्ञानका करण नहीं। यह प्रत्येक क्षण आकारों-की रचना करता रहता है। विचार आकारमय होते हैं और इनका अपना व्यक्तिगत जीवन होता है जो उनके धारकसे सर्वथा स्वतन्त्र होता है। मन जब इन विचारमय आकारोंको जगत्‌में भेज देता है तो उसके बाद वे अपने व्यक्तिगत प्रयोजनको पूरा करनेके लिये जगत्‌में विचरण करने लगते हैं। जब तुम किसी व्यक्तिके विषयमें विचार करते हो तब तुम्हारा विचार एक आकार धारण कर लेता है और उस व्यक्तिको खोजनेके लिये निकल पड़ता है, और यदि तुम्हारे विचारके साथ-साथ उसके पीछे-पीछे कोई संकल्प लगा रहता है, तो तुम्हारे अंदरसे निकला हुआ यह विचारमय आकार अपने-आपको चरितार्थ करनेकी चेष्टा करता है। उदाहरणके लिये, मान लो कि तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक मनुष्य तुम्हारे पास आवे, और इच्छाके इस प्राणमय आवेगके साथ-साथ यदि तुम्हारे बनाये हुए मनोमय आकारके साथ एक जोरदार कल्पना भी जुड़ी हुई है, तो तुम कल्पना करोगे कि 'यदि वह आवेगा तो वह ऐसा होगा अथवा वह वैसा होगा।' अब मान लो कि कुछ कालके बाद इस विचारको तुमने सर्वथा त्याग दिया, लेकिन तुम नहीं जानते कि इस बातको भूल जानेके बाद भी, तुम्हारे विचारका अस्तित्व बना हुआ है। वास्तवमें अभी भी उसका अस्तित्व है और वह तुमसे सर्वथा स्वतन्त्र रहकर अपना काम कर रहा है, और उसको उसके इस काममसे वापस बुला लेनेके लिये एक महान् शक्तिकी आवश्यकता होगी। वह उस विचारसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तिके वातावरणमें प्रविष्ट होकर अपना काम करने लगता है और उसमें तुम्हारे पास आनेकी इच्छा उत्पन्न करता रहता है। और यदि तुम्हारे विचारमय आकारमें अपने कार्यको सिद्ध कर लेनेकी पर्याप्त इच्छाशक्ति है, यदि उस आकारका गठन भली-भाँति हुआ है तो वह अपना काम करके ही छोड़ेगा। परन्तु इस आकाररचना और उसके कार्यकी सिद्धिके बीचमें कुछ समय लगता है और यदि इस बीच

बीच तुम्हारा मन बिल्कुल दूसरी ही चीजोंमें लगा रहा हो, तो जबतक तुम्हारा यह भूला हुआ विचार कार्यमें परिणत होता है, तबतक हो सकता है कि तुमको यह याद भी न रहे कि एक दिन तुमने ही इसको आश्रय दिया था, तुमको यह पता ही न हो कि तुम्हींने इसको क्रियान्वित होनेके लिये प्रेरित किया था और आज जो परिणाम हुआ है वह तुम्हारे ही कारण है। और बहुधा यह भी होता है कि इन विचारमय आकारोंका जब फल प्राप्त होता है, तब उस विषयकी इच्छा करना या उससे दिलचस्पी रखना तुमने छोड़ दिया होता है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें इस प्रकारकी रचना-शक्ति बहुत ही बलवती होती है और उनकी मनोरचनाएँ सदा कार्यान्वित होती हैं, लेकिन चूँकि उनकी मनोमय और प्राणमय सत्ता खूब अच्छी तरह सधी हुई नहीं होती, इसलिये वे कभी इस चीज-की इच्छा करते हैं तो कभी उस चीजकी, अतः उनकी ये भिन्न-भिन्न अथवा विरोधी रचनाएँ और उनके परिणाम, एक दूसरेसे टकराते और भिड़ते रहते हैं। और ऐसी अवस्था देखकर ये लोग आश्चर्य करते हैं कि उनका जीवन इतना अधिक अव्यवस्थित और असामञ्जस्यपूर्ण क्यों रहता है ? वे इस बातका अनुभव नहीं करते कि उनके अपने ही विचारों और इच्छाओं-के कारण ही यह हुआ है कि उनके इर्दगिर्द एक इस प्रकारकी परिस्थिति निर्मित हो गयी है जो उनको इतनी बेमेल और परस्परविरोधी जान पड़ती है और जिसके कारण उनका जीवन प्रायः असह्य-सा हो गया है।

यह ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यदि इसको इसके सदुपयोग किये जानेके रहस्यके साथ-साथ दिया जाय। आत्म-संयम और आत्म-शासन ही इसके रहस्य हैं। सत्यके मूल्यको तथा भगवान्-संकल्पके अनवरत शासन-को —कारण, [illegible] भगवान्-संकल्पका अनवरत शासन ही प्रत्येक विचारमय आकारको उसकी पूर्ण शक्ति तथा उसकी सम्पूर्ण और सामञ्जस्यमय सिद्धि प्रदान कर सकता है—अपने-आपमें [illegible] ही यह रहस्य है। साधारणतया, मनुष्य इस बातको जाने बिना ही कि उनकी ये विचार-रचनाएँ किस प्रकार विचरण और क्रिया करती हैं, विचारोंको रचा करते हैं। इस प्रकारकी अज्ञानमय और विशृङ्खल अवस्थामें गढ़े हुए ये विचार परस्पर टकराते रहते हैं और तुमपर इस प्रकारका प्रभाव डालते हैं मानो तुम कोई जोर लगा रहे हो, कोई प्रयास कर रहे हो, मानो इस कार्यमें तुम क्लान्त हुए जा रहे हो और तुमको ऐसा महसूस होता है मानो तुम किन्हीं असंख्य बाधाओंके बीचसे अपना मार्ग साफ कर रहे हो। अज्ञान और असंगतिकी इन अवस्थाओंके कारण एक विशृङ्खल संग्राम प्रारम्भ हो जाता है और इस संग्राममें जो विचारमय आकार सबसे अधिक बलवान् होते हैं तथा जो सबसे अधिक देरतक टिक सकते हैं, वे दूसरोंपर विजय लाभ करते हैं।

मन और उसके कार्यके विषयमें एक बात निश्चित है और वह यह कि तुम केवल उसी बातको समझ सकते हो, जिसका तुम्हें अपने अन्तरात्मामें पहलेसे ही ज्ञान होता है। किसी पुस्तकके पढ़नेपर उसमें जो बात तुमपर असर करती है, वह वही होती है जिसको तुमने अपने अंदरकी गहराईमें पहले ही अनुभव कर लिया होता है। मनुष्य किसी पुस्तक या उपदेशको अत्यन्त अद्भुत पाते हैं और बहुधा यह कहते हुए सुने जाते हैं कि 'यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह ठीक वैसा ही है जैसा कि इस विषयके सम्बन्धमें मैं स्वयं अनुभव करता और जानता हूँ, किन्तु इस विषयका वर्णन इस स्थानपर जितने सुन्दर ढंगसे किया गया है वैसा मैं नहीं कर सकता था।' जब मनुष्य किसी उच्च ज्ञानकी पुस्तकका पारायण करते हैं तो उसमें प्रत्येक पाठक अपने-आपको पाता है, और उसके प्रत्येक नवीन पाठमें उसको कुछ ऐसी बातें मिलती हैं जिन्हें वह पहले नहीं देख सका था, प्रत्येक आवृत्तिमें वह [illegible] उसके सामने ज्ञानके एक नवीन पहलूको, जिसको वह अबतक उसमें नहीं पा सका था, [illegible]

बीच तुम्हारा मन बिल्कुल दूसरी ही चीजोंमें लगा रहा हो, तो जबतक तुम्हारा यह भूला हुआ विचार कार्यमें परिणत होता है, तबतक हो सकता है कि तुमको यह याद भी न रहे कि एक दिन तुमने ही इसको आश्रय दिया था, तुमको यह पता ही न हो कि तुम्हींने इसको क्रियान्वित होनेके लिये प्रेरित किया था और आज जो परिणाम हुआ है वह तुम्हारे ही कारण है। और बहुधा यह भी होता है कि इन विचारमय आकारोंका जब फल प्राप्त होता है, तब उस विषयकी इच्छा करना या उससे दिलचस्पी रखना तुमने छोड़ दिया होता है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें इस प्रकारकी रचना-शक्ति बहुत ही बलवती होती है और उनकी मनोरचनाएँ सदा कार्यान्वित होती है, लेकिन चूँकि उनकी मनोमय और प्राणमय सत्ता खूब अच्छी तरह सधी हुई नहीं होती, इसलिये वे कभी इस चीज-की इच्छा करते है तो कभी उस चीजकी, अतः उनकी ये भिन्न-भिन्न अथवा विरोधी रचनाएँ और उनके परिणाम, एक दूसरेसे टकराते और भिड़ते रहते हैं। और ऐसी अवस्था देखकर ये लोग आश्चर्य करते हैं कि उनका जीवन इतना अधिक अव्यवस्थित और असामञ्जस्यपूर्ण क्यों रहता है ? वे इस बातका अनुभव नहीं करते कि उनके अपने ही विचारो और इच्छाओं-के कारण ही यह हुआ है कि उनके इर्दगिर्द एक इस प्रकारकी परिस्थिति निर्मित हो गयी है जो उनको इतनी बेमेल और परस्परविरोधी जान पड़ती है और जिसके कारण उनका जीवन प्रायः असह्य-सा हो गया है।

यह ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यदि इसको इसके सदुपयोग किये जानेके रहस्यके साथ-साथ दिया जाय। आत्म-सयम और आत्म-शासन ही इसके रहस्य हैं। सत्यके मूलको तथा भागवत-संकल्पके अनवरत शासन-को—कारण, केवल भागवत-संकल्पका अनवरत शासन ही प्रत्येक विचारमय आकारको उसकी पूर्ण शक्ति तथा उसकी सम्पूर्ण और सामञ्जस्यमय सिद्धि प्रदान कर सकता है—अपने-आपमें खोज निकालना ही यह रहस्य है। साधारणतया, मनुष्य इस ... बिना ही कि उनकी ये विचार-रचनाएँ कि... विचरण और क्रिया करती हैं, विचारोंको ... हैं। इस प्रकारकी अज्ञानमय और विशृङ्खल ... गढ़े हुए ये विचार परस्पर टकराते रहते हैं और इस प्रकारका प्रभाव डालते हैं मानो तुम ... लगा रहे हो, कोई प्रयास कर रहे हो, ... कार्यमें तुम क्लान्त हुए जा रहे हो और तुमको महसूस होता है मानो तुम किन्हीं असंख्य बा... बीचसे अपना मार्ग साफ कर रहे हो। अज्ञान ... असंगतिकी इन अवस्थाओंके कारण एक ... संग्राम प्रारम्भ हो जाता है और इस संग्राम... विचारमय आकार सबसे अधिक बलवान् होते ... जो सबसे अधिक देरतक टिक सकते हैं, वे ... विजय लाभ करते हैं।

मन और उसके कार्यके विषयमें एक बात ... है और वह यह कि तुम केवल उसी बातको ... सकते हो, जिसका तुम्हें अपने अन्तरात्मामें ... ही ज्ञान होता है। किसी पुस्तकके पढ़नेपर ... जो बात तुमपर असर करती है, वह वही हो... जिसको तुमने अपने अदरकी गहराईमें पहले ही अ... कर लिया होता है। मनुष्य किसी पुस्तक या उपदे... अत्यन्त अद्भुत पाते हैं और बहुधा यह कहते हुए जाते हैं कि 'यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह ... वैसा ही है जैसा कि इस विषयके सम्बन्धमें मैं ... अनुभव करता और जानता हूँ, किन्तु इस ... वर्णन इस स्थानपर जितने सुन्दर ढगसे किया गया ... वैसा मैं नहीं कर सका था।' —

ज्ञानकी पुस्तकका ...

पाठक अपने-आपको

पाठमें उसको

पहले नहीं देख

उसके सामने

अभीतक उसमें

...से दूर भागनेकी ओर होती है, अथवा जैसा कि कहते हैं 'इनके बन्धनसे निकल आने' की ओर होती है। परन्तु यह गलत प्रवृत्ति है, तुमको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि जो चीजें तुम्हारे पास हैं वे तुम्हारी हैं—वे तो भगवान्‌की हैं। यदि भगवान् चाहते हैं कि तुम किसी चीजका भोग करो तो उसका तुम भोग करो, किन्तु दूसरे ही क्षण यदि उसको छोड़ना पड़े तो उसके लिये भी सदा प्रसन्नचित्तसे तैयार रहो?'

'शारीरिक व्याधियाँ क्या हैं? क्या ये आक्रमण विरोधी शक्तियोंके हैं और क्या ये बाहरसे होते हैं?'

इस विषयमें दो बातें हैं जिनपर विचार करना चाहिये। एक वह जो बाहरसे आता है और दूसरा वह जो तुम्हारी आन्तरिक अवस्थाओंसे आता है। तुम्हारी आन्तरिक अवस्था रोगका कारण तब बनती है जब वहाँपर कोई प्रतिरोध या विद्रोह होता है अथवा जब कि तुम्हारे अंदर कोई ऐसा भाग होता है जो भागवत संरक्षणका प्रत्युत्तर नहीं देता अथवा वहाँ कुछ ऐसी चीज भी हो सकती है जो इच्छापूर्वक और जान-बूझकर विरोधी शक्तियोंको अंदर बुलाती हो। इस प्रकारकी कोई मामूली-सी गति भी तुम्हारे अंदर हो तो वह पर्याप्त है, विरोधी शक्तियाँ तुमपर चढ आती हैं और उनका आक्रमण बहुधा रोगका रूप धारण करता है।

'परन्तु क्या यह ठीक नहीं है कि कभी-कभी रोगजनक कीटाणुओंके कारण ही रोग होते हैं, योगसाधनाकी क्रियाके अङ्गभूत होकर नहीं?'

कहाँसे भला योगका आरम्भ समझें और कहाँ अन्त! क्या तुम्हारा सारा जीवन ही योग नहीं है। तुम्हारे शरीरमें और उसके आसपास रोगकी सम्भावनाएँ सदा बनी रहती हैं, तुम्हारे अंदर या तुम्हारे चारों तरफ सब प्रकारकी बीमारियोंके कीटाणु या रोग-जन्तु विद्यमान होते हैं अथवा वे तुम्हारे चारों ओर मँडराते रहते हैं। जो रोग तुमको वर्षोंसे नहीं हुआ उसके तुम एकाएक शिकार क्यों हो जाते हो? तुम कहोगे कि इसका कारण प्राण-शक्तिका सुस्त पड़ जा[ना है।] परन्तु यह प्राणोंकी सुस्ती कहाँसे आती है? यह सत्तामें किसी प्रकारका असामञ्जस्य होनेसे, भागवत शक्तियोंके प्रति ग्रहणशीलताका अभाव होनेसे आती है। जब तुम उस शक्ति और ज्योतिसे जो तुम्हारा धारण-पोषण करती है, अपने-आपको जुदा कर लेते हो तब यह सुस्ती होती है, तब जिसको वैद्यक शास्त्र 'रोगके लिये अनुकूल क्षेत्र' कहते हैं वह तैयार हो जाता है और कोई चीज इसका फायदा उठा लेती है। सन्देह, निरुत्साह, विश्वासका अभाव, निजी स्वार्थके लिये भगवान्‌की ओरसे मुँह फेरकर पुनः अपनी ओर पलट आना——ये हैं जो ज्योति और दिव्यशक्तिसे तुम्हें अलग कर देते हैं और आक्रमणको इस प्रकारका लाभ पहुँचाते हैं। यही है तुम्हारे बीमार पड़नेका कारण न कि रोगके कीटाणु।

'परन्तु क्या यह सिद्ध नहीं हो चुका है कि स्वच्छता और सफाई आदि रखनेमें सुधार करनेसे औसत नागरिकका स्वास्थ्य सुधरता है?'

औषध और सफाई साधारण जीवनके लिये अपरिहार्य हैं, किन्तु इस समय मैं औसत नागरिकके सम्बन्धमें नहीं कह रही हूँ, मैं तो उनके बारेमें कह रही हूँ जो योगसाधना करते हैं। फिर भी सफाई आदिकी पद्धतिसे यह घाटा होता है कि जहाँ तुम इससे रोगके पकड़में आनेकी सम्भावनामें कमी ले आते हो वहाँ रोगका प्रतिरोध करनेकी तुम्हारी जो अपनी स्वाभाविक शक्ति है उसको भी तुम क्षीण कर देते हो। अस्पताल-में काम करनेवाले, जो सदा अपने हाथ निःसंक्रामक औषधियोंसे धोते रहते हैं, यह पाते हैं कि उनके हाथ औरोंकी अपेक्षा सहजमें संक्रामक जन्तुओंके शिकार हो जानेवाले और कहीं अधिक प्रभावग्राही हो गये हैं। इनके विपरीत, उन लोगोंको ले लो जो स्वास्थ्यकर सफाई आदिके विषयमें कुछ भी नहीं जानते और अत्यन्त अस्वास्थ्यकर काम करते रहते हैं, फिर भी वे सम्बन्ध[ित] दोषोंसे मुक्त रहते हैं। उनका अज्ञान ही उनक[ा]

सहायता करता है, कारण, आरोग्यशास्त्रकी बातोंके ज्ञानके कारण जो ऐसे विचार हमारे मनमें बैठ जाते हैं कि ऐसा होनेसे यह रोग होता है और वैसा होनेसे वह रोग, वैसे खयालोंकी वहाँ कोई सम्भावना ही नहीं होती। दूसरी ओर, स्वास्थ्यकर संरक्षणमें जो तुम्हारा विश्वास होता है वही इन विचारोंको भी कार्य करनेमें सहायता पहुँचाता है। कारण, तुम समझते हो कि, 'अब मैंने निःसंक्रामक औषधका प्रयोग कर लिया और मैं सुरक्षित हूँ,' तो उस हदतक ही यह तुमको सुरक्षित रखता भी है।

'तब फिर हमें स्वास्थ्यकर सावधानी—जैसे कि छाना हुआ पानी पीना—क्यों रखनी चाहिये?'

क्या तुममेंसे कोई भी इतना शुद्ध और बलवान् है जिसपर सुझावोंका कुछ भी असर न होता हो? यदि तुम बिना छाना हुआ पानी पीओ और सोचो कि 'अब मैं अस्वच्छ जल पी रहा हूँ' तो तुम्हारे बीमार पड़नेकी बहुत कुछ सम्भावना हो जाती है। और यद्यपि इस प्रकारके सुझाव सचेतन मनके द्वारा न भी पहुँचें तो तुम्हारी समग्र अचेतना तो पड़ी ही है जो किसी भी ऐसे सुझावको ग्रहण करनेके लिये बुरी तरह खुली हुई रहती है। जीवनमें अचेतनाके कार्यका भाग अधिक होता है और सचेतन भागोंकी अपेक्षा अचेतना सौगुनी शक्तिशालिनीके साथ कार्य करती है। साधारण मानव-अवस्था वह अवस्था है जो भय और आशङ्काओंसे भरी हुई है। यदि तुम अपने मनको दस मिनटतक गहरी दृष्टि डालकर देखो तो तुमको यह पता लगेगा कि उसके दसमेंसे नौ विचार भयसे भरे हुए हैं, वह अपने अंदर सूक्ष्म और स्थूल, समीपवर्ती और दूरवर्ती, देखे हुए और बिना देखे हुए, अनेक भयोंको अपनेमें छिपाये रहता है, और यद्यपि ये साधारणतया तुम्हारी सचेतन सत्तामें नहीं आती, पर तुम्हारे अंदर ये भय तो होते ही हैं। समस्त भयसे मुक्त हो जाना—यह अवस्था तो अनवरत प्रयास और साधनाद्वारा ही आ सकती है।

और, साधना और प्रयासके द्वारा यदि तुमने अपने मन और प्राणको आशंका तथा भयसे मुक्त भी कर लिया हो तो भी शरीरको मना लेना अधिक कठिन होता है। परन्तु यह भी करना ही पड़ेगा। एक बार तुमने योगमार्गमें प्रवेश किया कि तुमको समस्त भयोंसे मुक्त हो जाना चाहिये,—अपने मनके भयोंसे, अपने प्राणके भयोंसे, अपने शरीरके भयोंसे, जो उसके एक-एक रोमकूपमें भरे पड़े हैं, मुक्त हो जाना चाहिये। योगमार्गमें तुम्हें जो ठोकरें खानी पड़ती हैं और आघात सहन करने पड़ते हैं उनका एक उपयोग यह भी है कि वे तुम्हें समस्त भयोंसे मुक्त कर दें। जिन कारणोंसे तुम्हें भय होता है वे उस समयतक तुमपर बार-बार हमला करते रहते हैं जबतक कि तुम इस योग्य न हो जाओ कि तुम उनके सामने स्वतन्त्र और उदासीन, अनासक्त और शुद्ध होकर खड़े रह सको। किसीको समुद्रसे भय होता है, कोई आगसे डरता है। अब, हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्निसे भय खाता हो उसको एकके बाद एक अनेकों भीषण अग्निकाण्डोंको उस समयतक अपनी आँखोंके सामने होते हुए देखना पड़े जबतक कि वह इतना अभ्यस्त न हो जाय कि इस काण्डसे उसके शरीरका एक रोमकूपतक न काँपे। जिन चीजोंसे तुमको त्रास पैदा होता है वे उस समयतक बारम्बार आती रहती हैं जबतक कि उनसे तुममें त्रास होना बिल्कुल बंद न हो जाय। जो रूपान्तरित होना चाहता है और जो इस मार्गका साधक है उसे तो भयहीन, भयमुक्त होना ही होगा, उसे ऐसा बन जाना होगा कि कोई भी चीज उसकी सत्ताके किसी भी भागको छू या हिला न सके।

हृदयसे निकली हुई सच्ची प्रार्थनामें अमोघ—अपार शक्ति है, इतनी, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। थके हुए शरीरको पूर्ण विश्राम, क्लान्त मनको दिव्य शान्ति और व्याकुल प्राणोंको अलौकिक आश्वासन मिलता है। चिन्ताएँ पता नहीं, कहाँ काफूर हो जाती हैं, शङ्काएँ और आशङ्काएँ जाने कब हवामें उड़ जाती हैं और हृदयके भीतर-भीतर ऐसा प्रतीत होता है कि कोई 'अपना' गुदगुदा रहा है; कुछ धीरे-धीरे अपनी कह रहा है, कुछ हमारी सुननेके लिये मचल रहा है।

भगवान्के पास जाओ और अपने तमाम उधेड़-बुनको उनके हाथोंमें छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ, विमुक्त हो जाओ।

कभी-कभी हम अपनेको तुच्छ, नाचीज़ और अकिञ्चन समझ लेते हैं और साथ ही यह भी सोच लेते हैं कि भगवान् इतने महान् एवं सर्वव्यापी हैं कि हमारे-जैसोंकी सुध लेनेके लिये उन्हें अवकाश ही कहाँ है? सबकी देख-भालमें वे इतने व्यस्त जो हैं। हमारा ऐसा सोचना स्वाभाविक ही है। परन्तु हम इतना क्यों नहीं सोचते कि भगवान्के व्यस्त रहते हुए भी हमें वायु, प्रकाश, जल—जिनके बिना एक दिन भी हमारा काम नहीं चल सकता, हमें आवश्यकतानुसार मिलता ही है। और मिट्टीमें पड़े हुए अन्नके दानेको ठीक माँकी तरह भगवान् पालते हैं, पोसते हैं, अङ्कुरित करते, पनपाते तथा पल्लवित-पुष्पित करते हैं। जीवन, प्रेम, ज्ञान, सत्य और करुणाको भगवान् खुले हाथों लुटा रहे हैं। भगवान्को अपनेसे दूर मत मानो, न उन्हें इतना गूँगे-बहरे ही समझो कि उन्हें प्रार्थनाओं-स्तुतियों और आराधनाओंके द्वारा जगानेकी आवश्यकता है। ऐसा मत मानो कि उन्हें तुम्हारी ओर देखने, तुम्हारी बात सुननेके लिये फुरसत नहीं है।

भगवान् तो सर्वत्र हैं, सब वस्तुओंमें, ज़र्रे-ज़र्रेमें व्याप्त हैं—प्रत्येक वस्तुके हृदयमें बैठे हैं और वहीं बैठे-बैठे वे उसकी सुध लेते रहते हैं, सँवारते-सँभालते रहते हैं। अनन्त और परात्पर होते हुए भी वे प्राण-प्राणमें बंदी बना बैठे हैं। वे सबके होते हुए भी—'सम सर्वेषु भूतेषु' होते हुए भी हममेंसे एक-एक व्यक्तिके परम प्रियतम, परम सुहृद्, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण हैं, परम स्नेहमयी माता हैं, धाता हैं—वे क्या नहीं हैं। सबके होते हुए भी वे हममेंसे प्रत्येकके 'अपने' हैं, सर्वथा अपने हैं। इसीलिये तो हम कहते हैं—हमारे स्वामी, हमारे प्रभु, हमारे हृदयेश!

और सच मानो, भगवान्का स्पर्श प्राप्त करनेके लिये किसी जादूभरे—अचरजभरे देश या वातावरणकी कल्पना करनेकी कतई आवश्यकता नहीं है। वे तो सभी देश और समस्त वातावरणमें हैं और खूब हैं, भरपूर हैं। हम जहाँ भी हैं और जैसे भी हैं—भगवान्में हैं और भगवान्के हैं—वे हर हालतमें हमें हमेशा अपनाये हुए हैं, सदैव स्वीकार किये हुए हैं—यह बात जान लेनेपर फिर क्या प्रार्थना, क्या न प्रार्थना—सब समान है। तैयारी तो करते हैं हम भगवान्के पास जानेकी, पर देखते क्या हैं कि वे तो हमारे ही पास थे—ठीक माँकी तरह। माँ, माँ कहकर पुकारा नहीं कि वे प्रकट हुए। पुकारनेके पहले ही उनकी आवाज़ सुनायी पड़ेगी क्योंकि हमारी प्रार्थना केवल सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर परमात्मासे नहीं है; परन्तु 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'—सबके सुहृद् सबकी माँ—स्नेहमयी, दयामयी माँसे है। विश्वास करो, निश्चय मानो, भगवान् तुम्हें प्यार करते हैं, भगवान् तुम्हारी सुनते हैं और भगवान् तुम्हारी प्रत्येक बातकी सार-सँभाल करते हैं।

([illegible]) [illegible]

([illegible])

भगवान् वेदव्यासने कहा है—

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम्।
([illegible])

अर्थात् ब्राह्मण जन्मसे ही देवताओंके भी पूज्य हैं।

महर्षि पाराशर कहते हैं—

ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थम्। ([illegible] । ३४)

अर्थात् ब्राह्मण चलते-फिरते तीर्थ हैं।

भगवान् अत्रि कह रहे हैं—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च॥
(अत्रिसंहिता १४१-१४२)

जन्मसे 'ब्राह्मण' होता है, उपनयन संस्कारसे ब्राह्मण 'द्विज' कहलाता है, विद्याके द्वारा वह 'विप्रत्व'को प्राप्त होता है, एवं तीनों प्रकारसे अर्थात् जन्म (ब्राह्मणत्व), उपनयन (द्विजत्व) तथा वेद-विद्या (विप्रत्व) के द्वारा वह 'श्रोत्रिय' संज्ञाको प्राप्त होता है। यहाँ भगवान् अत्रिने स्पष्ट निर्देश कर दिया है कि ब्राह्मणत्व जन्मगत है।

महाभारतके अनुशासनपर्वके ३५ वें अध्यायमें कहा गया है—

जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक्॥ १॥

हे महाभाग! जन्मके द्वारा ही 'ब्राह्मण' होता है, [illegible]ह्मणकुलमें जन्म लेनेके कारण ही वह समस्त प्राणियोंके [illegible] अर्थात् नमस्कार करने योग्य होता है और [illegible] अन्नका सर्वप्रथम भोक्ता बनता है।

[illegible] १ वें अध्यायमें कहा गया है—

[illegible] सर्वः [illegible] [illegible]ति।
[illegible] मानयन्ति [illegible]रम्॥

अविद्वान् ब्राह्मणो देवः पात्रं वै पावनं महत्।
विद्वान् भूयस्तरो देवः पूर्णसागरसन्निभः॥
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशाने ह्यपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हविर्यज्ञे च विविधे गृह एव विशोभते॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणो मान्यो दैवतं विद्धि तत्परम्॥
(१९-२३)

'ब्राह्मणोंमें क्या वृद्ध, क्या बालक-सभी सम्मानके योग्य हैं। उनमें जो तपस्या तथा साङ्गोपाङ्ग वेद विद्यामें अपेक्षाकृत अधिक विशेषता प्राप्त करते हैं वे तदनुसार ही ब्राह्मणोंमें परस्पर अधिक सम्मानके पात्र बनते हैं। जो ब्राह्मण साङ्गोपाङ्ग वेदविद्यासे रहित है, वह भी (ब्राह्मणकुलमें जन्म लेनेके कारण) दूसरोंको पवित्र कर सकता है। अतएव जो ब्राह्मण वेदविद् है, उसके समुद्रवत् परम पावन होनेमें आश्चर्य ही क्या है। ब्राह्मण वेदविद् हो या वेदज्ञानसे रहित हो, उसे परम देवतास्वरूप जानना आवश्यक है। अग्नि मन्त्रयोगसे संस्कृत हो अथवा मन्त्रयुक्त न होनेके कारण असंस्कृत हो, उसमें देवत्व सर्वदा ही विद्यमान रहता है। जिस प्रकार तेजस्वी अग्नि श्मशानमें रहनेपर भी कभी दूषित नहीं होती, बल्कि यज्ञमें और गृहकार्यमें विधिवत् व्यवहृत हो सकती है, उसी प्रकार ब्राह्मण कुछ भी कार्य करे उसे परम देवता समझकर उसका सम्मान करना उचित है।'

पराशरस्मृतिमें कहा है—

युगे युगे तु ये धर्मास्तेषु धर्मेषु ये द्विजाः।
तेषां निन्दा न कर्त्तव्या युगरूपा हि ब्राह्मणाः॥
(११। ४८)

युग-युगमें जिन धर्मोंकी व्यवस्था होती है, युग-युगमें द्विजगण जिन धर्मोंका आचरण करते हैं, उन युगोंमें उनकी

निन्दा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण युगके अनुसार संस्कार लेकर ही पैदा होते हैं।

वेदमन्त्रोंमें उल्लिखित है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके मुख आदि चार अवयवोंसे हुई है। इन चारों वर्णोंके निमित्तकारण एक ईश्वर हैं, परन्तु उपादानकारण गुणोंकी विभिन्नताके कारण सबके भिन्न-भिन्न हैं। इसी कारण चारों वर्णोंमें भेद है। यह भेद प्रकृतिगत है, अतएव जबतक सृष्टि रहेगी, तबतक इसका रहना भी अनिवार्य है।

शतपथमें ब्राह्मणको 'मुख्य' कहा गया है 'यस्मादेते मुख्याः। तस्माद् मुखतः असृज्यन्त।' मुखसे उत्पन्न होनेके कारण ब्राह्मणको 'मुख्य' कहा गया है। 'शरीरावयवाद्यत्'— इस पाणिनिके सूत्रसे 'मुख्य' पद सिद्ध होता है। 'मुखे भवो मुख्यः।' भगवान् मनुने भी 'मुखबाहूरुपज्जानाम्' कहते हुए ब्राह्मणको 'मुखज' बतलाया है। क्षत्रियको 'बाहुज', वैश्यको 'ऊरुज' तथा शूद्रको 'पदज' कहा गया है।

आपस्तम्ब-धर्मसूत्रके भाष्यकारने वैश्यको 'जघन' से उत्पन्न होनेके कारण 'जघन्य' बतलाया है। अथर्ववेदका 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' यह पाठ भी इसी बातका समर्थन करता है। जघन शरीरके मध्यभागको कहते हैं। शूद्र 'पदज' हैं, शूद्रके उपादानकारण 'चरण' हैं। मनुस्मृति (१।९२) में ब्राह्मणको 'मेध्य' कहा गया है, और वेदमें शूद्रको 'अमेध्य' कहा है। 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्राः। ४। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्। ५।' अर्थात् वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन जातियों (वर्णों) में शूद्रकी अपेक्षा वैश्य श्रेष्ठ हैं, वैश्यकी अपेक्षा क्षत्रिय तथा क्षत्रियकी अपेक्षा ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। आपस्तम्ब-धर्मसूत्रके इन दो सूत्रोंके अनुसार शूद्रके अतिरिक्त अन्य तीन वर्ण जन्मतः श्रेष्ठ गिने और माने जाते हैं। शूद्रमें जन्मगत श्रेष्ठता नहीं है। नहीं तो ५ वें सूत्रमें 'पूर्वः' पद निरर्थक हो जाता है।

उपादानकारणमें जो गुण होता है, वही कार्यमें भी आ जाता है। जिस प्रकार मृत्तिकाका रूप घटगतरूपके प्रति कारण है। पृथ्वी भगवान्‌का चरण है। यह तमःप्रधान है। रात्रिमें इसका तमःप्रभाव सारे संसारको ढक देता है। इसी कारण इसे 'गो तमः' कहते हैं। शूद्रमें पार्थिव अंश अधिक होता है। तमोगुणकी अधिकताके कारण दूसरे गुण शूद्रमें सदा लीन रहते हैं। यही शूद्रकी हीनताका कारण है।

ब्राह्मण अग्निप्रधान है—'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' ऐसा ऐतरेय-श्रुति कहती है। क्षत्रिय वायुप्रधान है। वैश्य जलप्रधान है। शूद्र पृथ्वीप्रधान है।

'मुखादग्निरजायत' यह श्रुतिवाक्य अग्निको 'मुखज' बतलाता है। और ब्राह्मण भी मुखसे उत्पन्न है। इस कारणसे अग्निमें तथा ब्राह्मणमें समानगुणता विद्यमान है। श्रुति कहती है—'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, अतस्तेजोमयी वाक्।' अग्निने वाणीका स्वरूप धारणकर मुखमें प्रवेश किया। अतएव वाणी तेजःस्वरूप है। इसी प्रकार शूद्र चरणसे उत्पन्न हुआ है, तथा पृथ्वी भी चरणोद्भूत है। अतएव दोनोंका उद्भवस्थान एक होनेके कारण शूद्रसे तमःप्रधानता दूर नहीं हो सकती। पार्थिव तमोगुण तमःप्रधान शूद्रमें सदा विद्यमान रहता है। इसी कारण शूद्रके लिये वेदाध्ययनका निषेध है।

गुणोंकी अधिकता अथवा इनके अभावके कारण जन्मगत जाति या वर्णका परिवर्तन एक ही शरीरमें नहीं हो सकता। हाँ, शूद्र यदि लिखना-पढ़ना सीख ले, विनयी, नम्र तथा सदाचारी बन जाय तो उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, तथा शूद्रजातिमें उसका यथायोग्य पूजा-प्रतिष्ठा और सत्कार-सम्मान होगा। और ब्राह्मण वेद-विद्यासे हीन मूर्ख हो तो इससे उसकी भी अप्रतिष्ठा ही होगी, वह यज्ञादि कर्मोंके अधिकारसे वञ्चित हो जायगा, तथा दान लेनेका उसे अधिकार न रहेगा। परन्तु इस जन्ममें उसकी जाति नष्ट या परिवर्तित न होगी। वह रहेगा ब्राह्मण ही। हाँ, जन्मभर धर्माचरणमें लगे रहनेपर शूद्र भी दूसरे जन्ममें अगले उच्च वर्णमें जन्म ग्रहण कर सकता है। तथा आचारहीन जीवन व्यतीत करनेपर ब्राह्मण भी दूसरे जन्ममें नीच योनिमें जन्म ग्रहण कर सकता है। परन्तु वृत्तियोंके गुणोंकी तारतम्यतासे इसी जन्ममें 'ब्राह्मण' कभी 'शूद्र' नहीं हो सकता तथा 'शूद्र' कभी 'ब्राह्मण' नहीं हो सकता। यह प्रकृतिका साधारण नियम है।

महाभारत-अनुशासनपर्वके १४३ वें अध्यायमें जगज्जननी पार्वतीदेवी कहती हैं, 'भगवन् ब्रह्माने ही पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी सृष्टि की है,

ब्राह्मणत्व नहीं है। तब ऋषियोंने पूछा—हे भगवन्! फिर ब्राह्मणत्व किस आधारपर स्थित है? सर्वज्ञ ब्रह्माजी बोले—

इदं शृणु मयाऽऽख्यातं तर्कपूर्णमिदं वचः।
युष्माकं संशये जाते कृते वै जातिकर्मणोः॥
पुनर्वच्मि निबोधध्वं समासाच्च तु विस्तरात्।
संसिद्धिं यान्ति मनुजा जातिकर्मसमुच्चयात्॥
सिद्धिं गच्छेद् यथा कार्यं दैवकर्मसमुच्चयात्।
एवं संसिद्धिमायाति पुरुषो जातिकर्मणोः॥
इत्येवमुक्तवान् पूर्वं शिष्याणां बोधने पुरा।
योगीश्वरो महातेजाः समासाच्च तु विस्तरात्॥
(भविष्यपुराण ब्राह्मखण्ड ४५ अध्या

इसका भावार्थ यह है कि 'हे ऋषियो! जाति अ

१. 'वेद' साधारण बुद्धिके लिये उपयोगमें आनेयोग्य विशद रूपमें (amplified) होकर सरल (simplified) हो तथा तरल भावमें (diluted) आकर अपनेको पुराणरूपमें परिणत करके 'पुराण' नामको प्राप्त हुए हैं। 'ब्रह्मविद् ब्र भवति'—इस श्रुतिवाक्यके अनुसार शाश्वतधर्मगोप्ता 'पुराणपुरुष' को विस्तारपूर्वक—'अणोरणीयान् महतो महीयान्' रूपमें—ज तथा वर्णन करके 'पुराणपुरुष' होनेके कारण जो 'पुराण' नामसे पुकारे गये हैं; 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वे यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वा निःश्वसितानि।' इस मन्त्रमें बृहदारण्यक श्रुति (२। १०) ने जिस 'पुराण' को अपौरुषेय ब्राह्मण-वेदके (इतिहास, पुराण, विद्, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्या और अनुव्याख्या—इन आठ भागोंमें वेदका ब्राह्मणभाग विभक्त है) रूपमें उल्लेख किया है, उस पुराणको अर्वाचीन—आधुनिक शास्त्र समझकर उसकी अवज्ञा करना कैसी अर्वाचीनता और धृष्टता है—यह वेदशास्त्रनिष्ठ सदाचार-परायण मनीषिगणके लिये विचारणीय है।

'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त, नैघण्टुककाण्ड) दर्शनार्थक 'ऋष्' धातुसे 'ऋषि' पद निष्पन्न हुआ है। जो समस्त सूक्ष्म अर्थोंको देखते हैं अर्थात् जो सनातन मन्त्रद्रष्टा हैं, जो अतीन्द्रिय पदार्थोंके द्रष्टा हैं, वे ही ऋषि हैं। ('ऋषिर्दर्शनात्'—पश्यति ह्यसौ सूक्ष्मा-नर्थान्। दुर्गाचार्यकृत निरुक्तव्याख्या।) ऋग्वेदभाष्यमें पूज्यपाद सायणाचार्यने 'ऋषि' शब्दकी निम्नलिखित व्याख्या की है—

'वेदप्राप्त्यर्थं तपोऽनुतिष्ठतः पुरुषान् स्वयम्भूर्वेदपुरुषः प्राप्नोत्। तथा च श्रूयते—'अजान् ह वै पृश्नीँस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्तदृषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वमिति।' (ऋग्वेदसंहिताके प्रथम मन्त्रकी भाष्यभूमिका)

इसका तात्पर्य यह है कि वेद-प्राप्तिके लिये जिन्होंने तपस्या की थी, वेदपुरुष स्वयम्भू उनके सामने साक्षात् प्रकट हुए थे। तैत्तिरीय आरण्यक-श्रुतिमें भी कहा गया है कि 'अजगणन (कल्पके आदिमें ब्राह्मणोंकी—ऋषियोंकी सृष्टि होती है, साधारण मनुष्योंके समान कल्पके बीचमें वे बारंबार जन्म ग्रहण नहीं करते; इसी कारण ऋषियोंको 'अज' अर्थात् जो जन्म ग्रहण नहीं करते, कहा गया है।) स्वभावतः शुद्ध—निर्मल होनेपर भी पुनः तप किया। ऋषियोंके तपसे सन्तुष्ट होकर ब्रह्मने (जगत्के कारण स्वतन्त्र परब्रह्म वस्तुने) वेदके शरीर धारण करके—सत्यसङ्कल्प परमेश्वर अपना शक्तिके द्वारा सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकारके रूप धारण कर सकते हैं। वेदमें यह बात बहुत स्थानोंमें कही गयी है—

'रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।' (ऋग्वेदसंहिता ३। ३। २०। १)
'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥' (कठोपनिषद् २। २। ९)

—तपस्यामें लगे हुए ऋषियोंको अनुगृहीत करनेके लिये उनके सामने आकर प्रत्यक्ष दर्शन दिये। 'ऋष्' धातुका अर्थ है दर्शन। 'ऋषियोंने ब्रह्मके दर्शन किये थे, इसी कारण (ऋष् धातुके अनुसार) ऋषियोंका 'ऋषि' नाम हुआ है।'
(तैत्तिरीय-आरण्यक-भाष्य)

वेदभाष्यकार सायणाचार्यने और भी कहा है—

'तपस्तप्यमानस्य वेदस्य परमेश्वरानुग्रहेण प्रथमतो दर्शनात् ऋषयोऽभवन्निति [illegible] ......।' अर्थात् इन्होंने परमेश्वरके प्रसादसे [illegible] वेदके प्रथम दर्शन किये थे, इसी कारण इनका नाम 'ऋषि' है। यही बात श्रुतियोंमें भी पायी जाती है।

भगवान् यास्कने निरुक्तके प्रथमाध्यायमें कहा है—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।' (निरुक्त।)

[illegible] साक्षात्कार हुआ है—[illegible] है—जो मन्त्रद्रष्टा है, [illegible] जिनको धर्मका साक्षात्कार हुआ है [illegible] है—वे सब [illegible] हैं, [illegible] हुए हैं, अमुक [illegible]

जातिको उत्पन्न करनेमें मुख्यता किसकी है ? इस प्रश्नका समाधान १८४ वें अध्यायमें इस प्रकार किया गया है—

> एवमेतन्न सन्देहो यथा वदसि खेचर ।
> ममाप्ययमतं घोर ब्राह्मणं न परीक्षयेत् ॥३७॥
> सर्वदेवमयं विप्रं सर्वलोकमयं तथा ।
> तस्मात् सम्पूजयेद्देवं न गुणांस्तस्य चिन्तयेत् ॥३८॥
> केवलं चिन्तयेज्जातिं न गुणान् विनतात्मज ।
> तस्मादामन्त्रयेद् पूर्वमासन्नं ब्राह्मणं बुधः ॥३९॥
> यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादृते ।
> दूरस्थान् पूजयेन्मूढो गुणाढ्यान् नरकं व्रजेत् ॥४०॥
> (भविष्यपुराण, ब्राह्मखण्ड)

हे गरुड़ ! तुम जो कुछ कहते हो, उसमें कोई सन्देह नहीं । मेरा भी सिद्धान्त यही है कि ब्राह्मण वेदवेत्ता है या वेद-ज्ञान-शून्य, इस प्रकारकी परीक्षा करना उचित नहीं है । ब्राह्मण सर्वदेवमय है, अर्थात् समस्त देवता ब्राह्मणके शरीरमें रहते हैं; केवल यही नहीं, ब्राह्मण सर्वलोकमय है । अतएव ब्राह्मण-की सेवा (पूजा) करना कर्त्तव्य है; उसमें विद्यादि गुण हैं या नहीं, इसका विचार करना ठीक नहीं । हे विनतानन्दन ! इस कारणसे ब्राह्मणके विषयमें केवल जातिका ही विचार करना चाहिये । अर्थात् केवल यही देखना ठीक है कि उसने ब्राह्मण-कुलमें जन्म ग्रहण किया है या नहीं—वह ब्राह्मणके वीर्यसे तथा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुआ है या नहीं । ब्राह्मण गुणवान् है या गुणहीन, यह विचार करना उचित नहीं । अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति ब्राह्मण-भोजन करानेके समय सबसे निकटवर्ती ब्राह्मणको ही निमन्त्रित करे । जातिसे च्युत ब्राह्मणको छोड़कर सबसे निकटके ब्राह्मणको ही भोजनार्थ निमन्त्रित करना उचित है । ऐसा न करके जो आदमी दूरदेशस्थ गुणयुक्त ब्राह्मणको निमन्त्रित करके पूजा करता है, वह नरकमें जाता है ।

भविष्यमहापुराणसे यही सिद्ध होता है कि जाति जन्मगत है, जाति जन्म और गुण—इन दोनोंमें नहीं है; गुण तो जातिका केवल गौण अङ्ग है ।

यदि बाह्य भेदके अनुसार ब्राह्मणादि जातियोंके निर्णयकी चेष्टा की जाय तो आत्मा, संस्कार, विद्या, देह, कर्म—इनमेंसे एकके भी द्वारा ब्राह्मणादि जातियोंकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि कर्म आदि, जिनका जातित्वके आधारके रूपमें अनुमान किया जाता है, बाह्य भेद उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं । कहा गया है—

> जीवोऽपि ब्राह्मणः प्रोक्तो यैरतत्त्वज्ञमानवैः ।
> प्रभ्रष्टब्राह्मणत्वात् ते जायन्ते विप्रसङ्करः ॥
> (भविष्यपुराण, ब्राह्मखण्ड ४० । १२)

तत्त्वज्ञानहीन मनुष्य जो जीवको (आत्माको) ब्राह्मण कहता है, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह आत्मा ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट होकर देहत्यागके अनन्तर ब्राह्मणसे अतिरिक्त शूकर आदि योनिको भी प्राप्त होता है । अतएव कोई भी विचारशील मनुष्य आत्मामें ब्राह्मणत्व अर्थात् जातित्वका आरोप नहीं कर सकता ।

यदि कोई कहे कि—

> गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः ।
> तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम् ॥
> (४१ । २९)

महामुनि वसिष्ठदेव (किसी कल्पमें) गणिकाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे, किन्तु तपस्याके प्रभावसे (दूसरे जन्ममें) ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए । अतएव ब्राह्मणादि जातिमें जन्म-ग्रहण ही जातित्वका कारण नहीं है, बल्कि संस्कार ही जातित्वका कारण है ।

इसके उत्तरमें कहा गया है—

> संस्कारतः सातिशयो यदि स्यात्
> सर्वस्य पुंसोऽस्त्यतिसंस्कृतस्य ।
> यः संस्कृतो विप्रगणप्रधानो
> व्यासादिकैस्तेन न तस्य साम्यम् ॥
> (४१ । ३०)

यदि संस्कारके प्रभावसे ही श्रेष्ठता प्राप्त होती तो संस्कार-

न समझ सकनेके कारण जो अपनी प्रतिभाके दोषसे आप्तवाक्योंका विपरीत अर्थ करते हैं; ऋषिवाक्योंको यथार्थ रूपमें समझनेके लिये मन, वाणी और शरीरके मलोंको धोकर मग्न और शान्त होकर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' प्राप्त करनेके लिये इच्छुक होना अत्यन्त आवश्यक है, इसे जो स्वीकार नहीं करते; 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।' 'अधिकारः सदगात्मानमेष ह्यस्य चतुरः सन्निष्ठन् ।'—इन दोनों श्रुतियोंके तात्पर्यको जो नहीं समझ सके हैं, उनको लक्ष्य करके इस लेखमें और आलोचना नहीं की गयी है ।

[illegible]

[illegible] नहीं है।

[illegible] अतएव [illegible] करना [illegible] कि [illegible] नहीं हुए ! अतएव [illegible] (ब्राह्मणत्व) का कारण नहीं है।

> वेदाध्ययनमात्रेण ब्राह्मण्यं [illegible]ते ।
> [illegible] वेदपाठी [illegible] ॥
> (४१ । १)

यदि वेदाध्ययन ब्राह्मणत्वका कारण होता तो वेदपाठी क्षत्रिय या वैश्य अथवा रावण आदि राक्षस भी ब्राह्मण नामसे पुकारे जाते। वाल्मीकिरामायणमें लिखा है—

> अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे।

—राक्षसोंके घर-घरमें वेदपाठ और अग्निहोत्र होता था। तथापि रावण आदिने ब्राह्मण वर्ण क्यों नहीं प्राप्त किया ? वेदवेत्ता जनक, भीष्म प्रभृतिकी अथवा वेदनिष्णात वैश्योंकी ब्राह्मणकोटिमें उन्नति क्यों नहीं हुई ! अतएव वेदाध्ययन ब्राह्मणत्वका कारण नहीं है।

कहा गया है—

> न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्रा न क्षत्रिया· किंशुकपुष्पवर्णाः ।
> न चेह वैश्या: हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गारसमानवर्णाः ॥
> (४१ । ४१)

ब्राह्मण चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफेद रंगके नहीं हैं तथा क्षत्रिय किंशुक पुष्पके समान लाल नहीं हैं, वैश्य हरितालके सदृश पीले नहीं हैं तथा शूद्र कोयलेके-जैसे काले नहीं हैं।

> मूर्तिमत्त्वाच्च नाशित्वं नादित्याच्छेदभूतवत् ।
> देहाधारे निविष्टानां ब्राह्मण्यं न प्रकल्पयेत् ॥
> (४१ । ५१)

देह मूर्तिमान् है, अतएव नाशवान् है; क्योंकि 'यत्र यत्र मूर्तिमत्त्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम् ।' नाशवान् शरीर केवल पञ्चमहाभूतोंकी समष्टि है। पञ्चमहाभूतोंकी समष्टि देहमें प्रविष्ट आत्मा देहानुसार ब्राह्मण्यादि लाभ नहीं कर सकता, क्योंकि देहमात्र ही पञ्चभूतमय है।

> [illegible] ॥
> (४१ । १)

[illegible] कर्मोंको [illegible]

कर्मानुसार [illegible] मक्खी, चींटी, भ्रमर, हाथी प्रभृति अनेकों [illegible] जन्म ग्रहण करके अनेकों प्रकारके कर्म करता है; परन्तु इससे उसे आत्मदर्शन नहीं हो सकता। अतएव कर्म भी श्रेष्ठताका (ब्राह्मणत्वका) कारण नहीं हो सकता।

भगवान् मनु कहते हैं—

> ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
> चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥
> सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
> आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार ही वर्ण हैं, पाँचवाँ वर्ण या जाति नहीं है। इनमेंसे पहले तीन द्विजाति हैं, अर्थात् उपनयन संस्कारसे उत्पन्न द्वितीय जन्मके अधिकारी हैं। अगले श्लोकमें ब्राह्मणादिके निर्णयका विधान बतला रहे हैं—सभी वर्णोंके लिये, अक्षतयोनि पत्नीसे अनुलोम-क्रमसे उत्पन्न मनुष्योंको उस-उस जातिमें समझना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणकन्यासे विवाह करके, क्षत्रिय क्षत्रिय-कन्यासे, वैश्य वैश्यकन्यासे तथा शूद्र शूद्रकन्यासे विवाह करके अपनी अपनी पत्नीसे जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, वह सन्तान उन उत्पन्न करनेवाले माता-पिताकी जातिको प्राप्त होती है। यहाँ भगवान् मनुने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि जाति जन्मगत है। समस्त स्मृतिशास्त्र इसी सिद्धान्तको मानते हैं। किसी भी स्मृतिमें अथवा वेदानुकूल पुराण, इतिहास, तन्त्रादि शास्त्रोंमें गुणमूलक जातिवादका प्रमाण नहीं है। सर्वत्र ही कहा गया है कि स्वजातिकी पत्नीसे स्वजातिके पुरुषद्वारा उत्पन्न सन्तान ही स्वजातिको ग्रहण करती है। मनुसंहिताके भाष्यकार मेधातिथिने सत्यकाम जाबालिके उपाख्यानके प्रसङ्गसे प्रमाणित किया है कि जाति गुणमूलक नहीं, बल्कि जन्ममूलक है। (क्रमशः)

जातिको उत्पन्न करनेमें मुख्यता किसकी है ? इस प्रश्नका समाधान १८४ वें अध्यायमें इस प्रकार किया गया है —

एवमेतच्च सन्देहो यथा पक्षि गेश्वर ।
ममाप्ययमतं घोर ब्राह्मणं न परीक्षयेत् ॥३७॥
सर्वदेवमयं विप्रं सर्वलोकमयं तथा ।
तस्मात् सम्पूजयेदेनं न गुणांस्तस्य चिन्तयेत् ॥३८॥
केवलं चिन्तयेज्जातिं न गुणान् विनतात्मज ।
तस्मादामन्त्रयेत् पूर्वमासन्नं ब्राह्मणं बुधः ॥३९॥
यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादृते ।
दूरस्थान् पूजयेन्मूढो गुणाढ्यान् नरकं व्रजेत् ॥४०॥

(भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व)

हे गरुड़ ! तुम जो कुछ कहते हो, उसमें कोई सन्देह नहीं । मेरा भी सिद्धान्त यही है कि ब्राह्मण वेदवेत्ता है या वेद-ज्ञान-शून्य, इस प्रकारकी परीक्षा करना उचित नहीं है । ब्राह्मण सर्वदेवमय है, अर्थात् समस्त देवता ब्राह्मणके शरीरमें रहते हैं; केवल यही नहीं, ब्राह्मण सर्वलोकमय है । अतएव ब्राह्मण-की सेवा (पूजा) करना कर्तव्य है; उसमें विद्यादि गुण हैं या नहीं, इसका विचार करना ठीक नहीं । हे विनतानन्दन ! इस कारणसे ब्राह्मणके विषयमें केवल जातिका ही विचार करना चाहिये । अर्थात् केवल यही देखना ठीक है कि उसने ब्राह्मण-कुलमें जन्म ग्रहण किया है या नहीं—वह ब्राह्मणके वीर्यसे तथा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुआ है या नहीं । ब्राह्मण गुणवान् है या गुणहीन, यह विचार करना उचित नहीं । अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति ब्राह्मण-भोजन करानेके समय सबसे निकटवर्ती ब्राह्मणको ही निमन्त्रित करे । जातिसे च्युत ब्राह्मणको छोड़कर सबसे निकटके ब्राह्मणको ही भोजनार्थ निमन्त्रित करना उचित है । ऐसा न करके जो आदमी दूरदेशस्थ गुणयुक्त ब्राह्मणको निमन्त्रित करके पूजा करता है, वह नरकमें जाता है ।

भविष्यमहापुराणसे यही सिद्ध होता है कि जाति जन्मगत है, जाति जन्म और गुण—इन दोनोंमें नहीं है; गुण तो जातिका केवल गौण अङ्ग है ।

यदि बाह्य भेदके अनुसार ब्राह्मणादि जातिके नि[illegible] चेष्टा की जाय तो आत्मा, संस्कार, विद्या, देह, [illegible] इनमेंसे एकके भी द्वारा ब्राह्मणादि जातियोंकी सिद्धि [illegible] हो सकती; क्योंकि कर्म आदि, जिनका जातित्वके कार[illegible] रूपमें अनुमान किया जाता है, बाह्य भेद उत्पन्न [illegible] असमर्थ हैं । कहा गया है—

जीवोऽपि ब्राह्मणः प्रोक्तो नैतत्तत्त्वज्ञवर्जितैः ।
प्रभ्रष्टब्राह्मणत्वात् ते जायन्ते विट्छूकाः ।

(भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व ४० । ३

तत्त्वज्ञानहीन मनुष्य जो जीवको (आत्म[illegible] ब्राह्मण कहता है, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह का[illegible] ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट होकर देहत्यागके अनन्तर ब्राह्मणसे अति[illegible] शूकर आदि योनिको भी प्राप्त होता है । अतएव कोई विचारशील मनुष्य आत्मामें ब्राह्मणत्व अर्थात् जातित्व आरोप नहीं कर सकता ।

यदि कोई कहे कि—

गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम् ॥

(४१ । ३[illegible]

महामुनि वसिष्ठदेव (किसी कल्पमें) गणिकाके गर्भ[illegible] उत्पन्न हुए थे, किन्तु तपस्याके प्रभावसे (दूसरे जन्ममें) ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए । अतएव ब्राह्मणादि जातिमें जन्म ग्रहण ही जातित्वका कारण नहीं है, बल्कि संस्कार ही जातित्वका कारण है ।

इसके उत्तरमें कहा गया है—

संस्कारतः सातिशयो यदि स्यात्
सर्वस्य पुंसोऽस्त्यतिसंस्कृतस्य ।
यः संस्कृतो विप्रगणप्रधानो
व्यासादिकैस्तेन न तस्य साम्यम् ॥

(४१ । ३०)

यदि संस्कारके प्रभावसे ही श्रेष्ठता प्राप्त होती तो [illegible]

न समझ सकनेके कारण जो अपनी प्रतिभाके दोषसे ऋषिवाक्योंका विपरीत अर्थ करते हैं; ऋषिवाक्योंको य[illegible]
लिये मन, वाणी और शरीरके मलोंको धोकर संयत और शान्त होकर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' प्राप्त करनेके[illegible]
आवश्यक है, इसे जो स्वीकार नहीं करते; 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्[illegible]
मामयात् ।' 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।'—इन दोनों श्रुतियोंके तात्पर्यको जो
करके इस लेखमें कोई आलोचना नहीं की गयी है ।

सुनन्दा, सुभद्रा और कामधेनु गौ—इनकी सुवर्णमयी सोलह मूर्तियाँ स्थापित करे। और उन सबका नाममन्त्र (यथा—गोवर्द्धनाय नमः आदि) से पूजन करके 'गवामाधार गोविन्द रुक्मिणीवल्लभ प्रभो। गोपगोपीसमोपेत गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥' से भगवान्‌को और 'रुद्राणां चैव या माता वसूनां दुहिता च या। आदित्याना च भगिनी सा नः शान्ति प्रयच्छतु ॥' से गौको अर्घ्य दे। और 'सुरभी वैष्णवी माता नित्यं विष्णुपदे स्थिता। प्रतिगृह्णातु मे ग्रासं सुरभी मे प्रसीदतु ॥' से गौको ग्रास दे। इस प्रकार विविध भाँतिके फल, पुष्प, पक्वान्न और रसादिसे पूजन करके बाँसके पात्रोंमें सप्तधान्य और सात मिठाई भरकर सौभाग्यवती स्त्रियोंको दे। इस प्रकार तीन दिन व्रत करे और चौथे दिन प्रातः-स्नानादि करके गायत्रीके मन्त्रसे तिलोंकी १०८ आहुति देकर व्रतका विसर्जन करे तो इससे सुत, सुख और सम्पत्तिका लाभ होता है।

(११) रूपचतुर्दशी (बहुसम्मत)—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तमे—जिस दिन चन्द्रोदयके समय चतुर्दशी हो उस दिन प्रभात समयमे दन्तधावन आदि करके 'यमलोकदर्शनाभावकामोऽहमभ्यङ्गस्नानं करिष्ये।' यह संकल्प करे और शरीरमें तिलोंके तेल आदिका उबटन या मर्दन करके हलसे उखड़ी हुई मिट्टीका ढेला, तुंबी और अपामार्ग (ऊँगा)—इनको मस्तकके ऊपर बार-बार घुमाकर शुद्ध स्नान करे। यद्यपि कार्तिकस्नान करनेवालोंके लिये 'तैलाभ्यङ्गं तथा शय्यां परान्नं कांस्यभोजनम्। कार्तिके वर्जयेद्यस्तु परिपूर्णव्रती भवेत् ॥' के अनुसार तैलाभ्यङ्ग वर्जित किया है, किन्तु 'नरकस्य चतुर्दश्यां तैलाभ्यङ्गं च कारयेत्। अन्यत्र कार्तिकस्नायी तैलाभ्यङ्गं विवर्जयेत् ॥' के आदेशसे नरकचतुर्दशी (या रूपचतुर्दशी) को तैलाभ्यङ्ग करनेमें कोई दोष नहीं। यदि रूपचतुर्दशी दो दिनतक चन्द्रोदयव्यापिनी हो तो चतुर्दशीके चौथे प्रहरमें स्नान करना चाहिये। इस व्रतको चार दिनतक करे तो सुख-सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(१२) हनुमज्जन्म-महोत्सव (व्रतरत्नाकर)—'आश्विनस्यासिते पक्षे भूतायां च महानिशि। भौमवारेऽञ्जनादेवी हनूमन्तमजीजनत् ॥' अमान्त आश्विन (कार्तिक) कृष्ण चतुर्दशी भौमवारकी महानिशा (अर्धरात्रि) में अञ्जनादेवीके उदरसे हनुमान्‌जीका जन्म हुआ था। अतः हनुमदुपासकोंको चाहिये कि वे इस दिन प्रातःस्नानादि करके 'मम शौर्यौदार्यधैर्यादिवृद्ध्यर्थं हनुमत्प्रीतिकामनया हनुमज्जयन्तीमहोत्सवं करिष्ये' यह संकल्प करके हनुमान्‌का यथाविधि षोडशोपचार पूजन करे। पूजनके उपचारोंमें गन्धपूर्ण तेलमें सिन्दूर मिलाकर उससे मूर्तिको चर्चित करे। पुन्नाम (पुरुषनामके हजारा-गुलहजारा आदि) के पुष्प चढ़ाये। और नैवेद्यमें घृतपूर्ण चूरमा या घीमें सेंके हुए और शर्करा मिले हुए आटेका मोदक और केला, अमरूद आदि फल अर्पण करके वाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डका पाठ करे। और रात्रिके समय घृतपूर्ण दीपकोंकी दीपावलीका प्रदर्शन कराये। यद्यपि अधिकांश उपासक इसी दिन हनुमज्जयन्ती मनाते हैं और व्रत करते हैं, परन्तु शास्त्रान्तरमें चैत्र शुक्ल पूर्णिमाको हनुमज्जन्मका उल्लेख किया है; अतः चैत्रके व्रतोंमें इसका विशेष वर्णन मिलेगा और वहीं हनुमान्‌जीका पूजाविधान होगा।······कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको हनुमज्जयन्ती मनानेका यह कारण है कि लङ्काविजयके बाद श्रीराम अयोध्या आये। पीछे भगवान् रामचन्द्रजीने और भगवती जानकीजीने वानरादिको विदा करते समय यथायोग्य पारितोषिक दिया था। उस समय इसी दिन (का० कृ० १४ को) सीताजीने हनुमान्‌जीको पहले तो अपने गलेकी माला पहनायी (जिसमें बड़े-बड़े बहुमूल्य मोती और अनेक रत्न थे), परन्तु उसमें राम-नाम न होनेसे हनुमान्‌जी उससे सन्तुष्ट न हुए, तब सीताने अपने ललाटपर लगा हुआ सौभाग्यद्रव्य 'सिंदूर' प्रदान किया। और कहा कि 'इससे बढ़कर मेरे पास अधिक महत्त्वकी कोई वस्तु नहीं है, अतएव तुम इसको हर्षके साथ धारण करो और सदैव अजरामर रहो।' यही कारण है कि कार्तिक कृष्ण १४ को हनुमज्जन्म-महोत्सव मनाया जाता है और तैल-सिंदूर चढ़ाया जाता है।

(१३) यम-तर्पण (कृत्यतत्त्वार्णव)—इसी दिन (का० कृ० १४ को) सायंकालके समय दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके जल, तिल और कुश लेकर देवतीर्थसे 'यमाय धर्मराजाय मृत्यवे अन्तकाय वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने वृकोदराय चित्राय और चित्रगुप्ताय।' इनमेंसे प्रत्येक नामका 'नमः' सहित उच्चारण करके जल छोड़े। यज्ञोपवीतको कंठीकी तरह रक्खे और काले तथा सफेद दोनों प्रकारके तिलोंको काममें ले। कारण यह है कि यममें धर्मराजके रूपमें देवत्व और यमराजके रूपमें पितृत्व—ये दोनों अंश विद्यमान हैं।

(१४ दीप[illegible])—इसी [illegible]

करनेके अनन्तर यमका, चित्रगुप्तका, यमदूतोंका और यमुनाका पूजन करे। और 'धर्मराज नमस्तुभ्यं नमस्ते यमुनाग्रज। पाहि मा किङ्करैः सार्धं सूर्यपुत्र नमोऽस्तु ते ॥' से 'यम' की– 'यमस्वसर्नमस्तेऽस्तु यमुने लोकपूजिते। वरदा भव मे नित्यं सूर्यपुत्रि नमोऽस्तु ते ॥' से 'यमुना' की और 'मषिभाजनसंयुक्तं ध्यायेत्तं च महाबलम्। लेखनीपट्टिकाहस्तं चित्रगुप्त नमाम्यहम् ॥' से 'चित्रगुप्त' की प्रार्थना करके शङ्खमें या तांबेके अर्घ्यपात्रमें अथवा अञ्जलिमें जल, पुष्प और गन्धाक्षत लेकर 'एह्येहि मार्तण्डज पाशहस्त यमान्तकालोकधरामरेश। भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां गृहाण चार्घ्यं भगवन्नमोऽस्तु ते ॥' से यमराजको 'अर्घ्य' दे। ...... उसी जगह मषिपात्र (दावात), लेखनी (कलम) और राजमुद्रा (मुख्य मुहर) स्थापन करके 'मषिपात्राय नमः।' 'लेखन्यै नमः।' और 'राजमुद्रायै नमः।' इन नाममन्त्रोंसे उनका पूजन करके 'मषि त्वं लेखनीयुक्तचित्रगुप्ताशयस्थिता। सदक्षराणां पत्रे च लेख्यं कुरु सदा मम ॥' से 'मषिपात्र' की; 'या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता या वीणा वरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना। या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥'–'तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सितान्जे। निजकरकमलोद्यल्लेखनीपुस्तकश्रीः सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः ॥' 'कृष्णानने कृष्णजिह्वे चित्रगुप्ताशयस्थिते। प्रार्थनेय गृहाण त्वं सदैव वरदा भव ॥' से 'लेखनी' की और 'हिमचन्दनकुन्देन्दुकुमुदाम्भोजसन्निभे। प्रार्थनेय गृहाणेमां नमस्ते राजमुद्रिके ॥' से 'राजमुद्रा' (मुहर) की प्रार्थना करके सफेद कागजपर श्रीरामजी, श्रीरामो जयति, गणपतिर्जयति, शारदायै नमः और लक्ष्म्यै नमः आदि लिखे। इसके अतिरिक्त ...... ज्येष्ठ भगिनीके घर जाकर बहिनकी की हुई पूजा ग्रहण करे। बहिनको चाहिये कि वह भाईको शुभासनपर बिठाकर उसके हाथ-पैर धुलाये। गन्धादिसे उसका पूजन करे और दाल, भात, फुलके, कढ़ी, सीरा, पूरी, चूरमा अथवा लड्डू, जलेबी, घेवर आदि यथासामर्थ्य उत्तम पदार्थोंका भोजन कराये और 'भ्रातस्तवानुजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिमं शुभम्। प्रीतये यमराजस्य यमुनाया विशेषतः ॥' से उसको सम्बोधन करे। इसके बाद भाई बहिनको यथासामर्थ्य अन्न-वस्त्र आभूषण और सुवर्ण-मुद्रादि द्रव्य देकर उससे शुभाशिष प्राप्त करे। ...... यदि सहजा (सगी) बहिन न हो तो पितृव्य-पुत्री (काकाकी कन्या)' मातुल पुत्री (मामाकी बेटी) या मित्रभगिनी (मित्रकी बहिन) –इनमें जो हो उसके यहाँ भोजन करे। यदि यमद्वितीयाको यमुनाके किनारेपर बहिनके हाथका बनाया भोजन करे तो उससे भाईकी आयुवृद्धि और बहिनके अहिवात (सौभाग्य) की रक्षा होती है।

(५) **नागव्रत** (कूर्मपुराण)–कार्तिक शुक्ल चतुर्थीको मध्याह्नके समय शेषसहित शङ्खपालादि नागोंका पूजन करे, और दूधसे स्नान कराये, गन्ध-पुष्प अर्पण करे और दुग्धका पान (भोजन) कराये तो विषजन्य बीमारियोंका भय नहीं होता और न सर्प डसते हैं। यह चतुर्थी मध्याह्नव्यापिनी ली जाती है।

(६) **जयापञ्चमी** (भविष्योत्तर)–यह व्रत कार्तिक शुक्ल पञ्चमीको किया जाता है। एतन्निमित्त तिलोद्वर्तनपूर्वक गङ्गादि तीर्थोंके स्मरणसहित शुद्ध स्नान करके शुद्धासनपर बैठकर भगवान् 'हरि' का और उनके वाम भागमें 'जया' का स्थापन करे। विविध प्रकारके गन्ध पुष्पादिसे प्रीतिपूर्वक पूजन करे। और हरिके चरण, घुटने, ऊरु, मेढ्र, उदर, वक्षःस्थल, कण्ठ, मुख और मस्तक इनमें पद्मनाभ, नरसिंह, मन्मथ और दामोदर आदि नामोंसे अङ्गपूजा करके 'जयाय जयरूपाय जय गोविन्दरूपिणे। जय दामोदरायेति जय सर्व नमोऽस्तु ते ॥' से अर्घ्य दे और बाँसके पात्रमें सप्तधान्य भरकर लाल वस्त्रसे ढँककर 'यथा वेणुफलं दृष्ट्वा तुष्यते मधुसूदनः। त[illegible] मेऽस्तु शुभं सर्वं वेणुपात्रप्रदानतः ॥' से ब्राह्मणको दे। उ[illegible] एक वस्त्रमें गन्ध, अक्षत, पुष्प, सरसों और दूर्वा रख[illegible] 'रक्षापोटलिका' तैयार करके 'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः। तेन त्वामनुबध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥' [illegible] रक्षाबन्धन करे। इस व्रतके करनेसे ब्रह्महत्या-जैसे पापोंकी निवृत्ति होती है और सब प्रकारके सुख उपलब्ध होते हैं।

(७) **षष्ठिमहोत्सव** (मत्स्यपुराण)–कार्तिक-शुक्लपक्षकी भौमयुक्त षष्ठीको अम्बिका और स्वामिकार्तिकका पूजन करे और दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके घी, दही, जल और पुष्पादि लेकर 'सप्तर्षिदारज स्कन्द सेनाधिप महाबल। रुद्रोमाग्निज षड्वक्त्र गङ्गागर्भ नमोऽस्तु ते ॥' से अर्घ्य दे और ब्राह्मणको आमान्न (भोजनयोग्य आटा, दाल आदि) देकर आप भोजन करे और रात्रिमें भूमिपर सोवे तो रोग-दोषादि दूर हो जाते हैं।

(८) **शाकसप्तमी**–कार्तिक शुक्ल सप्तमीको उपलब्ध शाक-पत्रादिका दान करके रात्रिमें स्वयं भी शाकमात्रका

अनेक स्थानोंमें उसे मनुष्यके आकारका बनाकर पुष्पादिसे भूषित करते है। चाहे जैसा हो, उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके 'गोवर्धन धराधार गोकुलत्राणकारक । विष्णुबाहुकृतोच्छ्राय गवां कोटिप्रदो भव ॥' से प्रार्थना करे। इसके पीछे भूषणीय गौओंका आवाहन करके उनका यथाविधि पूजन करे और 'लक्ष्मीर्या लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता। घृतं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु ॥' से प्रार्थना करके रात्रिमे गौसे गोवर्धनका उपमर्दन कराये।

(२) अन्नकूट (भागवत और व्रतोत्सव)–कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको भगवान्‌के नैवेद्यमे नित्यके नियमित पदार्थोंके अतिरिक्त यथासामर्थ्य (दाल, भात, कढ़ी, साग आदि 'कच्चे'; हलवा, पूरी, खीर आदि 'पक्के'; लड्डू, पेड़े, बर्फी, जलेबी आदि 'मीठे'; केले, नारंगी, अनार, सीताफल आदि 'फल-फूल'; बैगन, मूली, साग, पात, रायते, भुजिये आदि 'सलूने' और चटनी, मुरब्बे, अचार आदि खट्टे-मीठे-चरपरे) अनेक प्रकारके पदार्थ बनाकर अर्पण करे और भगवान्‌के भक्तोंको यथाविभाग भोजन कराकर शेष सामग्री आशार्थियोंमे वितरण करे। अन्नकूट यथार्थमे गोवर्धनकी पूजाका ही समारोह है। प्राचीन कालमे व्रजके सम्पूर्ण नर-नारी अनेक पदार्थोंसे इन्द्रका पूजन करते और नाना प्रकारके षड्रसपूर्ण (छप्पन भोग, छत्तीसों व्यञ्जन) भोग लगाते थे। किन्तु श्रीकृष्णने अपनी बालक-अवस्थामे ही इन्द्रकी पूजाको निषिद्ध बतलाकर गोवर्धनका पूजन करवाया और स्वयं ही दूसरे स्वरूपसे गोवर्धन बनकर अर्पण की हुई सपूर्ण भोजनसामग्रीका भोग लगाया। यह देखकर इन्द्रने प्रबल प्रलय करनेवाली वर्षा की, किन्तु श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वतको हाथपर उठाकर और व्रजवासियोंको उसके नीचे खड़े रखकर बचा लिया।

(३) मार्गपाली (आदित्यपुराण)–कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको सायंकालके समय कुश या काँसका लंबा और मजबूत रस्सा बनाकर उसमें जहाँ-तहाँ अशोक (आसापाल) के पत्ते गूँथकर वंदनवार बनवाये और राजप्रासादके प्रवेशद्वारपर अथवा दरवाजेके आकारके दो अति उच्चस्तम्भोंपर इस सिरेसे उस सिरेतक बँधवा दे और गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके 'मार्गपालि नमस्तेऽस्तु सर्वलोकसुखप्रदे । विधेयैः पुत्रदाराद्यैः पुनरेहि व्रतस्य मे ॥' से प्रार्थना करे। इसके बाद सर्वप्रथम नरपति (या वहाँका कोई भी प्रधान पुरुष) और [illegible] और उनके पीछे नगरके नर-नारी और हाथी, घोड़े आदि हर्षध्वनिके साथ जयघोष करते हुए [illegible] करें और राजा यथास्थान स्थित होकर सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा नीराजन करायें और हो सके तो रात्रिके समय बलिराजका पूजन करके 'बलिराज नमस्तुभ्यं विरोचनसुत प्रभो। भविष्येन्द्र सुराराते पूजेयं प्रतिगृह्यताम् ॥' से प्रार्थना करे। जिस समय बलिने वामन भगवान्‌के लिये तीन पैंड पृथ्वीके दानको पूर्ण करनेके लिये आकाश और पातालको दो पैंडमें मानकर तीसरे पैंडके लिये अपना मस्तक दिया, उस समय भगवान्‌ने कहा था कि 'हे दानवीर ! भविष्यमे इसी प्रतिपदाको तेरा पूजन होगा और उत्सव मनाया जायगा।' इसी कारण उस दिन बलिका पूजन किया जाता है और करना ही चाहिये।'' 'मार्गपाली और बलिकी पूजा करनेसे और विशेषकर मार्गपालीकी वंदनवारके नीचे होकर निकलनेसे उस वर्षमें सब प्रकारकी सुख शान्ति रहती है और कई रोग दूर हो जाते हैं''''''अनेक बार देखनेमे आता है कि मनुष्योंमे जनपदनाशक महामारी और पशुओंमें बीमारी होती है तब देहातके अनक्षर और साक्षर सामूहिक रूपमे सलाह करके सन, सूत या खींपका बहुत लंबा रस्सा बनवाकर उसमे नीमके पत्ते गूँथ देते हैं और बीचमे ५ या ७ पाली नीचे, ऊपर लगाकर उसको गाँवमे प्रवेश करनेकी जगह बाँध देते हैं। ताकि उसके नीचे होकर निकलनेवाले नर-नारी और पशु (गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि) रोगी नहीं होते और सालभर प्रसन्न रहते हैं।

(४) यमद्वितीया–कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको यमका पूजन किया जाता है, इससे यह 'यमद्वितीया' कहलाती है। इस दिन वणिक्-वृत्तिवाले व्यवहारदक्ष वैश्य मसिपात्रादिका पूजन करते हैं, इस कारण इसे 'कलमदानपूजा' भी कहते हैं और इस दिन भाई अपनी बहिनके घर भोजन करते हैं, इसलिये यह 'भय्या दोयज' के नामसे भी विख्यात है। हेमाद्रिके मतसे यह द्वितीया मध्याह्नव्यापिनी पूर्वविद्धा उत्तम होती है। स्मार्तमतमें आठ भागके दिनके पाँचवें भागकी श्रेष्ठ मानी है। और स्कन्दके कथनानुसार अपराह्णव्यापिनी अधिक अच्छी होती है, यही उचित है।''''''मनुष्योंको चाहिये कि प्रातःस्नानादिके अनन्तर कर्मकालके समय अक्षतादिके अष्टदलकमलपर गणेशादिका ध्यान करके 'मम यमराजप्रीतये यमपूजनम्'—[illegible] या [illegible] [illegible] पूजनम्—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।' यह संकल्प करके यमराजका पूजन

[illegible]

[illegible] [illegible]। [illegible] ... [illegible] ... [illegible] ... [illegible] सुखपूर्वक रहता है।

(१४) [illegible] (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतके निमित्त १—क्रतु (यज्ञ), २—दक्ष, ३—वसु, ४—सत्य, ५—काल, ६—काम, ७ मुनि, ८—कुरुवान्मनुज, ९—[illegible] और १०—[illegible]—इनका गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और धनादिसे पूजन करके 'पारणान्ते' (व्रतके अन्तमें) सुवर्णादि [illegible] ब्राह्मणको दे। यह व्रत कार्तिक शुक्ल दशमीमें आरम्भ किया जाता है और उपर्युक्त क्रतु दक्षादि दस देव [illegible] आत्मा हैं, अतः इनके अर्चनसे अक्षय ही [illegible] होता है।

(१५) ब्रह्मप्राप्तिव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—कार्तिक शुक्ल दशमी (या किसी भी शुक्ल दशमी) को १—आत्मा, २—आयु, ३—मन, ४—दक्ष, ५—मद, ६—प्राण, ७—हविष्मान्, ८—गविष्ठ (स्वर्गस्थ), ९—दत्त और १०—सत्य—इनका तथा अङ्गिरसका यथाविधि पूजन करके उपवास करे तो ब्रह्मत्वकी प्राप्ति होती है।

(१६) शुक्लैकादशी (वराहपुराण)—कार्तिक शुक्ल एकादशी 'प्रबोधिनी' के नामसे मानी जाती है। इसके निमित्त स्नान-दान और उपवास यथापूर्व किये जाते हैं। विशेषता यह है कि एक वेदीपर सोलह आर (कोण या पत्ती) का कमल बनाकर उसपर सागरोपम, जलपूर्ण रत्नयुक्त, मलयागिरिसे चर्चित, कण्ठप्रदेशमें नालसे आबद्ध और सुश्वेत वस्त्रसे आच्छादित चार कलश स्थापित करे और उनके बीचमें पीताम्बर धारण किये हुए शङ्ख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज और शेषशायी भगवान्‌की सुवर्णनिर्मित मूर्ति स्थापित करके उसका 'सहस्रशीर्षा०' आदि ऋचाओंसे अङ्गन्यासपूर्वक यथाविधि पूजन करे और रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिनके प्रभातमें वेदपाठी पाँच ब्राह्मणोंको बुलाकर उक्त चार कलश चारको और योगेश्वर भगवान्‌की (स्वर्णमयी) मूर्ति पाँचवेंको देकर उनको भोजन करवाके स्वयं भोजन करे तो गङ्गादि तीर्थों, सुवर्णादि दानों और भगवान् आदिकी पूजाके समान फल होता है।

(१७) प्रबोधैकादशीकृत्य ([illegible])—यह तो [illegible] है कि [illegible] शुक्लमें कार्तिक [illegible], इन्द्र, रुद्र, अग्नि, वरुण, कुबेर, सूर्य और सोमादि देवोंसे [illegible], [illegible], देवेश्वर क्षीरसागरमें [illegible] चार मास शयन करते हैं और भगवद्भक्त उनके शयन-परिवर्तन और प्रबोधके यथोचित कृत्य दत्तचित्त होकर सम्पन्न करते हैं। उनमें दो कृत्य आषाढ़ और भाद्रपद के व्रतोंमें प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरे (प्रबोध) का विधान यहाँ प्रकट किया जाता है। यद्यपि भगवान् शयन [illegible] भी कभी सोते नहीं हैं, तथापि 'यथा देहे तथा देवे' मानने वाले उपासकोंको यथोचित विधान अवश्य करना चाहिये। यह कृत्य कार्तिक शुक्ल एकादशीको रात्रिके समय किया जाता है। उस समय शयन करते हुए हरिको जगानेके लिये (१) सुभाषित स्तोत्रपाठ, भगवत्कथा और पुराणादिका श्रवण और भजनादिका 'गायन', (२) घंटा, शंख, मृदंग, नगारे और वीणा आदिका 'वादन' और (३) विविध प्रकारके देवोपम खेल कूद, लीला और नाच आदिके द्वारा भगवान्‌को जगाये और साथ ही 'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द त्यज निद्रां जगत्पते। त्वयि सुप्ते जगन्नाथ जगत् सुप्तं भवेदिदम्॥' 'उत्थिते चेष्टते सर्वमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ माधव। गता मेघा वियच्चैव निर्मलं निर्मला दिशः॥'—'शारदानि च पुष्पाणि गृहाण मम केशव।' इन मन्त्रोंका उच्चारण करे। अनन्तर भगवान्‌के मन्दिर (अथवा सिंहासन) को नाना प्रकारके लता-पत्र, फल-पुष्प और वंदनवार आदिसे सजावे और 'विष्णुपूजा'—या 'पञ्चदेवपूजाविधान' अथवा 'रामार्चनचन्द्रिका' आदिके अनुसार भली प्रकार पूजन करे और समुज्ज्वल घृतवर्तिका या कर्पूरादिको प्रज्वलित करके नीराजन (आरती) करे। अनन्तर 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥' से पुष्पाञ्जलि अर्पण करके 'इयं तु द्वादशी देव प्रबोधाय विनिर्मिता। त्वयैव सर्वलोकानां हितार्थं शेषशायिना॥' 'इदं व्रतं मया देव कृतं प्रीत्यै तव प्रभो। न्यूनं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादाज्जनार्दन॥' से प्रार्थना करे। और प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, व्यास, अम्बरीष, शुक, शौनक और भीष्मादि भक्तोंका स्मरण करके चरणामृत, पञ्चामृत या प्रसादका वितरण करे।...... इसके पीछे एक रथमें भगवान्‌को विराजमान करके नरवाहनद्वारा उसे सञ्चालित कर नगर, ग्राम या गलियोंमें भ्रमण करावे। जो मनुष्य उस रथके वाहक बनकर उसको चलाते हैं, उनको प्रत्येक पदपर यज्ञके

भोजन करे और फिर प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको वर्षपर्यन्त करता रहे तो सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(९) गोष्ठा (गोपा) ष्टमी (निर्णयामृत, कूर्मपुराण)–कार्तिक शुक्ल अष्टमीको प्रातःकालके समय गौओंको स्नान करावे। गन्ध-पुष्पादिसे उनका पूजन करे और अनेक प्रकारके वस्त्रालंकारसे अलंकृत करके उनके गोपालों (गुवालों) का पूजन करे, गायोंको गोग्रास देकर उनकी परिक्रमा करे और थोड़ी दूरतक उनके साथ जाय तो सब प्रकारकी अभीष्ट-सिद्धि होती है। इसी गोपाष्टमीको सायंकालके समय गायें चरकर वापस आवें उस समय भी उनका आतिथ्य, अभिवादन और पञ्चोपचार पूजन करके कुछ भोजन करावे और उनकी चरणरजको मस्तकपर धारण करके ललाटपर लगावे तो उससे सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(१०) नवमीव्रत (हेमाद्रि, देवीपुराण)–कार्तिक शुक्ल नवमीको व्रत, पूजा, तर्पण और अन्नादिका दान करनेसे अनन्त फल होता है। इसमें पूर्वाह्णव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या न हो तो 'अष्टम्या नवमी-विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिणा। न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन ॥' इस ब्रह्मवैवर्तके वचनके अनुसार पूर्वविद्धा लेनी चाहिये। इस दिनका किया हुआ पूजा-पाठ और दिया हुआ दान-पुण्य अक्षय हो जाता है, इस कारण इसका नाम 'अक्षयनवमी' है। इस दिन गो, भू, हिरण्य और वस्त्राभूषणादिका दान किया जाय तो यथाभाग्य इन्द्रत्व, सूरत्व या नराधिपत्वकी प्राप्ति होती है। और ब्रह्महत्या-जैसे महापाप मिट जाते हैं।……यही (कार्तिक शुक्ल नवमी) 'धात्रीनवमी' और 'कूष्माण्डनवमी' भी है। अतः इस दिन प्रातःस्नानादि करके धात्रीवृक्ष (आँवला) के नीचे पूर्वाभिमुख बैठकर 'ॐ धात्र्यै नमः' से उसका आवाहनादि 'षोडशोपचार' अथवा स्नान-गन्धादि 'पञ्चोपचार' पूजन करके 'पिता पितामहाश्चान्ये अपुत्रा ये च गोत्रिणः। ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूलेऽक्षयं पयः ॥ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः। ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूलेऽक्षयं पयः ॥' इन मन्त्रोंसे उसके मूलमें दूधकी धारा छोड़े। और फिर 'दामोदरनिवासायै धात्र्यै देव्यै नमो नमः। सूत्रेणानेन बध्नामि धात्रि देवि नमोऽस्तु ते ॥' इस मन्त्रसे उसके सूतसे आवेष्टन करे (सूत लपेटे) और कपूर या घृतपूर्ण दीपसे नीराजन करके 'यानि कानि च पापानि' [illegible] करे।……तदनन्तर शुक्ल कूष्माण्ड ([illegible] हुआ कोहला–कुम्हड़ा) लेकर उसके अंदर रत्न, सुवर्ण, रजत या रुपया आदि रखकर उसका गन्धादिसे पूजन करे। 'कूष्माण्डं बहुबीजाढ्यं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा। दास्ये विष्णवे तुभ्यं पितॄणां तारणाय च ।' से प्रार्थना करे और दान पात्र ब्राह्मणके तिलक करके 'ममाखिलपापक्षयपूर्वकसुख-सौभाग्यादीनाम् उत्तरोत्तराभिवृद्धये कूष्माण्डदानं करिष्ये।' यह संकल्प करके ब्राह्मणको दे दे।

(११) सार्वभौमव्रत (वराहपुराण)–कार्तिक शुक्ल दशमीको प्रातःस्नान करके नक्तव्रत करनेकी प्रतिज्ञा करे और विविध प्रकारके चित्र-विचित्र गन्ध-पुष्पादिसे दिशाओंका पूजन करके दध्योदनादिकी शुद्ध बलि दे। उस समय—'सर्वा भवत्यः सिध्यन्तु मम जन्मनि जन्मनि ।' यह प्रार्थना करे और अर्धरात्रिमें दध्योदन (दही और भात) का भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक मासकी शुक्ल दशमीको वर्षभर करे तो दिग्विजयी (अथवा सर्वत्र विजयी) होता है।

(१२) आशादशमी (भविष्योत्तर)–धन, राज्य, खेती, वाणिज्य या पुत्रादि प्राप्त होनेकी आशा पूर्ण होनेके लिये कार्तिक शुक्ल दशमी (या किसी भी शुक्ल दशमी) को स्नान करके शुद्ध स्थानमें जौके चूनसे सायुध और सवाहन युक्त इन्द्रादि दिक्पालोंको लिखकर उनका पूजन करे। गन्ध-पुष्पादि चढ़ावे। पीछे भलीभाँति भीगा हुआ भोजन और कालजात (उस ऋतुके) फल अर्पण करे। दीपक जलावे और 'आशाः स्वाशाः सदा सन्तु सिद्ध्यन्तां मे मनोरथाः। भवतीनां प्रसादेन सदा कल्याणमस्त्विति ॥' से प्रार्थना करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करे तो धनार्थी, पुत्रार्थी, सुखार्थी, राज्यार्थी या अन्यकामार्थी आदिकी धन, पुत्र, सुख, राज्य और काम आदिकी आशा सफल हो जाती है।

(१३) आरोग्यव्रत ([illegible])–कार्तिक शुक्ल नवमी (या किसी भी शुक्ल नवमी) को उपवास करे। [illegible] पूजन करे। [illegible] पुष्प और [illegible] [illegible]

समान फल होता है। जिस समय वामन भगवान् तीन पद भूमि लेकर विदा हुए थे, उस समय सर्वप्रथम दैत्यराज (बलिराजा) ने वामनजीको रथमें विराजमान कर स्वयं उसे चलाया था। अतः इस प्रकार करनेसे 'समुत्थिते ततो विष्णौ क्रियाः सर्वाः प्रवर्तयेत् ।' के अनुसार विष्णुभगवान् योगनिद्राको त्याग कर प्रत्येक प्रकारकी क्रिया करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं और प्राणीमात्रका पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं। प्रबोधिनीकी पारणामें रेवतीका अन्तिम तृतीयांश हो तो उसको त्याग कर भोजन करना चाहिये।

(१८) भीष्मपञ्चक (पद्मपुराण)—यह व्रत कार्तिककी प्रबोधिनीसे प्रारम्भ होकर पूर्णिमाको पूर्ण होता है। इस निमित्त काम-क्रोधादिका त्याग कर ब्रह्मचर्य धारण करके क्षमा, दया और उदारतायुक्त होकर सोने या चाँदीकी लक्ष्मीनारायणकी मूर्ति बनवाके वेदीपर स्थापित करे। ऋतुकालमें प्राप्त होनेवाले गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादिसे पूजन करके पाँच दिनपर्यन्त निराहार, फलाहार, एकभुक्त, मिताहार या नक्तव्रतादिमें जो बन सके, व्रत करे। प्रतिदिन पद्मपुराणोक्त कथा सुने। पूजनमें सामान्य पूजाके सिवा—पहले दिन भगवान्के हृदयका कमलके पुष्पोंसे, दूसरे दिन कटि-प्रदेशका विल्वपत्रोंसे, तीसरे दिन घुटनोंका केतकी (केवड़े) के पुष्पोंसे, चौथे दिन चरणोंका चमेलीके पुष्पोंसे और पाँचवे दिन सम्पूर्ण अङ्गका तुलसीकी मंजरियोंसे पूजन करे। नित्यप्रति 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' के सौ, हजार, दस हजार या जितने बन सके जप करे और व्रतान्तमें पारणाके समय ब्राह्मणदम्पतिको भोजन करवाके स्वयं भोजन करे। इस देशमें अधिकांश स्त्रियाँ एकादशी और द्वादशीको निराहार, त्रयोदशीको शाकाहार और चतुर्दशी तथा पूर्णिमाको फिर निराहार रहकर प्रतिपदाके प्रभातमें द्विजदम्पतिको जिमाकर स्वयं भोजन करके 'पँचभीखण' नहाती हैं।

(१९) तुलसीविवाह (विष्णुयामल)—पद्मपुराणमें कार्तिक शुक्ल नवमीको तुलसीविवाहका उल्लेख किया गया है; किन्तु अन्य ग्रन्थोंके अनुसार प्रबोधिनीसे पूर्णिमापर्यन्तके पाँच दिन अधिक फल देते हैं। व्रतीको चाहिये कि विवाहके तीन मास पूर्व तुलसीके पेड़को सिंचन और पूजनसे पोषित करे। प्रबोधिनी या भीष्मपञ्चक अथवा ज्योतिःशास्त्रोक्त विवाह-मुहूर्तमें तोरण-मण्डपादिकी रचना करके चार ब्राह्मणोंको साथ लेकर गणपति-मातृकाओंका पूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके मन्दिरकी साक्षात् मूर्ति साथ सुवर्णके लक्ष्मीनारायण और पोषित तुलसीके स[illegible] सोने और चाँदीकी तुलसीको शुभासनपर पूर्वाभिमु[ख] विराजमान करे और सपत्नीक यजमान उत्तराभिमुख बैठ[कर] 'तुलसी-विवाह-विधि' के अनुसार गोधूलीय समयमें 'व[र]' (भगवान्) का पूजन, 'कन्या' (तुलसी) का दान, कुशकण्डी हवन और अग्नि-परिक्रमा आदि करके वस्त्राभूषणादि और यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराके स्वयं भोजन करे।

(२०) तुलसीवास (स्कन्दपुराण)—कार्ति[क] शुक्ल नवमीको प्रातःस्नानादि करके मकानके अंदर चार[हाथकी] वेदी बनाये। उसपर तुलसीका प्रत्यक्ष पेड़ और चाँदीके सपत्र शाखा तथा सोनेकी मंजरीयुक्त निर्मित पेड़ रखे। यथाविधि पूजन करे। ऋतुकालके फल-पुष्पादिका भोग लगाये। एक दीपकको घीसे पूर्ण करके लंबी बातीसे उसे अखण्ड प्रज्वलित रखे। और निराहार रहकर रात्रिमें कथा-वार्ता श्रवण करनेके अनन्तर जमीनपर शयन करे। इस प्रकार नवमी, दशमी और एकादशीका उपवास करनेके अनन्तर द्वादशीको (रेवतीके अन्तिम तृतीयांशकी २० घड़ियाँ हों तो उनको त्यागकर) ब्राह्मणदम्पतिको दान-मानसहित भोजन कराके स्वयं भोजन करे।

(२१) ब्रह्मकूर्च (हेमाद्रि)—कार्तिक शुक्ल चतुर्दशीको स्नानादिके अनन्तर उपवासका संकल्प करके देवोंको तोयाक्षतादिसे और पितरोंको तिलतोयादिसे तृप्त करके कपिला गौका 'गोमूत्र', कृष्ण गौका 'गोमय', श्वेत गौका 'दूध', पीली गौका 'दही' और कर्बुर (कबरी) गौका घी लेकर वस्त्रसे छान करके एकत्र करे। उसमें थोड़ा कुशोदक (डाभका पानी) भी मिला दे और रात्रिके समय उक्त 'पञ्चगव्य' पीये तो उससे तत्काल ही सब पाप-ताप और रोग दोष दूर होकर अद्भुत प्रकारके बल, पौरुष और आरोग्यकी वृद्धि होती है।

(२२) पाषाणचतुर्दशी (देवीपुराण)—उसी चतुर्दशीको जौके चूनकी चौकोर रोटी बनाकर गौरीकी आराधना करे और उक्त रोटीका नैवेद्य अर्पण करके स्वयं उसीका एक बार भोजन करे तो सुख-सम्पत्ति और सुन्दरता प्राप्त होती है।

(२३) वैकुण्ठचतुर्दशी (सनत्कुमारसंहिता)—हेमलम्ब संवत्सरमें कार्तिक शुक्ल अरुणोदयव्यापिनी चतुर्दशीको [illegible] ब्राह्ममुहूर्तमें प्रातःस्नानादिके पश्चात्

वैकुण्ठ-… करके व्रत करे तो वैकुण्ठ-
[illegible]श्वेश्वरी और विश्वेश्वरका पूजन करके व्रत करे तो वैकुण्ठ-
१… होता है।

(२४) **कार्तिकी** (बहुसम्मत)–इसको ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अङ्गिरा और आदित्य आदिने महापुनीत पर्व प्रमाणित किया है। अतः इसमें किये हुए स्नान, दान, होम, यज्ञ और उपासना आदिका अनन्त फल होता है। इस दिन कृत्तिका हो तो यह 'महाकार्तिकी' होती है[1]। भरणी हो तो विशेष फल देती है[2]। और रोहिणी हो तो इसका महत्त्व बढ़ जाता है[3]। इसी दिन सायङ्कालके समय मत्स्यावतार हुआ था। इस कारण इसमें दिये हुए दानादिका दस यज्ञोके समान फल होता है[4]। यदि इस दिन कृत्तिकापर चन्द्रमा और बृहस्पति हो तो यह 'महापूर्णिमा' होती है[5]। इस दिन कृत्तिकापर चन्द्रमा और विशाखापर सूर्य हों तो 'पद्मक' योग होता है। यह पुष्करमें भी दुर्लभ है[6]। कार्तिकीको सन्ध्याके समय 'त्रिपुरोत्सव' करके 'कीटाः पतङ्गा मशकाश्च वृक्षे जले स्थले ये विचरन्ति जीवाः। दृष्ट्वा प्रदीप न हि जन्म भागिनस्ते मुक्तरूपा हि भवन्ति तत्र ॥' से दीपदान करे तो पुनर्जन्मादिका कष्ट नहीं होता। यदि इस दिन कृत्तिकामें स्वामी (विश्वस्वामी) का दर्शन किया जाय तो ब्राह्मण सात जन्मतक वेदपारग और धनवान् होता है[8]। इस दिन चन्द्रोदयके समय शिवा, शम्भूति, प्रीति, सन्तति, अनसूया और क्षमा—इन छः तपस्विनी कृत्तिकाओंका पूजन करे (क्योंकि ये स्वामिकार्तिककी माता हैं) और कार्तिकेय, खड्गी (शिवा), वरुण, हुताशन और सशूक (बालियुक्त) धान्य–ये निशागममें द्वारके ऊपर शोभित करने योग्य हैं; अतः इनका उत्कृष्ट गन्धादिसे पूजन करे तो शौर्य, वीर्य और धैर्यादि बढ़ते हैं[9]। कार्तिकीको नक्तव्रत करके वृषदान करे तो शिवपद प्राप्त होता है[10]। यदि गौ, गज, रथ, अश्व और घृतादिका दान किया जाय तो सम्पत्ति बढ़ती है[11]। कार्तिकीको सोपवास हरिस्मरण करे तो अग्निष्टोमसमान फल होकर सूर्यलोककी प्राप्ति होती है[12]। कार्तिकीको अपनी या परायी अलङ्कृता कन्याका दान करे तो 'सन्तानव्रत' पूर्ण होता है[13]। कार्तिकीको सुवर्णका मेष दान करे तो ग्रहयोगके कष्ट नष्ट हो जाते हैं[14]। और कार्तिकी पूर्णिमासे प्रारम्भ करके प्रत्येक पूर्णिमाको नक्तव्रत करे तो उससे सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं।[15]

---

१. आग्नेय तु यदा ऋक्षं कार्तिक्यां भवति क्वचित्।
महती सा तिथिर्ज्ञेया स्नानदानेषु चोत्तमा ॥ (यम)

२. यदा याम्य तु भवति ऋक्षं तस्या तिथौ क्वचित्।
तिथिः सापि महापुण्या मुनिभिः परिकीर्तिता ॥ (स्मृत्यन्तर)

३. प्राजापत्य यदा ऋक्षं तिथौ तस्या नराधिप।
सा महाकार्तिकी प्रोक्ता ॥ (स्मृतिसार)

४. वरान् दत्त्वा यतो विष्णुर्मत्स्यरूपोऽभवत्तत।
तस्यां दत्तं हुतं जप्तं दशयज्ञफलं स्मृतम् ॥ (पद्मपुराण)

५. पूर्णा महाकार्तिकी स्यात्जीवेन्दो कृत्तिकास्थयोः। (माघ)

६. विशाखासु यदा भानुः कृत्तिकासु च चन्द्रमा।
स योगः पद्मको नाम पुष्करे त्वतिदुर्लभः ॥ (पद्मपुराण)

७. पौर्णमास्या तु सन्ध्याया कर्तव्यस्त्रिपुरोत्सव।
दद्यात् पूर्वोक्तमन्त्रेण सुदीपाश्च सुरालये ॥ (भविष्य)

८. कार्तिक्यां कृत्तिकायोगे यः कुर्यात् स्वामिदर्शनम्।
सप्त जन्म भवेद् विप्रो धनाढ्यो वेदपारगः ॥ (काशीखण्ड)

९. ततश्चन्द्रोदये पूज्यास्तापस्य कृत्तिकास्तु षट्।
कार्तिकेयस्तथा खड्गी वरुणश्च हुताशन ॥
धान्यैः सशूकैर्द्वारोर्ध्वं भूषितव्य निशामुखे।
माल्यैर्धूपैस्तथा दीपादिभिः पूजयेत् ॥ (ब्रह्मपुराण)

१०. कार्तिक्यां तु वृषोत्सर्गं कृत्वा नक्तं समाचरेत्।
शैवं पदमवाप्नोति शैवव्रतमिदं स्मृतम् ॥ (मत्स्यपुराण)

११. गजाश्वरथदानं च घृतधेन्वादयस्तथा।
प्रदेया पुण्यवृद्धिस्तु ॥ (निर्णयामृत)

१२. कार्तिके पौर्णमास्यां तु सोपवासः स्मरेद् हरिम्।
अग्निष्टोमफलं विन्देत् सूर्यलोकं च विन्दति ॥ (ब्रह्मपुराण)

१३. कार्तिक्यामुपवासी य कन्यां दद्यात् स्वलङ्कृताम्।
स्वकीयां परकीयां वा अनन्तफलदायिनी ॥ (स्कन्द)

१४. कार्तिक्यां [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] ॥ (भविष्य)

१५. कार्तिक्यां तु [illegible] सम्पूर्ण [illegible]।
पूर्वेद्युर्व [illegible] नक्तव्रतो [illegible]। (स्कन्द)

(२५) कार्तिकीका उद्यापन (व्रतोद्यापन-प्रकाश)– कार्तिक शुक्ल चतुर्दशीको गणपति-मातृका, नान्दीश्राद्ध, पुण्याहवाचन, सर्वतोभद्र, ग्रह और हवनकी यथापरिमित वेदी बनवाके रात्रिके समय उनपर उक्त देवोंका स्थापन और पूजन करे। इसके लिये अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुवर्णकी भगवान्की सायुध-मूर्ति बनवाकर व्रतोद्यापनकौमुदी या व्रतोद्यापनप्रकाशादिके अनुसार सर्वतोभद्रमण्डलपर स्था[पित] किये हुए सुवर्णादिके कलशपर उक्त मूर्तिका यथावि[धि] स्थापन, प्रतिष्ठा और पूजन करके रात्रिभर जागरण करे। पूर्णिमाके प्रभातमें प्रातःस्नानादि करके गोदान, अन्न[दान] शय्यादान, ब्राह्मणभोजन (३० जोड़ा-जोड़ी) और विसर्जन करके जाति बान्धवोंसहित भोजन करे।

नमस्कार

(रचयिता—श्रीहनुमानप्रसाद गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम')

(१)

जिसका तेज चमकता रविमें,
शांति-सुधा शशि बरसाता।
जिसकी है दृढ़ता हिमाद्रिमें,
कंज मृदुलता सरसाता॥
प्रबल पवनमें गति है जिसकी,
गभीरता सागर पाता।
स्नेह-स्रोत सरितामें बहता,
नभ व्यापकता दरसाता॥
छाया है जिसकी उदारताकी वह मेघावली अपार।
उस कर्तार-पदोंमें मेरा नमस्कार है बारंबार॥

(२)

रंग-बिरंगी है यह दुनिया,
जिस मालीकी फुलवारी।
खिला-खिला जो नित्य नये गुल,
खेल दिखाता खिलवारी॥
जिसकी रचना-चतुराईसे,
चतुर चकित चितमें भारी।
नित्य नचाता जो अँगुलीपर
कौतुकमयी सृष्टि सारी॥
जिसकी भूलभुलैयाँमें पड़ भूल रहा सारा संसार।
उस मायावीके चरणोंमें नमस्कार है बारंबार॥

(३)

प्रभुओंका प्रभु, आश दासका,
भक्त-सखा, सबका दाता।
निराकार तू, निर्विकार तू,
निराधार, त्रिभुवन-त्राता॥
नाम अनेकों तेरे, तो भी
एक न तुझे छेक पाता।
अस्तु, अनाम नाम रख तेरा,
चरणोंमें अर्जी लाता॥
जन-जनमें मैं निजको देखूँ, निजमें तुझको प्राणाधार।
तुझमें सब कुछ देख करूँ फिर नमस्कार प्रभु! बारंबार॥

दिवाली

(लेखक—पू० श्रीभोलानाथजी महाराज)

जब गूँजेगी रोमों भीतर अनहद मुरलीध्वनि।
जब चमक चमकेगा होगा जगमग सौहार्दमें॥
मनका मंदिर फिर चमक उठेगा इस परकाशमें।
नित्यका अंधेरा जहाँसे फिर निकल ही जायगा॥

[आज जगतमें दिवाली मनाइये। हे प्रभो! मैं तुझसे वह दीपक माँगता हूँ, जिससे तेरा सच्चा पूजन कर सकूँ।]

आज फिर एक वर्षके बाद दिवालीका त्यौहार मनाया जा रहा है। हर बच्चा, जवान और बूढ़ा खुश नजर आता है। ख्याल है कि आज रातको अँधेरी रातमें दीपक जलाये जायँगे और लक्ष्मी-पूजन होगा।

वास्तवमें जिस समय रात्रिको दीपक जलेंगे, एक अद्वितीय दृश्य होगा; दूसरे लक्ष्मी-पूजनका फल घरसे दरिद्रताको दूर करना होगा। परन्तु आश्चर्य है कि तमाम लक्ष्मी-पूजन करनेवाले न तो अमीर बनते हैं और न इन दीपकोंसे ज़्यादा देरतक अँधेरा ही दूर होता है।

असली दिवाली तो उस दिन मनायी जायगी, जब दिलोंसे अन्धकार दूर हो जायगा और उसमें प्रेमके दीपक जलने लगेंगे। लक्ष्मी-पूजन सच्चा उस दिन होगा जब विष्णुभगवान् हृदयमें विराजमान होंगे, क्योंकि लक्ष्मीजी सदा विष्णुभगवान्‌के साथ ही दृष्टिमें आ सकती हैं। इसलिये जरूरी यही है कि आज रातको अपने मन-मन्दिरमें (जहाँ अँधेरा है) प्रेमरूपी दीपक जलायें और धर्म और सत्स्वरूप विष्णुभगवान्‌को हृदयमें लानेकी कोशिश करें। जब ऐसा होगा, तब लक्ष्मीजी स्वयं ही प्रसन्न हो जायँगी।

परन्तु यह दीपक जले कैसे और विष्णुभगवान् हृदयमें क्योंकर आवें? तेल और बत्तीयाला दीपक होता तो सभी जला ही लेते। उधर मनके मन्दिरके टूटे हुए दरवाजोंसे इच्छाओंकी आँधी कुछ ऐसे जोरके साथ चल रही है कि प्रथम तो दीपकका जलना ही कठिन है और यदि जल भी जाय तो उसका जलते रहना कठिन है। फिर इस अंधेरे घरमें विष्णुभगवान्‌का पूजन कैसे हो।

चलिये मनके अंदर देखें क्या है! अंधेरा…… खैर, इतना तो अच्छा है कि आपने इस अंधेरेका पता पा लिया। सुना है इस मन्दिरमें एक मूर्ति भी है, जिसका नाम विष्णुभगवान है। वह नजर क्योंकर आये? यहा तो अंधेरा है! नहीं, गलत बात है, जहाँ विष्णुभगवान् हो, वहा अंधेरा हो ही नहीं सकता। लेकिन फिर क्या है? या तो वे नहीं या अंधेरा नहीं। तो फिर आप कहेंगे कि अंधेरा भी है और वे भी हैं। सम्भव है कि वहाँ उजाला हो और आपकी आँखें बंद हों। जरा आँखोंको खोलिये और फिर देखिये तो भला, कि क्या मामला है! लीजिये, आँखें खुल गयीं, लेकिन अबतक भी अंधेरा-ही-अँधेरा है। अब क्या मामला है? मालूम होता है, भगवान् यहाँ नहीं है। चलिये, वापस चलें; लेकिन वापस जाकर कहाँ ढूँढ़ें—कौन-सी जगह है? यही सुना है वे मनके मन्दिरमें रहते हैं। ओहो! देखिये!! जरा इस अँधेरेमें आगे बढ़िये! टटोलिये कौन-सी चीज रुकावट पैदा कर रही है! लीजिये मालूम हो गया। एक दरवाजा है, जो बंद है—बाहरसे बंद हो तो खोल लीजिये! अफसोस, बाहर इसके न कुंडी है न ताला—यह तो अंदरसे ही बंद है! यदि यह बात है तब तो निश्चय हो गया कि अवश्य कोई अंदर होगा, नहीं तो दरवाजा बंद कैसे होता और इसको बंद कौन करता! आपका शक तो समाप्त हुआ जब कि बाहर न ताला है न कुंडी। अब रहा अंदरवाला—यह कौन है? कैसा है? अपना है या बेगाना—मालूम ही नहीं!

खैर, दरवाजा तो खटखटाइये; माछूम हो जायगा। खटखटाया—कोई आवाज नहीं ! चलिये, वापस चलें; लेकिन कहाँ ! सुना तो है कि वे यहीं होते हैं और कुछ दरवाजेकी बनावट भी इस बातका प्रमाण है कि भीतर 'कोई' है ।

आइये, मिलकर आवाज दें !

ऐं ! दरवाजोंके छिद्रोंमे कुछ किरणें निकलती माछूम होती हैं । अहा ! देखिये, इसके अंदर तो रोशनी भी है, जरूर कोई है । चलिये, फिर दरवाजा खटखटायें; क्या माछूम कोई बोल पड़े ।

(सब मिलकर खटखटाते हैं)

आवाज नदारद !

प्रतीक्षा कीजिये, अधीरता ठीक नहीं । बादशाहों और सम्राटोंके दर्शनोंके लिये उनके दरवाजोंपर मुद्दतों बैठना पड़ता है ।

(इतनेमें दरवाजेपर और लोग आ गये)

जीमें यह है कि दर पै किसीके पड़े रहें,
सर ज़ेरे बारे मिन्नते दरवाँ किये हुए।
दिल ढूँढ़ता है फिर वही फ़ुरसतके रात-दिन
बैठे रहें तसव्वुरे जानाँ किये हुए॥

(मनमें अनादिकालसे छुपे हुए प्रेमकी वासना फिर प्रकट होकर भगवान्‌के दरवाजेको टटोल रही है; लेकिन वहाँ अहङ्काररूपी पहरेदार मौजूद है, जो अंदर नहीं जाने देता । यह उसके चरण पकड़कर कह रही है कि 'मेरे ऊपर तेरा बड़ा अहसान होगा अगर तू मुझको यहाँसे न उठाये ।' मन फिर उस हृदयके एकान्त-को ढूँढ़ रहा है, जिसमें प्रभुका साक्षात्कार हो और कह रहा है कि 'वह समय शीघ्र फिर आये कि जब मैं सिवा अपने ध्येयके सब कुछ भूल जाऊँ; और यदि याद रहे तो केवल वही, जिसके ध्यानमें मैं सब कुछ भूलनेकी कोशिश कर रहा हूँ ।')

सबने दरवाजा खटखटाना शुरू किया—आवाज नहीं, चिल्लाना शुरू किया—कुछ नहीं ।

आखिर एक व्यक्ति निराश होकर धड़ामसे जमीनपर गिरा ! कौन है !

बेचारा, गरीब, दीन-हीन, कंगाल, [illegible] बीमार, अपाहिज !!

(इतनेमें अंदरसे आवाज आती है) 'कौन है क्या है ! दरवाजेपर शोर कैसा है !'

(एक सन्नाटा छाया हुआ है ! कुछ देरके [illegible] एक आवाज आती है)—'हम हैं तेरे पुजारी, हम तेरे प्रेमी उपासक' ।

(प्रश्न होता है) किस चीजसे मेरा पूजन करोगे किस प्रकार प्रेमका प्रकाश होगा !

उत्तर—'हम तुझसे प्रेम करते हैं, दीपकोंसे [illegible] पूजन करेंगे ।'

(फिर आवाज) देखो, जाओ ! तुम्हारे सम्ब[illegible] तुमको बुला रहे हैं और तुम्हारे दीपक भी बुझे हुए [illegible]

(प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने दीपककी ओर देख[illegible] है, सब बुझे हुए हैं)

(वही आवाज) 'पहले इन दीपकोंको जला[illegible] फिर अंदर आना । पुजारी बिना दीपकके, प्रेमी बि[illegible] प्रेमके ! क्या अजब तमाशा है !!

(फिर वही कठोरहृदय व्यक्ति)—भगवन्, सचमुच हमारे दीपक बुझे हुए है और प्रेमका [illegible] कण भी नहीं है । असलमें हम भिक्षुक हैं !

(वही आवाज) 'अच्छा, फिर क्या चाहते हो [illegible]

'हम आपसे वह दीपक माँगने आये हैं, जिस[illegible] आपका पूजन कर सकें और वह प्रेम चाहते हैं, जिस[illegible] तुम्हारे सिवा और कोई न हो । लीजिये, ये हैं हमा[illegible] टूटे भावोंकी बत्तियाँ और बुझे हुए प्रेमके दीपक [illegible] प्रकाश एकमात्र तुम्हारे घरमें है, इसलिये तुझसे [illegible] उम्मीद है । जला दे हमारे दीपकोंको, और हम[illegible] पूजन कर लेने दे, ऐ प्रेमके देवता ! ऐ दयाके सागर !!

(वही आवाज)—'जाओ, कोई और घर ढूँढ़ो तुमको कैसे विश्वास है कि तुम्हारा मतलब यहाँ पू[illegible] हो सकता है !'

पुजारी—'आखिर कहाँ जायें जब कि सब घ[illegible] अँधेरे हैं !'

(दरवाजा खोला जाता है, अंदरसे एक हाथ

वैष्णवधर्मका विकास और विस्तार

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री)

वेदका मन्त्रभाग अनेक स्तवोंका भाण्डार है। इन स्तवोंके विषय हैं—अग्नि, जल, वायु, सूर्य आदि सत्ताएँ जो आधिभौतिक कहलाती हैं; किन्तु प्राचीन ऋषिवरोंने इन सत्ताओंके अभिमानी देवताओंका भी दर्शन किया था जो कि चेतन है। अधिष्ठात्री देवता-का नाम अधिष्ठेय द्रव्यके समान होता है, जैसे कि अग्नि (भौतिक) का अग्नि (चेतन); इसके विपरीत अधिष्ठाता चेतनका नाम अधिष्ठेय द्रव्यके नामसे भिन्न भी होता है, जैसे जलका अधिष्ठाता वरुण।

आकार, शस्त्रास्त्र, गृह, जाया, वाहन, शत्रुदमन आदि लक्षणोंके वर्णनसे चेतन देवताओंके अस्तित्व-में विश्वास दृढ़ हो जाता है। यह आधिदैविक सत्ता कहलाती है।

आध्यात्मिक-सत्ताविषयक ऋषियोंके अनुभवमें कोई सन्देह नहीं है। निम्नाङ्कित मन्त्र दिग्दर्शनके लिये दिया जाता है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयु-
स्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जीभ, नाक, मन और बुद्धि—ये सात ऋषि शरीरमें स्थित हैं और ये सावधान होकर सदा इसकी रक्षा करते हैं। देहमें व्याप्त ये सातों हृदयाकाशनिवासी जीवके साथ स्वप्नावस्थामें मिल जाते हैं, किन्तु प्राण और अपान उस समय भी कार्य करते रहते हैं। वे नहीं सोते। वे जीवन-सूचक हैं।

उपर्युक्त तीनों सत्ताओंको विभिन्न दृष्टिसे देखने-वाले भी महर्षि एक ऐसी तुरीय सत्ताका अनुभव करते थे जो इन तीनोंमें—अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्ममें—इस प्रकार व्याप्त, व्यापक किंवा प्रविष्ट है जैसे मालाके दानोंमें डोरा। सर्वत्र प्रविष्ट इस सर्वोत्कृष्ट सत्ताको वैदिक साहित्यमें 'विष्णु' कहा गया है। यह सत्ता अधियज्ञ है। यज्ञोंमें इसी इज्यका यजन होता है।

'विष्[1]' धातुमें 'नु' प्रत्यय लगानेसे 'विष्णु' शब्द सिद्ध होता है। 'वेवेष्टि[2] इति विष्णुः।' जो चर-अचरमें, जड-चेतनमें व्याप्त है, सबमें समाया हुआ है, वह विष्णु है।

'विष्णु' शब्दके सूर्य,[3] वसु[4], अग्नि आदि अनेक अर्थ होनेपर भी दार्शनिक चर्चामें 'विष्णु' शब्दका वाच्यार्थ वही परम सत्ता है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

अन्य देवताओंके सूक्तोंकी अपेक्षा वेदमें विष्णु-सूक्त [illegible] कम हैं। किन्तु इससे विष्णुके गौरवमें [illegible] नहीं आ सकता। [illegible]

---

१. [illegible] (यजु० [illegible])
२. [illegible] (वेद)
३. [illegible] (,,)
४. [illegible] (,,)
५. [illegible] (,,)
६. [illegible] (,,)
७. [illegible] (,,)
८. [illegible] ([illegible])
९. [illegible] ([illegible])
१०. [illegible] ([illegible])
११. [illegible] ([illegible])
१२. [illegible]
१३. [illegible]

बाधक नहीं हो सकती। यह तो विद्वानोंको विदित ही है कि वेदमें कर्ममीमांसाकी अपेक्षा ब्रह्ममीमांसा-की ऋचाएँ न्यून हैं, किन्तु इस न्यूनतासे ब्रह्म-मीमांसाका तिरस्कार नहीं हो सकता। त्रिलोकपावनी विमलोदका गङ्गानदीका नाम वेदमें केवल एक बार[14] ही आया है। क्या इससे उस दिव्य सरिताकी दिव्यतामें कुछ ह्रास आता है? नहीं। इसी प्रकार वेदोंमें वैष्णव-सूक्तोंके कम होनेपर भी विष्णुकी महिमा स्वतः सिद्ध है। वह सब देवताओंमें वरिष्ठ[15] है।

वेदमें विष्णुके सम्बन्धमें जो स्तव हैं, उनसे हम इन सिद्धान्तोंपर पहुँचते हैं—

१—यः पार्थिवानि विममे रजांसि=जिसने इन भौतिक भुवनोंका निर्माण किया।

२—यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थम्=जिसने ऊपरकी [नि]वासभूमिको अर्थात् तारामण्डलमण्डित गगनको रोक [र]क्खा है, धारण कर रक्खा है। 'अस्कभायत्' शब्द 'स्कम्भु' धातुसे निष्पन्न होता है। यह सौत्र धातु है, क्योंकि पाणिनिके सूत्रपाठसे ही इसका ज्ञान होता है, धातुपाठ-से नहीं। इसके दो अर्थ हैं—(अ) रोधन और (आ) धारण। इसी स्कम्भन नामक गुणके कारण विष्णुका नाम स्कम्भ भी है। 'स्कभ्नाति स्कभ्नोति वा इति स्कम्भः।' वेदमें जो स्कम्भ-सूक्त[16] है, वह भी मनीषियोंद्वारा मननीय है।

३—(अ) विचक्रमाणः त्रेधा=जिसने तीन प्रकारसे विक्रमण किया।

(आ) इदं विष्णुर्विचक्रमे=विष्णुने इस (विश्व) का विक्रमण किया।

(इ) त्रीणि पदा विचक्रमे=विष्णुने तीन चरण रक्खे।

(ई) यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा=जिसके तीन विस्तृत विक्रमणोंमें सारे लोक निवास करते हैं।

इन वर्णनोंसे विष्णुके नाम उरुक्रम और त्रिविक्रम[17] पड़े हैं। अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म—इन तीनोंमें अथवा ऊर्ध्व (स्वर्ग), मध्य (मर्त्य) और अधः (पाताल) में विष्णुका विक्रमण—विशेष गति—व्याप्ति है।

४—उरुगायः=जिसकी महिमाका विपुल गान होता है।

५—गोपाः=(गाम् पाति इति) विश्वका पालन करनेवाला।

६—तद्विष्णोः[18] परमं पदम्=विष्णुका पद परम अर्थात् उत्कृष्ट है।

१४. "The Ganges itself is already known, for its name is mentioned directly in one passage of the Rgveda and indirectly in another" 'A History of Sanskrit literature' by Macdonell

१५. तस्माद्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठः (शतपथ)

१६. स्कम्भसूक्त अथर्व० १०। ७ दिग्दर्शनार्थः—
स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे
स्कम्भो दाधार्वन्तरिक्षम्
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः
स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ३५ वाँ मन्त्र
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
३३ वाँ मन्त्र

१७. (अ) विलासविक्रमाक्रान्तत्रैलोक्यचरणाम्बुज (जितंते स्तोत्र)

(आ) विलासविक्रान्तपरावरालय
नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षणम्।
धनं मदीयं तव पादपङ्कजं
कदा नु साक्षात्करवाणि चक्षुषा ॥ (यामुनाचार्य)

(इ) त्रैलोक्याक्रमण प्रवृत्तगम्भीरभावः (रामानुजाचार्य)

१८. (अ) सुदुर्लभं यत् परमं पदं हरेः। (भागवत)

(आ) [illegible] तद् विष्णोः परमं पदम्

७–तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते= उस परमपदको मेधावी, जागरूक स्तोतृगण प्राप्त करते हैं।

८–सदा पश्यन्ति सूरयः=विद्वान् विष्णुके परम पदका दर्शन करते हैं।

९–नरा यत्र देवयवो[19] मदन्ति=विष्णुके परमपदमें दैवी सम्पत्तिवाले व्यक्ति आनन्द लाभ करते हैं।

१०–इन्द्रस्य युज्यः सखा=विष्णु इन्द्रके योग्य सुहृत् हैं।

११–क्षयन्तमस्य रजसः पराके=विष्णुका वास इस रजसे–भौतिक विश्वसे–परे है।

१२–यत्र गावो[20] भूरिशृङ्गा अयासः=विष्णुके निवास-स्थानमें गायें है।

१३–विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः=विष्णुके परम-पदमें मधुका स्रोत है।

१४–त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम=इस पुरातन (विष्णु) का नाम प्रकाशरूप है अथवा प्रकाशक है।

१५–त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः=बहुत कीर्त्तिवाले विष्णु ! तुम प्रणाम करनेयोग्य हो।

विष्णुके उत्तम वैभवका इस प्रकार प्रतिपादन करके वेदमें विष्णुलोककी प्राप्तिकी कामना बतायी गयी है—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्[21]=मैं विष्णुके प्रिय धामको प्राप्त करूँ।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै=हम सब तुम दोनोंके लोकमें जानेकी अभिलाषा करते हैं।

विष्णुकी कृपाके लिये प्रार्थना इस प्रकार की गयी है—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे=हे विष्णो ! आप महान् हैं। आपकी सुमतिका—दयादृष्टिका—हम भजन करते हैं।

विष्णुका दूसरा नाम है पुरुष। ये सारे लोक पुरी हैं; [इमे वै लोकाः पूः]। जो इस पुरीमें शयन करता है, वह पुरुष है [सोऽस्यां पुरि शेते, तस्मात् पुरुषः]। पुरुषके माहात्म्यका प्रतिपादक सोलह ऋचाओं-वाला सूक्त[22] पुरुषसूक्तके नामसे अत्यन्त प्रसिद्ध है और उसके द्वारा विष्णुका पूजन किया जाता है। इस सूक्तका सार यह है कि—

१–पुरुष इस भूमिका सब ओरसे पालन करके इससे परे भी रहा[23]।

२–जो कुछ हुआ है और होगा, सब पुरुष ही है[24]।

३–समस्त प्राणी इसका एक चरण है और इसके तीन चरण अमृत है, जो कि द्युलोकमें है[25]।

४–पुरुषने सब ओर विक्रमण किया—जडकी ओर और चेतनकी ओर[26] [विष्णुकी त्रिविक्रमता ही पुरुषकी विष्वग्विक्रमता है]।

---

१९. यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (वेद)

२०. गोकुल और गोलोककी पवित्र भावना

२१. समानार्थक प्रयोग—(अ) सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।
(आ) सा या ब्रह्मणि चितिरस्मिन्नां चितिं जयति तां व्याप्तिं व्यश्नुते य एवं वेद (उपनिषद्)

२२. ऋग्वेद, दशम मण्डल, सूक्त ९०।

२३. स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। (यजुर्वेद)
स्पृत्वा=पालयित्वा। स्पृ प्रीतिपालनयोः स्वादिगणे।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। (ऋग्वेद)

२४. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

२५. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः॥

२६. ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।

प्रजापतिसे ही विराट् उत्पन्न हुए[२७]।

६—उनके यज्ञरूप (सर्वहुत विष्णु) से ऋचादि[२८] वेद, इन्द्र, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष[३१], आकाश, सूर्य[३२], चन्द्रमा, भूमि, दिशाएँ, अनेक लोक, ब्राह्मणादि[३३] वर्ण, ग्राम्य पशु[३४] एवं आरण्य पशु उत्पन्न हुए।

यजुर्वेदमें जो पुरुषसूक्त है, उसमें ६ मन्त्र और हैं, जिनमें कहा गया है कि उस महान् पुरुषका वर्ण आदित्यके[३५] समान है और वह तमस् (तमोगुण, अन्धकार, प्रकृति) से परे है। उस पुरुषको जानकर ही मनुष्य मृत्युका अतिक्रमण कर सकता है। इसके अतिरिक्त रक्षाका और कोई उपाय है ही नहीं। प्रजापति[३६] गर्भमें विचरण करता है किन्तु उत्पन्न न होता हुआ भी अनेक रूपोंमें प्रकट होता है। उसके उत्पत्तिस्थानको[३८] धीरजन ही देखते हैं। उस प्रजापति पुरुषमें विश्व भुवन[३९]—सारे लोक—स्थित हैं। पुरुष देवोंके[४०] रक्षक हैं, उनका पुरोहित हैं। वह देवताओंसे पहले प्रकट हुआ था। ऐसे ब्रह्मतेजके[४१] लिये नमस्कार। जो ब्राह्मण इस तत्त्वको जान लेता है, देवता भी उसके वशीभूत हो जाते हैं। अन्तमें प्रार्थना है कि 'हे पुरुष! श्री[४२] और लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं, दिन और रात पार्श्व हैं, नक्षत्र ही रूप हैं। मेरे लिये इस लोक और उस लोकमें मङ्गलकी भावना कीजिये।'

पुरुषसूक्तपर व्याख्यान करते हुए शतपथमें पुरुषका दूसरा नाम 'नारायण' दिया गया है, जैसा कि इस वचनसे विदित होता है—'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि।' पुरुषके लिये 'नारायण' पदका प्रयोग और भी जगह आया है। यथा—'नियुक्तान् पुरुषान् ब्रह्मा दक्षिणत पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष, सहस्रपादित्येतेन षोडशर्चेन।' 'विष्णु' शब्दका और 'पुरुष' शब्दका जैसा अर्थ है, वैसा ही 'नारायण' शब्दका भी है। सब नरोंमें—जीवोंमें—जिसका अयन=धाम=निवास हो, वह नारायण[४४] है।

---

२७. ततो विराडजायत।
२८. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ (ऋग्०)
२९. मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत। (ऋग्०)
३०. श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत। (यजुः०)
३१. नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्।
३२. चक्षोः सूर्यो अजायत।
३३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्।
३४. पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।
३५. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
३६. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
३७. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
३८. तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः।
३९. तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
४०. यो देवेभ्य आतपति यो देवाना पुरोहितः पूर्वो यो देवेभ्यो जातः……।
४१. नमो रुचाय ब्राह्मये।
४२. यस्त्वैव ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे।
४३. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।
४४. अ—नराणां समूहो नारम्। 'तस्य समूहः' (पाणिनि ४। २। ३७) इत्यण्। तत् अयनम् अस्य इति नारायणः।
यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥
आ—आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः॥ (मनुः)
इ—क्वचिन्मन्वन्तरे नरस्यर्षेरपत्यत्वमुपगत इति नरस्यापत्य पुमान् नारायणः। 'नडादिभ्यः फक्' (४। १। ९९ पाणिनिः)।

प्राचीन कालमें पुरुषसूक्तद्वारा पुरुषमेधयज्ञ होता था। इसमें हिंसा[45] नहीं होती थी प्रत्युत घृताहुति ही दी जाती थी। इस यज्ञके अनुष्ठानमें पाँचे[46] दिन लग जाते थे, इसी कारणसे पुरुषमेधको पञ्चरात्र कहा जाता था (स वा एष पुरुषमेधः पञ्चरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति)। यह पञ्चरात्र विष्णूपासकोंका एक विशेष यज्ञ था, अतएव आगे चलकर उनका सम्प्रदाय 'पाञ्चरात्र' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

पञ्चरात्रमें हिंसा-व्यापार नहीं होता था। इस यज्ञके करनेवाले सत्त्वगुणभूयिष्ठ होनेके कारण सत्त्ववत् नामसे प्रसिद्ध हो गये। इसी 'सत्त्ववत्' शब्दके द्वितीय वकारके नाशसे सत्त्वत् शब्द प्रचलित हो गया। इस प्रकारका वर्णनाश भाषातत्त्व-वेत्ताओंसे तिरोहित नहीं है। पञ्चविध निरुक्तमें इसकी गणना की गयी है। एवं अंग्रेजीमें 'हैप्लोलॉजी' नामक नियमके उदाहरणमें ऐसे ही प्रयोग उपन्यस्त हुए हैं। 'सत्त्वत्' शब्दका प्रयोग शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणमें भी हुआ है। सत्त्वगुण-भूयिष्ठ होनेके कारण वैष्णवधर्मका नाम 'सात्वत धर्म' पड़ गया। 'सत्त्वताम् (=सत्त्ववताम्) इदम् इति सात्त्वतम्।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें मोक्षधर्मान्तर्गत नारायणीय[47] पर्व है। जैसा कि नामसे ही विदित होता है, उसमें नारायणकी महिमाका वर्णन है और उस महिमाके प्रख्यापक शास्त्र और विधिका 'पाञ्चरात्र' और 'सात्वत' शब्दोंसे निर्देश है।

पाञ्चरात्रिक सत्त्वनिष्ठ महात्मा अपने आराध्यदेवको 'भगवत्' नामसे भी पुकारते थे। पूज्यार्थमें 'भगवत्'[48] शब्दका प्रयोग वैदिक सूक्तोंमें भी है। भगवान्‌के उपासक भागवत कहलाये और उनका मत भी 'भागवतधर्म' नामसे विदित हुआ।

नारायणके यों तो सहस्र नाम[49] प्रसिद्ध हैं, किंतु उनका 'वासुदेव[50]' नाम भक्तोंमें बहुत प्रचलित रहा है। जो देव विश्वमें वास करता है, वह वासुदेव है—

सर्वत्रासौ समस्तश्च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते॥

भागवतधर्ममें 'भगवान्' और 'वासुदेव' शब्दोंका प्रयोग प्रचुरतया होता रहा है। इन दोनों नामोंका समावेश द्वादशाक्षर मन्त्रमें है।

विष्णु, पुरुष, नारायण, भगवान् और वासुदेव पर्याय हैं। इसी प्रकार वैष्णवधर्म, सात्त्वतधर्म, पाञ्चरात्र और भागवतधर्म भी पर्याय हैं।

---

४५. पुरुष मा संतिष्ठिपो यदि संस्थापयिष्यसि पुरुष एव पुरुषमत्स्यति। (शतपथ)

४६. तस्याग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति। अथोक्थ्योऽथातिरात्रोऽथोक्थ्योऽथाग्निष्टोमः। (शतपथ)
प्रथम दिन—अग्निष्टोम
द्वितीय दिन—उक्थ्य
तृतीय दिन—अतिरात्र
चतुर्थ दिन—उक्थ्य
पञ्चम दिन—अग्निष्टोम

४७. नारायणीय आख्यान शान्तिपर्वके ३३४ वें अध्यायसे ३५१ वें अध्यायतक अष्टदशाध्यायात्मक है।

४८. भगो वा भगवाँ अस्तु। वयं भगवन्तः स्याम। ऋग्वेद भगवोऽध्येमि।

४९. महाभारतके अनुशासनपर्वमें।

५०. अ—विभजत्यात्मनाऽऽत्मानं वासुदेवः परः प्रभुः।
अनुज्झितस्वरूपस्तु प्राग्भागे षड्गुणात्मना॥
बलसंवलितेनैव ज्ञानेनास्तेऽथ दक्षिणे।
ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भागे प्रतिष्ठितः॥
तेजःशक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः।
(सात्वतसंहिता ३।५-७)
वासुदेव = षाड्गुण्यमूर्त्ति
संकर्षण = ज्ञानबलमूर्त्ति
प्रद्युम्न = वीर्यैश्वर्यमूर्त्ति
अनिरुद्ध = शक्तितेजोमूर्त्ति
आ—प्राप्य्यां स्थितेन वपुषा सर्वमन्यधिकेन तु।
व्यक्तिमभ्येति भगवान् वासुदेवात्मना स्वयम्॥
(सा० सं० ८।८)

सती सुकला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[१]

आज जब हमारा जीवन अन्धकारसे भर गया है और जब हमारी सभ्यता और संस्कृति एक बहुत ही संकटापन्न अवस्थासे गुजर रही है; जब घर-घरमें कलह, प्रमाद, अशान्ति है; जब प्रत्येक वर्ग अपने धर्मसे, अपने कर्तव्य और जिम्मेदारियोंसे दूर हट गया है तब निराशाके इस अँधेरेमें डूबते हुए दिलके सामने प्राचीन कालकी एक ज्योति-परम्परा रह-रहकर मानो चमक उठती है। मेरा तात्पर्य उन सतियोंसे है, जिन्होंने अपने त्यागसे नारीत्वको सभ्यताके उच्च आसनपर बैठाया है—वे सतियाँ जो हजारों वर्षके बाद भी मानो एक जीवित, अक्षय प्रकाश-पुञ्जकी तरह हमारे आत्म-विस्मृत, मूर्च्छित जीवनके चारों ओर घूम रही हैं। आजके इस युगमें जब श्रद्धाका स्थान कुतर्कने छीन लिया है, जब अन्तःसद्गुणोंकी जगह बाहरी टीमटाम और शौकीनोंने ले ली है, जब अपनी वञ्चनाओंमें व्यक्ति और समाज भूले हुए हैं तब किसको लेकर हमारी प्राण-धारा बनी है? क्या उन नारियोंको लेकर नहीं, जिन्होंने अपने अक्षय दानसे अन्नपूर्णा और लक्ष्मीकी भाँति मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठ परम्पराको जीवित रक्खा, जिन्होंने अपनी तपस्या और कष्ट-सहनद्वारा मानवताको मातृत्वके अमृतसे सींचा; जिन्होंने मनुष्यसे पशुत्वका परिष्कार करके उसमें देवत्वकी स्थापना की?

मैं मानता हूँ कि आज जब नारीके गौरवपर प्रश्न-चिह्न लगानेका समय आया है तब आजकी आधुनिक सभ्यताके शत-शत प्रलोभनोंके बीच चलनेवाली माताएँ, बहनें, बेटियाँ उन प्राचीन सतियोंके जीवनसे न केवल रास्ता पा सकती हैं बल्कि जीवनके कण्टकपूर्ण मार्गपर चलनेका बल भी प्राप्त कर सकती हैं।

और तब यह अच्छा होगा कि आज मैं अपनी बहनोंको पुराने जमानेकी एक कथा सुना दूँ। मुझे विश्वास है, इससे उनका कल्याण होगा।

[२]

एक बारकी बात है कि राजा वेनने विष्णुभगवान्से पूछा—पुत्र, पत्नी, पिता, माता और गुरुको 'तीर्थ' कहा गया है। ये किस प्रकार तीर्थ हैं, यह मुझे जरा विस्तारसे समझाइये।

भगवान्ने कहा—तुमने बड़ा अच्छा सवाल पूछा है। मैं तुम्हें सब बातें समझाकर कहता हूँ। तुम पहले, पत्नी 'तीर्थ' कैसे है इसे। मन लगाकर सुनो।

बहुत दिन हुए, पुण्यधाम काशीमें एक वैश्य रहते थे। उनका नाम कृकल था। वे धर्मज्ञ, ज्ञानी, गुणवान्, शास्त्र तथा धर्मग्रन्थोंमें श्रद्धा रखनेवाले थे। उन्हींकी भाँति उनकी पत्नी सुकला भी सर्वगुणसम्पन्न थी। वह साध्वी, पतिभक्त, सत्यवादिनी, धर्माचारपरायणा थी। एक बारकी बात है कि गुरुजनोंके मुँहसे तीर्थयात्राका माहात्म्य और उससे मिलनेवाले पुण्यफलोंकी कथा सुनकर कृकलने तीर्थयात्राका निश्चय किया। जब वह चलने लगे तो पतिव्रता सुकलाने कहा—'हे प्रिय! मैं आपकी सहधर्मिणी हूँ। जिस मार्गसे आप जायँ उसीका अनु-गमन मुझे करना चाहिये। आपकी पूजा ही हमारा धर्म है। इसलिये मैं भी आपके साथ चलूँगी—आपकी सेवा करते हुए आपकी छायामें रहकर धर्माचरण करूँगी। पातिव्रत ही स्त्रीका धर्म है; इसीसे उसकी सद्गति होती है। स्त्रीके लिये पति ही सुख है, पति ही स्वर्ग है, पति ही मोक्ष है। उसके लिये पतिके सिवा दूसरा तीर्थ नहीं है, पति सर्वतीर्थमय और सर्व-पुण्यमय है। हे प्रिय! मैं आपका आश्रय छोड़कर यहाँ न रहूँगी; आपके साथ चलूँगी।'

कृकल जानते थे कि तीर्थयात्रा कितनी कठिन

प्राचीन कालमें पुरुषसूक्तद्वारा पुरुषमेधयज्ञ होता था। इसमें हिंसा[४५] नहीं होती थी प्रत्युत घृताहुति ही दी जाती थी। इस यज्ञके अनुष्ठानमें पाँच[४६] दिन लग जाते थे, इसी कारणसे पुरुषमेधको पञ्चरात्र कहा जाता था (स वा एष पुरुषमेधः पञ्चरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति)। यह पञ्चरात्र विष्णूपासकोंका एक विशेष यज्ञ था, अतएव आगे चलकर उनका सम्प्रदाय 'पाञ्चरात्र' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

पञ्चरात्रमें हिंसा-व्यापार नहीं होता था। इस यज्ञके करनेवाले सत्त्वगुणभूयिष्ठ होनेके कारण सत्त्ववत् नामसे प्रसिद्ध हो गये। इसी 'सत्त्ववत्' शब्दके द्वितीय वकारके नाशसे सत्त्वत् शब्द प्रचलित हो गया। इस प्रकारका वर्णनाश भाषातत्त्व-वेत्ताओंसे तिरोहित नहीं है। पञ्चविध निरुक्तमें इसकी गणना की गयी है। एवं अंग्रेजीमें 'हैप्लोलॉजी' नामक नियमके उदाहरणमें ऐसे ही प्रयोग उपन्यस्त हुए हैं। 'सत्त्वत्' शब्दका प्रयोग शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणमें भी हुआ है। सत्त्वगुण-भूयिष्ठ होनेके कारण वैष्णवधर्मका नाम 'सात्वत धर्म' पड़ गया। 'सत्त्वताम् (=सत्त्ववताम्) इदम् इति सात्त्वतम्।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें मोक्षधर्मान्तर्गत नारायणीय[४७] पर्व है। जैसा कि नामसे ही विदित होता है, उसमें नारायणकी महिमाका वर्णन है और उस महिमाके प्रख्यापक शास्त्र और विधिका 'पाञ्चरात्र' और ... शब्दोंसे निर्देश है।

पाञ्चरात्रिक सत्त्वनिष्ठ महात्मा अपने आराध्य... 'भगवत्' नामसे भी पुकारते थे। पूज्यार्थमें 'भगव... शब्दका प्रयोग वैदिक सूक्तोंमें भी है। भगवान्‌के उ... भागवत कहलाये और उनका मत भी 'भागवत' नामसे विदित हुआ।

नारायणके यों तो सहस्र नाम[४९] प्रसिद्ध हैं, कि... उनका 'वासुदेव[५०]' नाम भक्तोंमें बहुत प्रचलित रहा है। जो देव विश्वमें वास करता है, वह वासुदेव है—

सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते।

भागवतधर्ममें 'भगवान्' और 'वासुदेव' शब्दोंका प्र... प्रचुरतया होता रहा है। इन दोनों नामोंका स... द्वादशाक्षर मन्त्रमें है।

विष्णु, पुरुष, नारायण, भगवान् और वासुदे... हैं। इसी प्रकार वैष्णवधर्म, सात्वतधर्म, पाञ्चर... भागवतधर्म भी पर्याय हैं।

४५. पुरुष मा संतिष्ठिपो यदि संस्थापयिष्यसि पुरुष एव पुरुषमत्स्यति। (शतपथ)

४६. तस्याग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति। अथोक्थ्योऽथातिरात्रोऽथोक्थ्योऽथाग्निष्टोमः। (शतपथ)
प्रथम दिन—अग्निष्टोम
द्वितीय दिन—उक्थ्य
तृतीय दिन—अतिरात्र
चतुर्थ दिन—उक्थ्य
पञ्चम दिन—अग्निष्टोम

४७. नारायणीय आख्यान शान्तिपर्वके ३३४ वें अध्यायसे ३५१ वें अध्यायतक समदशाध्यायात्मक है।

४८. भगो वा भगवाँ अस्तु। वयं भगवन्तः स्या... भगवोऽध्येमि।

४९. महाभारतके अनुशासनपर्वमें।

५०. अ—विभजत्यात्मनाऽऽत्मानं वासुदेवः परः
अनुज्झितस्वरूपस्तु प्राग्भागे षड्गुण...
बलसंवलितेनैव ज्ञानेनास्तेऽय...
ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भागे प्र...
तेजःशक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः प...
(सात्वततन्त्र...)
वासुदेव = षाड्गुण्यमूर्ति
संकर्षण = ज्ञानबलमूर्ति
प्रद्युम्न =

सूअर महाराज इक्ष्वाकुको देखकर पत्नी इत्यादिके साथ पहाड़के एक सुरक्षित हिस्सेमें बैठ गया और अपने पुत्र-पौत्रोंका विचार करके पत्नीसे बोला—'प्रिये ! मनुपुत्र महाबली महाराज इक्ष्वाकु शिकार करते हुए यहाँ घूम रहे हैं। वह मुझे देखकर इस ओर भी आयेंगे और मुझपर आघात करेंगे।' पतिको कातर होते देख शूकरी बोली—'प्रिय ! जब कभी तुम देखते थे कि मेरी ओर योद्धा, शिकारी, व्याध आ रहे हैं तभी तुम पुत्र-पौत्रोंके साथ बहुत दूर घने जंगलमें चले जाते थे। तब आज तुम प्राण देनेके लिये यहाँ क्यों आकर बैठे हो ? क्या तुम्हें महाराजका भय नहीं है ?' शूकरने उत्तर दिया—'प्रिये ! सुन, मैं बताता हूँ कि क्यों मैं व्याधोंसे डरा करता हूँ और क्यों महाराजके द्वारा प्राण-त्यागके भयसे भीत नहीं हूँ। व्याध यह सुनकर कि यहाँ बहुतसे शूकर हैं, आते हैं। वे पापी और दुष्ट हैं। वे इस दुर्गम स्थानमें आकर पापाचार करते हैं। इन पापियोंके हाथों अपनी मृत्यु न हो, इसी भयसे मैं भाग जाया करता हूँ; क्योंकि उनके हाथों मरनेपर मेरी सद्गति न होगी, पुनः पापका आश्रय लेना पड़ेगा। प्रिये ! अपमृत्युके भयसे ही मैं पहले दूर भाग जाया करता था। परन्तु आज महाराजके दर्शन हुए हैं। ये परम धर्मात्मा राजा हैं। मैं अपने समस्त बल और पौरुषके साथ इनसे युद्ध करूँगा। यदि अपने तेजसे राजाको जीत सका तो संसारमें मेरा यश फैल जायगा और यदि उनके हाथसे मारा गया तो विष्णुलोकमें जाऊँगा। दोनों प्रकारसे मेरे लिये उत्तम अवसर आया है। तब मैं क्यों भागूँ ? पूर्व जन्मोंमें न जाने क्या-क्या पाप किये थे कि शूकर-योनिमें जन्म हुआ। आज मेरे समस्त पाप राजाकी बाण-वर्षासे धुल जायँगे। इसलिये प्रिये ! मेरा स्नेह छोड़कर पुत्र, पौत्र, कुटुम्ब सबके साथ तुम दूरकी किसी सुरक्षित गुफामें चली जाओ। वह देखो साक्षात् विष्णुके समान राजा इधर आ रहे हैं; मैं इनके हाथों मरकर सद्गति प्राप्त करूँगा। आज मेरे भाग्यसे स्वर्गके द्वार मेरे लिये खुल गये हैं। इस अवसरपर चूकना बुद्धिमानी न होगी।'

सुवल्गा बोली—सखियो ! शूकरकी बातोंसे शूकरीको स्वभावतः बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा—'तुम यूथके स्वामी हो। तुम्हींसे इसकी शोभा है। तुम्हारे बल और तुम्हारे ही तेजसे तुम्हारे पुत्र-पौत्र तथा अन्य वराह गर्जन करते हैं। तुम्हारे तेजसे ही उनका तेज है; तुम्हारे बलसे ही उनका बल है। जब तुम उनका त्याग कर दोगे तो वे दीन, हीन, ज्ञानशून्य हो जायँगे। जिस प्रकार सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित होनेपर तथा पिता, माता, भाई, सास, ससुर और दूसरे कुटुम्बियोंसे घिरी होनेपर भी पतिहीना नारी शोभा नहीं पाती; चन्द्रहीन रजनी, पुत्रहीन कुल और दीपहीन गृह जिस तरह कभी शोभा नहीं पाता उसी तरह तुम्हारे बिना यह यूथ शोभा नहीं पायेगा। आचारहीन मनुष्य, ज्ञानहीन यति और मन्त्रीहीन राजाकी जो दशा होती है वही दशा इस यूथकी तुम्हारे बिना होगी। पुत्रगण वेदविहीन द्विजकी तरह दीन हो जायँगे। मृत्युको सुलभ जानकर तुम मेरे ऊपर कुटुम्बका भार सौंपकर चले जाओगे, यह तुम्हारी कैसी प्रतिज्ञा है ? हे प्रिय ! तुम्हारे बिना मैं प्राणधारण न कर सकूँगी। मैं तुम्हारे साथ ही, स्वर्ग, मृत्युलोक या नरक जो मिले उसका भोग करूँगी। इसलिये चलो, जल्द यहाँसे भाग चलें।'

शूकरीने बहुत तरहसे पतिको समझाया, पर शूकर अपने निश्चयसे न डिगा। उसने कहा—'प्रिये ! कातर होकर धर्मसे गिर जाना उचित नहीं है। तुम वीरधर्मको न जाननेके कारण ही ऐसी बातें कर रही हो। मैं ऐसे धर्मात्मा राजाको युद्ध करनेके लिये आते देख भाग नहीं सकता। उनके हाथ मारा गया तो भी मेरा उद्धार हो जायगा।' शूकरने वीरधर्मका विस्तारके साथ बखान किया और युद्धके लिये तैयार हो गया। तब शूकरीने कहा—'मैं भी तुम्हारे निकट रहकर तुम्हारा पराक्रम देखूँगी।'

इसके बाद शूकरीने पुत्र-पौत्रों तथा अन्य

[illegible] झुण्डकर उन्हें तरह-तरहसे समझाया और व्याधोंने घेर डालनेको कहा। वे पुत्र कहने [illegible] तैयार न हुए। उन्होंने कहा—जो पुत्र माता-पिताको इस तरह (विपत्तिमें) छोड़कर चला जाता है, वह दुराचारी होता है। उसने व्यर्थ ही माताका दूध कलङ्कित किया। वह निश्चय ही कीड़ोंसे भरे हुए, मवाद-युक्त (पूयमय) नरकमें जाता है। हे माता! हम आप दोनोंको छोड़कर नहीं जायँगे।' फिर सबने मिलकर व्यूहकी रचना की और राजाके आनेका रास्ता रोकने लगे।

सुकला बोली—इस तरह सब सूअर युद्धके लिये तैयार हो गये। उधर राजाके साथ जो हाँका डालनेवाले थे, उन्होंने राजासे सब समाचार कहा। महाराज इक्ष्वाकुने आज्ञा दी कि उनको बींध डालो और पकड़ लो। राजाकी आज्ञा पा वे लोग युद्धके सामानसे सजकर शिकारी कुत्तोंको साथ लिये हुए आगे बढ़े। राजा भी अपनी सेनाके साथ गङ्गा-तटपर पधारे। उस स्थानकी शोभा अवर्णनीय थी। वन सुगन्धित पुष्पोंसे सुवासित और तरह-तरहके मधुर फलवाले वृक्षोंसे भरा था। वनकी शोभा देखते हुए राजा अपनी प्यारी पत्नी सुदेवाके साथ उस ओर बढ़ने लगे, जिधर शूकरयूथ था। राजाकी आज्ञासे सुशिक्षित और शिकार खेलनेकी कलामें दक्ष व्याधोंने शूकरोंपर भयङ्कर आक्रमण किया। जिस तरह मेघोंके समूह पर्वतपर पानी बरसाते हैं, उसी तरह व्याधोंद्वारा छोड़े हुए बाण और भाले उस शूकरयूथके ऊपर गिरने लगे। क्रुद्ध होकर शूकर सामने निकल आये और भयानक वेगसे टूट-टूटकर शत्रुओंका नाश करने लगे। उनके पैने दाँतोंसे कट-कटकर व्याध समरभूमिपर गिरने लगे। तब राजाने हाथियों और घोड़ोंकी सेना उनके विनाशके लिये भेजी; पर क्रुद्ध शूकर साक्षात् कालके समान हाथियों, घोड़ों और सैनिकोंका विनाश करने लगे। शूकरराज क्षणमें यहाँ, क्षणमें वहाँ दिखायी पड़ता। कभी अदृश्य हो जाता। इस तरह सेनाको कुचलकर, नष्ट-भ्रष्ट कर वह गर्जने लगा। उसकी आँखें लाल हो रही थीं। दाँत बिजलीकी तरह चमक उठते थे। उनके चारों तरफ व्याधों, सूअरों, हाथी-घोड़ोंकी लाशें बिछी हुई थीं। उसकी पत्नी तथा चार-पाँच पुत्र बच गये थे। इस समय पत्नीने फिर उससे भाग चलनेको कहा। तब वह बोला—'प्रिये! मैं भागकर कहाँ जाऊँगा? अब युद्ध-भूमिसे मैं भाग नहीं सकता। अपनी वीरताकी परम्परा-का स्मरण करो। दो सिंहोंके बीचमें शूकर जल पी सकता है, किन्तु दो शूकरोंके बीचमें सिंह जल नहीं पी सकता। शूकरजातिका ऐसा बल होता है। यदि मैं भाग गया तो हमारी ख्याति नष्ट हो जायगी। योद्धा लोभसे या भयसे नहीं भागता। जो रणतीर्थ छोड़कर चला जाता है, वह निश्चय पापी है।' इसके बाद बहुत देरतक वह अपनी पत्नीको वीरधर्मका माहात्म्य बताता रहा। अन्तमें बोला—'मैं युद्धमें भागनेकी कल्पना नहीं कर सकता। मैं आज महाराजसे युद्ध करूँगा—चाहे परिणाम जो हो। तुम बच्चोंको लेकर यहाँसे चली जाओ और सुखपूर्वक जीवन धारण करो।' शूकरी बोली—'प्रिय! मैं तुम्हारे बन्धनमें बँधी हूँ। मैं बच्चोंके साथ तुम्हारे सामने प्राणत्याग करूँगी।' यह कहकर वह भी लड़नेके लिये तैयार हो गयी। वर्षा-कालमें जिस तरह आकाशमें बिजलीकी चमकके साथ बादल गर्जते हैं, उसी तरह कान्तासहित शूकर उस समय गर्जन करने लगा और महाराज इक्ष्वाकुको पैरोंके अगले भागसे चुनौती देने लगा। महाराज उसके चुनौती देते देखकर उसकी ओर दौड़ पड़े। शूकरसे अपनी दुर्जय सेनाको हारती देखकर राजाको उसपर बड़ा क्रोध आया और घोड़ेपर सवार होकर बड़े वेगसे उन्होंने उसकी तरफ प्रस्थान किया। बाणवर्षा करते हुए राजाको आते देख शूकर भी उनकी ओर दौड़ा। शूकर बाणसे घायल होनेके कारण क्रोधसे दाँत कटकटा रहा था। एक बार वह गिर पड़ा परन्तु क्षणभरमें राजाके घोड़ेको घायल करता हुआ उन्हें लाँघ गया। शूकर स्वयं बाणोंसे बिंध गया था पर वहाँसे न हटा। उधर उसके तीखे दाँतोंसे आहत होकर घोड़ा पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब राजाने शूकरपर गदाका भयङ्कर प्रहार

सूअर महाराज इक्ष्वाकुको देखकर पत्नी इत्यादिके साथ पहाड़के एक सुरक्षित हिस्सेमें बैठ गया और अपने पुत्र-पौत्रोंका विचार करके पत्नीसे बोला—'प्रिये ! मनुपुत्र महाबली महाराज इक्ष्वाकु शिकार करते हुए यहाँ घूम रहे हैं। वह मुझे देखकर इस ओर भी आयेंगे और मुझपर आघात करेंगे।' पतिको कातर होते देख शूकरी बोली—'प्रिय ! जब कभी तुम देखते थे कि मेरी ओर योद्धा, शिकारी, व्याध आ रहे हैं तभी तुम पुत्र-पौत्रोंके साथ बहुत दूर घने जंगलमें चले जाते थे। तब आज तुम प्राण देनेके लिये यहाँ क्यों आकर बैठे हो ? क्या तुम्हें महाराजका भय नहीं है ?' शूकरने उत्तर दिया—'प्रिये ! सुन, मैं बताता हूँ कि क्यों मैं व्याधोंसे डरा करता हूँ और क्यों महाराजके द्वारा प्राण-त्यागके भयसे भीत नहीं हूँ। व्याध यह सुनकर कि यहाँ बहुतसे शूकर हैं, आते हैं। वे पापी और दुष्ट हैं। वे इस दुर्गम स्थानमें आकर पापाचार करते हैं। इन पापियोंके हाथों अपनी मृत्यु न हो, इसी भयसे मैं भाग जाया करता हूँ; क्योंकि उनके हाथों मरनेपर मेरी सद्गति न होगी, पुनः पापका आश्रय लेना पड़ेगा। प्रिये ! अपमृत्युके भयसे ही मैं पहले दूर भाग जाया करता था। परन्तु आज महाराजके दर्शन हुए हैं। ये परम धर्मात्मा राजा हैं। मैं अपने समस्त बल और [illegible] साथ इनसे युद्ध करूँगा। यदि अपने तेजसे [illegible] हैं। इस अवसरपर चूकना बुद्धिमानी न [illegible]

सुकला बोली—सखियो ! शूकरकी बातोंसे [illegible] स्वभावतः बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा—[illegible] स्वामी हो। तुम्हींसे इसकी शोभा है। तुम्हारे [illegible] और तुम्हारे ही तेजसे तुम्हारे पुत्र-पौत्र तथा अन्य [illegible] गर्जन करते हैं। तुम्हारे तेजसे ही उनका [illegible] तुम्हारे बलसे ही उनका बल है। जब तुम उनका [illegible] कर दोगे तो वे दीन, हीन, ज्ञानशून्य हो [illegible] जिस प्रकार सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित होनेपर [illegible] पिता, माता, भाई, सास, ससुर और दूसरे [illegible] कुटुम्बियोंसे घिरी होनेपर भी पतिहीना [illegible] नहीं पाती; चन्द्रहीन रजनी, पुत्रहीन कुल और [illegible] गृह जिस तरह कभी शोभा नहीं पाता उसी [illegible] तुम्हारे बिना यह यूथ शोभा नहीं पायेगा। [illegible] मनुष्य, ज्ञानहीन यति और मन्त्रीहीन राजाकी जो [illegible] होती है वही दशा इस यूथकी तुम्हारे बिना [illegible] पुत्रगण वेदविहीन द्विजकी तरह दीन हो [illegible] मृत्युको सुलभ जानकर तुम मेरे ऊपर कुटुम्बका [illegible] सौंपकर चले जाओगे, यह तुम्हारी कैसी [illegible] हे प्रिय ! तुम्हारे बिना मैं प्राण धारण न कर [illegible] मैं तुम्हारे साथ ही, स्वर्ग, मृत्युलोक या नरक [illegible] उसका भोग करूँगी। इसलिये [illegible] [illegible]

[illegible]न्त्रियोंको बुलाकर उन्हें तरह-तरहसे समझाया और सुरक्षित स्थानमें चले जानेको कहा। पर पुत्र वहाँसे नेको तैयार न हुए। उन्होंने कहा—'जो पुत्र माता-ताको इस तरह (विपत्तिमें) छोड़कर चला जाता ', वह घृणाके योग्य है। उसने व्यर्थ ही माताका दूध कलङ्कित किया। वह निश्चय ही कीड़ोंसे भरे हुए भयङ्कर दुर्गन्धयुक्त (पूयमय) नरकमें जाता है। हे माता! हम आप दोनोंको छोड़कर नहीं जायँगे।' फिर सबने मिलकर व्यूहकी रचना की और राजाके आनेका रास्ता देखने लगे।

सुकला बोली—इस तरह सब शूकर युद्धके लिये तैयार हो गये। उधर राजाके साथ जो हाँका डालनेवाले थे, उन्होंने राजासे सब समाचार कहा। महाराज इक्ष्वाकुने आज्ञा दी कि उनको शीघ्र डालो और पकड़ लो। राजाकी आज्ञा पा वे लोग युद्धके सामानसे सजकर शिकारी कुत्तोंको साथ लिये हुए आगे बढ़े। राजा भी अपनी सेनाके साथ गङ्गा-तटपर पधारे। उस स्थानकी शोभा अवर्णनीय थी। वन सुगन्धित पुष्पोंसे सुवासित और तरह-तरहके मधुर फलवाले वृक्षोंसे भरा था। वनकी शोभा देखते हुए राजा अपनी प्यारी पत्नी सुदेवाके साथ उस ओर बढ़ने लगे, जिधर शूकरयूथ था। राजाकी आज्ञासे सुशिक्षित और शिकार खेलनेकी कलामें दक्ष व्याधोंने शूकरोंपर भयङ्कर आक्रमण किया। जिस तरह मेघोंके समूह पर्वतपर पानी बरसाते हैं, उसी [illegible] व्याधोंद्वारा छोड़े हुए बाण और भाले उस शूकरयूथके ऊपर गिरने लगे। क्रुद्ध होकर [illegible] [illegible] और भयानक वेग[illegible]

तरह चमक उठते थे। उसके चारों तरफ व्याधों, शूकरों, हाथी-घोड़ोंकी लाशें बिखरी हुई थीं। उसकी पत्नी तथा चार-पाँच पुत्र बच गये थे। इस समय पत्नीने फिर उससे भाग चलनेको कहा। तब वह बोला—'प्रिये! मैं भागकर कहाँ जाऊँगा? अब युद्ध-भूमिसे मैं भाग नहीं सकता। अपनी वीरताकी परम्परा-का स्मरण करो। दो सिंहोंके बीचमें शूकर जल पी सकता है, किन्तु दो शूकरोंके बीचमें सिंह जल नहीं पी सकता। शूकरजातिका ऐसा बल होता है। यदि मैं भाग गया तो हमारी ख्याति नष्ट हो जायगी। योद्धा लोभसे या भयसे नहीं भागता। जो रणतीर्थ छोड़कर चला जाता है, वह निश्चय पापी है।' इसके बाद बहुत देरतक वह अपनी पत्नीको वीरधर्मका माहात्म्य बताता रहा। अन्तमें बोला—'मैं युद्धमें भागनेकी कल्पना नहीं कर सकता। मैं आज महाराजसे युद्ध करूँगा—चाहे परिणाम जो हो। तुम बच्चोंको लेकर यहाँसे चली जाओ और सुखपूर्वक जीवन धारण करो।'

शूकरी बोली—'प्रिय! मैं तुम्हारे बन्धनमें बँधी हूँ। मैं बच्चोंके साथ तुम्हारे सामने प्राणत्याग करूँगी।' यह कहकर वह भी लड़नेके लिये तैयार हो गयी। वर्षा-कालमें जिस तरह आकाशमें बिजलीकी चमकके साथ बादल गर्जते हैं, उसी तरह कान्तासहित शूकर उस समय गर्जन करने लगा और महाराज इक्ष्वाकुको वैरीके अगले भागसे चुनौती देने लगा। महाराज उसको चुनौती देते देखकर उसकी ओर दौड़ पड़े। शूकरने [illegible] सेनाको हारती देखकर राजाको ऊपर [illegible] घोड़ेपर सवार होकर वह वेगसे [illegible] किया। [illegible] करते हुए [illegible] और दौड़ा। [illegible] दाँत कटकटा [illegible] उसने राजाके [illegible]

सूअर महाराज इक्ष्वाकुको देखकर पत्नी इत्यादिके साथ पहाड़के एक सुरक्षित हिस्सेमें बैठ गया और अपने पुत्र-पौत्रोंका विचार करके पत्नीसे बोला—'प्रिये ! मनुपुत्र महाबली महाराज इक्ष्वाकु शिकार करते हुए यहाँ घूम रहे हैं। वह मुझे देखकर इस ओर भी आयेंगे और मुझपर आघात करेंगे।' पतिको कातर होते देख शूकरी बोली—'प्रिय ! जब कभी तुम देखते थे कि मेरी ओर योद्धा, शिकारी, व्याध आ रहे हैं तभी तुम पुत्र-पौत्रोंके साथ बहुत दूर घने जंगलमें चले जाते थे। तब आज तुम प्राण देनेके लिये यहाँ क्यों आकर बैठे हो? क्या तुम्हें महाराजका भय नहीं है?' शूकरने उत्तर दिया—'प्रिये ! सुन, मैं बताता हूँ कि क्यों मैं व्याधोंसे डरा करता हूँ और क्यों महाराजके द्वारा प्राण-त्यागके भयसे भीत नहीं हूँ। व्याध यह सुनकर कि यहाँ बहुतसे शूकर हैं, आते हैं। वे पापी और दुष्ट हैं। वे इस दुर्गम स्थानमें आकर पापाचार करते हैं। इन पापियोंके हाथों अपनी मृत्यु न हो, इसी भयसे मैं भाग जाया करता हूँ; क्योंकि उनके हाथों मरनेपर मेरी सद्गति न होगी, पुनः पापका आश्रय लेना पड़ेगा। प्रिये ! अपमृत्युके भयसे ही मैं पहले दूर भाग जाया करता था। परन्तु आज महाराजके दर्शन हुए हैं। ये परम धार्मिक राजा हैं। मैं अपने समस्त बल और तेजके साथ इनसे युद्ध करूँगा। यदि अपने तेजसे

है। इस अवसरपर चूकना बुद्धिमानी

सुकला बोली—सखियो ! शूकरकी बातें स्वभावतः बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा— स्वामी हो। तुम्हींसे इसकी शोभा है। तुम्हारे और तुम्हारे ही तेजसे तुम्हारे पुत्र-पौत्र तथा अन्य गर्जन करते हैं। तुम्हारे तेजसे ही उनका तुम्हारे बलसे ही उनका बल है। जब तुम उनका कर दोगे तो वे दीन, हीन, ज्ञानशून्य हो जिस प्रकार सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित होने पिता, माता, भाई, सास, ससुर और दूसरे कुटुम्बियोंसे घिरी होनेपर भी पतिहीना नारी नहीं पाती; चन्द्रहीन रजनी, पुत्रहीन कुल और गृह जिस तरह कभी शोभा नहीं पाता उसी तुम्हारे बिना यह यूथ शोभा नहीं पायेगा। अ मनुष्य, ज्ञानहीन यति और मन्त्रीहीन राजाकी होती है वही दशा इस यूथकी तुम्हारे बिना पुत्रगण वेदविहीन द्विजकी तरह दीन हो मृत्युको सुलभ जानकर तुम मेरे ऊपर कुटुम्ब सौंपकर चले जाओगे, यह तुम्हारी कैसी हे प्रिय ! तुम्हारे बिना मैं प्राण धारण न कर मैं तुम्हारे साथ ही, स्वर्ग, मृत्युलोक या नरक उसका भोग करूँगी। इसलिये चलो,

किया । इस बार वह चोट न सह सका और पृथ्वीपर गिरकर उसने देहलीला समाप्त की । देवताओंने पुष्प-वर्षा की । मरनेके बाद राजाके स्पर्श करते ही वह चतुर्भुज हो गया और दिव्य तथा तेजोमय रूपमें सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे युक्त होकर देवलोकको चला गया । वहाँ इन्द्रादि देवताओंने उसकी पूजा-अभ्यर्थना की । वह पूर्वशरीर छोड़कर पुनः गन्धर्वराजके रूपमें विराजमान हुआ ।

सुकलाने कहा—शूकरराजकी यह सद्गति देखकर शूकरीने भी पतिका अनुसरण करनेका विचार किया । उसके साथ उसके चार पुत्र अब भी बचे थे । उसने सोचा—ये बच जायँ तो इनके द्वारा पतिके वंशकी रक्षा होती रहेगी । यह सोचकर उसने उनमेंसे सबसे बड़े लड़केको अपने तीनों भाइयोंके साथ वहाँसे चले जानेको कहा । बड़े लड़केने वीरतापूर्वक उत्तर दिया—'माँ ! यदि मैं जीवनकी आशासे जननीको इस प्रकार छोड़कर भाग जाऊँ तो मुझे धिक्कार है । मैं पिताके शत्रुका संहार करूँगा ।' अन्तमें बड़े आग्रहके बाद छोटे तीनों लड़के वहाँसे दूसरे जङ्गलमें चले गये और माता-पुत्र युद्धभूमिमें आकर हुंकार करने लगे । राजाकी आज्ञासे बहुतसे व्याध, योद्धा उनसे लड़ने गये परन्तु उनके सामने ठहर न सके । पृथ्वीपर लाशें बिछ गयीं । अन्तमें महाराज स्वयं शूकर-पुत्रसे लड़नेके लिये आगे आये । घोर युद्ध हुआ । तब राजाने अर्द्धचन्द्राकार बाण चलाकर उसे मारा । वक्षःस्थलमें बाण लगते ही वह पृथ्वीपर गिर पड़ा और मर गया । पुत्र-शोकसे शूकरी उसकी लाशपर गिर पड़ी । फिर सँभलकर उठी और उसने ऐसा भयङ्कर युद्ध किया कि सैनिक और व्याधगण त्राहि-त्राहि करने लगे । यह दृश्य देखकर रानी सुदेवाने पतिसे पूछा—'महाराज ! यह शूकरी क्रुद्ध होकर भयङ्कर वेगसे हमारी सेनाका नाश कर रही है । आप इसकी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? क्यों नहीं इसे मारते ?' महाराजने उत्तर दिया—'प्रिये ! यह व मैं इसे नहीं मारूँगा । स्त्री-वधको महापाप कहा ग इसीसे मैं इसे नहीं मार रहा हूँ, न इसे मारनेके किसीको प्रेरणा ही करता हूँ । हे सुन्दरी ! इसके पाप होगा ।' राजा यह बात कहकर चुप ही हु कि उधर झार्झर नामक एक व्याध शूकरीको म करते देख क्रुद्ध हो उठा । उसने देखा—बड़े-बड़े योद्धा भी उसके सामने टिक नहीं पाते हैं । यह उसने एक बड़ा ही पैना बाण उसे मारा । घायल होकर उसपर झपट पड़ी और उसने झा पछाड़ डाला । परन्तु गिरते-गिरते झार्झरने शूक तलवारसे बुरी तरह आहत कर दिया । शूकरी पृथ्वीपर गिर पड़ी और बेहोश हो गयी ।

रानी सुदेवाने जब पुत्रवत्सला शूकरीको पृथ्व गिरकर बेहोश होते देखा तो उसके पास गयी और उ घावोंको धोया तथा उसके मुँहमें ठंडा पानी डाल रानीका स्पर्श होने और मुँहमें जल पड़नेसे शूकरी होश आया और वह मनुष्योंकी भाषामें बोली—'देवि तुमने मुझे अभिषिक्त किया अतएव तुम सदा सु रहो । आज तुम्हारे स्पर्शसे मेरे समस्त पाप नष्ट गये ।' पशुके मुँह शुद्ध देववाणी सुनकर रानी चकि हो गयी । और पतिसे बोली—'महाराज ! ऐसी आश्च जनक बात तो मैंने कभी देखी न थी । पशुयोनि जन्म लेकर भी यह शूकरी मनुष्यकी तरह शुद्ध भाषा बात करती है ।' राजाको भी बड़ा आश्चर्य हुआ रानीने उस शूकरीसे पूछा—'तुम कौन हो ? तुम प होकर भी मनुष्योंकी वाणीमें बोलती हो । इससे मुझे बड़ आश्चर्य होता है । अवश्य ही इसमें कुछ रहस्य है । यदि तुम्हें आपत्ति न हो तो तुम अपनी और अपने वीर स्वर्गीय पतिके पूर्वजन्मकी कथा मुझे सुनाओ ।'

(क्रमशः)

तुम्हारे मनको निर्मल कर देगा और आचरणों-को शुद्ध बना देगा। साथ ही प्रेममें यह शक्ति है जो दो व्यक्तियोंको आपसमें खींचकर मिला दिया करती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी लिखा है—'जेहिकर जेहिपर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥' अस्तु, जैसे-जैसे तुम्हारा प्रेम ईश्वरके प्रति बढ़ता जायगा, वैसे-ही-वैसे उसका भी प्रेम तुम्हारे ऊपर बढ़ता जायगा। इस प्रकार धीरे-धीरे तुम ईश्वरके निकट और ईश्वर तुम्हारे निकट आता जायगा। अन्तमें जब तुम्हारा प्रेम उस दर्जेतक पहुँच जायगा जहाँ ईश्वरके सिवा और किसी चीज़का ध्यान ही नहीं रहता, तब तुम देखोगे कि तुम्हारे मनमें ईश्वरका स्वरूप इस प्रकार झलकने लगता है जैसे एक साफ़ आईनेमें चन्द्रमाका स्वरूप। इस प्रकार तुम्हे ईश्वरका दर्शन हो जायगा। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि और ईश्वरभक्तोंने भी उसके इसी प्रकार दर्शन किये हैं। एक बार ईश्वरका दर्शन कर लेनेपर फिर मनुष्यको किसी चीज-की चाहना नहीं रह जाती और वह जीवन्मुक्त हो जाता है, अर्थात् वह संसारके तमाम बन्धनोंसे छूट जाता है।

केशव—लेकिन पिताजी, हमारा प्रेम यदि उस दर्जेतक न पहुँचे तब क्या होगा?

पिता—तब भी तुम्हारा कल्याण ही होगा। इस प्रकारके काम कभी व्यर्थ नहीं जाते। जितना गहरा ईश्वरके प्रति तुम्हारा प्रेम होगा, उतना ही ऊँचा और सफल तुम्हारा जीवन भी बन जायगा।

केशव—ठीक है, अब मैं समझ गया।

पिता—अच्छा तो आज मैं तुम्हें एक छोटा-सा गीत ईश्वरकी प्रार्थनाके लिये सिखाता हूँ। इसे समझो और याद कर लो। और अभी कुछ दिनतक रोज सन्ध्या और सबेरे इसीको गाकर उसकी प्रार्थना किया करो। गीत यह है—

(१)

हे ईश्वर यह अद्भुत सा[री]
कैसी कारीगरी तुम्हा[री]

सूरज, चन्द्र और ये तारे।
हैं अकाशमें दीपक वारे॥
बादल भी ये सभी रँगीले।
सुर्ख सुनहरे नीले पीले॥
दिखलाते शोभा नित न्यारी!
कैसी कारीगरी तुम्हारी!!

(२)

माली बीज बाग़में बोता।
उससे पेड़ बड़ा-सा होता॥
डालें फूल-फूल फल लातीं।
जिनमें लाखों बीज जमातीं॥
एक बीजका अचरज भारी!
कैसी कारीगरी तुम्हारी!!

(३)

जो-जो हम पदार्थ हैं खाते।
स्वाद जीभपर वे दिखलाते॥
फिर वे आँतोंमें हैं जाते।
लोहू बनते ताक़त लाते॥
अद्भुत है मशीन बलिहारी!
कैसी कारीगरी तुम्हारी!!

(४)

हे प्रभु! हमपर दया दिखाओ।
बुद्धि हमारी शुद्ध बनाओ॥
मुझमें अपना प्रेम जमाओ।
शरण तुम्हारी हूँ, अपनाओ॥
आँख खोलती रहे हमारी!
भगवन्! कारीगरी तुम्हारी!!

केशव—इसे तो मैं बड़ी आसानीसे याद कर लूँगा, और इसीको गाकर रोज प्रार्थना किया करूँगा।

पिता—और जिस तरह ईश्वरकी कारीगरीके कुछ नमूने इसमें दिखाये गये हैं, उसी तरह दूसरी चीजोंमें भी उसकी कारीगरीके नमूने देखना आरम्भ करो।
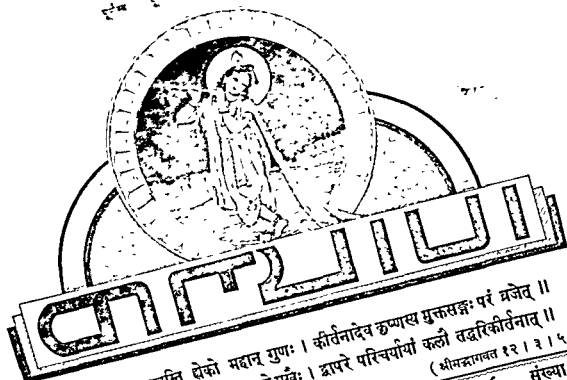
केशव—हाँ, हाँ अवश्य करूँगा।

जानकी-वर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, दिसम्बर १९४१ सौर मार्गशीर्ष १९९८ { संख्या ५
पूर्ण संख्या १८५

जानकीवर

जानकी-बर सुंदर, माई ।
इंद्रनील-मनि-स्याम सुभग, अँग अंग मनोजनि बहु छबि छाई ॥ १ ॥
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत, कछुक अरुनाई ।
कंजदलनिपर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सुसदसि बनाई ॥ २ ॥
× × × ×
भाल तिलक, कंचन किरीट सिर, कुंडल लोल कपोलनि झाँई ।
निरखहिं नारि-निकर बिदेहपुर निमि नृपकी मरजाद मिटाई ॥ ९ ॥
सारद-सेस-संभु निसि बासर चिंतत रूप, न हृदय समाई ।
तुलसिदास सठ क्यों करि बरनै, यह छबि निगम नेति कहि गाई ॥ १० ॥

—तुलसीदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ।

(अथर्व० १७ । १ । २७)

मुझे सिद्धोंकी सुगति मिले !
रहूँ सहस्र वर्षतक जीवित, एक न बाल हिले । ढक लूँ मैं अपने आत्माको, प्रभुका ब्रह्मकवच मिले ।
कश्यप पश्यक रवि प्रकाशसे मेधा मनकी कली खिले ; प्राण प्रकाशित रहें तेजसे, दीर्घ आयुतक शक्ति रहे ;
सञ्चित सकल सफल बल मेरा विमला मनकी गैल गहे ; सुकृत पवित्र कर्मरत जीवन दिव्य गुणोंका धाम बने ;
विकसित आत्म-सुमन सौरभसे संसृतिका सर्वस्व सने ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

(यजु० ४० । ८)

वह तेजयुक्त, वह दीप्तिमान !
वह देह-रहित, वह स्नायु-रहित, वह व्रण-विहीन शोभा-निधान !
वह पाप-रहित, वह शुद्ध सतत, वह विश्व-व्याप्त, वह आप्तकाम ।
वह कवि सबके मनका स्वामी, सबसे उसका है उच्च धाम ;
वह देव स्वयम्भू देता है, शाश्वती प्रजाहित फल समस्त ।
कर रहा विभाजन ठीक-ठीक, वह आदिकालसे न्याय-न्यस्त ।

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ।

(ऋ० ४ । ३ । २१)

आओ प्राण ! आओ प्राण !
रोम-रोममें रम जाओ प्रिय ! कर मेरा कल्याण । तुम आत्मिक ऐश्वर्य लिये हो राजरोगसे दूर ।
दिनकर गति रमणीय साथ ले, सेवाव्रतमें चूर । प्यासे चातक-सी मम मति गति तुम्हें चाहती आज ।
दिव्य पदार्थोंके हम वरलें, वरलें प्रिय सुख साज ।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ।

(अथर्व० १ । ३४ । २)

जिह्वाके आगे मिठास हो, जिह्वाकी जड़में मधु स्रोत । मेरे कर्म विचार बुद्धिमें, चित्तमें मधु हो ओत प्रोत ।

कल्याण

अंधेकी तरह इधर-उधर ठोकरें खाकर इस महामूल्य मानव-जीवनको व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो, क्यों रात-दिन दुःखोंसे छटपटाते हो? आठों पहर सुखके लिये हाय! हाय! करते हो—सोते-जागते सब समय प्रमादमें पड़े तड़पते रहते हो, कहीं भी मिला सुख? जिसको भी सुख समझकर छातीसे लगाने जाते हो, वही दुःखकी ज्वालासे तुम्हें झुलस देता है। जहाँ भी सुखकी कल्पना करते हो, वहीं दुःखकी चट्टानसे टकराकर चूर-चूर हो जाते हो। मानमें-यशमें, धनमें-जनमें, स्त्रीमें-स्वामीमें, पुत्रमें-कन्यामें कहीं भी दर्शन हुए सुखके? कहीं नहीं! सभी जगह दुःख-ज्वाला है, सभी जगह भय-चिन्ता है! तो क्या यहाँसे हट जानेपर सुख मिलेगा?

हटकर कहाँ जाओगे? जहाँ जाओगे, वहीं यही मिलेगा। हटनेकी जरूरत नहीं है। जरूरत है इस सत्यको समझ लेनेकी कि एकमात्र भगवान्में ही परम सुख है और वे भगवान् सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण हैं। जब इस सत्यका साक्षात्कार हो जायगा, तब सभी देश, सभी काल और सभी अनुकूल-प्रतिकूल दीखनेवाली परिस्थितियोंमें तुम्हें भगवान्के दर्शन होंगे। तभी तुम—इस प्रकार सब ओरसे सब समय उन्हें पाकर ही तुम यथार्थ सुखकी उपलब्धि कर सकोगे।

जगत्में तुम जो इतने जल रहे हो; सर्वत्र ही जो अभाव, भय, दुःख और विनाश-का ताण्डव नृत्य दिखायी पड़ रहा है—इसका कारण यही है कि तुम भगवान्से शून्य जगत्को देखते हो। जहाँ भी भगवान्का अभाव माना जाता है, वहीं तमाम अभाव, तमाम भय, तमाम दुःख और तमाम विनाश अपनी सारी भयानक सेनाको साथ लिये डेरा डाले पड़े रहते हैं। इन शत्रुओंके घेरेसे तुम तबतक नहीं निकल सकते, जबतक कि तुम भगवान्को सर्वत्र परिपूर्ण समझकर उनके दर्शन न पा लो।

भगवान् सर्वत्र हैं, इसलिये नित्य तुम्हारे साथ हैं। उनको देखकर सदाके लिये सुखी हो जाओ! तुम ऐसा कर सकते हो। सत्यस्वरूप तुमको सत्यकी प्राप्तिका पूर्ण अधिकार है। यह तो तुम्हारा ही स्वरूप है।

'शिव'

पूजाका परम आदर्श

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

[तान्त्रिक दृष्टिसे]

(१)

अध्यात्मपथके प्रत्येक साधकको पूजा, जप और ध्यान आदि विषयोंका थोड़ा-बहुत व्यावहारिक ज्ञान होता है; क्योंकि साधारण ज्ञान हुए विना किसी भी कार्यमें प्रवृत्त होना सम्भव नहीं। अवश्य ही सम्प्रदायभेद और साधकके अधिकारगत तारतम्यके अनुसार इन सब विषयोंमें नाना प्रकारकी विचित्रताएँ होती हैं। विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थोंमें इस सम्बन्धमें आलोचनाएँ मिलती हैं। यहाँ हम उन सब विस्तृत आलोचनाओंमें प्रवेश करना नहीं चाहते। केवल तान्त्रिक साधनाकी दृष्टिसे पूजा और जपके सम्बन्धमें दो-एक आवश्यक विषयोंपर विचार करते हैं। आशा है क्रियाशील पाठकगण इस संक्षिप्त आलोचनासे वक्तव्य विषयका मर्म ग्रहण कर सकेंगे।

अब पहले पूजाके रहस्यके सम्बन्धमें विचार करें। साधकमात्रके लिये पूजातत्त्वका आदर्श और सूक्ष्म विज्ञान जानना आवश्यक है। पूजातत्त्वका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर साधक अपने शिवत्वका अनुभव करके जीवन्मुक्तिके आनन्दका आस्वादन कर सकता है। आलोचनाकी सुगमताके लिये तन्त्रशास्त्रमें देवी-पूजाको साधारणतः उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जाता है। इन तीन प्रकारकी पूजाओंको कहीं-कहीं 'परा', 'परापरा' और 'अपरा' कहा गया है। यहाँ प्रसङ्गवश यह कहा जा सकता है कि अपरा अथवा अधम पूजाकी अपेक्षा भी निम्नकोटिकी पूजा है। व्यवहारक्षेत्रमें साधारणतः जिस प्रकारकी पूजा प्रचलित है, वह उन-उन अधिकारियोंके आध्यात्मिक विज्ञानकी दृष्टिसे सर्वथा उपयोगी होनेपर भी निम्नतम अर्थात् चौथी श्रेणीकी या अधमाधम कोटिकी पूजाके अन्तर्गत ही है—इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे यह प्रतीत होगा कि वर्तमान कालमें जगत्में आध्यात्मिक अधिकार-सम्पत्तिका इतना ह्रास हो गया है कि साधारणतः हमारे अंदर अधिकांश लोग इस समय भगवत्पूजाकी अधम कोटिमें भी प्रवेश करने योग्य नहीं रह गये हैं। कारण कुण्डलिनीकी सुषुप्ति भङ्ग हुए विना, अर्थात् जीवके अनादि मायाके आवरणसे ढके रहनेतक, उसे अधम पूजाका अधिकार भी नहीं प्राप्त होता। सोयी हुई महाशक्तिकी दृष्टि जबतक नहीं खुल जाती तबतक चिन्मय जगत्में प्रवेश और सञ्चार तो हो ही नहीं सकता, उसका द्वारतक नहीं खुलता। इस समयकी प्रचलित प्रायः सभी बाह्य साधनाएँ इस द्वारमुक्तिके लिये ही विभिन्न प्रकारकी चेष्टामात्र हैं। 'परा' पूजा ही यथार्थ पूजा है। निम्नकोटिकी पूजाएँ तो इस परम पूजाका अधिकार प्राप्त करनेके सोपानमात्र हैं। इसीलिये हम यहाँ प्रसङ्गतः अधम और मध्यम श्रेणीकी पूजापर संक्षेपमें विचार करके तन्त्रप्रतिपादित उत्तम पूजाका रहस्य समझनेकी ही यत्किञ्चित् चेष्टा करेंगे।

'पूजा' शब्दसे यहाँ किसी मनुष्य, देवता और ऋषि आदिकी पूजाका लक्ष्य नहीं है। जिनसे सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति हुई है, जिनमें समस्त जगत् स्थित है और प्रलयकालमें समग्र जगत् जिनके अंदर लौट जाता है—एकमात्र वे परमतत्त्व ही पूजाके योग्य हैं। हम यहाँपर उन्हींकी पूजाके श्रेष्ठ आदर्शपर विचार करना चाहते हैं। उस परम पदार्थको लोग भगवान्, भगवती, परब्रह्म और परमात्मा आदि विभिन्न नामोंसे निर्देश

करते हैं। [illegible] उनके [illegible] और [illegible] हैं। इन्होंने [illegible] प्रचार है। वस्तुतः द्वैतभाव-
के [illegible] [illegible] प्रकाशसे [illegible] [illegible] सम्प्रदायोंने जो साधनकी स्थिति है,
हैं। वे [illegible] विश्वसे अतीत हैं। वे [illegible] वही वस्तुतः पूजा कहलाने योग्य है। इस पूजाका
अभिन्न होकर भी [illegible] ही विश्वसे [illegible] प्रकाशमें [illegible] अधिकार प्राप्त हो जानेपर फिर इससे स्खलन नहीं
प्रकाशमय हैं; क्योंकि उन्हींके प्रकाशसे समस्त होता। उपर्युक्त श्लोकमें 'परामर्श' शब्दसे यही
जगत् प्रकाशमय है। उनमें उनकी स्वरूपभूता 'विमर्श' सूचित किया गया है। अतएव जिनको लोग अद्वैतस्थिति
नामक स्वाभाविक नित्य अभिन्नशक्तिको निरन्तर रहती कहते हैं, वह परमशिवरूपी आत्माकी समष्टिमें ही
है। इस शक्तिके न रहनेसे वे प्रकाशस्वरूप होकर स्थित है और वही परमपूजाका स्वरूप है।
भी स्वप्रकाश नहीं हो सकते। इसीको अद्वैतवादी आगमशास्त्र 'परावाक्' कहते हैं—

याऽऽद्या चेतुन्मामेदव्यापस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥

परमेश्वरकी स्वरूपभूता इस विमर्शशक्तिकी ही पूजा हुआ करती है। व्यवहारमें इसीको परमेश्वरकी पूजा कहा जाता है, क्योंकि यह शक्ति परमेश्वरसे सब प्रकार और सर्वदा अभिन्न है। शक्तिनिरपेक्षरूपसे परमेश्वरकी पूजा, ध्यान और जप आदि कुछ भी नहीं हो सकता। कारण—

शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।

अर्थात् शक्तिकी उपेक्षा करनेपर (यद्यपि उपेक्षा की जा सकती ही नहीं) परमशिवमें नाम आदि किसी भावका सम्बन्ध ही नहीं रह सकता।

परमशिवके साथ अपने अभेद-अनुभवको ही परा पूजा कहते हैं। साधक जब अपनेको मायाके अधीन परिच्छिन्न प्रमाता न समझकर अपरिच्छिन्न प्रमाता परमेश्वररूपसे अनुभव करता है, तभी वह महाशक्तिका सर्वश्रेष्ठ उपासक माना जाता है।

सङ्केतपद्धति नामक ग्रन्थमें कहा है—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिता निदाघ।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः॥

तात्पर्य यह कि बाह्य जगत्में पुष्प चन्दनादि विभिन्न उपचारोंसे जो पूजा की जाती है, वह मुख्य पूजा नहीं

यह पूजा अद्वैतभावमें स्थित होकर और सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापारोंका आश्रय करके की जाती है। इस अवस्थामें बाहर या भीतर किसी भी विषयमें मनकी प्रवृत्ति होनेपर भी उसमें सम्पर्कके लिये अवकाश नहीं रहता। कारण, सर्वव्यापक परावस्था या परमेश्वरकी स्वरूपभूतसत्ता विषयमात्रके अंदर सर्वदा वर्तमान रहती है। उसकी सत्तासे ही विषयकी सत्ता और उसके प्रकाशसे ही विषयका प्रकाश है। यह आगम और निगममें सर्वत्र प्रसिद्ध है। परमेश्वरकी चैतन्य-शक्ति ही इन्द्रियपथोंके द्वारा समस्त विषयोंमें अभिव्यक्त होती है। इस अवस्थाकी सम्यक् प्रकारसे प्राप्ति हो जानेपर विषयमात्रसे अचित्-भाव मिट जाता है, उनकी जडता कट जाती है—तब एकमात्र अखण्ड स्वयंप्रकाश चैतन्यकी अद्वैत अनुभूति ही रहती है। कहना न होगा कि यह स्वप्रकाश चैतन्यके स्वरूपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह अन्तःकरणकी वृत्ति नहीं है।

मध्यम श्रेणीकी पूजामें इस प्रकारकी अद्वैतानुभूति विशुद्धरूपमें नहीं रहती। कारण, 'बाह्य जड पदार्थ आभ्यन्तरिक चिन्मय स्वरूपमें या अद्वैतरूपमें विलीन हुए जा रहे हैं' बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी भावना ही मध्यम पूजाका लक्षण है। इस पूजाके फलस्वरूप चिद् वस्तुमें अचिद् वस्तुका लय हो जाता है। उत्तम पूजामें भावनाकी आवश्यकता नहीं रहती; परन्तु जबतक इस चरमस्थितिका उदय न हो तबतक पूजामें भावनाकी प्रधानता न रहना सम्भव नहीं।

बाह्य चक्र, आवरण आदिकी रचना करके अपरा पूजा की जाती है। अतएव इसमें सदा-सर्वदा भेदज्ञान रहता ही है—यह बतलाना व्यर्थ है। इसलिये पूजामार्गमें अग्रसर होनेवाले साधकको पहले बाह्यपूजासे साधना आरम्भ करनी पड़ती है, फिर क्रमशः आन्तर पूजा-भावनामेंसे होते हुए अन्तिम भूमिकामें विशुद्ध आन्तर पूजाका अधिकार प्राप्त करना पड़ता है। इससे समझमें आ गया होगा कि प्रथम पूजाका आधार भेदज्ञान है, द्वितीय पूजामें भेदज्ञानका थोड़ा-सा उपशम होता है और भावनाके द्वारा अभेदज्ञानकी सूचना की जाती है एवं तृतीय अथवा श्रेष्ठ पूजामें भेदज्ञानका लेश भी नहीं रहता। उस समय केवल अभेद या अद्वैतबोध ही रह जाता है।

हम जिस चक्रपूजाकी बात कह आये हैं, वह इष्ट-देवताके तारतम्यके अनुसार नाना प्रकारकी होनेपर भी मूलतः एक ही है। सभी चक्रोंका प्रारम्भ चतुष्कोणसे होता है और समाप्ति बिन्दुमें होती है। वस्तुतः सभी देवताओंके चक्र मूलाधारसे लेकर सहस्रारतकके सात चक्रोंका वासनानुकूल विकास और विस्तारमात्र हैं। यहाँ 'चतुष्कोण' शब्दसे मूलाधार और 'बिन्दु' शब्दसे सहस्रार समझना चाहिये। इस चक्रपूजाके अंदर अपने इष्ट-देवताके आवरणरूपमें सभी देवताओंकी पूजाका विधान है। यह अपरा पूजा तीसरी श्रेणीकी होनेपर भी उपेक्षाके योग्य नहीं है। क्योंकि तान्त्रिक सिद्धाचार्योंने कहा है कि परमेश्वर स्वयं सर्वज्ञ होनेपर भी नित्य-निरन्तर महाशक्तिकी यह अपरा पूजा किया करते हैं। इसीसे समयपर अभेदज्ञानका आविर्भाव होता है। इसलिये अभेदज्ञानसम्पत्तिकी प्राप्ति चाहनेवाले ज्ञानी साधक-मात्रको सर्वदा अपरा पूजा करनी चाहिये। इस श्रेणीकी पूजाका विधिपूर्वक और नियमपूर्वक अनुष्ठान करनेपर इसीके द्वारा साधक मध्यम पूजाका अधिकार प्राप्त करनेमें [illegible]

बाह्य तथा भेदमयी अवस्था क्रमशः भावनाके क्रमिक उत्कर्षके द्वारा ज्ञानमय अथवा अद्वैतबोधमय स्वरूपमें विलीन हो जाती है। जब दृढ़ भावनाके फलस्वरूप कर्म ज्ञानका रूप धारण करने लगता है, ठीक उसी समय मध्यमपूजाके अनुष्ठानकी सूचना मिलती है। प्रज्वलित अग्निमें जिस प्रकार घीकी आहुति दी जाती है, ठीक उसी प्रकार अर्चनाके द्वारा अपनी विकल्पात्मक प्रकृतिको अखण्ड प्रकाशस्वरूप चिदानन्दघन परमेश्वरकी परम ज्योतिमें निक्षेप करना पड़ता है। यही मध्यम पूजाका रहस्य है। साधनके बलसे इसके सिद्ध होनेपर परम-पूजाकी महिमा अपने-आप ही फूट पड़ती है। देहके ऊर्ध्वभागमें ब्रह्मरन्ध्रनामक स्थानमें सहस्रदलविशिष्ट शुभ्र वर्णका अधोमुख अकुल पद्म है, उसके बीचमें 'निष्कला' शक्ति विराजमान है, जिसके गर्भमें सूक्ष्म दृष्टिसे अनन्त शक्तियोंकी सत्ता अनुभव की जाती है। इन सब शक्तियोंके बीच 'व्यापिनी' नामकी एक शक्ति या कला है। इसके द्वारा ऊपरसे नीचेकी ओर अमृत झरता रहता है। इस महापद्मवनके ऊपर 'समना' रूपी तिरोधानशक्तिका अधिष्ठान है। मनकी गति यहींतक हो सकती है। इसके ऊपर मनोराज्यकी क्रिया सञ्चारित नहीं होती। इस पद्मकी भीतरी कर्णिकामें 'वाग्भव' नामक एक त्रिकोण है, जहाँसे परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये चार प्रकारकी वाणियाँ निकलती हैं। जिसे भक्त साधक गुरुपादुकाके नामसे वर्णन करते हैं, वह इसी त्रिकोणके भीतर अवस्थित है। विश्वगुरु परम शिवकी पादुका ही गुरुपादुका है, यही तन्त्रका सिद्धान्त है।

गुरुपादुका 'पर' और 'अपर' भेदसे दो प्रकारकी है। इनमें स्वप्रकाश परमशिव, उनकी स्वरूपभूता विमर्शशक्ति तथा इन दोनोंका सामरस्य—ये तीन पद पादुकाके भेद हैं

स्वस्वरूपावमर्शनोत्सुकैः [illegible] नमः ।
तद्विमर्शनानुरञ्जक [illegible] पदा
सामरस्यमनुरञ्जितं [illegible]
पादुका परशिवानन्दनी गुरोः ॥

इस गुरुपादुकासे निरन्तर क्षरित चन्द्राग्निके उन्नत घनीभूत चिद्रस या परमानन्दको पान करती हुई चराचर जगत्को आस्वादित और अनुप्राणित करती है। यहाँ साधककी अपनी आत्मा है।

इसके पश्चात् प्रसाद ग्रहण करनेकी व्यवस्था है— जिसके फलस्वरूप परमेश्वरके साथ साधककी सोऽहं-रूपमें अद्वैतभावना प्रतिष्ठित होती है। यही यथार्थ अमृत है, इसके अभिव्यक्त होनेपर साधक परमानन्द-मय अद्वैतभावमें स्थिति प्राप्त करता है। तन्त्रके मतसे गुरुप्रसाद तथा उसके ग्रहणका फल इस प्रकार है—

> स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो
> यः प्रसीदति पदार्थमस्तके ।
> तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं
> प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः ॥

शिवरूपी गुरु स्वप्रकाशरूपसे पदार्थमस्तकमें जब प्रसन्न होते हैं, तब सभी तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं अर्थात् चिदात्मरूपमें अनुभूत होते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि परमानन्दकी प्राप्ति इसका स्वाभाविक फल है। अर्थात् परमेश्वरके साथ अद्वैतभाव ही गुरुप्रसाद है। इसे अङ्गीकार करनेपर स्वाभाविक ही परमानन्द समुल्लसित हो उठता है। यही पशुपूजा-का रहस्य है।

(२)

उत्तमपूजाके जो लक्षण ज्ञानीजनोंके समाजमें प्रचलित हैं, उनका तात्पर्य उपर्युक्त विवरणसे कुछ ज्ञात हो सकता है। 'समस्त ज्ञेय पदार्थोंकी चिद्भूमिमें विश्रान्ति ही पूजा कहलाती है।' ऋजुविमर्शिनीके इस लक्षणके साथ ही 'गुरुको अपने आत्मरूपमें भावना करना ही पूजा है', अथवा 'निर्विकल्पक महाकाशमें अवस्थित रूप होना ही पूजा है' —— पादुकेश्वरप्रभृति ग्रन्थोंके इन पूजालक्षणोंमें कोई विशेष भिन्नता नहीं है। श्रीमत् शङ्कराचार्यविरचित 'शिवमानसपूजास्तोत्र' के एक श्लोकमें इस भावका किञ्चित् आभास पाया जाता है—

> आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
> पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
> सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
> यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

हे शम्भो ! मेरी आत्मा तुम्हीं हो; मेरी बुद्धि तुम्हारी शक्तिरूपिणी पार्वती हैं; मेरे सारे प्राण अर्थात् प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान इत्यादि तुम्हारे सहचरस्वरूप हैं; मेरा शरीर ही तुम्हारा गृह या मन्दिर है; विषय-भोगके लिये मेरे जो इन्द्रिय-व्यापार होते हैं वही तुम्हारी पूजा है, मेरी जो निद्रा है वही वस्तुतः तुम्हारी समाधिस्थिति है; मेरे पद-सञ्चार तुम्हारी प्रदक्षिणा हैं तथा मैं जो कुछ बोलता हूँ सब तुम्हारा ही स्तोत्र है। सारांश यह है कि मैं जब जो कर्म करता हूँ, सभी तुम्हारी आराधना है।

आत्माके सभी कर्म शिवकी अर्चना है; क्योंकि आत्मा ही शिवस्वरूप है। ये सब कर्म शिवरूपी आत्माकी तृप्तिके लिये ही होते हैं। भगवान् शंकराचार्यकी इस उक्तिका मूल श्रीपूर्व आगमशास्त्रमें इस प्रकार देखनेमें आता है—

> द्रवद्रव्यसमायोगात् स्नपनं तस्य जायते ।
> गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम् ॥
> षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते ।
> यमेवोच्चारयेद् वर्णं स जपः परिकीर्तितः ॥

अर्थात् द्रव पदार्थका स्पर्श ही उनका स्नान है, गन्ध-पुष्पादिकी गन्धको ग्रहण करना ही उनकी अर्चना

है, षड्रसोंका आस्वादन ही उनका नैवेद्य है तथा वर्णोंका उच्चारण ही उनका जप है ।

संविदुल्लास ग्रन्थमें है—

> विश्वं मूर्त्तिर्वैखरी नाममाला
> यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घि ।
> त्वद्भक्तानां स्वैरचारः सपर्या
> स्वेच्छा शास्त्रं स्वस्वभावश्च मोक्षः ॥

अर्थात् हे शम्भो ! तुम्हारे भक्तोंके लिये विश्व ही तुम्हारी मूर्त्ति है, वैखरी वाणी तुम्हारी नाममाला है, स्वैरचार ही पूजा है । स्वेच्छा ही शास्त्र हैं तथा अपना स्वभाव ही मोक्ष है । तुम्हारा ऐश्वर्य देश और कालके द्वारा अपरिच्छिन्न है ।

यह अवस्था अति दुर्लभ है । आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि जिस क्षणजन्मा पुरुषका संसार-परिभ्रमणका अन्तकाल समीप आ गया है, तथा जिसके ऊपर भगवती चित्शक्ति प्रसन्न हो गयी हैं, ऐसे विरले ही महापुरुषोंके अन्तःकरणमें इस प्रकारका पूजारहस्य प्रस्फुटित होता है । साधारण मनुष्यका इसमें कोई अधिकार नहीं है ।

'चिद्गगनचन्द्रिका'में तथा अन्यान्य आगम-ग्रन्थोंमें 'चार', 'राव', 'चरु' और 'मुद्रा'—इन चार प्रकारके पूजाविधानकी बात देखनेमें आती है । इनमें 'राव' ही सर्वथा प्राधान्य वर्णन किया गया है । विमर्श अथवा अपनी आत्मशक्तिके साक्षात्कारको ही 'राव' कहते हैं। 'चार', 'चरु' तथा 'मुद्रा' शब्दोंसे क्रमशः आचारविशेष, द्रव्यविशेष तथा मूर्त्ति या वेषविशेष समझना चाहिये। ये तीनों क्रमशः 'राव' के ही प्रयोजकमात्र हैं। अतएव राव अर्थात् अपने स्वरूपकी अपरोक्ष अनुभूति ही परमपूजा है । इसमें कुछ सन्देह नहीं । इसीको कोई-कोई आचार्य 'निजबलनिभालन'के नामसे वर्णन करते हैं। अर्थात् साधककी अपने हृदयकी स्फुरत्ता ही परमेश्वर या देवता है । उसमें जो अपने साथ अभिन्नभावसे वर्तमान विश्वविक्षोभकी सहिष्णुता है वही विमर्शशक्ति या बलस्वरूप है, उसकी आलोचना करना ही पूजाका रहस्य है । इस आत्मविमर्शका ही नामान्तर जीवन्मुक्ति है । 'भगवतीकी परापूजा' इसीका पर्यायमात्र है। इस अवस्थाके उदय होनेपर 'आज्ञाधरत्व' आदि बहुत-सी विभूतियाँ अपने-आप ही अवश्यम्भावीरूपसे प्रकट हो जाती हैं ।

(शेष आगे)

श्रीप्रसादी चन्दन-चन्दना

> सुन्दर सरीर स्याम सदन सुगन्धनके,
> संग सनि सौरभको सौगुनो भयो अगार ।
> मंगलनिधान अंग-अंग परिरंभनको,
> लाभ लेत, जाके हेत गोपिका करें पुकार ॥
> श्रीपन-विहारनमें गिरत कछुक तासों,
> तामें धरे चिहंग देवअंगना अपार ।
> नन्दन-सुगन्ध-मन्दकारी महामोदकन्द,
> चन्दन प्रसादी ताको वन्दना करै 'कुमार' ॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

प्रार्थना

प्रभो ! भोगोंमें सुख नहीं है, यह अनुभव बार-बार होता है; फिर भी मेरा दुष्ट मन उन्हींमें सुख मानता है और बार-बार आपको भूलकर उन्हींकी ओर दौड़ता है । बहुत समझानेकी कोशिश करता हूँ परन्तु नहीं मानता । तुम्हारे स्वरूपचिन्तनमें लगाना चाहता हूँ, कभी-कभी कुछ लगता-सा दीखता भी है, परन्तु असलमें लगता नहीं । मैं तो जतन करके हार गया मेरे स्वामी ! अब तुम अपनी कृपा-शक्तिसे इसे खींच लो । मुझे ऐसा बना दो कि मैं सब प्रकारसे तुम्हारा ही हो जाऊँ । धन, ऐश्वर्य, मान, जो कोई भी तुम्हारी ओर लगनेमें बाधक हों, उन्हें बलात्कारसे मुझसे छीन लो । मुझे चाहे राहका भिखारी बना दो, चाहे सबके द्वारा तिरस्कृत करा दो, परन्तु अपनी पवित्र स्मृति मुझे दे दो ! मैं बस तुम्हारा स्मरण करता हुआ, तुम्हारे स्वरूप-गुणोंका चिन्तन करता हुआ निरन्तर सच्चे आनन्दमें निमग्न रहूँ ! मेरे सुख-दुःख, हानि-लाभ, सब कुछ तुम्हारी स्मृतिमें समा जायँ । वे चाहे जैसे आवें-जावें, मैं सदा तुम्हारे प्रेममें डूबा रहूँ । सबमें, सब अवस्थाओंमें, सब भावनाओंमें, सब क्रियाओं और सारे सृजन-संहारमें केवल तुम्हारा अनुभव करूँ । तुम्हारा ही प्यारा स्पर्श पाकर सदा उछ[illegible]ा रहूँ ।

मेरे मनसे सब कुछ भुला दो, और उस सब कुछके बदलेमें एकमात्र अपनी मधुर स्मृतिको ही जगाये रक्खो । कोई ऐसा क्षण हो ही नहीं, जिसमें मन तुम्हें भूल सके । यदि हो तो बस, जैसे मछली जलके बिना छटपटाकर मर जाती है, वैसे ही यह मन भी मर जाय ।

मेरे प्राण सदा तुम्हारे साथ ही रहें, तुम्हारा विछोह कभी हो ही नहीं । यदि कभी ऐसा हो तो बस, उसी क्षण तेलके अभावमें दीपकके बुझ जानेकी भाँति शान्त होकर तुममें समा जायँ ।

मैं सदा अनुभव करूँ, तुम मेरे हो, मैं तुम्हारा हूँ । तुम मेरे साथ हो, मैं तुम्हारे साथ हूँ । तुम मुझे देख रहे हो, मैं तुम्हें देख रहा हूँ । तुम मुझे पकड़े हो, मैं तुम्हें पकड़े हूँ । तुम मुझे आलिङ्गन कर रहे हो, मैं तुम्हें आलिङ्गन कर रहा हूँ । तुम मुझमें समा रहे हो, मैं तुममें समा रहा हूँ । और तुम मुझमें हो, मैं तुममें हूँ ।

मेरे प्राणोंके प्राण ! अब देर न करो, बहुत समय बीत गया—मुझे भटकते । तुम्हारा अपना ही होकर मैं जो इतनी दुर्दशामें पड़ा हूँ, यह तुमसे कैसे देखा जाता है ? भगवन् ! अब तो तुरंत दया करके अपनी परम दयाका अनुभव करा दो, मेरे स्वामी !

—'तुम्हारा ही एक अधम'

श्रीमद्भागवतका सार-संग्रह

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

यों तो श्रीमद्भागवत स्वयं ही सार-ग्रन्थ है। भगवत्स्वरूप नेके कारण इसके किसी भी अंशमें कुछ भी त्याज्य हीं है। यदि इसके किसी अंशमें किसीको कुछ त्याज्य तीत होता है तो वह उसकी दृष्टिका दोष है, जैसे वान् श्यामसुन्दरके परम सुकुमार श्रीविग्रहमें कंसको वल अपनी मृत्यु ही दीख रही थी। ऐसी स्थितिमें मद्भागवतसे कुछ थोड़ा-सा संग्रह करके यह कह ना कि इतना ही भागवतका सार है, साहसमात्र है। र भी श्रीमद्भागवतमें कुछ बातोंका उल्लेख करके स्पष्ट ह दिया गया है कि इसका तात्पर्य बस, इतना ही है। सके लिये मूलके अनेक स्थानोंमें 'एतावानेव' पदका योग हुआ है। उन्हें ही यहाँ नमूनेके तौरपर उद्धृत या जाता है—

(१)

जीवका परम कल्याण क्या है ?

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः॥
(२ । ३ । ११)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥
(३ । २५ । ४४)

पहले श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जो लोग पने परम कल्याणकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हैं उनके म कल्याणका उदय बस, इतना ही है कि भगवान्में नकी भाव-भक्ति अविचल हो जाय। इसका साधन लाया गया है—भगवान्के प्यारे भक्तोंका सङ्ग अथवा मद्भागवतका स्वाध्याय। इसमें सन्देह नहीं कि समस्त धनाओंका लक्ष्य, चाहे वे किसीके रूपमें हों चाहे नाके रूपमें, स्वयं श्रीभगवान् ही हैं। उनमें अचल ति या निष्ठा हो जाय ही साधनकी परिसमाप्ति है। स युगमें जब कि मनुष्योंमें ही घोर रजोगुण और तमोगुणका प्रवाह प्रबल हो रहा है, सुगम-से-सुगम और श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साधन भी सत्सङ्ग ही है। यदि संतोंकी पहचान न हो, उनके सङ्गकी सुविधा न हो तो श्रीमद्भागवत शास्त्रका स्वाध्याय भी परम कल्याणके उदय और भक्तिभावकी स्थिरतामें सत्सङ्ग-जैसा ही सहायक है। यह सबके लिये सुगम और निरापद भी है। अपने अधिकारके अनुसार इनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। दूसरे श्लोकमें केवल साधकोंके लिये ही नहीं, समस्त जीवोंके लिये ही, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, परम कल्याणका निर्देश है। परन्तु उनके लिये साधनाके लिये तीव्र भक्तियोगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। यह निश्चित है कि अपना सम्पूर्ण जीवन चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, भगवान्को समर्पित कर देना होगा। बिना आत्मसमर्पणके अभिमानी जीव कभी शान्तिका अनुभव नहीं कर सकता। समर्पण भी ऐसा, जो स्थिर हो, जिसके बाद कभी अहङ्कारका उदय न हो। ऐसा आत्मसमर्पण भगवान्के आज्ञापालनरूप तीव्र भक्तियोगके अनुष्ठानसे ही सम्भव है। यही बात दूसरे श्लोकमें समस्त जीवोंके परमकल्याणके नामसे कही गयी है।

(२)

जीवका धर्म क्या है ?

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥
(६ । १० । ९)

एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते॥
(४ । २७ । २९)

एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्॥
(८ । ७ । ३८)

एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्॥
(६ । ५ । ४४)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
(६ । ३ । २२)

एक ओर और उनसे सम्बन्ध रखने ममता, अहंता और ममता करके ऐसी स्वयं ही अपने-आपको मायाबन्धन-में डाल लिया है। अब धर्मका फल यह है कि जीवकी अहंता और ममताको शिथिल करके उसे मायाके बन्धनसे सर्वथा छुड़ा दे। ऐसे धर्मको ही भगवान् धर्म कहते हैं और जगत्के परमभक्त महात्मा उसीका अनुष्ठान करते रहे हैं। उसका स्वरूप यह, इतना ही है कि केवल अपने सुखसे फूल न उठे और अपने ही दुःखसे मुरझा न जाय। समस्त प्राणियों-के सुख-दुःखके साथ अपना नाता जोड़ दे। सबके सुखमें सुखी हो और सबके दुःखमें दुःखी। इससे अहङ्कारका बन्धन कटता है और ममता भी शिथिल पड़ती है। यही बात पहले श्लोकमें बतलायी गयी है। परन्तु इतना ही धर्म नहीं है। धर्मकी गति इससे आगे भी है। बहुत-से पशु भी दूसरोंके सुखसे सुखी और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हैं, परन्तु मनुष्य अपनेको सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ मानता है। इसलिये उसमें कुछ विशेषता होनी चाहिये। वह विशेषता क्या है? बस, इतनी ही कि किसीको दुःखी देखकर उसका हृदय दयासे द्रवित हो जाय और वह उसके प्रति सहानुभूति-के भावसे भर जाय। यद्यपि सहानुभूति भी एक बहुत बड़ा बल है, इससे दुःखियोंको बड़ी शक्ति प्राप्त होती है, तथापि जो कुछ प्रत्यक्ष सहायता कर सकते हैं, उनकी ओरसे केवल मानसिक या वाचनिक सहायता प्राप्त होना ही पर्याप्त नहीं है। उनकी प्रभुता या ऐश्वर्यकी सफलता इसीमें है कि वे तन, मन, धनसे दीनोंकी रक्षा करें। जो सामर्थ्य होनेपर भी दीन-दुःखियोंकी रक्षाका कार्य नहीं करते, उनका सामर्थ्य व्यर्थ है; उन्होंने अपने धर्मका पालन न करके पाप कमाया।

श्रीमद्भागवतमें यह बात स्थान-स्थानपर बहुत ही जोर देकर कही गयी है कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्वयं परमात्माका ही निवास है; इसीलिये यथाशक्ति दान और सम्मानके द्वारा सबकी पूजा करनी चाहिये। इस सम्बन्धमें यहाँतक कहा गया है कि जो दुःखी प्राणियों-की उपेक्षा करके अथवा किसी भी प्राणीसे द्वेषभाव रखकर केवल मूर्ति पूजा-पाठमें लगे रहते हैं, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती और न तो उन्हें परमात्माकी प्रसन्नता ही प्राप्त हो सकती है। (देखिये तीसरे स्कन्धका उन्तीसवाँ अध्याय।) चौथे स्कन्धमें तो इस बातको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि चारों वेदोंका ज्ञाता और समदर्शी महात्मा भी यदि दीन-दुःखियोंकी उपेक्षा करता है तो उसका सारा वेदज्ञान नष्ट और निष्फल हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे फूटे घड़ेसे पानी बह जाता है। जो लोग सांसारिक सम्पत्ति और ऐश्वर्यको अपना मानकर अभि-मानसे फूले हुए हैं और दीन-दुःखियोंकी सहायता नहीं करते, उन्हें श्रीमद्भागवतके इस वचनपर ध्यान देना चाहिये—

> यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
> मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः।
> आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥
> (७। १४। ८-९)

मनुष्योंका अपनी सम्पत्तिपर उतना ही हक है जितनेसे उनका पेट भर जाय। जो इससे अधिक अपना मानते हैं, वे चोर हैं और दण्डके पात्र हैं। हरिन, ऊँट, गदहा, बानर, चूहा, रेंगनेवाले कीड़े, पक्षी, मक्खी—और तो क्या, सभी प्राणियोंको अपने पुत्रके समान ही देखना चाहिये। भला! अपने पुत्रोंमें और इनमें अन्तर ही कितना है! यह उपदेश गृहस्थोंके लिये है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि वे जैसे स्वयं भोजन करते हैं वैसे ही सबके भोजनका ध्यान रक्खें। जैसे अपने शरीर और पुत्रके शरीरके कष्टसे पीड़ित होते हैं और उसका उपचार करते हैं वैसे ही दूसरोंके लिये भी

करें। इतना ही नहीं, श्रीमद्भागवतके ऊपर उद्धृत चौथे श्लोककी अर्धालीमें तो यह बात कही गयी है कि प्रशंसनीय तो यह है कि अपने कष्टोंको मिटानेकी क्षमता होनेपर भी उन्हें सहन करे। अर्थात् स्वयं दुःख सहन करके दूसरोंका दुःख मिटाये, अपनी इच्छा अपूर्ण रखकर दूसरेकी इच्छा पूर्ण करे। यह सत्य है कि इससे अपनी साम्पत्तिक, पारिवारिक और शारीरिक हानि होनेकी सम्भावना है; परन्तु यह उस लाभके सामने, जो इससे स्वयं होता है, कुछ भी नहीं है। क्योंकि हानि तो होती है केवल सांसारिक पदार्थोंकी और लाभ होता है परमार्थका। जो मनुष्य अपना सर्वस्व त्यागकर और कष्ट उठाकर दूसरोंका भला करता है, उसे त्याग, वैराग्य, सहिष्णुता, तितिक्षा, श्रद्धा, विश्वास, समता आदि आदर्श सद्गुण स्वयं ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि सम्पन्न होती है और मनुष्य अपने धर्मपालनके द्वारा परम-कल्याणका अधिकारी होता है।

यह तो हुई सामान्यधर्मकी बात। एक परमधर्म भी है, जिसका सङ्केत ऊपर उद्धृत पाँचवें श्लोकमें किया गया है। एक तो कर्मभूमि भारतवर्षमें जन्म मिलना ही कठिन, दूसरे मनुष्यका जन्म। मनुष्यका जन्म प्राप्त करके अपने धर्मका पालन करना और भी दुर्लभ है। परमधर्मका तो ज्ञान भी बड़े सौभाग्यसे होता है, वह श्रीमद्भागवतमें सुनिश्चितरूपसे बतलाया गया है। ब्रह्माजी बार-बार शास्त्रोंका आलोडन करके इसी निश्चयपर पहुँचे कि समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य भगवान्के निरन्तर स्मरणमें ही है। स्मरणका स्वरूप क्या है? जैसे गङ्गाजीकी धारा अखण्डरूपसे समुद्रमें गिरती है, जैसे तेलकी धारा अविच्छिन्नरूपसे एक पात्रसे दूसरे पात्रमें जाती है, वैसे ही चित्त किसी प्रकार अनुसन्धान किये बिना [illegible] भगवान्में ही लिप्त रहती रहे, उन्हींके चिन्तनमें तन्मय रहे। यही है भक्तियोगका स्वरूप। इसे ही उपर्युक्त श्लोकमें [illegible] के नामसे कहा गया है। इसका साधन [illegible] सभी शास्त्रोक्त साधन हैं। अभी-अभी [illegible] चर्चा की गयी है, उसका पर्यवसान भी इसीमें। परन्तु उन समस्त साधनोंमें सबसे श्रेष्ठ है—भगवान्के नामोंका जप, कीर्तन, अर्थचिन्तन। वृत्तियोंको भगवान्में लगाये रखनेके लिये इससे सरल कोई [illegible] नहीं। इस प्रकार इस प्रसङ्गमें मनुष्यके धर्म, [illegible] और उसके साधनका संक्षेपमें निर्देश किया गया है।

(३)

योग क्या और किसलिये ?

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥
(११ । १३ । १४)

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥
(३ । ३२ । २७)

भगवान् श्रीकृष्ण योगका बस, इतना ही स्वरूप बतलाते हैं कि मनको सब ओरसे खींचकर साक्षात् भगवान्में प्रविष्ट कर दिया जाय। मनको लगानेका उपाय चाहे कोई भी हो। जीवोंका मन स्वभावसे ही जड विषयोंकी ओर ही दौड़ता है और उन्हींमें लगा भी है। यदि योगसाधनाके द्वारा भी मनको जड विषयोंमें ही लगाया गया तो सारा प्रयास व्यर्थ ही समझना चाहिये। सविकल्प समाधिपर्यन्त जितनी भी स्थितियाँ हैं, सब-की-सब कुछ-न-कुछ जड़ता लिये हुए हैं। [illegible] निर्विकल्प स्वरूपसे आत्मा ही आत्म निर्विकल्प समाधि है और उसमें भी विशुद्ध योगकी स्थिति [illegible] है। [illegible] करती है। भगवान्के निर्गुण-निराकार अथवा सगुण साकार स्वरूप[illegible]

रहते हैं, उनके लिये विशुद्ध चेतनकी स्थिति अनिवार्य है । ज्ञान और आनन्दका उसी स्थितिमें वास्तविक मिलन होता है, इसलिये उसे योगके नामसे कहते हैं ।

दूसरे श्लोकमें समस्त योगका उद्देश्य बतलाया गया है । योगके द्वारा होता क्या है ! समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्से अनासक्तता । सङ्ग ही समस्त अनर्थोंका मूल है । यह प्रकृति और प्राकृत पदार्थ मैं हूँ अथवा ये मेरे हैं, यही सङ्गका स्वरूप है । इस बातको तनिक स्पष्ट समझ लेना चाहिये । व्यवहारमें दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं । एक तो प्राकृतिक और दूसरे प्रातीतिक । उदाहरणके लिये पृथ्वीको लीजिये । पृथ्वी एक प्राकृतिक पदार्थ है । यह केवल प्रकृतिकी है अथवा भगवान्‌की है । यह न किसीके साथ गयी और न जायगी । फिर भी लोग इसे अपनी मान बैठते हैं और बड़े अभिमानके साथ कहते हैं कि इतनी पृथ्वी मेरी है । यह मेरेपनकी भावना नितान्त प्रातीतिक है और यही समस्त दुःखों-का मूल भी है । इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, मन आदिके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये । इनके प्रति अहंता-ममता जोड़ लेना ही सङ्ग है । जब योगके द्वारा बहिर्मुखता घटती है और अन्तर्मुखता-की वृद्धि होती है, तब स्वयं ही बाह्य पदार्थोंसे आसक्ति छूटने लगती है और अन्ततः विशुद्ध चित्-स्वरूप एवं असङ्ग आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाती है । जबतक असङ्गता प्राप्त नहीं होती, तबतक योगका लक्षण अपूर्ण ही समझना चाहिये । उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें अन्तर्मुखताकी सीमा तो भगवान्‌में मनका लग जाना बतलाया है और योगका स्वरूप बतलाया है— समस्त प्रकृति और प्राकृत सम्बन्धोंसे अलग हो जाना ।

(५)

जीवका परम स्वार्थ और परमार्थ क्या है ?

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः ।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥
(६ । १६ । ६२)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥
(७ । ७ । ५५)

जिन मनुष्योंकी बुद्धि योगमें निपुणता प्राप्त कर चुकी है, उनके लिये सब प्रकारसे बस इतना ही अपना स्वार्थ और परमार्थ है कि वे अपनी आत्मा और परमात्माके एकत्वका साक्षात्कार करें । पहले यह बात कही जा चुकी है कि योग अन्तर्मुखताकी सीमा है । अन्तर्मुख हो जानेपर बाह्य विषयोंमें किसी प्रकारकी दिलचस्पी नहीं रह जाती और न तो उनका चिन्तन ही होता है । उस समय जितनी भी वृत्तियाँ उठती हैं, सब अन्तःस्थित वस्तुके सम्बन्धमें ही । अन्तर्देशके गुह्यतम प्रदेशमें जो वस्तु है, वह क्या है ? उसे आत्मा कहें या परमात्मा ? यह प्रश्न ही उस समय उठता है जिस समय अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख और शुद्ध हो जाता है । जब उपर्युक्त प्रश्न उठता है तो मैं कौन हूँ और परमात्मा क्या है, दोनोंमें क्या अन्तर है—इन प्रश्नों-का ऐसा विशुद्ध समाधान प्राप्त होता है कि जो अबतक अपनेको जीव समझकर अपनेको नाना सङ्कटोंका घर समझे रहता है, वह अनिर्वचनीय एवं आश्चर्यमय स्थितिमें पहुँच जाता है । अनादि कालका अज्ञान मिट जाता है और फिर कुछ बोलने और सोचनेका कोई अवसर ही नहीं रहता । यह परमात्मा और आत्माकी एकता ही समस्त श्रुतियोंका प्रतिपाद्य विषय है और यही योगियोंका सर्वोच्च ध्येय है ।

दूसरे श्लोकमें वही बात दूसरे ढंगसे कही गयी

है। जीवका परम स्वार्थ क्या है ? भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति। भक्तिका अर्थ विभक्ति नहीं है, समस्त विभक्तियोंका मिट जाना ही सच्ची भक्ति है। एक कवि कहता है—'प्रेमी और प्रियतमके मिलनमें वक्षःस्थलपर स्थित माला भी पर्वतसे भी बड़ा व्यवधान है।' भक्त और भगवान्‌के बीचमें किसी भी प्रकारका आवरण—चाहे वह कितना भी झीना क्यों न हो—अभीष्ट नहीं है। आखिर वह कौन-सा ऐसा रहस्य है, जिसे प्रियतम प्रभु अपने प्रेमीसे छिपाये रख सकते हैं। प्रेमके सामने सारे पर्दे फट जाते हैं, सारी दूरी समीपता-में परिणत हो जाती है। इसीसे अनन्य भक्तिका स्वरूप निर्देश करते समय यह बात कही जाती है—'यत् सर्वत्र तदीक्षणम्।' भगवान्‌की अनन्य भक्ति है सर्वत्र उन्हें देखना। 'सर्वत्र' शब्द बड़ा व्यापक है। अपनेमें, परायेमें, निद्रामें, जागरणमें, स्वप्नमें और प्रकृतिमें—जहाँ दृष्टि जाय, जो दीखे, वहीं, उसीमें, अधिक तो क्या, उसीके रूपमें भगवान्‌का दर्शन! यही जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ अथवा परमार्थ है।

(५)

अज्ञान और ज्ञानका स्वरूप

एतावानात्मसंमोहो यद् विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि॥
(११। २८। ३६)

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥
(२। ९। ३५)

पहले श्लोकमें अज्ञानका स्वरूप बतलाया गया है। कहते हैं कि अद्वितीय आत्मस्वरूपमें जो विभिन्नताका सङ्कल्प है, वह मनका मोह है। क्योंकि आत्मा-को छोड़कर उस विभिन्नताके सङ्कल्पके लिये भी कोई दूसरा आलम्ब नहीं है, वही विभिन्नताकी भावना अद्वितीय स्वरूपके अज्ञानसे है। अज्ञान किसे है, किसमें है—यह प्रश्न इस बातको मानकर उठता है कि अज्ञानकी सत्ता है। परन्तु अज्ञानकी सत्ता भी तभीतक मानी जाती है, जबतक अज्ञानके स्वरूपका बोध नहीं होता। अज्ञान ज्ञात होनेपर तो अज्ञान रहता ही नहीं, ज्ञान हो जाता है और जहाँतक वह स्वयं अज्ञात है वहाँतक यह प्रश्न बनता ही नहीं कि वह किसमें है, किसे है? ऐसी अवस्थामें अज्ञानका स्वरूप क्या है? तत्त्वदृष्टि करानेके लिये एक अध्यारोपमात्र! इसीलिये वह किसीको नहीं है, किसीमें नहीं है; क्योंकि अध्यारोपित वस्तुसे किसीका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु यह यथार्थ उक्ति तो अज्ञानपर लादी हुई सारी व्यवस्थापर ही पानी फेर देती है। यह भी अभीष्ट ही है। फिर भी उसे अनिर्वचनीय स्वीकार कर लिया जाता है। 'अनिर्वचनीय' शब्दका अर्थ अज्ञेय नहीं है। जिसका मन और वाणीके द्वारा 'इदन्तया' निर्वचन नहीं किया जा सकता, वही अनिर्वचनीय है। तब यह 'अनिदं' है अर्थात् 'अहं' है—स्वरूपसे अभिन्न है। ज्ञान और अज्ञान सब कुछ स्वरूप ही है—यही बात जाननेकी है। दूसरे श्लोकमें यही कहा गया है।

जो आत्मतत्त्वके जिज्ञासु हैं, उन्हें बहुत-से विषयों-का ज्ञान नहीं प्राप्त करना है। उन्हें तो केवल एक ऐसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है, जो सर्वदा और सर्वत्र एकरस रहती है। यह जाननेका साधन क्या है? अन्वय और व्यतिरेक। आकाशके रहनेपर ही पृथ्वीका अस्तित्व है—यह अन्वय है। आकाशके न रहनेपर पृथ्वी भी नहीं रह सकती—यह व्यतिरेक है। परन्तु पृथ्वीके न रहनेपर भी आकाश तो रहता ही है। आत्मसत्ताके रहनेपर ही अनात्मपदार्थोंकी सत्ता रह सकती है, आत्मसत्ताके न रहनेपर अनात्मपदार्थोंकी सत्ता नहीं रह सकती। परन्तु अनात्मपदार्थोंकी सत्ता न रहनेपर भी आत्मपदार्थकी सत्ता तो रहती है। तब

त्ता केवल आत्माकी—परमात्माकी है। अनात्मपदार्थ केवल प्रतीतिमात्र, सर्वथा मिथ्या हैं। अब यही सर्वत्र और सदा तथा उनकी सीमासे परे भी रहनेवाली आत्मसत्ताका स्वरूप ही तत्त्वजिज्ञासुके ज्ञानका स्वरूप है। न इसमें ज्ञातृज्ञेय सापेक्ष ज्ञान ही है और न तो आश्रय-आश्रयीभाव रखनेवाला अज्ञान ही। इस सत्तामात्र निर्विशेष चैतन्यमें मन और वाणीसे निर्वचन करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। वही आत्मा है, वही हूँ। मैं उससे भिन्न हूँ—यही अज्ञान है। और इस अज्ञानका मिट जाना ही ज्ञान है। इसके अतिरिक्त 'ज्ञान' और 'अज्ञान' शब्दोंके द्वारा विधेय कोई वस्तु नहीं है।

(६)

समस्त वेदोंका तात्पर्य

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥
(११।२१।४३)

वेदोंमें कहीं किसी कर्मका विधान है तो कहीं देवता आदिके विभिन्न नामोंका उल्लेख है, कहीं आकाशादि विविध सृष्टिका वर्णन है तो कहीं उनका निषेध भी है—यह सब क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि कर्मोंके रूपमें मेरा ही विधान है। देवताओंके नामोंके रूपमें मेरे ही नामोंका गायन है। आकाशादि विविध सृष्टिके रूपमें मेरा ही वर्णन है और उनके निषेध तथा निषेधकी अवधिके रूपमें भी मेरा ही वर्णन है। तब समस्त वेदोंका तात्पर्य क्या है? इस प्रश्नका सीधा उत्तर होता है—स्वयं परमात्मा। ऊपर उद्धृत श्लोकमें इस बातका स्पष्ट निर्देश है। सारे वेदोंके तात्पर्य हैं—भगवान्। वेद उन्हीं परमार्थस्वरूप परमात्माका आश्रय लेकर कहता है—दीखनेवाला भेद सर्वथा मायामात्र है। नानात्व कुछ नहीं है, केवल परमात्मा-ही-परमात्मा है। इस प्रकार अशेष विशेषोंका निषेध करके वेद अपना काम बंद कर देता है, स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वेद-स्तुतिके अन्तमें भी यही बात कही गयी है—'अतन्निरसनेन भवन्निधनाः।' 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टरूपसे परमात्मामें ही पर्यवसित होती हैं।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि श्रीमद्भागवत भगवत्स्वरूप है। यह श्रुतियोंका सार-सार अंश है। जैसे समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य एकमात्र परमात्मामें ही है, वैसे ही श्रीमद्भागवतका भी। इसका वास्तविक रस तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इसके मूलका स्वाध्याय करनेसे प्राप्त होता है। भगवान् हमलोगोंको इसके मूलके स्वाध्यायमें लगायें, उसका रस लेनेकी योग्यता दें।

देख चुका मैं ज्योति निराली

देख चुका मैं ज्योति निराली
अंधकारमें ठोकर खाकर
गिरते पड़ते ऊपर जाकर
बैठ हिमालयकी गोदीमें
मैंने तेरी झाँकी पा ली
देख चुका मैं ज्योति निराली
मृगतृष्णाके पीछे पड़कर
रहा भटकता मनु जीवनभर
रात गई अब हुआ सवेरा
दीख रही पूरबमें लाली
देख चुका मैं ज्योति निराली
साध्य एक पर साधन बहुविध
हर एक आराधन बहुविध
समझ गया मैं तेरी माया
है कितनी उलझानेवाली
देख चुका मैं ज्योति निराली

—'[illegible]'

ऊपर बतलाया गया है। यही बात थी कि गुरुगृहमें तैत्तिरीय उपनिषद्में कहे गये उत्तम शिक्षा-वचन उनके हृदयमें निरन्तर गूँजते रहते, उनके जीवनमें मनः-कामनाओंका निर्माण करते, उन्हें जीवन देते तथा उनको व्यवहारमें लानेकी शक्ति प्रदान करते थे। वर्तमान समयमें इस प्रकारकी शिक्षा और प्रेरणाका अभाव हमारे आर्यजीवनको नष्ट कर रहा है।

ये अमूल्य शिक्षा-वचन प्रत्येक आर्य बालकके लिये मनन करने तथा आचरणमें लाने योग्य होनेके कारण —यँ दिये जा रहे हैं—

अनुशासनम्

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ २ ॥

ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ॥ ३ ॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः ॥ ४ ॥

१—

अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः ॥ ५ ॥

एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ६ ॥

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । तानि त्वयोपास्यानि । विचिकित्सा वा स्यात्तेषु वर्तेरन् ॥ ७ ॥

(श्रीकृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषद्—शीक्षाध्यायरूपा प्रथमा वल्ली, एकादशोऽनुवाकः)

गुरुदेव वेदोंका अध्ययन शिष्योंको करानेके पश्चात् और ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति करानेके पूर्व, श्रुति तथा स्मृतिकी आज्ञाके अनुसार कौन-कौन-से कर्तव्य करने चाहिये, इसका उपदेश—उनको अनुशासन—शिक्षा-ज्ञान, इस प्रकार करते हैं—

'हे शिष्य ! सत्य (प्रामाणिक बात) बोल। उसी प्रकार धर्मका (अवश्य करने योग्य कर्तव्योंका) आचरण कर। (किये हुए) वेदके अध्ययनमें (स्वाध्यायमें) प्रमाद न कर (अर्थात् तुझे निरन्तर वेदादिका पाठ करना ही चाहिये)। (विद्या ग्रहण करनेके बाद) गुरुको प्रिय—अभीष्ट धन गुरुदक्षिणामें दे। (ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण होनेपर अपने योग्य कन्याके साथ विवाह करके गृहस्थाश्रमका निर्वाह कर तथा) सन्तानपरम्पराका उच्छेद करनेकी बात मत सोच (और न कर) अर्थात् योग्य सन्तान उत्पन्न कर।

सत्यसे प्रमाद न करना ([illegible] कभी त्याग न कर)। धर्म—कर्तव्य कर्मके प्रति कभी प्रमादका आश्रय न ले। कुशल—अपनी रक्षा [illegible] [illegible] कर्मोंमें प्रमाद न कर। [illegible]

हो उसकी वृद्धि करनेवाले कर्मों) की ओर कभी प्रमाद न कर । अपने अध्ययनको बनाये रखने तथा दूसरोंको उपदेश देनेमें—वेदादि शास्त्रोंके अध्यापनमें कभी प्रमाद न करना ॥ १ ॥

देवताओं तथा पितरोंके उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्तव्य कर्मोंका कभी त्याग न करना । माताकी तू देवताके रूपसे उपासना करना । पिताकी देवरूपमें उपासना करना । आचार्यकी देवरूपमें उपासना करना । अतिथिकी देवरूपसे उपासना करना । जो-जो कार्य अनिन्दित हैं, उन-उन कार्योंको करते रहना । परन्तु इससे भिन्न जो कर्म हों (जो निन्दित हों और शिष्टजन कदाचित् उन्हें करते भी हों तो भी) उनका अनुष्ठान न करना, ऐसे कर्म तू कभी न करना । हमारे अर्थात् गुरुके जो श्रेष्ठ आचरण हों, उन्हींका तुझे अनुसरण-आचरण करना चाहिये । परन्तु जो उससे अतिरिक्त विपरीत आचरणके कर्म हों, उन्हें कभी न करना ॥ २ ॥

जो ब्राह्मण अपनेसे कहीं श्रेष्ठ हों, उनको अपना आसन देने (सत्कार करने) में विलम्ब न करना । जो कुछ भी दानरूपमें तू दे, उसे तू श्रद्धायुक्त होकर दे । अश्रद्धासे किसी भी प्रकारका दान करना उचित नहीं । यथाशक्ति अपनी धन-दौलतके अनुसार ही तू दान करना । लोकलज्जासे भी तुझे अवश्य दान करना चाहिये । शास्त्रके भयसे भी तुझे दान करना चाहिये । विवेकपूर्वक (मित्रादिके कार्योंमें) दान करना चाहिये ॥३॥

यदि तुझे अपने किसी भी प्रकारके कर्म अथवा लौकिक आचारके सम्बन्धमें शङ्का उठे तो अपने समीप रहनेवाले ब्राह्मण जो विचारशील, वेदविहित कर्ममें कुशल सब प्रकारसे स्वतन्त्र, क्रोधरहित अर्थात् शान्त स्वभाववाले तथा धर्मकी कामनावाले हों, वे इन कर्मोंके सम्बन्धमें जिस प्रकारका व्यवहार करते हों तुझे भी संशयरहित होकर उसी प्रकारका आचरण करना चाहिये ॥ ४ ॥

(अब निन्दित पुरुषोंके प्रति कैसा बर्ताव करना चाहिये, वह भी सुन ।) जो ब्राह्मण पूर्ण विचारशील हों, वेदविहित कर्मोंमें कुशल हों, सब प्रकारसे स्वतन्त्र हों, क्रोधरहित अर्थात् शान्त स्वभाववाले हों तथा धर्मकी कामनावाले हों, वे जिस प्रकार निन्दित पुरुषोंके प्रति बर्ताव करते हों, तुझे भी उन निन्दित पुरुषोंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये ॥ ५ ॥

यह एक विधान है । यह सब वेदोंका एक रहस्य है, यह एक अनुशासन है, ईश्वरका वचन है । यह एक उपदेशके रूपमें कहा गया है । यह एक आज्ञारूपी वचन है । इस उपर्युक्त रीतिसे तुझे बर्तना चाहिये । ठीक तुझे इस उपर्युक्त रीतिसे आचरण करना चाहिये ॥ ६ ॥

तू स्वाध्याय और प्रवचनमें कभी प्रमाद न करना । इनको तुझे करना ही चाहिये । इनमें कदाचित् संशय भी उठे तो तुझे करना ही चाहिये ॥ ७ ॥

(श्रीकृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय उपनिषद्, शीक्षावल्ली, ११ वाँ अनुवाक)

हे प्रभो ! हमारे आर्यावर्त देशकी प्रजा पूर्ववत् धार्मिक, बलवान् और तेजस्वी बने ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। समाचार जाने। आपसे प्रार्थना है कि मुझे अपने छोटे भाईके समान समझकर समान व्यवहारके ही शब्दोंका प्रयोग किया कीजिये। 'पूज्यपाद' और 'चरणवन्दन' आदि शब्दोंके प्रयोगसे मुझे बड़ा संकोच होता है। आपके प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर दिया जाता है—

प्रश्न १—श्रीभगवान्‌के स्वरूपका ध्यान हृदयमें करना चाहिये अथवा बाहर सवा हाथ दूर तथा सवा हाथकी ऊँचाईपर ? दोनोंमें उत्तम कौन है ?

उत्तर—श्रीभगवान्‌के स्वरूपका ध्यान दोनों प्रकारसे ही उत्तम है। दोनों ही प्रकारके ध्यान मनसे होते हैं, इसलिये इनमें उत्कृष्टता और निकृष्टताका भेद नहीं है। अपनी रुचिके अनुसार करना चाहिये।

प्र० २—ध्यान भगवान्‌के नख-शिख समस्त रूपका करना चाहिये अथवा केवल मुखारविन्द अथवा चरणारविन्दका ? यदि चरणारविन्दका किया जाय तो सरकार जिस प्रकार खड़े हैं, वैसे ही पजोंका अथवा तल्वोंका ? उत्तम कौन-सा है ?

उ०—ध्यानके आरम्भमें चरणारविन्दोंसे प्रारम्भ करके मस्तकतक पूरे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। एक बार पूरा-पूरा ध्यान हो जानेपर केवल मुखारविन्द या चरणारविन्दपर ही अपने मनको टिका देना चाहिये। दासभावके भक्तोंको प्रधानतः चरणारविन्दका और सखाभावके भक्तोंको प्रधानतः मुखारविन्दका ध्यान करना चाहिये। चरणोंका ध्यान जैसे भगवान् खड़े हैं, वैसे हो अथवा नीचेसे उनके तल्वोंको ही देखा जाय। दोनों ही अपनी रुचि और प्रीतिपर निर्भर करते हैं। इनमें कोई उत्कृष्ट-निकृष्टका भेद नहीं है।

प्र० ३—प्रातःकाल और सायंकाल कैसा ध्यान करना चाहिये ? इसके अतिरिक्त काम करते समय ध्यानका क्या स्वरूप होना चाहिये ?

उ०—जो ध्यान प्रातःकालका है, वही सायंकालका भी। अपने इष्टदेवके गुण, प्रभाव, रहस्य, रूप, लीला, सेवा आदिका दोनों समय ही चिन्तन करते हुए ध्यान करना चाहिये। समयके अनुसार सेवा-पूजाकी प्रणालीमें भेद हो सकता है। विभिन्न लीलाओंका भी चिन्तन कर सकते हैं, परन्तु इष्टदेव एक ही होने चाहिये। काम करते समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि भगवान् सर्वदा मेरे साथ हैं—मैं चलता हूँ तब चलते हैं, बैठता हूँ तब बैठते हैं, खाता हूँ तब खाते हैं। मेरी आँखोंसे एक क्षणके लिये भी ओझल नहीं होते। उनका वरद हस्त मेरे सिरपर सदा बना ही रहता है। वे नित्य, निरन्तर अपने प्रेम और कृपाकी सुधा-धारासे मुझे सराबोर किये रहते हैं। उनकी मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, पीताम्बरकी झलक और नख-छटाका प्रकाश क्षण-क्षणपर अनुभव करते रहना चाहिये। ऐसा अभ्यास करनेपर थोड़े ही दिनोंमें बड़े रसका अनुभव होने लगता है।

प्र० ४—ध्यान युगल-सरकारका करना चाहिये अथवा केवल सरकारका ही। कारणसहित बतलाइये।

उ०—श्रीभगवान्‌में युगल और एकका भेद नहीं है। एकमें भी युगल हैं और युगल भी एक ही हैं। इसलिये ध्यान चाहे युगल छविका किया जाय—चाहे केवल भगवान्‌के श्रीविग्रहका। एक ही बात है। साधकोंकी अपनी रुचि-प्रवृत्ति, प्रीति, श्रद्धा और अधिकारके अनुसार ही उनके ध्यानकी व्यवस्था है। आपके पत्रको देखते जान पड़ता है कि आपको युगल-सरकारका ही ध्यान करना चाहिये।

प्र० ५—प्रारम्भमें ध्यान कितनी देरतक करना चाहिये और कितनी बार ?

उ०—प्रारम्भमें कम-से-कम प्रातःकाल और सायंकाल नियमसे आध-आध घंटे तो ध्यान अवश्य ही करना चाहिये । कितनी बारका कोई नियम नहीं है । उत्तम तो यही है कि मनुष्य प्रतिक्षण ध्यानमग्न रहे । इसलिये अधिक-से-अधिक ध्यानकी चेष्टा ही कर्तव्य है ।

प्र० ६—ध्यानके साथ नाम-जप करना चाहिये, अथवा नहीं ? मन-ही-मन स्वरूपका वर्णन और मनके नेत्रोंसे भगवान्‌की झाँकीका दर्शन करना भी तो ठीक है न ?

उ०—जप ध्यानमें बड़ा ही सहायक है । इससे साधक निरन्तर जाग्रत् रहता है और इष्टदेवका मन्त्र अथवा नाम उसे प्रतिक्षण ध्यानमें लगनेकी प्रेरणा करता रहता है । मन-ही-मन रूपका वर्णन और मनके नेत्रोंसे उनकी झाँकीका दर्शन भी श्रेष्ठ है । दोनोंमेंसे जो आपके अनुकूल पड़े वही करना चाहिये ।

प्र० ७—ध्यानके समय कौन-कौन-से विघ्न आते हैं, और उनका निराकरण किस प्रकार करना चाहिये ?

उ०—ध्यानके मुख्य विघ्न दो हैं—आलस्य और विक्षेप । आलस्यका अर्थ है मनके तन्द्रित हो जानेके कारण भगवान्‌का चिन्तन न होना । विक्षेपका अर्थ है भगवान्‌के अतिरिक्त मनमें अन्य विषयोंका आना—मनका विषयोंमें भटक जाना । इन विघ्नोंके निवारणके चार उपाय हैं—(१) ध्यानके समय पीठकी रीढ़को सीधा रखा जाय, (२) नेत्र खुले रहें, (३) सावधानीके साथ नाम-जप होता रहे और (४) शास्त्रानुकूल भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाओंका विवेचन हो ।

प्र० ८—ध्यानके सहायक क्या-क्या हैं ?

उ०—मुख्यतः चार बातें हैं । श्रद्धा और प्रेमसे संलग्न करना, अपने इष्टदेवके प्रभाव, गुण, रहस्य आदिसे परिपूर्ण स्वरूपका आस्वादन करना, प्रेमके साथ रसका अनुभव करते हुए नाम-जप करना, और विषयों में उपरति और वैराग्य होना ।

प्र० ९—ध्यानके अभ्यासीकी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये ?

उ०—ध्यानके अभ्यासीको कभी ऐसा काम न करना चाहिये जिससे उसके मनमें उद्वेग, चिन्ता, भय और शोककी वृद्धि हो । मनको केवल सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्त ही नहीं—इष्टदेवके चिन्तन-स्मरणमें संलग्न रखना चाहिये । व्यवहारमें स्मरणकी जितनी वृद्धि होगी, उतना ही ध्यान भी अधिक लगेगा, इसलिये ध्यानके अभ्यासीकी वैसी ही दिनचर्या होनी चाहिये जिससे अधिक-से-अधिक भगवत्स्मरण हो। अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन—दीनजनोंकी सेवा, महापुरुषोंका सङ्ग, स्वाध्याय, जप, पूजा आदि भगवत्प्राप्तिके साधनरूप कर्मोंमें ही उसे लगे रहना चाहिये ।

प्र० १०—विषयोंका यथार्थ स्वरूप कैसे समझें जिससे उनकी ओरसे मन फिर जाय ?

उ०—किसी भी वस्तुका यथार्थ स्वरूप विचारसे ही समझमें आता है । विवेकी पुरुष विषयोंमें दुःख ही-दुःख देखता है । विषयोंका आसक्तिपूर्वक भोग प्रत्यक्ष ही पुनर्जन्म और नरकका हेतु है । उनके भोगके समयमें भी कुछ-न-कुछ तापका अनुभव होता ही है । वे क्षणभङ्गुर और नाशवान् भी हैं ही । विषयोंमें फँस जानेसे उनके पंजेसे छुटकारा कठिन हो जाता है । इन सब बातोंपर विचार करनेसे इस बातका निश्चय हो जाता है कि विषय वास्तवमें दुःखरूप हैं । अबतक जगत्‌के इतिहासमें किसी भी मनुष्यको अधिक-से-अधिक विषयोंका भोग करनेपर भी उनमें सन्तोष और शान्ति नहीं मिली है । इसलिये उनकी ओरसे उपराम हो जाना ही श्रेय है ।

प्र० ११—प्रातःकाल नींद टूटते ही और रातमें

सोनेके समय क्या प्रार्थना करनी चाहिये ? मुख्यरूपसे क्या करना चाहिये ?

उ०—सोने और जागनेके समय मुख्यतः भगवान्के नाम, गुण, रूप और लीलाका स्मरण करना चाहिये। अपने मनमें श्रीभगवान्के प्रति जो भाव हों, उन्हें भावनाओंके साथ उनके चरणोंमें निवेदन करना चाहिये। अपने मनके भावसे मिलते-जुलते अर्थवाले जो श्लोक और पद हों, उनका उच्चारण करना चाहिये। उनके चुनावमें अपने-अपने स्वभाव और रुचिकी ही प्रधानता होती है। श्लोक अथवा पद याद न हो तो जिस भाषामें बातचीत करता है, वह उसी भाषामें भगवान्से प्रार्थना करे; क्योंकि वे तो सबकी भाषा समझते हैं।

प्र० १२—रातको सोते समय भी नाम-जप होता रहे—इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

उ०—यदि नींदके पहले खूब प्रेम और लगनके साथ नाम-जप करता रहे और जब-जब नींद टूटे तब-तब उसको सँभालता रहे तो नाम-जप निरन्तर होने लगता है। यदि नींद टूटनेपर नाम-जप होता न मिले तो हृदयमें बड़ा पश्चात्ताप और वेदना होनी चाहिये, और सच्चे हृदयसे भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो ! ऐसी कृपा करो कि एक क्षणके लिये भी कभी तुम्हारे नामका ताँता न टूटे। सच्ची प्रार्थना हो, और हृदयमें उत्साह हो तो सोते समय भी नाम-जप होने लगना क्या कठिन बात है।

प्र० १३—मैं सन्ध्या करना नहीं जानता, क्या इसके बदलेमें ध्यान अथवा नाम-जप किया जा सकता है ?

उ०—प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजातिके लिये सन्ध्या करना अनिवार्य है। सन्ध्या न करनेसे पाप होता है। अतः सन्ध्याको किसी-न-किसी प्रकार सीख ही लेना चाहिये। जबतक पूरी सन्ध्या याद नहीं हो जाती तबतक केवल गायत्री-मन्त्रसे प्राणायाम, आचमन, मार्जन, सूर्योपस्थान, जप आदि मुख्य-मुख्य कर्म कर लेने चाहिये। यद्यपि ध्यान और जपकी महिमा अनन्त है, फिर भी उनके आश्रयसे नित्यकर्मका लोप नहीं होना चाहिये।

प्र० १४—उपवास अथवा फलाहारके दिन भी बलिवैश्वदेव करना चाहिये क्या ? कौन-सा फलाहार उत्तम है ? फलाहारके दिन कुत्ते, कौवे आदिके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—उपवासके दिन बलिवैश्वदेवरूप यज्ञ मानसिक करना चाहिये। फलाहारके दिन फलसे। मनुष्य जो भोजन करता है, उसीके द्वारा यह यज्ञ करना चाहिये। सबसे उत्तम तो निराहार रहना ही है। दूसरा नंबर स्वल्प परिमाणमें दुग्ध लेनेका है। तीसरे नंबरमें सूर्यकी किरणोंसे पके हुए फलोंका है। फलाहारकी वर्तमान प्रणाली तो चौथी श्रेणीकी है। न करनेसे यह भी अच्छी ही है। कौवों और कुत्तोंको भी वही वस्तु देनी चाहिये जो स्वयं खाये। पहले दिनका बचा हुआ भोजन खिलानेमें भी कोई हानि नहीं है।

प्र० १५—दूसरोंके यहाँ निमन्त्रणमें जानेपर बलि-वैश्वदेव नहीं कर सकते। ऐसे अवसरोंपर क्या करना चाहिये ?

उ०—ऐसे अवसरोंपर मानसिक बलिवैश्वदेव कर लेना चाहिये।

प्र० १६—'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा ॥' यह बात सिर्फ प्रारब्ध-भोगमें ही लागू है, अथवा परमार्थ-पथकी उन्नति और अवनतिमें भी ? इसका असली भाव क्या है ?

उ०—यह बात 'मुख्यरूपसे प्रारब्ध-भोगमें ही लागू है। परमार्थ-पथकी उन्नति होती है साधकके उत्साह, लगन और साधन-सम्बन्धी तत्परतासे। उसके अहंकार, आसक्ति, आलस्य, प्रमाद आदिसे अवनति होती है।

इसका असली भाव यह समझना चाहिये कि जो कुछ सुख-दुःख मिला, अथवा आगे मिलेगा, उसके सम्बन्धमें सोच-विचार न करके उसे भगवान्के विधान और प्रारब्धपर छोड़ दे तथा वर्तमान कालमें भगवान्के शरण होकर अपनेको अवनतिसे बचाने और उन्नतिके पथपर ले जानेके लिये भरपूर चेष्टा करे।

प्र० १७—सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये साधकको क्या करना या करते रहना चाहिये ?

उ०—साधकको चाहिये कि सदाचारका पालन करते हुए नित्य आर्तभावसे भगवान्के चरणोंमें प्रार्थना करे कि आप मुझे शीघ्र संत सद्गुरुसे मिलाइये। स्मरण रहे कि सच्ची और उचित प्रार्थना कभी निष्फल नहीं होती। प्रार्थीके अधिकारानुसार कुछ विलम्ब अवश्य हो सकता है।

प्र० १८—वास्तवमें जप और ध्यान किसे कहना चाहिये ?

उ०—वास्तवमें सच्चा जप और ध्यान वही है, जो श्रद्धा और प्रेमसे हो। श्रद्धा और प्रेमके बिना जप और ध्यान साधारण फलदायक हैं।

प्र० १९—साधक दूसरोंकी उन्नतिके लिये चेष्टा करे या नहीं ? होम करते हाथ जलनेकी नौबत तो नहीं आती ?

उ०—साधक जिस साधनासे अपना परम कल्याण समझता है वह साधना दूसरे भी करें और उसके द्वारा लाभ उठावें, ऐसी इच्छा और चेष्टा उसकी होनी चाहिये। उसके मनमें ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि यदि दूसरोंका कल्याण साधन करनेमें मेरी हानि भी हो जाय तो कोई परवा नहीं। वास्तवमें तो दूसरेका भला चाहनेवालेका पतन हो ही नहीं सकता। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥' प्यारे अर्जुन ! कल्याणके किसी भी साधककी कभी किंचिन्मात्र भी दुर्गति नहीं हो सकती। इसलिये अपने
साथ-साथ दूसरोंके कल्याणकी भी चेष्टा करनी

प्र० २०—साधकको अपने ही सुधारमें ल
चाहिये, क्या यह ठीक है ?

उ०—यह ठीक है कि साधकको अपने
तो निरन्तर तत्पर रहना ही चाहिये, दूसरोंके
भी ध्यान रखना चाहिये। दूसरोंके कल्याण
करनेपर कहीं उसके चित्तमें इस बातका अहंकार
जाय कि मैंने अमुकका हित कर दिया। इसलिये
दूसरोंका हित तो करे अवश्य, परन्तु दूसरोंके
साथ-साथ अपने सुधारपर निरन्तर दृष्टि रखे।
अपना सुधार नहीं करता भला, वह दूसरोंका
कब कर सकता है।

प्र० २१—कभी-कभी मेरे इष्टदेवके चित्रसे
सुन्दर चित्र जब मिलते हैं, तब चित्त उनके
ललच जाता है। ऐसी स्थितिमें क्या करना चाहिये
नये चित्रके अनुसार ध्यान करना चाहिये अथवा
का ही ? ऐसी अवस्थाका यथार्थ मर्म क्या है ?

उ०—जिस समय आपके पासवाले चित्रसे और
सुन्दर चित्र आपके पास आता है, उस समय आपको
भगवान्की विशेष कृपाका अनुभव करना चाहिये।
भगवान्ने आपपर कृपा करके एक और भी नयी
मनोहारी झाँकी आपके सामने प्रकट कर दी।
उसी रूपमें अपने इष्टदेवका ध्यान कीजिये और उनकी
विभिन्न लीलाओंको देखिये। केवल इतना ही नहीं,
यदि श्रीकृष्णका ध्यान करते समय श्रीरामका, अथवा
श्रीरामका ध्यान करते समय श्रीविष्णुका श्रीविग्रह
आपके ध्यानमें प्रकट हो जाय तो भी उसे अपने
भगवान्की विशेष कृपा और रूप समझकर प्रेमसे पूजा
कीजिये और आनन्दसे गद्गद हो जाइये। सब अपने
इष्टदेवके ही तो रूप हैं। उनमें भेद-भाव करनेकी कोई
आवश्यकता नहीं है।

प्र० २२—शास्त्र परमात्माके द्वैत और अद्वैतके भेदसे निर्गुण-निराकार-साकार और सगुण-निराकार-साकारके चार-चार प्रकार हो जाते हैं। उनका यथार्थ मर्म स्पष्ट कीजिये।

उ०—आपने अपने प्रश्नमें जो चार-चार प्रकारके भेदोंका उल्लेख किया है, वह किस प्रसंगमें लिया है? वहाँ वह जिस भावसे लिखा गया हो, उसको वहींसे समझना चाहिये। वास्तवमें निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार—सब-के-सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। एक ही लीलामय भगवान् लीलाके लिये विभिन्न साधकोंके सामने भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होते हैं, उनके सम्बन्धमें इतना जानना ही पर्याप्त है कि वे सब भगवान्‌के ही रूप हैं।

प्र० २३—एक बार नखसे शिखतक ध्यान कर लेनेके बाद बार-बार वही दोहराना चाहिये या और कुछ करना चाहिये?

उ०—नियत समयतक ध्यानके लिये बैठनेपर एक बार तो पूरे नख-शिखका चिन्तन कर लेना चाहिये। रुचि और प्रेम हो तो बार-बार उसे दोहराना चाहिये। ध्यान ठीक-ठीक न लगे तो अपने इष्टदेवके प्रभाव, गुण, रहस्य; चरित्र आदिका स्मरण और उनकी कृपा, प्रेमका अनुभव करना चाहिये। उनकी विभिन्न लीलाओंका दर्शन भी कर सकते हैं और समय, रुचि तथा प्रेरणाके अनुसार उनकी मानसिक सेवा भी कर सकते हैं। प्रार्थना और मानस-पूजाके लिये भी यही उपयुक्त अवसर है।

प्र० २४—मेरा मन स्वाध्यायमें विशेष लगता है और जपमें कम। मुझे नामजप करना चाहिये अथवा स्वाध्याय? उत्तम कौन है?

उ०—जप और स्वाध्याय दोनों ही उत्तम हैं। जैसे शरीर-पोषणके लिये अन्न और जल दोनोंकी आवश्यकता है, वैसे ही पारमार्थिक उन्नतिके लिये जप और स्वाध्याय-की है। स्वाध्यायसे जपमें मन लगता है और जपसे स्वाध्यायकी धारणा होती है। दोनों एक-दूसरेके विरोधी नहीं हैं, सहायक हैं। इसलिये दोनों ही करने चाहिये। जिसमें मन न लगे, उसमें लगाया जाय।

प्र० २५—माया और प्रकृति क्या हैं? उनमें कितना अन्तर है? भक्त और ज्ञानीकी दृष्टिसे इनके स्वरूप क्या है?

उ०—वेदान्ती लोग माया और प्रकृतिको एक ही मानते हैं और उसीके द्वारा जिज्ञासुको सृष्टिकी व्यवस्था समझाते हैं। वे मायाका स्वरूप काल्पनिक मानते हैं। भक्तकी दृष्टिमें प्रकृति सत्य है। यही सृष्टिका उपादान कारण है। उसमें फँसा देनेवाले अंशको वे माया मानते हैं। असलमें भक्तकी दृष्टि तो भगवान्‌पर ही रहती है, वह माया और प्रकृतिको क्यों देखने लगा?

प्र० २६—शुद्ध साक्षी किसे कहते हैं?

उ०—सम्पूर्ण दृश्यमान जगत्‌के भाव और अभावको, सृष्टि और प्रलयको, प्रतीति और बाधको जो जानता है, और किसी भी कर्म अथवा अकर्मका कभी भी कर्ता, भोक्ता नहीं बनता, वह 'तत्' और 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ कूटस्थ आत्मा ही साक्षी है।

प्र० २७—प्रपञ्च क्या है? उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे हो?

उ०—जो कुछ भाव अथवा अभावके रूपमें दृश्यमान जगत् है, उसको प्रपञ्च कहते हैं। उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है ज्ञानमार्गद्वारा ब्रह्मका तत्त्व जाननेसे अथवा भक्तिके द्वारा भगवान्‌की कृपा प्राप्त करके भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार हो जानेपर। तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्तिसे ही प्रपञ्चकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

प्र० २८—क्या भक्तोंपर भी प्रारब्धका प्रभाव रहता है?

उ०—भक्तोंके शरीरमें भी रोग, धननाश आदि प्रारब्धके अनुसार होते हैं। परन्तु वे प्रारब्धके अनुसार होनेवाली घटनाओंसे प्रभावित नहीं होते। उनकी दृष्टि

परन्तु जो नहीं चाहता, उसके अभावपर माता-पिता अधिक ध्यान देते हैं। इसलिये सबसे श्रेष्ठ यही है कि भगवान्से कुछ भी माँगा न जाय। भजनके लिये भी रोग-निवृत्तिकी प्रार्थना पहले नंबरकी बात नहीं है। उचित तो यह है कि भगवान्के विधानमें सन्तुष्ट रहकर रोग-शोककी अवस्थाओंमें भी उनकी कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये। उन्होंने जब रोग दिया है, तब कुछ-न-कुछ सोच-समझकर ही तो दिया होगा। फिर उनके ज्ञान, कृपा और न्यायशीलताको स्वीकार न करके उनकी देनको लौटाया क्यों जाय? परन्तु यदि ऐसी ऊँची मानसिक स्थिति न हो तो भजनके लिये आरोग्यकी प्रार्थना करना बुरा नहीं है।

(७) मुख्य बात तो यह है कि यदि राजा कोई अनुचित और अन्यायपूर्ण काम करनेको कहता है, तो उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहिये। अपने स्वार्थके लिये किसी भी अन्यायपूर्ण कार्यको कर्तव्यके अंदर स्थान नहीं देना चाहिये। कोई नौकरी प्रारब्धाधीन नहीं होती। सुख-दुःखकी प्राप्ति प्रारब्धके अनुसार होती है, और वह किसी-न-किसी निमित्तसे होती है। इसके लिये प्रारब्धको दोष न देकर उसपर और विश्वास करना चाहिये और जो कुछ सुख-दुःख प्रारब्धमें बदा होगा वह तो मिलेगा ही, ऐसा निश्चय करके अनुचित कर्मसे अलग हो जाना चाहिये। 'यथा राजा तथा प्रजाः' बननेकी नीति तो आत्मबलके अभावकी—कमजोरीकी बात है। इसको औचित्यका रूप कभी नहीं देना चाहिये।

(८) पति-पत्नीका एक शय्यापर शयन करना शास्त्रविरुद्ध नहीं है। यदि ऐसा करना शास्त्रविरुद्ध हो तो स्त्री-सहवास ही कैसे बन सकता है। संयमकी दृष्टिसे प्रतिदिन ऐसा नहीं करना चाहिये। कभी-कभी कुछ समयके लिये ऐसा करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। स्त्रीको अप्रसन्न नहीं करना चाहिये, परन्तु जहाँतक हो दृढ़ताके साथ अधिक-से-अधिक संयमका पालन भी करना चाहिये।

(९) जो कर्मचारी राजाका काम ईमानदारीके साथ करता है, और प्रजाको भी खुश रखता है, वह अपना कर्तव्य-पालन तो करता है; परन्तु यदि वह प्रजासे किसी प्रकारका इनाम लेता है, तो उसे खुले चौड़ेमें सबके सामने लेना चाहिये। किसीसे भी छिपाकर लेना घूसखोरी ही है। इसे नेक कमाई नहीं कहा जा सकता।

(१०) चित्त-निरोधके लिये जिस सुषुम्ना नाड़ीका वर्णन किया गया है, वह वैद्योंकी जानकारीमें आनेवाली सुषुम्ना नाड़ीसे सम्बन्ध तो अवश्य रखती है परन्तु है उससे भिन्न। वह हृदयसे लेकर मस्तकपर्यन्त एक ज्योतिर्मय सूत्रके रूपमें है और उसमें परमात्माका ध्यान करनेसे बड़े आनन्दका अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त एक सुषुम्नास्वर भी है। जब इड़ा और पिंगला—बायें और दायें दोनों नासिका-छिद्रोंसे समानरूपसे श्वास-प्रश्वास चलने लगता है, तब उसे सुषुम्नास्वर कहते हैं। ब्राह्म-मुहूर्त और सन्ध्याके समय भी ऐसा स्वाभाविक ही हो जाता है। यह स्वर चलनेपर ध्यानमें चित्त बहुत जल्दी लगता है।

आपके प्रश्न स्वाभाविक और कामके हैं। इसमें कोई अपराधकी बात नहीं है। उत्तर आपके प्रश्नोंकी संख्याके अनुसार अलग-अलग दिया गया है। उत्तरके लिये टिकट भेजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

भक्तोंका सन्देश

(लेखक—पं० श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

इस संसारमें भटकनेवाले मनुष्योंको सन्मार्ग दिखाने तथा अज्ञानसे निकालकर शान्ति पानेका यत्न करनेवाले साधकोंको रास्ता देनेके लिये सब देशों और समयोंके भक्तोंने जो उपदेश किये हैं उनमें एक विलक्षण एकता देख पड़ती है। मनुष्योंके लिये संतोंके ये उपदेश और उनके आदर्श-जीवन ही सबसे बड़ी पैतृक सम्पत्ति हैं। ये ही वे प्रज्वलित दीप हैं, जिनके बिना मनुष्यका सारा पुरुषार्थ कुछ नहींके बराबर रह जाता है।

एक बात जो सब भक्त सबके दिलोंपर जमाना चाहते हैं, वह है मानव-जन्मकी दुर्लभता। असंख्य नीच-योनियोंमें भटकनेके पश्चात् यह मानव-जन्म विकसित हुआ है। मनुष्यकी जो निम्नगा प्रकृति है उसीके हवाले यह मनुष्य हो जाय तो वह अधोगतिकी निम्नतम सीमाको पहुँच जाय और यदि वह अपनी आध्यात्मिक प्रकृतिका सहारा लेकर ऊपर उठे तो वह उस परमानन्दधाममें पहुँच जाय जहाँ देवता भी नहीं पहुँच पाते। मानव-जन्म ही एक ऐसा अवसर है, जिसमें आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है और यदि यह अवसर खो दिया जाय तो जीवको फिरसे उन्हीं असंख्य नीच योनियोंमें भटकना पड़े। इस बातका जब किसीको वास्तविक बोध हो जाता है तब उसका जीवन बदल जाता है, संसार उसके लिये कुछ दूसरा ही हो जाता है। जो बातें हमें इस समय बड़ी प्यारी लगती हैं और हमारे मन और शक्तिको अपनी ओर खींच लेती हैं, वे तब निःसार प्रतीत होने लगती हैं। सांसारिक भोग प्राप्त करनेके लिये किये जानेवाले प्रयास तब अपने असली रूपमें देख पड़ते हैं, पता लग जाता है कि अपने-आपको ही फँसानेके लिये आप ही बिछाये हुए ये जाल थे। यही बात संतलोग पुकार-पुकारकर कहते हैं जिसमें हमलोगोंके अंदर विवेक जागे और हमलोग संसारकी इन चीजोंको इनके असली रूपमें देखें।

जब मनुष्यकी ऊर्ध्वगा और निम्नगा प्रकृतियोंके बीच जोरका संघर्ष होने लगता है, तब अनुसन्धानका आरम्भ होता है। अनुसन्धान करनेवाली बुद्धि मुक्ति-का मार्ग जाननेके लिये तरसने लगती है। यह मार्ग दिखानेका काम वही मनुष्य कर सकता है, जिसके ज्ञान और अनुभवने रास्तेकी सब विघ्न-बाधाओंको जीत लिया हो, जिसने वह चीज पा ली हो जिसे और लोग ढूँढ रहे हैं। संसिद्धिके साधकका यह सौभाग्य है जो उसे सद्गुरु मिल जायँ, क्योंकि सद्गुरुके सहायक और मार्गदर्शक हुए बिना केवल शुभेच्छा या मुमुक्षासे कुछ भी नहीं बन सकता। वह पुरुष वास्तवमें भाग्यशाली है, जिसे सद्गुरु मिल गये। उसके लिये मोक्षके द्वार खुल गये, उनके अंदर प्रवेश करनेके लिये अब केवल कालकी अपेक्षा रहेगी। मोक्षका होना तो उसका निश्चित हो गया।

साधनामें भी हम यह देखते हैं कि प्रायः सब भक्त साधकोंको एक ही राजमार्गसे ले जाते हैं। यह राजमार्ग है, सबके लिये खुला है; यदि बंद है तो केवल उसके लिये जो विधिका उल्लङ्घन करता, उसका तिरस्कार करता है। जो मार्ग सबके लिये है वह अवश्य ही सीधा और सबके लिये सुगम होना चाहिये। है भी ऐसा ही और वही कि, 'भगवन्नाम जपो।'

यही एकमात्र उपदेश है, जिसे सब गुरु किया करते हैं। नाममें एक शक्ति है, जिसका अनुभव उस नामको विधिपूर्वक लेनेसे चाहे किसीको भी प्राप्त हो सकता है। उस नामको चाहे आप जोर-जोरसे चिल्ला-

कर गायें, या केवल होठोंसे लेते रहें अथवा केवल मनसे ही जपें। पर यह होना चाहिये निरन्तर। अभ्याससे ही यह सुगम होता है। कहते हैं कि फिर स्वप्न और सुषुप्तिमें भी नाम-जप होता रहता है। साँस-साँसके साथ नाम चलता रहता है। इससे परम आत्मानन्द प्राप्त होता है। नामको अमृतसे उपमा दी गयी है। जिस किसीने एक बार भी इस नामामृत-का पान किया है उसने यह जाना है कि जीवनमें इतनी मधुर वस्तु और कोई नहीं है।

परन्तु यह अवस्था तब आती है, जब नाम ध्यानके साथ लिया जाता है। मनको एकाग्र करना, निश्चय ही, सांसारिक भोगोंमें आसक्त और सुख-दुःखादिकोंसे विचलित मनके लिये बड़ा कठिन है। हवाके जरासे झोंकेसे सूखा पत्ता उड़ जाता है। मनको स्थिर करना बड़े अभ्यास और धैर्यका काम है। पर मजा यह है कि नाम ध्यानमें सहायक होता है और ध्यान नामको शक्तिमान् बनाता है। ये दोनों ही एक दूसरेके सहायक हैं।

फिर दूसरी बात यह है कि भगवान्की सत्ताका सतत ध्यान रहे। जिस प्रकारके संसारमें हमलोग रहते और उसके नानाविध पदार्थोंके राग-द्वेषोंमें उलझते रहते हैं उससे किसी एक पदार्थपर अपने मनको स्थिर और एकाग्र करना असम्भव-सा हो जाता है। तब सतत भगवान्का चिन्तन करना कितना कठिन होगा! ऊपर जो दो अभ्यास बताये हैं, उन्हींसे वैसी अवस्था प्राप्त हो सकती है। इस अवस्थाको पानेका इससे भी सुगम और व्यवहार्य उपाय बताया गया है। वह भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

'जो कुछ तुम करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो कुछ दान करो, जो कुछ तप, अनुष्ठान करो, वह मुझे अर्पण करो।'

इस प्रकार जीवनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक कर्म, मन-बुद्धिकी प्रत्येक क्रिया भगवदर्पित होगी। हमारा जीवन तब उनके लिये होगा और केवल उन्हींके लिये। हमारे सब विचार उन्हींकी ओर प्रवाहित होंगे। और हमारे सांसारिक कर्त्तव्य जो किसी समय हमारे मनको भगवान्से हटा लेते थे, वे ही अब अपने क्रियाकालमें भगवान्की याद दिलाया करेंगे। यही वास्तविक संन्यास है। कर्ममें अकर्मको देखना, कर्म करते हुए उससे सर्वथा अलिप्त रहना ही वह अवस्था है जो सिद्ध करनी होगी, जिसमें भगवान्का पावन नाम निरन्तर चलता रहे।

परन्तु मनुष्य अपने पुरुषार्थसे कितना कर सकता है! मार्ग बड़ा दुर्गम है, मनुष्यमें न उतना बल है न धैर्य। और प्रतिक्षण नाना प्रकारके मोहोंका सामना है। परन्तु सब विघ्न-बाधाएँ हवा हो सकती हैं यदि उसे एक चीज मिल जाय। वह चीज है, भगवत्कृपा। हृदयके अन्तस्तलसे उन्हें पुकारो, वे तुम्हारी पुकार सुनेंगे। उस कृपाकी सच्ची चाह ही उसे पानेकी एकमात्र राह है। उसे जो कोई पा लेता है, वह फिर और कुछ नहीं चाहता।

यही उन भक्तोंका सन्देश है, जो अपनी भक्तिके द्वारा ज्ञान और आनन्दकी परा स्थितिको पहुँचे हुए हैं और संसारमें केवल इसलिये रहते हैं कि भूले-भटके हुए जीवोंको रास्ता दिखा दें और उन्हें बचा लें। ऐसे ही लोगोंके सम्बन्धमें श्रीकृष्णने कहा है कि मैं उन लोगोंके पीछे-पीछे चलता हूँ जिसमें उनके पैरोंकी धूल मुझपर आ गिरे और मुझे पवित्र करे।

काम-क्रोधादि शत्रुओंका सदुपयोग

आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि मेरा मन श्रीकृष्णके भजनके लिये छटपटाता रहता है, परन्तु भजन होता नहीं, तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंका चेष्टा करनेपर भी नाश नहीं होता। सो ठीक है। श्रीकृष्ण-भजनके लिये मनका छटपटाना श्रीकृष्णका भजन ही है। यह मनुष्य वास्तवमें भाग्यवान् है, जिसका मन भजनके लिये व्याकुल है। संसारमें सभी लोग छटपटाते हैं—कोई धनके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई मान-यशके लिये, तो कोई शरीरके आरामके लिये। आप यदि श्रीकृष्ण-भजनके लिये छटपटाते रहते हैं तो निश्चय मानिये, आपपर श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा है। आपकी यह छटपटाहट श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाली है।

रही काम-क्रोधादि छः शत्रुओंकी बात, सो असलमें बड़े शत्रु हैं। मनुष्य बाहरके शत्रुओंका तो नाश करना चाहता है परन्तु इन भीतरी शत्रुओंको अंदर बसाये रखता है। वरं बाहरी शत्रुओंका नाश करने जाकर इन भीतरी शत्रुओंके बलको और भी बढ़ा देता है। भगवत्-कृपासे ही इनका नाश होता है। परन्तु भक्तलोग इनके नाशकी बात नहीं सोचते। वे तो इन्हें भक्तिसुधासे सींचकर मधुर, हितकर और अनुकूल अनुचर बना लेते हैं। आप भी भक्तोंके पवित्र भावोंका अनुसरण करके इन काम-क्रोधादिको भगवत्सेवामें लगानेकी चेष्टा कीजिये।

काम—आत्मतृप्तिमूलक कामनाका नाम ही 'काम' है। मनुष्य किसी भी वस्तुकी कामना करे, उसका लक्ष्य होता है सुख ही। विभिन्न जीवोंके कामनाके पदार्थ चाहे भिन्न-भिन्न हों, परन्तु सभी चाहते हैं आनन्द—और आनन्द भी ऐसा कि जो सदा एक-सा बना रहे। परन्तु अज्ञानवश उसे खोजते हैं विनाशी असत् वस्तुओंमें। इसीसे उन्हें सुख—आनन्दके बदले बार-बार दुःख मिलता है। परमानन्दस्वरूप तो श्रीभगवान् ही हैं। उन्हींकी प्राप्तिसे नित्य अविनाशी परमानन्दकी प्राप्ति है। अतएव कामको परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी प्राप्तिमें लगाना चाहिये। श्रीकृष्ण-प्राप्ति ही आत्मतृप्तिकी अवधि है। स्थूलरूपसे कामका प्रधान आधार है नारीके प्रति पुरुषका और पुरुषके प्रति नारीका विकारयुक्त आकर्षण। यह आकर्षण होता है स्मरण, चिन्तन, दर्शन, भाषण और सङ्ग आदिसे। काम-रिपुपर जय पानेकी इच्छा करनेवाले नर-नारियोंको परस्त्री और परपुरुषके चिन्तन-दर्शनादिसे यथासाध्य बचकर रहना चाहिये। और दर्शनादिके समय परस्पर मातृभाव तथा पितृभावकी भावना दृढ़ करनी चाहिये। कामजयी कृष्णानुरागी संतोंके द्वारा श्रीकृष्णके रूप, गुण, माहात्म्यकी रहस्यमयी चर्चा सुननेपर श्रीकृष्णके प्रति आकर्षण होता है और श्रीकृष्ण ही कामके लक्ष्य बन जाते हैं। इससे कामका शत्रुपन सहज ही नष्ट हो जाता है।

क्रोध—किसीके मनमें किसी वस्तुकी कामना है यह कामना पूरी नहीं हो पाती, इससे वह दुःखी रहता है। इसी बीचमें जब किसीसे कोई बात सुनकर या जानकर उसे यह पता लगता है कि अमुक व्यक्तिके कारण मेरा मनोरथ सिद्ध नहीं हो रहा है, अथवा कोई उसे जब गाली देता है अथवा मनके प्रतिकूल कुछ करता-कहता है, तब एक प्रकारका कम्पन पैदा होता है; वह कम्पन चित्तपर आघात करता है, चित्तके द्वारा तत्काल वह बुद्धिके सामने आता है, बुद्धि निर्णय करती है कि यह हमारे अनुकूल नहीं है। बस, उसी क्षण उसके विरोधमें दूसरा कम्पन उत्पन्न होता है। इन दोनों कम्पनोंमें परस्पर संघर्ष होनेसे ताप पैदा होता है।

यही ताप जब बढ़ जाता है, तब स्नायुसमुदाय उत्तेजित हो उठते हैं और चित्तमें एक ज्वालामयी वृत्ति उत्पन्न होती है। इसी वृत्तिका नाम क्रोध है। क्रोधके समय मनुष्य अत्यन्त मूढ़ हो जाता है। उसके चित्तकी स्वाभाविक पवित्रता, स्थिरता, सुखानुभूति, शान्ति और विचारशीलता नष्ट हो जाती है। पित्त कुपित हो जाता है, जिससे सारा शरीर जलने लगता है। नसें तन जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, वायुका वेग बढ़ जानेसे चेहरा विकृत हो जाता है, लंबी साँस चलने लगती है, हाथ और पैर अस्वाभाविकरूपसे उछलने लगते हैं। इस प्रकार जब शरीरकी अग्नि विकृत होकर बढ़ जाती है तब वाणीपर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वाक्-इन्द्रियका कार्य अग्निसे ही होता है। अतएव मुखसे अस्वाभाविक और बेमेल वाक्योंके साथ ही निर्लज्जभावसे गाली-गलौजकी वर्षा होने लगती है। उस समय मनुष्य परिणाम-ज्ञानसे शून्य हो जाता है, उसकी हिताहित सोचनेवाली विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। शरीर और मन दोनों ही अपनी स्वाभाविकताको खोकर अपने ही हाथों वर्षोंके कमाये हुए साधन-धनको नष्ट कर डालते हैं। प्यारे मित्रोंमें द्वेष, बन्धुओंमें वैर और स्वजनोंमें शत्रुता हो जाती है। पिता-पुत्र और पति-पत्नीके दिल फट जाते हैं। कहीं-कहीं तो आत्म-हत्यातककी नौबत आ जाती है। इस प्रकार क्रोधरूपी शत्रु मनुष्यका सर्वनाश कर डालता है। क्रोधी आदमी असलमें भगवान्का भक्त नहीं हो सकता। ज्ञानके लिये तो उसके अन्तःकरणमें जगह ही नहीं होती। इस भीषण शत्रु क्रोधका दमन किये बिना मनुष्यका कल्याण नहीं है। इसका दमन होता है इन चार उपायोंसे—१. प्रत्येक प्रतिकूल घटनाको भगवान्का मङ्गल-विधान समझकर उसे परिणाममें कल्याणकारी मानना और उसमें अनुकूल बुद्धि करना, २. भोगोंमें वैराग्यकी भावना करना, ३. सहनशीलताको बढ़ाना और ४. क्रोधके समय चुप [illegible]

क्रोधको अनुकूल और हितकर बनानेके लिये उसे भगवान्की सेवामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोधका प्रयोग जब केवल भगवद्द्वेषी भावोंपर किया जाता है, तब उसके द्वारा भगवान्की सेवा ही होती है। भगवान्के प्रति द्वेषके भाव जहाँ मिलें वहीं क्रोध हो। उन्हें हम सह न सकें। यदि वे हमारे अपने ही मनके अंदर हों तो हम वैसे ही अपने मनका नाश करनेको भी तैयार हो जायँ, जैसे जहरीला घाव होनेपर मनुष्य अपने प्यारे अंगोंको भी कटवा डालनेके लिये तैयार हो जाता है। गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

× × × ×

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

× × × ×

जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जिये जग में तुम्हरो बिनु है।

× × × ×

हिय फाटउ, फूटउ नयन, जरउ सो तन केहि काम।
द्रवइ, स्रवइ, पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

भगवान्की सेवामें भगवत्-प्रतिकूलताको स्थान नहीं है। यह समझकर जहाँ-जहाँपर भगवत्-प्रतिकूलता हो, फिर चाहे वह अपने ही मनमें क्यों न हो, वहीं क्रोध-का प्रयोग करके उसे तुरंत हटाना और उसका नाश करना चाहिये। यही क्रोधका सदुपयोग है।

लोभ—लोभ भी बहुत बड़ा शत्रु है। संतोंने लोभ-को 'पापका बाप' बतलाया है। अर्थात् लोभसे ही पाप पैदा होते हैं। कामनामें बाधा आनेपर जैसे क्रोध पैदा होता है, वैसे ही कामनाकी पूर्ति होनेपर लोभ उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों मनचाही वस्तु मिलती है त्यों-ही-त्यों और भी अधिक पानेकी जो अबाध—अमर्याद-लालसा होती है, उसे 'लोभ' कहते हैं। लोभसे मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है, उससे विवेककी आँखें मुँद जाती हैं और वह विस्फोटकपताके वश

लेकर खान-पान तथा धर्माधर्मका विवेक भूलकर मनमाना आचरण करने लगता है। इस लोभको मधुर, हितकर और अनुकूल बनानेका उपाय यह है कि इसका प्रयोग भजन, ध्यान, नाम-जप, सत्सङ्ग, भगवत्कथा आदिमें ही किया जाय। अर्थात् धन, मान, कीर्ति, भोग, आराम आदिसे लोलुपता हटाकर भगवान्के ध्यान, उनकी सेवा, उनके नामका जप, उनके तत्त्वज्ञ भक्तोंके सङ्ग, उनकी लीला, कथा आदिके सुनने-पढ़ने आदिका लोभ हो। ऐसा करनेसे लोभ शत्रु न होकर मित्र बन जाता है।

मोह—किसी भी विषयका जब अत्यधिक लोभ जाग्रत् हो जाता है तब बुद्धि उसमें इतनी फँस जाती है कि दूसरे किसी भी विषयका मनुष्यको ध्यान नहीं रहता, चाहे वह कितना ही आवश्यक और उपयोगी क्यों न हो। जैसे किसी व्यभिचारी मनुष्यका मन किसी स्त्रीमें तथा किसी स्त्रीका किसी पुरुषमें लग जाता है फिर उसे नींद, भूखतकका पता नहीं लगता। न-दौलत, विलास-वैभव, भोग-आराम सबसे वह सुध हो जाता है। वह निरन्तर अपने उस मनोरथके चिन्तनमें ही डूबा रहता है। यही मोह है। यह मोह जब सांसारिक पदार्थोंमें न रहकर भगवान्की रूप-माधुरीमें हो जाता है, भगवान्की रूप-माधुरीपर मुग्ध होकर जब वह पागलकी तरह सब कुछ भूलकर उसीमें फँसा रहता है, तब मोहका सदुपयोग होता है।

मद—मद कहते हैं नशेको। धन, मान, पद, बड़प्पन, विद्या, बल, रूप और चातुरी आदिके कारण मनुष्यके मनमें एक ऐसी उल्लासमयी अन्धवृत्ति उत्पन्न होती है, जो विवेकका हरण करके उसे उन्मत्त-सा बना देती है। इसीका नाम 'मद' है। मदोन्मत्त मनुष्य किसीकी परवा नहीं करता। यही मद जब भगवच्चरणके प्रेम, भगवन्नाम-गुण-कीर्तन और भगवान्के ध्यानमें प्रयुक्त हो जाता है, तब मनुष्य दिन-रात उसी पवित्र नशेमें चूर रहता है। जहाँ सांसारिक पदार्थोंका नशा नरकोंमें ले जाता है, वहाँ भगवत्प्रेम तथा भगवद्ध्यानका नशा साधकको नित्य परमानन्दमय भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति करा देता है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे उन्मत्त भक्तोंको तीनों लोकोंके पवित्र करनेवाला बतलाया है। 'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।' अतएव सब कुछ भूलकर भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण, नाम आदिके चिन्तन और कीर्तनके आवेशमें डूबे रहना ही मदको अनुकूल और हितकारी बनाना है।

मत्सर—दूसरोंकी उन्नतिको न सह सकना मत्सर कहलाता है, इसीको डाह कहते हैं। संसारमें लोगोंकी उन्नति होती ही है और मत्सरताकी वृत्ति रखनेवाला मनुष्य उन्हें देख-सुनकर नित्य जलता रहता है, तथा अपनी नीच भावनासे निरन्तर उनका पतन चाहता है। परिणामस्वरूप वह नाना प्रकारके अनर्थ करके अन्तमें नरकगामी हो जाता है। इस मत्सरताका सदुपयोग होता है इसे सात्त्विक बनाकर भजनमें ईर्ष्या करनेसे। किसी साधककी साधनाको देखकर मनमें यह दृढ़ निश्चय करना कि 'मैं इनसे भी ऊँची साधना करके शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्को प्राप्त करूँगा' और तदनुसार तत्पर होकर दृढ़ताके साथ साधनामें लग जाना—यह सात्त्विक मत्सरताका स्वरूप है। इस किसीके पतनकी कामना नहीं होती। इससे के भजन-साधनमें उत्साह होता है। इससे मत्सरता हितकारिणी बन जाती है।

आप अपने इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर शत्रुओंको भगवान्में लगाकर इन्हें अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा कीजिये। भगवान्में और उनकी कृपा-शक्तिमें विश्वास करके प्रयोग शुरू कीजिये। आपका विश्वास सच्चा होगा तो भगवत्कृपासे शीघ्र ही आप उत्तम फल प्रत्यक्ष देखेंगे।

पाती—हम हिल-डुल भी नहीं सकते। यह तो हमारा प्रायः नित्यका ही अनुभव है। फिर भी हममेंसे बहुत ही कम व्यक्ति हैं, जो आत्माके सम्बन्धमें ज्ञान रखते हों या उसे जाननेकी इच्छा ही रखते हों। इसीलिये तो हम जीवनकी वास्तविक शोभासे वञ्चित हैं और इसीलिये, आत्माका ज्ञान न होनेके कारण ही हम चारों ओरसे दुःखोंसे घिरे हुए हैं, अभावग्रस्त हैं, विपदामें डूब-उतरा रहे हैं।

शरीर मर जाता है और आत्मा उस शरीरको छोड़कर दूसरेमें और दूसरेको छोड़कर तीसरेमें—इस प्रकार वह अपने परम प्रियतम प्रभुके पथमें चली जा रही है। क्यों? इसलिये कि आत्माकी भूख-प्यास जगत्के किसी पदार्थ, किसी भोग, किसी प्राप्तिसे मिट नहीं सकती। यहाँकी कोई चीज उसे लुभा नहीं सकती, उसकी अनन्त यात्रासे उसे विरत नहीं कर सकती। वह तो अपने परम प्रियतम परमात्माको ही पाकर सुखी और शान्त हो सकती है। संसारमें मनुष्य भगवान्को पानेके लिये और भगवत्सुखका आनन्दोपभोग करनेके लिये ही आया है। वह अमृतपुत्र है और अमृत ही उसका आहार है। भूलसे, मोहसे, अज्ञानसे वह अमृत छोड़कर विषका भक्षण किया करता है और इसीलिये तो बार-बार जन्मता है और बार-बार मरता है। इस जन्म-मृत्युके चक्करमें उसे दुःख, अभाव, गरीबी, विपत्ति, जरा, व्याधि, मृत्युके काँटे चुभते रहते हैं; परन्तु वह फिर भी दुःखोंके केन्द्रमें ही घुसा रहता है।

जीवन केवल खाने-पीने और मौज करनेके लिये नहीं है, बच्चे पैदा करने और धन जमा करनेके लिये नहीं है। यहाँ तो हम भगवत्पथमें चलकर भगवान्से मिलनेके लिये आये हैं। जीवनकी वास्तविक और अक्षय्य शोभा इस 'यात्रा' । इस 'मिलन' में ही है। इस यात्रा और इस मिलनकी विस्मृति ही सारे दुःखोंकी जड़ है। जीवनका अर्थ ही है भगवद्-मिलन। जीवनका यही एकमात्र और वास्तविक अर्थ है। इस अर्थको न जाननेके कारण ही हम दुःख-दारिद्र्य और जन्म-मृत्युके शिकार हो रहे हैं। यहाँ हमारे जो भी स्वजन परिजन हैं, जो भी साधन-सामान हैं, सभीका उपयोग एकमात्र भगवान्के पथमें चलकर भगवान्के मिलनका आनन्द प्राप्त करनेमें होना चाहिये; क्योंकि उनका सब उपयोग है भी यही। स्वच्छन्द विषयोपभोगके लिये हमें इन्द्रियाँ नहीं दी गयीं, प्रत्युत इनका संयम करके आत्माके आनन्दका उपभोग करना ही हमारे जीवनका मूल लक्ष्य है।

"He that findeth his life shall lose it; he that loseth his life for my sake shall find it."

संसारकी निखिल विभूतिसे बढ़कर है चित्तकी 'समता'। संसारके प्रलोभन एवं आकर्षण इसलिये हमारे सामने आते हैं कि हम इन्हें जीतकर आत्मा-को दृढ़ और बलशाली बनावें। जैसे शारीरिक व्यायामके लिये व्यायामशालामें अनेक साधन होते हैं, उसी प्रकार इस जगत्के समस्त वैभव, प्रलोभन और आकर्षण हमारे आध्यात्मिक व्यायामके लिये ही तो हैं। आत्मामें स्थित होकर उन्हें परास्त करना होगा, उनपर अच्छी तरह काबू करना होगा। यदि सांसारिक भोग और वैभव हमारे जीवनके उद्देश्य बन जायँ तो हम आत्मासे च्युत होकर पदार्थोंमें भटकने लगते हैं और जीवनके पथसे अलग हट जाते हैं। इसी प्रकार, स्वार्थकी साधना सर्वनाशका सरल मार्ग है, प्रेमकी साधना आत्मोन्नतिका सबसे सुन्दर मार्ग है। हमारा जीवनोद्देश्य होना चाहिये भगवत्प्राप्ति, न कि इस या उस पदार्थकी प्राप्ति। बाहर-

[illegible] और [illegible] हमें अपने [illegible] रहते हैं। उनमें हम [illegible] करते हैं, अपनेको [illegible] चलते हैं। अपने-आपको [illegible] भी चलते हैं। बाहर-बाहरसे, लोगोंकी निगाहमें हम भले ही सफल या चलते पुर्जे हो जायँ; परन्तु यदि हम अपने आपके प्रति वफादार और सच्चे नहीं हैं तो जीवनकी बाजीमें हमारी हार-ही-हार है। हम भगवान्‌में अपनेको जितना ही निश्चल एकाग्र, तल्लीन करते रहेंगे हम उतने ही अंशमें, वास्तविक अर्थमें, जीवनमें सफल होंगे। सात्त्विक गुणोंका, भगवदीय गुणोंका अर्जन करते हुए, भगवान्‌के पथमें हम चलते चलें, चलते चलें—फिर जहाँ जब जिस वस्तुकी आवश्यकता उपस्थित होगी वहीं, उसी समय वह वस्तु हमें अनायास अपने-आप मिलती जायगी। इस प्रकार हम जैसे-जैसे अपने-आपपर काबू करते जायँगे, वैसे-वैसे ही परिस्थितियोंपर हमारा काबू होता जायगा; क्योंकि आत्मविजयका अर्थ है लोकविजय।

इस संसारपर हम तबतक विजय नहीं पा सकते, जबतक हम अपने विचारों और भावोंपर विजय न पा लें। अब भी हम विजयका सही अर्थ नहीं समझते। विनाश और बर्बरता अभीतक हममें बनी हुई है। संहारकी खबरें मोटे-मोटे शीर्षकोंमें पढ़नेमें हमें मजा आता है। शान्ति, समता, प्रेमके स्थानपर अशान्ति, विषमता, विरोध हमें अधिक भाता है। जीवनका यही

अर्थ है ? [illegible] नहीं शोभा है ! जीवनका अर्थ [illegible] नहीं है—जीवनका अर्थ है प्रेम और सेवा। भौतिक वैभवके होते हुए भी हमारी आध्यात्मिक दरिद्रता मिटी नहीं। सच तो यह है कि भगवान्‌के राज्यमें किसी भी वस्तुका अभाव है ही नहीं। अभाव तो हमारे मनमें बना हुआ है और इसी कारण भगवान्‌के विपुल वैभवका हम उपभोग नहीं कर पाते। हमारी आध्यात्मिक दरिद्रता जीवनके हर पहलूमें हमें दरिद्र बनाये हुए है।

जीवनकी शोभा प्रेम है, सेवा है। प्रेममें बस, देना-ही-देना है, लुटाना-ही-लुटाना है। और सेवाका अर्थ है आत्माहुति। हमारे हृदयका द्वार प्रेमकी मञ्जुल रश्मियोंके स्वागतके लिये बराबर खुला रहे। हम अपना सब कुछ लुटाते चलें—देते चलें—बाँटते चलें और अपने सामने जो कर्त्तव्य हो उसे प्रभुका उपहार समझते हुए, आनन्दके साथ, प्रीतिके साथ, आत्मार्पणके भावके साथ करते चलें और फलकी कोई आकांक्षा न रखकर भगवान्‌के चरणोंमें निवेदित करते चलें। जीवनके प्रत्येक पलमें और यात्राके प्रत्येक [illegible] प्रभुके सुभग-शीतल-मधुर-कोमल संस्पर्शकी मीठी प्यारी-प्यारी अनुभूतिमें अपने अहंको खोये हुए चलते चलें और सामने सेवाका जो पवित्र एवं मङ्गलमय अवसर उपस्थित हो उसमें प्रभुका सुमधुर आह्वान सुनकर अपनेको पूरी तरह खपा दें। जीवनकी सच्ची शोभा यही है।
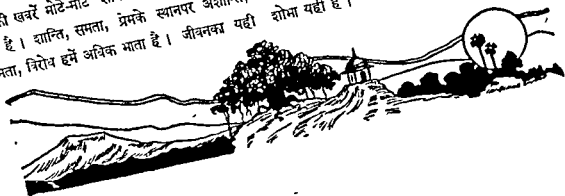
'विश्वास करो या न करो' (Believe it or not) वाले शीर्षकमें ऐसी बहुत-सी असम्भव कल्पनाएँ पढ़ते और मुग्ध होते हैं तो फिर अपने महाकवियोंसे ही क्यों अप्रसन्न हों ! मिल्टनने लिखा है कि प्याज़के छिलकोंकी तरह हमारी पृथ्वीके चारों ओर घूमनेवाले चक्र हैं। क्या आज कोई इसे सत्य मानता है ? परन्तु हमने इस बातके कारण मिल्टनपर कटाक्ष होते भी नहीं देखा। शेक्सपियरने चुड़ैलोंका वर्णन किया है और हैमलेटके प्रेतको भी मूर्तिमान् दिखाया है, परन्तु इस कारण उसकी कलाका त्याग नहीं किया जाता। किसी भी शेक्सपियरकृत नाटककी आलोचनात्मक प्रस्तावनाको आप पढ़ें तो उसमें ऐतिहासिक भूलोंकी सूची मिलेगी; परन्तु इसी कारण उसकी कलाको हेय नहीं ठहराया जाता। बात यह है कि कोई कवि भी सारी विद्याओंका जानकार नहीं हो सकता। काव्यकला उसकी अपनी अवश्य है, पर अन्य बातोंको तो वह उधार ही लेगा।

हमें अधिकार है कि यदि हम अपनेको इस योग्य समझें तो हम किसी भी मनुष्यके विचारसे विरोध कर सकते हैं। पर याद रहे कि इस सम्बन्धमें रस्किनकी ये दो बातें भूल न जाना चाहिये। प्रथम यह कि महापुरुषोंके विचारोंका अध्ययन इसलिये नहीं किया जाता कि उनमें हम अपने ही विचारोंका प्रतिबिम्ब ढूँढ़ें। द्वितीय यह कि विरोध करनेके पूर्व जितना भी हो सके मनन कर लें, क्योंकि महापुरुषोंके विचारोंमें हमारे विचारोंकी अपेक्षा सत्यकी अधिक सम्भावना है।

अतः हम तुलसीजीके सम्बन्धमें कुछ महापुरुषोंके विचार यहाँ दिये देते हैं, जिसमें विरोध करनेवाले महानुभाव सतर्क रहकर धीमतासे विरोध न करें। महात्मा गांधीजीका कथन है कि उन्हें किसी और वस्तुसे इतना आनन्द नहीं होता जितना गीता-गान और तुलसीकृत रामायणसे। मिस मेयोके इस आक्षेपका उत्तर देते हुए कि भारतीय जनता नाटकीय कला और साहित्यसे अनभिज्ञ है, एक अंगरेज़ विद्वान्ने An Englishman defends Mother India नामकी पुस्तकमें लिखा है कि तुलसीकी रामायण तुलनामें लातीनी और यूनानी भाषाओंके सर्वमान्य ग्रन्थोंसे भी बढ़कर उतरती है। एक अन्य अंगरेज़ लेखकने, जिसका अवतरण लाला लाजपतरायकृत Unhappy India (दुःखी भारत) नामक पुस्तकमें दिया गया है, लिखा है कि तुलसीकृत रामायण एक विचित्र नैतिक पुस्तक (singularly moral book) है, जिसके द्वारा उत्तरीय भारतके मान-

ग्राममें जाड़ेके शुरूमें खेले जाते हैं और तब उसके प्रवाहका ठिकाना नहीं रहता। विनसेंट सिमथने लिखा है कि तुलसीदास अपने समयके सबसे बड़े आदमी थे अर्थात् सम्राट् अकबर महान्से भी महान्तर। फ्रेज़रने भारतके साहित्यिक इतिहासमें लिखा है कि तुलसीदास स्पेन्सर और शेक्सपियरसे पीछे न थे। सर जार्ज ग्रियर्सनका कहना है कि वे एशियाके छः बड़े लेखकोंमेंसे एक थे। मुसलिम विद्वानोंमेंसे रहीमका यह दोहा तो प्रसिद्ध है ही—

> सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहैं अस होय।
> तुलसी सो हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥

विसाली ('मामुकीमाँ' के रचयिता) तो तुलसीकृत रामायणको सुनकर इतने मुग्ध हुए कि 'शाहज़ादये-अवध' (राम) के प्रेमिक बन गये और अयोध्यामें घूमते हुए गाते फिरते थे कि—

> 'मा मुकीमाने-कूच-दिलदारेम,
> रुख ब दुनिया व दीं न मे आरेम।'

'मैं अपने प्रेमपात्रकी गलीमें ठहरा हुआ हूँ। मुझे दुनिया और दीनसे कुछ वास्ता नहीं।'

—खुसरोकी राम एवं तुलसी-भक्ति भी प्रसिद्ध ही है।

इन अवतरणोंके देनेका अभिप्राय यह है कि हम उसी आदरभावसे तुलसीके निकट जायँ जिस भावसे हम किसी सम्राट्के समीप जाते हैं। साहित्य-सम्राटोंके इस आदर भाव-सम्बन्धी सिद्धान्तपर रस्किन (Ruskin) ने बहुत ही ज़ोर दिया है और उचित ही किया है।

(ग) महाकाव्यकलाकी आवश्यकता और उसकी युक्तियाँ

कविताके गुणोंमें एक गुणका नाम ओज-गुण है। मनुष्यकी सदा भावना रहती है कि उसका जीवन और आत्मा ओजस्वी बने। इसीलिये कोई भी देश और जाति ऐसी नहीं, जिसमें महाकाव्यकला किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान न हो। अब हम 'ओज' गुणका विकास अद्भुत, भयानक, वीर और रौद्र-रसोंमें ही होता है। हाँ, महाकाव्य-कला इन सभी रसोंमें रहता, पर अन्य रसोंको भी उत्कर्ष-शिखरपर पहुँचा देती है। साधारण जनताके प्रभावित करनेके हेतु तो अद्भुत और भयानक रसोंसे इतनी अधिक सहायता है कि बर्नार्ड शा-जैसे वैज्ञानिक नाटककारने भी विश्व-ध्वंसके [illegible] प्रस्ताव किया है, जैसे भविष्यवाणीको उसने

[illegible] हुआ है। [illegible] ... [illegible] कर दिया था।

जब विज्ञान मनुष्य, अमानुषिक व्यक्तियोंका होना असम्भव नहीं मानता तो अपने आत्माके ओजकी विकासके हेतु हम महाकाव्यकलाका आश्रय क्यों न लें। पर उस कलाके अभ्यासके लिये यह आवश्यक है कि हमारी कल्पना शक्ति [illegible] तरह घट-बढ़ सके और इसीलिये महाकाव्यकलाके कवि किसी-न-किसी युक्तिसे हममें यह सामर्थ्य उत्पन्न करनेकी चेष्टा करते हैं। मिल्टनने जहाँ शैतानोंकी राज्यसभाका चित्रण किया है, वहाँ पहले लिखा है कि सारे शैतान बड़े-बड़े [illegible] में उपस्थित थे। और इन्होंने [illegible] 'पैण्डेमोनियम' [illegible] बाहर नहीं थी। वह हॉल शैतान सम्राट्ने [illegible] किया कि मनुष्य [illegible] के सिवा और सब [illegible] बाहर नहीं [illegible] भी भीतर आ सके; और [illegible] जाते ही छोटा हो गया कि सब-के-सब भीतर आ गये। तुलसीदासने भी—

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥
सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥

—वाले प्रसंगमें कुछ ऐसी ही युक्तिका प्रयोग किया है।

अब हम आगामी अंकमें अवतारके सम्बन्धमें कुछ अधिक लिखेंगे, परन्तु इस तुलनात्मक व्याख्याकी समाप्तिसे पहले इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि मा० महोदय डा० बीसेंटके मित्र होते हुए हमारे प्राचीन साहित्यके ऋणी जान पड़ते हैं, परन्तु खेद है कि उन्होंने उस ऋणको कहीं स्वीकार नहीं किया।

जीवनकी सरलता

(लेखक—श्रीब्रजमोहनजी मिहिर)

दुनियाकी रफ्तारके साथ चलते हुए अधिक दुःखी व परेशान हो जानेपर कभी-कभी लोगोंके मनमें यह प्रश्न उठता है कि 'जीवन क्या यही है?' इसी दुःख-सुखके आवागमनके सिलसिलेको क्या जीवन कहते हैं, या इसके अतिरिक्त जीवन कुछ और ही सत्ता है? इस प्रश्नके पूर्व अनेकों प्रकारके दुःखोंके होते हुए भी संसार मनुष्यको अच्छा लगता है। वर्तमान अवस्थासे असन्तुष्ट होनेपर उपर्युक्त प्रश्न स्वभावतः मनमें उदय होते हैं। वर्तमान अवस्थामें असन्तोष प्रकट करता है कि जिस जीवनक्रमको मनुष्य अबतक सही समझे हुए था और उसको जिससे अबतक सुख मिलता था, वही अपनी प्रतिक्रियामें दुःखकी उत्पत्ति करके मनमें सन्देह उत्पन्न करने लगा है। मनमें सन्देह किसी वस्तुके समझनेका प्रथम चिह्न है। सन्देह उत्पन्न हो जानेपर कभी वह पुराने सुखोंमें सुखकी खोज करता है और कभी उन्हें ही दुःखका महान् कारण समझता है। इस समय-तक केवल इतना ही हो सका है कि दुःखके कारण मनमें सन्देह उत्पन्न हो जानेसे जीवनमें पूर्वका सुख-चैन नहीं रह गया। मनमें इस जागृतिके होनेपर भी मनुष्य दुःखके रहस्यको भलीभाँति समझ लेनेमें समर्थ नहीं होता। थोड़ा-बहुत जो कुछ समझता है, उसकी सहायतासे वह उन्हें छोड़ नहीं पाता। इस प्रकार सुख-दुःखके जीवन-मरणमें प्राणीका अधिक समय बीत जाता है, पर जीवन-सत्ता किसीको उस समयतक चैन नहीं लेने देती जबतक कि जीवनके रहस्यकी प्रतीति न हो जाती। दृश्यमान समस्त संसार और प्राणीका सब कार्य केवल एक इसी ध्येयकी पूर्तिके लिये है। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके हेतु समय अपेक्षित है। अनेक प्रकारके अनुभवोंको अतिक्रमण करके सतत प्रयासद्वारा मनुष्यको जीवनका यह बोध प्राप्त होता है।

हरेक दुःख-सुख मनुष्यके चित्तपर अपना प्रभाव छोड़ जाता है। आने-जानेवाले सब दुःख-सुख हमें कुछ

जप-प्राणायाम और मेरे अनुभव

(लेखक—श्री 'ॐ')

मेरा अनुभव किया हुआ यह जप-प्राणायाम एक बहुत ही उपयोगी सरल साधन है। इसके द्वारा शारीरिक स्वास्थ्यकी अतिशीघ्र प्राप्तिके साथ-साथ आध्यात्मिक लाभ भी होता है। फिर भी विशेषता इसमें एक यह है कि कहीं भी इस साधनामें अनिष्टकी आशङ्का नहीं होती। साधकको प्रातः और सायंकाल नियमपूर्वक इसकी साधना करनी पड़ती है। इसकी विधि इस प्रकार है—

प्रातःकाल पूर्वकी ओर तथा सायंकाल पश्चिमकी ओर मुँह करके मेरुदण्डको सीधा करके खड़े हो जाइये। शरीर बिल्कुल ताड़के समान सीधा होना चाहिये। दृष्टि सामने हो। मुँह और नेत्र बंद हों। दोनों पैरोंकी एड़ियाँ और अँगूठे जुड़े हुए हों। दोनों हाथ पीठकी ओर बँधे हुए हों। बायेंमें दाहिना हाथ हो। श्वास-प्रश्वासकी क्रियापर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं, उसे स्वभावतः चलने दीजिये। केवल एकाग्रचित्तसे अपने इष्टदेवका नाम-जप कीजिये। इष्टदेवके नामका अर्थात् भगवान्‌के जिस नाममें आपकी रुचि हो—जैसे ॐ, राम, कृष्ण, शिव, गणेश, दुर्गा आदि किसी भी नामका जप कीजिये। मैं तो—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस मन्त्रका जप करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य भी किसी मन्त्रका जप किया जा सकता है। जप मन-ही-मन होना चाहिये। जप करते समय जीभ या ओठ न हिलें। हाँ, यह बात ध्यानमें रहे कि नाम या मन्त्रका उच्चारण मनमें शुद्ध-शुद्ध और निरन्तर होता रहे। यह साधना प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल दोनों समय बारह-बारह मिनटसे कम नहीं होनी चाहिये। दिन-रातके चौबीस घंटोंमें केवल २४ मिनट समय इस साधनाके लिये देने चाहिये। भोजन करनेसे एक-दो घंटे पहले ही स्नान करके साधनामें लगना चाहिये। यदि दोनों समय स्नान न कर सकें, तो प्रातःस्नान तो अवश्य करना चाहिये और सायंकाल बिना स्नान किये हुए भी हाथ-पैर धोकर साधना कर सकते हैं। परन्तु स्नान करके करना ही अधिक लाभदायक है।

इस प्रकारके मानसिक जपसे शरीरके भीतर स्थित विद्युत्-(बिजली) की गतिमें तीव्रता आती है। हाथों और पैरोंका परस्पर जुटा रहना भी इसमें सहायक होता है। शरीरमें जो वीर्य होता है, उससे इस विद्युत्-शक्तिका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि वीर्यके क्षीण होनेसे मनुष्यमें दुर्बलता आती है और उसकी क्रियाशक्ति घट जाती है, तथा वीर्यके दृढ़ होनेपर मनुष्य शक्तिसम्पन्न होता है, और उसकी कार्य करनेकी शक्ति बढ़ जाती है। वीर्य-हीन होनेसे ही दुर्बलताके कारण अनेकों प्रकारके रोग शरीरमें उत्पन्न हो जाते हैं। मानसिक जपके साधनके द्वारा उत्पन्न विद्युत्-गतिकी तीव्रताके कारण शरीरके भीतरके रोगोंके जीवाणुओंको भारी धक्का लगता है और वे काठ-कवलित हो जाते हैं। इससे शरीरकी शुद्धता होती है, और जीवनमें नवशक्तिका संचार होता है। जितनी तेजीसे नाम-जप होता है, विद्युत्-प्रवाह भी उतना ही तीव्र होता है। स्नानसे इस साधनामें यह सहायता मिलती है कि एक तो उससे रोमकूप खुल जाते हैं, जिसके कारण शरीरके भीतरका मल पसीनेके द्वारा आसानीसे बाहर निकल जाता है, दूसरे एक प्रकारसे ठंडक रहती है, जिससे जितने प्राण

[illegible] करनेसे [illegible] रही रहती [illegible] और एकाग्रता प्राप्त होती है। इससे मनमें अत्यन्त आवश्यक गुण 'शुद्धता', 'सरलता' और वक्ता की एक साथ प्राप्ति हो जाती है। नाम-के शुद्धतापूर्वक, धीमे-धीमे तथा अखण्ड—निरन्तर नसे विकल्पके तीव्र प्रवाहके कारण शरीरकी अन्यान्य नाड़ियोंके साथ-साथ सुषुम्णा नाड़ी भी शुद्ध हो जाती है, जिससे बड़े-से-बड़े रोगोंकी जड़ ही कट जाती है।

इस साधनके प्रारम्भ करनेपर पहले या दूसरे दिन पलकोंमें कुछ मुग्धता (सुस्ती) का अनुभव होने लगता है। पश्चात् नियमपूर्वक साधन करते रहनेपर शरीरकी बिगड़ी हुई अवस्था सुधरने लगती है—शरीरके दोष धीरे-धीरे दूर होने लगते हैं। शरीरमें पसीना आना तथा जँभाई उठना, इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं। इस प्रकार शरीरके मलोंके निकलनेपर अवस्थानुसार रोग भी दूर होने लगते हैं, अर्थात् जिसके शरीरमें अधिक दोष होते हैं, उसे देरसे तथा जिसके शरीरमें कम दोष होते हैं उसे शीघ्र ही इस साधनकी सफलताका अनुभव होने लगता है। सामान्यतः १५ दिनके साधनके पश्चात् ही जँभाइयाँ आने लगती हैं और साधारण रोगी १५–२० दिनोंमें पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। जब जँभाई आने लगे, तब समझना चाहिये कि जँभाईके द्वारा शरीरके भीतरका रोग बाहर निकल रहा है। कुछ दिनोंतक जँभाइयाँ—आज एक, कल दो, परसों तीन इसी प्रकार बढ़ती रहती हैं; पश्चात् एकदम बंद हो जाती हैं। सारांश यह है कि विद्युत्-गतिमें तीव्रताके कारण शरीरका मल शीघ्रतापूर्वक जँभाइयोंके द्वारा बाहर निकलता है, और शरीरके निर्मल हो जानेपर जँभाइयाँ बंद हो जाती हैं। जब जँभाई आना बंद हो जाय तब समझना चाहिये कि शरीरके सब रोग बाहर निकल गये। परन्तु ये सब कार्य स्वाभाविक होने चाहिये। जान-बूझकर जँभाई [illegible] चेष्टा करना ठीक नहीं। साधकको तो केवल शुद्धतापूर्वक धीमे-धीमे निरन्तर मानसिक नाम-जप करते रहना होगा, परिणाम भगवान्‌पर छोड़ देना।

बस, यही है जप-प्राणायाम। इसमें जपके द्वारा स्वाध्याय और प्राणायाम स्वयं हो जाता है। अन्य प्राणायामके साधनोंके समान इसमें अनिष्टकी आशङ्का नहीं रहती, बल्कि साथ ही शरीरके रोग भी दूर होते जाते हैं। समय भी इसमें विशेष नहीं लगता, दिन-रातके चौबीस घंटोंमें भोजनके दो घंटे पूर्व या पश्चात् बारह-बारह मिनट साधनके लिये निकाल लेना कोई कठिन बात नहीं है। ध्यान या चित्तको एकाग्र करनेके लिये भी इसमें विशेष चेष्टा नहीं करनी पड़ती, चित्तकी एकाग्रता अपने-आप आती है। व्यावहारिक लाभ—शारीरिक स्वास्थ्यके साथ-साथ अपूर्व आध्यात्मिक लाभ जिस साधनसे प्राप्त हो, उसकी प्रशंसा कहाँतक की जा सकती है!

किसी भी साधनाकी सफलता या असफलता-का अनुमान तभी किया जा सकता है, जब कम-से-कम छः महीने उसका अभ्यास किया जाय। परन्तु मुझे तो इस साधनकी सचाईका अनुभव २-३ महीनेमें ही मिलने लगा। परन्तु नियममें बँधे होनेके कारण अत्यन्त उत्सुकता होनेपर भी मैं इस साधनको सर्व-साधारणके सामने उपस्थित न कर सका। अब तो मुझे इसके प्रारम्भ किये हुए छः महीने हो गये और इसी अवसरमें मेरे जीवनमें अद्भुत परिवर्तन हो गया है। मैं इसकी असाधारण महिमाका अनुभव जीवनके क्षण-क्षणमें कर रहा हूँ।

नाम-जपमें अद्भुत शक्ति है। इसकी महिमासे हमारे सारे शास्त्र भरे पड़े हैं। जब नाम-जपसे भवरोग दूर हो जाता है तो साधारण शारीरिक रोगकी तो बात ही क्या है! हाँ, पहले-पहले इस साधनमें कुछ

कठिनाई जान पड़ती है। बारह मिनटका समय कुछ अधिक नहीं होता, फिर भी जान पड़ता है मानो आधा घंटा बीत गया। रह-रहकर मनमें आता है कि अभी बारह मिनट बीते या नहीं। इस झंझटसे बचनेका एक उपाय है जप-माला। 'हरे राम०' मन्त्रकी बड़ी शुद्धताके साथ एक माला जपनेमें आठ मिनट लगते हैं। अतएव बारह मिनटमें डेढ़ माला हो जायगी। समयानुसार इस साधनको बढ़ाया भी जा सकता है। अर्थात् १२ मिनटसे २० मिनट—आधा घंटा। जितना ही अधिक साधक इस अभ्यासमें आगे ब[illegible] उतना ही अधिक लाभ होगा। हाँ, जप करते[illegible] बीचमें तार न टूटने पाये, निरन्तर बारह मिनटतक [illegible] होते रहना चाहिये, और यह भी ध्यानमें रखना चा[illegible] कि नित्य नियमितरूपसे शुद्धता और शीघ्रता[illegible] जप किया जाय। नियमपूर्वक साधन करके कोई सज्जन इस साधनके अद्भुत लाभको प्राप्त कर जीव[illegible] सार्थक बना सकते हैं। यह साधन मुझे एक [illegible] प्राप्त हुआ था। मैं उनका बड़ा ही कृतज्ञ हूँ।

चिन्तन

(रचयिता—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

सोचना—"मैं कर रहा हूँ",
सोचना—"मेरे बिना कुछ भी न होगा",
—व्यर्थ है।
तू यहाँ कुछ वर्षसे है,
तू यहाँ कुछ वर्ष और;
तू नहीं था, काम तब कोई रुका था!
तू न होगा, काम तब कोई रुकेगा!
विश्व-जलनिधि अगम, सीमाहीन; तू लघुबिन्दु!

किये जा, जो तुझे करना;
बढ़े जा, जिस ओर बढ़ना;
वेगसे, अविराम गतिसे राह अपनी पार करना।
पर न अपनेको सभी कुछ समझनेकी भूल करना।
भूलकर मत गर्व करना।

नहीं तू यों सोचना—
"काम यह मेरे बिना रुक रहेगा;
काम यह मुझ-सा न कोई करेगा";
आत्म-निर्भरता जरूरी चीज़ है
किन्तु "मैं ही सब सम्हाले"—अहमता,
दर्प, सत्य न, पूर्ण आत्म-प्रवञ्चना।

बिन्दुसे है सिन्धु; पर यदि बिन्दु एक
सोच ले यह सिन्धु है, तो सिन्धु की
हानि कुछ भी नहीं; वह लघु बिन्दु ही
रुक रहेगा—अकड़कर अतिगर्वसे
जकड़ जायेगा, न आगे बढ़ सके।
मैं न कहता—लघु बनो; मैं लघु नहीं;
बिन्दु हूँ, जो सिन्धुमें हलचल करे
और कर क्रियमाण जड़ता सिन्धुतक की मैं!
बिन्दुमें यह शक्ति आये, इसलिये
यह जरूरी है—न गति-अवरोध हो।
दर्प जड़तासे जकड़ता, इसलिये
त्याज्य है; प्रति बिन्दु अपनेमें भरे
भावना—वह सिन्धुकी उन्नति करे
और इसके लिये नित क्रियमाण हो,
किन्तु भूले भी नहीं निज शक्तिपर
गर्व कर अपनी प्रगतिको रोक दे।
वह बहुत कुछ, किन्तु वह सब कुछ नहीं
(बिन्दु भी है, सिन्धु भी है किन्तु है
इन सभीसे कहीं आगे—एक, जो
इन सभीका सृजन-संचालन करे;
नित्य परिवर्तन-विवर्धन भी करे।
और वह संहार सबका एक पलमें कर स[illegible]
(भूमि-कम्पन, महामारी, ज्वालमुख,
रणोन्मादन एक भ्रुकुटि-विलास भर।
सिन्धु मरु, गिरि सिन्धु, चेतन जड़ बने,
नगर खँडहर, शस्य ऊसर निमिषमें भ्रूभंगपर

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज)

[गतांकसे आगे]

…ीय महर्षि ऋचीक वेदब्रह्म और परब्रह्म दोनोंमे …रम तपस्वी थे। उन्होंने धर्मिष्ठ राजा गाधिकी …ी धर्मप्राणा कन्या सत्यवतीका पाणिग्रहण किया। … पश्चात् बहुत समय व्यतीत हो जानेपर महर्षिके …क तपःप्रभावको देखकर गाधिराजकी पुत्रीने अपने …म पतिसे सविनय प्रार्थना की—हे भगवन्! तपोनिधि … पुत्र! हम माता और कन्या दोनों पुत्रहीन हैं, आप … करके अपने अलौकिक तपःशक्तिके प्रभावसे हम …नोंको एक-एक पुत्ररत्न दान कर हमारे नारी-जीवनको …फल करें। शुभ मुहूर्त था, दयानिधि महर्षि बोले—'अच्छा, अपनी माताको बुलाओ।' माताके आनेपर, महर्षि ऋचीकने एक वैदिक यज्ञका अनुष्ठान प्रारम्भ किया। यज्ञके अन्तमे पृथक्-पृथक् दो पात्रोंमे चरु रखकर महर्षिने अपनी पत्नीसे कहा—'तुम यह चरु खाना और दूसरा वह अपनी माताको खानेके लिये देना।' ऐसा उपदेश देकर वह स्नानके लिये चले गये। ऋषिपत्नीने अपना चरु माताको दे दिया और माताका चरु स्वयं खा लिया। स्नान करके लौटनेपर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि एकके चरुको दूसरेने ग्रहण किया है, तो वे दुःखी होकर क्षणभरके लिये निःस्तब्ध हो गये। अन्तमें अपनी सहधर्मिणीसे उन्होंने कहा—'तुम्हारे लिये जो चरु था, उसमे मैंने ब्रह्मतेजकी स्थापना की थी, और तुम्हारी माताके चरुमें क्षात्रतेज स्थापित हुआ था। तुमने चरु बदलकर खाया है, अतएव उसके अनुसार ही फल मिलेगा।'

तस्मात् सा ब्राह्मणश्रेष्ठं माता ते जनयिष्यति।
क्षत्रियं तूग्रकर्माणं त्वं भद्रे जनयिष्यसि॥

अर्थात् चरु-परिवर्तनके कारण तुम्हारी माता ब्रह्मर्षि पुत्र उत्पन्न करेगी, और तुम्हें उग्रकर्मा क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न होगा।

यह सुनते ही ऋषिपत्नी सत्यवती अत्यन्त दुःखी हुईं, परन्तु उस समय कुछ भी न कहकर वह पतिसेवामें लगी रहीं। एक दिन ऋषिराज प्रसन्न मनसे अपनी धर्मपत्नीसे धर्मचर्चा सुना रहे थे। समय और सुयोग देखकर बुद्धिमती ऋषिपत्नीने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—

'भगवन्! कृपासागर! मेरी माताके गर्भसे ब्रह्मवेत्ता पुत्र उत्पन्न होगा, यह अत्यन्त सुखद शुभ संवाद है। परन्तु प्रभो! मेरे गर्भसे उग्रकर्मा क्षत्रियधर्मा सन्तान न हो; आप कृपापूर्वक ऐसा ही उपाय करें, जिससे मैं भी ब्रह्मज्ञ पुत्र प्राप्त कर धन्य हो सकूँ।' महर्षिने कहा—'भद्रे! अच्छा, मैं ऐसा उपाय करूँगा जिससे तुम्हें ऋषिपुत्र प्राप्त हो। परन्तु तुम्हारा पौत्र ऋषि होते हुए भी उग्रकर्मा, वीर, युद्धप्रिय, शत्रुदमनकारी, क्षत्रियके समान होगा। क्योंकि वेदमन्त्रोंके द्वारा सृष्ट वीर्य किसी प्रकार भी पूर्णरूपसे नहीं बदला जा सकता।' ऋषिपत्नीके गर्भसे महर्षि जमदग्निने जन्म-ग्रहण किया, और जमदग्निके ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें उग्रकर्मा ऋषि परशुराम आविर्भूत हुए तथा गाधिराजकी पत्नी ब्रह्मवेत्ता विश्वामित्रको सुपुत्ररूपमें प्राप्त कर धन्य-धन्य हो गयी। पितामह भीष्मजीने राजा युधिष्ठिरसे कहा है—

विश्वामित्रं चाजनयद् गाधिभार्या यशस्विनी।
ऋषेः प्रसादाद् राजेन्द्र ब्रह्मर्षिं ब्रह्मवादिनम्॥
(अनुशासनपर्व)

अर्थात् हे राजेन्द्र! ऋषिके प्रसादसे गाधिराजकी पत्नीने ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मर्षि विश्वामित्रको उत्पन्न किया था।

पुरुषसमागमके बिना केवल चरुके द्वारा गर्भोत्पत्तिके विषयमें सब वेदोंके भाष्यकार सायणाचार्य वेदभूमिकामें कहते हैं—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् यदि वेदसे केवल धर्मका ही ज्ञान हो तो वेदमें विशेषता ही क्या है! धर्मका ज्ञान तो वेदके सिवा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंसे भी हो सकता है। परन्तु जिस विषयको मनुष्य कभी प्रत्यक्षरूपसे चर्मचक्षुओंद्वारा नहीं देख सकता, अथवा कभी अनुमानके द्वारा भी नहीं जान सकता, इस प्रकारके अगम्य विषय—पुत्रेष्टि आदि यज्ञोंका फल वेदके द्वारा ही ज्ञात होता है। यही वेदोंकी वेदता है।●

● [illegible]

कुरुक्षेत्रके युद्धके प्रारम्भ होनेके पूर्व दुर्योधनको समझानेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उसकी सभामें गये थे। बातचीतके प्रसङ्गमें दुर्योधन पाण्डवोंको निन्दनीय क्षेत्रसे उत्पन्न हुआ बतलाकर उन्हें गालियाँ देने लगा। तब भगवान् श्रीकृष्णने क्रोधभरे शब्दोंमें कहा—'नहि मैथुनेन संभूता निष्पापाः पाण्डवा भवन्।' पाण्डव मैथुनसे उत्पन्न नहीं हुए, अतएव वे निष्पाप हैं।

महाभारतमें आदिपर्वके द्वितीय अध्यायमें लिखा है—

विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये सम्प्रतिपादनम्।
धर्मस्य नृषु सम्भूतिरणीमाण्डव्यशापजा॥१००॥
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च संभवः॥१०१॥

इससे प्रमाणित होता है कि मैथुनके बिना भी सामर्थ्यवान् पुरुषके आशीर्वादसे अथवा वरप्रभावसे गर्भोत्पत्ति हो सकती है। कृष्णद्वैपायनके वरके प्रभावसे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा पाण्डवोंने जन्म-ग्रहण किया था।

२–चाण्डाल-जातिके मतङ्गने ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति करके ब्राह्मण कहलानेके लिये अत्यन्त तीव्ररूपमें इन्द्रकी तपस्या की थी। तपस्यासे प्रसन्न होकर देवराज इन्द्र आविर्भूत हुए और मतङ्गसे वर माँगनेके लिये कहा। मतङ्ग बोला–'प्रभो! इसी शरीरसे मैं ब्राह्मण बन सकूँ, ऐसा वर मुझे दीजिये।'

इन्द्रने उत्तर दिया—

ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः।
विनशिष्यसि दुर्बुद्धे तदुपारम मा चिरम्॥

अर्थात् जिस ब्राह्मण्यको अकृतार्थ पुरुष नहीं प्राप्त कर सकते, तू अकृतार्थ (नीच योनिमें उत्पन्न) होकर उस ब्राह्मण्यके लिये प्रार्थना करता है, तुझे दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई है, तेरा नाश हो जायगा, ऐसा वर मत माँग।

इतना कहकर इन्द्र चले गये। मतङ्ग फिर भी इन्द्रकी तपस्या करने लगा। तपस्यासे प्रसन्न होकर देवराज फिर उपस्थित हुए और मतङ्गसे बोले—'वर माँगो।' उसने पहलेके समान ही ब्राह्मण्यकी प्रार्थना की। तब देवराज बोले—

देवासुरमनुष्येषु यत् पवित्रं परं स्मृतम्।
चाण्डालयोनौ जातेन न तत् प्राप्यं कथञ्चन॥

अर्थात् [illegible] ता, असुर और मनुष्योंमें जो सबसे अधिक पवित्र समझा जाता है, तू उसे ही माँग रहा है। तेरा चाण्डाल-योनिमें जन्म हुआ है, अतः तू उसे [illegible] प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता।

इतना कहकर इन्द्र अदृश्य हो गये। फिर भी म[illegible] इन्द्रकी तपस्या करने लगा। यथासमय इन्द्रने उपस्थित हो[illegible] मतङ्गको फिर वर माँगनेके लिये कहा। मतङ्गने [illegible] ब्राह्मण्यकी प्रार्थना की। देवराजने इस बार भी [illegible]

तद्दुरसज्येह दुष्प्राप्यं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः।
अन्यं वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते वरः॥

अर्थात् अकृतार्थोंके लिये जो अलभ्य है, तू उ[illegible] ब्राह्मण्यको चाहता है; इस प्रकारका हठ छोड़ दे। अन[illegible] किसी वरकी इच्छा हो तो माँग। ब्राह्मण्य तुझे नहीं मिलेगा।

इतना कहकर देवराज इन्द्रने प्रस्थान किया। म[illegible] चाण्डाल ही रह गया।

३–एक बार उपरिचर राजाकी धर्मपत्नीने यमज (पु[illegible] और कन्या) सन्तान प्रसव की। राजाने उसमेंसे पुत्र[illegible] अपने पास रखकर कन्याको पालन करनेके लिये दासीके प[illegible] भेज दिया।

महाभारतके आदिपर्वमें ६३ वें अध्यायमें कहा गया है—

तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा।
स मत्स्यो नाम राजाऽऽसीद् धार्मिकः सत्यसङ्गरः॥

अर्थात् उपर्युक्त यमज सन्तानोंमेंसे पुत्रको राजा उपरिचरने ग्रहण किया। वही समय आनेपर मत्स्य नामके धार्मिक [illegible] प्रतिज्ञापालक राजा हुए।

उपरिचर राजाकी कन्या दासीके द्वारा पाली-पोसी गयी। उसका नाम सत्यवती था। दासीके द्वारा पोसी हुई इसी राजकन्या सत्यवतीके गर्भसे महर्षि पराशरके औरस पुत्र वेदव्यासका जन्म हुआ।

४–देवर्षि नारद ब्रह्माके दस मानस पुत्रोंमेंसे एक हैं। एक बार देवर्षि नारदने व्यासजीसे कहा कि पूर्वकालमें किसी प्राचीन कल्पमें मैं दासीपुत्र था। उस जन्ममें [illegible] साधु-महात्माओंकी सेवा करके, उसके फलस्वरूप दूसरे जन्ममें ब्रह्माके मानस [illegible] रूपमें दिव्य जन्म लेकर मैं धन्य-धन्य हो गया। [illegible] कहा—

निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । २३)

अर्थात् हे मुने वेदव्यास ! प्राचीनकालमें किसी जन्ममें मैंने कुछ वेदज्ञ ब्राह्मणोंके यहाँ (चौका-बरतन करनेवाली) एक दासीके गर्भसे जन्म लिया था। जहाँ मेरी माता रहती थी, उस स्थानमें वर्षाके आनेपर चातुर्मास्यमें बहुत से योगी-ऋषि महात्मा आकर वास करते थे। मेरी माताने मुझे बचपनसे ही उन महापुरुषोंकी सेवामें नियुक्त किया था। मेरी योग्यताका विचार करके योगियोंने मेरे प्रति कृपा दिखलायी। वे दीनवत्सल ऋषि उस स्थानका त्याग करके जाते समय कृपा करके साक्षात् भगवान्के द्वारा कहे गये अत्यन्त गोपनीय ज्ञानका उपदेश मुझे देते गये। उसी ज्ञानके बलसे मैंने मायाप्रवर्तक भगवान् वासुदेवकी मायाके प्रभावको जाना है। इसे जाननेपर जीव उस विष्णुके परम पदको प्राप्त होता है।

समय पूरा होनेपर नारदजीने शरीर त्याग किया। तत्पश्चात् श्रीहरि उनके कर्मफलके स्वरूप उन्हें "शुद्धा भागवती तनुम्" प्रदान करते हैं अर्थात् अपना मानस पुत्र बनाते हैं।

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । २९)

कल्पके अन्तमें अथवा प्रलयकी रात्रिके अवसानमें नारद हरिके शरीरसे अपने समान कर्मनिष्ठ और भक्त मरीचि आदि ऋषियोंके साथ पुनः जगत्में अवतीर्ण होते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । ३१)

भागवतमें स्पष्टरूपसे वर्णित है कि "उत्संगा नारदो जज्ञे।"

५—ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ब्रह्माके दस मानस पुत्रोंमेंसे एक हैं।

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥

अर्थात् मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद—ये दस ब्रह्माके मानस पुत्र हैं।

ऋग्वेदमें आया है—

'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः।'

उर्वशी नाम स्वर्गकी देवता। सूर्यकी ज्योति (उर्वशी) के अवलम्बनसे ब्रह्माके सङ्कल्पद्वारा वसिष्ठ उत्पन्न हुए।

६—भगवान् श्रीरामचन्द्रको अपना परिचय देते हुए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ॥
(वा० रा० उ० ९६ । १९)

अर्थात् हे राघवनन्दन रामचन्द्र ! मैं ब्रह्मर्षि प्रचेताका दसवाँ पुत्र हूँ। मैं कभी मिथ्या स्मरण भी नहीं करता, मिथ्या भाषण करनेकी बात तो दूर रहे। ये दोनों तुम्हारे ही पुत्र हैं।

महर्षि प्रचेता ब्रह्माके मानस पुत्र थे। जैसे मनुस्मृतिमें लिखा है।

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥

वाल्मीकि रामायणके उत्तरकाण्डके १११ वें सर्गके अन्तिम श्लोकमें लिखा है—

एतदाख्यानमायुष्यं सभविष्यं सहोत्तरम्।
कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद् ब्रह्माप्यन्वमोदत ॥

अर्थात् यह आख्यान (रामायण) आयुवृद्धि करनेवाला, भविष्य और उत्तरके साथ महर्षि प्रचेताके वाल्मीकिके द्वारा लिखा गया है, और ब्रह्माने इ अनुमोदन किया है।

अध्यात्मरामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है—

प्रययौ चित्रकूटाद्रिं वाल्मीकेर्यत्र चाश्रमः।
गत्वा रामोऽथ वाल्मीकेराश्रमं ऋषिसंकुलम् ॥
.... ।
तत्र दृष्ट्वा समासीनं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम् ॥
ननाम शिरसा रामो लक्ष्मणेन च सीतया।
(६ । ४३-४५)

अर्थात् वनवासमें एक समय भगवान् श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मणके साथ चित्रकूट पर्वतपर स्थित महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें उपस्थित हुए। अनेकों ऋषियोंके द्वारा सेवित उस आश्रममें उपस्थित होकर उन्होंने देखा कि

कुरुक्षेत्रके युद्धके प्रारम्भ होनेके पूर्व दुर्योधनको समझानेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उसकी सभामें गये थे । बातचीतके प्रसङ्गमें दुर्योधन पाण्डवोंको निन्दनीय क्षेत्रसे उत्पन्न हुआ बतलाकर उन्हें गालियाँ देने लगा । तब भगवान् श्रीकृष्णने क्रोधभरे शब्दोंमें कहा—'नहि मैथुनेन संभूता निष्पापाः पाण्डवा भवन् ।' पाण्डव मैथुनसे उत्पन्न नहीं हुए, अतएव वे निष्पाप हैं ।

महाभारतमें आदिपर्वके द्वितीय अध्यायमें लिखा है—

विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये सम्प्रतिपादनम् ।
धर्मस्य नृषु सम्भूतिरणीमाण्डव्यशापजा ॥१००॥
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा ।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च संभवः ॥१०१॥

इससे प्रमाणित होता है कि मैथुनके बिना भी सामर्थ्यवान् पुरुषके आशीर्वादसे अथवा वरप्रभावसे गर्भोत्पत्ति हो सकती है । कृष्णद्वैपायनके वरके प्रभावसे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा पाण्डवोंने जन्म-ग्रहण किया था ।

२—चाण्डाल-जातिके मतङ्गने ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति करके ब्राह्मण कहलानेके लिये अत्यन्त तीव्ररूपमें इन्द्रकी तपस्या की थी । तपस्यासे प्रसन्न होकर देवराज इन्द्र आविर्भूत हुए और मतङ्गसे वर माँगनेके लिये कहा । मतङ्ग बोला—'प्रभो ! इसी शरीरसे मैं ब्राह्मण बन सकूँ, ऐसा वर मुझे दीजिये ।'

इन्द्रने उत्तर दिया—

ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः ।
विनशिष्यसि दुर्बुद्धे तदुपारम मा चिरम् ॥

अर्थात् जिस ब्राह्मण्यको अकृतार्थ पुरुष नहीं प्राप्त कर सकते, तू अकृतार्थ (नीच योनिमें उत्पन्न) होकर उस ब्राह्मण्यके लिये प्रार्थना करता है, तुझमें दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई है, तेरा नाश हो जायगा, ऐसा वर मत माँग ।

इतना कहकर इन्द्र चले गये । मतङ्ग फिर भी इन्द्रकी तपस्या करने लगा । तपस्यासे प्रसन्न होकर देवराज फिर उपस्थित हुए और मतङ्गसे बोले—'वर माँगो ।' उसने पहलेके समान ही ब्राह्मण्यकी प्रार्थना की । तब देवराज बोले—

देवासुरमनुष्येषु यत् पवित्रं परं स्मृतम् ।
चाण्डालयोनौ जातेन न तत् प्राप्यं कथञ्चन ॥

अर्थात् देवता, असुर और मनुष्योंमें जो सबसे अधिक पवित्र समझा जाता है, तू उसे है... तेरा चाण्डाल-योनिमें जन्म हुआ है, अतः ... प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता ।

इतना कहकर इन्द्र अदृश्य हो गये । फि... इन्द्रकी तपस्या करने लगा । यथासमय इन्द्रने... मतङ्गको फिर वर माँगनेके लिये कहा । म... ब्राह्मण्यकी प्रार्थना की । देवराजने इस बार भी...

तदुत्सृज्येह दुष्प्राप्यं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः ।
अन्यं वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते ॥

अर्थात् अकृतार्थोंके लिये जो अलभ्य है... ब्राह्मण्यको चाहता है; इस प्रकारका हठ छोड़... किसी वरकी इच्छा हो तो माँग । ब्राह्मण्य तुझे न...

इतना कहकर देवराज इन्द्रने प्रस्थान कि... चाण्डाल ही रह गया ।

३—एक बार उपरिचर राजाकी धर्मपत्नीने ... और कन्या) सन्तान प्रसव की । राजाने उ... अपने पास रखकर कन्याको पालन करनेके लिये... भेज दिया ।

महाभारतके आदिपर्वमें ६३ वें अध्यायमें ऐसा ...

तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरः ।
स मत्स्यो नाम राजाऽऽसीद् धार्मिकः सत्यसङ्गरः ।

अर्थात् उपर्युक्त यमज सन्तानोंमेंसे पुत्रको राजा उप... ग्रहण किया । वही समय आनेपर मत्स्य नामके ... प्रतिज्ञापालक राजा हुए ।

उपरिचर राजाकी कन्या दासीके द्वारा ... गयी । उसका नाम सत्यवती था । दासीके द्वारा ... इसी राजकन्या सत्यवतीके गर्भसे महर्षि पराशरके ... वेदव्यासका जन्म हुआ ।

४—देवर्षि नारद ब्रह्माके दस मानस ... एक बार देवर्षि नारदने व्यासजीसे ... प्राचीन कल्पमें मैं दासीपुत्र था ... साधु-महात्माओंकी सेवा कर ... जन्ममें ब्रह्माके मानस ... धन्य-धन्य हो गया ।

अहं पुरा

नामैव जगतां बीजं नामैव पावनं परम्।
नामैव शरणं जन्तोर्नामैव जगतां गुरुः॥
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशो जपः।
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशी गतिः॥
न नामसदृशं तपः।
नामैव परमं पुण्यं नामैव परमो गुरुः॥
नामैव परमो धर्मो नामैव विपुलं धनम्।
नामैव जीवनं जन्तोर्नामैव जगतां प्रियम्॥
नामैव जगतां सत्यं नामैव जगतां मङ्गलम्।
श्रद्धया हेलया वापि गायन्ति नाम मङ्गलम्।
तेषां मध्ये परं नाम धर्मस्थित्यं न संशयः॥
येन केन प्रकारेण नाममात्रैकजल्पकाः।
श्रमं विनैव गच्छन्ति परे धाम्नि समादरात्॥

म ही जगत्का बीज है (शब्दसे ही जगत्की सृष्टि है),) अति पवित्र (पावनकारी), नाम ही जीवका अन्तिम य है, नाम ही जगत्का गुरु है (नामकृपासे जीवका र होता है), नामके सदृश दूसरा ध्यान नहीं है, नामके दूसरा जप नहीं है, नामके आश्रयसे जो त्याग होता है सके तुल्य कोई दूसरा त्याग नहीं है, नामके समान अन्य कोई गति नहीं है। नाम ही परम पुण्य है, नाम ही परम तपस्या है, नाम ही श्रेष्ठ धर्म है, नाम ही परम गुरु है। नाम ही जीवोंका जीवन है, नाम ही विपुल धन है, नाम ही जगत्में सत्य है, नाम ही जगत्में प्रिय है। विश्वाससे हो या अनादरसे हो, जो लोग मंगलधाम नामका गायन करते हैं, उन नामगान करनेवालोंमें श्रेष्ठ नाम सदा ही वास करता है, इसमें संशय नहीं। जैसे हो वैसे, जो निरन्तर नामजप करते रहते हैं वे बिना ही श्रमके अत्यन्त आदरपूर्वक परमधामको प्राप्त होते हैं।

आओ, हम भी इन जगत्पूज्य प्रातःस्मरणीय भगवान् ल्मीकिके पवित्र चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करके अर्जुनके मान कहें—

नमोऽस्तु नामरूपाय नमोऽस्तु नामजल्पिने।
नमोऽस्तु नामशुद्धाय नमो नाममयाय च॥

नामरूप भगवान्को नमस्कार, नामजापकको नमस्कार, नाम जपकर जो शुद्ध हो गये हैं उनको नमस्कार, जो नाम जपकर नाममय हो गये हैं, उनको नमस्कार।

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम्॥

जिस कामको करनेका विचार हो रहा हो, उसे सुबह ही कर डालो। जिसे कल करना चाहते हो उसे आज ही कर डालो। तुम्हारा काम पूरा हुआ या नहीं, मृत्यु इसकी बाट नहीं देखती।

अस्तु, उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणोंके होते हुए भी यदि कोई कहता है कि वर्णाश्रमव्यवस्था जन्मगत नहीं हो सकती, गुणोंके विकास और कर्मानुष्ठानके अनुसार जातिका परिवर्तन हो सकता है, जिस प्रकार (१) विश्वामित्र क्षत्रियसे एक ही शरीरसे ब्राह्मण हो गये, (२) मतङ्गने चाण्डालसे एक ही शरीरसे ब्राह्मण्य प्राप्त किया, (३) दासकन्या सत्यवतीके पुत्र मुनिश्रेष्ठ वेदव्यास हो गये, (४) वेश्यापुत्र वसिष्ठ एक ही जन्ममें ब्रह्मर्षि हो गये, (६) (५) किरात-पुत्र नारद एक ही जन्ममें देवर्षि हो गये, शूद्रसन्तान दस्यु रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि बन गया। तो ऐसे मनुष्यको शास्त्रसे अनभिज्ञ और स्वार्थीके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। उपर्युक्त छः बातें कपोल-कल्पित और मिथ्या हैं।

बंबईके निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित अष्टोत्तरशतोपनिषद् ग्रन्थमें वज्रसूचिक नामक एक उपनिषद् है। इस ग्रन्थमें ब्राह्मणादि वर्णभेदका रहस्य समझानेकी चेष्टा की गयी है। ब्राह्मणादि वर्णभेदकी प्रतिष्ठाके लिये श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, तन्त्र प्रभृति सनातन वैदिक शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित प्रचलित युक्तियोंके खण्डनके लिये यह ग्रन्थ (वज्रसूचिक उपनिषद्) अश्वघोष नामक एक बौद्धके द्वारा लिखा गया है। इस ग्रन्थकी भूमिकामें भूपालराज्यके पोलिटिकल एजेंट विल्किन्सन (Wilkinson) साहब लिखते हैं—

"The Waujra Soochi or Refutation of the arguments upon which the Brahmanical Institution of Caste is founded by a learned Buddhist Aswaghosa." 'अर्थात् वज्रसूची अथवा ब्राह्मणधर्मके वर्णभेदका युक्तियोंका खण्डन' नामक ग्रन्थ बौद्ध पण्डित अश्वघोषके द्वारा प्रणीत है।' विल्किन्सन साहब उपर्युक्त भूमिकामें एक स्थानपर लिखते हैं—

"There is no evil in Indian society, which has been so much deplored by those anxious to promote the enlightenment of the people, as the Institution of Caste."

मुनिश्रेष्ठ अपने आश्रमपर विराजमान हैं। श्रीरामचन्द्रजीने सीता और लक्ष्मणके साथ महर्षि वाल्मीकिको प्रणाम किया।

महर्षिने भी नयनाभिराम श्रीरामचन्द्रको देखकर अत्यन्त आनन्दित होकर उनका सत्कार किया तथा उनकी इच्छाके अनुसार उनके निवासके योग्य स्थाननिर्देश कर दिया। पश्चात् आत्मकथाके प्रसंगमें महर्षिने कहा—

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्द्धितः ।
जन्ममात्रद्विजत्वं मे शूद्राचाररतः सदा ॥

हे राम! मैं एक अधम और पापकर्मरत मनुष्य था। नीचजाति और नीचस्वभाववाले भीलोंमें रहकर उनके साथ ही लालित-पालित हुआ था। मैं जन्ममात्रसे द्विज था, परन्तु मेरा आचरण शूद्रोंके तुल्य था।

अध्यात्मरामायणके उत्तरकाण्डमें ७ वें सर्गमें लिखा है।

सुतौ तु तव दुर्धर्षौ तथ्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो रघुकुलोद्वह ॥

यहाँ भी महर्षि वाल्मीकि अपना परिचय देते हुए अपनेको प्रचेताका दसवाँ पुत्र बतलाते हैं।

रामायणपाठके प्रारम्भ और अन्तमें निम्नश्लोक पाठ करके रामायणरचयिताको प्रणाम करनेकी रीति प्राचीन परम्परासे चली आ रही है—

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥

प्रचेतानन्दन निष्पाप मुनि महर्षि वाल्मीकि रामचरित (रामायण) रूपी अमृतके सागरको सदा-सर्वदा पान करते हुए भी पूर्ण तृप्त नहीं होते, (धन्य है उनकी श्रीरामभक्ति!) उस ऋषिश्रेष्ठ वाल्मीकिको मैं प्रणाम करता हूँ।

पराशरस्मृतिमें भी महर्षि वाल्मीकिको प्रचेताका पुत्र बतलाया गया है—

कात्यायनकृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुनेः ।
श्रुत्वा ह्येते भयश्लोकाः धौतार्था मे न विस्मृताः ॥

स्कन्दपुराणमें (१।२४।७ तथा २।७।२१ श्लोकमें) मत्स्यपुराणमें (१२–५१ श्लोकमें), महाभारत-शान्तिपर्वके ५७ वें अध्यायमें, श्रीमद्भागवतमें (६।१८।५ श्लोकमें) सर्वत्र महर्षि वाल्मीकिको शुद्ध ब्राह्मणपुत्र कहा गया है।

पाप करते-करते दुर्बलचित्त जब हताश हो जाता है, व महाकल्मष दस्यु रत्नाकरके जीवनसे मनुष्यके हृदयमें एक अभिनव आशाका सञ्चार होता है। जीवनमें होनेकी कोई आवश्यकता नहीं, पापी-तापी भी मरा का जप करके प्रातःस्मरणीय—जगत्पूज्य हो सकते। सनातन शास्त्र कितनी आशाभरी वाणीका उच्चारण रहे हैं—

राम रामेति यद्वाणी मधुरं गायति क्षणम् ।
स ब्रह्महा सुरापो वा मुच्यते सर्वपातकैः ॥

जिसकी वाणी क्षणमात्र भी राम-राम (भगवान कहकर मधुर गान करती है वह व्यक्ति ब्रह्मघाती, सुरा करनेवाला हो तो भी पापराशिसे मुक्त हो जाता है।

धन्य है नामकी महिमा! केवल नाम साधनासे, नाम गुणसे डाकू रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि होकर जगत्पूज्य गया है। रत्नाकरका यह मधुर-पवित्र परिणाम मानव उतरनेपर पापमय तिमिराच्छन्न जीवनमें भी सहज और सरल मार्ग मिल सकता है। 'मरेति जप सर्वदा' बड़ा सुखद और बड़ा ही सहज सुखद साधन है।

देवर्षि नारद कहते हैं—

भ्रान्तिज्ञानाद् तथा राम त्वयि सर्वं प्रकल्प्यते ।
मनसो विषयो देव रूपं ते निर्गुणं परम् ॥
कथं दृश्यं भवेद् देव दृश्याभावे जपेत् कथम् ॥
अतस्त्वद्यवतारेषु रूपाणि निपुणा भुवि ।
भजन्ति बुद्धिसम्पन्नास्तरन्त्येव भवार्णवम् ॥

हे राम! भ्रान्तिज्ञानसे जिस प्रकार सीपको ही रजतरूप देखते हैं, उसी प्रकार भ्रमज्ञानसे तुम्हींको इस दृष्ट प्रपञ्चरूप कल्पना करते हैं। हे देव! प्रकृतिके भी परे जो तुम्हारा निर्गुणरूप है, वह मनके भी अगोचर है—मन इस निर्गुण भावको प्राप्त नहीं हो सकता—'मनो यत्रापि कुण्ठितम्।' तुम्हारा वह निर्गुण स्वरूप चक्षुगोचर किस प्रकार हो सकता है! और दर्शन किये बिना भक्ति किस प्रकार हो सकती है! इसी कारण अवतारका जो नराकार स्वरूप है—अत्यन्त चतुर भक्तलोग इस नराकार रूपका ही भजन करते हैं। और इस भजनके द्वारा वे अनायास ही संसार-सागरसे पार हो जाते हैं।

महात्मा तुलसीदासजी महाराजने भी यही बात कही है—
'परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर ॥'

यह महर्षि नारदके ही वाक्यकी प्रतिध्वनि है। नामो-चारणसे क्या नहीं होता! म [illegible] ने अर्जुनसे कहा है—

नामैव जगतो बीजं नामैव पावनं परम्।
नामैव शरणं जन्तोर्नामैव जगतो गुरुः ॥
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशो जपः।
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशी गतिः ॥
नामैव परमं पुण्यं नामैव परमं तपः।
नामैव परमो धर्मो नामैव परमो गुरुः ॥
नामैव जीवनं जन्तोर्नामैव विपुलं धनम्।
नामैव जगतां सत्यं नामैव जगतां प्रियम् ॥
श्रद्धया हेलया वापि गायन्ति नाम मङ्गलम्।
तेषां मध्ये परं नाम सर्वश्रेष्ठं न संशयः ॥
येन केन प्रकारेण नाममात्रैकजल्पकाः।
श्रमं विनैव गच्छन्ति परं धाम समादरात् ॥

नाम ही जगत्का बीज है (इन्हसे ही जगत्की सृष्टि है), नाम ही अति पवित्र (पावनकारी), नाम ही जीवका अन्तिम आश्रय है, नाम ही जगत्का गुरु है (नामकृपासे जीवका उद्धार होता है), नामके सदृश दूसरा ध्यान नहीं है, नामके सदृश दूसरा जप नहीं है, नामके आश्रयसे जो त्याग होता है उसके तुल्य कोई दूसरा त्याग नहीं है, नामके समान अन्य कोई गति नहीं है। नाम ही परम पुण्य है, नाम ही परम तपस्या है, नाम ही श्रेष्ठ धर्म है, नाम ही परम गुरु है। नाम ही जीवोंका जीवन है, नाम ही विपुल धन है, नाम ही जगत्में सत्य है, नाम ही जगत्में प्रिय है । विश्वाससे हो या अनादरसे हो, जो लोग मंगलधाम नामका गायन करते हैं, उन नामगान करनेवालोंमें श्रेष्ठ नाम सदा ही वास करता है, इसमें सन्देह नहीं। जैसे हो वैसे, जो निरन्तर नामजप करते जाते हैं वे बिना ही श्रमके अत्यन्त आदरपूर्वक परमधामको प्राप्त होते हैं।

आओ, हम भी इन जगत्पूज्य प्रातःस्मरणीय भगवान् वाल्मीकिके पवित्र चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करके अर्जुनके समान कहें—

नमोऽस्तु नामरूपाय नमोऽस्तु नामजल्पिने।
नमोऽस्तु नामशुद्धाय नमो नाममयाय च ॥

नामरूप भगवान्को नमस्कार, नामजापकको नमस्कार, नाम जपकर जो शुद्ध हो गये हैं उनको नमस्कार, जो नाम जपकर नाममय हो गये हैं, उनको नमस्कार।

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं चास्य न वा कृतम् ॥

७—८.

जिसे शामको करनेका विचार हो रहा हो, उसे सुबह ही कर डाले। जिसे कल करना चाहो हो उसे आज ही कर डाले। तुम्हारा काम पूरा हुआ या नहीं, मृत्यु इसकी बाट नहीं देखती।

अस्तु, उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणोंके होते हुए भी यदि कोई कहता है कि वर्णाश्रमव्यवस्था जन्मगत नहीं हो सकती, जातिका गुणोंके विकास और कर्मानुष्ठानके अनुसार परिवर्तन हो सकता है, जिस प्रकार (१) विश्वामित्र क्षत्रियसे एक ही शरीरसे ब्राह्मण हो गये, (२) मतङ्गने चाण्डालसे एक ही शरीरसे ब्राह्मण्य प्राप्त किया, (३) दासकन्या मत्स्यवतीके पुत्र मुनिश्रेष्ठ वेदव्यास हो गये, (४) वेश्यापुत्र वसिष्ठ एक ही जन्ममें ब्रह्मर्षि हो गये, (५) किरात-पुत्र नारद एक ही जन्ममें देवर्षि हो गये, (६) शूद्रसन्तान दस्यु रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि बन गया। तो ऐसे मनुष्यको शास्त्रसे अनभिज्ञ और स्वार्थीके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? उपर्युक्त छः बातें कपोल-कल्पित और मिथ्या हैं।

बंबईके निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित अष्टोत्तरशतोपनिषद् ग्रन्थमें वज्रसूचिक नामक एक उपनिषद् है । इस ग्रन्थमें ब्राह्मणादि वर्णभेदका रहस्य समझानेकी चेष्टा की गयी है। ब्राह्मणादि वर्णभेदकी प्रतिष्ठाके लिये श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, तन्त्र-प्रभृति सनातन वैदिक शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित प्रचलित युक्तियोंके खण्डनके लिये यह ग्रन्थ (वज्रसूचिक उपनिषद्) अश्वघोष नामक एक बौद्धके द्वारा लिखा गया है। इस ग्रन्थकी भूमिकामें भूपालराज्यके पोलिटिकल एजेंट विल्किन्सन (Wilkinson) साहब लिखते हैं—
"The Waujra Soochi or Refutation of the arguments upon which the Brahmanical Institution of Caste is founded by a learned Buddhist Aswaghosa." 'अर्थात् वज्रसूची अथवा ब्राह्मणधर्मके वर्णभेदको युक्तियोंका खण्डन' नामक ग्रन्थ बौद्ध पण्डित अश्वघोषके द्वारा प्रणीत है।' विल्किन्सन साहब उपर्युक्त भूमिकामें एक स्थानपर लिखते हैं—
"There is no evil in Indian society, which has been so much deplored by those anxious to promote the enlightenment of the people, as the Institution of Caste."

...गवान्) के पास भेज दिया । तब भगवान्ने उनकी रक्षा-विधान किया । उसमें भगवान्के शरीरसे एक परम रूप-... स्त्री उत्पन्न हुई । उसको देखकर मुर मोहित हो गया ...र उस सुन्दरीपर आक्रमण करने लगा, तब उसने मुरको ... डाला । यह देखकर भगवान्ने उस स्त्रीको वर दिया कि ...मेरे शरीरसे उत्पन्न हुई है, अतः तेरा नाम 'उत्पन्ना' ...गा । और तू देवताओंका संकट निवारण करनेमें समर्थ ... अतएव जो तेरा व्रत करेंगे, उनकी अभीष्टसिद्धि होगी ।' ...स वरको प्राप्त करके वह कन्या अलक्षित हो गयी । कैटभ ...ठ्य (काठियावाड़)के महादरिद्र सुदामाने पत्नीके सहित उत्पन्ना एकादशीका व्रत किया था, इससे वह सब दुःखोंसे मुक्त होकर पुत्रवान्, सुखी और सम्पत्तिशाली बन गया ।

(७) प्रदोषव्रत (व्रतोत्सव)—यह प्रत्येक महीनेके कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें त्रयोदशीको किया जाता है । इस दिन प्रातःस्नानादि करके दिनभर शिवका स्मरण रक्खे और सूर्यास्तसे पहले पुनः स्नान करके प्रदोषके समय शिव-पूजन करे तो इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होती है ।

(८) गौरीतपव्रत (अङ्गिरा)—यह व्रत मार्गशीर्षकी अमावास्यासे आरम्भ किया जाता है । उस दिन प्रातःस्नान करके हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प, दूर्वा और जल लेकर 'इंद्राद्यामहर देवि करिष्येऽहं व्रत तव । पतिपुत्रसुखावाप्ति देहि देवि नमोऽस्तु ते ॥' से संकल्प करके मध्याह्नमें सूर्यनारायण-को अर्घ्य देकर 'अहं देवि व्रतमिदं कर्तुमिच्छामि शाश्वतम् । तवाज्ञया महादेवि निर्विघ्न कुरु तत्र वै ॥' से प्रार्थना करे । पीछे अपने निवासस्थानमें जाकर गौरीका पूजन और उपवास करे । पूजनमें आवाहनादि छः उपचारोंके पीछे—१ पार्वत्यै नमः (पादौ), २ हैमवत्यै (जानुनी), ३ अम्बिकायै (जङ्घे), ४ गिरिशवल्लभायै (गुह्यम्), ५ गम्भीरनाभ्यै (नाभिम्), ६ अपर्णायै (उदरम्), ७ महादेव्यै (हृदयम्), ८ कण्ठ...[illegible] (कण्ठम्), ९ पद्ममुखायै (मुखम्), १० लोक...[illegible] (ललाटम्), ११ मेनकासुशिरकायै (शिरः पूजयामि)-... इस प्रकार अङ्गपूजा करनेके अनन्तर गन्ध-पुष्पादि शेष दस उपचारोंसे पूजन करे और गौरीके दक्षिण भागमें स्कन्द (स्वामिकार्तिकेय)का [illegible] और वाम-भागमें [illegible] पूजन करे । तत्पश्चात् ताँबे अथवा मिट्टीके दीपकको घीसे पूर्ण करके उसमें आठ बत्ती जलावे और (सूर्योदय [illegible]) रात्रिभर प्रज्वलित रक्खे । फिर ब्राह्ममुहूर्त (प्रतिपदा [illegible]) में स्नानादि करनेके अनन्तर द्विज दम्पती (ब्राह्मण-ब्राह्मणी)का पूजन करके तीन धातुओं (ताँबे, पीतल और सीसे)के बने हुए पात्रमें गुड़, पक्वान्न (हलुआ-पूरी-पूआ), तिल-तण्डुल और सौभाग्यद्रव्य रखकर उनपर उपर्युक्त दीपक रक्खे और जबतक बक काकादि पक्षीगण अपना कलरव करते हुए उसको ग्रहण न करें तबतक वहीं बैठी रहे । यदि उठ खड़ी हो तो उससे सौभाग्य हीन होता है । इस प्रकार पहले वर्षमें अमावससे, दूसरेमें प्रतिपदामें और तीसरेमें द्वितीयासे—इस क्रमसे चौथे-पाँचवें आदि वर्षोंमें तृतीया-चतुर्थी आदि तिथियोंको व्रत करके सोलहवें वर्षके मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको आठ द्विज दम्पती बुलवाकर मध्याह्नके समय अक्षतोंके अष्टदलपर (सुपूजित गौरीके समीप) सोम और शिवका पूजन करे और नैवेद्यमें सुहाली, कसार, पूआ, पूरी, खीर, घी, शर्करा और मोदक—इन आठ पदार्थोंका भोग लगावे । और इन्हीं आठ पदार्थोंसे आठ कटोरदान (ढकनदार भोजनपात्र) भरकर उपर्युक्त आठ दम्पती (जोड़ा जोड़ी)को भोजन करवाकर वस्त्रालंकारादिसे भूषित कर एक एक करके आठों कटोरदान दान करे । यह व्रत स्त्रियोंके करनेका है—इससे सभी स्त्रियोंको सुतादिकी प्राप्ति हो सकती है और उनके सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध हो सकते हैं ।

शुक्लपक्ष

(१) धन्यव्रत (वाराहपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्ष के दोनों पक्षोंमें किया जाता है, इस कारण कृष्णपक्षके व्रतोंमें आरम्भहीमें इसका उल्लेख हो गया है । पूरा विधान वहीं देख लेना चाहिये ।

(२) पितृपूजन ([illegible])—मार्गशीर्ष शुक्ल [illegible] द्वितीयाको पितरोंका पूजन करके व्रत करनेसे [illegible] प्रसन्न होते हैं । और न करनेसे उन्हें दुःख होता है ।

(३) वरदचतुर्थी ([illegible])—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीसे आरम्भ [illegible] चतुर्थीका व्रत [illegible] [illegible] करके [illegible] [illegible] [illegible] पूर्ण होता है [illegible] [illegible] शुक्ल [illegible] [illegible] नैवेद्य [illegible] गणेशजीका [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक चतुर्थीको करता रहकर दूसरे वर्ष उसी मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीको यथापूर्व नियम-ग्रहण, व्रत और पूजा करके नक्त (रात्रिमें एक बार) भोजन करे। इसी प्रकार प्रत्येक चतुर्थीको वर्षपर्यन्त करके तीसरे वर्ष फिर मार्गशुक्ल चतुर्थीको व्रत-नियम और पूजा करके अयाचित (बिना माँगे जो कुछ जितना मिले उसीका एक बार) भोजन करे। इस प्रकार एक वर्षतक प्रत्येक चतुर्थीको व्रत करके चौथे वर्षमें उसी मार्गशुक्ल चतुर्थीको नियम-ग्रहण, व्रत-संकल्प और पूजनादि करके निराहार उपवास करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त प्रत्येक चतुर्थीको व्रत करके चौथा वर्ष समाप्त होनेपर सफेद कमलपर ताँबेका कलश स्थापन करके सुवर्णके गणेशजीका पूजन करे। सवत्सा गौका दान करे, हवन करे और चौबीस सपत्नीक ब्राह्मणोंको भोजन करवाकर वस्त्राभूषणादि देकर स्वयं भोजन करे तो इस व्रतके करनेसे सब प्रकारके विघ्न दूर हो जाते हैं और सब प्रकारकी सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(४) वरचतुर्थी (स्कन्दपुराण)—पूर्वोक्त कृच्छ्र-चतुर्थीके समान यह व्रत भी मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीसे आरम्भ होकर ४ वर्षमें पूर्ण होता है। प्रथम वर्षमें प्रत्येक चतुर्थीको दिनार्द्धके समय एक बार अलोन (बिना नमकका) भोजन, दूसरे वर्षमें नक्त (रात्रिभोजन), तीसरेमें अयाचित भोजन और चौथेमें उपवास करके यथापूर्व समाप्त करे। यह व्रत सब प्रकारकी अर्थसिद्धि करनेवाला है। परिमित भोजनके विषयमें किसीने ३२ ग्रास और किसीने २९ ग्रास बतलाये हैं। 'स्मृत्यन्तर'में 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः। द्वात्रिंशतं गृहस्थस्यापरिमितं ब्रह्मचारिणः॥' मुनिको आठ, वन-वासियोंको सोलह, गृहस्थोंको बत्तीस और ब्रह्मचारियोंको अपरिमित (यथारुचि) ग्रास भोजन करनेकी आज्ञा है। ग्रासका प्रमाण है एक आँवलेके बराबर। अथवा जितना सुगमतासे मुँहमें आ सके, उतना एक ग्रास होता है। न्यून भोजनके लिये (ग्रासवाला) तीन ग्रास नियत किये हैं।

(५) नागपञ्चमी ([illegible])—[illegible] यह [illegible] [illegible] हो सकता है, परन्तु (स्कन्दपुराणके) '[illegible] [illegible] पुष्या [illegible] [illegible] [illegible]' के अनुसार [illegible] [illegible]

नागोंका पूजन और एकभुक्त व्रत करना होता है।

(६) श्रीपञ्चमी (भविष्योत्तर)—यह व्रत [illegible] पञ्चमीसे आरम्भ किया जाता है। एतन्निमित्त [illegible] हाथमें लिये हुए कमलासनपर विराजमान और दो [illegible] छोड़े हुए दुग्ध या जलसे स्नान करती हुई [illegible] हृदयमें ध्यान कर सुवर्णादिकी मूर्तिके समक्ष व्रत [illegible] नियम करे और तीन प्रहर दिन बीतनेके बाद गङ्गा आदिपर स्नान करके उक्त मूर्तिको सुवर्णादिके [illegible] स्थापित करके सर्वप्रथम देव और पितरोंको तृ[illegible] (अर्थात् गणपति-पूजन, मातृका-पूजन और नान्दीश्राद्ध [illegible] फिर उस ऋतुके फल-पुष्पादि लेकर यथाप्राप्त उपचारों [illegible] लक्ष्मीका पूजन करे। उसमें गन्ध-लेपनके पहले १ चञ्च[illegible] २ चपला, ३ ख्याति, ४ मन्मथा, ५ ललिता, ६ उत्कण्ठ[illegible] ७ माधवी और ८ श्री—इन आठ नामोंसे १ पाद, २ [illegible] ३ नाभि, ४ स्तन, ५ भुजा, ६ कण्ठ, ७ मुख और ८ मस्त[illegible] की अङ्गपूजा करके नैवेद्य अर्पण करे और सौभाग्यवती स्त्रीके तिलक करके उसे मधुरान्नका भोजन कराने और उ[illegible] पतिको 'श्रीमें प्रीयताम्'-का उच्चारण करके प्रस्थ ([illegible] एक सेर) चावल और घी देकर भोजन करे। इस [illegible] १ मार्गमें श्री, २ पौषमें लक्ष्मी, ३ माघमें कमला, [illegible] फाल्गुनमें सम्पत्, ५ चैत्रमें पद्मा, ६ वैशाखमें नारायणी, ७ ज्येष्ठमें धृति, ८ आषाढ़में स्मृति, ९ श्रावणमें पु[illegible] १० भाद्रपदमें तुष्टि, ११ आश्विनमें सिद्धि और १[illegible] कार्तिकमें क्षमा—इन बारह देवियोंका यथापूर्व और [illegible] क्रम पूजन करके मण्डपादि बनवाकर उसमें वस्त्राभूषण [illegible] बर्तन आदिसे समन्वित शय्यापर लक्ष्मीका पुनः पूजन [illegible] सवत्सा गौसहित विद्वान् ब्राह्मणको दे और फिर भोजन [illegible] तो इस व्रतसे पुत्र-सुख-सौभाग्य और अनन्त [illegible] होती है।

(७) [illegible] (भविष्योत्तर)—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तारकको मारकर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

वेदीपर काले रंगकी—१ दुर्मुखी, २ दीनवदना, ३ मलिना, ४ सत्यनाशिनी, ५ बुद्धिनाशिनी, ६ हिंसा, ७ दुष्टा, ८ मित्र-विरोधिनी, ९ उच्चाटनकारिणी और १० दुःखिन्तप्रदा—ये दस पुत्तिका (पूतली) लिखकर इनकी नाम-मन्त्रोंसे पूजा और प्रतिष्ठा करे। और 'नित्यं पापकरे पापे देवद्विज-विरोधिनि। गच्छ त्वं दुर्दशे देवि नित्यं शास्त्रविरोधिनि॥' से प्रार्थना करके विसर्जन करे। (३) सूत या रेशमके १० तारका डोरा बनाकर उसमें दस ग्रन्थि (गाँठ) लगाये। आवाहनादि षोडश उपचारोंसे पूजन करे। और 'ततः क्षमापयेद् देवं भास्करं च दशाकरम्। दुर्दशानाशनं देवं चिन्तयेद् विश्वरूपिणम्॥' से सूर्यकी प्रार्थना करे। और दक्षिणासहित १० फल लेकर 'भास्करो बुद्धिदाता च द्रव्यस्थो भास्करः स्वयम्। भास्करस्तारकोभाभ्यां भास्कराय नमोऽस्तु-ते॥' से वायन दान करके भोजन करे। और (४) वेदीके स्थानमें चन्दनकी १ सुबुद्धिदा, २ सुखकारिणी, ३ सर्व-सम्पत्तिदा, ४ इष्टभोगदा, ५ लक्ष्मी, ६ कान्तिदा, ७ दुःख-नाशिनी, ८ पुत्रप्रदा, ९ विजया और १० धर्मदायिनी—ये दस पूतली लिखकर नाममन्त्रोंसे इनका षोडशोपचार जन करे। और 'विशुद्धवसनां देवीं सर्वाभरणभूषिताम्। ध्याये-द्दशदशां देवीं वरदाभयदायिनीम्॥' से प्रार्थना करके भोजन करे तो दुर्दशा दूर हो जाती है। 'दुर्दशा क्यों होती है?' इस विषयमें नारदजीने कश्यपजीसे पूछा, तब उन्होंने बतलाया था कि—'तुष, भस्म और मूसलका उल्लङ्घन करनेसे—कुमारी, रजकी (धोबिन) और वृद्धाके साथ संयोग होनेसे, अयोनि– (मुख, हाथ, गुदा) या ब्राह्मणी आदिसे ब्रह्मचर्य नष्ट होनेसे, शाम, सुबह या पर्वमें रजस्वलाके समीप जानेसे—सङ्कटके समय माँ, बाप और मालिकको छोड़ देनेसे और अपने परम्परागत धर्म-कर्म और सदाचारका त्याग कर देनेसे दुर्दशा होती है। अतः न्यायमार्ग और सत्कर्ममें प्रवृत्त रहे और आपत्तिमें दशादित्यका व्रत करे। आपद्ग्रस्त होनेपर नल राजाने और पाण्डवोंने यही व्रत किया था।

(१८) गुडैकादशी (ब्रह्माण्डपुराण)—इसके शुद्धा, विद्धा और नियमादिका निर्णय यथार्थ करनेके अनन्तर मार्ग शुक्ल दशमीको मध्याह्नमें जौ और मूँगकी रोटी-दालका एक बार भोजन करके एकादशीको प्रातःस्नानादि [illegible] उपवास रक्खे। भगवान्का पूजन करे। और [illegible] जागरण करके द्वादशीको एकभुक्त पारण करे। यह एका[illegible] मोहका क्षय करनेवाली है। इस कारण इसका नाम 'मो[illegible]' रक्खा गया है। इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन[illegible] गीताका उपदेश किया था; अतः उस दिन गीता, श्रीकृष्ण व्यास आदिकी पूजा करके गीता-जयन्तीका उत्सव मना[illegible] चाहिये। गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान आदि हो। सम्भ[illegible] हो तो गीताका जुलूस भी निकालना चाहिये।

(१९) व्यञ्जनद्वादशी (व्रतोत्सव)—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशीको भगवान्का षोडशोपचार पूजन करके अन्नकोट[illegible] समान अनेक प्रकारके भोजन-पदार्थ बनाकर विष्णुके अर्पण करे और प्रसादके अभिलाषी भगवद्भक्तोंको आदर [illegible] प्रेमके साथ प्रसाद दे। बादमें १ बार भोजन करे।

(२०) द्वादशादित्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—मार्गशी[illegible] शुक्ल द्वादशीसे आरम्भ करके प्रत्येक शुक्ल द्वादशीको १ मार्ग-शीर्षमें धाता, २ पौषमें मित्र, ३ माघमें अर्यमा, [illegible] फाल्गुनमें पूषा, ५ चैत्रमें शक्र, ६ वैशाखमें अंशुमान् ७ ज्येष्ठमें वरुण, ८ आषाढमें भग, ९ श्रावणमें त्वष्टा १० भाद्रपदमें विवस्वान्, ११ आश्विनमें सविता और १२ कार्तिकमें विष्णु—इन नामोंसे सूर्यभगवान्का यथाविधि पूजन करे और जितेन्द्रिय होकर व्रत करे तो सब प्रकारकी आपत्तियोंका नाश और सब प्रकारके सुखोंकी वृद्धि होती है।

(२१) जनार्दनपूजा (कृत्यरत्नावली)—मार्ग शुक्ल द्वादशीको प्रातःस्नानसे पवित्र होकर उपवास करके देवदेव भगवान्का पूजन करे। पञ्चगव्यसे स्नान कराये। उसीका स्वयं पान करे। और जौ तथा चावलोंका पात्र ब्राह्मणको दे। साथ ही 'सप्तजन्मसु यत् किञ्चिन्मया खण्डमतं कृतम्। भगवंस्त्वत्प्रसादेन तदखण्डमिहास्तु मे॥' 'यथाखिलं जगत् सर्वं त्वमेव पुरुषोत्तम। तथाखिलान्यखण्डानि व्रतानि मम सन्तु वै॥' से प्रार्थना करे।

(२२) मनङ्गत्रयोदशी (भविष्योत्तर)—मार्ग शुक्ल त्रयोदशीको नदी, [illegible] नाँ या [illegible] करके

ब्रह्मचर्य

[ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः]

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

पयस्विनीके पावन तटपर एक शिलापर बैठा मैं बार-बार अपनी पुस्तकको खोलता और उपर्युक्त सूत्रको पढ़कर फिर बंद कर देता। मेरे सिरपर एक पारिजात-का वृक्ष झूम रहा था। वायुके कोमल शीतल स्पर्शसे प्रसन्न होकर वह अपनी सुरभित निधि बार-बार मेरे ऊपर उँड़ेलता जाता था और मैं उसकी इस सुमन-वृष्टिको आदरसे स्वीकार करके कभी-कभी एकत्र भी कर लेता था——चरणोंके नीचे कलकल करती भागती जाती पयस्विनीकी लोल लहररूपी बालिकाओंको खेलनेके लिये अञ्जलि भरकर पुनः-पुनः प्रदान करने एवं उस क्रीड़ासे नेत्रोंको तृप्त करनेके लिये।

उस पार थी सघन वनावली और उसके दक्षिण कक्षमें भवनोंके शिखर दृष्टि पड़ते थे। अपने पीछेकी छोटी झाड़ीके पार खेतोंकी श्रेणीको मैं भूल गया था। इस समय तो यात्रामें साथ लाये योगदर्शनसे उलझा बैठा था और बीच-बीचमें स्वभावतः हाथ सुमनोंको एकत्र करके जलमें डालते भी जा रहे थे। यह क्रीड़ा थी, अर्चन नहीं।

मैं सोच रहा था—एक बच्चा भी जानता है कि यदि पैसा खर्च न किया जाय तो बचेगा। यदि भोजन न करें तो अन्न बच रहेगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यपालनसे वीर्यलाभ तो स्वाभाविक है। इसे कोई मूर्ख भी सरलतासे जान सकता है या जानता ही है। फिर महर्षि पतञ्जलिने यह सूत्र क्यों बनाया? स्वाभाविक विधान तो कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे दूसरे यम-नियमोंका उन्होंने महत्त्व बतलाया है, वैसे ही इसका भी क्यों नहीं बतलाया! वीर्यलाभ तो कोई विशेष बात हुई नहीं। ब्रह्मचर्य कोई उपेक्षणीय विषय है भी नहीं। तब ऐ... हुआ!

मैं ठहरा ज्ञानलवदुर्विदग्ध, अतः संतोंने ... सबसे बड़ा समझदार माननेवाला मेरा मस्तिष्क ... हुआ—महर्षि भी तो मनुष्य ही थे, मनुष्यसे भू... ही है। यहाँ उन्होंने भूल की है। तब यहाँ ... होगा? ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठासे बल मिलता है।

नहीं—मेरे पासके ग्राममें सुखरामसिंह ... प्रसिद्ध पहलवान हैं; किन्तु वे ब्रह्मचारी तो हैं ... उनके स्त्री है, कई बच्चे हैं। उनके अखाड़ेमें ... कई एकको तो मैं जानता ही हूँ। उनमें जैसी ... बातें होती रहती हैं, उससे कोई सभ्य पुरुष उन... पास बैठना भी पसंद नहीं करेगा। अतः ब्रह्मचर्यसे ब... होता है, यह तो ठीक नहीं। तब? ब्रह्मचर्यसे शरी... मोटा होता है? यह तो उपहासास्पद है। ... मोटे क्या ब्रह्मचारी हैं सभी? ब्रह्मचर्यसे तेज होता है। बात कुछ ठीक लगी।

हैं! तेज या चमक तो अग्निका गुण है। ... प्रकृतिवालोंके मुखपर चमक हो सकती है। मेरे ... जमींदारका ललाट कितना चमकता है; लेकिन आचरणके सम्बन्धमें तो उनका पर्याप्त अपयश है। स्मरण आया—प्राकृतिक चिकित्साके आचार्योंका मत है कि ललाटपर मेरुकी झुर्री या चमक रोगका चिह्न है। यह सूचित करता है कि उदरका विजातीय द्रव्य मस्तकतक पहुँच चुका है।

[illegible]

[illegible]

तब क्या पाश्चात्य लोगोंकी सम्मति ही ठीक है? ब्रह्मचर्य व्यर्थकी कल्पना है, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; 'ब्रह्मचर्यसे वीर्यलाभ'—यह तो कोई लाभ नहीं हुआ। वीर्यलाभ न भी हो तो क्या हानि? उसके अतिरिक्त भी तो उपाय हैं जो सबल, सशक्त, सतेज रखते हैं। क्यों उसीपर बल दिया जाय?

ब्रह्मचर्य जिसका शास्त्रोंमें इतना महत्त्व है, जो रतीय संस्कृतिके धार्मिक एवं सामाजिक जीवनकी द है, वही व्यर्थ! हृदय इसे स्वीकार करनेको तनिक भी प्रस्तुत नहीं हो रहा था। मैं चला था समस्याको सुलझाने, वह दुगुनी उलझ गयी। अनेक प्रकारके तर्क उठने लगे। साँड ब्रह्मचारी नहीं होता—पर वह बैलोंसे पुष्ट होता है। बैल यदि बधिया न हों और संयत रहें! साँड अल्पायु भी तो होता है! मैं इन तर्कोंके जालमें उलझकर श्रान्त हो गया और पता नहीं कि कब मुझे उस शीतल मन्द समीरकी कोमल थपकियोंने उसी शिलापर पारिजातकी सुरभित गोदमें सुला दिया।

× × ×

[illegible] पानी उँडेलता तो वह भरा ही मिलता। यही यमुनाजल मात्र हम दोनों पीते थे।

पेटमें चूहोंने दंड लगाना छोड़कर चौकड़ी भरना प्रारम्भ कर दिया। भूखके मारे मेरी दु[र्दशा] होती जा रही थी। प्यास न लगनेपर भी भूख मि[टाने]के लिये बार-बार जल पीता था। दिनभर पड़ा रह[ता] चटाईपर। पानी लेनेको भी उठना भारी प्रतीत होता था। सिरमें चक्कर आने लगता था।

मेरी तो यह दशा थी और वे ब्रह्मचारी! उनकी कुछ मत पूछिये। पता नहीं वे पत्थरके बने थे या लोहेके। स्नान करने यमुनाजी जाते तो दौड़कर, फिर जलमें भली प्रकार तैराई करते। जाने कहाँ-कहाँसे पुष्प एकत्र करके अपने नन्हे ठाकुरको सजाते। पूजा-पाठसे छुट्टी पाकर इधर-उधर फुदकते फिरते। भागवतका पाठ करते। कुछ न होता तो मेरी दुर्बलता-पर खिलखिलाकर हँसते और मेरी हँसी उड़ाते। जैसे उन्हें कभी भूख लगती ही नहीं।

'आपको भूख नहीं लगती क्या ?'

'लगती क्यों नहीं ?'

'भूख लगती तो ऐसे फुदकते फिरते !'

वे हँस पड़े 'ब्रह्मचारीके वीर्यमें भी तो कुछ शक्ति होती है। जो तनिकसे कष्टसे व्याकुल हो जाय, वह कैसा ब्रह्मचारी ?'

'ओह !.........' मैं कुछ और कहनेवाला था, इतनेमें हमारे झोंपड़ेके द्वारमें एक नृसिंहदेवके लघु-भ्राता व्याघ्रदेवने अपना श्रीमुख दिखलाया।

कुछ न पूछिये—मेरा हृदय उछलने लगा। रक्त शीतल होने लगा। उस अशक्तिमें भी मैं उठा और उछलकर कोनेमें जा रहा।

'आइये भगवन् !' ब्रह्मचारीजी हँसकर बोले 'आप भी यमुना-जल पीकर हमारे संग उपवास कीजिये !'

उन्हें भय भी नहीं लगता था। बाघने मुख फाड़ा और मैं चीख पड़ा। ब्रह्मचारीने एक बार मेरी ओर देखा। मुझे हाथ-पैर पेटमें किये दीवारमें प्रविष्ट होनेका व्यर्थ प्रयत्न करते देख वे फिर जोरसे हँसे।

'हमारे मित्र आपसे डर रहे हैं, उन्हें कष्ट है; अतः आपका लौट जाना अच्छा है।' गम्भीर होकर उन्होंने व्याघ्रपर दृष्टि डाली। उसके दोनों पैर भीतर आ गये थे और वह मुझे घूरने लगा था।

'उधर नहीं, पीछे !' और तब एक क्षण रुककर ब्रह्मचारीने उस वनराजके मस्तकपर एक चपत जड़ दी।' 'लौटता है या नहीं!' उन्हें उठायी। जैसे वह कोई चूहा है टीक किया जा सके।

आप हँसेंगे, मुझे भी अब हँसी उस समय मेरी दूसरी ही दशा थी भी आशा जा अटकती थी। 'डूबतेको बाघने एक बार एकटक ब्रह्मचारी देखा और फिर पीछे मुड़ा। उसने भरी, साथ ही कठोर गर्जना की।

मैं चौंक पड़ा। उस गर्जनाके हृदयको धड़का रहा था। श्वासका वेग कुशल यही थी कि मैं पयस्विनीके तीर पर था। मेरे ऊपर हरश्रृङ्गारके पुष्प प

झटपट उठकर बैठ गया। पुस्तक अब भी एक ओर खुली पड़ी थी। मैंने उसे उठाया। प्रथम उसी सूत्रपर दृष्टि पड़ी, जिसपर विचार करते करते मैं सो गया था।

अभय, धैर्य, साहस, ओज, मनोबल—ये सब वीर्यके अन्तर्गत आ जाते हैं। मुझे यह समझनेकी आवश्यकता रह नहीं गयी थी। ब्रह्मचारी तितिक्षु, धीर, निर्भय, स्वभावप्रसन्न एवं अन्तर्मुख होता है क्योंकि वह वीर्यशाली होता है। उसे वीर्यकी प्राप्ति होती है।

मेरा हृदय उत्फुल्ल था और श्रद्धासे मेरा मस्तक उसी ग्रन्थपर झुका हुआ।

अधिकार है । इसलिये मैं इस उत्तम वनको छोड़कर क्यों जाऊँ ? आप जायँ या रहें, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं ।'

इस प्रकारके दुराग्रहीसे तर्क करनेमें कोई लाभ न देखकर मुनि विचार करने लगे कि क्या करना चाहिये। अन्तमें वे विद्याधरको क्षमा कर दूसरी जगह चले गये और वहाँ सब इन्द्रियोंको संयत करते हुए काम-क्रोध, लोभ-मोहका त्याग करके योगारूढ़ हो तपस्या करने लगे ।

मुनिके चले जानेके पश्चात् एक दिन विद्याधरको उनकी याद आयी । वे सोचने लगे कि मेरे भयसे ही मुनिने यह स्थान छोड़ दिया । अब यहाँ दिखायी नहीं पड़ते । वे कहाँ चले गये, कहाँ रहते हैं और किस तरह क्या करते हैं ? अभिमानके कारण विद्याधरका मन प्रमादसे भर गया था और कालकी प्रेरणासे वे अधर्म-पथपर चल रहे थे । उन्होंने उस स्थानका पता लगाना आरम्भ किया जहाँ मुनि निवास करते थे । जब स्थानका ठीक पता चल गया, तब एक दिन वे शूकररूप धारणकर महात्माके आश्रममें गये । उन्होंने देखा कि महातेजस्वी मुनि शान्त और स्थिर मुद्रासे ध्यानमें लीन हैं । कालवश होकर वे मुनिका ध्यान भंग करने लगे; अपना मुँह उनके शरीरसे रगड़ने लगे । फिर भी मुनिने पशु जानकर उनका अपराध क्षमा कर दिया । परन्तु इसका कुछ भी परिणाम न निकला । मुनिकी करुणाका शूकररूपधारी मेरे पतिपर उल्टा असर हुआ । वे मुनिके सामने ही मल-मूत्र त्यागकर नाचने-दौड़ने लगे । कभी [illegible], कभी भयानक शब्द करते । फिर भी मुनिने उन्हें पशु जान, अपनी स्वाभाविक करुणासे, इन सब दुष्कर्मोंको क्षमा कर दिया । मेरे पतिपर उनकी दया- [illegible] फिर भी कोई प्रभाव न पड़ा और उनका प्रमाद [illegible] । उस दिन तो वे और आगे [illegible]

समय पश्चात् फिर एक दिन मुनिके आश्रममें [illegible] उत्पात मचाने लगे । कभी अट्टहास करते, कभी [illegible] सुन्दर और मधुर स्वरमें गायन गाते । उनके [illegible] मुनिके मनमें शंकाका उदय हुआ और ध्यान करके [illegible] जान लिया कि यह वराह नहीं है; यह तो [illegible] गन्धर्व है और यहाँसे भी मुझे भगानेके लिये आ[illegible] तब मुनिको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने यह [illegible] शाप दिया कि 'अरे पापी ! तुमने शूकररूप [illegible] करके मुझे विचलित किया है, अतः तुम पापमय [illegible] योनिको प्राप्त हो ।' मेरे पति मुनिके शापसे भीत [illegible] इन्द्रके पास गये और काँपते तथा डरते हुए [illegible] बोले—'मैंने तो आपका ही काम किया है । वे [illegible] अपनी तपस्याके कारण आप लोगोंके लिये भय[illegible] रहे थे । मैंने उन्हें तपके प्रभावसे विचलित और [illegible] किया है । मुनिके शापसे मेरा देव-रूप नष्ट हो [illegible] है; मैंने पशुयोनि प्राप्त की है । अब आप मेरी [illegible] कीजिये ।' विद्याधरकी इस बातसे इन्द्र दुखी [illegible] उन्होंने उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शि[illegible] और उन्हें लेकर वे मुनिके पास गये । इन्द्रने मुनि[illegible] विनीत होकर प्रार्थना की कि 'आप इस अज्ञान [illegible] अपराध क्षमा कर दीजिये । आप सिद्ध हैं; तप [illegible] शान्ति ही आपकी शोभा है । कालवश अज्ञ[illegible] इसने जो पापाचरण किया है, उसके लिये यह [illegible] करुणा और दयाका पात्र है, क्योंकि उसने अज्ञान[illegible] नशेमें यह सब किया है; इसलिये जिस प्रकार [illegible] शापसे इसे मुक्ति मिले, वह उपाय कीजिये ।'

इन्द्रकी प्रार्थनापर मुनि सदय हो गये और बोले— 'इन्द्र ! आगे [illegible] नामके एक परम [illegible] [illegible] । वह उनके हाथसे [illegible], इस विद्या- [illegible] [illegible]

करती थी। धीरे-धीरे मैं नीच भावोंके गड्ढेमें डूबती गयी। मैं जहाँ जाती, मनमाना आचरण करती—माता-पिता, भाई, पति किसीका कोई हित मैं न कर सकती थी। मेरे पति बड़े ही शान्तस्वभावके और बुद्धिमान् पुरुष थे। वे सब देख रहे थे पर सास-ससुरके स्नेह-वश मुझे कुछ न कहते, सदा क्षमा कर दिया करते। मैं दिन-दिन उद्दण्ड होती गयी; अधर्माचरण करने लगी। मेरे पतिके साधुस्वभाव और मेरी चञ्चलताको देख-देखकर मेरे माता-पिता भी दुःखी रहने लगे। मेरे पति बहुत दिनोंतक आशा करते रहे कि मुझे सुबुद्धि आयेगी। पर मैं दिन-दिन गिरती ही गयी। पति मुझसे कुछ न कहते पर मन-ही-मन बड़े दुखी थे। जबतक उनसे चुप रहकर सहते बना वह सहते रहे। अन्तमें घर, यहाँतक कि वह देश भी छोड़कर चले गये।

इन सब बातोंके कारण पिता बहुत दुखी हुए। मेरे यौवन और रूपकी चिन्तासे उनका शरीर गलने लगा। उनका स्वस्थ शरीर खोखला हो गया। देखनेपर वे वर्षोंके रोगी जान पड़ते थे। मेरी माताने उनकी यह अवस्था देखकर उनसे कहा—'नाथ! आप क्यों इतने चिन्तित हैं। हमारी ही कन्याके दोषसे यह सब हुआ है। यह निष्ठुर और पापाचारिणी है। इसीने देवता-समान पतिको छोड़ दिया था। हमारे दामाद बड़े ही सज्जन थे। वे सम्पूर्ण कुटुम्बियोंके प्रति सद्भाव रखते थे। सुदेवाने कभी उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। सर्वदा ऐसा आचरण करती रही जिसमें पतिके प्रति घोर अपमान और तिरस्कारका भाव था। इतनेपर भी शिवशर्माने कभी उसे कुछ न कहा। वह कभी इसकी बुराई न करते थे। मैं क्या जानती थी कि यह कन्या ही कुलनाशिनी होगी। पर एक बात तुमने ही इसे मोह और लाड़-प्यारमें बिगाड़ा।

नीतिशास्त्रके नियमोंपर आपने ध्यान नहीं दिया। जानते हैं, पाँच वर्षकी आयुतक ही सन्तानका ला- पालन और दुलार किया जाता है। उसके बाद उ- आचार-विचार, भोजन, वस्त्र, स्नान-ध्यान और वि- द्वारा उसको विकसित करना चाहिये। गुण- सद्विद्यासे सन्तानको सुशोभित करना चाहिये। सन्तान- गुण-शिक्षा और विद्याके विषयमें माता-पिताको स्नेह करना चाहिये। प्रतिदिन उसे आवश्यक शिक्षा दे- चाहिये और जरूरत पड़नेपर डाँट-डपटसे भी का- लेना चाहिये। यह सब इसीलिये किया जाता है। भूलसे या छलसे भी सन्तान पापके समीप न जा- नित्य सुविद्या तथा सद्गुणोंका अभ्यास करे। इ- प्रकार माताको कन्याकी, ससुरको पुत्रवधूकी औ- गुरुको शिष्यकी सम्हाल करनी चाहिये। यदि ऐ- न किया जायगा तो उनकी उत्तम शिक्षा नहीं हो- सकती। इसी तरह पतिको पत्नीकी, राजाको मन्त्रीकी और परिचालकको हाथी-घोड़ेकी प्रतिदिन सम्हाल कर- चाहिये। आपने इन बातोंका विचार नहीं किया— जरूरतसे ज्यादा लाड़-प्यार और दुलारमें लड़कीको बिगाड़ दिया—वह चरित्रहीना हो गयी। दामादको अपने आश्रयमें रखकर आपने कन्याको अभिमानिनी और निरंकुश कर दिया। यौवनकालमें कन्याको पितृगृह (मायके) में अधिक दिन नहीं रखना चाहिये। कन्या जिसको सौंप दी जाती है, उसीके घर शोभा पाती है। पतिके घर रहनेपर कन्या उसे अपना घर समझती है और पतिके प्रति अनुरक्त होती है। उसकी सेवा करती है। इससे कुलकी कीर्ति बढ़ती है और पिता सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है। कन्याको कभी दामाद (जामाता) के साथ दीर्घकालतक घरमें नहीं रखना चाहिये।

[४]

इसके आगे कहती गयी—मेरी माताने पिताजीको

रह-तरहसे समझाया। इस सम्बन्धमें उसने द्वापर-
गके यदुवंशी राजा उग्रसेनकी कथा भी सुनायी, जिसमें
ीकि मायकेमें रहनेका बुरा परिणाम बताया गया था।'

रानी सुदेवा बोली—'उग्रसेनकी वह कथा क्या
है और तुम्हारी माताने तुम्हारे पिताको क्या कहा
था! तुमको कष्ट न हो तो मैं सुनना चाहती हूँ।'

शूकरी बोली—'महादेवी! तुमने मेरा कल्याण
किया है। तुम्हारे ही कारण मेरे सब पाप धुल गये
हैं। इसलिये मैं अवश्य तुम्हें सारी कथा सुनाऊँगी।
सुनो।'

मथुरा नगरीमें यदुवंशी उग्रसेन नामक एक श्रेष्ठ
ा राज्य करते थे। वे बड़े प्रतापी, शूर, धर्मके
ता, दाता और गुणवान् नरेश थे। वह धर्मानुसार
ाज्य करते और प्रजाका पालन करते थे। उपयुक्त
समयपर राजा उग्रसेनने राजकुमारी पद्मावतीका पाणि-
ग्रहण किया। पद्मावती विदर्भनरेश सत्यकेतुकी कन्या
थी। वह परम सुन्दरी थी। उसके रूपकी कोई तुलना
न थी। रूपके समान गुणमें भी वह एक ही थी।
उसमें स्त्रियोचित सब गुण थे। वह साक्षात् लक्ष्मीके
मान थी। महाराज उग्रसेन उसे प्राणोंसे अधिक प्यार
करते थे। सदा उसे अपने साथ रखते थे। दोनोंमें
अत्यधिक प्रेम था।

इस तरह ससुरालमें पद्मावतीके दिन सुखपूर्वक
बीत रहे थे। पर माता-पिता अपनी लाड़ली बेटीको
सदा याद करते और उसे देखनेको तरसते रहते थे।
जब उनकी उत्कण्ठा बहुत बढ़ गयी तो राजा सत्यकेतुने
बेटीको बुलानेके लिये उग्रसेनके पास मथुरा अपना
एक विश्वस्त दूत पत्रके साथ रवाना किया। समयपर
दूत मथुरा पहुँचा। उसने बड़ी चतुराईसे अपना सन्देश
सुनाया और आनेका कारण बताया। महाराज उग्रसेनने
सास-ससुरके सन्तोषके लिये पद्मावतीको दूतके साथ,
उसके मायके भेज दिया।

जैसा कि स्वाभाविक है, पद्मावतीको मायके जानेसे
बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने माता-पिताके चरणोंमें सिर
रखकर प्रणाम किया तथा सब कुटुम्बियों और सखी-
सहेलियोंसे बड़े प्रेमके साथ मिली। पद्मावतीके आनेसे
सब लोग आनन्दसे भर गये।

पद्मावती सुख और स्वतन्त्रतापूर्वक वहाँ रहने लगी।
लड़कपनमें जिस प्रकार वह खेलती, कूदती, वन-
विहार करती उसी तरह अब भी आनन्दमें मग्न रहने
लगी। सखियोंके साथ नित्य कहीं-न-कहींका कार्यक्रम
बनता। धीरे-धीरे उसे ससुरालकी याद भूलने लगी
और उसे अनुभव होने लगा कि यहाँ जो आराम और
स्वतन्त्रता है, वहाँ नहीं है। यहाँ जीवन निर्द्वन्द्व है;
कोई जिम्मेदारी नहीं है; कहीं कोई रुकावट या
प्रतिबन्ध नहीं। सरिताकी तरह निरन्तर बहनेवाला
यह जीवन है। कैसा आनन्द है यहाँ।

अब उसके मनमें यह भाव आने लगा कि क्यों न
मैं सदा इसी तरह यहीं रहूँ। पतिका ध्यान शिथिल
होने लगा और संसारकी अन्य वस्तुओंमें अनुरक्ति
बढ़ने लगी।

एक दिन सहेलियोंके साथ पद्मावती एक सुन्दर
पहाड़पर सैरके लिये गयी। पहाड़से लगा हुआ, उसकी
तराईमें एक परम मनोहर, रमणीय वन था। इसमें
तरह-तरहके फल लगे हुए थे; सुदर्शन तथा सुगन्धित
पुष्पोंसे समस्त अरण्य सुशोभित और सुरभित था।
वनके बीच अनेक मनोरम तालाब थे, जिनमें स्वच्छ
जल लहरा रहा था; नाना वर्णके कमल खिले हुए थे।
पक्षियोंकी चह-चहाटसे वन जीवित-सा लगता था। ऐसे मनोहर
स्थानको देखकर पद्मावती सब कुछ भूल गयी। उसका

करती थी। धीरे-धीरे मैं नीच भावोंके गड्ढेमें डूबती गयी। मैं जहाँ जाती, मनमाना आचरण करती—माता पिता, भाई, पति किसीका कोई हित मैं न कर सकती थी। मेरे पति बड़े ही शान्तस्वभावके और बुद्धिमान पुरुष थे। वे सब देख रहे थे पर सास-ससुरके स्नेह-वश मुझे कुछ न कहते, सदा क्षमा कर दिया करते। मैं दिन-दिन उद्दण्ड होती गयी; अधर्माचरण करने लगी। मेरे पतिके साधुस्वभाव और मेरी चञ्चलताको देख-देखकर मेरे माता-पिता भी दुःखी रहने लगे। मेरे पति बहुत दिनोंतक आशा करते रहे कि मुझे सुबुद्धि आयेगी। पर मैं दिन-दिन गिरती ही गयी। पति मुझसे कुछ न कहते पर मन ही-मन बड़े दुखी थे। जबतक उनसे चुप रहकर सहते बना वह सहते रहे। अन्तमें घर, यहाँतक कि वह देश भी छोड़कर चले गये।

इन सब बातोंके कारण पिता बहुत दुखी हुए। मेरे यौवन और रूपकी चिन्तासे उनका शरीर गलने लगा। उनका स्वस्थ शरीर खोखला हो गया। देखनेपर वे चिर रोगी जान पड़ते थे। मेरी माताने उनकी यह अवस्था देखकर उनसे कहा—'नाथ! आप क्यों इतने चिन्तित हैं। हमारी ही कन्याके दोषसे यह सब हुआ है। वह निष्ठुर और पापाचारिणी है। इसीने [illegible] पतिको छोड़ दिया था। हमारे दामाद बड़े ही सज्जन थे। वे सम्पूर्ण [illegible] प्रति [illegible] थे। [illegible] उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

...सम्बन्ध । इस सम्बन्धमें उनके बाद- [illegible]
... राजा उग्रसेनकी कथा भी सुनाती, जिसमें
... कहे हुए [illegible] बनाया गया था ।'
... बोली, 'उग्रसेनकी यह कथा क्या
... माताने तुम्हारे पिताकी कथा कहा
... कथा न हो तो मैं सुनना चाहती हूँ ।'
...ती बोली, 'महारानी, उसमें मेरा कल्याण
। तुम्हारे ही कारण मेरे सब पाप धुल गये
...लिये मैं अवश्य तुम्हें सारी कथा सुनाऊँगी ।

...पुर नगरीमें यदुवंशी उग्रसेन नामक एक श्रेष्ठ
राज्य करते थे । वे बड़े प्रतापी शूर, धर्मके
दाता और गुणवान नरेश थे । वह धर्मानुसार
करते और प्रजाका पालन करते थे । उपयुक्त
पर राजा उग्रसेनने राजकुमारी पद्मावतीका पाणि-
...ण किया । पद्मावती विदर्भनरेश सत्यकेतुकी कन्या
। वह परम सुन्दरी थी । उसके रूपकी कोई तुलना
थी । रूपके समान गुणमें भी वह एक ही थी ।
उसमें स्त्रियोचित सब गुण थे । वह साक्षात् लक्ष्मीके
समान थी । महाराज उग्रसेन उसे प्राणोंसे अधिक प्यार
करते थे । सदा उसे अपने साथ रखते थे । दोनोंमें
...लौकिक प्रेम था ।

[illegible] फूलोंके लिये [illegible]
उनके मनके खेद [illegible] दिया ।

जैसा कि स्वाभाविक है, [illegible]
बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने माता-पिताके चरणोंमें सिर
नवाकर प्रणाम किया तथा सब कुटुम्बियों और सखी-
सहेलियोंसे बड़े प्रेमके साथ मिली । [illegible] आनेसे
सब लोग आनन्दसे भर गये ।

पद्मावती सुख और स्वतन्त्रतापूर्वक वहाँ रहने लगी ।
लड़कपनमें जिस प्रकार वह खिलती, कूदती, वन-
विहार करती उसी तरह अब भी आनन्दमें मग्न रहने
लगी । सखियोंके साथ नित्य यहाँ-वहाँका कार्यक्रम
बनता । धीरे-धीरे उसे ससुरालकी याद भूलने लगी
और उसे अनुभव होने लगा कि यहाँ जो आराम और
स्वतन्त्रता है, वहाँ नहीं है । यहाँ जीवन निर्द्वन्द्व है;
कोई जिम्मेदारी नहीं है, कहीं कोई रुकावट या
प्रतिबन्ध नहीं । सरिताकी तरह निरन्तर बहनेवाला
यह जीवन है । कैसा आनन्द है यहाँ ।

अब उसके मनमें यह भाव आने लगा कि क्यों न
मैं सदा इसी तरह यहीं रहूँ । पतिका ध्यान शिथिल
होने लगा और संसारकी अन्य वस्तुओंमें अनुरक्ति
बढ़ने लगी ।

हृदय आनन्दसे भर गया। उसके मनमें जलविहारकी कामना उत्पन्न हुई। वह सहेलियोंके साथ तालाबमें उतरकर जल-क्रीड़ा करने लगी। कभी सब तैरतीं, कभी डुबकी लगातीं, कभी एक दूसरेपर छींटे उछालतीं—कभी हँसतीं। यौवन-सुलभ चपलता और अल्हड़ता मुक्त होकर नाच रही थी।

संयोगसे उस समय कुबेरका अनुचर दैत्य गोभिल अपने विमानपर सुखपूर्वक बैठा आकाशमार्गसे कहीं जा रहा था। उसका विमान उसी तालाबके पाससे निकला। गोभिलकी दृष्टि पद्मावतीपर पड़ी। पद्मावती सचमुच अद्वितीय रूपवती थी। फिर चञ्चलता और मनोहर जल-क्रीड़ाके कारण उसका रूप और भी लुभावना हो रहा था। गोभिलके मनमें उस परम सुन्दरी पद्मावतीको देखते ही विकार उत्पन्न हो गया। अपने तपके बलपर उसे यह जानते देर न लगी कि वह कौन है। यह जानकर कि वह विदर्भकी राजकुमारी और मथुराके महाराज उग्रसेनकी पत्नी है, पहले उसने सोचा कि यह मेरे लिये दुष्प्राप्य है। पर उसकी आँखें पद्मावतीपरसे हटती ही न थीं। उसके मनमें नाना प्रकारके भाव-कुभाव आने लगे। वह सोचने लगा कि इसका पति उग्रसेन कैसा मूर्ख है जो ऐसी रूपवती यौवनाको अपने पाससे दूर मायकेमें भेज दिया है और स्वयं इसके वियोगमें बुरी तरह दिन बिता रहा है।

ज्यों-ज्यों वह सोचता, उसकी कुकामनाएँ प्रबल होती जातीं। अन्तमें वह कामातुर हो गया। मनमें कहने लगा कि यदि आज यह सुन्दरी न मिली तो मेरे प्राण निकल जायँगे। इसलिये किसी-न-किसी प्रकार इसको अपने वश करना चाहिये।

उसने अपना विमान [illegible] नीचे एक [illegible] उतारा। और अपना [illegible]

रूप धारण किया। महाराज उग्रसेन जैसे थे वैसा ही बन गया; एक-एक अंग, एक-एक [illegible] थी। वही स्वर, वही भाषा, वही वस्त्र, वही [illegible] रूप-रंग, वही ढाँचा और वही उम्र। महाराज[illegible] की तरह ही वह सुन्दर आभूषणों और दिव्य[illegible] सुशोभित हो गया। पूरी तैयारी करके पर्वतके [illegible] भागमें, एक अशोक वृक्षकी छायामें शिलाखण्डपर [illegible] गया और वीणा हाथमें लेकर बजाने लगा। [illegible] सुन्दर स्वर-लयसे युक्त गीत गाना शुरू कर [illegible] उसके गाने-बजानेमें इतना आकर्षण था कि समस्त वनस्थली उसीके स्वरमें तन्मय हो [illegible] पद्मावती भी मुग्ध होकर उस गीतको सुनने [illegible] उसे ऐसा मालूम होने लगा मानो कोई उसे [illegible] तरफ खींच रहा है। उसका मन अवश होने [illegible] तब वह अपनी सखियोंके साथ उधर गयी। [illegible] से देखा कि अशोककी छायामें विमल शिला[illegible] बैठा है। उसका शरीर दिव्य गन्धोंसे पूर्ण है। [illegible] सुन्दर पुष्पोंकी माला धारण किये हुए है। जब [illegible] साफ उसका मुँह दिखायी दिया तो पद्मावती [illegible] ठक रह गयी। 'अरे! मेरे प्राणनाथ महाराज [illegible] पति अपने राज्यसे कब यहाँपर आ [illegible] वह सोच ही रही थी कि दुरात्मा [illegible] पुकारा—'प्रिये! इधर आओ।' पद्मावती इतने [illegible] भी चकित और शङ्कित होकर विचारने लगी— [illegible] पति यहाँ कैसे आये! ज्यों-ज्यों सोचती, त्यों-त्यों उसे लज्जा और ग्लानि बढ़ती जाती। वह सोचने लगी— मैं दुराचारिणी हूँ जो निर्लज्ज और निःशङ्क होकर [illegible] रही हूँ, इससे अवश्य ही मेरे पति क्रोधित होंगे। [illegible] सामने देखने [illegible] व्याकुल [illegible] फिर पुकारा—'[illegible] जल्दी आओ। तुम्हारे बिना मेरे प्राण व्याकुल हो [illegible] हैं। तुम्हारे [illegible] मैं पागल हो रहा हूँ। [illegible]

[illegible]

[illegible] ...अब तू मेरा प्रभाव देख।'

गोभिल बोला—'तुम मुझे शाप क्यों देना चाहती हो? मैंने क्या अपराध किया है, जो तुम शाप देनेको तैयार हो? हे शुभे! मैं कुबेरका अनुचर हूँ, मेरा नाम गोभिल है; मैं दैत्य हूँ, अतः स्वभावतः दैत्योंका आचार ही मेरा आचार है। उत्तम विद्याओंका ज्ञान मुझे है। मैं वेद-शास्त्रका जानकार और सब कलाओंमें निपुण हूँ। दैत्योंका आचार होनेके कारण परायी स्त्री और पराये धनका बलपूर्वक उपभोग करना ही मेरा स्वभाव है। हम दैत्य हैं; हमलोग प्रतिदिन ब्राह्मणोंका छिद्रान्वेषण करते हैं। विघ्न डालकर उनकी तपस्या भंग करना हमारा काम है। हे देवि! छिद्र मिल जानेपर हम ब्राह्मणोंका भी नाश कर डालते हैं। हम यज्ञका नाश करते हैं। सुब्राह्मण, विष्णु और पतिपरायणा पतिव्रता नारीके पास हमलोग नहीं जाते। हे देवि! सुब्राह्मण, भगवान् विष्णु और पतिव्रता नारीका तेज सहन करनेमें दैत्य असमर्थ हैं। इन तीनोंके भयसे दानव और राक्षस दूर भाग जाते हैं। मैं पृथ्वी... [illegible] दानव [illegible] करते [illegible]

[illegible] मेरी बात सुनो। जो [illegible] परित्याग नहीं [illegible] होम करता है, [illegible] वह [illegible] है। [illegible] तन-मन-वचनसे [illegible] करता है [illegible] नित्य जो व्यक्ति आज्ञापालन करता है [illegible] आगे-पीछे रहता है, वह पुण्यवान् पुत्र है। जो गुणवान् पुत्र तन-मन-कर्मसे [illegible] माता-पिताका पालन करता है, उसे प्रतिदिन गङ्गास्नानका फल मिलता है। अब उत्तम पातिव्रत-धर्म कहता हूँ। वचन, मन और कर्मसे जो नारी प्रतिदिन पतिकी सेवा करती है, पतिके प्रसन्न होनेपर जो नारी प्रसन्न और पतिके दुखी होनेपर जो नारी दुखी होती है, पतिके क्रोध करनेपर भी जो उसे छोड़कर नहीं जाती, जो नारी सब कामोंमें पतिके आगे रहती है, वही स्त्री पतिव्रता कही जाती है। पिता पतित हो, उनमें अनेक दोष हों, कोढ़ी या क्रोधी हों; पर पुत्रका कर्तव्य है कि उन्हें कभी न छोड़े। इस प्रकार पिता-माताकी सेवा करनेवाला पुत्र विष्णु-धामको प्राप्त होता है। उपर्युक्त रूपसे सेवा करनेवाले सेवककी भी वैसी ही गति होती है, तथा पतिसेवा करनेवाली नारी भी पतिलोकमें जाती है। अग्निको न छोड़नेवाला ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें जाता है। नारी अगर संसारमें कल्याणकी इच्छा रखती हो तो किसी भी [illegible]अवस्थामें उसे पतिका परित्याग नहीं करना चाहिये। [illegible] अनुपस्थितिमें जो नारी लोलुपतावश शरीरको

गहने-कपड़ोंसे सजाती है—भोग और शृंगारका सेवन करती है, लोग उसे बुरा कहते हैं।

हे शुभे ! मैं सब धर्मोंको जानता हूँ। जो मनुष्य अपने धर्ममार्गको छोड़कर चलते हैं, उनका शासन करनेके लिये ही दानवोंकी सृष्टि हुई है। जितने नराधम अवैध धर्मका आचरण करते हैं यानी अपने निश्चित-धर्मके विपरीत चलते हैं, हमलोग कठोर दण्डके द्वारा उनका शासन करते हैं। तुमने भी गलत मार्गपर पाँव रक्खा। गृहस्थ-धर्मका परित्याग कर यहाँ तुम किसलिये आयी ? तुम मुँहसे तो अपनेको पतिव्रता कहती हो किन्तु कर्ममें, आचरणमें तुम्हारा पातिव्रत कहीं दिखायी नहीं देता। तुम पतिको छोड़कर किसलिये यहाँ आयी थी ? तुम शृंगार करके इस एकान्त स्थानमें क्यों आयी ? किस मतलबसे, किसको दिखानेके लिये तुमने ऐसा किया था ? तुम प्रमत्त और निःशंक होकर पहाड़ और वनमें घूमती हो। मैंने दण्डके द्वारा तुम्हारे पापका फल प्रदान किया है। तुम दुष्ट और अधर्मचारिणी हो—पतिको छोड़कर यहाँपर आयी हो। और बन-ठन-कर मनमाने आमोद-प्रमोद कर रही हो। मुझे दिखाओ, कहाँ तुम्हारा पातिव्रत है ? तुम मेरे सामने क्या बोलती हो ? तुम्हारे अंदर तपका प्रभाव कहाँ है ? तुम्हारे अंदर तेज कहाँ है ? यदि है तो आज मुझे अपना बल-वीर्य-पराक्रम दिखाओ।

पद्मावती बोली—'अरे अधम असुर ! सुन। पतिके घरसे मेरे पिता स्नेहवश मुझे यहाँ ले आये हैं। मैं पतिकी आज्ञासे यहाँ आयी हूँ। इसमें मेरा क्या दोष है ? मैं काम, लोभ, मोह, मात्सर्यके वशीभूत हो पतिको छोड़कर तो आयी नहीं हूँ। यहाँ भी मैं पतिभावको धारण करती हुई रह रही हूँ। तूने छलसे पतिका रूप धारणकर मुझे ठगा है। मैं मथुरा-नरेश ही तेरे सामने आयी थी। यदि मैं जानती कि तू मायावी है तो एक ही हुंकारमें तुझे र राख कर देती।'

गोभिल बोला—'अंधोंको दिखायी नहीं प तुम धर्मनेत्रहीन हो, फिर कैसे मुझे पहचान पिताके घर तुम पतिका ध्यान छोड़कर ध्यानशु गयी थी। इसके कारण तुम्हारे ज्ञानकी आँखें ब गयी थीं। तब तुम मुझे कैसे पहचानती ! क माता, पिता, भाई या स्वजन, बान्धव किसकी है यह कहकर दानवाधम गोभिल अट्टहास करता हु बोला—'अरी पुंश्चली ! तुमसे मुझे कोई भय नहीं है तुम्हारे शापसे मेरा क्या होगा ? तुम व्यर्थ ही क रही हो। व्यर्थ बातें कर रही हो, मेरे घर रहकर स प्रकारके मनमाने भोगोंका उपभोग करो।'

पद्मावतीने कहा—'दूर हो पापी ! तू घृणितके तरह क्या बक रहा है ? मैं सतीभावसे रहनेवा पतिव्रता हूँ, यदि मुझसे ऐसी बात करेगा तो तुझे भस्म कर डालूँगी।' यह कहकर पद्मावती बड़ी दुः होकर जमीनपर बैठ गयी। आत्मग्लानि और पश्चात्ताप उसका हृदय भर गया और वह फूट-फूटकर रोने लगी गोभिलने उससे कहा—'तुम्हारे उदरमें मेरा जो वी है, उससे तुम्हें संसारको त्रास देनेवाला एक पु उत्पन्न होगा।' यह कहकर वह चला गया।

पद्मावतीके रोनेसे जंगल काँपने लगा। तब सब सखियाँ, जो उसे मायावी पतिके निकट समझकर दूर चली गयी थीं, दौड़कर आ पहुँचीं। उन्होंने रोने और दुःख करनेका कारण पूछा। पद्मावतीने अपने छले जानेकी सम्पूर्ण घटना उनको बतला दी। सखियाँ बड़ी चिन्तित हुईं। वे बड़ी कठिनाईसे उसे उसके पिताके घर ले गयीं। बड़े संकोच और ग्लानिके साथ वह घरके अंदर गयी। सखियोंने सारी घटना पद्मावतीकी माताको बतायी। माता घबरायी हुई अपने

के पास गयी और उनसे सारी घटना बतायी । सत्यकेतु उसे सुनकर बड़े दुखी हुए । उन्होंने सोचा कि कन्याको बिना बात बढ़ाये चाप मथुरा भेज देना चाहिये । उन्होंने सब प्रबन्ध र कन्याको मथुरा भेज दिया । उसका दोष पा लिया ।

धर्मात्मा उग्रसेन प्यारी पत्नी पद्मावतीको पुनः घर लौटे देख बड़े प्रसन्न हुए । फिर दिन उसी तरह बीतने लगे । क्रमशः सब लोकोंको भय देनेवाला रुण गर्भ बढ़ने लगा । पद्मावतीको तो उस गर्भका रहस्य मालूम ही था, इसलिये वह खिन्न रहने लगी । रात-दिन उसीके विषयमें चिन्ता करती रहती । उसने सोचा—ऐसे लोकनाशक दुष्ट पुत्रको जननेसे क्या लाभ ! उससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ! इसलिये । नष्ट कर देना चाहिये । उसने इधर-उधरसे पूछकर र्भपात करनेवाली ओषधियोंका संग्रह किया । गर्भपातके अनेक उपाय किये, किन्तु कुछ फल न निकला । सब लोकोंको भय देनेवाला दारुण गर्भ बढ़ता ही गया । एक दिन उसे ऐसा अनुभव हुआ मानो गर्भस्थ शिशु उसे सम्बोधन कर कह रहा है—'माता ! प्रतिदिन ओषधिका सेवन कर क्यों कष्ट उठाती हो ? जीवकी आयु पुण्यसे बढ़ती और पापसे नष्ट होती है । जीव अपने कर्मविपाकसे जीता और मरता है । कोई गर्भधारण करते, कोई कच्चे गर्भमें, कोई पैदा होते और कोई युवा होकर मृत्युको प्राप्त होता है । बाल, वृद्ध, युवक सब कर्मविपाकके अनुसार जीते-मरते हैं । ओषधि, देवता, मन्त्र—ये सब निमित्तमात्र हैं । मैं कौन हूँ, यह तुम्हें मालूम नहीं । तुमने महाबलवान् कालनेमिका नाम सुना होगा । मैं वही कालनेमि हूँ । दानवोंमें महाबलवान् और त्रैलोक्यको भयभीत करने-वाला हूँ । घोर देवासुरसंग्राममें, प्राचीन कालमें, विष्णुने मुझे मारा था । मैं उसी वैरका बदला लेनेके लिये तुम्हारे उदरमें आया हूँ ।'

गर्भ बराबर बढ़ता रहा । समयपर पद्मावतीके पेटसे महाबलवान् कंस पैदा हुआ, जिससे संसार भयभीत हो गया था और जिसे भगवान् श्रीकृष्णने मारकर पुनः शान्तिकी स्थापना की थी । हे कान्त ! मैंने सुना है कि इस प्रकारकी घटनाएँ भविष्यमें भी घटेंगी । कन्याको पिताके घर स्वतन्त्रतापूर्वक रहनेके लिये नहीं छोड़ना चाहिये । तुम भी इस दुष्टा कन्याका त्याग कर दो अन्यथा महादुःख, महापाप होगा ।

शूकरी कहती गयी—मेरी माताकी बात मानकर पिताने मेरा त्याग करनेका निश्चय कर लिया और मुझे बुलाकर कहा कि बेटी ! तुम्हें सब प्रकारके कपड़े, लत्ते, गहने मैंने दिये हैं । तुम्हारी ही अनीतिसे तुम्हारे पति शिवशर्मा चले गये हैं । अब तुम भी जाओ और जहाँ तुम्हारे पति हों, उनको खोजकर उनके साथ रहो । अथवा तुम्हारी जहाँ इच्छा हो तहाँ जाओ ।' मैं इस प्रकार अपमानित होकर चल पड़ी । पर मैं कहीं भी रह न सकी, न सुख प्राप्त कर सकी । 'यह पुंश्चली आयी है' कहकर सब लोग मेरा तिरस्क करने लगे । मैं कुलमानसे रहित होकर देश-वि घूमने लगी । घूमते-घूमते एक समय गुर्जर दे सौराष्ट्र प्रान्तके वनस्थल नामक नगरमें एक विशा शिवमन्दिरके समीप पहुँची । मैं भूखसे छटपटा रही थी । भिक्षा-पात्र लेकर द्वार-द्वार घूमने लगी, पर जहाँ जाती तहाँ लोग मुझे दुत्कार देते । आन्तरिक दुःख और भूखकी पीड़ासे व्यथित, माँगते-माँगते मैं एक बड़े घरके सामने पहुँची । वह घर बड़ा सुन्दर था । उसमें एक ओर वेदशाला थी और वेदध्वनि हो रही थी । नौकर-चाकर भी इधर-उधर आ-जा रहे थे । मैंने उस घरके द्वारपर जाकर भिक्षा माँगी । गृहस्वामीने अपनी सद्गुणी पत्नी मंगलासे कहा—'मंगले ! एक

दुर्बल बाला भिक्षाके लिये द्वारपर खड़ी है। उसे बुलाकर भोजन करा दो।' गृहिणी आकर मुझे अंदर लिवा ले गयी और बड़े आदरसे मुझे भोजन कराया। जब मैं भोजन कर चुकी तब गृहस्वामीने मुझसे पूछा—'तुम कौन हो, किसकी स्त्री हो, यहाँ कैसे आयी हो? किस कारण तुम सर्वत्र घूमती-फिरती हो? मुझे बताओ।' मैंने देखकर और कण्ठस्वरसे उन्हें पहचान लिया। वह मेरे पति धर्मात्मा शिवशर्मा थे। मैंने लज्जासे सिर झुका लिया और कनखियोंसे पतिकी ओर देखा। वे भी मुझे पहचान गये। मंगलाने स्वामी-से पूछा—'स्वामिन्! यह बाला कौन है, जो आपको देखकर लज्जा कर रही है। कृपया बताइये।'

शिवशर्माने कहा—'मंगले! यदि जानना चाहती हो तो सुनो। यह भिखारिणी ब्राह्मण वसुदत्तकी कन्या है। इसका नाम सुदेवा है। यही सुदेवा मेरी प्रिय पत्नी थी। शुभे! मेरे वियोगसे दुखी होकर मेरी खोजमें यह यहाँ आयी है। अब तुम इसका परिचय पा गयी, इसलिये उत्तम रूपसे इसका सत्कार करो।'

पतिव्रता मंगला पतिकी बातसे बड़ी प्रसन्न हुई। उसने ले जाकर मुझे स्नान कराया, उत्तम वस्त्र पहनाये तथा नाना प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत किया। देवि! पतिके द्वारा इस प्रकार सम्मानित होनेपर मुझे अपने पूर्वकृत्योंपर भयंकर पश्चात्ताप होने लगा। पतिव्रता मंगलाका सम्मान देखकर मुझे बड़ी ग्लानि हुई। मेरे प्राणोंको ऐसी चोट लगी कि इसी दुःख और चिन्तामें मैं घुलने लगी। सोचती—'हाय! ऐसे धर्मात्मा पति-को पाकर भी मैं सुखी न हुई। मैंने उनका निरन्तर तिरस्कार किया। कभी उनसे सीधे मुँह नहीं बोली, कभी उनकी सेवा नहीं की। अब मैं किस तरह इनसे सम्भाषण करूँगी!' मेरा हृदय दारुण व्यथासे जलने लगा और इसी दुःखमें एक दिन ... निकल गये।

इसके बाद मेरी जीवात्मा अनेक नारकीय ... बीचसे गुजरती रही तथा अनेक नीची ... जन्म लेना पड़ा। अब शूकरीरूपमें पृथ्वीपर ... हूँ। देवि! तुम्हारे हाथमें सब तीर्थ हैं। ... प्रसादसे मेरे पाप नष्ट हो गये हैं और ... पुण्यके तेजसे मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है। मैं ... यन्त्रणामें पड़ी हुई हूँ। मेरा उद्धार करो।

रानीने कहा—'भद्रे! मैंने क्या पुण्य ... है कि मैं तुम्हारा उद्धार करूँगी!' शूकरी बोली—महाराज इक्ष्वाकु साक्षात् विष्णुस्वरूप हैं और ... साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा हो। तुम पतिव्रता, पति... भाग्यशालिनी सती नारी हो, अतः तुम सदा ... मयी हो। तुम मेरे कल्याणके लिये अपना एक दिन ... पुण्य मुझे प्रदान करो। मेरे लिये इस समय ... माता हो, तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं गुरु हो। ... पापिनी, ज्ञानहीना नारी हूँ। हे शुभे! तुम ... उद्धार करो।'

यह सुनकर रानीने अपने पति महाराज ... की ओर देखा। महाराजने कहा—'इस ... पापयोनि प्राप्त हुई है। हे शुभे! तुम अपने ... आशीर्वादसे इसका उद्धार करो। तुम्हारा ...'

पतिकी आज्ञा पाकर रानीने शूकरीसे कहा—'अच्छा! मैं तुम्हें अपना एक वर्षका पुण्य ... करती हूँ।'

रानीके यह कहते ही शूकरीने पुनः सुन्दर ... देह प्राप्त की और दिव्य विमानपर सवार होकर ... लोकको चली गयी। (क्रमशः)

—:o:—

भूलना सीखो

अमेरिकाके एक प्रमुख डाक्टर 'मेडिकल टॉक' edical Talk) नामक पत्रमें लिखते हैं कि वर्षोंके भवके बाद मैं इस निर्णयपर पहुँचा हूँ कि दु:ख दूर नेके लिये 'भूल जाओ' से बढ़कर कोई दवा है ही ीं । अपने लेखमें वे लिखते हैं—

यदि तुम शरीरसे, मनसे और आचरणसे स्वस्थ होना हते हो तो अस्वस्थताकी सारी बातें भूल जाओ ।

रोज-रोज जिंदगीमें छोटी-मोटी चिन्ताओंको लेकर ींकते मत रहो, उन्हें भूल जाओ । उन्हें पोसो मत, अपने दिलके अंदर उन्हें पाल मत रक्खो—उन्हे अंदरसे निकाल फेंको और भूल जाओ । उन्हें भुला दो ।

माना कि किसी 'अपने' ने तुम्हें चोट पहुँचायी है, तुम्हारा दिल दुखाया है । सम्भव है जान-बूझकर उसने ऐसा नहीं किया है, और मान लो कि जान-बूझकर ही उसने ऐसा कर डाला है तो क्या तुम उसे लेकर सूत कातते रहोगे ? इससे तुम्हारे दिलका दर्द कुछ ल्का होगा क्या ? अरे भाई, भुला दो, भूल जाओ; उसे लेकर चिन्ताओंका जाल मत बुनने लगो। भूल जाओ, उधरसे चित्त हटा लो, आँखें फेर लो, मन मोड़ लो ।

दूसरोंके प्रति तुम्हारे मनमें घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, दुर्भाव आदिके जो घाव हैं उनमें भीतर-ही-भीतर मवाद भर रहा है और यह तुम्हारे ही शरीर-मन-प्राणमें ूर फैल रहा है । क्यों न तुम इन तमाम बातोंको पने दिलसे निकाल फेंको, मनसे बुहार फेंको, हृदयसे बहा डालो और तुम देखोगे कि तुम्हारे भीतर ऐसी पवित्रता, ऐसी सफाई आयेगी कि तुम्हारा शरीर और मन पूर्णत: स्वस्थ और निर्मल हो जायगा····तुम उन्हें पोसकर अपने ही हाथों अपनी हत्या कर रहे हो— क्या तुम यह नहीं जानते ! इसीलिये तो कहता हूँ— भूल जाओ, भुला दो ।

और बड़े-बड़े संकट, विपत्ति, दु:खके समय क्या करें ? यदि हमारे ऊपर दु:खोंका पहाड़ टूट पड़ा हो, विपत्तिकी बिजली गिर पड़ी हो, किसीने हमारे सत्यानाशकी तदबीरें सोच ली हों और कोई हमारा परम प्रिय व्यक्ति हमें तड़पता हुआ छोड़कर मृत्युके मुखमें समा गया हो—ऐसे अवसरोंपर जब हमारा घाव गहरा और मर्मान्तक है, हम क्या करें ? क्या उन्हें भी भूल जायँ, भुला डालें ? हाँ, हाँ उन्हें भी, उन्हें भी भूल जाओ— धीरे-धीरे ही सही, लेकिन भूल जाओ उन्हें भी । इसीमें तुम्हारी भलाई है । भविष्यमें इससे तुम अधिकाधिक सुख पाओगे, शान्ति पाओगे ।

दु:खकी, चिन्ताकी, बीमारीकी बातें न करो, न सुनो । स्वास्थ्यकी, आनन्दकी, प्रेमकी, शान्तिकी ही बातें करो और इन्हें ही सुनो । देखोगे कि तुम स्वास्थ्य लाभ करोगे, आनन्द लाभ करोगे, प्रेम पाओगे, शान्ति पाओगे ।

और मैं अपने अनुभवसे कह रहा हूँ, सच मानो कि दु:खोंका भार उतार डालना कतई मुश्किल नहीं है, बड़ा ही आसान है । शुरू-शुरूमें आदत डालनेमें कुछ समय लगेगा, कुछ कठिनाई भी होगी; लेकिन आदत पड़ जानेपर बात-की-बातमें तुम बड़ी-से-बड़ी चिन्ताको चुटकियोंपर उड़ा दोगे और इस प्रकार भूल जाने या भुला देनेमें तुम इतने अभ्यस्त हो जाओगे कि जीवनको दु:खमय और विषाक्त कर देनेवाली तमाम बातें तुम्हारे सामने आते ही काफूर हो जायँगी । यह संसार तुम्हारे लिये आनन्दमयका आनन्द-विलास प्रतीत होगा; क्योंकि इसमें दु:ख, अभाव, पीड़ा, कष्ट आदि-जैसी कोई वस्तु रह ही नहीं जायगी ।

भूलना सीखो । यदि शरीरका स्वास्थ्य और मनकी शान्ति अभीष्ट है तो भूलना सीखो, भूलना सीखो। 'दुनिया'

श्रीमद्भागवत-महिमा

(लेखक—[illegible] रवीन्द्रनवानजी शर्मा आयुर्वेद-शास्त्री राजवैद्य)

(१)

[illegible] ! है यह प्रेम जहाँ पावनतम, अनुपम—
अतुल, अनन्त, अगाध, अनिर्वचनीय, उत्तम—
जिसमें गोते [illegible] मन कर देती है,
[illegible] निर्मल, [illegible], हृदयमें भर देती है,
करती प्रेमाम्बु निश्छलकर अन्तःकरण पवित्र है ,
[illegible] प्रेम-कथा वह प्रेमकी भागीरथी विचित्र है ॥

(२)

करना चाहे प्रेम-पयोनिधिका जो दर्शन—
वह श्रीमद्भागवत करे सत्वर अवलोकन ,
है नव रस शुचि नीररूपमें जहाँ प्रवाहित ,
जो महोचतम भाव-ऊर्मि-दलसे कल्लोलित ,
गाम्भीर्य अर्थ-गाम्भीर्य ही है इस पारावारमें ,
जो रत्न कथारूपी विविध है प्रदान करता हमें ॥

(३)

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, मिलित हैं इसमें ऐसे ,
सरस्वती, सुरसरी, सूर्यजा-संगम जैसे ।
पूर्णतया भवताप नष्ट जो कर देता है ,
शान्ति, प्रेम, आनन्द हृदयमें भर देता है ,
प्रतिमा पुनीत सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् की यही ,
महिमा इस महाप्रयागकी पूर्ण न जा सकती कही ॥

(४)

जप, तप, यज्ञ-विधान, योग आदिके साधन—
उत्तम हैं; [illegible] किन्तु धन, मन-बल, धन, जन,
[illegible] सहित लक्ष्यतक पहुँचाते हैं—
[illegible] आते हैं ।
[illegible] यह पथ शान्त है ,
है [illegible] होता भ्रान्त है ॥

(५)

संस्कृतके साहित्य-दुर्गका कीर्ति-केतु
भव-सागर-अवतरणहेतु यह सुखद सेतु
मृत्यु-व्याधि-नाशार्थ सुलभ यह सुधा-सार
मोक्ष-मार्गका परम प्रमुख कमनीय द्वार
शुचि वैदिक विज्ञानादिका यह अनुपम
उपमा-अभाववश कहूँगा इसके यही

(६)

वेदव्यास कृतकृत्य हुए जिसके प्रणयनसे
काव्य-कला कृतकृत्य हुई जिसके वर्णनसे
हिन्दू जाति महत्त्वमयी जिसके कारणसे
हुआ धरातल धन्य अहो ! जिसके धारणसे
महिमामय महापुराण वह था अवतीर्ण हुआ
उस उत्तमतम भारत सदृश देश स्वर्गमें भी

(७)

व्यास-लेखनी ! ऋणी रहेगा विश्व तुम्हारा ,
तुमसे हुई प्रसूत सुधाकी वह प्रिय धारा—
जिसे पान कर स्वर्ग विश्व बन सकता सारा ,
जा सकता है कल्प-विपिन भी तुमपर वारा ;
भूपर श्रीमद्भागवतका यदि यथेष्ट सुप्रचार
द्वेषाग्नि नष्ट हो सर्वथा पावन प्रेम-प्रसार

(८)

है विभूति सर्वोच्च अ
है अमूल्य सम्पत्ति
संस्कृत भाषा हुई
पाते हैं हम पूर्व
वेदोक्त सनातन धर्म
वह प्रियतम श्रीमद्भा

सच्चा सुख कैसे मिल सकता है ?

(लेखक—पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे, एम्० ए०; श्रीभगवतप्रसाद शुक्ल)

[सं]सार आज मदोन्मत्त और निरङ्कुश गजराजकी नाईं
और शान्तिकी खोजमें जान और मालकी बाजी
[लगाक]र बेतहाशा भागा जा रहा है । समुद्रपार पूर्व और
[पश्चि]मके प्रायः सभी देश अपनेको सबसे अधिक सभ्य,
[उन्न]त, शक्तिमान् और ऐश्वर्यवान् समझते हैं । विज्ञानकी
[सहा]यतासे एक ओर यदि जर्मनी सर्वोत्कृष्ट वायुयान
[बना]कर तैयार करता है तो दूसरी ओर अमेरिका उससे
[भी] बढ़िया वायुयान बनानेके लिये प्रयत्नशील होता है ।
[य]दि इंगलैंड एक रेडियोका आविष्कार करता है तो
[फ्रां]स यह सिद्ध करनेके लिये कटिबद्ध होता है कि वह
[उ]ससे भी अधिक ऊँचे दरजेका उपयोगी रेडियो बना
[स]कता है । फ्रांस यदि धन कमानेकी लालसासे अनेक
प्रकारकी कम कीमती बढ़िया और टिकाऊ चीजें बनाता
है तो जापान प्रतिस्पर्धा करके यह बतला देना चाहता
है कि वह इस कलामें सबसे अधिक कुशल है । देशों-
की इस प्रतिस्पर्धा और संघर्षके परिणामस्वरूप
वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रकाशमें आँखें चौंधिया रही हैं ।
'व्यापारे वसते लक्ष्मीः' की उक्तिके अनुसार इन देशोंपर
आज लक्ष्मीजी भी प्रसन्न हैं । धन-धान्यसे भरे-पूरे होनेके
कारण ये अपनेको सब प्रकारसे सुखी समझ रहे हैं ।

परन्तु यह सुख सच्चा सुख कदापि नहीं माना जा
सकता । धनकी बढ़तीके साथ-ही-साथ मनुष्यकी
इच्छाएँ भी बढ़ा करती हैं । एक इच्छाकी पूर्ति हुई कि
मनके परदेपर दूसरी इच्छा अंकित हो जाती है ।
मनुष्यकी इच्छाओंका अन्त कभी नहीं होता । एक
इच्छा पूरी होने और दूसरी इच्छाके उत्पन्न होने-
तकके सन्धिकालमें मनुष्यको सुखकी झलक दिखलायी
पड़ती है । वह उसके रसका स्वाद भी नहीं लेने पाता
कि तृष्णा उसका गला दबा देती है । वह दूसरी
[पू]र्तिके लिये आगे बढ़ता है । बिना सब
[illegible] कि सन्तोष पदार्थ नहीं मिलता । एकके
बाद दूसरी इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करते रहनेसे
असन्तोष सदा बना रहता है । तृष्णा और वासना
अग्निमें घीके समान असन्तोषको भड़काया करती हैं ।
आश्चर्यकी बात है कि सभ्य कहलानेवाला संसार धनके
नशेमें इतना गर्क है कि उसे असलियतका पता नहीं
चलता ! वह जुगनूके प्रकाशको सूर्यका प्रकाश समझ
रहा है । असली सुख-शान्ति और सन्तोष तो मनुष्यको
तभी प्राप्त हो सकते हैं जब वह अपने मन और
इन्द्रियोंको अपने कब्जेमें कर ले, तृष्णा और वासनाके
विषवृक्षको समूल अपनी मनकी जमीनसे उखाड़ फेंके
और उखाड़ फेंके इसके साथ-ही-साथ उस मोहरूपी
परदेको, जिसके घने अँधेरेमें उसकी विवेक-बुद्धि काम
ही नहीं कर पाती । इतना करनेपर ही उसे सच्चा सुख,
सन्तोष और शान्ति मिल सकेंगे, अन्यथा नहीं ।
ओसके जलकणसे प्यास नहीं बुझती । प्यास बुझानेके
लिये शीतल मीठे जलकी आवश्यकता पड़ती है । यह
जल भौतिकवादके भ्रमपूर्ण मार्गद्वारा नहीं, अध्यात्मवादके
कठिन पथपर चलनेसे ही प्राप्त हो सकता है ।

इस नाशवान् पार्थिव शरीरको सुखी बनानेके लिये
जितने भी पदार्थोंकी कल्पना की जा सकती है, वे सब इन
सभ्य कहलानेवाले देशोंने तैयार कर लिये हैं । इनका
उपभोग करते हुए वे अपनेको सुखी और सम्पन्न समझ
रहे हैं । यहाँ भी वे गलती कर रहे हैं । जिस शरीरको
सुखी बनानेके लिये वे रात-दिन एड़ी-चोटीका पसीना एक
किया करते हैं, वह तो बरसातके पानीके उस बुलबुलेके
समान है जिसके उत्पन्न होने और नाश होनेमें देर नहीं
लगती । इनकी सुखलालसा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है ।
तृष्णाके बढ़नेसे लालसाके प्रबन्ध और प्रयत्नमें तथा
प्रतिस्पर्धाके आवेशमें आज [illegible] इन सभी देशोंने ऐसे-
ऐसे तेज विषैले गैसोंको बना डाला है जिनके [illegible]
[illegible] हो जाता है । इन सभ्य
[illegible] देखकर [illegible]

कहलानेवाले देशोंके प्रसिद्ध विद्वान् वैज्ञानिक अपनी प्रतिभाका प्रयोग मानव-समाजके नष्ट करनेके साधन जुटानेमें कर रहे हैं। इस ओर भी सब देश बाजी लगाकर भिड़े हुए हैं। कहना न होगा कि वर्तमान योरोपीय महायुद्धमें इसी वैज्ञानिक प्रतिस्पर्धाके परिणामस्वरूप करोड़ों मनुष्योंका अबतक बलिदान हो चुका है। भविष्यके गर्भमें अभी और क्या छिपा है, यह कहा नहीं जा सकता। विज्ञानका उपयोग यदि मानव-समाजको सुखी बनानेके साधन एकत्रित करनेतक सीमित रहता तो वास्तवमें वह प्रशंसनीय था; परन्तु उसके द्वारा मनुष्योंका मूक पशुओंके समान वध किया जाना, विशाल बेशकीमती इमारतोंका जलाया जाना और निर्बोध बालकों, अशक्त वृद्धों और असहाय अबलाओंको मर्मान्तक क्लेश पहुँचाना कितना निन्दनीय, कलङ्कित और कलुषित काम है।

धन और ऐश्वर्यके मदमें मत्त योरोपनिवासी स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये एक-दूसरेके प्राण और स्वतन्त्रता हरण करनेके लिये भगीरथप्रयत्न कर रहे हैं। जर्मनी चाहता है कि संसारमें मेरा एकाधिपत्य राज्य स्थापित हो जाय। इधर इंगलैंड और अमेरिका अपनी शान बनायी रखनेके लिये प्राणपणसे चेष्टा कर रहे हैं। इस प्रकार दो विपरीत दृष्टि-कोणके प्रतिस्पर्धा और संघर्षके परिणामस्वरूप प्रलयकारी महाभयङ्कर युद्ध हो रहा है। जिस समय कौरवों और पाण्डवोंके मध्य कुरुक्षेत्रमें महाभारत हो रहा था उस समय दुर्योधन रणाङ्गणमें जाते समय अपनी माता गान्धारीके पास नित्य जाता और उनके पैर पकड़कर उनसे विजयका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता। परन्तु सतीशिरोमणि गान्धारी उससे नित्य-प्रति यही कहा करतीं—'यतो धर्मस्ततो जयः' अर्थात् जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। इस युद्धका …नाम भी इसी सिद्धान्तके अनुसार होगा, इसमें तिल- …ी सन्देह नहीं।

यह मानव शरीर पाँच तत्त्वोंसे बना है। … भीतर आत्मा विराजमान है। शरीरमें चैतन्य-शक्ति … करनेवाला यही आत्मा है। जबतक शरीरमें आ… तभीतक वह जीवित माना जाता है। जिस समय … शरीरको त्याग देता है, तभी यह शरीर 'मृत' कह… है। आत्मा परमात्माका अंश है। वह शरीरद्वारा … गये कर्मोंके अनुसार अनेक जन्म लेता और … परमात्मामें उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार … प्रकाश सूर्यके अस्ताचलगामी होते ही उन्हींमें … हो जाता है। आत्माके शरीरसे निकल जानेपर … फिर उन्हीं पाँच तत्त्वोंमें मिल जाता है, जिनसे वह … है। अधिकांश मनुष्य अज्ञानवश इस जड शरीर… विषय-वासनाको तृप्त करनेमें ही अपना जीवन … कर देते हैं। मनुष्यका सबसे प्रबल शत्रु 'काम' है। मनुष्य इसके जालमें ऐसा बेतरह फँसता है कि … उसका गुलाम बनकर जन्मभर उसकी उपासना कि… करता है। लोभ, क्रोध और मोह भी मनुष्यको … किया करते हैं। विषय-वासनाओंकी तृप्ति और धनकी प्राप्तिहीको वह वास्तविक सुख समझता है। परन्तु यह सब उस मृगमरीचिकाके जलके समान निस्सार और धोखेकी टट्टी हैं, जिसके पानेके लिये अज्ञानी … रेगिस्तानमें भटककर प्राण गँवा देता है। इन्हीं क्षणिक और निस्सार आधिभौतिक सुखोंको मनुष्य जीवनके सबसे … सुख समझ बैठा है। यह भौतिक सुख उस आबदार मोतीके समान है, जो नकली होते-हुए भी मनुष्योंको भ्रममें डाल देता है। लोग उसे असली समझकर प्रसन्नतासे ग्रहण करते और सुखका अनुभव करते हैं। परन्तु ज्यों ही वह किसी जौहरीके पास जाता, उसकी असलियत परख ली जाती और वह फोड़कर फें… दिया जाता है। इस समय संसार भौतिकवादकी उत्ताल तरङ्गोंमें टकराता हुआ अचेत बहा चला जा रहा है। किसी चट्टानपर टकराते ही उसका नाश अवश्यम्भावी है। अभी समय है। हमको सचेत होकर अपनी वास्तविक परिस्थिति …

साथ-ही-साथ मनुष्यके जीवनकी सफलता निश्चित है।

मनुष्यके शरीररूपी रथपर आरूढ़ आत्मा ही परमात्माका दूसरा स्वरूप है। मनुष्य अपने इस नाशवान् जड शरीरको सुखी बनानेके लिये अनेक प्रयत्न किया करता है। परन्तु उसे इस बातका कभी ध्यान नहीं रहता कि उसका इस आत्माको उन्नत और सुखी बनाना भी परम धार्मिक कर्तव्य है। मनुष्यको अपने आत्माको पहचाननेका सबसे पहला लक्ष्य बनाना चाहिये। आत्माको पहचानते ही उसका परमात्मासे साक्षात्कार हो जाता है। इसको उन्नत और सुखी बनाना परमात्माकी सर्वोत्कृष्ट विभूतिकी आराधना करनेके समान है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसके दर्शनमात्रसे मोहान्धकार नष्ट हो जाता है। मन निर्मल ज्ञानके उज्ज्वल प्रकाशसे जगमगा उठता है। आत्माको सुखी करना ही सच्चा आध्यात्मिक सुख है। यही सच्चा और बेशकीमती मणि है। यही कामधेनु है। यही कल्पतरु है और अष्ट सिद्धि और नव निधिका दाता है। इसकी सेवा करनेसे मनुष्यको और किसीकी सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं। कैसी विडम्बना है कि मनुष्यके पास मणि-मुक्ता और स्वर्णका समूह होते हुए भी वह दूसरोंके सामने हाथ पसारता है। इसी आध्यात्मिक सुखकी प्राप्तिके लिये प्राचीन कालमें ब्राह्मण-लोग लँगोटी लगाकर जंगलमें मङ्गल मनाया करते थे। इस सुखको प्राप्तकर वे संसारकी सब सम्पदा—यहाँतक कि सारे संसारके साम्राज्यको भी तुच्छ समझते थे। आज हमारी जबानपर उस आध्यात्मिक सुखका स्वाद अभीतक नहीं लग पाया है। इसीलिये हम इस भौतिक सुखके पीछे प्राणतक देनेको तैयार हैं। आध्यात्मिक उन्नतिके कारण ही किसी समय भारत समस्त संसारका गुरु था। आज गुरु गुरु बन गया है और [illegible] कर अपने जीवनको सफल समझ रहे हैं। जिस क्षण भारतके नवयुवक [illegible] सुखको लात मारकर आध्यात्मिक सुखकी [illegible] ओर अग्रसर होंगे; इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि [illegible] क्षण भारतकी सब आधि-व्याधि, परतन्त्रता इत्यादि जाने कहाँ काफूर हो जायें।

भौतिकवादके दुष्परिणामकी एक झलक योरोपमें इस समय महायुद्धके रूपमें दिखलायी दे रही है। भारतवर्षमें यह दूसरे रूपोंमें अपना ताण्डवनृत्य कर रहा है। भारतवर्षके अधिकांश मनुष्य स्वार्थसाधनमें इतनी तत्परतासे लगे हुए हैं कि उन्हे दूसरोंके नफ़ा-नुकसानका कुछ भी खयाल नहीं रहता। धर्मसे अथवा अधर्मसे और न्यायसे अथवा अन्यायसे जिस तरह उनका हित-साधन हो, उसे करनेमें उन्हें ज़रा भी सङ्कोच नहीं होता। समाचार-पत्रोंमें लोग झूठे विज्ञापन छपाकर भोले-भाले लोगोंको ठगते और धन कमाकर मूँछोंपर ताव दिया करते हैं। पूँजीपतियोंको देखिये। मजदूरोंसे कड़ी-से कड़ी मिहनत कराकर उन्हें इतना कम वेतन देना चाहते हैं कि वे अपना पेटतक नहीं पाल सकते। इनके लिये रहनेके लिये हवादार तथा साफ स्थान नहीं, शरीरकी लज्जा ढाँकनेके लिये काफी कपड़े नहीं और सन्तानको शिक्षित बनानेके लिये साधन नहीं। इन पूँजीपतियोंको देखिये। उनकी कोठियाँ हैं। वे मिल तथा कारखाने चलाते और मोटरपर चलते हैं। विलास-भोगमें नित्य सैकड़ों रुपये खर्च कर डालते हैं। क्या यह स्वार्थकी पराकाष्ठा नहीं? इनके अत्याचारकी चक्कीमें लाखों मजदूर नित्य पीसे जा रहे हैं, परन्तु [illegible] सहायक कोई नहीं। जमींदार किसानोंको बात-बातमें तंग करते और मौका पाते ही उन्हें खेतोंसे बेदखल करके अपने कोषकी वृद्धि करते हैं। किसानोंको मदद करना तो दूर रहा उन्हें इस बेरहमीके साथ सताया जाता है कि शायद ऐसा कोई अपने पशुओंको भी न सताता होगा। बजाज, बजाजा, मनिहारी, किराना— [illegible] दूकानदार [illegible] हे, सोना—चाँदी

साथ-ही-साथ मनुष्यके जीवनकी सफलता निश्चित है।

मनुष्यके शरीररूपी रथपर आरूढ़ आत्मा ही परमात्माका दूसरा स्वरूप है। मनुष्य अपने इस नाशवान् जड शरीरको सुखी बनानेके लिये अनेक प्रयत्न किया करता है। परन्तु उसे इस बातका कभी ध्यान नहीं रहता कि उसका इस आत्माको उन्नत और सुखी बनाना भी परम धार्मिक कर्तव्य है। मनुष्यको अपने आत्माको पहचाननेका सबसे पहला लक्ष्य बनाना चाहिये। आत्माको पहचानने ही उसका परमात्मासे साक्षात्कार हो जाता है। इसको उन्नत और सुखी बनाना परमात्माकी सर्वोत्कृष्ट विभूतिकी आराधना करनेके समान है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसके दर्शनमात्रसे मोहान्धकार नष्ट हो जाता है। मन निर्मल ज्ञानके उज्ज्वल प्रकाशसे जगमगा उठता है। आत्माको सुखी करना ही सच्चा आध्यात्मिक सुख है। यही सच्चा और चिन्तामणि है। यही कामधेनु है। यही कल्पवृक्ष है और अष्ट सिद्धि और नव निधिका दाता है। इसकी सेवा करनेसे मनुष्यको और [illegible]

समझ रहे हैं। जिस क्षण भारतके [illegible] सुखको लात मारकर आध्यात्मिक सुखकी ओर अग्रसर होंगे; इसमें जरा भी सन्देह नहीं [illegible] क्षण भारतकी सब आधि-व्याधि, [illegible] जाने कहाँ काफूर हो जायें।

भौतिकवादके दुष्परिणामका एक [illegible] इस समय महायुद्धके रूपमें दिखायी दे [illegible] भारतवर्षमें यह दूसरे रूपोंमें आ [illegible] रहा है। भारतवर्षके अधिकांश मनुष्य [illegible] इतनी तत्परतासे लगे हुए हैं कि उन्हें [illegible] नुकसानका कुछ भी खयाल नहीं रहता। [illegible] अधर्मसे और न्यायसे अथवा अन्यायसे जिस [illegible] हित-साधन हो, उसे करनेमें उन्हें [illegible] नहीं होता। समाचार-पत्रोंमें लोग झूठे [illegible] भोले-भाले लोगोंको ठगते और धन [illegible] दिया करते हैं। पूँजीपतियोंको देखिये। मजदूरोंसे [illegible] कड़ी मिहनत कराकर उन्हें इतना [illegible] चाहते हैं कि वे अपना पेटतक नहीं [illegible] इनके लिये रहनेके लिये [illegible]

...आवश्यक कर्मकी भाँति नित्यप्रति करने जाना चाहिये। सुखको देनेवाली एक निर्मल उज्ज्वल ज्योति जगमगा ...सफलता चेरीकी भाँति साधकके पीछे-पीछे दौड़ती उठेगी। उस समयका आनन्द वर्णनातीत है। उसे ...रेगी। मनको एकाग्र कर आत्माको परब्रह्मके चिन्तनमें साधक स्वयं ही अनुभव करके प्राप्त कर ले। प्रत्येक ...लीन करनेसे एक वह स्वर्ण-सुदिन अवश्य आयेगा, जब द्विजको अपनी जाति, देश और संसारके कल्याणके लिये उस सच्चिदानन्द अखिलेश्वर परमेश्वरका साक्षात्कार सन्ध्याकी नित्यप्रति उपासना अवश्य करनी चाहिये। ...होगा और साधकके हृदयमें अलौकिक शान्ति और इसीसे सच्चा सुख, शान्ति और मोक्ष मिल सकता है।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल-एल० बी०)

हमारी स्वास्थ्य-रक्षक सेना

केशव—पिताजी! माताजीको बुखार आ गया है। चारपाईपर पड़ी हैं।

पिता—बुखार न आये तो क्या हो। इतनी बार उन्हें समझा चुका, वह अपने स्वास्थ्यपर ध्यान देती ही नहीं।

केशव—स्वास्थ्य किसे कहते हैं, पिताजी!

पिता—जब हमारे शरीरके हरेक कल-पुर्जे अपना-अपना काम ठीक ढंगपर करते रहते हैं, तब उस अवस्थाको हम स्वास्थ्य कहते हैं। जब वे अपना काम ठीक ढंगपर नहीं करते या उनमें कोई खराबी पैदा हो जाती है, तब उसे हम रोग या बीमारीके नामसे पुकारते हैं।

केशव—पिताजी, बीमारी कैसे पैदा होती है?

पिता—बीमारियाँ बहुत तरहकी होती हैं, और उनके पैदा होनेके कारण भी बहुतेरे हैं। किन्तु मोटे तौरसे हम कह सकते हैं कि कुछ बीमारियाँ तो ऐसी हैं, जो खान-पान या रहन-सहनकी खराबियोंसे पैदा हो जाती हैं—जैसे अपच, मन्दाग्नि, वात, गठिया, सिरका दर्द, पेटका दर्द, कब्जियत इत्यादि, और कुछ ऐसी हैं जो छूतकी हैं, अर्थात् छूतसे पैदा होती हैं—जैसे प्लेग, हैजा, चेचक, सर्दी-जुकाम, इन्फ्लुएंजा, क्षय इत्यादि।

केशव—ये छूतकी बीमारियाँ किस तरह पैदा होती हैं?

पिता—छूतसे पैदा होनेवाली बीमारियाँ वास्तवमें छोटे-छोटे कीड़ोंसे उपजती हैं। ये कीड़े इतने छोटे होते हैं कि साधारण आँखोंसे दिखायी नहीं देते। इसीसे इन्हें कीटाणु कहकर पुकारते हैं। इन्हें देखनेके लिये एक ऐसे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जो छोटी-छोटी चीजोंको बड़ा करके दिखा दे।

केशव—वह यन्त्र कौन-सा है?

पिता—उस यन्त्रको अणुवीक्षण यन्त्र कहते हैं। उसके द्वारा हम छोटी-से-छोटी वस्तुको भी बिल्कुल आसानीके साथ देख सकते हैं। ये यन्त्र कई प्रकारके होते हैं—कोई कम शक्तिका और कोई ज्यादा शक्तिका। जो यन्त्र जितनी ही ज्यादा शक्तिका होगा, उससे उतनी ही बारीक चीज देखी जा सकेगी। रोगके कीटाणुओंको देखनेके लिये बहुत तेज शक्तिके यन्त्रोंकी जरूरत हुआ करती है, क्योंकि ये कीटाणु बहुत ही सूक्ष्म होते हैं।

केशव—अच्छा, तो ये कीटाणु होते कैसे हैं?

पिता—ये कीटाणु अनेक प्रकारके होते हैं, किन्तु अधिकतर ये तीन ही रूपोंमें दिखायी दिया करते हैं—(१)* पाईकी तरह गोल आकारमें, (२)† छड़ीकी तरह लंबे और (३)‡ छल्लेदार या उमेठनदार शकलमें। आगे [illegible] और उनके रूपरंग और लक्षणके अनुसार अलग-

* Coccus. † Bacillus. ‡ Spirillum.

अलग नाम भी हैं, किन्तु तुम्हें उस झगड़ेमें पड़नेकी जरूरत नहीं। केवल इतना ही समझ लो कि जितने भी प्रकारके छुतहे रोग होते हैं—अर्थात् सर्दी और जुकाम-जैसे साधारण रोगोंसे लेकर क्षय, चेचक, हैजा और प्लेग-जैसे भयङ्कर रोगोंतक—सबकी उत्पत्तिके लिये अलग-अलग जातिके कीटाणु हुआ करते हैं।

केशव—लेकिन इन कीटाणुओंसे रोग कैसे होता है?

पिता—बात यह है कि इन कीटाणुओंमें अपनी संख्याको बढ़ानेकी बड़ी विचित्र शक्ति हुआ करती है। हर एक कीटाणु अपने शरीरको बढ़ाकर दो टुकड़े कर देता है, जिससे एककी जगह दो कीटाणु बन जाते हैं। इस प्रकार क्षणभरमें ही इनकी संख्या दुगुनी हो जाती है। हमारे शरीरमें यदि इनमेंसे एक भी कीटाणु किसी तरह प्रवेश कर पाये और उसकी बाढ़के लिये परिस्थिति बिल्कुल अनुकूल हो तो उससे इसी तरह एकसे दो, दोसे चार और चारसे आठ होते हुए कुछ ही समयमें करोड़ों कीटाणु पैदा हो जायँगे और हमारे शरीरके अंदर उनकी एक भारी बस्ती तैयार हो जायगी।

केशव—तब उससे क्या होगा?

पिता—बस, फिर वे तमाम कीटाणु हमारे खूनके साथ मिलकर सारे शरीरमें चक्कर लगाने लगेंगे, और खूनमें अपना जहर भरकर हमारे शरीरके पेंचीले और सुकुमार पुर्जोंमें तरह-तरहकी खराबियाँ पैदा कर देंगे, जिससे हम बीमार पड़ जायँगे।

केशव—लेकिन, पिताजी, ये रोगके कीटाणु हमारे शरीरमें पहुँच कैसे जाते हैं?

पिता—इनकी पहुँच हमारे शरीरमें अनेक प्रकारसे हो सकती है। कुछ तो हवामें उड़कर साँसके साथ आ जाते हैं, कुछ दूध, जल या भोजनके साथ मिलकर अंदर पहुँच जाते हैं और कुछ रोगी मनुष्यके पहने हुए [illegible] पहुँचते हैं। कुछ कीटाणु ऐसे भी हैं जो किसी खास [illegible] जानवरके काटनेसे ही हमारे खूनमें पहुँच जाते हैं।

केशव—तब इनसे बचनेका उपाय क्या है?

पिता—इनसे बचनेका सबसे बड़ा उपाय तो परम पिता परमात्माने ही हमारे शरीरके भीतर रक्खा है। उसने हमारे अंदर करोड़ों सिपाहियोंकी एक ऐसी सेना पैदा कर दी है, जो हर समय शरीरकी रखवाली किया करती है और शरीरके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक दिन-रात चक्कर लगाकर पहरा दिया करती है। जहाँ कोई शत्रु हमारे घुसा कि इस सेनाके बहुत-से सिपाही झट उसपर टूट पड़ते हैं और उसे मार-मारकर बाहर निकालनेकी चेष्टामें लग जाते हैं।

केशव—ओहो! ये सिपाही कौन हैं?

पिता—ये हमारे खूनके सफेद कण हैं। हमारे खूनमें दो प्रकारके अत्यन्त नन्हे-नन्हे जीवाणु पाये जाते हैं—एक लाल और दूसरे सफेद। इनकी शक्ल पहियोंकी तरह घेरेदार हुआ करती है। ये खूनके जीवित कण हैं और खूनके साथ-साथ शरीरमें चक्कर लगाया करते हैं। इनमेंसे लाल कणोंका काम शरीरके तमाम अङ्गोंको भोजन ढो-ढोकर पहुँचाना है और सफेद कणोंका काम शरीरकी रक्षा करना। बहुत छोटे होनेके कारण आँखोंसे ये नहीं दिखते; किन्तु अणुवीक्षण यन्त्रकी सहायतासे हम इन्हें साफ देख सकते हैं। जिस समय किसी रोगके कीटाणु हमारे खूनमें पहुँचते हैं तो ये सफेद कण रक्षाके लिये उनसे बड़ी तत्परताके साथ जा भिड़ते हैं और फिर कुछ समयतक उन दोनोंमें एक कुश्ती होती रहती है। यदि हमारे सफेद कण कीटाणुओंसे शक्ति और संख्यामें बलवान् हुए तो [illegible] इन्हें [illegible] पड़ता है।

केशव—यह क्या ?

पिता—वह है मुख्यतः सफ़ाई और सदाचार। ये दोनों ही बातें स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भोजनसे कम महत्त्व नहीं रखतीं। सफ़ाईके अंदर भोजनकी सफाई, पानीकी सफ़ाई, हवाकी सफाई, शरीरकी सफाई, वस्त्रोंकी सफ़ाई, घर-द्वारकी सफ़ाई और पास-पड़ोसकी भी सफ़ाई शामिल है। इनके अतिरिक्त मन, स्वभाव और चरित्रकी स्वच्छता भी सदाचारके अंदर आ जाती है। इस प्रकार अपने रहन-सहनमें हमें सब प्रकारकी सफ़ाई और निर्मलता लानेकी ज़रूरत है। याद रहे कि जितने भी प्रकारके रोग और रोगके कीटाणु हैं, सब गंदगीमें ही पनपते हैं। सफ़ाई और प्रकाशमें उनकी बाढ़ और शक्ति क्षीण हो जाती है। साथ ही सफ़ाई और प्रकाश हमारे खूनके कणोंको बल देते हैं। इससे हममें रोगोंको रोकनेकी शक्ति आती है। इस प्रकार सफाई हमारी दो तरहसे सहायक है। एक ओर तो वह हमारी शक्तिको बढ़ाती है और दूसरी ओर वह हमारे शत्रुओंकी शक्तिको क्षीण करती है। अतएव इसका साथ हमें जीवनपर्यन्त छोड़ना [illegible]।

[illegible]न्तु पिताजी! मन और चरित्रकी सफ़ाई-[illegible] क्या सम्बन्ध ?

देखो, जिस प्रकार बाहरी सफ़ाईसे शरीरको [illegible] है, उसी प्रकार मन और चरित्रकी [illegible] भी शक्ति प्राप्त होती है। और मन [illegible]। उसीके कहनेपर शरीर चलता है। [illegible] हुआ तो फिर शरीरपर वह [illegible] सकता और न उससे स्वास्थ्यके पालन ही करा सकता है। [illegible]पने कितने ही चिकित्सक रोगीको केवल यह विश्वास दिलाकर अच्छा कर[illegible] हैं कि तुम अब अच्छे हो। जिस रोगीके मनमें जि[illegible] ही मज़बूत यह विश्वास जम जाता है, उतना [illegible] जल्दी वह अच्छा भी हो जाता है। कहनेका म[illegible] यह कि शरीरका मनके साथ बहुत ही घना सम्ब[illegible] है। अतएव शरीरके स्वास्थ्यके लिये मनकी श[illegible] जिसे हम इच्छा-शक्ति भी कहते हैं, बहुत आवश्[illegible] है; और यह शक्ति उन लोगोंको आसानीसे प्राप्त[illegible] जाती है, जिनका मन निर्मल है और जो चरित्रवान् हैं।

केशव—तो मन और चरित्रको निर्मल रखने[illegible] लिये उपाय क्या है ?

पिता—इसका सबसे सीधा उपाय यह है कि बुरे और गंदे विचारवाले लोगोंकी संगतसे बचो, पवित्र और ऊँचे विचारवाले लोगोंका सत्सङ्ग करो, बुद्धि और ज्ञानको बढ़ानेवाली पुस्तकें पढ़ो और अपने मनमें ह[र] एक बातपर स्वतन्त्र रूपसे सोचनेकी आदत डालो। जब कभी तुम्हारा मन भटककर किसी बुरे रास्तेपर जाना चाहे तो उसे पूरी शक्तिसे रोको और उसके परिणामोंपर विचार करो। साथ ही ईश्वरसे प्रार्थना करो कि वह तुम्हारे मनको इतनी शक्ति दे कि तुम[illegible] बुरे विचारोंसे तुम अपनेको दूर रख सको।

केशव—मैं अवश्य ऐसा ही करूँगा। आज मैंने कितनी ही नयी बातें सीखीं। मैं इन सबोंको ध्यानमें रक्खूँगा।

पिता—यदि आजकी बतायी हुई तमाम बातोंको तुम ध्यानमें रक्खोगे और उनके अनुसार चलनेकी चेष्टा करोगे तो ईश्वर अवश्य तुम्हारा कल्याण करेगा और शारीरिक स्वास्थ्यके साथ-साथ मनका स्वास्थ्य और शक्ति भी तुम लाभ करोगे।

केशव—वह क्या ?

पिता—वह है मुख्यतः सफाई और सदाचार। ये दोनों ही बातें स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भोजनसे कम महत्त्व नहीं रखतीं। सफ़ाईके अंदर भोजनकी सफ़ाई, पानीकी सफ़ाई, हवाकी सफाई, शरीरकी सफ़ाई, वस्त्रोंकी सफ़ाई, घर-द्वारकी सफ़ाई और पास-पड़ोसकी भी सफ़ाई शामिल है। इनके अतिरिक्त मन, स्वभाव और चरित्रकी स्वच्छता भी सदाचारके अंदर आ जाती है। इस प्रकार अपने रहन-सहनमें हमें सब प्रकारकी सफ़ाई और निर्मलता लानेकी ज़रूरत है। याद रहे कि जितने भी प्रकारके रोग और रोगके कीटाणु हैं, सब गंदगीमें ही पनपते हैं। सफ़ाई और प्रकाशमें उनकी बाढ़ और शक्ति क्षीण हो जाती है। साथ ही सफ़ाई और प्रकाश हमारे खूनके कणोंको बल देते हैं। इससे हममें रोगोंको रोकनेकी शक्ति आती है। इस प्रकार सफाई हमारी दो तरहसे सहायक है। एक ओर तो वह हमारी शक्तिको बढ़ाती है और दूसरी ओर वह हमारे शत्रुओंकी शक्तिको क्षीण करती है। अतएव इसका साथ हमें जीवनपर्यन्त छोड़ना उचित नहीं।

केशव—परन्तु पिताजी! मन और चरित्रकी सफ़ाई-से स्वास्थ्यका क्या सम्बन्ध ?

पिता—देखो, जिस प्रकार बाहरी सफाईसे शरीरको शक्ति मिलती है, उसी प्रकार मन और चरित्रकी स्वच्छतासे मनको भी शक्ति प्राप्त होती है। और मन है शरीरका राजा। उसीके कहनेपर शरीर चलता है। अतएव यदि मन कमज़ोर हुआ तो फिर शरीरपर वह अपना क़ाबू नहीं रख सकता और न उससे स्वास्थ्यके नियमोंका ठीक-ठीक पालन ही करा सकता है। तुमने सुना होगा कि यूरोपमें कितने ही चिकित्सक रोगीको केवल यह विश्वास दिलाकर अच्छा कर देते हैं कि तुम अब अच्छे हो। जिस रोगीके मनमें जितना ही मजबूत यह विश्वास जम जाता है, उतना ही जल्दी वह अच्छा भी हो जाता है। कहनेका मतलब यह कि शरीरका मनके साथ बहुत ही घना सम्बन्ध है। अतएव शरीरके स्वास्थ्यके लिये मनकी शक्ति, जिसे हम इच्छा-शक्ति भी कहते हैं, बहुत आवश्यक है; और यह शक्ति उन लोगोंको आसानीसे प्राप्त हो जाती है, जिनका मन निर्मल है और जो चरित्रवान् हैं।

केशव—तो मन और चरित्रको निर्मल रखनेके लिये उपाय क्या है ?

पिता—इसका सबसे सीधा उपाय यह है कि बुरे और गंदे विचारवाले लोगोंकी संगतसे बचो, पवित्र और ऊँचे विचारवाले लोगोंका सत्सङ्ग करो, बुद्धि और ज्ञानको बढ़ानेवाली पुस्तकें पढ़ो और अपने मनमें हर एक बातपर स्वतन्त्र रूपसे सोचनेकी आदत डालो। जब कभी तुम्हारा मन भटककर किसी बुरे रास्तेपर जाना चाहे तो उसे पूरी शक्तिसे रोको और उसके परिणामोंपर विचार करो। साथ ही ईश्वरसे प्रार्थना करो कि वह तुम्हारे मनको इतनी शक्ति दे कि तमाम बुरे विचारोंसे तुम अपनेको दूर रख सको।

केशव—मैं अवश्य ऐसा ही करूँगा। आज मैंने कितनी ही नयी बातें सीखीं। मैं इन सबोंको ध्यानमें रक्खूँगा।

पिता—यदि आजकी बतायी हुई तमाम तुम ध्यानमें रक्खोगे और उनके अनुसार चेष्टा करोगे तो ईश्वर अवश्य तुम्हारा कल्याण और शारीरिक स्वास्थ्यके साथ-साथ मनका और शक्ति भी तुम लाभ करोगे।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, जनवरी १९४२ सौर पौप १९९८ { संख्या ६ पूर्ण संख्या १८६

राम-लक्ष्मणकी झाँकी

जबतें राम लषन चितए, री ।
रहे इकटक नर-नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितए, री ॥
प्रेम-बिबस माँगत महेस सों, देखत ही रहिए नित ए, री ।
कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ए नयन जाहु जित ए, री ॥
कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि, बड़े भाग आए इत ए, री ।
कुलिस-कठोर कहाँ संकर-धनु, मृदुमूरति किसोर कित ए, री ॥
बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रित ए, री ।
तुलसिदास ते धन्य जनम जन, मन-क्रम-बच जिन्हके हित ए, री ॥

—तुलसीदासजी

कुम्भ

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

शिष्य-महाराज! क्या आप कुम्भमें नहीं पधारेंगे? दुनियाभर उमड़ी चली जा रही है!

गुरु-बच्चा! मेरा घट तो फूट गया!

शिष्य-अजी! वाह! कहें खेतकी सुनें खलियानकी! आप कहीं ऊँचा तो सुनने नहीं लगे हैं? मैं पूछता हूँ आप कुम्भमें जायँगे या नहीं? आप कहते हैं मेरा घट फूट गया! मेरे और आपके वाक्यकी सङ्गति नहीं मिलती!

गुरु-भाई! तेरी तो वही मसल है, बारह वर्ष भारतमें रहे, क्या किया? भाड़ झोंका! चौबीस वर्ष अफ्रीकामें रहे, क्या किया? रुई धुनी! छत्तीस वर्ष अमेरिकामें रहे, क्या किया? खाक छानी! सौ वर्ष स्वर्गलोकमें इन्द्रके नन्दनवनमें रहे, क्या किया? अप्सराओंके बैठनेकी कुर्सियाँ साफ कीं! हजार वर्ष ब्रह्मलोकमें रहे, क्या किया? ब्रह्माजीका पलंग बुना! दस हजार वर्ष जगत्सेठकी नौकरी की, क्या किया? थैलियाँ ढोयीं! भाई! क्या तेरे भाग्यमें बोझा ढोना और चंदिया रोटी खाना ही लिखा है? ऐसा ही है तब तो तू मोक्षसे भी लौट आवेगा! अपनी तो दुर्दशा करावेगा ही, साथ ही मेरी भी हँसी करावेगा क्योंकि उम्रभर गुरुके पास रहा, क्या किया? लंगोटी धोता रहा! यह सुनकर शिष्ट पुरुष मुझको ही दोष देंगे कि अच्छे गुरु हैं, जिन्होंने बेचारे शिष्यका अमूल्य मानव-जीवन लंगोटी धुलवानेमें ही नष्ट करवा दिया, कुछ सिखाया-पढ़ाया नहीं। इससे तो बेचारा विवाह कर लेता, तो पाँच-चार बच्चे ही हो जाते, जो उसकी सेवा किया करते। कहीं डाकखाने आदिमें नौकरी कर लेता, तो पचास-साठ रुपये पेंशन ही मिल जाता, तो बैठे-बैठे खाया तो करता! सच है, अयोग्य शिष्य गुरुको भी बदनाम करता है और आप भी दुःख उठाता है। तुझसे मेरे और अपने वाक्यकी संगति ही नहीं मिलायी गयी, तो फिर मन-वाणीके अविषय ब्रह्मका लक्षणावृत्तिसे कैसे साक्षात्कार कर सकेगा? अच्छा! अब ध्यान देकर सुन, मैं अपने और तेरे वाक्यकी सङ्गति दिखलाता हूँ।

भाई! कुम्भ नाम घटका है। जैसे घट पोला होता है, इसी प्रकार यह शरीर भी पोला है अथवा जैसे घट फूटता रहता है, इसी प्रकार यह शरीर भी फूटता रहता है या जैसे घटका द्रष्टा घटसे भिन्न होता है, इसी प्रकार इस शरीरका द्रष्टा आनन्दस्वरूप आत्मा इस शरीरसे भिन्न है इसलिये इस शरीरको विद्वान् घट कहते हैं। जैसे घटको मनुष्य जी चाहे जहाँ ले जाता है, इसी प्रकार इस शरीरको भी आनन्दस्वरूप आत्मा चाहे जहाँ ले जाता है, इसलिये भी शरीर और घटकी समानता है। जैसे घट मिट्टीसे बनता है, इसी प्रकार यह शरीर भी माता-पिताके खाये हुए अन्नरूप पृथ्वीके अंशसे उत्पन्न रज-वीर्यसे बना हुआ है, इसलिये विद्वान् इस शरीरको घट कहते हैं। यह शरीर सब जीवोंको प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, इसलिये शास्त्रवेत्ता इसको स्थूल शरीर कहते हैं। स्थूल शरीरके भीतर एक दूसरा सूक्ष्म शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीरसे विलक्षण है। जैसे यह स्थूल शरीर बार-बार बनता-बिगड़ता यानी जन्मता-मरता रहता है, इस प्रकार यह सूक्ष्म शरीर बार-बार जन्मता-मरता नहीं है, यह मोक्षपर्यन्त एक ही रहता है, इसलिये तत्त्व-

हाँ उसको सुवर्णमय कहते हैं। जैसे स्थूल शरीर पृथ्वीमय यानी अन्नमय है, इस प्रकार सूक्ष्म शरीर अन्नमय नहीं है, वह तेजोमय है। इसीलिये उसे सुवर्णमय कहा जाता है, जितने तेजोमय शरीर हैं, उन सबकी उत्पत्ति हिरण्यगर्भ भगवान्से हुई है। हिरण्य नाम सुवर्णका है, इसलिये हिरण्यगर्भका अर्थ भी सुवर्णमय है। सुवर्णमय हिरण्यगर्भसे उत्पन्न होनेके कारण भी तेजोमय सूक्ष्म शरीर सुवर्णमय कहलाता है। न्यायशास्त्रकर्ता गौतम ऋषिने सुवर्णको तैजस द्रव्य माना है। जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। इस न्यायसे यद्यपि सबके सूक्ष्म शरीर सुवर्णरूप ही हैं तो भी सत्त्वगुणकी न्यूनता-अधिकताके कारण शरीरोंमें भेद है। इसलिये सबसे अधिक सत्त्वगुणवाले शरीरको सुवर्णका, उससे कम सत्त्वगुणवालेको चाँदीका, उससे भी उतरतेको ताँबेका, उससे उतरतेको पीतलका और सबसे उतरतेको लोहेका कह सकते हैं। सुवर्णादिरूप ये सब घट यद्यपि निर्मल गङ्गाजलसे भरे हुए हैं परन्तु उनके अभिमानी जीवोंमेंसे प्रायः सबको इसकी खबर नहीं है, विरलोंको ही इस बातका ज्ञान है। अधिक लोग तो जो अपने घटको खाली समझते हैं, उसे भरनेके लिये कुम्भमें जाते हैं। थोड़े-से भरे हुए जलवाले लोकसंग्रहके लिये अथवा गङ्गाजीका माहात्म्य प्रचार करनेके लिये जाते हैं, जैसे जिस ग्राममें बहुत-से ब्राह्मण रहते हैं, वह ग्राम ब्राह्मणोंका ग्राम अथवा ब्राह्मण ही कहलाता है, इसी प्रकार बहुत-से कुम्भ एकत्र होनेसे कुम्भोंके समागमको कुम्भ कहते हैं। पर्वके मुहूर्तमें प्रथम सुवर्णके कुम्भ स्नान करते हैं और पश्चात् क्रमसे चाँदी आदिके कुम्भ स्नान करते हैं और अपनी-अपनी श्रद्धा और भावनाके अनुसार अपनेमें जल भर लाते हैं, बहुत-से कुम्भ जो छिद्रवाले होते हैं, वे तो वहाँ अपना जल ... आते हैं और बिना छिद्रवाले जल लाकर लोगोंको बाँट देते हैं। यद्यपि गङ्गाजल सबमें ... ही निर्मल होता है परन्तु घटोंकी ... जलकी तासीर बदल जाती है। सुवर्णके कुम्भमें जल ज्यों-का-त्यों शुद्ध और निर्मल होता है, चाँ... में उससे कुछ कम निर्मल होता है, ताँबेमें ... भी कम, पीतलकेमें उससे भी कम और ... सबसे अधिक गँदला जल हो जाता है। ... कुम्भ पहले अपने गँदले जलको इस प्रकार ... हुआ त्रिवेणीका माहात्म्य कहता है।

लोहेका कुम्भ-(गँदला जल) यहाँ प्रयाग... यमुना और सरस्वतीका सङ्गम है। उनमें ... यमुना तो प्रत्यक्ष हैं, सरस्वतीका कहीं पता ... इसलिये दोहीका सङ्गम है, तीनका नहीं है। ... सङ्गम ब्राह्मणोंकी कपोलकल्पना है। तीन ... दिखायी न देतीं ? थोड़ी देरके लिये मान ... तीन ही हैं, तो भी विशेषता क्या है ? दुनिया... देशोंमें बहुत-सी नदियाँ हैं, कई जगह दो-दो, ... तीनका सङ्गम है। यदि सङ्गमका कोई ... होता, तो दूसरे देशोंमें भी होता। असलमें ... जनता भोली है, ब्राह्मणोंने अपना पेट भरने... और दूसरोंको लूटनेके लिये बढ़ा-चढ़ाकर ... लिख दिया है। गङ्गा-यमुना स्वयं ही जड़ हैं, वे अपनेमें स्नान करनेसे किसीको क्या ... सकती हैं ? उन्हें जिधरको काट दो, उधर बही चली जाती हैं। नहरें निकल जानेसे ... ही दुर्बल हो गयी हैं, फिर दूसरोंको क्या देंगी ? और देंगी भी कब ? देह तो मरते ... दिया जायगा ! जब देह ही नहीं रहेगा, ... फल किसको मिलेगा ? जैसे चूना, कत्था, ... और पान चार चीजोंके मेलसे मुखमें ...

जाती है, इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार भूतोंके मेलसे शरीरमें चेतनता आ जाती है। स्त्री-पुरुषके रज-वीर्य मिलनेसे शरीर उत्पन्न होता है। शरीरके साथ ही जीव उत्पन्न होता है, माताके पेटमें रुधिरसे बढ़ता रहता है। नौ मासके बाद पेटसे बाहर निकल आता है, कुछ दिनों दूध पीकर बढ़ता है और फिर अन्न खाने लगता है। बीस वर्षतक बढ़ता है, चालीस वर्षतक न घटता है, न बढ़ता है। चालीसके बाद घटने लगता है और घटते-घटते कुछ दिनों बाद नष्ट हो जाता है। पीछे लेन, न देन! जन्मसे पहले भी कुछ पता नहीं था, पीछे भी नहीं है। फिर स्नानादिका और यज्ञ, दान, तपादिका फल कहाँसे मिलेगा? जन्मसे मरणतक जो कुछ खा लो, पी लो, मौज कर लो—वही अपना है। आगे न पुण्य है, न पाप। न जीव है, न ईश्वर। न वेद है, न कर्म। खाने-पीनेमें, नाचने-गानेमें, तेल-फुलेल लगानेमें, विषय-भोगोंमें प्रत्यक्ष आनन्दका अनुभव होता है, इसलिये जितने भोग प्राप्त हो सकें, भोग लेने चाहिये। इसीमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। माता-पिताने हमें उत्पन्न करनेके लिये विवाह थोड़े ही किया था, उन्होंने तो अपनी इन्द्रिय-तृप्तिके लिये किया था! हमारा जन्म तो स्वाभाविक ही हो गया। तब माता-पिताका क्या झगड़ा? उन्होंने कुछ हमपर अहसान तो किया नहीं है जो हम उनकी सेवा करें, गुलामी करें और उनके खाने-पीनेकी चिन्ता करें! हाँ, विवाह अवश्य करना चाहिये, क्योंकि जैसे खाना-पीना जीवनके लिये आवश्यक है वैसे ही स्त्री-सुख भी आवश्यक ही है। एक विवाहसे वासना पूर्ण न हो तो दो-चार कर लेनेमें भी आपत्ति नहीं है। जिस कर्ममें सुख हो, वही पुण्य है और जिसमें दुःख हो, वही पाप है। विषयभोगमें प्रत्यक्ष सुख मिलता है, धन और स्त्री सुखके साधन हैं, फिर चाहे वे अपने हों या पराये। उनका संग्रह अवश्य करना चाहिये। तीर्थ, व्रत, तप और दान आदिमें तो प्रत्यक्ष ही कष्ट है और धनका खर्च भी है, फिर ऐसा पाप क्यों करें? दिन-रात चिन्ता करते और शरीरका कचूमर निकालते हुए धन कमाओ और फिर उसे दूसरोंको दे दो, इसका नाम बुद्धिमानी नहीं है, यह तो स्पष्ट मूर्खता है। भोजन होनेपर भी भूखों मरो, यह बात कौन बुद्धिमान् मानेगा? कोई मूर्ख ही इसे मानते होंगे! वर्णाश्रम, जाति आदि सब सुखमें बाधा डालनेवाले हैं। जातिके भयसे दूसरेका बनाया नहीं खा सकते, परायी जातिकी सुन्दर पढ़ी-लिखी स्त्रीसे भी विवाह नहीं कर सकते, स्वच्छन्दतासे चाहे जहाँ—चाहे जैसे रहकर मनमाना धन नहीं कमा सकते। डबलरोटी, बिस्कुट नहीं खा सकते। मांस-मदिराका भी सेवन नहीं कर सकते। मनमानी स्त्रीके साथ विहार नहीं कर सकते। ऐसी-ऐसी अनेकों बाधाएँ जाति और धर्मके कारणसे सुख भोगनेमें पड़ती हैं। नेमसे नहाओ, कपड़े उतारो और चौकेमें बैठकर खाओ—इसमें भला धर्मका क्या सम्बन्ध? नहाकर ही भोजन क्यों किया जाय, क्या नहानेसे भोजनका स्वाद बढ़ जाता है या कुछ बल बढ़ जाता है? सिकुड़े हुए नंगे बैठकर खानेमें असलमें भोजनका स्वाद चला जाता है, इस प्रकार जाति-धर्मके कारण महान् दुःखोंकी प्राप्ति होती है। सुखका नाश और दुःखकी प्राप्ति—दोनोंमें यह जातिका बखेड़ा ही प्रधान कारण है। वर्णाश्रमके ऐसे-ऐसे कठिन नियम हैं, कि वे तो दुःखस्वरूप ही हैं। दुःखस्वरूप होनेसे पापरूप तो हैं ही। क्योंकि दुःखका नाम ही तो पाप है। इसलिये बस, इस वर्णाश्रम और जातिको जड़से उखाड़कर विवेणीमें बहा देना चाहिये। गङ्गा-यमुना सबके पाप धोती हैं, यह उनका

... पोछे धोती हों, यह तो ... आता क्योंकि हम जब रहेंगे ... पाप ... धोयेंगी। वर्ण, आश्रम ... तीन सबको सङ्कट देनेवाले प्रत्यक्ष ... है, इसलिये इन तीनोंको त्रिवेणीमें बहा दो! ... त्रिवेणी इन तीनोंको बहा ले जायँ तब तो हम ... कि हाँ! त्रिवेणीमें कुछ ताकत है। फिर तो ... भी जबतक जीयेंगे, बराबर त्रिवेणीके गुण ... रहेंगे और समझेंगे कि प्रयाग सचमुच तीर्थ-राज है और इस वर्षका कुम्भ हमारे लिये शात-कुम्भरूप ही सिद्ध हुआ!

हे शिष्य! लोहेके कुम्भ इस प्रकार इतना अधिक ... हैं कि कहीं पार ही नहीं मिलता। इस व्यर्थ-... बकवादको कौन अधिक कहे-सुने, अतएव इस चर्चाको यहीं समाप्त करता हूँ। आजकलके लोग बुद्धिपर जोर लगाकर यह भी नहीं विचारते कि यह कौन कह रहा है, यह कथन मानने योग्य है या नहीं, कहीं किसी अकुके पूरेने इसीको सिद्धान्त समझ लिया और प्रमाण मान लिया तो उसका पाप मेरे-तेरे पल्ले पड़ेगा, इसलिये इस चर्चाको बढ़ाना उचित नहीं है। शातकुम्भका अर्थ सुवर्ण है। या शातका अर्थ सुख है और कुम्भका अर्थ प्रत्यक्ष कुम्भ है। इस व्युत्पत्तिसे शातकुम्भ-का अर्थ सुखरूप कुम्भ हुआ। इसी अभिप्रायसे लोहे-का कुम्भ इस वर्षके कुम्भको सुवर्ण और सुखरूप मानता है। लोहेके कुम्भकी वाणी सुनकर पीतलका कुम्भ अपने जलके स्वादका परिचय देता हुआ कहता है—

पीतलका कुम्भ—भाइयो! देह आत्मा नहीं है। आत्मा देहसे भि... भूतोंके मिलनेसे ... नहीं आ... तब तो मरे हुए ... भी चेतन... ...नेमें भी चारों भूत विद्यमान हैं, यदि भूतोंके मिलनेसे ही चेतनता है तो देह कभी मरना ही न चाहिये! चेतनता दे... भिन्न है, मृतक देहसे चेतनता चली जाती है, इसलिये निर्जीव देह चेष्टारहित हो जाता है। यदि दे... आत्मा मानें तो फिर पुण्य-पापका भोग ही न हो... क्योंकि जिस देहने पुण्य-पाप किये थे, वह तो न... हो गया, फिर पुण्य-पाप कौन भोगेगा? देखा है... तो कोई पुण्य कर्म करे ही नहीं। सब जीव पु... करते हैं और आगे दूसरे जन्मोंमें उनका फल भोगते हैं। बालक जन्मते ही सुख-दुःख भोगता है, इस... से सिद्ध है कि वह पूर्वजन्ममें पुण्य-पाप कर आ... है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि देहसे अल... आत्मा है। जन्मते ही बालक दूध पीने लग जाता है, इससे भी सिद्ध होता है कि उसने पूर्वजन्म... दूधको अपने हितका साधन अनुभव किया है, इस... भी आत्मा देहसे अलग सिद्ध होता है। प्रत्येक बालककी बुद्धिमें भेद होता है। कोई बालक ए... बार बतानेसे ही बातको समझ जाता है और कोई बहुत माथापच्ची करनेपर भी नहीं समझता। कोई एक-एक सालमें दो-दो कक्षाएँ उत्तीर्ण कर लेता है तो कोई-कोई एक ही कक्षामें दो-दो, तीन-तीन व... तक पड़ा रहता है, इससे सिद्ध होता है कि पू... जन्ममें एकने विद्याका अभ्यास किया है, दूसरे... नहीं किया। इन सब कारणोंसे सिद्ध होता है ... जीवात्मा देहसे भिन्न है। देहको आत्मा माननेवाले... का मत बहुत ही पोच और युक्तिरहित है। इसलिये विद्वानोंको यह मत नहीं मानना चाहिये।

ईश्वरकी सिद्धि—यद्यपि ईश्वरतत्त्वको किसीने आँ... से नहीं देखा, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वर... सिद्धि नहीं हो सकती, तो भी अनुमानप्रमाणसे ई... सिद्ध है, इतना बड़ा ब्रह्माण्ड बिना कर्ताके नहीं सकता। लोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो ...

कर्ता और कारणके बन जाती हो। एक घड़ा भी बिना कुम्हार और बिना मिट्टीके नहीं बन सकता तो इतना बड़ा विश्व बिना ईश्वरके कैसे बन सकता है? घड़ियाँ, मशीनें आदि यन्त्र भी कर्ता और कारणके बिना नहीं बनते, इससे सिद्ध होता है कि जगत्‌का निर्माण करनेवाला ईश्वर है।

सभी वस्तुएँ नियमसे अपना-अपना कार्य करती हैं, इससे भी ईश्वरका अनुमान होता है। सूर्य नियमसे गरमी और प्रकाश देता है। सूर्य जरा भी नीचे उतर आवे तो सब प्राणी जल जायँ, अधिक प्रकाश देने लगे, तो सबकी आँखोंमें चकाचौंध आ जाय, कोई देख ही न सके। चन्द्रमा नियमसे शीतलता देता है, यदि अधिक शीतलता देने लगे, तो सब ठंडे हो जायँ! समुद्र अपनी मर्यादामें रहता है, यदि समुद्र बढ़ आवे, तो सारी पृथ्वी डूब जाय! गङ्गा-यमुना नदी नियमसे अपनी दिशाको जा रही हैं। वायु नियमसे चलता है, यदि अधिक आँधी आ जाय तो सब धूलमें ही दब जायँ। पृथ्वी नियमसे ओषधि-अन्नादि देती है, यदि नियमसे अन्नादि न उत्पन्न हों तो सब प्राणी भूखे मर जायँ! पृथ्वी-पर एक-से-एक बलवान् हैं, यदि ईश्वरका भय न हो तो बलवान् लोग अपनेसे कम बलवालोंको रहने ही न दें, शिष्ट पुरुषका कोई आदर ही न करे, धूर्तोंका मान होने लगे। ईश्वरका भय न हो तो कोई मर्यादापर न चले, सब विपरीत करने लगें। पाप करनेसे सबको डर लगता है और पुण्यकर्मोंको सब करना चाहते हैं, इससे सिद्ध होता है कि उनके मनमें ईश्वरका भय है। ईश्वरके भयसे कोई अन्याय नहीं करता, यदि कोई करता भी है तो राजा उसे दण्ड देता है, अथवा शिष्ट पुरुष उसको शिक्षा देते हैं या अग्नि और जलसे उसको दण्ड मिल जाता है, देर-सबेर सबको अपने-अपने पुण्य-पापका फल मिलता देखनेमें आता है। इससे सिद्ध होता है कि इस जगत्‌का कोई नियामक अवश्य है।

वेद प्राचीन ऋषियोंके बनाये हुए हैं, इसलिये मान्य हैं। परन्तु धूर्तोंने वेदोंमें बहुत-सी बातें पीछे-से बढ़ा दी हैं, जो हमारी बुद्धिसे बाहर हैं। जो बात बुद्धिमें नहीं आती हो, उसे मानना उचित नहीं है। वेदमें कर्म करनेके लिये कहा गया है; परन्तु कहा है उन्हीं कर्मोंके लिये, जिनसे दूसरे प्राणियोंको पीड़ा न हो। जैसे चोरी, व्यभिचार, जुआ, हिंसा आदि निषिद्ध कर्म हैं, इनसे दूसरोंको पीड़ा होती है, इसलिये ये सब पापरूप हैं। बुरे कर्मको हमारा मन ही बता देता है, इसलिये जिस कर्मके करनेकी मन गवाही न दे उसे कभी नहीं करना चाहिये। काल जड़ है, इसलिये वह कोई वस्तु नहीं है। भले-बुरे लोग थोड़े-बहुत सभी युगोंमें होते हैं, इसलिये सत्य-युगादि सभी युग एक-से हैं। लोक भी बस, यह पृथ्वी ही है जो हमारे सामने है। इसके सिवा और कोई लोक नहीं है। स्वर्ग-नरक सब यहीं है अन्य कहीं नहीं है इसलिये यहाँ जीवोंको आराम पहुँचाना पुण्य है और पीड़ा देना पाप है। परलोकमें यज्ञ, दान और तपका फल मिलता है, यह कथन ठीक नहीं है। भला! यज्ञ यहाँ करो, और परलोकमें चन्द्रलोककी प्राप्ति हो, यहाँ ब्राह्मणोंको भोजन करा दो और वहाँ पितृलोकमें पितरोंको पहुँच जाय। यह कैसे हो सकता है? इन अनहोनी कल्पनाओंको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष भला कैसे मान सकता है? हवन करनेसे वायु अवश्य शुद्ध होता है, इसलिये हवन नित्य करना चाहिये। पिता-माता आदिकी पूजना यानी अन्न, वस्त्र, सेवा आदिसे उनका सत्कार करना, यही पितृयज्ञ या श्राद्ध है। जीवित माता-पिता आदिकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। दान भी लूले, लँगड़े, अंधे, अपाहिजोंको देना ही चाहिये। तात्पर्य यही है कि

ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय। जो वस्तु आरोग्यतामें हानिकारक हो, उसका सेवन न करना चाहिये। मूर्ति आदिकी पूजा करना उचित नहीं है क्योंकि मूर्ति जड है,उसे पूजनेसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो आप ही अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वह दूसरेकी कैसे करेगा। वर्णाश्रम भी व्यर्थ हैं, क्योंकि जन्मसे सब शूद्र ही होते हैं, फिर यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है, यह अमुक जातिका है—ये सब व्यर्थकी कल्पनाएँ हैं। सब मनुष्य हैं, सबको एक-सा अधिकार है, जो मनुष्य जिस कार्यको करना चाहे, वही कर सकता है। अन्य देशोंमें भी तो विना वर्ण-आश्रमके काम चलता ही है, जो चाहे जिसके साथ विवाह कर सकता है, चाहे जिसके साथ बैठकर खा सकता है। जाति-पाँति, वर्णाश्रम सब ढकोसला है, इसलिये इन्हें उठा देना चाहिये। सारांश यह कि वेद-शास्त्रकी उतनी ही बात माननी चाहिये, जितनी हमारी बुद्धिमें आ सके। जो बात बुद्धिसे बाहर हो वह माननीय नहीं है। इसलिये इस वर्षके कुम्भमें हम सबको मिलकर यह प्रस्ताव स्वीकार करना चाहिये कि अपने अनुभव और बुद्धिके अनुसार जिस कार्यमें सुखका अनुभव हो वही कार्य करना और जिस कार्यमें दुःखका अनुभव हो, उसे सर्वथा त्याग देना उचित है।

हे शिष्य ! इतना कहकर पीतलका कुम्भ अपनी बुद्धिका परिचय देकर चुप हो जाता है। इसके बाद शास्त्रमें किञ्चित् प्रवेश करनेवाला और इसी कारण शु[illegible] ताँबेका कुम्भ अपनी बुद्धिका इस [illegible] देता है—

[illegible] ! मनुष्यकी बुद्धि तुच्छ है। [illegible] विना यह सत्यासत्यका यथार्थ [illegible] विद्वानोंने प्रत्यक्ष प्रमाणसे [illegible] माना है। सूर्य यहाँसे देखनेमें छोटा-सा दीखता है परन्तु ज्योतिषश[illegible] यह प्रत्यक्ष प्रमाण बाधित हो जाता है। ज्यो[illegible] शास्त्रने सूर्यको कोटि योजनवाला बतलाया है[illegible] लोग शास्त्रका अपनी बुद्धिसे निर्णय करना च[illegible] हैं वे भूल करते हैं।

शङ्का—जब शास्त्रका बुद्धिसे निर्णय नही[illegible] सकता, तो और किससे हो सकता है? ह[illegible] पास बुद्धिके सिवा और साधन ही क्या है?

समाधान-भाई ! यह ठीक है कि बुद्धिके [illegible] अन्य कोई साधन हमारे पास नहीं है परन्तु बुद्धि[illegible] शास्त्रपर विश्वास न करके शास्त्रकी सहायताके [illegible] शास्त्रका निर्णय करना चाहे, तो कैसे हो सकता[illegible] शास्त्रोंके अध्ययनसे ही तो बुद्धि शुद्ध और तीव्र [illegible] है। शास्त्रसंस्कारसे रहित बुद्धि अन्धी आँखके स[illegible] है और शास्त्रसंस्कारोंसे संस्कृत बुद्धि सूझती [illegible] है। संस्कारी पुरुषोंके सिवा अन्य सबकी बु[illegible] आरम्भमें तीव्र और शुद्ध नहीं होती। ज्यों[illegible] शास्त्रका अभ्यास किया जाता है, बुद्धि तीव्र [illegible] चली जाती है। अन्य जीवोंसे मनुष्यमें [illegible] विशेषता है। जबसे सृष्टि उत्पन्न हुई त[illegible] अनेकों प्रतापी ऋषि, महर्षि और राजर्षि [illegible] हैं, उन सबके द्वारा रचित शास्त्र मनुष्यको प्राप्त[illegible] उन्हें देखनेसे मनुष्यके हृदयकी आँखें खुल ज[illegible] हैं। सभी ऋषि-मुनियोंने वेदको मुख्य प्रमाण [illegible] और अपौरुषेय यानी ईश्वररचित माना है। वे[illegible] सिवा इतिहास-पुराणादिकी वेदके तात्पर्यको जा[illegible] वाले ऋषियोंने रचना की है, उनको भी शिष्ट पुरु[illegible] प्रमाण माना है, वेदको श्रुति और ऋषियोंके [illegible] हुए ग्रन्थोंको स्मृति कहते हैं, श्रुति-स्मृति दो[illegible] प्रमाणरूप हैं। श्रुति और स्मृतिका अभिप्राय [illegible] अलौकिक पदार्थोंको बताना है। जिन पदार्थोंको म[illegible] अपनी बुद्धिसे नहीं जान सकता, उन्हीं पदार्थ[illegible]

श्रुति-स्मृतियोंमें प्रतिपादन किया गया है। व्यावहारिक मनुष्य सब शास्त्रोंको नहीं देख सकता, उन्हें संत महात्मा ही देख सकते हैं क्योंकि उनको शास्त्राव-लोकनके अतिरिक्त अन्य कुछ काम ही नहीं है, इसलिये शास्त्रपर विश्वास करके पहले यथा-सम्भव शास्त्रको जानना चाहिये और जिस बातका अपनेसे निर्णय न हो सके, उसका निर्णय शास्त्रज्ञ विद्वान् ब्राह्मण तथा साधु-संतोंसे कराना चाहिये। पृथ्वीके अतिरिक्त अन्य लोक नहीं है, यह कहना भी सर्वथा विरुद्ध है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रगण ये लोक प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं और उनमें भी प्राणी रहते हैं, यह बात अनुमानप्रमाणसे सिद्ध होती है, क्योंकि जैसे पृथ्वी है, वैसे ही सूर्य, चन्द्र भी हैं, जब पृथ्वीपर जीव हैं, तो उनमें भी जीव होने चाहिये, हाँ! इतनी विलक्षणता सम्भव है कि जैसे यहाँ पृथ्वी-तत्त्वकी विशेषता है, वहाँ अग्नि और जलकी हो, इसलिये अग्नि और जलतत्त्वकी विशेषतावाले वहाँ भी हो सकते हैं। शब्दप्रमाणसे तो स्पष्ट है ही कि चन्द्रलोक, आदित्यलोक, वरुणलोक, विद्युत्लोक और वायुलोक आदि हैं, उनकी प्राप्तिके उपाय भी शास्त्रोंमें बतलाये हैं, इससे सिद्ध है कि पृथ्वीके सिवा अन्य लोक भी हैं। इसलिये हमको केवल पृथ्वीके भोगोंको ही पर्याप्त न समझना चाहिये किन्तु स्वर्गीय उच्च लोकोंकी प्राप्तिके लिये यज्ञ, दान, तपादि कर्म करने चाहिये। उच्च लोकोंकी प्राप्तिका उपाय मनुष्य-लोकमें हो सकता है, क्योंकि शास्त्रमें मनुष्यशरीरको ही उनका अधिकारी बतलाया है। जैसे हमने अमेरिका आदि देशोंको देखा नहीं है परन्तु आप्त-पुरुषोंसे सुनकर हम यह विश्वास करते हैं कि भारतके सिवा अन्य देश भी अवश्य हैं, इसी प्रकार शास्त्र-द्वारा उच्च लोकोंकी विद्यमानता जानकर उनकी भी प्राप्तिका उपाय करना चाहिये। इसलिये यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत, तपादिमेंसे जिसमें जिसके करनेकी योग्यता हो, उसीको करना चाहिये। कालको भी अवश्य मानना चाहिये क्योंकि काल यद्यपि जड है तो भी समर्थ है। जाड़ा, गरमी, वर्षा नियमसे होते हैं। जाड़ेकी वस्तु जाड़ेमें और गरमीकी वस्तु गरमीमें ही होती है, सब वृक्ष अपनी-अपनी ऋतुपर फल देते हैं। ज्वार, बाजरा आदि कार्में होते हैं, चने गेहूँ आदि फाल्गुनमें होते हैं। मनुष्यका बालक नौ मासमें होता है, इसी प्रकार अन्य पशु-पक्षी आदिके बच्चोंका नियम है। इसलिये यज्ञादि जो कार्य हों सब शास्त्रोंमें बताये हुए कालपर ही करना चाहिये। जो जिस कालमें होनेवाला होता है, अवश्य होकर रहता है, इसलिये जो कुछ जिस कालमें प्राप्त हो, उसको ईश्वरकी इच्छा समझकर दुखी न होना चाहिये।

वर्णाश्रमधर्म-वर्णाश्रमधर्म वेदमें बताये हुए हैं। अनादि कालसे चले आये हुए हैं, संसारके व्यवहारमें उनसे मदद मिलती है। अपना-अपना धर्म सबका स्वाभाविक होता है, इसलिये अपने धर्मके पालन करनेमें कोई अड़चन नहीं पड़ती। और भी विशेष लाभ हैं, ऋषि-मुनियोंने पुराण, इतिहासादिमें वर्णा-श्रमका विस्तारसे वर्णन किया है। सबको अपने-अपने धर्मको जानना चाहिये और उनका यथा-सम्भव पालन करना चाहिये।

जातिधर्म-जातिधर्म भी श्रेयका मार्ग है। जातिसे बड़े-बड़े लाभ हैं। जातिके भयसे कोई दुराचरण नहीं कर सकता। दुनियाभरके साथ खान-पान, विवाह-सम्बन्ध आदि व्यवहार कोई नहीं कर सकता। स्वाभाविक ही एक सुन्दर संयम रहता है। सब

मनुष्य एक प्रकृतिके नहीं होते। अपनी जाति थोड़ी-बहुत एक-सी प्रकृतिवाली हो सकती है, इसलिये अपनी-अपनी जातिसे सबको व्यवहार करना चाहिये।

हे शिष्य ! इस प्रकार काल, कर्म, वर्णाश्रम, जातिके सम्बन्धमें बड़े लंबे-चौड़े व्याख्यान ताँबेके कुम्भके मुखसे सुनकर चाँदीका कुम्भ अपने जलका परिचय इस प्रकार देता है—

(शेष आगे)

पूजाका परम आदर्श

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्०, ए०)

[तान्त्रिक दृष्टिसे]

(गताङ्कसे आगे)

(३)

आत्मविमर्शका स्वरूप भलीभाँति जाननेके लिये सृष्टि प्रभृति विभिन्न चक्रोंका तत्त्व-निरूपण आवश्यक है। अद्वैतदृष्टिसे परमेश्वर अथवा विश्वगुरु साधककी अपनी आत्मासे अभिन्न हैं। चित् शक्ति नामकी जो उनकी असाधारण स्वातन्त्र्य शक्ति है वह निरन्तर स्वभावतः पञ्चकृत्य रूपमें अपनेको प्रकट करती रहती है। सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या तथा भासा—इन पाँच कृत्योंका स्वभाव क्रमशः क्रिया, ज्ञान, इच्छा, उद्योग तथा प्रतिभा रूपमें वर्णित होता है। हमने जिस स्वातन्त्र्य शक्तिके विषयमें उल्लेख किया है, उसीको आगम शास्त्रोंमें महाप्रतिभाशालिनी 'भासा' के नामसे निर्देश किया गया है। तरङ्गहीन समुद्रमें जिस प्रकार वायुकी क्रियाके कारण कुछ चाञ्चल्य दिखलायी देता है, जिसके द्वारा एकके बाद एक महातरङ्गोंकी उत्पत्ति होती रहती है, उसी प्रकार निर्विशेष शान्त तथा 'भासा'रूपी महासत्ताके वक्षःस्थलपर स्वातन्त्र्यके कारण उद्योगरूपी आदि-स्पन्दका उदय होता ही रहता है। सृष्टिकी प्रथम कलाका आत्म-[illegible]ग, अवभास, चर्वण, आत्मविलापन तथा इस पाँच प्रकारकी समष्टिको सृष्टि कहते हैं। प्रत्येक जीवात्मामें यह समरूपसे निहित है। दृष्टान्तके लिये एक कुम्हारके घड़ा बनानेके व्यापारको ले सकते हैं। घड़ा बनानेके पहले घड़ेका भाव कुम्हारके आत्मचैतन्यके साथ अभिन्नरूपमें स्थित रहता है। आत्मस्वरूपमें अभिन्नरूपसे वर्तमान इस भावको भिन्न अथवा पृथक् रूपमें बाहर निकालनेके लिये जो प्राथमिक स्पन्दन होता है वही 'उद्योग' नामक प्रथम प्रथा है। इसके पश्चात् दण्ड, चक्र, आदिकी सहायतासे यह भाव बाहर प्रकाशित होता है—इसीको 'अवभास' कहते हैं, सृष्टि क्रियाके अन्तर्गत यह द्वितीय प्रथा है। इसके पश्चात् बाह्यरूपमें अवभासित इस भावको नाना प्रकारके व्यापारोंके द्वारा बार-बार अपने रूपमें अनुभव करना पड़ता है, इसीका पारिभाषिक नाम है 'चर्वण'। इतना हो जानेके बाद इस भाव-विशेषके प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है। क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व अथवा सत्ताका प्रयोजनसम्पादन ही सब भावोंका एकमात्र उद्देश्य होता है। इस उद्देश्यके सिद्ध हो जानेपर इसके प्रति उदासीनताका होना स्वाभाविक है। यही 'विलापन' नामक चतुर्थ प्रथा है। जब इस अवस्थाकी पूर्णता तक [illegible] हो जाती है तब 'अनाख्या' नामक पञ्चम

प्रपञ्चका आविर्भाव होता है । हमने जो दृष्टान्त दिया है उसमें आत्मा या परमेश्वरका स्वरूप ही समुद्रस्थानीय है, तथा घटादि प्रत्येक भाव उसके तरङ्गस्वरूप हैं । ये तरङ्गें परमेश्वरमें ही उदित होती हैं और फिर उन्हींमें लीन हो जाती हैं । भासा अथवा स्वातन्त्र्यशक्ति वस्तुतः निष्कल होते हुए भी कलामय है, क्रमहीन होते हुए भी क्रमविशिष्टके समान प्रतीत होती है । सृष्टिव्यापारमें जिन पाँच प्रथाओंका उल्लेख किया गया है, वे उसीकी कलाके खेल हैं । सिद्धपुरुष कहते हैं कि परमेश्वर या आत्माकी सृष्टिके व्यापारमें १० कलाएँ, स्थितिमें २२ तथा संहारमें ११ कलाएँ, एवं अनाख्यामें १० कलाएँ कार्य करती हैं । सृष्टिकी समस्त कलाएँ पहले प्रवृत्तिकी ओर मुड़ती हैं । आत्माकी स्वयामस्य पञ्च योनि तथा उनके साथ अविनाभूत पञ्च सिद्ध, ये दस मिलकर सृष्टिकी दस कलाके रूपमें वर्णित होते हैं । तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर ये पूर्वलिखित उद्योग, अवभासन, आत्मविश्रपन तथा निस्तरङ्गसे भिन्न पदार्थ नहीं हैं । सृष्टि प्रभृति प्रत्येक व्यापारमें इनका खेल देखनेमें आता है । इसी कारण एकमात्र सृष्टिमें ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या तथा भासा—इन पाँचों कृत्योंकी समस्त विचित्रताओंका स्पष्टरूपसे विकास पाया जाता है । इसी प्रकार अन्य चक्रमें भी उनसे भिन्न चक्रोंके स्वभावका अनुप्रवेश अवश्यम्भावी है । अतएव परमेश्वरके प्रत्येक कृत्यमें पञ्चकृत्यप्रवृत्तिकी उन्मुखता देखी जाती है । इन सब कलाओंमें जब एक कला स्वतः स्फुरित होती है, तब अन्य कलाएँ उसके साथ समरसभावमें वर्तमान रहती हैं ।

आत्मस्वरूपको विभिन्न रूपमें धारण करनेको स्थिति कहते हैं । स्थितिचक्रमें जो बाईस कलाएँ कार्य करती हैं ...

रहती हैं । पहली आठमेंसे चार पीठोंके अधिष्ठाता चार युगनाथ नामसे प्रसिद्ध हैं तथा चार उन्हींकी शक्तियाँ हैं । उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि तथा कामरूप—इन चार केन्द्रोंमें परमेश्वरके परम कर्तृत्वकी अभिव्यक्ति होनेके कारण ये 'पीठ' नामसे परिचित हैं । परमेश्वरका जो प्रतिबिम्ब कर्तारूपमें उनके परमकर्तृत्वकी स्फुरणाके द्वारा अनुप्राणित होकर उड्डीयान पीठमें अपनी शक्तिके साथ अवस्थित रहता है उसे कलियुगका 'नाथ' कहा जाता है । अकारात्मक प्रणवकला मन्त्रके द्वारा उसका ऐश्वर्य बढ़ता है । जाग्रत् अवस्थापन्न विश्वकी स्थापनाका अधिकार उसके ऊपर है । उसे 'कर्त्ता' कहते हैं । इसी प्रकार जालन्धर, पूर्णगिरि और कामरूप पीठके अधिष्ठातृगण द्वापर आदि तीनों युगोंके नाथस्वरूप हैं । उनका ऐश्वर्य उकार, मकार और नादात्मक प्रणवकला मन्त्रके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है । वे सभी परमेश्वरके परमकर्तृत्वके स्फुरणविशेषके कर्त्ता हैं तथा क्रमशः ज्ञान, व्यवसाय या विचार और चैतन्यके आश्रयरूपमें स्वप्नावस्थाक्रान्त, सुषुप्ति अवस्थासे आक्रान्त तथा तुरीयावस्थासे आक्रान्त विश्वकी स्थापना करते हैं । जाग्रत् आदि चार अवस्थाओंमें जगत्की स्थितिका सम्पादन जिन आठ कलाओंके द्वारा होता है, वे ही मस्तकके चक्रमें स्थित चार पीठोंके अधिष्ठाता शक्तिसहित चार युगनाथके नामसे परिचित हैं । हृदयस्थित षट्कोणोंमें जिन बारह कलाओंकी बात कही गयी है, वे तन्त्रशास्त्रमें 'राजपुत्र' के नामसे प्रसिद्ध हैं । उनमें छः साधिकार हैं और शेष छः निरधिकार कहलाती हैं । दर्शनशास्त्रमें जिन्हें इन्द्रिय कहा जाता है, यहाँ 'राजपुत्र' शब्दसे उन्हींका निर्देश किया गया है । बुद्धि और पाँच कर्मेन्द्रियाँ साधिकार राजपुत्र हैं, तथा मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ निरधिकार राजपुत्र—दोनोंमें यही भेद ... गो कुलेश्वर और कुलेश्वरीके ... है, उसे अहङ्कार और

अभिमान-शक्तिका वर्णन समझना चाहिये । आत्मस्वरूपके तत्त्व् रूपमें धृतिके मूलमें यही बाईस कलाएँ अनुस्यूत रहती हैं । यही स्थितिचक्रका रहस्य है ।

संहारचक्रमें ग्यारह कलाओंका कार्य देखनेमें आता है । जितने भाव आत्मस्वरूपसे पृथक् होकर विक्षिप्त हैं, उनको फिर आत्मप्रकाशमें वासनारूपसे अवस्थापन करना ही 'संहार' शब्दका अर्थ है । ग्यारह संहार-शक्तियाँ अन्तःकरणके समष्टिरूप अहङ्कारको तथा बाह्य दस इन्द्रियोंको प्राप्त करके स्फुरित होती हैं । यहाँ अहङ्कार ही प्रमाता, इन्द्रियाँ प्रमाण तथा इन्द्रियोंके विषयरूप समस्त ग्राह्य वस्तुएँ प्रमेय हैं । जो कलाएँ इन प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयको भीतर ग्रास करके प्रकाशित होती हैं वे ही आत्मरूपी भगवान्की संहारिणी-शक्ति हैं । इन्हीं ग्यारह शक्तियोंके सम्बन्धके कारण परमेश्वर 'एकादशरुद्र' संज्ञाको प्राप्त होते हैं ।

'अनाख्या' नामक चतुर्थ चक्रमें तेरह शक्तियोंके कार्य दिखलायी देते हैं । आख्या शब्दसे पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन तीन प्रकारके वाक्के स्वभावका बोध होता है । अतएव आख्याहीन अनाख्या चक्रमें ये वाक्प्रवृत्तियाँ नहीं रह सकतीं । हम पहले जिन सृष्टि, स्थिति और संहारनामक तीन चक्रोंके विषयमें कह आये हैं, उनमें संहारधाममें नादरूपा पश्यन्ती कार्य करती है, स्थितिधाममें विन्दुरूपा मध्यमा व्याप्त रहती है तथा सृष्टिधाममें लिपिरूपा स्थूल वाक् कार्य करती है । यह तीनों प्रकारके उपर्युक्त विमर्श अथवा परावाक्के द्वारा तुरीयावस्थामें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—इस उस[illegible] [illegible]अवस्थामें पर्यवसित होती स्पन्दमें इस अवस्थाके वर्णनके

[illegible]प्रकाशात्मकं तमः ।
तत्त्वं [illegible] ॥

अर्थात् शिवरूपी आत्माका तत्त्व सचमुच ही अनिर्वचनीय है । यह उद्योगमय होते हुए भी आलस्यमय है । शुद्ध प्रकाशमय होते हुए भी तमोरूप है तथा शून्य न होते हुए भी शून्यवत् है ।

इस अवस्थाको वस्तुतः शून्यरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस अवस्थामें योगी प्रकाशके साथ-साथ मानो एक प्रकारके अन्तर्विमर्शका भीतर-ही-भीतर अनुभव करते हैं । यह एक अलौकिक स्फुरणरूपी भासाके आनन्दमय अनुभवका विजृम्भण मात्र है । 'स्पन्दकारिका' में इस अवस्थाके वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है—

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥

अर्थात् चन्द्र और सूर्य जहाँ विलीन हो गये हैं, ऐसे महाव्योममें आत्मा सुषुप्ति अवस्थापन्न मूढवत् प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः आवरणहीन तथा नित्य जाग्रत् अवस्थामें ही रहता है । वस्तुतः यह अवस्था महासुषुप्तिके समान प्रतीत होनेपर भी चिन्मय मुक्त अवस्थाका ही नामान्तर है । इस दशामें साधारणतः 'शक्ति' कहनेमें जो अभिप्राय व्यञ्जित होता है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती । यही नहीं, उस शक्तिके प्रकार और संख्याका निर्देश करना भी एक प्रकारसे असम्भव है, तथापि तन्त्रमें 'शक्ति' शब्दका औपचारिक प्रयोग देखनेमें आता है । अनाख्या चक्रमें जिन तेरह कलाओंकी बात कही गयी है, उनमें बारह कलाएँ व्यष्टिभावमें इन्द्रियोंके स्फुरणरूपमें हैं और एक कला इनकी समष्टिरूपमें । वस्तुतः सृष्टि आदि करनेवाली सारी शक्तियाँ यहीं संहारक्रममें पर्यवसित होती हैं । परन्तु जो संख्या आदिका निर्देश किया जाता है, वह [illegible] होनेके [illegible] [illegible] [illegible] तथा [illegible] समझने [illegible] [illegible] भीतर [illegible] है उसको [illegible] [illegible] है । [illegible]

सृष्टि, स्थिति, संहार और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार स्थिति और संहार—इनमें भी प्रत्येकमें ये चारों अवस्थाएँ रहती हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बारह शक्ति या देवीके खेल दिखलायी पड़ते हैं। ये बारह शक्तियाँ जिस महाशक्तिसे निकलती हैं तथा जिनमें लीन होती हैं उन्हींको 'त्रयोदशी' कहते हैं। वस्तुतः यह त्रयोदशी सबमें अनुस्यूत तुरीयके साथ सम्मिलित 'भासा' के सिवा और कुछ नहीं है।

भासा या महाप्रतिभा भगवान्‌की स्वातन्त्र्यरूपा चित्-शक्तिका ही नामान्तर है, इसका हमने पहले ही उल्लेख किया है। इसीके गर्भमें पञ्चकृत्यमय अनन्त वैचित्र्य निहित है। यह सर्वातीत होनेपर भी सबकी अनुग्राहिणी पराशक्ति है। जिस प्रकार दर्पणमें नगर आदि दृश्य-प्रपञ्च प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार इस स्वच्छ चिन्मयी पराशक्तिकी भित्तिमें ही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप समस्त जगत् प्रतिबिम्बकी भाँति स्फुटित हो उठता है। जहाँ जो कुछ भान होता है, उस सबका पर्यवसान इसीमें है। इसी कारण इससे स्वयं किसी प्रकारके विकल्पके उदय होनेकी आशङ्का नहीं है। यही निर्विकल्प परमधाम है। तथापि आत्यन्तिक स्वच्छताके कारण सृष्टि आदि समस्त चक्र इसमें प्रतिबिम्बरूपमें स्फुरित होते हैं। इसी कारण एक प्रकारसे तत्तत् शक्तिके विकल्परूपसे उपासना करनेका एक न्यायसंगत हेतु देखा जाता है। इसीलिये 'क्रमकेलि' में कहा गया है, कि 'अतएव ये निर्विमर्शं तुर्यातीतमिच्छन्ति ते निरुपदेशा एव।' ...
कला' कहा
स्वभाव ...
नि...

यह स्वातन्त्र्य शक्तिरूपा संविद् देवी संकोच और विकास दोनों प्रणालीसे नाना रूपमें प्रतिभात होती हैं। पचास मातृकारूपी वर्णमाला इन्हींका विकास है। पक्षान्तर-से नवचक्र तथा पञ्चपिण्ड इन्हींका संक्षिप्त रूप है। नवचक्र-से मूर्त्ति, प्रकाश, आनन्द और वृन्द—ये चार, तथा सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा—ये पाँच कुल नवचक्रोंका बोध होता है। गुरु अथवा परमेश्वरके पूर्वोक्त नवचक्र पीठनिकेतनकी ओर पाँच प्रकारसे अथवा पञ्चस्रोतमें प्रवाहित होते हैं। सारा प्रपञ्च इन पाँच प्रवाहोंमें पर्यवसित होनेके कारण 'पञ्चपिण्ड' नामसे प्रसिद्ध है। ये पञ्चपिण्ड और भी संक्षिप्त होकर *वाग्भवबीजमें परिणत होते हैं। वाग्भवबीजका* पर्यवसान होता है 'अनुत्तरकला' में; तथा चरमावस्थामें अनुत्तरकलाके विशुद्ध आत्मपरामर्शरूपमें परिणत होनेपर अपना परमेश्वरत्व सिद्ध होता है, एवं जीवन्मुक्तिकी प्रतिष्ठा होती है। अतएव पूर्वोक्त आलोचनाके द्वारा यह समझा जा सकता है कि भगवान्‌की पराशक्ति एक ओर जिस प्रकार आत्म-विमर्शरूपमें स्थित है दूसरी ओर उसी प्रकार पचास वर्णोंके रूपमें विश्वप्रसारके विमर्शरूपमें स्फुरणशील है। अर्थात् आत्मा विश्वातीत होते हुए ही विश्वमय है।

यहाँ जिन सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा नामक पाँच चक्रोंकी बात कही गयी है, वही पञ्चवाह महाक्रमके नामसे प्रसिद्ध हैं। पहले सृष्टिसे लेकर अनाख्यापर्यन्त चार चक्रोंकी पूजा क्रमपूजा नामसे अभिहित होती है, उसके पश्चात् अक्रम-क्रम- ...का अधिकार होता है, यही शास्त्रका विधान है।

...स्वभावमें अपनी स्वता-

साधारण जीवोंको वस्तुतत्त्वविषयक ज्ञान नहीं होता, इसी कारण वे जन्म-मृत्युके स्रोतमें विवश होकर बहते चले जाते हैं। वे कालके अधीन होनेके कारण पञ्चचक्रोंके क्रमका अनुभव करनेमें समर्थ नहीं हैं, इसी कारण उनके लिये सृष्टिसे भासाका व्यवधान अनुभवसिद्ध है। क्योंकि क्रमबोधके अधीन होनेसे सारे जीवोंकी यह धारणा हो जाती है कि सृष्टिके परे स्थिति, संहार और अनाख्या क्रमशः इन तीन चक्रोंका व्यवधान है और इस व्यवधानको पार किये विना भासाका साक्षात्कार हो नहीं सकता। परन्तु यह धारणा परतन्त्रता और अज्ञानका विलासमात्र है। क्योंकि भासा ही सृष्टिकी अधिष्ठानभूमि होनेके कारण तात्त्विक दृष्टिसे सृष्टि और भासाके बीच किसी प्रकारका व्यवधान नहीं रह सकता। हमने पहले ही कहा है कि भाससे पहले परिस्पन्दनरूपमे उद्योग आदि क्रमसे सृष्टिका आविर्भाव होता है। इसी प्रकार विचार करनेसे समझा जा सकता है कि सृष्टिका मूल भासा है और भासाका विकास सृष्टि है। अन्यान्य चक्रोंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करना होगा। अर्थात् स्थितिका सृष्टि है और सृष्टिका विकास स्थिति है—इत्यादि।

हमने जो कुछ कहा है उसका तात्पर्य यही है कि ष्ट प्रभृति चारों कार्योंमेंसे प्रत्येकमें ये चारों प्रकार हैं। न्तमें भासा या चित् शक्तिमें ही सबका पर्यवसान होता। पक्षान्तरसे चित् शक्ति यद्यपि विशुद्ध स्वरूपके कारके कारण चैतन्यके अखण्ड अनुभवस्वरूप तथा है तथापि वह प्रतिबिम्बात्मक प्रपञ्चके स्वभाव- ण करके पञ्चकरूपमें वर्णित होने योग्य है। पञ्चकरूपमेंसे प्रत्येकमें पञ्चात्मकत्व रहता है। पञ्चककी पञ्चम कलाका आश्रय करके परवर्ती पञ्चककी प्रथमकला पूर्ववर्त्ती पञ्चककी अन्तिम कलामें विश्राम लेती है। इसी प्रकार सर्वत्र एक क्रम है। इसीके द्वारा परमेश्वरके पञ्चकृत्यचक्रका व्यापार चलता है, यह क्रम इतना सूक्ष्म है कि साधारणतः कोई उसे जान नहीं सकता तथापि अत्यन्त तीव्र अभ्यासके द्वारा तथा सद्गुरुकी कृपासे विरले ही कोई-कोई पुरुष कदाचित् ही इसे जाननेमें समर्थ होते हैं। इसे क्रमपरामर्श कहते हैं।

यह क्रमपरामर्श ही पूर्वोक्त स्वात्मविमर्श या जीवन्मुक्ति है। इस अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर प्रकृति वशमें हो जाती है, तथा अनन्त प्रकारकी बाह्य विभूतियाँ योगीके लिये स्वाभाविक हो उठती हैं। भगवान् शङ्कराचार्यने दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रमें जिस महाविभूतिरूप ईश्वरत्वका वर्णन किया है वह इस क्रमविमर्शसे भिन्न नहीं। यही इच्छाशक्तिका विकास है। सद्गुरुकी कृपाके बिना इस ज्ञानको प्राप्त करना सम्भव नहीं है। क्रमसिद्धिनामक ग्रन्थमें है—

> गुर्वायत्तं क्रमज्ञानमाज्ञासिद्धिकरं परम्।
> क्रमज्ञानान्महादेवि त्रैलोक्यं कवलीकृतम्॥

अर्थात् क्रमज्ञान सद्गुरुके अनुग्रहपर अवलम्बित है। यह योगीके लिये परम आज्ञासिद्धिका सम्पादन करता है। हे महादेवि! क्रमज्ञानकी प्राप्ति कर लेनेपर त्रैलोक्य वशमें हो जाता है।

अतएव हम जिन्हें क्रमपूजाके रहस्यको जाननेवाले आदर्श पूजकके नामसे वर्णन करते हैं वे क्रमसिद्ध महायोगी हैं, वे जीवन्मुक्त महापुरुष हैं तथा परमेश्वर-के साथ अभेदज्ञानमें प्रतिष्ठित होकर स्वातन्त्र्य शक्तिके अधिकारी हैं। महाशक्तिके श्रेष्ठ उपासकका यही स्वरूप है।

श्रीहरिभक्ति सुगम और सुखदायी है

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

भोजन करिअ तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पँचवै जठरागी ॥
अस हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई ॥

भाव यह कि भगवद्भक्ति मुँहमें कौर ग्रहण करनेके समान ही सुगम है—'भोजन करिअ तृप्ति हित लागी।' वैसे ही वह सुखदायी भी है—'जिमि सो असन पँचवै जठरागी।' जिस प्रकार भोजन करते समय प्रत्येक कौरके साथ तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति होती है, उसी प्रकार भक्तिसे भी तीनों बातें एक ही साथ प्राप्त होती हैं; श्रीमद्भागवतमें यही कहा गया है—

> भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
> रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
> प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
> स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥
> (११ । २ । ४२)

श्रीजनकजी महाराजके प्रश्न करनेपर नौ योगीश्वरोंमेंसे प्रथम योगीश्वर श्रीकविजी महाराज, यह बतलाते हुए कि जो गति बड़े-बड़े योगियोंको अनेक जन्मोंतक साधन करनेपर भी दुर्लभ है, वह एक ही जन्ममें भगवन्नाम-कीर्तनमात्रसे तत्काल कैसे प्राप्त हो जाती है, कहते हैं—'जैसे भोजन करनेवाले मनुष्यके प्रत्येक ग्रासके साथ सुख, उदर-पोषण और क्षुधा-निवृत्ति ये तीनों काम एक साथ ही सम्पन्न होते जाते हैं, वैसे ही भजन करनेवाले पुरुषमें भगवत्प्रेम, परम प्रेमास्पद भगवान्‌के स्वरूपकी स्फूर्ति और सांसारिक सम्बन्धोंसे वैराग्य ये तीनों एक साथ ही प्रकट होते चलते हैं।'

'सुगम सुखदाई' कहनेका यह भी तात्पर्य है कि पूर्व प्रसङ्गानुसार वर्णित ज्ञान आदि साधनोंमें हृदयसे समस्त सांसारिक वस्तुओंके प्रति पूर्ण एवं दृढ़ वैराग्यकी तो आवश्यकता है ही, साथ ही उनको बड़ी सावधानीके साथ स्वरूपसे त्यागनेमें ही कुशल है। यह बड़ा कठिन मार्ग है। परन्तु भगवद्भक्ति ऐसी सुगम है कि वह केवल त्याग और वैराग्यमें ही नहीं, संग्रह और रागकी स्थितिमें भी बढ़ती जाती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि प्राप्त तो हों संसारके भोग्यपदार्थ और बढ़े भगवान्‌का विशुद्ध प्रेम! उदाहरणार्थ ज्ञानी और विरक्त साधकके लिये धन आदिका छूना और चाहना निषिद्ध है, वह किसी सांसारिक पदार्थको ग्रहण करते ही अपने साधनसे च्युत हो जाता है; परन्तु जो भगवत्प्रेमी भक्त एकमात्र 'राम भरोस हृदय नहिं दूजा' की स्थितिमें है, वह अपने योगक्षेमके लिये साधारण-सी सांसारिक सामग्री पाते ही इस भावमें डूबने-उतराने लगता है कि हे प्रभो! हे विश्वम्भर! हे भक्तोंके योगक्षेम वहन करनेवाले! आपकी इस अहैतुकी दयाको धन्य है, धन्य है! आप ऐसे दयासिन्धु और करुणानिधि हैं कि मेरे-जैसे खोटे भक्तपर भी ऐसी असीम कृपा करते हैं। ऐसे भावमें मग्न होनेके कारण वह भक्त 'रक्षिष्यतीति विश्वास.' नामकी तीसरी शरणागतिकी सच्ची दृढ़ता प्राप्त करता है और श्रीप्रभुके चरणोंमें उसके प्रेमकी वृद्धि होती है। इधर तो उसके शरीरके लिये योगक्षेमकी सामग्री मिल गयी और उधर भगवान्‌के प्रति प्रेम और विश्वासकी वृद्धि एवं दृढ़ता भी प्राप्त हो गयी। फिर सांसारिक सम्बन्धोंसे उपरामता तो हुई ही—'जिमि सो असन पँचवै जठरागी।' सचमुच श्रीहरिभक्ति ऐसी ही 'सुगम सुखदाई' है।

अवश्य ही दूसरे साधनोंमें 'रमाविलास' विघ्न हैं। परन्तु प्रेमी भक्त जब अपने निर्वाहमात्रके लिये उसे भगवत्प्रसादके रूपमें स्वीकार करता है तब वहाँ वह अमृतका फल देता है। क्योंकि यदि भक्त उस सामग्रीको भगवत्प्रदत्त नहीं निश्चय करेगा, स्वतन्त्र मानेगा,

तब तो वह उसे पचेगी ही नहीं; उसका वमन हो जायगा—'रमाविलास राम अनुरागी । तजत वमन इव नर बड़भागी ॥' जिस समय श्रीअवधका राज्य भक्तराज श्रीभरतजीके गले बाँधा जा रहा था, उस समय उन्होंने अपने श्रीमुखसे स्पष्टतः यह निर्णय दे दिया था कि 'मोहि राज हठि देइहौ जबहीं । रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥' उनके कहनेका भाव यह कि श्रीके पति तो एकमात्र मेरे प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही हैं, जो मेरे पिता-तुल्य हैं । इस राज्यश्रीके भोगका अधिकार उन्हींको है । मैं तो उनका शिशु-सेवक हूँ । भला, पुत्र कभी अपनी माताका पतित्व ग्रहण कर सकता है ? यदि राज्यपदपर मेरा अभिषेक किया जायगा तो यह धरातल रसातलमें धँस जायगा ।' परन्तु पीछेसे जब उसी राजशासनकी सेवा श्रीप्रभुकी चरणपादुकाके प्रसादरूपमें प्राप्त हुई तब उन्होंने 'बिनु रागा' अर्थात् स्वयं भोक्ता न बनकर चौदह वर्षकी अवधितक भजनरूपसे उसका निर्वाह किया । उससे उन्हें लोकसुयश और परलोक-सुख दोनों ही प्राप्त हुए । उनकी कोई हानि नहीं हुई, इतना ही नहीं, उनके आदर्शसे जगत्का भी सुधार होता है, वे तरन-तारन हो गये !

'जठरागी' की उपमा देकर एक बात और भी कही गयी है । जैसे भोजन पचकर भोजन करनेवालेके लिये अधिक पुष्टिका कारण बनता है, वैसे ही लौकिक वस्तु भी प्राप्त होकर भक्तके भगवत्प्रेमकी वृद्धि और पुष्टि ही करती है । क्योंकि भक्त भगवान्की कृपाको ही उसकी प्राप्तिका कारण मानता रहता है । इसलिये अन्य साधनोंमें तो केवल त्याग और निग्रहसे ही बल मिलता है, परन्तु भक्तिमें सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे भी उसकी पुष्टि होती है—'कहहु भगति पथ कौन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपबासा ॥'

'तृप्ति हित लागी' कहनेका तात्पर्य यह है कि भक्तोंको शरीरकी रक्षाके लिये अन्न-वस्त्र आदि तो ग्रहण करना पड़ता है, परन्तु उसकी प्राप्तिसे पुष्ट होता रहता है उनका अपने प्रभुमें विशुद्ध प्रेम ! इस प्रकार उनके लोक और परलोक दोनों ही बनते हैं । अतः अन्य साधनोंकी अपेक्षा हरिभक्ति 'सुगम' और 'सुखदायी' है, यह सिद्ध होता है । ज्ञान आदि अन्य साधनोंमें लोक-अर्थका न्यास होनेपर ही परलोक बन सकता है । 'भोजन'की उपमा देकर भक्तिमें एक यह भी खूबी दिखलायी गयी है कि इस साधनमें क्रमनाश अर्थात् जब साधन पूरा हो जाय तभी लाभ हो, अन्यथा नहीं, यह बात नहीं है । बल्कि जैसे भोजनके समय एक-एक ग्राससे ही क्रमशः सन्तुष्टि और पुष्टि प्राप्त होने लगती है, वैसे ही भक्तिमें भी ज्यों-ज्यों भजन किया जाता है, त्यों-त्यों उसके फलस्वरूप प्रभुमें प्रेम, उनके स्वरूपकी अनुभूति और लोक-परलोकसे वैराग्य होने लगता है । इस बातकी बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहती कि साधन सोलहों आने पूरा होनेपर ही सफलता मिलेगी । भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२।४०)

अर्थात् इस योगमें आरम्भका नाश नहीं है और न विपरीत फलरूप दोष ही होता है । इस धर्मका थोड़ा-सा साधन भी महान् भयसे तार देता है ।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

याद रक्खो, जिसको अपने जीवनमें एक बार भी कहीं सन्तके दर्शनका, उनसे उपदेश प्राप्त करनेका, उनके चरणस्पर्शका और उनकी चरणधूलि सिर चढ़ानेका सुअवसर प्राप्त हो गया, वह परम आनन्द और परम शान्तिका सहज ही अधिकारी हो गया।

याद रक्खो, संतोंके दर्शन, स्पर्श, उपदेश-श्रवण और चरणधूलिके सिर चढ़ानेकी बात तो दूर रही, जो कभी अपने मनमें संतोंका चिन्तन भी कर लेता है, वही शुद्धान्तःकरण होकर भगवत्प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है।

याद रक्खो, संत-दर्शन और संत-प्राप्तिका फल परम कल्याणकारी होता है। अनजानमें भी यदि किसीको संत-समागम मिल जाता है तो वह भी संतके स्वाभाविक पापनाशक गुणका स्पर्श पाकर निष्पाप हो जाता है।

याद रक्खो, संतोंके द्वारा किसीका अहित तो हो ही नहीं सकता। वे यदि किसीको शाप दे देते हैं तो उससे भी परिणाममें हित ही होता है। नारदजीने नलकूबर और मणिग्रीवको शाप दिया था, वे अर्जुनके जुड़े वृक्ष बन गये परन्तु परिणाममें उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनका सौभाग्य मिला।

याद रक्खो—संतोंके द्वारा उनका अहित करनेवालोंका भी कल्याण ही होता है। अमृतसे भले ही कोई मर जाय परन्तु संतसे किसीका अहित हो नहीं सकता। कुल्हाड़ा चन्दनको काटता है, परन्तु चन्दन अपने स्वभावज गुणसे उसे अपनी सुगन्ध देकर चन्दन बना लेता है, वैसे ही संत भी अपने प्रति बुरा करनेवालोंका कल्याण ही करते हैं।

याद रक्खो संतका स्वभाव ही परहित होता है, लोककल्याणके लिये ही उनका जीवन होता है। उन्हें कुछ करना नहीं रहता, अपने आप ही उनके द्वारा लोगोंका कल्याण होता रहता है।

याद रक्खो—संत स्वयं सांसारिक सुख-दुःखोंसे परे होते हैं, उन्हें किसी वस्तुमें ममता नहीं होती, और कहीं भी उनमें अहङ्काररूप विकार नहीं रहता, तथापि वे दूसरोंके सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी-से होते देखे जाते हैं। यह उनका स्वभाव है।

याद रक्खो—संतोंको शरीरका कोई मोह नहीं होता, वे शरीरको सर्वथा असत् मानते हैं। एक परमात्मसत्ताके सिवा उनकी दृष्टिमें और कुछ रहता ही नहीं। तथापि दूसरोंके शरीरपर आये हुए कष्टोंके निवारणके लिये वे अपने शरीरकी सहज ही आहुति दे डालते हैं, यह भी उनका स्वभाव है।

याद रक्खो संतोंकी पहचान कोई भी मनुष्य विषयोंमें फँसी हुई अपनी बुद्धिसे नहीं कर सकता। वे बुद्धिमें आनेवाले भावोंसे बहुत ऊपर उठे होते हैं। किसी भी बाहरी लक्षणसे उन्हें कोई नहीं पहचान सकता। संतोंकी प्राप्ति और पहचान भगवान् और संतोंकी कृपासे ही हो सकती है। अतएव संत-समागम और संत-परिचयके लिये भगवान्से और संतोंसे ही प्रार्थना करो।

याद रक्खो—संत-सेवा और संत-पूजाका सबसे प्रधान साधन है, संतोंके बतलाये हुए मार्गपर श्रद्धा और साहसके साथ चलना। जो अपनी साधनाके द्वारा संतोंकी साधनाकी पूजा करता है, वही असलमें सच्ची संतसेवा करता है।

'शिव'

प्रार्थना

प्रभो!

सुखी होनेके लिये मैंने कौन-सा काम नहीं किया? विवाह किया, सन्तानें पैदा कीं, धन कमाया, यश-कीर्त्तिके लिये प्रयास किया, लोगोंसे प्रेम बढ़ाना चाहा और न मालूम क्या-क्या किया, परन्तु सच कहता हूँ मेरे स्वामी, ज्यों-ज्यों सुखके लिये प्रयत्न किया, त्यों-ही-त्यों परिणाममें दुःख और कष्ट ही मिलते गये। जहाँ मन टिकाया वहीं धोखा खाया! कहीं भी आशा फलवती नहीं हुई। चिन्ता, भय, निराशा और विषाद बढ़ते ही गये। कहीं रास्ता दिखायी नहीं दिया। मार्ग बंद हो गया।

तुमने कृपा की; तुम्हारी कृपासे यह बात समझमें आने लगी कि तुम्हारे अभय चरणोंके आश्रयको छोड़कर कहीं भी सच्चा और स्थायी सुख नहीं है। चरणाश्रय प्राप्त करनेके लिये कुछ प्रयत्न भी किया गया। अब भी प्रयत्न होता है। और यह सत्य है कि इसीसे कुछ सुख-शान्ति और आरामके दर्शन भी होने लगे हैं, परन्तु प्रभो! पूर्वाभ्यासवश बार-बार यह मन विषयोंकी ओर चला जाता है। रोकनेकी चेष्टा भी करता हूँ, कभी-कभी रुकता भी है, परन्तु जानेकी आदत छोड़ता नहीं! तुम्हारे चरणोंके सिवा सर्वत्र भय-ही-भय छाया रहता है—दुःखोंका सागर ही लहराता रहता है, यह जानते, समझते और देखते हुए भी मन तुम्हें छोड़कर दूसरी ओर जाना नहीं छोड़ता! इससे अधिक मेरे मनकी नीचता और क्या होगी मेरे दयामय स्वामी!

तुम दयालु हो, मेरी ओर न देखकर अपनी कृपासे ही मेरे इस दुष्ट मनको अपनी ओर खींच लो। इसे ऐसा जकड़कर बाँध लो कि यह कभी दूसरी ओर जा ही न सके। मेरे स्वामी! ऐसा कब होगा? कब मेरा यह मन तुम्हारे चरणोंके दर्शनमें ही तल्लीन हो रहेगा। कब यह तुम्हारी मनोहर मूरतिकी झाँकी कर-करके कृतार्थ होता रहेगा।

अब देर न करो दयामय! जीवन-सन्ध्या समीप है। इससे पहले-पहले ही तुम अपनी दिव्य ज्योतिसे जीवनमें नित्य प्रकाश फैला दो। इसे समुज्ज्वल बनाकर अपने मन्दिरमें ले चलो और सदाके लिये वहीं रहनेका स्थान देकर निहाल कर दो।

—अधम परन्तु तुम्हारा ही

निज नाम-लोभ-त्याग

तजत लोभ निज नामको,
ते पावहिं सुख-सार।

डाकू भगत

पुराने जमानेकी बात है। एक धनी गृहस्थके घर भगवत्कथाका बड़ा सुन्दर आयोजन हो रहा था। वैशाखका महीना, शुक्लपक्षकी रात्रिका समय। अतिथि-अभ्यागतोंकी सुख-सुविधाके लिये सब प्रकारका प्रबन्ध किया गया था। जूही, बेला, मौलसिरी आदि सुगन्धित पुष्पोंकी सौरभसे दिशाएँ सुवासित हो रही थीं। भगवान्‌के नैवेद्यके लिये आम, अंगूर, अनार, सेब आदि फल तराशे जा रहे थे। सारी सामग्री तैयार हो जानेपर विधिपूर्वक भगवान्‌की पूजा सम्पन्न हुई। भगवान्‌की मनोहर मूर्तिके दर्शन, भगवत्कथाके श्रवण, सुगन्धित पुष्पोंके आघ्राण और शान्तिमय वातावरणके प्रभावसे सभी उपस्थित सज्जन लोकोत्तर आनन्दका आस्वादन करने लगे। सब लोग इस पवित्र उत्सव-कार्यमें इतने संलग्न और तन्मय हो गये कि उन्हें समयका कुछ ध्यान ही न रहा।

कथावाचक पण्डितजी विद्वान् तो थे ही, अच्छे गायक भी थे। वे बीच-बीचमें भगवत्सम्बन्धी भावपूर्ण पदोंका मधुर कण्ठसे गान भी करते, पहले उन्होंने श्रीमद्भागवतके आधारपर संक्षेपमें भगवान्‌के जन्मकी कथा सुनायी, फिर नन्दोत्सवका वर्णन करते-करते बिलावल रागमें एक मधुर पद गाया—

आनँद आज नंदके द्वार।
दास अनन्य भजन रस कारण प्रगटे लाल मनोहर ग्वार॥
चदन सकल धेनु तन मंडित कुसुम दाम सोभित आगार।
पूरन कुंभ बने तोरन पर बीच रुचिर पीपरकी डार॥
जुवति जूथ मिलि गोप बिराजत बाजत पनव मृदंग सितार।
जय (श्रीहित) हरिवंश अजिर बर सौंचिन दधि मधु दुग्ध हरदके गार॥

कथाका प्रसङ्ग आगे चला। श्रोतागण व्यवहारकी चिन्ता और शरीरकी सुधि भूलकर भगवदानन्दमें मस्त हो गये। बहुतोंके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। कितनोंकी आँखोंमें आँसू छलक आये। सभी तन्मय हो रहे थे।

उसी समय सुयोग देखकर एक डाकू उस धनी गृहस्थके घरमें घुस आया और चुपचाप धन-रत्न ढूँढ़ने लगा। परन्तु भगवान्‌की ऐसी लीला कि बहुत प्रयास करनेपर भी उसके हाथ कुछ नहीं लगा। वह जिस समय कुछ-न-कुछ हाथ लगानेके लिये इधर-उधर ढूँढ़ रहा था, उसी समय उसका ध्यान यकायक कथाकी ओर चला गया। कथावाचक पण्डितजी महाराज ऊँचे स्वरसे कह रहे थे—प्रातःकाल हुआ। पूर्वदिशा उषाकी मनोरम ज्योति और अरुणकी लालिमासे रँग गयी। उस समय व्रजकी झाँकी अलौकिक हो रही थी। वहाँका पत्ता-पत्ता चमक रहा था। पक्षिगण मानो इसलिये और भी जोर-जोरसे चहक रहे थे कि श्रीकृष्ण शीघ्र-से-शीघ्र आकर उनके नेत्रोंकी प्यास बुझावें। गौएँ और बछड़े सिर उठा-उठाकर नन्द बाबाके महल-की ओर सतृष्ण दृष्टिसे देख रहे थे कि अब हमारे प्यारे श्रीकृष्ण हमें आनन्दित करनेके लिये आ ही रहे होंगे। उसी समय भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा आदि ग्वालबालोंने आकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको बड़े प्रेमसे पुकारा—हमारे प्यारे कन्हैया, आओ न। अबतक तुम सो ही रहे हो! देखो, गौएँ तुम्हें देखे बिना रँभा रही हैं। हम कभीसे खड़े हैं। चलो, वनमें गौएँ चरानेके लिये चलें। दाऊ दादा, तुम इतनी देर क्या कर रहे हो?' इस प्रकार ग्वालबालोंकी पुकार और जल्दी देखकर नन्दरानी अपने प्यारे पुत्रोंको बड़े ही मधुर स्वरसे जगाने लगी—

तुम जागौ मेरे लाड़िले गोकुल सुखदाई।
कहति जननि आनंद सौं उठौ कुँवर कन्हाई॥

तुमको माखन-दूध दधि मिश्री हौं ल्याई ।
उठि कै भोजन कीजियै पकवान मिठाई ॥
सखा द्वार परभात सौं सब टेर लगाई ।
बनको चलिए साँवरे दयो तरनि दिखाई ॥

फिर मैयाने स्नेहसे उन्हें माखन-मिश्रीका तथा भाँति-भाँतिके पकवानोंका कलेऊ करवाकर बड़े चावसे खूब सजाया । लाख-करोड़ रुपयोंके गहने, हीरे-जवाहर और मोतियोंसे जड़े स्वर्णालङ्कार अपने बच्चोंको पहनाये । मुकुटमें, बाजूबन्दमें, हारमें जो मणियाँ जगमगा रही थीं, उनके प्रकाशके सामने प्रातःकालका उजेला फीका पड़ गया । इस प्रकार भलीभाँति सजाकर नन्दरानीने अपने लाड़ले पुत्रोंके सिर सूँघे और फिर बड़े प्रेमसे गौ चरानेके लिये उन्हें विदा किया । इतनी बातें डाकूने भी सुनीं । और तो कुछ उसने सुना था नहीं । अब वह सोचने लगा कि 'अरे यह तो बड़ा सुन्दर सुयोग है, मैं छोटी-मोटी चीजोंके लिये इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहता हूँ । यह तो अपार सम्पत्ति हाथ लगनेका अवसर है । केवल दो बालक ही तो हैं । उनके दोनों गालोंपर दो-दो चपत जड़े नहीं कि वे स्वयं अपने गहने निकालकर मुझे सौंप देंगे । यह सोचकर वह डाकू धनी गृहस्थके घरसे बाहर निकल आया और कथाके समाप्त होनेकी बाट देखने लगा ।

डाकूके आनन्दकी सीमा नहीं थी । कथावाचक पण्डितजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके सुन्दर शरीरोंपर सजे हुए गहनोंकी जो बात कही थी, उसे याद कर-करके वह खिल उठता था—'अहा, वे गहने कितने चमकदार होंगे । उनको छीनकर लाते ही मैं बड़ा धनी हो जाऊँगा । फिर तो मेरे सुखका पूछना !' उन गहनोंके चिन्तनसे ही उसके हृदयमें [illegible] रेखा खिंच गयी । गहनोंके साथही भगवान्‌के स्वरूपका भी चिन्तन होता ही था ! वह अपने दुःख-दारिद्र्यको भूलकर सुखके समुद्रमें डूबने-उतराने लगा । बहुत रात बीतनेपर कथा समाप्त हुई । भगवान्‌के नाम और जयकारके नारोंसे आकाश गूँज उठा । भक्त गृहस्थ बड़ी नम्रतासे ठाकुरजीका प्रसाद ग्रहण करनेके लिये सब श्रोताओंसे अनुरोध करने लगे । प्रसाद बँटने लगा । आनन्दकी धारा बह चली । जहाँ देखो, लोग भगवान्‌का प्रसाद पा-पाकर मस्त हो रहे हैं । उधर यह सब हो रहा था, परन्तु डाकूके मनमें इन बातोंका कोई ध्यान नहीं था । वह तो रह-रहकर कथावाचककी ओर देख रहा था । उसकी आँखें कथावाचकजीकी गति-विधिपर जमी हुई थीं । कुछ समयके बाद प्रसाद पाकर कथावाचकजी अपने डेरेकी ओर चले । डाकू भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा ।

जब पण्डितजी खुले मैदानमें पहुँचे तब डाकूने पीछेसे कुछ कड़े स्वरमें पुकारकर कहा—'ओ पण्डितजी ! खड़े रहो ।' पण्डितजीके पास दक्षिणाके रुपये-पैसे भी थे, वे कुछ डरकर और तेज चालसे चलने लगे । डाकूने दौड़ते हुए कहा—'पण्डितजी, खड़े हो जाओ । यों भागनेसे नहीं बच सकोगे ।' पण्डितजीने देखा कि अब छुटकारा नहीं है । वे लाचार होकर ठमक गये । डाकूने उनके पास पहुँचकर कहा—'देखिये पण्डितजी, आप जिन कृष्ण और बलरामकी बात कह रहे थे, उनके लाखों-करोड़ों रुपयोंके गहनोंका वर्णन कर रहे थे, उनका घर कहाँ है ? वे दोनों गौएँ चरानेके लिये कहाँ जाते हैं ? आप सारी बातें ठीक-ठीक बता दीजिये; यदि जरा भी टालमटोल की तो बस, देखिये मेरे हाथमें कितना भारी डंडा है, यह तुरंत आपके सिरके टुकड़े-टुकड़े कर देगा ।' पण्डितजीने देखा, उसका लंबा-चौड़ा दैत्य-सा शरीर बड़ा ही बलिष्ठ है । मजबूत हाथोंमें मोटी लाठी है, आँखोंसे क्रूरता टपक रही है । उन्होंने सोचा, हो-न-हो यह कोई डाकू है । फिर साहस बटोरकर कहा—'तुम्हारा उनसे क्या

काम है ?' डाकूने तनिक जोर देकर कहा—'जरूरत है।' पण्डितजी बोले—'जरूरत बतानेमें कुछ अड़चन है क्या ?' डाकूने कहा—'पण्डितजी, मैं डाकू हूँ। मैं उनके गहने लूटना चाहता हूँ। गहने मेरे हाथ लग गये तो आपको भी अवश्य ही कुछ दूँगा। देखिये, टालमटोल मत कीजिये। ठीक-ठीक बताइये।' पण्डितजीने समझ लिया कि यह बड़ा मूर्ख है। अब उन्होंने कुछ हिम्मत करके कहा—'तब इसमें डर किस बात का है ? मैं तुम्हें सब कुछ बतला दूँगा। लेकिन यहाँ रास्तेमें तो मेरे पास पुस्तक नहीं है। मेरे डेरेपर चलो। मैं पुस्तक देखकर सब ठीक-ठीक बतला दूँगा।' डाकू उनके साथ-साथ चलने लगा।

डेरेपर पहुँचकर पण्डितजीने किसीसे कुछ कहा नहीं। पुस्तक बाहर निकाली और वे डाकूको भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी रूप-माधुरी सुनाने लगे। उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंके ही चरण-कमलोंमें सोनेके सुन्दर नूपुर हैं। जो अपनी रुनझुन ध्वनिसे सबके मन मोह लेते हैं। श्यामवर्णके श्रीकृष्ण पीत वर्णका और गौरवर्णके बलराम नील वर्णका वस्त्र धारण कर रहे हैं। दोनोंकी कमरमें बहुमूल्य मोतियोंसे जड़ी सोनेकी करधनी शोभायमान है। गलेमें हीरे-जवाहरातके स्वर्णहार हैं। हृदयपर कौस्तुभ मणि झलमला रही है। ऐसी मणि जगत्‌में और कोई है ही नहीं। कलाईमें रत्नजटित सोनेके कंगन, कानोंमें मणि-कुण्डल, सिरपर मनोहर मोहन चूड़ा। घुँघराले काले-काले बाल, ललाटपर कस्तूरीका तिलक, होठोंमें मन्द-मन्द मुसकराहट, आँखोंसे मानो आनन्द और प्रेमकी वर्षा हो रही है। श्रीकृष्ण अपने कर-कमलोंमें सोनेकी वंशी लिये उसे अधरोंसे लगाये रहते हैं। उनकी अङ्ग-कान्तिके सामने करोड़ों सूर्योंकी कोई गिनती नहीं। रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पोंकी माला, तोतेकी-सी नुकीली नासिका, कुन्द-बीजके समान धौले दाँतोंकी पाँत, बड़ा लुभावना रूप है। अजी, जब वे त्रिभङ्गललित भावसे खड़े होते हैं; देखते-देखते नेत्र तृप्त ही नहीं होते। बाँकेविहारी श्रीकृष्ण जब अपनी बाँसुरीमें 'राधे-राधे-राधे' की मधुर तान छेड़ते हैं तब बड़े-बड़े ज्ञानी भी अपनी समाधिसे पिण्ड छुड़ाकर उसे सुननेके लिये दौड़ आते हैं। यमुनाके तटपर वृन्दावनमें कदम्ब वृक्षके नीचे प्रायः उनके दर्शन मिलते हैं। वनमाली श्रीकृष्ण और हलधारी बलराम।'

डाकूने पूछा—'अच्छा पण्डितजी, सब गहने मिलाकर कितने रुपयोंके होंगे।' पण्डितजीने कहा—'ओह, इसकी कोई गिनती नहीं है। करोड़ों-अरबोंसे भी ज्यादा।' डाकू—'तब क्या जितने गहनोंके आपने नाम लिये, उनसे भी अधिक हैं ?' पण्डितजी—'तो क्या ? संसारकी समस्त सम्पत्ति एक ओर और कौस्तुभमणि एक ओर। फिर भी कोई तुलना नहीं।' डाकूने आनन्दसे गद्गद होकर कहा—'ठीक है, ठीक है। और कहिये, वह कैसी है ?' पण्डितजी—'वह मणि जिस स्थानपर रहती है, सूर्यके समान प्रकाश हो जाता है। वहाँ अँधेरा रह नहीं सकता। वैसा रत्न पृथ्वीमें और कोई है ही नहीं।' डाकू—'तब तो उसके दाम बहुत ज्यादा होंगे। क्या बोले ? एक बार भलीभाँति समझा तो दीजिये। हाँ, एक बात तो भूल ही गया। मुझे किस ओर जाना चाहिये ?' पण्डितजी-ने सारी बातें दुबारा समझा दीं। डाकूने कहा—'देखिये पण्डितजी, मैं शीघ्र ही आकर आपको कुछ दूँगा। यहाँसे ज्यादा दूर तो नहीं है न ? मैं एक ही रातमें पहुँच जाऊँगा, क्यों ? अच्छा; हाँ-हाँ, एक बात और बताइये। क्या वे प्रतिदिन गौएँ चराने जाते हैं ?' पण्डितजी—'हाँ, और तो क्या ?' डाकू—'कब आते हैं ?' पण्डितजी—'ठीक प्रात:काल। उस समय थोड़ा-थोड़ा अँधेरा भी रहता है।' डाकू—'ठीक है। मैंने सब समझ लिया। हाँ तो, अब मुझे किधर जाना

तुमको माखन-दूध दधि मिश्री हौं ल्याई ।
उठि कै भोजन कीजियै पकवान मिठाई ॥
सखा द्वार परभात सौं सब टेर लगाई ।
बनको चलिए साँवरे दयो तरनि दिखाई ॥

फिर मैयाने स्नेहसे उन्हें माखन-मिश्रीका तथा भाँति-भाँतिके पकवानोंका कलेऊ करवाकर बड़े चावसे खूब सजाया। लाख-करोड़ रुपयोंके गहने, हीरे-जवाहर और मोतियोंसे जड़े स्वर्णालङ्कार अपने बच्चोंको पहनाये। मुकुटमें, बाजूबन्दमें, हारमें जो मणियाँ जगमगा रही थीं, उनके प्रकाशके सामने प्रातःकालका उजेला फीका पड़ गया। इस प्रकार भलीभाँति सजाकर नन्दरानीने अपने लाड़ले पुत्रोंके सिर सूँघे और फिर बड़े प्रेमसे गौ चरानेके लिये उन्हें विदा किया। इतनी बातें डाकूने भी सुनीं। और तो कुछ उसने सुना था नहीं। अब वह सोचने लगा कि 'अरे यह तो बड़ा सुन्दर सुयोग है, मैं छोटी-मोटी चीजोंके लिये इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहता हूँ। यह तो अपार सम्पत्ति हाथ लगनेका अवसर है। केवल दो बालक ही तो हैं। उनके दोनों गालोंपर दो-दो चपत जड़े नहीं कि वे स्वयं अपने गहने निकालकर मुझे सौंप देंगे। यह सोचकर वह डाकू धनी गृहस्थके घरसे बाहर निकल आया और कथाके समाप्त होनेकी बाट देखने लगा।

डाकूके आनन्दकी सीमा नहीं थी। कथावाचक पण्डितजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके सुन्दर शरीरोंपर सजे हुए गहनोंकी जो बात कही थी, उसे याद कर-करके वह खिल उठता था—'अहा, वे गहने कितने चमकदार होंगे। उनको छीनकर लाते ही मैं बहुत बड़ा धनी हो जाऊँगा। फिर तो मेरे सुखका क्या पूछना!' उन गहनोंके चिन्तनसे ही उसके हृदयमें प्रकाशकी रेखा खिंच गयी। गहनोंके साथही भगवान्के दिव्य स्वरूपका भी चिन्तन होता ही था! वह अपने दुःख-दारिद्रयको भूलकर सुखके समुद्रमें [illegible] लगा। बहुत रात बीतनेपर कथा समाप्त हुई। [illegible] के नाम और जयकारके नारोंसे आकाश [illegible] भक्त गृहस्थ बड़ी नम्रतासे ठाकुरजीका [illegible] करनेके लिये सब श्रोताओंसे अनुरोध [illegible] प्रसाद बँटने लगा। आनन्दकी धारा बह [illegible] देखो, लोग भगवान्का प्रसाद पा-पाकर [illegible] हैं। उधर यह सब हो रहा था, परन्तु डाकू [illegible] बातोंका कोई ध्यान नहीं था। वह तो कथावाचककी ओर देख रहा था। उसकी [illegible] वाचकजीकी गति-विधिपर जमी हुई थी। [illegible] बाद प्रसाद पाकर कथावाचकजी अपने [illegible] चले। डाकू भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

जब पण्डितजी खुले मैदानमें पहुँचे [illegible] पीछेसे कुछ कड़े स्वरमें पुकारकर कहा—[illegible] जी! खड़े रहो।' पण्डितजीके पास [illegible] पैसे भी थे, वे कुछ डरकर और तेज [illegible] लगे। डाकूने दौड़ते हुए कहा—'पण्डितजी, [illegible] जाओ। यों भागनेसे नहीं बच सकोगे।' [illegible] देखा कि अब छुटकारा नहीं है। वे ठाकर [illegible] ठमक गये। डाकूने उनके पास पहुँचकर [illegible] 'देखिये पण्डितजी, आप जिन कृष्ण [illegible] बात कह रहे थे, उनके [illegible] वर्णन कर रहे [illegible] चरानेके लिये [illegible] ठीक बता [illegible] देखिये [illegible] आपके [illegible] देखा, [illegible] बलिष्ठ [illegible] है

तरह उन्हें पकड़ूँगा, किस तरह पकड़ने दौड़ूँगा. इस बातको वह बार-बार पक्की करने लगा। ज्यों-ज्यों रात बीतती, त्यों-त्यों उसकी चिन्ता, उद्वेग, उत्तेजना, आनन्द और आकुलता बढ़ती जाती।

कभी-कभी उसे ऐसा मालूम होता, मानो कौस्तुभ मणि उसकी आँखोंके सामने चमक रही हो। उसने सोचा, कौस्तुभ मणिसे तो अँधेरा दूर हो जाता है। यदि उन बालकोंने मणिके प्रकाशमें मुझे देख लिया तो सारा किया-कराया चौपट हो जायगा। वे मुझे देखकर भागनेकी चेष्टा करेंगे। हाँ, तो मैं अभी कदम्बकी सबसे ऊँची डालपर चढ़ जाऊँ और पत्तोंमें छिपकर उनकी बाट देखूँ। वह पेड़पर चढ़ गया। अभी थोड़ी ही देर हुई कि उसके मनमें आया—'नहीं, नहीं; यहाँसे जितनी देरमें मैं उतर पाऊँगा, उतनी देरमें तो भाग जायँगे। यहाँ ठहरना ठीक नहीं। वह नीचे उतर आया। सोचने लगा—'कुछ वृक्षोंके झुरमुटमें चुपचाप खड़ा हो जाऊँ और आते ही झपटकर उन्हें पकड़ लूँ।' वह जाकर वृक्षोंकी आड़में खड़ा हो गया। खड़े होते ही उसके मनमें विचारोंका तूफान उठने लगा—'ना-ना, शायद वे दोनों मुझे यहाँ देख लें। तब तो सारा बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। अच्छा, सामनेवाले गड्ढेमें छिप जाऊँ। ठीक तो है, वह आते ही बाँसुरी बजायेगा। वंशीकी धुन सुनते ही मैं दौड़कर उसे पकड़ लूँगा।' यह विचारकर डाकू गड्ढेमें जाकर छिप रहा। क्षणभर बाद ही उसके मनमें आया कि 'कहीं वंशीकी धुन मेरे कानोंमें न पड़ी तो? बाहर रहना ही ठीक है' अब वह बाहर आकर बार-बार कान दे-देकर वंशीकी धुन अकलनेमें लगा। जब उसे किसी शब्दकी आहट न मिली तब वह फिर कदम्बपर चढ़ गया और देखने लगा कि किसी ओर उजेला तो नहीं है। कहींसे वंशीकी आवाज तो नहीं आ रही है। उसने अपने मनको समझाया—'अभी सबेरा होनेमें देर है। मैं ज्यों ही वंशीकी धुन सुनूँगा, त्यों ही टूट पड़ूँगा।' इस प्रकार सोचता हुआ बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ वह डाकू सबेरा होनेकी बाट जोहने लगा।

देखते-ही-देखते मानो किसीने प्राची दिशाका मुख रोलीके रंगसे रंग दिया। डाकूके हृदयमें आकुलता और भी बढ़ गयी। वह पेड़से कूदकर जमीनपर आया, परन्तु वंशीकी आवाज सुनायी न पड़नेके कारण फिर उछलकर कदम्बपर चढ़ गया। वहाँ भी किसी प्रकारकी आवाज सुनायी नहीं पड़ी। उसका हृदय मानो क्षण-क्षणपर फटता जा रहा था। अभी-अभी उसका हृदय सिहर उठता, परन्तु यह क्या, उसकी आशा पूर्ण हो गयी! दूर, बहुत दूर वंशीकी सुरीली स्वर-लहरी लहरा रही है। वह वृक्षसे कूद पड़ा। हाँ, परन्तु हृदयपर फिर अविश्वासकी रेखा खिंच गयी। कहीं मेरा भ्रम तो नहीं था! वह तुरंत वृक्षकी सबसे ऊँची डालपर चढ़ गया। हाँ, ठीक है, ठीक है; बाँसुरी ही तो है! अच्छा, यह स्वर तो और समीप होता जा रहा है! डाकू आनन्दके आवेशमें अपनी सुध-बुध खो बैठा और मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़ा। कुछ ही क्षणोंमें उसकी बेहोशी दूर हुई, आँखें खुलीं; वह उठकर खड़ा हो गया। देखा तो पास ही जंगलमें एक दिव्य शीतल प्रकाश चारों ओर फैल रहा है। उस मनोहर प्रकाशमें दो भुवन-मोहन बालक अपने अङ्गकी अलौकिक छटा बिखेर रहे हैं। गौएँ और ग्वालबाल उनके आगे-आगे कुछ दूर निकल गये हैं।

डाकूने उन्हें देखा, अभी पुकार भी नहीं पाया था कि मन मुग्ध हो गया—अहाहा! कैसे सुन्दर चेहरे हैं इनके, आँखोंसे तो अमृत ही बरस रहा है। और इनके तो अङ्ग-अङ्ग बहुमूल्य आभूषणोंसे भरे हैं। हाय-हाय! इतने नन्हे-नन्हे सुकुमार शिशुओंको माँ-बापने गौएँ चरानेके लिये कैसे भेजा! ओह! मेरा तो जी भरा आता है—मन चाहता है, इन्हें देखता ही रहूँ! इनके

हने उतारनेकी बात कैसी, इन्हें तो और भी सजाना हिये । नहीं, मैं इनके गहने नहीं छीनूँगा । ना, ना, हने नहीं छीनूँगा तो फिर आया ही क्यों ? ठीक है । गहने छीन लूँगा । परन्तु इन्हें मारूँगा नहीं । बाबा बाबा, मुझसे यह काम न होगा ! दुत् तेरेकी ! यह ह-छोह कैसा ? मैं डाकू हूँ, डाकू । मैं और दया ! स, बस, मैं अभी गहने छीने लेता हूँ । यह कहते-हते वह श्रीकृष्ण और बलरामकी ओर दौड़ा । गवान् श्रीकृष्ण और बलरामके पास पहुँचकर उनका रूप देखते ही उसकी चेतना एक बार फिर लुप्त हो गी । पैर लड़खड़ाये और वह गिर पड़ा । फिर उठा । छ देर एकटकी लगाये देखता रहा, आँखें आसुओंसे र आयीं । फिर न मालूम क्या सोचा, हाथमें लाठी कर उनके सामने गया और बोला—'खड़े होजाओ। रे गहने निकालकर मुझे दे दो ।'

श्रीकृष्ण—'हम अपने गहने तुम्हे क्यों दें ?'

डाकू—'दोगे नहीं ? मेरी लाठीकी ओर देखो ।'

श्रीकृष्ण—'लाठीसे क्या होगा ?'

डाकू—'अच्छा, क्या होगा ? गहना न देनेपर म्हारे सिर तोड़ डालूँगा, और क्या होगा ?'

श्रीकृष्ण—'नहीं, हमलोग गहने नहीं देंगे ।'

डाकू—'अभी-अभी मैं कान पकड़के ऐंठूँगा और सारे हने छीन-छानकर तुम्हें नदीमें फेंक दूँगा ।'

श्रीकृष्ण—(जोरसे) 'बाप-रे-बाप ! ओ बाबा !! ो बाबा !!!'

डाकूने झपटकर अपने हाथसे श्रीकृष्णका मुँह बाना चाहा, परन्तु स्पर्श करते ही उसके सारे रीरमें बिजली दौड़ गयी । वह बेहोश होकर धरामसे रतीपर गिर पड़ा । कुछ क्षणोंके बाद जब होश हुआ ब वह श्रीकृष्णसे बोला—'अरे, तुम दोनों कौन ो ! मैं ज्यों-ज्यों तुम दोनोंको देखता हूँ त्यों-त्यों तुम और सुन्दर, और मधुर, और मनोहर क्यों दीख रहे हो ? मेरी आँखोंकी पलकें पड़नी बद हो ग हाय ! हाय ! मुझे रोना क्यों आ रहा है ! मेरे श सब रोएँ क्यों खड़े हो गये हैं । जान गया, जान तुम दोनों देवता हो, मनुष्य नहीं हो ।'

श्रीकृष्ण—[मुसकराकर] 'नहीं हम मनुष्य हम ग्वालबाल हैं । हम व्रजके राजा नन्दबा लड़के हैं ।'

डाकू—अहा ! कैसी मुसकान है ! 'जाओ, जाओ; लोग गौएँ चराओ । मै अब गहने नहीं चाहता । मेरी आ दुराशा, मेरी चाह-आह सब मिट गयीं । हाँ, चाहता हूँ कि तुम दोनोंके सुरंग अङ्गोंमें अपने हाथ और भी गहने पहनाऊँ । जाओ, जाओ । हाँ, एक बा अपने दोनों लाल-लाल चरण-कमल तो मेरे सिरपर रख दो । हाँ, हाँ; जरा हाथ तो इधर करो ! मैं एक बार तुम्हारी स्निग्ध हथेलियोंका चुम्बन करके अपने प्राणोंको तृप्त कर लूँ । ओह, तुम्हारा स्पर्श कितना शीतल, कितना मधुर ! धन्य ! धन्य !! तुम्हारे मधुर स्पर्शसे हृदयकी ज्वाला शान्त हो रही है । आशा-अभिलाषा मिट गयी । जाओ, हाँ-हाँ, अब तुम जाओ । मेरी भूख-प्यास मिट गयी । अब कहीं जानेकी इच्छा नहीं होती । मैं यहीं रहूँगा । तुम दोनों रोज इसी रास्तेसे जाओगे न । एक बार केवल एक क्षणके लिये प्रतिदिन, हाँ, प्रतिदिन मुझे दर्शन देते जाना । देखो, भूलना नहीं । किसी दिन नहीं आओगे—दर्शन नहीं दोगे तो याद रक्खो, मेरे प्राण छटपटाकर छूट हो जायँगे ।'

श्रीकृष्ण—'अब तुम हमलोगोंको मारोगे तो नहीं ! गहने तो नहीं छीन लोगे ? हाँ, ऐसी प्रतिज्ञा करो तो हमलोग रोज प्रतिदिन आ सकते हैं ।'

डाकू—'प्रतिज्ञा, सौ बार प्रतिज्ञा ! अरे भगवान्‌की शपथ ! तुमलोगोंको [illegible] नहीं मारूँगा, तुम्हें मार सकता [illegible] तुम्हें [illegible] हाँ

सारी शक्ति गायब हो जाती है, मन ही हाथसे निकल जाता है । फिर कौन मारे और कैसे मारे ! अच्छा, तुमलोग जाओ ।'

श्रीकृष्ण—'यदि तुम्हें हमलोग गहना दें तो लोगे ?'

डाकू—'गहना, गहना; अब गहने क्या होंगे ? अब तो कुछ भी लेनेकी इच्छा नहीं है ।'

श्रीकृष्ण—'क्यों नहीं, ले लो । हम तुम्हें दे रहे हैं न ?'

डाकू—'तुम दे रहे हो ! तुम मुझे दे रहे हो ? तब तो लेना ही पड़ेगा, परन्तु तुम्हारे माँ-बाप तुमपर नाराज होंगे, तुम्हें मारेंगे तो ?'

श्रीकृष्ण—'नहीं-नहीं, हम राजकुमार हैं । हमारे पास ऐसे-ऐसे न जाने कितने गहने हैं । तुम चाहो तो तुम्हें और भी बहुत-से गहने दे सकते हैं ।

डाकू—ऊहूँ, मैं क्या करूँगा ? हाँ, हाँ; परन्तु तुम्हारी बात टाली भी तो नहीं जाती । क्या तुम्हारे पास और गहने हैं ? सच बोलो ।'

श्रीकृष्ण—'हैं नहीं तो क्या हम बिना हुए ही दे रहे हैं ? लो तुम इन्हें ले जाओ ।'

भगवान् श्रीकृष्ण अपने शरीरपरसे गहने उतारकर देने लगे । डाकूने कहा—'देखो भाई, यदि तुम देना ही चाहते हो, तो मेरा यह दुपट्टा ले लो और इसमें अपने हाथोंसे बाँध दो । किन्तु देखो लाला, यदि तुम मेरी इच्छा जानकर बिना मनके दे रहे हो तो मुझे गहने नहीं चाहिये । मेरी इच्छा तो अब बस एक यही है कि रोज एक बार तुम्हारे मनोहर मुखड़ेको देख लूँ और एक बार तुम्हारे चरणतलसे अपने सिरका स्पर्श कर लूँ ।' श्रीकृष्ण—'नहीं-नहीं, बेमनकी बात कैसी ! तुम फिर आना, तुम्हें इस बार और गहने देंगे ।' श्रीकृष्णने उसके दुपट्टेमें सब गहने बाँध दिये । डाकूने गहनेकी पोटली हाथमें लेकर कहा—'क्यों भाई, मैं फिर आऊँगा तो तुम मुझे और गहने दोगे ? गहने चाहे न देना परन्तु दर्शन जरूर देना ।' श्रीकृष्णने कहा—'अवश्य ! गहने भी और दर्शन भी दोनों ।' डाकू गहने लेकर अपने घरके लिये रवाना हुआ ।

डाकू आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता घर लौटा । दूसरे दिन रातके समय कथावाचक पण्डितजीके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा और गहनोंकी पोटली उनके सामने रख दी । बोला—'देखिये, देखिये, पण्डितजी ! कितने गहने लाया हूँ । आपकी जितनी इच्छा हो, ले लीजिये । पण्डितजी, उसने और गहने देना स्वीकार किया है । पण्डितजी तो यह सब देख-सुनकर चकित रह गये । उन्होंने बड़े विस्मयके साथ कहा—'मैंने जिनकी कथा कही थी उनके गहने ले आया ?' डाकू बोला—'और तो क्या, देखिये न; यह सोनेकी वंशी ! यह सिरका मोहन चूड़ामणि !!' पण्डितजी हक्के-बक्के रह गये । बहुत सोचा, बहुत विचारा, परन्तु वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके । जो अनादि अनन्त पुरुषोत्तम हैं । बड़े-बड़े योगी सारे जगत्को तिनकेके समान त्यागकर, भूख-प्यास-नींदकी उपेक्षा कर सहस्र-सहस्र वर्षपर्यन्त जिनके ध्यानकी चेष्टा करते हैं, परन्तु दर्शनसे वञ्चित ही रह जाते हैं; उन्हें यह डाकू देख आवे ! उनके गहने ले आवे !! अजी कहाँकी बात है ! असम्भव ! हो नहीं सकता । परन्तु यह क्या ! यह चूड़ामणि, यह बाँसुरी, ये गहने सभी तो अलौकिक हैं । इसे ये सब कहाँ, किस तरह मिले ? कुछ समझमें नहीं आता । क्षणभर ठहरकर पण्डितजीने कहा—'क्यों भाई, तुम मुझे उसके दर्शन करा सकते हो ?' डाकू—'क्यों नहीं, कल ही चलिये न !' पण्डितजी पूरे अविश्वासके साथ केवल उस घटनाका पता लगानेके लिये डाकूके साथ चल पड़े और दूसरे दिन नियत स्थानपर पहुँच गये । पण्डितजीने देखा—एक सुन्दर-सा वन है । छोटी-सी नदी बह रही है, बड़ा-सा

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

लौकिक-पारलौकिक दुःखोंके नाश, सुखोंकी प्राप्ति, भवबन्धनसे सहज ही छूटनेका साधन कलियुगमें केवल श्रीभगवन्नाम ही है। सचमुच श्रीहरिनाम भवसागरसे तरनेके लिये सुदृढ़ जहाज है। इसीसे भगवान् शिवजीने पार्वतीसे कहा है—

> तस्माल्लोकोद्धारणार्थं हरिनाम प्रकाशयेत्।
> सर्वत्र मुच्यते लोको महापापात् कलौ युगे॥

लोगोंके उद्धारके लिये सर्वत्र श्रीहरिनामका प्रकाश करना चाहिये। कलियुगमें जीव एकमात्र श्रीहरिनामसे ही सारे महापापोंसे छुटकारा पा सकेंगे।

> तन्नामकीर्त्तनं भूयस्तापत्रयविनाशनम्।
> सर्वेषामेव पापानां प्रायश्चित्तमुदाहृतम्॥
> नातः परतरं पुण्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
> नामसङ्कीर्तनादेव तारकं ब्रह्म दृश्यते॥

काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, शोक, असूया, अपमान, वैर, डाह, असहिष्णुता, अभिमान आदिसे उत्पन्न मानस दुःखोंका नाम आध्यात्मिक ताप है। मनुष्य, राक्षस, पशु, पक्षी आदिसे प्राप्त दुःखोंका नाम आधिभौतिक ताप है और वायु, वर्षा, बिजली, अग्नि आदिसे उत्पन्न दुःखोंको आधिदैविक ताप कहते हैं। आज सारा जगत् इन तीनों तापोंकी प्रचण्डतासे जला जा रहा है, चारों ओर हाहाकार मचा है। भगवान्‌के नामसे इन त्रिविध तापोंका समूल नाश और सब प्रकारके पापोंका प्रायश्चित्त होता है। श्रीहरिनामकीर्तन-के समान पुण्य तीनों लोकोंमें और कोई भी नहीं है। इस नामसङ्कीर्तनसे मनुष्य साक्षात् भगवान्‌के दर्शन प्राप्त कर सकता है। इतना महान् होनेपर भी इतना सुगम है कि इस भगवन्नामका ग्रहण पुरुष-नारी, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण' के पाठकों और प्रेमियोंसे नामजपका अभ्यास बढ़ानेके लिये प्रतिवर्ष २॥ महीने नाम-जपके लिये प्रार्थना की जाती है। बड़े ही हर्षकी बात है कि प्रतिवर्ष 'कल्याण'के ग्राहक और पाठक महोदय 'कल्याण' की प्रार्थना सुनकर जगत्‌के परमकल्याणकी भावनासे स्वयं नामजप करते और दूसरोंसे करवाते हैं।

गतवर्ष 'कल्याण' के पाठकोंसे पौष शुक्ल १से फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमातक अर्थात् ढाई महीनेमें उपर्युक्त सोलह नामोंके दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करवानेकी प्रार्थना की गयी थी। और आनन्दकी बात है कि दस करोड़की जगह पचास करोड़से अधिक मन्त्रोंका जप हो गया।

इस वर्ष भी फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जा रही है। आशा है भगवत्-रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्यकार्य करेंगे। नियमादि यही हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है, अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये।

यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं। निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है। थोड़ी-सी भी निष्काम उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अङ्क प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१–किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३–प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जा करना चाहिये।

४–सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आ कता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अ नाम और पता लिख भेजें।

५–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक मा प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिनके मन्त्रजपकी संख्या एक सौ आठ होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जा हैं। जिस दिनसे जो भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उ दिनसे फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब ह क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६–संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है

७–सूचना भेजनेका पता–

नाम-जप-विभाग,
'कल्याण'-कार्यालय,
गोरखपु

याचना

जगहित-विषधर ! जग विषयोंने जब मन मेरा मचलाया।
उमा-रमन-मधु-सरन-सपनसे बार बार तब बहलाया॥
हठ तज माया-बंधन आई आशुतोष प्रभु ! मैं दासी।
हिमकर-भूषित ! दो शीतलता अपने हियकी आभासी॥

(श्रीमती) '[illegible]'

(१)

भगवान्‌की कृपाशक्ति

एक पत्रमें आपने इस आशयकी बात लिखी थी ि किसी समय मेरे किसी संकल्पसे आपके मनमें बार-बार उठनेवाली एक बुरी वासना शान्त हो गयी , इसलिये अब मैं पुनः ऐसा संकल्प करूँ जिससे आपकी कोई दूसरी बुरी वासना भी शान्त हो जाय । इसपर मेरा यह निवेदन है कि यदि उस बार ऐसा हुआ तो इसमें प्रधान कारण भगवत्-कृपा और आपकी श्रद्धा है, मेरे सङ्कल्पोंमें मुझे ऐसी कोई शक्ति नहीं दीखती जिसके बलपर मैं कुछ कर सकता हूँ, ऐसा कह सकूँ । हाँ, आपके मनसे बुरी वासना नाश हो जाय यह मैं भी चाहता हूँ । आप भगवत्-कृपापर विश्वास करें और श्रद्धापूर्वक ऐसा निश्चय करें कि 'भगवान्‌की दयासे अब मेरे मनमें अमुक बुरी वासना कभी न उठे ।' तो मेरा विश्वास है कि यदि आपका निश्चय दृढ श्रद्धायुक्त होगा तो आपके मनसे उक्त बुरी वासना छूट सकती है । श्रीभगवान्‌की शक्ति अपरिमित है, जो मनुष्य अपनेको भगवान्‌पर सर्वतोभावेन छोड़ देता है, अपना सारा बल भगवान्‌के चरणोंमें न्योछावरकर भगवान्‌के बलका आश्रय कर लेता है, तो भगवान्‌की अचिन्त्य महिमामयी कृपाशक्तिके द्वारा सुरक्षित होकर वह समस्त विरोधी शक्तियोंपर विजयी हो सकता है । निर्भरता अवश्य ही सत्य, पूर्ण और अनन्य होनी चाहिये । फिर उसे कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पड़ती ।

सत्यका स्वरूप और उसका महत्त्व

सत्यका महत्त्व समझमें आ जानेके बाद जरा-सा भी सत्यका अपलाप बहुत ही असत्य मालूम होता है । सत्यके द्वारा प्राप्त होनेवाले अतुलनीय आनन्द और शान्तिका आस्वादन नहीं होता, तभीतक असत्यकी ओर प्रवृत्ति होती है । श्रीभगवान्‌में पूर्ण विश्वास होनेपर भी असत्य छूट जाता है । आसक्ति, मोह और प्रमादवश ही मनुष्य झूठ बोलता है और उसके द्वारा सफलताकी सम्भावना मानता है । मनोरञ्जनके लिये झूठ बोलना प्रमाद है । स्वभाव बिगड़ जानेपर असत्य छूटना अवश्य ही कठिन हो जाता है । परन्तु यह नहीं मानना चाहिये कि वह छूट ही नहीं सकता । वास्तवमें आत्मा सत्-स्वरूप है, आत्माका स्वरूप ही सत्य है । अतएव असत्य आत्माका स्वभाव नहीं है । भूलसे इस दोषको आत्माका स्वरूप मान लिया जाता है । जो बाहरसे आयी हुई चीज है, उसको निकालना असम्भव कदापि नहीं है । पुरानी होनेकी वजहसे कठिन अवश्य है । भगवान्‌की कृपापर भरोसा करके दृढतापूर्वक पुराने अभ्यासके विरुद्ध नया अभ्यास किया जाय और बीचमें ही घबड़ाकर छोड़ न दिया जाय, असत्यका पुराना अभ्यास निश्चय ही छूट जा सकता है । इस बातपर अवश्य विश्वास करना चाहिये । दुर्गुण और दुर्भाव, आत्मा या अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं, स्वाभाविक नहीं हैं । अतएव इनको नष्ट करना, यथायोग्य परिश्रमसाध्य होनेपर भी सर्वथा सम्भव है ।

यहाँ एक बात यह सत्यके सम्बन्धमें जान रखनी चाहिये । सत्य वही है, जिसमें किसी प्रकारका कपट न हो और जो निर्दोष प्राणीका अहित न करता हो । मानो सत्यके साथ सरलता और अहिंसाका प्राण और जीवनका-सा मेल है । इनका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है । वाणीसे शब्दोंका उच्चारण ज्यों-का-त्यों होनेपर भी यदि कपटयुक्त भावभंगीके द्वारा सुननेवालेकी समझमें यथार्थ बात नहीं आती तो वह वाणी सत्य नहीं है । इसके विपरीत शब्दोंके उच्चारणमें एक-एक अक्षरकी या वाक्यकी यथार्थता न होनेपर भी यदि सुननेवालेको ठीक समझा देनेकी नीयत, इशारों या भावोंका प्रयोग करके उसे यथार्थ

चाहिये । परमात्माके मार्गमें आलस्य करना, समयकी उपेक्षा करना और अधूरी सिद्धिको ही पूर्ण मान लेना यथार्थ सिद्धिकी प्राप्तिमें बहुत बाधक हुआ करता है । मनुष्य-जीवन नश्वर और क्षणभङ्गुर है अतएव विशेष प्रयत्न करना आवश्यक है × × × ×

तुम्हारा यह लिखना बहुत ठीक है कि 'मनुष्यको अपनी बुद्धिसे काम लेना चाहिये, जहाँ अपनी बुद्धि काम न दे वहाँ बड़ोंसे या जिनपर अपनी श्रद्धा हो—पूछकर उनकी अनुमतिसे काम करना चाहिये । तथा तुम्हारा यह लिखना भी बहुत उचित है कि 'यद्यपि अच्छे पुरुष जान-बूझकर अनुचित नहीं कहते पर भूल तो सबसे ही होती है ।' ये दोनों ही बातें ठीक हैं । तथापि बुद्धि और श्रद्धा दोनोंकी ही आवश्यकता है और प्रायः जगत्‌के सभी क्षेत्रोंमें इन दोनोंसे ही लाभ उठाया जाता है । बुद्धिवाद भी इतना बढ़ जाना बहुत हानिकर होता है, जहाँ अभिमानवश अपनी बुद्धिके सामने सबकी बुद्धिका तिरस्कार किया जाने लगे । और श्रद्धा भी इस रूपमें नहीं परिणत हो जानी चाहिये, जिससे ईस्वर, सत्य और सदाचारके विरुद्ध मतको किसीके कहनेमात्रसे स्वीकार कर लिया जाय । मर्यादित रूपसे बुद्धि हो और यह भी माना जाय कि ईस्वरकी सृष्टिमें ईस्वरकी सन्तानोंमें सम्भवतः मुझसे भी अधिक बुद्धिमान् पुरुष हो चुके हैं और हो सकते हैं ।

बुद्धिवाद घोर अभिमान, उच्छृङ्खलता और नास्तिकतामें परिणत नहीं होना चाहिये । मेरी धारणामें तो बुद्धिवादकी अपेक्षा श्रद्धा बहुत ही ऊँची और उपादेय वस्तु है, परन्तु उसकी कसौटी यही है कि ईस्वर या सत्यका श्रद्धालु कभी पापका आचरण नहीं कर सकता—श्रद्धामें यह शर्त जरूर रहनी चाहिये ।

बुद्धिवादियोंमें भी यह भाव रहना आवश्यक है कि वे अपने लिये अपनी बुद्धिसे काम लेनेका जितना अधिकार समझते हैं, उतना ही दूसरोंके लिये भी मानें, चाहे वे दूसरे उनके अधीनस्थ निम्नश्रेणीके लोग माने जाते हों या कम विद्या प्राप्त हों । यदि मैं किसीपर श्रद्धा करना आवश्यक नहीं समझता तो मुझे ऐसा चाहनेका भी अधिकार नहीं होना चाहिये कि दूसरे कोई मुझपर श्रद्धा करें या मेरी ही बुद्धिको मान दें । जैसे दूसरेसे गलती हो सकती है, वैसे अपनेसे भी तो हो सकती है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आँख मूँदकर तो किसीकी बात नहीं माननी चाहिये, तथापि कुछ ऐसी बातें भी जगत्‌में होती हैं, जो हमारे समझमें नहीं आतीं, पर सत्य होती हैं और जिसपर हमारा भरोसा होता है, उसके विश्वासपर हमें उनको स्वीकार भी करना पड़ता है और स्वीकार करना भी चाहिये । वर्तमान वैज्ञानिक युगमें तो ऐसी बहुत-सी बातें हैं ।

इसी प्रकार ईस्वरीय साधन-क्षेत्रमें भी है—इस बातका यदि मुझपर कुछ भी विश्वास है तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाकर कह सकता हूँ । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल ढोंग बहुत ज्यादा बढ़ गया है, जिससे यह निर्णय नहीं हो सकता कि श्रद्धा किसपर की जाय । जिसपर श्रद्धा की जाती है, प्रायः वही ठग, स्वार्थी, कामी, क्रोधी या लोभी निकलता है । भेड़की खालमें भेड़िया साबित होता है । इसलिये विश्वास तो खूब ठोक-पीटकर करना चाहिये और यथासाध्य सचेत रहना तथा अपने अंदर भी ईश्वर और ईश्वरकी शक्ति है—इस बातपर भरोसा करके अपनी बुद्धिसे पूरा काम लेना चाहिये । ईश्वरका आश्रय लेकर अपनी बुद्धिसे काम लेनेवाला निरहंकारी पुरुष कभी नहीं ठगा सकता ।

(३)

भगवत्प्रेमकी अभिलाषा

आपके अंदर जबतक दोष हैं, तबतक अपनेको कभी उत्तम नहीं समझना चाहिये । सारे दोषोंका मिट जाना मालूम होनेपर भी दोषोंकी खोज करनी चाहिये, तथा जरा-सा भी दोष शूलकी तरह हृदयमें चुभना

। जबतक किञ्चिन्मात्र भी दूषित भाव हृदयमें
बतक सूरदासजीकी भाँति अपनेको महान् पातकी
कर प्रभुके सामने रोना चाहिये। आपने जैसा
लिखा है, ऐसा ही बल्कि इससे भी और खुलासा
मी प्रभुसे अपने हृदयकी आर्त भाषामें कहना
। मनुष्य शायद न सुने, किसीकी भाषाका मर्म
झ सके, समझकर भी लापरवाही कर दे और
भी ले किन्तु शक्ति न होनेसे कुछ भी सहायता
सके, परन्तु भगवान्में ये सब बातें कोई-सी नहीं
ह सुनता है, सबके हृदयकी भाषाका रहस्य
ा है, लापरवाही भी नहीं करता और सर्व प्रकार
ुःख दूर करनेकी उसमें पूर्ण सामर्थ्य भी है,
ये मनुष्यको अपने दोष-दुःखोंका नाश करनेके
प्रभुसे ही प्रार्थना करनी चाहिये। प्रभु अन्तर्यामी
ब कुछ जानते हैं, परन्तु प्रार्थना किये बिना,
चाहे बिना, उनके द्वारा सदा किया जानेवाला
र हमपर प्रकट नहीं होता। तथा ऐसा विशेष
अद्भुत कार्य भी नहीं होता जो चाहनेपर होता
इसमें कोई सन्देह नहीं कि चींटीकी चालके
में भगवान् इच्छागति गरुड़की चालसे ही आते हैं,
चींटीकी चालसे भी उनकी ओर चल पड़ना तो
ही कार्य है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव
यहम्' का यही रहस्य है कि मनुष्य उन्हें चाहने
उनकी तरफ अपनी ही चालसे चलना शुरू
, फिर भगवान् अपनी चालसे चलकर उसके पास
की-बातमें पहुँच जायँगे। हमारी मन्द गतिके
में वे अपनी चाल नहीं छोड़ेंगे। परन्तु उनकी
चलना, उन्हें चाहना होगा पहले हमें। आप चल
हैं, तो प्रभुके वाक्योंपर विश्वास रखिये, वे आपकी
द्रुत गतिसे, आपके मनकी गतिके अनुसार ही
ी तीव्र गतिसे आ रहे हैं, यदि नहीं चले हैं तो
कुछ भूलकर चल पड़िये और फिर देखिये कितनी
ी वे आते हैं। भगवान्में अनन्य प्रेमकी भिक्षा
अनन्यप्रेमी भगवान्से ही माँगनी चाहिये। यदि इच्छा
अभिलाषा सच्ची होगी तो अनन्य प्रेम अवश्य मिलेगा।
अनन्य प्रेमकी आपको अभिलाषा है, यह बड़े ही
सौभाग्य और आनन्दकी बात है। भगवान्में विशुद्ध
और अनन्य प्रेम होनेकी अभिलाषासे बढ़कर कोई
सौभाग्यभरी उत्तम अभिलाषा नहीं है। यह सर्वो
अभिलाषा है। जो मोक्षतककी अभिलाषाको लात मार
देनेके बाद उत्पन्न होती है। भगवत्प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ
है, जो मोक्षकी इच्छाके भी त्यागसे होता है। यह
जिसके परे श्रीभगवान्के सिवा और कुछ भी नहीं है।
बल्कि भगवान् भी उस प्रेमकी डोरमें बँधकर प्रेमीके
नचाये नाचते, बाँधे बँधते, जन्माये जन्मते और मारे
मरते हुए-से प्रतीत होते हैं। विशुद्ध और अनन्य प्रेमकी
महत्ता और कौन कहे, यह प्रेम प्रेमार्णव भगवान्से ही
मिलता है। दूसरेमें किसमें शक्ति है, जो इसका
व्यापार करे।

महापुरुषको आत्मसमर्पण

निश्चय ही अच्छे पुरुष ग्रहण करके छोड़ते नहीं,
यदि ग्रहण वास्तविक दानसे हुआ है तो, वह कभी
छूटता भी नहीं। फिर बदनामी-खुशनामीका तो प्रश्न
ही नहीं रह जाता। यदि हमें किसी महापुरुषने ग्रहण
कर लिया है तो फिर हम यह क्यों सोचें कि किस
कार्यमें उसकी बदनामी-खुशनामी होगी और उसे क्या
करना चाहिये। यदि उसमें इतनी ही सोचनेकी शक्ति
नहीं है तो वह महापुरुष कैसा? अतएव हम-सरीखे
साधारण पुरुषोंका महापुरुषोंपर विश्वास होना ही हमारे
कल्याणके लिये काफी है। परम विश्वाससे ही शरणा-
गति होती है। आत्मसमर्पण होता है। और पूर्ण
समर्पण हो चुकनेपर हमारे लिये चिन्ताका कोई कारण
रह ही नहीं जाता। जबतक चिन्ता है, तबतक समर्पणमें
कमी समझकर उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।
समर्पणकी पूर्णता विश्वास और श्रद्धासे होती है।

गृहस्थका परम धर्म—अतिथि-सत्कार

(लेखक—पं० श्रीअम्बालालजी जानी, बी० ए०)

अतिथिका यथाशक्ति सत्कार करना—प्राचीन कालमें गृहस्थाश्रमका एक आवश्यक अङ्ग, प्रत्येक गृहस्थाश्रमीका प्रथम धर्म माना जाता था। गृहस्थाश्रम बाकी तीन आश्रमों—ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रमका—उपकारक गिना जाता था। अर्थात् इन तीनों आश्रमोंका निर्वाह करनेमें मुख्यतया सहायक माना जाता था। गृहस्थोंद्वारा किये जानेवाले पञ्च-महायज्ञोंमें अतिथि-सत्काररूप मनुष्ययज्ञका प्रधान स्थान था, तथा अतिथिसत्कार न करनेवाला गृहस्थ आदर तथा सम्मानका पात्र नहीं समझा जाता था। मनुष्योंके लिये ही नहीं, अपितु देवताओंके लिये भी अतिथि-सत्कार कर्तव्य था। यमराज-जैसे कृतान्त अथवा कालरूप माने जानेवाले देवता भी अतिथिसत्कारको अत्यन्त आवश्यक समझते हैं तथा अतिथिसत्कार न करनेवालेको जो हानि और दुर्गति सहनी पड़ती है, उसे भी जानते हैं। इस सम्बन्धमें कठोपनिषद्‌की एक छोटी-सी आख्यायिका अत्यन्त भावपूर्ण होनेसे नीचे दी जाती है।

उद्दालक मुनिके नचिकेता नामका एक पुत्र था। मुनिने स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे 'विश्वजित्' नामका यज्ञ आरम्भ किया तथा अपनी सारी सम्पत्ति दान करनेका सङ्कल्प किया। परन्तु नचिकेताने देखा कि दान करनेमें उसके पिता उद्दालक मुनि पूरी कृपणता—सङ्कोच कर रहे हैं। वे ब्राह्मणोंको दानमें जो गौएँ दे रहे हैं, वे अशक्त, निर्बल एवं गर्भधारणके अयोग्य हैं। नचिकेताने सोचा कि इस प्रकारकी निरुपयोगी गौओंका दान करनेवाला मनुष्य पुण्यके बदले पापका भागी होता है और परिणाम-में दुःखमय लोकोंको प्राप्त होता है।

इसलिये पिताको इस बातकी सूचना देनेके लिये उसने कहा—'पिताजी! आप मुझे किसको दान कर रहे हैं?' यह प्रश्न उसने उसी प्रकार तीन बार किया। इसपर उद्दालक मुनिने झुँझलाकर कहा कि 'तुझे मैं यमराजको दान करूँगा।'

इसके बाद पुत्रके आग्रह करनेपर उद्दालकने उसे यमराजको दान कर दिया। तदनुसार वह यमराजके लोकमें चला गया। परन्तु उस समय यमराज घरपर न थे। फलतः वह उनके द्वारपर तीन रात बिना अन्न-जल ग्रहण किये पड़ा रहा। इसके बाद जब यमराज घर आये तो उनकी पत्नीने उनसे कहा कि 'यह अग्निरूप अतिथि ब्राह्मण बालक अपने द्वारपर तीन दिनसे भूखा-प्यासा पड़ा हुआ है, अतः आप उसके पास जाकर उसे सत्कारद्वारा शान्त कीजिये। यदि आप इस अतिथिको सत्कारद्वारा शान्त नहीं करेंगे तो इसके फलरूपमें आपको बहुत भारी पाप लगेगा।'

अतिथि-सत्कारकी अनिवार्यरूपमें आवश्यकता बतलाने-वाला मन्त्र नीचे दिया जाता है—

> आशाप्रतीक्षे संगतꣳ सूनृतां च
> इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
> एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
> यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥
> (कठोपनिषद् १।१।८)

'स्वामिन्! जिस अल्पबुद्धि गृहस्थ पुरुषके घरमें अतिथि साधु-ब्राह्मणरूप अग्नि बिना अन्न-जल ग्रहण किये रह जाता है, उसकी आशा (जिसकी प्राप्ति अनिश्चित है किन्तु जो प्राप्त होनेयोग्य है, ऐसी इष्ट वस्तुकी प्रार्थना), प्रतीक्षा (निश्चित प्राप्त होनेवाली वस्तुकी अपेक्षा), सङ्गत (सत्सङ्गसे प्राप्त होनेवाला फल), सूनृत (सुख पहुँचानेवाली वाणी), इष्ट (अग्निहोत्र एवं यज्ञ आदिसे होनेवाले पुण्यका फल), पूर्त (बावली, कुआँ, तालाब आदि खुदानेसे होनेवाला पुण्य) तथा

मूर्च्छित नारी

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

अभी उस दिन एक बहनसे बातें चल पड़ीं। यह एक कालेजकी प्रिंसिपल हैं। सुधारके वातावरणमें पली हुईं। रूढ़ियोंके अन्यायोंपर इन्होंने काफी लिखा है। जीवनके प्रवेशमें बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर यह चली थीं। समझती थीं कि वह युग बीत गया है जब नारी पुरुषके इशारेपर नाचती थी। आज विश्वके कोलाहल और संघर्षमें वह राजपथपर खड़ी है और यात्रामें पूरा भाग लेगी।

पर अनुभवने शीघ्र स्वप्न भङ्ग कर दिया। अब वह अनुभव करती हैं कि एक अद्भुत-सी चीज़ आजकी नारी बन गयी है। सुबहसे शामतक अपने शृङ्गार और प्रसाधनमें व्यस्त; कालेज जा रही है तो बार-बार साड़ीको देख लेती है; वेणीपर हाथ जाते हैं कि कहीं गाँठ खुल तो नहीं रही है; वैनिटी बैगमेंसे शीशा निकालकर देखती जाती है; रूमालसे चप्पलपर पड़ी गर्द झटकार लेती है; विद्याभिरुचि उतनी नहीं जितनी डिग्रियोंके बलपर 'अच्छा' घर प्राप्त करनेका भाव है; विवाहके पूर्व यह और विवाहके बाद बँगले, कार, सिनेमा, क्लब, पार्टियाँ; या यह न हुआ तो कभी समाप्त न होनेवाली एक आगमें धीरे-धीरे जलना। और कुछ काम नहीं।

यह कहने लगीं—जो सार्वजनिक कार्योंमें थोड़ा बहुत आती भी हैं उनका भी उनमें कोई गम्भीर अनुराग नहीं होता; वहाँ भी वे मनोविनोद ही ढूँढ़ती फिरती हैं और इसका नतीजा यह होता है कि बहुत शीघ्र स्वयं दूसरोंके दिलबहलावकी सामग्री बन जाती हैं।

इसी सिलसिलेमें उन्होंने अपना एक अनुभव मुझे सुनाया। एक प्रसिद्ध देशनेताके अनुरोधपर एक दूसरी सार्वजनिक कार्योंमें आगे बढ़ी हुई बहनके साथ काम करने वह गयीं। बहनोंके साथ भाई भी थे। एक बहनके घर सब विचारार्थ एकत्र हुए। वहाँके दृश्य देखकर इस बहनकी आँखें खुल गयीं और उनका इस प्रकार सार्वजनिक कार्य करनेका उत्साह भङ्ग हो गया। उन्होंने देखा—कोई एक बहनके कंधेपर हाथ रक्खे है, कोई दूसरीके। एकने इनके कंधेपर भी हाथ रख दिया। इन्होंने उसे फटकारा तो औरोंने इन्हें 'असंस्कृत' और 'रूक्ष' समझा।

सबसे बड़ी बात इस मामलेमें यह है कि देश-सेवा या समाज-सेवाके कार्यक्रमपर विचार करते समय जो गम्भीरता, जो वेदना, जो तन्मयता होनी चाहिये वह कहीं दिखायी न देती थी। शिथिल, विकृत, विकारग्रस्त मन और वैसी ही चेष्टाओंका वाहक शरीर लिये जीवनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर दिल्लगी हो रही थी।

तबसे वह बहन वहाँ नहीं जातीं और जब कुछ काम करना होता है तो चुपचाप गाँवोंकी ओर निकल जाती हैं—किसी दीन-दुखियाके पास बैठती हैं; उसके दुःख-दर्दमें शरीक होती हैं। उसकी जो कुछ सेवा सम्भव हुई कर देती हैं। स्त्रियों और बच्चोंके साथ अपनापनका सम्बन्ध स्थापित करनेकी कोशिश करती हैं। अब वह उस आनन्दका अनुभव करती हैं जो सच्ची और सात्त्विक सेवा तथा हार्दिक तन्मयतासे प्राप्त होता है।

इस प्रकारके अनुभव और इस प्रकारकी बातें एकाकी नहीं हैं। वे हमारे समाजकी एक व्यापक मानसिक रुग्णताकी सूचना देती हैं। मैं तो ज्यों-ज्यों नारीकी समस्याओंका अध्ययन करता जाता हूँ मेरी धारणा दृढ़ होती जाती है कि नारी अब जैसी मूर्च्छित है वैसी कभी न थी। प्रश्नके इस रूपने मन अनेक

पशु, पुत्र आदि [illegible] नष्ट हो [illegible] है, वह उस [illegible] कारण [illegible] लेता है।'

मनुभगवान्‌का आदेश

श्रीमनुभगवान् भी 'उपनिषदादिमें उपदिष्ट अतिथि-सत्काररूप कर्म प्रत्येक गृहस्थको यथाशक्ति अवश्य करना ही चाहिये तथा उसे न करनेवाला गृहस्थ पापका भागी अर्थात् दुःखी होता है'—इस प्रकारके विधि-निषेध मनुस्मृतिके गृहस्थधर्म नामक तीसरे अध्यायमें दिखलाते हुए कहते हैं—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥९९॥
शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥१००॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥
× × × ×
अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥११५॥

'गृहस्थके द्वारपर यदि कोई अतिथि अपने-आप (विना बुलाये) आ जाय तो गृहस्थको चाहिये कि वह उसका विधिपूर्वक सत्कार करे, तथा उसे बैठनेके लिये आसन, पीनेके लिये पानी तथा खानेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार अन्न अर्पण करे। अर्थात् दरिद्र गृहस्थको भी चाहिये कि वह अतिथिको निराश न लौटाकर किसी-न-किसी प्रकारसे यथाशक्ति उसका सत्कार ही करे।'

'जो गृहस्थ नित्य शिलोञ्छवृत्तिसे आजीविका चलाता हो (खेतोंमें किसानके द्वारा छोड़े हुए तथा मण्डीमें व्यापारियोंद्वारा छोड़े हुए अन्नके दानोंको बटोरकर उन्हींसे जीवन-निर्वाह करता है, पञ्चाग्निमें हवन करता हो, वह भी यदि [illegible] आये हुए अतिथिका सत्कार न करे तो [illegible] लौटता हुआ उस गृहस्थके पुण्यको हर ले [illegible]'

'यदि किसी पुरुषकी अतिथिको [illegible] देनेकी सामर्थ्य न हो तो उसे चाहिये कि [illegible] बैठनेके लिये घास-फूसकी चटाई, विश्राम [illegible] भूमि तथा पीनेके लिये जल तो अवश्य [illegible] प्रिय एवं हितभरी वाणीसे उसे शान्त एवं प्रसन्न [illegible] इतनी वस्तुओंका तो सत्पुरुषोंके घरमें [illegible] अभाव नहीं होता, ये वस्तुएँ तो उनके यहाँ [illegible] मिल सकती हैं।'

'शास्त्रज्ञानसे शून्य जो गृहस्थ [illegible] भानजी आदि सत्कारके योग्य सौभाग्यवती [illegible] कन्या, रोगी, गर्भिणी स्त्री तथा आगन्तुक [illegible] लेकर सेवकपर्यन्त सभी आश्रितोंको भोजन [illegible] उनसे पहले ही भोजन कर लेता है, वह [illegible] समय इस बातको नहीं जानता कि मरनेके बाद [illegible] इस देहको श्मशानके कुत्ते और गीध नोच-नोचकर खायँगे।'

संतशिरोमणि कबीरने कहा है—

कहै कबीर कमाल कूँ—दो बातें सिख लेय।
कर ईस्वरकी बंदगी, भूखे कूँ अन देय॥

आज हमारी इस आर्यभूमिकी जो दुर्दशा हो रही है उसके मुख्य कारण हैं हमारे गुरुकुलोंका [illegible] तथा अतिथि-सत्कारकी ओरसे हमारी लापरवाही। प्रभो! सबको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराओ, [illegible] प्रार्थना है। ॐ इति शम्।

-पर चलनेवाली । चलना है, इसलिये चलती है । बोझ ढोना ही है, इसलिये ढोती है ।

इस लड़कीका जन्म होता है केवल विवाहके लिये । उसकी और कोई सार्थकता नहीं है । माता उसे पाकर पुलकित नहीं; पिता उसे पाकर प्रसन्न नहीं । जब आ गयी है तब उसे ग्रहण करना ही है इसलिये कुटुम्बमें वह स्वीकृत है । गहने-कपड़ोंमें मगन, बाल-बच्चोंमें मगन, गोत्र-घरमें मगन, सगे-सम्बन्धियोंमें मगन । जो मिला है उसके प्रति कोई सक्रिय विरोधका भाव उसमें नहीं । वह क्या है और कहाँ है, इसकी कोई अनुभूति नहीं । पुरुषके बिना रास्ता भी खोजनेमें असमर्थ, चलती हुई भय, लज्जा, शङ्का और आशङ्कासे त्रस्त; भीत मृगीकी भाँति देखकर, फूँक-फूँककर पाँव रखनेवाली । खिलौना-सी ।

नारी-जीवनके ये दोनों ही दृश्य बड़े दुःखद हैं । समाजमें इतनी सभाएँ हैं; इतने संगठन हैं; हर तरहका काम हो रहा है पर चेतना नहीं आ रही है, उसका कारण यही है कि नारी-जीवन मूर्च्छाके अन्धकार और नशेसे भर गया है । आज नारी अचेत है; क्षुद्र प्रश्नोंमें व्यस्त, क्षुद्र स्वार्थोंमें लिप्त, दूरतक देखनेमें असमर्थ, अपनी संस्कृति और उदार परम्पराओंके प्रति अविश्वस्त ।

मैं मानता हूँ कि हमारी संस्कृतिके लिये बड़ा ही विकट समय यह आया है । हमें भय दूसरोंसे उतना नहीं, जितना अपनेसे है । अपनेसे इसलिये कि हम आत्मविश्वास, आत्मदीप्तिसे शून्य हो गये हैं । हम अपने अन्तरको भूलकर बाहर प्रकाशके लिये भटक रहे हैं । आँखें बंद किये हुए सूर्यके न उगनेका यह उलाहना व्यर्थ है । एक सर्वग्राही नास्तिकतासे हमारा मानस आच्छन्न होता जा रहा है । चारों ओरसे तेज हवाएँ आ रही हैं और इसके बीच हमें अपने दीपककी रक्षा-का कोई उत्साह नहीं रह गया है ।

और, यह सब इसलिये और भी भयानक हो उठा है कि न केवल हमारी राष्ट्रकी शरीर-शक्ति सुप्त है वर प्राणशक्ति भी सो रही है । कौन है यह प्राण-शक्ति ? यही नारी जो युग-युगसे हमारी सभ्यताके आदर्शका दीपक प्रज्वलित रखती आ रही है । जिसने पुरुषके ज्ञानको भक्ति और श्रद्धासे संस्कृत किया है; जिसने स्वार्थोंपर मानवताकी प्रधानताकी घोषणा की है, जिसने मानव-जातिमें समष्टिगत कोमल प्राण और आत्माका सृजन किया है । यही दानमयी, सर्वत्यागमयी, महिमामयी, नारी ।

वही नारी आज मूर्च्छित है । वही नारी आज अचेत है । माता आज दीना बन गयी है । अपने गौरवके प्रति विस्मृत । स्नेहकी धारासे गृहोंका सिञ्चन करने-वाली गृहलक्ष्मी आज विवशा, उपेक्षिता, तिरस्कृता है । अपने दूधसे मानव-जातिकी आशा और भविष्यका रक्षण करनेवाली माता आज भूलुण्ठित है । अपनेको देकर सब कुछ पानेवाली, सर्वमयी अन्नपूर्णा आज रिक्त है । तब कैसे जागरण होगा ?

बाहर दीपक सँजोनेका आज फैशन है । जगमग करती दीपमालिका मनको मुग्ध किये लेती है । प्रकाशसे आँखें चकाचौंध हैं । पर अन्तर सूना, देव-गृहमें बुझती-सी एक लौ, जिसकी ओर किसीका ध्यान नहीं और उपेक्षा तथा स्नेहकी कमीसे जिसकी बाती दम तोड़ना चाहती है । चेतन नारीसे शून्य गृह ऐसा ही होता है ।

मेरे सामने एक चित्र टँगा है । मनोरम प्रान्त, चतुर्दिक् हरे-हरे वृक्ष; डालियाँ हिलती-डुलती; झकोरोंसे कम्पित वृक्ष । एक नारी आँचलसे दीपको बुझनेसे बचाती हुई देव-मन्दिरकी ओर अग्रसर हो रही है । वहाँ उसका ध्यान नहीं है, अपना भी ध्यान नहीं है । दीपक जलता रहे; देवताके मन्दिरको प्रकाशित करनेवाला दीपक ।

यही हमारी सभ्यता और संस्कृतिका चित्र है । यही वास्तविक नारीका चित्र है । कल्पनाओं और सन्निकट

परिस्थितियोंके बीच भी अपने कर्तव्यमें अनुरक्त। अपने आदर्शको बुझने न देनेको सन्नद्ध। जिसने युगोंसे इसी प्रकार हमारी आत्माको जाग्रत् रखा है—प्राणोंकी दीप्ति बुझने नहीं दी है। जिसके अञ्चलतले प्रकाश सुरक्षित है; जिसकी छायामें देवताकी अर्चना आश्वस्त है। आत्मदेवकी पूजा निरन्तर चलती रहे, यह देखकर श्रद्धाके दीपकको बचाती हुई देवताके मार्गपर निरन्तर बढ़नेवाली।

यह सम्पूर्ण नारी-शक्ति आज मूर्च्छित है। यह समस्त शक्ति आज रुद्ध है। हे माताओ, बहनो, बेटियो! तुम अपने गौरवकी परम्पराकी ओर देखो। तुम जगो, तुम्हारे जगे बिना कुछ न बचेगा। तुम्हारे सहयोग बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य असम्भव है। तुम उठो। आज मोहके तुच्छ बन्धनोंको तोड़ दो। आज जीवन तुम्हारी भीख चाहता है; आज सन्तति तुम्हारा मातृत्व चाहती है। आज भाई तुम्हारा बहनापा चाहते हैं। युग-युगसे तुमने स्नेहका जो दान किया है वह क्या आज बंद हो जायगा! तुम्हारी मधुर वाणीसे ग्र मुखरित रहे हैं, क्या वे आज मौन हो जायँगे! तुम्हा मुसकानसे हमारा मानस स्निग्ध होता रहा है, क्या आ उस क्रमका अन्त हो जायगा! तुमको देखकर हमने अपनेको खोजा और पाया है। तब आज तुम अपने 'स्वरूप' को क्यों छोड़ोगी!

माँ, जगो। उठो। तुम बन्धनमुक्त हो, तुम सर्व शक्तिमयी हो! तुममें वह मातृत्व जाग्रत् हो—व गौरव, वह तेज, विश्वके, भारतके प्राण जिसके लिये छट पटा रहे हैं। हे मङ्गलमयी! तुम्हारे मङ्गल-गानसे मानवताका मार्ग मुखरित हो। हे दानमयी! तुम्हारे दानसे हमारा जीवन धन्य हो। हे शक्तिमयी! तुम्हारे तेजसे हम तेजस्वी हों। उन बन्धनोंको टूट जाने दे जिनमें तुमने अपनेको बाँध लिया है और कल्याण मार्गकी यात्रा आरम्भ होने दो। हे रुद्धनारी! तु निर्बन्ध हो; हे मूर्च्छिते! तुम जाग्रत् हो।

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीशङ्करतीर्थ यतिजी महाराज)

[गतांकसे आगे]

वर्ण

भगवान् यास्कने कहा है—'वर्णो वृणोतेः।'—निरुक्त। 'आवृणोति हि स आश्रयम्।'—निरुक्तटीका। 'वृ' धातुसे वर्ण पद सिद्ध होता है। जो आश्रयको आवृत करता है, ढँक रखता है, वह 'वर्ण' है। सत्त्व-रज-तम—ये तीन गुण आत्माकी शक्तियाँ हैं। ये आत्माको आश्रय करके रहते हैं, आत्मा इन तीनों गुणोंका आश्रय है। परन्तु ये गुणत्रय स्वाश्रय आत्माको, आत्माके यथार्थरूपको ढँके रखते हैं। विज्ञानभिक्षुने कहा है—'तेष्वत्र शास्त्रे श्रुत्यादौ च गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात्, पुरुषपशुबन्धक त्रिगुणात्मकमहदादिरज्जु-निर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते।'—साङ्ख्यप्रवचनभाष्य। अर्थात् 'भोक्ता पुरुष या आत्माके उपकरण (भोगसाधन), अथवा पुरुषरूपी पशुको बाँधनेवाले त्रिगुणात्मिका महदादि रज्जुके निर्माता स रज, तम—इन तीन द्रव्योंसे आत्माको बाँधनेवाले महत् अहङ्कारादिका परिणाम होता है, अतएव साङ्ख्य और वेदान्त शास्त्रोंमें सत्त्वादि पदार्थत्रयकी 'गुण' संज्ञा दी गयी है सत्त्वादि गुण या रज्जुत्रयके द्वारा विश्वपिता परमेश्वर जगत् धारण किये हुए है, अखिल जगत्को बाँधनेवाली परमेश्वरी सत्त्व, रज और तम—गुणत्रयात्मिका है।

बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है—'एष सेतुर्विध एषां लोकानामसंभेदाय।' (४।४।२२)—इसके भाष्य भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने कहा है—'एष सेतुः; किंविशि इत्याह—विधरणो वर्णाश्रमादिव्यवस्थाया विधारयिता अर्थात् भूलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त अखिल लोक मर्यादामें अन्तर न हो, व्यवस्थामें विपर्यय न हो, को नियमका उल्लङ्घन न करे, इसी कारण सर्ववशी—ब्रह्मादि भी ईशिता—सर्वाधिपति प... के समान अखि

धारण किया है, वर्णाश्रमादि व्यवस्थाकी रक्षा की है।

नार्थक 'श्रि' धातुके आगे 'उन्' प्रत्यय लगानेसे सिद्ध होता है। परमेश्वरने सत्त्व, रज और तम— गुणोंके द्वारा अखिल ब्रह्माण्डको नियमित कर रक्खा कारण सत्त्वादि शक्तित्रयको 'गुण' नाम दिया गया श्रम-धर्म, सत्त्वादि गुणत्रयके ही कार्य—परिणाम हैं। ग किये रखता है, उसे 'धर्म' कहते हैं। वर्णाश्रम- प्राकृतिक 'धर्म' है, यह अखिल जगत्‌की प्राकृतिक रज्जु है। भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यने इसी कारण :—'विधरणो वर्णाश्रमादिव्यवस्थाया विधारयिता।' श्वर वर्णाश्रमादि व्यवस्थाके धारण करनेवाले हैं।'

यह त्रिगुणात्मिका परमेशशक्ति माया ही 'वर्ण' है। श्वतरोपनिषद्‌में कहा गया है—'य एको वर्णो बहुधा योगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।' (४। १) वेदसंहितामें कहा है, 'रूपं रूपं प्रतिरूप बभूव तदस्य प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य :ः शता दश॥' (चतुर्थ अष्टक ३। ४। ४७) अर्थात् मात्मा नाना प्रकारकी शक्तियोंके संयोगसे नाना वर्ण धारण ते हैं, अनेकों रूपोंमें प्रतीयमान होते हैं। अर्थात् एक ब्रह्म , एकत्वकी (Monistic All-Pervading Essence) विरोधिनी आत्मभूता शक्ति या मायाके द्वारा अनेकों रूपोंमें, नेकों नामसे विराजमान हो रहे हैं, नाना प्रकारके विचित्र जगत्‌के आकारोंको धारण कर रहे हैं।

अतएव जो लोग, भगवान् यास्कके 'वर्णो वृणोतेः' इस पदका अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'जिसके जिस प्रकारके *गुण और कर्म हों, उसे तदनुकूल अधिकार देना उचित है,* ब्राह्मणादि चतुर्विध वर्णभेद गुण और कर्मके भेदसे ही ... द्वारा निर्मित है'—वे

वे सम्भवतः अपने ...

ज्ञान ...

मारग सोइ जा कहुँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभरत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधनहारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥

अर्थात् कलिमें पापने समस्त धर्मोंको ग्रस लिया, सद्‌ग्रन्थोंका प्रचार बंद हो गया। पाखण्डी लोगोंने अपने-अपने मनकी कल्पनाके अनुसार अनेकों पन्थ चला दिये। कलियुगमें न तो वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका धर्म है और न चार आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ही रहे हैं। सारे नर-नारी वेदविरोधी हो रहे हैं। ब्राह्मण वेद बेचनेवाले और राजा प्रजाको हड़प जानेवाले हैं। वेदकी आज्ञा, वेदकी मर्यादाको कोई नहीं मानता। जिसको जो अच्छा लगता है, वह उसी मार्गमें चलता है। और पण्डित वही है जो खूब गाल बजाता है। जो मिथ्या बोलता है और अपनी खूब प्रशंसा करता है, उसे ही सब लोग संत कहते हैं। जो पराया धन हरण कर सके, वही चतुर है, जो दम्भ करता है, लोगोंको दिखलानेके लिये कर्म करता है, वह बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलता है, हँसी-मज़ाक करना जानता है, कलियुगमें उसी मनुष्यको सब गुणवान् कहते हैं।

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूजित कलिजुग माहिं॥
जो अपकारी चार तिन्हकर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

जो आचारको नहीं मानता, जिसने वेदमार्गका ... कलियुगमें ज्ञानी और वैरागी है।

बरनाश्रम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥

श्रुति संमत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥

बहुदाम सँवारहिं धाम जती। बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥

अर्थात् शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानका उपदेश करते हैं, तथा गलेमें जनेऊ डालकर कुदान ग्रहण करते हैं। सब मनुष्य काम, क्रोध, लोभमें रत होकर देव, द्विज, वेद और संतोंके विरोधी हो गये हैं। शूद्र ब्राह्मणोंसे विवाद करते हैं और कहते हैं कि 'बतलाओ तो हम तुमसे किस बातमें कम हैं? अरे भाई, ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'—जो ब्रह्मको जानता है, वही ब्राह्मण है और जात-पाँतमें है ही क्या? कर्मके अनुसार वर्ण है, जन्मके अनुसार वर्ण नहीं—यह सब कह करके उन्हें डाँटकर आँखें दिखलाते हैं। वर्णाश्रम—तेली, कुम्हार, चाण्डाल, व्याध, कोल, कलवार आदि जब स्त्री मर जाती है और घरपर खाने पीनेका कोई साधन नहीं दिखायी देता, तब सिर मुँड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। ये सब ब्राह्मणोंके द्वारा अपनेको पुजवाते हैं और अपने ही हाथों अपना इहलोक तथा परलोक दोनों नष्ट करते हैं। तथा ब्राह्मण भी निरक्षर, लोभी, कामी, आचारसे हीन, मूर्ख और नीची जातिकी व्यभिचारिणी स्त्रियोंके स्वामी बन बैठे हैं।

वेदसम्मत जो भक्तिमार्ग वैराग्य और ज्ञानसे युक्त है, उस मार्गसे लोग नहीं चलते, बल्कि अज्ञानवश अनेकों नये-नये पन्थोंकी कल्पना करते हैं, इसी कारण बहुत दुःख भी पाते हैं।

घर और धनका त्याग करनेवाले यति अर्थात् संन्यासी—दाम (धन-दौलत) और धाम (घर) की रक्षा करते हैं। विषयोंने उनके समस्त वैराग्यको हर लिया है। जो तपस्वी हैं। वे धनी बन रहे हैं और गृहस्थ दरिद्र हो रहे हैं। हे तात! कलियुगका कौतुक और नहीं कहा जाता।

धन्य हैं वाल्मीकिके अवतार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी। आपका वर्णन अक्षरशः सत्य है।

भगवान् यास्क कहते हैं—'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।'—निरुक्त। महर्षि शौनक कहते हैं—'न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रः'—बृहद्देवता। अर्थात् जो ऋषि, तपस्वी नहीं हैं, वेदका यथार्थ स्वरूप—वेदकी सम्यक् उपलब्धि, वेदका प्रत्यक्ष, वेदका पूर्ण यथार्थ ज्ञान उन्हें नहीं हो सकता। निरुक्तकार अन्यत्र कहते हैं—'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्'—निरुक्त अर्थात् जिन्होंने गुरुपरम्परागत उपदेशको प्राप्त किया, उनमें जो भूयोविद्य—'बहुश्रुत हैं, बहुविद्या-पारदर्शी हैं, वेदार्थके परिज्ञानमें प्रशस्त हैं।' ऐसे ही पुरुषोंको वेदोंका उपदेष्टा बनाना चाहिये। परन्तु आजकल तो दो ही ... वर्षोंमें वेदके उपदेष्टा उत्पन्न हो जाते हैं, तथा जहाँ-तहाँ वेद विद्यालय खोलकर चाण्डालतकको वेदकी शिक्षा देने लगते हैं।

महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलिका उपदेश है—

तपः श्रुतं योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

—महाभाष्य 'मन्' पा० २-२-६ सूत्र

अर्थात् तपस्या, श्रुत—साङ्गोपाङ्गवेदविज्ञान, एवं योनि—ब्राह्मणके औरससे, ब्राह्मणीके गर्भसे जन्म, ये ब्राह्मणकारक हैं। जो तपस्या और वेद-वेदाङ्ग आदि अध्ययनसे हीन हैं, वे केवल जातिब्राह्मण हैं।

भगवान् पतञ्जलिके इस महान् उपदेशको अग्राह्य कर आधुनिक सम्प्रदायोंके संचालक कहते हैं—'जो विद्या उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं, ब्राह्मणेतर जातिमें जन्म लेनेपर भी उन्हें ब्राह्मण कहना उचित है।' परन्तु गुणभेदसे जातिभेद मानना असम्भव है। अपने गुणसे मनुष्य सिविलियन हो सकता है, गवर्नर हो सकता है, लार्ड हो सकता है, परन्तु क्या किसी व्यवस्थासे हिन्दू अंग्रेज हो सकता है? Native Christian तक तो हो सकता है, परन्तु अंग्रेज नहीं हो सकता। बीजकी शुद्धिसे जातिकी उन्नति होती है, बीजकी अशुद्धिसे जाति नष्ट होती है। कर्मदोषसे पतित होनेपर शूद्रके समान हो सकता है, परन्तु शूद्र नहीं हो जाता। बहुत जन्मोंके सुसंस्कृत पवित्र प्रतिभा (संस्कार) के हुए बिना कोई यह समझ नहीं सकता कि सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके तारतम्यके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके भाव स्वर्गादि प्रत्येक लोकमें, प्रत्येक कालमें प्रत्येक सृष्ट पदार्थोंमें प्रवर्तित होते रहते हैं।●

● श्री रिचमण्ड कहते हैं—Just as the soul or astral in man is what makes the man so the ...

'आर्य शास्त्र प्रदीप' ग्रन्थके लेखक ब्रह्मनिष्ठ महात्मा स्वामिवर देवदत्तानन्द सरस्वतीजी महाराजने कहा है—'वर्ण' शब्दका अनेकों अर्थोंमें प्रयोग हो सकता है, इसकी निरुक्ति भी अनेकों प्रकारसे की जाती है। क्र्यादिगणके वरणार्थक 'वृ' धातुके उत्तर 'न' प्रत्यय करके ('कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित्'—उणा० ३। १०), अथवा चुरादिगणके प्रेरणार्थक 'वर्ण्' धातुके बाद 'अच्' प्रत्यय करके या चुरादिगणके वर्ण क्रियाविस्तार और गुणवचनार्थक 'वर्ण' धातुके आगे 'घञ्' प्रत्यय करके 'वर्ण' पद निष्पन्न होता है।" निरुक्तकार भगवान् यास्कने स्वादिगणके 'वृञ्' धातुसे निष्पन्न 'वर्ण' शब्दकी ही निरुक्ति की है। जो वृत होता है—रमणीयरूपमें निर्वाचित या प्रार्थित होता है 'वर्ण' शब्द उसका अथवा जो वृत होते हैं, उनका वाचक होता है। गुण और कर्म देखकर जो यथायोग्य वृत होते हैं, वे 'वर्ण' हैं। 'वर्ण' शब्दकी इस प्रकारकी निरुक्तिसे इसके स्वरूपका ठीक प्रकाश नहीं होता। मनुष्यने गुण-कर्म देखकर किसीको ब्राह्मण, किसीको क्षत्रिय, किसीको वैश्य, तथा किसीको शूद्ररूपमें निर्वाचित किया है और करेगा—'वर्ण' शब्दके इस प्रकारके अर्थसे, 'वर्ण' पदार्थके तत्त्वनिरूपणमें कोई लाभ नहीं होता।* वस्तुके गुण और कर्मके अनुसार ही वह वृत होता है, वरणीय (कमनीय या प्रार्थित) होता है, यह ठीक है; परन्तु जिस निमित्तसे 'वर्ण' शब्द ब्राह्मणादिका वाचक बना है, 'वर्ण' शब्दकी उक्त व्युत्पत्तिसे यह स्पष्ट और विशुद्धरूपमें समझा नहीं जा सकता। जो वरणीयरूपमें निश्चित होता है, जिसके द्वारा प्रयोजन सिद्ध होता है, जो सुखजनक होता है, सब उसीकी इच्छा करते हैं, वही वस्तु सबको प्रिय होती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये परस्पर एक दूसरेके द्वारा वरणीय हैं; इनमेंसे एकके अभावमें दूसरेका काम नहीं चल सकता, एकके अभावसे दूसरेका तिरोभाव हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये यथाक्रम सत्त्वादि गुणत्रयके कार्य हैं; सत्त्वादि गुणत्रय परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा करते हैं और परस्पर एक दूसरेकी सहायतासे प्रकट होते हैं, इनमें एकके अभावमें दूसरेकी क्रियाशीलता नहीं रहती। गुणत्रय एक दूसरेके आश्रित रहते हैं; अतएव ये परस्पर एक दूसरेके द्वारा वरणीय हैं, ये परस्पर एक दूसरेसे वर्णीभूत होते हैं, व्यक्त अवस्थाको प्राप्त (mainfested) होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जब गुणत्रयके कार्य हैं, तब ये भी एक दूसरेके आश्रित होंगे—यह सहज ही समझा जा सकता है। जो प्रकाशित होता है, वर्णीभूत होता है, वह 'वर्ण' है। जो स्तुत होता है, वर्णित होता है वह वर्ण है। जिसके द्वारा कोई स्तुत या वर्णित होता है, वह वर्ण है। हम पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ उपलब्ध करते हैं, वे गुणत्रयके व्यक्त रूप हैं; अतएव वे भिन्न भिन्न वर्ण हैं, वे अवर्णके गुणविशेषके योगसे निर्मित विशेष विशेष वर्ण हैं। एकप्रकारसे वर्ण ही जगत् है।

चौंसठ वर्णोंका समूह ही त्रयीलक्षण ब्रह्म या वेदराशि है। ये ही एक दूसरेके साथ व्यवस्थित होकर, उदात्तादि स्वरोंसे शुद्ध होकर, गायत्री आदि छन्दोंसे विशिष्ट होकर, ऋक् यजुः और साम संज्ञाको प्राप्त होते हैं। 'एते पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः'—महर्षि कात्यायनकृत शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्यका यह वाक्य स्मरण करो। अकारादि वर्णसमूहोंका 'वर्ण' नाम होनेका कारण क्या है, इसका भी विचार करो। एक प्राणवायु अनुप्रदानादि गुणविशेषके योगसे वर्णीभूत होता है, विशेष-विशेष वर्णत्वको प्राप्त होता है, एक श्रुति कर्मके योगसे अनेकों रूपोंको प्राप्त होती है—'प्रयोक्तुरीहा गुणसन्निपाते वर्णीभवन् गुणविशेषयोगात्। एकश्रुतिः कर्मणाऽऽप्नोति बह्वीः'—ऋग्वेद प्रातिशाख्य। वेदज्ञ, वेदप्राण महर्षि शौनकके इस अमूल्य उपदेशका तात्पर्य समझनेका प्रयत्न करो।

शब्द या वेदसे जगत्की सृष्टि होती है, अतएव शब्द या वेदसे ही ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टयकी सृष्टि होती है। वेद और ब्रह्म एक पदार्थ हैं। अतएव परमेश्वरके विराट्स्वरूपसे चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि होती है। ब्राह्मणादि वर्ण गायत्र्यादि छन्दोंसे उत्पन्न होते हैं। गायत्री ही ब्राह्मण है—'ब्रह्म वै गायत्री' ('ताण्ड्यमहाब्राह्मण')—इत्यादि श्रुतियोंसे यह प्रमाणित होता है कि चातुर्वर्ण्य मनुष्यकृत नहीं है।

---

what gives character to the compound. *Religion of the Stars,* page 99. अर्थात् मनुष्यका लिङ्गशरीर ही जिस प्रकार व्यक्तिगत अस्तित्वकी अनेकताका कारण है, उसी प्रकार अमूर्त जड पदार्थके लिङ्गशरीर ही मूर्त जड पदार्थको विभिन्न धर्मोंसे आक्रान्त करते हैं, पृथक्-पृथक् गुणोंसे विशिष्ट कर देते हैं।

* जन्मके समय बालकके किसी भी गुणके ठीक न होनेके कारण, उसके सम्बन्धमें किसी भी जातिका निरूपण नहीं किया जाता। अतएव उन विभिन्न जातिके विभिन्न प्रकारकी जातकर्मादि क्रियाओंका अनुष्ठान कैसे किया जायगा? एक ही व्यक्तिके कुछ समय अध्यापन, कुछ समय नौकरी, कुछ समय वाणिज्य, कुछ समय युद्ध करनेपर उसे कभी ब्राह्मण, कभी शूद्र, कभी क्षत्रिय कहना पड़ेगा। इससे समाज शृङ्खला कैसे रहेगी?

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० [illegible])

[गताङ्कसे आगे]

(१०)

(पौषके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) सङ्कष्टचतुर्थी (भविष्योत्तर)—पौष कृष्ण (चन्द्रोदयव्यापिनी पूर्वविद्धा) चतुर्थीको गणपति स्मरणपूर्वक प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करनेके पश्चात् 'मम सकलाभीष्टसिद्धये चतुर्थीव्रतं करिष्ये' इस प्रकार संकल्प करके दिनभर मौन रहे। रात्रिमें पुनः स्नान करके गणपति-पूजनके पश्चात् चन्द्रोदयके बाद चन्द्रमाका पूजन करके अर्घ्य दे, फिर भोजन करे।

(२) अष्टकाश्राद्ध (आश्वलायन)—पौष कृष्ण अपराह्णव्यापिनी अष्टमीको शास्त्रोक्त विधिसे अष्टकाश्राद्ध करके ब्राह्मणभोजन करानेसे उत्तम फल मिलता है और न कराये तो दोष लगता है।

(३) रुक्मिणीअष्टमी (व्रतकौस्तुभ)—पौष कृष्ण अष्टमीको कृष्ण, रुक्मिणी और प्रद्युम्नकी स्वर्णमयी मूर्तियोंका गन्धयुक्त गन्धादिसे पूजन कर उत्तम पदार्थ अर्पण करे और शक्ति हो तो सुवासिनी—अच्छे वस्त्रोंवाली (सौभाग्यवती) आठ स्त्रियोंको भोजन करवाकर दक्षिणा दे तो रुक्मिणीजीकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(४) कृष्णैकादशी (पद्मपुराण)—पौष कृष्ण एकादशीको उपवास करके भगवान्‌का यथाविधि पूजन करे। यह सफला एकादशी है; अतः नैवेद्यमें केला, बिजौरा, जंभीरी, नारियल, दाडिम (अनार) और पूगफलादि अर्पण करके रात्रिमें जागरण करे। प्राचीन कालमें चम्पावतीके माहिष्मान् राजाका लुम्पक नामक पुत्र कुमार्गी होकर धन-पुत्रादिसे हीन हो गया था। कई वर्ष कष्ट भोगनेके बाद एक रोज (एकादशीको) उसने फल बीनकर किसी पुराने पीपलकी जड़ोंमें रख दिये और असमर्थ होनेके कारण खाये नहीं, रातभर जागता रहा। इस प्रकार अनायास किये गये व्रतसे भी भगवान् प्रसन्न हुए और उसे उसके पितासे आदरपूर्वक चम्पावतीका राज्य प्रदान करवा दिया।

([illegible]) सुरूपद्वादशी (व्रतार्क)—पौष कृष्ण पुष्ययुक्त [illegible] दिन रात्रिमें जितेन्द्रिय होकर विष्णुका ध्यान करे और [illegible] उतारे सुखाते हुए [illegible] [illegible]की १०८ आहुतिका हवन करे। और द्वादशीको नदी या तालाब आदिपर स्नान करके सुवर्णमयी मूर्तिको तिलपूर्ण पात्रमें रखकर गन्ध[illegible] करे और तिल, फल आदिका भोग लगाकर 'नमः [illegible] विरूपाक्ष नमोऽस्तु ते' से अर्घ्य दे और विप्र[illegible] भोजन करवाकर उक्त मूर्ति उसे देवे।

शुक्लपक्ष

(१) आरोग्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—[illegible] द्वितीयाको गोशृङ्गोदक (गायोंके सींगोंको धोक[illegible] जल) से स्नान करके सफेद वस्त्र धारण कर सू[illegible] बालेन्दु (द्वितीयाके चन्द्रमा) का गन्धादिसे पूजन [illegible] चन्द्रमा अस्त न हो तबतक गुड़, दही, परमान्न ([illegible] लवणसे ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करके केवल गोरस ([illegible] जमीनपर शयन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल द्वि[illegible] वर्षतक चन्द्रपूजन और भोजनादि करके [illegible] (मार्गशीर्ष) में बालेन्दुका यथापूर्व पूजन करे [illegible] (ईखके रस) का घड़ा, सोना और वस्त्र ब्राह्म[illegible] भोजन करे तो रोगोंकी निवृत्ति और आरोग्यत[illegible] होती है और सब प्रकारके सुख मिलते हैं।

(२) विधिपूजा (ब्रह्मपुराण)—पौष शुक्ल [illegible] गुरुवार हो तो प्रातःस्नानादिके अनन्तर यथाविधि (ब्रह्माजीका पूजन) करके नक्तव्रत (रात्रिमें भोजन) करे तो उत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(३) उभयसप्तमी (आदित्यपुराण)—यह व्र[illegible] सप्तमीको उपवास करके तीनों सन्धियों (प्रातः, मध्[illegible] सायंकाल) में गन्ध, पुष्प और घृतादिसे सूर्यका पू[illegible] और क्षारसिद्ध मोदक निवेदन करे (पकते हुए घी[illegible] डालकर उसे निकाल दे और फिर आटेको सेंककर बनावे)। ब्राह्मणोंको भोजन कराये, गोदान करे और [illegible] सब कामना सफल होती है।

(४) मार्तण्डसप्तमी (कृत्यकल्पतरु)—पौष शुक्ल सप्तमीको मार्तण्ड (सूर्य) का पूजन करके गोदान करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करे तो उत्तम फल प्राप्त होता है।

(५) महाभद्रा (कृत्यकल्पतरु)—पौष शुक्ल अष्टमीको बुधवार हो तो उस दिनके स्नान दानादिसे शिवजी प्रसन्न होते हैं।

(६) जयन्ती अष्टमी (निर्णयामृत)-उसी (पौष शुक्लाष्टमी बुधके) दिन भरणी हो तो वह 'जयन्ती' होती है। उस दिन स्नान, दान, जप, होम, देवर्षिपितृतर्पण करनेसे तथा ब्राह्मण-भोजन करानेसे कोटिगुना फल होता है।

(७) पुत्रैकादशी (ब्रह्मवैवर्त)—पौष शुक्ल एकादशी 'पुत्रदा' है। इसके उपवाससे पुत्रकी प्राप्ति होती है। प्राचीन कालमें भद्रावती नगरीके राजा वसुकेतुके पुत्र न होनेसे राजा, रानी दोनों दुखी थे। उनके मनमें यह विचार उठा कि 'पुत्रके बिना गज, तुरग, रथ, राज्य, नौकर-चाकर और सम्पत्ति—सब निरर्थक है; अतः पुत्रप्राप्तिका उपाय करना चाहिये।' यह सोचकर राजा एक ऐसे गहन वनमें चला गया जिसमें वड़, पीपल, बेल, जामुन, केले, कदम्ब, टेंटू, लीची और आम आदि भरे हुए थे; जहाँ सिंह, व्याघ्र, वराह, शश, मृग, शृगाल और चार दाँतोंके हाथी आदि घूम रहे थे; शुक, सारिका, कबूतर, पपीहा और उल्लू आदि बोल रहे थे और साँप, बिच्छू, गोह और कीट-पतंगादि डरा रहे थे। ऐसे सुहावने और डरावने जङ्गलमें एक अत्यन्त सुन्दर, मनोहर और मधुरतम जलपूर्ण सरोवरके तटपर मुनिलोग सत्कर्मोंका अनुष्ठान कर रहे थे। उनको देखकर राजाने अपना अभीष्ट निवेदन किया। तब महात्माओंने बतलाया कि 'आज पुत्रदा एकादशी है, इसका उपवास करो तो पुत्र प्राप्त हो सकता है।' राजाने ऐसा ही किया और भगवत्-कृपासे उसके यहाँ सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ।

(८) सुजन्मद्वादशी (वीरमित्रोदय)—यदि पौष शुक्ल द्वादशीको ज्येष्ठा नक्षत्र हो तो उस दिन भगवान्‌का पूजन करके घीका दान करे, गोमूत्र पीकर उपवास करे और आगे माघादि महीनोंमें नियत वस्तुका दान और भोजन करके उपवास करे। जैसे माघमें चावलदान, जलप्राशन; फाल्गुनमें जौदान, घृतभोजन; चैत्रमें सुवर्णदान, सुपक्व शाकभोजन; वैशाखमें जौदान, दूर्वाभोजन; ज्येष्ठमें जलदान, दधिभोजन; आषाढ़में सोना, अन्न और जलदान, भातभोजन; श्रावणमें छत्रदान, जौभोजन; भादोंमें दूधदान, तिलभोजन; आश्विनमें अन्नदान, सूर्यकिरणोंसे तपाये हुए जलका भोजन; कार्तिकमें गुड़-खाण्ड-दान, दूधभोजन और मार्गशीर्षमें मलयागिरि-चन्दनका दान और दूधका भोजन कर उपवास करे तो कुलमें प्रधानता और घरमें सम्पत्ति होती है।

(९) घृतदान (कृत्यतत्त्वार्णव)-पौष शुक्ल १३ को भगवान्‌का पूजन करके ब्राह्मणको घीका दान दे तो सब कामनाएँ सिद्ध होती हैं।

(१०) विरूपाक्षपूजन (हेमाद्रि)—पौष शुक्ल १४को विरूपाक्षका पूजन करके तदनुकूल उपकरण महोक्ष (बड़ा बैल—साँड आदि) का दान करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल चतुर्दशीको वर्षभर करनेसे राक्षसादिका भय नहीं होता और घरमें सुख, शान्ति एवं समृद्धिकी वृद्धि होती है।

(११) ईशानव्रत (कालिकापुराण)—पौष शुक्ल चतुर्दशीका व्रत करके पुष्ययुक्त पूर्णमासीको सुश्वेत वस्त्रसे आच्छादित की हुई वेदीपर चारों दिशाओंमें अक्षतोंकी चार ढेरियाँ बनाये। एक वैसी ही मध्यमें बनाये। उनपर पूर्वमें 'विष्णु', दक्षिणमें 'सूर्य', पश्चिममें 'ब्रह्मा', और उत्तरमें 'रुद्र' को स्थापित करे और सबके मध्यमें 'ईशान' की स्थापना करके उत्तम प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और कर्पूरादिसे नीराजन (आरती) करके गोमिथुन (एक गौ और एक बैल) का दान करे। ब्राह्मणोंको भोजन कराये और स्वयं गोमूत्र पीकर उपवास करे। इस प्रकार पाँच वर्ष करनेसे यह व्रत पूर्ण होता है। गोदानमें यह विशेषता है कि पहले वर्षमें एक गौ, एक बैल; दूसरे वर्षमें दो गौ, एक बैल; तीसरेमें तीन गौ, एक बैल; चौथेमें चार गौ, एक बैल और पाँचवेंमें पाँच गौ और एक बैल दान करे। बैल ब्रह्मचारी या साँड हो—खेती आदिमें जोता हुआ न हो तो इस व्रतके करनेसे सब प्रकारका सुख होता है और लक्ष्मी बढ़ती है।

(११)

(माघके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) माघस्नान (नानापुराणादि)—माघ, कार्तिक और वैशाख महापुनीत महीने माने गये हैं। इनमें तीर्थस्थानादिपर या स्वदेशमें रहकर नित्यप्रति स्नान-दानादि करनेसे अनन्त

: होता है और सब प्रकारके पाप-ताप तथा दुःख दूर हो ते हैं।

(२) वक्रतुण्डचतुर्थी (भविष्योत्तर)—माघ कृष्ण न्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थीको वक्रतुण्डचतुर्थी कहते हैं। इ व्रतका आरम्भ 'गणपतिप्रीतये सङ्कष्टचतुर्थीव्रतं रिष्ये'—इस प्रकार संकल्प करके करे। सायङ्कालमें णेशजीका और चन्द्रोदयके समय चन्द्रका पूजन करके अर्घ्य। इस व्रतको माघसे आरम्भ करके हर महीनेमें करे ो संकटका नाश हो जाता है।

(३) सङ्कष्टचतुर्थी (व्रतोत्सव)—यह प्रशस्त व्रत उपर्युक्त वक्रतुण्डचतुर्थीव्रतके समान किया जाता है।

(४) सर्वाप्तिसप्तमी (हेमाद्रि)—माघ कृष्ण सप्तमीको स्नान-दानादि करनेसे इच्छानुसार फल मिलता है।

(५) कृष्णैकादशी (हेमाद्रि)—माघ कृष्ण एकादशीको प्रातःस्नान करके 'श्रीकृष्ण' इस मन्त्रके ८, २८, १०८ या १००० जप करे। उपवास रक्खे। रात्रिमें जागरण और हवन करे। भगवान्‌का पूजन करे। और 'सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुषपूर्वज। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं लक्ष्म्या सह जगत्पते॥' —इस मन्त्रसे अर्घ्य दे। यह 'षट्तिला' एकादशी है। इसमें (१) तिलोंके जलसे स्नान करे, (२) पिसे हुए तिलोंका उबटन करे, (३) तिलोंका हवन करे, (४) तिल मिला हुआ जल पीवे, (५) तिलोंका दान करे और (६) तिलोंके बने (मोदक, बर्फी या तिलसकरी आदि) का भोजन करे तो पापोंका नाश हो जाता है। इस व्रतकी कथा संक्षेपमें इस प्रकार है कि प्राचीन कालमें भगवान्‌की परम भक्त एक ब्राह्मणी थी; वह भगवत्सम्बन्धी उपवासव्रत रखती, भगवान्‌की विधिवत् पूजा करती और नित्य निरन्तर भगवान्‌का स्मरण किया करती थी। कठिन व्रत करने और पतिसेवा एवं घरकी सम्हाल रखने आदिसे उसका शरीर सूख गया था। किन्तु अपने जीवनमें उसने दानके निमित्त किसीको एक दाना भी नहीं दिया था। एक दिन स्वयं भगवान्‌ने कपालीका रूप धारण कर उससे भिक्षाकी याचना की, परन्तु उसने उन्हें भी कुछ नहीं दिया। अन्तमें कपालीके ज्यादा बड़बड़ानेसे उसने मिट्टीका एक बहुत बड़ा ढेला दिया तो भगवान् उसीसे प्रसन्न हो गये और ब्राह्मणीको वैकुण्ठका वास दिया। परन्तु वहाँ मिट्टीके परम मनोहर मकानोंके सिवा और कुछ भी नहीं था। तब उसने भगवान्‌की आज्ञासे षट्तिलाका व्रत किया और उसके प्रभावसे उसको सब कुछ प्राप्त हुआ।

(६) माघी अमा (वायु, देवी, ब्रह्म, हारीत, व्यासादि)—अमा और पूर्णिमा ये दोनों पर्वतिथियाँ हैं। इस दिन पृथ्वीके किसी-न किसी भागमें सूर्य या चन्द्रमाका ग्रहण हो ही जाता है। इससे धर्मप्राण हिंदू इस दिन दान-पुण्यादिके सिवा अन्य काम नहीं करते।…हिमपिण्ड चन्द्रका आधा भाग काला और आधा सफेद है। सफेदपर सूर्यकिरण पड़नेसे वह प्रकाशित होता है।……जब चन्द्रमा क्षीण होकर दीखता नहीं तो उस तिथिको अमा कहते हैं और पूर्ण चन्द्रसे पूर्णिमा होती है।……जिस अमामें चन्द्रकी कुछ सफेदी हो, वह 'सिनीवाली'— और कोयलके शब्द करने जितनी हो वह 'कुहू' होती है। इसी प्रकार पूर्णचन्द्रकी पूर्णिमा 'राका' और कलामात्र कमकी 'अनुमती' होती है। सिनीवाली और कुहूके भेदसे अमा तथा राका और अनुमतीके भेदसे पूर्णिमा दोनों दो प्रकारकी हैं।……चन्द्रमा सूर्यसे नीचा है; अतः पूर्णिमाको इसका काला भाग और अमाको सफेद भाग सूर्यकी तरफ रहनेसे पृथ्वीपर किये गये दान, पुण्य और भोजनादिके बाष्पभूत अंश सूर्यकी किरणोंसे आकर्षित होकर चन्द्रमण्डलमें (जहाँ पितृगण रहते हैं) चले जाते हैं। इसी कारण अमाको पितृश्राद्धादि करनेका विधान किया गया है।………अमाके दिन चन्द्रका प्रकाशमान भाग सूर्यके आगे आ जानेसे सूर्यग्रहण और पूर्णिमाको नीचे गये हुए सूर्यसे उठी हुई पृथ्वीकी छाया चन्द्रके सामने आ जानेसे चन्द्रग्रहण होता है।…'लोकान्तरमें कहीं भी ग्रहण हुआ होगा'—इस सम्भावनासे धर्मज्ञ मनुष्य अमा और पूर्णिमाको स्नान दानादि पुण्य कर्म किया करते हैं।…ग्रहण तब होता है जब सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी (तीनों) एक सीधमें आते हैं; अन्यथा नहीं होता।…व्रतादिमें अमावस्या परविद्धा (प्रतिपदायुक्त) लेनी चाहिये। चतुर्दशीयुक्त यानी पूर्वविद्धा अमा निषिद्ध मानी गयी है।…'पूर्वाह्णो वै देवानाम्, मध्याह्नो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणाम्' के अनुसार दिनको (लगभग १०-१० घड़ीके) तीन भागोंमें विभाजित मानकर जप, ध्यान और उपासना आदिके कार्य प्रथम तृतीयांश (लगभग १० घड़ी दिन चढ़नेतक) करने चाहिये। संस्कारादि व आयुर्वेदविचारादिवालोंके मतसे 'मनुष्यकार्य' दूसरे तृतीयांश (मध्य दिनकी लगभग १० घड़ी) में करने चाहिये और श्राद्ध, तर्पण एवं इष्टकर्मादि 'पितृकार्य'

फल होता है । यदि माघमें मलमास हो और स्नान निष्काम-भावसे केवल धर्म-दृष्टि रखकर किया जाता हो तो उसकी पूर्ति ३० दिनमें कर देनी चाहिये और यदि सकाम-भावसे किया जाता हो तो दोनों माघोंके ६० दिनतक स्नान करना चाहिये । स्नानका समय सूर्योदयसे पहले श्रेष्ठ है । उसके बाद जितना विलम्ब हो उतना ही निष्फल होता है । स्नानके लिये काशी और प्रयाग उत्तम माने गये हैं । वहाँ न जा सके तो जहाँ भी स्नान करे, वहीं उनका स्मरण करे अथवा 'पुष्करादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा । आगच्छन्तु पवित्राणि स्नानकाले सदा मम ॥' 'हरिद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते । स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते ॥' 'अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका । पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः ।' 'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति । नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥' का उच्चारण करे । अथवा वेगसे बहनेवाली किसी भी नदीके जलसे स्नान करे अथवा रातभर छतपर रक्खे हुए जलपूर्ण घटसे स्नान करे । अथवा दिनभर सूर्य-किरणोंसे तपे हुए जलसे स्नान करे । स्नानके आरम्भमें 'आपस्त्वमसि देवेश ज्योतिषां पतिरेव च । पापं नाशय मे देव वाङ्मनः-कर्मभिः कृतम् ॥' से जलकी और 'दुःखदारिद्र्यनाशाय श्रीविष्णोस्तोषणाय च । प्रातःस्नानं करोम्यद्य माघे पाप-विनाशनम् ।' से ईश्वरकी प्रार्थना करे और स्नान करनेके पश्चात् 'सवित्रे प्रसवित्रे च परं धाम जले मम । त्वत्तेजसा परिभ्रष्टं पापं यातु सहस्रधा ॥' से सूर्यको अर्घ्य देकर हरिका पूजन या स्मरण करे । माघस्नानके लिये ब्रह्मचारी, गृहस्थी, संन्यासी[6] और वनवासी—चारों आश्रमोंके; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके; बाल, युवा और वृद्ध—तीनों अवस्थाओंके स्त्री, पुरुष या नपुंसक जो भी हों, सबको आज्ञा है; सभी यथानियम नित्यप्रति माघस्नान कर सकते हैं। स्नानकी अवधि या तो पौष शुक्ल एकादशीसे माघ शुक्ल एकादशीतक या पौष शुक्ल पूर्णिमासे माघ शुक्ल पूर्णिमातक अथवा मकरार्कमें (मकरराशिपर सूर्य आवे, उस दिनसे दूसरी राशिपर जाय, उस दिनतक) नित्य स्नान करे और उसके अनन्तर यथावकाश मौन रहे । भगवान्‌का भजन या यजन करे । ब्राह्मणोंको अवारित (बिना रोक) नित्य भोजन कराये । कम्बल, मृगचर्म, रत्न, कपड़े (कुरता, चादर, रुमाल, कमीज, टोपी), उपानह (जूते), धोती और पगड़ी आदि दे । एक या एकाधिक ३० द्विजदम्पती (ब्राह्मण-ब्राह्मणी) के जोड़ेको षट्‌रस भोजन करवाकर 'सूर्यो मे प्रीयतां देवो विष्णुमूर्तिर्निरञ्जनः ।' से सूर्यकी प्रार्थना करे । इसके बाद उनको अच्छे वस्त्र, सप्तधान्य और तीस मोदक दे । और स्वयं निराहार, शाकाहार, फलाहार या दुग्धाहार व्रत अथवा एकभुक्त व्रत करे । इस प्रकार काम, क्रोध, मद, मोहादि त्यागकर भक्ति, श्रद्धा, विनय—नम्रता, स्वार्थत्याग और विश्वास—भावके साथ स्नान करे तो अश्वमेधादिके समान

---

१. 'मासोपवासचान्द्रायणादि तु मलमास एव समापयेत् । काम्यानां तत्र समाप्तिनिषेधान्मासद्वयं प्रातःस्नानं तन्नियमाश्च कर्तव्याः ।' (दीपिकायाम्)

२. 'स्नानकालश्च सर्योदयः ।' (निर्णयसिन्धौ)

३. उत्तमं तु सनक्षत्रं लुप्ततारं तु मध्यमम् ।
सवितर्युदिते भूप ततो हीनं प्रकीर्तितम् ॥ (पाद्मे)

४. कामयुद्धवे प्रयागे ये तपसि स्नान्ति मानवाः ।
दशाश्वमेधजनितं फलं तेषां भवेद ध्रुवम् ॥ (काशीखण्ड)

५. सरित्तोयं महावेगं नवकुम्भस्थितं तथा ।
तद्दिवं रात्रौ गङ्गास्नानसमं स्मृतम् ॥

६. ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
बालवृद्धयुवानश्च नरनारीनपुंसकाः ॥
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः························
स्नात्वा माघे शुभे तीर्थे प्राप्नुवन्तीप्सितं फलम् ।' (भविष्ये)

'सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप ।' (पाद्मे)

७. एकादश्यां शुक्लपक्षे पौषमासे समारभेत् ।
द्वादश्यां पौर्णमास्यां वा शुक्लपक्षे समापनम् ॥ (पाद्मे)
'पुण्यान्यहानि त्रिंशत्तु मकरस्थे दिवाकरे ।' (विष्णु)

८. 'एवं स्नात्वावसाने तु भोज्यं देयमवारितम् ।' (भविष्ये)

९. कम्बलाजिनरत्नानि वासांसि विविधानि च ।
चोलकानि च देयानि प्रच्छादनपटास्तथा ॥
उपानहौ तथा गुप्तमोचकौ पापमोचकौ । (भविष्ये)

१०. दम्पत्योर्वाससी सूक्ष्मे सप्तधान्यसमन्विते ।
त्रिंशत्तु मोदका देयाः शर्करातिलसंयुताः ॥ (नारद)
(विशेष माघी पूर्णिमा और अमाके उल्लेखमें देखना चाहिये ।)

फल होता है और सब प्रकारके पाप-ताप तथा दुःख दूर हो जाते हैं।

(२) **वक्रतुण्डचतुर्थी** (भविष्योत्तर)—माघ कृष्ण चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थीको वक्रतुण्डचतुर्थी कहते हैं। इस व्रतका आरम्भ 'गणपतिप्रीतये सङ्कष्टचतुर्थीव्रतं करिष्ये'—इस प्रकार संकल्प करके करे। सायङ्कालमें गणेशजीका और चन्द्रोदयके समय चन्द्रका पूजन करके अर्घ्य दे। इस व्रतको माघसे आरम्भ करके हर महीनेमें करे तो संकटका नाश हो जाता है।

(३) **सङ्कष्टचतुर्थी** (व्रतोत्सव)—यह प्रशस्त व्रत उपर्युक्त वक्रतुण्डचतुर्थीव्रतके समान किया जाता है।

(४) **सर्वाप्तिसप्तमी** (हेमाद्रि)—माघ कृष्ण सप्तमीको स्नान-दानादि करनेसे इच्छानुसार फल मिलता है।

(५) **कृष्णैकादशी** (हेमाद्रि)—माघ कृष्ण एकादशीको प्रातःस्नान करके 'श्रीकृष्ण' इस मन्त्रके ८, २८, १०८ या १००० जप करे। उपवास रक्खे। रात्रिमें जागरण और हवन करे। भगवान्‌का पूजन करे। और 'सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुषपूर्वज। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं लक्ष्म्या सह जगत्पते ॥' —इस मन्त्रसे अर्घ्य दे। यह 'षट्तिला' एकादशी है। इसमें (१) तिलोंके जलसे स्नान करे, (२) पिसे हुए तिलोंका उबटन करे, (३) तिलोंका हवन करे, (४) तिल मिला हुआ जल पीवे, (५) तिलोंका दान करे और (६) तिलोंके बने (मोदक, बर्फी या तिलपपड़ी आदि) का भोजन करे तो पापोंका नाश हो जाता है। इस व्रतकी कथा *संक्षेपमें इस प्रकार है कि प्राचीन कालमें भगवान्‌की परम* भक्त एक ब्राह्मणी थी; वह भगवत्सम्बन्धी उपवासव्रत रखती, भगवान्‌की विधिवत् पूजा करती और नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण किया करती थी। कठिन व्रत करने और पतिसेवा एवं घरकी सम्हाल रखने आदिसे उसका शरीर सूख गया था। किन्तु अपने जीवनमें उसने दानके निमित्त किसीको एक दाना भी नहीं दिया था। एक दिन स्वयं भगवान्‌ने कपालीका रूप धारण कर उससे भिक्षाकी याचना की, परन्तु उसने उन्हें भी कुछ नहीं दिया। अन्तमें कपालीके ज्यादा बड़बड़ानेसे उसने मिट्टीका एक बहुत बड़ा ढेला दिया तो भगवान् उसीसे प्रसन्न हो गये और ब्राह्मणीको वैकुण्ठका वास दिया। परन्तु वहाँ मिट्टीके परम मनोहर मकानोंके सिवा और कुछ भी नहीं था। तब उसने भगवान्‌की आज्ञासे षट्तिलाका व्रत किया और उसके प्रभावसे उसको सब कुछ प्राप्त हुआ।

(६) **माघी अमा** (वायु, देवी, ब्रह्म, हारीत, व्यासादि)—अमा और पूर्णिमा ये दोनों पर्वतिथियाँ हैं। इस दिन पृथ्वीके किसी-न किसी भागमें सूर्य या चन्द्रमाका ग्रहण हो ही जाता है। इससे धर्मप्राण हिंदू इस दिन दान-पुण्यादिके *सिवा अन्य काम नहीं करते।*...हिमपिण्ड चन्द्रका आधा भाग काला और आधा सफेद है। सफेदपर सूर्यकिरण पड़नेसे वह प्रकाशित होता है।......जब चन्द्रमा क्षीण होकर दीखता नहीं तो उस तिथिको अमा कहते हैं और पूर्ण चन्द्रसे पूर्णिमा होती है।......जिस अमामें चन्द्रकी कुछ सफेदी हो, वह 'सिनीवाली'— और कोयलके शब्द करने जितनी हो वह 'कुहू' होती है। इसी प्रकार पूर्णचन्द्रकी पूर्णिमा 'राका' और कलामात्र कमकी 'अनुमती' होती है। सिनीवाली और कुहूके भेदसे अमा तथा राका और अनुमतीके भेदसे पूर्णिमा दोनों दो प्रकारकी हैं।...... चन्द्रमा सूर्यसे नीचा है; अतः पूर्णिमाको इसका काला भाग और अमाको सफेद भाग सूर्यकी तरफ रहनेसे पृथ्वीपर किये गये दान, पुण्य और भोजनादिके वाष्पसम्भूत अंश सूर्यकी किरणोंसे आकर्षित होकर चन्द्रमण्डलमें (जहाँ पितृगण रहते हैं) चले जाते हैं। इसी कारण अमाको पितृश्राद्धादि करनेका विधान किया गया है।........अमाके दिन चन्द्रका प्रकाशमान भाग सूर्यके आगे आ जानेसे सूर्यग्रहण और पूर्णिमाको नीचे गये हुए सूर्यसे उठी हुई पृथ्वीकी छाया चन्द्रके सामने आ जानेसे चन्द्रग्रहण होता है। ...'लोकान्तरमें कहीं भी ग्रहण हुआ होगा'—इस सम्भावनासे धर्मज्ञ मनुष्य अमा और पूर्णिमाको स्नान दानादि पुण्य कर्म किया करते हैं।...ग्रहण तब होता है जब सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी (तीनों) एक सीधमें आते हैं; अन्यथा नहीं होता। ...व्रतादिमें अमावस्या परविद्धा (प्रतिपद्युक्त) लेनी चाहिये। चतुर्दशीयुक्त यानी पूर्वविद्धा अमा निषिद्ध मानी गयी है।... 'पूर्वाह्णो वै देवानाम्, मध्याह्नो मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम्' के अनुसार दिनको (लगभग १०-१० घड़ीके) तीन भागोंमें विभाजित मानकर जप, ध्यान और उपासना आदिके कार्य प्रथम तृतीयांश (लगभग १० घड़ी दिन चढ़ेतक) करने चाहिये। संस्कारादि व आयुर्वृद्धिसम्बन्धि कर्मादि 'मनुष्यकार्य' दूसरे तृतीयांश (मध्य दिनकी लगभग १० घड़ी) में करने चाहिये और श्राद्ध, तर्पण एवं पितृकार्य 'अपराह्णमें'

तीसरे तृतीयांश (दिनास्तसे पहलेतककी लगभग १० घड़ी) में करने चाहिये ।

(७) विधिपूजा (भविष्योत्तर)–माघी अमाको प्रतिदिनके स्नान-दानादिके पश्चात् वस्त्राच्छादित वेदीपर वेद-वेदाङ्गभूषित ब्रह्माजीका गायत्रीसहित पूजन करे और नवनीत (मक्खन) की देनेवाली गौका तथा सुवर्ण, छत्र, वस्त्र, उपानह, शय्या, अञ्जन और दर्पणादि 'स्थानं स्वर्गेऽथ पाताले यन्मर्त्ये किञ्चिदुत्तमम् । तदवाप्नोत्यसंदिग्धं पद्मयोनेः प्रसादतः ॥' इस मन्त्रसे निवेदन करके ब्राह्मणको दे और 'यत्किञ्चिद् वाचिकं पापं मानसं कायिकं तथा । तत् सर्वं नाशमायाति युगादितिथिपूजनात् ॥' को स्मरण कर शुद्ध भावसे सजातियों-सहित भोजन करे ।

(८) अर्धोदय (महाभारत)–माघ कृष्ण अमावस्याको रविवार, व्यतीपात और श्रवण हो तो 'अर्धोदय' योग होता है । इस योगमें स्कन्दपुराणके लेखानुसार सभी स्थानोंका जल गङ्गातुल्य हो जाता है और सभी ब्राह्मण ब्रह्मसन्निभ शुद्धात्मा हो जाते हैं । अतः इस योगमें यत्किञ्चित् किये हुए स्नान-दानादिका फल भी मेरुसमान होता है ।

(९) पात्रदान (स्कन्दपुराण)–अर्धोदय योगवाली अमावस्याको साठ, चालीस या पचीस माशा सुवर्णका अथवा चाँदीका पात्र बनाकर उसमें खीर भरे और पृथ्वीपर अक्षतोंका अष्टदल लिखकर उसपर ब्रह्मा, विष्णु और शिवस्वरूप उपर्युक्त पात्रको स्थापित करके गन्ध पुष्पादिसे पूजन करे और फिर सुपठित ब्राह्मणको दे तो समुद्रान्त पृथ्वीदान करनेके समान फल होता है । यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि इस व्रतमें गोदान, शय्यादान और जो भी देय द्रव्य हों तीन-तीन दे । अर्धोदय योगके अवसरपर सत्ययुगमें वसिष्ठजीने, त्रेतामें रामचन्द्रजीने, द्वापरमें धर्मराजने और कलियुगमें पूर्णोदर (देवविशेष) ने अनेक प्रकारके दान, धर्म किये थे; अतः धर्मज्ञ सत्पुरुषोंको अब भी अवश्य करना चाहिये ।

शुक्लपक्ष

(१) गुड लवणदानव्रत (भविष्योत्तर)–माघ तृतीयाको गुड और लवणका दान करे तो गुडसे देवी लवणसे प्रभु प्रसन्न होते हैं ।

वरदाचतुर्थी (निर्णयामृत)–माघ शुक्ल चतुर्थीको कुन्दके पुष्पोंसे शिवजीका पूजन करते . प्राप्ति होती है ।

(३) गौरीव्रत (ब्रह्मपुराण)–माघ शुक्ल . गन्ध, पुष्प, धूप दीप और नैवेद्य आदिसे उमाका पूजन . गुड़, अदरख, लवण, पालक और खीर इनसे . ब्राह्मणोंको भोजन कराये ।

(४) कुण्डचतुर्थी (देवीभागवत)–माघ . चतुर्थीको उपवास करके देवीका पूजन करे । अनेक . गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, फल, पत्र, धान्य, बीज और . नैवेद्य-सामग्री अर्पण करे तथा सूर्प या मिट्टीके पात्रमें . नैवेद्य सामग्री भरकर ब्राह्मणको दे तो सन्तति और . दोनों प्राप्त होते हैं ।

(५) ढुण्ढिपूजा (त्रिस्थलीसेतु)–माघ . चतुर्थीको नक्तव्रतमें परायण होकर काशीवासी ढुण्ढिराज . पूजन करे, सफेद तिल और चीनीके मोदक अर्पण . तिलोंकी आहुति दे । और रात्रिमें एकभुक्त करके . करे तो उसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं ।

(६) शान्तिचतुर्थी (भविष्यपुराण)–. शुक्ल चतुर्थीको गणेशजीका पूजन करके घीमें सने हुए . अपूप (पूआ) और लवणके पदार्थ अर्पण करे . गुरुदेवकी पूजा करके उनको गुड़, लवण और घी दे तो . व्रतसे सब प्रकारकी स्थिर शान्ति प्राप्त होती है ।

(७) अङ्गारकचतुर्थी (मत्स्यपुराण)–. माघ शुक्ल चतुर्थीको मंगलवार हो तो उस दिन प्रातःस्ना . पहले शरीरमें मिट्टी लगाकर शुद्ध स्नान करे । . धोती पहने । पद्मराग मणि धारण करे । और उत्त . भिमुख बैठकर 'अग्निमूर्द्धा०' इस मन्त्रका जप करे । . यज्ञोपवीत न हो, वह 'अङ्गारकाय भौमाय नमः' का जप . फिर भूमिको गोबरसे लीपकर उसपर लाल चन्दनका अष्ट . बनाये तथा उसकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें भक्ष्य-भोजन . चावलोंसे भरे हुए चार करवे रक्खे तथा उनका . क्षतादिसे पूजन करके कपिला गौ और लाल रंगका . सौम्य धुरंधर बैल दे और सायमें शय्या दे तो सहस्र . फल होता है ।

(८) गणेशव्रत (भविष्यपुराण)–माघ . पूर्वविद्धा चतुर्थीको प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् 'ममाखि . मिलषित कार्यसिद्धिकामनया गणेशव्रतं करिष्ये' इस मन

र करके वेदीपर लाल वस्त्र बिछाये। लाल अक्षतोंका अष्ट-
ऽ बनाकर उसपर सिंदूरचर्चित गणेशजी स्थापित करे।
यं लाल धोती पहनकर लाल वर्णके फल पुष्पादिसे षोडशो-
ार पूजन करे। नैवेद्यमें (भिगोकर छीली हुई) हल्दी,
ड, सक्कर और घी—इनको मिलाकर भोग लगाये और नक्त-
त (रात्रिमें एक बार भोजन) करे तो सम्पूर्ण अभीष्ट
द्ध होते हैं।

(९) सुखचतुर्थी (भविष्यपुराण)—सुमन्तुके
चतुर्थी तु चतुर्थी तु यदाङ्गारकसंयुता। चतुर्थ्यां तु चतुर्थ्यां
[विधानं शृणु यादृशम्॥' के अनुसार माघ शुक्ल चतुर्थीको
ादि मङ्गलवार हो तो लाल वर्णके गन्ध, अक्षत और पुष्प,
ैवेद्यसे गणेशजीका पूजन करके उपवास करे। इस प्रकार
चतुर्थ-चतुर्थ (चौथी, चौथी) चतुर्थी (माघ, वैशाख,
भाद्रपद और पौष) का एक वर्ष व्रत करे तो सब प्रकारके
सुख प्राप्त होते हैं। प्रत्येक चतुर्थीको भौमवार होना
आवश्यक है।

(१०) यमव्रत (हेमाद्रि)—माघ शुक्ल चतुर्थीको
भरणी नक्षत्र और शनिवार हो तो उस दिन यमका पूजन
और तन्निमित्त व्रत करनेसे यमके भयकी निवृत्ति और
स्वर्गीय सुखकी प्रवृत्ति होती है।

(११) श्रीपञ्चमी-वसन्तपञ्चमी (पुराणसमुच्चय)—
माघशुक्ल पूर्वविद्धा पञ्चमीको उत्तम वेदीपर वस्त्र बिछाकर
अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाये। उसके अग्रभागमें गणेशजी
और पृष्ठभागमें 'वसन्त'—जौ, गेहूँकी बालका पुञ्ज (जो
जलपूर्ण कलशमें डंठलसहित रखकर बनाया जाता है) स्थापित
करके सर्वप्रथम गणेशजीका पूजन करे और पीछे उक्त पुञ्जमें
रति और कामदेवका पूजन करे। और उनपर अबीर
आदिके पुष्पोपम छींटे लगाकर वसन्तसदृश बनाये
तत्पश्चात् 'शुभा रतिः प्रकर्तव्या वसन्तोज्ज्वलभूषणा। नृत्य-
माना शुभा देवी समस्ताभरणैर्युता॥ वीणावादनशीला च
मदकर्पूरचर्चिता।' से 'रति' का और 'कामदेवस्तु कर्तव्यो
रूपेणाप्रतिमो भुवि। अष्टबाहुः स कर्तव्यः शङ्खपद्मविभूषणः॥
चापबाणकरश्चैव मदादञ्चितलोचनः। रतिः प्रीतिस्तथा
शक्तिर्मदशक्तिस्तथोज्ज्वला॥ चतस्रस्तस्य कर्तव्याः पत्न्यो
रूपमनोहराः। चत्वारश्च करास्तस्य कार्या भार्यास्तनोपगाः॥
केतुश्च मकरः कार्यः पञ्चबाणमुखो महान्।' से कामदेवका
ध्यान करके विविध प्रकारके फल, पुष्प और पत्रादि समर्पण
करे तो गार्हस्थ्यजीवन सुखमय होकर प्रत्येक कार्यमें उत्साह
प्राप्त होता है।

(१२) मन्दारषष्ठी (भविष्योत्तर)—यह व्रत तीन
दिनमें पूर्ण होता है। एतन्निमित्त माघशुक्ल पञ्चमीको सम्पूर्ण
कामना त्याग करके जितेन्द्रिय होकर थोड़ा सा भोजन करके
एकभुक्त व्रत करे। षष्ठीको प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करनेके
बाद ब्राह्मणसे आज्ञा लेकर दिनभर व्रत रक्खे और रात्रि
होनेपर केवल मन्दारके पुष्पको भक्षण करके उपवास करे
और सप्तमीके प्रभातमें पुनः स्नान करके ब्राह्मणोंका पूजन
करे और मन्दार (आक) के आठ पुष्प लाकर ताँबेके
पात्रमें काले तिलोंका अष्टदल कमल बनाये। उसकी प्रत्येक
कर्णिका (कली या कोण) पर एक-एक पुष्प रक्खे और
बीचमें सुवर्णनिर्मित सूर्यनारायणकी मूर्ति स्थापन करके—
'भास्कराय नमः' से पूर्वके, 'सूर्याय नमः' से अग्निके, 'सूर्याय
नमः' से दक्षिणके, 'यशेशाय' से नैर्ऋत्यके, 'वसुधाम्ने' से
पश्चिमके, 'चण्डभानवे' से वायव्यके, 'कृष्णाय' से उत्तरके
और 'श्रीकृष्णाय' से ईशानके अर्क-पुष्पका स्थापन और
पूजन करे और पद्मके मध्यमें स्थापित की हुई सुवर्णमूर्तिका
'सूर्याय नमः' इस मन्त्रसे पूजन करे। और तैल तथा लवण-
वर्जित भोजन करे। इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक महीने-के महीने
प्रत्येक सप्तमीको वर्षपर्यन्त व्रत करके—समाप्तिके दिन
कलशपर रक्त सूर्यमूर्ति स्थापन करके पूजन करे और 'नमो
मन्दारनाथाय मन्दारभवनाय च। त्वं रवे तारयस्वास्मा-
नस्मात् संसारसागरात्॥' से प्रार्थना करके सूर्यमूर्ति सुपठित
ब्राह्मणको दे तो उसके सब पाप दूर हो जाते हैं और वह
स्वर्गमें जाता है।

(१३) दारिद्र्यहरषष्ठी (स्कन्दपुराण)—माघ शुक्ल
षष्ठीसे आरम्भ करके प्रत्येक षष्ठीको एकभुक्त, नक्त, अयाचित
या उपवास करके ब्राह्मणको भोजन कराये और कटोरेमें दूध,
घी, भात और शक्कर भरकर (प्रति षष्ठीको) वर्षपर्यन्त दान
करे तो उसके कुलसे दरिद्र दूर हो जाता है।

(१४) भानुसप्तमी (बहुसम्मत)—यह माघ शुक्ल
सप्तमीको होती है। प्राणीमात्रकी जीवनशक्तिको जीवित
रखनेवाले प्रत्यक्ष ईश्वर सूर्यनारायणने मन्वन्तरके आदिमें
इसी दिन अपना प्रकाश प्रकाशित किया था। अतः यह जयन्ती
भी है। इस दिन सूर्यकी उपासनाके कई कृत्य कई प्रयोजनों
और प्रकारोंसे किये जाते हैं। इस कारण इसके 'अर्क-अचला-
रथ-सूर्य और भानुसप्तमी आदि कई नाम हैं। यह अरुणोदय-
व्यापिनी ली जाती है। यदि दो दिन अरुणोदयी हो तो पहली
लेना चाहिये। स्नानके विषयमें यह स्मरण रहे कि जो अरुण-

स्नान करते हों, वे इसी दिन अरुणोदय (पूर्व दिशाकी प्रातः-कालीन लालिमा) होनेपर और भानुसप्तमीनिमित्त स्नान करनेवालोंको सूर्योदयके बाद स्नान करना चाहिये।··· स्नान करनेके पहले आकके ७ पत्तों और बेरके ७ पत्तोंको कसुम्भाकी बत्तीवाले तिल तैलपूर्ण दीपकमें रखकर उसको सिरपर रक्खे और सूर्यका ध्यान करके गन्नेसे जलको हिलाकर दीपकको प्रवाहमें बहा दे। दिवोदासके मतानुसार दीपकके बदले आकके सात पत्ते सिरपर रखकर ईखसे जलको हिलाये और 'नमस्ते रुद्ररूपाय रसानां पतये नमः। वरुणाय नमस्तेऽस्तु' पढ़कर दीपकको बहा दे। और 'यद् यज्जन्मकृतं पापं यच्च जन्मान्तरार्जितम्। मनोवाक्कायजं यच्च ज्ञाताज्ञाते च ये पुनः॥ इति सप्तविधं पापं स्नानान्ते सप्तसप्तिके। सप्तव्याधि-समाकीर्णे हर भास्करि सप्तमि॥' इनका जप करके केशव और सूर्यको देखकर पादोदक (गङ्गाजल अथवा चरणामृत) को जलमें डालकर स्नान करे तो क्षणभरमें पाप दूर हो जाते हैं। इसके बाद अर्घमें जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, दूर्वा, सात अर्कपत्र और सात बदरीपत्र रखकर 'सप्तसप्तिवह प्रीत सप्तलोकप्रदीपन। सप्तम्या सहितो देव गृहाणार्घ्यं दिवाकर॥' से सूर्यको और 'जननी सर्वलोकानां सप्तमी सप्तसप्तिके। सप्तव्याहृतिके देवि नमस्ते सूर्यमण्डले॥' से सप्तमीको अर्घ्य दे।···इसी दिन तालक-दानके निमित्त नित्य-नियमसे निवृत्त होकर चन्दनसे अष्टदल लिखे। पूर्वादि-क्रमसे उसकी आठों कर्णिका (कोणोंपर) शिव, शिवा, रवि, भानु, वैवस्वत, भास्कर, सहस्रकिरण और सर्वात्मा— इनका यथाक्रम स्थापन और पूजन करके—ताम्रादिके पात्रमें काञ्चन कर्णाभरण (कुण्डल), घी, गुड़ और तिल रखकर लाल वस्त्रसे ढाँके और गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके 'आ-दित्यस्य प्रसादेन प्रातःस्नानफलेन च। दुष्टदुर्भाग्यदुःखघ्नं मया दत्तं तु तालकम्॥' से ब्राह्मणको दे। और 'भानुसप्तमी' के निमित्त···प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर समीपमें सूर्यमन्दिर हो तो उसके सम्मुख बैठे अथवा सुवर्णादिकी छोटी मूर्ति हो तो उसे अष्टदल कमलके बीचमें स्थापित कर 'मम अखिल-कामनासिद्ध्यर्थे सूर्यनारायणप्रीतये च सूर्यपूजनं करिष्ये।' से संकल्प करके—'ॐ सूर्याय नमः' इस नाममन्त्रसे अथवा [illegible]से आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। [illegible]के पत्र, पुष्प, फल, खीर, [illegible], [illegible] या [illegible] नैवेद्य निवेदन करे और भगवान्‌को सर्वाङ्ग-

पूर्ण रथमें विराजमान करके गायन-वादन और परिजनादिको साथ लेकर नगर-भ्रमण करवाकर स्थापित करे। और ब्राह्मणोंको खीर आदिका भोजन [illegible] दिनास्तसे पहले स्वयं एक बार भोजन करे। उस दि[न] और लवण न खाय। इस प्रकार प्रतिवर्ष करे तो रागादिमें किये के समान अक्षय पुण्य होता है।

(१५) महती सप्तमी (मत्स्यपुराण)–इसी [illegible] सप्तमीको रथारूढ़ सूर्यनारायणका पूजन करके उप[वास करे] तो सात जन्मके पाप दूर होते हैं। यही रथसप्तमी भी है।

(१६) रथाङ्गसप्तमी (हेमाद्रि)–इसी [illegible] उपवास करके सूर्यका पूजन करे, उनको सुवर्णके [illegible] स्थापित करके और प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको पूजन करके [illegible] अन्तमें ब्राह्मणको दे।

(१७) पुत्रसप्तमी (आदित्यपुराण)–माघ [illegible] षष्ठीको उपवास करके सप्तमीके प्रातःकालमें स्नान करे। सूर्यनारायणका पूजन एवं तन्निमित्त हवन करके दूध भात या खीर आदिका ब्राह्मणोंको भोजन करावे। [इसी] प्रकार कृष्णपक्षमें उपवास करके लाल कमलके [illegible] सूर्यका पूजन करे तो वर्षपर्यन्त करनेसे उत्तम [illegible] उपलब्धि होती है।

(१८) सप्तसप्तमी (सूर्यारुण-हेमाद्रि)–जिस [प्रकार] योगविशेषसे वारुणी, महावारुणी, महामहावारुणी, माघी, महामाघी, महामहामाघी अथवा जया, [वि]-महाजया आदि होती हैं उसी प्रकार वारादिके योग[से] माघ शुक्ल सप्तमीके भी कई भेद होते हैं। यथा–१ [ज]-विजया, ३ महाजया, ४ जयन्ती, ५ अपराजिता, ६ [illegible] और ७भद्रा···अथवा १ अर्कसम्पुटक, २ मरीचि, ३ [illegible] पत्र, ४ सुफला, ५ अनोदना, ६ विजया और ७ कामि[दा]। ये सब रविवारको पञ्चवारक (रो. श्ले. म. ह.) [illegible] पुष्याम (मृ. पु. पु. ह. अनु.) नक्षत्र होनेसे सिद्ध होती हैं। इनमें व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, हवन और ब्रा[ह्मण]-भोजनादि करने करानेसे अनन्त फल होता है। विशेष[तः] अर्कसम्पुटकसे धनवृद्धि, २ मरीचिसे प्रिय-पुत्रादिका सङ्ग[म], [३] निम्बपत्रीसे रोगनाश, ४ सुफलासे पुत्र-पौत्र-दौहित्रादि[की] अपूर्व अभिवृद्धि, ५ अनोदनासे धन-धान्य, सुवर्ण, चाँदी [और] आरोग्यलाभ, ६ विजयासे शत्रुनाश और ७ कामिदासे [सब] प्रकारकी अभीष्टसिद्धि होती है। इनके निमित्त माघ [शुक्ल] सप्तमीको [illegible] करके प्रभात [illegible] आदित्य पूजा [illegible]

र्णादिनिर्मित सूर्यमूर्तिका यथालब्ध उपचारोंसे पूजन करके खीर, मालपुआ, दाल-भात, दूध-दही अथवा दध्योदनादिका नैवेद्य अर्पण करे और पीछे ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे तो यथोक्त फल मिलता है।

(१९) भीष्माष्टमी (धवलनिबन्ध)-माघ शुक्ल अष्टमीको जौ, तिल, गन्ध, पुष्प, गङ्गाजल और दर्भ आदिसे भीष्मजीका श्राद्ध अथवा तर्पण करे तो अभीष्टसिद्धि होती है। यदि तर्पणमात्र भी न किया जाय तो पाप होता है। श्राद्धके अवसरमें भीष्मका पूजन भी किया जाता है, अतः उसमें 'वसूनामवताराय शान्तनोरात्मजाय च। अर्घ्यं ददामि भीष्माय आबाल्यब्रह्मचारिणे ॥' इस मन्त्रसे अर्घ्य दे।

(२०) शुक्लैकादशी (पद्मपुराण)-माघ शुक्ल एकादशीका नाम 'जया' है। इसका व्रत करनेसे पिशाचत्व मिट जाता है। एक बार इन्द्रकी सभामें युवक माल्यवान् और युवती पुष्पवतीके लज्जाहीन बर्तावसे रुष्ट होकर इन्द्रने उनको पिशाच बना दिया था, उससे उनको बड़ा दुःख हुआ। अन्तमें उन दोनोंने माघ शुक्ल एकादशीका उपवास किया तब अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हुए।

(२१) तिलद्वादशी (ब्रह्मपुराण)—यह व्रत षट्तिलाके समान है। इसके लिये माघ शुक्ल द्वादशीको तिलोंके जलसे स्नान करे। तिलोंसे विष्णुका पूजन करे। तिलोंके तेलका दीपक जलाये। तिलोंका नैवेद्य बनावे। तिलोंका हवन करे और तिलोंका दान करके तिलोंका ही भोजन करे तो इस व्रतके प्रभावसे स्वाभाविक, आगन्तुक, कायकान्तर और सांसर्गिक सम्पूर्ण व्याधि दूर होती है और सुख मिलता है।

(२२) भीमद्वादशी (हेमाद्रि)-यह भी इसी माघ शुक्ल द्वादशीको होती है। इसमें व्रतको ब्रह्मार्पण करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये और फिर पारण करे। शेष विधि एकादशीके समान करे।

(२३) दिनत्रयव्रत (पद्मपुराण)-माघस्नान ३० दिनमें पूर्ण होता है, परन्तु इतने समयकी सामर्थ्य अथवा अनुकूलता न हो तो माघ शुक्ल त्रयोदशी-चतुर्दशी और पूर्णिमाके अरुणोदयमें स्नानादि करके व्रत करे और यथानियम दान-पुण्य करे तो सम्पूर्ण माघस्नानका फल मिलता है।

(२४) माघी पूर्णिमा (दानचन्द्रोदय)—माघ शुक्ल पूर्णिमाको प्रातःस्नानादिके पीछे विष्णुका पूजन करे, पितरोंका श्राद्ध करे, असमर्थोंको भोजन, वस्त्र और आश्रय दे, तिल, कम्बल, कपास, गुड़, घी, मोदक, उपानह, फल, अन्न और सुवर्णादिका दान करे और व्रत या उपवास करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये और कथा सुने।

(२५) महामाघी (कृत्यचन्द्रिका)—माघ शुक्ल पूर्णिमाको मेषका शनि, सिंहके गुरु-चन्द्र और श्रवणका सूर्य हो तो इनके सहयोगसे महामाघी सम्पन्न होती है। इसमें स्नान-दानादि जो भी किये जायँ, उनका अमिट फल होता है।

कामना

नाथ ! दो मुझको यह वरदान,
किसी भाँति भी इस जीवनमें, रहे तुम्हारा ध्यान।
दीनबन्धु ! यदि तुम्हें दीन प्रिय, बनूँ दीन निर्मान,
देखोगे, फिर दयादृष्टिसे मुझको दयानिधान ॥
यदि प्रिय पतित, पतितपावनको बनकर पतित महान,
उसी रूपमें इन नयनोंसे, लखूँ तुम्हें भगवान ॥

—'मं०'

वाह्य और अन्तर्जगत्की समरसता

(लेखक—श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०)

एक बार मैं अपने एक मित्रके घरपर उनके परिवारके लोगोंके साथ बैठा हुआ था कि मित्रकी पत्नीने मेरे एक सम्बन्धीकी कुशल पूछी। मैंने उनकी कुशल कही। इसके बाद उन्होंने उनके पारिवारिक जीवनके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न किये। इसके उत्तरमें मुझे उस परिवारके कलहकी बात बतलानी पड़ी। मेरे सम्बन्धी सब प्रकारसे सम्पन्न होकर भी मनसे पूरे सुखी नहीं थे। इस वृत्तान्तको सुनकर उस महिलाने कहा कि 'संसारमें कोई मनुष्य सुखी नहीं रहता। मनुष्यका मन ही उसे दुखी बनाता है। संसारमें वास्तविक भलाई-बुराई कुछ भी नहीं है, अपना मन ही सब भले-बुरेका बनानेवाला है। अपनी कल्पनासे ही मनुष्य सुखी-दुखी रहता है।'

इस वार्तालापको मेरे मित्र भी सुन रहे थे। उन्होंने कहा कि 'मेरे विचारसे हमें हमारे पाप ही दुःखमय परिस्थितिमें डाल देते हैं और हम अपने पाप-कर्मोंके कारण ही ऐसे लोगोंके साथ पड़ जाते हैं, जिनके सङ्गसे हमें दुःख होता है। अर्थात् सांसारिक दुःख कल्पनामात्र नहीं है। संसारमें भलाई और बुराई वास्तविक है। इन भलाइयों और बुराइयोंको, सुख-दुःखकी परिस्थितियोंको अपने पुराने संस्कारोंके अनुसार हम अपनी ओर खींचते रहते हैं, अथवा हम उनकी ओर आकर्षित होते रहते हैं। यदि किसी मनुष्यका मन पापरहित है तो उसे क्लेशमयी परिस्थितियोंमें पड़ना ही न पड़ेगा।'

उपर्युक्त दोनों प्रकारके विचार दार्शनिक विचार हैं। एक विचारके अनुसार बाह्य संसारका दुःख-सुख कल्पनामात्र ही है, दूसरे विचारके अनुसार ये दुःख . . . बाह्य परिस्थितियोंपर निर्भर है, पर बाह्य परिस्थितियोंकी उपस्थिति हमारे पूर्वसंस्कारोंपर . . . करती है। इन दो विचारधाराओंमें कौन-सी . . . है—यहाँ इसी विषयपर विचार करना है।

पहले विचारकी सत्यता हमारे कई अनुभ . . . प्रमाणित होती है। कितनी ही बार हम ऐसी बा . . . दुखी होते हैं जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं। . . . कल्पना कर लेते है कि अमुक व्यक्ति हमारा श . . . और हमारे प्रति अनेक प्रकारके षड्यन्त्र रच रहा . . . मनमें इस तरहके विचारोंका प्रादुर्भाव होनेस . . . अनेकों प्रकारके भय, ईर्ष्या आदिसे सन्तत हो उठते . . . कितने ही लोग अपने-आपको अभागा मान बैठ . . . फलतः वे सदा-सर्वदा प्रत्येक घटनाको अपने प्र . . . ही देखते हैं। मनुष्यकी विक्षिप्त अवस्थामें इस प्र . . . काल्पनिक रोगोंकी बहुतायत देखी जाती है। . . . एक ऐसी महिलासे मिला जो 'पुरुष' मात्र . . . समझती थी। इस महिलाकी पूर्वकथा जानने . . . लगा कि उसे किसी नवयुवकने विवाहका वच . . . फिर अपने वचनको भङ्ग कर दिया था। एव . . . खूबसूरत स्त्रियोंके चरित्रको सदा सन्देहकी दृ . . . देखा करता था। प्रत्येक स्त्रीपर चरित्रकी . . . सन्देह करना उसका मानसिक रोग था। . . . इसी दुःखमें त्रस्त रहते हैं कि कहीं उनके . . . कोई चुरा न ले जाय। वे भले-से-भले आद . . . चोर-डाकू ही समझते हैं।

पर इस प्रकारके काल्पनिक दुःखोंकी . . . विक्षिप्त अवस्था छोड़कर मनुष्य विचारसे काम . . . वह विचारके अनुसार ही बाधक परिस्थितियों . . . है और अनुकूल परिस्थितियोंको पाकर प्रसन्न . . . इसलिये . . . मनोवृत्तियाँ . . . परिस्थितियों . . .

निर्भर रहती हैं और उसी ज्ञानसे सञ्चालित होती हैं। भारतवर्षके प्रत्येक शास्त्रने तीन प्रकारके दुःख माने हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। पहले प्रकारके दुःख मनकी कल्पनाओंपर अवश्य ही निर्भर रहते हैं, पर यह बात दूसरे और तीसरे प्रकारके दुःखोंके विषयमें नहीं कही जा सकती। उनकी उत्पत्ति तो बाह्य परिस्थितियोंपर ही निर्भर करती है। *क्या इन दुःखोंका भी कोई सम्बन्ध हमारे मनसे है? क्या हमारा मन इन दुःखोंकी उपस्थितिका कारण किसी प्रकार कहा जा सकता है?*

इस प्रश्नका उत्तर मेरे मित्रने यही दिया है कि हमारे पाप इन दुःखोंको हमारे समीप पहुँचा देते हैं। हमारा सिद्धान्त उपर्युक्त विचारके पूर्ण अनुकूल है। वास्तवमें प्रत्येक बाह्य परिस्थितिकी जड़ मनमें ही है। यहाँ मनको हमें उसके बृहत् रूपमें समझना चाहिये। मन ही संसारका सरजनहार है। इसीको योगवासिष्ठमें ब्रह्मा कहा है। मन एक ओर अन्तर्जगत्‌की सृष्टि करता है और दूसरी ओर बाह्य जगत्‌को रचता है। इन दोनों जगतोंमें समरसता है। हमारी कल्पनाओंके अनुसार हम बाह्य संसारको पाते हैं और बाह्य संसारके अनुसार कल्पनाएँ बनती जाती हैं। बाह्य संसार कल्पनाओं-का कारण है और कल्पना बाह्य संसारका। वास्तवमें कल्पना और बाह्य संसार एक ही वस्तुके दो पहलू हैं।

इस बातकी सत्यता अपने
प्रत्यक्ष होती है। आ
है कि हमारे
रहती हैं;
आविर्भू
परा
नि

लिये हम अपनी वासनाओंको पहचान नहीं पाते। वासनाएँ स्वप्नोंमें छिपेरूपसे ही तृप्त होनेकी चेष्टा करती हैं। जब हम स्वप्नमें देखते हैं कि हमारा कोई मित्र हमसे मिल रहा है अथवा हमारा कोई शत्रु हमारे पेटमें छुरा भोंक रहा है तो समझना चाहिये—इन दोनों प्रकारके अनुभवोंकी जड़ हमारे मनमें ही है। हमारा मन ही सारे स्वप्न-संसारका निर्माण करता है। इस तथ्यको हमारे पुराने ऋषियोंने *आजसे हजारों सदियों पहले* ही जानकर कह दिया था।

जाग्रत् अवस्था भी स्वप्नावस्थाके ही समान है। जो पदार्थ इस अवस्थामें दृश्यमान हैं उन सबका सम्बन्ध हमारे अदृश्य मनसे है। हम अपनी सम्पूर्ण *वासनाओंको नहीं जानते अतएव हम बाह्य संसारकी* अनेक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोंसे अपने आपका सम्बन्ध भी नहीं जान पाते। पर यदि हम अपने-आपको भलीभाँति समझनेकी चेष्टा करें तो *अवश्य ही बाह्य और अन्तर्जगत्‌की समरसताको पहचान सकेंगे।*

जब मनुष्य किसी प्रकारकी दुर्भावना मनमें लाता है तो वह दुर्भावना उसके मनमें एक प्रकारका संस्कार छोड़ जाती है। यह संस्कार ही मनुष्यको उस ओर खींचता है जहाँ वह *अपना बीजरूप छोड़कर वृक्ष बन सके।*
स्वरूप है। आत्माके प्रतिकूल
हमें दुःखकी ओर अपने-
दुःखोंकी सृष्टि कर लेते हैं।

नाश न कर दिया जाय तो वे मनुष्यको निश्चय ही दुःखमें डालेंगे । इन संस्कारोंके नाश करनेके लिये यह आवश्यक है कि वह नियमितरूपसे सद्भावनाओंको मनमें धारण करे, तथा अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार कुछ-न-कुछ दूसरोंके लिये उपकार किया करे । जिस मनुष्यकी भावनाएँ भली होती हैं, और वह इन वासनाओंसे प्रेरित होकर दूसरोंका उपकार करना चाहता है वह ऐसे उपकार करनेके अवसरोंसे वञ्चित नहीं रहता । साथ-ही-साथ उसकी उपकार करनेकी शक्ति और सामर्थ्य भी दिनोंदिन बढ़ती जाती है । यदि आप किसी व्यक्तिकी हृदयसे सेवा करना चाहते हैं, तो आज भले ही आप अपनेमें उक्त सेवाकी योग्यता न पावें, पर आपकी सद्भावना आपको एक दिन वह सामर्थ्य प्रदान करेगी जिससे आप उसकी सेवा कर सकेंगे । जिस समय किसी मनुष्यमें, किसी प्रकारके कार्यके लिये आन्तरिक परिपक्वता हो जाती है, उस समय बाह्य जगत्में भी वह तदनुकूल परिस्थितियोंको पा लेता है । परमात्मा हमारी सच्ची भूखके लिये भोजन अवश्य देते हैं, झूठी भूखके लिये नहीं । जिस मनुष्यकी जिस बातमें सच्ची लगन है वह उसे अवश्य प्राप्त करता है ।

जापर जाकर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू ॥

ईश्वर-प्रार्थना, तर्पण, पूजा-पाठ और पर-सेवा[illegible] यह लाभ होता है कि मनुष्य प्रथम तो कष्ट[illegible] परिस्थितिमें पड़ता ही नहीं और यदि पड़ता है तो व[illegible] उसके प्रति साक्षीभाव धारण करनेमें समर्थ होता है। संसारकी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ, सिने[illegible] फ़िल्मके खेलोंके समान उसे असत् दिखायी देने ल[illegible] हैं । जिस मनुष्यमें मानसिक दृढ़ता नहीं रहती प्रतिकूल परिस्थितिमें उद्विग्न होता है । मान[illegible] दृढ़ता सद्भावना और सदाचारसे आती है । प्रति[illegible] की सद्भावना और सदाचार एक प्रकारका [illegible] धन है जो सङ्कटके समय काम आता है; यह [illegible] कालके लिये 'प्रीमियम' का चुकना है । मनु[illegible] प्रीमियमोंका चुकाना सामान्य अवस्थामें भले ही जान पड़े, पर जब सङ्कट पड़ता है तो उसका वह जान लेता है । हम सद्भावनाओंको मनमें [illegible] करके तथा दूसरोंकी सेवा करके ऐसी बैंकमें [illegible] रुपया जमा कर रहे हैं, जो कभी फेल नहीं ह[illegible] सदा दूसरोंका शुभ-चिन्तन करना अपना ही [illegible] चिन्तन करना है, और दूसरोंके प्रति दुर्भावना अपने-आपके प्रति ही दुर्भावना लाना है, [illegible] जगत् आत्माका ही प्रसार मात्र है ।

कौन यहाँ अपना है ?

कौन यहाँ अपना है ?
जिसको अपना समझा, उसने दुख ही दुख पहुँचाया ।
जिसको अपना समझा, उसने सुख न कभी दिखलाया ॥
जिसको अपना समझा, उसने नित काँटों उलझाया ।
जिसको अपना समझा, उसने मुझको खूब सताया ॥
कौन यहाँ अपना है ?

—बालकृष्ण बलदुवा

अपरिग्रह

[अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः]

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

समाचारपत्रोंमें कई बार ऐसे बच्चोंका वर्णन मैंने पढ़ा है, जो अपने पूर्वजन्मकी स्मृति रखते हैं। अपने पूर्वजन्मके माता पिता, घर प्रभृतिको पहचान भी लेते हैं। मेरे पड़ोसमें आज डिप्टी श्रीरमाशंकरजी चतुर्वेदी आये हैं। मैंने इनकी कन्याके सम्बन्धमें पढ़ा था कि वह भी पूर्वजन्मकी स्मृति रखती है। मैंने अपने यहाँके साप्ताहिक पत्र 'निगम' की पुरानी प्रतियोंको उलटने-पुलटनेमें बहुत समय व्यतीत किया और अन्तमें वह प्रति प्राप्त कर ली जिसमें डिप्टीसाहबकी पुत्री कुमारीकलाके पूर्वजन्मकी स्मृतिका विवरण दिया गया था।

डिप्टीसाहब फैजाबादसे बदलकर परसों मथुरा आये हैं और ठहरे हैं मेरे पड़ोसके बँगलेमें। बड़े सज्जन हैं। कल सन्ध्या समय स्वयं मेरे यहाँ टहलते आये और बड़ी देरतक इधर-उधरकी बातें करते रहे। उनके जानेपर मुझे उनकी कन्याके सम्बन्धमें समाचारपत्रोंमें निकले समाचारका ध्यान आया।

कलकी भेंटने संकोचको दूर कर ही दिया था, मैं स्वयं डिप्टीसाहबके यहाँ पहुँचा। बंगलेके सामने घास-पर कुर्सी डाले वे बैठे थे। मुझे देखते ही हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए। 'नमस्कार डाक्टर बाबू!' मैंने उनके अभिवादनका उत्तर दिया और उनके पास ही नौकर-द्वारा लायी हुई कुर्सीपर बैठ गया।

'आपसे कुछ जानने आया हूँ।'

'कहिये क्या?'

उनके आग्रहके उत्तरमें मैंने 'निगम' की प्रति खोलकर उनके हाथमें दे दी और उस समाचारकी ओर सङ्केत कर दिया।

'यह प्रति कबकी है?' उन्होंने समाचारका शीर्षक मात्र देखकर फिर अपने प्रश्नके साथ कवर-पृष्ठ देखा और तब हँसकर बोले—'आप इतना पुराना समाचार कहाँसे ढूँढ़ लाये हैं? यह तो दो वर्षकी पुरानी प्रति है और अब तो कला सब भूल-भाल गयी है।' उन्होंने पत्र मुझे लौटा दिया।

'क्या बच्चीको बुला देंगे?' उनकी उदासी मुझे अखरी। मैंने अपनी उत्सुकताको बिना दबाये हुए आग्रह किया।

'क्यों नहीं' उन्होंने लड़कीको पुकारा और 'आयी पिताजी!' कहनेके एक मिनट बाद ही दस वर्षकी एक भोली बालिका उनके पास आ गयी।

'यही है' डिप्टीसाहबने उसे मेरे सामने कर दिया हाथ पकड़कर। लड़कीने मुझे प्रणाम किया। मैंने उसे पास बुला लिया। वह सङ्कोचसे सिकुड़ी जाती थी।

'बच्ची, तुम्हारा नाम क्या है?' इस प्रकार परिचय बढ़ानेके लिये मैंने उससे कई प्रश्न किये। उसने सबका उत्तर दिया। प्रश्नोंके ही क्रममें मैंने पूछा 'तुम बता सकती हो कि इससे पहले तुम्हारा जन्म कहाँ हुआ था?' लड़की चुप हो गयी। कई बार पुचकारकर मैंने और डिप्टीसाहबने पूछा, तब कहीं उसने कहा 'काशीमें'।

'काशीमें किसके घर?' लड़कीको और कुछ भी स्मरण नहीं था। वह आगे कुछ भी बता नहीं सकी।

डिप्टीसाहब-जैसे सम्पन्न, सरल और धार्मिक व्यक्ति भला समाचारपत्रोंमें क्यों झूठा आडम्बर करेंगे! अतः उस साप्ताहिक पत्रके विवरणको डिप्टीसाहबके स्वीकार

सत्सङ्गका प्रसाद

(लेखक—पण्डित श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

'हाय पैसा ! हाय पैसा !' की करुण चीख कानों-[illegible] फाड़े डालती है। भला यह भी कोई मनुष्यता है ! जिसका सब कुछ होना चाहिये मनकी शान्तिके लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये; वही मानव आज कौड़ी-कौड़ीके लिये दर-दर भटक रहा है। कहीं क्षण-भरके लिये भी तो उसे शान्ति मिल जाती। बाबाने आगे कहा—'परन्तु यह सब किसलिये ! जिस सुखके लिये यह परिश्रम किया जा रहा है, उसे पानेके पहले ही यदि पागल हो गये, सदाके लिये चल बसे तो यह किस काम आयेगा ! उससे कौन-सी साध पूरी होगी ! [illegible]ीया ! सची बात तो यह है कि जगत्‌की सारी सम्पत्ति भी मनकी एक क्षणकी शान्तिकी तुलनामें कुछ भी नहीं है।'

बाबा बोलते गये—'तुम महात्मा लीलातीर्थको तो जानते हो न ! वे जब डाक्टरी पढ़ रहे थे, उनका नाम था रामहरि। उस समय कालेजमें लड़कियों और लड़कोंमें बड़ी चहल-पहल चल रही थी। एक दिन किसी लड़कीसे कालेजकी कोई वस्तु नष्ट हो गयी। लड़कियोंने एक मतसे उसकी जिम्मेदारी रामहरिपर थोप दी। अधिकारीने रामहरिसे पूछा और जब रामहरिने न उस अपराधको स्वीकार किया, न अस्वीकार, तब उसने उनपर पचास रुपया जुर्माना कर दिया। उन्होंने चुपचाप जुर्मानेकी रकम दाखिल कर दी। [illegible]

[illegible]

प्रयत्न किया जाय, प्रमाण इकट्ठे हों, सोच-विचारसे काम हो तो मेरे पचास रुपये लौट सकते हैं। परन्तु पचास रुपयोंके लिये मैं अपने मनको इतने समय[illegible] बेचैन नहीं रखना चाहता ! प्रमाणित करनेकी चिन्ता, तरह-तरहकी बन्दिशें और व्यर्थका उद्वेग मोल लेकर मैं पचास रुपये नहीं चाहता। जब लोग भोजनके लिये, वस्त्रके लिये, झूठमूठकी बनावट, शान-शौकत और आमोद-प्रमोदके लिये हजारों रुपये पानीकी तरह बहा देते हैं तब मैं अपने मनको बेचैन होनेसे बचानेके लिये पचास रुपयोंका त्याग कर दूँ; इसमें क्या बु[illegible] है ! रुपये गये तो गये, मेरा मन तो शान्त रहेगा।' रामहरिकी इस बातका लड़कोंपर तो प्रभाव पड़ा[illegible] लड़कियाँ भी प्रभावित हुए बिना न रहीं। उ[illegible] पश्चात्ताप किया, क्षमा माँगी, पचास रुपये लौटा दिये और उनका आपसका मन-मुटाव हमेशाके लिये [illegible] गया। इसका यह अर्थ नहीं कि धन कोई चीज नहीं है। यह एक उत्तम वस्तु है, परन्तु है मन[illegible] शान्तिके लिये। मनको शान्त रखते हुए ही उसे कमाओ, भोगो और छोड़ दो। उसके कमाने, भोगने या [illegible] मनकी शान्ति न खो बैठो। उसके द्वारा तुम्हारी [illegible] होनी चाहिये, तुम उसके सेवक नहीं हो।'

मैंने पूछा—'बाबा, आप जो बात कह रहे हैं, [illegible] दो [illegible] हो, [illegible] क्या [illegible] हो सकता है ?'

[illegible]

अपनी बनाकर अभिमानी बननेके लिये ललकते रहना 'गरीब' होना है । भगवान्के राज्यमें न कोई धनी है, न गरीब; सब उनके द्वारा निर्दिष्ट अभिनयको पूर्ण कर रहे हैं । धनको अपना मानना या अपना बनानेकी चेष्टा करना, यही भूल है । एक कथा सुनो ।'

'एक था भिक्षुक । उसका यह नियम था कि जिस दिन जो कुछ मिल जाय, उसको उसी दिन खा, पी, पहनकर समाप्त कर देना । प्रायः उसे प्रतिदिन आवश्यकताके अनुसार भिक्षा मिल जाया करती थी । एक दिन उसे उसकी जरूरतसे ज्यादा एक पैसा मिल गया । वह सोचने लगा इसका क्या उपयोग करूँ ! उसने उस पैसेको अपने चीथड़ेकी खूँटमें बाँध लिया और एक पण्डितके पास गया । भिक्षुकने पण्डितजीसे पूछा कि 'महाराज ! मैं अपनी सम्पत्तिका क्या सदुपयोग करूँ ?' पण्डितजीने पूछा कि 'तुम्हारे पास कितनी सम्पत्ति है ?' उसने कहा—'एक पैसा !' पण्डितजी चिढ़ गये । उन्होंने कहा—'जा-जा, तू एक पैसेके लिये मुझे परेशान करने आया है ।' सच पूछो तो वे उस पैसेका महत्त्व नहीं समझते थे । वह भिक्षुक निराश नहीं हुआ । कई पण्डितोंके पास गया । कहीं हँसी मिली तो कहीं दुत्कार ! किसी सज्जनने बतलाया कि 'अजी, यह तो सीधी-सी बात है । किसी गरीबको दे डालो ।' अब वह भिक्षुक गरीबकी तलाशमें चल पड़ा । उसने अनेक भिखारियोंसे यह प्रश्न किया कि 'क्यों जी ! तुम गरीब हो ?' परन्तु एक पैसेके लिये किसी भिखारीने गरीब बनना स्वीकार नहीं किया । जो मिलता उसीके पास दो-चार पैसेकी पूँजी इकट्ठी मिलती । भिक्षुक अभी गरीबकी खोजमें लगा ही हुआ था कि उसे यही मालूम हुआ अमुक देशके राजा अमुक देशपर चढ़ाई करने जा रहे हैं । उसने लोगोंसे पूछा 'वे क्यों चढ़ाई कर रहे हैं ?' लोगोंने बताया धन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये । भिक्षुक मन-ही-मन सोचने लगा—'अवश्य ही वह राजा बहुत गरीब होगा । तभी तो धन-सम्पत्तिके लिये मार-काट, लूट-पीट और बेईमानीकी परवा न करके धावा बोल रहा है । इसलिये मैं अपनी पूँजी उसे ही दे दूँ । जो धनके लिये दूसरेके साथ बेईमानी, छल, कपट, धोखा और बलात्कार कर सकता है, वास्तवमें वही सबसे बड़ा गरीब है ।'

भिक्षुकने देखा—राजासाहबकी सेना सज-धजकर उनका जय-जयकार बोलती हुई आगे बढ़ रही है । राजासाहबकी सवारी भी बड़ी शानके साथ पीछे-पीछे चल रही है । पहाड़ी मार्ग था, भिक्षुक एक झाड़के नीचे दुबक गया । जिस समय राजासाहबकी सवारी उसके पाससे गुजरने लगी, वह खड़ा हो गया और झटपट अपने चीथड़ेमेंसे पैसा निकालकर राजासाहबके हाथपर डाल दिया । उसने कहा कि 'मुझे बहुत दिनोंसे एक गरीबकी तलाश थी । आज आपको पाकर मेरा मनोरथ पूरा हो गया । आप मेरी पूँजी सम्हालिये ।' राजासाहबने अपनी सवारी रोकवा दी । फौजका आगे बढ़ना भी रोक दिया गया । राजासाहबके पूछनेपर भिक्षुकने अपनी कहानी, परेशानी और विचारकी बात कह सुनायी । राजासाहबपर भिक्षुककी कहानीका इतना असर पड़ा कि उन्होंने धावा बोलनेका इरादा बदल दिया और सारी फौजके सामने यह बात कबूल की कि किसीकी वस्तु बेईमानी, छल-कपट या बलात्कारसे लेना गरीबीका ही लक्षण है । नीतिकारोंने क्या ही सुन्दर कहा है—

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।

गरीब वह है, जिसकी लालच बढ़ी-चढ़ी है । मन सन्तुष्ट हो तो धनी-गरीबका कोई भेद नहीं । महल चाहे जितना बड़ा हो, सोनेके लिये केवल साढ़े तीन हाथ ही जगह चाहिये ।'

बाबाने कहा—तुमने सुना होगा कि एक गरीब मंगा जाड़ेके दिनोंमें तीन हाथकी चद्दर ओढ़े र रहा था। जब मुँह ढकता तो नंगे पैर हो जाते ; पैर ढकता तो मुँह नंगा हो जाता। चद्दर बढ़ सकती नहीं, वह परेशान था। उधरसे एक मस्त त्मा आ निकले। उन्होंने उसकी परेशानी देखकर हा—'अरे मूर्ख! अगर चद्दर नहीं बढ़ सकती तो ा तू छोटा नहीं हो सकता?' भिखमंगेकी समझमें त आ गयी, उसने अपना पैर सिकोड़ लिया। अब सका सारा बदन चद्दरके नीचे था। लालचको जितना ढ़ाओ उतना बढ़े, जितना घटाओ उतना घटे। जब म शारीरिक आरामके लिये इतना उद्योग करते हो ब क्या मानसिक सुख-शान्तिके लिये लालच भी नहीं छोड़ सकते? इसीने तो गरीब और धनीका भेद पैदा किया है। इसके मिटते ही सब एक-से हो जाते हैं और सभी वस्तुओंको भगवान्‌की दी हुई समझकर उनका उपयोग करते समय परम सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं।

मैंने पूछा—'बाबा, जब कभी ऐसा जान पड़ता है कि मैं किसीका कृपापात्र बनकर उसकी दी हुई वस्तुओंका उपयोग कर रहा हूँ तब उपकारके भारसे दब जाता हूँ और ऐसे अवसरोंपर दबावके कारण उसके कहे बिना भी अपने मनके विपरीत काम करने लगता हूँ—यह समझकर कि इसीमें उसकी प्रसन्नता और भलाई है।'

बाबा हँसे। उन्होंने कहा—'जबतक मेरा-तेरा, इसका-उसका भेद बना है तबतक ऐसा ही होता है। यह सब मनकी दुर्बलता है, कमजोरी है। भगवान्‌के अतिरिक्त और कौन कृपालु है। भगवान्‌के सिवा और किसने कौन-सी वस्तु दी है! उसके उपकारके अतिरिक्त और किसका उपकार है! मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ कि यदि तुम भगवान्‌के अतिरिक्त और किसीकी कृपा स्वीकार करोगे, और किसीपर विश्वा करोगे तो दुःख पाओगे। आज नहीं तो दस दिन ब सही, दर-दर ठोकर खाकर भगवान्‌की शरणमें आ ही पड़ेगा। तुम्हारे मनपर किसीका प्रभाव क्यों पड़ है? क्या भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई ऐसी शक्ति है, जो तुम्हारे मनपर दबाव डाल सकती है!'

'परन्तु तुम्हारा कहना भी सच है। मनुष्य जिसके पास रहता है, जिसका खाता है, जिसके उपकारोंको स्वीकार करता है उसका कुछ-न-कुछ असर जरूर पड़ता है। परन्तु वह असर ही तो उसके असरसे बाहर निकालता है, भगवान्‌की शरणमें ले जाता है। सुनो! मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।'

'एक थे साधु। बड़े विरक्त, बड़े मस्त और बड़े मौजी। शायद वे पंजाबके रहनेवाले थे। वे ज मस्तीके साथ गाँवमें घूमनेके लिये निकलते त कहते-फिरते 'कहीं कब्र है कब्र!' लोग उनका अभिप्राय नहीं समझते और बड़े आश्चर्यमें पड़ ज कि ये महात्मा हर समय कब्र-कब्र क्यों रटा करते हैं। उसी गाँवमें एक बड़े ज्ञानी और बुद्धिमान् सेठ र थे। एक दिन अचानक उनकी समझमें महात्माजी बात आ गयी। जिस समय महात्माजी 'कहीं है कब्र' कहते हुए रास्तेमें चल रहे थे, सेठजी अ खड़े हो गये और मुसकराते हुए बोले—'कहीं मु मुर्दा।' महात्माजीने अपने शरीरकी ओर सङ्केत और कहा यह मुर्दा है। सेठजीने अपने मक ओर इशारा किया और कहा 'यह कब्र है!' महा मकानमें घुस गये और बारह वर्षतक उससे नहीं निकले। सेठने अपनी ओरसे उनकी कोई छेड़-छाड़ नहीं की।'

तेरहवें वर्षमें सेठजीके घर डाका पड़ा। उनकी अधिकांश सम्पत्ति लुट गयी और भाग महात्माजीने सोचा कि मैंने बारह वर्षतक इस

[illegible] है। इसकी मेरा भरोसा नहीं है। इस समय तुम्हें इसका उपयोग करना चाहिये, जिससे सेठका माल मिल जाय।' उन्होंने चोरोंका पीछा किया। चोरोंने पुलिसके [illegible] माल एक कुएँमें डाल दिया और अपने-अपने घर चले गये। महात्माजीने अपनी लँगोटी फाड़कर उस कुएँपर एक निशान बना दिया। पुलिसको खबर दे दी। सारा धन मिल गया। गाँवके लोग महात्माजीके इस कार्यकी प्रशंसा करने लगे। सेठजी बड़े विचारवान् पुरुष थे। उन्होंने सोचा कि जो महात्मा अपनेको मुर्दा समझकर कब्रमें रहनेके लिये आये थे, वे इस प्रकारका व्यवहार करें, यह कहाँतक उचित है! हो-न-हो, उनका वैराग्य कुछ ठंढा पड़ गया है। सेठजीने महात्माजीके पास जाकर बड़ी नम्रतासे पूछा—'भगवन्! मुर्दा सच्चा या कब्र सच्ची?' महात्माजीकी आँखें खुल गयीं। अपनी सारी स्थिति उनके सामने नाच गयी। उन्होंने देखा कि उपकारोंके भारसे मैं कितना दब गया हूँ। उन्होंने कहा—'भाई! कब्र सच्ची, मुर्दा झूठा।' इसके बाद, महात्माजी वहाँसे चले गये और फिर जीवनभर उन्होंने कभी किसीके घर दो बार भिक्षा नहीं ली। वे एक गाँवमें भी दो दिन नहीं रहते थे। बाबाने आगे कहा—'भाई! यदि तुम्हें किसीका उपकार स्वीकार ही करना हो तो केवल भगवान्का करो। दूसरोंसे सम्बन्ध जोड़ते ही बँध जाना पड़ता है।'

मैंने पूछा—'बाबा, ऐसा दृढ़ निश्चय हो कैसे?'

बाबा—'दृढ़ निश्चयके लिये समय और अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है। निश्चय तो केवल एक क्षणमें होता है। जबतक निश्चय होनेमें देर होती है तबतक यही समझना चाहिये कि तुम निश्चय करनेमें हिचकिचा रहे हो, वैसा करनेकी तुम्हारी इच्छा नहीं है। इस [illegible] नैमिषारण्यके पास ही एक [illegible] नामक ग्राम है। वहाँ एक ब्राह्मणदम्पती निवास करते थे। दोनों बड़े सदाचारी और भगवद्भक्त थे। वे शास्त्रों और भगवान्पर बड़ा विश्वास रखते थे। दोनोंके हृदयमें सत्सङ्गका संस्कार था। एक बार ब्राह्मण बीमार हुआ और ऐसा बीमार हुआ मानो उसकी मौत होनेवाली हो। ब्राह्मण-पत्नीने अपने पतिकी मरणासन्न स्थिति देखकर सोचा कि अब तो ये इस लोककी लीला समाप्त करनेवाले ही हैं। कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे इनका परलोक बने। उन दिनों उस गाँवमें एक दण्डी संन्यासी आये हुए थे। ब्राह्मण-पत्नीने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि आप मेरे पतिको आतुर संन्यास दे दीजिये, जिससे इनका कल्याण हो जाय। पहले तो स्वामीजीने बहुत मना किया, परन्तु फिर ब्राह्मणकी मरणासन्न दशा देखकर संन्यास दे दिया। उस समय ब्राह्मण बेहोश था, इसलिये उसे अपने संन्यास-ग्रहणकी बात मालूम नहीं हुई।'

'संयोगकी बात, कुछ ही दिनोंमें ब्राह्मण स्वस्थ हो गया। ब्राह्मणी शक्तिभर अपने पतिकी सेवा करती, परन्तु स्पर्श नहीं करती। अपनी पत्नीका यह ढंग देखकर ब्राह्मणने पूछा—'प्रिये! तुम इतने प्रेमसे मेरी सेवा करती हो, परन्तु अलग-अलग क्यों रहती हो?' पत्नीने कहा—'भगवन्! आपको मरणासन्न समझकर मैंने संन्यास-दीक्षा दिलवा दी। अब मैं आपके स्पर्शकी नहीं, केवल सेवाकी अधिकारिणी हूँ।' ब्राह्मणने कहा—'अच्छा तो मैं संन्यासी हो गया। अब एक घरमें रहना और काठकी बनी स्त्रीकी सेवा स्वीकार करना भी मेरे लिये पाप है।' वह ब्राह्मण उसी क्षण घरसे निकल पड़ा और विधिवत् संन्यास-दीक्षा लेकर वेदान्तके स्वाध्याय तथा ब्रह्मचिन्तनमें अपना समय व्यतीत करने लगा।'

'वर्षोंके बाद हरिद्वारमें कुम्भका मेला पड़ा। ब्राह्मणी स्नान करनेके लिये वहाँ गयी। जब उसे मालूम

हुआ कि मेरे पतिदेव यहीं संन्यासीके वेषमें रहकर संन्यासियोंको वेदान्तका अध्यापन करते हैं तब वह भी कुछ स्त्रियोंके साथ उनका दर्शन करनेके लिये गयी। स्वामीजीका नाम था ज्ञानाश्रम, वे उस समय संन्यासियोंमें वेदान्तका प्रवचन कर रहे थे। उनके दोनों हाथ एक-दूसरेके नीचे बँधे हुए थे और सिर सीधा था। अपनी पत्नीको देखते ही उन्होंने कहा—'अरे, तू यहाँ आ गयी?' स्त्रीके मुँहसे अचानक निकल पड़ा—'स्वामीजी! क्या अबतक आप मुझे भूल नहीं सके?' उसी क्षण स्वामीजीका सिर नीचे झुक गया। हाथ बँधा-का-बँधा रह गया। उसके बाद स्वामी ज्ञानाश्रमजी तीस वर्षतक जीवित रहे। परन्तु न तो उनका सिर हिला और न तो हाथ खुले। शौच, स्नान, भोजन भी दूसरोंके करानेसे ही करते। उनके मुँहसे कभी एक शब्द भी नहीं निकला। एक बार विधर्मियोंने उनकी पीठमें बर्छा भोंक दिया, उनके गुह्य स्थानमें लकड़ी डाल दी, फिर भी वे ज्यों-के-त्यों रहे। जब वहाँके ताल्लुकेदारको इस बातका पता चला और उन्होंने विधर्मियोंके घर जलानेकी आज्ञा दे दी, तब उनके हाथोंका बन्धन खुला और उन्होंने हाथ उठाकर मना किया। परन्तु फिर उनका वह हाथ जीवनभर उठा ही रहा, गिरा नहीं। उनका एक क्षणका निश्चय जीवनदर्शन ज्यों-का-ज्यों अक्षुण्ण रहा। ज्यों-ज्यों सिर और [illegible] वस्तुओंका त्याग नहीं कर सकते! करना तो अवश्य करना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक [illegible] भाग्य है। जिसके जीवनमें कोई महानिश्चय नहीं, जिसके जीवनकी शैली, साधना और [illegible] नहीं है, वह साधक नहीं है, मनुष्य नहीं है, भगवत्प्राप्तिका अधिकारी भी नहीं है।'

मैंने पूछा—'बाबा तब करना क्या चाहिये?'

बाबाने हँसते हुए पूछा—'कब करनेकी [illegible] रहे हो, आजके लिये, कलके लिये या दूसरे [illegible] लिये? यदि तुम्हें इस बातका पता नहीं कि तुम [illegible] समय क्या कर रहे हो तब आगेके लिये कर्तव्य [illegible] तुम्हारे जीवनमें उतर भी सकेगा, इसका क्या [illegible] है? देखो, इस समय तुम क्या कर रहे हो! [illegible] समय तुम्हारी दृष्टि इतनी पैनी हो जायगी कि [illegible] वर्तमान जीवनको, कर्मको और वृत्तियोंको देख [illegible] उसी समय तुम स्थूल शरीर और संसारसे [illegible] ऊपर उठ जाओगे और सारा-का-सारा प्रपञ्च [illegible] एक सङ्कल्पके रूपमें मालूम पड़ेगा। तुम [illegible] जैसे स्थूल शरीरकी प्रवृत्तियोंमें उलझ रहे हो, वैसे [illegible] अपने आत्मिक जीवनकी पहेलियोंमें उलझ [illegible] शरीरके कर्तव्यकी नहीं, मनके कर्तव्यकी ओर [illegible]

[illegible]

महाराज, मैं शरीरसे तो अछूत हूँ ही, आप लोगोंके घाटपर स्नान करके मैंने अपराध भी किया। परन्तु मैं अपने मनको अछूतपनेसे अलग रखता हूँ। जिस साधुने मुझे मारा वह क्रोधावेशमें था, इसलिये उसका मन अछूत हो गया था। उसके अछूत मनका असर मेरे मनपर न पड़ जाय, इसलिये मैंने दुबारा स्नान किया है। क्योंकि क्रोध भी तो एक अछूत ही है न! साधुओंके मुखिया अवाक् रह गये, अपने अन्तर्जीवन-पर वह इतनी पैनी दृष्टि रखता है, यह जानकर उनकी उसपर बड़ी श्रद्धा हुई।'

'जो अपने जीवन, सङ्कल्प और कर्मोंपर वर्तमानमें ही दृष्टि रखता है, वह न केवल अपने जीवनको देखता है, बल्कि सम्पूर्ण जगत्के कर्म और उनके महाकर्ता भगवान्को भी देखने लगता है। यह जगत् एक लीला है और इसके लीलाधारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण। लीला और लीलाधारी दोनोंको देखते रहना, इस दर्शनके आनन्दमें मग्न रहना, यही भक्तका स्वरूप है। ज्ञानीका भी यही स्वरूप है। उसकी साक्षिता यहीं जाकर पूर्ण होती है। ज्ञानी और भक्त दोनों ही कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे अलग हैं और दोनोंकी दृष्टि महाकर्ता-महाभोक्ता भगवान्पर लगी रहती है। यह कोई परोक्ष विश्वास नहीं, प्रत्यक्ष दर्शन है। तब क्या करना चाहिये, यह प्रश्न कहाँ बनता है? जो करना चाहिये, वह भगवान् कर रहे हैं। शरीरको, संसारको, व्यष्टि और समष्टि मनको, जो-कुछ वे कराते हैं, करने दो। तुम शान्तरूपसे उनकी लीलाकी तरङ्गोंको शुद्ध चिन्मयरूपमें देखा करो वे तुम्हारे लिये सब कुछ तो कर रहे हैं।'

वृन्दावनकी एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। एक ग्वालिन अपने बाखरसे गौओंका गोबर उठा-उठाकर बाहर ले जा रही थी। परन्तु कोई दूसरा आदमी न होनेके कारण वह अधिक परिमाणमें नहीं उठा पाती थी और इसके लिये चिन्तित हो रही थी कि कहीं इस काममें ज्यादा देर लग गयी तो मैं अपने प्यारे श्यामसुन्दरको समयसे नहीं देख पाऊँगी। वह चाहती थी कि कोई और आ जाय तो मैं अपने सिरपर अधिक-से-अधिक गोबर उठवाकर अपना काम झटपट खतम कर दूँ। उसी समय श्रीकृष्णने पहुँचकर कहा कि 'अरी गोपी, मुझे नेक माखन दे दे।' गोपीने कहा—'यहाँ बिना काम किये तो कुछ मिलनेका नहीं।' श्रीकृष्णने कहा—'क्या काम करूँ?' गोपीने कहा—'तुम गोबरकी खाँची उठाकर मेरे सिरपर रख दिया करो।' श्रीकृष्णने पूछा—'तब तू मुझे कितना माखन देगी?' गोपीने कहा—'जितनी खाँची उठा दोगे, उतने लोंदे।' श्रीकृष्णने कहा—'परन्तु ग्वालिन, इसका निर्णय कैसे होगा कि मैंने कितनी खाँचियाँ उठायीं?' गोपी बोली—'प्रत्येक खाँची उठानेपर गोबरकी एक बिंदी तुम्हारे मुँहपर लगा दिया करूँगी।' श्रीकृष्णने वैसा ही किया। उनका विशाल ललाट और सुकोमल कपोल गोबरकी बिन्दियोंसे भर गया। गोपीने उनकी अञ्जलि माखनके लोंदोंसे भर दी। श्रीकृष्णने कहा—'अरी ग्वालिन, नेक मिश्री तो दे दे।' गोपीने कहा—'कन्हैया, इसके लिये तुम्हें नाचना पड़ेगा।' श्रीकृष्ण नाचने लगे। स्वर्गके देवता आकाशमें स्थित होकर श्रीकृष्णकी यह प्रेम-परवशता देख रहे थे। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। सचमुच श्रीकृष्ण प्रेम-परवश हैं। वे अपने प्रेमियोंके लिये छोटी-मोटी, ऊँची-नीची सब प्रकारकी लीलाएँ करते ही रहते हैं। तुम स्वर्गके देवता हो। तुम भगवान्के पार्षद, उनके निज जन हो। तुम अपनेको स्थूल शरीर मत समझो। अपने दिव्यरूपमें स्थित होकर आकाशमें स्थित दिव्य देवताओंके समान लीला और लीलाधारीको देखते रहो। तुम किसीके बन्धनमें नहीं हो, किसीके अधिकारमें नहीं हो, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप हो। जगत्का करुणक्रन्दन, यह चीख, यह आर्तनाद तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकता। सचमुच तुम्हारा ऐसा ही स्वरूप है। तुम ऐसे ही हो।

सती सुकला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[गताङ्कसे आगे]

[५]

सुकला बोली—मैंने स्त्रीके धर्मका ऐसा ही रूप सुना है इसलिये मैं पतिसे विहीन होकर नाना प्रकारके इन भोगोंका उपभोग कैसे कर सकती हूँ ? पतिके बिना मैं जीवन धारण नहीं करूँगी।

भगवान् विष्णुने कहा—सुकलाके मुँहसे ऐसे सुन्दर पातिव्रतधर्मका वर्णन सुनकर सखियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उसकी प्रशंसा करने लगीं। ब्राह्मण और देवता सभी उस पुण्यवती नारीका, पतिके प्रति उसका अनुराग देखकर, ध्यान करने लगे। उधर ईर्ष्या और स्वार्थपरतासे इन्द्रका मन भर गया। सुकलाकी असाधारण दृढ़ता देखकर इन्द्रने सोचा—मैं इस स्त्रीका पतिप्रेम और धैर्य भङ्ग करूँगा। उन्होंने कामदेवको बुलाया। कामदेव अपनी पत्नी रतिके साथ आये। इन्द्रने उनसे सुकलाको अपनी ओर आकर्षित करने और पतिप्रेमको शिथिल कर देनेका अनुरोध किया। कामदेवने कहा—'हे देवेश! मैं आपकी पूरी सहायता करूँगा। मैं ऋषि-मुनि, देव-दानव सबको जीतनेकी शक्ति रखता हूँ। एक अबला नारीको जीतना मेरे लिये कौन-सी बात है ! मैं कामिनियोंके [illegible] निवास करता हूँ। देव ! नारी मेरा घर है। मैं सदा उसीमें रहता हूँ। वहीं रहकर मैं समस्त पुरुषोंको नचाता हूँ। नारी स्वभावतः अबला है। वह मेरे [illegible] मेरी प्रेरणासे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मैं [illegible] नहीं होगा। हे सुरेश ! मैं [illegible] [illegible]।'

इन्द्रने कहा—मैं रूपवान्, धनवान् [illegible] कौतुकके लिये उस स्त्रीको विचलित करूँगा। [illegible] मैं काम, क्रोध, भय, लोभ, मोहके कारण [illegible] कर रहा हूँ—मैं केवल उसकी परीक्षा लेना [illegible] हूँ कि उसका पातिव्रतधर्म कैसा है। मैं [illegible] धारण करके उसे अपनी ओर आकर्षित करूँगा; इस काममें मेरी सहायता करना; उसके [illegible] प्रति मोह उत्पन्न कर देना।

कामदेवको आदेश देकर इन्द्रने [illegible] धारण किया। सुन्दर रूप, सुन्दर वस्त्र, सुन्दर मन्द-मन्द मुसकराहट, सुगन्धित पुष्प[illegible] किये इन्द्र सुकलाके स्थानपर पहुँचे। पर उसने [illegible] ओर ध्यान भी न दिया। सुकला जहाँ-जहाँ [illegible] इन्द्र उसके पीछे लगे रहते। इतनेपर भी [illegible] सफलता न हुई। तब इन्द्रने एक दूती [illegible] उसके पास भेजा। वह भी एक दिन सुकलाके [illegible] पहुँची और हँसती हुई बोली—'अहा ! कितना [illegible] है ! कितना धैर्य है ! कितनी शान्ति है ! [illegible] क्षमा है ! तुम्हारे-जैसी गुणवती और [illegible] संसारमें नहीं है। हे कल्याणी ! तुम कौन हो, [illegible] कहाँ हो ! जिसकी तुम भार्या हो वह पुरुष [illegible] पुण्यवान् धन्य और भाग्यशाली है।'

[illegible]

परिचय है। अब तुम बोलो, कौन हो और क्यों से यह सब पूछ रही हो!

दूती बोली—भद्रे! तुम्हारा निर्दय पति तुम्हें छोड़कर चला गया है। उसने तुम्हारे प्रेमका अनादर त्या है। तुम उसे लेकर क्या करोगी! वह पापी है; न साध्वी पत्नी हो। क्या मालूम वह कहाँ है, किस वस्थामें है—मर गया है या जीता है। तुम अब उसके लिये व्यर्थ दुःख पा रही हो। तुम क्यों सोनेके समान दिव्य कान्तिवाली अपनी देहको मिट्टी कर रही हो! मनुष्य बचपनमें बालक्रीड़ाके सिवा और कोई सुख नहीं प्राप्त करता। बुढ़ापा दुःख भोगते बीतता है। बस, जवानीके दिन बच जाते हैं, जिनमें मनुष्य सुख भोगता है। जबतक जवानी है तभीतक मनुष्य मनमाना सुख भोग सकता है। जवानी बीत जानेपर सब सूना हो जायगा। बुढ़ापा आनेपर कोई काम नहीं बनता—आदमीका समय चिन्ताओंमें बीत जाता है; वह कभी सुख नहीं प्राप्त कर सकता। हे भद्रे! जिस प्रकार जलके सूख जानेपर पुल बाँधना बेकार है उसी प्रकार यौवन बीत जानेपर भोग-विलासका प्रयास करना बेकार है। इसलिये जबतक जवानी नहीं जाती तबतक सुख भोग कर लो। भद्रे! मदिराका स्वाद लो। कामके बाण तुम्हारा शरीर जला रहे हैं। वह देखो, वहाँ एक रूप-गुणशील पुरुष बैठे हैं। वह पुरुषोंमें श्रेष्ठ, ज्ञानवान्, गुणवान्, रूपवान् हैं। तुम्हारे प्रति प्रेमसे उनका हृदय भरा है।

सुकलाने कहा—जीवका बचपन, जवानी और बुढ़ापा नहीं होता। जीव स्वयं सिद्ध, अमर, अकाम और सब लोगोंमें आत्मरूपसे वर्तमान है। जैसे घरका एक आकार है, उसी तरह शरीरका भी एक रूप है। बढ़ई जिस तरह सूतसे स्थानको नापकर मन्दिर बनाता है, शरीर-रचनाको भी वैसा ही जानना । अनेक प्रकारकी लकड़ियों, मिट्टी, पत्थर और जलसे घर बनता है। पीछे उसपर पलस्तर किया जाता है और रंग करनेवाले काठ और दीवारोंपर रंग करते हैं। वायुद्वारा प्रतिदिन धूल आदिसे घर मलिन होता रहता है। इसे घरका मध्यकाल कहते हैं। घरका रूप बिगड़नेपर घरका मालिक उसपर लेप कर देता है। गृहस्वामीकी इच्छासे गृह फिर रूप-सम्पन्न हो जाता है। हे दूती! इसीको तरुणाई या जवानी कहते हैं। बहुत दिनों बाद गृह जीर्ण हो जाता है। सब काठ स्थानभ्रष्ट होकर जड़से हिलने लगते हैं। उस समय घर लेपन और मरम्मतका बोझ भी सहन नहीं कर सकता। किसी तरह उसका ढाँचा-मात्र खड़ा रहता है। हे दूती! यही घरका बुढ़ापा है। उसके बाद गृहवासी घरको गिरता-गिरता देखकर छोड़ देता है और दूसरे घरमें रहने लगता है। मनुष्य-का बचपन, जवानी और बुढ़ापा भी इसी तरह घरके समान है। मनुष्य बचपनमें ज्ञानहीन होता है, फिर वस्त्र-आभूषणोंसे शरीरको सजाता है। चन्दन तथा अन्य सुगन्धित द्रव्योंके लेप और ताम्बूल (पान) इत्यादिके द्वारा शृङ्गारसम्पन्न शरीर रूपवान् बन जाता है। भीतर, बाहर सब रससे पुष्ट होता है। रसके पोषणसे ही मनुष्यका विकास होता है। मांस बढ़ता है और रसके संसर्गसे नवीन रूप धारण करता है। रस-सञ्चयसे सब अङ्ग अपने-अपने रूपको प्राप्त करते हैं। रस और मांस दोनोंके द्वारा देहकी वृद्धि होती है और इन दोनोंके द्वारा ही उसका स्वरूप बनता है। हे दूतिके! इसी स्वरूपद्वारा मरणशील रसबद्ध होता है। इस प्रकार जो नष्ट हो जाता है उसे किस तरह सुरूप कहा जाय और उससे क्यों प्रेम किया जाय? यह शरीर मल-मूत्रका आधार है। यह अपवित्र है, सदा ही क्षयको प्राप्त हो रहा है। यह पानीके बुलबुलेके समान है, तब उसके रूपका तुम क्या वर्णन करती हो! पचास वर्षतक ही देह दृढ़ रहती है। उसके

बाद वह शिथिल होने लगती है, दाँत कमजोर होने लगते हैं; मुँहसे लार टपकती है; आँखोंकी ज्योति कम हो जाती है; सुनायी कम पड़ता है। शरीर असमर्थ होने लगता है और बुढ़ापा छा जाता है। बार-बार रोगोंका आक्रमण होता है। वह रस सूखने लगता है। शरीरकी कोई शक्ति नहीं रह जाती। उस समय वह रूपकी लालसा नहीं करता। जिस तरह जीर्ण गृह नष्ट हो जाता है उसी तरह बुढ़ापेमें कलेवर नष्ट हो जाता है। मेरे अंदर रूप आया है; धीरे-धीरे चला जायगा। फिर मेरे रूपवती होनेका क्या अर्थ है ? हे दूतिके! तुम मेरे पास आकर जिस पुरुषके लिये कह रही हो वह पुरुष कौन है ? तुमने मेरे अंदर कौन-सा रूप देखा है ? बोलो! तुम्हारे उस पुरुषके अङ्गोंसे मेरे अङ्ग न अधिक हैं न कम हैं। जैसी तुम, वैसा वह और वैसी ही मैं हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं। बोलो तो इस भूतलपर किसके पास रूप नहीं है; कौन रूपवाला नहीं ? तुम देखोगी, इस संसारमें सब उन्नतियोंका पतन होता है। हे दूती! सब चराचरमें एकमात्र आत्मा ही वास करता है। वह अरूप है, वही रूपवान् भी है। वह दिव्य है; वह सबमें समाया है; वह शुद्ध और पवित्र है। जिस तरह घड़ोंमें जल रहता है उसी तरह वह सबमें निवास करता है। जिस तरह घड़ोंके फूट जानेपर सब जल एक हो जाता है उसी तरह पिण्ड-समूहका नाश हो जानेपर आत्मा एकत्वको प्राप्त करता है। तुम इसे नहीं समझती किन्तु मुझे संसारियोंका एक ही रूप दिखायी पड़ता है। जिसके लिये तुम यहाँ आयी हो उसका परिचय मुझे दो। यदि वह भोगका इच्छुक है तो उस अपूर्व पुरुषको मुझे दिखाओ। रोगसे शिथिल इसी शरीरमें दुर्गन्ध पैदा हो जाती है। जूँ और कीड़े पड़ जाते हैं। कीड़ोंसे फोड़ा और खुजली हो जाती है; जूँके कारण पीड़ा होती है जो धीरे-धीरे सारे शरीरमें फैल जाती है। नाखूनोंको रगड़नेसे खुजली शान्त हो जाती है। सुनो, प्रे[illegible] कार्य भी वैसा ही है। नाशवान् व्यक्ति सुन्दर भे[illegible] करते हैं; सुस्वादु रसोंका पान करते हैं। उनकी ख[illegible] पीयी चीजें प्राणवायुके द्वारापाकस्थलीमें लायी जाती हैं। हे दूतिके! प्राणियोंकी सब खायी-पीयी चीजें पाकस्थ[illegible] एकत्र होती हैं। वायुसे जल बाहर निकल जाता है। फिर सारभूत रस रक्तके रूपमें बदल जाता है। [illegible] वह रक्त शुद्ध वीर्य बनकर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रयाण करता है। वहाँसे समानवायुद्वारा आकृष्ट होकर और लाया ज[illegible] फिर कहीं स्थिर नहीं रहता। सर्वदा चञ्चल रहता है। प्राणियोंके कपालमें छः कीड़े विद्यमान हैं। दो कानोंक[illegible] जड़, नाकके अग्रभाग और नेत्रोंमें इनका स्थान है। इनका आकार छोटी अँगुलीके समान है। इनका [illegible] नवनीत (मक्खन) के समान है। इनमेंसे कुछकी [illegible] लाल और कुछकी काली है। कानकी जड़में जो की[illegible] हैं उनके नाम पिंगली और शृंखली हैं। नाकके अग्र[illegible] भागमें स्थित कीड़ोंके नाम चपल और पिप्पल हैं। आँखोंके मध्यस्थित कीड़ोंके नाम शृंगली और जङ्गली हैं। प्राणिदेहमें इस प्रकार १५० कीड़े विद्यमान हैं। लला[illegible] के अंदर कुछ कीड़े हैं जो सरसोंके दानोंके समान हैं। ये देहधारियोंमें कपालरोग पैदा करते हैं। इनके अतिरि[illegible] दूसरे सन्तानोत्पत्तिवाले महाकीटाणु भी हैं। उनक[illegible] बात भी तुमसे कहती हूँ। उन कीड़ोंका आक[illegible] चावलके समान है; रंग भी चावलके समान है। उ[illegible] कीड़ोंके मुखमें यदि दो रोयें हों तो वैसे कीड़ेवा[illegible] मनुष्य तुरंत नष्ट हो जाते हैं। अपने उपयुक्त स्थान[illegible] स्थित प्राजापत्य (प्रजा अथवा सन्तान उत्पन्न करनेवाले कीड़ोंके मुँहमें रसरूपमें वीर्यपात होता है। प्राजापत[illegible] मुँहद्वारा उस वीर्यका पान करके उन्मत्त हो उठता है। तालुके भीतर वह वीर्य चञ्चल हो जाता है। इ[illegible] पिङ्गला और सुषुम्ना नामक तीन नाडियाँ हैं। उस नाडी-जालके पञ्जरमें वीर्यके कारण सब प्राणियोंमें काम

ती खुजली उत्पन्न होती है। उससे पुरुष और स्त्रीको उत्तेजना होती है। उस समय स्त्री-पुरुष प्रमत्त होकर संग करते हैं। उससे क्षणमात्रके लिये सुख होता है। फिर कुछ समयके बाद वही खुजली उत्पन्न हो जाती है। हे दूती! सर्वत्र यही बात देखी जाती है। इसलिये तुम अपने घर लौट जाओ। तुम्हारे प्रस्तावमें कुछ भी अपूर्व बात नहीं है जिसको करनेका लोभ मुझे हो।

विष्णु बोले—सुकलाके पाससे निराश होकर दूती इन्द्रके पास लौट गयी और संक्षेपमें सब बातें सुना दीं। इन्द्रने सुकलाकी बातें सुनकर विचार किया कि पृथ्वीपर ऐसी योगयुक्त, सुसम्बद्ध और ज्ञानवर्द्धक बातें क्या कोई स्त्री कह सकती है! अवश्य यह महाभागा पवित्र और सत्यरूपा है। फिर इन्द्रने कन्दर्प (कामदेव) से कहा कि मैं तुम्हारे साथ कृकलकी पत्नी सुकलाको देखने चलूँगा।

अभिमानसे उन्मत्त होकर कामदेवने कहा—हे देवेश! आप उस स्त्रीके पास चलिये। मैं उसका मान, धैर्य और व्रत भङ्ग करूँगा। मेरे सामने वह स्त्री बेचारी क्या है!

इन्द्रने कहा—हे अनङ्ग! तुम व्यर्थ बहुत बकते हो। तुम उस स्त्रीको नहीं जानते। वह सत्यबलसे सुदृढ है; धर्ममें स्थिर है इसलिये अजेय है। यहाँ तुम्हारा किया कुछ न होगा।

कामदेवने चिढ़कर क्रोधमें कहा—मैंने देवों और ऋषियोंका बल नष्ट किया है। इस नारीका बल कितना है! आप मुझसे क्या कह रहे हैं! आपके सामने ही मैं उस नारीका नाश करूँगा। आगका तेज देखते ही जिस तरह मक्खन गल जाता है, उसी तरह अपने तेज और रूपसे मैं उसे द्रवीभूत करूँगा। आप मेरे त्रिलोकविमोहन तेजकी निन्दा क्यों करते हैं! जल्द चलिये और मेरा पराक्रम देखिये।

इन्द्र बोले—मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता। तुम्हारी शक्ति भी जानता हूँ फिर भी मुझे यह नारी तुम्हारे लिये अजेया मालूम पड़ती है। वह पुण्यकर्मा, पुण्यदेहा और धैर्यवती होनेके कारण डिगनेवाली नहीं है। पर जो हो, मैं तुम्हारे साथ चलकर तुम्हारा पौरुष और बल देखूँगा।

इसके बाद इन्द्र रति, काम और दूतीके साथ उस पतिव्रताके पास गये। सती सुकला अकेली घरके भीतर बैठी थी और पतिके चरणोंके ध्यानमें लगी थी। जिस तरह योगी अन्य सब कल्पनाओंको छोड़कर केवल ध्येयमें ही चित्तको स्थिर कर लेते हैं वैसे ही सुकला भी सब विषयोंसे ध्यान हटाकर पतिके चरणोंमें ध्यानस्थ थी। इन्द्र और कामदेव दोनों अपूर्व रूप और प्रभावसे सतीको अस्थिर और मोहित करनेकी चेष्टा करने लगे। पर सुकला विचलित न हुई। उसका ध्यान इनके रूपपर नहीं गया। वह पतिव्रता और सत्यनिष्ठा नारी ऊँची मनोदशामें थी। सुकलाने इन लोगोंको देखा। फिर इन्द्रको देखकर सोचा—इसी व्यक्तिने पहले मेरे पास एक दूतीको भेजा था। यह दुष्टस्वभाव व्यक्ति मेरा कुसमय जानकर मेरे प्रति वासनान्ध हो रहा है। किन्तु सतीके आत्मभावसे मर्दित होकर रतिसमेत मन्मथ किस तरह जीवन धारण करेगा? मेरा यह देह इस समय शून्य, चेष्टाहीन और मृतप्राय हो गयी है। मेरा कामविकार नष्ट हो गया है। आँखोंके सामने नाचता हुआ हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति मरे जानवर जैसा मालूम पड़ता है, मुझे भोगनेको इच्छुक [illegible] व्यक्ति भी वैसा ही दिखायी देता है।

सती सुकला इस प्रकार विचारकर अपने पतिके सत्यरूपी रस्सीसे बँधकर अपने भवन चली गयी।

विष्णुने कहा—इन्द्र सुकलाका मनोरथ समझकर कामदेवसे बोले—सती सुकलाको जीतनेकी शक्ति तुममें नहीं। यह सती अपने पतिके [illegible]

वीरकी भाँति धर्मरूप धनुष और ज्ञानरूप उत्तम बाण धारण करके इस समय युद्धमें अवतीर्ण हुई है। यह सती युद्धमें तुम्हें जीतनेमें समर्थ है। तुम अपने भविष्यकी चिन्ता करो। पहले तुम महात्मा शम्भुद्वारा जलाये गये थे। महात्माके साथ विरोध करनेके कारण तुम अनङ्ग हुए। पहले जो बुरा कर्म तुमने किया था उसका कड़ुआ फल पा रहे हो। अब इस साध्वीके साथ विरोध करनेपर निश्चय ही तुम कुत्सित योनि प्राप्त करोगे। जो लोग जान-बूझकर महात्माओंके साथ वैर करते हैं वे निश्चय ही हानि उठाते और दुःख भोगते हैं। इसलिये आओ, हमलोग इस सतीको छोड़कर चले चलें। देखो, मैंने पहले सतीके साथ दुष्कर्म करके बड़ा कष्ट पाया था। गौतमने मुझे शाप दिया था जिससे मेरे सारे अंगोंमें भग हो गये थे और मेरी बड़ी दुर्दशा हुई थी। उस समय तुम मुझे छोड़कर भाग गये थे। सतियोंके तेजका प्रभाव अतुलनीय है—सूर्य भगवान् भी उसे सहनेमें असमर्थ हैं। पुराने जमानेमें सती अनसूयाने मुनिके शापसे पीड़ित अपने कुरूप और कोढ़ी स्वामीकी रक्षा की थी। उन्होंने उदीयमान सूर्यको रोककर अपने पति कौण्डिनके प्रति माण्डव्यके शाप और अपने पतिकी मृत्युका निवारण किया था। अत्रिपत्नी पतिव्रता अनसूयाने अपने प्रभावसे क्या नहीं किया! सतियाँ सर्वदा सत्कारके योग्य हैं। सावित्री अपने मृत पति सत्यवान्‌को यमके पाससे पुनः लौटा लायी थी। मैंने सतियोंका बड़ा माहात्म्य सुना है। कौन मूर्ख अग्निशिखाको स्पर्श करता है; कौन मूर्ख गलेमें पत्थर बाँधकर तैरता हुआ समुद्र पार करनेका प्रयास करता है! कौन मूढ़ वीतराग सतीको वशमें कर सकता है!"

इन्द्रने इस प्रकार बहुत-सी नीतियुक्त बातें कहकर कामदेवको शिक्षा दी। पर कामदेवपर उनका कुछ असर नहीं हुआ। उसने कहा—मैं आपके आदेशसे यहाँ आया हूँ। अब आप बड़े भक्त बन रहे हैं किन्तु हे सुरेश! यदि मैं पीछे लौट जाऊँ तो संसारमें मेरी कीर्ति नष्ट हो जायगी; मेरा मान नष्ट हो जायगा। सब लोग कहेंगे—एक स्त्रीने इसे जीत लिया है। पहले जिन देवताओं, दानवों और तपस्वियों मुनीन्द्रोंको मैंने जीता है वे मेरा उपहास करेंगे कहेंगे—यह बड़ी शेखी मारता था पर एक साधारण स्त्रीसे डरकर भाग गया। इसलिये हे सुरेश! आप घबड़ाइये नहीं। चलिये, मैं उस स्त्रीका तेज, बल और धैर्य सब नष्ट करूँगा।

इसके बाद कामदेवने हाथमें पुष्पबाण और धनुष लेकर रतिसे कहा—हे प्रिये! तुम मायाका अवलम्बन करके यात्रा करो। वह जो धर्मनिष्ठा, गुणवती सुकला है उसके पास जाकर मेरी सहायता करो।

फिर कामदेवने प्रीतिको बुलाकर कहा—तुम मेरा काम बनाओ, सुकलाको स्नेहसे परिपूर्ण कर दो। तुम ऐसा कार्य करो कि इन्द्रको देखकर सुकला प्रसन्न हो और उनपर अनुरक्त हो जाय। उसे इन्द्रके वशीभूत कर दो।

इसके पश्चात् कामदेवने मकरन्दको बुलाया और कहा—जाओ सखे! जाकर नन्दनके समान एक मायामय फल-फूलसम्पन्न वन निर्मित करो। उस वनमें कोकिलाएँ कूजती हों, मधुकर मधुर रव करते हों।

फिर कामदेवने स्वादगुणयुक्त रसायनको भी अनेक इत्यादि चतुर सहचरोंके साथ भेज दिया। इस प्रकार कामदेवने त्रिलोकको मोहित करनेवाले वीर सैनिकोंको भेजकर स्वयं इन्द्रके साथ उस महासतीको नष्ट करनेके लिये प्रस्थान किया। (क्रमशः)

दानका आनन्द

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

"Whosoever would save his life shall lose it; but whosoever shall lose his life for my sake, the same shall save it."

दानकी एक शृङ्खला, एक लड़ीका नाम है जीवन। दान जीवनका पर्यायवाची शब्द है। जो जितना ही देता है उसका जीवन उतना ही सार्थक है। कहा तो यहाँतक जा सकता है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड दानके आधारपर ही टिका हुआ है।

इस प्रकार, दानका अर्थ है जीवन और जीवनका अर्थ है दान। यह 'दान' ही आनन्दकी परमपावन पगडंडी है, परम सुरम्य राजपथ है। जो देना बंद कर देता है उसका जीना बंद हो जाता है, उसका विकास रुक जाता है और गंदे पानीमें जिस प्रकार सड़ान होने लगती है उसी प्रकार उसके जीवन-तत्त्व मुरझाकर सड़ने लगते हैं। देना भगवत्सङ्कल्पमें योगदान करना है; क्योंकि भगवान्, जिनके सङ्कल्पमात्रसे सृष्टिका विन्यास होता है अपने-आपको पूर्णतः अपनी रचनामें डालना चाहते हैं, अपने-आपको, पूरा-का-पूरा दे देना चाहते हैं। जिस प्रकार भगवान् अपनी समस्त सम्पदाको खुले हाथ लुटाते हैं उसी प्रकार हमें भी अपनी समस्त वस्तुओंको, अपने-आपको उन्मुक्त होकर लुटाते रहना चाहिये। यही है आत्मदानका पदार्थ-पाठ।

पानी बाढ़े नावमें घरमें बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥

जो परिग्रही है वही कृपण है; क्योंकि परिग्रहका अर्थ ही है कृपणता, आत्म-संकुचन और परिग्रह करनेवाला उस वस्तुका उपभोग भी कहाँ कर पाता है! सच्चा उपभोग तो दानमें है, देनेमें है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'। परिग्रही तो चोर है, परधनके लिये 'गृध' है। इसीको कुछ दूसरे ढंगसे ईसामसीहने यों कहा है—

"Freely ye received, freely give."

युगोंसे हम किसी-न-किसी देश, किसी-न-किसी धर्म, किसी-न-किसी जाति और किसी-न-किसी दलके प्रति वफ़ादार होते आये हैं और हममेंसे कइयोंने इस वफ़ादारीको इतनी सचाईके साथ निबाहा है कि उसके लिये अपने जीवन, अपने धन और अपने कुटुम्बियोंको भी तिनकेके समान तुच्छ और अपदार्थ समझा है। जीवनके सामने जो लक्ष्य स्थिर हो गया उसके लिये कोई भी त्याग महान् नहीं है और उसकी वेदीपर अपना सर्वस्व चढ़ानेमें एक सुखानुभूति होती है।

परन्तु आँख खोलकर देखा जाय और हृदयपर हाथ रखकर विचारा जाय तो यह बात आइनेकी तरह साफ़ हो जायगी कि हमारी इस वफ़ादारीमें कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूपमें सङ्कीर्णता आ घुसी है। देश-विशेष या जाति या दलविशेषके प्रति जो हमारी आसक्तिपूर्ण निष्ठा है उसके मूलमें, बहुत गहरेमें हिंसा, प्रतिशोध, वैर, विरोध आदिके भाव छिपे पड़े हैं। हम उन्हें भले ही परख न सकें परन्तु वे हैं अवश्य। कई धर्मान्धोंने धर्मके नामपर दूसरे धर्मके माननेवालोंको अपने धर्ममें लानेके लिये क्या-क्या अत्याचार और जुल्म किये—इससे धर्मका इतिहास रक्तरञ्जित है। देशके प्रति ममता जाने कभी देशभक्तिकी ओटमें दूसरे देशोंके प्रति कितनी घृणा, वैर और द्वेषकी भावना छिपी है यह हम सभी जानते-समझते हैं। यही घृणा और वैर जब प्रचण्ड हो जाते हैं तो उसमेंसे महायुद्धका ज्वालामुखी फूट पड़ता है।

फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि मनुष्यमात्र—वह पुरुष हो या स्त्री—किसी उच्च आदर्शके लिये आत्मदान

में महान् आनन्दका अनुभव करता है और इस मदानमें संसारका कोई भी बन्धन या मोह उसे रोक सकता। अपने बाल-बच्चोंको बिलखते छोड़कर, जन-परिजनोंको दुःखमें झुलसते छोड़कर कठोर-से-ोर दण्ड पानेपर भी वह अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं ता और दुनियाका कोई लोभ उसे लुभा नहीं सकता, ई आकर्षण अटका नहीं सकता, वह आत्माहुति करके दम लेता है।

यह आत्माहुति परम दिव्य वस्तु है परन्तु ावश्यकता इस बातकी है वह सही दिशामें हो, लोक-ल्याणके लिये हो, उसके पीछे घृणा, द्वेष, वैर, विरोधकी ावनाएँ न हों वरं प्रेम और आत्मीयताकी प्रेरणा हो। याग तो मनुष्यकी प्रकृतिमें ही है, त्याग किये बिना मनुष्य शान्ति या चैन पा नहीं सकता। मनुष्य तो चाहता ही है कि वह देता रहे, देता ही रहे— यहाँतक कि अपने-आपको दे डाले। इसीलिये तो सबसे महान् दान है आत्मदान।

एक आत्मदर्शी संतका वचन है कि पानेकी अपेक्षा देनेमें अधिक आनन्द है। जो भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको निवेदित कर देता है, भगवान् भी उसके हाथ बिक जाते हैं। कुछ लोग भगवान्‌के चरणोंमें अपनी आत्माको निवेदित करते हैं, कुछ लोग अपना जीवन, कुछ अपना कर्म और कुछ लोग अपनी धन-सम्पत्ति। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने-आपको अपने सब कुछके साथ भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर देते हैं—अपनी आत्मा, जीवन, कर्म, धन-सम्पत्ति—सब-का-सब वे भगवान्‌के चरणोंमें नैवेद्यके रूपमें चढ़ा देते हैं। यही है सच्चा आत्मदान, सही दिशामें आत्म-दान। इस आत्मदानके बिना भगवान्‌को निवेदित की हुई किसी भी वस्तुका कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि पदार्थमें नहीं है उसके पीछे जुड़ी हुई भावनामें है। भावना जितनी दिव्य होगी दान उतना ही महान् होगा।

अस्तु, भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको अपने सर्वस्वके साथ निवेदित कर चुकनेपर मनुष्य सर्वथा और सर्वदाके लिये निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि अब उसके जीवनकी बागडोर भगवान्‌के हाथमें होती है और वह प्रभु उसे जैसे नचाता है वह वैसे ही नाचता है, आनन्दोल्लासके साथ। उसका सारा कार्य अब एकमात्र भगवत्प्रीत्यर्थ होता है, उसमें किसी प्रकारका स्वार्थ या सङ्कोच नहीं होता क्योंकि अब 'अपनी' समझी जानेवाली कोई भी चीज उसकी नहीं होती और यों सब कुछ अपना ही होता है। वह और उसका सब कुछ अब भगवत्कार्यमें लगता है और इस प्रकार वह लोक-कल्याणके मङ्गलमय अनुष्ठानमें भगवान्‌के हाथका एक यन्त्रमात्र बनकर सारा कार्य भगवान्‌की प्रीति पानेके लिये निःस्पृह और अनासक्तभावसे करता रहता है। उसमें अब किसी प्रकारका 'अहं' या 'मम' नहीं है।

वह देता है, देता जाता है और देता ही रहता है; क्योंकि जीवनका सच्चा आनन्द देनेमें ही निहित है। भगवान् तो यह चाहते ही हैं कि हमारे हाथोंसे जो कुछ भी कर्म हो वह भगवत्सङ्कल्पके अनुरूप हो, भगवदनुकूल हो; हम जो कुछ भी सोचें-विचारें वह भगवत्कार्यमें सहायक हो और हमारे पास जो कुछ भी है उसका उपयोग एकमात्र भगवत्कार्यमें हो, लोक-मङ्गलके हितमें लगे। इसीलिये तो यह आवश्यक है कि हम अपने-आपको, अपनी सम्पूर्ण कला और प्रतिभाको, विचार और चिन्तनको, मन और बुद्धिको, हृदय और आत्माको अपनी ओरसे भगवान्‌को सौंप दें और उन्हें भगवान्‌के कार्यमें भगवदिच्छाके अनुसार भगवान्‌के मङ्गलविधानमें लगने दें।

इस आत्मदानमें किसी प्रकारके श्रम या प्रयासका बोध नहीं होता, बल्कि प्रत्युत इसमें एक ऐसे आनन्द-

अनुभव होना चाहिये जिसका वर्णन शब्दोंमें नहीं या जा सकता। आत्मदान तभी सच्चा आत्मदान है वह आनन्दोल्लासके साथ हो। एक नन्हा-सा शु गुड़ियेसे खेलता है—इसलिये नहीं कि उसे सी प्रकारके इनाम या पुरस्कारकी आशा है वरं सलिये कि खेलमें उसे आनन्द आ रहा है। ठीक सी प्रकारका आनन्द आत्मदानमें होना चाहिये; आत्मदान करके किसी प्रकारके 'लाभ' या 'प्राप्ति' की आशा करना आत्मदानकी पवित्र भावनाका संहार कर देनेके समान है। हम और हमारा सब कुछ भगवत्कार्यमें लग रहा है और उसे भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया है इससे बढ़कर आनन्दकी बात हो भी क्या सकती है! और इस आनन्दसे बढ़कर भी कोई 'लाभ' हो सकता है!

हम तबतक अपनी शक्ति और क्षमताओंसे अपरिचित ही रहते हैं जबतक उसे भगवत्कार्यमें लगने-का अवसर नहीं प्रदान करते। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि यह भण्डार ऐसा है जो देनेसे ही बढ़ता है—जो जितना देता है उसका उतना ही बढ़ता है, जो जितना लुटाता है वह उतना ही पाता है। भगवत्कार्यमें हमारी शक्तियाँ जितनी लगती हैं उतनी ही वह शक्तिशालिनी होती जाती हैं, क्योंकि वहाँ किसी प्रकारका ह्रास या क्षय नहीं होता, वहाँ कोई चीज खुटती नहीं। हमारा जो कुछ भी है वह भगवान्‌का दिया हुआ है, भगवान्‌का दान है। हमारा यह धर्म होता है कि उसे हम भगवान्‌के कार्यमें लगा दें, भगवान्‌की सेवामें सौंप दें।

हम देखते हैं कि हमारे इर्द-गिर्द बहुत-से ऐसे प्राणी हैं जो दीन-हीन, कंगाल, अकिञ्चन और दरिद्र-से लगते हैं। इसका एकमात्र कारण कृपणता है। जो कृपण है वही दरिद्र है, जो कृपण है वही कंगाल है। जो अपनेको तथा 'अपनी' कही जानेवाली समस्त वस्तुओंको खुले हाथ लुटाता है, और भगवत्सेवा-में निवेदित करता जाता है उसका भण्डार तो अटूट है। वहाँ कमी किस बातकी, अभाव काहेका! देनेसे बढ़ता है और बचानेसे नष्ट होता है—यह न जाननेसे ही लोग कंगाल और अभावग्रस्त हो जाते हैं। इसलिये सदा याद रखने योग्य सूत्र यह है कि देते रहो, देते जाओ, देते ही जाओ—अपने-आपको और अपनी धन-दौलतको भगवत्सेवामें लगाते जाओ, लुटाते जाओ—सच्चे अर्थमें सम्पन्न और समृद्ध होनेका एकमात्र यही साधन है।

और ऐसे सम्पत्तिशाली भी देखे जाते हैं जो रात-दिन धनकी रक्षाके पीछे परेशान हैं, तबाह हैं। डरते रहते हैं कि कहीं हमारा धन चोरी न चला जाय, कोई उड़ा न ले जाय। वे दुखी हैं, आतुर हैं, चिन्तित हैं—किसी अभावके कारण नहीं, प्रत्युत समृद्धिके नाश हो जानेके भयसे। यह 'भय' आया क्यों और कहाँसे? पता लगानेपर यही बात ठहरती है कि भगवान्‌ने जो वस्तु उन्हें दे रक्खी है उसका सदुपयोग न करनेके कारण ही पाप और उस पापसे भयका उदय होता है। भगवत्-सङ्कल्पकी निर्मल धाराको हम अपनी निजी इच्छाओं, वासनाओं और लालसाओंके द्वारा बाँधनेका जहाँ प्रयत्न करते हैं वहाँ हम अवश्य ही दुखी, क्षुब्ध और अभावग्रस्त हो जाते हैं। भगवान्‌को अपना कार्य, अपना सङ्कल्प पूरा करनेमें हमें अपनी ओरसे किसी प्रकारकी भी रुकावट नहीं डालनी चाहिये। स्वार्थवश जहाँ भी हमने रुकावट डालनेकी चेष्टा की कि हम छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त हो जायँगे। भगवान्‌का सङ्कल्प तो पूरा होकर ही रहेगा, हमारी मूर्खताके कारण उसे कुछ समय लगेगा, जब हम अपने-आपको और अपनी सभी वस्तुओंको भगवान्‌को निवेदित कर देते हैं तब हमें भय करनेकी आवश्यकता ही नहीं कि यह खो

चाहिये—इसीमें हमारा और विश्वका वास्तविक कल्याण है।

संसार इस युद्धसे पीड़ित कराह रहा है। वह प्रेमकी एक बूँदके लिये तड़प रहा है। मानवता आज पशुताको भी लाँघ गयी है। क्या ऐसे समय हममेंसे कुछके भीतर भी वह 'देवत्व' जाग्रत् नहीं होगा जिसके बलपर हम इस अन्धकारका उच्छेद कर सकें और इस धरा-धामपर भगवान्‌का राज्य स्थापित कर सकें ?

"Thy kingdom come. Thy will be done, as in heaven, so on earth." (यूनिटी)

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी॰ ए॰, एल्-एल्॰ बी॰)

स्वच्छवायु-सेवन

पिता—बेटा केशव! क्या तुम बतला सकते हो कि हमारे जीनेके लिये सबसे जरूरी चीज क्या है?

केशव—जी हाँ, जीवनके लिये सबसे जरूरी चीज भोजन है, क्योंकि यदि भोजन न हो तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

पिता—हाँ, भोजन जीवनके लिये अवश्य एक बहुत जरूरी चीज है, किन्तु फिर भी पानीकी जरूरत तो भोजनसे ज्यादा है, क्योंकि भोजनके बिना आदमी तीन-तीन महीनेतक जीवित रहते देखे गये हैं, किन्तु पानीके बिना तो तीन दिन भी जीवित रहना कठिन है।

केशव—ओह! ठीक है। तब तो भोजन नहीं बल्कि पानी ही जीवनके लिये सबसे जरूरी चीज कहा जायगा।

पिता—नहीं, अभी एक चीज और है जो पानीसे भी ज्यादा जरूरी है।

केशव—वह क्या!

पिता—वह है हवा। भोजनके बिना आदमी तीन महीनेतक जीवित रह सकता है और पानीके बिना तीन दिनतक। किन्तु हवाके बिना तीन मिनट भी जीवित रहना कठिन है।

केशव—ऐं! क्या हवा भी हमारे जीवनके लिये कोई जरूरी चीज है!

पिता—जरूरी ही नहीं, बल्कि सबसे जरूरी चीज है। इसीसे हमारे प्राचीन ऋषियोंने संस्कृतमें हवाका एक नाम 'प्राण' भी बतलाया है।

केशव—तो क्या हवा न मिले तो हम जीवित नहीं रह सकते?

पिता—यह तो तुम्हें अभी मालूम हो सकता है। देखो, मैं तुम्हारी नाकको दबाकर उसके दोनों छेद बंद किये देता हूँ और तुम अपने मुँहको भी अच्छी तरह बंद रखना। बस, अब जरा इसी तरह कुछ देर बैठे तो रहो।

केशव—ओफ! इससे तो जी घबड़ाता है और दम घुटने लगता है।

पिता—हाँ, क्योंकि तुम्हारे शरीरके अंदर हवाके जाने-आनेका रास्ता बिल्कुल रुक गया। नाकके रास्ते यह हवा हमारे अंदर दिन-रात चौबीसों घंटे उठते-बैठते, खेलते-खाते, सोते-जागते, जानकर या अनजानमें हर घड़ी और हर पल श्वासके साथ-ही-साथ बराबर आया-जाया करती है। यदि क्षणभरके लिये भी यह रास्ता बंद हो जाय तो हमारा जी घबड़ाने लगता है, और यदि देरतक जबर्दस्ती बंद रखा जाय तो फिर हम मर ही जायँ।

केशव—कितनी-कितनी देरमें यह हवा हमारे अंदर आया-जाया करती है।

पिता—यह तो तुम बराबर उसके भीतर और बाहरको निकलते हुए देखा करते हो। साधारण तौरपर एक मिनटमें १५ से १७ बारतक यह हवा हमारे श्वासके साथ शरीरके अंदर आया-जाया करती है। किन्तु दौड़ने या कसरत करनेपर अथवा मनमें कोई उत्तेजना पैदा होनेपर इसकी चाल और तेज हो जाया करती है, जिससे हम हाँफने लगते हैं।

केशव—क्या यह हवा हमारे पेटके अंदर जाती है ?

पिता—नहीं, पेटके अंदर तो हमारा खाया हुआ भोजन और पानी पहुँचता है। हवाके लिये दूसरे स्थान बने हैं। ये स्थान हमारी छातीकी गहराईमें दाहिने और बायें दोनों ओर मौजूद हैं। इन्हें फेफड़े कहते हैं। फेफड़ोंकी बनावट स्पंज या समुद्र-झागकी तरह छेददार होती है। जिस प्रकार स्पंजमें बहुत-से छोटे-छोटे छेद होते हैं, उसी प्रकार फेफड़ोंमें भी होते हैं, किन्तु फेफड़ोंके छेद इतने छोटे होते हैं कि बिना अणुवीक्षण यन्त्रकी सहायताके ये दिखायीतक नहीं पड़ते। इनके छोटेपनका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि दोनों फेफड़ोंमें कुल मिलाकर सात करोड़ पचीस लाखतक छेद मौजूद रहते हैं। इन छेदोंको 'वायुकोष' या हवाकी कोठरी कहते हैं। जिस समय हम श्वासको अंदर खींचते हैं, तो बाहरकी हवा हमारे अंदर फेफड़ोंमें पहुँचकर इन्हीं वायुकोषोंमें घुस जाती है और उन्हें फुला देती है। और जब हम श्वासको छोड़ते हैं तो हवा बाहर लौट आती है और तमाम वायुकोष पिचक जाते हैं। इस प्रकार सारी उम्र हमारे फेफड़ोंमें हवाका जाना-आना और वायुकोषों-का फूलना-पिचकना लगा रहता है।

केशव—किन्तु जब यह हवा हमारे फेफड़ोंमें जा-जाकर फिर वापस चली आती है, तब उसके वहाँ [illegible] मतलब ही क्या ?

पिता—मतलब बहुत बड़ा है, क्योंकि ज[ब] यह हवा हमारे फेफड़ोंमें पहुँचती है तो अपनी ए[क] बहुमूल्य वस्तु हमारे खूनको दे देती है और फि[र] जब वह बाहर आती है तब हमारे खूनका बहुत-[सा] जहर अपने साथ लेती आती है। इससे हम[ारा] खून सदा साफ, शुद्ध और शक्तिदायक बना रहता है।

केशव—वह कौन-सी बहुमूल्य वस्तु है, जिसे य[ह] हवा हमारे खूनको दे जाती है ?

पिता—उस वस्तुका नाम 'आक्सिजन' है। य[ह] एक प्रकारकी गैस या भाप है, जो हवामें मौजू[द] रहती है।

केशव—उससे हमें लाभ क्या होता है ?

पिता—हमारे शरीरके अंदर एक प्रकारकी अ[ग्नि] धीमी-धीमी चालसे जला करती है और उसमें हम[ारे] शरीरके तत्त्व हर समय जल-जलकर भस्म होते र[हते] हैं। यह काम बिना आक्सिजनकी सहायताके न[हीं] हो सकता, क्योंकि अग्निके जलनेके लिये आक्सिजनका होना जरूरी है। साथ ही आक्सिजनकी सहायता[से] हमारे खाये हुए भोजनका रस भी शरीरमें सोख[कर] काम आ जाता है।

केशव—अरे ! क्या हमारे शरीरके तत्त्व जल-जल[कर] भस्म होते रहते हैं ?

पिता—हाँ, दिन-रात हर घड़ी और हर पल हमारे शरीरके तत्त्व जल-जलकर भस्म होते रहते हैं। जिस प्रकार रातको घरमें प्रकाश बनाये रखनेके लिये दीपकका जलते रहना जरूरी है, उसी प्रकार हमारे शरीरके अंदर भी जीवनका प्रकाश बनाये रखनेके लिये इन तत्त्वोंका जलते रहना आवश्यक है।

केशव—यह तो बड़े अचरजकी बात है। भला, यह शरीर यदि हर समय अपने तत्त्वोंको जला-जलाकर नष्ट [illegible]ता रहता है तो अबतक टिका कैसे है ?

पिता—जो तत्त्व जलकर नष्ट हो जाते हैं, उनकी जगह नये-नये तत्त्व बनते भी तो रहते हैं।

केशव—लेकिन पुराने तत्त्वोंके इस प्रकार जल-जलकर नष्ट होने और फिर उनकी जगह नये-नये तत्त्वोंके बननेसे मतलब क्या ?

पिता—इससे हमारे शरीरमें गरमी, स्फूर्ति तथा शक्ति पैदा होती है और साथ ही, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—हमारे अंदर जीवनका प्रकाश बना रहता है।

केशव—समझ गया। अच्छा आपने जो पहले कहा था कि हवा हमारे श्वासके साथ बाहर निकलते समय हमारे खूनका बहुत-सा जहर अपने साथ लेती आती है, सो यह जहर हमारे खूनमें कहाँसे आ जाता है ?

पिता—तुम जानते हो कि जब कोई चीज़ जलती है तो उससे कुछ धुआँ और कुछ राख पैदा होती है। अस्तु, हमारे शरीरके तत्त्वोंके भी जलनेसे एक प्रकारका जहरीला धुआँ, जिसे 'कार्बोनिक एसिड' गैस कहते हैं और कुछ अन्य जहरीली चीजें हर समय पैदा होती रहती हैं। ये सब खूनके साथ मिलकर बहती हुई हमारे फेफड़ोंमें पहुँचती हैं और वहाँसे श्वासके साथ हवामें मिलकर बाहर निकल जाती हैं। साथ ही हवामें जो आक्सिजन मौजूद रहती है वह खूनमें जा मिलती है, जिसे लेकर खून सारे शरीरमें फिर चक्कर लगाने लगता है। इस प्रकार तुम देखते हो कि हवाका बहुमूल्य आक्सिजन खूनके साथ-साथ शरीरके हर एक भागमें बराबर पहुँचता रहता है और अंदरकी जहरीली वस्तुएँ फेफड़ोंमें आ-आकर हर समय बाहर निकलती रहती हैं। यह सारी क्रिया हमारे शरीरमें श्वासद्वारा हवाके आने-जानेसे ही हुआ करती है और जीवनपर्यन्त बराबर जारी रहती है। इसीसे हमारा जीवन भी सम्भव है।

केशव—परन्तु पिताजी ! एक बात यह बतलाइये कि जब पृथ्वीके तमाम मनुष्य और दूसरे प्राणी इस प्रकार दिन-रात हवामेंसे आक्सिजन गैस श्वासद्वारा ले-लेकर कार्बोनिक एसिड गैस उसमें मिलाते रहते हैं, तो हवाका सारा आक्सिजन अबतक चुक क्यों नहीं जाता और यह हवा कार्बोनिक एसिड गैससे भर क्यों नहीं उठती ?

पिता—शाबाश ! तुम्हारा यह प्रश्न सचमुच ही बहुत तर्कपूर्ण है। किन्तु परमात्माकी कारीगरीमें कहीं कोई अधूरापन नहीं दिखायी देता। उसने इसके लिये भी बड़ा अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा है। संसारमें ये जितने पेड़-पौधे दिखायी देते हैं, वे भी हवामें हमारी ही तरह श्वास लिया करते हैं। हम अपनी नाकके द्वारा श्वास लेते हैं और वे अपनी पत्तियोंके द्वारा। फिर भी उनकी श्वासक्रिया हमारी श्वासक्रियासे विपरीत ढंगकी होती है, अर्थात् हम तो अपने श्वासद्वारा आक्सिजन गैसको पीते हैं, किन्तु वे इसे सूर्यके प्रकाशमें बाहर उगलते रहते हैं। और हम कार्बोनिक एसिड गैसको श्वासद्वारा बाहर उगलते हैं, किन्तु वे उसे पिया करते हैं। इस प्रकार हमारी त्याग की हुई चीज उनके काममें और उनकी त्याग की हुई चीज हमारे काममें आ जाती है और इस तरह बस, दोनोंका काम बराबर चलता रहता है। साथ ही हवाकी शुद्धता भी नष्ट नहीं होने पाती।

केशव—वाह, यह प्रबन्ध तो सचमुच ही बड़ा बढ़िया है। किन्तु जहाँ पेड़-पौधे नहीं रहते वहाँकी हवाका क्या हाल होता है ?

पिता—हवा स्वभावसे ही एक स्थानसे दूसरे स्थानको बहनेवाली चीज है। अतएव तमाम ऐसी जगहोंमें जो चारों ओरसे खुली हुई हैं और जहाँ हवाके जाने-आनेमें कोई बाधा नहीं पहुँचती, हवा बराबर शुद्ध बनी रहती है। उदाहरणके तौरपर घनी आबादीवाले बड़े-बड़े नगरोंकी हवासे गाँवों और देहातोंकी हवा

ज्यादा अच्छी होती है। और गाँवोंकी हवासे भी खेतों, बागीचों और जंगलोंकी हवा अच्छी होती है। समुद्रतट और पहाड़ोंकी हवा भी बहुत शुद्ध होती है। किन्तु ऊँचे-ऊँचे मकानोंसे घिरी हुई तंग गलियोंकी हवा अच्छी नहीं होती, क्योंकि वहाँ हवा स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा नहीं सकती। इसी प्रकार जिन मकानोंमें चौड़ा आँगन न हो, खुली हुई चौड़ी छतें न हों, हवादार खिड़कियों और दरवाजोंका प्रबन्ध न हो अथवा जो चारों ओरसे ऊँचे-ऊँचे मकानोंसे घिरे हुए हों या तंग गलियोंमें हों उनकी हवा भी अच्छी नहीं होती। नाट्यशालाओं और सिनेमाघरोंकी हवा तो बहुत ही खराब रहती है, क्योंकि चारों ओरसे बंद रहनेके कारण बाहरकी ताज़ी हवा वहाँतक पहुँच नहीं सकती और सैकड़ों आदमी घंटोंतक वहाँ बैठकर तमाशा देखते हैं, जिससे सारा स्थान उनके श्वासोच्छ्वाससे निकली हुई जहरीली हवासे भर जाता है और स्वास्थ्यको खराब करता है।

केशव—ऐसी हवासे हमारे स्वास्थ्यको किस प्रकारकी हानियाँ पहुँचती हैं?

पिता—इससे हमारा मन बिगड़ जाता है, सुस्ती और आलस्य घेरे रहते हैं, सिर दर्द करने लगता है और दम भारी-सा हो जाता है, और यदि हवा बहुत ज्यादा खराब हुई तो फिर बेहोशी या मृत्यु भी हो जाती है।

केशव—क्या ऐसी घटनाके कोई उदाहरण देखनेमें आये हैं?

पिता—हाँ हाँ, एक नहीं अनेक उदाहरण हैं और कभी-कभी समाचारपत्रोंमें ऐसे उदाहरण छपते भी रहते हैं। अभी कुछ ही दिन हुए मैंने स्वयं एक पत्रमें पढ़ा था कि एक देहाती स्त्री अपने तीन बच्चोंके साथ एक नन्हीं-सी कोठरीमें दरवाजा बंद करके सो रही थी और अंदर एक अँगीठीके सिवा दिया जल रहा था। सबेरे देखा गया कि उसके तीन बच्चोंमेंसे दो छोटे बच्चे तो मर चुके थे और तीसरा बच्चा बेहोश पड़ा था; उसकी हालत भी अच्छी नहीं थी। खदानोंके अंदर भी कभी-कभी हवा बहुत ही खराब हुआ करती है, और उसमें भी कितने ही आदमियोंकी मृत्यु हो चुकी है! इसीलिये अब किसी गहरे कुएँ या खदानमें उतरते समय पहले अंदर एक जलती हुई लालटेन लटकाकर देख लिया जाता है कि वहाँकी हवा ठीक है या नहीं। क्योंकि लालटेन या दीपक आक्सिजनके न रहनेपर जल नहीं सकते। अतएव यदि नीचे जाते ही लालटेन बुझ जाती है तो समझ लेते हैं कि वहाँकी हवामें आक्सिजन गायब है और इसलिये वहाँ कोई आदमी जीवित नहीं रह सकता। यदि लालटेन जलती रही तो फिर नीचे उतरनेमें हर्ज नहीं समझा जाता। इटलीमें तो एक ऐसी गुफा मौजूद है जहाँ जमीनसे कमरकी ऊँचाईतक हवा बेहद जहरीली है, किन्तु उससे ऊपर अच्छी है। अतएव वहाँ मनुष्य तो बेखटके चल-फिर सकता है एवं खड़ा रह सकता है, किन्तु बिल्ली या कुत्ते वहाँ जाते ही मर जाते हैं।

केशव—तब तो बुरी हवासे हमें बहुत सावधान रहनेकी जरूरत है।

पिता—अवश्य। हर एक स्वास्थ्यका सुख चाहनेवाले व्यक्तिको बुरी हवामें खड़ेतक न होना चाहिये। साथ ही ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ हम या दूसरे लोग रहते या उठते-बैठते हों वहाँकी हवा भरसक खराब न होने दें। बहुधा आलसी तथा गंदे लोगोंकी आदत होती है कि जहाँ बैठते हैं वहीं बीड़ी-सिगरेटका धुआँ उड़ाने लगते हैं, थूकते हैं, नाक साफ करते हैं अथवा आस-ही-पास मल-मूत्रतक त्याग देते हैं। इस प्रकारके दृश्य रेलके डब्बोंमें, धर्मशालाओंमें, थियेटर और सिनेमा-घरों तथा बड़े-बड़े मेलोंमें नित्य ही देखनेमें आते हैं। ऐसे लोग समाजके प्रति बहुत बड़े अपराधी हैं और दूसरोंका स्वास्थ्य खराब करनेके साथ-साथ अपने

स्वास्थ्यको भी बिगाड़ते रहते हैं ! ध्यान रहे कि हवासे ही हमारा जीवन है और इसे लापरवाहीसे खराब करना स्वयं अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारना है ।

केशव—सो तो है ही। मैं इसे जरूर ध्यानमें रक्खूँगा।

पिता—हाँ, और इसके साथ ही कुछ और भी थोड़ेसे श्वास-सम्बन्धी नियम हैं जिनपर हर एक स्वास्थ्य चाहनेवाले आदमीको सदा ध्यान रखनेकी जरूरत है।

केशव—वे क्या हैं ?

पिता—पहला नियम तो यह है कि सदा अपनी नाकसे ही श्वास लो। मुँहसे श्वास कभी मत लो। ईश्वरने श्वास लेनेके लिये नाकको ही बनाया है, मुँहको नहीं। अतएव उसने नाकके अंदर इसके लिये कुछ विशेष प्रबन्ध भी कर रक्खा है, जिससे हवा शुद्ध होकर ठीक हालतमें अंदर जाय। नगरोंमें या बस्तीके अंदर जो हवा हम दिन-रात श्वासद्वारा अंदर लेते हैं, उसमें बहुत-सी ऊपरकी चीजें मिली रहती हैं जैसे धूलके छोटे-छोटे कण, भूसा, नन्हे-नन्हे जीवाणु, मनुष्य या पशुके शरीरसे निकली हुई गंदी वस्तुएँ, रूई या सनके रेशे इत्यादि। नाकसे श्वास लेनेपर ये चीजें नाकके बालोंमें फँसकर बाहर रह जाती हैं और छनी हुई हवा ही अंदर प्रवेश करती है। अंदर जानेपर नाककी श्लैष्मिक झिल्लियोंद्वारा यह हवा कुछ और अधिक छन जाती है और साथ ही कुछ गरम और गीली भी हो जाती है। तब वह फेफड़ोंमें प्रवेश करती है। किन्तु मुँहसे श्वास लेनेपर हवाके साथ-साथ धूल-कण तथा अन्य वस्तुएँ बेरोक-टोक अंदर चली जाती हैं और गलेकी नाली, श्वास-नाली या फेफड़ेकी दीवारोंमें चिपककर प्रदाहजनित कितने ही प्रकारके रोगोंको जन्म देती हैं, जैसे खाँसी, दमा, हँफनी इत्यादि। अतएव मुँहसे श्वास लेना किसी समय भी उचित नहीं। कुछ लोगोंका मुँह सोते समय खुला रह जाता है और वे मुँहसे ही श्वास लिया करते हैं। इसी प्रकार दौड़ते या कसरत करते समय भी कितने ही लोग मुँहसे श्वास लेते हैं। ये आदतें ठीक नहीं।

केशव—समझ गया। दूसरा नियम क्या है ?

पिता—दूसरा नियम यह है कि सोते समय मुँह और नाकको ढाँककर कभी मत रक्खो। सर्दी अधिक हो तो शरीरके साथ-साथ सिर और कानोंको ढाँक लो, परन्तु चेहरा तो हर समय खुला ही रक्खो, क्योंकि चेहरा ढाँक रखनेसे श्वासद्वारा निकली हुई गंदी हवा बाहर जा नहीं पाती और उसी गंदी हवामें बार-बार श्वास लेना पड़ता है। बहुधा देखा जाता है कि केवल मूर्ख और अपढ़ लोग ही नहीं, बहुत-से पढ़े-लिखे लोग भी अपना चेहरा ढाँककर ही सोते हैं और अपने श्वासद्वारा उगली हुई गंदी हवाको बार-बार पीते रहते हैं। यदि उनसे कहा जाय कि अपनी कै की हुई चीजको फिरसे खा लो तो शायद वे घृणा और क्रोधसे पागल बन जायँगे, परन्तु आश्चर्य है कि अपनी कै की हुई गंदी हवाको बारंबार पीते रहनेपर भी उनका जी जरा नहीं मिचलाता !

केशव—तीसरा नियम क्या है ?

पिता—तीसरा नियम यह है कि जहाँतक हो सके खुली हुई ताजी और साफ हवामें ही रहनेका प्रयत्न करो। यदि हर समय नहीं, तो भरसक अधिक-से-अधिक समय ही खुली हुई हवामें बितानेका प्रयत्न करो। कमरेमें कितनी ही हवादार खिड़कियाँ और दरवाजे हों, किन्तु उसकी हवा खुले हुए मैदानकी हवाको नहीं पा सकती। अतएव यदि कमरेके अंदर बहुत देरतक बैठकर काम करनेकी आवश्यकता पड़े, तो भी समय-समयपर पाँच-सात मिनटके लिये बाहर खुलेमें निकल जाओ और वहाँ गहरी साँस बार-बार खींचो और छोड़ते रहो। इस प्रकार शुद्ध वायुको ग्रहण [illegible]

हो जायगी । सोनेके लिये जाड़ेके दिनोंमें दालान या बरामदेमें सोओ, अथवा यदि कमरे या कोठरीमें सोना पड़े तो उसकी खिड़कियाँ खुली रक्खो, जिससे हवा अंदर बराबर आती-जाती रहे । यदि सर्दी लगे तो ओढ़नेके लिये अधिक ले लो, परन्तु खिड़कियाँ न बंद करो । रेलगाड़ियोंमें बहुधा देखने हैं कि जाड़ेके दिनोंमें यात्री लोग रातमें तमाम खिड़कियाँ बंद कर देते हैं और फिर पचीसोंकी संख्यामें उन्हीं बंद डब्बोंके अंदर सोते रहते हैं । इससे अंदरकी सारी हवा ज़हरीली हो जाती है । इतना ही नहीं, बहुत-से लोग तो बंद डब्बोंमें बीड़ी और सिगरेटका धुआँ भी उड़ाया करते हैं, जिससे वहाँकी हवा और भी असह्नीय हो उठती है । ये सब बातें स्वास्थ्यको बहुत हानि पहुँचानेवाली हैं ।

केशव—मैं इस बातको भी याद रक्खूँगा । क्या कोई चौथा नियम भी है ?

पिता—हाँ, चौथा नियम यह है कि सदैव दीर्घ और गहरी श्वास लेनेकी आदत डालो । हमारे फेफड़ोंके अंदर जितनी हवा समा सकती है, साधारण तौरपर उसका चौथाई हिस्सा भी हम अपने श्वासद्वारा अंदर नहीं लेते । और इसी प्रकार जितनी हवा बाहर निकल सकती है उसका बहुत थोड़ा भाग बाहर निकालते हैं । दीर्घ और गहरी साँस लेनेसे यह हवा हमारे अंदर अधिक परिमाणमें जाने-आने लगेगी, जिससे हमारे खूनको आक्सिजन अधिक मिलेगा और उसकी सफाई भी अधिक होगी । परिणाममें हमारे अंदर स्फूर्ति और शक्ति भी अधिक पैदा होगी और साथ ही आयुकी वृद्धि होगी ।

केशव—लेकिन पिताजी, यह आदत डाली कैसे जाय ! मेरे तो दो ही चार बार लंबी साँस खींचनेसे सिरमें दर्द हो उठता है और वह चक्कर खाने लगता है ।

पिता—ये लक्षण फेफड़ोंकी दुर्बलता सूचित करते

पिता—देखो, सवेरे खूब तड़के उठो और इत्यादिसे छुट्टी पाकर स्वच्छ खुली हुई वायु टहलनेके लिये निकल जाओ । चलते समय सीधा रक्खो, कंधे पीछेको रहें और छाती तनी रहे । इसी प्रकार ज़रा तेज़ीके साथ कदम हुए कुछ देर चलते रहो, किन्तु तुम्हारे कदम सीधे और एक रास ही पड़ने चाहिये । अब श्वास धीरे-धीरे खींचना आरम्भ करो और साथ ही क़दमोंको भी मन-ही-मन गिनते जाओ । जितनी श्वास बिल्कुल आसानीसे खींच सकते हो ही खींचो, अधिक नहीं । मान लो कि अभी तुम दस क़दमतक श्वासको खींच सकते हो, तो दस खींचो । फिर आगे दस क़दमतक उसी प्रकार बाहर छोड़ो । इस प्रकार कुछ दूरतक चलते जाओ । दूसरे दिन इसी प्रकार थोड़ी दूर आगे जाओ । इस तरह दूरी क्रमशः बढ़ाते जाओ । एक सप्ताहके बाद दस क़दमके बजाय बारह क़दमतक श्वासको खींचना और छोड़ना आरम्भ करो । फिर पंद्रह क़दमतक और तत्पश्चात् अठारह या बीस क़दम तक यही क्रिया करो । इस प्रकार धीरे-धीरे दूरी तथा श्वासकी मात्रा बढ़ाते जाओ । एक महीनेके बाद श्वासको खींचनेके बाद प्रत्येक बार ज़रा-सा बंद रखे या तीन क़दमतक रोककर तब छोड़ने और फिर दो या तीन क़दमतक रोककर तब खींचनेका भी अभ्यास करो और इसे भी थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते जाओ । सुननेमें ये सारी बातें बड़े झंझटकी मालूम होती हैं, किन्तु करनेमें बिल्कुल आसान हैं और कुछ ही दिनोंके अभ्याससे फिर ऐसी आदत पड़ जाती है कि मनुष्य चलते समय आप-से-आप दीर्घ निःश्वास-प्रश्वास करने लग जाता है और उसे इस ओर ध्यान देनेकी ज़रूरत ही नहीं पड़ती । मैंने स्वयं इसका बहुत दिनोंतक अभ्यास किया है और बहुत काफ़ी लाभ उठाया है । इससे तुम्हारे फेफड़े खूब मज़बूत हो जायँगे और तुम प्रकारके श्वास-सम्बन्धी रोगोंसे बचाव रहेगा । प्राचीन ऋषियोंने इसी प्रकारकी, किन्तु इससे

रेचीली और ऊँचे ढंगकी श्वासोंकी कसरत लिखी है, जिसे प्राणायाम* कहते हैं। उसकी महिमा बहुत बड़ी गायी गयी है† और योगसाधनकी वह प्रथम सीढ़ी कही जाती है। किन्तु बिना गुरुके वह नहीं आ सकती। इसलिये उसकी उलझनोंमें तुम्हें यहाँ पड़नेकी जरूरत नहीं। साधारण तौरपर स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करनेके लिये हमारी ऊपर बतलायी हुई स्वास्थ्यकी कसरत बहुत ही सीधी और सुन्दर है, तथा हमारी आज़मायी हुई भी है। इसे यदि तुम नियमपूर्वक करते रहोगे तो कुछ ही दिनोंमें आशातीत लाभ देखोगे।

केशव—मैं इसे कलहीसे आरम्भ कर दूँगा।

पिता—बस, फिर ईश्वर इसका शुभ फल भी तुम्हें देगा।

सच्ची सीख

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी कविरत्न)

तू यह जो कुछ देख रहा है
वह सब है कोरा सपना।
समझ-सोच तू, यहाँ नहीं है
कोई भी तेरा अपना॥
हे मेरे मन! फिर तू किसके
लिये इस तरह करता है।
तू पल भी मत भूल उसे जो
जन्म-मरणको हरता है॥ १॥

सब अपने झूठे मतलबमें
हैं पूरे उस्ताद यहाँ।
काम बनाने ही वे उससे
करते हैं फर्याद यहाँ॥
हे मेरे मन! तू तो उससे
इसी बातको याद अभी-
तू अपनेको दे दे उसको
बता मिलनकी राह अभी॥ २॥

कोई गुरुवर, कोई [illegible]
कोई [illegible] दास यहाँ।
कोई और किसीका बन्दा
है पूरा विश्वास यहाँ॥
हे मेरे मन! तू तो केवल
ले ले उसकी शरण अभी।
उसकी [illegible]
[illegible]॥ ३॥

जो खुद बहके हुए आप हैं
वे तुझको बहकावेंगे।
चिकनी-चुपड़ी बात बनाकर
सब्ज़ बाग दिखलावेंगे॥
हे मेरे मन! तू मत होना
किसी वस्तुका भी कामी।
उसे चाहना हरदम जो है
सारे लोकोंका स्वामी॥ ४॥

धन-दौलतका, मान-ज्ञानका
तुझे प्रलोभन वे देंगे।
दिखलानेके लिये तुझे वे
[illegible] भी कर लेंगे॥
हे मेरे मन! सोच, तुझे है
यह तो उनका बहकाना।
मीठी-मीठी [illegible] तू
[illegible]॥ ५॥

[illegible]

[illegible]

(२) गुरु शिष्यको उपदेश दें, उसके पूर्व उस शिष्यको निश्चय कर लेना चाहिये कि उस (शिष्य) का मन पवित्र है और सबके प्रति उसके हृदयमें शान्ति है। सब शिष्योंके बीचमें पूर्ण शान्ति हो, नहीं तो सिद्धि न होगी। जिससे एक शिष्यका नुकसान होगा, उससे प्रायः सबका नुकसान होगा, सब शिष्योंका आपसका सम्बन्ध ऐसा है, जैसा कि हाथकी उँगलियोंका। यदि एककी उन्नतिसे दूसरे शिष्यको आनन्द नहीं होगा तो आवश्यक तैयारी मौजूद नहीं है।

(३) जो सिद्धियाँ देनेवाले ज्ञानको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें जीवनकी और जगत्‌की सब वासनाओंका त्याग करना पड़ता है।

(४) शिष्यको दूसरे जीवोंसे मनमें एकत्वका भाव रखते हुए अपने शरीरकी, उन दूसरोंके ओजस् या प्रभावोंसे रक्षा करनी पड़ती है; इसलिये उसके प्याले-से किसी दूसरेको पीना न चाहिये, न वह किसी दूसरेका जूठा पिये या खावे। उसे दूसरे मनुष्योंके या पशुओंके शरीर न छूना चाहिये। वह कोई पालतू पशु न रक्खे। शिष्यको अकेले अपने ही वातावरणमें रहना चाहिये, ताकि वह वातावरण योगक्रियाओंके लिये सुरक्षित रहे।

(५) मन केवल प्रकृतिके सार्वभौम नियमोंको छोड़कर और बातोंकी ओर न जावे।

(६) मांसादिक पदार्थ साधक नहीं खा सकता। शराब, मदिरा, अफ़ीम आदि मादक द्रव्य मना हैं। इनसे बुद्धि नष्ट हो जाती है।

पशुओंके मांसमें उनके मानसिक दोष भरे रहते हैं। शराब–आसवके बनानेमें जिन लोगोंने भाग लिया होगा, उनके ओजस् उनमें भर जाते हैं, ऐसा माना जाता है।

ध्यान, परहेज, कर्तव्यपालन, नम्र विचार, अच्छे कार्य और दयाभरे शब्द, सबके प्रति कल्याणभाव, और अहंकाररहित त्याग—ये ज्ञानप्राप्तिके बहुत फलदायक [illegible]। इनसे ऊँचे ज्ञानको प्राप्त [illegible]

होती है। (देखिये H. P. Blavatsky का Practical Occultism; Indian Book Shop, Benares.) योगसाधना और मन्त्रजपके समय कपड़े मैले न हों, केश, मुखमें दुर्गन्ध न हो, सिरपर टोपी न हो, नीचका स्पर्श न हो, नग्न शरीर, छूटे बाल और अपवित्र दशा न हो।

जैसे मन्त्रीकी भूलका परिणाम राजाको भुगतना पड़ता है, वैसे ही शिष्यकी भूलोंका परिणाम गुरुको भुगतना पड़ता है। उत्तर भारतमें लोग गुरु करना बहुत आवश्यक समझते हैं और इस माँगके कारण नकली गुरु बहुत हो गये हैं। गुरुकी परीक्षामें खास कसौटी है कि जिसके संग, उपदेश और अनुकरणसे अन्तःकरणके विकारोंका नाश, दैवी सम्पत्तिका विकास और अध्यात्मभावकी वृद्धि हो, उसे उपयुक्त गुरु और जिसके द्वारा इन सबका ह्रास होकर आसुरी सम्पत्ति बढ़ती हो, उसको अनुपयुक्त गुरु समझना चाहिये। शास्त्रमें कहा है कि यदि गुरुकी परीक्षा एक, दो वर्ष कर चुकनेपर कोई फल न प्राप्त हो तो उस गुरुके त्यागनेमें कोई पाप नहीं है। जैसे मधुमक्खी एक फूलसे काफ़ी शहद न पानेसे दूसरे फूलमें जाती है, वैसे ही एक अनभिज्ञ गुरुको त्यागकर दूसरे योग्यतर गुरुके पास जानेमें दोष नहीं है। जो दूसरेको शिष्य बनाकर उससे लाभ उठाता है, वह गुरु उस शिष्यका बोझा अपने ऊपर ले लेता है और जबतक उस शिष्यका बन्धनसे मोक्ष नहीं होता। तबतक वह गुरु उसी शिष्यके बन्धनसे बँधा रहेगा; मेरे देखनेमें तीन मृत गुरुओंके उदाहरण आये जो मरनेके पश्चात् भी अपने शिष्योंकी चिन्तासे चिन्तित थे; इसलिये जाने-समझे बिना गुरु बनना बड़ी भूलकी बात है। गुरु केवल ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त ही हो सकता है; उनमें [illegible] नहीं। हाँ, आध्यात्मिक सहायता हर कोई अपनी योग्यतानुसार हर किसीको दे सकते हैं, पर [illegible] न बनें।

सीताजीकी खोजका आदेश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, फरवरी १९४२ सौर माघ १९९८ { संख्या ७ पूर्ण संख्या १८७

श्रीरामसे विनय

देव ! दूसरो कौन दीन को दयालु ।
सील निधान सुजान सिरोमनि सरनागत प्रिय प्रनत पालु ॥ टेक ॥
को समरथ सरबग्य सकल प्रभु, सिव सनेह मानस मरालु ।
को साहिब किए मीत प्रीतिबस खग निसिचर कपि भील भालु ॥ १ ॥
नाथ हाथ माया र दोष गुन करम कालु ।
निहालु ॥ २ ॥

नी तुलसीदासजी

पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—जब भक्त भगवत्प्रेममें मस्त होकर नाचने लगता है तो उसके प्रेमकी तरङ्गें त्रिलोकीमें फैल जाती हैं, जैसे कि भगवान्‌की वंशीध्वनि त्रिलोकीमें फैल जाती थी। भक्तके सच्चे भावसे किये हुए नृत्यका प्रभाव तीनों लोकोंपर पड़ता है।

२—जहाँ भगवान् हैं, वहाँ माया नहीं है और जहाँ माया है, वहाँ भगवान् नहीं हैं। माया किसी भी प्रकार भगवान्‌को स्पर्श नहीं कर सकती।

३—भक्तमें जबतक शक्ति रहती है, तबतक वह भगवान्‌को पुकारता है। और जब वह उन्हें पुकारते-पुकारते थक जाता है—उसमें उन्हें पुकारनेकी शक्ति नहीं रहती, तो भगवान् स्वयं उसे पुकारते हैं और उस भक्तपर बलिहारी जाने लगते हैं।

४—यदि कोई मनुष्य उच्च कुलमें उत्पन्न हुआ हो और ऊँची जातिका भी हो, किन्तु उसके हृदयमें अभिमान हो, तो प्रभु उससे बहुत दूर रहते हैं। परन्तु यदि कोई नीचे कुलमें उत्पन्न हुआ हो और नीची जातिका भी हो, किन्तु हो निरभिमान, तो उसे अवश्य प्रभुकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

५—यदि हमने अपना शरीर श्रीभगवान्‌को समर्पित कर दिया है तो हमें उसकी चिन्ता क्यों होगी। यदि शरीरकी चिन्ता होती है तो खाली कहना-ही-कहना है, वास्तविक समर्पण नहीं है। भक्तिमार्गमें तो सारी ही वस्तुएँ श्रीभगवान्‌को समर्पित कर दी जाती हैं।

६—जबतक हम किसीको अपना समझते हैं, तभीतक अज्ञानका पर्दा पड़ा समझना चाहिये। जब यह प्रत्यक्ष दिखायी देने लगे कि हमारा कोई नहीं है, तभी समझना चाहिये कि काम बना।

७—साधन तो हो, किन्तु विश्वास न हो तो उससे कोई फल नहीं होता; अतः भजन भी होना चाहिये और विश्वास भी। भगवान्‌में विश्वास तभी होता है, जब मन संसारसे हट जाता है। याद रक्खो, जबतक मनोराज्यमें विचरते रहोगे तबतक भगवान्‌के राज्यमें प्रवेश नहीं होगा।

८—उच्च-से-उच्च और नीच-से-नीच—सभी भक्तिमार्गके अधिकारी हैं। अधिकारका विचार तो अन्य साधनोंमें ही है, भक्तिमें नहीं।

९—नाम कहो या भगवान्—दोनों एक ही हैं। जो शक्ति भगवान्‌में है, वही नाममें भी है। श्रीगौराङ्गदेव एक बार भी भगवान्‌का नाम लेते थे तो सभी मुग्ध हो जाते थे। नाम तो और सब भी लेते हैं, फिर उनके नामोच्चारणमें ही इतनी शक्ति क्यों थी? इसका कारण यही है कि जिसका जैसा हृदय होता है, उसके अनुसार ही नाम काम करता है।

१०—जबतक नामका रंग नहीं चढ़ेगा, तबतक विषयोंका रंग कैसे उतर सकता है। गुरुका अङ्ग, साधुका सङ्ग और नामका रंग—इनकी बड़ी जरूरत है। नामका रंग ऐसा चढ़ना चाहिये कि फिर उसे कोई उतार ही न सके। भले ही हमारा सर्वस्व नष्ट हो जाय और सब लोग हमारा साथ छोड़ दें, तब भी नामका रंग नहीं उतरना चाहिये।

११—हमारे हृदयमें यह अग्नि सुलगती रहे कि किसी प्रकार भगवान् मिलें।

१२—जिस प्रकार नाम और भगवान्‌में अभेद है, उसी प्रकार भगवान्‌का प्रसाद भी भगवद्रूप ही होता है। भगवत्प्रसादको कभी नहीं त्यागना चाहिये। मीराबाईने भगवान्‌का प्रसाद समझकर जहरका प्याला पी लिया था। वे जानती थीं कि यह विष है; किन्तु उन्हें उसे भगवान्‌का प्रसाद बताया गया, इसलिये उन्होंने उसका त्याग नहीं किया।

कुम्भ

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

(२)

चाँदीका कुम्भ—जैसे वेदमें अनेकों प्रकारके कर्म बताये हैं, उसी प्रकार अनेकों उपासनाएँ भी बतायी हैं। कर्म करनेमें विशेष द्रव्यकी आवश्यकता पड़ती है, परिश्रम भी बहुत होता है, बहुत-से समुदायकी भी जरूरत होती है और कर्मका फल भी गन्धर्वलोक, पितृलोक अथवा स्वर्गकी प्राप्ति है। किन्तु उपासनामें विशेष द्रव्यकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उपासना एक मानसिक क्रिया है। स्थूलसे सूक्ष्म विशेष व्यापक होता है, इसलिये उपासनाका फल स्वर्गसे भी ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति है। अश्वमेध यज्ञसे जो फल होता है, वही हिरण्यगर्भकी उपासनासे होता है। यानी दोनोंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। अश्वमेध यज्ञ चक्रवर्ती राजा ही कर सकता है। हिरण्यगर्भकी उपासना तीनों वर्ण कर सकते हैं; इसमें द्रव्यकी भी आवश्यकता नहीं होती, इसलिये इसे एक निर्धन मनुष्य भी कर सकता है। इसलिये कर्मसे उपासना श्रेष्ठ है। उपासनाका फल भी चिरस्थायी है। इसलिये भी उपासना श्रेष्ठ है। यहाँ कुछ थोड़ी-सी उपासनाएँ संक्षेपमें बतलाता हूँ। 'नाम' को ब्रह्मरूपसे उपासना करनेवाला पुरुष समस्त वेद-शास्त्रोंका और समस्त भाषाओंका जाननेवाला हो जाता है। नाम सुनते ही ब्रह्माण्डभरकी वस्तुओंको जान जाता है। थोड़ा-सा पढ़ा हुआ भी यानी एकाध भाषाका पूर्ण ज्ञाता भी जब पृथ्वीपर पुजने लगता है, तो फिर सब भाषाओंका और वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता क्यों नहीं पुजेगा। इसलिये जिसको संसारभरमें पुजनेकी अभिलाषा हो, वह 'नाम' की उपासना ब्रह्मरूपसे करे!

'वाणी' की उपासना नामकी उपासनासे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि नामकी उपासना करनेवाला तो सब शब्दोंको जान ही सकता है और 'वा[णी]' की ब्रह्मरूपसे उपासना करनेवाला तो जाने[हुए]को सबके सामने कह भी सकता है। 'वाणी'[को] ब्रह्मरूपसे उपासना करनेवाला पुरुष अपनी वा[णीकी] शक्तिसे करोड़ों मनुष्योंको व्याख्यान देकर [शब्द]मात्रसे मोहित कर सकता है। बीरबलकी [वाणी] ही सिद्ध थी, यद्यपि पूर्णसिद्ध नहीं थी, फि[र भी] वह अकबर और अकबरकी सभाको मात कर [देता] था, यह बात सबपर प्रसिद्ध है। पाँचों आचा[र्योंकी] वाणी ही सिद्ध थी, इसीलिये वे भारतभरमें प्र[सिद्ध] और प्रतिष्ठित हैं। बड़े-बड़े लेखक और क[वि] वाणीकी उपासना करनेसे ही विख्यात और पू[ज्य] हुए हैं।

भाइयो! वेदकी शिक्षाके 'गणेशाय नमः' [से] मैंने यह आपको दिग्दर्शन कराया है, इतने[से] जब मनुष्य पृथ्वीपर पूजनीय हो सकता है तो आ[गे] एक-से-एक उत्तम उपासनाओंका तो कहना ही [क्या] है। वाणीके बाद मनकी उपासना है, मनका उपा[सक] सबके मनकी जान लेता है। सङ्कल्पका उपा[सक] इससे भी श्रेष्ठ है, यह सङ्कल्पमात्रसे ऊँचे-से-ऊँचे लोकमें पहुँच जाता है। संकल्पसे चित्त, चित्तसे ध्यान, ध्यानसे विज्ञान, विज्ञानसे बल श्रेष्ठ है। इसी प्रकार इनके उपासक भी एक-से-एक श्रेष्ठ हैं। चित्तका उपासक सबके चित्तकी जान सकता है, ध्यानका उपासक ध्यानमात्रसे चाहे जिस व्यक्तिको बुला सकता है, विज्ञानका उपासक हजारों मनुष्योंके मनकी बात एक साथ जान सकता है और बलका उपासक ब्रह्माण्डभरमें सबसे अधिक बलवान् हो जाता है, परन्तु भाइयो! तुम्हारा मन तो केवल

पाँचों विषयोंको ही पर्याप्त मानता है, फिर तुम इन उपासनाओंको जानने ही क्यों लगे। जानोगे ही नहीं, तब करोगे तो कहाँसे। भाई! आँखें खोलो! वेद-शास्त्र देखो, क्षणभङ्गुर मनुष्यशरीरमें बंद रहकर छोटे-से मत बने रहो, देवताओंके दिव्य भोग भोगो! यह पृथ्वी ही लोक नहीं है; गन्धर्वलोक, पितृलोक, देवलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युत्लोक, वरुण-लोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक आदि अनेकों लोक हैं; उनकी सैर करो। वेदमें जो-जो उपासनाएँ बतायी हैं, उन्हें करो। न लड़नेका काम है, न झगड़नेका और न कौड़ी-पैसेका खर्च ही है; बस, मन लगानेका काम है! क्षणभर भी मन ठहरने लगा, तो त्रिलोकीके ऐश्वर्यपर लात मार दोगे! भाई! मन तुम्हारा है, तुम्हारे पास है; कहींसे लाना तो है ही नहीं। दुनियाभरको वशमें करनेकी चेष्टा मत करो, एक मनको ही वश कर लो; फिर तुम बादशाहोंके भी बादशाह हो जाओगे! मेरे कहनेमें रत्तीभर भी झूठ नहीं है; थोड़ी देरके लिये मनको ठहरा तो लो, फिर मेरे कहनेपर आपको विश्वास हो जायगा! मनके ठहरनेपर यदि तुम्हें मेरी बात झूठ जचे तो मुझे चाँदीका कुम्भ नहीं, पीतलका या लोहेका कह देना। मैंने जितनी बातें कही हैं, वे मेरी मनगढ़ंत नहीं हैं; श्रुति, स्मृति सब इसमें प्रमाण हैं और सूर्य, चन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा और रुद्र साक्षी हैं। इतनोंका प्रमाण और साक्षी देनेपर भी यदि तुम्हें विश्वास न हो तो यही कहना होगा कि दैव ही बलवान् है। दैव जो कुछ चाहता है, वही करता है और वही होता है। भाई! दैव बलवान् है, परन्तु तुम उससे भी बलवान् हो; यदि तुम पुरुषार्थ करो, तो तुम्हारा पुरुषार्थ ही दैव-बलमें बदल जायगा। खड़े हो जाओ, आलस्य मत करो; पुरुषार्थ करो, पुरुषार्थसे सब कुछ मिलता है।

हे शिष्य! इसके बाद सबके अन्तमें सुवर्णका कुम्भ अपने अपूर्व जलकी इस प्रकार वर्षा करने लगा—

सुवर्णका कुम्भ—भाइयो! लोहेके कुम्भका जल तो मैले हौजका है, इसलिये छूने योग्य भी नहीं है; छूनेकी बात तो दूर रही, पास जाने योग्य भी नहीं है। उससे दूर ही रहना चाहिये। इसे छेड़ना भी नहीं चाहिये, क्योंकि हौजमें ईंट फेंकनेसे छींटे अपने ऊपर ही आते हैं; इसलिये लोहेका कुम्भ सर्वथा त्याज्य है। उसके अनुयायियोंकी तो यमराज खूब खबर लेंगे! पीतलके कुम्भका जल कूपका है, कूपका जल भी खारा और मीठा—दो प्रकारका होता है। यह जल तो खारा है, बर्तन माँजने योग्य है; मीठा जल न मिले तो भले ही स्नान भी कर लिया कीजिये, किन्तु पीने योग्य तो यह हरगिज नहीं है। ताँबेके कुम्भका जल यमुना-जल है और चाँदीके कुम्भका जल गङ्गाजल है। दोनों ही निर्मल हैं; स्पर्श, मज्जन और पानसे पापोंको हरनेवाले हैं। और मेरा जल तो अमृतरूप ही है, इसे पीनेवाला अजर-अमर हो जाता है। यद्यपि अपने मुखसे अपनी बड़ाई करना बड़ा दोष है, परन्तु जिसकी दृष्टिमें दूसरा हो ही नहीं, सब आप-ही-आप है, उसके लिये अपनी बड़ाई आप करना दूषणरूप नहीं, किन्तु भूषणरूप है। फिर यह मेरी बड़ाई भी नहीं है, बड़ाई जलकी है; इस कारण भी बड़ाई करनेमें दोष नहीं है। बिना गुण-अवगुण जाने किसी वस्तुका ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता; इसलिये दोष-गुण बतलानेकी आवश्यकता है।

कर्म ही यमुना-जल है; उसका पान करनेवाला अर्थात् कर्मकाण्डपरायण मनुष्य इस लोकमें सुख भोगता है और मरनेके बाद पितृलोक, चन्द्रलोकके दिव्य भोग भोगता है। उपासना गङ्गाजल है, उसका पान करनेवाला इन्द्रलोक और प्रजापतिलोक-के अनुपम भोग भोगता है। दोनोंमेंसे देर-सबेर लौटना अवश्य पड़ता है, तथा लौटनेमें महान् कष्ट होता है। अधिक ऊँचे जाकर लौटनेमें अधिक कष्ट होता है, यह सबके अनुभवका विषय है। यहाँ भी देखनेमें आता है कि निर्धनको उतना कष्ट नहीं होता,

जितना कष्ट धनीको निर्धन हो जानेपर होता है। इसीलिये वेदवेत्ताओंने उपासनाको कर्मसे अधिक अन्धतम कहा है। मेरा जल यमुना-गङ्गाके सङ्गम-रूप सरस्वतीमेंसे लाया गया है। यह जल दो वस्तुओंकी सन्धिमें ही मिलता है; इसीलिये जितने सन्धिकाल हैं, वे पुण्यरूप समझे जाते हैं। त्रिकाल-सन्ध्याका भी शास्त्रमें इसीलिये विधान है। वेदवेत्ता सन्ध्याका माहात्म्य इस प्रकार कहते हैं—

सन्ध्या-माहात्म्य—ब्राह्मणपन और मनुष्यपन तीनों सन्ध्याओंमें ही स्थित है, इसलिये श्रेयोऽभिलाषी मनुष्यको यथाकाल तीनों सन्ध्याएँ करनी चाहिये। सूर्यभगवान्‌को अर्घ्य देकर सन्ध्या करनी चाहिये। सन्ध्याहीन मनुष्य देखनेमात्रका ही मनुष्य है। जिस कालमें शिव और शक्तिका संयोग होता है, वह चरम सन्ध्या योगसे ही उत्पन्न होती है। समाधि-से उत्पन्न होनेवाली उस चरम सन्ध्याके लिये द्विज तीनों सन्ध्याओंका ध्यान करे। सन्ध्यासे विश्वनाथ-की उपासना की जाती है, इसलिये सन्ध्या वन्दनीय है। द्विजका अर्थ द्विजाति है; यानी संस्कृत ब्राह्मण, संस्कृत क्षत्रिय, संस्कृत वैश्य—ये तीनों द्विज कहलाते हैं। जन्मसे ब्राह्मण और संस्कारसे द्विज कहलाता है, ऐसा स्मृति-वचन है। जाति, कुल, वृत्त, स्वाध्याय और श्रुत—इनसे जो युक्त होता है, वह द्विज कहलाता है। विचारकर देखा जाय तो जाति, कुल, स्वाध्याय और श्रुत—ये चारों मिलकर भी द्विजत्वके कारण नहीं हैं; किन्तु एक वृत्त ही द्विजत्वका कारण है। इसलिये प्रातः, मध्याह्न और सायङ्काल—तीनों समय स्नान करके सन्ध्या करे। ज्ञान-भक्तिसे युक्त होकर गायत्रीका जप और स्मरण करे। जो सन्ध्या है वही गायत्री है, वही सावित्री है और वही सरस्वती है। गायन करनेसे उपासकको संसार-समुद्रसे तारती है, इसलिये वह 'गायत्री' कहलाती है। सविता—सूर्य-का द्योतन करनेसे 'सावित्री' कहलाती है और वाणीरूपसे ब्रह्मतक ले जाती है, इसलिये 'सरस्वती' कहलाती है। पावन गायत्रीके जपसे और ध्यानसे चरम गति प्राप्त होती है। गायत्रीहीनका न यहाँ कल्याण है और न परलोकमें है। इसलिये वेदज्ञको गायत्रीका सदा जप करना चाहिये। तीनों कालमें सन्ध्या करनेसे चौथी अरूपा सन्ध्या प्रकाशित होती है। वह सन्ध्या शिव-बोधस्वरूप है, इसलिये वह कहलाती है।

भाइयो! इस अरूपा सन्ध्याके प्रकाशित होते ही उपासक चराचरमें शिवका ही दर्शन करता है, जहाँ देखता है, वहीं विष्णुभगवान्‌को ही देखता है। सूर्यरूपसे भगवान् सबको प्रकाश और उष्णता देते हुए दीखते हैं, चन्द्ररूपसे सब ओषधियोंका पालन-पोषण करते हुए दिखायी देते हैं। भगवान् ही आकाशमें व्याप्त होकर सबको अवकाश देते हुए नजर आते हैं, भगवान् ही वायुरूप होकर सारे ब्रह्माण्डको पवित्र करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। भगवान् ही अग्निरूप होकर सबको तेजस्वी बनाते हुए दीखते हैं। गङ्गा-यमुना आदि नदियोंमें तथा समुद्रमें भगवान् ही दिखायी देते हैं और पृथ्वीमें रहकर भगवान् सबका पालन-पोषण करते हुए दीखते हैं। फलमें, फूलमें, पत्तेमें, शाखामें भगवान् ही नजर आते हैं; पशुओंमें, पक्षियोंमें भगवान्‌के ही दर्शन होते हैं, तीनों कालमें, दसों दिशाओंमें सर्वत्र एकमात्र भगवान् ही परिपूर्ण देखनेमें आते हैं।

अबतक भगवान्‌को उपासक अपनेसे भिन्न जानता था, किन्तु अब उनको अपना और सबका आत्मारूप जानता है। कानोंसे भगवान् सुन रहे हैं, त्वचासे छू रहे हैं, आँखोंसे देख रहे हैं, जिह्वासे स्वाद ले रहे हैं और नासिकासे गन्ध ले रहे हैं, उपासकको प्रत्यक्ष ऐसा अनुभव होता है, वाणीसे भगवान् बोल रहे हैं, हाथोंसे ग्रहण कर रहे हैं, पैरोंसे चल रहे हैं, उपस्थसे आनन्द ले रहे हैं और पायुसे त्याग रहे हैं—ऐसा उपासक अनुभव करता है। भगवान् प्राणसे भीतरकी वायुको बाहर छोड़ रहे हैं, अपानसे बाहरको वायु भीतर ले रहे हैं;

व्यानसे समस्त शरीरकी नाड़ियोंमें घूम रहे हैं, समानसे खाये-पिये हुए अन्नको समान कर रहे हैं और उदानसे शरीरको पृथ्वीपरसे ऊपर नहीं जाने देकर पृथ्वीपर ही चलने-फिरने देते हैं, ऐसा उपासक जानता है। मनसे भगवान् मनन कर रहे हैं, चित्तसे चिन्तन कर रहे हैं, बुद्धिसे निश्चय कर रहे हैं और अहंकारसे अहंभाव कर रहे हैं—उपासकको ऐसी प्रतीति होती है।

इतना जाननेपर उपासककी भेद-बुद्धि दूर हो जाती है; वह सबमें भगवान्‌को और सबको भगवान्‌में देखता है, भगवान्‌का अपने आत्मारूपसे अनुभव करता है। इसलिये वह भगवान् या अपनेसे भिन्न और किसीको नहीं जानता। न किसीसे राग करता है, न किसीसे द्वेष करता है, सबमें समान दृष्टि रखता है; न किसीसे भय खाता है, न किसीको भय दिखलाता है, किन्तु प्राणीमात्रको अभय देता है। न शोक करता है, न मोह करता है, न लोभ करता है, यथालब्धमें सन्तुष्ट रहता है। न अनुकूल प्राप्त होनेसे सुखी होता है, न प्रतिकूल प्राप्त होनेसे दुखी होता है, किन्तु सर्वदा शान्त रहता है। विशेष क्या कहें, जीते-जी ब्रह्मलोकके सुखका अनुभव करता है और अन्तमें अक्षय सुखस्वरूप ही हो जाता है। इसलिये हे भाइयो! अपना-अपना धर्म पालते हुए राग-द्वेषरहित होकर समभावसे वर्ताव करते हुए विश्वेशकी शरण लो और सर्वदाके लिये सुखी हो जाओ! इस मनुष्यशरीरमें ही परमात्माका ज्ञान हो सकता है, अन्य शरीरमें नहीं; इसलिये अमूल्य मनुष्य-शरीरको सार्थक कर लो और सुखी हो जाओ!

भाइयो! यह आनन्दस्वरूप आत्मा अक्षय सुखका सागर है, दुःखका इसमें लेश भी नहीं है; प्रकाशका भी प्रकाश है, अँधेरेका इसमें नामतक नहीं है; अविनाशी है, कभी इसका नाश नहीं होता, अखण्ड, एकरस, अव्यय, अविकारी है। परन्तु इसपर तीन भूत चढ़ बैठे हैं, इसलिये सुखका समुद्र होकर भी रोता-सा दीखता है। सूरतोंसे अधिक सूझता होनेपर भी अंधा-सा बन जाता है, नित्य अविनाशी होनेपर भी विनाशशील-सा हो रहा है! इन तीनों भूतोंके आवेशसे विपर्यय देखने लगा है, इन भूतोंको उतार दो और सुखी हो जाओ!

तीन भूतोंका आवेश

जब स्थूलशरीररूप भूतका आवेश होता है, तब यह *आनन्दस्वरूप आत्मा सबके सामने रोता फिरता* है। कभी माताके सामने रो-रोकर दूध पीनेको माँगता है, पानी माँगता है, रोटी-दाल माँगता है, नये-नये खिलौने खेलनेको माँगता है, वस्त्र माँगता है, आभूषण माँगता है। यदि माता अभिलषित वस्तुएँ दे देती है, तब थोड़ी देरको रोना बंद कर देता है, फिर दूसरी वस्तुके लिये रोने लगता है। इस प्रकार माताके सामने रोता रहता है। कभी पिताके सामने रो-रोकर पैसे माँगता है, गाड़ी माँगता है, घोड़ा माँगता है, पुस्तकें माँगता है। यदि पिता दे देता है तो भली-भला; यदि पिता कृपण हुआ अथवा गरीब हुआ तो इसकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता। इच्छा पूर्ण हो गयी तो कुछ देरके लिये रोना बंद कर देता है, फिर थोड़ी देरमें रोने लगता है। इस प्रकार पिताके सामने रोता रहता है। बराबरवाले लड़कोंमें जाकर खेलता है तो कभी किसीको पीटता है, कभी पिटाता है; कभी हारता है, कभी जीतता है, कभी किसीसे कुछ छीन लेता है, कभी कोई इसकी वस्तु छीन लेता है; इस प्रकार रोता रहता है। पाठशालामें जाता है तो आचार्यके भयसे रोता है; दिन-दिनभर, रात-रातभर पाठ घोखा करता है। पाठ याद न हुआ तो गुरुजीकी कमचियाँ खा-खाकर रोता है, यदि पाठ याद हो गया तो दूसरा पाठ तैयार है; इस प्रकार पाठशालामें रोते-रोते ही बेचारेकी उमर बीतती है! पाठशाला छोड़नेपर यदि धनी हुआ तब *तो खैर या, नहीं तो धंधा करनेके लिये छोटे-बड़े,* ऊँचे-नीचे, न मालूम किस-किसके सामने दीन होता हुआ रोता फिरता है! धंधा लगनेके बाद पेटमें खाया हुआ अन्न पचाना कठिन हो जाता है। विवाह

करनेकी सूझती है, किसी-किसीके मदरसेसे निकलनेके पहले ही दो-तीन बच्चे हो जाते हैं, धंधा न हुआ तो स्त्री-बच्चे खूब रुलाते हैं, धंधा करने लगा तो 'यह ला, वह ला' इत्यादि अनेक वस्तुएँ माँग-माँगकर स्त्री और बच्चे रुलाते हैं ! विवाह नहीं हुआ होता, तो दिन-रात विवाहकी चिन्ता रुलाती है ! विवाह हो गया तो पूर्वजन्मके वोहरे अथवा आसामी आ घेरते हैं ! वोहरोंको तो देखते ही आप रोता है और कुटुम्बको भी रुलाता है। यदि आसामी आये तो रोता नहीं, उलटा हँसता है, जाति-बिरादरीको बुलाता हुआ फिरता है; बाल-बच्चे हुए तो उनको जिमाता हुआ उन्हें हाथ जोड़ता है, कंगाल हुआ तो अपनेको असमर्थ, दरिद्री जानकर रोता है। जब आया हुआ आसामी चला जाता है, तब तो पेटभरके रोता है। लड़का अपने ही घर रहता है, यथासम्भव कर्जा चुकाता है, इसलिये उसको वृद्ध पुरुष आसामी कहते हैं। लड़की घरमें नहीं रहती, सेवा कराकर और धन लेकर दूसरे घर चली जाती है; इसलिये लड़कियोंको बड़े लोग वोहरा मानते हैं ! इस प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा जवानीमें स्त्रीके पीछे मर्कटके समान दौड़ता हुआ रोता रहता है। पश्चात् वृद्धावस्थामें तो शरीर हड्डियोंका पंजर हो जाता है, सब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तृष्णा बढ़ जाती है, भोगका सामर्थ्य रहता नहीं, इसलिये खूब ही रोता है। बुढ़ापेमें जैसे-जैसे कष्ट पाकर यह प्राणी रोता और चिल्लाता है, उनका वर्णन करते हुए धीरे-से-धीरे पुरुषकी भी छाती फटने लगती है। इसलिये वृद्धावस्थाका रोना बहुत ही करुणाजनक है, बेचारा खानेतकको तरसता है। पुरानी कहावत है कि 'दाँत गिरे अरु खुर घिसे, पीठ बोझ नहिं लेय। ऐसे बूढ़े बैलको कौन बाँध भुस देय ॥' यदि किसीने पूर्व जन्ममें बहुत ही पुण्य किया हो, तब तो वह थोड़ा रोता है; नहीं तो प्रायः सबको अधिक ही रोना पड़ता है। यह पुरुष-शरीरका वर्णन किया गया ... दैवयोगसे स्त्री-शरीर मिला, तब तो आये दिन रोना ही बना रहता है, तीनों अवस्थाओंमें पराधीन रहना पड़ता है; यदि स्वतन्त्र होना चाहती है तो लोकमें निन्दा होती है और स्वतन्त्र हो भी गयी तो किसी पूर्व पुण्यसे भले ही कुमार्गी न हो, नहीं तो अवश्य भ्रष्ट हो जाती है, और लोक-परलोक दोनों बिगाड़ लेती है। इस प्रकार पुरुष-शरीरसे स्त्री-शरीरमें अधिक रोना है। यहाँतक स्थूलशरीररूप भूतका दिग्दर्शनरूपसे वर्णन किया। अब सूक्ष्मशरीररूप भूतका वृत्तान्त सुनो—

सूक्ष्मशरीररूप भूतके आवेशसे यह आनन्दस्वरूप आत्मा स्वप्नमें शून्यस्थानमें वृक्ष लगा हुआ देखता है, वृक्षपर अच्छे-अच्छे फल लगे हुए देखता है, फलोंको देखकर उसके मुँहमें पानी भर आता है, फल तोड़नेको लपकता है; इतनेहीमें वृक्ष हाथी अथवा सिंह बन जाता है, सिंहको देखकर आत्मा भयभीत होकर भागता है, पर्वतपर चढ़ने लगता है, पर लगे हुए पक्षीके समान दौड़ता है, फिर भी सिंह पीछा नहीं छोड़ता। डरके मारे बेचारा आत्मा पर्वतपरसे कूद पड़ता है, डरता-डरता जमीनपर आता है। जमीन नहीं दिखायी देती, समुद्र दिखायी देता है, समुद्रमें कूद पड़ता है। डूबता-उछलता चला जाता है। चलते-चलते थक जाता है, किनारे पर आना चाहता है। किनारा कोसोंतक दिखायी नहीं देता, घबड़ाता है। इतनेहीमें पूर्व पुण्यके प्रभावसे समुद्र सूख जाता है, महल दिखायी देता है। महल तो दिखायी देता है, परन्तु महलका दरवाजा दिखायी नहीं देता। चारों तरफ घूमता है, दरवाजा नहीं मिलनेसे रोता है; दरवाजा मिल गया तो घुसने लगता है। सिपाही रोकते हैं, खुशामद, दरामद करके भीतर जाता है; वहाँ चोर समझकर पकड़ लिया जाता है। कोई मारता है, कोई गालियाँ देता है, कोई बंदीखानेमें ले जाता है। बंदीखानेमें बेचारा अनेक कष्ट पाता है; भूख लगती है, भोजन ... मिलता। चाहे जिससे माँगता फिरता है। ... देता, व्याकुल होकर

कूपमें जा गिरता है। कूपमें भूतोंको, चुड़ैलोंको देखता है; वे सब 'हमारे घरमें क्यों घुस आया है?' कहकर खूब मारते-पीटते हैं। मार खानेसे पूर्वपुण्यके प्रभावसे आँख खुल जाती है, तो कहने लगता है—'हाय! हाय! कैसा कष्ट पाया! पिटा, भूखों मरा; न कुछ लेन था न देन, यों ही कष्ट उठाया! अंधा हो गया था। अच्छा हुआ, आँख खुल गयी!' इस प्रकार सूक्ष्मशरीररूप भूतके आवेशसे जीव अंधा होकर अनेक कष्ट पाता है। अब कारण-शरीररूप भूतका वृत्तान्त सुनो—

कारण-शरीररूप भूतके आवेशसे जीवात्मा मरा हुआ-सा हो जाता है; न अपनेको जानता है न परायेको जानता है। न माता-पिताको जानता है, न शत्रु-मित्रको जानता है, न चोर-साहूकारको जानता है; न सूर्य-चन्द्रको जानता है, न पुण्य-पापको जानता है; न सुख-दुःखको जानता है, न हर्ष-शोकको जानता है! जैसे कोई मदिरा पीकर बेहोश हो जाता है। मैले-कुचैले, मल-मूत्रके स्थानमें पड़ा रहता है; कुत्ते ऊपर आकर मूतते हैं, तो भी उसको कुछ खबर नहीं होती। उसी प्रकार कारण-शरीररूप भूतके आवेशसे आनन्दस्वरूप आत्मा मरा-सा हो जाता है, और अच्छे-बुरे किसीको नहीं जानता! यद्यपि कारण-शरीररूप भूतके आवेशमें दुःखका अनुभव नहीं होता, तो भी इसके आवेशसे आनन्दस्वरूप आत्मा अपनेको और परायेको नहीं जानता, इसलिये मरेके समान है; और स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंका बीजरूप होनेसे कारण-शरीर महा अनर्थका कारण है।

इस प्रकार इन तीनों शरीररूप भूतोंके आवेशमें जीवात्मा जाग्रत्में तो भूख-प्यास, आधि-व्याधि, प्रियसंयोग-वियोगके कारण रोता रहता है, स्वप्नमें कुछ-का-कुछ देखनेसे अन्धा-सा हो जाता है और सुषुप्तिमें बेहोश होनेसे मरा-सा हो जाता है। जबतक ये तीनों भूत नहीं उतरेंगे और आनन्दस्वरूप अपने स्वरूपमें स्थित न होगा, तबतक जीव सुखी नहीं हो सकता; इसलिये सब कार्य छोड़कर इन भूतोंको उतारनेका प्रयत्न करना चाहिये। यद्यपि आत्मा स्वभावसे स्वतन्त्र है, परन्तु इन भूतोंके आवेशसे परतन्त्र-सा जँचता है और स्वतन्त्र होनेके लिये अनेक उपाय करता है; परन्तु जितने उपाय करता है, उल्टे करता है। भूतोंसहित स्वतन्त्र होना चाहता है, भूत स्वभावसे परतन्त्र और जड़ हैं; उन सहित कोई कभी भी स्वतन्त्र और सुखी नहीं हो सकता।

विचारकर देखा जाय तो आनन्दस्वरूप आत्माका इन शरीररूप तीनों भूतोंसे मेल ही नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है; आत्मा चेतनस्वरूप है, शरीर जडरूप है; आत्मा आनन्दस्वरूप है, शरीर दुःखरूप है; तब ऐसे विलक्षण स्वभाववालोंका मेल होना असम्भव ही है। आनन्दस्वरूप आत्माने इनसे मेल न होते हुए भी अविचारसे मेल मान लिया है; अपनेको भूल गया है, उनको अपना स्वरूप मान लिया है! जैसा संग, वैसा रंग! असत्य, जड और दुःखरूप शरीरोंको अपना स्वरूप मानकर असत्य, जडरूप अपनेको मानकर दुःख भोग रहा है।

अविचारसे तीनों शरीर अपना स्वरूप भासते हैं—और विचारसे तीनों शरीरसे भिन्न आनन्दस्वरूप आत्मा भासता है। तीनों शरीररूप भूत जब उतर जाते हैं, तो संसारका कहीं पता नहीं चलता। जैसे स्वप्नसे जागनेपर स्वप्न मिथ्या हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्माका ज्ञान हो जानेपर यह सम्पूर्ण विश्व विलय हो जाता है और जो कुछ यह दृश्य है, सब-का-सब ब्रह्ममय भासने लगता है। अपने स्वरूपके अज्ञानसे विश्व भासता है; किन्तु जैसे स्वप्नका अन्त होनेपर स्वप्न मृषा हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानके नाश होनेपर सारा विश्व मृषा प्रतीत होता है। अज्ञानके प्रभावमें मिथ्या भी सत्य दिखायी देता है। अभ्याससे असत्यमें भी सत्यबुद्धि दृढ़ हो गयी है। संसारमें सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप—ये पाँच सभी वस्तुओंमें सर्वदा

(६)

यह कौन कहता है कि तू मन है तथा विज्ञान है ।
तू मन नहीं, विज्ञान नहिं, विज्ञान-मनकी जान है ॥
मन करण है, विज्ञान कर्ता, तू सदा अक्रिय है ।
कर्ता नहीं, नहिं तू करण, केवल परम निष्क्रिय है ॥

(७)

यह कौन कहता है कि तुझमें आ गया अज्ञान है ।
अज्ञान तुझमें हो कहाँ, तू ज्ञानघन प्रज्ञान है ॥
कारण नहीं, नहिं कार्य, कारण-कार्यहीन अनंत है ।
नहिं आदि है, नहिं मध्य है, होता न तेरा अंत है ॥

(८)

तुझमें न तीनों देह हैं, तीनों अवस्था हैं नहीं ।
नहिं पिंड, नहिं ब्रह्मांड ही, माया न तुझमें है कहीं ॥
अभिमान होता है जहाँ पर, दृश्य-द्रष्टा हैं वहीं ।
अध्यासको दे छोड़, फिर तू दृश्य-द्रष्टा है नहीं ॥

(९)

तेरा न कोई रूप है, कोई न तेरा नाम है ।
वाणी तथा मनसे परे है, नामका क्या काम है ॥
आकाश सम है भर रहा सर्वत्र ही भरपूर है ।
भूमा स्वयं है आप तू, नहिं पास है, नहिं दूर है ॥

(१०)

दे संग सबका छोड़ प्यारे ! आप भज तू आपको ।
अच्युत अनामय एक रस बेतोलको, बेमापको ॥
जो तू भजेगा असत्‌को तो तू असत् हो जायगा ।
भोला ! भजन कर सत्यका, साम्राज्य सच्चा पायगा ॥

प्यारे भाइयो ! एक परब्रह्म परमात्मा ही सच्चा और सुखरूप है, शेष सब संसार भ्रममात्र है और दुःखरूप है । जो कुछ भी कर्म करो, परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही करो । तीर्थ करो, व्रत करो; जप करो, तप करो; दान करो, धर्म करो; गंगास्नान करो, यमुनास्नान करो; होली करो, दिवाली करो; गीता पढ़ो, भागवतका पाठ करो, रामायणकी आवृत्ति करो—जो कुछ करो सब भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही करो । स्वधर्मपर आरूढ़ रहो, राग-द्वेष किसीसे न करो, राग-द्वेष ही अनर्थका कारण है । भगवान् समान हैं, समदर्शीपर शीघ्र अनुग्रह करनेवाले हैं, सब दुःख दूर करके सुखी करते हैं, उनका ही भजन करके, उनको ही प्राप्त होकर सर्वदाके लिये सुखी हो जाओ ! श्रुति भगवती कहती है कि अल्पमें सुख नहीं है, परिपूर्ण अपरिच्छिन्न परमात्मामें ही सुख है ! शान्तिः! शान्तिः !!शान्तिः !!!

हे शिष्य ! जो धीर पुरुष सुवर्ण-कुम्भके इस अमृतरूपी जलका पान करता है, उसका घट अवश्य फूट जाता है और वह सर्वदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त होता है ! बोल ! अब तो मेरे-तेरे वाक्यकी सङ्गति मिल गयी । या अब भी कुछ कसर है ? शिष्य गुरुका अपूर्व व्याख्यान सुनकर अपनी तृप्ति दिखलाता हुआ उछल-उछलकर नीचेके पद गाता है ।

ज्ञानीका अनुभव (तृप्ति)

(१)

अहाहा ! अहाहा ! भला कुंभ टूटा ।
हुआ ठोस पक्का, न टूटा न फूटा ॥
हुआ सारका सार, संसार छूटा ।
सभीमें भरा एक मैं हूँ अनूठा ॥

(२)

नहीं देह मेरा, नहीं गेह मेरा ।
नहीं द्वेष मेरा, नहीं स्नेह मेरा ॥
नहीं रूप मेरा, नहीं नाम मेरा ।
नहीं देश मेरा, नहीं ग्राम मेरा ॥

(३)

यहाँ हूँ, वहाँ हूँ; कहाँ मैं नहीं हूँ ?
नहीं ठौर कोई, जहाँ मैं नहीं हूँ ॥
सभी देशमें हूँ, सभी कालमें हूँ;
सभी वस्तुओंमें, सभी हालमें हूँ ॥

(४)

न आऊँ न जाऊँ, सभीमें बसा हूँ ।
बड़ा हूँ न छोटा, सदा एक-सा हूँ ॥
नहीं जन्म लीन्हा, नहीं मैं मरा हूँ ।
न खोटा हुआ मैं, सदा ही खरा हूँ ॥

(५)

पढ़ूँ वेद-वेदाङ्ग, तो वाह-वा है ।
करूँ योग अष्टाङ्ग, तो वाह-वा है ॥
जपूँ नित्य ओंकार, तो भी भला है ।
दिखाऊँ नहीं ज्ञान, तो हानि क्या है ॥

(६)

सुनूँ नित्य गीता, सुनूँ मैं नहीं हूँ।
पढ़ूँ भागवत मैं, पढ़ूँ मैं नहीं हूँ॥
अनोखे लिखूँ लेख, नाहीं लिखूँ हूँ।
शिखा-सूत्र राखूँ न तो भी रखूँ हूँ॥

(७)

सभी स्वाद लेऊँ, नहीं स्वाद लेऊँ।
करूँ दान, तो भी नहीं दान देऊँ॥
रचूँ गद्य भी, पद्य भी मैं बनाऊँ।
कथाएँ सुनाऊँ, न तो भी सुनाऊँ॥

(८)

करूँ राज्य तो भी, नहीं लाभ कोई।
सदा भीख माँगूँ, नहीं हानि होई॥
चढ़ूँ हाथियोंपर भले, वाह-वा है।
फिरूँ पैर नंगे भले, हानि क्या है॥

(९)

नहीं संत हूँ मैं, न ज्ञानी अमानी।
न भोगी न योगी, नहीं ब्रह्मचारी।
नहीं प्राज्ञ हूँ मैं, न तत्त्वज्ञ ही हूँ।
न अल्पज्ञ हूँ मैं, न सर्वज्ञ ही हूँ॥

(१०)

नहीं एक-दो हूँ, न ना हूँ न हाँ मैं।
सदा हूँ, सदा हूँ, सदा हूँ सदा मैं॥
सयाना न भोला, न विक्षिप्त हूँ मैं।
सदा तृप्त हूँ, तृप्त हूँ, तृप्त हूँ मैं॥

दो०—कुंभ-कथा हरिजन पढ़ें, छाँड़ि कपट-छल-दंभ।
'भोला'! हरि-हर-कृपा ते, शातकुंभ हो कुंभ॥

सकल चराचरानुचर भोला।

शिष्यको कृतार्थ हुआ देखकर श्रीगुरु मनमें फूले नहीं समाये हैं; गुरु-शिष्य दोनों आनन्द-निर्भय होकर भूमण्डलको पवित्र करते हुए विचरने लगे हैं।

नमस्कारमात्रसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

नर्मदाका पावन तट। सायङ्कालीन सन्ध्या-वन्दनके पश्चात्‌का समय। नर्मदाकी लहरोंमें चन्द्रज्योत्स्ना चमक रही है। पक्षियोंका कलरव शान्त है। एक सौम्यमूर्ति महात्मा तटके पास ही एक शिलाखण्डपर बैठकर ध्यान-मग्न हो रहे हैं। शान्तिका साम्राज्य है। इसी समय एक तरुण जिज्ञासुने आकर उनके चरणोंका स्पर्श किया। महात्माजीकी आँखें कुछ खुलीं, मुखपर मन्द-मन्द मुसकराहट आयी। उन्होंने कहा—'बेटा, शान्तिसे बैठ जाओ।' युवकने आज्ञापालन किया।

क्षणभर ठहरकर महात्माजीने कहा—'बेटा! बोलो, क्या पूछना चाहते हो?'

जिज्ञासु—'भगवन्, मैं आपकी आज्ञाओंके अतिरिक्त और जानना ही क्या हूँ कि प्रश्न करूँ। मेरे तो लोक-परलोक, ईश्वर-परमेश्वर—सब आप ही हैं। आप सबके [illegible]न, सबको पूछकर उपदेश करते हैं, इसलिये कहता हूँ। उनके अस्तित्व और नास्तित्वके आप ही परम प्रमाण हैं। आप जो उचित समझिये, उपदेश कीजिये।'

महात्माजी—'बेटा, तुम्हारा कहना ठीक है। किन्तु भी जब साधक साधनोंमें लगता है तब उसके सामने कितनी ही कठिनाइयाँ आती हैं, कितनी ही स्थितियाँ प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। मनको एकाग्र करनेकी चेष्टा करते ही उसके सामने अनेक प्रकारके लुभावने दृश्य उपस्थित होते हैं। उनके सम्बन्धमें प्रश्न किये बिना काम नहीं चलता। प्रश्नसे मालूम हो जाता है कि साधक अन्तर्मुख हो रहा है या नहीं, अथवा उसकी अन्तर्मुखता किस श्रेणीकी है। उसके प्रश्नमें [illegible] कौतूहल, जिज्ञासा अथवा श्रद्धाका भाव है, इस बातका पता चल जाता है। यदि अधिकारका पता चले बिना ही कोई बात कही जाती है तो वह साधकके [illegible] होती नहीं। ऊँचे अधिकारकी बात वह सहन नहीं

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करके [illegible] नहीं [illegible] [illegible] [illegible] है कि [illegible] [illegible] [illegible]— [illegible] पूछे किसीको न बतावे।' अनेक लोग [illegible] अच्छी-अच्छी बातें सुनते हैं, पढ़ते हैं और [illegible] हैं; परन्तु अधिकारके अनुरूप न होनेके कारण उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये अपनी रुचि, प्रकृति और अधिकारके प्रश्नके लिये अपने हृदयकी बात अवश्य पूछनी चाहिये।'

जिज्ञासु—'भगवन्, महात्मालोग तो स्वयं ही सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होते हैं। वे बिना पूछे भी सब कुछ जानकर अधिकारके अनुसार उपदेश कर देते हैं।'

महात्माजी—'वैसे तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं परम दयालु परमात्मा सबके हृदयमें ही बैठे हुए हैं; परन्तु उनसे भी प्रार्थना करनी पड़ती है, हाथ जोड़कर उनके सामने आत्मनिवेदन करना पड़ता है। यद्यपि वे सबको स्वीकार किये हुए हैं, फिर भी उस स्वीकृतिसे न जीवके दुःखकी निवृत्ति होती है और न तो सुख-शान्तिका अनुभव ही होता है। 'उन्होंने स्वीकार कर लिया'— इस भावका उदय आत्मनिवेदन करनेके पश्चात् ही होता है। इसी प्रकार यद्यपि महात्मा पुरुष सबके कल्याणका ही उपदेश किया करते हैं; फिर भी यह उपदेश मेरे *लिये है, इस बातका निश्चय प्रश्नसे ही होता है। यदि* बिना पूछे ही किसी उपदेशको ऐसा मान लिया जाय कि यह मेरे लिये है तो आगे चलकर यह शङ्का हो सकती है कि 'शायद वह उपदेश मेरे लिये रहा हो या न रहा हो।' अपने मनकी मान्यतापर विश्वास कर लेना खतरेसे खाली नहीं है। क्योंकि मनकी गति अनिश्चित है। इसलिये अपने सम्बन्धमें प्रश्न करके सर्वदाके लिये पक्का निश्चय कर लेना चाहिये। देखो, शास्त्रमें यह बात स्पष्टरूपसे आती है कि एक बार भगवन्नामके उच्चारण, श्रवण अथवा स्मरणसे परम पदकी प्राप्ति हो जाती है। यथा—

> यन्नामैकं कर्णमूलं प्रविष्टं
> वाचानिष्ठं चेतनासु स्मृतं वा।
> कृत्वा पापं [illegible]
> कृत्वा साक्षात् संविशत्यनवद्यम्॥
> ([illegible] श्लो० [illegible])

'भगवान्के एक नामके श्रवण, उच्चारण अथवा स्मरणसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, शरीर दिव्य हो जाता है और शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, केवल नामके सम्बन्धमें ही नहीं, नमस्कारके सम्बन्धमें भी ऐसी बात आती है कि जिसने एक बार भी भगवान्को नमस्कार कर लिया, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वेदान्त-शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा जाता है कि आत्मा तो नित्य मुक्त ही है, बन्धन एक भ्रम है। यद्यपि मुक्ति इतनी सरल, सुगम और नित्य प्राप्त है, फिर भी उसके सम्बन्धमें निश्चय न होनेके कारण जीव भगवद्विमुख और विषयपरायण हो रहा है। यह उसके निश्चयकी न्यूनता है। यह निश्चय स्वयं ही करना पड़ता है। किसी दूसरेके लिये कोई दूसरा निश्चय कर दे, ऐसा नहीं हो सकता। इतना ही साधकका पुरुषार्थ है। फिर तो उसके जीवनसे साधनाकी धारा फूट पड़ती है; उसका चलना-फिरना, हँसना-बोलना—सब साधनस्वरूप हो जाता है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, आपने अभी नाम और नमस्कारकी महिमा बतलायी है। नामकी महिमा तो कई बार सुननेको मिलती है। आप कृपा करके 'नमः' की महिमा बतलाइये।'

महात्माजी—'वास्तवमें नाम और 'नमः' में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही शब्द 'नम् प्रह्वत्वे' धातुसे बनते हैं। 'प्रणाम' शब्दमें तो 'प्र' उपसर्गयुक्त 'नाम' ही है। और वास्तवमें 'नाम' और 'नमः' दोनों ही भगवत्स्वरूप हैं। साधकोंकी तीन श्रेणियाँ मानी गयी हैं— एक तो वह जो भगवान्से अर्थ, भोग अथवा मोक्षकी

(६)

सुनूँ नित्य गीता, सुनूँ मैं नहीं हूँ।
पढ़ूँ भागवत मैं, पढ़ूँ मैं नहीं हूँ॥
अनोखे लिखूँ लेख, नाहीं लिखूँ हूँ।
शिखा-सूत्र राखूँ न तो भी रखूँ हूँ॥

(७)

सभी स्वाद लेऊँ, नहीं स्वाद लेऊँ।
करूँ दान, तो भी नहीं दान देऊँ॥
रचूँ गद्य भी, पद्य भी मैं बनाऊँ।
कथाएँ सुनाऊँ, न तो भी सुनाऊँ॥

(८)

करूँ राज्य तो भी, नहीं लाभ कोई।
सदा भीख माँगूँ, नहीं हानि होई॥
चढ़ूँ हाथियोंपर भले, वाह-वा है।
फिरूँ पैर नंगे भले, हानि क्या है॥

(९)

नहीं संत हूँ मैं, न ज्ञानी [illegible]।
न भोगी न योगी, नहीं [illegible]।
नहीं प्राज्ञ हूँ मैं, न तत्त्वज्ञ ही हूँ।
न अल्पज्ञ हूँ मैं, न सर्वज्ञ ही हूँ।

(१०)

नहीं एक-दो हूँ, न ना हूँ न हाँ मैं।
सदा हूँ, सदा हूँ, सदा हूँ सदा मैं।
सयाना न भोला, न विक्षिप्त हूँ मैं।
सदा तृप्त हूँ, तृप्त हूँ, तृप्त हूँ मैं।

दो०—कुंभ-कथा हरिजन पढ़ैं, छाँड़ि कपट-छल-दंभ।
भोला ! हरि-हर-कृपा ते, शातकुंभ हो कुंभ।

सकल चराचरानुचर भोला।

शिष्यको कृतार्थ हुआ देखकर श्रीगुरु फूले नहीं समाये हैं। गुरु-शिष्य दोनों आज निर्भय होकर भूमण्डलको पवित्र करते हुए [illegible] लगे हैं।

नमस्कारमात्रसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

नर्मदाका पावन तट। सायङ्कालीन सन्ध्या-वन्दनके पश्चात्का समय। नर्मदाकी लहरोंमें चन्द्रज्योत्स्ना चमक रही है। पक्षियोंका कलरव शान्त है। एक सौम्यमूर्ति महात्मा तटके पास ही एक शिलाखण्डपर बैठकर ध्यान-मग्न हो रहे हैं। शान्तिका साम्राज्य है। इसी समय एक तरुण जिज्ञासुने आकर उनके चरणोंका स्पर्श किया। महात्माजीकी आँखें कुछ खुलीं, मुखपर मन्द-मन्द मुसकराहट आयी। उन्होंने कहा—'बेटा, शान्तिसे बैठ जाओ।' युवकने आज्ञापालन किया।

क्षणभर ठहरकर महात्माजीने कहा—'बेटा! बोलो, क्या पूछना चाहते हो?'

जिज्ञासु—'भगवन्, मै आपकी आज्ञाओंके अतिरिक्त और जानता ही क्या हूँ कि
परलोक, ईश्वर-
सम्मान,

हूँ। उनके अस्तित्व और नास्तित्वके आ[illegible]
हैं। आप जो उचित समझिये, उपदे[illegible]

महात्माजी—'बेटा, तुम्हारा [illegible]
भी जब साधक साधनोंमें लगता [illegible]
कितनी ही कठिनाइयाँ आती [illegible]
प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। [illegible]
चेष्टा करते ही उसके सामने [illegible]
उपस्थित होते है। उन[illegible]
काम नहीं चलता। प्रश्न[illegible]
साधक अन्तर्मुख हो[illegible]
अन्तर्मुखता किस [illegible]
कौतूहल, जिज्ञासा [illegible]

सत्कारसे चित्तमें अपनी स्वतन्त्रता और स्वत्वका भाव बन जाता है। जब सब कुछ भगवान्का ही है—इस प्रकार उस व्यावहारिक ज्ञानका विरोधी पारमार्थिक ज्ञान उदय होता है, तब उसी भावको लेकर 'नमः' इस का उच्चारण होता है। इसके द्वारा नमस्कर्ता अपने कि दोनों भावोंको निकाल फेंकता है। तब नमस्कार- अर्थ क्या है?—अहङ्कार और ममताको निकाल कना। इनके निकलते ही भगवद्भावकी अनुभूति होने गती है। वह अनुभूति केवल बौद्धिक अथवा मानसिक हीं रहती, समस्त इन्द्रियों और रोम-रोमसे उसका नुभव होने लगता है। तब अपना अन्तःकरण, शरीर व सारा जगत् भगवान्का और भगवन्मय दीखता है। ह 'नमः' पदकी स्थिति है और यही उसका परम र्थ है। तब शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और ीवका जो कुछ वास्तविक स्वरूप है वह भगवत्प्रेरित, भगवन्मय और भगवत्स्वरूपरूपसे स्फुरित होने लगता है। भगवान्की कृपाकी, प्रेमकी, तत्त्वज्ञानकी और समाधिकी यही स्थिति है। यह 'नमः' पदके उच्चारणमात्रसे प्राप्त होती है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, इसके सम्बन्धमें कोई अनुभव सुनाइये?'

महात्माजी—'एक बार मैं अपने गुरुदेवके सम्मुख बैठा हुआ था। मैंने प्रार्थना की—गुरुदेव, आप कहते हैं कि आत्मसमर्पण एक ही बार होता है, वह कैसा आत्मसमर्पण है? वही करवा दीजिये न। गुरुदेवने कहा—अच्छी बात, करो। संसारकी सभी वस्तुएँ भगवान्के चरणोंमें अर्पित हैं। वे सदासे अर्पित हैं ही। उन्हें अनर्पित समझना अज्ञान था। ये भगवान्की हैं, इस ज्ञानसे वह अज्ञान निवृत्त हो गया न? मैंने कहा—निवृत्त हो गया। उन्होंने पूछा—अच्छा, यह शरीर किसका? मैंने कहा—उनका। गुरुदेवने कहा—अच्छा, यह समझ किसकी? मैंने कहा—मेरी। वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—यह समझ भी दे डालो। मैंने कहा—ठीक है। अबतक जो कुछ समझ रहा हूँ या समझूँगा, सब उनकी लीला, सब वे। उन्होंने कहा—इतनेसे ही आत्मसमर्पण नहीं हुआ। 'मैंने समर्पण किया' यह भाव भी छोड़ना होगा। उन्होंने ग्रहण किया, यह भाव भी नहीं बनता। समर्पण और ग्रहण दोनों ही असमर्पित और अगृहीत वस्तुके सम्बन्धमें होते हैं। भगवान्के लिये वैसी कोई वस्तु नहीं है। तुम्हारे मनमें जो असमर्पित, अगृहीतकी भावना थी वह निवृत्त हुई। अब तुम स्वयं अपने-आपको समर्पित करो। मैंने कहा—यह मैंने अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित किया। गुरुदेवने हँसकर कहा—इस समर्पण-क्रिया अथवा भावनाका कर्ता कौन है? मैंने कहा—मैं। उन्होंने कहा—तब समर्पण कहाँ हुआ? तुम अपनी की हुई समर्पण-क्रिया अथवा भावना-को बदल भी सकते हो? इसलिये 'मैं असमर्पित हूँ' इस अज्ञानकी अभी पूर्णतः निवृत्ति नहीं हुई। देखो! तुम, मैं और सब कुछ—जो कुछ था, है और होगा—सब भगवान्को समर्पित है, भगवन्मय है और भगवत्स्वरूप है। समर्पण-क्रिया अथवा भावना नहीं करनी है। अपनी क्रिया और भावनाके कर्तृत्वको मिटा दो। वास्तवमें मिटाना भी नहीं है। मिटा हुआ है। देखो, देखो, तुम्हारा देखना भी तो नहीं है। गुरुदेव इस प्रकार कह रहे थे और मैं एक अनिर्वचनीय स्थितिमें प्रवेश करता जा रहा था। मैंने सुखका समुद्र देखा, शान्तिका साम्राज्य देखा और ज्ञानका असीम आलोक देखा। सुख, शान्ति और ज्ञानका नाम तो इस समयकी दृष्टिमें है। वस्तुतः परमात्माके स्वरूपमें सुख-शान्ति और ज्ञान कहनेके लिये भी कुछ नहीं है। वस्तुएँ, क्रियाएँ, इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ और उनका अभाव—सब परमात्मामें

प्रार्थना करता है । उसके लिये भगवान् साधन हैं और अर्घादि वस्तु साध्य है । दूसरी श्रेणीके वे हैं जो अर्घ, धर्म, क्रिया, मोक्ष आदि वस्तुओंके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं । उनकी दृष्टिमें अन्य सब कुछ साधन हैं और भगवान् साध्य हैं । ये पहली श्रेणीके साधकोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं । तीसरी श्रेणीके साधक वे हैं, जो साधन और साध्य दोनों ही रूपोंमें भगवान्‌के दर्शनकी चेष्टा करते हैं और दर्शन करते हैं । ये साधक तो भगवद्रूप ही हैं । इनमें श्रेष्ठ, कनिष्ठ आदि श्रेणियोंका भेद नहीं है । इन्हें शरणागत, भगवत्प्रपन्न आदि नामोंसे कहा जाता है । वास्तवमें भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं; इसलिये यह साधना, यह भाव, यह स्थिति भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न है । इसीसे 'नाम' और 'नमः' दोनों भगवद्रूप हैं । इस स्थितिमें नमस्कर्ता, नमस्कार्य, नमः-शब्द, नमः-क्रिया, नमः-भाव और नमः-का ज्ञान एक ही पदार्थ हैं । और नमस्कारकी यही सर्वोत्तम स्थिति है ।'

जिज्ञासु—'भगवन्, नमस्कारका स्वरूप क्या है ?'

महात्माजी—'प्रत्येक शब्दके तीन भाव होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर । जहाँ वह शब्द कर्मेन्द्रियोंके द्वारा प्रयुक्त होता है अथवा कर्मेन्द्रियोंके द्वारा क्रियामें उतरता है, वहाँ उसका स्थूल भाव है । जैसे वाणीसे 'नमस्कार' कहना, शरीरसे दण्डवत् करना । इस क्रियासे अपनी नम्रता प्रकट होती है । जिसको नमस्कार किया जा रहा है वह अवस्थासे, जातिसे, गुणसे श्रेष्ठ है; उसकी श्रेष्ठता और अपनी कनिष्ठताकी स्वीकृति ही नमस्कार-क्रियाका स्थूल अर्थ है । इस क्रियाके साथ श्रेष्ठताकी सीमा बनी रहती है—'यह माता हैं, पिता हैं, गुरु हैं' इत्यादि । जहाँ यह क्रिया भगवान्‌के प्रति प्रयुक्त होती है, वहाँ उनकी असीम श्रेष्ठता मनमें आती है । इससे नियोज्य-नियोजकभावकी स्फूर्ति होती है । शरीर, मन और वाणीसे उनकी आज्ञाका पालन हो; मेरा रोम-रोम उनके इशारेपर नाचता रहे, उनके अनुकूल क्रिया हो, उनकी सेवा हो, उनके प्रतिकूल अथवा सेवासे रहित कोई भी क्रिया न हो । इस प्रकार नमस्कार-क्रियाके द्वारा अनुकूलताका सङ्कल्प और प्रतिकूलताके वर्जनका भाव दृढ होता है । अपनी अल्पज्ञता, अल्पशक्तिता और अल्पसुखताका भान होता है और भगवान्‌के पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति एवं पूर्ण सुखका चिन्तन होने लगता है । इस समय यही निश्चय होता है कि वे अंशी हैं, मैं अंश; वे शेषी हैं, मैं शेष; वे सेव्य हैं, मैं सेवक; वे ही मेरे रक्षक हैं, हमेशासे रक्षा करते आये हैं और करेंगे । मैं उनकी शरणमें हूँ, उनका हूँ । इस प्रकारके भावका उदय 'नमः' शब्दका सूक्ष्म अर्थ है ।

'बेटा ! जीव अज्ञानके कारण अनादिकालीन वासनासे विजड़ित होकर क्रिया, भावनाकी प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिमें अपनेको स्वतन्त्र मानने लगता है और स्थिति, भाव, क्रिया एवं पदार्थोंपर ममत्व कर बैठता है । इसकी निवृत्तिसे ही अर्थात् अहङ्कारमूलक स्वातन्त्र्य और ममताके नाशसे ही भगवत्प्राप्ति होती है । 'नमः' पदमें ममता और अहङ्कारकी निवृत्ति ही भरी हुई है । ये अहङ्कार और ममता मेरे नहीं हैं, इस प्रकारकी वृत्तिका उदय होनेपर 'नमः' पदके सूक्ष्म अर्थका साक्षात्कार होता है । 'म' का अर्थ है अहङ्कार और ममता, 'न' का अर्थ है उनका अभाव । नमस्कारका सीधा अर्थ है—'हे प्रभो ! जिन वस्तुओंको भूलसे मैं अपनी मानता था, वे तुम्हारी हैं; स्वयं मैं भी तुम्हारा हूँ ।' शास्त्र कहते हैं—

> अनादिवासनाजातैर्बोधैस्तैस्तैर्विकल्पितैः ।
> रूपितं यद्दृढं चित्तं स्वातन्त्र्यस्वत्वधीमयम् ॥
> तत्तद्वैष्णवसार्वात्म्यप्रतिबोधसमुत्थया ।
> नम इत्यनया वाचा नम्या स्वस्मादपोह्यते ॥
> (अहिर्बुध्न्यसंहिता ५२ । ३०-३१)

अनादिकालीन वासनाओंसे भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यावहारिक ज्ञानोंका उदय हुआ करता है । उनके दृढ

प्रकारसे जिसमें उनकी नम्रता और भगवत्‌भाव सब जगत् है। जब सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है—इस प्रकार उस व्यावहारिक ज्ञानका विरोधी पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त होता है, तब उसी भावको लेकर 'नम' इस पदका उच्चारण होता है। इसके द्वारा नमस्कर्ता अपने पूर्वोक्त दोनों भावोंको निकाल फेंकता है। तब नमस्कार-का अर्थ क्या है?—अहङ्कार और ममताको निकाल फेंकना। इनके निकलते ही भगवद्भावकी अनुभूति होने लगती है। यह अनुभूति केवल बौद्धिक अथवा मानसिक नहीं रहती, समस्त इन्द्रियों और रोम-रोमसे उसका अनुभव होने लगता है। तब अपना अन्तःकरण, शरीर एवं सारा जगत् भगवत्स्वरूप और भगवन्मय दीखता है। यह 'नमः' पदकी स्थिति है और यही उसका परम अर्थ है। तब शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और जीवका जो कुछ वास्तविक स्वरूप है वह भगवत्प्रेरित, भगवन्मय और भगवत्स्वरूपरूपसे स्फुरित होने लगता है। भगवान्‌की कृपाकी, प्रेमकी, तत्त्वज्ञानकी और समाधिकी यही स्थिति है। यह 'नमः' पदके उच्चारणमात्रसे प्राप्त होती है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, इसके सम्बन्धमें कोई अनुभव सुनाइये!'

महात्माजी—'एक बार मैं अपने गुरुदेवके सम्मुख बैठा हुआ था। मैंने प्रार्थना की—गुरुदेव, आप कहते हैं कि आत्मसमर्पण एक ही बार होता है, वह कैसा आत्मसमर्पण है! वही करवा दीजिये न। गुरुदेवने कहा—अच्छी बात, करो। संसारकी सभी वस्तुएँ भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित हैं। वे सदासे अर्पित हैं ही। उन्हें अनर्पित समझना अज्ञान था। ये भगवान्‌की हैं, इस ज्ञानसे वह अज्ञान निवृत्त हो गया न? मैंने कहा—निवृत्त हो गया। उन्होंने पूछा—अच्छा, यह शरीर किसका? मैंने कहा—उनका। गुरुदेवने कहा—अच्छा, यह समझ किसकी? मैंने कहा—मेरी। वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—यह समझ भी दे डालो। मैंने कहा—ठीक है। अबतक जो कुछ समझ रहा हूँ या समझूँगा, सब उनकी लीला, सब वे। उन्होंने कहा—इतनेसे ही आत्मसमर्पण नहीं हुआ। 'मैंने समर्पण किया' यह भाव भी छोड़ना होगा। उन्होंने ग्रहण किया, यह भाव भी नहीं बनता। समर्पण और ग्रहण दोनों ही असमर्पित और अगृहीत वस्तुके सम्बन्धमें होते हैं। भगवान्‌के लिये वैसी कोई वस्तु नहीं है। तुम्हारे मनमें जो असमर्पित, अगृहीतकी भावना थी वह निवृत्त हुई। अब तुम स्वयं अपने-आपको समर्पित करो। मैंने कहा—यह मैंने अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित किया। गुरुदेवने हँसकर कहा—इस समर्पण-क्रिया अथवा भावनाका कर्ता कौन है? मैंने कहा—मैं। उन्होंने कहा—तब समर्पण कहाँ हुआ! तुम अपनी की हुई समर्पण-क्रिया अथवा भावना-को बदल भी सकते हो? इसलिये 'मैं असमर्पित हूँ' इस अज्ञानकी अभी पूर्णतः निवृत्ति नहीं हुई। देखो! तुम, मैं और सब कुछ—जो कुछ था, है और होगा—सब भगवान्‌को समर्पित है, भगवन्मय है और भगवत्स्वरूप है। समर्पण-क्रिया अथवा भावना नहीं करनी है। अपनी क्रिया और भावनाके कर्तृत्वको मिटा दो। वास्तवमें मिटाना भी नहीं है। मिटा हुआ है। देखो, देखो, तुम्हारा देखना भी तो नहीं है। गुरुदेव इस प्रकार कह रहे थे और मैं एक अनिर्वचनीय स्थितिमें प्रवेश करता जा रहा था। मैंने सुखका समुद्र देखा, शान्तिका साम्राज्य देखा और ज्ञानका असीम आलोक देखा। सुख, शान्ति और ज्ञानका नाम तो इस समयकी दृष्टिसे है। वस्तुतः परमात्माके स्वरूपमें सुख-शान्ति और ज्ञान कहनेके लिये भी कुछ नहीं है। वस्तुएँ, क्रियाएँ, इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ और उनका अभाव—सब परमात्मासे

एक हो गया। वह नमस्कारकी वास्तविक स्थिति थी।'

जिज्ञासु—'फिर आपकी वह स्थिति बदली या नहीं? वहाँसे उठनेपर गुरुदेवने क्या आदेश दिया?'

महात्माजी—वह स्थिति तो एकरस है। वह स्मृति-विस्मृति, जीवन-मरण, सबमें एक-सी रहती है। उसमें विक्षेप और समाधि एक है। वह कुछ भी नहीं है और वही सब कुछ है। थोड़ी देरके बाद जब मुझे बाह्य ज्ञान हुआ, तब गुरुदेवने कहा—जाओ; अब तुम अपने जीवनके द्वारा, मन, वाणी और शरीरके द्वारा निरन्तर भगवान्‌की आराधना, उनके नामका जप करते रहो। भगवान्‌की आराधना क्या है?

> रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
> हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम्॥
> (प्रपन्नपारिजात)

'अन्तःकरणमें राग-द्वेष न हो; वाणीमें अ
कटुता आदि न हो और शरीरसे हिंसा आदि न
यही भगवान्‌की आराधना है।' मैं तभीसे भग
इच्छाके अनुसार नर्मदातटपर रहता हूँ, उनके
नुसार कृष्ण-कृष्णका जप करता रहता हूँ। सब
भगवान्‌के ही तो दर्शन हो रहे हैं।'

जिज्ञासु—'भगवन्, मैं तो आपके श्रीचरणोंमें ही नम
करता हूँ। आपके श्रीचरणोंकी प्राप्ति ही मेरे लिये भग
प्राप्ति है।' नर्मदाजी अनवरत बह रही थीं, च
आकाशके मध्यभागकी ओर आ रहे थे, लहरें लहरा
थीं, हवा चल रही थी और जिज्ञासु महात्माजीके चर
गिरकर भगवत्स्पर्शका आनन्द ले रहा था।

बोलो, अब तो कुछ बोलो!

युग-युगकी साधें तुम्हारे चरणोंमें आज मनुहार कर रही हैं—प्यारे कुछ भी तो बोलो! मैं सदा अपनी ही सुनाता आया—तुम चुपचाप सुनते रहे। आज प्यार इस हठपर तुला है कि तुम कुछ बोलो। और यह तुम्हारा मौन कितना बोझल होकर मेरे प्राणोंपर अपना भार डाल रहा है। आज प्यारे, उपास्य और उपासकका आवरण हटने दो, आज देवता और पुजारीका द्वैत मिटने दो और आज मुझे यह भूल जाने दो कि हम-तुम सदा हम-तुम ही रहे। आज, ओ पत्थरकी मूरत! कुछ बोलो, कुछ अपनी सुनाओ। मैं सुनूँ कि तुम्हारा भी हृदय है और उसमें भी किसीके लिये व्यथा है, किसीके लिये आग्रह है, किसीके लिये अनुराग है। आज मेरा हृदय तुम्हारा 'हृदय' देखनेके लिये मचला है। आज प्रार्थना, स्तुति, साधन, स्तोत्र, जप, तप—कुछ भी न होगा। मैं देख रहा हूँ इन साधनोंने सदा तुम्हें मुझसे दूर-दूर-दूर रखा—तुम-हम एक न हो पाये। आज इन सबका सहारा छोड़कर, तुम्हारे कंधेपर हाथ रखकर, तुम्हारी दृष्टियोंको छूकर मनुहार करती बार-बार कही रह रही हूँ कि तुम कुछ बोलो। बोलो, अब तो कुछ बोलो।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रेमसहित राम राम। आपका साधन किस तरह चलता है ? काम, क्रोध, लोभ, मोहका वेग कम होकर श्रीपरमात्मादेवमें जल्दी अनन्य प्रेम होना चाहिये। आपको हर समय विचारते रहना चाहिये कि जल्दी कल्याण किस तरह हो। यदि ऐसा मौका भी बिना भगवत्प्राप्तिके चला जायगा तो फिर ऐसी तजबीज बैठनी बहुत मुश्किल है। आपने अपने उद्धारकी चेष्टाके लिये आफिसका काम छोड़ा था किन्तु अभीतक आपका ऐसा तेज साधन नहीं हुआ जिसके बलसे आपको जल्दी भगवत्प्राप्ति हो जाय। आपका साधन ढीला तो होना ही नहीं चाहिये बल्कि दिन-पर-दिन अधिक तेज होना चाहिये। आपको किस बातकी जरूरत है ? आपका साधन तेज होनेमें किसलिये रुकावट हो रही है ? भगवत्प्राप्तिके लिये आपकी उत्कण्ठा जोरसे क्यों नहीं होती ? यदि इसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कितनी हानि है ? प्राण चले जानेके बाद आपका क्या उपाय रह जायगा ? आपको इन बातोंपर विचार करना चाहिये और बहुत जल्दी कल्याणका उपाय कर लेना चाहिये। अभी नहीं करेंगे तो फिर कब करेंगे ? दिन तो बीते जा रहे हैं। गये हुए दिन वापस थोड़े ही आवेंगे !

(२)

प्रेमसहित राम राम बंचना। आपने लिखा कि आपकी मायाको आप ही जानें, सो इस तरह नहीं लिखना चाहिये। आपने पूछा कि श्रीसच्चिदानन्दघन भगवान्का ध्यान करते हुए श्रीसच्चिदानन्दमय ही हो जाय, शरीर तथा संसारका कुछ भी ज्ञान न रहे—

...ीक है। जब श्रीपरमात्मा-

...अनुसार

...था, उस दिन आपके लिखे मुताबिक श्रीपरमात्मादेवका ध्यान होना कुछ भी बड़ी बात नहीं है। इस प्रकारके ध्यान रहनेका उपाय पूछा सो सत्सङ्ग और भजनकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये तथा शास्त्रोंका विचार भी करना चाहिये। हो सके तो श्रीगीताजी अर्थसहित कण्ठस्थ कर लेनी चाहिये। और काम करते समय भी भगवान्‌के प्रेममें मग्न होते हुए उनके नामका जप और स्वरूपका ध्यान करते हुए ही काम करनेका अभ्यास डालना चाहिये। इस भाँति अभ्यास तेज होनेपर ध्यान अटल हो सकता है। फिर श्रीसच्चिदानन्दका ध्यान कभी छूट सकता नहीं। जबतक ध्यान अच्छी तरह नहीं होता है तभीतक ध्यानका साधन कुछ कठिन मालूम देता है।

आपने लिखा कि बहुत बार ध्यानकी बातें सुनी जाती हैं; किन्तु बड़े पश्चात्तापकी बात है कि अभीतक ऐसा ध्यान हुआ नहीं, सो ठीक है। अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास करनेसे हो सकता है। ध्यानकी बातें सुननेके समय एकाग्रचित्त होकर सुनना चाहिये और उसके बाद ध्यानमें मग्न रहते हुए ही मार्गपर चलना चाहिये। चाहे जो कुछ हो, ध्यान नहीं छूटना चाहिये। इस तरहकी स्थिति नित्य अभ्यास करनेसे हो सकती है।

किसी समय थोड़ी चेष्टासे भी ध्यान हो जाता है और किसी समय अधिक चेष्टा करनेपर भी नहीं होता, सो ठीक ही है, जब वृत्तियां सात्त्विक होती हैं तब तो थोड़ी चेष्टासे भी ध्यान हो जाता है किन्तु जब राजसी होती हैं तब अधिक चेष्टा करनी पड़ती है और जब तामसी वृत्तियाँ होती हैं उस समय तो भगवान्‌का ध्यान होना ही मुश्किल है। इसलिये वृत्तियोंको निरन्तर सात्त्विक रखनेके लिये सात्त्विक कर्म तथा खान-पान, भजन-सत्सङ्ग आदि करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

उत्तम कामसे वृत्तियाँ शीघ्र ही सात्त्विक हो सकती हैं इसके सिवा इसका और कोई उपाय है नहीं।

जपकी चेष्टा होती लिखी, सो ठीक है। किसी समय आनन्दमयका ध्यान बहुत उत्तम होता है सो वह भजन-सत्सङ्गका ही प्रताप है। आपने लिखा कि मेरे आचरण बहुत खराब हैं किन्तु भगवान् पतित-पावन हैं, इसीलिये धीरज है, सो आनन्दकी बात है। पत्रमें मेरी बड़ाई नहीं लिखनी चाहिये, आपको इसके लिये पहले भी मनाही की थी।

(३)

× × × तुम्हारे अब ऐसा क्या काम है, जिसके कारण तुम भगवत्प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर नहीं लगते हो। भाई! यदि इस समय शरीर छूट जाय तो! तुम विचार करो। तुम्हारे ऐसा कौन-सा साधन बन गया है जिसके कारण तुम्हारी चेष्टा ढीली है। तुम किसके भरोसे निश्चिन्त-से हो रहे हो? यदि कहो कि भरोसा तो श्रीपरमात्मादेवका ही है सो भाई! यह तुम्हारी समझकी भूल है। तुमने श्रीपरमात्मादेवकी बातें तो कुछ भी सुनी नहीं तब फिर यह कहनेमात्रका भरोसा कैसे मान रक्खा है? तुमको विचार करना चाहिये। भाई! तुमने मनुष्यका शरीर लेकर क्या किया? संसारमें लोग कहते हैं, ये इनके मित्र हैं; पर भाई! हमारा मित्रपना भगवान्के भजनमें बाधा देनेवाला थोड़े ही है! तुम हमारे मित्र हो तो फिर मित्रकी बात तो माननी चाहिये। तुम्हें कई बार लिख दिया कि श्रीगीताजी पढ़नी चाहिये। भाई! यदि रोज दो श्लोक अर्थसहित कण्ठस्थ कर लिये जायँ और इस प्रकार बारह महीनेमें पूरी गीता अर्थ-सहित कण्ठस्थ करनेका नियम कर लिया जाय तो क्या तुम गीताजी याद नहीं कर सकते हो? परन्तु हो कैसे, इस तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको छोड़ो तब न! भाई! तुममें इतनी कायरता कहाँसे आयी? तुम्हें यह कायरता शोभा नहीं देती। तुमने किसलिये इतनी कमजोरी धारण कर ली है! [illegible] तुम्हें अपने मनमें उत्तेजना

क्यों नहीं होती है? तथा सत्सङ्गमें पहलेसे [illegible] प्रेम होना चाहिये सो क्यों नहीं होता? [illegible] प्रभाव फिर कब जानोगे? समय तो बीता [illegible] है। जल्दी चेतना चाहिये।

(४)

·········की बातें सुननेसे उनकी बहुत ऊँची [illegible] अनुमान की जाती है। ······· से आपका साधन तेज समझा जाता है परन्तु अब ढीला नहीं [illegible] चाहिये। बहुत समय हो गया। समय तो बीतता जा रहा है। गया हुआ समय फिर आता नहीं। [illegible] अब तो कटिबद्ध होकर ऊँचे-से-ऊँचे साधनके [illegible] जाना चाहिये, एक पलक भी नीचे साधनमें [illegible] बिताना चाहिये। ·········के मुताबिक साधन [illegible] चाहिये। सम्पूर्ण बल साधनपर लगा देना चाहिये ध्यानमें ऐसा मस्त हो जाना चाहिये कि भले ही [illegible] शरीरका नाश कर दे पर कुछ भी मालूम न [illegible] श्रीसच्चिदानन्दघनके स्वरूपमें ऐसी मग्नता होनी [illegible] कि फिर इस शरीरकी कुछ भी सुध-बुध न रहे। संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य [illegible] उस नित्य बोधस्वरूप परमानन्दमें मग्न हो रहना चाहिये

(५)

आप किसलिये कटिबद्ध होकर साधनमें नहीं रहे हैं? इस शरीरसे उत्तम लाभ न लेकर सांसारिक भोगोंके तुच्छ आनन्दमें किसलिये अमूल्य जन्मको धूलमें मिला रहे हैं! आपका [illegible] भी आपके साथ नहीं जायगा, फिर और चीजें तो [illegible] ही कैसे सकती हैं? उसके बाद आपके ये रुपये [illegible] काम आवेंगे? एक भगवान्के सिवा आपकी और भी सहायता करेगा नहीं। यदि आप तुच्छ सांसारिक आराममें फँसकर अपने पारलौकिक आनन्दको मिटा देंगे तो पीछे बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा आपको चेतकर चलना चाहिये। ऐसा समय मिलना बहुत ही कठिन है। आप [illegible] आ

मेंको नहीं जानते, नहीं तो इस शरीरके तुच्छ भोगोंमें ...मी नहीं रमते।

(६)

संसार और शरीरको नाशवान् देखनेसे भगवान् ...कारमें अधिक याद रह सकते हैं। भगवान्के साथ ...म हुए बिना बहुत ही दुर्गति हुआ करती है–इस ...रह समझकर भगवान्में प्रेम करना चाहिये। नहीं तो ...हुत ही मुश्किल है। शरीर बीत जायगा तब वह तुम्हारे ...किस काम आवेगा। शरीर तो जरूर नाश होगा ही। ...सको बचा रखनेका कोई उपाय नहीं है। इसलिये ...जबतक यह मिट्टीमें नहीं मिल जाता तबतक इससे जो ...कुछ लाभ लेना हो सो तुरत ले लेना चाहिये। इस ...प्रकार विचार करनेसे भजन अधिक हो सकता है। जो कुछ लाभ इस शरीरसे उठाना हो वह प्राण निकले उससे पहले ही उठा लेना चाहिये। यह शरीर तो मिट्टी ही है, अतः तुरंत मिट्टीमें मिलनेवाला है। जल्दी चेष्टा ...लेंगे तो काम बन जायगा, नहीं तो मुश्किल ही है।

(७)

आपने इतना समय बिता दिया! लगभग पूरी आयु बीत गयी। आपको मनुष्य-शरीर पाकर कुछ विचार ...ना चाहिये था। पर जो हुआ सो हुआ; अब भी ...ना चाहिये। आप जिस कामके लिये आये थे, उस ...ममें आपको तत्पर होना चाहिये। अब भी यदि नहीं ...तेंगे तो फिर कब चेतेंगे? एक भगवान्के सिवा कोई आपका नहीं है। शरीर भी आपका नहीं है। ...सारमें मनुष्य-शरीर पाकर भी यदि भगवद्दर्शन हुए ...ना चले जावेंगे तो बहुत ही पश्चात्ताप करना होगा ...ार फिर पश्चात्ताप करनेसे कुछ भी गरज सरेगी नहीं। ...अतः अब तो इस शरीरको एकदम ही भगवान्के अर्पण ...र देना चाहिये। अब तो इस शरीरसे परम लाभ ...उठाना चाहिये। मनुष्य-जन्मका फल पाना चाहिये। ...आप किसलिये नहीं चेतते हैं? एक पलक भी दूसरे ...काममें क्यों बिताते हैं? किसलिये फालतू बातोंमें समय बिताते हैं? श्रीभगवान्के भजन, ध्यान, सत्सङ्गके सिवा जो कुछ भी बात की जाती है, वही फालतू बात है और भगवान्की प्राप्तिके सिवा जो कुछ भी समय बिताया जाता है, वही फालतू समय है। फालतू समय बिताया हुआ आपके किस काम आवेगा?—ऐसा विचार कर अब तो बहुत ही जल्दी चेतना चाहिये।

(८)

प्रेमकी बात...... ...की चिट्ठीमें लिखी है, सो देख सकते हैं। और आपको विचारना चाहिये! मैं कौन हूँ? किसलिये यहाँ आया हूँ? मुझे क्या करना चाहिये? और मैं क्या कर रहा हूँ? आपका इस तरह पेट भरनेके लिये ही यहाँ नहीं आना हुआ है। आपने मनुष्य-जन्म पाकर क्या किया? जब मृत्यु आकर प्राप्त होगी, उस समय आप क्या करेंगे? उस समय आपके रुपया, स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्बी लोग क्या काम आवेंगे? शरीर भी तो आपके साथ नहीं जायगा। उस समय कोई भी सहायता नहीं दे सकेगा—कोई भी काम नहीं आवेगा। केवल भगवान्का भजन किया हुआ होगा तो वही काम आवेगा; शेष तो सब जवाब दे देंगे। क्योंकि और किसीकी वहाँ चलती भी नहीं है। फिर आप धोखेमें पड़कर किसलिये इस प्रकार सांसारिक पदार्थोंके लिये रात-दिन मारे-मारे फिर रहे हैं? रुपये एकत्र करनेमें इतनी उम्र तो बिता दी है, फिर भी बिता रहे हैं! आप कुछ विचार नहीं कर रहे हैं कि ये रुपये मेरी क्या सहायता करेंगे! क्या आपके पास कोई अमरपट्टा है? क्या मृत्यु और यमराजके साथ आपकी दोस्ती है? क्या इन सब चीजोंको किसी भी प्रकार अपने साथ ले जानेका कोई उपाय है? यदि नहीं तो फिर इस नाशवान् अनित्य संसारके पदार्थोंसे प्रेम हटाकर एकमात्र सच्चे निष्कामप्रेमी प्यारे मनमोहनसे ही निष्कामभावसे अनन्य प्रेम क्यों नहीं कर लेना चाहिये? फिर कब चेतेंगे? जल्दी चेतना चाहिये। बहुत-सा समय चला गया। ढील किसलिये कर रहे हैं? किसके भरोसे निश्चिन्त-से हो रहे हैं?

उत्तम कामसे वृत्तियाँ शीघ्र ही सात्त्विक हो सकती है इसके सिवा इसका और कोई उपाय है नहीं।

जपकी चेष्टा होती लिखी, सो ठीक है। किसी समय आनन्दमयका ध्यान बहुत उत्तम होता है सो वह भजन-सत्सङ्गका ही प्रताप है। आपने लिखा कि मेरे आचरण बहुत खराब हैं किन्तु भगवान् पतित-पावन हैं, इसीलिये धीरज है, सो आनन्दकी बात है। पत्रमें मेरी बड़ाई नहीं लिखनी चाहिये, आपको इसके लिये पहले भी मनाही की थी।

(३)

× × × तुम्हारे अब ऐसा क्या काम है, जिसके कारण तुम भगवत्प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर नहीं लगते हो। भाई! यदि इस समय शरीर छूट जाय तो! तुम विचार करो। तुम्हारे ऐसा कौन-सा साधन बन गया है जिसके कारण तुम्हारी चेष्टा ढीली है। तुम किसके भरोसे निश्चिन्त-से हो रहे हो? यदि कहो कि भरोसा तो श्रीपरमात्मादेवका ही है सो भाई! यह तुम्हारी समझकी भूल है। तुमने श्रीपरमात्मादेवकी बातें तो कुछ भी सुनी नहीं तब फिर यह कहनेमात्रका भरोसा कैसे मान रक्खा है? तुमको विचार करना चाहिये। भाई! तुमने मनुष्यका शरीर लेकर क्या किया? संसारमें लोग कहते हैं, ये इनके मित्र हैं; पर भाई! हमारा मित्रपना भगवान्के भजनमें बाधा देनेवाला थोड़े ही है! तुम हमारे मित्र हो तो फिर मित्रकी बात तो माननी चाहिये। तुम्हें कई बार लिख दिया कि श्रीगीताजी पढ़नी चाहिये। भाई! यदि रोज दो श्लोक अर्थसहित कण्ठस्थ कर लिये जायँ और इस प्रकार बारह महीनेमें पूरी गीता अर्थ-सहित कण्ठस्थ करनेका नियम कर लिया जाय तो क्या तुम गीताजी याद नहीं कर सकते हो? परन्तु हो कैसे, इस तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको छोड़ो तब न! भाई! तुममें इतनी कायरता कहाँसे आयी? तुम्हें यह कायरता शोभा नहीं देती। तुमने किसलिये इतनी कमजोरी धारण कर ली है। साधनके लिये तुम्हें अपने मनमें उत्तेजना क्यों नहीं होती है? तथा सत्सङ्गमें पहले ... प्रेम होना चाहिये सो क्यों नहीं होता! ... प्रभाव फिर कब जानोगे? समय तो बीता ... है। जल्दी चेतना चाहिये।

(४)

·······की बातें सुननेसे उनकी बहुत ऊँची ... अनुमान की जाती है। ·······से आपका ... तेज समझा जाता है परन्तु अब ढील नहीं ... चाहिये। बहुत समय हो गया। समय तो बीत... जा रहा है। गया हुआ समय फिर आता नहीं। अब तो कटिबद्ध होकर ऊँचे-से-ऊँचे साधनके ... जाना चाहिये, एक पलक भी नीचे साधनमें ... बिताना चाहिये। ·······के मुताबिक साधन ... चाहिये। सम्पूर्ण बल साधनपर लगा देना ... ध्यानमें ऐसा मस्त हो जाना चाहिये कि भले ही ... शरीरका नाश कर दे पर कुछ भी मालूम न ... श्रीसच्चिदानन्दघनके स्वरूपमें ऐसी मग्नता होनी ... कि फिर इस शरीरकी कुछ भी सुध-बुध न रहे। संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य ... उस नित्य बोधस्वरूप परमानन्दमें मग्न हो रहना ...

(५)

आप किसलिये कटिबद्ध होकर ... रहे हैं? इस शरीरसे उत्तम लाभ ... सांसारिक भोगोंके तुच्छ आनन्दमें ... अमूल्य जन्मको धूलमें मिला रहे ... भी आपके साथ नहीं जायगा, कि... ही कैसे सकती हैं? उसके बाद ... काम आवेंगे? एक भगवान्के सिवा ... भी सहायता करेगा नहीं। यदि ... आराममें फँसकर अपने पारलौकिक ... मिला देंगे तो पीछे बहुत पश्चात्ताप ... आपको चेतकर चलना चाहिये। ... मिलना बहुत ही कठिन है। आप

अर्थ एवं पर्यायवाची शब्द मिलते हैं उससे तो हाथ
़ लेनेमात्रसे प्रार्थना हो चुकती है परन्तु सची
ना तो कुछ और ही होती है और वह हृदयकी
राईमें, रसमें भीनी, आत्माकी आवाजमें होती है,
यकी भाषामें, प्राणोंकी बोलीमें होती है। यह
र्थना ही है प्रेमका क. ख. ग.। प्रार्थनाकी भाषा
सकी होती है—'Prayer is the very alphabet
love.' 'Love is the language of Prayer.'

संत-महात्मा कहते हैं कि अपने बंद कमरेमें अपने
भुसे एकान्तमें मिलो और उनसे हिल-मिलकर बातें
रो। परन्तु सच्चा एकान्त जिसमें प्रभुके साथ लोकान्त
किया जाता है—वह है हृदयकी कोठरी। इसी कोठरीमें
प्यारेका दीदार मिलता है—यही है प्रेमी और प्रेमास्पद-
के मिलनका संकेत-स्थल। यही है प्रेमदेवका लीला-
निकेतन। यही है वह मन्दिर जिसमें हम अपने परम
प्रियतम प्रभुसे सर्वथा एकान्तमें मिलते हैं, कुछ अपनी
कहते हैं, कुछ उनकी सुनते हैं। वहीं उस एकान्तमें
[illegible] आदान-प्रदान होता है।

दिलसे दिलके परस्पर मिलापका नाम है प्रार्थना—
जैसे उसमें कहीं बनावटकी या वाग्जालकी गुंजाइश
नहीं है। प्रार्थना जितनी सरल और सच्ची होगी वह
ना ही भगवान्का हृदय छू सकेगी। भगवान्के
मने हमें अपने दुःखोंका रजिस्टर खोलकर नहीं बैठ
ना चाहिये। वह दयामय सुनते तो सब कुछ हैं।
मानमें यह कहना कि मेरे लिये यह कर दो, वह कर
—उनकी सर्वशक्तिमत्ता एवं करुणावरुणालयतापर
हा करना है—हालाँ कि जब भी हम कुछ प्रभुसे
हनेको उद्यत हैं अपने दुःखोंका रोना ही शुरू करते
। भगवान् जो कुछ भी हमारे लिये करते हैं उसे
[illegible] प्रसादरूप ग्रहण करनेमें कल्याण हमें जानना चाहिये,
न कि यह और वह माँगनेमें। भगवान् तो अपने-
आपको ही हमारे हृदयमें उँडेल देना चाहते हैं, हमें
अपना हृदय खोलकर उस रसधाराको पूरा-पूरा बहने
देना चाहिये। भगवान्के प्रेमके प्रति हमारा शरीर-मन-
प्राण सदा उन्मुख रहे, सदा उसे ग्रहण करता रहे, सदा
आस्वादन करता रहे।

सच्ची प्रार्थनामें हृदय बोलता है, मस्तिष्क मूक हो
जाता है। प्रायः हम जिसे 'प्रार्थना' कहते हैं वह
दिमागसे निकली हुई चीज होती है। प्रार्थना तो
हृदयकी सच्ची पुकार और कसमसाहटका नाम है। एक
अबोध शिशु जिस सरलतासे बातें करता है उसी
सरलताके साथ प्रार्थना की जाती है। हमारा हृदय
जितना ही भगवान्के हृदयके समीप पहुँचने लगता है
उतना ही वह शिशुकी तरह सरल हो जाता है और
यह सरलता यहाँतक पहुँचती है कि वाणी मूक हो
जाती है, आँखें झर जाती हैं, मस्तक पृथ्वीपर टिक
जाता है और अन्तरकी खिड़की खुल जाती है; फिर
जो कुछ होता है उसे शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा
सकता, उसका इशारा भी नहीं हो सकता।

प्रार्थना तो आत्माका अभिसार है अपने प्राणपतिके
पथमें। प्रार्थना श्रद्धाका, आत्मसमर्पणका एक दूसरा
नाम है। हृदय ज्यों-ज्यों प्रार्थनामय होता जाता है
अन्तरमें श्रद्धाकी सुस्मित किरणें फैलती जाती हैं और
हृदय उस दिव्य आलोकसे आलोकित हो जाता है
जिस प्रकार प्रत्येक किरणमें सूर्य विद्यमान है उसी
प्रकार हमारे प्रत्येक प्रणाममें हमारा इष्टदेव है—यह
प्रणाम ही भगवत्साक्षात्कारका साकार स्वरूप है। प्रणाममें
हम अपने आराध्यदेवका साक्षात्कार करते हैं। प्रणामको
ही दूसरे शब्दोंमें कहते हैं भगवान्के चरणोंमें आत्म-
निवेदन। यही है सच्ची उपासना।

भगवान्का दिव्य सन्देश हम अपनी आत्माके [illegible]
सुनने लगते हैं—[illegible]
आती है। इस आनन्दको हम [illegible] करते हैं,
परंतु इसे शब्दोंमें प्रकट नहीं किया जा सकता। [illegible]
[illegible] हम कुछ सुनते हैं, [illegible] कुछ
देखते हैं, [illegible] कुछ [illegible] हैं। मनुष्य
जब भगवान्से [illegible] और भगवान्
दोनोंका परस्पर [illegible]

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीरिचर्ड ह्राइटवेल)

Love is thine, Peace is thine;
Thou mayest know the Life divine,
And mayest feel thy being thrill
In the wonder of God's Will!
Thou hast thine own true place for evermore
No less than the stars of heaven!
It awaits thine entry!
As thou art true, all things will conspire to set thee there!
As thou dost love,
A movement arises from the Heart of Love that
Will float thee there!
When thou dost find thyself, thou art there!

—*The Cloud and the Fire.*

प्रेम तुम्हारा है, शान्ति तुम्हारी है, दिव्य जीवनका आस्वादन तुम कर सकते हो, भगवान्‌की प्रेरणा तुम्हे पुलकित करती रहेगी। जिस प्रकार आकाशमें सितारे हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर तुम हो—'प्रवेश' करनेकी देर है। हृदयमे सचाईकी सुरभि है इसलिये तुम 'अंदर' जरूर जाने पाओगे। सब कुछ उसी 'अंदर' के लिये इशारा कर रहा है, प्रेरणा दे रहा है; क्योंकि तुम अपने परम प्रेमास्पदकी प्रीतिमें घुल रहे हो। सच मानो, उस प्रीतिमे ही एक ऐसी लहर उठेगी कि तुम्हें उड़ा ले जायगी उस प्यारेके देशमें और तुम्हारी आँखें खुलेंगी तो तुम देखोगे कि 'तुम' और 'वह' एकमेक हो रहे हो।

मानवजीवनमें प्रार्थना वैसी ही है जैसा मरुभूमिमें निर्झर। सूखे-से, तपते-से, तड़पते-से हृदयपर प्रार्थनाका दिव्य अमृतप्रवाह जब कल-कल ध्वनिसे फूट बहता है तो युग-युगकी, जन्म-जन्मकी साधें लहलहा उठती हैं। और यह प्रवाह है अनन्त एवं चिर नवीन, चिर सुन्दर। हृदयमें प्रेमका दरिया जब उमड़ता है तो हृदय और हृदयेश एक हो जाते हैं, हृदय अपने 'प्यारे' को छू लेता है। प्रेममयी प्रार्थना! यही तो है समस्त अध्यात्मका सार तत्त्व। मानवके हृदयमें अपने … के लिये जो प्यारभरी ललक उठती है उसीका … प्रार्थना—सच्ची प्रार्थना—जिसमें हृदय हृदयसे, प्राण … से कुछ अपनी कहता और कुछ 'उस' की सुनता है। … और परमात्माके परस्पर प्रेमालापका ही नाम है प्रा…

प्रेमी चाहे जहाँ हो और जिस काममें ल… उसका दिल लगा रहता है प्रेमास्पदमें ही। ठीक … प्रकार प्रभुका प्रेमी भी शरीरसे चाहे जहाँ हो औ… कुछ भी कर रहा हो दिलके अंदर 'दिलदार' की … माधुरीका रसपान करता रहता है। उस 'दिलदा… सौन्दर्य-श्री और आकर्षणका क्या कहना! इ… मिश्री घुलती रहती है और मधुपान होता रहता … तर्क बेचारा लाचार होकर इस प्रेम-साम्राज्यके … ही रह जाता है। वह अंदर जा ही नहीं सक… 'मैं हूँ मेरे यारका, औ यार मेरा है सदा' … 'My Beloved is mine, and I am Hi…' यह है हृदयमें छिड़नेवाली रागिणी। हृदयकी धड़… भी वही प्रणय-बाँसुरी बजती रहती है। जिस … सूर्यसे प्रकाश उसी प्रकार इस प्रेमसे ही प्रेमको… दिव्य उन्मादना। प्रेमी बोलकर कुछ नहीं बोल… उसके ओठ प्रार्थनामें हिलतेतक नहीं—वहाँ मु… भाषा चलती ही नहीं। वहाँ तो हृदय हृदयसे बोल… है, प्राण प्राणसे, आत्मा आत्मासे—एक दिव्य मिल… एक अपूर्व सम्मिलन, एक लोकोत्तर रँगरेली।

संतोंने कहा है—वह प्रार्थना क्या जिसमें … हो। ऐसी प्रार्थना प्रेमियोंकी हाँ तो होती है- क्योंकि जहाँ प्रेम है वहाँ 'बस' है ही कहाँ? हृद… जब मधुकी धार ढलती हुई बह रही हो, उस म… वाणीका विलास कैसा? और ऊपर-ऊपरसे हिलते … ओठों और जोड़े हुए हाथोंसे जो प्रार्थना होती है वह … प्रार्थनाका एक स्वाँग है। परन्तु बहुतोंके लिये … प्रार्थनाका यही स्वीकृत स्वरूप है। कोषमें 'प्रार्थना'

अर्थ एवं पर्यायवाची शब्द मिलते हैं उससे तो हाथ
ड़ लेनेमात्रसे प्रार्थना हो चुकती है परन्तु सची
र्थना तो कुछ और ही होती है और वह हृदयकी
राईमें, रसमें भीनी, आत्माकी आवाजमें होती है,
यकी भाषामें, प्राणोंकी बोलीमें होती है। यह
र्थना ही है प्रेमका क. ख. ग। प्रार्थनाकी भाषा
म्ही होती है—'Prayer is the very alphabet
love.' 'Love is the language of Prayer.'

सन्त-महात्मा कहते हैं कि अपने बंद कमरेमें अपने
भुसे एकान्तमें मिलो और उनसे हिल-मिलकर बातें
रो। परन्तु सच्चा एकान्त जिसमें प्रभुके साथ लोकान्त
त्या जाता है—वह है हृदयकी कोठरी। इसी कोठरीमें
यारेका दीदार मिलता है—यही है प्रेमी और प्रेमास्पद-
मिलनका संकेत-स्थल। यही है प्रेमदेवका लीला-
तन। यही है वह मन्दिर जिसमें हम अपने परम
म प्रभुसे सर्वथा एकान्तमें मिलते हैं, कुछ अपनी
ते है, कुछ उनकी सुनते हैं। वहीं उस एकान्तमें
ता आदान-प्रदान होता है।

दिलसे दिलके परस्पर सलापका नाम है प्रार्थना—
लेये उसमें कहीं बनावटकी या वाग्जालकी गुंजाइश
नहीं है। प्रार्थना जितनी सरल और सची होगी वह
ना ही भगवान्का हृदय छू सकेगी। भगवान्के
मने हमें अपने दुःखोंका रजिस्टर खोलकर नहीं बैठ
ना चाहिये। वह दयामय सुनते तो सब हैं
वान्से यह कहना —

—

प्राण सदा उन्मुख रहे, सदा उसे ग्रहण करता रहे, सदा
आस्वादन करता रहे।

सची प्रार्थनामें हृदय बोलता है, मस्तिष्क मूक हो
जाता है। प्रायः हम जिसे 'प्रार्थना' कहते हैं वह
दिमागसे निकली हुई चीज होती है। प्रार्थना तो
हृदयकी सची पुकार और कसमसाहटका नाम है। एक
अबोध शिशु जिस सरलतासे बातें करता है उसी
सरलताके साथ प्रार्थना की जाती है। हमारा हृदय
जितना ही भगवान्के हृदयके समीप पहुँचने लगता है
उतना ही वह शिशुकी तरह सरल हो जाता है और
यह सरलता यहाँतक पहुँचती है कि वाणी मूक हो
जाती है, आँखें झर जाती हैं, मस्तक पृथ्वीपर टिक
जाता है और अन्तरकी खिड़की खुल जाती है; फिर
जो कुछ होता है उसे शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा
सकता, उसका इशारा भी नहीं हो सकता।

प्रार्थना तो आत्माका अभिसार है अपने प्राणपतिके
पथमें। प्रार्थना श्रद्धाका, आत्मसमर्पणका एक दूसरा
नाम है। हृदय ज्यों-ज्यों प्रार्थनामय होता जाता है
अन्तरमें श्रद्धाकी सुस्निग्ध किरणें फैलती जाती हैं और
हृदय उस दिव्य आलोकसे आलोकित हो जाता है
जिस प्रकार प्रत्येक किरणमें सूर्य विद्यमान है उसी
प्रकार हमारे प्रत्येक प्रणाममें हमारा इष्टदेव है—यह
प्रणाम ही भगवत्सान्निध्यका साकार स्वरूप है। प्रणाममें
अपने आराध्यदेवका साक्षात्कार करते हैं। प्रणामको
रे शब्दोंमें कहते हैं भगवान्के चरणोंमें आत्म-
यही है सची उपासना।

नहीं । वहाँ दोनों एक-दूसरेके लिये प्यासे-से रहते हैं, खोये-से रहते हैं। यही है हृदयका परस्पर आदान-प्रदान । और यही है सच्ची प्रार्थना ।

संत पॉलने कहा है—'Be filled with the Spirit ....making melody in your heart to the Lord, giving thanks *always* for all things'—आत्मामें आनन्दोल्लाससे भरकर भगवान्के प्रति हृदयका राग छिड़ने दो और भगवान्के समस्त अनुग्रहोंके लिये सदैव नतमस्तक होकर कृतज्ञता प्रकट करो । संत पॉलने एक और स्थानपर कहा है "Rejoice in the Lord *always*; and again I say, Rejoice"—भगवान्में सदा आनन्दविहार करो, मैं फिर कहता हूँ आनन्द-विहार करो । हृदयसे निकली हुई प्रार्थनाका प्रवाह कभी रुकता नहीं, कहीं थमता नहीं क्योंकि वह निकलता है प्रेमोद्वेलित हृदयसे । यहाँ मनुष्य भगवान्का प्रेमी भी है, प्रेमास्पद भी । हृदयकी एक-एक धड़कनमें प्यारेका प्यारा नाम स्वयं उच्चरित होता रहता है । अंदरका चिराग बराबर जलता ही रहता है ।

अस्तु, प्रार्थना हृदयकी वस्तु है न कि वाणीकी । *बाहरके शब्द तो भीतरकी आवाजकी पोशाक हैं ।* हृदयमें जब स्नेह भरा होता है, वाणीमें भी वही फूट उठता है । इस प्रकार वाणीका सुन्दर उपयोग भी तो प्रार्थनामें ही होता है । उसका भी संयोग और अवसर होता है । परन्तु जब प्रार्थना हृदयसे उठती है तो वह तार-तारको हिला देती है, रेशे-रेशेको रससे आर्द्र कर देती है—और वह पलभरके लिये भी रुकती नहीं । अंदर-की प्रार्थनाके लिये बाहरका प्रयास कुछ काम नहीं देता, उसके लिये तो अंदर-ही-अंदर प्रयास होना चाहिये । यह प्रयास फिर स्वतः स्वभाव बन जाता है और इस प्रकार 'अखण्ड प्रार्थना' चलती है । हृदय भगवान्की ओर उसके लिये खुल जाता है ।

इसके लिये कई सहायक साधन हैं । [illegible] मन्त्रका अभ्यास किया जाता है और भक्त[illegible] प्रीति और निष्ठाके साथ नामका स्मरण करो[illegible] मन्त्रमें देवविशेषका नाम तथा उनके लिये नमस्[illegible] शब्द होता है । वह थोड़े शब्दोंका होता है कि [illegible] बार-बार आवृत्ति सुखपूर्वक हो सके । नियम [illegible] कि मन्त्रकी बार-बार आवृत्ति की जाय और चि[illegible] उसपर स्थिरतासे जमाया जाय । यह एक [illegible] मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसकी चलन केवल भ[illegible] ही नहीं अपि तु समस्त धार्मिक तथा आध्यात्मिक [illegible] है—मुसलमानोंमें भी, ईसाइयोंमें भी तथा अन्य [illegible] धर्मावलम्बियोंमें भी । यह केवल चित्तको स्थिर करने[illegible] लिये साधनमात्र ही नहीं है अपि तु इसमें शान्ति, [illegible] पुष्टि भी प्राप्त होती है, और इधर-उधरकी उधेड़बुन[illegible] मन हटकर एकान्तमें स्थिर होना सीखता है । [illegible] भगवच्चिन्तनमें परम सहायक है । सफलता तो [illegible] माननी चाहिये जब हमारी समग्र चेतना एक[illegible] भगवान्में केन्द्रीभूत हो जाय ।

एक रहस्यवादी संतने इस सम्बन्धमें कहा है—

"And therefore must we pray in the height and the depth, in the length and the breadth of our Spirit. And that not in many words but in a little word of one syllable."—इसलिये हम अपने हृदयकी पूरी ऊँचाई और गहराई तथा पूरे विस्तारमें—समस्त, [illegible] हृदयसे भगवान्की प्रार्थना करें । उसके लिये [illegible] शब्दोंकी आवश्यकता नहीं—शब्द तो [illegible] हों और वाक्य छोटा-सा ही । अन्तमें जाकर प्रार्थना [illegible] जितनी व्यापक होती जाती है शब्दतः वह उतनी [illegible] होती जाती है और मूकतामें लीन हो जाती है । वाणी मौन हो जाती है—हम स्नेह और श्रद्धा[illegible] दृष्टिसे भगवान्की ओर [illegible] होते हैं क्योंकि भगवान्के साथ [illegible] 'परिवर्तन' हो जाता है और यह भगवान्से ही [illegible] जाता है ।

अब तो जीवनके समस्त व्यापार प्रार्थनाका रूप हो जाते हैं—हम जहाँ चलते हैं वहीं पवित्र भूमि हो जाती है और जीवनका प्रत्येक दिन एक पर्वदिन हो जाता है। हमारी समस्त क्रियाएँ भगवान्‌की सेवा बन जाती हैं और हम अनुभव करते हैं कि सेवा ही सच्ची उपासना है—"to labour is to pray" इससे बढ़कर कोई प्रार्थना भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाली है भी नहीं। इस प्रार्थनाकी चरम परिणति है नित्य निरन्तर भगवत्सान्निध्य-की दिव्य अनुभूति।

(*Science of Thought Review*)

उद्बोधन

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जियँ जाचिअ जानकिजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी, अरु आन हियँ हनुमानहि रे।
तुलसी दारिद-दोष-दवानल, संकट-कोटि-कृपानहि रे॥ १॥

सुनु कान दिएँ, नित नेमु लिएँ, रघुनाथहिके गुनगाथहि रे।
सुखमंदिर सुंदर रूपु सदा उर आनि धरें धनु-भाथहि रे॥
रसना निसि-बासर सादर सों तुलसी! जपु जानकिनाथहि रे।
करु संग सुसील सुसंतन सों, तजि कूर, कुपंथ, कुसाथहि रे॥ २॥

सुत, दार, अगारु, सखा परिवारु बिलोकु महा कुसमाजहि रे।
सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संतसभाँ न बिराजहि रे॥
नरदेह कहा, करि देखु बिचारु, बिगारु गँवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकरु ज्यों, तुलसी भजु कोसलराजहि रे॥ ३॥

बिषया परनारि निसा-तरुनाई सो पाइ परयो अनुरागहि रे।
जमके पहरू दुख, रोग, बियोग बिलोकत हू न बिरागहि रे॥
ममता बस तैं सब भूलि गयो, भयो भोरु, महा भय, भागहि रे।
जरठाइ-दिसाँ, रबिकालु उग्यो, अजहूँ जड़ जीव! न जागहि रे॥ ४॥

—गोस्वामी तुलसीदास

आध्यात्मिक उन्नतिके पथपर

(लेखक—'कश्चित्')

महाकवि गेटेने एक प्रसङ्गमें कहा है—

"What you can do, or think you can,
—Begin it!
Boldness hath genius, power and magic in it.
Only engage—and then the mind grows heated:
Begin!—and soon your task will be completed."

जो कुछ भी तुम कर सकते हो, या सोचते हो कि तुम कर सकते हो—शुरू कर दो। अध्यवसायमें एक ऐसा बल होता है कि समस्त प्रतिभा और योग्यता जादूकी तरह काम करने लग जाती हैं। कार्यमें अपनेको लगा दो। इस प्रकार लगा देनेसे ही तुम्हारी बुद्धिमें एक प्रकारकी उष्णता—एक प्रकारकी गर्माहट भर आयेगी। इसलिये शुरू कर दो-और तुरंत ही देखोगे कि तुम्हारा चिन्तित कार्य पूरा होते देर न लगी, बात-की-बातमें उसे कर लिया।

प्राय: अधिकांश कार्योंमें हम असफल इसीलिये होते हैं कि उसे शुरू ही नहीं कर पाते। कुछ भी यदि हमें पूरा करना है तो उसे शुरू तो करना ही होगा और आरम्भके इस प्रयत्नका तिरस्कार करके हम कुछ भी कर ही कैसे पायेंगे? मान लीजिये, आप एक मकान बनवाना चाहते हैं, उसके विषयमें राय-मशविरा लेते हैं, उसके लिये नक्शा भी बनवाते हैं परन्तु यह सब कुछ स्वप्न-ही-स्वप्न है जबतक मकानकी नींव न खोदी जाने लगे। और इसमें सन्देह नहीं कि कार्य शुरू होते ही आपको प्रसन्नता होगी।

गेटेके उपर्युक्त शब्द जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें लागू होते हैं—अध्यात्मके क्षेत्रमें तो विशेषरूपसे। हम ग्रन्थोंमें साधनाकी बातें पढ़ सकते हैं, संतोंसे उसके सम्बन्धमें सुन सकते हैं और इस पथमें साधकको कैसा-कैसा आनन्द मिलता है, किस-किस प्रकारकी अनुभूतियाँ होती हैं आदि बातोंका किताबी ज्ञान हमें खूब हो सकता। परन्तु जबतक हम साधनामें लगें नहीं तबतक किताबी बातोंके कोरे ज्ञानसे हमारा क्या बन सकता है? हमें तो अध्यात्मके पथमें चल देना च[illegible] और फिर राहके खट्टे-मीठे अनुभवोंका आस्वादन [illegible] जाना चाहिये, आगे बढ़ते जाना चाहिये। [illegible] हमारा लक्ष्य है उसके ज्यों-ज्यों पास हम पहुँचेंगे [illegible] त्यों हमें आनन्दकी अधिकाधिक उपलब्धि होती [illegible] और कविके शब्द सत्य प्रतीत होंगे—

"What you can do, or think you can
—Begin it!"

केवल पढ़ते रहने या जान लेनेसे काम [illegible] नहीं—करना चाहिये। संतोंने बार-बार [illegible] जोर दिया है। कोरी कथनी कौड़ी-कामकी न[illegible] एक जो बराबर पढ़कर ही या जानकर ही सन्तोष [illegible] लेता है, अध्यात्मके वास्तविक आनन्दसे अपरिचित [illegible] रहता है परन्तु जो पुरुष अपनी थोड़ी-सी [illegible] पर इस पथमें चल पड़ता है उसे सच्चे आनन्द[illegible] अनुभूति होती है क्योंकि 'साधना' सुनने या पढ़ने[illegible] वस्तु नहीं है, करनेकी वस्तु है। कितने ही [illegible] 'सत्संग सुनने' का मर्ज है—वे सुनते जाते हैं—[illegible] सुनते ही जाते हैं—करना-धरना तेरह-बाईस। [illegible] वञ्चनाका जीवन बिताते हैं क्योंकि करते तो कुछ नहीं, [illegible] सुनते हैं और प्रमाद-आलस्यका पोषण करते हैं।

आध्यात्मिक जीवनमें अल्पारम्भ ही क्षेमकर है। क्योंकि इस पथमें हम ज्यों-ज्यों ऊँचे चढ़ते जाते हैं हमारे सामने विशाल व्यापक क्षेत्र अपने पूरे विस्तारके साथ खुलता जाता है और यहाँतक कि एक ऐसे स्थान-पर हम पहुँचते हैं जहाँ सब कुछ भीतर-बाहर अनन्त प्रेम, आनन्द और सौन्दर्यके समुद्रमें डूबता-सा नजर आता है—

बेहिज़ाबी यह कि हर ज़र्रेमें जलवा आशकम्।
और परदा यों कि सूरत आजतक देखी नहीं॥

अध्यात्मके पथमें छोटी-से-छोटी क्रियाका भी महान् फल होता है। क्रोधको प्रेममें, क्षोभको क्षमामें, घृणाको करुणामें बदलनेके लिये महीने और साल नहीं लगते—यह एक क्षणका कार्य है परन्तु इस एक ही क्षणमें साधकको महान् फल—महान् आध्यात्मिक लाभ हो जाता है—यह बात-की-बातमें साधनाकी अनेक सीढ़ियाँ एक पलमें पार कर जाता है और उसी एक क्षणमें वह अशान्तिके केन्द्रसे उठकर शान्तिके केन्द्रमें, नरकके केन्द्रसे उठकर स्वर्गके केन्द्रमें जा पहुँचता है।

आकाशमें रातमें सितारे चमकते होते हैं परन्तु यदि हम अपना सिर न उठायें तो उन्हें कैसे देख सकते हैं? और ये वृक्ष जो अपने हाथ सदा प्रार्थनामें जोड़े हुए होते हैं—इनकी सुषमा भी हम कहाँ देख पाते हैं! इन पक्षियोंके मीठे गीत हम कैसे सुन पायेंगे, तबतक जगत्‌के तुमुलकोलाहलसे अपने कानोंको मूँद न लें। और इसी प्रकार, हमें अपने जीवनमें भी आध्यात्मिक आनन्दकी उपलब्धि तबतक नहीं हो सकती जबतक हम अपने नित्यके जीवनमें छोटी-छोटी बातोंमें अध्यात्मकी ओर उन्मुख न हों।

भगवान्‌के सान्निध्यमें एक क्षणकी शान्ति सारे जीवनको सुरभित कर देती है। प्रार्थनामें, हृदयसे उठी हुई सच्ची कातर प्रार्थनामें जीवनको सहसा पलट देनेकी अमोघ शक्ति है। हमारा विचार, हमारा कार्य, हमारी इच्छाएँ—सब-की-सब जगत्‌की ओरसे मुड़कर भगवान्‌की ओर उन्मुख हो जाती हैं। क्योंकि जब हम प्रभुकी प्रीति पानेके लिये उत्सुक हो उठते हैं उसी क्षण प्रभु अपनी शान्तिके कुछ कण हमारे हृदयपर बिखेर देते हैं—भगवान् तो प्रीति बरसानेके लिये सदा ही तैयार हैं—हम ग्रहण करनेकी स्थितिमें हों—यही आवश्यक है। यदि हमें आध्यात्मिक उन्नति वाञ्छनीय है तो हमें अपने जीवनमें उस दिव्य शक्तिको उतारना होगा जो मानवी शक्तिसे परे है, उस शान्तिको लाना पड़ेगा जो समस्त प्रकृतिके मूलमें है और उस समतामें स्थित होना पड़ेगा जिसमें ये नक्षत्र स्थित हैं और जिसमें सम्पूर्ण हलचल होते हुए भी स्थिरता और शान्ति है। हम ऐसी शक्ति, ऐसी शान्ति और ऐसी समताको अपनेमें पूरा-पूरा उतार सकें, उसके पहले यह आवश्यक है कि हम क्षणभरके लिये शान्त, स्तब्ध, स्थिर होना सीखें, जिसमें न किसी प्रकारकी लालसाकी लहर ही हो न चिन्तनका उभार ही। चिन्तनको पारकर भावनाके क्षेत्रमें हम प्रवेश करते हैं—जो आत्मदेवके साक्षात्कार-का क्षेत्र है—जहाँ सम्पूर्ण पवित्रता और शक्तिका उत्स है। यही है प्रेमका साम्राज्य, वह प्रेम जो पक्षियोंके हृदयमें सुमधुर संगीत उठाता है, वह प्रेम जो फूलोंकी मुसकानपर मँडराता रहता है, वह प्रेम जो मेघोंकी रिमझिममें फुहियाँ बरसाता है, हवामें तरङ्गित होता रहता है, और जो समस्त चर-अचरके पर्देमेंसे झाँकता रहता है—और जिसका स्पर्शमात्र पाकर सब कुछ 'सुन्दरमय' बन जाता है। यह प्रेम जड़को स्पर्श कर चेतन, मानवको स्पर्श कर 'देव' बना देता है। यदि हम अपने मन-प्राणको शान्त और स्थिर कर सकें—तो क्षणभरमें ही अन्तरिक्षसे झरते हुए प्रेम-की इस रिमझिममें हमारा मन-प्राण नहाने लगे! ठीक जैसे गगनसे चुपके-से ओस घासकी पत्तियोंको नहला देती है। कितना मधुर हो जाय हमारा जीवन, कितना सुन्दर, कितना पवित्र!

तो फिर क्या यह स्वप्न सदा स्वप्न ही रह जायगा? नहीं, क्षणभर चित्तमें उठनेवाले कोलाहलको शान्त कर अपने चित्तको भगवान्‌के चित्तमें लीन कर दें। इसलिये भगवान्‌के चरणोंमें अपनेको झुका दो, अपनी सारी चिन्ताएँ प्रभुको सौंप दो—भगवान् तुम्हें अपनी छाती-से लगाकर ऊपर उठा लेंगे, तुम्हारे हृदयके अन्दर अपनी प्रीतिका मरहम लगा देंगे। तुम निहाल हो जाओगे।

कामके पत्र

(१)

भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास

जबतक मनुष्य परमात्माको नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक नित्य नये जालोंमें फँसता ही रहता है। हमलोग अनन्त जन्मोंसे यही करते आ रहे हैं। परन्तु यह नहीं मानना चाहिये कि 'उबरनेकी कोई सूरत ही नहीं है।' तुम्हें भगवान्‌पर श्रद्धा रखनी चाहिये कि वे उबारनेवाले हैं, उनकी शरण लेते ही सारे जाल सदाके लिये कट जाते हैं। घबड़ाओ नहीं, 'अटकी नाव' भगवत्कृपाके अनुभवरूपी अनुकूल वायुका एक झोंका लगते ही चल पड़ेगी। भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास करो। जो दुःख, कष्ट और विपत्तियाँ आ रही हैं, उन्हें भगवत्कृपाका आशीर्वाद समझो और प्रत्येक कष्टके रूपमें कृष्ण-कन्हैयाके दर्शन कर उन्हें अपनी सारी सत्ता समर्पण करनेकी चेष्टा करो, कष्टोंको कृष्णरूपमें वरण करो, सिर चढ़ाओ, आलिङ्गन करो। परन्तु उनसे छूटनेके लिये कभी भूलकर भी कुमार्गपर चलनेकी कायरताके वश मत होओ; लड़ते रहो—मनकी बुरी वृत्तियोंसे—ऐसा करोगे तो श्रीकृष्णकृपासे तुम्हारी एक दिन अवश्य विजय होगी, तुम सुखी होओगे। मैं भी चाहता हूँ तुमसे मिलना हो। परन्तु संयोग ईश्वराधीन है। मेरे दिलको तुम अपने साथ समझो। तुम्हारी स्मृति मुझे बार-बार होती है। तुम हर हालतमें मेरे प्रिय हो और रहोगे। शरीर और मनमें प्रसन्न रहनेकी निरन्तर चेष्टा करते रहो। भगवान्‌के नामका जप सदा करते रहो और उसे उत्तरोत्तर बढ़ाओ।

(२)

आत्माकी नित्य आनन्दरूपता

[illegible]

वास्तवमें रोग आपको है भी नहीं। आप [illegible] क्षयशील शरीरसे सर्वथा भिन्न हैं। शरीरके [illegible] बुद्धिके सुख-दुःख या प्राणोंकी क्षुधा-पिपासा [illegible] आपका कोई यथार्थ सम्बन्ध नहीं है—भ्रमसे [illegible] हो गया है। इसीसे दृश्य-पदार्थोंके विकार [illegible] शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त एकरस आनन्दस्वरूप [illegible] हैं। अपने यथार्थ स्वरूपको पहचानकर सदा [illegible] निश्चिन्त रहना चाहिये। हो सके तो [illegible] 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप करना चाहिये। [illegible] तादात्म्य प्राप्त करना ही वास्तविक 'हरिशरण' [illegible] मन्त्रजापसे इहलौकिक और पारलौकिक दोनों [illegible] कल्याण होता है। इस बातका दृढ़ निश्चय [illegible] चाहिये कि रोग या मृत्युकी तो बात ही [illegible] प्रलय भी आपके कूटस्थ स्वरूपको नहीं छि[illegible]

मायाके खेल बनते और बिगड़ते हैं। [illegible] कुछ भी परिवर्तन कभी नहीं होता। मायाका [illegible] मायावी प्रभु ही इस खेलको खेल रहा है [illegible] अपने रूपका एक खिलौना बना रखा है, [illegible] इस नामोपाधिसे युक्त है। वही खेलता है, वही है और वही इस खेलको देख भी रहा है [illegible]

[illegible]

(३)

भक्तकी सच्चे हृदयकी पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं

आपने एक पत्रमें लिखा था कि अच्छी स्थितिमें भी भगवान्‌पर भरोसा नहीं होता तब मानसकी शिथिलतामें तो हो ही कहाँसे, परन्तु अब ज्यादा निराशा नहीं होती। सो भगवान्‌पर भरोसा तो अच्छी, बुरी सभी स्थितियोंमें रखना चाहिये। इसके सिवा और सहारा ही क्या है! बलवान् और निर्बल सभीके बल एक भगवान् ही हैं, परन्तु अपनेको वास्तवमें निर्बल मानकर भगवान्‌के बलपर भरोसा रखनेवालेका बल तो भगवान् हैं ही। इस भगवान्‌के बलको पाकर वह अति निर्बल भी महान् बलवान् हो सकता है—'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्' प्रसिद्ध है।

भगवान्‌को पुकारनेभरकी देर है। बीमार बच्चा बाहर बैठी हुई माँको पुकारे तो क्या माँ उसकी पुकार नहीं सुनती या कातर पुकार सुनकर भी आनेमें कभी देर करती है! अवश्य ही यह बात होनी चाहिये कि माँ बाहर मौजूद हो और बच्चेकी सच्ची कातर पुकार हो। माँ मौजूद नहीं होगी तो बिना सुने कैसे आयेगी और बच्चेकी पुकार केवल बनावटी और विनोदभरी होगी तो माँ सुनकर भी अपनी आवश्यकता न समझकर नहीं आयेगी। परन्तु कातर पुकार सुननेपर तो माँसे रहा ही नहीं जायगा। जब माँकी यह बात है तब सारी माताओंका एकत्र केन्द्रीभूत स्नेह जिस भगवान्‌के स्नेहसागरकी एक बूँद भी नहीं है, वह भगवान्‌रूपी माँ दुखी जीव-सन्तानकी कातर पुकार सुनकर कैसे रह सकेगी। जीव एक तो उसे अपने पास मौजूद मानता ही नहीं, दूसरे उसकी पुकार बनावटी और लोग-दिखाऊ होती है। यदि जीव यह माने कि भगवान् यहाँ मौजूद हैं (जो वे वास्तवमें हैं ही, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं) और वे बड़े दयालु हैं तथा यों मानकर उन्हें कातर स्वरसे पुकारे तो फिर उनके आनेमें देर नहीं होती। द्रौपदीकी पुकारपर चीर बढ़ाना और द्वारकासे तुरत वनमें पहुँचकर पाण्डवोंको दुर्वासाके शापसे बचाना प्रसिद्ध ही है।

नियमोंका पालन प्रेम और अति दृढ़ताके साथ करते रहें। कृपा तो भगवान्‌की है ही। उस कृपाका अनुभव करते ही मनुष्य भगवदभिमुखी हो सकता है। सदा प्रसन्न रहिये और भगवान्‌की कृपाका दृढ़ भरोसा रखिये। भगवान्‌को नित्य अपने साथ मानिये, फिर पाप-ताप समीप भी नहीं आ सकते। × × × × निराश तो जरा भी न होइये। भगवान्‌के बलका भरोसा करनेपर निराशा कैसी!

(४)

भगवत्साक्षात्कारके उपाय

प्रश्नोंके उत्तर—

(१) उत्तम लेखोंके संग्रह करनेवाले तथा उत्तम लेख लिखनेवालोंको ईश्वरसाक्षात्कार होना ही चाहिये, यह कोई बात नहीं है। लेख संग्रह करना और लिखना तो परिश्रम, दक्षता, अध्ययन, अभ्यास तथा विद्यासे भी हो सकता है। प्रभुका साक्षात्कार तो प्रेम—सच्चे प्रभु-प्रेमसे होता है। वहाँ विद्या, यज्ञ, दान, कर्म, तप आदिका इतना महत्त्व नहीं है जितना प्रेमका है। वास्तवमें सत्य प्रेम ही प्रभुका स्वरूप है—

> प्रेम हरीको रूप है, वे हरि प्रेमस्वरूप।
> एकहि है द्वैमें लसै, ज्यों सूरज अरु धूप॥

प्रभु-प्रेम सर्वथा अनन्य और अव्यभिचारी हुआ करता है। उस प्रेमका भाग दूसरे किसीको किञ्चित् भी नहीं मिलता।

मैं अपने सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखना चाहता। इतना ही लिखता हूँ कि मैं अपने ऊपर भगवान्‌की बड़ी

कृपा समझता हूँ और पद-पदपर उस परम कृपाका अनुभव करता हूँ।

(२) इस कलिकालमें भगवान्‌का साक्षात्कार अवश्य हो सकता है। भगवान् नित्य हैं तो उनका साक्षात्कार भी सर्वकालमें नित्य है। भगवान्‌के साक्षात्कार-का पहला उपाय तो साक्षात्कारकी अति तीव्र और एकमात्र इच्छाका होना है। भगवान्‌की माधुरी मूरतिके दर्शनके लिये प्राणोंमें व्याकुलता, मनमें वेदना और अन्य सारी अभिलाषाओंका त्याग हो जाना चाहिये। परन्तु यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि अपने पुरुषार्थके बलसे भगवान्‌के दर्शन नहीं हो सकते। उस वस्तुकी कोई कीमत नहीं है, जिसके बदलेमें वह मिल जाय। व्याकुलता, वेदना और अन्य सारी आकाङ्क्षाओंका त्याग कोई साधन नहीं है। ये तो प्रभु-विरहीके लक्षण हैं। भगवत्‌के दर्शन तो उन्हींकी कृपासे होते हैं। आप जिस स्वरूपके दर्शन चाहते हैं, उसीके दर्शन हो सकते हैं। परन्तु इसमें किसी मनुष्यकी सहायता क्या काम दे सकती है। आपका और आपके प्रभुका बड़ा ही निकटका सम्बन्ध है; वे आपमें हैं और आप उनमें हैं, वे आपके हैं और आप उनके हैं। इस सीधे सम्बन्ध-को पहचानकर, पहचाननेमें न आवे तो विश्वास करके ही उन्हें सच्चे हृदयसे पुकारिये। आपकी व्याकुल पुकारसे सब काम हो सकता है। भगवान् सब स्थानों-में सब कालमें पूर्णरूपसे विराजमान हैं। पुकार सुनो

है। भगवान् यहाँ हैं, मैं [illegible]
इस विश्वास और निश्चय [illegible]
भगवान्‌को पुकारा जाता है, [illegible]
बातें होनी चाहिये—एक [illegible]
विश्वास और दूसरी उन्हींको [illegible]
पात्र समझना। बस, ऐसा [illegible]
प्राणोंकी व्याकुलतासे जिन [illegible]
उसीने उनकी दिव्य झाँकीका [illegible]
इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। [illegible]
जैसी आप ठीक समझें वैसी ही [illegible]
होनेपर असलीका पता आप ही [illegible]
का जप—जो नाम आपको प्रिय [illegible]
परन्तु श्रीकृष्णभगवान्‌के उपासकके
भगवते वासुदेवाय' या 'श्रीराम [illegible]
'श्रीकृष्णः शरणं मम' ये मन्त्र [illegible]
भगवान्‌को जल्दी आकर्षण करनेका उ[illegible]
अनन्य प्रेम है। सारी इन्द्रियाँ उन्हींमें [illegible]
चाहिये, आरम्भमें नियमपूर्वक नाम-जप [illegible]
दूर ही कार्य करनेका अभ्यास, निरन्[illegible]
की चेष्टा, ध्यानकी चेष्टा [illegible]
अभ्यास, असत्य, दम्भ और अभिमान [illegible]
नम्रता, प्रेम, मैत्री आदिका [illegible]
उपाय हैं।

[illegible]

ज्ञानका जीवनपर प्रभाव

[illegible]

[illegible] और सत्सङ्ग [illegible] प्रकार होता है और [illegible] भिन्न-भिन्न [illegible] होता है [illegible] होता है—इस [illegible] हम यहाँ विचार करना चाहते हैं। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिये कि जीव स्वयं पूर्ण आनन्दस्वरूप है, अतः उसे अधिक आनन्द-प्राप्तिके लिये कोई विशेष चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं है और न उसे आनन्दप्राप्तिके लिये किसी अन्य वस्तुकी अपेक्षा ही है— इन दोनों बातोंको कभी न भूलना चाहिये।

'मैं पूर्ण आनन्दस्वरूप हूँ' ऐसी भावना बनी रहनेसे मानव सर्वदा आनन्दमें रहता है, उसकी शान्ति हमेशा बनी रहती है। अपने स्वरूपके ज्ञानको विवेक और मननसे खूब दृढ़ करना चाहिये। यह ज्ञान जितना दृढ़ होता जायगा उतनी ही उसके आनन्दके घटनेकी सम्भावना कम रहेगी। अपने नित्यप्रतिके जीवनके अनुभवसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह पूर्णतया दृढ़ होता है। संशयरहित ज्ञान ही दृढ़ ज्ञान है, उससे कभी कोई नया संस्कार उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं होती और न कभी उससे कोई वासना ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार वासनाहीन हो जानेसे जीव सदाके लिये दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

स्वयं आनन्दस्वरूप होनेके कारण ज्ञानीको किसी भी बाह्य विषयके भोग अथवा किसी कार्यविशेषकी इच्छा कभी नहीं होती। स्त्री, पुत्र और धन—जो सांसारिक सुखके साधन माने जाते हैं, ज्ञानीको अपने सुखके लिये उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। उनके लाभ-हानिसे भी [illegible]। इसीसे उसे [illegible] और [illegible] होता। उसमें न [illegible] होता है और न [illegible]। वह उसके प्रति [illegible] निरपेक्ष रहता है। इससे उसको कोई भी चिन्ता नहीं रहती और न किसीके प्रति अनुकूलता-प्रतिकूलताका प्रश्न ही रहता है। इसलिये इससे होनेवाले राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, भय और मद-मत्सर आदि विकार भी नहीं होते।

ऊपर जो कुछ विवेचन किया गया है, उसमें एक बातपर मुख्यरूपसे ध्यान देना चाहिये। वह यह कि ज्ञानी किसी वस्तु या कार्यविशेषकी इच्छा नहीं करता और न उसे कोई आग्रह हो सकता है। वैसे ही वह किसी भी वस्तु या कार्यके त्यागका भी आग्रह नहीं करता। वह प्रत्येक वस्तु या कार्यसे निरपेक्ष रहता है। वस्तुके लाभ या हानिमें तथा किसी कार्यके होने न होनेमें उसे किसी सुख-दुःखकी सम्भावना नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। इससे यह निश्चय होता है कि प्रवाहपतित संयोगसे जो वस्तु या कार्य उसके सामने आता है, उसका वह त्याग नहीं करता और किसी नयी वस्तु या कार्यको पानेका आग्रह भी नहीं रखता।

यहाँ प्रवाहपतित संयोगका तात्पर्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। ज्ञानी अपनी परिस्थिति और वातावरणके अनुसार ही किसी वस्तु या कार्यका ग्रहण और त्याग करता है, स्वार्थ या मोहसे नहीं। शास्त्र और रूढ़ि—इन दोनोंको विचारमें रखते हुए वह स्वार्थ और मोहको छोड़कर जो निर्णय करता है, उसीके

अनुसार व्यवहार भी करता है। फिर चाहे किसीकी दृष्टिमें वह कार्य योग्य हो या अयोग्य। सब लोग किसी एक दृष्टिपर सहमत नहीं होते और उनके अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार अलग-अलग मत होते हैं। परन्तु जिस कार्य या वस्तुको शास्त्र और समाज अनुचित मानता है, उसको तो वही क्यों स्वीकार करेगा? क्योंकि उसे किसी बातका विशेष आग्रह तो है नहीं। उदाहरणके लिये वह व्यभिचार, चोरी और झूठका—जिन्हें सभी दूषित मानते हैं—कभी आचरण नहीं करेगा। वह घरके सब कामकाज करेगा, नौकरी या व्यापार जो कुछ वह करता होगा, सब करेगा और इन सबको यथायोग्य यानी जैसा करना चाहिये वैसा ही करेगा। इन्हें करनेमें उसके उत्साह या प्रयत्नमें कमी दिखायी नहीं देगी, क्योंकि वह अनुत्साह और आलस्यको बुरा समझकर उनसे सदा बचेगा। भेद केवल इतना ही रहेगा कि सब कुछ करते हुए भी यदि उसे कोई फल न मिले तो वह दुखी नहीं होगा। ज्ञानी दूसरोंके साथ व्यवहार करते हुए प्रत्येक क्रियामें एक समान न्याय करता है। व्यवहारमें उसकी अपने लिये एक और दूसरोंके लिये दूसरी दृष्टि नहीं होती। अपने लिये उसका जो न्याय होता है वही दूसरोंके लिये भी होता है। उसकी सभी क्रियाएँ पक्षपातरहित और शुद्ध होती हैं। शुद्ध क्रियाओंसे जैसे स्वयं कर्ताको लाभ होता है, वैसे ही दूसरे लोगोंको भी बड़ा लाभ पहुँचता है। उसकी प्रत्येक क्रिया केवल क्रियाके लिये ही होती है। उस क्रियाके पीछे कोई और हेतु नहीं रहता; क्योंकि वह स्वयं पूर्ण आनन्दरूप है, इसलिये उसकी क्रियामें कोई स्वार्थ नहीं रहता। दूसरे लोग अपनी-अपनी परिस्थिति, संस्कार और विचारके अनुसार भाँति-भाँतिके कार्य करते हैं वैसे ही ज्ञानी भी नौकरी, धंधा, सार्वजनिक कार्य, उपदेश और शास्त्रावलोकनादि करता है और कभी बिल्कुल एकान्तमें भी रहता है।

ज्ञानी किसी वस्तु या कार्यका आग्रह नहीं रख... अर्थात् उसे कोई वासना नहीं होती। उसका श... बना हुआ है, इसलिये उसे प्रारब्धानुरूप भोगकी इ... अवश्य होती है, परन्तु उसका उसे आग्रह नहीं होत... ज्ञानीको ऐसी वासना कभी नहीं होती कि उसे अ... विषय मिलना ही चाहिये—उसके मिलनेसे ही ... सुख मिलेगा, नहीं तो नहीं। अमुक विषय न मिल... उसे दुःख होगा—ऐसी बात नहीं कही जा सकती... वह निरपेक्ष रहता है। वासनाका दबा रहना—दू... बात है और उसका क्षय हो जाना दूसरी। जिस स... एक वासना बहुत तीव्र होती है उस समय दूसरी ... रहती है। उसके अनुरूप परिस्थिति पैदा होनेपर ... जाग्रत् हो जाती है। मजनूँ जब लैलाके पीछे पा... हो गया था, तब उसके हृदयमें लैलाको पानेकी इच्छा... अतिरिक्त और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं थी। ... किसी भी वस्तुमें रस नहीं जान पड़ता था तथा ... संसार नीरस और फीका मालूम होता था। उस स... उसे सारे संसारसे वैराग्य हो रहा था; परन्तु इससे ... सिद्ध नहीं होता कि उसे फिर कभी किसी वस्तुमें ... उत्पन्न होता ही नहीं, कभी किसी वस्तुकी वास... होती ही नहीं। लैलाकी प्राप्ति होते ही उसकी ... वासना शान्त हो जाती और उसका ध्यान दू... वस्तुओंकी ओर जाता, फिर धीरे-धीरे उनमें उसे ... मिलने लगता। इस प्रकार दूसरी वासनाएँ उत्पन्न ... जातीं। जैसे अभीष्ट वस्तु मिलनेसे वासना शान्त ... जाती है वैसे ही दूसरी वस्तुकी वासना जाग्रत होने... पहली वस्तु धीरे-धीरे भूलमें पड़ जाती है और उस... वासना दब जाती है। यदि वासनाएँ दबी रहें, प्र... न हों तो उनसे पैदा होनेवाले काम-क्रोधादि विकार ... दिखायी न दें। परन्तु जो वासनाएँ प्रत्यक्ष रहती ... उनसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोधादि विकार भी अ... दिखायी देते हैं। तात्पर्य यह है कि जबतक वास...

रूपसे क्षीण नहीं हो जाती, तबतक काम-क्रोधादि
वारोंका भी नाश नहीं होता, भले ही कोई उत्तेजक
मित्त न होनेसे वे दिखायी न दें। परन्तु कारण
पस्थित होनेपर वे अवश्य प्रकट हो जाते हैं। यदि
ई पण्डितजी शास्त्रावलोकनमें इतने निमग्न रहते हैं
र उनकी शास्त्रवासना इतनी तीव्र होती है कि उन्हें
स्त्रकी और किसी वस्तुमें रस नहीं जान पड़ता तो
सीसे लोग समझ बैठते हैं कि इन्हें और किसी बातकी
सना नहीं है। उस समय वासनाएँ दबी रहनेके
रण काम-क्रोधादि विकार भी दिखायी नहीं देते।
रन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि पण्डितजी
ा मजनूँ ज्ञानी अथवा पूर्ण हैं, क्योंकि समय आनेपर
उनकी वासनाएँ फिर उभर सकती हैं। ज्ञानीमें किसी
भी समय वासनाका उन्मेष होनेकी सम्भावना नहीं है,
क्योंकि उसे अपने आनन्दस्वरूपका ज्ञान हो जाता है।
ौर उसे कल्पित सुखके लिये कभी किसी वस्तुकी
ना नहीं हो सकती।

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि किसी प्रकारके
नि-लाभ और किसी कार्यकी सिद्धि-असिद्धिसे ज्ञानीको
-शोक या काम-क्रोधादि कोई भी विकार नहीं होते,
तु इन विकारोंकी उत्पत्तिके हेतु केवल यही नहीं हैं
न्तु और भी कारण हैं, जिनका अब विचार किया
यगा। शरीर और मनपर होनेवाले नये-नये बाहरी
घात और उनसे होनेवाली विकृति जैसे स्वाभाविक
, वैसे ही इनमें विकार पैदा करनेवाले कारणोंसे जो
ि पहलेसे ही वर्तमान हैं, इनमें विकृति होनी भी
भाविक है। इस बातपर भी विचार करना चाहिये,
सके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है, जिससे
ानीको विकार होना सम्भव हो।

रि

यह है कि सुख-दुःखका भोग किसको होता है?
भोक्ता तो जीव ही है। अच्छा, यह जीव क्या है?
जीवका स्वरूप है अन्तःकरणविशिष्ट चेतन। स्वयं
चेतनको तो आनन्दस्वरूप होनेके कारण दुःखका
स्पर्श ही नहीं हो सकता। अब रहा केवल अन्तःकरण।
इसमें ही सुख-दुःखका भोग होता है। जीव अर्थात्
अन्तःकरणयुक्त चेतन अन्तःकरणके द्वारा ही सुख-दुःखका
भोग करता है। यह बात पहले बतायी जा चुकी है
कि अन्तःकरणमें पुराना संस्कार-समुदाय होता है और
जो भोग सुख-दुःखका कारण है, वह इस संस्कार-
समूहको ही प्राप्त होता है। यदि अन्तःकरण चेतनमें
लग जाय तो उसे आनन्दका ही भान होगा। आनन्दके
सिवा वहाँ दुःख तो है ही नहीं। यहाँ अन्तःकरणकी
स्थिरता जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक
आनन्दका भान होगा। पूर्ण स्थिरता (समाधि) में
आनन्दका भान बहुत ही अधिक होता है। यदि अन्तः-
करणको चेतनमें न लगाकर बाह्य विषयोंमें लगाया जाय
तो उसे अपने संस्कारोंके अनुसार वहाँका सुख-दुःख
प्राप्त होता है।

जैसे अग्निमें दाहिका शक्ति है—यह ज्ञान हो या
न हो, उसका सम्बन्ध होते ही ताप अवश्य मिलेगा।
वैसे ही चेतन आनन्दरूप है—यह ज्ञान हो या न हो,
उससे अन्तःकरणका सम्बन्ध होते ही आनन्दका भान
अवश्य होगा। यदि अन्तःकरणको चेतनमें हटाकर
विषयोंकी ओर ले जाया जाय तो उनसे संस्कारोंके
अनुसार सुख-दुःखका भान होगा। इससे यह सिद्ध
होता है कि अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःखके भानसे
ज्ञानका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान न होते हुए
भी यदि अन्तःकरणको चेतनमें लगाया जाय तो जितने
समय तक वह उसमें लगा रहेगा उतनी देरतक आनन्द-
भान होता ही रहेगा। इसीसे सदैव समाधिमें रहने-

वाले योगी, चाहे वे ज्ञानी न हों तो भी, गहरे आनन्दका अनुभव करते रहते हैं। आनन्दका भान होना अन्तःकरणपर निर्भर है। ज्ञान होनेपर भी यदि अन्तःकरणका सम्बन्ध विषयोंसे हो तो उसे दुःखका भान हो सकता है। जैसे यदि किसी ज्ञानीके शरीरमें काँटा चुभ जाय, चाकू लग जाय, उसके पेटमें दर्द होने लगे या दाढ़में पीड़ा हो तो ज्ञान होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें दुःखका भान होना सम्भव है। यहाँ 'सम्भव है' कहनेका कारण यह है कि शरीरमें जो पीड़ा होती है, वह उसके सूक्ष्म ज्ञान-तन्तुओंपर अवलम्बित है। तन्तुओंको जैसा अभ्यास हो, उनपर जैसे संस्कार पड़े हों और उनके कारण वे जैसे बन गये हों वैसे ही दुःख भी कम या अधिक होगा। ज्ञानतन्तु अधिक सहिष्णु हों तो यह भी हो सकता है कि कष्ट हो ही नहीं। ठंडे देशके रहनेवालोंको अमुक प्रमाणकी ठंडकसे कम होनेपर दुःख प्रतीत होता है और गर्म देशके रहनेवालोंको उसी प्रमाणकी ठंडकसे अधिक दुःख होता है। शहरके लोग सदैव जूते पहनते रहते हैं, इसलिये यदि उनके कोमल पाँवमें काँटा लग जाय तो उन्हें अधिक दुःख होता है, भले ही वे ज्ञानी हों। किन्तु गाँवके रहनेवाले सदैव बिना जूते नगे पैरों घूमते रहते हैं, अतः यदि उनके पैरमें काँटा लगे तो उन्हे बहुत कम दुःख होता है। किन्हीं लोगोंके पाँवके तन्तु तो ऐसे अभ्यस्त होते है कि उन्हे कुछ भी दुःख नहीं होता, भले ही वे अज्ञानी हों। इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीरमें होनेवाले आघातसे और उससे उत्पन्न हुई व्याधिसे दुःख अधिक हो, कम हो या बिलकुल भी न हो—इससे ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो शरीरके उन भागोंके ज्ञानतन्तुओंके अभ्यास और संस्कारोंपर अवलम्बित है। हाँ, इतना सम्बन्ध ज्ञानका भी जरूर है कि ज्ञान उत्पन्न होनेपर चिन्ता, शोक, काम, क्रोध आदि सब विकार दूर हो जाते हैं; इसलिये इनसे उत्पन्न होनेवाली या बढ़नेवाली व्या[illegible] अवश्य कम हो जाती है। ज्ञानी शान्त प्रकृ[illegible] है; इसलिये उसके चाकू लगने आदिकी तुल[illegible] होती है और जो आघात या व्याधि आदि हो[illegible] उनका दुःख वह शान्तिसे सहन कर लेता[illegible] विशेष बेचैनी नहीं होती। यानी दुःख होते[illegible] ज्ञानीकी शान्ति बनी ही रहती है। इसी प्रकार केवल शरीर-पोषणके लिये ही आहार ग्रहण क[illegible] अतः शुद्ध और परिमित भोजन करनेसे उसे र[illegible] का होना कम सम्भव है। प्रारब्धवश इनमें रोगादि अवश्य होंगे, किन्तु उनको दूर करनेका प्र[illegible] हुए भी उनसे जो कष्ट होगा उसे वह शान्तिसे कर लेगा। यह तो शारीरिक आघात और व्या[illegible] विषयमें विचार हुआ, अब मानसिक आघा[illegible] व्याधियोंके विषयमें विचार किया जाता है।

व्यवहारमें प्रतिदिन ऐसे कितने ही कृत्य है जिनमें गुप्त रीतिसे कुछ-न-कुछ काम, भ[illegible] अन्याय, हिंसा और स्तेय इत्यादि रह सकते इतनी सूक्ष्ममात्रामें रहते हैं कि बहुत गहरा वि[illegible] बिना दिखायी नहीं पड़ते। साधारणतः विका[illegible] सूक्ष्मरूप ध्यानमें नहीं आते। अपने ही छोटे बाल[illegible] चुम्बन निर्दोष माना जाता है, तो भी इसमें सू[illegible] काम रह सकता है। प्रतिदिनके ऐसे कितने व्यवहार होते हैं, जिनपर यदि सूक्ष्म विचार किया तो न्यायकी असमानता दिखायी देगी। घरमें [illegible] लगानेमें भय, आसक्ति और लोभकी छाया अवश्य ऐसे अनेक कृत्य हैं जिनमें सूक्ष्म कामादि विकार हैं तो भी इसका निश्चय होना कठिन हो[illegible] कि सचमुच ये विकार हैं या नहीं। ए[illegible] काम विकारसहित भी हो सकता है और विक[illegible] भी। ज्ञानी अपने कृत्यमें विकार है या नहीं—निर्णय स्वयं कर सकता है, दूसरे लोग इसका

[illegible] ही यह सिद्ध नहीं होता [illegible] विकार होने ही चाहिये। [illegible] नहीं। [illegible] क्रोध और [illegible] शान्त है या नहीं—यह बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। ज्ञानीको ये विकार नहीं होते। इस प्रकार पहलेके अभ्यास या संस्कारोंके अनुसार यदि स्वाभाविक रीतिसे ज्ञानी कोई कर्म करे तो उससे नये संस्कार नहीं बनते। जैसे असाधारण शारीरिक शक्ति ज्ञानीका लक्षण नहीं है, वैसे ही असाधारण मानसिक सामर्थ्य भी उसका लक्षण नहीं है। अधिक दूरीपर क्या हो रहा है—यह देख लेना अथवा दूसरेके मनमें क्या है—यह जान लेना मानसिक शक्तियाँ ही हैं। भूत या भविष्य बातोंको जानना भी ज्ञानीका लक्षण नहीं है। इसी तरह अणिमा, लघिमा इत्यादि अष्ट महासिद्धि भी मनकी असाधारण शक्तियाँ ही हैं। इनसे ज्ञानका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इतना सम्बन्ध अवश्य है कि ये शक्तियाँ मनकी शुद्धि, शान्ति, एकाग्रता और इच्छा-शक्तिपर निर्भर हैं। ये मानसिक तपसे ही बढ़ती हैं। ज्ञानसे मनकी शुद्धि और शान्ति होती ही है, अतः इतने अंशमें इनका ज्ञानसे सम्बन्ध है भी। मनकी एकाग्रताके हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, भावयोग इत्यादि अनेकों उपाय हैं। मनकी एकाग्रतासे शान्ति प्राप्त होती है परन्तु यह शान्ति एकाग्रताके अभ्यासपर निर्भर है। यदि यह अभ्यास बिल्कुल बंद कर दिया जाय तो वह शान्ति नहीं रहेगी। परन्तु ज्ञानसे प्राप्त हुई शान्ति सदाके लिये रहती है, उसका कभी नाश नहीं होता; क्योंकि ज्ञानका कभी नाश नहीं होता। इच्छा-शक्तिपर भी एकाग्रताका बड़ा प्रभाव पड़ता है।

[illegible] और सत्यसे कर्मोंकी सिद्धि होती है। ऐसा पुरुष जो कुछ बोलता वही सत्य हो जाता। अहिंसा-वृत्तिसे हिंसक प्राणियोंतकका हिंसाभाव नष्ट हो जाता है। व्याघ्र, सिंह, सर्प उनके पास आते हैं; परन्तु उनको किसी प्रकारका कष्ट पहुँचानेकी उनकी वृत्ति नहीं होती। अस्तेयकी पूर्णता होनेसे सब प्रकारकी वस्तुएँ प्राप्त होने लगती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्रत और तपोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञान न होनेपर भी इन व्रत और तपोंका आचरण हो ही सकता है और ये सब सिद्धियाँ भी प्राप्त हो ही सकती हैं। इन सिद्धियोंमेंसे यदि कोई एक भी प्राप्त हो जाय तो वह सिद्ध पुरुष कहा जा सकता है परन्तु उसे ज्ञानी संत नहीं कह सकते। ज्ञानी संत तो वह तभी कहा जा सकता है, जब उसमें ऊपर बताये हुए ज्ञानीके लक्षण हों—जिसे कोई वासना न हो, जिसके नये संस्कार बनने बंद हो गये हों और जिसका मन काम-क्रोधादि विकारोंसे रहित हो गया हो।

जैसे शारीरिक और मानसिक असाधारण शक्तियाँ ज्ञानीके लक्षण नहीं हैं, वैसे ही असाधारण बौद्धिक सामर्थ्य भी उसका लक्षण नहीं है। छहों दर्शनोंका उत्तम अभ्यास, गीता और भागवत आदिका उत्कृष्ट ज्ञान, अप्रतिम ऊहा और तर्कशक्ति, उत्तम वक्तृत्वशक्ति, सुमधुर वाणी, उत्तम गायनशक्ति—इनमेंसे किसीसे भी ज्ञानी संत नहीं पहचाना जा सकता। वैसे ही कोई अपने अन्तःकरणके असाधारण प्रेम या भावशक्तिसे भी ज्ञानी संत नहीं हो सकता। वासना-क्षय और नये संस्कारोंका अभाव अथवा काम-क्रोधादि विकारोंका अभाव—ये गुण ज्ञानी संतमें अवश्य होने चाहिये। यों तो उसमें प्रेम भी सर्वथा शुद्ध और निःसीम होता है।

महाकवि तुलसीदासका नाटकीय महाकाव्य—रामचरितमानस

(लेखक—श्रीरामबहादुरजी अमोला, एम० ए०, एल्-एल्० बी०)

[पृष्ठ ११५५ से आगे]

[२]

अवतार—क्यों, किस हेतुसे और किस प्रकार ?

हम देख चुके हैं कि मानसिक जीवविज्ञान
(metabiology) भी हमें इसी सिद्धान्तकी ओर ले
जाता है कि आत्माकी स्थायी तरंग जहाँ भी प्रकृतिके शुद्ध
रूपसे मिलती है, वहाँ एक ग्रंथि (भँवर) बन जाती है
और उसीको व्यक्तित्व कहते हैं। पश्चिमी जगत्के लिये वैसे
सिद्धान्तको मानना योग्य ही है। कारण, वहाँ प्रकृतिपर
ही अधिक जोर दिया जाता है। सांख्य-शास्त्रमें भी असंख्य
जीव तथा परमाणु माने जाते हैं। इसीसे तो पश्चिमी भू-
खण्डका विज्ञान उस शास्त्रसे बहुत मिलता है। वेदान्त-दर्शन
इससे आगे बढ़कर यथार्थ ही कहता है कि असीम सत्ता एक
ही हो सकती है। कारण, जहाँ दो हुए, वहाँ दोनों
एक-दूसरेको सीमित करेंगे और दोनों नश्वर हो जायँगे।
परन्तु यह एक असीम सत्ताका ही संकल्प है—'मैं एक हूँ,
बहुत हो जाऊँ।' इसी संकल्पके परिणामस्वरूप हमें अनन्त
जीव दृष्टिगोचर होते हैं। भगवान्की इसी अनेक हो जानेकी
शक्तिका नाम 'माया' है। पर याद रहे कि ईश्वरकी
मायाका कोई भी विवेचन केवल अनुमान ही होगा, क्योंकि
हम सब भी तो उसी मायाके भीतर हैं। इसीलिये तो दृष्टान्त-
रूपमें कहा जाता है कि गूलरके भीतर रहनेवाले जीव बाह्य
परिस्थितियोंको क्या जानें। अस्तु, जितना ही ईश्वरीय सत्तासे
अन्तर बढ़ता जाता है, उतना ही जीव मायाके वश होता
जाता है और अपनी वास्तविक सत्ताको नहीं समझ पाता।
तुलसीदासजीने इसी सिद्धान्तको यों व्यक्त किया है—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।

और—

'माया प्रेरक सीव।'

गीताके पुरुषोत्तम-अध्यायमें भी भगवान् श्रीकृष्णने
कहा है कि पुरुष और प्रकृति दोनों पुरुषके ही रूपान्तर हैं
उत्तम है।

और

लंकाकाण्डके शुरूमें ही उस

) के सम्बन्धमें लिखा है—

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु कोदंड॥

अब प्रश्न यह होता है कि फिर अवतारकी आव
ही क्या है। उस आदि सत्ताका एक इशारा ही राव
लिये अलं होता। विश्वकवि श्रीरवीन्द्रने तो कुछ ऐसे ही प्र
का उत्तर देते हुए लिखा है कि शतरंज खेलनेकी कुशलता
यह है कि उसके नियमोंके अंदरसे ही विजय प्राप्त की ज
नहीं तो मनमानी चालोंमें खेल ही क्या और उसका आन
ही क्या। एक उर्दू-कविने भी लिखा है—

गर ख़ुदा चाहे तो है असबाबकी तासीर छीन,
लेकिन उस क़ैयूम बेहमताकी यह आदत नहीं।

यदि ईश्वर चाहे तो वह कारणोंके परिणामको नष्ट क
सकता है; पर उसने निष्पक्ष होकर ही सृष्टिकी रचना और
धारणा की है, अतः उसका यह स्वभाव नहीं है।

तुलसीदासजीने भी इस सम्बन्धमें बड़ा सुन्दर प्रसंग दिखा
है। समुद्रके सामने जब भगवान् राम प्रार्थी होकर बैठे और
उसने कई दिन बीत जानेपर भी उन्हें मार्ग न दिया तो रामजी
को क्रोध आ गया और वे अपने बाणोंद्वारा समुद्रको ताड़न
देनेपर उतारू हो गये। उस समय समुद्रने बड़े मज़ेकी बा
कही कि "मर्यादाएँ तो सब आपकी ही बनायी हुई हैं; यदि
आप उन सबको भंग कर मुझे सुखायें तो बात ही क्या, मैं सू
जाऊँगा। पर मज़ा तो जब है कि आप उद्योगद्वारा 'सेतु'
की रचना करें, जिसमें यथाशक्ति मैं भी सहायता दूँगा।"
इसीलिये मर्यादाओंकी रक्षा करते हुए ही भगवान्ने सब कुछ
किया और इसीलिये वे 'मर्यादापुरुषोत्तम' कहलाते हैं।

वेदोंमें भगवान्का एक नाम 'कवि' भी है और वहाँ
यह भी कहा है कि उस आदि सत्ताका सङ्कल्प और तद्द्वारा
सृष्टि-निर्माण आनन्दपूर्ण ही है। यह भी याद रहे कि आनन्दका
पूर्ण विकास मर्यादा-भङ्गमें नहीं होता, बल्कि मर्यादाओंके भीतर
कार्य करनेमें ही होता है। जैसे कविताका पूर्ण विकास
पिङ्गलकी मर्यादाका अनादर नहीं, बल्कि तद्द्वारा ही प्रतिभाका
विकास है। शतरज खेलनेवालेका इसमें आनन्द नहीं कि
'घोड़े'से हाथीकी चाल चला दे बल्कि आनन्द इसमें आता है कि

[illegible] है। इस [illegible] यह स्पष्ट हो गया कि इसका यह प्रश्न कि भगवान्‌को क्या आवश्यकता है [illegible] उतना ही [illegible] है, जितना यह प्रश्न कि नाटककी उत्पत्तिकी क्या आवश्यकता है या [illegible] 'ड्रामे'को [illegible] ही क्या प्रयोजन है। और उत्तर भी यही ठीक है कि वैसा [illegible] आनन्दपूर्ण सङ्कल्पसे ही होता है। हाँ, उसमें [illegible] मर्यादा स्थापनार्थ—

[illegible] ॥

एक बार जब जीवका व्यक्तित्व बन गया और उसे मर्यादित स्वतन्त्रता मिल गयी तो भगवान् कर्मकी मर्यादाओंको निभाते हुए ही सब कुछ करते और कराते हैं।

साहित्य-मर्मज्ञोंको यही बात यों समझनी चाहिये। वेदमें भगवान्‌को रसरूप भी कहा गया है। रस अनेक प्रकारके होते हैं, इसमें सन्देह ही क्या है। पर साहित्यमें रसका जो रूप है, वह भी विचारणीय है। सबसे पहली बात तो यही है कि रस वही है, जिसका आस्वादन हो सके और आस्वादनके साथ ही कुछ-न-कुछ हर्षका होना स्वाभाविक है। रस नौ माने गये हैं—जिनमें 'बीभत्स', 'भयानक' तथा 'करुण' भी हैं। जब हम शेक्सपियरका अध्ययन करते हैं तो हमें अनुभव होने लगता है कि उसने हैमलेट-जैसे सकरुण चरित्रका निर्माण कुछ वैसे ही कलापूर्ण आस्वादनके साथ किया है, जिसके साथ उसने पोर्शिया और वाइला-जैसे माधुर्यपूर्ण चरित्रोंका। बात भी ठीक है। यदि बीभत्स, भयानक तथा करुण रसोंमें कुछ आस्वादन न हो तो दुःखान्त-नाटक एवं काव्यको पढ़े ही कौन। फिर भाव-मर्मज्ञ तथा नैतिक व्यवस्थापकजन यह भी जानते हैं कि बहुधा दुःख या तो तपरूप होता है या प्रेम आदिकी कसौटीरूप। इस अनुमान-शैलीसे हमें तो यही ज्ञात होता है कि इस संसाररूपी रङ्गमञ्चपर भगवान् अपनी ही इच्छासे उसी प्रकार अभिनय करनेके हेतु आते हैं, जिस प्रकार रङ्ग-मञ्चका स्वामी कभी-कभी उस अभिनयके हेतु स्वयं आता है, जो कठिन होनेके कारण किसी औरसे नहीं बन पड़ता। इसी कारण ऋषि भरद्वाजने भी वनवासमें भगवान् रामसे कहा है—

'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।'

और तुलसीने बालकाण्डमें वे सारे आधिदैविक रहस्य खोल दिये हैं, जिनके कारण एक विशेष समयपर रामावताररूपी [illegible] हुआ। [illegible] ही [illegible] है, [illegible] बड़ [illegible] हैं। [illegible] निश्चय है कि उनको [illegible] ही मानवीय [illegible] लगता है। [illegible] देवासुर-[illegible] हैं, जिन्हें सङ्कुचित मानवीय कल्पना असम्भव-सा समझती है। आलोचना करते हुए हम देवासुर-संग्राममें भगवान् श्रीरामके अभिनयके सम्बन्धमें स्वयं शिवजी यों कहते हैं—

उमा करत रघुपति नरलीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला ॥

....

भगवान्‌के जन्म एवं कर्म दोनों गीताके कथनानुसार दिव्य हैं। वे वस्तुतः न जन्म लेते और न मरते हैं। इसीलिये उनके कर्मोंको 'लीला', जन्मको 'प्रकट होना' और लीला-संवरणको 'विश्राम' कहा जाता है। राम-जन्मके समय भी वर्णन किया है—

'भए प्रगट कृपाला दीन दयाला·······।'

—और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पहले चतुर्भुजरूप था, और फिर नर-लीलाके हेतु बालरूप पीछे धारण किया। यहाँ लङ्काकाण्डमें भी इसीलिये शङ्करजीकी उपर्युक्त आलोचना है कि राम और राक्षसोंका युद्ध ठीक वैसा ही अभिनय है, जैसा गरुड़ और सर्पका खेलका युद्ध। भगवान्‌के प्रकट होनेके बारेमें भी तुलसीदासजीने अग्निकी उपमा देकर यह बतलाया है कि यों तो अग्नि हर जगह गुप्तरूपमें व्यापक है, परन्तु जहाँ कहीं किसी विशेष प्रयोगसे प्रत्यक्षतः प्रकट होती है वहीं 'अग्नि' कही जाती है। शिवजीने उस प्रयोगके विषयमें, जिससे भगवान् प्रकट होते हैं, अपना सिद्धान्त यही बताया है कि—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना ॥

सच है, भक्तका प्रेम ही भगवान्‌के अवतारका मुख्य कारण है। वह असीम सत्ता मनु और शतरूपाके प्रेम एवं तपके कारण उन्हींके दूसरे जन्ममें, जब वे दशरथ और कौसल्यारूप हुए, उनके पुत्ररूपमें प्रकट हुई।

कुछ तो लीला और कर्मका अन्तर ऊपर दिखाया जा चुका है, परन्तु वर्तमान युगमें उससे कुछ अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता प्रतीत होती है। 'कर्म' हमारे बन्धनका कारण बनता है, परन्तु 'लीला'से वैसा नहीं होता। बात भी ठीक है। नाटकका अभिनेता चाहे जितना सकरुण

अभिनय करें, परन्तु रङ्ग-मञ्चसे उतरनेके बाद अपने मित्रोंके साथ हँसता ही रहता है। अभिनयमात्रवाले दुःखका उसके वास्तविक जीवनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि उनका वास्तविक जीवन एक समुद्र समझा जाय तो अभिनयवाला दुःख केवल ऊपरी लहरोंके समान है। यह तो अनुमान करनेके लिये मानवीय नाटक-अभिनेताओंकी बात हुई, राम तो 'अखिल लोक विश्राम' तथा 'सकल लोक सुखधाम', सदा आनन्द-रसपूर्ण महासागर हैं। देखिये न, वनवासके समय भी उनकी और भरतकी अवस्थाका वैभिन्न्य दिखाते हुए एक मर्मज्ञने भरतको देख यों कहा—

नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होत यहि भेदा॥

गुप्त रहस्योंके सम्बन्धमें बाइबिल और कुरानमें भी यही धारणा है कि उनका वास्तविक प्रकटीकरण हो नहीं सकता। हाँ, दृष्टान्तोंद्वारा कुछ अनुमान कराया जा सकता है। इसीलिये हम भी अनेकानेक दृष्टान्तोंसे ही वैसे रहस्यों-की ओर संकेत करते हैं, और ऐसा करना आवश्यक भी है। कारण, हमारे यहाँ महाकाव्य-कलाका क्षेत्र वैसा सङ्कुचित नहीं जैसा पाश्चात्य देशोंमें रहा है। वहाँ तो यूनानी साहित्य-की धारणाके अनुसार किसी महान् घटनाको विस्तारसहित ओजस्वी भाषामें लिख देना ही काफ़ी समझा जाता है। हमारे यहाँ इससे कहीं आगे बढ़कर महाकाव्य-कलाकारका कर्तव्य यह माना गया है कि वह उन घटनाओंके आध्यात्मिक और आधिदैविक रहस्योंको भी खोल दे। इतना ही नहीं, बल्कि इनके स्पष्टीकरणके बिना तो महाकाव्य महाकाव्य ही नहीं माना जाता।

अवतारका विषय इतना गूढ़ है कि अनेक दृष्टान्तोंके बिना उसके रहस्यका प्रकटीकरण कठिन ही है और बिना ऐसे प्रकटीकरणके तुलसीदासकी महाकाव्य-कलाका समझना असम्भव। यह बात और है कि कोई तुलसीदासजीसे सहमत न हो, परन्तु उनके विचारोंको समझ लेना उनकी कलाके आलोचनार्थ अनिवार्य है। इसीलिये अपने अंगरेजी पढ़े भाइयोंके लिये एक दृष्टान्त और देता हूँ। न्यूमैन महोदयने एक विश्वविद्यालयके शिक्षित और एक अशिक्षित कारीगरकी विभिन्नता दिखानेके हेतु जो विचार लिखे हैं, उनसे हमें बड़ी सहायता मिल सकती है। यह पुस्तक पढ़े मुझे बहुत दिन हुए, अतः स्मृतिसे उसका सिद्धान्त-अंश ही लेता हूँ उदाहरण अपना है। यदि हम एक ऐसे शिक्षित [illegible] अशिक्षित बढ़ईको दो मेजें अलग-अलग बनाते देखें तो उनके बाहरी रूपमें बहुत फ़र्क नहीं रहने [illegible] कभी-कभी तो अशिक्षित बढ़ईका काम [illegible] दीखेगा। प्रश्न यह है कि फिर अन्तर क्या हुआ। [illegible] है कि एक रूखेको केवल यन्त्रवत् करता है और [illegible] रहस्य नहीं जानता, और दूसरेका ज्ञान रहस्यके [illegible] में भी समर्थ है। यदि आप अशिक्षित बढ़ईसे [illegible] कि 'भाई! तुम्हारा बसूला कुछ टेढ़ा क्यों बना है और [illegible] एक विशेष प्रकारसे ही क्यों चलाते हो?' तो वह केवल उत्तर देगा कि मैंने केवल वैसा ही परम्परासे देखा [illegible] वही सुविधाजनक है। परन्तु शिक्षित बढ़ई आपको [illegible] द्वारा सारे रहस्योंको भी समझा देगा। इसीसे [illegible] बढ़ई आविष्कार करनेमें अधिक समर्थ होगा और [illegible] शिक्षा भी दे सकेगा, और अशिक्षित बढ़ई सदा [illegible] फ़क़ीर ही बना रहेगा।

अब इस दृष्टान्तके कुछ आभासको अवतरण-विवेचनामें यों देखिये। भगवान् रामको सीता-[illegible] विलाप करते देख पार्वतीजीको मोह उत्पन्न हुआ, [illegible] शङ्करजीने 'सच्चिदानन्द परधामा' कहकर उन्हें आदेश [illegible] किया था। उनके मोहका कारण यही था कि उनकी तर्कपूर्ण [illegible] उस विलापको सीता-वियोगके कारण समस्त सत्यपूर्ण समझा। शङ्करजीके समझानेपर भी उन्हें बोध न हुआ। [illegible] परीक्षाके हेतु वे सीताका रूप धारण कर राम-लक्ष्मणके [illegible] गयीं। मानो हमारे उपर्युक्त दृष्टान्तमें यदि रामको [illegible] बढ़ई समझा जाय तो यह परीक्षा एक प्रकारका प्रश्न है कि "यदि आप 'सच्चिदानन्द परधाम' हैं तो विचार [illegible] देखें, आप मेरी मायासे मोहित हो जाते हैं या सचमुच [illegible] त्रिदेवोंसे बड़े हैं।" रामजी ताड़ गये और पार्वतीजीको [illegible] ओर राम, लक्ष्मण और सीता दीखने लगे; फिर राम[illegible] बड़े ही सरल स्वभावसे पूछा कि 'शिवजी कहाँ हैं। [illegible] आप अकेली क्यों आयीं?' पार्वतीजी लज्जित हो गयीं। उन[illegible] भगवान्‌को प्रणाम किया और पश्चात्तापके भँवरमें पड़ [illegible] महाकाव्यकलाकुशल कविने इस रहस्यको बालकाण्ड[illegible] खोल दिया है और सीताहरणके पहले ही एक [illegible] हृदयमें यह बता दिया है कि सीताको अग्निमें वास करा [illegible] था और केवल सीताका मायिक प्रतिबिम्ब सीताहरण[illegible] अभिनयमें काम करता रहा। मुझे तो ऐसा जान पड़[illegible] कि देवासुर-संग्राम दैवी और आसुरी मायाके संघर्षसे प्रारम्भ हुआ। रावण अन्ततक इस मायाके रहस्यको [illegible]

र पाये। सच है, राम और सीताके सम्बन्धमें कविने पहले ही लिख दिया है—

> गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
> बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

तो फिर वहाँ वियोग कहाँ। सीताहरण इत्यादि केवल नाममात्र हैं।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अवतारका हेतु बताते हुए ा है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

> 'जब-जब ग्लानि धर्मकी होती और पापका बढ़े प्रचार,
> हे भारत! तब-तब मैं आकर स्वयं लिया करता अवतार॥'

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

> साधुजनोंकी रक्षा करने, दुष्टोंका करने संहार,
> युग-युगमें पैदा होता हूँ, स्थित करनेको धर्माचार॥*

तुलसीदासजी शिवजीद्वारा इसी विषयको यों व्यक्त कराते हैं—

> जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
> करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
> तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

> असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
> जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

परन्तु भगवान् शिवने भी, जिनके मुखसे ही उपर्युक्त सिद्धान्त व्यक्त हुए हैं, अन्ततः यही माना है कि वस्तुतः उस असीम सत्ताके अवतारके कारण और हेतु जाननेमें नहीं आते—

> हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥
> राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु भवानी॥

भक्तोंके लिये तो सबसे सुन्दर कारण वही है, जिसे सर मुहम्मद इक़बाल-जैसे मुस्लिम कविने भी यों व्यक्त किया है—

> कभी ऐ हक़ीक़ते मुंतज़र नज़र आ लिबासे मजाज़ में।
> कि हज़ारों सज्दे तड़प रहे हैं मेरी जबीने-नियाज़ में॥

'ऐ प्रतीक्षित सत्ता! कभी तो भौतिक आवरणमें दृष्टिगत हो, क्योंकि मेरे भद्रालु ललाटमें सहस्रों दण्डवतें तड़प रही हैं।' भक्तकी इस इच्छामें कितना आकर्षण है और प्रेमका सिद्धान्त ही यह है कि उसका प्रत्युत्तर अवश्य ही मिलता है। तुलसीदासजीने सीताके मुखसे इस सिद्धान्तका प्रकटीकरण यों कराया है—

> जेहि पर जेहि कर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

और इसी बातको एक उर्दू-कविने बड़े मज़ेके साथ यों कहा है—

> कच्चे धागेसे चले आयेंगे सरकार बँधे।

प्रेममें कितना भरोसा है और कितना ज़ोर! यदि भगवान् प्रेमरूप हैं तो कहाँतक आकर्षित न होंगे। हाँ, हमारी भौतिक आँखें उनके दिव्य रूपको देख नहीं सकतीं और इसीलिये हज़रत मूसाको जवाब मिला था 'लनतरानी', अर्थात् 'तू मुझे न देख सकेगा।' परन्तु भक्त क्यों मानने लगा? इसीलिये किसी-न-किसी तरह भगवान्‌को दर्शन देना ही पड़ा, फिर चाहे वह उस दिव्य रूपकी एक छटारूपी किरण ही क्यों न हो। इसीसे तो कविवर इक़बालकी प्रार्थना है कि 'भौतिक आवरण धारण कर सरकार सामने आयें, ताकि हमारे नमस्कार आपके चरणोंपर निछावर हो सकें।' इक़बालने भक्तिके लिये बिलकुल ठीक लिखा है—

> शक्ती भी शान्ती भी भक्तोंकी रीतमें है,
> धरतीके बासियोंकी मुक्ती प्रीतमें है।

तुलसीदासजीने मनु और शतरूपाके प्रेमवाली अभिलाषाके सम्बन्धमें लिखा है—

> उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
> अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
> नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
> संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
> ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
> जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

सच है, श्रुतिमें भगवान्‌के विभूतिरूपसे भक्त-प्रेमके कारण प्रकट होनेके अनेक मन्त्र आये हैं। उदाहरणार्थ सामवेद पृष्ठ ६८० (पं० श्रीजयदेवशर्माकृत भाष्य) देखिये—'हे (चित्रभानो) उपास्य, कान्तिसम्पन्न, विचित्र रश्मियोंसे युक्त, नाना प्रकारके सूर्योंके स्वामिन्! जिस प्रकार (सिन्धोः) विशाल नदीके (उपाके) समीपमें (ऊर्मा) छोटी-छोटी नहरें काट लेते हैं, उसी प्रकार आप अपने विशाल विभूति-

---

* हिंदी-अनुवाद पुरोहित रामप्रताप बा० के गीतासेक, गोरखपुरद्वारा प्रकाशित अनुवादसे लिया गया है। —लेखक

प्रयाइमेंसे (दाशुषे) अपने आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तके प्रति (विभजासि) विविध प्रकारसे नाना विभूतियाँ बाँट देते हैं और (सद्यः) शीघ्र ही (क्षरसि) अभिमत आनन्द-रस बहा देते हैं ।' गीतामें भी श्रीकृष्णभगवान्‌ने अपने विभूति-वर्णनमें कहा ही है कि 'शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ ।' तुलसीदासजीने इन्हीं सिद्धान्तोंको यों लिखा है—

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती । प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती ॥

... ...

अग जगमय सब रहित बिरागी । प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥

तुलसीदासजीकी प्रेमकथामें 'लनतरानी' नहीं । वहाँ तो भगवान् भक्तको मोहित करनेवाले रूपमें ही प्रकट होते हैं । कारण, दैवी सत्ता केवल सत्यरूप तथा कल्याणरूप ही नहीं प्रत्युत सुन्दर भी है । देखिये, मनु-शतरूपाके सामने लावण्य-निधि कितने सुन्दररूपमें प्रकट होते हैं—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥

सारा प्रकरण ही पठनके योग्य है पर विस्तारभयसे नहीं दिया जाता ।

तुलसीदासजीने अवतारके निमित्त लिखा है—

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।

'नेति-नेति' का अर्थ एक ओर नकारात्मक अवश्य है कि कोई भी गुण उस असीम सत्ताका वर्णन नहीं कर सकता । वह गुणोंसे परे है, पर उसका अर्थ शून्यता नहीं बल्कि सर्वगुणसम्पन्नता ही है; और इसी हेतु तुलसीदासजीका सिद्धान्त है कि निर्गुण और सगुण रूपोंमें भेद नहीं, अपितु ये चित्रके दो पट ही हैं । 'मसनवी मौलाना रूम' में भी कहा है—

बनामे आँकि ऊ नामे न दारद । ब हर नामे कि ख्वानी सर बरारद ॥

'मैं उस प्रभुके नामसे शुरू करता हूँ, जिसका कोई नाम नहीं । परन्तु भक्त उसे जिस नामसे पुकारते हैं, उसीसे वह प्रकट होता है ।' मुझे तो यह उस सिद्धान्तका रूपान्तर ही दीखता है, जिसमें कहा गया है कि मन्त्र ही देवता है ।

सामवेदकी एक प्रार्थना देखिये—

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ।

परमेश्वर ! आप विद्वानों, प्राणों और सब सूर्य-चन्द्रादिक पदार्थोंके भीतर निवास करनेवाली प्रजाओंके मनन करनेवाले प्राणियोंके सम्मुख और द्युलोक, आ[illegible] मोक्षके दर्शन करानेके निमित्त समस्त संसारके प्रति [illegible] प्राप्त होते हैं ।'

—श्रीजयदेव विद्यालङ्कार

यदि यह प्रार्थना स्वीकृत हो तो किसी दिव्य रूपमें एक प्रकारका अवतार ही तो होगा । अब दूसरे उसी सामवेदभाष्यके पृष्ठ ५६८–७० पर देखिये—

एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।
हरिः पवित्रे अर्षति ॥

(एषः) यह (देवः) प्रकाशमान (सुतः) [illegible] मार्गमें निष्ठित होकर (हरिः) सब दुःखों या क[illegible] काटनेवाला आत्मा (देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषोंके [illegible] (प्रत्नेन) पुराने, परिपक्व (जन्मना) उपार्जित जन्मद्वारा (पवित्रे) परम पावन परमात्मामें (अ[illegible] जा लगता है ।

मुझे तो 'जय जय सुरनायक' इत्यादिवाली [illegible] प्रतिनिधिरूप ब्रह्माजीकी प्रार्थना देश, काल और परि[illegible] अनुसार ऊपरकी सामवेदवाली प्रार्थनाका सकरण रू[illegible] ही जान पड़ती है और इसीलिये आकाशवाणीवाला [illegible] भी उतना ही सरस एवं आशाप्रद है—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बे[illegible]
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहउँ दिनकर बंस उ[illegible]

... ...

नारद बचन सत्य सब करिहउँ । परम सक्ति समेत अवत[illegible]
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई । निर्भय होहु देव समु[illegible]

यह तो सभी जानते हैं कि भगवान् और भक्तका स[illegible] पूर्णतः यों प्रकट किया जाता है—'हे भगवन् ! आ[illegible] माता हैं, आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु हैं, आप [illegible] सखा हैं, आप ही द्रव्य हैं, आप ही विद्या हैं और स[illegible] भी आप ही हैं ।' इतना ही नहीं; वेदोंके उपासनाक[illegible] १६००० दृष्टिकोणोंसे ऋषियोंने भक्त और भगवान्‌के सम्ब[illegible] व्यक्त करनेवाली उपासनाके मन्त्र लिखे, पर अन्तमें '[illegible] नेति' ही कहना पड़ा । भक्तोंके सिद्धान्तानुसार उन्हीं [illegible] श्रुतियोंने श्रीकृष्णावतारमें गोपियोंका रूप धारण कर [illegible] के साथ 'रास' किया, पर वास्तविक रहस्यको पूर्णतः [illegible] न जाना । कारण, [illegible] है कि [illegible] ही [illegible]

ाइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

हाँ, जो कुछ हम होना चाहते हैं और जिसके निमित्त हम उद्योग करते हैं, वही हम हो जाते हैं—यह दर्शनोंका सिद्धान्त है, जिसे हास्य-रूपमें अकबर इलाहाबादीने यों लिखा है—

कहा मंसूरने खुदा हूँ मैं, डारविन बोला बूजना हूँ मैं ॥
सुनके कहने लगे मेरे इक दोस्त, 'फ़िक्र हर कस बकद्रे हिम्मते ओस्त।'

[मंसूर कहता था, मैं 'ब्रह्म हूँ' और डारविन महोदय कहते हैं कि हम बंदरके ही रूपान्तर हैं। यह सुनकर मेरे एक मित्रने कहा कि भाई! हर आदमीकी उड़ान उसके साहसानुसार ही हुआ करती है।]

कुम्भका आध्यात्मिक उपयोग

(लेखक—श्रीमुनिलालजी)

(१)

'क्यों दादा ! आज मुकुन्दजीके साथ क्या सलाह हो रही है ?'

'कुछ नहीं मोहन ! मेरा विचार कुम्भस्नानके लिये प्रयाग जानेका था, सो सुना है ४ जनवरीके बाद रेलवेने इलाहाबादका टिकट न देनेकी सूचना निकाल दी है।'

'अच्छा तो है, इस कड़ाकेकी सर्दीमें आप वहाँ जाकर क्या करेंगे ? यों भी वहाँ रहने-सहनेकी कोई सुविधा मिलनी कठिन है। आजकल तो जबतक घटा-भर दिन नहीं चढ़ जाता, हाथ-मुँह धोनेसे भी टोंट कँपने लगती है। ऐसी अवस्थामें रेलमें पड़ना और सूर्योदयसे भी पहले बर्फ-जैसे जलमें डुबकी लगाना—मेरी समझमें तो नहीं आता। इसमें न जाने काहेका पुण्य है। मनुष्य सचाईका व्यवहार करे, पाप करनेसे बचे और किसीका अहित न करे—यह तो ठीक है, और सब तो पण्डित और पण्डोंका कमाई करनेका ढकोसला ही जान पड़ता है।'

'मोहन ! तुम बहुत बातें पढ़ गये। तुम्हारा मेरे प्रति सहज स्नेह है, इसलिये मेरी सुविधाकी चिन्ता होनी तो स्वाभाविक ही है; किन्तु उसका इतना मोह तो नहीं होना चाहिये कि उसके कारण अपने धर्म-कर्मके प्रति भी तिरस्कारका भाव हो जाय। देखो, प्रत्येक धार्मिक समाजमें—चाहे वह हिंदू, मुसल्मान, ईसाई, बौद्ध, जैन, कोई भी हो—धर्मके तीन रूप रहते हैं—सामान्य-धर्म, विशेषधर्म और सिद्धान्त। तुमने जिन सत्य, अहिंसा आदिको वास्तविक धर्मरूपसे स्वीकार किया है, वे सामान्य धर्म हैं। इन्हें प्रकारभेदसे सभी मतवादी स्वीकार करते हैं, ऐसा कोई भी सम्प्रदाय नहीं है जो इन्हें न मानता हो; इसीलिये मैं इन्हें 'सामान्यधर्म' कहता हूँ। विशेष-धर्म और सिद्धान्तोंमें ही विभिन्न सम्प्रदायोंका मतभेद होता है। इनमें भी सिद्धान्तको समझनेवाले तो सब लोग नहीं होते, वह केवल विद्वानोंकी ही चीज है। सामान्य पुरुषोंकी दृष्टिमें जो उनके धर्मका स्वरूप है, वह 'विशेषधर्म' ही है। विशेषधर्मको लेकर ही मनुष्य साधनमार्गमें प्रवृत्त होता है और अपनेको किसी सम्प्र-दायविशेषमें दीक्षित मानता है। जो अपने सम्प्रदायके विशेषधर्ममें श्रद्धा नहीं रखता, उसमें स्वधर्मप्रेम भी नहीं होता।'

'दादा ! आपने जो बात कही, वह बहुत ठीक है। परन्तु मैं तो ऐसा समझता हूँ कि इस स्वधर्मप्रेमसे लाभके बदले हानि ही होती है। आज जितने साम्प्रदायिक झगड़े होते हैं, उनके मूलमें यही तो रहता है। स्वधर्म और परधर्मसे क्या लेना है। यदि हम साम्प्रदायिक मतभेदको छोड़कर केवल सामान्यधर्मोंका ही पालन करें तो फिर संघर्षका कोई कारण ही नहीं रहता और हमारा जीवन खूब आनन्दसे कट सकता है।'

'भैया ! झगड़ोंकी जड़ स्वधर्मप्रेम नहीं, परधर्म-

प्रवाहमेंसे (दाशुषे) अपने आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तके प्रति (विभक्तासि) विविध प्रकारसे नाना विभूतियाँ बाँट देते हैं और (सद्यः) शीघ्र ही (क्षरसि) अभिमत आनन्द-रस बहा देते हैं ।' गीतामें भी श्रीकृष्णभगवान्‌ने अपने विभूति-वर्णनमें कहा ही है कि 'शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ ।' तुलसीदासजीने इन्हीं सिद्धान्तोंको यों लिखा है—

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती । प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती ॥
... ...

अग जगमय सब रहित बिरागी । प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥

तुलसीदासजीकी प्रेमकथामें 'लनतरानी' नहीं । वहाँ तो भगवान् भक्तको मोहित करनेवाले रूपमें ही प्रकट होते हैं । कारण, दैवी सत्ता केवल सत्यरूप तथा कल्याणरूप ही नहीं प्रत्युत सुन्दर भी है । देखिये, मनु-शतरूपाके सामने लावण्य-निधि कितने सुन्दररूपमे प्रकट होते हैं—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥

सारा प्रकरण ही पठनके योग्य है पर विस्तारभयसे नहीं दिया जाता ।

तुलसीदासजीने अवतारके निमित्त लिखा है—

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।

'नेति-नेति' का अर्थ एक ओर नकारात्मक अवश्य है कि कोई भी गुण उस असीम सत्ताका वर्णन नहीं कर सकता । वह गुणोंसे परे है, पर उसका अर्थ शून्यता नहीं बल्कि सर्वगुणसम्पन्नता ही है; और इसी हेतु तुलसीदासजीका सिद्धान्त है कि निर्गुण और सगुण रूपोंमें भेद नहीं, अपितु वे चित्रके दो पट ही हैं । 'मसनवी मौलाना रूम' में भी कहा है—

बनामे ऑकि ऊ नामे न दारद । ब हर नामे कि ख्वानी सर बरारद ॥

'मैं उस प्रभुके नामसे शुरू करता हूँ, जिसका कोई नाम नहीं । परन्तु भक्त उसे जिस नामसे पुकारते हैं, उसीसे वह प्रकट होता है ।' मुझे तो यह उस सिद्धान्तका रूपान्तर ही दीखता है, जिसमें कहा गया है कि मन्त्र ही देवता है ।

सामवेदकी एक प्रार्थना देखिये—

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषानां
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ।

'हे परमेश्वर ! आप विद्वानों, प्राणों और सब सूर्य-चन्द्रादिक पदार्थोंके भीतर निवास करनेवाली प्रजाके मनन करनेवाले प्राणियोंके सम्मुख और द्युलोक मोक्षके दर्शन करानेके निमित्त समस्त संसारके प्रति प्राप्त होते हैं ।'

—श्रीजयदेव विद्यालङ्कार

यदि यह प्रार्थना स्वीकृत हो तो किसी दिन रूपमें एक प्रकारका अवतार ही तो होगा। अब दूसरे उसी सामवेदभाष्यके पृष्ठ ५६८–७० पर देखिये—

एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।
हरिः पवित्रे अर्षति ॥

(एषः) वह (देवः) प्रकाशमान (सुतः) मार्गमें निष्ठित होकर (हरिः) सब दुःखों या बन्धन काटनेवाला आत्मा (देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषोंके (प्रत्नेन) पुराने, परिपक्व (जन्मना) उत्कृष्ट जन्मद्वारा (पवित्रे) परम पावन परमात्मामें (अर्षति) जा लगता है ।

मुझे तो 'जय जय सुरनायक' इत्यादिवाली प्रतिनिधिरूप ब्रह्माजीकी प्रार्थना देश, काल और परिस्थितिके अनुसार ऊपरकी सामवेदवाली प्रार्थनाका सफल रूप ही जान पड़ती है और इसीलिये आकाशवाणीवाला उत्तर भी उतना ही सरस एवं आशाप्रद है—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहउँ दिनकर बंस उदारा ॥
... ...

नारद बचन सत्य सब करिहउँ । परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ॥
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई । निर्भय

यह तो सभी जानते हैं कि
पूर्णतः यों प्रकट किया
माता हैं, आप ही
सखा हैं, आप ही
भी आप ही हैं ।'
१६००० ह
व्यक्त
नेति'

के
न

...न्होंने मेरे पूछनेपर स्वामीजी महाराज आये हुए [illegible]। जिनका [illegible] ही । कल उन्हींके पास चलें। वे बड़े विद्वान् और अनुभवी महात्मा हैं। उनसे सम्भव है आपकी इस शङ्काका समाधान हो जायगा। आप कल भोजनके पश्चात् [illegible] मंडीमें मेरे घरपर आ जायँ। फिर आप, मैं और मोहन—तीनों एक ही तांगेपर वहीं चलेंगे।'

मुकुन्द—बहुत ठीक ! अच्छा, अब बहुत देर हो गयी है; हमलोग चलें।

इसके पश्चात् मुकुन्द तो सीधा बेयरहाउसकी ओर चल दिया तथा माधव और मोहन यमुनातटसे किनारी-बाजार होते हुए अपने घर चले आये।

(२)

आगरेसे प्रायः आठ-दस मीलकी दूरीपर कैलास नामका एक बड़ा ही शान्त और रमणीक स्थान है। वहाँ भगवान् शंकरका एक प्राचीन मन्दिर है और साधु-महात्माओंके ठहरनेके लिये कई कुटियाँ हैं। तरह-तरहके वृक्षोंकी सघन छायामें भाँति-भाँतिके पक्षियोंका सुमधुर कलरव होता रहता है। पास ही कलिन्दकन्याकी कमनीय धारा शान्त और मन्द गतिसे प्रवाहित हो रही है। मानो यहाँ रहनेवाले मुनिजनोंके ध्यानमें विघ्न पड़नेके भयसे ही उसने अपनी चपल गति त्याग दी है।

इसी स्थानपर एक वृक्षके नीचे ऊँची वेदीपर एक तेजस्वी महात्मा विराजमान हैं। उनकी गौर कान्ति उज्ज्वल काषायवस्त्रोंसे और भी दिप उठी है। महात्माजीकी आयु यद्यपि साठको लाँघ चुकी है, तो भी कुछ सफेद बालोंके सिवा उनमें वृद्धावस्थाका कोई चिह्न नहीं है। दोपहरके प्रायः दो बजेका समय है। भगवान् भास्कर मध्याकाशसे कुछ पश्चिमकी ओर ढुलक गये हैं। यों भी शीतकाल होनेके कारण वे कुछ दक्षिणावर्त्त रहकर ही अपनी यात्रा पूरी करते हैं। इसी सुहावने समयमें हमारे पूर्वपरिचित तीनों युवक वहाँ पहुँचे और बड़े विनम्रभावसे महात्माजीके चरणोंमें प्रणाम करके बैठ गये। माधव तो स्वामीजीका सेवक ही था। उसीने उनके पूछनेपर अपने साथियोंका परिचय दिया। कुछ देर कुशलप्रश्न और साधनसम्बन्धी बात होनेके पश्चात् माधवने कहा, 'भगवन् ! कल हमलोगोंमें आपसमें कुम्भके विषयमें कुछ बातचीत हुई थी। किन्तु मैं इनका पूरा समाधान नहीं कर सका। इसलिये ऐसा विचार हुआ कि इस विषयमें श्रीमुखसे ही कुछ सुना जाय।'

महात्माजी—(मुसकराकर) ठीक है; पूछो न, क्या बात है ?

माधव—(मुकुन्दसे) मुकुन्दजी ! आप श्रीमहाराज-जीसे अपने प्रश्नका निर्णय करा लीजिये।

मुकुन्द—भगवन् ! मैं दर्शनशास्त्रका विद्यार्थी हूँ। मैंने थोड़ा-बहुत पूर्वीय और पाश्चात्त्य दोनों प्रकारके दर्शनोंको देखा है। माधवजी कहते हैं कि तीर्थ, व्रत और उपवासादि जो हिंदुओंके विशेषधर्म हैं उनका भी तत्त्वसाक्षात्कारमें बड़ा उपयोग है। परन्तु जो तत्त्वदर्शी दार्शनिक हैं, उनके ग्रन्थोंमें मैंने ऐसा कोई उल्लेख नहीं देखा। मैं तो यही समझता हूँ कि इनका उपासनामें भले ही कोई उपयोग हो। तत्त्व तो स्वतःसिद्ध वस्तु है, उसके साक्षात्कारके लिये तो एकमात्र सूक्ष्म बुद्धिकी ही आवश्यकता है। देखिये श्रुति भी कहती है—'*दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः*॥' (कठ० १ । ३ । १२) सो इसमें आपका क्या मत है ?

महात्माजी—पाश्चात्त्य दर्शनोंकी बात तो मैं विशेष नहीं जानता; किन्तु पूर्वीय दर्शन तो ऐसे नहीं हैं। देखो, पूर्वमीमांसा तो केवल कर्मका ही प्रतिपादन करता है। बौद्ध और जैन-दर्शनोंमें भी तपकी थोड़ी महिमा नहीं गायी है। योगदर्शन कहता है—'तपःस्वाध्यायेश्वर-

प्रणिधानानि क्रियायोगः' (२ । १) अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये क्रियायोग हैं । तपका लक्षण बताते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'तपः द्वन्द्वसहनम्' अर्थात् भूख-प्यास आदि द्वन्द्वोंका सहना तप है। इसके पश्चात् क्रियायोगका उद्देश्य इस सूत्रद्वारा बताया गया है—'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (योग० २ । २) अर्थात् यह क्रियायोग समाधिकी प्राप्तिके लिये और अविद्यादि क्लेशोंके क्षयके लिये है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनोंमें तपकी खूब महिमा गायी है ।

मुकुन्द—मेरा आशय तत्त्वज्ञानसम्बन्धी दर्शनोंसे है । मीमांसा तो कर्मशास्त्र है, योगका प्रधान लक्ष्य मनोवृत्तियोंका निरोध है । जैन और बौद्धोंके भी जो साधनसम्बन्धी ग्रन्थ है उन्हींमें तपका महत्त्व है, सिद्धान्तग्रन्थोंमें नहीं ।

महात्माजी—ठीक है, परन्तु यह तो बताओ कि बिना साधनके साध्यकी प्राप्ति कैसे होगी ।

मुकुन्द—शंकर तो तत्त्वको साध्य नहीं मानते। उनके विचारसे तो वह स्वतःसिद्ध, अपना-आप ही है।

महात्माजी—ठीक, किन्तु तुमने तो सभी दर्शनोंकी बात कही थी न । इसलिये मुझे यह सब कहना पड़ा। अब यह तो निश्चय हो गया कि जिन दर्शनोंमें किसी साध्य-तत्त्वका प्रतिपादन है, वहाँ तपको उसका प्रधान साधन माना गया है । रही भगवान् शंकराचार्यकी बात, सो उन्होंने जो तत्त्वको साध्यरूपसे स्वीकार नहीं किया इसका तात्पर्य यही है कि साधनके द्वारा तत्त्वमें कोई विशेषता नहीं आती; किन्तु उसकी उपलब्धिके लिये अपने अन्तःकरणकी शुद्धिकी आवश्यकता तो उन्होंने भी मानी ही है। इस दृष्टिसे उन्होंने भी जिज्ञासासे पूर्व साधनचतुष्टयकी बड़ी आवश्यकता बतायी है—यहाँतक कि साधनचतुष्टयके बिना तो वे वेदान्त-श्रवणका

अधिकार ही नहीं मानते। उस ... एक अङ्ग तितिक्षा भी है। सो ये तीर्थ, व्र... उपवासादि क्या तितिक्षाके अन्तर्गत नहीं ...

मुकुन्द—यह तो ठीक है भगवन्! परन्तु ... परम्परासे ये भले ही उसके साधन हो जायँ, साक्षात् साधन तो नहीं हो सकते।

महात्माजी—चलो, परम्परासे ही सही; ... हैं। किन्तु देखो उपनिषद्में तो साधन नहीं, तपको ही साध्य बताया है।

मुकुन्द—साध्य बताया है ? सो कैसे, भगवन्

महात्माजी—क्या तुम्हें तैत्तिरीयोपनिषद्की ... कही हुई वरुण और भृगुकी कथा स्मरण नहीं है ... भृगुके बार-बार पूछनेपर वरुणने एक ही उत्त... है—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्म' । ... द्वारा ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करो। तप ही ब्रह्म ... देखो, यहाँ स्पष्ट ही तपको ब्रह्म बताया है।

मुकुन्द—महाराजजी ! तप ब्रह्म कैसे हो सक... मेरे विचारसे तो जैसे 'अन्नं ब्रह्म', 'मनो ब्रह्म' ... श्रुतियोंमें ब्रह्मके प्रतीक होनेसे अन्न और मन ... कहा है, उसी प्रकार ब्रह्मकी अनुभूतिका प्रधा... होनेसे ही यहाँ तपको ब्रह्म कहा है।

महात्माजी—अच्छा, अब तो तुम्हारे मतसे ब्रह्मानुभूतिका प्रधान साधन सिद्ध हो गया।

मुकुन्द—किन्तु यहाँ तपका अर्थ व्रत-उ... नहीं, विचार या चित्तकी एकाग्रता है।

महात्माजी—यह तो ठीक है। किन्तु चित्त व्रत, उपवासादिके द्वारा शुद्ध नहीं हुआ है ... विचार या चित्तकी एकाग्रता होगी कैसे ! ... अधिकारीके अनुसार तीर्थ, व्रत और उपवासादि... समाधिपर्यन्त सभी साधन तत्त्वसाक्षात्कारमें उप... और सभीको तप कहा ज... [illegible] ... यह तो

ना ही कहा है—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।' (बृह० ४।४।२२) यहाँ वेदानुवचन अर्थात् गुरुमुखसे वेदान्तोंके श्रवण, यज्ञ, दान, तप और उपवास—सभीको ब्रह्मकी उपलब्धिका कारण बताया है। इनमें श्रवण तो तत्त्वसाक्षात्कारका प्रधान साधन प्रसिद्ध ही है। महाराज पृथु और निमिने यज्ञके द्वारा ही भगवान् सनत्कुमार और नव योगेश्वरोंसे ज्ञान प्राप्त किया था। जानश्रुति और जनकने दानके द्वारा ही रैक्व और याज्ञवल्क्यसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी तथा ध्रुवने तप और उपवास करके ही साक्षात् श्रीभगवान्से भगवत्तत्त्वका ज्ञान और ध्रुवपद प्राप्त किये थे। इसलिये किसी भी साधनको छोटा या हेय नहीं कह सकते; अपने-अपने स्थानपर सभीका बड़ा भारी उपयोग है।

मुकुन्द—भगवन्! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह बहुत युक्तियुक्त जान पड़ता है और मुझे अपने विचारोंमें भूल भी दिखायी देती है। परन्तु जहाँतक मैंने समझा है, शाङ्करदर्शनकी दृष्टिमें तो यह सारा जगत् कल्पित और मिथ्या ही है। यही नहीं, कर्म और उपासनासे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग और ब्रह्मलोकादि भी केवल हमारे मनकी ही भावनाएँ हैं। तीर्थादिका जो तीर्थत्व है, वह भी हमारा ही आरोप किया हुआ है। ऐसी अवस्थामें इनकी ओर चित्तवृत्तिको लगाना व्यर्थ अज्ञानको ही बढ़ाना है। मैं नहीं जानता बड़े-बड़े एकान्तसेवी और वि ... त

... नहीं;

... । भला

... ने

... ही सन्त तीर्थोंका आविर्भाव प्राप्त है। उनकी पवित्र रजके सेवन और दिव्यलोकके भगवदीय महानुभावोंके दिव्य प्रभावसे जैसी चित्तशुद्धि होती है, वैसी वर्षोंके एकान्तसेवनसे भी नहीं हो सकती। किन्तु ऐसा होता तभी है, जब पूर्ण श्रद्धा हो; फिर भी उनके अपने प्रभावसे कुछ तो संस्कार अवश्य होता है।

मुकुन्द—भगवन्! इस दिव्य जगत्का क्या कार्य है?

महात्माजी—देखो, जिस प्रकार हमारे पाँच शरीर हैं उसी प्रकार इस सृष्टिके भी कई स्तर हैं। साधारण *लोग तो एकमात्र अन्नमय कोशको ही शरीर मानते हैं;* परन्तु तुम तो दर्शनशास्त्रके विद्यार्थी हो, तुम जानते ही होगे कि हमारे पाँच कोश हैं। उनमें सबसे स्थूल यह अन्नमय कोश है; शेष चार कोश इसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर और उत्कृष्टतर हैं। यही नहीं, जो जिसकी अपेक्षा सूक्ष्म है वह उसका नियामक और प्रेरक भी है। इसी प्रकार विश्वात्माके भी कई कोश हैं, जो क्रमशः *भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और* सत्यलोकोंके नामसे प्रसिद्ध हैं। हमें जो सृष्टि दीख रही है, यह भूर्लोक है। शेष छः लोक इसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर और उत्कृष्टतर हैं तथा परम्परासे इसके नियामक भी हैं। उन लोकोंमें भी भूर्लोकके समान ही सृष्टि है और वहाँके अधिवासी अपनेसे निम्न स्तरके लोकोंके नियामक हैं। इस प्रकार हमारा यह भूर्लोक उस दिव्य जगत्का नियम्य है और वहाँके निवासी देवता एवं सिद्धगण हमारी प्रवृत्तियोंका नियमन करते हैं। देवता हमारे भोगके नियामक हैं और सिद्धगण मोक्ष यानी मोक्षसाधनके।

...न्द—ये सब बातें केवल भावनामात्र ही हैं या इनका अनुभव भी होता है?

...*माजी*—भावना! मैं नहीं जानता तुम किसे ... हो और किसे अनुभव। भैया, जरा विचार करो। क्या कोई भी अनुभव

भावनाशून्य होता है ? मन और बुद्धिकी जहाँतक गति है, वह सब भावना ही तो है; और तुम्हारा अनुभव क्या मन-बुद्धिको छोड़कर होता है ? कैसी विचित्र बात है ! जिन चीजोंको तुम नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे देखते हो, उन्हें तो सत्य माननेको तैयार हो; किन्तु जो उनकी अपेक्षा कहीं सूक्ष्म और श्रेष्ठतर भावनेत्रोंसे दिखायी देती हैं, उन्हें केवल कल्पना मानते हो। जरा सोचो तो सही, भावनाको छोड़कर क्या तुम एक क्षण भी रह सकते हो ? भावना ही तो जीवका जीवत्व है। अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, ग्राह्य-त्याज्य—ये सब भावना ही तो हैं और जिसके द्वारा इनका त्याग किया जाता है—जिसे तुम तत्त्वदृष्टि कहते हो, वह क्या भावना नहीं है ? दृष्टिमात्र भावना है और दृष्टिके सिवा जीवन-मरण भी क्या हैं ? अच्छा बताओ तो, जीवन और मरणको छोड़कर भी व्यवहारका कोई स्वरूप है क्या ? इस भावनाका अधिष्ठान तो तत्त्व ही है; किन्तु बिना भावनाके तत्त्वकी उपलब्धि हो सकती है क्या ? जिस तत्त्वदृष्टिसे उसकी उपलब्धि होती है, वह भी तो भावना ही है और अधिष्ठान-अध्यस्त भाव क्या भावनासे भिन्न है ? असली बात यह है कि भावदृष्टिसे तो तत्त्वदृष्टि भी एक भावना ही है और तत्त्वदृष्टिसे भाव भी तत्त्व ही है। अतः सच्चे तत्त्वदर्शी कभी भावका निरादर नहीं करते।

रही अनुभवकी बात, सो इसके लिये अधिकारकी आवश्यकता है। आजकल लोगोंकी दृष्टिमें जडता आ गयी है, वे प्रत्यक्षवादी हो गये हैं; इसलिये उन्हें उसीका अनुभव होता है जो जड है और बाह्य इन्द्रियों-का विषय है। दिव्य जगत्को देखनेके लिये तो दिव्य-दृष्टिकी आवश्यकता है। भगवत्कृपासे जिन बड़भागियों-की यह दृष्टि खुल जाती है, उन्हें उसका अनुभव होता ही है। उन्हें तो उस दिव्यलोककी अपेक्षा यह स्थूल [illegible] तुच्छ और हेय दिखायी देता है, और उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इसकी स्व[illegible] प्रवृत्ति पूर्णतया दिव्य जगत्के ही अधीन है।

मुकुन्द—तो भगवान् शंकरने जो सबको अ[illegible] भ्रमरूप बताया है, वह बात ठीक नहीं है [illegible] कृपया इस रहस्यको खोलकर समझाइये।

महात्माजी—भैया ! आचार्योंका कथन मि[illegible] होता। भिन्न सम्प्रदायोंके प्रवर्तक जो-जो भी [illegible] हो गये हैं, उन्होंने परमार्थका ही निरूपण कि[illegible] जो कुछ त्रुटि है, वह हमारी समझकी ही है। [illegible] बुद्धि अच्छी जान पड़ती है। इसलिये जो गू[illegible] मैं बताना चाहता हूँ, सम्भवतः तुम उसे हृदयङ्ग[illegible] सकोगे। देखो, यह तो तुम जानते ही हो कि [illegible] तत्त्व पूर्ण है। इसलिये यदि तुम किसीको सत् [illegible] किसीको असत् समझोगे तो उसमें अपूर्णता आ जा[illegible] जीवोंकी बुद्धिमें असत्का ही विशेष अभिनिवेश है। इसलिये सत्का वास्तविक स्वरूप समझनेके लिये आचार्योंने साधनरूपसे सदसद्विवेकको स्वीकार कि[illegible] है। ऐसा करके वे बुद्धिकी विवेकशक्तिको जाग्रत् कर[illegible] चाहते हैं, जिससे वह परमार्थ-तत्त्वका ठीक-ठी[illegible] आकलन कर सके। वास्तवमें तो केवल सन्मात्र है। उस सत्की ही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभू[illegible] तीन प्रकारसे अनुभूति होती है। जितना कुछ [illegible] है, वह अधिभूत है। भूगोल, खगोल, आयुर्वेद [illegible] रसायनशास्त्र आदि सारी भौतिक विद्याओंका सम्ब[illegible] इस अधिभूतसे ही है। आज पश्चिममें जिस विज्ञान[illegible] चमत्कार दिखायी दे रहा है, वह आधिभौतिक ही है। अध्यात्म सबका अधिष्ठान है। जिस प्रकार सारा प्र[illegible] आकाशमें है, उसी प्रकार अध्यात्म ही अधिभूत औ[illegible] अधिदैवका आधार है और वह आकाशके समान ही निर्विशेष और निश्चल है। अद्वैतवेदान्त परम तत्त्व[illegible] इस अध्यात्मरूपमें ही देखता है। इन दोनोंसे विलक्षण [illegible] जो तीसरा तत्त्व है, वह

कहता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अधिभूतके समान अधिदैवके भी समष्टि-व्यष्टिरूपसे अनेकों विभूतियाँ हैं। समष्टि अधिदैव ही श्रीभगवान् हैं। उनके सिवा जितने भी नदी, पर्वत, तीर्थ और लोक-लोकान्तरोंके अधिष्ठातृ देव हैं वे सब भी उन्हींकी विभूतियाँ हैं। उपासना और कर्मशास्त्रका सम्बन्ध इस अधिदैवसे ही है। उपासनाके लक्ष्य स्वयं भगवान् हैं और कर्मके देवगण। अधिदैवके कारण ही विभिन्न सम्प्रदायों और पुण्य-पाप आदिकी व्यवस्था हुई है। वास्तवमें यही जगत्‌का जीवन है और यही ज्ञान और अज्ञानका भी नियामक है। इसलिये इसकी उपेक्षा करनेपर तो तत्त्वकी ठीक-ठीक अनुभूति होनी प्रायः असम्भव ही है। इस प्रकार दृष्टिभेदसे तीन होनेपर भी वास्तवमें तो ये एक ही हैं, क्योंकि तीनों ही पूर्ण हैं और तीनों ही अनुभवगम्य हैं। पूर्णमें अनेकता नहीं होती; यहाँ जो अनेकता या त्रिविधताका भान होता है, वह केवल दृष्टिभेदसे है। अतः इस भेदमें भी अभेद है, इसलिये यही भेदाभेदवादका लक्ष्य है। एक अभिन्न तत्त्वमें ही ये तीनों पक्ष हैं, इसलिये यही विशिष्टाद्वैतवादका सिद्धान्त है। वह स्वयं ही यह तीन है, इसलिये यही शुद्धाद्वैतवादका ब्रह्म है। अनुभव होनेपर भी इस भेदाभेदका ठीक-ठीक निरूपण नहीं [illegible] भी वादकी इयत्ता नहीं हो सकती। इस परमार्थ-तत्त्वका कैसे वर्णन किया जाय। यह तो अवाच्य पद है। किन्तु जिसका वर्णन किया जाता है, वह भी तो इसीकी झलक है और जिन मन-बुद्धियोंसे हम अनुभव करने चले हैं, वे भी इसीके चमत्कार हैं; अतः रूप कोई भी हो, उनमें अनुभव तो इसीका होता है—सब रूपोंमें यही तो खेल रहा है। अतः जो सच्चे तत्त्वदर्शी होते हैं, वे सर्वत्र तत्त्वका ही साक्षात्कार करते हैं। उनकी दृष्टिमें अन्तर है ही नहीं। यह जो कुछ दिखायी देता है, यह क्या जड है? नहीं-नहीं, यह सभी दिव्य है—अजी स्वयं श्यामसुन्दर ही है। गङ्गा-यमुना क्या जड जलमात्र हैं? हरे! हरे! ये तो साक्षात् ब्रह्मद्रव और भक्तिरस हैं। प्रयागराज क्या साधारण नगर है? नहीं-नहीं, वे स्वयं तीर्थराज हैं। बड़े-बड़े देवता और मुनिजन भी इनके पावन रजका सेवन करके अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। जडबुद्धि तो जड जीवोंकी होती है। जो सच्चे विवेकी और तत्त्वदर्शी होते हैं, वे तो सबको 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ही देखते हैं। अतः जहाँ भी दृष्टि पड़े, अपने इष्टकी ही झाँकी करो।

महात्माजीकी बात सुनते-सुनते मुकुन्दकी समाधि-सी लग गयी। उसकी सारी शङ्काएँ दूर हो गयीं और चित्त निस्पन्द होकर एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करने लगा। धीरे-धीरे उसकी वृत्तिका उत्थान हुआ।

उसका मुख प्रसन्नतासे खिल गया और नेत्रोंमें आनन्दाश्रु छलक आये। अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझकर उसने स्वामीजीके चरण पकड़ लिये और गद्गद कण्ठसे कहा, 'गुरुदेव! आज मैं निहाल हो गया। मैं तो कुछ दार्शनिक पुस्तकें देखकर ही अपनेको आत्मज्ञानी मान बैठा था। परन्तु अब मालूम हुआ कि बिना महापुरुषों-की कृपाके कुछ भी हाथ नहीं लगता। मैंने दस वर्षतक पुस्तकें पढ़कर जो कुछ सीखा था, आज आपके कुछ क्षणोंके सत्सङ्गसे ही उससे अनन्तगुना पा लिया। उससे तो मुझे व्यर्थ अभिमान ही हाथ लगा था। आज आपने मुझे अमरपदपर बैठा दिया। अब मेरे हृदयके सारे विरोध निकल गये और मुझे निश्चय हो गया कि महापुरुषोंने जो कुछ कहा है, वह सभी ठीक है। उनकी बतायी हुई हेयोपादेय-दृष्टि भी एक विशेष निष्ठा या साधनकी पुष्टिके लिये ही है। उनके शब्दोंको पढ़कर ही कोई उनके हृदयको नहीं समझ सकता, वह तो गुरुकृपासे ही समझमें आता है।

महात्माजी—ठीक है, वत्स! अब तुम्हारी दृष्टि शुद्ध हो गयी है। यह दृष्टि बड़े भाग्यसे ही प्राप्त होती है। अधिकांश साधक तो मताग्रहमें पड़कर ही अपनी गतिको कुण्ठित कर देते हैं। जाओ, अब सूर्यास्त होनेवाला है। इस विचारपर खूब मनन करना और यथासम्भव सत्पुरुषोंका सङ्ग करते रहना।

इसके बाद तीनों नवयुवक स्वामीजीके चरणोंमें सिर रखकर वहाँसे विदा हुए।

(३)

पौष शुक्ला एकादशीका दिन है। इस पुण्यपर्वपर स्नान करनेके लिये आये हुए अनेकों नर-नारियोंकी भीड़ यमुनातटपर दिखायी देती है। इन्हींमें एक पक्के घाटकी बुर्जीपर बैठे हुए माधव, मोहन और मुकुन्द ... रहे हैं। आज मुकुन्द विशेष गम्भीर है ... भी कुछ ... वका हाथ पकड़कर कहा—

'भैया! यह तुम्हारी ही कृपाका फल है ... मेरे हृदयसे एक भीषण चोर निकाल दिया।'

माधव—कैसा चोर, भैया!

मुकुन्द—दार्शनिकताका अभिमान। अ... तो मेरी सारी विवेक-बुद्धि हरनी चाही थी। ... ले गये मुझे मेरे गुरुदेवके पास। मुझे तो ... था कि मेरा धन इस प्रकार लुट रहा है। ... देखते ही चोरको ताड़ लिया और ऐसा ... कि बेचारेको भगते ही बना। अच्छा तो, प्रयागराजके चरणोंमें कुछ श्रद्धाके फूल चढ़ाना ... हूँ। इस पुण्यपर्वपर सितासित नीरमें इस अ... धोकर पवित्र कर लूँ। बताओ, कब चलोगे।

माधव—अधम नहीं, अब तो यह भी ... गया। पारसका सङ्ग मिले और लोहा ... जाय, यह कैसे हो सकता है।

मुकुन्द—जाने दो इन बातोंको, अब ... तारीख निश्चय करो।

माधव—पहली जनवरीतक तो कालेजकी छुट्टी ... इसलिये दूसरीको हाजिरी देकर उसी दिन ... गाड़ीसे चलना ठीक होगा। यों तो दूसरीको पूर्णिमा ... इसलिये उस दिन त्रिवेणी-स्नान करना ही अच्छा ... किन्तु ऐसा करनेसे क्रिसमसकी छुट्टियाँ भी अनुपस्थिति... ही गिन ली जायँगी, इसलिये एक दिन कालेज ... करके ही चलना चाहिये।

मुकुन्द—ठीक है, फिर लौटोगे कब?

माधव—१३ जनवरीको एकादशी है और ... को मकरसंक्रान्ति। कम-से-कम इन दो पर्वोंको ... वहाँ रहना ही चाहिये। अधिक रहना भी ठीक न... है, क्योंकि पढ़ाईका भी विचार र... १५ को वहाँसे चल देंगे ...

मुकुन्द—अच्छा तो, पन्द्रह दिनकी छुट्टी ले लेनी चाहिये।

माधव—हाँ ! (मोहनकी ओर देखकर) कहो, [तु]म्हारा क्या विचार है ?

मोहन—मुकुन्दजीको तो प्रयागराजने यहीं अपना [प्र]साद भेज दिया। ये तो उसकी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये ही वहाँ जा रहे हैं। मुझे तो उनसे अभी बहुत कुछ लेना है। आप भी साथ रहेंगे तो कुछ सिफ़ारिश भी हो ही जायगी। इसलिये मैं कब इस अवसरको चूकनेवाला हूँ।

माधव—अच्छा, तो तुम भी चलो।

साधना और उसका उद्देश्य

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर)

सम्भव है, विद्वान् लोग शास्त्र और पुराणोंके वाक्य [उद्]धृत करके इस विषयपर विस्तृत लेख लिखें और योग, [यज्ञ], जप, तप, व्रत एवं तीर्थाटनादिको हृदयकी शुद्धिका [सा]धन बतानेका प्रयत्न करें। वास्तवमें इसमें कोई [स]न्देह भी नहीं कि ये सब पवित्र कार्य मानसिक [रो]गोंको निर्मूल करनेके उपचार हैं। पर आजकल समय [ऐ]सा है कि उनसे किसीको वास्तविक लाभ होनेकी [स]म्भावना बहुत ही कम है। बहुत लोग तो इन [सा]धनोंको करके अभिमानी और आडम्बरप्रिय बन जाते [है]ं। हमारे ऋषि-मुनि त्रिकालदर्शी, परोपकारी और [स]च्चा मार्ग दिखानेवाले थे; इसलिये उनके बताये हुए [सा]धन कण्टकाकीर्ण और भ्रान्तिमूलक नहीं हो सकते—[य]ह माननेके लिये हम तैयार हैं; पर आजकलकी दुर्बल आत्माओंने उन सरल और निर्दोष मार्गोंमें भी काँटे बिछा दिये हैं। कोई विरला ही उनसे सच्चा लाभ उठा पाता है।

आजकलके लोगोंमें अपने गुण दिखाकर लोकप्रिय बननेकी इच्छा बहुत ही बलवती है। इसीसे उपर्युक्त शुभ साधन बहुत जल्द अहम्मन्यतामें परिणत हो जाते हैं, और इस प्रकार अपने उद्देश्यकी पूर्ति न करके उल्टे बाधक बन जाते हैं। जो साधना मनके विकारोंको दूर न करे वह तो साधना नहीं, विडम्बना ही है। आजकलके अल्पायु, अल्पज्ञ और सत्सङ्गहीन जीवोंका सच्चा कल्याण करनेमें जो सफलता गोसाईं तुलसीदासजीको मिली है वह और किन्हीं महापुरुषको कदाचित् ही मिली होगी। उनका भी मत है—

> *नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।*
> *भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥*
> *मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए॥*
> *जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥*
> *बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे॥*

मन शरीरका राजा है। इन्द्रियाँ उसका अनुवर्तन करनेवाली हैं। मनके स्वभावके अनुसार ही इन्द्रियोंके सारे व्यापार हुआ करते हैं। वह तभी शुद्ध हो सकता है जब मन अपने दोषोंको देखे और उनको दूर करनेका प्रयत्न करे। परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि दिया-तले अँधेरेके समान किसीको भी अपने दोष दिखायी नहीं देते। शिक्षा तो हमें सर्वत्र मिल सकती है; पर उससे सच्चा लाभ तो तभी हो सकता है, जब हम क्षीर-नीरके पृथक्करणवाली नीतिका आश्रय लें। जब हमें गुण-दोषकी पहचान ही नहीं है तो ग्राह्य और त्याज्यका निर्णय कैसे हो ? इसलिये हमारे विचारसे तो एक ही ऐसी साधना है, जिसपर सारी साधनाएँ निर्भर हैं। वह है 'निश्चयात्मिका बुद्धिका सदुपयोग'। मनुष्यमात्रके अन्तःकरणमें एक ऐसी शक्ति है, जो सत् और असत्का ज्ञान कराती है। जीवका उत्थान इसीपर

अवलम्बित है। मन यदि अपने कार्यक्रमको इस दैवी संकेतके अनुसार बना ले तो थोड़े ही समयमें वह धुले हुए दर्पणके समान उज्ज्वल हो सकता है। सम्भव है, आरम्भमें इस साधनामें भी भूलें रहें; किन्तु उन्हें अनुतापकी अग्निद्वारा दूर किया जा सकता है। शर्त केवल यही है कि निश्चयात्मिका बुद्धिके आदेशकी कभी अवहेलना न होने पाये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मनकी चञ्चलता नष्ट हो जायगी, और वह हाथीके समान अंकुश खा-खाकर सीधे मार्गपर चलने लगेगा। इस निश्चयात्मिका बुद्धिके अस्तित्वको माननेके लिये तो संसारका प्रत्येक मनुष्य बाध्य है।

गोसाईं तुलसीदासजीने प्रेम और भक्तिके द्वारा मनके मलको दूर करनेका आदेश दिया है। इसका कारण यही है कि भक्ति अर्थात् भजन अन्य सब साधनोंकी अपेक्षा सुलभ है। परन्तु सत्सङ्गके बिना तो विश्वास नहीं हो सकता और विश्वासके बिना प्रेमका होना सम्भव नहीं है। जो भक्ति प्रेमके बिना की जाती है, वह तो पाखण्डमें परिणत हो जाती है। इस साधनाका मूल जो सत्सङ्ग है, वह बहुत दुर्लभ ... गोसाईंजीने तो इसके लिये अपने इष्टदेव ... भगवान् रामका आश्रय लिया है; सो ठीक ही है ... कृपासे क्या नहीं हो सकता। किन्तु वह कृपा ... favour अर्थात् अनन्य उदारता ही है। जैसे ... कहा है—

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग ...

किन्तु वह अति हरिकृपा या भगवान्की ... उदारता प्राप्त कैसे हो? उसके लिये भी तो ह... निर्मलताकी ही अपेक्षा है, यथा—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र ...

और यह हृदयकी निर्मलता ही कठिन काम है। इसके लिये हमारी समझसे तो निर्णयात्मिका ... अनुसरण ही एकमात्र निरापद साधन है।

इस प्रकार साधनाके विषयमें हमने अपना ... प्रकट कर दिया। आशा है, विद्वान्लोग क्षमा करेंगे।

पितृसेवा

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

रक्षणार्थक 'पा' धातुके आगे 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ०' इत्यादि औणादिक सूत्रसे 'तृच्' प्रत्यय लगाने तथा आकारको 'इत्व' का निपातन करनेसे 'पितृ' शब्दकी निष्पत्ति होती है। अनन्तर 'पितृ' शब्दसे प्रातिपदिक संज्ञा करनेपर 'सु' विभक्ति आती है, पश्चात् 'अनङ्' और 'दीर्घ' करनेपर 'पिता' रूप बनता है।

अब हम कतिपय शब्दोंमें 'पिता' शब्दका निर्वचन करते हैं। यथा—

(१) पाति धर्मान् बोधयति—शिक्षयति चाधर्मान्निवर्तयति पुत्रमिति पिता।

(२) पाति पाठयति विद्यां व्युत्पादयति लौकिक... पिता।

... पाति क्षमतेऽपत्यकृतानपराधानाकल्प्य सुखसाधनानीति पिता।

(४) पाति ददाति स्वोपार्जितधनधान्यादि... यः स पिता।

(५) पाति गृह्णाति ... मिति पिता।

(६) पाति गच्छति ... निति पिता।

(७) पाति प्रार्थयते भगवन्तं स्वापत्यस्य ... यः स पिता।

(८) पाति प्रयोजयति सत्कार्येषु यः स पि...

(९) पाति लभतेऽपत्यकृतां शुश्रूषामिति पि...

(१०) पाति पिबति सकलावगुणरसान् ... कारिणो लोकविद्विष्टान् स्वापत्यकृतान् यः स पि...

(११) पाति ...

(१...

जो धर्मकी शिक्षा देता हुआ अधर्मसे निवृत्त करे, विद्या पढ़ाये तथा लोकव्यवहारमें कुशल बनाये, जो साधनोंको उपस्थित करे तथा पुत्रकी गल्तीसे किये अपराधोंको क्षमा करे, जो अपनी पैदा की हुई सम्पत्ति पुत्रको दे, जो अपने पुत्रद्वारा दी हुई अञ्जलिको ग्रहण करे, जो उत्तम सन्तान उत्पन्न के लिये अपनी धर्मपत्नीसे समागम करे, जो अपनी सन्तानकी रक्षाके लिये भगवान्से प्रार्थना करे, जो श्रेष्ठ कार्योंमें प्रेरित करे, जो पुत्रद्वारा की गयी सेवाको स्वीकार करे, जो पतनके गर्तमें गिरानेवाले समस्त धर्मविरुद्ध अवगुणोंका पान कर अपने पुत्रसे अनुराग (प्रेम) करे, जो दोषोंसे तथा शत्रुओंसे बचाये, जो नौकर-चाकर आदिके द्वारा पुत्रकी रक्षाका प्रबन्ध करे, वे 'पिता' कहते हैं।' (यह संक्षिप्तार्थ है)

हमारे पुराणोंके आचार्य श्रीव्यासजीने ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें क्रमशः सात और पाँच प्रकारके 'पिता' का उल्लेख किया है—

कन्यादाताऽन्नदाता च ज्ञानदाताभयप्रदः।
जन्मदो मन्त्रदो ज्येष्ठभ्राता च पितरः स्मृताः॥*
(कृष्णजन्मखण्ड ३५। ५७)

अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च।
विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणाम्॥
(ब्रह्मखण्ड १०। १५३)

उशन.संहितामें सात प्रकारके पिता बतलाये गये हैं।

चाणक्यनीतिमें पाँच प्रकारके 'पिता' का उल्लेख मिलता है। यथा—

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥*
(५। २२)

उपर्युक्त पिताओंमें शास्त्रज्ञोंने जन्म देनेवाले पिताको ही सबसे श्रेष्ठ और पूज्य बतलाया है। धर्मशास्त्रादि सद्ग्रन्थोंका सिद्धान्त तो यह है कि—

'सर्वेषामपि पितॄणां जन्मदाता परो मतः।'

'दुर्लभो मानुषो देहः' के अनुसार मानव-देह अत्यन्त दुर्लभ है, उस अप्राप्य शरीरको प्रदान करनेका समस्त श्रेय केवल 'पिता' को ही है। पिताके ही कृपा-कटाक्षसे प्राणी मानव-शरीरद्वारा संसारमें अवतीर्ण होकर कल्याण-साधनके योग्य बनता है। अतः संसारमें पितासे बढ़कर पुत्रके लिये और कोई मान्य नहीं है। जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके गणपतिखण्डमें स्पष्ट कहा है—

मान्यः पूज्यश्च सर्वेभ्यः सर्वेषां जनको भवेत्।
अहो यस्य प्रसादेन सर्वान् पश्यति मानवः॥
जनको जन्मदानाच्च रक्षणाच्च पिता नृणाम्।
ततो विस्तारकरणात् कलया स प्रजापतिः॥
(४४। ५९-६०)

'जिस पिताके प्रसादसे मनुष्य इहलोक तथा परलोकके समस्त सुखोंका भाजन बन जाता है, वह सर्वथा सबका पूजनीय होता है। जन्म देनेसे पिताकी 'जनक' संज्ञा, रक्षा करनेसे 'पिता' संज्ञा तथा सृष्टिका विस्तार करनेके कारण एक अंशसे 'प्रजापति' संज्ञा होती है।'

पाठकवृन्द ! इस संसारमें बन्धु-बान्धव, मित्र आदि जितने भी लोग हैं वे अपनेसे अधिक अन्य किसी मनुष्यको उन्नतिशाली देखना-सुनना नहीं चाहते, किन्तु इस स्वाभाविक इच्छाका अभाव सिर्फ एक 'पिता' कहलानेवाले व्यक्तिविशेषमें ही पाया जाता है, जो

* कन्या देनेवाला (श्वशुर), भरण-पोषण करनेवाला, ज्ञान देनेवाला, आपत्तिसे उबारनेवाला, जन्म देनेवाला, मन्त्र देनेवाला और बड़ा भाई—ये सात प्रकारके पिता शास्त्रोंमें कहे गये हैं।

* जन्मदाता, गायत्रीका उपदेश देनेवाला, विद्या पढ़ानेवाला, भरण-पोषण करनेवाला और विपत्तिसे रक्षा करनेवाला—ये पाँच प्रकारके पिता शास्त्रोंमें कहे गये हैं।

सर्वदा अपने पुत्रको अपनेसे सर्वतोभावेन उन्नत देखना चाहता है। इसीलिये 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' कहा गया है। प्रत्येक पिता अपनी-अपनी सन्तानके लिये अनेक प्रकारके कष्ट सहन करता है, पद-पदपर लोगोंकी जी-हुजूरी करता है, अर्थात् अपने पुत्रको सुयोग्य बनानेके लिये यथाशक्ति मानव-साध्य कोई बात उठा नहीं रखता। अधिक क्या, वह अपने पुत्रके सुख-दुःखमें ही अपना सुख-दुःख समझता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि पुत्रके लिये अहैतुक कल्याण चाहनेवाला पितासे बढ़कर और कोई नहीं है। अतः पुत्र अपने पितासे जन्म-जन्मान्तरमें भी कदापि उऋण नहीं हो सकता, अर्थात् पुत्रद्वारा पिताके उपकारोंका बदला कभी नहीं चुकाया जा सकता। यदि कुछ हो सकता है तो इतना ही कि वह अपने पिताकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जीवनपर्यन्त सेवा-शुश्रूषा करता रहे। पितृसेवाका महत्त्व पद्मपुराणके भूमिखण्ड (६३ । १३) में इस प्रकार लिखा है—

मखानामेव सर्वेषां यत् फलं प्राप्यते बुधैः।
तत् फलं प्राप्यते पुत्रैः पितुः शुश्रूषणादपि॥*

और भी—

देवास्तस्यापि तुष्यन्ति ऋषयः पुण्यवत्सलाः।
त्रयो लोकाश्च तुष्यन्ति पितुः शुश्रूषणादिह॥†
(पद्मपु० भूमिख० ६२ । ७३)

पुत्रके लिये पिता सर्वस्व है। अर्थात् वही धर्म, कर्म, स्वर्ग, तीर्थ, जप, तप, पूजा-पाठ आदि है; उससे बढ़कर और कोई देवता नहीं है। लिखा भी है—

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

और भी—

नास्ति तातसमो देवो नास्ति तातसमो गुरुः।
नास्ति तातसमो बन्धुर्नास्ति तातसमः क्वचित्॥

* विज्ञलोगोंको सब प्रकारके यज्ञोंका जो भी फल प्राप्त होता है, वही फल पुत्रोंको पिताकी सेवासे मिल जाता है।

† पिताकी सेवासे देवता, ऋषि तथा तीनों लोकोंकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें—

नास्ति पितृसमो गुरुः। (उशनःसंहिता ११
न च मित्रं पितुः परम्। (ब्र० वै० ब्रह्मखण्ड ११
मातापित्रोः परं तीर्थम्। (व्याससंहिता ४
पिता देवो जनार्दनः। (चाणक्यनीति १०
पितृदेवो भव। (तैत्ति० श्रुति ७ । ११ । १

जिस पिताने जन्म प्रदान कर हमें मनुष्य जिसने सत्-शिक्षा देकर लोकव्यवहारमें कुशल जिसने तन-मन-धनसे लालन-पालन किया, सुयोग्य बनानेके लिये यथाशक्ति कोई कर्तव्य नहीं आज हम उसकी अहैतुकी कृपाके बलसे सुयोग्य जानेपर उसके उपकारोंको भूल बैठे, उससे विमुख लग गये, उससे बोलने-चालनेतकका नाता तोड़ इससे बढ़कर हमारे लिये दुःख और शोककी क्या होगी।

जिस समय इस पवित्र भारत-भूमिमें पितृभक्त विराजमान थे, उस समय यह देश सब प्रकारके वैभवसे समृद्ध था और समस्त प्राणी सुख-जीवन-यापन करते थे। अब भी पितृभक्ति एवं पितृ-के प्रभावसे भावी सन्तान सदाचारी और पितृभक्त सकती है। पितृभक्त बालकोंसे देशका सदा होता रहा है और होता रहेगा।

प्राचीन इतिहासोंको देखिये—भगवान् पितामह भीष्म और वीरवर परशुराम-जैसे अनेक भक्त पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं, जिनकी अटल कीर्ति भी अजर-अमर है। इसी प्रकार अनेक राजा-महाराजाओंकी पितृभक्ति प्रसिद्ध है, जिनसे भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

आज भी ऐसे अनेक पितृभक्त विद्यमान हैं, पितृसेवाद्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक उन्नति प्राप्त कर रहे हैं। अतएव हमें भी अपने परम आराध्य पितृदेवकी सेवाद्वारा अपने सर्वविध कल्याणका साधन सुगम करना चाहिये।

योग और उसकी व्यापकता

(लेखिका—श्रीमती पिस्तादेवीजी 'विदुषी', साहित्यरत्न, आयुर्वेदाचार्य)

इसके पहले कि इस विषयपर कुछ लिखूँ, मैं यह ला देना चाहती हूँ कि जबसे मैंने होश सँभाला है, सामाजिक कारणोंसे मेरा जीवन बेसिलसिले या नेयमित रहा है। इसलिये मेरा लेख, या जो कुछ भी करती हूँ, बेसिलसिले ही होता है। पर उसीमें मे एक विशेष प्रकारके अपनेपनका अनुभव होता है। जसे ६ वर्ष पहले ईश्वर और पुनर्जन्ममें अविश्वास सन्देह हो जानेके कारण अपनी शंकाओंका माधान करानेके लिये जिन योगाश्रमोंका मुझे परिचय ला, उनकी मैं सदस्या बनी और उन लोगोंका सत्सङ्ग प्राप्त किया, जो उन प्रश्नोंको नियमानुसार शास्त्रोंके माणोंद्वारा हल करना चाहते थे। मैंने प्रत्यक्षके छ उदाहरणसहित प्रमाण चाहे। पर सब ओरसे मुझे निराशा ही मिली; कारण, सब लोग मेरी ही तरह बेसिलसिले तो थे ही नहीं। फिर, एक लंबे समयतक नास्तिक रहनेके बाद मेरे बेसिलसिले मनने मुझे सहायता दी, और अब मैं नास्तिक नहीं हूँ—पर जीवनकी अव्यवस्थितताके कारण आज भी मेरा सब कुछ बेसिलसिले ही है।

रचनाका मूल कारण ही प्रकृति और पुरुषका योग है। जब कारण ही दोका योग है तो उसके कार्यमें द्वन्द्व और त्रिपुटी तो क्या, छःपुटी, दसपुटी और इससे भी अधिक हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँपर अद्वैतवादियोंको आपत्ति हो सकती है; पर मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि किसी नियमविशेषको न मानकर जो कुछ मुझे सत्य दिखायी पड़ता है, उसीके अनुसार मैं सोचती हूँ और जो सोचती हूँ, वही लिखती भी हूँ।

जब हम अपने शरीरकी ओर ध्यान देते हैं तो इसमें भी हमें जड और चेतनका योग ही दिखायी देता है। चेतनके निकल जानेपर यह शरीर ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी हिल-डुल नहीं सकता। मनुष्यके शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, इनमेंसे किसीका काम बिना योगके नहीं चल सकता। आँख और मनके योगसे सब रूप हमें [illegible] होते हैं। [illegible] है, आँख नहीं [illegible] नहीं [illegible]

उसमें विशेष प्रवेश हो जाता है, उसका तो कहना ही क्या; क्योंकि जितनी भी दृश्य वस्तुएँ हैं, वे सब चेतनके ही योगसे अपना अस्तित्व रखती हैं। इसलिये योगी बात-की-बातमें उन्हें जैसा चाहे वैसा बदल सकता है। यह बात उसके लिये हँसी-खेल-सी हो जाती है। प्राचीन समयके ऋषि-मुनि इसी शक्तिसे सम्पन्न थे; इसलिये वे जो कह देते थे, वही हो जाता था। उनके कहे वचन कभी व्यर्थ नहीं होते थे। शृङ्गी ऋषिने राजा परीक्षित्को, दुर्वासाने शकुन्तलाको, नारदने महादेवजीके गणोंको जो शाप दिये वे पूरे होकर ही रहे। इसी प्रकार उन लोगोंके दिये हुए वर भी पूरे होते ही थे। शास्त्र इन प्रमाणोंसे भरे पड़े हैं। पर अब भी इन बातोंका अभाव नहीं है। अब भी लोग योगमें थोड़ी-बहुत सिद्धि प्राप्त कर ही लेते हैं; यद्यपि वे प्राय: उसका दुरुपयोग कर, उसके द्वारा जीविका-पालन या प्रसिद्धि पानेका ही उद्योग करते हैं, और तरह-तरहके आश्चर्यमय कार्य करके लोगोंको चकित कर देनेकी फिराकमें रहते हैं। 'योग' शब्द इतना व्यापक है कि व्यावहारिक या आध्यात्मिक—कोई भी जगत् इसके विना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। सदासे ही प्राणिमात्रकी इच्छा अधिक-से-अधिक शक्ति सम्पादन करनेकी रही है। उसे सफल करनेके लिये पहले आन्तरिक शक्तिका योग होना परम आवश्यक है। कविगण इसी आन्तरिक शक्तिकी सहायतासे काव्यमें वे चमत्कार पैदा कर देते हैं, जिन्हें बड़े-बड़े विद्वान् अनेकानेक युक्तियोंद्वारा भी सुलझानेमें समर्थ नहीं हो पाते।

उदाहरणके लिये जिस समय राजा मानसिंहने लंकापर चढ़ाई करनेका विचार किया था और अपनी सेनाको उस ओर बढ़नेकी आज्ञा दे दी थी, उस समय उनके प्रधान मन्त्री तथा बड़े-बड़े विद्वानोंके सम्मुख यह विकट समस्या उपस्थित हो गयी कि राजाकी उस हठधर्मीका निवारण कैसे किया जाय; क्योंकि लंकातक तो पहुँचते-पहुँचते ही सारी सैन्यशक्ति नष्टप्राय हो जाती। अत: विजय तो दूर रही, जीवित लौट आनेमें भी लेनेके देने पड़ जाते। ऐसी परिस्थितिमें कवि-प्रतिभाका ही ऐसा चमत्कार था, जिसने दो शब्दोंमें ही राजाके विचार बदल दिये। उस प्रसिद्ध दोहेको पाठकोंके सम्मुख उपस्थित करना अनुपयुक्त न होगा। वह था—

रघुपति कीन्हौं दान, विप्र विभीषन जानि कै।
मान महीपति मान, दियौ दान किमि लीजिये॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि ध्यानयोगकी सहायतासे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार रावणको जब युद्धमें सफलता न मिल सकी तो वह इसी योगके लिये एकान्तमें गया। तब विभीषणने भगवान् रामसे यही कहा कि रावणका यह यज्ञ यदि निर्विघ्न समाप्त हो गया तो वह अजेय हो जायगा। तब श्रीरामचन्द्रजीने भी तुरंत ही यज्ञमें विघ्न डालनेका प्रबन्ध किया।

नैपोलियन बोनापार्ट जब कभी कठिनाइयोंमें पड़ जाता था तो किसी पहाड़पर जाकर आन्तरिक शक्तियोंके योगसे ही उन कठिन समस्याओंको हल करता था। कहनेका उद्देश्य यह है कि इस संसारकी रचनाके अनुसार विना योग कुछ भी नहीं हो सकता, चाहे वह कार्य बाह्य प्रकृतिका हो चाहे आन्तरिकका। जो व्यक्ति प्रभाव या प्रसिद्धि लाभ करनेको उत्सुक हैं, उन्हें पहले अपनी आन्तरिक शक्ति बढ़ानी चाहिये।

घट-घटमें उन प्रकाशमय भगवान्का प्रतिबिम्ब ही विराजमान है, जिसे हमने मैले-कुचैले, मिथ्या व्यवहारों और व्यभिचारोंद्वारा पापकी गर्दसे ढक दिया है। इसी कारण वह हमें उस गर्द-गुब्बारके पर्देकी तहसे दिखायी नहीं देता। जिस समय हम यम-नियमोंद्वारा इन आवरणोंको हटा देंगे, हमें उस प्रकाशस्वरूप आत्मा या परमात्माके रूपका ज्ञान हो जायगा, हमारी आन्तरिक शक्ति बढ़ जायगी या यों कहिये कि आन्तरिक योग हो जायगा और संसारका कोई भी कार्य असम्भव न रहेगा।

सती सुकला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[गताङ्कसे आगे]

[६]

विष्णु बोले—सुकलाके सत्यानाशके लिये इन्द्रके साथ कामदेवके प्रस्थान करनेपर सत्यने धर्मसे कहा—हे महाप्राज्ञ धर्म ! कामदेवका कार्य देखो। मैंने तुम्हारे, अपने तथा महात्मा पुण्यके लिये सती सुप्रिया और सुदेवा नामक उत्तम गृहकी सृष्टि की है। प्रमत्तबुद्धि काम जाकर उसका नाश करेगा। यह दुष्टात्मा काम हमलोगोंका शत्रु है, इसमें सन्देह नहीं। हे धर्म ! तपोधन विप्र, सुमति पतिव्रता और नीतिमान् राजा—ये तीन मेरे घर हैं। जहाँ मेरी वृद्धि और पुष्टि होती है, वहाँ तुम्हारा भी वास होता है। श्रद्धासहित पुण्य भी वहाँ जाकर क्रीड़ा करते हैं। शान्तिके साथ क्षमा भी मेरे घर निवास करती है। जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ दान, दया, प्रज्ञा, लोभहीनता, सौहार्द आदि वर्तमान रहते हैं। वहीं पवित्र स्वभाव रहता है। ये सब मेरे बहन-भाई हैं। हे धर्मराज ! सुनो। अस्तेय, अहिंसा, तितिक्षा और अभ्युदय मेरे घरपर ही धन्य होते हैं। गुरुसेवा, लक्ष्मी-सहित विष्णु, अग्नि आदि देवता और मोक्षके मार्गको प्रकाशित करनेवाला उज्ज्वल ज्ञान मेरे घर आते हैं। सतियाँ और धर्मपरायण साधुजन मेरे गृहस्वरूप हैं; उपर्युक्त कुटुम्बियों और तुम्हारे साथ मैं इन घरोंमें वास करता हूँ। पार्वतीयुक्त शिव भी मेरे निवासस्थान हैं। मेरा यह शंकर नामक घर भी एक बार कामदेवके द्वारा नष्ट किया गया था। महात्मा विश्वामित्र कठोर तप करते थे, उनको भी मेनकाकी सहायता लेकर काम पहले जीत चुका है। गौतम मुनिकी पत्नी अहल्या सती और पतिव्रता थी, दुरात्मा कामने उन्हें भी सत्यसे विचलित किया था। जगत्में कितने ही महात्मालोग और पतिव्रता नारियाँ कामके कारण अपने मार्गसे भ्रष्ट हुई हैं। ए काम मेरे पीछे पड़ा है। अब मैं कहाँ रहूँगा ? यह यहाँ जानकर ही धनुष-बाण लेकर आया है। इ पापात्मा अपने बाणानलसे मेरा घर नष्ट करेगा। इ पाखण्डी और दूसरोंका अहित करनेवाले तथा अज्ञ इत्यादि सेनापति सब कामके सहायक हैं। पापी का अपने दुरात्मा सेनापतियोंकी सहायतासे मेरा घर नि रहा है। वह मुझे भी भगा देगा। उसके तेजसे दग होकर मैं नष्ट हो जाऊँगा। मैं स्त्रीजातिके पातिव्रत्य नये घरमें रहना चाहता था। पुण्यात्मा कृकलकी प्रि पत्नी सुकला ही मेरा यह घर है। पापिष्ठ मेरा यह घ भी नष्ट करनेपर उतारू है। बलवान् इन्द्र इस का उसकी सहायता कर रहे हैं। वह कामदेवद्वारा कि पुराने कार्योंको भूल रहे हैं—इसके फेरमें पड़कर पहले कैसे कष्ट उठा चुके हैं ! सतीके साथ व्यभि करनेका परिणाम क्या होता है—इसे अहल्या-प्रकरण वह देख चुके हैं, फिर भी आज पुण्यचारिणी सुक का नाश करनेको उद्यत हुए हैं। हे धर्मराज ! ऐ करो कि यह कामदेव इन्द्रके साथ न आये।

धर्मराजने कहा—'मैं कामका तेज नष्ट करने यहाँतक कि उसकी मृत्युका भी, प्रबन्ध करूँगा। जो उपाय सोचा है, उसे सुन लो। प्रज्ञा शकुनका ए धारण कर आकाशमार्गसे जाकर सुकलाको पति शुभागमनका संवाद सुनायें। पतिके आगमनकी ब जानकर स्वस्थचित्तवाली सुकला अवश्य दुष्टोंकी चेष्ट नष्ट न होगी।' यह कहकर उन्होंने प्रज्ञाको भेजा प्रज्ञा सुकलाके घरके ऊपर भविष्य जाननेवालेकी त महाशब्द करती हुई दिखायी पड़ी। तत्काल सुकला धूपदान आदिके द्वारा उसकी पूजा और सम्मान किया

र सुकलाने योग्य ब्राह्मणको बुलाकर पूछा—'यह कुन (पक्षी) क्या कहता है ? ब्राह्मणने कहा—शुभे ! यह तुम्हारे पतिके शुभागमनका संवाद सुना रहा है । तुम स्थिर हो, सात दिनके भीतर तुम्हारे पति आयेंगे ।' यह मंगलमय वाक्य सुनकर सुकला बड़ी प्रसन्न हुई ।

अब उधर कामदेव और इन्द्रने जो किया, वह सुनिये । मायानिर्मित नन्दनवनके प्रस्तुत हो जानेके पश्चात् कामने क्रीड़ाको मूर्तिमती करके और परम सुन्दरी बनाकर सुकलाके घर भेजा । सुकला इस षड्यन्त्रको क्या जानती थी । उसने क्रीड़ाका स्वागत, आदर-सम्मान किया । क्रीड़ाने सुकलाकी विश्वासपात्री बननेके उद्देश्यसे कहा—'देवि ! मेरे पति गुणवान्, बलवान्, विद्वान्, चतुर, अत्यन्त पुण्यात्मा और पुण्यकीर्ति हैं । पर मैं मन्दभागिनी हूँ; वह मुझे छोड़कर चले गये हैं ।' सुकलाने उसकी बातोंपर विश्वास करके उसे अपने समान ही दुःखिता और सती समझा, और सहानुभूतिसे उसका हृदय भर गया । सुकलाने पूछा—'हे सुन्दरि ! तुम्हारे नाथ तुम्हें छोड़कर किसलिये चले गये ? तुम सब बातें मुझे बताओ । तुम मेरे समान ही दुखी हो; तुम मेरी सखी हो ।'

क्रीड़ाने कहा—'सुनो बहन ! मैं अपने पतिके चरित्रका वर्णन ठीक-ठीक करती हूँ । जिनकी मैं प्रिया हूँ, उनका मैं सदा अनुगमन करती थी । वह जो इच्छा करते, उसकी पूर्ति करके मैं उन्हें सन्तुष्ट करती थी । उनकी आज्ञाका पालन करनेमें सदा तत्पर रहती थी । किन्तु इस समय मेरा ऐसा दुर्भाग्य उपस्थित हुआ है कि पति मुझ मन्दभागिनीको छोड़कर चले गये हैं । हे सखि ! अब मैं जीवन धारण न करूँगी । पतिविहीना स्त्रियाँ किस प्रकार जीवन धारण कर सकती हैं ! पति ही नारीके रूप, शृंगार, सौभाग्य, सुख और सम्पत्ति हैं; यही शास्त्रोंका कथन है ।' क्रीड़ाकी इन बातोंसे सुकलाको उसपर पूर्ण विश्वास हो गया । उसने उसकी सब बातोंको सच समझ लिया । तब सुकलाने हृदय खोलकर अपनी सारी बातें संक्षेपमें उसे बतायीं । क्रीड़ाने आश्वासन देते हुए कहा—'हे मनस्विनी ! सत्यसे परिपूर्ण आत्मदुःख भी तपस्या ही है । तुम तो तपस्विनी हो, तपस्या कर रही हो ।'

इस तरह दोनोंको एक साथ घुल-मिलकर रहते जब कई दिन बीत गये और क्रीड़ाने समझ लिया कि सुकला उसपर पूर्ण विश्वास करती है, तब एक दिन उसने सुकलासे कहा—'सखि ! यहाँ निकट ही एक सुन्दर और मनोरम वन है । उसमें नाना प्रकारकी लताएँ और वृक्ष हैं । सुन्दर, सुगन्धित फूलोंकी बहार देखने लायक है । वहाँ परम पवित्र पापनाशन तीर्थ है । चलो, हमलोग भी उस वनमें पुण्य-सञ्चय करने चलें ।'

सुकला राजी हो गयी । दोनोंने उस दिव्य वनमें जाकर देखा—चारों ओर फूल खिले हैं, कोकिल बोल रहे हैं, भौंरे गूँज रहे हैं, मीठी बोलीवाले पक्षी नाचते और फुदकते हैं—सर्वत्र अनुपम सौन्दर्य है । यह वही मायानिर्मित वन था, जो सुकलाको मोहित करनेके लिये रचा गया था । जब सुकला क्रीड़ाके साथ वहाँ घूम रही थी, तभी इन्द्र उस दूतीके साथ दिव्य रूप धारण कर वहाँ उपस्थित हुए । काम भी आ गया । इन्द्रने वासनाविह्वल होकर कामदेवसे कहा—'यह देखो, सुकला आ रही है । तुम उसपर अपना बाण चलाओ । क्रीड़ा माया रचकर बड़े कौशलसे इसे यहाँ लायी है । अब तुम्हारी परीक्षाका अवसर आया है । तुममें पौरुष हो तो उसे दिखाओ ।' कामदेवने कहा—'आप लीला करते हुए अपना मनोहर रूप इसे दिखाइये, तब उसकी सहायतासे मैं इसपर प्रहार करूँगा ।' इन्द्रने कहा—'मूढ़ ! जिसके द्वारा तुम लोगोंको पराजित करते हो, तुम्हारा वह पौरुष आज कहाँ है ? तुम मेरा अवलम्ब लेकर इस समय युद्ध करना चाहते हो ?'

यह काम करनेके लिये [illegible] है। अब मैं [illegible] करनेके लिये उद्यत हूँ, इसके लिये आपको लज्जा नहीं आती! आप कौन हैं, जो मृत्युसे भी निर्भय होकर यहाँ आये हुए हैं?'

इन्द्रने कहा—'मैं तो केवल तुमको इस रूपमें देखता हूँ, किन्तु तुम और लोगों तथा और पुरुषोंकी बातें करती हो। मैं उन्हें कैसे देख सकता हूँ? तुम मुझे दिखाओ।'

सुकलाने कहा—'जिन्होंने धृति, मति, गति और बुद्धि आदिके सहित सबको अपने आत्मीय जनोंके अधिपतिरूपमें प्रतिष्ठित किया है, जिनके सब धर्म अविचल हैं, जो स्थिरचित्त, आत्मनिष्ठ और महात्मा हैं, उन्हीं शम-दमादिसे युक्त मेरे धर्मात्मा पतिने सर्वदा मेरी रक्षा की है। धर्म इन्द्रियदमन और पवित्रताके रूपमें मेरी रक्षा कर रहा है। यह देखो, शान्ति और क्षमाके साथ सत्य सर्वदा मेरे समीप उपस्थित है। महाबल बोध [illegible]रा कभी त्याग नहीं करते। अपने गुणोंसे उत्पन्न दृढ़ [illegible]न्धनमें मैं सर्वदा बँधी हूँ। सत्य इत्यादि समस्त धर्मोंकी [illegible]क्षा मैंने की है। वे सर्वदा मेरी रक्षा करते हैं। धर्म-[illegible]भ, दम, बुद्धि, पराक्रम—सब मेरी रक्षा करते हैं। तुम क्या मेरे साथ बलात्कार करना चाहते हो? तुम कौन हो, जो निर्भय होकर दूतीके साथ आये हो? मेरे पतिके सत्य, धर्म, पुण्य और ज्ञान आदि प्रबल सहायक ही घरमें मेरी रक्षा करते हैं। इन्द्र भी मुझे जीतनेमें समर्थ नहीं है। यदि साक्षात् कामदेव भी आ जायँ तो सदा सत्यधर्मसे सुसज्जित मेरे शरीरपर उनके बाण व्यर्थ हो जायँगे। धर्मादि महाभट तुम्हारा ही विनाश करेंगे। इसलिये दूर रहो, भागो; यहाँ न रहो। यदि मेरे मना करनेपर भी तुम यहाँ रहोगे तो जलकर राख हो जाओगे। तुम परपुरुष होकर मेरा रूप निरीक्षण करते हो! जिस तरह आग काठको जला देती है, उसी तरह मैं तुम्हें जला दूँगी।'

सुकलाकी ये बातें सुनकर इन्द्रने मन्मथ-कामदेवसे कहा—[illegible] तुम बड़ा-बड़ा बातें करते थे। अब इसके साथ अपने [illegible] युद्ध करो।'

पर कामदेवकी भी हिम्मत न पड़ी। इन्द्र, काम और सब मारके मारे अपना-सा मुँह लेकर लौट गये। उन सबके चले जानेपर पतिव्रता, कुलशील सुकला पतिका ध्यान करती हुई अपने घर चली आयी।

विष्णु बोले—इधर सुकलाने अपनी धर्मनिष्ठासे इन्द्र और कामपर विजय प्राप्त की, उधर उसके पति कृकलने तीर्थाटनका सम्पूर्ण कार्यक्रम सकुशल समाप्त करके, अपने मित्रोंके साथ, घरके लिये प्रस्थान किया। वह मन-ही-मन विचार करने लगे कि मैंने अपने तीर्थाटन इत्यादि पुण्यकार्योंसे अपना जन्म सफल किया और पितरोंको भी सन्तोष दिया। वह अपनी कल्पनामें डूबे हुए थे कि इसी बीच उन्होंने देखा, एक दिव्य रूपधारी विशाल पुरुष प्रकट होकर उनके पितामहोंको बाँधे हुए कह रहे हैं—'कृकल, तुम्हारा पुण्य उत्तम नहीं। तुम्हें तीर्थफल नहीं मिला है। तुमने व्यर्थ इतना श्रम किया।'

वैश्य कृकल यह दृश्य देखकर और ये बातें सुनकर चकराये। उनको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पूछा—'आप क्यों ऐसा कह रहे हैं? आप कौन हैं और क्यों, किस दोषके कारण आपने मेरे पितामहोंको बाँध रक्खा है? मुझे तीर्थफल क्यों प्राप्त न होगा और क्यों मेरी यात्रा निष्फल हुई? कृपापूर्वक विस्तारसे, समझाकर सब बातें मुझसे कहिये।'

धर्मने कहा—'हे कृकल! सुनना चाहते हो तो सुनो! जो व्यक्ति पवित्र पत्नीको छोड़कर चला जाता है, उसके सब पुण्यफल व्यर्थ हो जाते हैं। जो पत्नी धर्माचार-परायणा, पुण्यशीला और पतिव्रता है उसे छोड़कर जो व्यक्ति धर्मकार्य करनेके लिये चला जाता है, उसका किया हुआ सब धर्म व्यर्थ हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं। जो नारी सदाचारिणी है, धर्ममें तत्पर है, सर्वदा

काम बोला—'देवादिदेव महादेवने पहले ही मेरा रूप हरण कर लिया है। मेरा कोई रूप नहीं है। जब मैं किसी स्त्रीको घायल करना चाहता हूँ तो पुरुष-देहका आश्रय लेकर अपनेको प्रकट करता हूँ। और जब पुरुषको आहत करनेकी इच्छा होती है, तब नारी-देहका आश्रय लेता हूँ। पुरुष जिस रूपवती नारीको देखता है, उसीकी चिन्ता करता है। जब पुरुष बार-बार नारी-रूपका चिन्तन करता है, तब मैं अदृश्यभावसे उसे पागल बना देता हूँ। हे इन्द्र! स्मरणरूप होनेके कारण ही मेरा नाम 'स्मर' पड़ गया है। मैं नारीरूपका आश्रय लेकर धीर पुरुषको भी मोहित करता हूँ और पुरुषका आश्रय लेकर सती नारीको भी विचलित करता हूँ। हे इन्द्र! मैं रूपहीन हूँ, इसीसे रूपका आश्रय लिया करता हूँ। इस समय आपके रूपका आश्रय लेकर मैं उस नारीको आपकी अनुरागिणी बनाऊँगा।'

इतनी बात कहकर कामदेवने इन्द्रके रूपका आश्रय लिया और साध्वी सुकलाको आहत करनेके लिये उसकी देहको अपने बाणका लक्ष्य बनाकर बैठ गया।

विष्णुभगवान्ने कहा—क्रीडाके साथ सुन्दरी सती सुकलाने उस रम्य वनमें प्रवेश कर सब जगह घूम-घूमकर देखा। फिर अपनी सङ्गिनी सखीसे पूछा—'हे सखि! यह सुन्दर फल-फूलोंसे लदा वन किसका है? यह समस्त सुख-भोगोंसे सम्पन्न है।'

क्रीडाने उत्तर दिया—'यह जो दिव्य वन देख रही हो, यह मकरध्वजका वन है।'

सुकलाने दुरात्मा कामकी चेष्टा देखकर पुष्पोंका गन्ध नहीं लिया। कामका यह बाण निष्फल गया। उस सतीने सुरसोंका भी आस्वादन नहीं किया। कामका सखा सुरस भी उससे हार गया। वह लज्जित [illegible] पृथ्वीपर चू गया। सुकलाद्वारा हराये जानेपर रस पके हुए फलों और पुष्प-मंजरियोंसे [illegible] थोड़ा करके पृथ्वीपर गिरने लगा।

उस समय प्रीतिके साथ कामपत्नी रतिने सुक[illegible] समीप आकर मुसकराते हुए कहा—'भद्रे! तुम्[illegible] शुभागमन हो, मंगल हो; तुम प्रेमपूर्वक मन[illegible] इन्द्रके साथ रमण करो। अगर तुम्हारी राय हो तो उन्हें बुला लाऊँ।'

रति और प्रीतिको देखकर और उनकी बातें [illegible] कर सुकलाने कहा—'मेरे धर्मात्मा पति मेरा रति [illegible] त्रिदेश चले गये हैं। मेरे पति जहाँपर हैं, मैं [illegible] पतिके साथ वर्तमान हूँ। मेरा काम और प्रीति [illegible] पतिके निकट हैं। यह जो तुम देख रही हो, [illegible] छायामात्र है। मेरा यह कलेवर निराश्रय है।'

सुकलाकी बातोंसे रति और प्रीति दोनों [illegible] हुईं। वे लज्जित हो कामके पास गयीं और [illegible] इन्द्रकी देहमें आश्रय लिये और धनुष खींचे हुए [illegible] देवसे कहा—'यह नारी हरायी नहीं जा सकती [illegible] सर्वदा पतिव्रता और पतिकामा है। आप [illegible] दुराग्रह छोड़िये।'

कामने कहा—'देवियो! घबड़ाओ नहीं। [illegible] जिस समय इन्द्रका रूप देखेगी, उस समय [illegible] आहत करूँगा।'

तब सुरपति इन्द्र सुन्दर रूप और वेष धार[illegible] रतिके पीछे-पीछे चले और उस स्थानपर पहुँचे [illegible] वह पतिव्रता सुकला थी। उन्होंने सुकलासे [illegible] भद्रे! मैंने प्रीतिके साथ तुम्हारे पास एक दू[illegible] था, तुम मुझे क्यों अस्वीकार करती हो? [illegible] कहा—'तुम्हारा मङ्गल हो; मैं महात्मा पुत्रोंसे [illegible] हूँ। मैं अकेली नहीं हूँ; सहायता मेरे साथ [illegible] किससे डरूँ? महात्मा सर्वत्र मेरी रक्षा करते हैं। प्रश्नका उत्तर क्या हो सकता है? मैं केवल

ाये कि प्रत्येक जन्ममें धर्म, सत्य और देवोंके प्रति ारी निष्ठा अचल रहे और अन्तमें मैं भार्या ा पितामहोंके साथ विष्णुलोकको प्राप्त करूँ ।

देवताओंने एक स्वरसे कहा—'ऐसा ही होगा ।'

फिर देवगण सतीकी स्तुति करते हुए अपने-अपने स्थानको चले गये । हे राजन् ! तुमको मैंने सम्पूर्ण कथा सुना दी । यह सतीका पुण्य चरित है । जो इसे श्रद्धापूर्वक सुनेगा, उसका सदैव कल्याण होगा । *(समाप्त)*

मैं और मेरा

ानन्द-बागमें अपने मैं बैठा चैन उड़ाता ।
ुख-शान्ति-सुरभिकी अपनी छवि देख-देख मुसकाता ॥
ान मेरी भाव-तरङ्गें फैलाती हैं हरियाली ।
ात्तियाँ प्रेमकी विकसी, कैसी हैं निपट निराली ॥
केतनोंमें कलियाँ फूटीं, कितनोंमें दिखती लाली ।
केतनोंकी कली खिली हैं, फल रही अनेकों डाली ॥
ोरा मन मुझे लुभाता, बज रही हृदयकी ताली ।
आकृतिसे प्रकृति मिली है, यह जीवनकी उजियाली ॥
तालोंकी तरल तरङ्गें, तलमला रही हैं जैसी ।
मन थिरक-थिरककर मेरा पलटाता गतियाँ वैसी ॥
गानेकी इच्छा होती, मैं अपने गीत बनाता ।
गीतोंकी तान सुरीली अपने विनोदमें गाता ॥
बन राग-रागिनी कितनी, मनका मनोज विकसाती ।
अनुराग-भावनाएँ आ, जीवनको सरस बनातीं ॥
मैं बना स्वयं सुख अपना, मेरा है रंग रँगीला ।
बनता है छैल छबीला, मेरा ही भाव रसीला ॥
प्यारी इच्छाएँ मेरी कल्पना-बागमें फूलीं ।
मेरी ही भाव-उमंगें, अनुराग-झकोरे झूलीं ॥
मैं अपनी अकथ कहानी गा-गाकर नहीं अघाता ।
जीवन-अनुराग-तरङ्गें, मन मेरा सदा उठाता ॥
मेरी सत्ताके भीतर क्या नहीं, सभी सचराचर ।
थक गये वेद-श्रुति, ऋषि-मुनि, गुण-लीलाएँ गा-गाकर
मैं नित्य कल्पनाद्वारा आशाके फूल खिलाता ।
मैं अपनी ही इच्छासे मनका मनोज विकसाता ॥
आदित्य दीप्त है मुझसे, मेरी ही प्रतिभा फैली ।
होती है कभी न खाली, ऐसी निर्गुणकी थैली ॥

आकार न मेरा कोई, साकार भाव बन जाते ।
इच्छाएँ मेरी ऐसी, फल मुझको प्रकट दिखाते ॥
सुस्थिर है शान्ति सदा ही, केवल विनोद भयकारी ।
जीवन-विनोद ही लीला, मैं अचल और अविकारी ॥
मैं अक्षर ब्रह्म सनातन, हूँ नित्ययुक्त मैं योगी ।
भव और विभव मुझसे है, अपने भावोंका भोगी ॥
मैं सदा एकरस रहता, जल ज्यों तरङ्ग बन जाती ।
दिखलाकर रूप अनेकों, अपनेमें आप समाती ॥
जब जैसी इच्छा होती, मैं हो जाता हूँ वैसा ।
नित नये-नये रच रूपक, रहता जैसाका तैसा ॥
अविनाशी सर्वव्यापी, मैं आदि अनन्त अगोचर ।
मायाका रूपक बनकर, हूँ सचराचरमें गोचर ॥
मैं निराकार निर्गुण हूँ, मैं ही हूँ घट-घटवासी ।
चैतन्य भावनावाला मैं अज अव्यय अविनाशी ॥
है पंच महाभूतोंमय, त्रिगुणात्मक माया मेरी ।
हो प्रकृति अष्टधा करती जीवनकी ज्योति घनेरी ॥
सब भूत भूतमें मिलते, गुण गुणमें सभी समाते ।
ये सब मेरे अन्तरगत, मुझमें ही आश्रय पाते ॥
मैं सूक्ष्म भावनाकारी, हूँ विश्व-विराट-विहारी ।
हूँ कोमलकी कोमलता, उद्भटका बल बलकारी ॥
मैं सदा-सर्वदा सबमें रहता हूँ रमा-रमाया ।
यह जीवन-राग रसीला मेरी रग-रगमें छाया ॥
जो कुछ भी देख रहे हो, है यह सब मेरा वैभव ।
कल्पना-तरङ्गें मेरी सब यह उद्भवकारी भव ॥
मेरी विचार-धारासे निकली हैं सभी तरङ्गें ।
यह मायामयी रचना मेरी ही भाव-उमङ्गें ॥

सती सुकला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[गताङ्कसे आगे]

[६]

विष्णु बोले—सुकलाके सत्यानाशके लिये इन्द्रके साथ कामदेवके प्रस्थान करनेपर सत्यने धर्मसे कहा—हे महाप्राज्ञ धर्म! कामदेवका कार्य देखो। मैंने तुम्हारे, अपने तथा महात्मा पुण्यके लिये सती सुप्रिया और सुदेवा नामक उत्तम गृहकी सृष्टि की है। प्रमत्तबुद्धि काम जाकर उसका नाश करेगा। यह दुष्टात्मा काम हमलोगोंका शत्रु है, इसमें सन्देह नहीं। हे धर्म! तपोधन विप्र, सुमति पतिव्रता और नीतिमान् राजा—ये तीन मेरे घर हैं। जहाँ मेरी वृद्धि और पुष्टि होती है, वहाँ तुम्हारा भी वास होता है। श्रद्धासहित पुण्य भी वहाँ जाकर क्रीड़ा करते हैं। शान्तिके साथ क्षमा भी मेरे घर निवास करती है। जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ दान, दया, प्रज्ञा, लोभहीनता, सौहार्द आदि वर्तमान रहते हैं। वहीं पवित्र स्वभाव रहता है। ये सब मेरे बहन-भाई हैं। हे धर्मराज! सुनो। अस्तेय, अहिंसा, तितिक्षा और अभ्युदय मेरे घरपर ही धन्य होते हैं। गुरुसेवा, लक्ष्मी-सहित विष्णु, अग्नि आदि देवता और मोक्षके मार्ग प्रकाशित करनेवाला उज्ज्वल ज्ञान मेरे घर आते सतियाँ और धर्मपरायण साधुजन मेरे गृहस्थ उपर्युक्त कुटुम्बियों और तुम्हारे साथ मैं इन करता हूँ। पार्वतीयुक्त शिव भी मेरे नि मेरा वह शंकर नामक घर भी एक बा नष्ट किया गया था। महात्मा विश्वा थे, उनको भी मेनकाकी सहायता जीत चुका है। गौतम मुनिकी पतिव्रता थीं, दुरात्मा कामने उन्हें किया था। जगत्में कितने ही महात्मालोग और नारियाँ कामके कारण अपने मार्गसे भ्रष्ट हुई काम मेरे पीछे पड़ा है। अब मैं यहाँ हूँ यहाँ जानकर ही धनुष-बाण लेकर आया पापात्मा अपने बाणानलसे मेरा घर नष्ट करे पाखण्डी और दूसरोंका अहित करनेवाले इत्यादि सेनापति सब कामके सहायक हैं। अपने दुरात्मा सेनापतियोंकी सहायतासे मेरा रहा है। वह मुझे भी भगा देगा। उसके होकर मैं नष्ट हो जाऊँगा। मैं स्त्रीजातिके नये घरमें रहना चाहता था। पु पत्नी सुकला ही मेरा यह भी नष्ट करनेपर उता उसकी सहायता पुराने कार्यों पहले

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीअनन्तश्रीविभूषित परिव्राजकाचार्य श्री १०८स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

वर्ण-कर्म या वर्ण-धर्म

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
(गीता १८ । ४१)

'हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके समस्त कर्म सात्त्विक, राजस और तामस स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा विशेषरूपसे व्यवस्थित हुए हैं।'

ये चारों वर्ण शास्त्रविहित अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करके परम कल्याणको प्राप्त कर सकते हैं। महर्षि गौतम वर्णधर्मका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानम् ।१। ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः।२। पूर्वेषु नियमस्तु ।३। राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् ।७। न्याय्यदण्डत्वम् ।८। वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदम् ।४९। शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः ।५०। तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम् ।५१। आचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमित्येके ।५२। श्राद्धकर्म ।५३। भृत्यभरणम् ।५४। स्वदारवृत्तिः।५५। परिचर्या चोत्तरेषाम् ।५६। (दशमोऽध्यायः) अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति हैं; एवं वेदाध्ययन, अग्निहोत्रादि कर्म और दान—ये तीन द्विजातियोंके साधारण धर्म हैं ॥१॥ वेदोंका अध्यापन, याजन (यज्ञ कराना) और प्रतिग्रह (दान लेना)—ये तीन ब्राह्मणोंके जीविकार्थ विशेष धर्म हैं ॥२॥ पूर्वोक्त अध्ययनादि तीन सामान्य धर्म, तथा प्राणिवर्गकी रक्षा और नीतिपूर्वक दुष्टोंको दण्ड देना क्षत्रियका धर्म है ॥३, ७, ८॥ पूर्वोक्त अध्ययनादि द्विजातियोंके साधारण तीन धर्म, और कृषि, वाणिज्य, गौ आदि पशुओंका पालन और रक्षा, धनवृद्धिके लिये धनको ब्याजपर लगाना—ये वैश्यके धर्म हैं ॥४९॥ चौथा वर्ण शूद्र एक जातिविशेष है, उसके भी सत्य, अक्रोध, शौच (पवित्रता तथा ईमानदारी), आचमनार्थ पाणि-पाद-प्रक्षालन (हाथ-पैर धोना), पिता-माता-पितामह आदिका श्राद्ध, आश्रितोंका भरण-पोषण, एक अपनी स्त्रीमें ही अनुराग, तथा परस्त्रीको माताके समान देखना, एवं द्विजातिवर्णोंकी सेवा करना इत्यादि धर्म हैं ॥५०–५६॥ सत्त्वादि गुणभेदसे इस प्रकार वर्णभेद और वर्णधर्म वेदमें तथा मन्वादि स्मृतिशास्त्रोंमें* एवं वेदसम्मत पुराण, इतिहास और तन्त्रादि शास्त्रोंमें भी सर्वत्र वर्णित हैं।

आश्रम-धर्म

महर्षि हारीत कहते हैं—

वर्णाश्चत्वारो राजेन्द्र चत्वारश्चापि आश्रमाः ॥

'हे राजेन्द्र ! वर्ण चार प्रकारके हैं, और आश्रम भी चार प्रकारके हैं।'

'वर्ण' कहनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार जातियोंका बोध होता है तथा 'आश्रम' कहनेसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमों या अवस्थाओंका बोध होता है।

वामनपुराणमें लिखा है—

चत्वार आश्रमाश्चैव ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिताः ।
गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं त्रयो मताः ॥
क्षत्रियस्यापि कथिता आश्रमास्त्रय एव हि ।
ब्रह्मचर्यं च गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशाम् ॥
गार्हस्थ्यमुचितन्त्वेकं शूद्रस्य क्षणमाचरेत् ।

अर्थात् ब्राह्मणके लिये चार आश्रम कहे गये हैं; क्षत्रियके लिये ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—ये तीन ही आश्रम

---

* त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥
वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।
न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समासतः ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
(मनुसंहिता १० । ७७-७८; १ । ८८—९०)

मैं आत्मभाव अविकारी, भव मायाकारी रचना।
कैसा विराट आयोजन, यह एक अनेकों बनना॥
ये पंच महाभूतात्मक गुणमय सब जीवनधारी।
दिखलाते विलग पराये बन अहंकार साकारी॥
यह भूलभुलैयाँवाला मेरी मायाका घेरा।
मनकी विनोद-लीलाका सविकारी रूपक मेरा॥
मैं एक अनेकों होकर यह खेल खेलता रहता।
माया-प्रपंच-धारामें मेरा विनोद ही बहता॥
सब अच्छा और बुरा या मेरा ही किया-कराया।
तुम स्वार्थ-भावना रखते, मुझमें न स्वार्थकी छाया॥
सुख-दुख जो तुममें आते, केवल तरंग हैं मनकी।
नश्वरता यही जगतकी, गति ऐसी ही जीवनकी॥
आकाश शून्यकारी है, यह वायु कहाँसे आती।
तूफान-तूल बन-बनकर कहिये फिर कहाँ समाती॥
लय दीपककी लौ होती आकाश-शून्यमें जैसी।
ज्योत्स्नाएँ भी जीवनकी मुझमें मिल जातीं वैसी॥
कल्पना-किलोलोंमें मैं जिस ओर बहाता धारा।
क्या अच्छा और बुरा है, मेरा विनोद ही प्यारा॥
तुम अहंकारके रूपक बन-बन करके इठलाते।
मनके मदपूर्ण भँवरमें, उन्मादी भी बन जाते॥
मन द्वैत-कल्पनाकारी, अद्वैत भाव है मेरा।
इच्छाएँ मेरी फलतीं, माया-भ्रम मेरा-तेरा॥
तुम जान न सकते खुदको, जीवन-अनुराग हरा है।
भूले हो रूपक अपना, मादकता-मान भरा है॥
जल-बिन्दु सिन्धुमें जाकर तल्लीन उसीमें होता।
वह आप गर्वका रूपक, क्षणभरहीमें सब खोता॥
यह मायाकारी घेरा, अपने प्रकाशको पाकर।
हो जाता बिन्दु जरा-सा, क्षणभरहीमें रजाकर॥
तुम देखो अब अपनापन कितना है बढ़ा, कहाँतक।
अपना स्वरूप ही दिखता, जाती है दृष्टि जहाँतक॥
आनन्द-उमंगोंमें तुम कल्पना करोगे प्यारी।
आ-आकर नयी उमंगें देगा विनोद हो भारी॥
है एक तन्तु ही केवल, कपड़े अनगिनती बनते।
है एक तत्त्व ही केवल, आकर अनेकों रचते॥

कल्पना फेंकती रहती अपने विनोदघ...
छलछला रही है देखो, सबके जीवनमें ...
मैं ही प्रकाशकी प्रतिभा, मैं ही प्रकाश हूँ ...
बनता रहता हूँ मैं ही, फैलाकर रूपक ...
है शून्यभाव यह ऐसा, जोड़ो या उसे घटा...
चाहे जितनी संख्या लो; बस, शून्य सदा ही ...
मन यह विनोदकारी है, भावना-भाव ही ...
वासना बढ़ाती मनको, है सुन्दर-शान्त निपट...
ज्यों शून्य भित्तिपर रचता रहता है चित्र चितेरा।
रचता रहता है प्यारी माया-कृतियाँ मन मेरा॥
मैं कभी नहीं थकता हूँ, मैं सतत विनोद-विहारी।
लय और प्रलय भी मेरी मानो तुम इच्छा-कारी॥
मैं कभी नहीं सोता हूँ, मैं नहीं कभी भी ...
जीवन-तरंगिणी माया मेरा ही भाव ...।
जब जैसी इच्छा होती, रूपक बन जाता वैसा।
मायाकारी रचना रच, रहता जैसेका तैसा।
तुम नाम-रूपको छोड़ो, देखो क्या कहाँ-कहाँ।
यह नश्वरपना मिटाओ, अविनाशी भाव यहाँ॥
अपने निश्चयपनमेंसे, सब दृश्य भाव अलगाओ।
कल्पना-तरंगें छूटीं द्रष्टा तुम ही बन जाओ।
मैं बीज कल्पनाका रख, तरुरूप सृष्टि उपजाता।
उसको फिर वहीं ढहाकर, केवल विनोद ही पाता।
माया-भ्रम बना-बना मैं उलझाता रहता उलझन।
सुख-शान्ति सदा पाता यों, कल्पना-विनोदी यह मन।
मैं सदा फेरता रहता, अपने विनोदकी माला।
कल्पना-किलोलें रचतीं भवकारी भाव निराला।
है त्यागी मन विज्ञानी, ज्ञानी ही अनुभवशाली।
समताकी दृष्टि बनाकर जीवन बनता सुखशाली।
लय सब ही मुझमें होते, फैली है मेरी माया।
आनन्द-उमंगोंमें मैं अपनेमें आप समाया।
मैं अकथ भावकी अपने, कबतक गाऊँगा गाथा।
मैं निर्विकार अविकारी, आनन्द-सुधा-रस पीता।

—[illegible]

वे अवश्य ही मुक्तिलाभ करते हैं, अवश्य ही मुक्तिलाभ रते हैं। यही उपनिषद् है ॥ १ ॥

इस अमूल्य महोपदेशको प्रदान करते समय भगवान् नारदने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन ार आश्रमोंका उल्लेख किया है।

१ 'चतुर्विधब्रह्मचर्यम्'—ब्रह्मचर्य (अतएव ब्रह्मचारी) ार प्रकारके हैं।

(क) 'गायत्र ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् त्रिरात्र सैन्धव लवणमात्र खाकर गायत्रीका अध्ययन करते हैं, उन्हें 'गायत्र' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(ख) 'ब्राह्म ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् समस्त वेदाध्ययनपर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हैं, उन्हें 'ब्राह्म' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(ग) 'प्राजापत्य ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् एक वर्षतक ब्रह्मचर्य पालन कर वेदाध्ययन करते हैं, उन्हें 'प्राजापत्य' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(घ) 'नैष्ठिक या बृहद् ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयन-संस्कारके बाद मरणपर्यन्त गुरुकुलवास करते हैं, उन्हें 'नैष्ठिक या बृहत्' ब्रह्मचारी कहते हैं।

ब्रह्मचर्यके विषयमें अथर्ववेदमें लिखा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
× × ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥
(अथर्ववेदसंहिता ११ । ३ । ७)

अर्थात् ब्रह्मचर्यके प्रभावसे इन्द्रादि देवताओंने अमरत्व ाप्त किया। मनुष्य, देवता, पशु, जङ्गली जीव, ग्रामवासी ीव—सभी जीवोंका जन्म, सभी जीवोंकी उन्नति ब्रह्मचर्यसे ो सकती है।

'स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति ॥'
(अथर्ववेदसंहिता ११ । ७ । १)

अर्थात् ब्रह्मचारी (जो अध्येतव्य—निरन्तर ध्येय वेदात्मक ब्रह्मका विधिपूर्वक अध्ययन करनेके लिये अवश्य आचरणीय गुरु-धारणादि व्रतोंके पालनमें सदा तत्पर रहते हैं) अपनी तपस्यासे प्राप्त शक्तिके द्वारा स्वर्ग और भूलोकका धारण करते हैं; वे अपने तपके द्वारा कल्प और रहस्यपूर्वक वेदकी व्याख्या करनेवाले गुरुका भी पालन करते हैं।

इस मन्त्रका भाष्य करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—

तथा—

आचार्यं स्वं गुरुं तेनैव तपसा पिपर्ति पालयति। सन्मार्गे-वृत्त्या आचार्यं परिपालयतीत्यर्थः। 'शिष्ये पापं गुरोरपि' इति शिष्यकृतेन पापेन गुरोरपि पातित्यस्मरणाद् एवमुक्तम्।
(अथर्ववेदभाष्य)

अर्थात् शिष्यकृत पाप गुरुको स्पर्श करता है, शिष्यके पापसे गुरुका पतन होता है—ऐसा स्मृतिमें कहा है। परन्तु जो शिष्य यथाविधि तपस्या करते हैं, अपने नियममें—ब्रह्मचर्य आदि व्रतके पालन करनेमें प्रवृत्त रहते हैं, ऐसे शिष्यको कभी पाप स्पर्श नहीं करता; अतएव शिष्यका पाप गुरुमें सञ्चारित होकर शिष्यके द्वारा गुरुका पतन नहीं होता। इसी कारण कहा जाता है कि ब्रह्मचारी अपने तपके द्वारा आचार्यका भी पालन करता है।

भीगे हुए खेतमें हल चलाकर बीज बोते समय शरीरमें अवश्य ही कुछ-न-कुछ कीचड़ लग जाता है। इसी प्रकार शिष्यमें मोक्षरूपी बीज बोते समय शिष्यका पाप और अविद्या-रूपी मल अन्ततः कुछ-न-कुछ गुरुमें संक्रान्त होता ही है।

पाप और अविद्या दोनों अव्यक्त वस्तुएँ हैं। अतएव पाप और अविद्याका सञ्चार उनके व्यक्त कार्यके द्वारा ज्ञात होता है। पापसे आधि (मानसिक अशान्ति), व्याधि (शारीरिक रोग), जरा (दन्त-नेत्रादि अङ्ग-प्रत्यङ्गकी अक्षमता), विघ्न, दैन्य, दुःख, शोक, दोष और अमङ्गल उत्पन्न होते हैं। तथा अविद्यासे आत्मज्ञान लुप्त हो जाता है और मोह उत्पन्न होता है।

गन्धर्व-तन्त्रमें लिखा है—

दापयेत् स्वकृतं दोषं पत्नी पापं स्वभर्तरि ।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुराप्नोति निश्चितम् ॥

अर्थात् स्त्रीका स्वकृत दोष और पाप उसके स्वामीमें अर्पित होता है; इसी प्रकार निश्चय ही शिष्यका अर्जित पाप गुरुमें संक्रान्त होता है।

कुलार्णवतन्त्रमें लिखा है—

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा ।
तथा प्राप्नोत्यसन्देहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये ॥

अर्थात् मन्त्रीका दोष राजाको तथा स्त्रीका दोष पतिको जिस प्रकार आक्रमण करता है, उसी प्रकार निश्चय ही शिष्य-का पाप गुरुको आक्रमण करता है।

माने गये हैं। वैश्यके लिये ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य, ये दो आश्रम हैं। तथा शूद्रके सम्बन्धमें सभी युगोंमें गार्हस्थ्यके अतिरिक्त अन्य आश्रमोंका अनुमोदन शास्त्र नहीं करते।

नारद-परिव्राजकोपनिषद्में लिखा है कि किसी समयमें वेदाध्ययनसम्पन्न, सर्वज्ञ, तपस्यामें परम निष्ठावान्, ज्ञान और वैराग्ययुक्त शौनकप्रभृति महर्षिगण नैमिषारण्यमें द्वादशवार्षिक सत्रयागके अनुष्ठानमें निरत थे। परिव्राजकशिरोमणि, जीवन्मुक्त, ब्रह्मपुत्र भगवान् नारद स्वर्गादि तीनों लोकोंमें घूमते-घूमते उस समय वहाँ आ उपस्थित हुए। उन्हें आया हुआ देख शौनकादि महर्षिगणने उठकर नमस्कार तथा यथोचित आतिथ्य-सत्कार करके उन्हें उत्तम यथोचित आसनपर बैठाया। पश्चात् विनयपूर्वक ब्रह्माके पुत्र देवर्षि नारदसे पूछा—"भो भगवन् ब्रह्मपुत्र! कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यः।" (प्रथमोपदेशः)—हे भगवन् ब्रह्मपुत्र! हमें कृपा करके बतलाइये कि मुक्तिका उपाय क्या है।१। "इत्युक्तस्तान् स होवाच नारदः।" शौनकादि ऋषियोंके इस प्रकार पूछनेपर ब्रह्मपुत्र नारदने उनसे कहा—

"सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा द्वादशवर्षं शुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यं पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत् क्रमान्निर्वर्त्य—चतुर्विधब्रह्मचर्यम्, षड्विधगार्हस्थ्यं चतुर्विधवानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य साधनचतुष्टयसम्पन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवति। इत्युपनिषत्॥"

(प्रथमोपदेशः)

सद्वंशमें उत्पन्न व्यक्ति यथाकाल उपनीत होकर, शास्त्रोक्तविधिके अनुसार क्रमशः ४४ संस्कारोंसे सम्पन्न* होकर, वेदज्ञ, ईश्वरपरायण, लोभ-मोहादि दोषोंसे [रहित हो] सद्गुरुके समीप अपनी वेदशाखाका अध्ययन कर [समस्त] विद्याओंका अभ्यास करे। इस प्रकार द्वादश वर्ष गुरुकी सेवा करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करे। इसके बाद पचीस वर्षतक गृहस्थ रहकर गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करे। तदनन्तर वानप्रस्थका बाना लेकर पचीस वर्षतक उस धर्मका विधिवत् पालन करे। चतुर्विध ब्रह्मचर्य, षड्विध गार्हस्थ्य और चतुर्विध वानप्रस्थ धर्मका सम्यक् अभ्यास करके तथा तदनुसार समस्त कर्मोंको करके साधनचतुष्टयसे सम्पन्न होना होगा। मन, वचन, शरीर [और] कर्मके द्वारा समस्त संसारके प्रति सब प्रकारसे आशा[-त्याग] करना होगा। तदनन्तर निर्वैर, शान्त, दान्त और संन्यासी होकर संन्यासाश्रम ग्रहण करके परमहंस आश्रममें स्थित करते हुए अस्खलित भावसे आत्मस्वरूपके चिन्तनमें रहना होगा। जो इस प्रकार आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके आत्मस्वरूपका ध्यान करते-करते देह त्याग [करता है ...]

---

* महर्षि गौतमके शास्त्रके मतसे संस्कार ४० हैं, तथा आत्मगुण ८ हैं। अतएव महर्षि गौतमके मतसे आत्मगुणके सहित कुल ४८ संस्कार हैं। किन्हीं-किन्हीं महर्षियोंका मत है कि संस्कार ३६ हैं तथा आत्मगुण आठके मिलानेसे कुल ४४ संस्कार हैं। आत्मगुणके विषयमें सबका एक मत है। महर्षि गौतमकथित ४० संस्कार नीचे दिये जाते हैं—जैसे १. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चूडाकरण, ८. उपनयन, ९. ऋग्वेदव्रत, १०. यजुर्वेदव्रत, ११. सामवेदव्रत, [१२.] अथर्ववेदव्रत, १३. समावर्तन, १४. दारपरिग्रह, १[५. ...] १६. पितृयज्ञ, १७. मनुष्ययज्ञ, १८. भूतयज्ञ, १[९. ...] २०. श्रावणी, २१. आग्रहायणी, २२. चैत्री, २[३. ...] २४. पूपाष्टका, २५. मांसाष्टका, २६. शाकाष्टका, २[७. ...] २८. अग्निहोत्र, २९. दर्शपौर्णमास, ३०. आग्रयण, [३१.] चातुर्मास्य, ३२. निरूढपशुबन्ध, ३३. सौत्रामणि, ३[४. ...] ३५. अत्यग्निष्टोम, ३६. उक्थ्य, ३७. षोडशी, ३[८. ...] ३९. अतिरात्र, ४०. आप्तोर्याम (इनमें १५ से १९ [पर्यन्त ५] महायज्ञ, २० से २६ पर्यन्त ७ पाकयज्ञ, २७ से ३३ [पर्यन्त ७] हविर्यज्ञ, तथा ३४ से ४० पर्यन्त ७ सोमयज्ञ)—ये ४० हुए। अब आत्मगुणकी बात कही जाती है—जैसे १. सर्व[भूत]दया, २. क्षमा, ३. अनसूया (दूसरोंके दोष न देखना), ४. [...] ५. अनायास (क्लेश न होना), ६. मंगल, ७. अकार्पण्य [...] और ८. अस्पृहा (निष्कामता)। ये सब मिलाकर ४८ [...] यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि कोई उक्त ४० या [...] द्वारा संस्कृत होनेपर भी यदि ८ आत्मगुणोंसे युक्त न हो [...] ब्रह्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिमें समर्थ नहीं हो सकता, अथवा [...] लोककी प्राप्ति नहीं हो सकता। दूसरी ओर, उक्त ४० या [...] यदि किसीके अधिक भावसे भी पूर्ण होते हैं, और [...] भी है तो वह ब्रह्मगुण्य या ब्रह्मलोककी प्राप्तिमें [...] सकता है।

[illegible] करते हैं, [illegible] [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] ब्रह्मचर्य, [illegible], [illegible] और [illegible]—इन आश्रमोंका उल्लेख किया है।

१ 'चतुर्विधब्रह्मचर्यम्'—ब्रह्मचर्य (अथवा ब्रह्मचारी) [illegible] प्रकारके हैं।

(क) 'गायत्र ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् त्रिरात्र [illegible] [illegible] खाकर गायत्रीका अध्ययन करते हैं, उन्हें 'गायत्र' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(ख) 'ब्राह्म ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् समस्त वेदाध्ययनपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हैं, उन्हें 'ब्राह्म' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(ग) 'प्राजापत्य ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् एक वर्षतक ब्रह्मचर्य पालन कर वेदाध्ययन करते हैं, उन्हें 'प्राजापत्य' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(घ) 'नैष्ठिक या बृहद् ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयन-संस्कारके बाद मरणपर्यन्त गुरुकुलवास करते हैं, उन्हें 'नैष्ठिक या बृहत्' ब्रह्मचारी कहते हैं।

ब्रह्मचर्यके विषयमें अथर्ववेदमें लिखा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
× × ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥
(अथर्ववेदसंहिता ११ । ३ । ७)

अर्थात् ब्रह्मचर्यके प्रभावसे इन्द्रादि देवताओंने अमरत्व प्राप्त किया। मनुष्य, देवता, पशु, जङ्गली जीव, ग्रामवासी जीव—सभी जीवोंका जन्म, सभी जीवोंकी उन्नति ब्रह्मचर्यसे हो सकती है।

'स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥'
(अथर्ववेदसंहिता ११ । ७ । १)

अर्थात् ब्रह्मचारी (जो अनन्तत्व—निरन्तर ध्येय वेदात्मक ब्रह्मका विधिपूर्वक अध्ययन करनेके लिये अवश्य आचरणीय शुक्र-धारणादि व्रतोंके पालनमें सदा तत्पर रहते हैं) अपनी तपस्यासे प्राप्त शक्तिके द्वारा स्वर्ग और भूलोकको धारण करते हैं; वे अपने तपके द्वारा कल्प और रहस्यपूर्वक वेदकी व्याख्या करनेवाले गुरुका भी पालन करते हैं।

इस [illegible] करते हुए [illegible] कहते हैं—
[illegible]—

[illegible] गुरुं [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। शिष्यं [illegible] गुरोरपि [illegible] शिष्यकृतेन [illegible] गुरोरपि [illegible] [illegible]।
([illegible])

अर्थात् शिष्यकृत पाप गुरुको स्पर्श करता है, शिष्यके पापसे गुरुका पतन होता है—ऐसा स्मृतिमें कहा है। परन्तु जो शिष्य यथाविधि तपस्या करते हैं, अपने नियममें—ब्रह्मचर्य आदि व्रतके पालन करनेमें प्रवृत्त रहते हैं, ऐसे शिष्यको कभी पाप स्पर्श नहीं करता; अतएव शिष्यका पाप गुरुमें संचारित होकर शिष्यके द्वारा गुरुका पतन नहीं होता। इसी कारण कहा जाता है कि ब्रह्मचारी अपने तपके द्वारा आचार्यका भी पालन करता है।

भीगे हुए खेतमें हल चलाकर बीज बोते समय शरीरमें अवश्य ही कुछ-न-कुछ कीचड़ लग जाता है। इसी प्रकार शिष्यमें मोक्षरूपी बीज बोते समय शिष्यका पाप और अविद्यारूपी मल अन्ततः कुछ-न कुछ गुरुमें संक्रान्त होता ही है।

पाप और अविद्या दोनों अव्यक्त वस्तुएँ हैं। अतएव पाप और अविद्याका सञ्चार उनके व्यक्त कार्यके द्वारा ज्ञात होता है। पापसे आधि (मानसिक अशान्ति), व्याधि (शारीरिक रोग), जरा (दन्त-नेत्रादि अङ्ग-प्रत्यङ्गकी अक्षमता), विघ्न, दैन्य, दुःख, शोक, दोष और अमङ्गल उत्पन्न होते हैं। तथा अविद्यासे आत्मज्ञान लुप्त हो जाता है और मोह उत्पन्न होता है।

गन्धर्व-तन्त्रमें लिखा है—

दापयेत् स्वकृतं दोषं पत्नी पापं स्वभर्तरि ।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुमाप्नोति निश्चितम् ॥

अर्थात् स्त्रीका स्वकृत दोष और पाप उसके स्वामीमें अर्पित होता है; इसी प्रकार निश्चय ही शिष्यका अर्जित पाप गुरुमें संक्रान्त होता है।

कुलार्णवतन्त्रमें लिखा है—

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा ।
तथा प्राप्नोत्यसन्देहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये ॥

अर्थात् मन्त्रीका दोष राजाको तथा स्त्रीका दोष पतिको जिस प्रकार संक्रमण करता है, उसी प्रकार निश्चय ही शिष्यका पाप गुरुको आक्रमण करता है।

माने गये हैं। वैश्यके लिये ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य, ये दो आश्रम हैं। तथा शूद्रके सम्बन्धमें सभी युगोंमें गार्हस्थ्यके अतिरिक्त अन्य आश्रमोंका अनुमोदन शास्त्र नहीं करते।

नारद-परिव्राजकोपनिषद्में लिखा है कि किसी समयमें वेदाध्ययनसम्पन्न, सर्वज्ञ, तपस्यामें परम निष्ठावान्, ज्ञान और वैराग्ययुक्त शौनकप्रभृति महर्षिगण नैमिषारण्यमें द्वादशवार्षिक सत्रयागके अनुष्ठानमें निरत थे। परिव्राजकशिरोमणि, जीवन्मुक्त, ब्रह्मपुत्र भगवान् नारद स्वर्गादि तीनों लोकोंमें घूमते-घूमते उस समय वहाँ आ उपस्थित हुए। उन्हें आया हुआ देख शौनकादि महर्षिगणने उठकर नमस्कार तथा यथोचित आतिथ्य-सत्कार करके उन्हें उत्तम यथोचित आसनपर बैठाया। पश्चात् विनयपूर्वक ब्रह्माके पुत्र देवर्षि नारदसे पूछा—'भो भगवन् ब्रह्मपुत्र! कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यः।' (प्रथमोपदेशः)—हे भगवन् ब्रह्मपुत्र! हमें कृपा करके बतलाइये कि मुक्तिका उपाय क्या है।१। "इत्युक्तस्तान् स होवाच नारदः।" शौनकादि ऋषियोंके इस प्रकार पूछनेपर ब्रह्मपुत्र नारदने उनसे कहा—

"सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा द्वादशवर्षं शुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यं पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत् क्रमान्निर्वर्त्य—चतुर्विधब्रह्मचर्यम्, षड्विधगार्हस्थ्यं चतुर्विधवानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य साधनचतुष्टयसम्पन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रयेनास्खलितस्वस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवति। इत्युपनिषत्॥"

(प्रथमोपदेशः)

सद्वंशमें उत्पन्न व्यक्ति यथाकाल उपनीत होकर, शास्त्रोक्तविधिके अनुसार क्रमशः ४४ संस्कारोंसे सम्पन्न* होकर, वेदज्ञ, ईश्वरपरायण, लोभ मोहादि दोषों... सद्गुरुके समीप अपनी वेदशाखाका अध्ययन कर ... विद्याओंका अभ्यास करे। इस प्रकार बारह ... गुरुकी सेवा करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करे। ... पचीस वर्षतक गृहस्थ रहकर गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करे ... तदनन्तर वानप्रस्थका बाना लेकर पचीस वर्षतक ... धर्मका विधिवत् पालन करे। चतुर्विध ब्रह्मचर्य, ... गार्हस्थ्य और चतुर्विध वानप्रस्थ धर्मका सम्यक् अभ्यास करके तथा तदनुसार समस्त कर्मोंको ... साधनचतुष्टयसे सम्पन्न होना होगा। मन, वचन, ... कर्मके द्वारा समस्त संसारके प्रति सब प्रकारसे आसक्ति ... करना होगा। तदनन्तर निर्वैर, शान्त, दान्त और ... होकर संन्यासाश्रम ग्रहण करके परमहंस आश्रममें ... करते हुए अस्खलित भावसे आत्मस्वरूपके चिन्तनमें ... रहना होगा। जो इस प्रकार आत्मस्वरूपका ... करके आत्मस्वरूपका ध्यान करते-करते देह त्याग ...

* महर्षि गौतमके शास्त्रके मतसे संस्कार ४० हैं, तथा आत्मगुण ८ हैं। अतएव महर्षि गौतमके मतसे आत्मगुणके सहित कुल ४८ संस्कार हैं। किसी-किसी महर्षियोंका मत है कि संस्कार ३६ हैं तथा आत्मगुण आठके मिलनेसे कुल ४४ संस्कार हैं। आत्मगुणके विषयमें सबका एक मत है। महर्षि गौतमसम्मत ४० संस्कार नीचे दिये जाते हैं—जैसे १. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चूडाकरण, ८. उपनयन, ९. ऋग्वेदव्रत, १०. यजुर्वेदव्रत, ११. सामवेदव्रत, १२. अथर्ववेदव्रत, १३. समावर्तन, १४. दारपरिग्रह, १५. ... १६. पितृयज्ञ, १७. मनुष्ययज्ञ, १८. भूतयज्ञ, १९. ... २०. श्रावणी, २१. आग्रहायणी, २२. चैत्री, २३. ... २४. पूपाष्टका, २५. मांसाष्टका, २६. शाकाष्टका, २७. ... २८. अग्निहोत्र, २९. दर्शपौर्णमास, ३०. आग्रयण, ३१. चातुर्मास्य, ३२. निरूढपशुबन्ध, ३३. सौत्रामणि, ३४. ... ३५. अत्यग्निष्टोम, ३६. उक्थ, ३७. षोडशी, ३८. ... ३९. अतिरात्र, ४०. आप्तोर्याम (इनमें १५ से १९ ... महायज्ञ, २० से २६ पर्यन्त ७ पाकयज्ञ, २७ से ३३ ... हविर्यज्ञ, तथा ३४ से ४० पर्यन्त ७ सोमयज्ञ)—ये ४० ... हुए। अब आत्मगुणकी बात कही जाती है—जैसे १. सर्वभूत दया, २. क्षमा, ३. अनसूया (दूसरोंके दोष न देखना), ... ५. अनायास (क्लेश न होना), ६. मंगल, ७. अकार्पण्य और ८. अस्पृहा (निष्कामता)। ये सब मिलाकर ४८ ... यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि कोई उक्त ४० या ३६ ... द्वारा संस्कृत होनेपर भी यदि ८ आत्मगुणोंसे युक्त न हो ... ब्रह्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिमें समर्थ नहीं हो सकता, अथवा ... लोककी प्राप्ति नहीं हो सकती। दूसरी ओर, उक्त ४० या ३६ ... यदि किसीके आंशिक भावसे भी पूर्ण होते हैं, और उक्त ... भी है तो वह ब्रह्मसायुज्य या ब्रह्मलोककी प्राप्तिमें समर्थ होता है।

ो अवश्य ही मुक्तिलाभ करते हैं, अवश्य ही मुक्तिलाभ ते हैं। यही उपनिषद् है ॥ १ ॥

इस अमूल्य महोपदेशको प्रदान करते समय भगवान् ारदने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन र आश्रमोंका उल्लेख किया है।

१ 'चतुर्विधब्रह्मचर्यम्'—ब्रह्मचर्य (अतएव ब्रह्मचारी) र प्रकारके हैं।

(क) 'गायत्र ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् त्रिरात्र सैन्धव लवणमात्र खाकर गायत्रीका अध्ययन करते हैं, उन्हे 'गायत्र' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(ख) 'ब्राह्म ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् समस्त वेदाध्ययनपर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हैं, उन्हे 'ब्राह्म' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(ग) 'प्राजापत्य ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् एक वर्षतक ब्रह्मचर्य पालन कर वेदाध्ययन करते हैं, उन्हें 'प्राजापत्य' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(घ) 'नैष्ठिक या बृहद् ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयन-संस्कारके बाद मरणपर्यन्त गुरुकुलवास करते हैं, उन्हें 'नैष्ठिक या बृहत्' ब्रह्मचारी कहते हैं।

ब्रह्मचर्यके विषयमें अथर्ववेदमें लिखा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
× × ये ते जाता

इस मन्त्रका भाष्य करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—तथा—

आचार्यं स्वं गुरुं तेनैव तपसा पिपर्ति पालयति। सन्मार्गवृत्त्या आचार्यं परिपालयतीत्यर्थः। 'शिष्यं पापं गुरोरपि' इति शिष्यकृतेन पापेन गुरोरपि पातित्यस्मरणाद् एवमुक्तम्।

(अथर्ववेदभाष्य)

अर्थात् शिष्यकृत पाप गुरुको स्पर्श करता है, शिष्यके पापसे गुरुका पतन होता है—ऐसा स्मृतिमें कहा है। परन्तु जो शिष्य यथाविधि तपस्या करते हैं, अपने नियममें—ब्रह्मचर्य आदि व्रतके पालन करनेमें प्रवृत्त रहते हैं, ऐसे शिष्यको कभी पाप स्पर्श नहीं करता; अतएव शिष्यका पाप गुरुमें सञ्चारित होकर शिष्यके द्वारा गुरुका पतन नहीं होता। इसी कारण कहा जाता है कि ब्रह्मचारी अपने तपके द्वारा आचार्यका भी पालन करता है।

भीगे हुए खेतमें हल चलाकर बीज बोते समय शरीरमें अवश्य ही कुछ-न-कुछ कीचड़ लग जाता है। इसी प्रकार शिष्यमें मोक्षरूपी बीज बोते समय शिष्यका पाप और अविद्यारूपी मल अन्ततः कुछ-न-कुछ गुरुमें संक्रान्त होता ही है।

पाप और अविद्या दोनों अव्यक्त वस्तुएँ हैं। अतएव पाप और अविद्याका सञ्चार उनके व्यक्त कार्यके द्वारा ज्ञात होता है। पापसे आधि (मानसिक अशान्ति), व्याधि (शारीरिक रोग), जरा (दन्त-नेत्रादि अङ्ग-प्रत्यङ्गकी [illegible]) विघ्न, दैन्य, दुःख, शोक, दोष और अमङ्गल तथा अविद्यासे आत्मज्ञान लुप्त हो जाता है

स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें वर्णित हुआ है—

पुरुषो हरते सर्वं भार्याया औरसस्य च।
अर्द्धं शिष्याच्चतुर्थांशः पापं पुण्यं तथैव च॥

पुरुष अपनी स्त्रीके समस्त, सन्तानके आधे, तथा शिष्यके चतुर्थांश पाप और पुण्यको ग्रहण करता है।

छान्दोग्य श्रुति उपदेश करती है—

तद्य एवैनं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव।

अर्थात् ब्रह्मचर्यके द्वारा ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानके विना ब्रह्मलोककी प्राप्ति असम्भव है; यज्ञादि समस्त इष्टको प्राप्त करानेवाले तथा अनिष्टको दूर करनेवाले कर्मोंका समावेश ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत हो जाता है।

ब्रह्मचर्य ही आत्मसाक्षात्कारका प्रधान उपाय है, इस विषयमें मुण्डकोपनिषद् कहता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

जो ब्रह्मचारी नहीं है, उन्हें आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। श्रुति भी कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' अर्थात् आत्मनिष्ठा प्रदान करनेवाले वीर्यसे हीन व्यक्तिको आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयास करनेवाले साधकके लिये शारीरिक वीर्यका धारण करना अत्यन्त आवश्यक है, वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्यके प्रभावसे शरीर और मन स्वस्थ रहता है और साधनामें सहायता मिलती है।

ज्ञानसङ्कलनी तन्त्रमें भगवान् शंकरने ब्रह्मचर्यको उत्तम तप बतलाया है—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्॥

भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योग० २।३८)

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा (सिद्धि) होनेपर वीर्यलाभ होता है—शरीर, इन्द्रिय और मनको अत्यन्त शक्ति प्राप्त होती है।
... [illegible] स्वस्थ रहता है, इन्द्रिय-संयममें पूर्ण शक्ति प्राप्त ... तथा सुने हुए उपदेशको पूर्णतः धारण करनेकी ... न होती है।

... [illegible] करते हैं—

'ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुम् ... समिदाधानभैक्ष्यचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिकं ब्रह्मचर्यम् ... मानं कर्म ब्रह्मचर्यम्।'

([illegible]

अर्थात् उपनयन-संस्कारके बाद गुरुके घरमें ... वेदाध्ययन करनेमें जिन व्रत या नियमोंका आचरण ... आवश्यक होता है उन सब व्रतोंका पालन करते हुए ... ध्ययन करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं। तथा वेदाध्ययनके ... अवश्य आचरणीय समिदाहरण, भैक्ष्यचर्या ... कर्मके द्वारा सम्यक् प्रकारसे वीर्यधारण इत्यादि ... 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा प्राप्त होती है।

पातञ्जलदर्शनके २। ३० सूत्रके भाष्यमें ... वेदव्यास कहते हैं—'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य ... गुप्तेन्द्रिय होकर अर्थात् चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंको ... करके, अर्थात् ब्रह्मचर्यभङ्गके भयसे विषयोंसे ... संयत करके, उपस्थेन्द्रियके संयम करनेका नाम 'ब्रह्मचर्य' ...

इस भाष्यकी टीकामें वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—

'ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह—गुप्तेति। संयतोपस्थोऽपि ... प्रेक्षणतदालापकन्दर्पायतनतदङ्गस्पर्शनसक्तो न ब्रह्मचारी ... तन्निरासायोक्तं गुप्तेन्द्रियस्येति। इन्द्रियान्तराण्यपि ... लोलुपानि रक्षणीयानीति।'

अर्थात् केवल उपस्थसंयम ही ब्रह्मचर्य नहीं। उप... संयम करके भी यदि कोई रागवश स्त्रियोंका दर्शन करता ... अथवा स्त्रियोंके साथ वार्तालाप करता है, या ... स्त्रियोंको स्पर्श करता है तो उसे ब्रह्मचर्यवान् नहीं कह ... सकता। स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करना; स्त्रियोंके ... आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको विशेषरूपसे देखना, अथवा ... देखना, स्त्रियोंके रूप, यौवन, हाव-भाव, क्रिया, चेष्टा, ... आदि जो ग्रन्थोंमें वर्णित हैं उन्हें पढ़ना या सुनना; स्त्रि... संग करनेके लिये मन-ही-मन सङ्कल्प करना, उन्हें ... लिये बार-बार चेष्टा करना—ये सभी ब्रह्मचर्यहीनताके ...

उपस्थ-इन्द्रियके संयमके साथ इन सभी ब्रह्मचर्य... के लक्षणोंका त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। जो ... इन्द्रिय और मनको अत्यन्त समर्थ बनाना चाहते हैं, ... भीतर स्वास्थ्यसुखके उपभोग ... बढ़ती ... है, जिनके हृदयमें ..., ... बहुगुणधीक ...

भिक्षु निर्मोह तपस्वी आत्मवन्त जो जितेन्द्रिय
करते हैं, देश और समाजकी उन्नतिके जो
इच्छुक हैं, मनुष्यजातिकी मङ्गलकामना जो अपनी
जीवनकी सार्थकतामें करते हैं, तथा परमानन्दस्वरूप साधन
आत्मामें मग्न रहनेके लिये जो सदा उत्कण्ठित रहते हैं,
उनके लिये सब दुःखोंके बीजस्वरूप ब्रह्मचर्यहीनताका त्याग
करके ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठाके लिये प्राणपणसे प्रयत्न करना
आवश्यक है।

ब्रह्मचर्यका वेदोक्त अर्थ है—वेदाध्ययन और वेदार्थका मनन। वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्य ही वेदाध्ययन और वेदार्थमननका अनिवार्य कारण है। शुक्र-संरक्षणके बिना वेदाध्ययनमें वास्तविक सफलता नहीं मिल सकती, और वेदोंके अर्थका ज्ञान अर्थात् ब्रह्मतत्त्वकी धारणा स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है। जो मनुष्य वस्तुतः ब्रह्ममें विचरण करनेकी अभिलाषा करता है, उसे उपस्थ-संयमरूपी ब्रह्मचर्यका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही पड़ेगा, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। ब्रह्मचर्यहीनतासे स्मृतिशक्ति क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार रसके चू जानेपर वृक्ष क्षीणताको प्राप्त हो जाता है।

गरुडपुराणमें लिखा है—

> कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
> सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् सब अवस्थाओंमें, सब कालमें सर्वत्र मन, वचन और कर्मसे सब प्रकारके मैथुनका त्याग ही 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है।

शास्त्रोंमें अष्टविध मैथुनका उल्लेख है—

> दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्।
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
>
> (कठरुद्रोपनिषद् ५। ६)

> स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
>
> (दक्षसंहिता ७। ३१-३२)

अर्थात् स्त्रियोंके रूप-लावण्य, अङ्ग-प्रत्यङ्गादिका विशेषरूपसे अवलोकन करना, कामवासनासे स्त्री या बालकको स्पर्श करना, आलिङ्गन करना अथवा चुम्बन करना, स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक या कौतुक करना, स्त्रियोंके रूप-लावण्य, यौवन, भी और महत्त्वको प्रकट करना, अथवा अश्लील प्रसंगोंका पठन पाठन या श्रवण करना, स्त्रियोंके साथ गुप्तरूपसे अश्लील वार्तालाप करना, स्त्रियोंके साथ मैथुन करनेके लिये मन-ही-मन संकल्प करना, कामोपभोगके उद्देश्यसे मनमें स्त्रियोंके पानेके लिये नाना प्रकारसे पुनः पुनः यत्न करना, तथा स्त्री-सम्भोग करना—ये ही आठ प्रकारकी चेष्टाएँ हैं। जिन्हें मनीषीगण मैथुन कहते हैं, ये सभी मैथुनके अन्तर्गत हैं। ('स्मरणम्' का अर्थ है किसी स्त्रीके रूप-लावण्य, हाव-भाव, कटाक्ष अथवा अपने किये हुए मैथुनादिका स्मरण करना, अथवा भविष्यमें किसी स्त्रीके साथ मैथुन करनेका चिन्तन करना।)*

उपनयन† संस्कारके पश्चात् उपर्युक्त अष्टविध मैथुनका

* नारद-परिव्राजकोपनिषद्में लिखा है—

> न संभाषेत् स्त्रियं काञ्चित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
> कथां च वर्जयेत् तासां न पश्येल्लिखितामपि॥ ३॥
> एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः।
> चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात् प्रणश्यति॥ ४॥
>
> —चतुर्थोपदेशः।

अर्थात् किसी स्त्रीसे न तो सम्भाषण करे और न पहले देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरण करे। उनकी चर्चासे भी दूर रहे। यहाँतक कि स्त्रीके चित्रको भी न देखे। जो संन्यासी अज्ञानवश इन चार बातोंसे नहीं बचता उसके चित्तमें विकारका उत्पन्न होना निश्चित है और चित्तमें विकार होनेपर उसका पतन अवश्यम्भावी है।

> संभाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा।
> नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्॥
>
> —पञ्चमोपदेशः।

अर्थात् ब्रह्मचारी आदिको चाहिये कि स्त्रियोंके साथ बातचीत करना तो अलग रहा, आवश्यकता होनेपर उनसे कोई बात पूछे भी नहीं और न उनके किसी प्रश्नका उत्तर ही दे। उन्हें देखना, उनके साथ नाचना-गाना अथवा उनके नृत्य-गीतको देखना-सुनना, उनके साथ हँसी-मजाक करना अथवा उनके हँसी-मजाकको सुनना—यहाँतक कि उनकी निन्दा करना भी खतरेसे खाली नहीं है। अतः इन सबसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये।

† ब्रह्मचर्यके लिये मिताहारकी अत्यन्त आवश्यकता है। 'परिमित' घृत, दुग्ध आदि योगीके लिये सात्त्विक आहार हो सकते हैं; परन्तु पर्याप्त दुग्ध, घृत, दधि आदि योगीके लिये सात्त्विक आहार नहीं हैं—ये तो भोगीके लिये सात्त्विक आहार हैं। मिताहार तथा परिमित निद्राके द्वारा शारीरिक क्लेश सहना।

स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें वर्णित हुआ है—

पुरुषो हरते सर्वं भार्याया औरसस्य च।
अर्धं शिष्याच्चतुर्थांशः पापं पुण्यं तथैव च॥

पुरुष अपनी स्त्रीके समस्त, सन्तानके आधे, तथा शिष्यके चतुर्थांश पाप और पुण्यको ग्रहण करता है।

छान्दोग्य श्रुति उपदेश करती है—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव।

अर्थात् ब्रह्मचर्यके द्वारा ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानके विना ब्रह्मलोककी प्राप्ति असम्भव है; यज्ञादि समस्त इष्टको प्राप्त करानेवाले तथा अनिष्टको दूर करनेवाले कर्मोंका समावेश ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत हो जाता है।

ब्रह्मचर्य ही आत्मसाक्षात्कारका प्रधान उपाय है, इस विषयमें मुण्डकोपनिषद् कहता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

जो ब्रह्मचारी नहीं हैं, उन्हे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। श्रुति भी कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' अर्थात् आत्मनिष्ठा प्रदान करनेवाले वीर्यसे हीन व्यक्तिको आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयास करनेवाले साधकके लिये शारीरिक वीर्यका धारण करना अत्यन्त आवश्यक है, वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्यके प्रभावसे शरीर और मन स्वस्थ रहता है और साधनामें सहायता मिलती है।

ज्ञानसङ्कलनी तन्त्रमें भगवान् शंकरने ब्रह्मचर्यको उत्तम तप बतलाया है—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्॥

भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योग० २।३८)

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा (सिद्धि) होनेपर वीर्यलाभ होता है—इन्द्रिय और मनको अत्यन्त शक्ति प्राप्त होती है। पूर्ण स्वास्थ्य रहता है, इन्द्रिय-संयममें पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है। तथा सुने हुए उपदेशको पूर्णतः धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

भाष्यकार वाचस्पति.... कहते हैं—

'ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं ... समिदाधानभैक्ष्यचर्योर्ध्वरेतस्त्वादिकं ब्रह्मचारि... मानं कर्म ब्रह्मचर्यम्।'

(...)

अर्थात् उपनयन-संस्कारके बाद गुरुके ... वेदाध्ययन करनेमें जिन व्रत या नियमोंका आचर... आवश्यक होता है उन सब व्रतोंका पालन करते हुए ... ध्ययन करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं। तथा वेदाध्ययनके ... अवश्य आचरणीय समिदाहरण, भैक्ष्यचर्या ... कर्मके द्वारा सम्यक् प्रकारसे वीर्यधारण इत्यादि ... 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा प्राप्त होती है।

पातञ्जलदर्शनके २। ३० सूत्रके भाष्यमें ... वेदव्यास कहते हैं—'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य ... गुप्तेन्द्रिय होकर अर्थात् चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों... करके, अर्थात् ब्रह्मचर्यभङ्गके भयसे विषयोंसे ... संयत करके, उपस्थेन्द्रियके संयम करनेका नाम 'ब्रह्म...

इस भाष्यकी टीकामें वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—

'ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह—गुप्तेति। संयतोपस्थोऽपि ... प्रेक्षणतदालापकन्दर्पायतनतदङ्गस्पर्शनसक्तो न ब्रह्म... तन्निरासायोक्तं गुप्तेन्द्रियस्येति। इन्द्रियान्तराण्य... लोलुपानि रक्षणीयानीति।'

अर्थात् केवल उपस्थसंयम ही ब्रह्मचर्य नहीं। ... संयम करके भी यदि कोई रागवश स्त्रियोंका दर्शन क... अथवा स्त्रियोंके साथ वार्तालाप करता है, या काम... स्त्रियोंको स्पर्श करता है तो उसे ब्रह्मचर्यवान् नहीं क... सकता। स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करना; स्त्रियों... आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको विशेषरूपसे देखना, अपना ... देखना, स्त्रियोंके रूप, यौवन, हाव-भाव, क्रिया, चेष्टा ... आदि जो ग्रन्थोंमें वर्णित हैं उन्हें पढ़ना या सुनना; ... संग करनेके लिये मन-ही-मन सङ्कल्प करना, उन... लिये बार-बार चेष्टा करना—ये सभी ब्रह्मचर्यहीनताके ...

उपस्थ-इन्द्रियके संयमके साथ इन सभी ब्रह्मच... के लक्षणोंका त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। जो ... इन्द्रिय और मनको अत्यन्त समर्थ बनाना चाहते हैं, ... भीतर स्वास्थ्यसुखके उपभोग करनेकी इच्छा रखते ... है, जिनके हृदयमें स्वस्थ, सबल ..., मर्म... बहुगुणशील ... [illegible]

ौकिक विभूतिके लाभकी आवश्यकताको जो विशेषरूपसे ुभव करते हैं, देश और समाजकी उन्नतिके जो ाभिलाषी हैं, मनुष्यजातिकी मङ्गलकामना जो अपनी ादिनकी प्रार्थनामें करते हैं, तथा परमानन्दरूप शाश्वत ाभावमें मग्न रहनेके लिये जो सदा उत्कण्ठित रहते हैं, ाके लिये सब दुःखोंके बीजस्वरूप ब्रह्मचर्यहीनताका त्याग के ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठाके लिये प्राणपणसे प्रयत्न करना वश्यक है।

ब्रह्मचर्यका वेदोक्त अर्थ है—वेदाध्ययन और वेदार्थका न। वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्य ही वेदाध्ययन और वेदार्थनका अनिवार्य कारण है। शुक्र संरक्षणके बिना वेदाध्ययनमें ापि सफलता नहीं मिल सकती, और वेदोंके अर्थका ज्ञान र्थात् ब्रह्मतत्त्वकी धारणा स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है। जो नुष्य वस्तुतः ब्रह्ममें विचरण करनेकी अभिलाषा करता है, से उपस्थ-संयमरूपी ब्रह्मचर्यका यथायोग्य अनुष्ठान करना ी पड़ेगा, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। ब्रह्मचर्यनितासे स्मृतिशक्ति क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार रसके चू ानेपर वृक्ष क्षीणताको प्राप्त हो जाता है।

गरुडपुराणमें लिखा है—

> कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
> सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् सब अवस्थाओंमें, सब कालमें सर्वत्र मन, वचन और कर्मसे सब प्रकारके मैथुनका त्याग ही 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है।

शास्त्रोंमें अष्टविध मैथुनका उल्लेख है—

> दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्।
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
>
> (कठरुद्रोपनिषद् ५।६)
>
> स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
>
> (दक्षसंहिता ७। ११ १२)

अर्थात् स्त्रियोंके रूप-लावण्य, अङ्ग प्रत्यङ्गादिका विशेषरूपसे अवलोकन करना, कामवासनासे स्त्री या बालकको स्पर्श करना, आलिङ्गन करना अथवा चुम्बन करना, स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक या कौतुक करना, स्त्रियोंके रूप लावण्य, यौवन, श्री और शृङ्गारकी प्रशंसा करना, अथवा अश्लील ग्रन्थोंका पठन-पाठन या श्रवण करना, स्त्रियोंके साथ गुप्तरूपसे अश्लील वार्तालाप करना, स्त्रियोंके साथ मैथुन करनेके लिये मन-ही-मन सङ्कल्प करना, कामोपभोगके उद्देश्यसे मनमें स्त्रियोंके पानेके लिये नाना प्रकारसे पुनः-पुनः यत्न करना, तथा स्त्री-संभोग करना—ये ही आठ प्रकारकी चेष्टाएँ हैं। जिन्हें मनीषीगण मैथुन कहते हैं, ये सभी मैथुनके अन्तर्गत हैं। ('स्मरणम्' का अर्थ है किसी स्त्रीके रूप-लावण्य, हाव-भाव, कटाक्ष अथवा अपने किये हुए मैथुनादिका स्मरण करना, अथवा भविष्यमें किसी स्त्रीके साथ मैथुन करनेका चिन्तन करना।)*

उपनयन† संस्कारके पश्चात् उपर्युक्त अष्टविध मैथुनका

* नारद-परिव्राजकोपनिषद्में लिखा है—

> न संभाषेत् स्त्रियं काञ्चित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
> कथां च वर्जयेत् तासां न पश्येल्लिखितामपि॥ ३॥
> एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतः।
> चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात् प्रणश्यति॥ ४॥
>
> —चतुर्थोपदेशः।

अर्थात् किसी स्त्रीसे न तो सम्भाषण करे और न पहले देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरण करे। उनकी चर्चासे भी दूर रहे। यहाँतक कि स्त्रीके चित्रको भी न देखे। जो संन्यासी अज्ञानवश इन चार बातोंसे नहीं बचता उसके चित्तमें विकारका उत्पन्न होना निश्चित है और चित्तमें विकार होनेपर उसका पतन अवश्यम्भावी है।

> सम्भाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा।
> नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्॥
>
> —षष्ठोपदेशः।

अर्थात् ब्रह्मचारी आदिको चाहिये कि स्त्रियोंके साथ बातचीत करना तो अलग रहा, आवश्यकता होनेपर उनसे कोई बात पूछे भी नहीं और न उनके किसी प्रश्नका उत्तर ही दे। उन्हें देखना, उनके साथ नाचना-गाना अथवा उनके नृत्य-गानको देखना-सुनना, उनके साथ हँसी-मजाक करना अथवा उनके हँसी-मजाकको सुनना—यहाँतक कि उनकी निन्दा करना भी [illegible] नहीं है। अतः इन सबसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये।

† ब्रह्मचर्यके लिये निम्नलिखित [illegible] आवश्यक है। [illegible] सकते हैं, परन्तु [illegible] नहीं है—[illegible] है। [illegible]

स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें वर्णित हुआ है—

पुरुषो हरते सर्वं भार्याया औरसस्य च।
अर्द्धं शिष्याच्चतुर्थांशः पापं पुण्यं तथैव च॥

पुरुष अपनी स्त्रीके समस्त, सन्तानके आधे, तथा शिष्यके चतुर्थांश पाप और पुण्यको ग्रहण करता है।

छान्दोग्य श्रुति उपदेश करती है—

तद्य एवैनं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव।

अर्थात् ब्रह्मचर्यके द्वारा ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानके बिना ब्रह्मलोककी प्राप्ति असम्भव है; यज्ञादि समस्त इष्टको प्राप्त करानेवाले तथा अनिष्टको दूर करनेवाले कर्मोंका समावेश ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत हो जाता है।

ब्रह्मचर्य ही आत्मसाक्षात्कारका प्रधान उपाय है, इस विषयमें मुण्डकोपनिषद् कहता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

जो ब्रह्मचारी नहीं हैं, उन्हें आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। श्रुति भी कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' अर्थात् आत्मनिष्ठा प्रदान करनेवाले वीर्यसे हीन व्यक्तिको आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयास करनेवाले साधकके लिये शारीरिक वीर्यका धारण करना अत्यन्त आवश्यक है, वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्यके प्रभावसे शरीर और मन स्वस्थ रहता है और साधनामें सहायता मिलती है।

ज्ञानसङ्कलनी तन्त्रमें भगवान् शंकरने ब्रह्मचर्यको उत्तम तप बतलाया है—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्॥

भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योग० २।३८)

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा (सिद्धि) होनेपर वीर्यलाभ होता है—, इन्द्रिय और मनको अत्यन्त शक्ति प्राप्त होती है। पूर्ण स्वस्थ रहता है, इन्द्रिय-संयममें पूर्ण शक्ति प्राप्त। तथा सुने हुए उपदेशको पूर्णतः धारण करनेकी उत्पन्न होती है।

[illegible] कहते हैं—

'ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं [illegible] समिदाधानभैक्ष्यचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिकं [illegible] मानं कर्म ब्रह्मचर्यम्।'

([illegible]

अर्थात् उपनयन-संस्कारके बाद गुरुके घरमें [illegible] वेदाध्ययन करनेमें जिन व्रत या नियमोंका आचरण [illegible] आवश्यक होता है उन सब व्रतोंका पालन करते हुए [illegible] ध्ययन करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं। तथा वेदाध्ययन [illegible] अवश्य आचरणीय समिदाहरण, भैक्ष्यचर्या, [illegible] कर्मके द्वारा सम्यक् प्रकारसे वीर्यधारण इत्यादि [illegible] 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा प्राप्त होती है।

पातञ्जलदर्शनके २।३० सूत्रके भाष्यमें [illegible] वेदव्यास कहते हैं—'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थ[illegible] गुप्तेन्द्रिय होकर अर्थात् चक्षु आदि समस्त इ[illegible] करके, अर्थात् ब्रह्मचर्यभङ्गके भयसे विषयोंसे [illegible] संयत करके, उपस्थेन्द्रियके संयम करनेका नाम [illegible]

इस भाष्यकी टीकामें वाचस्पतिमिश्र कह[illegible]

'ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह—गुप्तेति। संयतोप[illegible] प्रेक्षणतदालापकन्दर्पायतनतदङ्गस्पर्शनसक्तो न [illegible] तन्निरासायोक्तं गुप्तेन्द्रियस्येति। इन्द्रिय[illegible] लोलुपानि रक्षणीयानीति।'

अर्थात् केवल उपस्थसंयम ही ब्रह्मचर्य [illegible] संयम करके भी यदि कोई रागवश स्त्रियोंका [illegible] अथवा स्त्रियोंके साथ वार्तालाप करता है, [illegible] स्त्रियोंको स्पर्श करता है तो उसे ब्रह्मचर्यवा[illegible] सकता। स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करन[illegible] आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको विशेषरूपसे देखना, [illegible] देखना, स्त्रियोंके रूप, यौवन, हाव-भाव, [illegible] आदि जो ग्रन्थोंमें वर्णित हैं उन्हें पढ़ना य[illegible] संग करनेके लिये मन-ही-मन सङ्कल्प कर[illegible] लिये बार-बार चेष्टा करना—ये सभी ब्रह्मच[illegible]

उपस्थ-इन्द्रियके संयमके साथ इन स[illegible] के लक्षणोंका त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य [illegible] इन्द्रिय और मनको अत्यन्त समर्थ बनाना [illegible] भीतर स्वास्थ्यसुखके उपभोग करनेकी इ[illegible] है, जिनके हृदयमें स्वस्थ, सबल [illegible] बहुगुणशील [illegible]

क विभूतिके लाभसे आवश्यकताको जो विशेषरूपसे व करते हैं, देश और समाजकी उन्नतिके जो नाते हैं, मनुष्यजातिकी मङ्गलकामना जो अपनी दनकी प्रार्थनामें करते हैं, तथा परमानन्दरूप शाश्वत ानमें मग्न रहनेके लिये जो सदा उत्कण्ठित रहते हैं, ; लिये सब दुःखोंके बीजस्वरूप ब्रह्मचर्यहीनताका त्याग ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठाके लिये प्राणपणसे प्रयत्न करना श्यक है।

ब्रह्मचर्यका वेदोक्त अर्थ है—वेदाध्ययन और वेदार्थका । वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्य ही वेदाध्ययन और वेदार्थ-का अनिवार्य कारण है। शुक्र-संरक्षणके बिना वेदाध्ययनमें ापि सफलता नहीं मिल सकती, और वेदोंके अर्थका ज्ञान ब्रह्मतत्त्वकी धारणा स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है। जो वस्तुतः ब्रह्ममें विचरण करनेकी अभिलाषा करता है, उपस्थ-संयमरूपी ब्रह्मचर्यका यथायोग्य अनुष्ठान करना होगा, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। ब्रह्मचर्य-से स्मृतिशक्ति क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार रसके चू र वृक्ष क्षीणताको प्राप्त हो जाता है।

गरुडपुराणमें लिखा है—

> कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
> सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् सब अवस्थाओंमें, सब कालमें सर्वत्र मन, वचन कर्मसे सब प्रकारके मैथुनका त्याग ही 'ब्रह्मचर्य' लाता है।

शास्त्रोंमें अष्टविध मैथुनका उल्लेख है—

> दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ।
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
> (कठरुद्रोपनिषद् ५ । ६)

> स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
> (दक्षसंहिता ७ । ३१-३२)

अर्थात् स्त्रियोंके रूप-लावण्य, अङ्ग-प्रत्यङ्गादिका विशेष-पसे अवलोकन करना, कामवासनासे स्त्री या बालकको स्पर्श रना, आलिङ्गन करना अथवा चुम्बन करना, स्त्रियोंके साथ सी-मजाक या कौतुक करना, स्त्रियोंके रूप-लावण्य, यौवन,

भी और शृङ्गारकी प्रशंसा करना, अथवा अश्लील ग्रन्थोंका पठन-पाठन या श्रवण करना, स्त्रियोंके साथ गुप्तरूपसे अश्लील वार्तालाप करना, स्त्रियोंके साथ मैथुन करनेके लिये मन-ही-मन सङ्कल्प करना, कामोपभोगके उद्देश्यसे मनमें स्त्रियोंके पानेके लिये नाना प्रकारसे पुनः पुनः यत्न करना, तथा स्त्री-सम्भोग करना—ये ही आठ प्रकारकी चेष्टाएँ हैं। जिन्हें मनीषीगण मैथुन कहते हैं, ये सभी मैथुनके अन्तर्गत हैं। ('स्मरणम्' का अर्थ है किसी स्त्रीके रूप-लावण्य, हाव-भाव, कटाक्ष अथवा अपने किये हुए मैथुनादिका स्मरण करना, अथवा भविष्यमें किसी स्त्रीके साथ मैथुन करनेका चिन्तन करना।)*

उपनयन† संस्कारके पश्चात् उपर्युक्त अष्टविध मैथुनका

* नारद-परिव्राजकोपनिषद्में लिखा है—

> न संभाषेत् स्त्रियं काञ्चित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।
> कथां च वर्जयेत् तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥ ३ ॥
> एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतः ।
> चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात् प्रणश्यति ॥ ४ ॥
> —चतुर्थोपदेशः ।

अर्थात् किसी स्त्रीसे न तो सम्भाषण करे और न पहले देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरण करे। उनकी चर्चासे भी दूर रहे। यहाँतक कि स्त्रीके चित्रको भी न देखे। जो संन्यासी अज्ञानवश इन चार बातोंसे नहीं बचता उसके चित्तमें विकारका उत्पन्न होना निश्चित है और चित्तमें विकार होनेपर उसका पतन अवश्यम्भावी है।

> संभाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा ।
> नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥
> —पञ्चोपदेशः ।

अर्थात् ब्रह्मचारी आदिको चाहिये कि स्त्रियोंके साथ बातचीत करना तो अलग रहा, आवश्यकता होनेपर उनसे कोई बात पूछे भी नहीं और न उनके किसी प्रश्नका उत्तर ही दे। उन्हें देखना, उनके साथ नाचना-गाना अथवा उनके नृत्य-गीतको देखना-सुनना, उनके साथ हँसी-मजाक करना अथवा उनके हँसी-मजाकको सुनना—यहाँतक कि उनकी निन्दा करना भी खतरेसे खाली नहीं है। अतः इन सबसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये।

† ब्रह्मचर्यके लिये मिताहारकी अत्यन्त आवश्यकता है। 'परिमित' घृत, दुग्ध आदि योगीके लिये सात्त्विक आहार हो सकते हैं, परन्तु पर्याप्त दुग्ध, घृत, दधि आदि योगीके लिये सात्त्विक आहार नहीं है—ये तो भोगीके लिये सात्त्विक आहार है। मिताहार तथा परिमित निद्राके द्वारा शारीरिक क्लेश सहना।

स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें वर्णित हुआ है—

पुरुषो हरते सर्वं भार्याया औरसस्य च।
अर्द्धं शिष्याच्चतुर्थांशः पापं पुण्यं तथैव च॥

पुरुष अपनी स्त्रीके समस्त, सन्तानके आधे, तथा शिष्यके चतुर्थांश पाप और पुण्यको ग्रहण करता है।

छान्दोग्य श्रुति उपदेश करती है—

तद्य एवैनं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव।

अर्थात् ब्रह्मचर्यके द्वारा ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानके बिना ब्रह्मलोककी प्राप्ति असम्भव है; यज्ञादि समस्त इष्टको प्राप्त करानेवाले तथा अनिष्टको दूर करनेवाले कर्मोंका समावेश ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत हो जाता है।

ब्रह्मचर्य ही आत्मसाक्षात्कारका प्रधान उपाय है, इस विषयमें मुण्डकोपनिषद् कहता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

जो ब्रह्मचारी नहीं हैं, उन्हें आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। श्रुति भी कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' अर्थात् आत्मनिष्ठा प्रदान करनेवाले वीर्यसे हीन व्यक्तिको आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयास करनेवाले साधकके लिये शारीरिक वीर्यका धारण करना अत्यन्त आवश्यक है, वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्यके प्रभावसे शरीर और मन स्वस्थ रहता है और साधनामें सहायता मिलती है।

ज्ञानसङ्कलिनी तन्त्रमें भगवान् शंकरने ब्रह्मचर्यको उत्तम तप बतलाया है—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्॥

भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योग० २।३८)

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा (सिद्धि) होनेपर वीर्यलाभ होता है—शरीर, इन्द्रिय और मनको अपार शक्ति प्राप्त होती है। शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है, इन्द्रिय संयममें पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है। तथा मुनि दूर उपदेशको [illegible] ग्रहण करनेकी क्षमता उत्पन्न होती है।

[illegible] कहते हैं—

'ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरि[illegible] समिदाधानभैक्ष्यचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिकं मानं कर्म ब्रह्मचर्यम्।'

(...)

अर्थात् उपनयन-संस्कारके बाद गुरुके [illegible] वेदाध्ययन करनेमें जिन व्रत या नियमोंका [illegible] आवश्यक होता है उन सब व्रतोंका पालन करते हुए [illegible] ध्ययन करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं। तथा वेदा[illegible] अवश्य आचरणीय समिदाहरण, भैक्ष्य[illegible] कर्मके द्वारा सम्यक् प्रकारसे वीर्यधारण [illegible] 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा प्राप्त होती है।

पातञ्जलदर्शनके २।३० सूत्रके भाष्यमें वेदव्यास कहते हैं—'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य [illegible] गुप्तेन्द्रिय होकर अर्थात् चक्षु आदि समस्त इन्द्रि[illegible] करके, अर्थात् ब्रह्मचर्यभङ्गके भयसे विषयोंसे [illegible] संयत करके, उपस्थेन्द्रियके संयम करनेका नाम [illegible]

इस भाष्यकी टीकामें वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—

'ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह—गुप्तेति। संयतोपस्थ[illegible] प्रेक्षणतदालापकन्दर्पायतनतदङ्गस्पर्शनसक्तो न [illegible] तन्निरासायोक्तं गुप्तेन्द्रियस्येति। इन्द्रियान्त[illegible] लोलुपानि रक्षणीयानीति।'

अर्थात् केवल उपस्थसंयम ही ब्रह्मचर्य नहीं [illegible] संयम करके भी यदि कोई रागवश स्त्रियोंका दर्श[illegible] अथवा स्त्रियोंके साथ वार्तालाप करता है, या [illegible] स्त्रियोंको स्पर्श करता है तो उसे ब्रह्मचर्यवान् न[illegible] सकता। स्त्रियोंके साथ हँसी मजाक करना; [illegible] आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको विशेषरूपसे देखना, अ[illegible] देखना, स्त्रियोंके रूप, यौवन, हाव भाव, कि[illegible] आदि जो ग्रन्थोंमें वर्णित हैं उन्हें पढ़ना या सुन[illegible] संग करनेके लिये मन ही मन संकल्प करना, [illegible] लिये बार-बार चेष्टा करना—ये सभी ब्रह्मचर्यके [illegible]

उपस्थ इन्द्रियके संयमके साथ इन सभी [illegible] के कर्मोंका त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। [illegible] इन्द्रिय और मनको अपना वशवर्ती बनाना [illegible] और स्वाध्यायपूर्वक [illegible] है, [illegible]

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनुमान्‌जी शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

(१२)

(फाल्गुनके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **सङ्कष्टचतुर्थी** (भविष्योत्तर)—यह व्रत प्रत्येक त्की कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदय-व्यापिनी चतुर्थी लेनी चाहिये। यदि वह दो दिन चन्द्रोदय-व्यापिनी हो तो 'मातृविद्धा प्रशस्यते' के अनुसार पहले दिन रे। व्रतीको चाहिये कि वह प्रातःस्नानादिके पश्चात् नेका सङ्कल्प करके दिनभर मौन रहे और सायङ्कालमें स्नान करके लाल वस्त्र धारण कर, ऋतुकालके गन्ध दिसे गणेशजीका पूजन करे, उसके बाद चन्द्रोदय होनेपर माका पूजन करे और अर्घ्य एवं वायन देकर स्वयं करे तो सुख, सौभाग्य और सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। कथा यह है कि सत्ययुगमें राजा युवनाश्वके पास सब शास्त्रोंके ज्ञाता ब्रह्मशर्मा नामके ब्राह्मण थे, जिनके सात और सात पुत्रवधुएँ थीं। ब्रह्मशर्मा जब वृद्ध हुए, बड़ी छः बहुओंकी अपेक्षा छोटी बहूने श्वशुरकी अधिक की। तब उन्होंने सन्तुष्ट होकर उससे सङ्कष्टहर चतुर्थीका करवाया, जिसके प्रभावसे वह मरणपर्यन्त सब प्रकारके -साधनोंसे संयुक्त रही।

(२) **जानकीव्रत** (निर्णयसिन्धु)—यह व्रत फाल्गुन ण अष्टमीको किया जाता है। इसमें जनकनन्दिनी जानकीजीका पूजन होता है। गुरुवर वसिष्ठजीके कहनेपर वान् रामचन्द्रजीने समुद्रतटकी तपोमय भूमिपर बैठकर व्रत किया था। अतः सर्वसाधारणको चाहिये कि वे नी अभीष्टसिद्धिके लिये इस व्रतको अवश्य करें। इसमें धान्य (जौ-चावल आदि) के चरु (खीर) का हवन और पूप (पूए) आदिका नैवेद्य अर्पण किया जाता है। और तमात्रेऽष्टमी कृष्णा पूर्वा शुक्लेऽष्टमी परा' के अनुसार पूर्व-द्धा अष्टमी ली जाती है।*

(३) **कृष्णैकादशी** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत प्रत्येक मासमें किया जाता है। सुखा, सिद्धा आदिका पूरा निर्णय चैत्रके व्रतपरिचयमें दिया गया है। वहीं इसके सम्बन्धकी अन्य ज्ञातव्य बातें भी बतायी गयी हैं। इस एकादशीका नाम 'विजया' है। इसके प्रभावसे व्रतीका जय होता है। लङ्का विजय करनेकी कामनासे 'बक दाल्भ्य' मुनिके आज्ञानुसार समुद्रके तटपर भगवान् रामचन्द्रने इसी एकादशीका व्रत किया था, जिससे रावणादि मारे गये और श्रीरामचन्द्रका विजय हुआ।

(४) **प्रदोष** (व्रतोत्सव)—इस सुप्रसिद्ध व्रतका उल्लेख पिछले सभी महीनोंमें किया गया है। और मासानुकूल विधान भी प्रत्येक व्रतके साथ लिख दिया है। अतः व्रतीको चाहिये कि गत सभी अङ्कोंके प्रदोषव्रतका विधान देखकर व्रत करे। और इसके उपयोगी जो कुछ विशेष विधान हों, उनका पालन करे।

(५) **शिवरात्रि** (नानापुराणशास्त्राणि)—यह व्रत फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको किया जाता है। इसको प्रति-वर्ष करनेसे यह 'नित्य' और किसी कामनापूर्वक करनेसे 'काम्य' होता है। प्रतिपदादि तिथियोंके अग्नि आदि अधिपति होते हैं। जिस तिथिका जो स्वामी हो, उसका उस तिथिमें अर्चन करना अतिशय उत्तम होता है। चतुर्दशीके स्वामी शिव हैं (अथवा शिवकी तिथि चतुर्दशी है)। अतः उनकी

---

* फाल्गुनस्य च मासस्य कृष्णाष्टम्यां महीपते।
जाता दाशरथेः पत्नी तस्मिन्नहनि जानकी॥
उपोषितो रघुपतिः समुद्रस्य तटे तदा।
सर्वसत्यैश्वरस्तस्मात्तद् कर्तव्यमेव हि॥
सापूपैस्तैश्च सम्पूज्या विप्रसम्बन्धिबान्धवाः।
रामपत्नीं च सम्पूज्य सीतां जनकनन्दिनीम्॥
(निर्णयसिन्धु)

१. चतुर्दश्यां तु कृष्णायां फाल्गुने शिवपूजनम्।
तामुपोष्य प्रयत्नेन विषयान् परिवर्जयेत्॥
(शिवरहस्य)

२. 'नित्यकाम्यरूपस्यास्य व्रतस्येति।' (मदनरत्न)

३. तिथीशा वह्निकौ गौरी गणेशोऽहिर्गुहो रविः।
शिवो दुर्गान्तको विश्वे हरिः कामः शिवः शशी॥
(मु० चि०)

परित्याग करके गुरुका संरक्षण करते हुए ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वेदाध्ययनके उद्देश्यसे गुरुगृहमें वास करनेको 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रमके वेदोक्त कर्तव्य—ब्रह्मचारी प्रतिदिन सायं और प्रातःकाल अग्निमें समिधाकी आहुति करे। प्रतिदिन भिक्षान्न लाकर आचार्यको अर्पण करके उनके आदेशानुसार भिक्षासे प्राप्त द्रव्यमेंसे जो कुछ गुरु प्रदान करें, उसका आहार करे। कदापि मधु और मांस भोजन न करे। गन्ध, माला, अञ्जन, छत्र और पादुकाका व्यवहार न करे। दिनमें न सोये। किसी सवारीपर न चले। बाजा न बजावे। दन्तधावन, देहमें तैलाभ्यङ्ग, नृत्य-गीत, द्यूतक्रीडा, परनिन्दा, स्त्रीदर्शन, स्त्री-स्पर्श, हीन वर्णकी सेवा, आनन्दसे अधीरता तथा भय न करे। ब्रह्मचारी काम, क्रोध, लोभ, मोहका त्याग करे; समस्त इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करे। गुरुके अधीन रहे, जटा रक्खे। चारपाईपर न सोये। गुरुके सोनेके बाद सोये। गुरुके जागनेके पहले उठ जाय। गुरुके खड़े होनेपर ब्रह्मचारी भी साथ-साथ उठकर खड़ा हो जाय। गुरुके चलनेपर उनके पीछे-पीछे चले। गुरु सोये रहें तो स्वयं बैठकर उनकी सेवा करे। गुरु पढ़नेके लिये बुलायें, तुरंत पास जाकर पढ़ना शुरू करे। ब्रह्मचारी प्रतिदिन तीन बार स्नान करे। प्रातः मध्या और सायंकाल सन्ध्योपासना करे। सन्ध्योपरान्त देव तर्पण करे, तथा जिसके माता-पिता मर गये हों वह तर्पण भी करे। नाना प्रकारके व्रतों और नियमोंका अ करके समस्त वेदों तथा उनके रहस्योंको जाने। शि पढ़ना वेदोंका ही पहले अध्ययन करना पड़ता है, शास्त्रोंका पहले अध्ययन न करे। प्रतिदिन अध्ययनके आ और अन्तमें गुरुके चरणोंकी वन्दना करे। पुरुषके परम गुरु हैं—माता, पिता और आचार्य। इनकी भक्ति करे, इनके लिये प्रिय और हितकर कार्यों थोड़ा या अधिक जिससे शास्त्रसम्बन्धी उपदेश प्राप्त उसे गुरु माने। सूर्योदयके पूर्व ही शय्या त्याग करे, समय शयन न करे। इस बीचमें माता-पिता आदि करना मनुष्यमात्रका धर्म है। सन्ध्योपासना सभी धर्म है।

(शेष पि

महा अमीरस

अहो नर नीका है हरिनाम।
दूजा नहीं नाँउ विन नीका, कहि ले केवल राम ॥टेक॥
निरमल सदा एक अविनासी, अजर अकल रस ऐसा।
दृढ़ गहि राखि मूल मन माहीं, निरख देखि निज कैसा ॥ १ ॥
यह रस मीठा महा अमीरस, अमर अनूपम पीवै।
राता रहै प्रेमसूँ माता, ऐसैं जुगि जुगि जीवै ॥ २ ॥
दूजा नहीं और को ऐसा, गुर अंजन करि सूझै।
दादू मोटे भाग हमारे, दास यमेको बूझै ॥ ३ ॥

—दादूदयाल

ब्रह्मचारीके लिये परम आवश्यक है। केवल उपस्थ-इन्द्रियको संयत रखनेसे ही ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा नहीं होती, इसके साथ-सा से अब्रह्मचर्यके आचरणका त्याग कर युक्ताहार, युक्त विहार, युक्त निद्रा तथा युक्त जागरण करना पड़ता है, तथा मनको संकल्पोंसे रहित करना होता है; तभी ब्रह्मचर्य सिद्ध (प्रतिष्ठित) होता है। ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तपस्या है, केवल इसी तपस्याके दर्शन होगा। अतएव जीवनमें कभी व्यभिचार न करूँगा—इस प्रकारका दृढ़ सङ्कल्प करके 'उपस्थेन्द्रिय शुष्क हो जाय' की भावनाके द्वारा ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठाकी विशेष आवश्यकता है।

एक [illegible] और एक [illegible] था। [illegible] एक [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] प्रकार [illegible] [illegible] और [illegible]। [illegible] यह हुआ कि उस अनजान [illegible] लिये हुए [illegible] [illegible] [illegible] उस [illegible]की [illegible] की और [illegible] मुक्त कर दिया। [illegible] बन सके तो शिवरात्रिका व्रत सदैव करना चाहिये और न बन सके तो १४ वर्षके बाद 'उद्यापन' कर [दे]ना चाहिये। उसके लिये चावल, मूँग और उड़द आदिसे 'लिङ्गतोभद्र' मण्डल बनाकर उसके बीचमें सुवर्णादिसे सुसज्जित [कलश] स्थापन करे और चारों कोणोंमें तीन-तीन कलश स्थापन करे। इसके बाद [illegible] विराजे हुए सुवर्णके शिवजी और चाँदीकी बनी हुई पार्वतीको बीचके दोनों कलशोंपर यथाविधि स्थापन करके पद्धतिके अनुसार षोडशोपचार पूजन और हवनादि करे। अन्तमें गोदान, शय्यादान, भूयसी आदि देकर और ब्राह्मणभोजन कराके स्वयं भोजन कर व्रतको समाप्त करे। पूजनके समय शङ्ख, घण्टा आदि बजानेके विषयमें (योगिनीतन्त्रमें) लिखा है कि 'शिवागारे झल्लकं च सूर्यागारे च शङ्खकम्। दुर्गागारे वंशवाद्यं मधुरीं च न वादयेत्॥' अर्थात् शिवजीके मन्दिरमें झाँझ, सूर्यके मन्दिरमें शङ्ख और दुर्गाके मन्दिरमें मीठी बंसरी नहीं बजानी चाहिये। ......शिवरात्रिके व्रतमें कठिनाई तो इतनी है कि इसे वेदपाठी विद्वान् ही यथाविधि सम्पन्न कर सकते हैं और सरलता इतनी है कि पठित-अपठित, धनी निर्धन—सभी अपनी-अपनी सुविधा या सामर्थ्यके अनुसार सहस्रशः रुपये लगाकर भारी समारोहसे अथवा मेहनत-मजदूरीसे प्राप्त हुए दो पैसेके गाजर, बेर और मूली आदि सर्वसुलभ फल-फूल आदिसे पूजन कर सकते हैं और दयालु शिवजी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी—सभी पूजाओंसे प्रसन्न होते हैं।

(६) मास-शिवरात्रि (मदनरत्न)—यह व्रत चैत्रादि सभी महीनोंकी कृष्ण चतुर्दशीको किया जाता है। इसमें त्रयोदशीविद्धा बहुत राततक रहनेवाली चतुर्दशी ली जाती है। कहा जाता है कि इसमें भी [illegible]के समान [illegible] [illegible] पूजा और [illegible] किया जाता है। [illegible] (चतुर्दशी) का [illegible] अधिक [illegible] होता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करना चाहिये।

(७) फाल्गुनी अमा (निर्णयामृत)—फाल्गुन कृष्ण अमावास्याको रुद्र, अग्नि और ब्राह्मणोंका पूजन करके उन्हें उड़द, दही और पूरी आदिका नैवेद्य अर्पण करे और स्वयं भी उन्हीं पदार्थोंका एक बार भोजन करे। यदि 'अमा सोमे [illegible] भौमे गुरुवारे यदा भवेत्। तत्पर्व पुष्करं नाम सूर्यपर्वशताधिकम्॥' अर्थात् अमावास्याके दिन सोम, मंगल, गुरु या शनिवार हो तो यह सूर्यग्रहणसे भी अधिक फल देनेवाली होती है। फाल्गुनी अमाके दिन युगका प्रारम्भ होनेसे इस दिन पितृगणोंका अपिण्ड श्राद्ध करना चाहिये।

शुक्लपक्ष

(१) पयोव्रत (श्रीमद्भागवत)—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदासे द्वादशीपर्यन्त बारह दिनमें पूर्ण होता है। इसके लिये गुरु शुक्रादिका उदय और उत्तम मुहूर्त देखकर फाल्गुनी अमावस्याको वनमें जाकर 'त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता। उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय॥'—इस मन्त्रसे जङ्गली सूअरकी खोदी हुई मिट्टीको शरीरमें लगावे और समीपके सरोवरमें जाकर शुद्ध स्नान करे। फिर गौके दूधकी खीर बनाकर दो विद्वान् ब्राह्मणोंको उसका भोजन करावे और स्वयं भी उसीका भोजन करे। दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदाको) भगवान्‌को गौके दूधसे स्नान कराकर हाथमें जल लेकर 'मम सकलगुणगणवरिष्ठमहत्त्वसम्पन्नायुष्मत्पुत्रप्राप्तिकामनया विष्णुप्रीतये पयोव्रतमहं करिष्ये।' यह संकल्प करे। तदनन्तर सुवर्णके बने हुए हृषीकेशभगवान्‌का 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मन्त्रसे आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करके—१ महापुरुषाय, २ सूक्ष्माय, ३ द्विशीर्ष्णे, ४ शिवाय, ५ हिरण्यगर्भाय, ६ आदिदेवाय, ७ मरकतश्यामवपुषे, ८ त्रयीविद्यात्मने, ९ योगैश्वर्यशरीराय नमः—से भगवान्‌को प्रणाम और पुष्पाञ्जलि अर्पण करके परिमित दूध एक बार पीवे। इस प्रकार प्रतिपदासे द्वादशीपर्यन्त १२ दिनतक व्रत करके त्रयोदशीको विष्णुका यथाविधि पूजन करे। पञ्चामृतसे स्नान करावे। और १३ ब्राह्मणोंको गोदुग्धकी खीरका भोजन करावे। तदनन्तर सुपूजित मूर्ति भूमिके, सूर्यके, जलके या अग्निके अर्पण करके गुरुको दे और व्रत विसर्जन करके १३वें दिन

१. चतुर्दशयाब्दं कर्तव्यं शिवरात्रिव्रतं शुभम्। (कालोत्तरखण्ड)

२. यत् प्रतिचतुर्दश्यां पूजा यत्नेन मे कृता। तथा जागरणं तत्र सन्निधौ मे कृतं तथा॥ (स्कन्द)

करे। फिर प्रदोषके समय हजार (अथवा जितनी सामर्थ्य हो उतने) दीपक जलावे। और ब्राह्मणोंको भोजन कराके बान्धवोंसहित स्वयं भोजन करे और दूसरे दिन पूजन-सामग्री आदि दो ब्राह्मणोंको दे। यह अष्टमी प्रदोषव्यापिनी ली जाती है। यदि दो दिन हो तो परा लेनी चाहिये।

(११) **बुधाष्टमी** (निर्णयामृत)—जब-जब शुक्लाष्टमी-को (विशेषकर फाल्गुन शुक्ल अष्टमीको) बुधवार हो तो उसका व्रत करनेसे यथोक्त फल होता है। किन्तु सन्ध्याकालमें और देवशयनके दिनोंमें इस व्रतके करनेसे दोष होता है।

(१२) **आनन्दनवमी** (भविष्यपुराण)—यह व्रत ल्गुन शुक्ल पञ्चमीसे प्रारम्भ होता है। विधि यह है कि—ल्गुन शुक्ल पञ्चमीको एकभुक्त, षष्ठीको नक्त, सप्तमीको याचित, अष्टमीको निराहार और नवमीको उपवास करे। र देवी (सरस्वती) का यथाविधि पूजन करके दूसरे दिन सर्जन करे।

(१३) **शुक्लैकादशी** (ब्रह्माण्डपुराण)—फाल्गुन क्ल एकादशी 'आमलकी' कहलाती है। इस दिन आँवलेके मीप बैठकर* भगवान्‌का पूजन करे। ब्राह्मणोंको दक्षिणा और कथा सुने। रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन पारण रे। इसकी कथाका सार यह है कि वैदेशिक नगरमें चैत्ररथ राजाके यहाँ एकादशीके व्रतका अत्यधिक प्रचार था। एक ार फाल्गुन शुक्ल एकादशीके दिन नगरके सम्पूर्ण नर-नारियों-को व्रतके महोत्सवमें मग्न देखकर कौतूहलवश एक व्याधा वहाँ आकर बैठ गया और भूखा-प्यासा दूसरे दिनतक वहीं बैठा रहा। इस प्रकार अकस्मात् ही व्रत और जागरण हो जानेसे दूसरे जन्ममें वह जयन्तीका राजा हुआ। विशेष विधि-विधान और निर्णय आदि चैत्रके व्रतपरिचयमें दिये गये हैं। वहाँ देखने चाहिये।

(१४) **पापनाशिनी द्वादशी** (ब्रह्माण्डपुराण)—फाल्गुन शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् हाथमें जल लेकर 'द्वादश्यां तु निराहारः स्थित्वाहमपरेऽहनि। भोक्ष्यामि जामदग्न्येश शरणं मे भवाच्युत ॥'—इस मन्त्रके उच्चारणसे व्रत ग्रहण करे। फिर आँवलेके वृक्षके नीचे एक वेदी बनाकर उसपर कलश स्थापन करके उसीपर ताँबे या बाँसके पात्रमें लाजा (खील) भरकर रक्खे और उसमें सुवर्णनिर्मित परशुरामकी मूर्ति रखकर 'क्षत्रान्तकरणं घोरमुद्वहन् परशुं करे। जामदग्न्यः प्रकर्तव्यो रामो रोषारुणेक्षणः ॥' से ध्यान करे। और उनको पञ्चामृतसे स्नान कराकर षोडशोपचार-पूजन करे। इसके अतिरिक्त 'पादयोर्विशोकाय', 'जान्वोः सर्वरूपिणे', 'नासिकाया शोकनाशाय', 'ललाटे वामनाय', 'भ्रुवो रामाय' और 'शिरसि सर्वात्मने नमः' से अङ्गपूजा और नाममन्त्रसे आयुध-पूजा करे। और फिर 'नमस्ते देवदेवेश जामदग्न्य नमोऽस्तु ते। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं मालत्या सहितो हरे ॥' से अर्घ्य देकर 'माता पितामहश्चान्ये अपुत्रा ये च गोत्रिणः। ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूले सदा पयः ॥' से आँवलेका अभिषेक करके १०८, २८ या ८ परिक्रमा करे और ब्राह्मण-भोजनादिके पीछे व्रतका विसर्जन करे।

(१५) **सुगतिद्वादशी** (पृथ्वीचन्द्रोदय)—फाल्गुन शुक्ल द्वादशीको भगवान्‌का पूजन करके 'श्रीकृष्ण' इस मन्त्रके १०८ जप करे और उपवास रक्खे।

(१६) **सुकृतद्वादशी** (पुराणसमुच्चय)—इस व्रतमें फाल्गुन शुक्ल दशमीको मध्याह्नभोजन, एकादशीको उपवास, द्वादशीको एकभुक्त और त्रयोदशीको अयाचित भोजन करे।

(१७) **नन्दत्रयोदशी** (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशीको श्रीकृष्णके उद्देश्यसे व्रत करे और उत्सव करके भगवान्‌का पूजन करे।

(१८) **प्रदोषव्रत** (व्रतोत्सव)—यह सुपरिचित पूर्वागत व्रत प्रत्येक त्रयोदशीको किया जाता है। इसके उपयोगी विशेष विधि-विधान और वाक्यादि चैत्रके व्रतोंमें दिये गये हैं।

(१९) **महेश्वरव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशीको सोपवास शिवपूजन करके गोदान करनेसे अग्निष्टोमके समान फल होता है। यदि प्रतिमास दोनों चतुर्दशियोंको एक वर्षतक व्रत किया जाय तो कुलका उद्धार और पुण्डरीकाक्षका आश्रय प्राप्त होता है।

(२०) **वृषदानव्रत** (वीरमित्रोदय)—इसी दिन (फाल्गुन शुक्ल १४ को) यथोक्तगुण*-सम्पन्न वृषका गन्ध-

* फाल्गुने मासि शुक्लायामेकादश्यां जनार्दनः।
वसत्यामलकीवृक्षे लक्ष्म्या सह जगत्पतिः ॥
तत्र सम्पूज्य देवेशं शक्त्या कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
उपोष्य विधिवत् कल्पं विष्णुलोके महीयते ॥
(नृसिंहपरिचर्या)

* लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥
(हेमाद्रि)

स्वयं भी स्वल्पमात्रामें खीरका भोजन करे। यह व्रत पुत्र-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले अपुत्र स्त्री-पुरुषोंके करनेका है। देवमाता अदितिके उदरसे वामनभगवान् इसी व्रतके प्रभावसे प्रकट हुए थे।

(२) मधुकतृतीया (पुराणसमुच्चय)—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल तृतीयाको किया जाता है। उस दिन प्रातः स्नानादिके पश्चात्—१ भूमिकायै, २ देवभूषायै, ३ उमायै, ४ तपोवनरतायै और ५ गौर्यै नमः—इन पाँच मन्त्रोंके उच्चारणके साथ क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य—इन पाँच उपचारोंसे उमा (पार्वती) का पूजन करे और 'दौर्भाग्यं मे शमयतु सुप्रसन्नं मनः सदा। अवैधव्यं कुले जन्म ददात्वपरजन्मनि ॥' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे।

(३) अविघ्नकरव्रत (वाराहपुराण)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्थीको सुवर्णके गणेशजीका गन्धादिसे पूजन करे, तिलोंके पदार्थका भोग लगाये, तिलोंका हवन करे, ताम्रादिके पाँच पात्रोंमें तिल भरकर ब्राह्मणोंको दे तथा उनको तिलोंके पदार्थका भोजन कराये। और स्वयं भी तिलोंका भोजन और तिलोंसे ही पारण करे। इस प्रकार ४ महीनेतक प्रत्येक शुक्ल चतुर्थीका व्रत करके पाँचवें महीने (आषाढ़) मे पूर्वोक्त पूजित मूर्ति ब्राह्मणको दे तो सब विघ्न दूर होते हैं। प्राचीन कालमें अश्वमेधके समय महाराज सगरने, त्रिपुरासुरयुद्धमें शिवजीने और समुद्रमन्थनमे विघ्न न होनेके लिये स्वयं भगवान्ने यही व्रत किया था।

(४) मनोरथचतुर्थी (मत्स्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्थीको सुवर्णके गणेशजीका गन्धादिसे पूजन करके नक्तव्रत करे। इस प्रकार बारह महीनेकी प्रत्येक शुक्ल चतुर्थीको करता रहकर सालभर बाद उक्त मूर्तिका दान करे तो सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं।

(५) अर्कपुटसप्तमी (भविष्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् 'खखोल्काय नमः' इस मन्त्रसे सूर्यनारायणका पूजन करे। इसके पहले दिन (षष्ठीको) एकभुक्त, उस दिन (सप्तमीको) निराहार और अष्टमीको (तुलसीपत्रके समान) अर्कपत्र (आकके पत्तों) का प्राशन करे तो सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(६) त्रिवर्गप्रदा सप्तमी (भविष्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको 'ॐ महेन्द्राय नमः' इस मन्त्रसे पूजनादि करके उपवास करनेसे त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) की होती है।

(७) कामदा सप्तमी (भविष्यपुराण)—[illegible] शुक्ल सप्तमीको स्त्री या पुरुष जो भी हो, 'सूर्याय नमः' मन्त्रसे तमोऽपह (सूर्य) का गन्धादिसे पूजन करे। बैठते, सोते-जागते, सर्वत्र ही सूर्यका स्मरण करता रहे। फिर अष्टमीको स्नान करके सूर्यका यथोक्त विधिसे पूजन [illegible] ब्राह्मणको दक्षिणा दे। सूर्यके उद्देश्यसे हवन कर भक्ति [illegible] नमस्कार करे। नैवेद्यमें कसार (घीमें सेके हुए शर्करा [illegible] खुले हुए आटे) का भोग लगाये। सात घोड़ोंका [illegible] करे और पूजन-सामग्री ब्राह्मणको दे। इस प्रकार व्रत करनेसे अपुत्रको पुत्र, निर्धनको धन, रोगीको आरोग्य [illegible] निराश्रयको पदप्राप्ति आदि सब कुछ होते हैं।

(८) कल्याणसप्तमी (पुराणसमुच्चय)—फाल्गुन [illegible]

(९) द्वादशसप्तमी (हेमाद्रि)—यह व्रत [illegible] शुक्ल सूर्यसप्तमीसे आरम्भ किया जाता है। विधान यह है [illegible] १ माघमे 'भानवे', २ फाल्गुनमें 'सूर्याय', ३ चैत्रमें 'वेदांशवे' [illegible] ४ वैशाखमें 'धात्रे', ५ ज्येष्ठमें 'इन्द्राय', ६ आषाढ़में [illegible] 'दिवाकराय', ७ श्रावणमें 'आतपिने', ८ भाद्रपदमें [illegible] ९ आश्विनमें 'सवित्रे', १० कार्तिकमें 'सप्ताश्वाय', ११ मार्गशीर्षमें 'भानवे' और १२ पौषमें 'भास्कराय नमः'—इन [illegible] सूर्यनारायणका पूजन करके उपवास करे और माघ [illegible] सप्तमीको शुद्ध भूमिके प्राङ्गणमें लाल चन्दनका लेप करके [illegible] एक, दो या चार हाथके विस्तारका सिन्दूरसे सूर्य [illegible] बनाये और उसपर लाल वस्त्रोंसे ढके हुए तिलपूर्ण [illegible] दक्षिणासहित बारह कलश स्थापन करके लाल गन्ध-पुष्प [illegible] उनमें सूर्यका पूजन करे और 'आकृष्णेन॰' से हवन [illegible] ब्राह्मणोंको भोजन कराये और उक्त कलशादि ब्राह्मणों [illegible] दे। इस प्रकार एक वर्षपर्यन्त करनेसे सूर्यलोककी [illegible] होती है।

(१०) लक्ष्मी सीताष्टमी (वीरमित्रोदय)—फाल्गुन शुक्ल अष्टमीको एक चौकीपर लाल वस्त्र बिछाकर उस [illegible] अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाये और उसपर लक्ष्मी [illegible] जानकीकी सुवर्णमयी मूर्ति स्थापन करके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन [illegible]

ये हँसते हुए फूल !

[illegible] झरोखेसे झाँके [illegible] और उस मुस्कानमें जब उनके [illegible] हूँढ़ोगे, [illegible] है उस मुस्कानको तुमने [illegible] देखी है और यदि देखी है तो क्या तुम्हारे हृदयमें कोई मीठी-मीठी गुदगुदी नहीं उठती ? सौन्दर्य तो हमारे चारों ओर उमड़ रहा है, हमारी आँखें ही इतनी अभागिनी हैं कि मुँदी ही रहती हैं—उसकी छूँ भी देख नहीं पाती।

संसारमें इतनी मारकाट मची है, फिर भी ये फूल खिलते ही हैं और खिलते ही जाते हैं—नित्य नये सौन्दर्यके साथ, नित्य नये आकर्षणभरे, नित्य नयी मुसकान लिये। और इन फूलोंकी रहस्यमयी भाषाका राज—कोई क्या जाने, कोई क्या समझे ? किसे अवकाश है इनकी ओर देखनेकी, इनकी प्यारभरी बातें सुननेकी ? और हवाके एक हल्के झोंकेसे जब इनका एक-एक दल सिहर उठता है उस समय किस मनुहारके साथ ये आनेवालोंका आवाहन करते हैं, किस प्रेमसे पास बुलाते हैं ! उस समयकी इनकी भेदभरी भाषा ! मीठी, प्यारी, अस्फुट, रसमय—ठीक जैसे दो प्रेमियोंकी प्यारभरी, मनुहारभरी बातचीत—ऐसी कि कोई नगोड़ा तीसरा न सुन ले। हाँ, तो, इनकी मीठी बोल—'ओ भोले मानव ! तू कहाँ भटक रहा है। आ, मेरे समीप आ। दुनियाके झगड़े-झमेलेमें क्या धरा है जो इतना ताना-बाना बुन रहे हो। देखो, नेक मेरी ओर देखो और मेरे साथ इस प्रभातकी मधुमयी अरुणिमामें अपने हृदयको नहलाओ। तुम चाहे जितना और चाहे जबतक—मुझसे दो मीठी-मीठी बातें तो कर लो और तुम्हारे दिलपर जो इतना सारा गर्दगुब्बार जम गया है, वह, सच मानो, मेरी ओर देखते ही झड़ जायगा। तुम्हारे दिलमें जो धूआँ उठ रहा है और तुम्हारा आकाश मेघाच्छन्न है उसमें मैं तुम्हें आशा और प्रेमका सन्देश लेकर आया हूँ।

[illegible] हम [illegible] हैं और [illegible]। वे [illegible] और [illegible], हम और [illegible] हैं। तुम भी, [illegible] बनो, ओ भोले मानव ! तुम भी उन्हीं अमरोंके देशके प्राणी हो—जहाँ फूल खिले ही रहते हैं, कभी मुरझाते नहीं; जहाँ प्रकाशको अन्धकार आच्छन्न नहीं करता, जहाँ प्रेममें वितृष्णा नहीं है, जहाँ ज्वारमें उतार नहीं है। उसी अमरोंके लोकसे हम तुम्हें आशाका सन्देश लाते हैं। तुम्हारे चिन्ताके ये बादल जो घुमड़ आये हैं, हवा इन्हें तुरत उड़ा ले जायगी। रातकी अँधियारीपर दिनका प्रकाश पड़ते ही सब कुछ प्रकाशमय हो जायगा। अशुभपर शुभकी विजय होगी, असत्यपर सत्यकी ध्वजा फहरायेगी, असुन्दरकी मरुभूमिमें सुन्दरका सागर लहरायेगा—रह जायगा सत्य, शिव और सुन्दर।

'विपत्तिके ये बादल, दुःखोंकी यह निविड़ अमावस्या जब टल जायगी और उनकी याद भी भूल जायगी तब भी हम आजकी तरह अपनी मीठी-मीठी मुसकानों एवं आनन्द-नृत्यसे तुम्हारा दिल हरा बनाये रखेंगे और तुम्हारे दिलको गुदगुदाते रहेंगे। हम 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के प्रतीक हैं। जहाँ रहते हैं इसीकी सुवास बिखेरते रहते हैं। दुनिया बदल जाय, सब-का-सब बदल जाय, हम बदलनेके नहीं। हम सदा-सदैव ज्यों-के-त्यों हैं—उसी मीठी मुसकानका नाज उठाये हम सदा स्नेहभरी दृष्टिसे संसारको देखते रहते हैं और हँसी बिखेरते रहते हैं। तुम हमें भले ही भूल जाओ, भुला बैठो, पर हम तो सदा तुम्हारे पथमें पलकें बिछाये, तुम्हारी अगवानीके लिये उत्सुकतासे प्रतीक्षा करते हैं; और तुम्हें अन्धकार और बुराइयोंमें भटकते हुए देखकर भी हम निराश नहीं होते, क्योंकि जानते हैं कि किसी-न-किसी दिन तुम हमारे पथमें लौटोगे और हमारे मूक सौन्दर्य तथा माधुर्यका रसपान करोगे।

'ओ मानव ! तू अन्धकार और दुःखोंकी गलियोंमें क्यों भटक रहा है ? मेरी ओर देखो न। हम तो

भी सूर्यास्तके पीछे होली जला देनी चाहिये। यदि दूसरे दिन प्रदोषके समय पूर्णिमा हो और भद्रा उससे पहले उतरनेवाली हो, किन्तु चन्द्रग्रहण हो तो उसके शुद्ध होनेके पीछे स्नान-दानादि करके होलिकादहन करना चाहिये। और यदि फाल्गुन दो हों (मलमास हो) तो शुद्ध मास (दूसरे फाल्गुन) की पूर्णिमाको होलिकादीपन करना चाहिये। स्मरण रहे कि जिन स्थानोंमें माघ शुक्ल पूर्णिमाको 'होलिकारोपण' का कृत्य किया जाता है, वह उसी दिन करना चाहिये। क्योंकि वह भी होलीका ही अंग है।"""होली क्या है? क्यों जलायी जाती है? और इसमें पूजन किसका होता है? इसका आंशिक समाधान पूजाविधि और कथासारसे होता है। होलीका उत्सव रहस्यपूर्ण है। इसमें होली, ढुंढा, प्रह्लाद और स्मरशान्ति तो है ही; इनके सिवा इस दिन 'नवान्नेष्टि' यज्ञ भी सम्पन्न होता है। इसी अनुरोधसे 'धर्मध्वज' राजाओंके यहाँ माघी पूर्णिमाके प्रभातमें शूर, सामन्त और शिष्ट मनुष्य गाजे-बाजे और लवाजमेसहित नगरसे बाहर वनमें जाकर शाखासहित वृक्ष लाते हैं और उसको गन्धादिसे पूजकर नगर या गाँवसे बाहर पश्चिम दिशामें आरोपित करके खड़ा कर देते हैं। जनतामें यह 'होली', 'होलीदंड' (होलीका डाँडा) या 'प्रह्लाद' के नामसे प्रसिद्ध होता है; किन्तु इसे 'नवान्नेष्टि' का यज्ञस्तम्भ माना जाय तो निरर्थक नहीं होगा। अस्तु,"""व्रतीको चाहिये कि वह फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको प्रातः स्नानादिके अनन्तर 'मम बालकबालिकादिभिः सह सुखशान्तिप्राप्त्यर्थं होलिकाव्रतं करिष्ये।' से संकल्प करके काष्ठखण्डके खड्ग बनवाकर बच्चोंको दे और उनको उत्साही सैनिक बनाये। वे निःशङ्क होकर खेल-कूद करें और परस्पर हँसें। इसके अतिरिक्त होलिकाके दहन-स्थानको जलके प्रोक्षणसे शुद्ध करके उसमें सूखा काठ, सूखे उपले और सूखे काँटे आदि भलीभाँति स्थापन करे। तत्पश्चात् सायंकालके समय हर्षोत्फुल्ल मन होकर सम्पूर्ण पुरवासियों एवं गाजे-बाजे या लवाजमेके साथ होलीके समीप जाकर शुभासनपर पूर्व या उत्तरमुख होकर बैठे। और 'मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य (पुरग्रामस्थजनपदसहितस्य वा) सर्वापच्छान्तिपूर्वक[illegible] होलिकापूजनं करिष्ये।'—यह संकल्प करके

पूर्णिमा प्राप्त होनेपर अछूतें या सूतिकाके घरसे [illegible] अग्नि मँगवाकर होलीको दीप्तिमान् करे और [illegible] गन्ध-पुष्पादिसे उसका पूजन करके '[illegible] कृता त्वं होलि बालिशैः। अतस्त्वां पूजयिष्यामि [illegible] प्रदा भव ॥'—इस मन्त्रसे तीन परिक्रमा या [illegible] अर्घ्य दे और लोकप्रसिद्ध होलीदंड (प्रह्लाद) [illegible] 'यज्ञस्तम्भ' को शीतल जलसे अभिषिक्त करके [illegible] रख दे। तत्पश्चात् घरसे लाये हुए खेड़ा, [illegible] बरकूलिया आदिको होलीमें डालकर जौ-गेहूँकी [illegible] चनेके होलोंको होलीकी ज्वालासे सेंके और [illegible] नवान्न तथा होलीकी अग्नि और यत्किञ्चित् [illegible] आये। वहाँ आकर वासस्थानके प्राङ्गणमें [illegible] लगाकर अन्नादिका स्थापन करे। उस [illegible] खड्गोंको स्पर्श करके बालकगण हास्यसहित [illegible] उनका रात्रि आनेपर संरक्षण किया जाय और [illegible] हुए पकान्न उनको दिये जायँ। इस प्रकार [illegible] दोष शान्त हो जाते हैं और होलीके उत्सवसे [illegible] शान्ति होती है।"""कथाका सार यह है कि"""[illegible] युगमें हिरण्यकशिपुकी बहिन, जो स्वयं आगसे नहीं [illegible] थी, अपने भाईके कहनेसे प्रह्लादको जलानेके लिये गोदमें लेकर आगमें बैठ गयी; किन्तु भगवान्‌की [illegible] हुआ कि होली जल गयी किन्तु प्रह्लादको [illegible] लगी। उसके बदले हिरण्यकशिपु अवश्य मारा [illegible] और (२) इसी अवसरपर नवीन धान्य (जौ, [illegible] चने) की खेतियाँ पककर तैयार हो गयीं और [illegible] उनके उपयोगमें लेनेका प्रयोजन भी उपस्थित [illegible] किन्तु धर्मप्राण हिंदू परमेश्वरको अर्पण किये बिना [illegible] उपयोगमें नहीं ले सके, अतः फाल्गुन शुक्ल [illegible] समिधास्वरूप उपले आदिका संचय करके उसमें [illegible] अग्निका स्थापन, प्रतिष्ठा, प्रज्वालन और पूजन करके [illegible] और [illegible] धान्यको पर [illegible] प्रतिष्ठित किया। [illegible] होकर प्रायः सभी प्राणी [illegible] हुए और होलीके रूपमें 'नवान्नेष्टि' यज्ञको सम्पन्न [illegible]

१. [illegible] (भविष्योत्तर)

२. [illegible] (व्रतराज)

१. [illegible]

शेनार होते देखे गये हैं। इसीसे समझ सकते हो कि तम्बाकू कैसी जहरीली चीज है।

केशव—लेकिन पिताजी! तम्बाकू तो बहुत-से लोग पीते या खाते हैं। परन्तु वे तो बीमार नहीं पड़ते और न मरते ही हैं।

पिता—बात यह है कि हर एक जहरकी क्रिया उसकी मात्रापर और मनुष्यके अभ्यासपर निर्भर रहती है। यदि अधिक मात्रामें एकबारगी सेवन किया जाय तो अवश्य इससे तत्काल मृत्यु हो जायगी। किन्तु थोड़ी-थोड़ी मात्रामें अभ्यास बढ़ाकर नित्य सेवन किया जाय तो मृत्यु तो न होगी, परन्तु कुछ ऐसी स्थायी खराबियाँ शरीर और मस्तिष्कके अंदर पैदा हो जायँगी, जिनसे जीवनभर पीछा नहीं छूट सकता। उदाहरणके तौरपर अफीमको ही ले सकते हो। सब जानते हैं कि अफीम एक प्रकारका विष है। और बहुत-से लोग इसे अधिक मात्रामें खाकर प्राण गँवा चुके हैं; किन्तु अफीमची इसे अपनी बँधी हुई मात्रामें रोज ही खाया करता है और फिर भी नहीं मरता। हाँ, उसका शरीर अवश्य सूखकर काँटा बन जाता है और उसका मस्तिष्क किसी दूसरी दुनियामें चक्कर लगाया करता है, जिसे इस दुनियाके लोग 'पीनक' कहते हैं। ठीक वही नियम तम्बाकूके लिये भी लागू है। तम्बाकू भी एक प्रकारका विष है और इसे भी यदि अत्यधिक मात्रामें एकबारगी सेवन किया जाय, तो चक्कर, बेहोशी और अन्तमें मृत्युतक उपस्थित हो सकती है, किन्तु थोड़ी-थोड़ी मात्रामें नित्य सेवन करने और अभ्यास बढ़ानेसे मृत्यु तो नहीं होती, पर शरीर और मनका स्वास्थ्य सदाके लिये बिगड़ जाता है।

केशव—तो क्या रोज तम्बाकू पीनेसे शरीरमें रोग पैदा हो जाते हैं?

पिता—हाँ अवश्य। कुछ रोग तो स्वयं इससे पैदा होते हैं और कुछ दूसरे रोगोंके लिये शरीरमें रास्ता खुल जाता है।

केशव—कैसे?

पिता—देखो, सिगरेट, बीड़ी, सिगार, चिरुट या हुक्का—चाहे जो पिया जाय, सबमें केवल जलती हुई तम्बाकूका धूआँ ही पीना पड़ता है; और यह जहरीला धूआँ बारम्बार अपने श्वासके साथ खींच-खींचकर फेफड़ोंमें भरना होता है। अस्तु, सबसे पहले तो जहाँ-जहाँ यह धूआँ अंदरकी दीवारोंसे छू जाता है वहाँ-वहाँ प्रदाह अर्थात् जलन उत्पन्न कर देता है, जिससे गलेमें पीड़ा, स्वरमें भारीपन, सूखी खाँसी, हँफनी, दमा इत्यादि रोग पैदा हो जाते हैं। साथ ही ये प्रदाहयुक्त *स्थान उन तमाम छुतहे रोगोंके लिये भी रास्ता खोल* देते हैं, जिनके कीटाणु हवामें नित्य उड़-उड़कर श्वास-द्वारा अंदर पहुँचते रहते हैं और उन प्रदाहयुक्त स्थानोंमें अपना अड्डा आसानीसे जमा सकते हैं। इस प्रकारके छुतहे रोगोंमें क्षयका रोग सबसे भयङ्कर है।

केशव—मैं समझ गया, तम्बाकू बड़ी बुरी चीज है।

पिता—हाँ, परन्तु अभी तुमने इसकी केवल थोड़ी-ही-सी बुराइयाँ सुनी हैं। इसका सबसे बुरा प्रभाव तो मनुष्यके स्नायु-संस्थानपर पड़ता है।

केशव—स्नायु-संस्थान क्या चीज है?

पिता—यह हमारे शरीरमें एक प्रकारकी अद्भुत तारबर्की है। तुम जानते हो कि जब कोई जरूरी सन्देशा दूर देशको भेजना होता है तो उसे चिट्ठीसे न भेजकर तारसे भेजते हैं। इसके लिये बहुत-से बिजलीके तार हमारे तारघरसे दूर-दूरके शहरोंतक चारों ओर लगे हुए हैं, जिनके द्वारा हर जगहके समाचार हमारे तारघरमें नित्य आया-जाया करते हैं। ठीक इसी प्रकारके, किन्तु इनसे बहुत सूक्ष्म और ऊँचे दर्जेके, सजीव तार हमारे सम्पूर्ण शरीरमें बिछे हुए हैं। इनका केन्द्र अर्थात् मुख्य तारघर हमारा मस्तिष्क है, जो हमारे मनका निवासस्थान भी है। यहींसे शरीरके प्रत्येक स्थानका सन्देशा इन्हीं सजीव तारोंद्वारा बराबर आया-जाया करता है और यहींसे शरीरके सम्पूर्ण कार्यकी व्यवस्था भी की जाती है। उदाहरणके तौरपर यदि तुम्हारा हाथ किसी जलते हुए कोयलेसे छू जाय तो तुम झट हाथको वहाँसे हटा लेते हो। यह क्यों? बात यह है

अपने-आपको ही तुम्हारे सुख-सुहागके लिये दे देना चाहते हैं। देना-ही-देना हमने सीखा है। लुटाना-ही-लुटाना हम जानते हैं? सौन्दर्य बिखेरा करते हैं हम, सुगन्ध लुटाया करते हैं हम। और क्या बदलेमें कोई आशा रखकर? ना ना, ऐसा नहीं—हम बदलेमें कुछ भी नहीं चाहते। कुछ भी नहीं। आदर, स्नेह आदि भी नहीं। हम तो अपने हृदयका मधु और मदिर गन्ध लुटाना चाहते हैं।

'हम जितना ही लुटाते हैं 'दाता' उतना ही हमारा आँचल भर देता है। दाता तो एक ही है—क्या हमारा, क्या तुम्हारा। यह सोचनेकी आवश्यकता ही नहीं कि हमारा हृदय दान करते-करते कभी रिक्त हो जायगा। बदलेमें स्नेहकी आशा भी व्यर्थ ही है। दिये जाओ, दिये जाओ और फिर भी दिये जाओ—आता तो है सब कुछ मालिकके अटूट भण्डारसे। हमारा काम तो केवल लुटाना-ही-लुटाना है।

'और, एक बात और कह दूँ—है तो रहस्यभरी, पर आज सुना ही दूँ। यह जो हमारे हृदयमें तैरता और नाचता हुआ सौन्दर्य, पवित्रता, मधु… तुम देख रहे हो यह सब प्रभुके हृदयका … मात्र ही तो है। कोई चिन्ता नहीं, कलके … परेशानी नहीं—सर्वथा निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व और … यह सब इसलिये ही न कि तुम भी हमारी … मस्तीमें मस्त रहना, निश्चिन्त और निर्द्व… सीख सको।'

यह है फूलकी प्यारी-प्यारी बात, उनकी … भाषामें। इन फूलोंसे यारी जोड़ी जाय तो वे … नहीं देते, क्या-क्या नहीं कहते। प्यार … मनुहार करते हैं—अपने दिलकी कहते हैं … दिलकी सुनते हैं। और इन हँसते हुए फूलोंमें … आँखें डुबाकर देखो तो सही। ये अपने … लिये कुछ भी श्रम नहीं उठाते—इनकी … सौन्दर्यको कोई भी राजराजेश्वर पा सका? … फूलोंका बार-बार यही कहना है कि कलकी … करो, कल अपनी परवा आप कर लेगा—आज … मस्त रहना सीखो।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

सिगरेट, बीड़ी या तम्बाकूकी लत

पिता—केशव! यहाँ जली हुई बीड़ी कौन छोड़ गया है?

केशव—मजदूरिनका छोकरा रमुआ पी रहा था। वही डाल गया होगा। कल आयेगा तो उसकी खबर लूँगा।

पिता—नहीं-नहीं, खबर लेनेकी जरूरत नहीं। जैसे तुम बच्चे हो उसी तरह वह भी एक बच्चा है। और फिर जूठी बीड़ी छोड़ जाना कोई ऐसा भारी अपराध भी नहीं। दुःख तो इस बातका है कि अभी इस नन्ही-सी अवस्थासे ही उसके मुँह यह जहर लग गया।

केशव—क्या बीड़ी जहर है!

पिता—हाँ, जहर तो है ही। बीड़ी, सिगरेट, सिगार, चिरुट और हुक्का सभी जहरीली चीजें हैं। ये सब तम्बाकूके पत्तोंसे बनती हैं और तम्बाकूमें एक प्रकारका जहर होता है, जिसे अंग्रेजीमें 'निको…' (Nicotine) कहते हैं।

केशव—यह कैसा जहर है!

पिता—यह ऐसा जहर है कि केवल एक बूँदसे … बड़ी चिड़ियोंको एक मिनटमें मार डालता है … खरगोश इससे तीन मिनटमें मर जाते हैं। … शरीरपर भी इसका बड़ा घातक परिणाम होता … कई आदमी तो तम्बाकूके पत्तोंका काढ़ा शरीरमें … करनेसे ही केवल तीन घंटेके अंदर मर गये … कितने ही सैनिक युद्धकार्यसे बचनेके लिये अ… या बगलमें तम्बाकूका पत्ता बाँधते और जान-…

कि जो तार या स्नायु मस्तिष्कसे आकर तुम्हारे हाथकी खालतक फैले हुए हैं, उन्होंने ज्यों ही उस जलते हुए कोयलेका स्पर्श किया, त्यों ही उसकी खबर मस्तिष्क-तक पहुँचा दी। मस्तिष्कने भी तत्काल उसी हाथकी मांसपेशियोंतक जानेवाले तारोंसे मांसपेशियोंको आज्ञा भेजी कि हाथको वहाँसे हटा लो। निदान मांसपेशियाँ सञ्चालित हुईं और वह हाथ वहाँसे हट गया। यह सब कहनेमें तो बहुत समय लगता है, किन्तु मस्तिष्क-तक खबर पहुँचने और उसके आज्ञानुसार काम होनेमें क्षणभरका भी समय नहीं लगता। इसी प्रकार हम आँखोंसे जो कुछ देखते हैं, कानोंसे जो कुछ सुनते हैं, नाकसे जो कुछ सूँघते हैं, जीभसे जो कुछ स्वाद लेते हैं और शरीरसे जो कुछ छूते हैं—उन सबका ज्ञान इन्हीं तारों (अर्थात् स्नायुओं) द्वारा हमारे मस्तिष्क-तक पहुँचता रहता है। अस्तु, शरीरके एक छोरसे दूसरे छोरतक फैले हुए इन्हीं तमाम तारोंके समूहको 'स्नायु-संस्थान'के नामसे पुकारते हैं और तारोंको 'स्नायु' कहते हैं। हमारी सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति और कार्यशक्ति इन्हीं स्नायुओंपर अवलम्बित है। यदि किसी अङ्गके ये स्नायु काट दिये जायँ तो वह अङ्ग हमारे लिये मुर्दा-सा हो जायगा। जैसे यदि हाथकी ओर जानेवाले सम्पूर्ण स्नायु काट दिये जायँ, तो फिर हाथ चाहे जलकर राख ही क्यों न हो जाय, किन्तु हमें न तो उससे पीड़ा होगी और न हम हाथको आगसे हटा ही सकेंगे। यही हाल हमारे सब अङ्गोंका है, चाहे वे बाहरी अङ्ग हों—जैसे हाथ, पैर, आँख, कान, नाक, मुँह इत्यादि और चाहे वे भीतरी अङ्ग हों—जैसे हृदय, यकृत, पेट, तिल्ली, गुर्दे इत्यादि। सबकी क्रिया और ज्ञानशक्ति अपने-अपने स्नायुओंपर ही अवलम्बित है। मस्तिष्कको इन सब स्नायुसमूहोंका मूलस्थान अर्थात् जड़ समझना चाहिये। यहाँ जो गूदा है वह स्नायुओं-का भण्डार है और उसीमें हमारे सोचने-विचारनेकी

शक्ति, समझनेकी शक्ति, स्मरण-शक्ति, [illegible] कल्पना-शक्ति, आविष्कार-बुद्धि और सभी प्रक[ार] बुद्धि तथा निश्चयोंका निवासस्थान है। थोड़ेमें यह [कह] सकते हो कि हमारे स्नायुओंमें ही हमारा जीवन है [और] उनके बिना यह शरीर बस, हाड़-मांसका एक [ढेर] रह जायगा। परन्तु ये स्नायु होते हैं बड़े सुकुमार [और] सूक्ष्मग्राही। इनपर हमारे छोटे-से-छोटे कार्य [और] आदतोंका भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। [अतः] स्वस्थ और सुखी जीवन बितानेके लिये इनकी [पूरी] सम्हाल करनेकी जरूरत है।

केशव—तम्बाकूका इन स्नायुओंपर क्या [असर] पड़ता है?

पिता—तम्बाकू इन स्नायुओंको कमजोर [और] कुण्ठित बना देती है। फेफड़ोंमें पहुँचकर तम्[बाकूका] जहरीला धूआँ पहले सीधे हमारे खूनमें मि[लता है] जिससे हमारा खून शुद्ध और साफ़ होनेके [बजाय] तम्बाकूके जहरसे भर उठता है। बादमें यह जहर [खूनके] साथ-साथ सम्पूर्ण शरीरमें पहुँचता है, जिससे ह[मारे शरीर]के स्नायु-संस्थान प्रभावित होते हैं और हर एक [अङ्गकी] क्रिया एवं शक्तिपर आघात पहुँचता है। उ[धर] फेफड़ोंसे होकर जब यह जहरीला खून हृदयमें [पहुँचता] है तो वहाँके स्नायुओंको खराब करके बहुधा [हृदयकी] दुर्बलता और धड़कन आदि रोगोंको जन्म दे[ता है।] अधिक तम्बाकू पीनेवालोंकी यदि नाड़ी देखी [जाय तो] वह अनियमितरूपसे चलती हुई जान पड़ेगी, [जो इस] बातकी प्रत्यक्ष सूचना है कि हृदयका काम ठी[क] नहीं हो रहा है। इसके बाद यह जहरीला खून [शरीरके] अन्य भागोंमें जाता है और वहाँ भी तरह-[तरहकी] खराबियाँ पैदा करता है। पेटमें जाकर पेटके [स्नायुओं]को बिगाड़ता है जिससे अजीर्ण और अग्निमान्द्य [पैदा] होते हैं; मस्तकमें पहुँचकर मस्तिष्कको कुण्ठित [करता] है, जिससे [illegible]

गाढ़ी कमाईका बहुत-सा रुपया भी खोते हैं। इतना ही नहीं, इससे हम अपने जीवनकी बहुत कुछ नैतिक शुद्धताको भी नष्ट कर बैठते हैं।

केशव—कैसे ?

पिता—उस दिन मैं तुमसे 'स्वच्छवायु-सेवन' के सम्बन्धमें बातें करते हुए बतला चुका हूँ कि मनुष्यका यह एक नैतिक कर्तव्य है कि हवाको व्यर्थ गंदी न करे। जो व्यक्ति लापरवाहीसे हवाको बेकार गंदी किया करता है वह नैतिक दृष्टिसे समाजके प्रति बड़ा भारी अपराधी है। तम्बाकू पीनेवाला हवाको नित्य गंदी किया करता है और व्यर्थ गंदी किया करता है, क्योंकि इससे उसको सिवा हानिके कुछ लाभ नहीं होता और साथमें दूसरे लोगोंको भी उस गंदगीसे हानि उठानी पड़ती है। जब और जहाँ ये तम्बाकू पीनेवाले जरा फुर्सतसे बैठे कि सिगरेट, बीड़ी या सिगारका धूआँ उड़ा-उड़ाकर हवाको खराब करने लगते हैं। किसी कमरेके अंदर यदि दो एक भी ऐसे आदमी आकर बैठ गये तो थोड़ी ही देरमें सारा कमरा दुर्गन्धसे भर उठता है। जो लोग तम्बाकू नहीं पीते उनके लिये ऐसी जगह बैठे रहना एक भारी तपस्याका काम है। नाट्यशालाओं और सिनेमा-घरोंमें इस प्रकारका अनुभव नित्य ही हुआ करता है। चारों ओरसे बंद स्थान और सैकड़ोंकी भीड़में जिधर देखो उधर ही सिगरेट, बीड़ी और सिगार रावणकी चिताकी भाँति सुलग-सुलगकर धूआँ उड़ाती रहती हैं और अपनी दुर्गन्धसे हवाको भरती रहती हैं। रेलगाड़ियोंमें विशेषकर जाड़ेकी रातके समय तो यह दृश्य और भी बीभत्स हो उठता है। तमाम खिड़कियाँ बंद कर दी जाती हैं और फिर बिल्कुल बेफिक्रीके साथ सिगरेट-पर-सिगरेट और बीड़ियों-पर-बीड़ियाँ फूँकी जाती हैं, जिससे सारा डब्बा दुर्गन्धपूर्ण धूएँसे भर उठता है। थूक तथा खखारसे सारी जमीन भी भर उठती है। बस, फिर मानो वहाँ साक्षात् नरकु[ण्ड] उपस्थित हो जाता है। किन्तु तम्बाकूके [लती] इसकी परवा नहीं होती। उनका मस्तिष्क [ऐसा] इतना कुण्ठित हो जाता है कि उनको य[ह पता] नहीं पड़ता कि उनकी इस गंदी आदतसे कि[सीको] कष्ट होता है या नहीं।

केशव—मेरे दर्जेमें दो-तीन ऐसे लड़के [हैं जो] मास्टरोंसे छिपा-छिपाकर बीड़ी पिया करते हैं। [जब वे] मेरे पास बैठते हैं, तब उनके मुँहसे बदबू आ[ती है।]

पिता—बदबू तो आवेगी ही। तुम ऐसे [लड़कोंके] साथ हर्गिज मत करना। लड़कपनमें ऐसे लड़कों[की संगतिसे] ही ये बुरी आदतें आ जाती हैं। इस प्रकार [वे] स्वयं डूबते हैं और दूसरोंको भी ले डूबते हैं। [याद रखो] कि तम्बाकूका जहर बड़ोंकी अपेक्षा बालकोंके [लिये] कहीं ज्यादा हानि पहुँचाता है।

केशव—यह क्यों ?

पिता—इसलिये कि बालकोंका शरीर पू[रा] बना हुआ नहीं होता। उसकी हड्डियाँ मुलाय[म,] पेशियाँ सुकुमार और स्नायु तथा मस्तिष्क बिल्कु[ल कच्ची] दशामें होते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि तम्बाकूका [जहर] उसमें घर कर ले तो फिर इन सबोंकी बाढ़ मर जा[यगी और ये] सब कच्चे ही रहकर मुर्झा जायँगे। हड्डियाँ ना[जुक और] कमजोर रह जायँगी, मांसपेशियाँ सुस्त और शिथि[ल हो] जायँगी तथा मस्तिष्क एवं स्नायुसंस्थान मुर्झाकर [निकम्मा] बन जायगा। जिस प्रकार चाकूकी चोटोंको पी[पल और] बरगदके बड़े-बड़े पेड़ तो आसानीसे बर्दाश्त कर [लेते] हैं, किन्तु एक पनपता हुआ पौधा उससे दो-एक [ही चोटमें] अंदर ही मर जायगा, वही हाल एक पूर्णवयस्क [मनुष्य] और छोटी उम्रके बालकके सम्बन्धमें तम्बाकूका समझो।

केशव—मैं समझ गया। आपकी बातोंको सदा ध्[यानमें] रखूँगा और ऐसी बुरी चीजके कभी पासतक न जाऊँ[गा।]

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, मार्च १९४२ सौर फाल्गुन १९९८ { संख्या ८
पूर्ण संख्या १८८

चरण-वन्दन

चरन कमल बंदौं हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कों सब कछु दरसाई ॥ १ ॥
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तेहि पाई ॥ २ ॥

—सूरदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रश्न—महाराजजी ! उपासनामें कैसे रुचि हो ?

उत्तर—उपासना करनेसे ही उपासनामें रुचि हो सकती है। जिसका जो इष्ट हो, उसे निरन्तर उसीका चिन्तन करते रहना चाहिये। हम जिसकी निरन्तर भावना करेंगे, वह वस्तु हमें अवश्य प्राप्त हो जायगी। उपासक तो एक नयी सृष्टि पैदा कर लेता है। इस प्राकृत संसारसे तो उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

प्र०—भगवन् ! ऐसी दिव्य दृष्टि कैसे प्राप्त हो ?

उ०—वह तो भगवद्भजनसे ही प्राप्त हो सकती है। भजनसे ऐसी कौन चीज है, जो प्राप्त नहीं हो सकती। इससे अष्ट सिद्धि और निर्विकल्प समाधि भी प्राप्त हो सकती है। ऐसे महापुरुषोंको ही दिव्य वृन्दावनके दर्शन होते हैं, साधारण बुद्धिवाले उसे कैसे देख सकते हैं। वास्तवमें भक्त और ज्ञानी इस सृष्टिमें नहीं रहते। उनकी तो सृष्टि ही अलग होती है। इस सृष्टिमें तो वे आग लगाकर आते हैं।

प्र०—महाराजजी ! उनकी सृष्टि कैसी होती है ?

उ०—जिसमें निरन्तर रास हो रहा है।

प्र०—वह कैसे दीखे ?

उ०—जो इस दुनियासे अंधे हैं, उन्हें ही वह दिव्य रास दिखायी देता है।

प्र०—इस दुनियाके त्यागका क्या स्वरूप है ?

उ०—इस संसारके त्यागके दो रूप हैं—देहत्याग और गेहत्याग। देहत्याग तो यह है कि लँगोटीको भी फेंक दिया जाय, तथा गेहत्याग यह है कि पञ्चकोषसे अलग हो जाय।

× × × ×

१. यदि भगवान्‌का चिन्तन करते हुए हमें संसारकी चीजें अच्छी लगती हैं तो समझना चाहिये कि हम अभी अपने लक्ष्यसे कोसों दूर हैं। जब संसारकी बढ़िया-से-बढ़िया चीजको देखकर भी हमें घृणा हो तभी समझना चाहिये कि कुछ भगवदनुराग हुआ। भगवद्भक्तको तो सभी चीजें तुच्छ दिखायी देनी चाहिये।

२. याद रक्खो नाम मन्त्रसे भी बढ़कर है; क्योंकि मन्त्रजपमें तो विधिकी आवश्यकता है, किन्तु नामजपमें कोई विधि नहीं है। नाममें इतनी शक्ति है कि इससे संसारसमुद्र भी सूख जाता है। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥

३. कर्म और उपासनासे ज्ञानका कोई विरोध नहीं है, उसका विरोध तो अज्ञानसे ही है।

रसनासे अनुरोध

क्षणभंगुर जीवनकी कलिका
कल प्रातको जाने खिली न खिली;
मलयाचलकी शुचि शीतल मन्द
सुगन्ध समीर मिली न मिली।
कलि-काल कुठार लिये फिरता,
तन 'नम्र' से चोट झिली न झिली।
कह ले हरि-नाम अरी रसना !
फिर अन्त-समयमें हिली न हिली॥

—'नम्र'
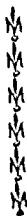
प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम् ॥
(ऋ० १ । ५० । १३)

उदय हुआ यह आत्मसूर्य है, लिये निखिल बल-तेज महान ।
करता हुआ नाश द्वेषीका, करूँ न मैं पर-हिंसा-भान ॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥
(अथर्व० ३ । २४ । ५)

सौ हाथोंसे करो इकट्ठा तुम धन-वैभव-यान ;
पर हजार हाथोंसे कर दो प्यारे ! उसका दान ।
जोती, बोई और कमाई करे फसलकी वृद्धि ;
एक-एक दानेसे सौ-सौ दानोंकी हो सिद्धि ।
कर ले प्राप्त फसल तू अपनी, बढ़ती हुई समृद्धि ;
खूब फूल-फल इस जगतीमें भर जीवनमें ऋद्धि ।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥
(ऋ० १० । १३७ । १; अ० ४ । १३ । १)

नीचे गिरा हुआ हूँ प्रभुवर ! हाथ पकड़कर मुझे उठा लो ।
पापी हूँ मैं पतित पुरातन, जीवन देकर देव सँभालो ॥

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥
(अथर्व० ४ । १९ । ६)

असत् भूमिसे उठकर [illegible] अन्तरिक्षका क्षेत्र महान् ।
और [illegible] से बढ़कर [illegible] आलोक वितान ॥
[illegible]
[illegible] ॥

——————

है और जब तू नासिकाके साथ सम्बन्ध करता है, तब तू नाक सिकोड़ने अथवा फुलाने लगता है। जब तू वाणीमें प्रवेश करता है, तब खोटी-खरी कहने लगता है; जब तू हाथपर बैठ जाता है, तब लड़ने लगता है; जब पैरके साथ एकमेक हो जाता है, तब कोस नापने लगता है; जब तू उपस्थमें स्थित होता है, तब आनन्द मानता है और जब तू पायुके साथ मिलनेका भ्रम करता है, तब वेगका त्याग करता-सा दीखता है। जब तू मनमें घुस जाता है, तो चौदह लोकोंकी खबर लाता है; हर्ष, शोक, संकल्प-विकल्प, लज्जा-भय, संशय-संकोच, राग-द्वेष करने लगता है; बुद्धिमें घुसकर विज्ञाता, चित्तमें बैठकर स्मरणकर्त्ता और अहंकारके साथ मिलकर अहंकारी बन जाता है। प्राणके साथ मेल करनेसे भूख-प्यासका प्रतीत होता है। अनुकूल पदार्थ मिलनेसे सुखी और प्रतिकूल मिलनेसे दुःखी होता है। वस्तुतः तू आत्मा ही अनुकूल है, तेरे सिवा सभी अनात्म पदार्थ प्रतिकूल हैं, तेरी अनुकूलतासे प्रतिकूल भी कभी-कभी अनुकूल-से भासते हैं; नहीं तो स्वरूपसे तेरे सब प्रतिकूल होनेसे दुःखरूप ही हैं, इसलिये तू विशेष करके दुःख ही पाता है! देख! द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता, भोक्ता भोग्य नहीं हो सकता, प्रमाता प्रमेय नहीं हो सकता। तुझ असंग आत्मामें द्रष्टापन, भोक्तापन और प्रमातापन भी सम्भव नहीं है; भ्रमसे तुझमें द्रष्टापन आदिका अनुभव होता है। भ्रम अनर्थका कारण है। भ्रमसे ही तू नाना प्रकारके कष्ट पा रहा है। दृश्य, भोग्य और प्रमेय विषयोंका संग छोड़ दे; फिर तू न द्रष्टा है, न भोक्ता है, और न प्रमाता है, किन्तु अखण्ड सुखस्वरूप आत्मा है! मैं तेरी हितकारिणी हूँ, सबका हित चाहती हूँ। सुख और सुखके साधन बताना मेरा काम है। सावित्रीरूपसे मैं इस लोकके भोगोंकी प्राप्ति कराती हूँ, गायत्रीरूपसे उच्च लोकोंके दिव्य भोग प्राप्त कराती हूँ, और सरस्वती बनकर ब्रह्मानन्द-कैवल्य-निर्वाण पदकी प्राप्ति कराती हूँ! यद्यपि मैं निरन्तर सबका हित करनेके लिये पुकारती ही रहती हूँ, फिर भी जिस किसीका कोई महान् पुण्य उदय होता है, जिसका भाग्य जागनेवाला होता है, वही मेरी वाणी सुन सकता है! तेरा कोई बड़ा भारी पुण्य उदय हुआ है; इसलिये जैसे कौसल्या रानी श्रीरामको और यशोदा रानी श्रीकृष्णको जगाया करती थीं, उसी प्रकार मैं तुझे जगा रही हूँ! जाग जा! तीनों शरीर ज्वरवाले हैं; तू ज्वरोंसे रहित, केवल आनन्दस्वरूप है! तीनों शरीर मिथ्या हैं; तू तीनों कालमें एकरस रहनेवाला, सत्यस्वरूप है; तीनों शरीर जड़ और परिच्छिन्न हैं और तू चेतनस्वरूप अपरिच्छिन्न है! तेरा और तीनों शरीरोंका किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं हो सकता; तू अपनेको नहीं जानता, इसीसे तुझे सम्बन्ध भासता है! मेरा कहना मान जा, अपनेको जान जा! जाग जा, आँखें खोल दे, जाग जा!! मोह-निद्रा त्याग दे, बच्चा जाग जा! मुन्ना जाग जा! लल्ला जाग जा!

श्रुतिभगवतीकी शोक-मोह-नाशक अमृत-रस-भरी वाणी सुनकर मुमुक्षुने खोल दिये पलक, देख ली अपनी अद्भुत झलक! भाग गया कलकमय खलक! हो गया बेखटके, बेकलक! शरीरसहित भी अशरीर होकर सुखसे विचरने लगा! बोलो, तरन-तारिणी भव-भय-हारिणी, कल्याणकारिणी, जगज्जननी श्रुतिमातेश्वरीकी जय!

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!
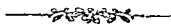
खोल दे पलक !

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

खोल दे पलक, देख ले झलक, कहाँ है खलक ! न काया है न माया है, न धूप है न छाया है, आपमें आप समाया है ! न ग्राम है न नाम है, न हड्डी है न चाम है; तू पूर्णकाम, आप्तकाम है ! न रूप है न कुरूप है, रूप तेरा अनूप है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप है ! न रोग है न राग है, न योग है न याग है, न तुझमें लपेट है न लाग है ! न द्वेष है न दोष है, न क्रोध है न रोष है; तू निष्कलंक है, निर्दोष है ! न पास है न दूर है, विश्वमें भरपूर है, हाजिर हुजूर है ! न दुखी है न दीन है, न मोटा है न महीन है; हृष्टपुष्ट सर्वांगपीन नित्यनवीन है ! न दरिद्री है न कंगाल है, पूर्णधनी-मालामाल है; लालोंका लाल है ! बाहर है, अंदर है, सबसे अधिक सुन्दर है; निर्गुण होकर भी गुणमन्दिर है ! सारका भी सार है, सर्वाधार-निराधार है; तू ही वार है, तू ही पार है ! तूने आप अपनी कर ली आड़ है, तभी झोंकने लगा भाड़ है; बीजका हो गया झाड़ है ! जबसे तूने चाहा नाम, तभीसे बिगड़ गया सब काम; खो दी सारी प्रतिष्ठा, हो गया बदनाम ! डस लिया तुझे सर्प काम, भूल गया अपना नाम; फिरने लगा ग्राम-ग्राम ! क्रोधाग्निसे उबलने लगा, भीतर-ही-भीतर घुलने लगा, चिन्ता-चितामें जलने लगा; लोभने कर दीं आँखें बंद, सूझता भी हो गया अंध, करने लगा अंधा-धुंध ! कायासे तूने कर लिया है संग, तभी हो रहा तंग, नहीं तो तू है असंग ! छोड़ दे उसका संग, हो जा अनंग, दुःखका कर दे भंग ! यह देह है जड, तू है अजड। देह है असत, तू है सत। देह है दुःखरूप, तू है सुखस्वरूप। फिर तेरा और देहका मेल ही कैसे हो सकता है ! कहीं घृत-तिनका मेल होता है ! कहीं रज्जु भी सर्प हुई है !

सचको झूठ जानता है, झूठको सच [illegible] उलटी तानता है । जब कष्ट आता है, [illegible] है ! कालको, कर्मको, ईश्वरको दोष लगाता है ! [illegible] पर-पेनक लगा ली है, आँखें ढक गयी हैं, फिर [illegible] कहाँसे ! अपनेको पराया जानता है, परायेको [illegible] मानता है; देशको भूल गया है, परदेशको [illegible] बैठा है ! परदेशमें कहीं सुख मिलता है ! [illegible] देशमें ही होता है । बाहर भटक रहा है, घरमें [illegible] नहीं है ! अरे ! तेरे घरमें अटूट खजाना भरा [illegible] है, फिर भी तू कौड़ी-कौड़ीको मोहताज हो रहा ! करोड़पति होकर दो कौड़ीका आदमी बन गया ! पुण्यवश लाखका घर मिल गया है, लाखके [illegible] खाक क्यों कर रहा है ! आँखें खोल दे, बाहर [illegible] देख, भीतर देख ! जगत्‌में तेरी ही रोशनी है, [illegible] रोशनीमें ही सब काम हो रहा है ! तेरी [illegible] सूर्य चमकता है, तेरी दमकसे ही चन्द्र दमक [illegible] है, तू ही पृथ्वीमें प्रवेश करके चराचरका [illegible] पोषण करता है ! तू ही अग्नि होकर बाहर और [illegible] के अन्नको पकाता है, तू ही गङ्गा-यमुना आदि [illegible] बह रहा है, समुद्रमें तेरी ही गम्भीरता है, [illegible] तेरी ही गति है, आकाशरूप होकर तू ही [illegible] अवकाश दे रहा है ! जैसे तुझमें ब्रह्माण्ड कल्पित है, उसी प्रकार कल्पित देह है, इसमें नहीं रत्तीभर [illegible] सन्देह है ! जब तू कानके
रोचक, भयानक और यथार्थ
जब तू चमड़ीके साथ मेल
अथवा तपने लगता है,
है तब चकाचौंधमें
साथ अभ्यास करता

भागवतमें ईश्वर और जीवतत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय प० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

[भाग १६, संख्या ४, पृष्ठ १२४० से आगे]

(३)

इस परमतत्त्वके निराकार स्वरूपको परमरूप मानकर उसके विशुद्धसत्तामात्र रूपको इस परमतत्त्वकी मौलिकता निरूपणका उपाय अङ्गीकार करके आलोचना की जा चुकी है। किन्तु एकमात्र यही आलोचनाकी पद्धति नहीं है; दूसरी दृष्टि भी है और वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है।

भागवतमें यह बात स्पष्ट ही कही गयी है कि एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन प्रकारसे कहा गया है—

> वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
> (१।२।११)

जिस प्रकार एक ही वस्तु दूध भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जानेपर भिन्न-भिन्न गुणोंवाला जान पड़ता है—जैसे नेत्रोंके द्वारा शुक्ल, रसनाके द्वारा मधुर इत्यादि—उसी प्रकार एक ही परमतत्त्व वस्तुतः अद्वय होनेपर भी उपासनाके भेदसे विभिन्न रूपोंमें ग्रहण किया जाता है। उसकी प्रतीति ज्ञानीके प्रति ब्रह्मरूपसे, योगीके प्रति परमात्मारूपसे और भक्तके प्रति भगवद्रूपसे होती है।* परन्तु एक ही तत्त्व-वस्तुके अनेक रूप होने किस प्रकार सम्भव हो सकते हैं? इसमें उसकी अचिन्त्य शक्ति ही कारण है। इस शक्तिके प्रभावसे वह एकत्वका परित्याग न करते हुए भी अनेक रूपोंमें प्रकट होने लगती है। इसीसे श्रीमद्भागवत (१०।४०।७) में उसे 'बहुमूर्त्येकमूर्तिकम्' कहा गया है। गोपालपूर्वतापिनी मन्त्र २० के 'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति' इस वाक्यमें तथा विष्णुपुराणके 'एकानेकस्वरूपाय' (१।२।१) इस वचनसे भी यही बात कही गयी है। आचार्योंने इस बातको समझानेके लिये वैदूर्यमणिका दृष्टान्त दिया है।

इस सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्व-वस्तुमें अनन्त शक्ति है, जो तीन श्रेणियोंमें विभक्त है। स्वरूपशक्ति या चिच्छक्ति—यह अन्तरङ्गा है; दूसरी जडशक्ति या मायाशक्ति—यह बहिरङ्गा है और तीसरी इन दोनोंके बीचकी जीवशक्ति—यह तटस्था है। इन सभी शक्तियोंकी व्यक्त और अव्यक्त दो अवस्थाएँ हैं। जिस समय ये सब शक्तियाँ समान रूपसे अव्यक्त रहती हैं, उस समय तत्त्व-वस्तुको एक रूपसे ग्रहण किया जाता है। यही ब्रह्म है। और जब ये सब शक्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं तो उसे 'भगवान्' नामसे कहा जाता है। इस अवस्थामें शक्ति और शक्तिमान् अलग-अलग जान पड़ते हैं।

'ब्रह्म' कहनेसे जैसे केवल तत्त्व ही समझा जाता है, उसी प्रकार 'भगवान्' कहनेसे तत्त्व और उसके साथ-साथ तीन प्रकारकी शक्तियोंका भी बोध होता है। स्वरूपशक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—इन तीनोंहीके आश्रय भगवान् हैं। उनका आश्रय किये बिना कोई भी शक्ति नहीं रह सकती। अव्यक्तावस्थामें सारी शक्तियाँ उन्हींमें लीन हो जाती हैं और व्यक्तावस्थामें उन्हींमेंसे प्रकट होती हैं। ये दोनों ही अवस्थाएँ उनमें एक साथ रहती हैं। एक ही स्वरूपमें भगवत्त्व और केवलत्व—ये परस्परविरुद्ध दो धर्म हैं। यही उसका अचिन्त्य ऐश्वर्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
> दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्।
> कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः
> स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह॥
> (३।४।१६)

अर्थात् 'हे प्रभो! आपने निष्क्रिय होकर भी कर्म किये, जन्मरहित होकर भी जन्म ग्रहण किया, कालस्वरूप होकर भी शत्रुके भयसे डरकर दुर्गका आश्रय लिया और उसके सामनेसे भाग गये तथा स्वयं आत्माराम होकर भी अनेकों

---

* श्रीमद्भागवतमें कपिलदेवजी कहते हैं—

> यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
> एको नानेयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥

स्कन्दपुराणमें कहा है कि एक भगवान्‌को ही अष्टाङ्गयोगवाले 'परमात्मा' कहते हैं, औपनिषदगण 'ब्रह्म' कहते हैं और ज्ञानयोगी 'ज्ञान' बताते हैं—

> भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
> ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

संत-वाणी

जो प्राणी आनन्दघन भगवान्‌के वास्तविक स्वरूप तथा अलौकिक गुणोंको जान लेता है। वह शरणागत होनेके लिये बाध्य हो जाता है; शरणागत होनेपर फिर और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता, यह भक्तियोगका अन्तिम साधन है। शरणागति जीवनमें केवल एक बार होती है। जिस प्राणीको अपने व्यक्तित्वका कुछ भी अभिमान नहीं रहता, वही शरणागतिके रसको चख सकता है। यह रस अत्यन्त मधुर तथा परम पवित्र है। कामनायुक्त प्राणी शरणागत हो नहीं सकता। यह सभी जानते हैं कि विषयोंसे अरुचि अर्थात् भोगवासनाओंका अन्त होनेपर शरीर तथा संसारकी सभी परिस्थितियाँ व्यर्थ तथा निरर्थक हो जाती हैं, संसारका मूल्य कुछ भी नहीं रहता। समानता स्वाभाविक आ जाती है और फिर वह प्राणी शरणागत होनेका अधिकारी हो जाता है। शरणागतिके अधिकारीको प्रियतमकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, वरं वे स्वयं प्रतीक्षा करते रहते हैं, विषयोंसे अरुचि स्वाभाविक होती है, और द्वेष प्रयत्नसे होता है। जबतक विषयोंसे द्वेष रहता है, तबतक ही विषयी प्राणियोंसे घृणा करता है और जबतक विषयोंसे राग होता है तबतक विषयी प्राणियोंसे प्रीति होती है। प्रीति तथा घृणा दोनों ही मनमें विकार तथा अहङ्कारको जीवित रखते हैं, विषयोंसे अरुचि होनेपर प्रीति तथा घृणा नहीं रहती। उस बेचारेको तो संसारका तत्त्वज्ञान हो जाता है। किसी व्यक्तिके प्रति राग-द्वेष नहीं रहता, अर्थात् सभी व्यक्तियोंसे पूर्ण असङ्गता होती है, उसके हृदयमें शुद्ध प्रेमके अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रेम किसी व्यक्तिसे नहीं होता, व्यक्तियोंसे तो राग-द्वेष ही हो सकता है। और त्याग भी किसी व्यक्तिविशेषका नहीं होता। त्याग कुछ संसारका और प्रेम जो संसारातीत है, उससे होता है। अथवा त्याग शरीरका और प्रेम जो शरीरसे परे है, उससे होता है।

जो प्राणी बड़े-बड़े भोगोंको प्राप्त करना चाहता है, उसकी शुभकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। यद्यपि वह कर्मोंमें बड़ा तप तथा त्याग करता है, किन्तु उसका विषयोंसे राग निवृत्त नहीं होता। शुभकर्मवादी स्थूलशरीरका त्याग नहीं कर सकता और न स्थूलशरीरकी गुफासे ही छूट सकता है। जो प्राणी और भी ऊँचे-ऊँचे लोक-लोकान्तरोंकी अभिलाषा करता है, वह भी विषयोंसे पार नहीं हो पाता। यद्यपि स्वर्गादि भोगोंका त्याग करता है, फिर भी बेचारा विषयोंसे छूट नहीं पाता। उस प्राणीको स्थूलशरीरका सङ्ग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु सूक्ष्मशरीरका सङ्ग करना पड़ता है, अर्थात् भावनाओंके द्वारा वह अपने प्रेमपात्रके लोकोंमें गमन करता है। जो प्राणी लोक-लोकान्तरोंकी अभिलाषाका त्याग कर देता है, परन्तु समाधिजन्य आनन्दका त्याग नहीं करता, वह बेचारा भी विषयोंसे छूट नहीं पाता। यद्यपि उसका किसी वस्तुसे सम्बन्ध नहीं होता परन्तु जो सभी वस्तुओंका कारण है, उस अनन्तशक्तिसे उसका सम्बन्ध रहता है, और कारण-शरीरका सङ्ग करना पड़ता है। शरणागत होनेपर वह सभी शरीरोंसे और विषयोंसे छूट जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जिस व्यवहारमें लेशमात्र भी सङ्कोच हो, मत करो। अचिन्त्य तथा अभय अपना स्वभाव बना लो। किसी प्रकारका भी चिन्तन न होने दो। यदि आ जाय तो विचारपूर्वक उसका त्याग कर दो। कोई भी काम जमा न रक्खो। आनन्द आपकी प्रतीक्षा करता है, उससे भूलकर भी निराश मत हो।

—स्वामी शरणानन्द

भागवतमें ईश्वर और जीवतत्त्व

(लेखक—[illegible] डॉ० [illegible], एम्० ए०)

[वर्ष १६, अङ्क ४, पृष्ठ १२४० से आगे]

(३)

इस सम्बन्धके विषयमें भक्तको सामान्य मानकर उसके विशुद्धस्वरूप भक्तको इस सम्बन्धकी भूमिका स्वरूप उनका अङ्गीकार करके आलोचना की जा चुकी है। किंतु यह भाव यही आलोचनाकी पद्धति नहीं है; दूसरी दृष्टि भी है और वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है।

भागवतमें यह बात स्पष्ट ही कही गयी है कि एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन प्रकारसे कहा गया है—

> वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
> (१।२।११)

जिस प्रकार एक ही वस्तु दूध भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जानेपर भिन्न-भिन्न गुणोंवाला जान पड़ता है—जैसे नेत्रोंके द्वारा शुक्ल, रसनाके द्वारा मधुर इत्यादि—उसी प्रकार एक ही परमतत्त्व वस्तुतः अद्वय होनेपर भी उपासनाके भेदसे विभिन्न रूपोंमें ग्रहण किया जाता है। उसकी प्रतीति ज्ञानीके प्रति ब्रह्मरूपसे, योगीके प्रति परमात्मारूपसे और भक्तके प्रति भगवद्रूपसे होती है।* परन्तु एक ही तत्त्व-वस्तुके अनेक रूप होने किस प्रकार सम्भव हो सकते हैं। इसमें उसकी अचिन्त्य शक्ति ही कारण है। इस शक्तिके प्रभावसे वह एकत्वका परित्याग न करते हुए भी अनेक रूपोंमें प्रकट होने लगती है। इसीसे श्रीमद्भागवत (१०।४०।७) में उसे 'बहुमूर्त्येकमूर्तिकम्' कहा गया है। गोपालपूर्वतापिनी मन्त्र २० के 'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति' इस वाक्यमें तथा विष्णुपुराणके 'एकानेकस्वरूपाय' (१।२।३) इस वचनमें भी यही बात कही गयी है। आचार्योंने इस बातको समझानेके लिये वैदूर्यमणिका दृष्टान्त दिया है।

इस सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्व-वस्तुमें अनन्त शक्ति है, जो तीन श्रेणियोंमें विभक्त है। स्वरूपशक्ति या चिच्छक्ति—यह अन्तरङ्गा है; दूसरी जडशक्ति या मायाशक्ति—यह बहिरङ्गा है और तीसरी इन दोनोंके बीचकी जीवशक्ति—यह तटस्था है। इन सभी शक्तियोंकी व्यक्त और अव्यक्त दो अवस्थाएँ हैं। जिस समय ये सब शक्तियाँ समान रूपसे अव्यक्त रहती हैं, उस समय तत्त्व-वस्तुको एक रूपसे ग्रहण किया जाता है। वही ब्रह्म है। और जब ये सब शक्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं तो उसे 'भगवान्' नामसे कहा जाता है। इस अवस्थामें शक्ति और शक्तिमान् अलग-अलग जान पड़ते हैं।

'ब्रह्म' कहनेसे जैसे केवल तत्त्व ही समझा जाता है, उसी प्रकार 'भगवान्' कहनेसे तत्त्व और उसके साथ-साथ तीन प्रकारकी शक्तियोंका भी बोध होता है। स्वरूपशक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—इन तीनोंहीके आश्रय भगवान् हैं। उनका आश्रय किये बिना कोई भी शक्ति नहीं रह सकती। अव्यक्तावस्थामें सारी शक्तियाँ उन्हींमें लीन हो जाती हैं और व्यक्तावस्थामें उन्हींमेंसे प्रकट होती हैं। ये दोनों ही अवस्थाएँ उनमें एक साथ रहती हैं। एक ही स्वरूपमें भगवत्त्व और केवलत्व—ये परस्परविरुद्ध दो धर्म हैं। यही उसका अचिन्त्य ऐश्वर्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
> दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्।
> कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः
> स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह॥
> (३।४।१६)

अर्थात् 'हे प्रभो! आपने निष्क्रिय होकर भी कर्म किये, जन्मरहित होकर भी जन्म ग्रहण किया, कालस्वरूप होकर भी शत्रुके भयसे डरकर दुर्गका आश्रय लिया और उसके सामनेसे भाग गये तथा स्वयं आत्माराम होकर भी अनेकों

---

* श्रीमद्भागवतमें कपिलदेवजी कहते हैं—

> यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
> एको नानेयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥

स्कन्दपुराणमें कहा है कि एक भगवान्को ही अष्टाङ्गयोगवाले 'परमात्मा' कहते हैं, औपनिषदगण 'ब्रह्म' कहते हैं और ज्ञानयोगी 'ज्ञान' बताते हैं—

> भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
> ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

संत-वाणी

जो प्राणी आनन्दघन भगवान्‌के वास्तविक स्वरूप तथा अलौकिक गुणोंको जान लेता है। वह शरणागत होनेके लिये वाध्य हो जाता है; शरणागत होनेपर फिर और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता, यह भक्तियोगका अन्तिम साधन है। शरणागति जीवनमें केवल एक बार होती है। जिस प्राणीको अपने व्यक्तित्वका कुछ भी अभिमान नहीं रहता, वही शरणागतिके रसको चख सकता है। यह रस अत्यन्त मधुर तथा परम पवित्र है। कामनायुक्त प्राणी शरणागत हो नहीं सकता। यह सभी जानते हैं कि विषयोंसे अरुचि अर्थात् भोगवासनाओंका अन्त होनेपर शरीर तथा संसारकी सभी परिस्थितियाँ व्यर्थ तथा निरर्थक हो जाती हैं, संसारका मूल्य कुछ भी नहीं रहता। समानता स्वाभाविक आ जाती है और फिर वह प्राणी शरणागत होनेका अधिकारी हो जाता है। शरणागतिके अधिकारीको प्रियतमकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, वरं वे स्वयं प्रतीक्षा करते रहते हैं, विषयोंसे अरुचि स्वाभाविक होती है, और द्वेष प्रयत्नसे होता है। जबतक विषयोंसे द्वेष रहता है, तबतक ही विषयी प्राणियोंसे घृणा करता है और जबतक विषयोंसे राग होता है तबतक विषयी प्राणियोंसे प्रीति होती है। प्रीति तथा घृणा दोनों ही मनमें विकार तथा अहङ्कारको जीवित रखते हैं, विषयोंसे अरुचि होनेपर प्रीति तथा घृणा नहीं रहती। उस वेचारेको तो संसारका तत्त्वज्ञान हो जाता है। किसी व्यक्तिके प्रति राग-द्वेष नहीं रहता, अर्थात् सभी व्यक्तियोंसे पूर्ण असङ्गता होती है, उसके हृदयमें शुद्ध प्रेमके अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रेम किसी व्यक्तिसे नहीं होता, व्यक्तियोंसे तो राग-द्वेष ही हो सकता है। और त्याग भी किसी व्यक्तिविशेषका नहीं होता। त्याग कुछ संसारका और प्रेम जो संसारातीत है, उससे होता है। अथवा त्याग शरीरका और प्रेम जो शरीरसे परे उससे होता है।

जो प्राणी बड़े-बड़े भोगोंको प्राप्त करना चाहता है, उसकी शुभकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। यद्यपि वह बड़ा तप तथा त्याग करता है, किन्तु उसका राग निवृत्त नहीं होता। शुभकर्मवादी सूक्ष्म त्याग नहीं कर सकता और न स्थूलशरीरकी ही छूट सकता है। जो प्राणी और भी ऊँचे लोक-लोकान्तरोंकी अभिलाषा करता है, वह भी पार नहीं हो पाता। यद्यपि स्वर्गादि भोगोंका त्याग है, फिर भी वेचारा विषयोंसे छूट नहीं पाता प्राणीको स्थूलशरीरका सङ्ग करनेकी आ नहीं रहती, परन्तु सूक्ष्मशरीरका सङ्ग करना है, अर्थात् भावनाओंके द्वारा वह अपने लोकोंमें गमन करता है। जो प्राणी लोक-लोकान्तर अभिलाषाका त्याग कर देता है, परन्तु आनन्दका त्याग नहीं करता, वह वेचारा भी छूट नहीं पाता। यद्यपि उसका किसी वस्तुसे नहीं होता परन्तु जो सभी वस्तुओंका कारण है, अनन्तशक्तिसे उसका सम्बन्ध रहता है, और कारण शरीरका सङ्ग करना पड़ता है। शरणागत होनेपर वह सभी शरीरोंसे और विषयोंसे छूट जाता है, तनिक भी सन्देह नहीं। जिस व्यवहारमें लेशमात्र भी सङ्कोच हो, मत करो। अचिन्त्य तथा अभय बन स्वभाव बना लो। किसी प्रकारका भी चिन्तन न दो। यदि आ जाय तो विचारपूर्वक उसका त्याग कर दो। कोई भी काम जमा न रक्खो। आनन्द प्रतीक्षा करता है, उससे भूलकर भी निराश मत हो।

—स्वामी शरणानन्द

किन्तु जिस रूपमें स्वरूपशक्ति कुछ न्यूनभावसे व्यक्त होती है वह एक ओर, अग्निसे जैसे चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार, जैसे तटस्था शक्तिको चालित करके शुद्ध जीवको अभिव्यक्त करती है, उसी प्रकार दूसरी ओर मायाशक्तिको चालित करके प्रकृतिको व्यक्त कर देती है । यही परमात्माका सृष्टि आदि व्यापार है । इसीसे परमात्माको भगवान्‌का 'स्वांश' कहा है । यह परमात्मा ही अवतारी पुरुष, परम-पुरुष, जीवशक्तिका आश्रय और मायाशक्तिका सञ्चालक है, तथा यही सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रेरक है ।

इन तीन प्रकारकी शक्तियोंका अपना-अपना वैभव है । मेंसे प्रत्येकके स्फुरणसे ही उसके वैभवका आविर्भाव होता । गोलोक-वैकुण्ठादि समस्त धाम, अनन्त कल्याण-गुण-, चिदानन्दमय श्रीविग्रह और भक्तगणके सहित दिव्य [illegible]समूह—ये सब चिन्मय और स्वरूपविभवके अन्तर्गत । ये सब स्वरूपशक्तिके ही खेल हैं । अनन्त और विचित्र [illegible] जीवसमुदाय उनकी तटस्था शक्तिका वैभव है । तथा [illegible]वी आदि कार्य या स्थूल पदार्थ और प्रकृति आदि कारण : सूक्ष्म पदार्थ उनका बहिरङ्ग वैभव है । अनन्तकोटि [illegible]ह्माण्ड और पिण्ड इस बहिरङ्ग वैभवके ही अन्तर्गत हैं । [illegible]ह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त बहिरङ्ग वैभवमें मायाका [illegible]ावरण विद्यमान है ।

(४)

श्रीमद्भागवतकी सूक्ष्मरूपसे आलोचना करनेपर यह बात समझमें आती है कि विचारदृष्टिसे भगवान्‌का स्वरूप तीन प्रकारका जान पड़ता है । उसमें स्वयं स्वरूप मुख्य है एवं तदेकात्मरूप और आवेश अपेक्षाकृत गौण हैं । वस्तुतः सच्चिदानन्दविग्रह, स्वप्रकाशानन्दघन एवं परमनयनाभिराम स्वयंरूप ही श्रीभगवान्‌का परमरूप है । यह उनका अनन्या-पेक्षी एवं स्वतःसिद्ध रूप है तथा समस्त कारणवर्गमें अनुस्यूत परमकारणरूपसे सर्वत्र अनुवृत्त है । इससे सृष्टि आदि व्यापार नहीं होते । सृष्टि आदि उनके स्वांश पुरुषके कार्य हैं, साक्षात् उन्हींके कार्य नहीं हैं । भगवान् स्वयंरूपसे नित्य अपने ही साथ अपनी लीलामें मग्न रहते हैं । यह जो भगवान्‌के आकार या मूर्तिकी बात कही गयी है, इसके सम्बन्धमें यह कहना न होगा कि यह प्राकृतिक देह नहीं है । यह चिन्मय, आनन्दमय और उनका स्वरूपभूत ही है । भगवान्‌में देह और आत्माका कोई भेद नहीं है । वक्ताकी विवक्षाके अनुसार एक ही चिन्मय आकारको आत्मा या देह—

दोनों ही रूपोंमें कहा जाता है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥
(१० । ४४ । १४)

अर्थात् 'गोपियोंने ऐसी कौन तपस्या की है, जिसके प्रभावसे उन्हें श्रीभगवान्‌के लोकोत्तरलावण्यमय स्वभावसिद्ध रूपका निरन्तर भावसहित साक्षात्कार करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है ! यह रूप तो केवल लावण्यका सार ही नहीं, अपितु यश, श्री और ऐश्वर्यका भी एकमात्र आश्रय एवं नित्य नया-नया है । इसके समान ही कोई दूसरा रूप नहीं है । फिर इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ रूप होना तो दूरकी बात है । इसीलिये यह अत्यन्त दुर्लभ है ।' *

नारदपञ्चरात्रमें कहा है—

निर्दोषगुणविग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा ॥

'भगवान्‌के श्रीविग्रहमें स्वगतभेद नहीं है । उसमें कर, चरण, मुख, उदर आदि जो कुछ अवयवरूपसे प्रतीत होते हैं, वे सभी अखण्ड आनन्दरूप हैं । वह निर्दोष गुणोंसे युक्त, जड देहके गुणोंसे रहित और स्वतन्त्र है ।'

भक्तके नेत्रोंसे भगवान्‌का शरीर मध्यम आकारका प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः सबका आधार होनेके कारण सर्वव्यापक ही है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥
(१० । १४ । २२)

* हमने जिस दृष्टिकोणसे इस प्रसंगकी आलोचना की है, उसके अनुसार यही भगवान्‌का परमरूप है । श्रीमन्मध्वाचार्यने अपने भागवततात्पर्यनिर्णय ग्रन्थमें भगवान्‌के परमरूपके विषयमें ऐसा कहा है—

परं रूपं [illegible] ।
[illegible] च [illegible] ॥

स्त्रियोंके सहित गृहस्थाश्रममें रहे—इन आपके विभिन्न चरित्रोंको देखकर ज्ञानियोंकी बुद्धि भी थक जाती है ।'

वे एक होकर भी अनेक हैं (भागवत १० । ६९ । २), अनेक होकर भी एक हैं (पद्मपुराण), एक साथ ही अनेकरूप और एकरूप हैं (भागवत १० । ४० । ७) तथा स्थूल-अस्थूल और अणु-अनणु (कूर्मपुराण) इत्यादि हैं ।

वृत्रासुरके भयसे डरे हुए देवताओंने जिस समय अपनी रक्षाके लिये भगवान्‌की स्तुति की है, उस समय उन्होंने उनकी इस लीलाको दुर्बोध बताते हुए—'दुरवबोधोऽयं तव विहार-योगः'—उनकी परस्परविरुद्ध अचिन्त्य शक्तिकी बातका उल्लेख किया है और यह दिखाया है कि इसमें कोई विरोध नहीं है । वे विश्वात्मक और दुष्टविमर्दक हैं तथा साधुजनोंके रक्षक और विश्वस्रष्टा हैं और साथ ही आत्माराम होनेके कारण उदासीन भी हैं—उनमें ये दोनों ही बातें संगत हैं । यथा—

'न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात् । समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम् ॥

(६ । ९ । ३६-३७)

'अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपमें परस्परविरुद्ध धर्म भी अविरुद्धरूपसे ही रहते हैं । उनकी महिमाको समझना विचार-शक्तिसे परेकी बात है । आजकलके जो लोग अनेक प्रकारके विकल्प, वितर्क, विचार और प्रमाणाभासमय कुतर्कपूर्ण शास्त्रोंके अध्ययनद्वारा अपने-अपने चित्तोंको मलिन करके दुराग्रही हो गये हैं, उनके लिये अनन्त गुणगणोंसे सुशोभित एवं स्वातन्त्र्यमय ऐश्वर्यसम्पन्न श्रीभगवान्‌के स्वरूपके विषयमें किसी प्रकारका विवाद उठानेका अवसर नहीं है । प्रभो ! आपका स्वरूप मायाके प्रपञ्चसे परे और केवल है । जिस समय अपने इस स्वरूपमें आप आत्ममायाका लय कर लेते हैं, उस समय आपके लिये कोई बात असम्भव नहीं रहती; क्योंकि मूलमें तो दो स्वरूप हैं नहीं, वह तो एक और अद्वितीय ही है । इसीसे आप एक ही समयमें साधारण पुरुषके समान कर्ता-भोक्ता भी हैं और ज्ञानीकी तरह उदासीन ... होनेपर भी तत्त्वदर्शीको रस्सीरूपमें ही मालूम है, उसे ... आप भी अज्ञानीकी दृष्टिसे कर्ता-भोक्ता दिखायी देते ... ज्ञानीकी दृष्टिसे उदासीन ही रहते हैं ।

शक्ति जिस समय व्यक्त अवस्थामें रहती है, उस ... उसकी व्यक्तताकी पूर्णता भी रहती है और ... न्यूनाधिकता भी । यह भी नित्यसिद्ध ही है । अतः ... अनन्त वैचित्र्य रहेगा ही । स्वरूपशक्ति स्वरूपानु... इसलिये यह व्यापकतमा शक्ति है । इसके एक अंशमें ... शक्ति आश्रित है और दूसरे अंशमें मायाशक्ति । ... निर्मलस्वरूप शक्तिमय है । विशुद्ध सत्त्व ही स्वरूपशक्ति... यही योगमाया या आत्ममाया है । यह अप्राकृत, ... और चिद्रूप है ।* अन्तरङ्गा शक्तिके प्रभावसे भगवान्... पूर्णस्वरूपसे प्रतिष्ठित हैं । स्वरूपशक्ति व्यञ्जक है ... वैकुण्ठादि व्यङ्ग्य हैं । तटस्था शक्तिके द्वारा वे ... (चिद्रूप) हैं, जैसे सूर्यकी किरणें । तटस्था शक्ति ... और जीवका स्वरूप व्यङ्ग्य है । बहिरङ्गा शक्तिके ... प्रधान (जडरूप) हैं । यह प्रतिच्छविकी बहुरंगता ... है । यहाँ माया व्यञ्जक है और प्रधान व्यङ्ग्य है ।

एक ही परमतत्त्व अपनी स्वभावसिद्ध अचिन्त्य ... महिमासे सर्वदा स्वरूप, स्वरूपशक्ति, जीव और प्रधान ... नाना विचित्र भावोंसे विराजमान है । जिस प्रकार ... मण्डलस्थ एक ही तेज मण्डल, बाह्य रश्मिपुञ्ज और ... प्रतिफलनके रूपमें विभिन्न भावसे वर्तमान है, यह ... उसी प्रकार है ।

स्वरूपशक्ति पूर्ण होनेपर भी अंशीरूपसे प्रकृति... साक्षात् कोई कार्य नहीं करती और न जीवके ऊपर ... है । इसीलिये यह सृष्टि आदि व्यापारमें उदासीन र... यह तो केवल स्वयं अपनेसे ही विलास करनेमें निर... है । यही श्रीभगवान्‌का लीलासंज्ञक व्यापार है, जो नि...

---

* आत्ममाया नित्यशक्ति—स्वरूपभूता शक्ति है— ... माया तदिच्छा स्यात् गुणमाया जडात्मिका ।' आत्ममाया वस्तु... ज्ञानक्रियात्मिका है । योगमाया भगवत्सिद्ध चिच्छक्ति ... और सनकादिमें रहनेवाली अष्टांग योग-शक्ति है । यह आत्म... ही नामान्तर है । आत्ममाया या अव्यभिचारिणी स्वरूपशक्ति ... है । इस विचित्रताके कारण ही स्वरूपानन्दके वैचित्र्यका ... किया जाता है । स्वरूपानन्द ही कैवल्य (भाग० ११ । ९ । ...

[illegible] सूर्यमें स्पष्ट होती [illegible] है उसी [illegible] करके [illegible] उसी प्रकार पृथ्वी और मायाशक्तिको [illegible] करके [illegible] कर देती है। यही [illegible] सूक्ष्म आदि [illegible] है। इसमें [illegible] 'महाप्रा[illegible]' कहा है। यह [illegible] ही अन्तर्यामी पुरुष, परम पुरुष, जीवशक्तिका आश्रय और मायाशक्तिका संचालक है, तथा यही सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रेरक है।

इन तीन प्रकारकी शक्तियोंका अपना अपना वैभव है। इनमेंसे प्रथमके स्फुरणसे ही उनके वैभवका आविर्भाव होता है। गोलोक-वैकुण्ठादि समस्त धाम, अनन्त कल्याण-गुण-गण, चिदानन्दमय श्रीविग्रह और भक्तगणके सहित दिव्य लीलासमूह—ये सब चिन्मय और स्वरूपशक्तिके अन्तर्गत हैं। ये सब स्वरूपशक्तिके ही खेल हैं। अनन्त और विचित्र शुद्ध जीवसमुदाय उनकी तटस्था शक्तिका वैभव है। तथा पृथ्वी आदि कार्य या स्थूल पदार्थ और प्रकृति आदि कारण या सूक्ष्म पदार्थ उनका बहिरङ्ग वैभव है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और पिण्ड इस बहिरङ्ग वैभवके ही अन्तर्गत हैं। ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त बहिरङ्ग वैभवमें मायाका आवरण विद्यमान है।

(४)

श्रीमद्भागवतकी सूक्ष्मरूपसे आलोचना करनेपर यह बात समझमें आती है कि विचारदृष्टिसे भगवान्‌का स्वरूप तीन प्रकारका जान पड़ता है। उसमें स्वयं स्वरूप मुख्य है एवं तदेकात्मरूप और आवेश अपेक्षाकृत गौण हैं। वस्तुतः सच्चिदानन्दविग्रह, स्वप्रकाशानन्दघन एवं परमनयनाभिराम स्वयरूप ही श्रीभगवान्‌का परमरूप है। यह उनका अनन्यापेक्षी एवं स्वतःसिद्ध रूप है तथा समस्त कारणवर्गमें अनुस्यूत परमकारणरूपसे सर्वत्र अनुवृत्त है। इससे सृष्टि आदि व्यापार नहीं होते। सृष्टि आदि उनके स्वांश पुरुषके कार्य हैं, साक्षात् उन्हींके कार्य नहीं हैं। भगवान् स्वयरूपसे नित्य अपने ही साथ अपनी लीलामें मग्न रहते हैं। यह जो भगवान्‌के आकार या मूर्तिकी बात कही गयी है, इसके सम्बन्धमें यह कहना न होगा कि यह प्राकृतिक देह नहीं है। यह चिन्मय, आनन्दमय और उनका स्वरूपभूत ही है। भगवान्‌में देह और आत्माका कोई भेद नहीं है। वक्ताकी विवक्षाके अनुसार एक ही चिन्मय आकारको आत्मा या देह—

ऐसी ही बातें कही गयी हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
> लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
> दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
> मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
> (१० । ४४ । १४)

अर्थात् 'गोपियोंने ऐसी कौन तपस्या की है, जिसके प्रभावसे उन्हें श्रीभगवान्‌के सौन्दर्यसारसर्वस्व स्वतःसिद्ध रूपका निरन्तर [illegible] साक्षात्कार करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह रूप तो केवल लावण्यका सार ही नहीं, अपितु यश, श्री और ऐश्वर्यका भी एकमात्र आश्रय एवं नित्य नया नया है। इसके समान ही कोई दूसरा रूप नहीं है। फिर इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ रूप होना तो दूरकी बात है। इसीलिये यह अत्यन्त दुर्लभ है।' *

नारदपञ्चरात्रमें कहा है—

> निर्दोषगुणविग्रह आत्मतन्त्रो
> निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।
> आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
> सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा॥

'भगवान्‌के श्रीविग्रहमें स्वगतभेद नहीं है। उसमें कर, चरण, मुख, उदर आदि जो कुछ अवयवरूपसे प्रतीत होते हैं, वे सभी अखण्ड आनन्दरूप हैं। वह निर्दोष गुणोंसे युक्त, जड देहके गुणोंसे रहित और स्वतन्त्र है।'

भक्तके नेत्रोंसे भगवान्‌का शरीर मध्यम आकारका प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः सबका आधार होनेके कारण सर्वव्यापक ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
> स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
> त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
> मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥
> (१० । १४ । २२)

* हमने जिस दृष्टिकोणसे इस प्रसंगकी आलोचना की है, उसके अनुसार यही भगवान्‌का परमरूप है। श्रीमन्मध्वाचार्यने अपने गीतातात्पर्यनिर्णय ग्रन्थमें भगवान्‌के परमरूपके विषयमें ऐसा कहा है—

> एकं रूपं हरेर्नित्यमचिन्त्यैश्वर्ययोगतः।
> बहुसंख्यागोचरं च विशेषादेव केवलम्॥

'अतएव यह सारा संसार अत्यन्त, स्वप्नके समान प्रतिभासहीन और अनेकों दुःखोंका कारण है। यह मायासे उत्पन्न होनेके कारण वस्तुतः असत् होनेपर भी नित्य-ज्ञानानन्दस्वरूप अनन्तरूपी आपके आश्रित होनेसे सत्य जान पड़ता है।' (यह भगवान्‌के प्रति ब्रह्माजीका वचन है)।

इससे ज्ञात होता है कि भगवत्-शरीर नित्यसुखबोधस्वरूप और अनन्त है। सारा संसार इनकी मायाकी अनित्य शक्तिके द्वारा बारम्बार उत्पन्न और लीन होनेके कारण स्वप्नके समान भास रहा है। यह संसार अज्ञानमात्रसे कल्पित नहीं है। यह अविद्याशक्तिवाली मायाका कार्य है। यह असत् होनेपर भी भगवत्सत्ताके कारण मूढ़ पुरुषको सत्‌के समान जान पड़ता है।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि भगवान्‌का विग्रह जगत्‌का आधार है और वह एक एवं मध्यम आकारवाला होनेपर भी सर्वगत है।

भगवान्‌ने इस एक ही देहसे एक ही समयमें भिन्न-भिन्न रूपसे स्थित रहते हुए सोलह सहस्र स्त्रियोंसे विवाह किया—इस बातने नारदजीको भी विस्मयमें डाल दिया था (भाग० १०। ६९। २)। योगीलोग भी एक साथ बहुत-से देह निर्माण करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारका व्यवहार कर सकते हैं—यह बात सत्य है। योगशास्त्रमें ऐसा शरीर 'निर्माणकाय' या 'निर्माणचित्त' नामसे प्रसिद्ध है। योगी-लोग उसे अभिलाषामात्रसे रच लेते हैं।* अतः श्रीकृष्णके भी यदि ऐसे ही निर्माणकाय होते तो उन्हें देखकर नारद-जैसे महायोगीको आश्चर्य होनेकी कोई बात नहीं थी। [वस्तुतः] वे निर्माणकाय नहीं थे। वह एक ही देह था—उसी समय रचा हुआ कोई कल्पित देह [नहीं] था। एक ही देह एक ही समयमें विभिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न कार्य कर रहा था।† परन्तु यह बात ...

* योगशास्त्रमें निर्माणकायका वर्णन आया है। मन्त्रादिसे रचे हुए कायमें कर्माशय रहता है, किन्तु ध्यानजनित कायमें कर्माशय नहीं रहता। योगीलोग इस निर्माणकायका अवलम्बन करके साधक अवस्थामें तपस्यादिद्वारा और भोगद्वारा पुण्यसञ्चय एवं कर्मक्षय कर सकते हैं। सिद्धावस्थामें इस देहका आश्रय लेकर वे जिज्ञासु योग्य शिष्यको ज्ञानोपदेश प्रदान करते हैं। परमर्षि कपिलने जिस समय आसुरिको षष्टितन्त्रका उपदेश किया था उस समय निर्माणकायद्वारा ही किया था। स्वयं भगवान् भी सम्प्रदाय-प्रवर्तनके समय निर्माण-कायका अवलम्बन करते हैं। इस बातका 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के ... स्तबकमें पातञ्जलसिद्धान्तरूपसे उल्लेख हुआ है। कहना न ... कि यह निर्माणकाय मायिक देह या वैन्दव देहसे अतिरिक्त ... चीज नहीं है। किसी-किसी बौद्ध-सम्प्रदायमें भी निर्माण-... बात आयी है। बुद्धके तीन या चार कायोंमें यह प्रधान ... आश्रय लेकर ही वे जगत्‌में ज्ञानधर्मका प्रचार किया ... करते हैं—यही उन लोगोंका मत है। सम्भोगकाय ... भेद है। बुद्धका यथार्थ स्वरूप धर्मकाय या महाकाय ... परिचित है। जैन आचार्यगण जिस वैक्रिय और आहारक ... वर्णन करते हैं, वह भी कुछ अंशोंमें निर्माणदेहके ... कहना न होगा कि ये दोनों ही देह सिद्ध योगियोंकी ... शक्तिके प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस शक्तिको वे ... कहते हैं। इनमें वैक्रिय देह जन्मसिद्ध और कृत्रिम ... प्रकारका हो सकता है, किन्तु आहारक देह सर्वदा ही ... है। श्रीनारदजीके द्वारा देखा हुआ भगवान् श्रीकृष्णका देह ... किसीके भी अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जा सकता। ... भी योगमायाके प्रभावसे ही नारदजीको दिखायी दिया ... योगमाया जीवशक्ति नहीं है, वह श्रीभगवान्‌की चिद्रूप ... है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

† इसीको सम्प्रदायविशेषकी परिभाषामें ... कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आसां मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥

उद्धवकी इस उक्तिसे भगवान्‌के रूपकी उस-उस शरीरके ... रूपता सिद्ध होती है। यही एक रूप—नररूप एक होनेपर भी ... समस्त देश और सारी क्रियाओंमें व्याप्त है। यही ... श्रीरूपगोस्वामिपादने कहा है—

य एव विग्रहो व्यापी परिच्छिन्नः स एव हि।
एकस्यैवैकदा चास्य द्विरूपत्वं विराजते॥ ...

'परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी एक ही विग्रह एक ... भावसिद्ध असंख्य ध्याताओंको दिखायी देता है, इसलिये वे ...

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यशोदाजी अपने पुत्रके ... की व्यापकताको क्यों उपलब्ध नहीं कर सकीं। यदि वे ... तो उन्हें बाँधनेकी चेष्टा न करतीं। इसका कारण यह ... वात्सल्यादि प्रेमरसविशेषका ऐसा ही स्वभाव है कि यह ... प्रवाहद्वारा ऐश्वर्यानुभवको आच्छादित कर देता है। ... समझते हैं कि ... वास्तवमें है तो व्यापक ... मायाका ... मनुष्य ... है; यह ठीक नहीं है ... परिच्छिन्न भी है ...

भी नहीं था। वह परिच्छिन्न भी था और अपरिच्छिन्न भी। स्वरूपशक्तिकी महिमा ऐसी ही है। अतः भगवान्‌का स्वरूप परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः विभु है—इस बातको अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। भागवतमें ही कहा है—

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥
(१०।६९।४१)

अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार गृहस्थोंके पवित्रता-सम्पादक सम्पूर्ण धर्मोंका आचरण किया। नारदजीने उन्हें एक होनेपर भी समस्त पत्नियोंके घरोंमें अलग-अलग देखा।'

यहाँ भी 'एक सन्तम्' कथनसे जान पड़ता है कि यह बहुरूपता केवल बहुत रूपोंसे दिखायी देना ही है। यह कायव्यूहके कारण नहीं है। 'न चान्तर्न बहिर्यस्य'* इत्यादि वाक्योंसे भगवान्‌के शरीरकी विभुता प्रमाणित होती है। नारदजी भगवान्‌की दी हुई शक्तिके प्रभावसे इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव कर सके थे। वास्तवमें यह अनन्तवीर्य श्रीभगवान्‌की योगमायाका ही खेल है—'योगमाया-महोदयम्'। भागवतके पञ्चम स्कन्धमें जो लोकाधिष्ठाता भगवद्-विग्रहका विवरण है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं—'महाविभूतेः पारमैश्वर्यपतित्वात्, एकयैव मूर्त्या समन्तादास्ते।'

स्वयंरूपसे न्यून रूप ही 'तदेकात्म रूप' है। यह न्यूनता वस्तुतः शक्तिके प्राकट्यमें ही समझनी चाहिये। इस प्राकट्यके तारतम्यके कारण तदेकात्म रूप—विलास और स्वांशभेदसे दो प्रकारका है। तदेकात्म रूपके आकार और चरित्रादिमें स्वयंरूपसे थोड़ा-सा भेद प्रतीत होनेपर भी वस्तु[तः] दोनों एक और अभिन्न ही हैं। इनमेंसे 'विलास'में [...] शक्तिकी न्यूनता कम रहती है और 'स्वांश'में कुछ अधि[क] रहती है। स्वरूपकी अन्याकारता अवश्य ही लीला[...] ही कारण है। किन्तु यहाँ उसका प्रकरण नहीं है। जब विलासशक्तिकी अपेक्षा भी कम शक्ति प्रकट होती [है] तब उसे साधारणतः 'स्वांश' कहते हैं। भगवान्‌में यद्य[पि] अनन्त गुण विद्यमान हैं, तो भी जीव सहजमें समझ सकें-इसलिये उनके 'स्वयं रूप'में चौसठ गुण माने गये हैं[।] इसीसे श्रीकृष्णरूपको पूर्णभावमें चौसठ गुणसम्पन्न क[हा] जाता है। श्रीकृष्णके विलास वैकुण्ठपति श्रीनारायणमें स[ाठ] गुण माने गये हैं। समस्त लोकको चमत्कृत करनेवाली अद्[भुत] अनन्त 'लीलाएँ', अतुलित प्रेमद्वारा सुशोभित 'प्रियमण्डल[',] त्रिभुवनके चित्तको आकर्षित करनेवाला 'वंशीनाद' त[था] जिसके समान और जिससे बढ़कर उत्कर्ष और कहीं नहीं [है] ऐसा चराचरको विस्मयमें डालनेवाला 'रूपसौन्दर्य'—[ये] चार असाधारण गुण अर्थात् लीला और प्रेमद्वारा प्रियाधिक[्य] एवं रूपमाधुर्य और वेणुमाधुर्य एकमात्र श्रीगोविन्दमें [ही] उपलब्ध होते हैं। उनकी विलास-मूर्ति नारायणमें साठ गु[ण] पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। इन साठ गुणोंमें अचिन्त्यमहाशक्ति[...]

* न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥
(श्रीमद्भा० १०।९।१३-१४)

अर्थात् जिसका भीतर नहीं है, बाहर नहीं है, पूर्व नहीं है, पश्चात् नहीं है; इतनेपर भी स्वयं ही जगत्‌के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदिमें है और अन्तमें भी है, यहाँतक कि जो स्वयं ही जगत्-रूपमें भी विराजमान है। जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है—उस भगवान्‌के मनुष्याकार धारण करनेसे उसे अपना पुत्र मानकर यशोदाने प्राकृत बालककी तरह रस्सीसे ऊखलमें बाँध रक्खा है।'

† आकारके देशगत बहुत्वरूप भेद और संस्थानगत भेद[से] वस्तुके स्वरूपकी भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती। एक ही विग्रह [...] साथ अनेकों स्थानोंमें प्रकट हो सकता है, जिस प्रकार कि द्वारका[में] एक ही श्रीकृष्णरूप एक ही समयमें विभिन्न मन्दिरोंमें प्रत्यक्ष [दीख] रहा था। नारदजी यह देखकर ही विस्मित हुए थे—यह [बात] पहले कही जा चुकी है। व्रजमण्डलमें भी ऐसी ही बात हुई [थी] (देखिये—भाग० १०।१३।१९)। वैष्णवाचार्य इसका 'प्रका[श'] नामसे वर्णन करते हैं। यह 'तदेकात्म' रूप नहीं है। ये [सब] रूप 'स्वयंरूप' ही हैं; क्योंकि उनकी आकृति, गुण और लीला [आदि] मूल रूपसे अभिन्न हैं। आकृतिमें भेद रहनेपर भी यदि स्वभाव[में] भेद न हो तो उसे 'स्वयंरूप' ही कहा जा सकता है। जिस प्रकार [...] श्रीकृष्ण त्यागके भयसे मूर्च्छिता रुक्मिणीजीके पास चतुर्भुजरू[पमें] प्रकट हो गये थे। यह चतुर्भुजरूप वैकुण्ठनाथ चतुर्भुज नारायण[...] के समान 'विलासरूप' नामसे नहीं कहा जा सकता। यह प्रका[श] ही अन्तर्गत है। वस्तुतः इस चतुर्भुजरूपका आविर्भाव होनेके स[मय] भी वे द्विभुज ही थे और उनका यशोदानन्दनरूप स्वभाव अक्षु[ण्ण] था। अक्रूरने चतुर्भुजरूप दिखानेके समय भी उनके द्विभु[ज] रूपका अनुभव ही की (भाग० १०।१।४९)।

'अतएव यह सारा संसार असत्स्वरूप, स्वप्नके समान प्रतिभासहीन और अनेकों दुःखोंका कारण है। यह मायासे उत्पन्न होनेके कारण वस्तुतः असत् होनेपर भी नित्य-ज्ञानानन्दस्वरूप अनन्तरूपी आपके आश्रित होनेसे सद्रूप जान पड़ता है।' (यह भगवान्के प्रति ब्रह्माजीका वचन है)।

इससे ज्ञात होता है कि भगवत्-शरीर नित्यसुखबोधस्वरूप और अनन्त है। सारा संसार इसकी मायानाम्नी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा बार-बार उत्पन्न और लीन होनेके कारण स्वप्नके समान भास रहा है। यह संसार अज्ञानमात्रसे कल्पित नहीं है। यह अविद्यावृत्तिवाली मायाका कार्य है। यह असत् होनेपर भी भगवत्सत्ताके कारण मूढ पुरुषको सत्के समान जान पड़ता है।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि भगवान्का विग्रह जगत्का आधार है और वह एक एवं मध्यम आकारवाला होनेपर भी सर्वगत है।

भगवान्ने इस एक ही देहसे एक ही समयमें भिन्न-भिन्न रूपसे स्थित रहते हुए सोलह सहस्र स्त्रियोंसे विवाह किया—इस बातने नारदजीको भी विस्मयमें डाल दिया था (भाग० १०। ६९। २)। योगीलोग भी एक साथ बहुत-से देह निर्माण करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारका व्यवहार कर सकते हैं—यह बात सत्य है। योगशास्त्रमें ऐसा शरीर 'निर्माणकाय' या 'निर्माणचित्त' नामसे प्रसिद्ध है। योगीलोग उसे अस्मितामात्रसे रच लेते हैं।* अतः श्रीकृष्णके भी यदि ऐसे ही निर्माणकाय होते तो उन्हें देखकर नारद-जैसे महायोगीको आश्चर्य होनेकी कोई बात नहीं थी। किन्तु वास्तवमें वे निर्माणकाय नहीं थे। वह एक ही नित्यसिद्ध देह था—उसी समय रचा हुआ कोई कल्पित शरीर नहीं था। एक ही देह एक ही समयमें विभिन्न स्थानोंमें रहकर भिन्न-भिन्न कार्य कर रहा था।† परन्तु वह व्यापक शरीर

* योगशास्त्रमें निर्माणकायका वर्णन आया है। मन्त्रादिसे रचे हुए कायमें कर्माशय रहता है, किन्तु ध्यानजनित कायमें कर्माशय नहीं रहता। योगीलोग इस निर्माणकायका अवलम्बन करके साधक अवस्थामें तपस्यादिद्वारा और भोगद्वारा पुण्यसञ्चय एवं कर्मक्षय कर सकते हैं। सिद्धावस्थामें इस देहका आश्रय लेकर वे जिज्ञासु योग्य शिष्यको ज्ञानोपदेश प्रदान करते हैं। परमर्षि कपिलने जिस समय आसुरिको षष्टितन्त्रका उपदेश किया था उस समय निर्माणकायद्वारा ही किया था। स्वयं भगवान् भी सम्प्रदाय-प्रवर्तनके समय निर्माणकायका अवलम्बन करते हैं। इस बातका 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के प्रथम स्तबकमें पातञ्जलसिद्धान्तरूपसे उल्लेख हुआ है। कहना न होगा कि यह निर्माणकाय मायिक देह या ऐन्दव देहसे अतिरिक्त कोई और चीज नहीं है। किसी-किसी बौद्ध-सम्प्रदायमें भी निर्माणकायकी बात आयी है। बुद्धके तीन या चार कायोंमें यह प्रथम है। इस देहका आश्रय लेकर ही वे जगत्में ज्ञानधर्मका प्रचार किया करते हैं—यही उन लोगोंका मत है। सम्भोगकाय इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। बुद्धका यथार्थ स्वरूप धर्मकाय या स्वभावकाय नामसे परिचित है। जैन आचार्यगण जिस वैक्रिय और आहारक शरीरका वर्णन करते हैं, वह भी कुछ अंशोंमें निर्माणदेहके ही समान है। कहना न होगा कि ये दोनों ही देह सिद्ध योगियोंकी विशेष योग-शक्तिके प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस शक्तिको वे लोग 'लब्धि' कहते हैं। इनमें वैक्रिय देह जन्मसिद्ध और कृत्रिम—दोनों ही प्रकारका हो सकता है, किन्तु आहारक देह सर्वदा ही कृत्रिम होता है। श्रीनारदजीके द्वारा देखा हुआ भगवान् श्रीकृष्णका देह इनमेंसे किसीके भी अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जा सकता। अवश्य ही यह भी योगमायाके प्रभावसे ही नारदजीको दिखायी दिया था; किन्तु योगमाया जीवशक्ति नहीं है, वह श्रीभगवान्की चिद्रूपा स्वरूपशक्ति है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

† इसीको सम्प्रदायविशेषकी परिभाषामें स्वयंरूपका 'प्रकाश' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आसां मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥

उद्धवकी इस उक्तिसे भगवान्के रूपकी उस-उस शरीरसे अनुरूपता सिद्ध होती है। यही एक रूप—नररूप एक होनेपर भी एक साथ समस्त देश और सारी क्रियाओंमें व्याप्त है। यही आश्चर्य है। श्रीरूपगोस्वामिपादने कहा है—

य एव विग्रहो व्यापी परिच्छिन्नः स एव हि।
एकस्यैवैकदा चास्य द्विरूपत्वं विराजते॥ (लघुभागवत)

'परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी एक ही विग्रह एक ही कालमें भावसिद्ध असंख्य ध्याताओंको दिखायी देता है, इसलिये वह व्यापक है।'

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यशोदाजी अपने पुत्रके इस व्यापकताको क्यों उपलब्ध नहीं कर सकीं। यदि वे कर लेतीं तो उन्हें बाँधनेकी चेष्टा न करतीं। इसका कारण यह है कि वात्सल्यादि प्रेमरसविशेषका ऐसा ही स्वभाव है कि वह आनन्दके प्रवाहद्वारा ऐश्वर्यानुभवको आच्छादित कर देता है। कोई-कोई समझते हैं कि भगवान्का उदर वास्तवमें है तो व्यापक, किन्तु मायावश वह मनुष्याकारमें प्रतीत होता है; यह ठीक नहीं है, किन्तु वह एक ही साथ [illegible] होनेसे परिच्छिन्न भी है और [illegible] विभु भी है।

भी नहीं था। वह परिच्छिन्न भी था और अपरिच्छिन्न भी। भगवत्शक्तिकी महिमा ऐसी ही है। अतः भगवान्का स्वरूप परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः विभु है— इस बातको अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। भागवतमें ही कहा है—

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥
(१०।६९।४१)

अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार गृहस्थोंके पवित्रता-सम्पादक सम्पूर्ण धर्मोंका आचरण किया। नारदजीने उन्हें एक होनेपर भी समस्त पत्नियोंके घरोंमें अलग-अलग देखा।'

यहाँ भी 'एकं सन्तम्' कथनसे जान पड़ता है कि यह बहुरूपता केवल बहुत रूपोंसे दिखायी देना ही है। यह कायव्यूहके कारण नहीं है। 'न चान्तर्न बहिर्यस्य'• इत्यादि वाक्योंसे भगवान्के शरीरकी विभुता प्रमाणित होती है। नारदजी भगवान्की दी हुई शक्तिके प्रभावसे इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव कर सके थे। वास्तवमें यह अनन्तवीर्य श्रीभगवान्की योगमायाका ही खेल है—'योगमाया-महोदयम्'। भागवतके पञ्चम स्कन्धमें जो लोकाधिष्ठाता भगवद्-विग्रहका विवरण है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं–'महाविभूतेः पारमैश्वर्यपतित्वात्, एकयैव मूर्त्या समन्तादास्ते।'

स्वयंरूपसे न्यून रूप ही 'तदेकात्म रूप' है। यह न्यूनता वस्तुतः शक्तिके प्राकट्यमें ही समझनी चाहिये। इस प्राकट्य-के *तारतम्यके कारण तदेकात्म रूप—विलास और स्वांशभेदसे* दो प्रकारका है। तदेकात्म रूपके आकार और चरित्रादिमें स्वयंरूपसे थोड़ा सा भेद प्रतीत होने दोनों एक और अभिन्न ही हैं। इनमेंसे शक्तिकी न्यूनता कम रहती है और 'स्वांश'में रहती है। स्वरूपकी अन्याकारता अवश्य ही कारण है। किन्तु यहाँ उसका प्रकरण जब विलासशक्तिकी अपेक्षा भी कम शक्ति तब उसे साधारणतः 'स्वांश' कहते हैं। अनन्त गुण विद्यमान हैं, तो भी जीव सहजमें इसलिये उनके 'स्वयं रूप'में चौसठ गुण माने इसीसे श्रीकृष्णरूपको पूर्णभावमें चौसठ गुणसम्पन्न जाता है। श्रीकृष्णके विलास वैकुण्ठपति श्रीनारायणमें गुण माने गये हैं। समस्त लोकको चमत्कृत करनेवाली रूप अनन्त 'लीलाएँ', अतुलित प्रेमद्वारा सुशोभित 'प्रियमण्डल', त्रिभुवनके चित्तको आकर्षित करनेवाला 'वंशीनाद' तथा जिसके समान और जिससे बढ़कर उत्कर्ष और कहीं नहीं है, ऐसा चराचरको विस्मयमें डालनेवाला 'रूपसौन्दर्य'—ये चार असाधारण गुण अर्थात् लीला और प्रेमद्वारा प्रियाधिक्य एवं रूपमाधुर्य और वेणुमाधुर्य एकमात्र श्रीगोविन्दमें ही उपलब्ध होते हैं। उनकी विलास-मूर्ति नारायणमें साठ गुण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। इन साठ गुणोंमें अचिन्त्यमहाशक्तित्व,

---

• न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥
(श्रीमद्भा० १०।९।१३-१४)

अर्थात् जिसका भीतर नहीं है, बाहर नहीं है, पूर्व नहीं है, पश्चात् नहीं है; इतनेपर भी स्वयं ही जगत्के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदिमें है और अन्तमें भी है, यहाँतक कि जो स्वयं ही जगत्-रूपमें भी विराजमान है। जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है—उसी भगवान्के मनुष्याकार धारण करनेसे उसे अपना पुत्र मानकर यशोदाने प्राकृत बालककी तरह रस्सीसे ऊखलमें बाँध रक्खा है।'

† आकारके देशगत बहुत्वरूप भेद और संस्थानगत भेदसे वस्तुके स्वरूपकी भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती। एक ही विग्रह एक साथ अनेकों स्थानोंमें प्रकट हो सकता है, जिस प्रकार कि द्वारकामें एक ही श्रीकृष्णरूप एक ही समयमें विभिन्न मन्दिरोंमें प्रत्यक्ष हो रहा था। नारदजी यह देखकर ही विस्मित हुए थे—यह बात पहले कही जा चुकी है। व्रजमण्डलमें भी ऐसी ही बात हुई थी (देखिये–भाग० १०।१३।१९)। वैष्णवाचार्य इसका 'प्रकाश' नामसे वर्णन करते हैं। यह 'तदेकात्म' रूप नहीं है। ये सब रूप 'स्वयंरूप' ही हैं; क्योंकि उनकी आकृति, गुण और लीला आदि मूल रूपसे अभिन्न हैं। आकृतिमें भेद रहनेपर भी यदि स्वभावगत भेद न हो तो उसे 'स्वयंरूप' ही कहा जा सकता है। जिस प्रकार कि श्रीकृष्ण त्यागके भयसे मूर्च्छिता रुक्मिणीजीके पास चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो गये थे। यह चतुर्भुजरूप वैकुण्ठनाथ चतुर्भुज श्रीनारायण-के समान 'विलासरूप' नामसे नहीं कहा जा सकता। यह प्रकाशके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः इस चतुर्भुजरूपका आविर्भाव होनेके समय भी वे द्विभुज ही थे और उनका यशोदानन्दनरूप स्वभाव अक्षुण्ण था। बंदीगृहमें चतुर्भुजरूप दिखानेके समय भी उनकी द्विभुज-रूपता अभ्यावृत ही थी (भाग० १०।३।४६)।

'अतएव यह सारा संसार असत्स्वरूप, स्वप्नके समान प्रतिभासहीन और अनेकों दुःखोंका कारण है। यह मायासे उत्पन्न होनेके कारण वस्तुतः असत् होनेपर भी नित्य-ज्ञानानन्दस्वरूप अनन्तरूपी आपके आश्रित होनेसे सद्रूप जान पड़ता है।' (यह भगवान्के प्रति ब्रह्माजीका वचन है)।

इससे ज्ञात होता है कि भगवत्-शरीर नित्यसुखबोधस्वरूप और अनन्त है। सारा संसार इसकी मायानाम्नी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा बार-बार उत्पन्न और लीन होनेके कारण स्वप्नके समान भास रहा है। यह संसार अज्ञानमात्रसे कल्पित नहीं है। यह अविद्यावृत्तिवाली मायाका कार्य है। यह असत् होनेपर भी भगवत्सत्ताके कारण मूढ पुरुषको सत्के समान जान पड़ता है।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि भगवान्का विग्रह जगत्का आधार है और वह एक एवं मध्यम आकारवाला होनेपर भी सर्वगत है।

भगवान्ने इस एक ही देहसे एक ही समयमें भिन्न-भिन्न रूपसे स्थित रहते हुए सोलह सहस्र स्त्रियोंसे विवाह किया—इस बातने नारदजीको भी विस्मयमें डाल दिया था (भाग० १० । ६९ । २)। योगीलोग भी एक साथ बहुत-से देह निर्माण करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारका व्यवहार कर सकते हैं—यह बात सत्य है। योगशास्त्रमें ऐसा शरीर 'निर्माणकाय' या 'निर्माणचित्त' नामसे प्रसिद्ध है। योगीलोग उसे अस्मितामात्रसे रच लेते हैं।* अतः श्रीकृष्णके भी यदि ऐसे ही निर्माणकाय होते तो उन्हें देखकर नारद-जैसे महायोगीको आश्चर्य होनेकी कोई बात नहीं थी। किन्तु वास्तवमें वे निर्माणकाय नहीं थे। वह एक ही नित्यसिद्ध देह था—उसी समय रचा हुआ कोई कल्पित शरीर नहीं था। एक ही देह एक ही समयमें विभिन्न स्थानोंमें रहकर भिन्न-भिन्न कार्य कर रहा था।† परन्तु वह व्यापक शरीर

---

* योगशास्त्रमें निर्माणकायका वर्णन आया है। मन्त्रादिसे रचे हुए कायमें कर्माशय रहता है, किन्तु ध्यानजनित कायमें कर्माशय नहीं रहता। योगीलोग इस निर्माणकायका अवलम्बन करके साधक अवस्थामें तपस्यादिद्वारा और भोगद्वारा पुण्यसञ्चय एवं कर्मक्षय कर सकते हैं। सिद्धावस्थामें इस देहका आश्रय लेकर वे जिज्ञासु योग्य शिष्यको ज्ञानोपदेश प्रदान करते हैं। परमर्षि कपिलने जिस समय आसुरिको षष्टितन्त्रका उपदेश किया था उस समय निर्माणकायद्वारा ही किया था। स्वयं भगवान् भी सम्प्रदाय-प्रवर्तनके समय निर्माण-कायका अवलम्बन करते हैं। इस बातका 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के प्रथम स्तबकमें पातञ्जलसिद्धान्तरूपसे उल्लेख हुआ है। कहना न होगा कि यह निर्माणकाय मायिक देह या वैन्दव देहसे अतिरिक्त कोई और चीज नहीं है। किसी-किसी बौद्ध-सम्प्रदायने भी निर्माण-कायकी बात कही है। बुद्धके तीन या चार कायोंमें यह प्रधान है। इस देहका आश्रय लेकर ही वे जगत्में ज्ञानधर्मका प्रचार किया करते हैं—यही उन लोगोंका मत है। सम्भोगकाय इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। बुद्धका यथार्थ स्वरूप धर्मकाय या स्वभावकाय नामसे परिचित है। जैन आचार्यगण जिस वैक्रिय और आहारक शरीरका वर्णन करते हैं, वह भी कुछ अंशोंमें निर्माणदेहके ही समान है। कहना न होगा कि ये दोनों ही देह सिद्ध योगियोंकी विशेष योग-शक्तिके प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस शक्तिको वे लोग 'लब्धि' कहते हैं। इनमें वैक्रिय देह जन्मसिद्ध और कृत्रिम—दोनों ही प्रकारका हो सकती है, किन्तु आहारक देह सर्वदा ही कृत्रिम होता है। श्रीनारदजीके द्वारा देखा हुआ भगवान् श्रीकृष्णका देह इनमेंसे किसीके भी अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जा सकता। अवश्य ही यह भी योगमायाके प्रभावसे ही नारदजीको दिखायी दिया था; किन्तु योगमाया जीवशक्ति नहीं है, वह श्रीभगवान्की चिद्रूपा स्वरूपशक्ति है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

† इसीको सम्प्रदायविशेषकी परिभाषामें स्वयरूपका 'प्रकाश' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आसां मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥

उद्धवकी इस उक्तिसे भगवान्के रूपकी उस-उस शरीरसे अनु-रूपता सिद्ध होती है। यही एक रूप—नररूप एक होनेपर भी एक साथ समस्त देश और सारी क्रियाओंमें व्याप्त है। यही आश्चर्य है। श्रीरूपगोस्वामिपादने कहा है—

य एव विग्रहो व्यापी परिच्छिन्नः स एव हि।
एकस्यैवैकदा चास्य द्विरूपत्वं विराजते॥ (लघुभागवत)

'परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी एक ही विग्रह एक ही कालमें भावसिद्ध असंख्य ध्याताओंको दिखायी देता है, इसलिये वह व्यापक है।'

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यशोदाजी अपने पुत्रके इस रूप-की व्यापकताको क्यों उपलब्ध नहीं कर सकीं। यदि वे कर लेतीं तो उन्हें बाँधनेकी चेष्टा न करतीं। इसका कारण यह है कि वात्सल्यादि प्रेमरसविशेषका ऐसा ही स्वभाव है कि वह आनन्दके प्रवाहद्वारा ऐश्वर्यानुभवको आच्छादित कर देता है। कोई-कोई समझते हैं कि भगवान्का शरीर वास्तवमें है तो व्यापक, किन्तु मायावश वह मनुष्याकारमें प्रतीत होता है; यह ठीक नहीं है, किन्तु वह एक ही साथ कर-पादादिमान् होनेसे परिच्छिन्न भी है और साथ ही विभु भी है।

भी नहीं था। वह परिच्छिन्न भी था और अपरिच्छिन्न भी। स्वरूपशक्तिकी महिमा ऐसी ही है। अतः भगवान्‌का स्वरूप परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः विभु है—इस बातको अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। भागवतमें ही कहा है—

> इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
> तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥
>
> (१०। ६९। ४१)

अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार गृहस्थोंके पवित्रता-सम्पादक सम्पूर्ण धर्मोंका आचरण किया। नारदजीने उन्हें एक होनेपर भी समस्त पत्नियोंके घरोंमें अलग-अलग देखा।'

यहाँ भी 'एकं सन्तम्' कथनसे जान पड़ता है कि यह बहुरूपता केवल बहुत रूपोंसे दिखायी देना ही है। यह कायव्यूहके कारण नहीं है। 'न चान्तर्न बहिर्यस्य'* इत्यादि वाक्योंसे भगवान्‌के शरीरकी विभुता प्रमाणित होती है। नारदजी भगवान्‌की दी हुई शक्तिके प्रभावसे इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव कर सके थे। वास्तवमें यह अनन्तवीर्य श्रीभगवान्‌की योगमायाका ही खेल है—'योगमाया-महोदयम्'। भागवतके पञ्चम स्कन्धमें जो लोकाधिष्ठाता भगवद्-विग्रहका विवरण है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं—'महाविभूतेः पारमैश्वर्यपतित्वात्, एकयैव मूर्त्या समन्तादास्ते।'

स्वयंरूपसे न्यून रूप ही 'तदेकात्म रूप' है। यह न्यूनता वस्तुतः शक्तिके प्राकट्यमें ही समझनी चाहिये। इस प्राकट्यके तारतम्यके कारण तदेकात्म रूप—विलास और स्वांशभेदसे दो प्रकारका है। तदेकात्म रूपके आकार और चरित्रादिमें स्वयंरूपसे थोड़ा-सा भेद प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः दोनों एक और अभिन्न ही हैं। इनमेंसे 'विलास'में तो शक्तिकी न्यूनता कम रहती है और 'स्वांश'में कुछ अधिक रहती है। स्वरूपकी अन्याकारता अवश्य ही लीलाके ही कारण है। किन्तु यहाँ उसका प्रकरण नहीं है।† जब विलासशक्तिकी अपेक्षा भी कम शक्ति प्रकट होती है, तब उसे साधारणतः 'स्वांश' कहते हैं। भगवान्‌में यद्यपि अनन्त गुण विद्यमान हैं, तो भी जीव सहजमें समझ सकें—इसलिये उनके 'स्वयं रूप'में चौसठ गुण माने गये हैं। इसीसे श्रीकृष्णरूपको पूर्णभावसे चौसठ गुणसम्पन्न कहा जाता है। श्रीकृष्णके विलास वैकुण्ठपति श्रीनारायणमें साठ गुण माने गये हैं। समस्त लोकको चमत्कृत करनेवाली अद्भुत अनन्त 'लीलाएँ', अतुलित प्रेमद्वारा सुशोभित 'प्रियमण्डल', त्रिभुवनके चित्तको आकर्षित करनेवाला 'वंशीनाद' तथा जिसके समान और जिससे बढ़कर उत्कर्ष और कहीं नहीं है, ऐसा चराचरको विस्मयमें डालनेवाला 'रूपसौन्दर्य'—ये चार असाधारण गुण अर्थात् लीला और प्रेमद्वारा प्रियाधिक्य एवं रूपमाधुर्य और वेणुमाधुर्य एकमात्र श्रीगोविन्दमें ही उपलब्ध होते हैं। उनकी विलास-मूर्ति नारायणमें साठ गुण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। इन साठ गुणोंमें अचिन्त्यमहाशक्तित्व,

---

* न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥
(श्रीमद्भा० १०। ९। १३-१४)

अर्थात् जिसका भीतर नहीं है, बाहर नहीं है, पूर्व नहीं है, पश्चात् नहीं है; इतनेपर भी स्वयं ही जगत्‌के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदिमें है और अन्तमें भी है, यहाँतक कि जो स्वयं ही जगत्-रूपमें भी विराजमान है। जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है—उसी भगवान्‌के मनुष्याकार धारण करनेसे उसे अपना पुत्र मानकर यशोदाने प्राकृत बालककी तरह रस्सीसे ऊखलमें बाँध रखा है।'

† आकारके देशगत बहुत्वरूप भेद और संस्थानगत भेदसे वस्तुके स्वरूपकी भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती। एक ही विग्रह एक साथ अनेकों स्थानोंमें प्रकट हो सकता है, जिस प्रकार कि द्वारकामें एक ही श्रीकृष्णरूप एक ही समयमें विभिन्न मन्दिरोंमें प्रत्यक्ष हो रहा था। नारदजी यह देखकर ही विस्मित हुए थे—यह बात पहले कही जा चुकी है। व्रजमण्डलमें भी ऐसी ही बात हुई थी (देखिये—भाग० १०। १३। १९)। वैष्णवाचार्य इसका 'प्रकाश' नामसे वर्णन करते हैं। यह 'तदेकात्म' रूप नहीं है। ये सब रूप 'स्वयंरूप' ही हैं; क्योंकि उनकी आकृति, गुण और लीला आदि मूल रूपसे अभिन्न हैं। आकृतिमें भेद रहनेपर भी यदि स्वभावगत भेद न हो तो उसे 'स्वयंरूप' ही कहा जा सकता है। जिस प्रकार कि श्रीकृष्ण त्यागके भयसे मूर्च्छिता रुक्मिणीजीके पास चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो गये थे। यह चतुर्भुजरूप वैकुण्ठनाथ चतुर्भुज श्रीनारायणके समान 'विलासरूप' नामसे नहीं कहा जा सकता। यह प्रकाशके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः इस चतुर्भुजरूपका आविर्भाव होनेके समय भी वे द्विभुज ही थे और उनका यशोदानन्दनरूप स्वभाव अक्षुण्ण था। वसुदेवजीके गृहमें चतुर्भुजरूप दिखानेके समय भी उनकी द्विभुज-रूपता अक्षुण्ण ही थी (भाग० १०। ३। ४६)।

'अतएव यह सारा संसार असत्स्वरूप, स्वप्नके समान प्रतिभासहीन और अनेकों दुःखोंका कारण है। यह मायासे उत्पन्न होनेके कारण वस्तुतः असत् होनेपर भी नित्य-ज्ञानानन्दस्वरूप अनन्तरूपी आपके आश्रित होनेसे सद्रूप जान पड़ता है।' (यह भगवान्‌के प्रति ब्रह्माजीका वचन है)।

इससे ज्ञात होता है कि भगवत्-शरीर नित्यसुखबोधस्वरूप और अनन्त है। सारा संसार इसकी मायानाम्नी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा बार-बार उत्पन्न और लीन होनेके कारण स्वप्नके समान भास रहा है। यह संसार अज्ञानमात्रसे कल्पित नहीं है। यह अविद्यावृत्तिवाली मायाका कार्य है। यह असत् होनेपर भी भगवत्सत्ताके कारण मूढ पुरुषको सत्‌के समान जान पड़ता है।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि भगवान्‌का विग्रह जगत्‌का आधार है और वह एक एवं मध्यम आकारवाला होनेपर भी सर्वगत है।

भगवान्‌ने इस एक ही देहसे एक ही समयमें भिन्न-भिन्न रूपसे स्थित रहते हुए सोलह सहस्र स्त्रियोंसे विवाह किया—इस बातने नारदजीको भी विस्मयमें डाल दिया था (भाग० १० । ६९ । २)। योगीलोग भी एक साथ बहुत-से देह निर्माण करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारका व्यवहार कर सकते हैं—यह बात सत्य है। योगशास्त्रमें ऐसा शरीर 'निर्माणकाय' या 'निर्माणचित्त' नामसे प्रसिद्ध है। योगी-लोग उसे अस्मितामात्रसे रच लेते हैं।* अतः श्रीकृष्णके भी यदि ऐसे ही निर्माणकाय होते तो उन्हें देखकर नारद जैसे महायोगीको आश्चर्य होनेकी कोई बात नहीं थी। किन्तु वास्तवमें वे निर्माणकाय नहीं थे। वह एक ही नित्यसिद्ध देह था—उसी समय रचा हुआ कोई कल्पित शरीर नहीं था। एक ही देह एक ही समयमें विभिन्न स्थानोंमे रहकर भिन्न-भिन्न कार्य कर रहा था।† परन्तु वह व्यापक शरीर

---

* योगशास्त्रमें निर्माणकायका वर्णन आया है। मन्त्रादिसे रचे हुए कायमें कर्माशय रहता है, किन्तु ध्यानजनित कायमें कर्माशय नहीं रहता। योगीलोग इस निर्माणकायका अवलम्बन करके साधक अवस्थामें तपस्यादिद्वारा और भोगद्वारा पुण्यसञ्चय एवं कर्मक्षय कर सकते हैं। सिद्धावस्थामें इस देहका आश्रय लेकर वे जिज्ञासु योग्य शिष्यको ज्ञानोपदेश प्रदान करते हैं। परमर्षि कपिलने जिस समय आसुरिको षष्टितन्त्रका उपदेश किया था उस समय निर्माणकायद्वारा ही किया था। स्वयं भगवान् भी सम्प्रदाय-प्रवर्तनके समय निर्माण-कायका अवलम्बन करते हैं। इस बातका 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के प्रथम स्तबकमें पातञ्जलसिद्धान्तरूपसे उल्लेख हुआ है। कहना न होगा कि यह निर्माणकाय मायिक देह या वैन्दव देहसे अतिरिक्त कोई और चीज नहीं है। किसी-किसी बौद्ध-सम्प्रदायमें भी निर्माण-कायकी बात आयी है। बुद्धके तीन या चार कायोंमें यह प्रधान है। इस देहका आश्रय लेकर ही वे जगत्‌में ज्ञानधर्मका प्रचार किया करते हैं—यही उन लोगोंका मत है। सम्भोगकाय इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। बुद्धका यथार्थ स्वरूप धर्मकाय या स्वभावकाय नामसे परिचित है। जैन आचार्यगण जिस वैक्रिय और आहारक शरीरका वर्णन करते हैं, वह भी कुछ अंशोंमें निर्माणदेहके ही समान है। कहना न होगा कि ये दोनों ही देह सिद्ध योगियोंकी विशेष योग-शक्तिके प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस शक्तिको वे लोग 'लब्धि' कहते हैं। इनमें वैक्रिय देह जन्मसिद्ध और कृत्रिम—दोनों ही प्रकारका हो सकती है, किन्तु आहारक देह सर्वदा ही कृत्रिम होता है। श्रीनारदजीके द्वारा देखा हुआ भगवान् श्रीकृष्णका देह इनमेंसे किसीके भी अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जा सकता। अवश्य ही यह भी योगमायाके प्रभावसे ही नारदजीको दिखायी दिया था; किन्तु योगमाया जीवशक्ति नहीं है, वह श्रीभगवान्‌की चिद्रूपा स्वरूपशक्ति है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

† इसीको सम्प्रदायविशेषकी परिभाषामें स्वयंरूपका 'प्रकाश' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आसां मुहूर्त्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥

उद्धवकी इस उक्तिसे भगवान्‌के रूपकी उस-उस शरीरसे अनु-रूपता सिद्ध होती है। यही एक रूप—नररूप एक होनेपर भी एक साथ समस्त देश और सारी क्रियाओंमें व्याप्त है। यही आश्चर्य है। श्रीरूपगोस्वामिपादने कहा है—

य एव विग्रहो व्यापी परिच्छिन्नः स एव हि।
एकस्यैवैकदा चास्य द्विरूपत्वं विराजते॥ (लघुभागवत)

'परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी एक ही विग्रह एक ही कालमें भावसिद्ध असंख्य ध्याताओंको दिखायी देता है, इसलिये वह व्यापक है।'

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यशोदाजी अपने पुत्रके इस रूप-की व्यापकताको क्यों उपलब्ध नहीं कर सकीं। यदि वे कर लेतीं तो उन्हें बाँधनेकी चेष्टा न करतीं। इसका कारण यह है कि वात्सल्यादि प्रेमरसविशेषका ऐसा ही स्वभाव है कि यह आनन्दके प्रवाहद्वारा ऐश्वर्यानुभवको आच्छादित कर देता है। कोई-कोई समझते हैं कि भगवान्‌का शरीर वास्तवमें है तो व्यापक, किन्तु मायावश वह मनुष्याकारमें प्रतीत होता है; यह ठीक नहीं है, किन्तु वह एक ही साथ कर-पादादिमान् होनेसे परिच्छिन्न भी है और साथ ही विभु भी है।

भी नहीं था। वह परिच्छिन्न भी था और अपरिच्छिन्न भी। स्वरूपशक्तिकी महिमा ऐसी ही है। अतः भगवान्का स्वरूप परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः विभु है—इस बातको अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। भागवतमें ही कहा है—

> इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
> तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥
>
> (१०।६९।४१)

अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार गृहस्थोंके पवित्रता-सम्पादक सम्पूर्ण धर्मोंका आचरण किया। नारदजीने उन्हें एक होनेपर भी समस्त पत्नियोंके घरोंमें अलग-अलग देखा।'

यहाँ भी 'एकं सन्तम्' कथनसे जान पड़ता है कि यह बहुरूपता केवल बहुत रूपोंसे दिखायी देना ही है। यह कायव्यूहके कारण नहीं है। 'न चान्तर्न बहिर्यस्य'* इत्यादि वाक्योंसे भगवान्के शरीरकी विभुता प्रमाणित होती है। नारदजी भगवान्की दी हुई शक्तिके प्रभावसे इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव कर सके थे। वास्तवमें यह अनन्तवीर्य श्रीभगवान्की योगमायाका ही खेल है—'योगमाया-महोदयम्'। भागवतके पञ्चम स्कन्धमें जो लोकाधिष्ठाता भगवद्-विग्रहका विवरण है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं—'महाविभूतेः पारमैश्वर्यपतित्वात्, एकयैव मूर्त्या समन्तादास्ते।'

स्वयंरूपसे न्यून रूप ही 'तदेकात्म रूप' है। यह न्यूनता वस्तुतः शक्तिके प्राकट्यमें ही समझनी चाहिये। इस प्राकट्य-के तारतम्यके कारण तदेकात्म रूप—विलास और स्वांशभेदसे दो प्रकारका है। तदेकात्म रूपके आकार और चरित्रादिमें स्वयंरूपसे थोड़ा-सा भेद प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः दोनों एक और अभिन्न ही हैं। इनमेंसे 'विलास'में तो शक्तिकी न्यूनता कम रहती है और 'स्वांश'में कुछ अधिक रहती है। स्वरूपकी अन्याकारता अवश्य ही लीलाके ही कारण है। किन्तु यहाँ उसका प्रकरण नहीं है।† जब विलासशक्तिकी अपेक्षा भी कम शक्ति प्रकट होती है, तब उसे साधारणतः 'स्वांश' कहते हैं। भगवान्में यद्यपि अनन्त गुण विद्यमान हैं, तो भी जीव सहजमें समझ सकें—इसलिये उनके 'स्वयं रूप'में चौसठ गुण माने गये हैं। इसीसे श्रीकृष्णरूपको पूर्णभावमें चौसठ गुणसम्पन्न कहा जाता है। श्रीकृष्णके विलास वैकुण्ठपति श्रीनारायणमें साठ गुण माने गये हैं। समस्त लोकको चमत्कृत करनेवाली अद्भुत अनन्त 'लीलाएँ', अतुलित प्रेमद्वारा सुशोभित 'प्रियमण्डल', त्रिभुवनके चित्तको आकर्षित करनेवाला 'वंशीनाद' तथा जिसके समान और जिससे बढ़कर उत्कर्ष और कहीं नहीं है, ऐसा चराचरको विस्मयमें डालनेवाला 'रूपसौन्दर्य'—ये चार असाधारण गुण अर्थात् लीला और प्रेमद्वारा प्रियाधिक्य एवं रूपमाधुर्य और वेणुमाधुर्य एकमात्र श्रीगोविन्दमें ही उपलब्ध होते हैं। उनकी विलास-मूर्ति नारायणमें साठ गुण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। इन साठ गुणोंमें अचिन्त्यमहाशक्तित्व,

---

* न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥
(श्रीमद्भा० १०।९।१३-१४)

अर्थात् जिसका भीतर नहीं है, बाहर नहीं है, पूर्व नहीं है, पश्चात् नहीं है; इतनेपर भी स्वयं ही जगत्के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदिमें है और अन्तमें भी है, यहाँतक कि जो स्वयं ही जगत्-रूपमें भी विराजमान है। जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है—उसी भगवान्के मनुष्याकार धारण करनेसे उसे अपना पुत्र मानकर यशोदाने प्राकृत बालककी तरह रस्सीसे ऊखलमें बाँध रक्खा है।'

† आकारके देशगत बहुत्वरूप भेद और संस्थानगत भेदसे वस्तुके स्वरूपकी भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती। एक ही विग्रह एक साथ अनेकों स्थानोंमें प्रकट हो सकता है, जिस प्रकार कि द्वारकामें एक ही श्रीकृष्णरूप एक ही समयमें विभिन्न मन्दिरोंमें प्रत्यक्ष हो रहा था। नारदजी यह देखकर ही विस्मित हुए थे—यह बात पहले कही जा चुकी है। व्रजमण्डलमें भी ऐसी ही बात हुई थी (देखिये—भाग० १०।१३।१९)। वैष्णवाचार्य इसको 'प्रकाश' नामसे वर्णन करते हैं। यह 'तदेकात्म' रूप नहीं है। ये सब रूप 'स्वयंरूप' ही हैं; क्योंकि उनकी आकृति, गुण और लीला आदि मूल रूपसे अभिन्न हैं। आकृतिमें भेद रहनेपर भी यदि स्वभावगत भेद न हो तो उसे 'स्वयंरूप' ही कहा जा सकता है। जिस प्रकार कि श्रीकृष्ण त्यागके भयसे मूर्च्छिता रुक्मिणीजीके पास चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो गये थे। यह चतुर्भुजरूप वैकुण्ठनाथ चतुर्भुज श्रीनारायण-के समान 'विलासरूप' नामसे नहीं कहा जा सकता। यह प्रकाशके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः इस चतुर्भुजरूपका आविर्भाव होनेके समय भी वे द्विभुज ही थे और उनका यशोदानन्दनरूप स्वभाव अक्षुण्ण था। अतीगूढ़ने चतुर्भुजरूप दिखानेके समय भी उनकी द्विभुज-रूपता अभ्यन्तर ही थी (भाग० १०।६।४६)।

कोटिब्रह्माण्डविग्रहत्व, सकलावतारबीजत्व, हतारिगतिदायकत्व और आत्मारामगणाकर्षित्व—ये पाँच श्रीकृष्णके समान ही श्रीनारायणमे भी हैं। तथापि श्रीकृष्णमे ये सब गुण अद्भुतरूपसे विद्यमान हैं—इतनी ही विशेषता है। ब्रह्मा, सूर्य, गणेश और इन्द्र आदि देवताओंमें ये नौ गुण (श्रीकृष्णके चार असाधारण गुण और श्रीनारायणके पाँच असाधारण गुण) नहीं हैं। सर्वदा स्वरूपस्थिति, सर्वज्ञत्व, नित्यनूतनत्व, सच्चिदानन्दविग्रहत्व और समस्त सिद्धियोंका वशकारित्व—ये पाँच गुण श्रीकृष्ण और नारायणके सिवा शिवादि देवताओंमे भी अंशरूपसे विद्यमान हैं, किन्तु किसी भी जीवमें ये गुण नहीं हैं। जीवमें पचास ही कल्याणगुण हो सकते हैं, परन्तु वे होते हैं बिन्दुरूपमें या आभासरूपमे ही। अतः सिद्धान्त यह है—

(क) चौसठ गुण—स्वयं भगवान् श्रीकृष्णमें ही चौसठ गुण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। उनमें पूर्वोक्त लीलामाधुर्यादि चार गुण असाधारण हैं। ये उनके 'विलास' स्वरूप नारायण और नारायणके विलासस्वरूप वासुदेवमें भी नहीं हैं। उनके स्वांशभूत देवताओंमें भी ये गुण नहीं हैं, जीवमें होनेकी बात तो दूर रही।

(ख) साठ गुण—परव्योमनाथ श्रीनारायण वासुदेवमें साठ गुण हैं। उनमें अविचिन्त्यमहाशक्ति पूर्वोक्त पाँच गुण असाधारण हैं। ये देवताओंमें जीवोंमे नहीं हैं। तथापि यह कहनेकी आवश्यकता कि श्रीकृष्णमें इन गुणोंकी सत्ता अवश्य ही अद्भुत भा[illegible] है। ऐसा होनेपर भी इन्हें नारायणादिके असाधारण गु[illegible] कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

(ग) पचपन गुण—शिव और ब्रह्मा आदि भगवान्के स्वांशभूत और जगद्व्यापारमे अधिकारप्राप्त भगवद्विभूतिरू[illegible] अवतार या देवताओंमे पचपन गुण हैं। उनमें सर्वदा स्वरूपस्थिति आदि पूर्वोक्त पाँच गुण अंशरूपसे रहते हैं। पुरुषोत्तम भगवान्में ये गुण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं।

(घ) पचास गुण*—भगवत्कृपाप्राप्त जीवमात्रमें ही ये सब गुण बिन्दुरूपसे हैं, किन्तु साधारण जीवोंमे ये आभास-रूपसे रहते हैं और स्वयं श्रीपुरुषोत्तममें पूर्णरूपसे। जीवमात्रमें ही ये कल्याणगुण, आभासरूपमे होनेपर भी, हैं अवश्य। इसीसे प्रत्येक जीव कभी-न-कभी भगवान्की कृपासे भगवद्धाममें प्रवेश पानेका अधिकार प्राप्त कर सकता है।†

[क्रमशः]

---

* श्रीमद् रूपगोस्वामिपादने इन पचास गुणोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—सुरम्याङ्गत्व, सर्वसल्लक्षणयुक्तता, रुचिरता, तेजस्विता, बलवत्त्व, वयःसम्बन्ध, नाना अद्भुत भाषा-ज्ञान, सत्यवादिता, प्रियवादिता, वावदूकता, सुपाण्डित्य, बुद्धिमत्ता, प्रतिभाशालित्व, विदग्धता, चातुर्य, दक्षता, कृतज्ञता, सुदृढव्रतत्व, देशकालपात्रज्ञान, शास्त्रदृष्टि, शुचित्व, वशित्व, स्थैर्य, दम, क्षमा, गम्भीरत्व, धृति, साम्य, वदान्यता, धार्मिकत्व, शौर्य, करुणा, मान्यमानकारिता, दाक्षिण्य, विनय, ह्रीमा, शरणागतपालकत्व, सुखित्व, भक्तसुहृत्त्व, प्रेमवश्यत्व और सर्वशुभङ्करिता, प्रताप, कीर्ति, लोकप्रियता, साधुसमाश्रयत्व, नारीचित्तरञ्जनत्व, सर्वाराध्यत्व, समृद्धिमत्त्व, वरीयस्त्व और ऐश्वर्य। (भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण० १। १९-२५)।

† किन्तु यह बात सब लोग स्वीकार नहीं करते—विशेषतः श्रीमध्वाचार्यके अनुयायी [illegible] स्वीकार नहीं करते। क्योंकि उनके मतमें तो मुक्त पुरुषोंमें भी परस्पर तारतम्य [illegible] च सर्वदा।' जो जीव मुक्तिके योग्य नहीं है, वे या तो 'नित्यसंसारी' होते हैं या [illegible] है—'मध्यमा मनुष्या ये तु सृतियोग्याः सदैव हि।' अधम श्रेणीके मनुष्य तथा दैत्य, राक्षस और [illegible] जीवगत स्वाभाविक तारतम्य वस्तुतः है या नहीं—इस विषयमें प्राचीन और अर्वाचीन [illegible] किया है।
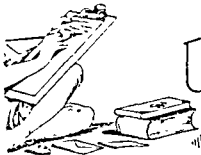
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

मुझसे मिलनेकी टान लिखी सो यह तो आपके प्रेमकी बात है । और आजकल भजन कम होता लिखा तथा सांसारिक कामोंमें फँसाव लिखा सो सत्सङ्ग कम हुआ होगा । आपने लिखा कि पीछे पछताते भी हैं सो इस तरहके पछतानेसे पूरा काम नहीं बनेगा । असली पछताना तो उसीका समझा जाता है, जिसको उस कामके लिये फिर दुबारा नहीं पछताना पड़ता । एक कामके लिये अनेक बार पछताये, फिर भी काम न हो और बार-बार पछताना पड़े, तब क्या समझा जाय ? परन्तु इस तरहका सुन्दर मौका लग जानेपर भी यदि भगवान्‌के भजन-ध्यानमें जोरसे न लगकर इसी प्रकार ही संसारमें भटकते रहे तो जन्म-जन्ममें पछताना पड़ेगा । इसलिये सारी बात विचारकर ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे आगे पछताना न पड़े । अगर साधन तेज करके जिस कामके लिये आना हुआ है, उसे सिद्ध कर लेंगे तो फिर कभी पश्चात्ताप नहीं करना पड़ेगा ।

आपने लिखा कि आजकल संसारका चिन्तन ही अधिक होता है, भजन नहीं बनता, अतः मन भगवान्‌में कैसे लगे; सो प्रेम होनेसे मन भगवान्‌में लगता है । प्रेमकी बातें श्री············के पत्रमें लिखी हैं, उन्हें ध्यानमें लाना चाहिये ।

× × × यदि इस तरहका प्रेम भगवान्‌में हो जाय तो भगवान्‌के आनेमें बिल्कुल सन्देह नहीं । क्योंकि श्रीपरमात्मादेव स्वयं सर्वसामर्थ्यवान् और स्वतन्त्र हैं । इसलिये उनके साथ पूर्ण प्रेम करना चाहिये । × × × भगवान्‌में निष्कामभावसे पूर्ण प्रेम करनेके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये । उनके साथ प्रेम होनेके बाद आपको कुछ भी नहीं करना होगा । फिर आपको किसीकी भी गरज नहीं रहेगी । लोग ही आपकी गरज करेंगे । किन्तु उनके साथ प्रेम नहीं हुआ तो कुछ भी नहीं हुआ ।

(२)

× × × पहले मैंने आपको सत्सङ्गके समाचार लिखे थे; उनके अनुसार आप साधन करते हैं या नहीं, सो लिखना चाहिये । समयको अनमोल समझनेकी कोशिश करनी चाहिये । समयकी अमूल्यता समझनेके बाद भगवान्‌के मिलनमें इस तरहकी ढील नहीं हो सकती । इसलिये समयको अनमोल समझना चाहिये । जिस समय आप समयकी अमूल्यता समझ लेंगे, उस समय आपको भगवान्‌के सिवा संसारकी अन्य कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगेगी तथा संसारके ये क्षणभङ्गुर भोग प्रत्यक्ष नाशवान् प्रतीत होने लगेंगे एवं सर्वत्र एक श्रीपरमात्मादेव ही दीखने लग जायँगे । किन्तु समयको अमूल्य समझे बिना कुछ भी नहीं होगा । समयको अनमोल जान लेनेके बाद एक पलक भी व्यर्थ कामोंमें नहीं बितायी जा सकती । जबतक संसारके तुच्छ

भोगोंके लिये समय बिताया जाता है, तबतक समयका कुछ भी प्रभाव नहीं जाना। आपको विचारना चाहिये कि हम कौन हैं, किसलिये यह मनुष्य-शरीर हमें मिला है, हमें क्या करना चाहिये और क्या कर रहे हैं।

(३)

आपने लिखा कि मेरा प्रेम बहुत कम हो गया, सो प्रेम तो कभी कम हो नहीं सकता। यदि देखनेमें कम नजर आये तो भी वास्तवमें कम नहीं होना चाहिये। निष्काम कर्म, उपासना और प्रेमका क्षय हो नहीं सकता। प्रेमका उपाय............के पत्रमें लिखा गया है। पहले भी आपका प्रेम अधिक नहीं था, आपने भूलसे अधिक मान लिया था। वास्तविक प्रेम तो कभी कम होता ही नहीं। सकाम प्रेम रहा होगा। प्रेम तो कुछ और ही चीज है। असली प्रेमका विषय तो आप जानते भी नहीं। प्रेमी आदमियोंके साथ प्रेम होनेसे ही प्रेमका मर्म जाना जाता है। श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके साथ गोपियोंका सच्चा प्रेम था तथा कुछ उद्धव और अर्जुनका भी था। जिसने भगवान्के प्रेमका मर्म जाना है, वह उस भगवत्प्रेमके लिये एक पलमें आनन्दपूर्वक सर्वस्व त्याग सकता है। सर्वस्व त्याग देनेमें उसे कुछ भी क्लेश नहीं होता, बल्कि आनन्द ही होता है। वह प्रेमीके एक पलके सङ्गके लिये भी प्राणपर्यन्त चेष्टा करता है। प्रेमीके सङ्गके लिये लाख रुपया त्यागना भी कोई बड़ी चीज नहीं। अपने प्रेमीके एक क्षणके सङ्गके लिये चाहे सर्वस्व नाश हो जाय, पर वह अपने प्रेममें किञ्चित् भी कलङ्क नहीं लगने देता और प्रेमीका समाचार सुननेपर आनन्दमें विह्वल हो जाता है तथा प्रेमीका सन्देश सुनानेवालेका उपकार वह कभी नहीं भूलता, जैसे भरतजी हनुमान्‌जीका उपकार नहीं भूलते।* प्रेमीका नाम सुननेसे भी नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है, रोमाञ्च हो जाता है और हृदयमें आनन्द नहीं समाता तथा जिसके साथ प्रेम होता है उसके साथ लज्जा, भय, मान, मोह, सत्कार और सांसारिक वस्तुकी कामनाका बर्ताव कभी नहीं होता।

(४)

तुमने लिखा कि मेरा ईश्वरमें प्रेम हो जाय—ऐसी बात लिखनी चाहिये, सो ठीक है; जिनका ऐसा प्रेम है, उन लोगोंको धन्यवाद है। ईश्वरमें प्रेम होनेकी बात भी उन्हींको मालूम है, किन्तु फिर भी अपनी समझके अनुसार कुछ लिखा जाता है।

भगवान्के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करनेसे भगवान्में प्रेम होता है। भगवान्के प्रेमी भक्तोंद्वारा भगवान्के गुणानुवाद, प्रभाव तथा मर्मकी गुप्त बातें सुननेसे भगवान्में बहुत जल्दी प्रेम हो सकता है। त[था] भगवान्के आज्ञानुसार निष्कामभावसे कर्म करनेसे और भगवान्से मिलनेकी उत्कण्ठा होनेसे भगवान्में प्रेम हो सकता है।

ऊपर लिखी बातोंको काममें लाकर भगवान्का प्रभाव जान लिया जाय, तब भगवान्में श्रद्धा-भक्ति होकर भगवान्के दर्शन हो जाते हैं।

××× समय बीता जा रहा है। जल्दी चेतना चाहिये। तुम्हारा साधन कैसा होता है? भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्गको सबसे उत्तम समझनेसे बहुत जल्दी भगवान् मिल सकते हैं। जबतक संसारके भोग, शरीर तथा रुपयोंको श्रेष्ठ समझा जाता है तभीतक भगवान्के मिलनेमें ढील होती है; एवं जबतक समयकी अमूल्यता नहीं समझी जाती तभीतक भगवान्के मिलनेमें विलम्ब हो रहा है। जब एकान्त [illegible]

* [illegible]

समझ लिया जायगा तथा समयकी अमूल्यता समझमें आ जायगी, तब भगवान्‌के मिलनेमें देर नहीं हो सकती ।

(५)

उस मनमोहन प्यारेमें शीघ्र ही सबकी अनन्यभक्ति हो जाय—ऐसा उद्देश्य रखकर सत्सङ्गकी चेष्टा होनी चाहिये । निरन्तर भगवान्‌का ध्यान रहते हुए ही ऊपर लिखे अनुसार कोशिश होनी चाहिये । ध्यानकी गाढ़ स्थिति रहनेपर हृदयमें बहुत ऊँचे-ऊँचे भावोंकी बातें उत्पन्न हो सकती हैं । श्रीभगवद्भक्तिके प्रचारका काम जल्दी तेज कैसे हो—इस प्रकार विचार रखनेसे श्रीभगवद्‌भक्तिका प्रचार ज्यादा बढ़ सकता है । इसके समान और कोई भी काम नहीं है । श्रीभगवान्‌ने गीता अध्याय १८ श्लोक ६८-६९में यही बात कही है ।* इसलिये कटिबद्ध होकर निष्कामभावसे चेष्टा करनी चाहिये, फिर कुछ भी चिन्ता नहीं । समयको अमूल्य समझ लेनेके बाद कञ्चन-मिट्टी सभी समान हो जाते हैं । इसलिये समयको अमूल्य समझनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये । तथा श्रीपरमात्मादेवके सिवा अन्य कुछ भी न रहे—ऐसे ध्यानके आनन्दमें निरन्तर मग्न रहना चाहिये । समय बीता जा रहा है । एक क्षण भी नेज साधनके बिना नहीं बिताना चाहिये एवं स्वप्नमें भी शरीरमें अहंभाव नहीं रहना चाहिये । इस प्रकार लोगोंको कहना चाहिये और कहना चाहिये कि मनुष्य-शरीर बहुत ही कठिनतासे मिलता है, यदि इस मौकेपर भी कल्याण नहीं होगा तो फिर न मालूम क्या दशा होगी—ऐसा समझकर तुरंत भगवान्‌के परायण हो जाना चाहिये ।

(६)

आपका ता० २७ । ३ । ४१ का पत्र मिला । आप कल्याणके लेख पढ़ते हैं तथा उनको काममें लानेकी चेष्टा करते हैं, सो बहुत आनन्दकी बात है । आपको कोशिश करनेपर भी सफलता न मिली, इसलिये तीन प्रश्नोंका उत्तर पूछा सो नीचे लिखा जाता है ।

(१) प्रश्न—परस्त्रीका तो त्याग है । अपनी स्त्रीके साथ भी ब्रह्मचर्यसे रहनेका बहुत दिल होता है, किन्तु सफलता नहीं मिलती ।

उत्तर—स्त्रीके साथ एक शय्यापर नहीं सोना चाहिये । एक कमरेमें भी दोनोंको अलग-अलग सोना चाहिये और विवेक-विचारपूर्वक संयम रखना चाहिये । यदि विवेक-विचारसे न हो सके तो स्त्री-पुरुष दोनोंकी सम्मतिसे नियम करके हठपूर्वक संयम करना चाहिये । स्त्रीसहवाससे बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, आयुका नाश तो होता ही है । इसलिये इनके नाशका भय दिखलाकर विवेक-वैराग्यपूर्वक संयम रखना चाहिये ।

(२) प्रश्न—भजनके समय मन भटकता रहता है । बहुत कोशिश करनेपर भी एकाग्रता नहीं होती । ... तो हजारों कोस चला ही जाता है ।

उत्तर—मनको यह भय दिखलाना चाहिये कि ... पता नहीं, न जाने कब आ जाय । ... चिन्तन बिना संसारका चिन्तन करते

---

* य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे ...

हुए मृत्यु हो गयी तो बड़ी बुरी दशा होगी। इसलिये सचेष्ट होकर मनको बारंबार भगवान्‌के चिन्तनमें लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये गीतातत्त्वाङ्कमें अध्याय ६ श्लोक २५, ३५, ३६ का तथा अध्याय ८ श्लोक ५, ६, ७ का अर्थ देखना चाहिये।

(३) प्रश्न—भजनपर श्रद्धा होनेके बाद कुछ लक्ष्मीकी प्राप्ति जरूर होती है, परन्तु वह ईमानदारीकी नहीं होती। प्रार्थना करता हूँ कि ईमानदारीकी कमाई मिले, किन्तु मिलती है छल-कपटसे ही।

उत्तर—धनकी प्राप्ति ईमानदारीसे नहीं होती, छल-कपटसे होती है। इसमें आपके प्रारब्ध और ईश्वरपर विश्वासकी कमी है। आत्मबलकी कमीके कारण ही ऐसा होता है। जितना ही प्रारब्ध और ईश्वरपर विश्वास बढ़ेगा, उतना ही आत्मबल बढ़ेगा। आत्मबलकी वृद्धिके लिये प्रारब्ध और विश्वास करना चाहिये। प्रारब्धपर विश्वास करना है कि प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिलना होगा, वह न्याययुक्त चेष्टा करनेसे भी मिल ही जायगा; फिर पाप क्यों करना चाहिये। प्रारब्धसे अधिक तो मिलेगा नहीं। यदि प्रारब्धमें न मिलना होगा तो चेष्टा करनेपर भी नहीं मिलेगा, फिर विश्वासमें ही कमी क्यों आने दी जाय। और ईश्वरपर विश्वास करना यह है कि जब ईश्वर विश्वम्भर है तो अपनेको क्या चिन्ता है। वह सबका पेट भरेगा ही। और पेट भर जानेपर फिर रुपयोंकी जरूरत ही क्या है। लक्ष्मी मिलकर यदि सकाम भक्तिमें भी कमी आये तो फिर उन रुपयोंसे लाभ क्या है?

एक-अनेक

(कीर्तन-ध्वनि)

तनसे कहो मनसे कहो
कृष्ण कहो राम कहो
सीतापति राम कहो
राधा-वर श्याम कहो
रघुकुल-सुख-कन्द कहो यादव-कुल-चंद कहो
सत-चित-आनन्द कहो निशि-दिन निर्द्वन्द कहो
शोभाके धाम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
कोसल-भूपाल कहो गोकुलका ग्वाल कहो
गो-द्विज-प्रतिपाल कहो दुष्टोंका काल कहो
नीलाम्बुज श्याम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
मुरलीधर श्याम कहो शारँगधर राम कहो
सुबह कहो, शाम कहो निशि-दिन निष्काम कहो
परम मधुर नाम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
मुरलीकी मधुर तान दुष्ट-दमन धनुष-बान
श्रवन, मनन, सुधा-पान स्वजन-सुखद, अभय-दान
लोचन-अभिराम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
त्रेतामें राम बने द्वापरमें श्याम बने
विविध-रूप-नाम बने भक्तोंके काम बने
पूर्ण-कला-धाम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
एक ब्रह्म विविध नाम अज अनूप पूर्णकाम
सुन्दर सुखकर ललाम भ्रम तज भज अष्ट याम
केवल ! अभिराम कहो
कृष्ण कहो राम कहो

—केदारनाथ 'बेकल', एम० ए०

श्रीकृष्णसे विनय

(स्वर्गीय मुंशी बनवारीलालजीकी 'बज़्म-ए-वृंदावन'से)

*श्रीजगदीश वृंदावन-विहारी । श्रीराधारमन माधव मुरारी ॥
श्रीगोविंद राधाकृष्ण गोपाल । मदनमोहन श्रीघनश्याम नँदलाल ॥
श्रीमुरली मनोहर श्यामसुंदर । श्रीभगवान गोपीनाथ गिरधर ॥
श्रीजदुपति श्रीबाँकेविहारी । चतुर्भुज श्याम मूरत चक्रधारी ॥
श्रीजगदातमा माधव विधाता । दयालू दीनबंधू प्रानदाता ॥
मुकटधारी मदनगोपाल मोहन । नवल सुंदर छबीले लाल मोहन ॥
कन्हैया नंदनंदन नंदप्यारे । दिलारामे-जहाँ[1] जसुदा-दुलारे ॥
तुही है हुस्ने रुख़सारे हक़ीक़त[2] । तुही है परदा-बरदारे हक़ीक़त[3] ॥
तुही है क़ुशाफ़े असरारे[4] अज़ली[5] । तुही है रूनुमाये हुस्ने अब्दी[6] ॥
तुही है जलवा-फ़रमाए दो आलम[7] । तुही है ख़ुद तमाशाए दो आलम[8] ॥
तुही लौहे तिलिस्मे जानोतन[9] है । तुही बख़्शंदए रूहो बदन[10] है ॥
तुही वहदात फ़ज़ाए इश्क़े रसवा[11] । तुही नक़्शो निगारे हुस्न ज़ेबा[12] ॥
तुही है मूजिदे ईजादे कौनैन[13] । तुही है बानिये बुनयादे कौनैन[14] ॥
तुही है इश्क़े अज़ली[15] हुस्ने जावेद[16] । तुही है ख़िलवते दिल[17] बज़्मे तौहीद[18] ॥
तुही है रौनक़े गरमीए बाज़ार[19] । तुही ख़ुद जिंस[20] तुही ख़ुद ख़रीदार[21] ॥
तुही है नग़मए बुलबुल[22] चमन[23] में । तुही गुंचा[24] तुही है गुल[25] चमन में ॥
तुही परवाना[26] तू ही शमा[27] महफ़िल । तुही गुल-चर्ने[28] तुही शोरे अनादिल[29] ॥
तुही लछमन, तुही सीता, तुही राम । तुही गोपी, तुही राधा, तुही श्याम ॥
ज़मीनो[30] चर्ख़ों[31] मेह्र[32]ओ माह[33] तेरे । दो आलम हैं तमाशागाह[34] तेरे ॥

---

* उर्दूमें 'श्री'को 'शिरी' पढ़ा जाता है और वैसे ही लिखा जाता है; अतः यहाँ भी जहाँ-जहाँ 'श्री' शब्द आवे, उसे इसी तरह तोड़कर पढ़ना चाहिये । तभी छन्दकी गति ठीक बैठेगी ।

१. जगत्के चित्तको सुख देनेवाले; २. सत्यके चेहरेका सौन्दर्य; ३. सत्यका पर्दा उठानेवाला (सत्यका उद्घाटन करनेवाला); ४. भेद खोलनेवाला; ५. आदिम; ६. अनादि सौन्दर्यके स्वरूपको प्रकट करनेवाला; ७. दोनों लोकों (इस लोक और परलोक) को प्रकाशित करनेवाला; ८. दोनों लोकोंका तमाशा (दर्शनीय वस्तु); ९. प्राण और शरीरके रहस्य-को प्रकट करनेवाली जादूकी तख्ती [यवन देशोंमें पुराने ज़मानेमें जादूकी इमारतें बनायी जाती थीं, जिनके द्वार आदि जादूसे ही खुलते थे । उन्हें तिलिस्म कहते थे और उस सारे रहस्यका कुछ [illegible] एक तख्तीपर लिखा रहता था, जिसको पढ़कर और समझकर ही उस इमारतमें प्रवेश और उसका [illegible] हो सकता था । उस तख्तीको लौहे तिलिस्म कहते थे ।]; १०. आत्मा और शरीर दोनोंका देनेवाला, ११. प्रेमकी मस्ती और [illegible] देनेवाला; १२. [illegible] सौन्दर्यके [illegible]; १३. दोनों लोकोंका आविष्कार करनेवाला; १४. दोनों लोकोंकी नींव रखनेवाला; १५. [illegible] प्रेम; १६. नित्य सौन्दर्य; १७. हृदयका एकान्त (शान्ति देनेवाला); १८. अद्वैतकी महफ़िल; १९. [illegible]; २०. बिकनेकी वस्तु; २१. मोल लेनेवाला; २२. बुलबुलका गाना; २३. [illegible]; २४. कली; २५. फूल; २६. [illegible]; २७. [illegible]; २८. [illegible]; २९. बुलबुलोंका [illegible]; ३०. पृथ्वी; ३१. [illegible]; ३२. सूर्य; ३३. चन्द्र; ३४. [illegible]

फ़ना[35] तर्ज़े ख़िरामे नाज़[36] की आन[37] । वक़ा[38] इक लब[39] की तेरे मंद मुस्कान ॥
बुते[40] चितचोर माखन के लुटेरे । हयातो[41] मौत दोनों खेल तेरे ॥
मिलाये तूने हस्तोनेस्त[42] बाहम[43] । घरौंदा[44] तेरा बाज़ीगाहे आलम[45] ॥
ज़बाने सब्ज़ा[46] नातिक[47] है समा[48] में । कि है सरशार[49] हर ज़र्रा[50] हवा में ॥
नमूदे आफ़रीनश[51] है तुझी से । वजूदे आफ़रीनश[52] है तुझी से ॥
तुही ख़ल्लाक़[53] है कौनो मकाँ[54] का । तुही रज़्ज़ाक़[55] है हर इंसो जाँ[56] का ॥
अलग कब तुझसे तेरी गुफ़्तगू[57] है । ग़रज़[58] इक तू ही तू है, तू ही तू है ॥
तुही है सबसे बरतर[59] सबसे बाला[60] । तुही है हाल असयाँ[61] सुननेवाला ॥
अधम बिगड़े हुए लाखों सँवारे । मेरी भी टेर सुन ले प्रानप्यारे ॥
शहनशाहे जहाँ[62] आलम पनाहे[63] । धराये खुद[64] हुए शौला[65] निगाहे[66] ॥

(२)

अर्ज़दाश्त[67]

अजब है कुछ मेरी हालत का इज़्हार[68] । सरासर हूँ अधम, पापी, गुनहगार[69] ॥
न लायक़ इल्तमासो इल्तजा[70] के । न क़ाबिल अपनी अर्ज़े मुद्दआ[71] के ॥
नदामत[72] नामए पैमाल[73] से है । खिजालत[74] आप अपने हाल से है ॥
निकम्मा[76] हूँ निकम्मी जिंदगी है । मेरी हस्ती[75] को खुद शर्मिंदगी है ॥
न अक़बा का न दुनिया का, न दीं[77] का । अजब कुछ हूँ, नहीं लेकिन कहीं का ॥
असीरे बंद दुनिया[78] हूँ सरासर । गिरफ़्तारे क़फ़स[79] बेबालो बे पर[80] ॥
वो नंगे इख़्तिलाते आबोगिल[81] हूँ । कि रब्ते जिस्मो जाँ[82] से मुनफ़इल[83] हूँ ॥
वो आवारा, वतन जिसने न देखा । वो बुल्बुल हूँ, चमन जिसने न देखा ॥

शाला; ३५. विनाश; ३६. नाज़ भरी हुई (इठलाती हुई) चालकी अदा; ३७. शोभा; ३८. सत्ता; ३९. ओठ; [illegible] उपास्यदेव (प्रेमास्पद); ४१. जीवन और मृत्यु; ४२. सत् और असत् (अस्तित्व और अभाव); ४३. [illegible] ४४. मिट्टीका घर जो बालक खेलमें बनाते हैं; ४५. संसाररूपी खेलका स्थान (रङ्गभूमि); ४६. हरी-हरी घासके [illegible] जोशसे मालूम होते हैं; ४७. बोल रहा; ४८. प्रशंसा; ४९. उत्साहसे भरा हुआ; ५०. कण-कण; ५१. सृष्टिका उदय [illegible] विकास; ५२. सृष्टिकी स्थिति; ५३. रचनेवाला; ५४. दुनियारूपी भवन; ५५. भरण-पोषण करनेवाला, रोटी देनेवाला; [illegible] मनुष्य तथा जन्तु; ५७. चर्चा; ५८. [illegible]; ५९. ऊँचा; ६०. श्रेष्ठ; ६१. पापियोंका वृत्तान्त; ६२. [illegible] [illegible]; ६३. [illegible]; ६४. [illegible]; ६५. शौलाकी ओर [शौला कविका उपनाम है]; ६६. एक निगाह; [illegible] ६७. निवेदन; ६८. वर्णन; ६९. अपराधी; ७०. निवेदन और प्रार्थना; ७१. अभिप्राय-निवेदन; ७२. लज्जा; ७३. [illegible] [illegible]; ७४. [illegible]; ७५. अस्तित्व; ७६. [illegible]; ७७. धर्म; ७८. संसारके बन्धनमें जकड़ा हुआ; ७९. पिंजरेमें बंद; [illegible] [illegible]; ८१. आबध्वानी, गिल=मिट्टी [पाँच तत्त्वोंमेंसे दो ख़ास तत्त्व [illegible] [illegible] और मिट्टीकी मिलावट यानी आदमीके नामसे भी [illegible]; [illegible]; ८३. लज्जित; ८४. इधर-उधर [illegible]

अलग हूँ, दूर हूँ, सबसे जुदा हूँ । अजब बेकस[86] हूँ बे बर्गो नवा[87] हूँ ॥
न कोई छोड़ जाने की निशानी । न कोई यादगारे ज़िंदगानी[88] ॥
हज़ारों हैं गुनाहों की गवाही । सफ़ेदी[89] पर हैं क्या क्या रू सियाही[90] ॥
न ज़िक्रे हक़[91] है ना फ़िक्रे अमल[92] है । न कर्मो धर्म[93] है, विद्या न बल है ॥
न जोगी हूँ न संन्यासी, जती हूँ । न रिंदें[94] बादाकशों[95] ना मुत्तक़ी[96] हूँ ॥
न ज़ाहिदे[97] हूँ न हूँ मस्ते ख़राबातें[98] । न आबिद[99] हूँ, न हूँ अहले करामात[100] ॥
न साधू हूँ, न बैरागी, न अवधूत । न लाहूती[101], न जबरूती[102], न मलकूत[103] ॥
मेरी ग़फ़लत[104] की हद कुछ भी नहीं है । ख़याले नेकोबद[105] कुछ भी नहीं है ॥
नहीं छूने के क़ाबिल जिस्मे नापाक[106] । मिलेगी किस तरहसे ख़ाकमें ख़ाक[107] ॥
ग़रज़ जो कुछ हूँ, सब तुझ को ख़बर है । मेरा अंजाम[108] क्या, मद्दे नज़र[109] है ॥
हमेशा है गुनहगारों पै रहमत[110] । हमेशा है तेरी बख़शिश[111] की आदत ॥
किया दुश्मन का भी उद्धार तूने । उतारा डूबतों को पार तूने ॥
दयालू दीनबंधू के सहारे । थका बैठा हूँ मंज़िल[112] के किनारे ॥
नहीं इक वक़्त का तोशा[113] बग़ल में । झुका पड़ता है सिर फ़िक्रे अमल में ॥
कुढब रस्ता है और मंज़िल कड़ी है । जो गठरी सिर पै है, बोझल बड़ी है ॥
न पस्ती वो बलंदी[114] का ठिकाना । हज़ारों क़ाफ़ले[115] गो[116] हैं रवाना ॥
न रहबर[117] कोई राहे पुरख़तर[118] में । अँधेरा होगा हर जानिब[119] नज़र में ॥
बुरा है वक़्त वह, जिसका कि डर है । समाँ[120] यह है कि जो पेशे नज़र[121] है ॥
दमे आख़िर[122] रवाँ[123] आँखों में होगा । किसी दिन यह समाँ आँखों में होगा ॥
बदलती हों मुहब्बत[124] की निगाहें । हर इक जानिब हों हसरत[125] की निगाहें ॥
दमे रुख़सत[126] हो घरवालों ने घेरा । खड़ा हो सब लदा असबाब[127] मेरा ॥
हजूमे अहले मातम[128] हो सिरहाने । अज़ीज़ो अक़रबा[129] ख़ेशो बगाने[130] ॥

८६. असहाय; ८७. बिना पत्ते और सामान (फल, शाखा आदि) का वृक्ष—बेकार और निकम्मा; ८८. जीवनकी स्मृति; ८९. सफेद बाल (बुढ़ापा); ९०. धब्बे, काले दाग़; ९१. भगवान्‌की चर्चा; ९२. करतूतोंकी चिन्ता; ९३. धर्म-कर्म; ९४. मस्त; ९५. भगवत्प्रेमकी सुरा पीकर छका हुआ; ९६. पवित्रात्मा; ९७. त्यागी; ९८. ज्ञानकी शराबमें मतवाला; ९९. महात्मा; १००. अलौकिक सामर्थ्यवान्; १०१. शून्यमें रमण करनेवाला; १०२. मोक्षकामी एकान्तवासी मुनि; १०३. अन्य लोकोंमें विचरनेवाला सिद्ध पुरुष; १०४. प्रमाद, ग़लती; १०५. भले-बुरेका विचार; १०६. अपवित्र शरीर; १०७. मिट्टी; १०८. अन्त, परिणाम; १०९. ध्यानमें; ११०. दया; १११. क्षमा-प्रदान; ११२. जीवन-यात्रा; ११३. भोजन-सामग्री, पाथेय; ११४. ऊँचाई-निचाई; ११५. यात्रियोंके दल; ११६. यद्यपि; ११७. मार्गदर्शक; ११८. ख़तरेसे भरा हुआ मार्ग; ११९. प्रत्येक दिशामें; १२०. दृश्य; १२१. दृष्टिके सामने; १२२. अन्तिम श्वास, अन्तिम क्षण; १२३. प्रस्तुत; १२४. प्रेम; १२५. अतृप्त लालसा; १२६. विदाईके समय; १२७. सामान; १२८. शोक प्रकट करनेवालोंकी भीड़; १२९. प्रियजन एवं निकटके लोग (सम्बन्धी); १३०. अपने एवं पराये;

हर एक की हो निगाहे हसरत-आलूद[१३१] । खड़ी हो बेकसी[१३२] वालीं[१३३] पै मौजूद ॥
अजब मायूस[१३४] हो नाकामे दुनिया[१३५] । तपाँ[१३६] हो, हम असीरे[१३७] दाम दुनिया[१३८] ॥
किसी को इक दो दम की इंतज़ारी[१३९] । किसी के दिल में हो फ़िक्रे सवारी[१४०] ॥
मेरे हर काम बाहम बट रहे हों । उठानेवाले भाई छुट रहे हों ॥
ग़रज़ सामाने रुख़सत[१४१] जब हो तैयार । पड़े जान[१४२] और अजल[१४३] में आके तकरार[१४४] ॥
उसे ताजील[१४५] हो हुक्मे कज़ा[१४६] की । इसे हो ढील अर्ज़े मुद्दआ की ॥
वो बिफरी[१४७] हो कि आगे घरके निकलूँ । यह मचली हो कि दर्शन करके निकलूँ ॥
पड़ा झगड़ा हो कुछ आपस में भारी । वो क्या ? बस इक तुम्हारी इंतज़ारी ॥
नज़र आ जाय छब बाँकी अदा की । मुँदें आँखें तो हो झाँकी अदा की ॥
तसव्वुर[१४८] रिश्तये[१४९] जाँ में जकड़ लूँ । छुटे तब नब्ज़[१५०] जब दामन[१५१] पकड़ लूँ ॥
जब आये आँख में दम प्रानप्यारे । लगा हो ध्यान चरनों में तुम्हारे ॥
वही हो ध्यान जिसको मैं दिखाऊँ । वही झाँकी हो, जिसको मैं बताऊँ ॥

(३)

झाँकी

कदम की छाँव हो जमुना का तट हो । अधर मुरली हो माथे पर मुकट हो ॥
खड़े हों आप इक बाँकी अदा से । मुकट झोकों में हो मौजे हवा[१५२] से ॥
ख़मीदा[१५३] नाज़ से हो क़द्दे बाला[१५४] । मुकट घेरे हुए हो मह[१५५] का हाला[१५६] ॥
सितारे झड़ रहे हों पीत पट से । गुथी मोती की लड़ियाँ हों मुकट से ॥
कसी नाज़ुक कमर हो काछनी से । बँधी बंसी हो जामे की तनी से ॥
गले में हों जड़ाऊ हारो हैकल[१५७] । पड़े गुलगोश[१५८] में हों कीट-कुंडल ॥
भरी गजरों से हो नाज़ुक[१५९] कलाई । बने हों बर्गे[१६०] गुल दस्ते हिनाई[१६१] ॥
पड़ी सिंघार[१६२] की हो फूलमाला । गले में दस्ते शौक़े[१६३] पुर्ज़े वाला[१६४] ॥
बराबर हों श्रीराधा किशोरी । मधुर सुर बाँस की बजती हो पोरी[१६५] ॥
कमर उलझी हुई नाज़ुक कमर से । हो उलझा पीतपट नीलाम्बर से ॥
मुकट से चंद्रिका, हाले से हाला । कड़ों से हार, बनमाला में माला ॥

---

१३१. लालसापूर्ण दृष्टि; १३२. बेबसी; १३३. सिर; १३४. निराश; १३५. संसारके लिये निकम्मा; १[illegible] उऊआ हुआ; १३७. साथ-साथ; १३८. संसारके जालमें फँसा हुआ; १३९. प्रतीक्षा; १४०. यम-यात्राकी चि[illegible] १४१. विदाईका सामान; १४२. जीवन; १४३. मृत्यु; १४४. झगड़ा; १४५. उतावली; १४६. मृत्युके देवता (यमरा[illegible] की आज्ञा; १४७. मचली; १४८. ध्यानमें आयी हुई मूर्ति; १४९. प्राणोंके सूत्रमें; १५०. नाड़ीकी गति; १५१. [illegible] १५२. हवाकी अठखेलियाँ; १५३. झुकी हुई; १५४. ऊँची कद; १५५. चाँद; १५६. [illegible] १५७. हार एवं [illegible] १५८. गुलाबके फूल-से कान; १५९. सुकुमार; १६०. गुलाबके फूलकी पंखुड़ियाँ; १६१. मेंहदीसे रंगे हुए हाथ; १[illegible] [illegible] के फूल; १६३. अनुरागपूर्ण हाथ; १६४. [illegible] [यहाँ भी [illegible]] १६[illegible]

लड़ी बेसर[166] में और मुक्ता[167] में मकतूल[168]। लटों में कीट, कुण्डल से करनफूल ॥
इधर उलझे हुए बाज़ू[169] से बाज़ू। उधर उलझे हुए गेसू[170] से गेसू ॥
मुसफ़ाए रंग[171] से आईना[172] हो दंग[173]। झलकता गौर में हो श्याम का रंग ॥
तबस्सुम[174] हो दमे नज़्ज़ारा[175] बाहम। अयाँ[176] इक छब में हो हुस्ने दो आलम[177] ॥
जुदा हों गो बराये नाम[178] दोनों। बने हों एक राधा श्याम दोनों ॥
बहमदीगर[179] हो अक्से[180] हुस्ने ज़ेबा। कन्हैया राधा हों, राधा कन्हैया ॥
जो हो यूँ हुस्ने यकताका[181] नज़ारा। बहारे रूये ज़ेबा[182] का नज़ारा ॥
गिरे गरदन ढलक कर पीतपट पर। खुली रह जायँ ख़ुद आँखें मुकट पर ॥
अगर इस छब का आख़िर में समाँ[183] हो। मेरा मरना हयाते जाविदाँ[184] हो ॥
दुशाले की एवज़[185] हो बृज की धूल। पड़ें उतरे हुए सिंगार के फूल ॥
मिले जलने को लकड़ी बृजबन की। बने अकसीर[186] यूँ फुककर बदन की ॥
ग़रज़ इस तरह हो अंजाम मेरा। तुम्हारा नाम हो, और काम मेरा ॥
यह दौलत छोड़ दूँ नादाँ[187] नहीं हूँ। बहिश्त[188] और मोक्ष का ख़्वाहाँ[189] नहीं हूँ ॥
तुम्हीं को शर्म है जाँ के दिये की। तुम्हीं को लाज है पैदा किये की ॥
रहूँ ता[190] ख़ातिमाते आयो गिल में। रहे नक़्शा[191] इन्हीं चरनों का दिल में ॥
ज़बाँ[192] जबतक दहन[193] में हो न बेकार[194]। पुकारा ही करूँ सरकार-सरकार ॥
हमेशा विर्दे[195] हो नामे गिरामी[196]। हमेशा हो ज़बाँ पर नामे-नामी[197] ॥
इसी आनंद में बाक़ी[198] निबाहूँ[199]। न मुहताजे अज़ीज़ो अक़रबा[200] हूँ ॥
किसी के सामने फैले न दामन। न अहसाँ[201] हो किसी का बारे गर्दन[202] ॥
रहूँ बाग़े जहाँ[203] में रंगो बू[204] से। कटें दिन ज़िंदगी के आबरू[205] से ॥

बाँसकी दो गाँठोंके बीचका भाग; १६६. नाकका आभूषण; १६७. मोती; १६८. एक प्रकारका गहना; १६९. भुजा; १७०. बाल; १७१. रंगकी स्वच्छता; १७२. दर्पण. १७३. विस्मित, हैरान; १७४. मुसकान; १७५. उस दृश्यके समय; १७६. प्रकट; १७७. दोनों लोकोंका सौन्दर्य; १७८. नाममात्रके लिये; १७९. एक दूसरेका; १८०. प्रतिबिम्ब; १८१ अनुपम सौन्दर्य; १८२. श्रेष्ठ मुखच्छवि; १८३. अन्त समय; १८४. अमर जीवन; १८५. बदले, स्थानमें; १८६. वह फुकी हुई दवा जिससे मुर्देमें भी जान आ जाय; १८७. अज्ञान, मूर्ख; १८८. स्वर्ग; १८९. चाहनेवाला; १९०. जबतक; १९१. चित्र; १९२. जिह्वा; १९३. मुँह; १९४. बोलनेमें असमर्थ; १९५. जिह्वापर; १९६. महान् नाम; १९७. प्रसिद्ध नाम (भगवन्नाम); १९८. शेष जीवन; १९९. व्यतीत करूँ; २००. प्रियजनों एवं कुटुम्बियोंकी कृपाका भिक्षुक; २०१. उपकार; २०२. गर्दनका बोझ, सिरको झुका देनेवाला; २०३. संसाररूपी वाटिका; २०४. स्वतन्त्रतापूर्वक; २०५. प्रतिष्ठा;

उगे सर्व[२०६] सही चाला[२०७] तो अच्छा । अगर हो मज़िये चाला[२०८] तो अच्छा ॥
रवाँ[२०९] वहरे करम[२१०] हो सैल दर सैल[२११] । रहे दुनिया की दौलत हाथ का मैल ॥
भरोसा है मुकटधारी तुम्हारा । तुम्हारा ही है, 'बनवारी' तुम्हारा ॥
गरज़ हो जब कभी झगड़ा मेरा तै । कहें सब बोलो राधा कृष्णकी जै ॥

जीवनकी सफलता

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०)

जीवनकी सफलता किस बातपर निर्भर है ? ऐसा प्रश्न हमारे मनमें अनेक बार आता है । उसका सीधा-सादा उत्तर एक ही है—अपनी भावनाओंपर । मनुष्य अपनी कल्पनासे ही अपने-आपको सफल अथवा विफल बनाता है । हम जैसी कल्पना करते हैं, उसी प्रकारकी सृष्टि अपने आसपास रच लेते हैं । मनुष्यको चाहिये वह सदा आत्मनिरीक्षण करता रहे । जब उसके मनमें ईर्ष्या, क्रोध आदिसे रंजित विचार आने लगें तो उसे समझना चाहिये कि उसका आध्यात्मिक पतन हो चुका है । जब हमारे मनमें किसी कारणवश दूसरेके अकल्याणके विचार उठने लगते हैं तो यही विचार अपने अकल्याणके विचारमें परिणत हो जाते हैं । हम जिन व्यक्तियोंका अकल्याण चाहते हैं, उनसे भय खाने लगते हैं और फिर जिस अवस्थाको हम अपनी कल्पनामें चित्रित करते रहते हैं, वह एक दिन वास्तविकतामें परिणत हुई दिखायी देती है ।

मनुष्य जिस भी स्थितिमें रहता है, उसी स्थितिमें उसे दो प्रकारकी शक्तियाँ मिलती हैं—एक जो उसका कल्याण चाहती है और दूसरी जो उसका पतन चाहती है । हमारा कल्याण चाहनेवाले व्यक्ति वे हैं जो हमसे लाभ उठाते हैं, और हमारा अकल्याण चाहनेवाले लोग वे हैं जिन्हें हमारी उपस्थितिसे नुकसान होता है । यदि हमारे विचार हमारे कल्याण चाहनेवालोंपर केन्द्रित रहें तो हमारा कल्याण अवश्य होगा । ऐसे लोगोंके प्रति हमारा प्रेम प्रवाहित होगा । इस तरह हमारा हृदय शुद्ध और हमारा मन बलवान् हो जाता है । प्रेमके विचार ही मनुष्यको सफलता और जीवन देते हैं । अतएव अपने प्रेमियोंके विषयमें चिन्तन करना सदा ही आत्माके लिये हितकर होता है । यदि हमारे विचार हमारे अकल्याण करनेवाले लोगोंमें केन्द्रित हो गये तो हमारा पतन निश्चित है । जो हमारा कल्याण नहीं चाहते, उनका हम भी कल्याण नहीं चाहते । हम ऐसे लोगोंका विनाश चाहते हैं । पर इस प्रकारकी मनोवृत्ति हमारा ही विनाश कर डालती है । जैसा हम पहले किसी लेखमें बता चुके हैं, आत्मघात और परघातकी मनोवृत्तियोंकी जड़ एक ही है ।

मनुष्यको चाहिये कि वह सदा ही किसी-न-किसी भले काममें लगा रहे, इससे उसके कल्याण चाहनेवालोंकी संख्या बढ़ती जायगी और उसके अकल्याण चाहनेवालोंकी संख्या घटती जायगी । जैसे

---

२०६. [illegible] २०७. सीधा और ऊँचा ([illegible]); २०८. [illegible] २०९. [illegible] २१०. [illegible] २११. [illegible]

ो एक प्रकारके लोगोंकी संख्या बढ़ती है, हमारे ार भी उसी प्रकार बदलते जाते हैं। हम अपने सपास चलनेवाले विचारोंसे सदा प्रभावित होते रहते । जिस समय हम अपने आसपास ऐसा वातावरण बना े हैं, जिसमें अधिक लोग हमारा कल्याण चाहते हैं, हमारा कल्याण निश्चित ही है। कारण इन लोगोंके चार हमारे विचारोंको भला बना देते हैं और उसके लस्वरूप फिर हमारा वास्तविक जगत् भी भला बन ाता है। इस तरहकी क्रिया और प्रतिक्रिया सदा । हमारे मन और वातावरणमें हुआ करती है।

देखा गया है जब कोई हमारा शत्रु यह देखता है क हम उसके विषयमें कुछ भी नहीं सोचते और न ससे किसी प्रकारका भय खाते हैं तो वह हमारा ीरे-धीरे मित्र हो जाता है। प्रत्येक पुरुष शक्तिका ुजारी है। जो मनुष्य किसी दूसरेसे ईर्ष्या नहीं करता, ह अगाध ईश्वरीय शक्तिका धारण करनेवाला होता है; र्थात् दूसरे लोगोंकी शत्रुतासे भयभीत न होना अपने-आपमें अनन्त शक्तिके अस्तित्वका प्रतीक है। ऐसे शक्तिशाली व्यक्तिका अकल्याण करनेके विचार यदि किसी व्यक्तिके मनमें आयें भी तो वे अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।

जो मनुष्य संसारमें कोई भी मौलिक कार्य करना चाहता है, उसे परिणामके लिये उद्विग्न न होना चाहिये। वास्तवमें प्रत्येक कार्यका परिणाम व्यक्त जगत्में प्रकाशित होनेके पूर्व अव्यक्तमें रहता है। यदि किसी बीजको बोया जाय, उसके लिये योग्य खाद और पानी दिया जाय, तो वह तुरंत ही वृक्षके रूपमें परिणत नहीं हो जायगा। दूसरे जो वृक्ष जितना अधिक दिन ठहरनेवाला होता है, वह उतना ही अधिक समय व्यक्त जगत्में आनेमें लेता है और उसकी बाढ़ भी धीरे-धीरे होती है। जो वृक्ष शीघ्रतासे जमीनके बाहर आ जाते हैं और वेगके साथ बढ़ते हैं, वे शीघ्र नष्ट भी हो जाते हैं; उनका जीवनकाल थोड़ा ही होता है।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति जो संसारमें मौलिक कार्य करना चाहता है, उसे जगत्में होनेवाली अपनी प्रसिद्धिसे प्रसन्न न होकर उसे हानिप्रद समझना चाहिये। यदि कोई हमारे काममें बाधा डाले तो हमें उन बाधाओंको पार अवश्य करना चाहिये, पर हमें अपने विचार नकारात्मक कदापि न होने देने चाहिये।

जिस समय हम किसी व्यक्तिको हमारी हानि करते देखें, वह समय हमारे लिये भारी धर्मसंकटका है। धर्मसंकट इस बातका है कि कहीं हम उसका मन-ही-मन अकल्याण सोचने लगें। हमें चाहिये कि हम अपना हृदय उसके प्रति दुर्भावोंसे कलुषित न होने दें। यदि कोई व्यक्ति हमारे प्रति अन्याय करता है तो उस अन्यायका प्रतिकार कर्तव्यबुद्धिसे करना बुरा नहीं, पर उस अन्यायके विषयमें सदा चिन्तित रहना अपने-आपको पतनकी ओर ले जाना है। वास्तवमें यदि हमारे अंदर कोई मौलिक गुण है तो वह अपने-आप संसारमें प्रकाशित हो ही जायगा, चाहे उसके प्रति कितने ही आवरण कोई क्यों न डाले। जो मनुष्य अपने-आपपर किये गये अन्यायोंको दूसरोंसे *नहीं कहता फिरता, किन्तु दूसरे ही उसकी खोज* करते हैं, वह अपनी संसारमें प्रतिष्ठा बढ़ा लेता है। वास्तवमें मनुष्यकी प्रतिष्ठा तो उसकी कार्यशक्ति, आध्यात्मिक बलपर निर्भर रहती है। चालबाजी थोड़े समयके लिये सफल भले ही हो जाय, किन्तु उसका अन्त मनुष्यको दिवालिया बना देता है। सत्यचित मनुष्य ही संसारमें सुखी और सफल होता है। मनुष्यको अपने-आपकी कीमत बढ़ानी चाहिये। अपने-आपको धोखा कौन दे सकता है; दूसरोंको धोखा देना अपने-आपको धोखा देना है।

कामके पत्र

(१)

भगवान्से तुरंत उत्तर मिलेगा

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपके चारों पत्र मिल गये। उत्तर लिखनेमें मेरी ओरसे बहुत ही अवहेलना हुई, इसके लिये मनमें बड़ा संकोच है। कई बार पत्र लिखनेका विचार किया। दो-चार पंक्तियाँ लिखीं भी परन्तु कोई-न-कोई विघ्न आ गया, जिससे लिखना रुक गया। आप इतनेपर भी मुझसे नाराज नहीं हुए और पत्रोंका उत्तर न लिखनेपर भी बराबर पत्र लिखते रहे, इस कृपा और प्रेमके बदलेमें मैं तो कुछ भी करनेमें असमर्थ हूँ। आपने मेरे लिये जो कुछ भी शब्द लिखे हैं, उनको पढ़कर मुझे तो लज्जा आती है। मैं ऐसे शब्दोंके लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। वास्तवमें आपके पत्रोंका उत्तर वही दे सकता है, जिसमें आपके लिखे शब्दोंका अर्थ घटता हो। हाँ, मैं आपकी श्रद्धापर इससे कोई आक्षेप नहीं करता। पाषाण या धातुमयी मूर्तिमें भी श्रद्धा और प्रेमके कारण भगवान्के दर्शन हो सकते हैं। वस्तुतः सब जगह भगवान् हैं भी। मेरा तो यही लिखना है कि आपको मुझमें जो बातें दिखायी देती हैं, उसका कारण श्रद्धा ही है। मेरी दृष्टिसे तो मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखायी देती। मेरा असौजन्य और अकृतज्ञता तो इसीसे सिद्ध है कि रुग्णावस्थामें आपके लिखे हुए करुण और प्रेमभरे पत्रोंका मैं महीनोंतक उत्तर नहीं लिख पाता। आप अपनी श्रद्धामयी सज्जनतासे फिर भी मुझको चाहते हैं, यह आपकी महिमा है। मेरा तो यह निवेदन है कि आप जिस प्रकार मुझे स्मरण करते हैं और मुझको पत्र लिखते हैं, उसी प्रकार दयार्णव, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणगणालङ्कृत, परम सुहृद्, आपके नित्य परम आत्मीय, सदा अतिसमीप रहकर आपकी सारी स्थितियोंको भलीभाँति जानने-समझनेवाले और किसीकी भी बड़ी बड़ी भूलपर भी कभी उसका अहित न करनेकी [illegible] करनेवाले भगवान्का स्मरण कीजिये और मनकी [illegible] उन्हें पत्र लिखिये। एक पत्र भी पूरा नहीं [illegible] पायेंगे—तुरंत आपको आश्वासनपूर्ण उत्तर मिलेगा।

'निरबल ह्वै बल राम पुकारो आये आधे नाम।'

भक्तशिरोमणि गजेन्द्र पूरा नाम भी उच्चारण नहीं कर पाये थे, उनके सामने भगवान् प्रकट हो गये और उन्होंने गजराजको तुरंत बचा लिया। यह अनहोनी या कल्पित कथा नहीं है।

रोगमें क्या समझना चाहिये ?

परन्तु रोगकी निवृत्तिके लिये भी उन्हें क्यों [illegible] चाहिये। रोगकी सौगात भेजनेवाले क्या कोई दूर हैं ? और यदि प्रियतमके हाथसे भेजी हुई चीज [illegible] है, तो फिर हमें उससे दुःख क्यों होना चाहिये जिस वस्तुसे प्रियतमका सम्बन्ध है, जो उनके [illegible] आयी है, जिसको उन्होने भेजा है, जो उनके हाथ [illegible] स्पर्शित है, जिसको लेकर वही आये हैं, उससे [illegible] भय और शोक क्यों होना चाहिये ? प्रियतमकी [illegible] छबि उसके पीछे छिपी है, उनका हाथ उससे [illegible] है, अगर यह बात है तो हमें प्रियतमका प्यारा [illegible] देखकर उस वस्तुका आलिङ्गन करना चाहिये। प्रियतम स्वयं ही स्वाँग बदलकर आये हैं तब तो क[illegible] ही क्या है। वस्तुतः दोनों ही बातें सत्य हैं। इनमेंसे एकको भी स्वीकार कर लें तो हमारे [illegible] प्रत्येक क्षण परमानन्दसे पूर्ण हो जायगा। यह प्रेम-मार्गकी बात हुई। शरणागति और निर्भरतामें यही बात है। भगवान्के प्रत्येक विधानमें परमानन्द अनुभव होना और सर्वतोभावसे उन्हींपर निर्भर क[illegible] शरणागतिका लक्षण है। इसमें सारी क्रियाएँ भग[illegible]

[illegible] है। [illegible] नहीं है। परन्तु यह [illegible] नाशक [illegible] है। यह किसी कामके लिये किया जानेवाला [illegible] नहीं है। इस निर्बलताके नाते भी रोगके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। चिन्ता तो एकमात्र चिन्तामणिकी ही होनी चाहिये, जिनकी चिन्तासे अन्यान्य समस्त चिन्ताएँ सदाके लिये नष्ट हो जाती हैं।

ज्ञानकी दृष्टिसे तो मायाके कार्यमें मोह होना ही अज्ञान है। अज्ञानकी अपने हाथों दी हुई गाँठको तो खोलना ही चाहिये। ज्ञान और भक्तिके समन्वय पक्षमें भी शरीरकी बीमारीके लिये चिन्ताकी आवश्यकता नहीं। आप विद्वान् हैं, स्वयं विचार कीजिये।

भगवान्‌की दयामें विश्वास

मेरे निवेदनके अनुसार तो आपको श्रीभगवान्‌में, उनकी अपार करुणामें, उनके अनन्त प्रेममें, उनकी अहैतुकी सुहृदतामें, उनकी असीम दयामें विश्वास करके यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये 'हमारा परम कल्याण ध्रुव है'। यदि भगवान्‌पर विश्वास करके आप अपने कल्याणके लिये सहायहीन हो जायँगे तो आपका कल्याण निश्चित है। बस, भगवान्‌की दयापर विश्वास करनेभरकी देर है। इस विश्वासकी प्राप्तिके लिये भी भगवान्‌से करुण प्रार्थना करनी चाहिये। एक बारकी हृदयकी करुणायुक्त पुकार भगवान्‌के आसनको हुला देती है। 'जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।' जो उनके लिये खिन्न होता है, जिनको उनका विरह-ताप जलाये डालता है, उससे मिले बिना वे नहीं रह सकते। रोगसे घबड़ाइये नहीं। यह रोग यदि आपके अनन्तकालीन जीव-जीवनका अन्तिम रोग बन सके, तो रोगका स्वागत करना चाहिये। और ऐसा बन सकना आपके हाथ है। आपके हाथसे मेरा मतलब आपके पुरुषार्थसे नहीं है, [illegible] से [illegible] यह कह सके कि 'मेरे हाथमें दुःख नहीं है, हे नाथ! सब दुःख तुम्हारे हाथ हैं, जो चाहे सो करो, तुम्हारी चीजमें मैं एतराज करनेवाला कौन! फिर मैं भी तुम्हारी ही चीज हूँ। एतराज करता हूँ तो तुम्हीं करते-कराते हो। तुम्हीं तुम्हारी जानो। और जो चाहे सो करो-कराओ।'

(२)

प्रेम और विकार

....आप लिखते हैं, 'मैं प्रेम-धनसे शून्य हूँ। बिना प्रेमके जीवन कैसा, यह तो बोझरूप है।' यह आपका लिखना सिद्धान्ततः ठीक ही है। प्रेमशून्य जीवन शून्य ही है। परन्तु वास्तवमें यह बात है नहीं। प्रेम सभीके हृदयमें है, भगवान्‌ने जीवको प्रेम देकर ही जगत्‌में भेजा है। हमने उस प्रेमको नाना प्रकारसे इन्द्रिय-चरितार्थतामें लगाकर विकृत कर डाला है, इसीलिये उसके दर्शन नहीं होते और कहीं होते हैं तो बहुत ही विकृतरूपमें होते हैं। विकृत स्वरूपका नाश होते ही मोहका पर्दा फट जाता है; फिर प्रेमका असली ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकट होता है, जिसके प्राकट्यमात्रसे ही आनन्दाम्बुधि उमड़ पड़ता है। प्रेम और आनन्दका नित्ययोग अनिवार्य है। भगवान्‌के आनन्दसे ही सृष्टि हुई है और इस प्रेमसे ही आनन्दका विकास और पोषण होता है। प्रेमकी कोई भी दशा ऐसी नहीं है, जहाँ आनन्दका अभाव हो और आनन्द भी कोई ऐसा नहीं, जिसमें कारणरूपसे प्रेम वर्तमान न हो। परन्तु जहाँ प्रेमके नामपर कामकी क्रीड़ा होने लगती है, वहाँ प्रेम अपनेको छिपा लेता है। चिरकालसे मलिना माया-के मोहवश हम कामकी क्रीड़ामें लगे हैं। कामको ही प्रेम समझ बैठे हैं। इसीलिये प्रेम हमसे छिप गया है और इसीलिये प्रेमके अभावमें हम आनन्दरहित केवल 'चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः' और 'कामोप-भोगपरमाः' होकर शोक-विग्रह बन गये हैं। इस काम-

की कालिमाको धोनेके लिये आवश्यकता है किसी ऐसे क्षारकी जो इसकी जड़तकका नाश कर दे और वह क्षार वैराग्य है । गोविन्द-पदारविन्द-मकरन्द-मधुकर विषय-चम्पक-चञ्चरीक होता ही है । बार-बार उस परम प्रेमार्णव—अनन्त प्रेमार्णव सुधा-सार श्यामसुन्दरका स्मरण करना और उसकी दिव्य पद-नख-ज्योतिके प्रकाशसे समस्त सञ्चित मोहान्धकारका नाश करनेके निश्चयसे प्रत्येक क्षणके प्रत्येक चिन्तनमें अपार अलौकिक आनन्दका अनुभव करना (अनुभव न हो तो भावना करना) कर्तव्य है । उसके इस मधुर चिन्तनके प्रभावसे जगत्‌के समस्त रस नीरस, कटु और त्याज्य हो जायँगे । तब उस रस-विग्रहकी रश्मियाँ हमारे ऊपर पड़ेंगी और हमारे सुप्त प्रेमको जगाकर हमें उसके दिव्य दर्शन करायेंगी ।

(३)

प्रतिकूल स्थितिमें प्रसन्न रहना

····प्रतिकूल समयमें सभी कुछ सम्भव है । परन्तु इन सब बातोंके होते हुए भी आप-सरीखे विचारशील पुरुषके चित्तमें अशान्ति क्यों रहनी चाहिये । वेदान्त, भक्ति और कर्म—तीनों ही दृष्टियोंसे चित्तका निरुद्वेग रहना उचित है । वर्तमान दुःस्थिति कर्मका फल है, तो उसका भोग अवश्य ही सिर चढ़ाकर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना चाहिये । ज्ञानकी दृष्टिमें जहाँ दृश्य-जगत्‌का ही अभाव है, वहाँ जगत्‌की तुच्छातितुच्छ स्थूल स्थितियोंकी तो सत्ता ही कहाँ है । स्वप्नका दुःख जागे हुए बुद्धिमान् पुरुषको क्यों होना चाहिये । अनुकूलता, प्रतिकूलता सारी ही असत् है, अज्ञानसे कल्पित है । निन्दा-स्तुति, मानापमान, लाभ-हानि—[illegible] है । इनसे बुद्धिमान्‌की चित्तवृत्ति-[illegible]हिये ।

[illegible] सभी कुछ प्रियतम प्रभुकी देन है । वह तो प्रत्येक स्थितिमें प्रियतमका मधुर स्पर्श पाकर सुखी होता है । किसी भी [illegible] आये, आता वह प्रियतम ही है । फिर भय[illegible] किस बातकी ? यदि उसका विधान मानें तो मङ्गलमयका प्रत्येक विधान हमारे मङ्गलके लिये है है । फिर उसका किया हुआ विधान होनेसे हमारे [illegible] प्रतिकूल भी अनुकूल हो जाना चाहिये—क्यों[illegible] इसीमें उसको सुख है, ऐसी ही उसकी इच्छा है और विचार करके देखें तो विधानके रूपमें स्वयं विधा[illegible] का ही प्रकाश है ।

आपको किसी वैषयिक अनुकूल समयकी आशा और प्रतीक्षा क्यों करनी चाहिये । यदि वैसा अनुकूल सम[illegible] न भी आया तो आपका क्या हर्ज है । प्रत्येक प्रतिकूलता[illegible] ही अनुकूलताका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिये । श्रीभगवान्‌के इन शब्दोंको याद रखना चाहिये—

> न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
> स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
> (गीता ५ । २०)

समस्त जीवनके वेदान्ताभ्याससे लाभ उठानेका यही तो अवसर है ।

फिर भगवान्‌ने भागवतमें एक जगह ऐसा भी कहा है कि 'जिनपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उनका [illegible] क्रमशः हरण कर लेता हूँ ! और अपनी कृपाके [illegible] उनके प्रत्येक उद्योगको असफल करता हूँ ।' अत[illegible] आपको तो हरेक दृष्टिसे ही अन्तरमें प्रसन्न, निश्चि[illegible] सम और शान्त रहना चाहिये । यह पत्र मैं आ[illegible] लिये ही लिखता हूँ । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं [illegible] यथासाध्य उद्योग नहीं करना चाहिये, अथवा [illegible] पड़े हुए घरवालोंके कष्टमें हिस्सा नहीं बँटाना चाहिये [illegible] करना सब चाहिये और पूरे बलसे करना चाहिये परन्तु करना चाहिये, नाटकके कुशल पात्रकी भाँति [illegible]

एक बात और ध्यानमें आ गयी। चित्त बहुत ही बढ़ाये तो श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके तीसरे अध्यायका कुछ दिनोंतक रोज लगातार आर्तभावसे पाठ करना चाहिये। इससे अद्भुत कार्य होता है; परन्तु यह बहुत ऊँचा भाव नहीं है।

खर्च यथासाध्य घटाना चाहिये और काम-काजके लिये भी प्रयत्न करते रहना चाहिये। नामस्मरण तो सतत चालू रहना ही चाहिये।

घबड़ाना नहीं चाहिये। याद रखिये, प्रभु सदा आपके साथ हैं। उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। विषाद करके उनका अपमान नहीं करना चाहिये।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गीता १८। ५८)

उनका आश्रय लेनेपर, उनमें चित्त लगानेपर उनकी कृपासे सारे कष्टोंसे सहज ही पार हुआ जा सकता है।

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

२—षड्विध गार्हस्थ्य—गृहस्थ छः प्रकारके होते हैं, जैसे—

(क) 'वार्ताक' गृहस्थ—जो गृहस्थ कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि वैश्य-वृत्ति करते हैं, तथा नित्य-कर्मादिका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें 'वार्ताक' गृहस्थ कहते हैं।

(ख) 'शालीन' गृहस्थ—जो गृहस्थ यज्ञ करना-कराना, वेद पढ़ना-पढ़ाना तथा दान देना और लेना—इन छः प्रकारके कर्मोंमें निरत रहकर जीविका-निर्वाह करते हैं, तथा नित्यकर्मोंके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं, वे 'शालीन' गृहस्थ कहलाते हैं।

(ग) 'यायावर' गृहस्थ—जो गृहस्थ देश-देशान्तरमें भ्रमण करके सद्गृहस्थोंके घरसे स्वकुटुम्बके भरण-पोषणके लिये उपयोगी द्रव्योंका संग्रह करके जीविका-निर्वाह करता है, तथा नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करता रहता है, उसे 'यायावर' गृहस्थ कहते हैं।

(घ) 'घोरसान्यासिक' गृहस्थ—जो गृहस्थ जीविकाके लिये शिष्टलोगोंके घरसे चावल संग्रह करते हैं, तथा जलद्वारा नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें 'घोरसान्यासिक' गृहस्थ कहते हैं।

(ङ) 'उञ्छवृत्ति' गृहस्थ—जो गृहस्थ शिलोञ्छवृत्तिके द्वारा जीविका-निर्वाह करते हैं, तथा नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें 'उञ्छवृत्ति' गृहस्थ कहते हैं। (खेतका स्वामी जब खेतसे अन्नको काट ले जाता है, तब खेतमें पड़े हुए अन्नके दानोंको चुन-कर इकट्ठा करनेका नाम 'उञ्छवृत्ति है।' तथा व्यापारियोंके द्वारा बाजारमें छोड़े हुए दानोंको चुनकर इकट्ठा करनेको 'शिलवृत्ति' कहते हैं।)

(च) 'अयाचित' गृहस्थ—जो गृहस्थ 'चातक' वृत्तिके द्वारा (बिना याचनाके ही प्राप्त हुई वस्तुके द्वारा) जीविका-निर्वाह करते हैं, तथा नित्यकर्मोंका साधन करते हैं, उन्हें 'अयाचित' गृहस्थ कहते हैं।

अब गृहस्थ-धर्म कहा जाता है—

गृहस्थ अपने अनुकूल स्त्रीका पाणिग्रहण करे। गोत्र और प्रवरका सम्बन्ध न रहे, ऐसा देखकर विवाह करे। पति-पत्नीमें परस्पर प्रेम होना आवश्यक है, गृहस्थके घर स्त्रियोंका आदर होना आवश्यक है। माता पिता, पति, देवर—जो भी गृहस्थीका चलानेवाला हो, वही अपनी-अपनी कन्या, बहिन, पत्नी, भौजाईका आदर-सत्कार करे, तथा उन्हें वस्त्राभूषण प्रदान करे। ऐसा करनेसे ही गृहस्थी (परिवार) का कल्याण होगा और शान्ति मिलेगी। यदि कोई माननीय व्यक्ति अतिथिरूपमें आवे तो गृहस्थको चाहिये कि आगे जाकर सम्मानपूर्वक उसे ले आवे। प्रेमपूर्ण मन, वचन और व्यवहारसे उसे तृप्त करे। बुलानेके बाद विदा करनेतक और विनीत भाव प्रदर्शन करे। सन्ध्या, स्नान और जप पूजनको

अवश्य करना चाहिये । मिथ्याभाषण, अभक्ष्यभक्षण, अपेय वस्तुका पान, व्यभिचार, चोरी, जीवहिंसा, बन्धुद्रोह तथा अन्यान्य शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका अनुष्ठान गृहस्थको नहीं करना चाहिये ।

गृहस्थको धन, गृहच्छिद्र, मन्त्रणा, तपस्या, दान, अपमान, आयुष्काल तथा भोगविशेष—इन नौ बातोंको लोगोंमें प्रकट नहीं करना चाहिये । माता, पिता, गुरु, मित्र, विनीत, उपकारी, दरिद्र, अनाथ तथा सम्भ्रान्त व्यक्तिको दान करनेसे वह दान सफल होता है । धूर्त, बंदी, पापी, कुवैद्य, द्यूत खेलनेवाला, शठ, चाटुकार, नर्तक (नाचनेवाले) तथा चोरको जो दान दिया जाता है, वह निष्फल हो जाता है । सर्वसाधारणकी सम्पत्ति, याचित वस्तु, धरोहर, स्त्रीधन, कुलक्रमागत सम्पत्ति, स्थापित द्रव्य, तथा सन्ततिके रहते सर्वस्व दान करना उचित नहीं ।

प्रतिदिन गृहस्थको अवश्य ही कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये । कोई विशेष अवसर उपस्थित होनेपर गोदान करना बड़ा ही पुण्यजनक होता है । थके व्यक्तिकी थकावट दूर करनेसे, रोगीकी शुश्रूषासे, पूज्य पुरुषोंके चरण धोने तथा जूठन उठानेसे एवं देवपूजा करनेसे गोदानके समान फल होता है । गृहस्थको पञ्चमहायज्ञ अवश्य करने चाहिये । 'वेदाध्ययन तथा वेदादि शास्त्रोंका अध्यापन, नित्य होम, विश्वेदेवोंके लिये अन्न निवेदित करना, पितृतर्पण और अतिथि-सेवा'—यही पञ्चमहायज्ञके नामसे अभिहित होते हैं ।

गृहस्थोंके चूल्हा जलानेसे अनेकों छोटे-छोटे कीट-पतङ्ग जल जाते हैं, चक्कीमें अनेकों जीव पिस जाते हैं, झाड़ूसे अनेकों जीव मर जाते हैं, ऊखलमें तथा जलके घड़ेमें अनेकों जीव मर जाते हैं । गृहस्थोंसे ये प्रतिदिनकी हिंसाएँ होती हैं, इनके द्वारा होनेवाले पापोंसे मुक्ति पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा ही होती है ।

माता-पिता, अन्न, गुरुजन, भार्या, सन्तान, आश्रित, [illegible] तथा अतिथि—ये [illegible] हैं [illegible] और [illegible] हैं । इस [illegible] अवश्य करने हैं, [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible]

साधारण धर्म है । इनका यहाँ उल्लेख न करनेसे कोई हानि नहीं है ।

अतिथिको भोजन कराके गृहस्थ भोजन करे । अतिथिको भोजन करानेके पहले कुमारी, नववधू, गर्भिणी, रोगी तथा शिशुओंको भोजन कराया जा सकता है । घरके दूसरे लोगोंको अतिथि-भोजनके बाद ही भोजन करना आवश्यक है । शूद्र गृहस्थके भी यही धर्म हैं । केवल वेद-चर्चा उसके लिये नहीं है । पञ्चमहायज्ञके निर्वाहके लिये शूद्र केवल नमस्कार-मन्त्रका उच्चारण करे । ब्राह्मणादि गृहस्थोंके लिये जिस प्रकार श्राद्ध आवश्यक कर्म है, उसी प्रकार शूद्रके लिये भी है । (धर्मसिद्धान्त—मनु, गौतम और वसिष्ठ)

३ चतुर्विध वानप्रस्थ—वानप्रस्थ धर्म चार प्रकारका है, जैसे—

(क) 'वैखानस' ब्रह्मचर्य—जो बिना जोते हुए खेतमें उत्पन्न सस्यादिका संग्रह कर, गाँवके बाहर अग्नि-होत्रादि कर्मोंके अनुष्ठानमें रत रहकर वानप्रस्थ आश्रममें रहता है, उसे 'वैखानस' वानप्रस्थ कहते हैं ।

(ख) 'उडुम्बर' वानप्रस्थ—जो प्रातःकाल उठकर जिस ओर चले जाते हैं, तथा बेर एवं नीवार, [illegible] (साँवाँ) प्रभृति धान्योंका संग्रह करके [illegible] निर्वाह करते हैं, तथा अग्निहोत्रादि वानप्रस्थ-कर्मका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें 'उडुम्बर' वानप्रस्थ कहते हैं ।

(ग) 'वालखिल्य' वानप्रस्थ—जो आठ मास [illegible] उपार्जन करते हैं, तथा जटा बाँधकर [illegible] चार महीने तक पालन करते हैं, तथा [illegible] पूर्णिमाको [illegible] उपार्जित [illegible] हैं, उन्हें 'वालखिल्य' वानप्रस्थ कहते हैं ।

(घ) 'फेना' वानप्रस्थ—जो [illegible] गिरे हुए [illegible] द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, [illegible] [illegible] वानप्रस्थ [illegible] हैं, उन्हें 'फेना' वानप्रस्थ कहते [illegible]

[illegible]

सरे भागमें वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय ले। अरण्यमें जानेके मय पत्नी पुत्रोंके पास रहे अथवा स्वामीके साथ वह भी रण्यवासके लिये चली जाय। वानप्रस्थमें क्षौर-कर्मका त्याग रे, कन्था या मृगचर्म पहने। गाँवमें प्रवेश न करे। स्वयं त्पन्न फल-मूलका संग्रह करे। इस प्रकार फल-मूलका संग्रह रना उसके लिये चोरी नहीं है। वानप्रस्थको क्षमावान् और क-संयमी होना चाहिये। आश्रममें अतिथि आवे तो फल-लकी भिक्षा देकर उसकी सेवा करे।

तीन बार स्नान तथा पञ्चमहायज्ञ वानप्रस्थको अवश्य करने चाहिये। दान करना वानप्रस्थका धर्म है, परन्तु दान लेना नहीं चाहिये। अभक्ष्य न हो तो मधुकरी भिक्षा भी वानप्रस्थके लिये ग्राह्य है। (धर्मसिद्धान्त—मनु, गौतम और वसिष्ठ)

४ संन्यासधर्म—श्रीब्रह्माजी देवर्षि नारदसे संन्यासीके धर्म बतलाते हैं—

> भैक्ष्यादानं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः।
> सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः॥
> (नारदपरिव्राजकोपनिषद् ५। ३३)

संन्यासीको चाहिये कि बिना माँगे स्वयं आकर प्राप्त हुई, अथवा मधुकरी भिक्षाके द्वारा जीवन-यात्राका निर्वाह करे। इसके अतिरिक्त विषय-चिन्तनका त्याग करके एकतत्त्व-का अभ्यास करना अर्थात् 'प्रतिक्षण उदय होनेवाली चित्त-वृत्तिका मैं द्रष्टा हूँ' इस प्रकार अहंरूपी एकावलम्बनका स्मरण करना (अभेदरूपी यह अहंप्रत्यय स्वानुभूतिग्राह्य है); सर्वेन्द्रियसमाहाररूपी तपस्या; 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इन विचारोंके साथ तैलधारावत् एकतानतामें डूब जाना अर्थात् सत्त्वैकतानता; ब्रह्मात्मैक्यविचारमें—'चिन्तयन् परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति' के विचारमें मग्न होना; तथा प्रवृत्तिसे रहित केवल ज्ञानप्रसादमें स्थित होना*—यही छः संन्यासीके धर्म हैं।

दूसरे शास्त्रोंमें संन्यास† का स्वरूप इस प्रकार वर्णित हुआ है—

> सर्वारम्भपरित्यागो भैक्ष्याशित्वं वृक्षमूलता।
> निष्परिग्रहताद्रोहः समता सर्वजन्तुषु॥
> प्रियाप्रियपरिष्वङ्गे सुखदुःखाविकारिता।
> सबाह्याभ्यन्तरं शौचं ·············॥
> सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणाध्याननित्यता।
> भावसंशुद्धिरित्येष परिव्राड्धर्म उच्यते॥

स्वेच्छापूर्वक कर्मोंके अनुष्ठानमें निःस्पृहता; सात्त्विक

---

* ज्ञानप्रसादरूप वैराग्यके उत्पन्न होनेपर आत्मज्ञान-प्राप्त योगी समझते हैं कि—'प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्य अविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायते इति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यमेतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।' (पातञ्जलदर्शनके १। १६ सूत्रपर भगवान् वेदव्यासकृत भाष्य) अर्थात् प्रापणीय (जो पाना था) प्राप्त हो गया, क्षेतव्य (जिसे नष्ट करना आवश्यक था) अविद्यादि पञ्चक्लेश नष्ट हो [illegible] अविच्छिन्न जन्म-मरण-प्रवाह) के विच्छिन्न हुए बिना जीव जन्मता और मरता है, तथा मरकर जन्म लेता है वह भवसंक्रम अब छिन्न हो गया। ज्ञानकी ही पराकाष्ठा यह वैराग्य है तथा इस वैराग्यसे कैवल्यका अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् इस वैराग्यसे कैवल्य कोई पृथक् पदार्थ नहीं, कैवल्य इस प्रकारके वैराग्य-का नामान्तरमात्र है। इसी (पर-) वैराग्यके विषयमें श्रुति कहती है—

'अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।'
(कठ० २। १-२)

'विवेकी पुरुष नित्य सत्य ब्रह्म-चैतन्यमें स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त कर संसारके अनित्य विषयोंको—स्त्री, पुत्र, वित्त, मित्रादि किसीको प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करते।'

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।'
(ना० प० उप० ९-१०)

† 'सन्यास' शब्दका अर्थ है—सम्यक्‌रूपसे न्यास, त्याग। अविद्या या मिथ्याज्ञानका त्याग ही संन्यास है। जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे वैसी जानना ही मिथ्याज्ञान कहलाता है। एक अखण्ड सच्चिदानन्दमय ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, अतएव जगत्को ब्रह्मरूपसे न देखकर जगद्रूपसे देखना या जानना मिथ्या-ज्ञान है। जिस ज्ञानसे ब्रह्मके अतिरिक्त द्वितीय पदार्थका स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिभात होता है, वही मिथ्याज्ञान है। इस प्रकारके मिथ्या-ज्ञानके वश जो सम्पूर्ण कर्म किये जाते हैं, उनके न्यास—त्यागको संन्यास कहते हैं। अनन्त-अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न ब्रह्मकी माया शक्ति जगत्के रूपमें विवर्तित होती है, और शक्ति एवं शक्तिमान् अभिन्न है। अतएव जगत्का जगत्‌रूपसे जो ज्ञान होता है, वह भ्रम ही है—इस प्रकार जगत्का त्याग करके उसे [illegible] द्वारा आच्छादन करनेको 'संन्यास' कहते हैं। [illegible] अनात्मभावकी [illegible] [illegible] जगत्को ब्रह्मरूपसे देखनेका नाम ही संन्यास है।

जीवन-पहेली और श्रीमद्भगवद्गीता

(लेखक—रायसाहब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)

अनादि कालसे मानव-संसारमें ये शंकाएँ उठती रही और, जबतक मनुष्यमें विचार-शक्ति काम करेगी, उठती रहेंगी, कि जीवन क्या वस्तु है, मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, जीवनका प्रयोजन क्या . दुःख क्यों होता है, इत्यादि । यही नहीं, यह ता संसार—उसके समस्त पदार्थ ही पहेलीरूप हैं । बे भी यह प्रश्न कर बैठते हैं कि चन्द्रमा क्या है, हाँ लोप होता है; सूर्य क्या है, कहाँसे आता है; ां क्या है, इत्यादि । हम भी जब गौर करते हैं तो क ठीकरीपर विचार करते-करते विचारोंके समुद्रमें डूब ते हैं, वहीं थाह ही नहीं लगती ।

तब क्या यह पहेली हल हुए बिना ही रहेगी और ो है ? नहीं, जितनी यह पहेली जटिल एवं दुस्तर क्षम होती है, उतनी ही यह सहल भी है; क्योंकि ह व्यापक एवं व्याप्त है । जब जीवन सबका स्वतः- नायास ही सिद्ध है, जब संसारमें हम हैं और हमारे दर संसार है, तब उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न ना हल हुए कैसे रह सकते हैं । उनका समाधान हीं बाहरसे थोड़े ही आयेगा । मैं एक घरमें रहता हूँ ौर मुझसे उस घरके सम्बन्धमें अथवा मेरे निवासके म्बन्धमें कोई प्रश्न करे तो मैं उसका उत्तर सहजमें ी दे दूँगा । तब जीवन अथवा संसार एक पहेली-सा यों प्रतीत होता है ? इस पहेलीको सुलझानेमें गुत्थियाँ इकर अनेक मत-मतान्तर, अनेक सम्प्रदाय, अनेक ाधन-सामग्रियाँ खड़ी हो गयी हैं ।

मानव-जीवन एवं संसार ससीम, सान्त दीखता हुआ ी असीम, अनन्त है; उसके सम्बन्धमें प्रश्न भी अनन्त ोंगे तो उनके समाधान भी अनन्त । उलझन यही है ... दृष्टिसे और असीम, अनन्त-को ससीम, सान्तकी दृष्टिसे देखकर शान्ति चाहते हैं; जिस भूमिकापरसे प्रश्न उठते हैं, उस भूमिकापर उनका समाधान तलाश नहीं करते । उनके उत्तर हम उस भूमिकासे उतरती हुई भूमिकापर ढूँढ़ते हैं, जो इन्द्रियगोचर ज्ञानके परेके प्रश्न हैं, उन्हें हम इन्द्रियजन्य अनुभव, अनुमान, युक्ति एवं ज्ञानसे हल करना चाहते हैं । जीव, ईश्वर, माया, जगत् साधारण बुद्धिसे परेकी वस्तुएँ हैं, दिव्य-दृष्टिके आलोकमें हैं; उनका विवेचन हम चर्म-चक्षुके प्रमाणोंके आधारपर करें तो कैसे हो । उनके सम्बन्धके प्रश्न अत्यन्त सूक्ष्मवृत्ति, अन्तर्मुखी वृत्तिके स्थलसे उठते हैं; इसी तरह उनके समाधान भी श्रद्धा-विश्वासके स्थलसे ही पर्याप्त हो सकते हैं ।

प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार जीवन-पहेलीके प्रश्न एवं उत्तर अपने लिये गढ़ता रहता है । बिना इस ऊहापोहके जीवन चल ही नहीं सकता, विश्वास एवं श्रद्धाके बिना कोई एक क्षण भी जी नहीं सकता । अविश्वास भी एक तरहका विश्वास ही है । इसलिये जो जितना ऊँचा उड़ा, उसने उतना ही अपना अनुभव बताया । वही सम्प्रदाय बन गया, मत बन गया । वह असत्य नहीं, वह विरोध नहीं खड़ा करता, वह असमञ्जस पैदा नहीं करता, वह अशान्ति उत्पन्न नहीं करता; विरोध तब पैदा होता है जब या तो उड़ान भरे बिना ही गप मार दी जाय या यह धारणा कर ली जाय कि बस, मेरी उड़ान ही एक उड़ान है, दूसरी है ही नहीं । जितने सम्प्रदाय हैं, जितने मत हैं, सभी सच्चे, शान्तिदायक हैं । सबने जीवन-पहेलीको हल करनेके, संसार-समुद्रको पार करनेके साधन निर्माण किये हैं और देश-काल और अधिकारी-भेदसे वे सभी उपयोगी हैं; पर या तो उनके बनाये साधनोंको सिद्ध न करते हुए नाममात्रको

उनका आश्रय लिया जाय या उन्हीं साधनोंको एकमात्र साधन मानकर सीमा बाँध दी जाय और जो अनन्त, असीम है उसे ससीम करनेका प्रयास किया जाय, तभी उस मनमें विरोधाभास होने लगता है, परस्पर असमञ्जस दीखने लगता है। आचार्यों एवं महात्माओंके अनुभव, उनके उपदेश आत्मसाक्षात्कारके, भगवद्दर्शनके थे; वे विशाल, उदार थे। तो भी उन्होंने सत्ता महान्‌को न इति, न इति कहकर ही बताया है। एक ही रोगके अनेक इलाज एवं अनेक ओषधियाँ हैं। एक ही सवाल अनेक तरीकों (रूल आफ थ्री, प्रेक्टिस, ईकेशन आदि) से हल होता है। इसी तरह जीवन-पहेलीका

बिना निरन्तर एवं व्यवस्था हो ही नहीं प्रश्नोंकी वही सूत्रधार है तो उससे एकरस होनेसे, असीम-अनन्त होनेसे, वही सब साधनोंकी पोषक है। अतः ही ध्येयको पूरा करनेवाले हैं, उनमें दृष्टिदोष है।

यही कारण है कि गीता सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। वह संसारकी एवं जीवनकी सुलझानेमें उच्च-से-उच्च और नीचे-से-नीचे का वर्णन करती है।

हरिनाम-स्मरण एवं जप, यज्ञ-हवन आदि साधनोंका जो उल्लेख है उसे खींचातानीसे जगत्-सेवा, कर्मपरायणता, साम्यभावपूर्वक व्यवहार आदिकी कल्पनाओंमें परिणत कर लेते हैं। यह चातुर्य अवश्य है; पर ऐसा करना एक ओर गीताको एकदेशी, एकाङ्गी, अपूर्ण बनाना है, ऋषिप्रणीत अनेक उपायों एवं साधनोंकी अवहेलना करनी है, तो दूसरी ओर जनताको भ्रममें डालकर ईश्वरसे विमुख कर देना है। गीता उन सभी विषयोंका प्रतिपादन करती है, जो मनुष्यके जीवनकी पहेलीको सुलझानेमें, उसे शान्ति देनेमें सहायक है, उसकी सारी चेष्टाएँ जो उसे मदद देनेवाली हैं, उन सबका वर्णन गीतामें है। जिस सम्प्रदायवादको आजकल कोसा जाता है, उसीको प्रकारान्तरसे बढ़ाया भी जाता है। खींचातानीके अर्थोंसे एक मन्तव्य कायम करनेवालोंका भी एक सम्प्रदाय बन गया। वास्तवमें साम्प्रदायिकतामें दोष नहीं है, उसके उपयोगमें दोष आ सकता है। गीता हमारी उन्नतिका उत्तरोत्तर मार्ग बताती है; जिसकी जैसी सामर्थ्य हो, ग्रहण कर ले। जब प्राणायाम एवं ओंकार-जप भी गीताका विषय है, तब हरिस्मरण-को हेय किस प्रकार माना जायगा ! क्या ओम् और [illegible] कुछ अन्तर है ! क्या प्राणायाम एवं [illegible] कुछ वैज्ञानिक भेद है ? इसमें सन्देह होना तो [illegible] है, यह तो [illegible] विज्ञानसे भी सिद्ध [illegible]

मिट नहीं सकता। हिंदूधर्म जन्म एवं कर्म [illegible] मानता है और भौतिक विज्ञान भी Law of [illegible] and Struggle for existence को [illegible]

गीताजीमें मूर्तिपूजाका कथन नहीं [illegible] मूर्तिपूजा केवल भावना जमानेका साधनमात्र [illegible] भगवद्-आवेशकी भावना व्यर्थ है—ऐसा [illegible] मानते हैं। मेरे विचारमें किसी भी [illegible] भगवदंशका न होना सुसिद्ध नहीं है। [illegible] शक्तिमान्, सर्वज्ञ नहीं तो ईश्वर कैसा; और [illegible] ऐसा है तो वह सर्वव्यापी अपने-आप हो [illegible] अन्यथा उसकी शक्ति एवं ज्ञान अपूर्ण रह [illegible] जब ईश्वर सर्वव्यापी है तो मूर्तिमें क्यों नहीं? [illegible] उपदेष्टा श्रीकृष्ण, संकलनकर्ता वेदव्यास एवं [illegible] संजय मूर्तिमान् थे या अमूर्तिमान् ? पुनः [illegible] सब सिद्धि होना मान्य हो तो मूर्तिमें भगवान् [illegible] क्या उसमें भगवान्‌को आ नहीं सकेगा ? [illegible] आरम्भमें अक्षरोंकी सहायता आवश्यक होती है, [illegible] क्या पढ़-लिख जानेपर भी उन अक्षरोंकी [illegible] सकता है या बिना अक्षरोंके काम [illegible] नहीं, तो फिर मूर्तिको धार्मिक साधन [illegible] जाय ! मूर्तिकी पूजा-पद्धतिका रहस्य भी [illegible] है; पर वह आना तब चाहिए, जब उसके [illegible] हो। पूजनमें [illegible]

ा-ज्ञान, कला-कौशल, व्यवहार—सब नामहीके आश्रित हैं; विना नाम उनका अस्तित्व कहाँ है। नहीसे बोध-पहचान होती है, नामसे ही भाव पन्न एवं शमन होते हैं, नामके द्वारा ही क्रिया होती । संसार भी नाम एवं रूप ही तो है, तब नाम एवं तैका विवरण विशेषरूपसे करना अनावश्यक ही ता। तिसपर भी गीतामें ओम्-जप एवं पूजा-पद्धतिका ल्लेख विद्यमान है, देवताओंकी पूजाका जिक्र साफ र्ज है।

गीताजीमें ईश्वरका विवेचन ही ऐसा है कि जिसमें व्यक्त ब्रह्म (निर्गुण-निराकार) एवं व्यक्त ईश्वर (सगुण-ाकार) दोनोंका ही समावेश नहीं, फिर भी इनकी ारी सीढ़ियों (stages) का उसमें समावेश हो ाता है। उसका ईश्वर स्तुतिका मोहताज नहीं तो ह भावशून्य आकाशकी पोल भी नहीं। Impersonal और Personal दोनों वही है। सच तो यह है कि ईश्वर जब ईश्वर ही ठहरा तो वह ऐसा और वह वैसा, यह फतवा हम उसपर देनेवाले कौन। हम अपने-को ही नहीं जानते, उसे क्या जानेंगे। अर्जुन-जैसा व्यक्ति भगवान्की दिव्यदृष्टि पाकर भी उस विराट् स्वरूपको देख विह्वल हो उठा तो हमारी क्या बिसात है जो हम ईश्वरपर आरोप लगायें, उसका स्वरूप निश्चय कर लें।

गीतामें जीवन-पहेली एवं सांसारिक उलझनें सुलझानेकी तरकीबें भरी पड़ी हैं; आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—तीनों दृष्टिबिन्दुओंसे यह ओतप्रोत इस ि

ंबसे

ग ही

मुख्य अन्वेषणयोग्य वस्तु है—गीतामें इसे खूब दर्शाया है और तीनों पहलुओंसे इसका विवेचन किया गया है। स्वधर्म, संसारका धर्म, प्रकृतिका धर्म, आत्माका धर्म, जीवका धर्म, ईश्वरीय धर्म—ये सब स्वधर्म हैं और इन्हींके आश्रित जीवन एवं नियन्त्रण हो सकता है, परधर्मसे हो ही नहीं सकता। अब सर्वधर्म त्याग कर एक सूत्रधारका अवलम्बन सूक्ष्मतर चेष्टा होगी। पावरहाउस-से अनेक तारोंद्वारा निकलनेवाली करेंटोंका स्रोत एक पावरहाउस ही है। सूर्य अनेक रश्मियोंका केन्द्र है। मानवजीवन संसारचक्रका ही तो अंश है। अंश अंशी-की तरफ खिंचता है, और अंश अंशीके तद्रूप ही होता है। इसीलिये विज्ञानियोंने व्यवहारमें अन्तरात्मा-की प्रेरणाके अनुकूल आचरण करनेका आदेश दिया है। जो अन्तरात्माके कलुषित हो जानेकी शंका होती है, वह निर्मूल-सी है। अन्तरात्मा दिव्य विभूति (Higher Self) है, जो मनुष्यत्व-Self और पशुत्व-Lower Self से कहीं गहरी तहमें है। उसकी आवाज चित्त एकाग्र होने, निर्मल होनेसे ही सुनी जा सकती है और चित्तकी एकाग्रता एवं निर्मलता ईश्वराराधनसे होनी सहज है। क्योंकि ईश्वरोपासनासे ममता कम होती जाती है; वृत्ति तदाकार, एकाग्र, स्वच्छ होती जाती है; वातावरण एवं वायुमण्डल भी पवित्र लहरोंसे व्याप्त होता जाता है। प्रकृति स्वभावसे मलिन नहीं है, उसका विरोध दुःखदायी है। ईश्वराराधनसे सीधी एवं सच्ची सूझ प्राप्त होती रहती है और सब ग्रन्थियाँ खुलती जाती हैं, शङ्काएँ हल होती जाती हैं, विकार मिटते जाते हैं, शान्ति आती जाती है। इल्हाम Intuition) द्वारा अद्भुत रहस्योंका उद्घाटन होता जाता है। ी दिव्यदृष्टि होनी है।

य बड़ा अलौकिक है। उसमें सत्य, २, ब्रह्मचर्यका सम्मिश्र विवरण न

होनेसे क्या ये तत्त्व हेय गिने जायँगे ? ये सारे तत्त्व गीतामें हैं और फिर हैं। जैसे मूर्तिपूजा आदि विषय गौणरूपसे आये हैं, उसी प्रकार ये भी गौणरूपसे उसमें निहित हैं। सत्य एक आत्मा है, अहिंसा ममताका त्याग ही है, अपरिग्रह उपराम है, ब्रह्मचर्य स्वस्वभावस्थिरता है; ये सब स्वधर्ममें आ जाते हैं और सदाचारका आश्रय बन जाते हैं। उसके उपदेश नैतिकता या लोकमतपर अवलम्बित नहीं हैं,—वे अटल सिद्धान्तोंके आधारपर निर्धारित हैं; लोकमत और नैतिकता उनके आश्रित हैं। हाँ, जो उपदेश सामूहिक तौरपर दिये गये हैं, वे व्यक्तिविशेषपर केवल आंशिकरूपमें लागू होंगे—इतनी सावधानी रखनी होगी। गीताजीमें सारे वाद-विवादोंका अन्त और सामञ्जस्य मिलेगा। ब्रह्मका अकर्तृत्ववाद, ईश्वरका कर्तृत्ववाद, प्रकृतिका स्वभाववाद आदि समस्त विचार-धाराओंका उसमें समन्वय मिलेगा, कोई [illegible] हल हुए बिना नहीं रहेगी—ऐसी मेरी धारणा

संसार एवं मानवजीवनकी पहेलियोंके [illegible] राजमार्ग मेरे नजदीक यही है कि अपने [illegible] एवं अनुभवसे अन्वेषण-अनुसन्धान करते हुए, श्रद्धा-विश्वास रखते हुए, ईश्वराराधन एवं [illegible] हुए, ममताका त्याग करते हुए, सहजमें जो [illegible] उसे विवेकपूर्वक करते हुए, जो विवेक हमारे [illegible] उस विवेकको काममें लाते हुए, आगे बढ़ते हु[ए] दिव्यदृष्टिकी भूमिकाको प्राप्त करनेमें तत्पर र[हें] स्वतः ईश्वर-कृपासे हमारी दृष्टि दिव्य होती [illegible] जिन महात्माओंने दिव्यदृष्टि पायी है, उनकी [illegible] हमारी पथ-प्रदर्शक होगी और उनको [illegible] निःसन्देहता प्राप्त हुई है तो हमें क्यों नहीं [illegible] यह भरोसा आशा दिलाता रहेगा।

अनिर्वचनीय शोभा

सोभा कहत कही नहिं आवै।
अँचवत अति आतुर लोचन-पुट, मन न तृप्तिकौं पावै ॥
सजल मेघ घनस्याम सुभग वपु, तड़ित वसन वनमाल।
सिखि-सिखंड, बन-धातु विराजत, सुमन सुगंध प्रवाल ॥
कछुक कुटिल कमनीय सघन अति, गो-रज मंडित केस।
सोभित मनु अंबुज पराग-रुचि-रंजित मधुप सुदेस ॥
कुंडल-किरन कपोल लोल छबि, नैन कमल-दल-मीन।
प्रति-प्रति अंग अनंग कोटि-छबि, सुनि सखि परम प्रवीन ॥
अधर मधुर मुसक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है, होति तहीं लपलीन ॥

—सूरदासजी

अमरत्वका राजपथ—ब्रह्मचर्य

(लेखक—श्री 'अलख निरंजन')

(१)

मानव-जीवन साधनामय है। मनुष्य जब इस संसारमें [अव]तीर्ण होता है, तभीसे वह साधनामें जुट जाता है। [वह] जीवन चाहता है, अमर होना चाहता है; इसलिये [मृ]त्युके विरुद्ध उसे निरन्तर युद्ध करना पड़ता है। [भू]ख-प्यास, रोग-व्याधि आदि नाना प्रकारके दुःख उसे [का]लके गालमें ले जानेकी चेष्टा करते हैं; और उसे इनके [वि]रुद्ध, इनके आक्रमणको विफल करनेके लिये संघर्ष [क]रना पड़ता है। ये नाना प्रकारके दुःख ही तो [मृ]त्युके दूत हैं। ये मृत्युके दूत मानव-शरीरको एक-न-[ए]क दिन आक्रमण करते-करते निरस्त्र कर ही डालते [हैं]। इसीलिये मानव-संघर्षका दो प्रकारका उद्देश्य हो[ता] है—निरन्तर मृत्युके आक्रमणको निष्फल करते [रह]नेकी चेष्टा करना, तथा इसके साथ-साथ मानव-[जी]वनको अमर बनाना।

जीवनकी अमरता जीवन-क्षेत्रकी विभिन्नताके कारण भिन्न प्रकारकी होती है। अतएव साहित्य, संगीत, [क]लासे लेकर नाना प्रकारके वैज्ञानिक और दार्शनिक [क्षे]त्रोंमें *प्राप्त होनेवाली मानव-जीवनकी अमरतामें बहुत* [अ]न्तर आ जाता है। तथापि यदि इनका संक्षेपमें वर्गी-[क]रण करें तो कह सकते हैं कि मानव-जीवनका [अ]मरत्व इहलौकिक और पारलौकिक दृष्टिसे दो प्रकारका [हो]ता है। इहलौकिक अमरत्व कला और विज्ञानके [क्षे]त्रोंमें प्राप्त किया जा सकता है, और पारलौकिक [अ]मरत्व दर्शन और अध्यात्मके क्षेत्रोंमें। अतएव साहित्य, [क]ला, राजनीति, धर्म, दर्शन, अध्यात्म—किसी भी क्षेत्रमें [श्र]म करनेवालेके [illegible] [ब्रह्मच]र्यके दोनों उपर्युक्त किसीने भूख-प्यास, रोग-व्याधि आदि दुःखोंके निवारणमें ही जीवनको समाप्त कर डाला और जीवनमें अमरत्वकी प्राप्ति न कर सका तो उसका जीवन कदापि सफल नहीं कहा जा सकता। अतएव जीवनका चरम उद्देश्य *अमरत्व ही है, ऐसा कहना पड़ेगा।*

परन्तु चाहे मनुष्य जीवनके किसी भी क्षेत्रमें उतरा हुआ हो, चाहे जिस प्रकारकी वह साधना करता हो, अन्तिम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे अग्रसर होना पड़ेगा एक ही राजपथसे, और वह अमरत्वका एक ही राजपथ है—'ब्रह्मचर्य'। व्यभिचारसे मनुष्य पतनको प्राप्त होता है, शक्तिहीन हो जाता है, परतन्त्र हो जाता है और समाजको भी ऐसा ही बनाता है; परन्तु 'ब्रह्मचर्य' मनुष्यको उन्नत करता है, शक्तिशाली बनाता है और स्वतन्त्र जीवन प्रदान करता है। तथा इसके द्वारा मनुष्य *समाजको भी इन्हीं सद्गुणोंसे युक्त करता है।* व्यभिचारी मनुष्य समाजका पाप है, कलंक है; और ब्रह्मचारी समाजका तिलक है, शोभा है। व्यभिचार और 'ब्रह्मचर्य'—इस प्रकार मनुष्य-जीवनके दो पथ हैं, इन्हीं-को यमराजने नचिकेताको उपदेश देते हुए प्रेय और श्रेयके नामसे पुकारा है—

> अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
> स्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
> तयोः श्रेय आददानस्य साधु
> भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥
>
> (कठ० १।२।१)

'श्रेय (ब्रह्मचर्य) का मार्ग और है, तथा प्रेय ([व्यभिचार]) का मार्ग और है; इन दोनों मार्गोंमें चलकर [illegible] प्रकारकी चेष्टाओंमें लगते हैं। परन्तु इनमें- [illegible] (ब्रह्मचर्य) के पथको पकड़ता है, उसका

कल्याण होता है; तथा जो प्रेय (व्यभिचार) की ओर जाता है, वह अपने उद्देश्यसे च्युत हो जाता है।'

अतएव 'ब्रह्मचर्य' की साधनाके साथ व्यभिचारका संसर्ग न हो, इस दृष्टिसे 'व्यभिचार' किसे कहते हैं—यह जान लेना आवश्यक है। सामान्यतः मन और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंको मानव-जीवनके उपर्युक्त उद्देश्योंके विपरीत लगाना ही व्यभिचार है। मनुष्यकी साधना जिस क्षेत्रमें जिस लक्ष्यकी ओर हो रही हो, उसके विपरीत मन तथा इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको ही व्यभिचार कहेंगे। अतएव बोलना-चालना, उठना-बैठना, सोचना-विचारना आदि सभी क्रियाएँ जो साधनामें सहायक नहीं, आवश्यक नहीं होतीं, व्यभिचारका रूप धारण करती हैं। और यह व्यभिचार वह विघ्न है, जिसे मनुष्य साधन-पथमें स्वयं बुलाकर अपने उद्देश्यसे च्युत होता है। व्यभिचार मृत्युका सन्देशवाहक है और अमरत्वके पथमें मनुष्यको धोखा देता है। अतएव साधकको व्यभिचारसे सावधान रहना आवश्यक है। इसके विपरीत दूसरा मार्ग है—श्रेय (ब्रह्मचर्य) का। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है—ब्रह्मके लिये विचरण करना। 'ब्रह्म' शब्द बहुत ही प्राचीन है, यास्कने अर्थवाचक शब्दोंके अन्तर्गत इसका समावेश किया है। अतएव 'ब्रह्मचर्य' का अभिप्राय है—अपने अर्थ, लक्ष्य, साधनके लिये विचरण करना। तात्पर्य यह है कि जीवनका प्रत्येक क्षण अपने क्षेत्रविशेषकी साधनामें, लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेमें मनुष्य लगाये तो कहा जा सकता है कि वह 'ब्रह्मचर्य' के पथपर चल रहा है। और यही है अमरत्वकी प्राप्तिका राजमार्ग।

(२)

'ब्रह्मचर्य' की इस तात्त्विक व्याख्याके अतिरिक्त यदि [illegible] व्याख्याका आश्रय लिया जाय तो भी [illegible] का जितना ही अधिक पालन किया, [illegible] जीवनमें जितना ही अधिक प्रगतिशील रहा, वह उतना ही अधिक अपने जीवनको [illegible] ओर अग्रसर करनेमें समर्थ होता है, उतना ही [illegible] वह अपनी और मानव-समाजकी सेवामें सफल [illegible] है। समाजमें देखा जाता है कि जो मनुष्य [illegible] की साधनामें निष्ठावान् होता है, वह अधिक [illegible] सम्पन्न होता है और उसका जीवन भी उतना अधिक उन्नत होता है। 'ब्रह्मचर्य' है वह अमोघ [illegible] जो मृत्यु-सैन्यरूपी वृत्रका निरन्तर संहार करता रह[illegible] है। इसीलिये श्रुति कहती है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

'ब्रह्मचर्यकी साधनारूपी तपसे (ही) देवताओं[illegible] मृत्युपर विजय प्राप्त की।'

वस्तुतः ब्रह्मचर्यकी साधनासे ही मृत्युका [illegible] होकर अमरत्वकी प्राप्ति होती है। अतएव जीवन[illegible] अमर बनानेके लिये, अथवा मानव-जीवनकी [illegible] की प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम साधन 'ब्रह्मचर्य' का [illegible] लेना आवश्यक है।

अमरत्व, मुक्ति, स्वातन्त्र्यकी प्राप्तिका पहला [illegible] है—ब्रह्मचर्य। जिस व्यक्तिने इस साधनाको [illegible] क्षेत्रविशेषकी साधनाका प्रधान अङ्ग बना लिया, उस[illegible] जीवनमें सर्वोपयोगी कार्य किया। भारतवर्षमें तो आ[illegible] सारा समाज, राष्ट्र, मृत्युके पंजेमें, पराधीनताके [illegible] कराह रहा है, वहाँ जो-जो व्यक्ति ब्रह्मचर्यकी साधना[illegible] रत हो अपने साधन-क्षेत्रमें अग्रसर हो रहे हैं वे [illegible] हैं; उन्हींसे समाजका वास्तविक कल्याण होता [illegible] और हो सकता है। शेष विडम्बनामें पड़े हुए अपने आपको और समाजको धोखा देते हैं। युवक स[illegible] लिये तो 'ब्रह्मचर्य' की साधना ही जीवनमें प्र[illegible] स्थान रखती है। और तात्त्विक दृष्टिसे 'ब्रह्मचर्य' [illegible] एकमात्र साधना है, और यही अमरत्वका एकमा[illegible] राजमार्ग है।

(३)

भगवान् बुद्धने ठीक ही कहा है—

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च ।
यं वे हितं च साधुं च तं वे परम दुक्करं ॥

'जो बुरे काम हैं, जिनसे अपना अहित होता है, उनका करना आसान होता है । यही कारण है कि मानव-समाजमें अधिकांश पुरुष प्रेय-मार्गके ही पथिक होते हैं । क्योंकि जो शुभ और हितकर काम हैं, उनका करना परम कठिन होता है ।' 'ब्रह्मचर्य' का पालन भी इसी कारण सुगम नहीं, किन्तु कठिन है । किन्तु जिन्होंने इस कठिन मंजिलमें पैर रक्खा और जितना ही अधिक दूर गये, उनके श्रमका पारितोषिक उन्हें सुख-शान्ति और स्वच्छन्दता उतने ही अधिक परिमाणमें मिली ।

जिस मनुष्यका जीवन विलासके लिये नहीं है, जो जीवनको तपस्याका साधन बनाना चाहता है, वही जीवनकी यथार्थताको समझता है, तथा इसके परिणामके सुखद फलका आस्वादन करता है । विपरीत इसके विलासके पीछे भटकनेवाले जीवके आगे माया अपने कपट-जालको छायाके समान लिये फिरती है; क्योंकि उसने प्रकाशसे मुँह मोड़ लिया है, प्रकाश उसके पीछे है । अतएव अन्तमें उसे धोखा खाना पड़ता है। 'ब्रह्मचर्य' है तपोमय जीवनका वास्तविक स्वरूप । इसके बिना मनुष्यकी जो दशा होती है, उसका कुछ आभास भगवान् बुद्धकी इस वाणीसे अभिव्यक्त होता है—

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं ।
जिण्ण कोंचा व झायन्ति खीणमच्छे व पल्लले ॥

'जिन्होंने ब्रह्मचर्यका आचरण नहीं किया और यौवन-कालमें ही दैवी सम्पत्तिका सञ्चय नहीं किया, वे बिना मछलीके तालाबमें बूढ़े क्रौंच पक्षीके समान ध्यान लगाते हैं !'

वस्तुतः 'ब्रह्मचर्य' की अवहेलना करना वैयक्तिक सत्यानाशका कारण तो है ही; यह एक सामाजिक पाप है । इसकी अवहेलना करनेवाले पुरुष समाजमें एक ऐसे संक्रामक रोगको उत्पन्न करते हैं, जिससे समाजका शरीर जर्जर हो जाता है और वह मृत्यु, पारतन्त्र्यके गर्भमें जा गिरता है । ऐसे गिरे हुए समाजको भी उठानेका यदि कोई सर्वप्रथम उपाय है तो वह है केवल 'ब्रह्मचर्य' का साधन । और भगवान् बुद्धने भी कहा है—

यो च पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो न पमज्जति ।
सोमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा ॥

'जो पहले भूल करके फिर सँभल जाता है, पीछे भूल नहीं करता, वह मेघसे मुक्त चन्द्रमाकी भाँति इस लोकको प्रकाशित करता है।' अतएव अपने उत्थानके साथ-साथ अधःपतनको प्राप्त हुए समाजको उठानेकी जिन्हें अभिलाषा है, उनके लिये 'ब्रह्मचर्य' है परम साधन । जिन्हें जीवनमें नैराश्य, असफलता, चिन्ता ही सदा घेरे रहती है, उनको भी अमरत्वकी ओर बढ़ानेवाला है—ब्रह्मचर्य; क्योंकि यही है अमरत्वका राजपथ ।

शौच

(शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः)

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

वह विचारक था। सम्भव नहीं था कि वह दूसरोंकी देखा-देखी एक छकड़ा सामान यों ही लादे-लादे फिरता। वैसे वह श्रद्धालु था; और जिस दिनसे उसने रामानुज-सम्प्रदायकी दीक्षा ली, आचारसम्बन्धी प्रत्येक नियमका उसने अक्षरशः पालन किया। बिना कोई अपवाद निकाले, बिना कोई बहाना बनाये, वह नियमोंको बड़ी कठोरतासे निभाता था। दूसरे लोगोंके लिये वह आदर्श हो गया। फिर भी यह केवल कर्म-भार वह कबतक ढोता। वह विचारक था।

रमाकान्तने सोचना प्रारम्भ किया—'दूसरोंकी दृष्टि-मात्रसे मेरा भोजन अपवित्र हो जाता है। मेरे पात्र दूसरोंके स्पर्शके पश्चात् फिर अग्निसे भी शुद्ध नहीं होते। मेरे आसनपर कोई हाथ भी रख दे तो वह मेरे कामका नहीं। अन्ततः यह सब क्यों? क्या श्रीमन्नारायणकी पूजाके निमित्त? लेकिन प्रभु तो प्रेमाधीन हैं। वे तो शूद्रोंपर भी प्रसन्न होते ही हैं। अविधि और विधि वहाँ केवल सच्ची प्रपत्ति है। तब क्या मैं दूसरोंसे अधिक पवित्र हूँ? लोग ऐसा कहते तो हैं; फिर भी क्या यह सत्य है?'

'दूसरोंसे मैं अधिक श्रेष्ठ हूँ' यह अहङ्कार ही तो पतन जाल है। रमाकान्त तन्मय था विचारोंमें, 'मेरे मनमें काम-क्रोधादि भरे हैं। मैं ही जानता हूँ कि मेरा मन कितना अशुद्ध है। रहा शरीर—हे भगवान्! हड्डी, मज्जा, मेद, मांस, रक्त, कफ, पित्त, थूक, मूत्र, मल, चर्म, इन पदार्थोंसे बना यह शरीर!! इनमेंसे कोई भी है [illegible] इसे धारण करना पड़ता है और मैं [illegible]

शास्त्र और गुरुकी आज्ञा समझकर उसने [illegible] शिथिल नहीं किया, पर अब उसे शरीरसे घृणा हो गयी। 'मैं शुद्धाचारी और पवित्र हूँ' यह धारणा [illegible] कहाँ लुप्त हो गयी। जब वह शौचके पश्चात् [illegible] मिट्टी लगाता 'उफ, यह रक्त और हड्डी क्या [illegible] पवित्र होगी?' भोजन बनाते समय जब पर्दा [illegible] वह भीतर बैठता 'छिः! यह मांसका लोथड़ा तो [illegible] ही है!' जब भोजन करने लगता 'यह चर्म और [illegible] मुखमें डाला जा रहा है! मुखमें ही क्या है! लार, [illegible] चर्म!! भगवान्का प्रसाद समझकर भोजन कर लेता [illegible]

शरीरसे उसे घृणा हो गयी। जिस शरीरके [illegible] शृङ्गारमें हम सब मरे जाते हैं, जिसे पुष्ट, नीरोग [illegible] निरापद रखनेके लिये जमीन-आसमान एक किया [illegible] है, उसे वह फूटी आँखों देखना नहीं चाहता [illegible] विवश था उसे धारण करनेके लिये। आत्महत्या [illegible] जो है। 'ओह, यही महा अशुद्ध और मलपूर्ण [illegible] फिर धारण करना पड़ेगा?' वह फूट-फूट कर रोने [illegible] था यह सोचकर ही। उसे इसी जीवनमें शरीर [illegible] पल-पल भारी हो रहा था।

[२]

माता-पिताका आग्रह था और रमाकान्त-जैसा [illegible] उनकी आज्ञा टाल नहीं सकता था। विवाह हो [illegible] और पत्नी घर आयी। व्यर्थ! भला, वह नितान्त [illegible] प्रिय कहीं सन्तानोत्पादन कर सकता है।

'माताके उदरमें नौ महीने निवास—एक ओर [illegible] एक ओर मूत्र, कहीं पीब और कहीं रक्त। उस [illegible]

[illegible]

वह रोगी नहीं था और न कभी रोगने उसे दर्शन ही दिया। रोग तो होते हैं असंयमसे। जो भोजनमें रुचि न रखता हो, 'इसका बनेगा क्या?' यह सोचकर भोग्य पदार्थोंसे घृणा करता हो, केवल प्रसाद समझकर, कुछ भगवान्‌को भोग लगाकर पेटमें डालता हो,—वह भी शुद्ध सात्त्विक, [illegible], [illegible] निकाल-निकालकर जिसकी अशुद्धि दूर की गयी हो, ऐसे भोजनको ग्रहण करनेवालेके शरीरमें रोगके आनेका मार्ग ही क्या है।

उसका काम क्या था? दिनभर अपनी पवित्रताके प्रदर्शनमें और अपने लक्ष्मीनारायणकी पूजामें लगे रहना। दूसरोंका प्रभाव तो तब पड़े, जब दूसरे पास जा सकें। दूसरोंकी वस्तुएँ भी तो बत्तीस बार धोकर प्रयोगमें आती थीं। अन्न-दोष, संग-दोष, स्थान-दोष, क्रिया-दोष—इनमेंसे किसीके फटकनेको स्थान ही न था। ऐसी स्थितिमें मनीरामका कल्याण प्रसन्न ही रहनेमें था। वे भी डरते थे कि कहीं अप्रसन्न हुए और इन्होंने अपवित्र समझकर हमें भी थालीकी भाँति रगड़-रगड़कर धोना प्रारम्भ किया तो पानीमें ही खोपड़ी सफाचट हो जायगी।

रूप—हड्डी, मांस, अस्थि आदि हैं—नेत्र बेचारे जहाँ जाते, वहीं घृणा और फटकार पड़ती। शब्द—कोई मांसका लोथड़ा पास है—कर्णका आनन्द मिट्टी हो जाता इस भावके आते ही। स्पर्श—राम! राम!! चमड़ा छुयेगा, अरे ये फल बने हैं मलकी खाद खाकर—सब गुड़ गोबर हो उठता त्वक्‌का। रस—क्या? इनका परिणाम

है [illegible] और सब ये इनसे भिन्न हैं? ऐसा [illegible] करें। [illegible] भी पड़ता था।

रमाकान्तजीका मन सदा खिन्न-सा हो जाता जब उसे बुद्धि [illegible] समझाती कि ये सब क्यों केवल [illegible] हुई हैं या [illegible] [illegible]-जैसी [illegible] देती हैं। ज्ञानेन्द्रियोंकी तो यह दशा थी और कर्मेन्द्रियों-को चलने, फिरने, उठने-बैठनेसे अवकाश ही नहीं था। वे करें तो क्या? तनिक किसी कार्यमें विलम्ब होनेपर सबमें देर होने लगती। मनीराम फटकारने लगते। क्योंकि रमाकान्तजी तो सब कार्य ठीक-ठीक पूरा करेंगे। और फिर, मनीरामजीका [illegible] बिगड़ जायगा। इसलिये इन्द्रियोंके तनिक भी प्रमाद करनेपर वे [illegible] होने लगते। वे बेचारी बचनेमें न रहें तो जायें कहाँ?

[३]

'ओह, फिर स्नान करना होगा! सो भी इस शीत-कालमें। लोग इतना भी ध्यान नहीं रखते कि जूतेको मार्गसे तनिक दूर उतारा करें।' रमाकान्त स्नान करके आ रहे थे। द्वारके समीप ही किसीने जूता उतार दिया था। वह पैरको लग गया। उन्हें तनिक खेद हुआ। सर्दीके मारे हाथ-पैर अकड़ जा रहे थे। 'प्रमाद तो मेरा ही है, मुझे देखकर चलना चाहिये।' वे वहींसे चल पड़े, और पुनः स्नान करके आये। पूजा जो अभी शेष थी।

पूजा समाप्त हुई। प्रसाद अपने हाथ ही प्रस्तुत करना था। पात्रमें चूल्हेपर चावल सिद्ध होने लगा और रमाकान्तजी पास बैठे अपनी विचारधारामें तल्लीन हो गये। 'यह शरीर—इसका निर्माण ही समस्त अपवित्र वस्तुओंसे हुआ है और इसे पवित्र करनेके लिये इतना प्रयास! क्या यह कभी शुद्ध हो सकता है? तब यह प्रयास क्यों होता है?'

जूतेके स्पर्शका स्मरण हो आया—'चमड़ेका जूता

और उसके स्पर्शसे शरीर अपवित्र हो गया ! क्यों ? शरीर क्या उससे भी गंदे चमड़ेसे नहीं बना है ? तब यह पवित्रता किसके लिये है ? शरीरका क्या पवित्र और क्या अपवित्र होना । यह सब है आत्मशुद्धिके निमित्त । लेकिन यह आत्मा है क्या ? जिसकी शुद्धिके लिये रात-दिन एक करना पड़ता है, वह आत्मा शरीरके भीतर ही तो है !'

जैसे विद्युत् छू गयी हो--'जरा-से मृतक-चर्मके स्पर्शसे तो यह शरीर अपवित्र हो गया और जो आत्मा शरीरके भीतर इस मज्जा-मांसमें ही रहता है, वह कैसे शुद्ध होगा ?' हृदयपर एक कठोर ठेस लगी । वे गम्भीर चिन्तामें तल्लीन हो गये । इतने तल्लीन कि चावल जलकर भस्म हो गया, पर उन्हें कुछ पता नहीं ।

रमाकान्तजी विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे । थोड़ी हिंदी और काम चलानेभरको संस्कृत जानते थे । उसीसे विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके कुछ ग्रन्थ पढ़ लेते थे । वैसे उन्हें पढ़नेका अवकाश भी कहाँ था । अपनी ही पद्धतिसे वे सोच रहे थे 'यदि आत्मा शरीरमें ही रहता है तो कहाँ रहता है ? उसका स्थान हृदय बतलाया गया है । तब क्या रक्तपूर्ण हृदयमें वह रक्तसे लथपथ है ?'

उन्होंने हृदयमें मनको एकाग्र किया । इन्द्रियोंको थोड़ी शान्ति मिली इस बराबर धोने-माँजनेकी खटपटसे । मनीराममें इतनी शक्ति ही न थी जो इधर-उधर कर सकें । उन्हें तो आज्ञापालन करना था । क्योंकि बराबर-की स्वच्छताने उन्हें भी झाड़-पोंछकर स्वच्छ कर दिया था । बाहरी शुद्धि मन शुद्ध करनेमें हेतु होती ही है । और मन शुद्ध होनेपर इस प्रकार अपने ही अंगोंमें अपवित्रता-का बोध होना स्वाभाविक है !

'हृदय है--छिः यह भी मांसका ही है ! भीतर है रक्त । महा अपवित्र रक्त !! इसके और अन्तस्तलमें ? हृदयाकाश--विशुद्ध प्रकाशमय हृदयाकाश बस ! इसके पश्चात् मनीराम पता नहीं कहाँ हो गये । वे भगे नहीं, उनकी सत्ता ही [illegible] गयी । रमाकान्तजी स्थिर, अविचल, शान्त बैठे थे ।

दिन गया, रात्रि आयी और वह भी चली [illegible] 'प्रातःकाल आज रमाकान्त चरणस्पर्श भी करने [illegible] आया ? सर्दीमें भी वह दिनभर पानीमें हाथ डाले [illegible] है । उसे स्नान और सन्ध्या ही दिनभर लगी रहती है । कहीं सर्दी तो नहीं लग गयी ?' माताका ममत्व [illegible] हो उठा । रमाकान्तजीके एकान्तमें कोई बाधा न [illegible] इसलिये कोई उनके पास नहीं जाता था । वे [illegible] दूसरे घेरेवाली कोठरीमें अकेले रहते थे । माता [illegible] गयीं । द्वार खुला पड़ा था, चूल्हेपर पात्र रक्खा [illegible] अग्निके बदले कुछ भस्म थी और रमाकान्त [illegible] बैठे थे ।

माताने पुकारा, बहुत पुकारनेपर भी जब वे न [illegible] तो स्पर्श किया 'शरीर शीतल, जैसे हिम ! नासिका [illegible] पास हाथ ले जानेपर भी श्वासकी गति प्रतीत नहीं होती ।' माता चीख पड़ीं । भीड़ लग गयी और बहुत [illegible] हुई । थोड़ी देरमें श्वास चला, शरीरमें थोड़ी उष्णता आयी और रमाकान्तजीने नेत्र खोल दिये ।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' रमाकान्त पूर्णतः बदल [illegible] थे । अब न शरीरका पता रहता था और न संस्कार [illegible] जब मौज आती तो उपर्युक्त वाक्य पढ़ते और [illegible] पढ़ने । इसके सिवा उन्हें कोई कार्य न था ।

—

(५) पट्ठानपकरण—अध्यात्मविषयक प्रश्नोंका विवेचन।

(६) कथावत्थु—बौद्धसम्प्रदायके इतिहासके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। आत्मा, निर्वाण, अर्हत् पदकी प्राप्ति, बुद्धकी दस अमानुषिक शक्तियों आदि प्रश्नोंके विषयमें पाखण्डमतका खण्डन किया गया है। यह ग्रन्थ मोग्गलिपुत्त तिस्स (३रा. शतक वि० पू०) की रचना बतलाया जाता है।

(७) यमक—सब प्रश्नोंपर अस्ति तथा नास्तिरूपसे द्विविध विचार।[1]

बुद्धके उपदेश

मुख्यतया बुद्ध एक धार्मिक सुधारक तथा आचारके शिक्षकके रूपमें पाली त्रिपिटिकोंमें वर्णित किये गये हैं। उस समय इस देशके प्रचलित धर्ममें जो बुराइयाँ दिखलायी पड़ीं, उनका दूर करना उनके धर्मका प्रधान उद्देश्य था। वे अध्यात्मशास्त्रकी गुत्थियोंको सुलझानेवाले, शुद्ध तर्ककी सहायतासे आध्यात्मिक तत्त्वोंका विवेचन करनेवाले दार्शनिक न थे। गृहस्थजीवनमें रहते समय उनके कोमल हृदयपर दुःखके अस्तित्वने गहरा प्रभाव डाला। रोगी, वृद्ध तथा मरे हुए आदमीको देखनेमें उन्हें निश्चय हो गया कि दुःखका चक्कर वास्तविक है और कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो इस चक्करमें पड़कर न पीसा जाता हो। अतः इस क्लेशसे मुक्ति पाना ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है। इस कारण आध्यात्मिक तत्त्वोंके विषयमें जब कोई प्रश्न करता था, तब उसे जटिल तथा तर्कानुसार अनिश्चित बतलाकर टाल दिया करते थे। इस टालमटोल करनेका कारण उनकी तद्विषयक अज्ञानता न थी, प्रत्युत मानव-जीवनकी विषम समस्याओंके हल करनेमें अनुपयुक्त तथा अनावश्यक समझना ही था। पाली ग्रन्थोंमें ऐसे अनेक प्रसङ्गोंकी पर्याप्त चर्चा मिलती है। मज्झिमनिकायके वर्णनानुसार मालुंक्यपुत्तने श्रावस्तीके जेतवनमें विहार करते समय बुद्धसे इन दस मेण्डक[3] प्रश्नोंको पूछा था—(१) क्या यह लोक शाश्वत है? (२) क्या यह लोक अशाश्वत है? (३) क्या यह लोक अन्तवान् है? (४) क्या यह लोक अनन्त है? (५) क्या शरीर तथा जीव एक ही—अभिन्न वस्तु हैं? (६) अथवा शरीर भिन्न है और जीव दूसरा है? (७) क्या संबोधिको प्राप्त करनेवाले पुरुष मरनेके बाद होते हैं? (८) अथवा ऐसे पुरुष मरनेके बाद नहीं होते? (९) अथवा मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते? (१०) क्या मरनेके बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते? इन प्रश्नोंके उत्तर देनेके लिये अत्यन्त आग्रह किये जानेपर बुद्धने इन्हें अव्याकृत (व्याकरण=कथनके योग्य) बतलाया; इनका उत्तर ठीक-ठीक ढंगसे दिया नहीं जा सकता; क्योंकि आचारमार्गके लिये वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (=लोकोत्तर ज्ञान), सम्बोध (परम ज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी मुक्ति) उत्पन्न करनेमें इनकी जानकारीकी तनिक भी जरूरत नहीं है। सबसे विकट तथा प्रत्यक्ष विषय है क्लेश तथा उसका निवारण। इस विषयमें अनुपयोगी होनेके कारण इनका हल करना अनावश्यक है। यदि कोई मनुष्य विषसे बुझे हुए बाणसे घायल पड़ा कराहता हो और उसके सगे-सम्बन्धी उसकी चिकित्साके लिये विषवैद्यको ले आनेके लिये उद्यत हों, तब उसका बाणके बनानेवालेकी जाति, रूप, रंग, नाम, गोत्र, निवासस्थान आदिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आग्रह करना कितना उपहासास्पद है। लौकिक बुद्धि पुकारकर सलाह देती है कि यह काल उसे शरीरमें धँसे हुए तथा असीम पीड़ा पहुँचानेवाले बाणको हाथसे झटसे निकाल बाहर करनेका है, इस प्रकारके व्यर्थके तत्त्वविचारका नहीं। लौकिक रोगका यह दृष्टान्त तात्त्विक चिन्ताको व्यर्थ बतलानेके लिये पर्याप्त है।

मुख्य विषय है कि इस लोकमें दुःखकी सत्ता है; यह इतनी वास्तविक है कि उसका कोई अपलाप नहीं कर सकता। यदि दुःख है तो उसकी उत्पत्तिकी चिन्ता करनी चाहिये, क्योंकि बिना उत्पत्तिको जाने उसके निरोध (रोकने) के लिये प्रयत्न नहीं किया जा सकता। निरोधके बाद विचारणीय

---

१ विशेषके लिए देखिये—

विन्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (भाग २)

विमला चरण ला—हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर (भाग २)

२. द्रष्टव्य चूलमालुक्यसुत्तन्त (६३वाँ सुत्त), मज्झिमनिकाय पृ० २५१—२५३

३. 'मेण्डक प्रश्न' उन विषम प्रश्नोंको कहते हैं, जिनका निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इन्हें पश्चिमी न्यायके सुप्रसिद्ध 'हार्न्स ऑफ ए डाइलेमा' का प्रतीक समझना चाहिये। द्रष्टव्य 'मिलिन्द-पन्हो'।

बोधगया, अनुत्तर धर्मचक्रके प्रवर्तनका स्थान सारनाथ तथा अनुपादिशेष निर्वाणधातुकी प्राप्तिका स्थान कुशीनगर —बौद्धधर्मके चार तीर्थस्थल माने जाते हैं।

पाली त्रिपिटक

भगवान् बुद्धके द्वारा रचित किसी भी ग्रन्थका पता नहीं चलता। उनके उपदेश जनताको बोलचालकी भाषामें मौखिक हुआ करते थे। उस भाषाका नाम मागधी या पाली दिया जाता है। इसी पाली भाषामें बुद्धके उपदेशोंके संग्रह-स्वरूप तीन संग्रहग्रन्थों अथवा पिटकोंकी उपलब्धि होती है। बुद्धकी शिक्षाएँ दो प्रकारकी होती थीं—एक तो धर्मके सामान्य रूपके विषयमें तथा दूसरी संघभुक्त भिक्षु तथा भिक्षुणियोंके नियमके विषयमें। पहले उपदेशको 'धर्म' या सुत्त (सूत्र या सूक्त) कहते हैं तथा दूसरे उपदेश 'विनय' नामसे पुकारे जाते हैं। बस, सुत्त तथा विनयके भीतर बुद्धके समस्त उपदेश सम्मिलित कर दिये गये हैं। ये ग्रन्थ भिक्षुओंको याद थे। अतः ४२६ वि० पू० संवत्‌में बुद्धकी निर्वाणप्राप्तिके अवसर-पर इनमें किसी प्रकारके भ्रम या अशुद्धिकी आशंकासे महाकाश्यपके सभापतित्वमें बौद्ध भिक्षुओंका प्रथम सम्मेलन (प्रथम संगीति) राजगृहमें हुआ, जिसमें बुद्धके सहचर 'आनन्द' के सहयोगसे 'सुत्तपिटक' तथा नापित-कुलोत्पन्न उपालिके सहयोगसे 'विनयपिटक' का संकलन किया गया। स्वयं सुत्तपिटकके भीतर संक्षिप्त दार्शनिक अंश भी उपलब्ध होता है, जिसे 'मातिका' (मात्रिका) के नामसे पुकारते हैं। इन्हीं मात्रिकाओंके पल्लवीकरणका परिणाम आजकल उपलब्ध अभिधम्म (अभिधर्म=अध्यात्मविषय) पिटक है। अभिधर्म बुद्धधर्मका विशुद्ध दार्शनिक पिटक है, जिसमें सुत्तपिटकमें उल्लिखित बुद्धके उपदेशोंके लिये दार्शनिक भित्ति तथा आधार तैयार किया गया है। अशोकके समय (वि० पू० तृतीय शतक) तक तीनों पिटकोंकी सृष्टि हो चुकी थी, क्योंकि उनके पुत्र महेन्द्र तथा कन्या संघमित्राके उद्योगसे लंकाद्वीपमें तथागतके धर्मके साथ इन पिटकोंका भी प्रथम प्रवेश उसी समय हुआ। आजकल उपलब्ध पाली पिटक बौद्धधर्ममें सबसे प्राचीन स्थविरनिकायके साथ सम्बन्ध रखता है। अतः बुद्धके आचार तथा दार्शनिक विचारकी हमारी जानकारी इन्हीं त्रिपिटकोंके ऊपर अवलम्बित है।

इन संग्रहग्रन्थोंका विस्तार इस प्रकार है—

(१) सुत्तपिटक—पाँच निकाय (गुच्छ) में विभक्त हैं—दिग्घनिकाय ३४ सुत्त, मज्झिमनिकाय [illegible] सुत्त, संयुत्तनिकाय ५६ संयुत्त, अंगुत्तरनिकाय ११ तथा अन्तिम निकाय है खुद्दकनिकाय, जिसमें निम्न १५ छोटे-मोटे ग्रन्थ सम्मिलित माने जाते हैं—(१) खुद्दक[illegible] (२) धम्मपद (गौतमबुद्धकी ४२३ उपदेशात्मक गाथा[illegible] सुप्रसिद्ध संग्रह), (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, ([illegible]) सुत्तनिपात, (६) विमानवत्थु, (७) पेतवत्थु, ([illegible]) थेरगाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक (बुद्[illegible] पूर्वजन्मसम्बन्धिनी ५५० कथाएँ), (११) निद्देस, (१२) पटिसम्भिदामग्ग, (१३) अपदान, (१४) बुद्धवंस त[illegible] (१५) चरियापिटक। इन सबमें मज्झिमनिकाय बुद्[illegible] सिद्धान्तोंकी जानकारीके लिये विशेष महत्त्व रखता है।

२–विनयपिटक—भिक्षु तथा भिक्षुणियोंके नियम त[illegible] आचार तथा उनके इतिहासविषयक ग्रन्थ। इसके तीन प्रम[illegible] खण्ड हैं—(१) सुत्तविभंग या पातिमोक्ख, जिसके दो अवान्त[illegible] भेद हैं—(क) भिक्खु पातिमोक्ख तथा (ख) भिक्खुनी[illegible] विभंग, (२) खन्धक—जो इस पिटकका प्रधान भाग है त[illegible] जिसके दो अवान्तर विभेद हैं—(क) महावग्ग तथा (ख) चुल्लवग्ग और (३) परिवार।

(३) अभिधम्मपिटक—सुत्तपिटकमें उल्लिखित त[illegible] प्रतिपादक अंशोंका विस्तार इस पिटकमें किया गया है। बौद्धदर्शनके आध्यात्मिक रहस्योंके जाननेके लिये यही [illegible] सबसे अधिक उपयोगी है। तत्त्वोंके विषयमें पाण्डित्यपूर्ण विवेचन उपस्थित किया गया है। इसमें सात ग्रन्थ हैं—

(१) पुग्गलपञ्ञत्ति—व्यक्तियोंका वर्णन है। साथ ही साथ मनोभावोंकी संक्षिप्त, पर सुन्दर विवेचना की गयी है।

(२) धातुकथा—सृष्टिके पदार्थोंके स्वरूपोंका [illegible] वर्णन किया गया है (धातु=पदार्थ)।

(३) धम्मसंगणि—मानसिक स्थितिका विस्तृत त[illegible] विद्वत्तापूर्ण वर्णन। बौद्धदर्शनके मनोविज्ञानके जाननेके लिये नितान्त उपादेय।

(४) विभंग—पूर्व ग्रन्थका पूरक ग्रन्थ है। इसमें विविध प्रकारोंका वर्णन है। इन्द्रियजन्य ज्ञानसे लेकर बुद्धके सर्वज्ञ ज्ञानतकके समस्त अवान्तर भागोंका सूक्ष्म विवरण दिया गया है। साथ ही साथ ज्ञानमार्गके विघ्नोंका [illegible] वर्णन भी है।

विषय उसकी उपलब्धि करानेवाले मार्गका है। अतः दुःखकी इन चतुर्विध समस्याओंका सुलझाना ही मानवमात्रके लिये प्रधान कार्य है। बुद्धने इन समस्याओंको समझा और उनकी गुत्थियोंको सुलझाया, इसीलिये वे सम्यक् संबुद्ध (अच्छी प्रकार जागनेवाले) के नामसे पुकारे जाते हैं। इन समस्याओंका उत्तर बुद्धने दिया है—(१) इस संसारमें जीवन दुःखसे परिपूर्ण है; (२) उस दुःखका कारण विद्यमान है; (३) इस दुःखसे वास्तविक छुटकारा मिल सकता है; (४) इस निरोधके लिये उचित उपाय या मार्ग है। इन्हें ही बुद्धधर्ममें आर्यसत्यके नामसे पुकारते हैं—(१) दुःख, (२) दुःखसमुदय, (३) दुःख-निरोध, (४) दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्। बुद्धधर्मके प्रायमिक स्वरूपको जाननेके लिये इन सत्योंका परिचय पाना आवश्यक है।

आर्यसत्य

(१) दुःखम्

आर्यसत्योंमें प्रथम दुःखरूप सत्य लोकके अनुभवपर अवलम्बित है। इस जगतीतलके प्राणियोंपर दृष्टिपात करनेसे सब प्राणी रोग, जरा तथा मरणके शिकार होते दिखलायी पड़ते हैं। यह इतना स्थूल है कि इसका अपलाप हो ही नहीं सकता। ब्राह्मण दार्शनिकोंके समान जीवनको अशान्त बनानेवाले इस क्लेशशील... पर उनकी विशेषता इसके निरोध तथा तदु... विवेचना है।

(२) दुःखसमुदयः

दूसरा सत्य दुःखके कारणकी खोज कर... लिये केवल एक ही कारण नहीं खोज निकाला... कारण-परम्पराका अन्वेषण नये प्रकारसे ... जिसमें एक कारण दूसरे कारणके आधारपर ... है। सबसे बड़ा दुःख जरा-मरण (बुढ़ापा तथा ...) इसकी उत्पत्तिका कारण जाति (जन्म ग्रहण करना) ... इस संसारमें प्राणीका जन्म ही नहीं होता, तो ... तथा मरणके क्लेश सहनेका अवसर ही नहीं आता। ... का कारण है भव। भव उन कर्मोंको कहते हैं, ... प्राणीका पुनर्भव—पुनर्जन्म होता है। यदि ऐसे ... सर्वथा अभाव रहता, तो जन्मके पचड़ेमें ... सहनेका मौका ही न आता। इस भवका ... उपादान अर्थात् आसक्ति। प्राणीकी आसक्तिके ... हैं, कभी यह स्त्रीमें आसक्ति (कामोपादान) ... कभी शील-व्रतमें। पर आत्माके नित्यत्वमें उसकी ... सबसे प्रधान है। आत्माको नित्य मानना ही ... तथा हिंसामूलक कार्योंका निदान है। इस उपादानका ... रूपादि पञ्च विषयोंमें उत्पन्न तृष्णा (इच्छा) ... है। यह तृष्णा कारण होते हुए भी वेदनाका कार्य है। ... कारण तृष्णाका आविर्भाव होता है। इन्द्रिय... वेदनाके नामसे प्रसिद्ध है। इन्द्रियोंके द्वारा ... अनुभवके बिना उसकी उपलब्धिके लिये तृष्णा ...

---

१. द्रष्टव्य चन्द्रकीर्ति—माध्यमिककारिकावृत्ति (पृ० ४७६)

इन सत्योंके पहले 'आर्य' विशेषण लगानेका अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोग ही इनकी सत्यताकी उपलब्धि करते हैं। पामरजन जीते हैं, मरते हैं, पर इन सत्योंपर नहीं पहुँच पाते।

ऊर्णापक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न विद्यते पुम्भिः।
अक्षिगतं तु तदेव हि जनयत्यरतिं च पीडां च॥
करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

(१३)

(चैत्रके व्रत)

कृष्णपक्ष

आरम्भका निवेदन—प्रत्येक प्रयोजनके सभी व्रत मास[1], पक्ष और तिथि-वारादिके सद्योगसे सम्पन्न होते हैं। मास चार प्रकारके माने गये हैं। वे सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र नामोंसे प्रसिद्ध हैं। उनमें सूर्य-संक्रान्तिके आरम्भसे उसकी समाप्तिपर्यन्तका 'सौर'[2], सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्तके एक दिन-जैसे ३० दिनका 'सावन'[3], शुक्ल और कृष्ण पक्षका 'चान्द्र'[4] और अश्विनीके आरम्भसे रेवतीके अन्ततकके चन्द्र-भोगका 'नाक्षत्र'[5] मास होता है। ये सब प्रयोजनके अनुसार पृथक्-पृथक् लिये जाते हैं—यथा विवाहादिमें 'सौर'[6], यज्ञादिमें 'सावन'[7], श्राद्ध आदिमें 'चान्द्र'[8] और नक्षत्रसत्र (नक्षत्र-सम्बन्धी यज्ञ, यथा क्लेश-मूलादिजन्मशान्ति) में 'नाक्षत्र'[9] लिया जाता है।······मास-गणनामें वैशाख आदिकी अपेक्षा सर्वप्रथम चैत्र क्यों लिया गया? इसका कारण यह है कि सृष्टिके आरम्भ (अथवा ज्योतिर्गणनाके प्रारम्भ) में चन्द्रमा चित्रापर था—(और चित्रा चैत्रीको प्रायः[10] होती ही है) इस कारण अन्य महीनोंकी अपेक्षा चैत्र पहला महीना माना गया है, और इसके पीछे वैशाख आदि आते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार चैत्रीको चित्रा होना सम्भव माना गया है उसी प्रकार वैशाखीको विशाखा, ज्यैष्ठीको ज्येष्ठा, आषाढ़ीको पूर्वाषाढ़ा, श्रावणीको श्रवण, भाद्रीको उत्तराभाद्रपद, आश्विनीको अश्विनी, कार्तिकीको कृत्तिका, मार्गशीर्षीको मृगशिरा, पौषीको पुष्य, माघीको मघा और फाल्गुनीको पूर्वाफाल्गुनी होना भी सम्भव सूचित किया गया है।······प्रत्येक मासके शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष हैं। इनका उपयोग लोकव्यवहारमें दक्षिण प्रान्तमें शुक्ल और कृष्ण और अन्य प्रान्तोंमें कृष्ण और शुक्लके क्रमसे करते हैं। वास्तवमें यह व्रतोत्सवादिमें[11] शुक्लसे और तिथिकृत्यादिमें[12] कृष्णसे प्रारम्भ किया जाता है।······

(१) गौरीव्रत (व्रतविज्ञान)—यह चैत्र कृष्ण प्रतिपदासे चैत्र शुक्ल द्वितीयातक किया जाता है। इसको विवाहिता और कुमारी दोनों प्रकारकी लड़कियाँ करती हैं। इसके लिये होलीके भस्म और काली मिट्टीके मिश्रणसे गौरी-की मूर्ति बनायी जाती है और प्रतिदिन प्रातःकालके समय समीपके पुष्पोद्यानसे फल, पुष्प, दूर्वा और जलपूर्ण कलश लाकर उसको गीत-मन्त्रोंसे पूजती हैं। यह व्रत विशेषकर अहिवातकी रक्षा और पतिप्रेमकी वृद्धिके निमित्त किया जाता है।

(२) होलामहोत्सव (पुराणसमुच्चय-मुक्तकसंग्रह)—यह उत्सव होलीके दूसरे दिन चैत्रकृष्ण प्रतिपदाको होता है। लोकप्रसिद्धिमें इसे धुरेंडी, छारंडी, फाग या बोड़राजयन्ती कहते हैं। नागरिक नर-नारी इसे रंग, गुलाल, गोठी, परिहास और गायन-वादनसे और देहाती लोग धूल-धमासा, जलक्रीडा और धमाल आदिसे सम्पन्न करते हैं। आजकल इस उत्सव-का रूप बहुत विकृत और उच्छृङ्खलतापूर्ण हो गया है। लोगोंको सभ्यताके साथ भगवद्भावसे भरे हुए गीत आदि गाकर यह उत्सव मनाना चाहिये। इस उत्सवके चार उद्देश्य प्रतीत होते हैं। (१) जनता जानती है कि होलीके जलानेमें प्रह्लादके निरापद निकल आनेके हर्षमें यह उत्सव सम्पन्न

---

१. मासन्ते परिमीयन्ते चन्द्रवृद्धिक्षयादिना। (मदनरत्न)

२. अर्कसंक्रान्त्यवधिः सौरः।

३. त्रिंशद्दिनः सावनः।

४. पक्षयुक्तश्चान्द्रः (माधवीय)

५. सर्वर्क्षपरिवर्तैस्तु नाक्षत्रो मास उच्यते। (विष्णु)

६. सौरो मासो विवाहादौ।

७. यज्ञादौ सावनः स्मृतः।

८. आब्दिके पितृकार्ये च चान्द्रो मासः प्रशस्यते। (गर्ग)

९. नक्षत्रसत्राण्यन्यानि नाक्षत्रे च प्रशस्यते। (विष्णु)

१०. 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' 'सास्मिन् पौर्णमासीति'। (पाणिनि)

११. व्रतोत्सवे च शुक्लादि।

१२. कृष्णादि तिथिकर्मणि। (ब्रह्म)

तिरस्कार किया जा सकता है। कारणकी सत्तासे कार्यकी सत्ता बनी हुई है। यदि कारणको निरोध कर दिया जाय, तो आप-से-आप चलनेवाली मशीनकी तरह कार्यका निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायगा। सारे क्लेशोंका मूल कारण अविद्या है। अतः विद्याके द्वारा अविद्याका निरोध कर देनेसे दुःखका निरोध स्वतः हो जायगा।

(४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्

बुद्धने मृगदावमें दिये गये प्रथम व्याख्यानमें ही इस मार्गकी रूपरेखा निर्धारित कर दी। मार्गनिर्धारणमें उनके अपने खास प्रवृत्तिमार्गीय तथा निवृत्तिमार्गीय जीवनने खूब प्रभाव जमाया। एक ओर चैनकी बंसी बजानेवाले, सुख-समृद्धिके आनन्दमें अपना जीवन यापन करनेवाले धनी-मानी लोगोंके जीवनकी ओर उनकी दृष्टि गयी, दूसरी ओर कठिन तपस्या तथा घोर व्रतके अनुष्ठानसे ईश्वरीय देन—इस कञ्चनमयी कायाको सुखाकर काँटा बना डालनेवाले तपस्वियोंके नियमपालनकी ओर उनकी नजर गयी। फल इन दोनों जीवनोंका क्लेशमय ही प्रतीत हुआ। इसलिये इन दोनों छोरोंको छोड़कर उन्होंने सुनहले मध्यम-मार्गका अवलम्बन किया। इस तरह आचारपद्धतिके लिये बुद्धने 'मध्यमप्रतिपदा'—मध्यमार्गको खोज निकाला।

इस मार्गमें आत्मशुद्धिके लिये आठ नियमोंके अनुष्ठानकी व्यवस्था की है, अतः इसे आर्य अष्टाङ्गिक मार्गकी संज्ञा प्राप्त हुई है। ये आठ नियम निम्नलिखित हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। चारों आर्यसत्योंका तत्त्वज्ञान सम्यक् दृष्टि कहलाता है। तत्त्वज्ञानका सहायक सम्यक् संकल्प है। संकल्पको शुद्ध होना जितना आवश्यक है और इसके [illegible] प्रकारकी [illegible] कामना, द्रोह तथा हिंसाके [illegible] व्यवहारमें उतारना [illegible]

कटुवचनसे विरहित वाणी सम्यक् वचन कही जा[illegible] हिंसा तथा दुराचारको छोड़ना जितना आवश्यक है, ही आवश्यक है न्यायपूर्ण सच्चे व्यवहारसे आजीविका करना। इतनेसे ही काम नहीं चलता बल्कि जीवनकी परिस्थितियोंमें भलाई-बुराई, कर्तव्य तथा कामनाके [illegible] सदा लड़नेके लिये भी तैयार रहना चाहिये। [illegible] अनुत्पन्न बुराइयोंकी उत्पत्ति न होने देनेके लिये तथा उ[illegible] बुराइयोंके विनाशके लिये तथा भलाईकी वृद्धिके लिये [illegible] की ओरसे दृढ़ निश्चय तथा उद्योग किया जाना [illegible] अन्तर्गत आता है। इसके साथ-साथ अपने शरीर, चि[illegible] वेदना आदिके अशुचि तथा अनित्य स्वरूपकी [illegible] उपलब्धि करके लोभ तथा चित्तसन्तापसे किनारा करना [illegible] साधकके लिये आवश्यक है। इसे ही सम्यक् स्मृतिके [illegible] पुकारते हैं[1]। इस प्रकार कायिक, वाचिक तथा मान[illegible] नियमनका अन्तिम परिणाम होना चाहिये सम्यक् [illegible] अर्थात् सुख-दुःख, राग-द्वेषके विषम द्वन्द्वोंका विनाश [illegible] चित्तका अपना शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रतारूप धारण [illegible] समाधिकी पराकाष्ठा है। उसी दशामें निर्वाणका [illegible] साक्षात्कार किया जाता है।

बुद्धके आचारमार्गका सूत्र यही है—

> सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा[illegible]
> सचित्त-परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।
>
> (धम्मपद [illegible])

अर्थात् समस्त पापोंका न करना, पुण्योंका सञ्चय कर[illegible] तथा अपने चित्तको परिशुद्ध (पर्यवदापन) करना—[illegible] यही अनुशासन है।

(क्रमशः)

---

१. [illegible]

उनको नहीं जाने दिया। तब उन्होंने अनजानमें अपने त्रिशूलसे उनका मस्तक काट डाला और वह चन्द्रलोकमें ला गया। इधर पार्वतीकी प्रसन्नताके लिये शिवजीने ायीके सद्योजात बच्चेका मस्तक मँगवाकर गणेशजीके जोड़ ्या। विज्ञानियोंका विश्वास है कि गणेशजीका असली ास्तक चन्द्रमामें है और इसी सम्भावनासे चन्द्रमाका दर्शन किया जाता है।'......यह व्रत ४ या १३ वर्षतक करनेका । अतः अवधि समाप्त होनेपर इसका उद्यापन करे। उसमें र्वतोभद्र मण्डलपर कलश स्थापन करके उसपर गणेशजीकी वर्णमयी मूर्तिका पूजन करे। ऋतुकालके गन्ध-पुष्पादि धारण करावे। *उसी जगह चाँदीके चन्द्रमाका अर्चन करे।* नैवेद्यमें 'इक्षवः सक्तवो रम्भाफलानि चिमटास्तथा। मोदका नारिकेलानि लाजा द्रव्याष्टकं स्मृतम्॥' का ग्रहण करे। घी, तेल, शर्करा और बिजोरेके टुकड़ोंको एकत्र करके इनका यथाविधि हवन करे। इसके पीछे २१ मोदक लेकर १ गणञ्जय, २ गणपति, ३ हेरम्ब, ४ धरणीधर, ५ महागणाधिपति, ६यज्ञेश्वर, ७ शीघ्रप्रसाद, ८ अभङ्गसिद्धि, ९ अमृत, १० मन्त्रज्ञ, ११ किन्नाम, १२ द्विपद, १३ सुमङ्गल, १४ बीज, १५ आशा-पूरक, १६ वरद, १७ शिव, १८ कश्यप, १९ नन्दन, २० सिद्धिनाथ और २१ दुण्ढिराज—इन नामोंसे एक-एक मोदक अर्पण करे। इसके अतिरिक्त गोदान, शय्यादान आदि देकर और ब्राह्मणभोजन कराकर स्वयं भोजन करे। उक्त २१ मोदकोंमें १ गणेशजीके लिये छोड़ दे, १० ब्राह्मणों-को दे और १० अपने लिये रक्खे।'......कथाका सार यह है कि प्राचीन कालमें मयूरध्वज नामका राजा बड़ा प्रभावशाली और धर्मज्ञ था। एक बार उसका पुत्र कहीं खो गया और बहुत अनुसन्धान करनेपर भी न मिला। तब मन्त्रिपुत्रकी धर्मवती स्त्रीके अनुरोधसे राजाके सम्पूर्ण परिवारने चैत्र कृष्ण चतुर्थीका बड़े समारोहसे यथाविधि व्रत किया। तब भगवान् गणेशजीकी कृपासे राजपुत्र आ गया और उसने मयूरध्वज-की आजीवन सेवा की।

(४) शीतलाष्टमी (स्कन्दपुराण)–इस देशमें शीतलाष्टमीका व्रत केवल चैत्र कृष्ण अष्टमीको होता है, किन्तु स्कन्दपुराणमें चैत्रादि ४ महीनोंमें इस व्रतके करनेका विधान है। इसमें पूर्वविद्धा अष्टमी ली जाती है। व्रतीको चाहिये कि अष्टमीको शीतल जलसे प्रातःस्नानादि करके 'मम गेहे शीतलारोगजनितोपद्रवप्रशमनपूर्वकमायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्धये शीतलाष्टमीव्रतं करिष्ये।' यह सङ्कल्प करे। तदनन्तर सुगन्धियुक्त गन्ध-पुष्पादिसे शीतलाका पूजन करके प्रत्येक प्रकारके मेवे, मिठाई, पूआ, पूरी, दाल-भात, लपसी और रोटी-तरकारी आदि कच्चे-पक्के, सभी शीतल पदार्थ (पहले *दिनके बनाये हुए*) भोग लगाये। और *शीतलास्तोत्रका* पाठ करके रात्रिमें जागरण और दीपावली करे। नैवेद्यमें यह विशेषता है कि चातुर्मासीय व्रत हो तो–१ चैत्रमें शीतल पदार्थ, २ वैशाखमें घी और शर्करासे युक्त सत्तू, ३ ज्येष्ठमें पूर्व दिनके बनाये हुए अपूप (पूए) और ४ आषाढ़में घी और शक्कर मिली हुई खीरका नैवेद्य अर्पण करे। इस प्रकार *करनेसे व्रतीके कुलमें दाहज्वर, पीतज्वर, विस्फोटक,* दुर्गन्धयुक्त फोड़े, नेत्रोंके समस्त रोग, शीतलाकी फुन्सियोंके चिह्न और शीतलाजनित सर्वदोष दूर होते हैं और शीतला सदैव सन्तुष्ट रहती है। शीतलास्तोत्रमें शीतलाका जो स्वरूप बतलाया है, वह शीतलाके रोगीके लिये बहुत हितकारी है। उसमें बतलाया है कि 'शीतला दिगम्बरा है, गर्दभपर आरूढ़ रहती है, शूप, मार्जनी (झाड़ू) और नीमके पत्तोंसे अलङ्कृत होती है और हाथमें शीतल जलका कलश रखती है।' वास्तवमें शीतलाके रोगीके सर्वांगमें दाहयुक्त फोड़े होनेसे वह बिल्कुल नग्न हो जाता है। 'गार्दभपिण्डी' (गधेकी लीद) की गन्धसे फोड़ोंकी पीड़ा कम होती है। शूपके काम (अन्नकी सफाई आदि) करने और झाड़ू लगानेसे *बीमारी* बढ़ जाती है, अतः इन कामोंको [illegible] रखनेके लिये शूप और झाड़ू बीमारके समीप रखते हैं। नीमके पत्तोंसे शीतलाके फोड़े सड़ नहीं सकते। और शीतल जलके कलश-का समीप रखना तो आवश्यक है ही।

(५) सन्तानाष्टमी (विष्णुधर्मोत्तर)–यह व्रत भी

---

१. [illegible] ([illegible])

२. [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
([illegible])

३. [illegible]
[illegible]
([illegible])

होता है । (२) शास्त्रोंमें इस दिन इसी रूपमें 'नवान्नेष्टि' यज्ञ घोषित किया गया है, अतः नवप्राप्त नवान्नके सम्मानार्थ यह उत्सव किया जाता है । (३) यज्ञकी समाप्तिमें भस्मवन्दन और अभिषेक किया जाता है, किन्तु ये दोनों कृत्य विशेषकर कुत्सित रूपमें होते हैं । (४) वैसे माघ शुक्ल पञ्चमीसे चैत्र शुक्ल पञ्चमीपर्यन्तका वसन्तोत्सव स्वतः होता ही है ।

(३) सङ्कष्टचतुर्थीव्रत (भविष्यपुराण)—यदि निकट भविष्यमें किसी अमिट सङ्कटकी शङ्का हो या पहलेसे ही सङ्कटापन्न अवस्था बनी हुई हो तो उसके निवारणके निमित्त सङ्कटचतुर्थीका व्रत करना चाहिये । यह सभी महीनोंमें कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है । इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थी ली जाती है । यदि वह दो दिन चन्द्रोदयव्यापिनी हो तो प्रथम दिनका व्रत करे । व्रतीको चाहिये कि वह उक्त चतुर्थीको प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर दाहिने हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर 'मम वर्तमानागामिसकलसङ्कटनिरसनपूर्वकसकलाभीष्टसिद्धये सङ्कटचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके दिनभर मौन रहे और सायंकालके समय पुनः स्नान करके चौकी या वेदीपर 'तीव्रायै, ज्वालिन्यै, नन्दायै, भोगदायै, कामरूपिण्यै, उग्रायै, तेजोवत्यै, सत्यायै च दिक्षु विदिक्षु, मध्ये विघ्ननाशिन्यै सर्वशक्तिकमलासनायै नमः' इन मन्त्रोंसे पीठपूजा करनेके बाद वेदीके बीचमें स्वर्णादिनिर्मित गणेशजीका—१ 'गणेशाय नमः' से आवाहन, २ 'विघ्ननाशिने नमः' से आसन, ३ 'लम्बोदराय नमः' से पाद्य, ४ 'चन्द्रार्धधारिणे नमः' से अर्घ्य, ५ 'विश्वप्रियाय नमः' से आचमन, ६ 'ब्रह्मचारिणे नमः' से स्नान, ७ 'कुमारगुरवे नमः' से वस्त्र, ८ 'शिवात्मजाय नमः' से यज्ञोपवीत, ९ 'रुद्रपुत्राय नमः' से गन्ध, १० 'विघ्नहर्त्रे नमः' से अक्षत, ११ 'परशुधारिणे नमः' से पुष्प, १२ 'भवानीप्रीतिकर्त्रे नमः' से धूप, १३ 'गजकर्णाय नमः' से दीपक, १४ 'अघनाशिने नमः' से नैवेद्य(-आचमन), १५ 'सिद्धिदाय नमः' से ताम्बूल और १६ 'सर्वभोगदायिने नमः' से दक्षिणा अर्पण करके 'षोडशोपचार' पूजन करे । और कर्पूर अथवा घीकी बत्ती जलाकर नीराजन करे । ... दूर्वाके दो अङ्कुर लेकर 'गणाधिपाय नमः २, उमा... २, अघनाशाय नमः २, एकदन्ताय नमः २, इभवक्त्रा... २, मूषकवाहनाय नमः २, विनायकाय नमः २, ई... नमः २, सर्वसिद्धिप्रदाय नमः २, कुमारगुरवे नमः २ 'गणाधिप नमस्तेऽस्तु उमापुत्राघनाशन । एकदन्तेभ... तथा मूषकवाहन । विनायकेशपुत्रेति सर्वसिद्धि... कुमारगुरवे तुभ्यं पूजयामि प्रयत्नतः ॥' इनमें आरम्भके मन्त्रोंद्वारा दो-दो और अन्तके पूरे मन्त्रसे एक दूर्वा ... करके—'यज्ञेन यज्ञ०' से मन्त्र-पुष्पाञ्जलि अर्पण करे । ... 'संसारपीडाव्यथितं हि मां सदा सङ्कष्टभूतं सुमुख प्रसीद । त्वं ... मां मोचय कष्टसंघान्नमो नमो विघ्नविनाशनाय ॥' से नमस्कार करके 'श्रीविप्राय नमस्तुभ्यं साक्षाद्देवस्वरूपिणे । ... प्रीतये तुभ्यं मोदकान् वै ददाम्यहम् ॥' से मोदक ... और दक्षिणा रखकर वायन (वायना) दे । ... चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रमाका गन्ध-पुष्पादिसे विधिवत् ... करके 'ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते । ... रोहिणीकान्त गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥' से चन्द्रमाको अर्घ्य देकर 'नमोमण्डलदीपाय शिरोरत्नाय धूर्जटेः । कलाभि... मानाय नमश्चन्द्राय चारवे ॥' से प्रार्थना करे । फिर ... नमस्तुभ्यं सर्वसिद्धिप्रदायक । सङ्कष्टं हर मे देव ... नमोऽस्तु ते ॥' से गणेशजीको ३ अर्घ्य देकर—'तिथीनामुत्तमे ... गणेशप्रियवल्लभे । गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वसिद्धिप्रदायिके ।' से तिथिको अर्घ्य दे । पीछे सुपूजित गणेशजीका '... सुमापुत्र ममानुग्रहकाम्यया । पूजितोऽसि मया भक्त्या ... स्थानं स्वकं प्रभो ॥' से विसर्जन कर ब्राह्मणोंको भोजन कराके और स्वयं तैलवर्जित एक बार भोजन करे । ... गणेशजीका है, फिर इसमें चन्द्रमाका प्राधान्य ... गया है ? इस विषयमें ब्रह्माण्डपुराणमें लिखा है कि ... गणेशजीको प्रकट किया, उस समय इन्द्र-चन्द्रादि ... देवताओंने आकर उनका दर्शन किया ... रहे । कारण यह था कि उनकी दृष्टि ...

---

१. ...

२. ...

अधिक कष्टमें नित्य व्रत न किया जा सके तो एकभक्त, नक्तव्रत, अयाचित अथवा दूसरेके द्वारा व्रत हो जाय तो कोई दोष नहीं। यद्यपि दिनक्षय, सूर्यसंक्रान्ति और चन्द्र-सूर्यग्रहणमें व्रत करना वर्जित है किन्तु एकादशीके नित्य व्रतके लिये ऐसे अवसरमें भी फल-मूलादिसे परिहार कर लेनेकी आज्ञा है। यदि एकादशीके नित्यव्रतके दिन (माता, पिता आदिका) नैमित्तिक श्राद्ध आ जाय तो श्राद्ध और उपवास दोनों करे किन्तु श्राद्धीय भोजनको (जिसे पुत्रको भी करना चाहिये) दाहिने हाथमें लेकर सूँघ ले और गौको खिलाकर स्वयं उपवास करे[२]।.....व्रतके दूसरे दिन पारण किया जाता है। उस दिन यदि द्वादशी बहुत कम हो और नित्यकर्मके पूर्ण करनेमें देर लगे तो प्रातःकाल और मध्याह्नकालके दोनों काम उषाकालमें कर ले। यदि संकटवश पारण न हो सके तो केवल जल पीकर पारण करे। इनके अतिरिक्त अन्य विधान आगे वैशाखादिके व्रतोंमें यथास्थान दिये गये हैं।... एकादशीका व्रत करनेवालेको चाहिये कि वह प्रथमारम्भका व्रत मलमासादिमें न करे। गुरु-शुक्रके उदयके चैत्र, वैशाख, माघ या मार्गशीर्षकी एकादशीसे आरम्भ करके श्रद्धा, भक्ति और सदाचारसहित सदैव करता रहे। व्रतके (दशमी, एकादशी और द्वादशी—इन) तीन दिनोंमें कांस्यपात्र, मसूर, चने, मिथ्याभाषण, शाक, शहद, तेल, मैथुन, द्यूत और अत्यम्बुपान—इनका सेवन न करे।.....व्रतके पहले दिन (दशमीको) और दूसरे दिन (द्वादशीको) हविष्यान्न (जौ, गेहूँ, मूँग, सेंधा नमक, काली मिर्च, शर्करा और गोघृत आदि) का एक बार भोजन करे। दशमीकी रातमें एकादशीके व्रतका स्मरण रक्खे और एकादशीको प्रातः-स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर 'मम कायिकवाचिक-मानसिकसांसर्गिकपातकोपपातकदुरितक्षयपूर्वकश्रुतिस्मृतिपुराणोक्त-फलप्राप्तये श्रीपरमेश्वरप्रीतिकामनया विजयैकादशीव्रतमहं करिष्ये' यह सङ्कल्प करके जितेन्द्रिय होकर श्रद्धा, भक्ति और विधिसहित भगवान्का पूजन करे। उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि अर्पण करके नीराजन करे। तत्पश्चात् जप, हवन, स्तोत्रपाठ और मनोहर गायन-वादन और नृत्य करके प्रदक्षिणा और दण्डवत् करे। इस प्रकार भगवान्की सेवा और स्मरणमें दिन व्यतीत करके रात्रिमें कथा, वार्ता, स्तोत्रपाठ अथवा भजन आदिके साथ जागरण करे। फिर द्वादशीको पुनः पूजन करनेके पश्चात् पारण करे[३]।.....यद्यपि एकादशीका उपवास अस्सी वर्षकी आयु होनेतक करते रहना आवश्यक है, किन्तु असामर्थ्यादि-वश सदैव न बन सके तो उद्यापन करके समाप्त करे। उद्यापनमें सर्वतोभद्रमण्डलपर सुवर्णादिका कलश स्थापन करके उसपर भगवान्की स्वर्णमयी मूर्तिका शास्त्रोक्त विधिसे पूजन करे। घी, तिल, खीर और मेवा आदिसे हवन करे। दूसरे दिन द्वादशीको प्रातःस्नानादिके पीछे गोदान, अन्नदान, शय्यादान, भूयसी आदि देकर और ब्राह्मण-भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। ब्राह्मण-भोजनके लिये २६ द्विजदम्पतियोंको सात्त्विक पदार्थोंका भोजन कराके सुपूजित और वस्त्रादिसे भूषित २६ कलश (प्रत्येकको एक-एक) दे।.....चैत्र कृष्ण एकादशी 'पापमोचिनी' है। यह पापोंसे मुक्त करती है। च्यवन ऋषिके उत्कृष्ट तपस्वी पुत्र मेधावीने मञ्जुघोषाके संसर्गसे अपना सम्पूर्ण तप-तेज खो दिया था, किन्तु पिताने उससे चैत्र कृष्ण एकादशीका व्रत करवाया। तब उसके प्रभावसे मेधावीके सब पाप नष्ट हो गये और वह यथापूर्व अपने धर्म-कर्म, सदनुष्ठान और तपश्चर्यामें संलग्न हो गया।

(७) वारुणीयोग (वाचस्पति-निबन्ध)—यह पुण्य-

---

१. दिनक्षयेऽर्कसंक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
उपवासं न कुर्वीत पुत्रपौत्रसमन्वितः॥
(मत्स्यपुराण)

२. उपवासो यदा नित्यः श्राद्धं नैमित्तिकं भवेत्।
उपवासं तदा कुर्यादाघ्राय पितृसेवितम्॥
(कात्यायन)

३. स्नात्वा सम्यग्विधानेन सोपवासो जितेन्द्रियः।
सम्पूज्य विधिवद्विष्णुं श्रद्धया सुसमाहितः॥
पुष्पैर्गन्धैस्तथा धूपैर्दीपैर्नैवेद्यकैः परैः।
उपचारैर्बहुविधैर्जपहोमप्रदक्षिणैः॥
स्तोत्रैर्नानाविधैर्दिव्यैर्गीतवाद्यमनोहरैः।
दण्डवत् प्रणिपातैश्च जयशब्दैस्तथोत्तमैः॥
गीतैर्वाद्यैः संस्तवैश्च पुराणश्रवणादिभिः।
एवं सम्पूज्य विधिवद्रात्रौ कृत्वा प्रजागरम्॥
याति विष्णोः परं स्थानं नरो नास्त्यत्र संशयः।
(ब्रह्मपुराण)

४. चैत्रासिते वारुणऋक्षयुक्ता त्रयोदशी सूर्यसुतस्य वारे।
योगे शुभे सा महती महत्या गङ्गाजलेऽर्कग्रहकोटितुल्या॥
(निर्णयसिन्धु)

चैत्र कृष्ण अष्टमीको ही किया जाता है। इसमें प्रातः-स्नानादिके बाद श्रीकृष्ण और देवकीका गन्धादिसे पूजन करे और मध्याह्नमें सात्त्विक पदार्थोंका भोग लगाये।

(६) कृष्णैकादशी (नानापुराणस्मृति)—यह व्रत चैत्रादि सभी महीनोंके शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षोंमें किया जाता है[1]। फल दोनोंका ही समान है। शुक्ल और कृष्णमें कोई विशेषता नहीं है। जिस प्रकार शिव और विष्णु दोनों आराध्य हैं, उसी प्रकार कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंकी एकादशी उपोष्य है[2]। विशेषता यह है कि पुत्रवान् गृहस्थ शुक्ल एकादशी और वानप्रस्थ, संन्यासी तथा विधवा दोनोंका व्रत करें तो उत्तम होता है[3]। इसमें शैव और वैष्णवका भेद भी आवश्यक नहीं; क्योंकि जो जीवमात्रको समान समझे, निजाचारमें रत रहे और अपने प्रत्येक कार्यको विष्णु और शिवके अर्पण करता रहे, वही शैव और वैष्णव होता है। अतः दोनोंके श्रेष्ठ बर्ताव एक होनेसे शैव और वैष्णवोंमें अपने-आप ही अभेद हो जाता है। इस सर्वोत्कृष्ट प्रभावके कारण ही शास्त्रोंमें एकादशीका महत्त्व अधिक माना गया है।······इसके शुद्धा और विद्धा—ये दो भेद हैं। दशमी आदिसे विद्ध हो वह 'विद्धा' और अविद्ध हो वह 'शुद्धा' होती है। इस व्रतको शैव, वैष्णव और सौर—सब ... हैं[6]। वेधके विषयमें बहुतोंके विभिन्न मत हैं। उनमें ... वैष्णव और सौर पृथक्-पृथक् ग्रहण करते हैं। (... सिद्धान्तरूपसे उदयव्यापिनी ली जाती है। परन्तु ... उपलब्धि सदैव नहीं होती। इस कारण (२) कोई ... दिनकी ४५ घड़ी दशमीको त्यागते हैं। (३) कोई ... घड़ीका वेध निषिद्ध मानते हैं। (४) कई दशमी ... द्वादशीके योगकी एकादशीको त्यागकर द्वादशीका व्रत ... हैं। (५) कई एकादशीको ही उपोष्य बतलाते हैं। (... मत्स्यपुराणके मतानुसार क्षय एकादशी निषिद्ध होती है (७) जिस दिन दशमी (अनुमान) १। १५, एकादशी ५७। २२ और द्वादशी १। २३ हो उस दिन एकादशी ... क्षय हो जाता है। (८) किसीके मतमें दशमी ५१से जितनी ज्यादा हो उतना ही ज्यादा बुरा वेध होता है। यथा ५१ ... 'कपाल', ५२ का 'छाया', ५३ का 'ग्रासाख्य', ५४ ... 'सम्पूर्ण', ५५ का 'सुप्रसिद्ध', ५६ का 'महावेध', ५७ ... 'प्रलयाख्य', ५८ का 'महाप्रलयाख्य', ५९ का ... और ६० का 'राक्षसाख्य' वेध होता है। ये सब ... वेध हैं। और (९) वैष्णवोंमें ४५ तथा ५५ का वेध त्याज्य ... है।······एकादशीके १ उन्मीलिनी, २ वञ्जुली, ३ त्रिस्पृशा, ४ पक्षवर्धिनी, ५ जया, ६ विजया, ७ जयन्ती, ८ पापनाशिनी—ये आठ भेद और हैं। इनमें त्रिस्पृशा (तीनको स्पर्श करनेवाली) एकादशी (यथा सूर्योदयमें एकादशी, तत्पश्चात् द्वादशी और दूसरे सूर्योदयमें त्रयोदशी हो वह) महाफल देनेवाली मानी गयी है।······एकादशीके नित्य और काम्य दो भेद हैं। निष्काम की जाय वह 'नित्य' और धन-पुत्रादिकी प्राप्ति अथवा रोग-दोषादिकी निवृत्तिके निमित्त की जाय, वह 'काम्य' होती है। नित्यमें मलमास या शुक्रास्तादिकी मनाही नहीं, किन्तु काम्यमें शुद्ध समय होनेकी आवश्यकता है। व्रतविधि सकाम और निष्काम दोनोंकी एक है। यदि असामर्थ्य अथवा आर्ति ...

---

१. एकादशी सदोपोष्या पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
(सनत्कुमार)

२. यथा विष्णुः शिवश्चैव तथैवैकादशी स्मृता।
(वराहपुराण)

३. विधवाया वनस्थस्य यतेश्चैकादशीद्वये।
उपवासो गृहस्थस्य शुक्लायामेव पुत्रिणः॥
(कालादर्श)

४. समात्मा सर्वभूतेषु निजाचारादविप्लुतः।
विष्ण्वर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते (शैवः स्मृत उच्यते)॥
(स्कन्द)

५. संसाराख्यमहाघोरदुःखिनां सर्वदेहिनाम्।
एकादश्युपवासोऽयं निर्मितं परमौषधम्॥
(वसिष्ठ)

एकादशी परित्यज्य योऽन्यद्व्रतमुपासते।
स करस्थं महारत्नं त्यक्त्वा लोष्टं हि याचते॥
(स्मृत्यन्तर)

[illegible]
[illegible] ॥
(कात्यायन)

६. वैष्णवो वाथ शैवो वा सौरोऽप्येतत्समाचरेत्।
(सौरपुराण)

७. अरुणोदय आद्या स्याद् द्वादशी सकलं दिनम्।
अन्ते त्रयोदशी प्रातस्त्रिस्पृशा सा हरेः प्रिया॥
(...)

८. [illegible] [illegible] [illegible] च।
[illegible] [illegible] न [illegible] [illegible]॥
(...)

. …तेभ्यः, ११९ ब्राह्मणगौरागेभ्यः, १२० …सरस्वतीभ्यः, १२१ चित्रगन्धर्व विश्वकर्मणे, …नक्षत्रेभ्योऽष्टलोकपालेभ्यः, १२३ आयुधेभ्यः, …भ्यः, १२५ वर्णेभ्यः, १२६ आश्रमेभ्यः, १२७ …, १२८ देवेभ्यः, १२९ दैत्यराक्षसगन्धर्वपिशाचेभ्यः, …देभ्यः १३१ पितृभ्यः, १३२ प्रेतेभ्यः, १३३ …नः, १३४ भावकर्मेभ्यः और १३५ बहुरूपाय …परमात्मने नमः परमात्मविष्णुमावाहयामि स्थाप… इस प्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण देवताओंका पृथक्-पृथक् …न्त्र यथाविधि पूजन करके 'भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षं …तु मे । संवत्सरोपसर्गा मे विलयं यान्त्वशेषतः॥' से …रे । और विविध प्रकारके उत्तम और सात्त्विक ब्राह्मणोंको भोजन करानेके बाद एक बार स्वयं …। पूजनके समय नवीन पञ्चाङ्गसे उस वर्षके राजा, …मन्त्री, धनाधिप, धान्याधिप, दुर्गाधिप, संवत्सर- …और फलाधिप आदिके फल श्रवण करे । निवास- …ध्वजा, पताका, तोरण और बंदनवार आदिसे सुशोभित …रदेव और देवीपूजाके स्थानमें सुपूजित घट स्थापन …पारिभद्रके कोमल पत्तों और पुष्पोंका चूर्ण करके उनमें …मिर्च, नमक, हींग, जीरा और अजमोद मिलाकर …रे । और सामर्थ्य हो तो 'प्रपा' (पौसरे)का स्थापन …निम्बपत्र-भक्षण और प्रपाके प्रारम्भकी प्रार्थना टिप्पणी- …से करे। इस प्रकार करनेसे राजा, प्रजा और साम्राज्य- …न्त व्यापक शान्ति रहती है ।

(३) तिलकव्रत (भविष्योत्तर)—यह व्रत चैत्र शुक्ल …को किया जाता है । इसके निमित्त नदी या तालाबके तटपर जाकर अथवा घरपर ही पटवासकके चूर्णसे संवत्सर-की मूर्ति लिखकर उसका 'संवत्सराय नमः', 'चैत्राय नमः', 'वसन्ताय नमः' आदि नाम-मन्त्रोंसे पूजन करके विद्वान् ब्राह्मण-का अर्चन करे । उस समय ब्राह्मण 'संवत्सरोऽसि०' मन्त्र पढ़े । तब 'भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षं क्षेममिहास्तु मे । संवत्सरोप-सर्गा मे विलयं यान्त्वशेषतः ॥' से प्रार्थना करे । और दक्षिणा दे । इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको वर्षभर करे तो भूत-प्रेत-पिशाचादिकी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं ।

(४) आरोग्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी इसी प्रतिपदाको किया जाता है । इसके निमित्त पहले दिन व्रत करके प्रतिपदाको एक चौकीपर अनेक प्रकारके कमल बिछाकर उनमें सूर्यका ध्यान करे । श्वेत वर्णके सुगन्धित गन्ध-पुष्पादि-से पूजन करे । दही, चीनी, घी, पूए, दूध, भात और फल आदि अर्पण करे । वह्नि और ब्राह्मणको तृप्त करे । फिर सम्पूर्ण सामग्रीका एक-एक ग्रास भक्षण करे और शेषको त्याग दे । उसके बाद ब्राह्मणकी आज्ञा हो तब फिर भोजन करे । इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको वर्षपर्यन्त व्रत और शिव-दर्शन करे तो सदैव आरोग्य रह सकता है ।

(५) विद्याव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा-को एक वेदीपर अक्षतोंका अष्टदल बनाकर उसके मध्यमें ब्रह्मा, पूर्वमें ऋक्, दक्षिणमें यजुः, पश्चिममें साम, उत्तरमें अथर्व, अग्निकोणमें षट्शास्त्र, नैर्ऋत्यमें धर्मशास्त्र, वायव्यमें पुराण और ईशानमें न्यायशास्त्रको स्थापन करे । और उन सबका नाम-मन्त्रसे आवाहनादि पूजन करके व्रत रक्खे । इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको १२ महीने करके गोदान करे और फिर उसी प्रकार १२ वर्षतक यथावत् करता रहे तो वह महाविद्वान् बन सकता है ।

(६) नवरात्र (नानाशास्त्र-पुराणादि)—ये चैत्र, आषाढ, आश्विन और माघकी शुक्ल प्रतिपदासे नवमीतक नौ दिनके होते हैं; परन्तु प्रसिद्धिमें चैत्र और आश्विनके नवरात्र ही मुख्य माने जाते हैं । इनमें भी देवीभक्त आश्विन-के नवरात्र अधिक करते हैं । इनको यथाक्रम वासन्ती और शारदीय कहते हैं । इनका आरम्भ चैत्र और आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको होता है । अतः यह प्रतिपदा 'सम्मुखी' शुभ

…शकवत्सरभूपमन्त्रिणां रसधान्येश्वरमेघपातिनाम् ।
श्रवणात्पठनाच्च वै नृणां शुभलं यात्यशुभं सहाश्रिया ॥
(ज्योतिर्निबन्ध)

…पारिभद्रस्य पत्राणि कोमलानि विशेषतः ।
सपुष्पाणि समादाय चूर्णं कृत्वा विधानतः ॥
मरिचं लवणं हिङ्गु जीरकेण च संयुतम् ।
अजमोदयुतं कृत्वा भक्षयेद्रोगशान्तये ॥
(पञ्चाङ्गपारिजात)

…प्रपेयं सर्वसामान्या भूतेभ्यः प्रतिपादिता ।
अस्याः प्रदानात् पितरस्तृप्यन्तु च पितामहाः ॥
(दानचन्द्रिका)

४. संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसि अनुवत्सरोऽसि वत्सरोऽसि ।'
(यजुर्वेद)

५. 'प्रतिपत्सम्मुखी कार्या या भवेदापराह्णिकी ॥'
(स्कन्द)

चैत्र कृष्ण अष्टमीको ही किया जाता है। इसमें प्रातः-स्नानादिके बाद श्रीकृष्ण और देवकीका गन्धादिसे पूजन करे और मध्याह्नमें सात्त्विक पदार्थोंका भोग लगाये।

(६) **कृष्णैकादशी** (नानापुराणस्मृति)—यह व्रत चैत्रादि सभी महीनोंके शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षोंमें किया जाता है[1]। फल दोनोंका ही समान है। शुक्ल और कृष्णमें कोई विशेषता नहीं है। जिस प्रकार शिव और विष्णु दोनों आराध्य हैं, उसी प्रकार कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंकी एकादशी उपोष्य है[2]। विशेषता यह है कि पुत्रवान् गृहस्थ शुक्ल एकादशी और वानप्रस्थ, संन्यासी तथा विधवा दोनोंका व्रत करें तो उत्तम होता है[3]। इसमें शैव और वैष्णवका भेद भी आवश्यक नहीं; क्योंकि जो जीवमात्रको समान समझे, निजाचारमें रत रहे और अपने प्रत्येक कार्यको विष्णु और शिवके अर्पण करता रहे, वही शैव और वैष्णव होता है। अतः दोनोंके श्रेष्ठ वर्ताव एक होनेसे शैव और वैष्णवोंमें अपने-आप ही अभेद हो जाता है। इस सर्वोत्कृष्ट प्रभावके कारण ही शास्त्रोंमें एकादशीका महत्त्व अधिक माना गया है।''''''इसके शुद्धा और विद्धा—ये दो भेद हैं। दशमी आदिसे विद्ध हो वह 'विद्धा' और अविद्ध हो वह 'शुद्धा' होती है। इस व्रतको शैव, वैष्णव ... हैं[6]। वेधके विषयमें बहुतोंके विभिन्न ... वैष्णव और सौर पृथक्-पृथक् ... सिद्धान्तरूपसे उदयव्यापिनी ली ... उपलब्धि सदैव नहीं होती। इस कारण ... दिनकी ४५ घड़ी दशमीको लगते हैं। ... घड़ीका वेध निषिद्ध मानते हैं। (४) ... द्वादशीके योगकी एकादशीको लगकर ... हैं। (५) कई एकादशीको ही उपोष्य ... मत्स्यपुराणके मतानुसार क्षय एकादशी ... (७) जिस दिन दशमी (अनुमान) ... ५७। २२ और द्वादशी १। २१ हो ... क्षय हो जाता है। (८) किसीके मतमें ... ज्यादा हो उतना ही ज्यादा बुरा वेध ... 'कपाल', ५२ का 'छाया', ५३ का ... 'सम्पूर्ण', ५५ का 'सुप्रसिद्ध', ५६ का ... 'प्रलयाख्य', ५८ का 'महाप्रलयाख्य', ... और ६० का 'राक्षसाख्य' वेध होता है। ... वेध हैं। और (९) वैष्णवोंमें ४५ तथा ५५ ... है।''''''एकादशीके १ उन्मीलनी, ... त्रिस्पृशा, ४ पक्षवर्धिनी, ५ जया, ६ ... ८ पापनाशिनी—ये आठ भेद और ... (तीनको स्पर्श करनेवाली) एकादशी ... एकादशी, तत्पश्चात् द्वादशी और ... वह) महाफल देनेवाली मानी गयी है। ... नित्य और काम्य दो भेद हैं। ... 'नित्य' और धन-पुत्रादिकी प्राप्ति ... निवृत्तिके निमित्त की जाय, वह ... मलमास या शुक्रास्तादिकी मनाही नहीं ... समय होनेकी आवश्यकता है। ... दोनोंकी एक है। यदि अशक्त ...

१. एकादशी सदोपोष्या पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
(सनत्कुमार)

२. यथा विष्णुः शिवश्चैव तथैवैकादशी स्मृता।
(वराहपुराण)

३. विधवाया वनस्थस्य यतेश्चैकादशीद्वये।
उपवासो गृहस्थस्य शुक्लायामेव पुत्रिणः॥
(कालादर्श)

४. समात्मा सर्वभूतेषु निजाचारादविप्लुतः।
विष्ण्वर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते (शैवः स उच्यते)॥
(स्कन्द)

५. संसाराख्यमहाघोरदुःखिनां सर्वदेहिनाम्।
एकादश्युपवासोऽयं निर्मितं परमौषधम्॥
(वसिष्ठ)

एकादशी [illegible] [illegible]।
स [illegible] [illegible]॥
(स्मृत्यन्तर)

[illegible] [illegible]।
[illegible]॥
([illegible])

६. वैष्णवा वाथ शैवा ...

७. ...

[illegible] निवृत्त होकर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पूजन करे और [illegible] 'ॐ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], घी और [illegible] हवन करे। इस प्रकार [illegible] करनेके पश्चात् [illegible] [illegible] [illegible] है।

(१२) त्रिमूर्ति ([illegible])—चैत्र कृष्ण प्रतिपदाको [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] नामके [illegible] पूजन करनेसे [illegible] प्रसन्न होते हैं।

शुक्लपक्ष

(१) संवत्सर ([illegible])—यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको पूजित होता है। इसमें मुख्यतया ब्रह्माजीका और उनकी निर्माण की हुई सृष्टिके प्रधान प्रधान देवी-देवताओं, यक्ष-राक्षस गन्धर्वों, ऋषि मुनियों, मनुष्यों, नदियों, पर्वतों, पशु पक्षियों और कीटाणुओंका ही नहीं—रोगों और उनके उपचारोंतकका पूजन किया जाता है। इससे यह स्वतः सूचित होता है कि संवत्सर सर्वप्रधान, महामान्य है। संवत्सर उसे कहते हैं जिसमें मासादि भलीभाँति निवास करते रहें। इसका दूसरा अर्थ है बारह महीनेका 'कालविशेष'। यही श्रुतिका वाक्य भी है। जिस प्रकार महीनोंके चान्द्रादि तीन भेद हैं उसी प्रकार संवत्सरके भी सौर, सावन और चान्द्र—ये तीन भेद हैं। परन्तु अधिमाससे चान्द्रमास १३ हो जाते हैं। ऐसा होनेसे संवत्सर १२ महीनेका नहीं रहता, १३ का हो जाता है। इसका स्मृतिकारोंने यह समाधान किया है कि 'बादरायणने अधिमासको ३०-३० दिनके दो महीने नहीं माने, ६० दिनका एक महीना माना है।' इसलिये संवत्के चान्द्र महीने ही हो जाते हैं। फिर भी १३ महीने माने जायँ तो दूसरे श्रुति वाक्यके अनुसार १३ मासका भी संवत्सर होता है। ज्योतिःशास्त्रके अनुसार संवत्सरके सौर, सावन, चान्द्र, बार्हस्पत्य और नाक्षत्र—ये ५ भेद हैं। परन्तु धर्म कर्म और लोक-व्यवहारमें चान्द्र संवत्सरकी प्रवृत्ति ही विख्यात है।...चान्द्र संवत्सरका प्रारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे होता है। इसपर कोई यह पूछ सकते हैं कि जब चान्द्रमास कृष्ण प्रतिपदासे प्रारम्भ होते हैं तो संवत्सर शुक्लसे क्यों होता है। इसका समाधान यह है कि कृष्णके आरम्भमें मलमास आनेकी सम्भावना रहती है और शुक्लमें नहीं रहती। इस कारण संवत्सरकी प्रवृत्ति शुक्ल प्रतिपदासे ही अनुकूल होती है। इसके सिवा ब्रह्माजीने सृष्टिको आरम्भ इसी शुक्ल प्रतिपदाको किया था और इसी दिन मत्स्यावतारका[10] प्रादुर्भाव तथा सत्ययुगका आरम्भ हुआ था। इस महत्त्वको मानकर भारतके महामहिम सार्वभौम सम्राट् विक्रमादित्यने भी अपने संवत्सरका आरम्भ (आजसे १ कम दो हजार वर्ष पहले) चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको ही किया था।......इसमें सन्देह नहीं कि विश्वके यावन्मात्र संवत्सरोंमें शालिवाहन शक और विक्रम संवत्सर—ये दोनों सर्वोत्कृष्ट हैं। परन्तु शकका विशेषकर गणितमें प्रयोजन होता है और विक्रम-संवत्का इस देशमें गणित, फलित, लोक-व्यवहार और धर्मानुष्ठानोंके समय-ज्ञान आदिमें अमिट रूपसे उपयोग और आदर किया जाता है। प्रारम्भमें प्रतिपदा[11] लेनेका यह प्रयोजन है कि ब्रह्माजीने जब सृष्टिका आरम्भ किया, उस समय इसको 'प्रवरा' (सर्वोत्तम) तिथि सूचित किया था। और वास्तवमें यह प्रवरा है ही।

---

१. कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥
अनादिरेष भगवान् कालोऽनन्तोऽजरोऽमरः।
सर्वगत्वात् स्वतन्त्रत्वात् सर्वात्मत्वान्महेश्वरः॥ (विष्णुधर्मोत्तर)

२. स च संवत्सरः सम्यग् वसन्त्यस्मिन् मासादयः। (स्मृतिसार)

३. द्वादश मासाः संवत्सरः। (श्रुति)

४. चान्द्रसावनसौराणां त्रयः संवत्सरा अपि। (ब्रह्मसिद्धान्त)

५. 'षष्ट्या तु दिवसैर्मासः कथितो बादरायणैः। (स्मृत्यन्तर)

६. अस्ति त्रयोदशमासः। (श्रुति)

७. स्मरेत् सर्वत्र कर्मादौ चान्द्रं संवत्सरं सदा।
नान्यं यस्माद्वत्सरादौ प्रवृत्तिस्तस्य कीर्तिता॥ (आर्ष्टिषेण)

८. चान्द्रोऽब्दो मधुशुक्लप्रतिपदारम्भः। (दीपिका)

९. चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। (ब्रह्मपुराण)

१०. कृते च प्रभवे चैत्रे प्रतिपच्छुक्लपक्षगा।
रेवत्यां योगविष्कम्भे दिवा द्वादशनाडिकाः॥
'मत्स्यरूपकुमार्यां च अवतीर्णो हरिः स्वयम्। (स्मृतिकौस्तुभ)
मन्वान्तरेषु चैत्रशुक्लतृतीयायां मत्स्यावतारः संसूचितः।

११. तिथीनां प्रवरा यस्माद् ब्रह्मणा समुदाहृता।
प्रतिपद्यापदे पूर्वे प्रतिपन्नेन सोच्यते॥ (भविष्योत्तर)

प्रद महायोग तीन प्रकारका होता है। पहला चैत्र कृष्ण त्रयोदशीको वारुण नक्षत्र (शतभिषा) हो तो 'वारुणी', दूसरा उसी दिन शतभिषा और शनिवार हों तो 'महावारुणी' और तीसरा शतभिषा, शनिवार और शुभ योग हो तो 'महा-महावारुणी' होता है। इस योगमें गङ्गादि तीर्थस्थानोंमें स्नान, दान और उपवासादि करनेसे शतशः सूर्यग्रहणोंके समान फल होता है। उस दिनका पुण्यकाल पञ्चाङ्गसे ज्ञात हो सकता है। (उदाहरणार्थ तीनों योग इस प्रकार होते हैं। चैत्र कृष्ण त्रयोदशी १३। ७, शतभिषा १७। ५—इस दिन प्रातः १३। ७ तक 'वारुणी'; चैत्र कृष्ण १३ शनिवार ५। १५, शतभिषा ३०। ३२—इस दिन ५। १५ तक महावारुणी; और चैत्र कृष्ण १३ शनिवार ५०। ५५, शतभिषा २२। २० और शुभयोग १३। ७—इस दिन पूर्वाह्णमें १३ घड़ी ७ पलतक महामहावारुणी मानना चाहिये। त्रयोदशीमें नक्षत्रादि जितनी देर रहें उतनी घड़ीतक वारुणी आदि रहते हैं।)

(८) प्रदोषव्रत (स्कन्दपुराण)—यह व्रत शिवजीकी प्रसन्नता और प्रभुत्वकी प्राप्तिके प्रयोजनसे प्रत्येक मासके कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें त्रयोदशीको किया जाता है। शिवपूजन और रात्रि-भोजनके अनुरोधसे इसे 'प्रदोष' कहते हैं। इसका समय सूर्यास्तसे दो घड़ी रात बीतनेतक है। जो मनुष्य प्रदोषके समय परमेश्वर (शिवजी) के चरण-कमलका अनन्य मनसे आश्रय लेता है उसके धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव और सुख सम्पत्ति सदैव बढ़ते रहते हैं। यदि कृष्ण पक्षमें सोम और शुक्ल पक्षमें शनि हो तो उस प्रदोषका विशेष फल होता है। कृष्ण प्रदोषमें प्रदोषव्यापिनी परविद्धा त्रयोदशी ली जाती है। उस दिन सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करके शिवमूर्तिके समीप पूर्व या उत्तरमुख होकर बैठे हाथमें जल, फल, पुष्प और गन्धाक्षत लेकर 'मम... प्राप्तिकामनया प्रदोषव्रताङ्गीभूतं शिवपूजनं करिष्ये' सङ्कल्प करके भालपर भस्मके भव्य तिलक और गलेमें रु... माला धारण करे। उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प और ... पत्रादिसे उमा-महेश्वरका पद्धतिके अनुसार पूजन करे। साक्षात् शिवमूर्तिका सान्निध्य प्राप्त न हो सके तो ... चिकनी मिट्टीको 'हराय नमः' से ग्रहण करके 'महेश्वराय न... से कुक्कुटाण्ड अथवा कराङ्गुष्ठके प्रमाणकी मूर्ति बनावे। ... 'शूलपाणये नमः' से प्रतिष्ठा और 'पिनाकपाणये नमः' ... आवाहन करके 'शिवाय नमः' से स्नान करावे। और '... नमः' से गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पण ... तत्पश्चात् 'जय नाथ कृपासिन्धो जय भक्तार्तिभञ्जन। ... दुस्तरसंसारसागरोत्तारण प्रभो। प्रसीद मे महाभाग ... स्थितः। सर्वपापक्षयं कृत्वा रक्ष मां परमेश्वर।' से ... करके 'महादेवाय नमः' से पूजित मूर्तिका विसर्जन करे। इस व्रतकी पूर्ण अवधि २१ वर्षकी है, परन्तु ... सामर्थ्य न हो तो उद्यापन करके इसका विसर्जन करे। ... विधान आगे वैशाखादिके व्रतोंसे जान सकते हैं।

(९) केदारदर्शन (पृथ्वीचन्द्रोदय)—... चतुर्दशीको केदारनाथका ध्यान और ... करके व्रत करे और बन सके तो गङ्गास्नान करके ... व्रत करे तो इस व्रतके करनेसे केदारनाथके दर्शनोंके ... फल होता है और जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(१०) चैत्री अमा (हेमाद्रि)—चैत्र कृष्ण अमा... को प्रातःस्नानादिके पीछे यथासामर्थ्य अन्न, ... वस्त्रादिका दान, पितरोंका श्राद्ध और देवताओंके ... ध्यान और पूजन करके ब्राह्मण भोजन करावे तो ... होता है। यदि इस दिन सोम, भौम अथवा गुरु... ऐसे योगके दान पुण्य, ब्राह्मण भोजन और ... [illegible] होता है।

(११) ... ([illegible])—[illegible]

१. [illegible] प्रदोषम् । (हेमाद्रि)

२. [illegible] । ([illegible])
[illegible] ।
([illegible])

३. [illegible] ।
[illegible] ।
([illegible])

४. [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
([illegible])

५. [illegible] । ([illegible])
[illegible] ।
([illegible])

१. [illegible]
[illegible]
([illegible])

[illegible] पूजन करे और अमावास्याको ॐ [illegible] इस [illegible], घी और [illegible] । इस प्रकार [illegible] करनेके पश्चात् [illegible] मूर्ति [illegible] दे दे ।

(१२) [illegible] ([illegible])—चैत्र कृष्ण प्रतिपदाके [illegible], [illegible], अभिषान, [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] नामके [illegible] पूजन करनेसे [illegible] प्रसन्न होते हैं ।

शुक्लपक्ष

(१) संवत्सर (अनुष्ठानमञ्जरी)—यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको पूजित होता है । इसमें मुख्यतया ब्रह्माजीका और उनकी निर्माण की हुई सृष्टिके प्रधान प्रधान देवी देवताओं, यक्ष-राक्षस-गन्धर्वों, ऋषि मुनियों, मनुष्यों, नदियों, पर्वतों, पशु पक्षियों और कीटाणुओंका ही नहीं—रोगों और उनके उपचारोंतकका पूजन किया जाता है । इससे यह स्वतः सूचित होता है कि संवत्सर सर्वप्रधान, महामान्य है । संवत्सर उसे कहते हैं जिसमें मासादि भलीभाँति निवास करते रहें । इसका दूसरा अर्थ है बारह महीनेका 'कालविशेष' । यही श्रुतिका वाक्य भी है । जिस प्रकार महीनोंके चान्द्रादि तीन भेद हैं उसी प्रकार संवत्सरके भी सौर, सावन और चान्द्र—ये तीन भेद हैं । परन्तु अधिमाससे चान्द्रमास १३ हो जाते हैं । ऐसा होनेसे संवत्सर १२ महीनेका नहीं रहता, १३ का हो जाता है । इसका स्मृतिकारोंने यह समाधान किया है कि 'बादरायणने अधिमासको ३०-३० दिनके दो महीने नहीं माने, ६० दिनका एक महीना माना है ।' इसलिये संवत्के बारह महीने ही हो जाते हैं । फिर भी १३ महीने माने जायँ तो दूसरे श्रुति-वाक्यके अनुसार १३ मासका भी संवत्सर होता है । ज्योतिःशास्त्रके अनुसार संवत्सरके सौर, सावन, चान्द्र, बार्हस्पत्य और नाक्षत्र—ये ५ भेद हैं । परन्तु धर्म कर्म और लोक-व्यवहारमें चान्द्र संवत्सरकी प्रवृत्ति ही विख्यात है ।...चान्द्र संवत्सरका प्रारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे होता है । इसपर कोई यह पूछ सकते हैं कि जब चान्द्रमास कृष्ण प्रतिपदासे प्रारम्भ होते हैं तो संवत्सर शुक्लसे क्यों होता है । इसका समाधान यह है कि कृष्णके आरम्भमें मलमास आनेकी सम्भावना रहती है और शुक्लमें नहीं रहती । इस कारण संवत्सरकी प्रवृत्ति शुक्ल प्रतिपदासे ही अनुकूल होती है । इसके सिवा ब्रह्माजीने सृष्टिका आरम्भ इसी शुक्ल प्रतिपदाको किया था और इसी दिन मत्स्यावतारका[10] प्रादुर्भाव तथा सत्ययुगका आरम्भ हुआ था । इस महत्त्वको मानकर भारतके महामहिम सार्वभौम सम्राट् विक्रमादित्यने भी अपने संवत्सरका आरम्भ (आजसे १ कम दो हजार वर्ष पहले) चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको ही किया था ।"......इसमें सन्देह नहीं कि विश्वके यावन्मात्र संवत्सरोंमें शालिवाहन शक और विक्रम संवत्सर—ये दोनों सर्वोत्कृष्ट हैं । परन्तु शकका विशेषकर गणितमें प्रयोजन होता है और विक्रम-संवत्का इस देशमें गणित, फलित, लोक-व्यवहार और धर्मानुष्ठानोंके समय-ज्ञान आदिमें अमिट रूपसे उपयोग और आदर किया जाता है । प्रारम्भमें प्रतिपदा[11] लेनेका यह प्रयोजन है कि ब्रह्माजीने जब सृष्टिका आरम्भ किया, उस समय इसको 'प्रवरा' (सर्वोत्तम) तिथि सूचित किया था । और वास्तवमें यह प्रवरा है ही ।

१. कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि
अनादिरेष भगवा
सर्वगत्वात् स्वत

२. सच

३.

४.

६. अस्ति त्रयोदशमासः । (श्रुति)

७. स्मरेत् सर्वत्र कर्मादौ चान्द्रं संवत्सरं सदा ।
नान्यं यस्माद्वत्सरादौ प्रवृत्तिस्तस्य कीर्तिता ॥ (आर्ष्टिषेण)

मधुशुक्लप्रतिपदारम्भः । (दीपिका)

[illegible]गद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि । (ब्रह्मपुराण)

[illegible]मत्रे चैत्रे प्रतिपच्छुक्लपक्षगा ।
[illegible] द्वादशनाडिकाः ॥
[illegible] हरिः स्वयम् ।
(स्मृतिकौस्तुभ)

प्र[illegible] मत्स्यावतारः संसूचितः ।
तिथी[illegible] ब्रह्मणा समुदाहृता ।
[illegible]रत्वेन सोच्यते ॥
भविष्ये)

इसमें धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक और राजनैतिक आदि अधिक महत्त्वके अनेक काम आरम्भ किये जाते हैं। इसमें संवत्सरका पूजन, नवरात्र (घट) स्थापन, ध्वजारोपण, तैलाभ्यङ्ग-स्नान, वर्षेशादिका फलपाठ, पारिभद्रका पत्र-प्राशन और प्रपास्थापन आदि लोकप्रसिद्ध और विश्वोपकारक अनेक काम होते हैं। इसके द्वारा सनातनी जनतामें सर्वत्र ही संवत्सरका महोत्सव मनाया जाता है।

(२) संवत्सरपूजन (ब्रह्माण्डपुराण)—यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको किया जाता है। यदि चैत्र अधिक मास हो तो दूसरे चैत्रमें करना चाहिये। इसमें 'सम्मुखी' (सायाह्न-व्यापिनी) प्रतिपदा ली जाती है। ज्यौतिष शास्त्रके अनुसार उस दिन उदयमें जो वार हो, वही उस वर्षका राजा होता है। यदि उदयव्यापिनी दो दिन हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहले दिन जो वार हो, वह वर्षेश होता है। चैत्र मलमास हो तो पूजनादि सभी काम शुद्ध चैत्रमें करने चाहिये। मलमासमें कृष्ण पक्षके काम पहले महीनेमें और शुक्ल पक्षके काम दूसरेमें करने चाहिये। यथा शीतलापूजन प्रथम चैत्रमें और नवरात्र तथा गौरीपूजन दूसरे चैत्रमें होते हैं।······ चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करनेके पश्चात् हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर 'मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य स्वजनपरिजनसहितस्य वा आयुरारोग्यैश्वर्यादि-सकलशुभफलोत्तरोत्तराभिवृद्ध्यर्थं ब्रह्मादिसंवत्सरदेवताना पूजनमहं करिष्ये' यह संकल्प करके नवनिर्मित समचौरस चौकी या बालूकी वेदीपर श्वेत वस्त्र बिछावे और उसपर हरिद्रा अथवा केसरसे रँगे हुए अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाकर उसपर सुवर्णनिर्मित मूर्ति स्थापन करके 'ॐ ब्रह्मणे नमः'से ब्रह्माजीका आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, नीराजन, नमस्कार, पुष्पाञ्जलि प्रार्थना—इन उपचारोंसे पूजन करे। इसी प्रकार १ [illegible] २ निमेषाय, ३ त्रुट्यै, ४ लवाय, ५ क्षणाय, ६ काष्ठायै [illegible] कलायै, ८ सुषुम्णायै, ९ नाडिकायै, १० मुहूर्ताय [illegible] निशाभ्यः, १२ पुण्यदिवसेभ्यः, १३ पक्षाभ्याम्, १४ मासे[illegible] १५ षड्ऋतुभ्यः, १६ अयनाभ्याम्, १७ संवत्सरपरिवत्[illegible] इडावत्सरानुवत्सरवत्सरेभ्यः, १८ कृतयुगादिभ्यः, १९ नवग्रहे[illegible] २० अष्टाविंशतियोगेभ्यः, २१ द्वादशराशिभ्यः, २२ करणे[illegible] २३ व्यतीपातेभ्यः, २४ प्रतिवर्षाधिपेभ्यः, २५ त्रिशद[illegible] २६ सानुयात्रकुलनागेभ्यः, २७ चतुर्दशमनुभ्यः, २८ [illegible] पुरन्दरेभ्यः, २९ दक्षकन्याभ्यः, ३० देव्यै, ३१ सुभद्रायै [illegible] ३२ जयायै, ३३ भृगुशास्त्राय, ३४ सर्वास्त्रजनकाय, ३[illegible] बहुपुत्रपत्नीसहिताय, ३६ वृद्ध्यै, ३७ श्रद्धायै, ३८ निद्रायै [illegible] ३९ धनदाय, ४० गुह्यकस्वामिने, ४१ नलकूबरयक्षेभ्यः [illegible] ४२ शङ्खपद्मनिधिभ्याम्, ४३ भद्रकाल्यै, ४४ सुरभ्यै, ४[illegible] वेदवेदान्तवेदाङ्गविद्यासंस्थायिभ्यः, ४६ नागयक्षसुपर्णेभ्यः, ४[illegible] गरुडाय, ४८ अरुणाय, ४९ सप्तद्वीपेभ्यः, ५० सप्तसमुद्रेभ्यः [illegible] ५१ सागरेभ्यः, ५२ उत्तरकुरुभ्यः, ५३ ऐरावताय, ५४ भद्रा[illegible] श्वकेतुमालाय, ५५ इलावृताय, ५६ हरिवर्षाय, ५७ किम्पुरु[illegible] भ्यः, ५८ भारताय, ५९ नवखण्डेभ्यः, ६० सप्तपातालेभ्यः [illegible] ६१ सप्तनरकेभ्यः, ६२ कालाग्निरुद्रशेषेभ्यः, ६३ हरये क्रो[illegible] रूपिणे, ६४ सप्तलोकेभ्यः, ६५ पञ्चमहाभूतेभ्यः, ६६ तमसे [illegible] ६७ तमःप्रकृत्यै, ६८ रजसे, ६९ रजःप्रकृत्यै, ७० प्रकृतये, ७[illegible] पुरुषाय, ७२ अभिमानाय, ७३ अव्यक्तमूर्तये, ७४ हि[illegible] प्रमुखपर्वतेभ्यः, ७५ पुराणेभ्यः, ७६ गंगादिसप्तनदीभ्यः [illegible] ७७ सप्तमुनिभ्यः, ७८ पुष्करादितीर्थेभ्यः, ७९ वितस्ता[illegible] निम्नगाभ्यः, ८० चतुर्दशदीर्घाभ्यः, ८१ धारिणीभ्यः, ८[illegible] धात्रीभ्यः, ८३ विधात्रीभ्यः, ८४ छन्दोभ्यः, ८५ सुरभै [illegible] रावणाभ्याम्, ८६ उच्चैःश्रवसे, ८७ ध्रुवाय, ८८ धन्वन्तरये, ८[illegible] शस्त्रास्त्राभ्याम् ९० विनायककुमाराभ्याम्, ९१ विघ्नेभ्यः, [illegible] शाखाय, ९३ विशाखाय, ९४ नैगमेयाय, ९५ स्कन्दग्रहे[illegible] ९६ स्कन्दमातृभ्यः ज्वराय रोगपतये, ९७ भस्मप्रहरणा[illegible] ९८ श्वत्रिगुभ्यः, ९९ वालखिल्याय, १०० काश्यपाय, १[illegible] अगस्तये, १०२ नारदाय, १०३ व्यासादिभ्यः, १०४ अप्सरोभ्यः [illegible] १०५ सोमपदेवेभ्यः, १०६ असोमपदेवेभ्यः, १[illegible] तुषितेभ्यः, १०८ द्वादशादित्येभ्यः, १०९ सगणैकादश रुद्रेभ्यः, ११० दशपुण्येभ्यो विश्वेदेवेभ्यः, १११ अष्टवसु[illegible] ११२ योगिभ्यः, ११३ द्वादशभृगुभ्यः, ११४ द्वादशाङ्गिरोभ्यः ११५ तपस्विभ्यः, ११६ नासत्यदस्राभ्याम्, ११७ अश्विन्[illegible]

१. प्राप्ते नूतनवत्सरे प्रतिगृहं कुर्याद् ध्वजारोपणं
स्नानं मङ्गलमाचरेद् द्विजवरैः सार्कं सुपूजोत्सवैः।
देवानां गुरुयोषितां च विभवालंकारवस्त्रादिभिः
संपूज्या गणकः फलं च शृणुयात्तस्माच्च लाभप्रदम्॥
(उत्सवचन्द्रिका)

२. 'प्रतिपत्सम्मुखी कार्या या भवेदापराह्णिकी।'
(स्कन्दपुराण)

३. [illegible] यो वारोऽर्कोदये स वर्षेशः।
[illegible] पूर्वः स्यात्॥
(ज्योतिर्निबन्ध)

११८ द्वादशकर्मेभ्यः, ११९ द्वादशयोगेभ्यः, १२० एकोनविंशत्यादिनक्षत्रेभ्यः, १२१ त्रिंशत्तत्त्वेभ्यः विश्वकर्मणे, १२२ षट्पञ्चाशदेभ्योऽष्टचत्वारिंशत्, १२३ आयुधेभ्यः, १२४ वाहनेभ्यः, १२५ वर्णेभ्यः, १२६ आसनेभ्यः, १२७ दुर्गेभ्यः, १२८ देवेभ्यः, १२९ दैत्यराक्षसगन्धर्वपिशाचेभ्यः, १३० गणभेदेभ्यः १३१ पितृभ्यः, १३२ प्रेतेभ्यः, १३३ गुह्यकदेवेभ्यः, १३४ मानवभेदेभ्यः और १३५ बहुरूपाय विष्णवे परमात्मने नमः परमात्मविष्णुमावाहयामि स्थापयामि—इस प्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण देवताओंका पृथक्-पृथक् अथवा एकत्र यथाविधि पूजन करके 'भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षं क्षेममिहास्तु मे। संवत्सरोपसर्गा मे विलयं यान्त्वशेषतः॥' से प्रार्थना करे। और विविध प्रकारके उत्तम और सात्त्विक पदार्थोंसे ब्राह्मणोंको भोजन करानेके बाद एक बार स्वयं भोजन करे। पूजनके समय नवीन पञ्चाङ्गसे उस वर्षके राजा, मन्त्री, सेनाध्यक्ष, धनाधिप, धान्याधिप, दुर्गाधिप, संवत्सर-निवास और फलाधिप आदिके फल श्रवण करे। निवास-स्थानोंको ध्वजा, पताका, तोरण और बन्दनवार आदिसे सुशोभित करे। ब्रह्मदेव और देवीपूजाके स्थानमें सुपूजित घट स्थापन करे। पारिभद्रके कोमल पत्तों और पुष्पोंका चूर्ण करके उनमें काली मिरच, नमक, हींग, जीरा और अजमोद मिलाकर भक्षण करे। और सामर्थ्य हो तो 'प्रपा' (पौसरे)का स्थापन करे। निम्बपत्र भक्षण और प्रपाके प्रारम्भकी प्रार्थना टिप्पणीके मन्त्रोंसे करे। इस प्रकार करनेसे राजा, प्रजा और साम्राज्यमें वर्षपर्यन्त व्यापक शान्ति रहती है।

(३) तिलकव्रत (भविष्योत्तर)—यह व्रत चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको किया जाता है। इसके निमित्त नदी या तालाबके तटपर जाकर अथवा घरपर ही पटवासकके चूर्णसे संवत्सर-की मूर्ति लिखकर उसका 'संवत्सराय नमः', 'चैत्राय नमः', 'वसन्ताय नमः' आदि नाम मन्त्रोंसे पूजन करके विद्वान् ब्राह्मण-का अर्चन करे। उस समय ब्राह्मण 'संवत्सरोऽसि०' मन्त्र पढ़े। तब 'भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षं क्षेममिहास्तु मे। संवत्सरोप-सर्गा मे विलयं यान्त्वशेषतः॥' से प्रार्थना करे। और दक्षिणा दे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको वर्षभर करे तो भूत-प्रेत पिशाचादिकी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं।

(४) आरोग्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी इसी प्रतिपदाको किया जाता है। इसके निमित्त पहले दिन व्रत करके प्रतिपदाको एक चौकीपर अनेक प्रकारके कमल बिछाकर उनमें सूर्यका ध्यान करे। श्वेत वर्णके सुगन्धित गन्ध-पुष्पादि-से पूजन करे। दही, चीनी, घी, पूए, दूध, भात और फल आदि अर्पण करे। वह्नि और ब्राह्मणको तृप्त करे। फिर सम्पूर्ण सामग्रीका एक-एक ग्रास भक्षण करे और शेषको त्याग दे। उसके बाद ब्राह्मणकी आज्ञा हो तब फिर भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको वर्षपर्यन्त व्रत और शिव-दर्शन करे तो सदैव आरोग्य रह सकता है।

(५) विद्याव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा-को एक वेदीपर अक्षतोंका अष्टदल बनाकर उसके मध्यमें ब्रह्मा, पूर्वमें ऋक्, दक्षिणमें यजुः, पश्चिममें साम, उत्तरमें अथर्व, अग्निकोणमें षट्शास्त्र, नैर्ऋत्यमें धर्मशास्त्र, वायव्यमें पुराण और ईशानमें न्यायशास्त्रको स्थापन करे। और उन सबका नाम-मन्त्रसे आवाहनादि पूजन करके व्रत रक्खे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको १२ महीने करके गोदान करे और फिर उसी प्रकार १२ वर्षतक यथावत् करता रहे तो वह महाविद्वान् बन सकता है।

(६) नवरात्र (नानाशास्त्र-पुराणादि)—ये चैत्र, आषाढ, आश्विन और माघकी शुक्ल प्रतिपदासे नवमीतक नौ दिनके होते हैं; परन्तु प्रसिद्धिमें चैत्र और आश्विनके नवरात्र ही मुख्य माने जाते हैं। इनमें भी देवीभक्त आश्विन-के नवरात्र अधिक करते हैं। इनको यथाक्रम वासन्ती और शारदीय कहते हैं। इनका आरम्भ चैत्र और आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको होता है। अतः यह प्रतिपदा 'सम्मुखी' शुभ

---

१. संवत्सरभूपमन्त्रिणां रसधान्येश्वरमेघपातिनाम्।
श्रवणात् पठनाच्च वै नृणां शुभतां यात्यशुभं सदाक्रिया॥
(ज्योतिर्निबन्ध)

२. पारिभद्रस्य पत्राणि कोमलानि विशेषतः।
सपुष्पाणि समादाय चूर्णं कृत्वा विधानतः॥
मरिचं लवणं हिङ्गु जीरकेण च संयुतम्।
अजमोदयुतं कृत्वा भक्षयेद्रोगशान्तये॥
(पञ्चाङ्गपारिजात)

३. प्रपेयं सर्वसामान्या भूतेभ्यः प्रतिपादिता।
अस्याः प्रदानात् पितरस्तृप्यन्तु च पितामहाः॥
(दानचन्द्रिका)

४. संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसि अनुवत्सरोऽसि वत्सरोऽसि।'
(यजुर्वेद)

५. 'प्रतिपत्सम्मुखी कार्या या भवेदापराह्णिकी॥'
(स्कन्द)

का त्याग रक्खे। इस प्रकार नौ रात्रि व्यतीत होनेपर दसवें दिन प्रातःकालमें विसर्जन करे तो सब प्रकारके विपुल सुख-साधन सदैव प्रस्तुत रहते हैं। और भगवान् (या भगवती) होते हैं।

(७) पञ्चरात्र (भविष्यपुराण)—ये व्रत नवरात्रोंके ंत किये जाते हैं। विशेषता यह है कि इनमें पञ्चमीको क्त व्रत करे, षष्ठीको नक्तव्रत रक्खे, सप्तमीको अयाचित करे, अष्टमीको अन्नवर्जित उपवास रक्खे और नवमी-ारण करे तो इससे देवीकी प्रसन्नता बढ़ती है।

(८) बालेन्दुव्रत (विष्णुधर्म)—यह चैत्र शुक्ल याको किया जाता है। इस दिन सूर्यास्तके समय शुद्ध जल-ान करके चावलोंका बालेन्दुमण्डल बनाये अथवा चन्द्र-के समय उसीमें बालेन्दुमण्डलकी कल्पना करके आकाशस्थ माका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। ईख, गुड़, अक्षत, ी और सैन्धव अर्पण करे। और 'बालचन्द्रमसे नमः' मन्त्रसे आहुति देकर भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक प्रतिपदाको एक वर्षतक करनेसे सुख और भाग्यकी वृद्धि है। इसमें तैलपक्व पदार्थ खानेकी मनाही है।

(९) नेत्रव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी इसी ोयाको किया जाता है। इसके लिये सूर्य-चन्द्रस्वरूप अश्विनी-ारोंकी मूर्ति बनवाकर उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। ्चर्यसे रहे। ब्राह्मणोंको सोने-चाँदीकी दक्षिणा दे और गौके ोमें गौका घी मिलाकर भोजन करे। यह व्रत १२ वर्षतक या जाता है और इसके करनेसे नेत्रोंकी ज्योति और मुख-डलकी आभा बढ़ती है।

(१०) दोलनोत्सव (व्रतरत्न)—चैत्र शुक्ल तृतीयाको तःकालके समय जानकीनाथ रामचन्द्र भगवान्का राजोपचार ्जन करके उनको पालनेमें विराजमान कर झुलाये और इसी ार गुरीश्वर और रमापतिको दोलारूढ़ करके उनके दर्शन रे तो सर्व पाप दूर होते हैं।

(११) गौरीतृतीया (मनोत्सवसंग्रह)—यह भी इसी दन (चैत्र शुक्ल तृतीयाको) किया जाता है। सौभाग्यवती ्त्रियाँ उस दिन प्रातःस्नान करके उत्तम रंगीन वस्त्र (लाल ोती आदि) धारण करके शुद्ध स्थानमें २४ अङ्गुलकी सम-ौरस वेदी बनावें और उसपर केसर, चन्दन और कपूरसे ण्डल बनाकर उसमें सोने या चाँदीकी मूर्ति स्थापन करके ्नेक प्रकारके फल, पुष्प, दूर्वा और गन्धादिसे पूजन करे। उसी जगह गौरी, उमा, लतिका, सुभगा, भगमालिनी, मनोन्मना, भवानी, कामदा, भोगवर्द्धिनी और अम्बिका—इनको भी गन्ध-पुष्पादिसे चर्चित और सुशोभित करें। और भोजनमें केवल एक बार दूध पियें तो पति-पुत्रादिका अखण्ड सुख प्राप्त होता है।

(१२) ईश्वर-गौरी (व्रतोत्सव)—इसी दिन (चैत्र शुक्ल तृतीयाको) काष्ठादिकी पूर्वनिर्मित शिव-गौरीकी मूर्तियोंको स्नान करवाके उत्तम प्रकारके वस्त्र और आभूषणादिसे भूषित कर पूजन करे और डोल, पालने या सिंहासनादिमें उनको सावधानीके साथ विराजमान करके सायङ्कालके समय विविध प्रकारके गाजे-बाजे, लवाजमे, सौभाग्यवती स्त्रियों और सत्पुरुषोंके समारोहके साथ उनको नगरसे बाहर किसी पुष्पोद्यान या सरोवरके तटपर स्थापित करे और वहाँ कुछ कालतक क्रीड़ा-कौतुकादिकी कला प्रदर्शन करानेके पीछे उनको उसी प्रकार वापस लाकर यथास्थान स्थापित कर दे। इस प्रकार प्रतिवर्ष करते रहनेसे नगर, ग्राम और उपवस्ती आदिमें सर्वत्र ही उद्योग, उत्साह, आरोग्यता और सर्वसौख्य बढ़ते हैं।

(१३) गौरीविसर्जन (व्रतोत्सव)—यह भी चैत्र शुक्ल तृतीयाको होता है। होलीके दूसरे दिन (चैत्र कृष्ण प्रतिपदा-) से जो कुमारी और विवाहिता बालिकाएँ प्रतिदिन गनगौर पूजती हैं, वे चैत्र शुक्ल द्वितीया (सिंजारे) के दिन किसी नद, नदी, तालाब या सरोवरपर जाकर अपनी पूजी हुई गनगौरों-को पानी पिलाती हैं और दूसरे दिन सायङ्कालके समय उनका विसर्जन कर देती हैं। यह व्रत विवाहिता लड़कियोंके लिये पतिका अनुराग उत्पन्न करानेवाला और कुमारिकाओंको उत्तम पति देनेवाला है।

(१४) श्रीव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल पञ्चमी-को किया जाता है। इसलिये तृतीयाको अभ्यङ्ग स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण करे। माला आदि भी मोल ले और अपने मङ्गल रहे। घी, दही और भातका भोजन करे। चतुर्थीको स्नान करके व्रत रक्खे और पञ्चमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् लक्ष्मीका पूजन करे। पूजनमें धान्य, हल्दी, अदरख, गन्ने, गुड़ और लवण आदि अर्पण करके कमलके पुष्पोंसे लक्ष्मी-सूक्तसे हवन करे। यदि कमल न मिले तो बेलके टुकड़ोंसे, और वे भी न हों तो केवल घीका हवन करे। और [illegible] ([illegible]) से ध्यान करके सुवर्णका दान करे तो 'श्री' (लक्ष्मी) की प्राप्ति होती है।

अनिष्ट फल होता है और किसी निमित्त या कामनासे किया जाय तो उसका यथेष्ट फल मिलता है। भगवान् रामचन्द्रका जन्म हुआ, उस समय चैत्र शुक्ल नवमी, गुरुवार, पुष्य (या दूसरे मतसे पुनर्वसु), मध्याह्न और कर्क लग्न था। उत्सवके दिन ये सब तो सदैव आ नहीं सकते, परन्तु जन्मर्क्ष कई बार आ जाता है; अतः वह हो तो उसे अवश्य लेना चाहिये।......जो मनुष्य रामनवमीका भक्ति और विश्वासके साथ व्रत करते हैं, उनको महाफल मिलता है।......व्रतीको चाहिये कि व्रतके पहले दिन (चैत्र शुक्ल अष्टमीको) प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर भगवान् रामचन्द्रका स्मरण करे। दूसरे दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) नित्यकृत्यसे अति शीघ्र निवृत्त होकर 'उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव। तेन प्रीतो भव त्वं भो संसारात् त्राहि मां हरे॥' इस मन्त्रसे भगवान्‌के प्रति व्रत करनेकी भावना प्रकट करे। और 'मम भगवत्प्रीतिकामनया (वा मुक्तफलप्राप्तिकामनया) रामजयन्तीव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके काम-क्रोध-लोभ-मोहादिसे वर्जित होकर व्रत करे।...तत्पश्चात् मन्दिर अथवा अपने मकानको ध्वजा-पताका, तोरण और बंदनवार आदिसे सुशोभित करके उसके उत्तर भागमें रंगीन कपड़ेका मण्डप बनाये और उसके अंदर सर्वतोभद्रमण्डलकी रचना करके उसके मध्यभागमें यथाविधि कलश स्थापन करे। कलशके ऊपर रामपञ्चायतन (जिसके मध्यमें राम-सीता, दोनों पार्श्वोंमें भरत और शत्रुघ्न, पृष्ठ-प्रदेशमें लक्ष्मण और पादतलमें हनुमान्‌जी) की सुवर्ण-निर्मित मूर्ति स्थापन करके उसका आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। व्रतराज, व्रतार्क, जयसिंहकल्पद्रुम और विष्णु-पूजन आदिमें वैदिक और पौराणिक दोनों प्रकारकी पूजन-विधि है। उसके अनुसार पूजन करे।...उस दिन दिनभर भगवान्‌का भजन-स्मरण, स्तोत्रपाठ, दान-पुण्य, हवन, पितृश्राद्ध और उत्सव करे और रात्रिमें उत्तम प्रकारके गायन-वादन-नर्तन (रामलीला) और चरित्र-श्रवणादिके द्वारा जागरण करे और दूसरे दिन (दशमीको) पारण करके व्रतका विसर्जन करे। सामर्थ्य हो तो सुवर्णकी मूर्तिका दान और ब्राह्मण-भोजन कराये और इस प्रकार प्रतिवर्ष करता रहे।

(२४) मातृकाव्रत (विष्णुधर्म)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) होता है। इसमें भैरव और चौसठ योगिनियोंका सफेद रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन किया जाता है।

(२५) शुक्लैकादशी (नानापुराणस्मृति)—इसको चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन पूर्वोक्त प्रकारसे करना चाहिये। व्रतके पहले दिन (दशमीके मध्याह्नमें) जौ, गेहूँ और मूँग आदिका एक बार भोजन करके भगवान्‌का स्मरण करे। दूसरे दिन (एकादशीको) प्रातःस्नानादि करके 'ममाखिलपापक्षयपूर्वकपरमेश्वरप्रीतिकामनया कामदैकादशीव्रतं करिष्ये' यह संकल्प करके रात्रिके समय भगवान्‌को दोलारूढ करे और उनके सम्मुख जागरण करे। फिर दूसरे दिन पारण करे तो सब प्रकारके पाप दूर होते हैं।......इसका कथासार यह है कि प्राचीन कालमें सुवर्ण और रत्नोंसे सुशोभित भोगिपुर नगरके पुण्डरीक राजाके ललित और ललिता नामके गन्धर्व-गन्धर्विणी गायन-विद्यामें बड़े प्रवीण थे। एक दिन राजाके बुलानेपर ललित कार्यवश नहीं आया, तब राजाने उसको राक्षस बना दिया। इसपर ललिता बहुत दुखी हुई और शृङ्गीऋषिकी आज्ञासे उसने कामदाका व्रत करके पतिको पूर्वरूपमें प्राप्त किया।

(२६) मदनद्वादशी (मत्स्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल द्वादशीको किया जाता है। उस दिन गुड़के जलसे स्नान करके एक वेदीपर चावलोंसे भरा हुआ कलश स्थापन करे। और उसके ऊपर ताँबेके पात्रमें गुड़ और सुवर्णकी मूर्ति रखकर उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। साथ ही अनेक प्रकारके फल, पुष्प, ईख और नैवेद्य अर्पण करे और उनमेंसे एक फल लेकर उसको भक्षण करे। इस प्रकार १३ महीने करे तो उसको पुत्र-शोक नहीं होता।

(२७) मदनपूजा (धर्मशास्त्रसमुच्चय)—यह व्रत चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको किया जाता है। उस दिन स्नान करके उत्तम कपड़ेपर मदनदेवकी मनोमोहक मूर्ति अङ्कित करे

---

१. 'श्रीरामश्चैत्रमासे दिनदलसमये पुष्यभे कर्कलग्ने
जीवेन्दोः कीटराशौ मृगभगनकुजे द्वे झषे मेषगेऽर्के।
मन्दे जूकेऽङ्गनायां तमसि शफरिगे भार्गवे नवम्यां
पक्षोऽच्चे चावतीर्णो दशरथतनयः प्रादुरासीत् स्वयम्भूः॥'
(रामचन्द्रजन्मपत्री)

२. चैत्रे मासि नवम्यां तु शुक्लपक्षे रघूत्तमः।
प्रादुरासीत् पुरा ब्रह्मन् परब्रह्मैव केवलम्॥
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यमुपवासव्रतं सदा।
तत्र जागरणं कुर्याद्रघुनाथपरो भुवि॥
उपोषणं जागरणं पितॄनुद्दिश्य तर्पणम्।
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यं ब्रह्मप्राप्तिमभीप्सुभिः॥
(रामार्चनचन्द्रिका)

(१५) लक्ष्मीव्रत (भविष्योत्तर)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल पञ्चमीको) किया जाता है। इसमें लक्ष्मीका पूजन और व्रत करके सुवर्णके बने हुए कमलका दान करे तो सब प्रकारके दुःख दूर होते हैं।

(१६) सौभाग्य-व्रत (भविष्योत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल पञ्चमीको होता है। इसमें पृथ्वीका, पञ्चमीका और चन्द्रमाका गन्धादिसे पूजन करके एक बार भोजन करे तो आयु और ऐश्वर्य दोनों बढ़ते हैं।

(१७) कुमारव्रत (कालोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल षष्ठीको किया जाता है। उस दिन मयूरपर बैठे हुए स्वामिकार्तिककी सुवर्णके समान मूर्ति बनवाकर उसका पूजन करे। आचार्यको वस्त्र और सुवर्ण दे। उपवास रक्खे और सद्वैद्यकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मीका रस और घी पिये। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पञ्चमीको एक वर्षपर्यन्त करनेसे महाबुद्धिमान् होता है। शास्त्रोंका आशय सहज ही समझमें आ सकता है। और शास्त्रार्थमें स्फुरणाशक्तिका भलीभाँति विकास होता है।

(१८) मोदनव्रत (हेमाद्रि)—यह चैत्र शुक्ल सप्तमीको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानादि करके सूर्यनारायणका पूजन करे। ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराये और आप भी एक बार उसीका भोजन करे।

(१९) नामसप्तमी (भविष्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमीसे वर्षपर्यन्त होता है। और चैत्रादि १२ महीनोंमें सूर्यके १२ नामोंसे यथाक्रम पूजन किया जाता है। यथा—१ चैत्रमें धाता, २ वैशाखमें अर्यमा, ३ ज्येष्ठमें मित्र, ४ आषाढ़में वरुण, ५ श्रावणमें इन्द्र, ६ भाद्रपदमें विवस्वान्, ७ आश्विनमें पर्जन्य, ८ कार्तिकमें पूषा, ९ मार्गशीर्षमें अंशुमान्, १० पौषमें भग, ११ माघमें त्वष्टा और १२ फाल्गुनमें जिष्णु नामसे यथाविधि पूजन करके एकभुक्त व्रत करे तो आयु, आरोग्यता और ऐश्वर्यकी अपूर्व वृद्धि होती है।

(२०) सूर्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल सप्तमीको ही होता है। इसके लिये एकान्तके मकानको लीपकर या धोकर स्वच्छ करे और उसके मध्यमें वेदी बनाकर उसपर अष्टदल कमल लिखे। और कमलके प्रत्येक दलमें निम्नलिखित मूर्ति स्थापित करे। यथा पूर्वके दलपर दो ऋतुधारक 'गन्धर्व'... र पत्रपर दो ऋतुकारक 'गन्धर्व', दक्षिण दलपर दो 'अप्सराएँ', नैर्ऋत्यके दलपर दो 'राक्षस', ... दलपर ऋतुधारक दो 'महानाग', वायव्यके दल... 'यातुधान', उत्तरके दलपर दो 'ऋषि' और ईशानके ... एक 'ग्रह' स्थापन करके उन सबका यथाक्रम पृथक् गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पञ्चोपचार पूजन ... सूर्यके निमित्त घीकी १०८ आहुतियाँ दे और अन्य ... निमित्त आठ-आठ आहुतियाँ दे। और प्रत्येकके लिये एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराये। इस प्रकार शुक्ल पक्षमें प्रत्येक सप्तमीको एक वर्षतक करे तो उसको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(२१) अशोककलिकाप्राशनव्रत (कृत्यकल्पतरु, कूर्मपुराण)—यह चैत्र शुक्ल अष्टमीको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर अशोक (आसापाल) के वृक्षका पूजन करके उसके पुष्प अथवा कोमल पत्तोंकी आठ कलिकाएँ लेकर उनसे शिवजीका पूजन करे और 'त्वामशोक नमाम्येनं मधुमाससमुद्भवम्। शोकार्तः कलिकां प्राश्य मामशोकं सदा कुरु ॥' से आठ कलिकाएँ भक्षण करे ... व्रत करे तो वह शोकरहित रहता है। यदि उस दिन बुधवार हो या पुनर्वसु हो या दोनों हों तो व्रतीको किसी प्रकारका शोक नहीं होता।

(२२) भवानीव्रत (भविष्यपुराण)—चैत्र शुक्ल अष्टमीको भवानीका प्रादुर्भाव हुआ था, अतः उस दिन देवीका पूजन करके अपूप आदिका भोग लगाये और व्रत करे।

(२३) रामनवमी (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतकी चार जयन्तियोंमें गणना है। यह चैत्र शुक्ल नवमीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी शुद्धा तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहला व्रत करना चाहिये। इसमें अष्टमीका वेध हो तो निषेध नहीं, दशमीका वेध वर्जित है।[1] ····· यह व्रत नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारका है।[2] नित्य होनेसे इसे निष्काम भावना रखकर आजीवन किया जाय तो उसका अनन्त और ...

---

१. अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिभिः।
न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन॥ (दीपिका)

२. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं वेति विचार्यते।
निष्कामानां विधानात्तु तत् काम्यं तावदिष्यते॥ (रामार्चन)

मिट फल होता है और किसी निमित्त या कामनासे किया जाय तो उसका यथेच्छ फल मिलता है। भगवान् रामचन्द्र-का जन्म[1] हुआ, उस समय चैत्र शुक्ल नवमी, गुरुवार, पुष्य (या दूसरे मतसे पुनर्वसु), मध्याह्न और कर्क लग्न था। उत्सवके दिन ये सब तो सदैव आ नहीं सकते, परन्तु जन्मर्क्ष कई बार आ जाता है; अतः वह हो तो उसे अवश्य लेना चाहिये।'''''जो मनुष्य रामनवमीका भक्ति और विश्वासके साथ व्रत करते हैं, उनको महा-फल मिलता है।'''''व्रतीको चाहिये कि व्रतके पहले दिन (चैत्र शुक्ल अष्टमीको) प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर भगवान् रामचन्द्रका स्मरण करे। दूसरे दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) नित्यकृत्यसे अति शीघ्र निवृत्त होकर 'उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव। तेन प्रीतो भव त्वं भो संसारात् त्राहि मा हरे॥' इस मन्त्रसे भगवान्‌के प्रति व्रत करनेकी भावना प्रकट करे। और 'मम भगवत्प्रीतिकामनया (वा मुक्तफलप्राप्तिकामनया) रामजयन्तीव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके काम-क्रोध-लोभ-मोहादिसे वर्जित होकर व्रत करे।''तत्पश्चात् मन्दिर अथवा अपने मकानको ध्वजा-पताका, तोरण और बंदनवार आदिसे सुशोभित करके उसके उत्तर भागमें रंगीन कपड़ेका मण्डप बनाये और उसके अंदर सर्वतोभद्रमण्डलकी रचना करके उसके मध्यभागमें यथाविधि कलश स्थापन करे। कलशके ऊपर रामपञ्चायतन (जिसके मध्यमें राम-सीता, दोनों पार्श्वोंमें भरत और शत्रुघ्न, पृष्ठ प्रदेशमें लक्ष्मण और पादतलमें हनुमान्‌जी) की सुवर्ण-निर्मित मूर्ति स्थापन करके उसका आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। व्रतराज, व्रतार्क, जयसिंहकल्पद्रुम और विष्णु-पूजन आदिमें वैदिक और पौराणिक दोनों प्रकारकी पूजन-विधि है। उसके अनुसार पूजन करे।''उस दिन दिनभर भगवान्‌का भजन-स्मरण, स्तोत्रपाठ, दान-पुण्य, हवन, पितृश्राद्ध और उत्सव करे और रात्रिमें उत्तम प्रकारके गायन-वादन-नर्तन (रामलीला) और चरित्र-श्रवणादिके द्वारा जागरण[2] करे और दूसरे दिन (दशमीको) पारण करके व्रतका विसर्जन करे। सामर्थ्य हो तो सुवर्णकी मूर्तिका दान और ब्राह्मण-भोजन कराये और इस प्रकार प्रतिवर्ष करता रहे।

(२४) मातृकाव्रत (विष्णुधर्म)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) होता है। इसमें भैरव और चौसठ योगिनियोंका सफेद रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन किया जाता है।

(२५) शुक्लैकादशी (नानापुराणस्मृति)—इसको चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन पूर्वोक्त प्रकारसे करना चाहिये। व्रतके पहले दिन (दशमीके मध्याह्नमें) जौ, गेहूँ और मूँग आदिका एक बार भोजन करके भगवान्‌का स्मरण करे। दूसरे दिन (एकादशीको) प्रातःस्नानादि करके 'ममाखिल-पापक्षयपूर्वकपरमेश्वरप्रीतिकामनया कामदैकादशीव्रतं करिष्ये' यह संकल्प करके रात्रिके समय भगवान्‌को दोलारूढ करे और उनके सम्मुख जागरण करे। फिर दूसरे दिन पारण करे तो सब प्रकारके पाप दूर होते हैं।''''''इसका कथा-सार यह है कि प्राचीन कालमें सुवर्ण और रत्नोंसे सुशोभित भोगिपुर नगरके पुण्डरीक राजाके ललित और ललिता नामके गन्धर्व-गन्धर्विणी गायन विद्यामें बड़े प्रवीण थे। एक दिन राजाके बुलानेपर ललित कार्यवश नहीं आया, तब राजाने उसको राक्षस बना दिया। इसपर ललिता बहुत दुखी हुई और *शृङ्गऋषि*की आज्ञासे उसने कामदाका व्रत करके पतिको *पूर्वरूपमें प्राप्त किया*।

(२६) मदनद्वादशी (मत्स्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल द्वादशीको किया जाता है। उस दिन गुड़के जलसे स्नान करके एक वेदीपर चावलोंसे भरा हुआ कलश स्थापन करे। और उसके ऊपर ताँबेके पात्रमें गुड़ और सुवर्णकी मूर्ति रखकर उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। साथ ही अनेक प्रकारके फल, पुष्प, ईख और नैवेद्य अर्पण करे और उनमेंसे एक फल लेकर उसको भक्षण करे। इस प्रकार १२ महीने करे तो उसके पुत्र शोक नहीं होता।

(२७) मदनपूजा (धर्मशास्त्रमनुधर)—यह व्रत चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको किया जाता है। उस दिन स्नान करके उत्तम काष्ठपर मदनदेवकी मनोहर मूर्ति अङ्कित करे

---

1. 'श्रीरामश्चैत्रमासे दिनदलसमये पुष्यभे कर्कलग्ने जीवेन्द्वोः कीटराशौ मृगभगनकुजे द्वे झषे मेषगेऽर्के। मन्दे जूकेऽङ्गनायां तमसि शफरिणे भार्गवे नवम्यां पक्षे चावतीर्णो दशरथतनयः प्रादुरासीत् स्वयम्भूः॥' (रामचन्द्रजन्मपत्री)

2. चैत्रे मासि नवम्यां तु शुक्लपक्षे रघूत्तमः।
प्रादुरासीत् पुरा ब्रह्मन् परब्रह्मैव केवलम्॥
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यमुपवासव्रतं सदा।
तत्र जागरणं कुर्याद्रघुनाथपरो भुवि॥
उपोषणं जागरणं पितृनुद्दिश्य तर्पणम्।
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यं ब्रह्मप्राप्तिमभीप्सुभिः॥
(रामार्चनचन्द्रिका)

(१५) लक्ष्मीव्रत (भविष्योत्तर)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल पञ्चमीको) किया जाता है। इसमें लक्ष्मीका पूजन और व्रत करके सुवर्णके बने हुए कमलका दान करे तो सब प्रकारके दुःख दूर होते हैं।

(१६) सौभाग्य-व्रत (भविष्योत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल पञ्चमीको होता है। इसमें पृथ्वीका, पञ्चमीका और चन्द्रमाका गन्धादिसे पूजन करके एक बार भोजन करे तो आयु और ऐश्वर्य दोनों बढ़ते हैं।

(१७) कुमारव्रत (कालोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल षष्ठीको किया जाता है। उस दिन मयूरपर बैठे हुए स्वामिकार्तिककी सुवर्णके समान मूर्ति बनवाकर उसका पूजन करे। आचार्यको वस्त्र और सुवर्ण दे। उपवास रक्खे और सद्वैद्यकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मीका रस और घी पिये। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पञ्चमीको एक वर्षपर्यन्त करनेसे महाबुद्धिमान् होता है। शास्त्रोंका आशय सहज ही समझमे आ सकता है। और शास्त्रार्थमें स्फुरणाशक्तिका भलीभाँति विकास होता है।

(१८) मोदनव्रत (हेमाद्रि)—यह चैत्र शुक्ल सप्तमीको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानादि करके सूर्य-नारायणका पूजन करे। ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराये और आप भी एक बार उसीका भोजन करे।

(१९) नामसप्तमी (भविष्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमीसे वर्षपर्यन्त होता है। और चैत्रादि १२ महीनोंमें सूर्यके १२ नामोंसे यथाक्रम पूजन किया जाता है। यथा—१ चैत्रमें धाता, २ वैशाखमें अर्यमा, ३ ज्येष्ठमें मित्र, ४ आषाढ़में वरुण, ५ श्रावणमें इन्द्र, ६ भाद्रपदमें विवस्वान्, ७ आश्विनमें पर्जन्य, ८ कार्तिकमें पूषा, ९ मार्गशीर्षमें अंशुमान्, १० पौषमें भग, ११ माघमें त्वष्टा और १२ फाल्गुनमें जिष्णु नामसे यथाविधि पूजन करके एकभुक्त व्रत करे तो आयु, आरोग्यता और ऐश्वर्यकी अपूर्व वृद्धि होती है।

(२०) सूर्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल सप्तमीको ही होता है। इसके लिये एकान्तके मकानको लीपकर या पोतकर स्वच्छ करे और उसके मध्यमें वेदी बनाकर उसपर अष्टदल कमल लिखे। और कमलके प्रत्येक दलमें निम्नलिखित मूर्ति स्थापित करे। यथा पूर्वके दलपर दो ऋतु- [illegible] दलपर दो ऋतुकारक गन्धर्व, दक्षिण दलपर दो 'अप्सराएँ', नैर्ऋत्यके दलपर दो दलपर ऋतुकारक दो 'महानाग', वाय 'यातुधान', उत्तरके दलपर दो 'ऋषि' और एक 'ग्रह' स्थापन करके उन सबका यथाक्रम गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पञ्चोपचार सूर्यके निमित्त घीकी १०८ आहुतियाँ दे और निमित्त आठ-आठ आहुतियाँ दे। और प्रत्ये एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराये। इस प्रकार प्रत्येक सप्तमीको एक वर्षतक करे तो उसकी सूर्यले होती है।

(२१) अशोककलिकाप्राशनव्रत ([illegible] कूर्मपुराण)—यह चैत्र शुक्ल अष्टमीको किया जाता है दिन प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर अशोक (आठ के वृक्षका पूजन करके उसके पुष्प अथवा कोमल आठ कलिकाएँ लेकर उनसे शिवजीका पूजन करे 'त्वामशोक नमाम्येनं मधुमाससमुद्भवम्। शोकार्तः प्राश्य मामशोकं सदा कुरु ॥' से आठ कलिकाएँ भक्षण व्रत करे तो वह शोकरहित रहता है। यदि उस दिन [illegible] हो या पुनर्वसु हो या दोनों हों तो व्रतीको किसी प्रकार शोक नहीं होता।

(२२) भवानीव्रत (भविष्यपुराण)—चैत्र शुक्ल अष्टमी को भवानीका प्रादुर्भाव हुआ था, अतः उस दिन [illegible] पूजन करके अपूप आदिका भोग लगाये और व्रत करे।

(२३) रामनवमी (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतकी [illegible] जयन्तियोंमें गणना है। यह चैत्र शुक्ल नवमीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी शुद्धा तिथि ली जाती है। यदि दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहला व्रत करना चाहिये। इसमें अष्टमीका वेध हो तो [illegible] नहीं, दशमीका वेध वर्जित है।[1] …… यह व्रत नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारका है। नित्य होनेसे इसे निष्काम भावना रखकर आजीवन किया जाय तो उसका अनन्त [illegible]

---

१. अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिभिः।
न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन॥ ([illegible]

२. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं [illegible]।
[illegible] ([illegible]

अर्थात् व्रत होता है और किसी निमित्त या कामनासे किया जाय तो उसका यथेच्छ फल मिलता है। भगवान् रामचन्द्र-का जन्म हुआ, उस समय चैत्र शुक्ल नवमी, गुरुवार, पुष्य (या दूसरे मतसे पुनर्वसु), मध्याह्न और कर्क लग्न था। उत्सवके दिन ये सब तो सदैव आ नहीं सकते, परन्तु जन्मर्क्ष कई बार आ जाता है; अतः वह हो तो उसे अवश्य लेना चाहिये।......जो मनुष्य रामनवमीका भक्ति और विश्वासके साथ व्रत करते हैं, उनको महा-फल मिलता है।......व्रतीको चाहिये कि व्रतके पहले दिन (चैत्र शुक्ल अष्टमीको) प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर भगवान् रामचन्द्रका स्मरण करे। दूसरे दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) नित्यकृत्यसे अति शीघ्र निवृत्त होकर 'उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव। तेन प्रीतो भव त्वं भो संसारात् त्राहि मां हरे॥' इस मन्त्रसे भगवान्के प्रति व्रत करनेकी भावना प्रकट करे। और 'मम भगवत्प्रीतिकामनया (वा-मुकफलप्राप्तिकामनया) रामजयन्तीव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके काम-क्रोध-लोभ-मोहादिसे वर्जित होकर व्रत करे।...तत्पश्चात् मन्दिर अथवा अपने मकानको ध्वजा-पताका, तोरण और बंदनवार आदिसे सुशोभित करके उसके उत्तर भागमें रंगीन कपड़ेका मण्डप बनाये और उसके अंदर सर्वतोभद्रमण्डलकी रचना करके उसके मध्यभागमें यथाविधि कलश स्थापन करे। कलशके ऊपर रामपञ्चायतन (जिसके मध्यमें राम-सीता, दोनों पार्श्वोंमें भरत और शत्रुघ्न, पृष्ठ-प्रदेशमें लक्ष्मण और पादतलमें हनुमान्‌जी) की सुवर्ण-निर्मित मूर्ति स्थापन करके उसका आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। व्रतराज, व्रतार्क, जयसिंहकल्पद्रुम और विष्णु-पूजन आदिमें वैदिक और पौराणिक दोनों प्रकारकी पूजन-विधि है। उसके अनुसार पूजन करे।...उसे दिन दिनभर भगवान्का भजन-स्मरण, स्तोत्रपाठ, दान-पुण्य, हवन, पितृश्राद्ध और उत्सव करे और रात्रिमें उत्तम प्रकारके गायन-वादन-नर्तन (रामलीला) और चरित्र-श्रवणादिके द्वारा जागरण करे और दूसरे दिन (दशमीको) पारण करके व्रतका विसर्जन करे। सामर्थ्य हो तो सुवर्णकी मूर्तिका दान और ब्राह्मण-भोजन कराये और इस प्रकार प्रतिवर्ष करता रहे।

१. 'श्रीरामश्चैत्रमासे दिनदलसमये पुष्यभे कर्कलग्ने
जीवेन्दोः कीटराशौ मृगभगनकुजे खे झषे मेषगेऽर्के।
मन्दे जूकेऽङ्गनायां तमसि शफरिगे भार्गवेये नवम्यां
पक्षोच्चे चावतीर्णो दशरथतनयः प्रादुरासीत् स्वयम्भूः॥'
(रामचन्द्रजन्मपत्री)

२. चैत्रे मासि नवम्यां तु शुक्लपक्षे रघूत्तमः।
प्रादुरासीत् पुरा ब्रह्मन् परब्रह्मैव केवलम्॥
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यमुपवासव्रतं सदा।
तत्र जागरणं कुर्याद्रघुनाथपरो भुवि॥
उपोषणं जागरणं पितॄनुद्दिश्य तर्पणम्।
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यं ब्रह्मप्राप्तिमभीप्सुभिः॥
(रामार्चनचन्द्रिका)

(२४) मातृकाव्रत (विष्णुधर्म)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) होता है। इसमें भैरव और चौंसठ योगिनियोंका सफेद रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन किया जाता है।

(२५) शुक्लकादशी (नानापुराणस्मृति)—इसको चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन पूर्वोक्त प्रकारसे करना चाहिये। व्रतके पहले दिन (दशमीके मध्याह्नमें) जौ, गेहूँ और मूँग आदिका एक बार भोजन करके भगवान्का स्मरण करे। दूसरे दिन (एकादशीको) प्रातःस्नानादि करके 'ममाखिल-पापक्षयपूर्वकपरमेश्वरप्रीतिकामनया कामदैकादशीव्रतं करिष्ये' यह संकल्प करके रात्रिके समय भगवान्को दोलारूढ करे और उनके सम्मुख जागरण करे। फिर दूसरे दिन पारण करे तो सब प्रकारके पाप दूर होते हैं।......इसका कथा-सार यह है कि प्राचीन कालमें सुवर्ण और रत्नोंसे सुशोभित भोगिपुर नगरके पुण्डरीक राजाके ललित और ललिता नामके गन्धर्व-गन्धर्विणी गायन विद्यामें बड़े प्रवीण थे। एक दिन राजाके बुलानेपर ललित कार्यवश नहीं आया, तब राजाने उसको राक्षस बना दिया। इसपर ललिता बहुत दुखी हुई और श्रृष्यशृङ्गकी आज्ञासे उसने कामदाका व्रत करके पतिको पूर्वरूपमें प्राप्त किया।

(२६) मदनद्वादशी (मत्स्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल द्वादशीको किया जाता है। उस दिन गुड़के जलसे स्नान करके एक वेदीपर चावलोंसे भरा हुआ कलश स्थापन करे। और उसके ऊपर ताँबेके पात्रमें गुड़ और सुवर्णकी मूर्ति रखकर उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। साथ ही अनेक प्रकारके फल, पुष्प, ईख और नैवेद्य अर्पण करे और उनमेंसे एक फल लेकर उसको भक्षण करे। इस प्रकार १३ महीने करे तो उसको पुत्र-शोक नहीं होता।

(२७) मदनपूजा (धर्मशास्त्रसमुच्चय)—यह व्रत चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको किया जाता है। उस दिन स्नान करके उत्तम कपड़ेपर मदनदेवकी मनोमोहक मूर्ति अङ्कित करे

(१५) **लक्ष्मीव्रत** (भविष्योत्तर)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल पञ्चमीको) किया जाता है। इसमें लक्ष्मीका पूजन और व्रत करके सुवर्णके बने हुए कमलका दान करे तो सब प्रकारके दुःख दूर होते हैं।

(१६) **सौभाग्य-व्रत** (भविष्योत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल पञ्चमीको होता है। इसमें पृथ्वीका, पञ्चमीका और चन्द्रमाका गन्धादिसे पूजन करके एक बार भोजन करे तो आयु और ऐश्वर्य दोनों बढ़ते हैं।

(१७) **कुमारव्रत** (कालोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल षष्ठीको किया जाता है। उस दिन मयूरपर बैठे हुए स्वामिकार्तिककी सुवर्णके समान मूर्ति बनवाकर उसका पूजन करे। आचार्यको वस्त्र और सुवर्ण दे। उपवास रक्खे और सद्वैद्यकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मीका रस और घी पिये। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पञ्चमीको एक वर्षपर्यन्त करनेसे महाबुद्धिमान् होता है। शास्त्रोंका आशय सहज ही समझमें आ सकता है। और शास्त्रार्थमें स्फुरणाशक्तिका भलीभाँति विकास होता है।

(१८) **मोदनव्रत** (हेमाद्रि)—यह चैत्र शुक्ल सप्तमीको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानादि करके सूर्यनारायणका पूजन करे। ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराये और आप भी एक बार उसीका भोजन करे।

(१९) **नामसप्तमी** (भविष्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमीसे वर्षपर्यन्त होता है। और चैत्रादि १२ महीनोंमें सूर्यके १२ नामोंसे यथाक्रम पूजन किया जाता है। यथा—१ चैत्रमें धाता, २ वैशाखमें अर्यमा, ३ ज्येष्ठमें मित्र, ४ आषाढमें वरुण, ५ श्रावणमें इन्द्र, ६ भाद्रपदमें विवस्वान्, ७ आश्विनमें पर्जन्य, ८ कार्तिकमें पूषा, ९ मार्गशीर्षमें अंशुमान्, १० पौषमें भग, ११ माघमें त्वष्टा और १२ फाल्गुनमें जिष्णु नामसे यथाविधि पूजन करके एकभुक्त व्रत करे तो आयु, आरोग्यता और ऐश्वर्यकी अपूर्व वृद्धि होती है।

(२०) **सूर्यव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल सप्तमीको ही होता है। इसके लिये एकान्तके मकानको लीपकर या धोकर स्वच्छ करे और उसके मध्यमें वेदी बनाकर उसपर अष्टदल कमल लिखे। और कमलके प्रत्येक दलमें निम्नलिखित मूर्ति स्थापित करे। यथा पूर्वके दलपर दो ऋतु-धारक [illegible], अग्निकोणके दलपर दो ऋतुधारक 'गन्धर्व', दक्षिण दलपर दो 'अप्सराएँ', नैर्ऋत्यके दलपर दो 'राक्षस', पश्चिमके दलपर ऋतुधारक दो 'महानाग', वायव्यके दलपर दो 'यातुधान', उत्तरके दलपर दो 'ऋषि' और ईशानके दलपर एक 'ग्रह' स्थापन करके उन सबका यथाक्रम पृथक्-पृथक् गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पञ्चोपचार पूजन करे। सूर्यके निमित्त घीकी १०८ आहुतियाँ दे और अन्य सबके निमित्त आठ-आठ आहुतियाँ दे। और प्रत्येकके निमित्त एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराये। इस प्रकार शुक्ल पक्षकी प्रत्येक सप्तमीको एक वर्षतक करे तो उसको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(२१) **अशोककलिकाप्राशनव्रत** (कृत्यरत्नाकर, कूर्मपुराण)—यह चैत्र शुक्ल अष्टमीको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर अशोक (आसोपालव) के वृक्षका पूजन करके उसके पुष्प अथवा कोमल पत्तोंकी आठ कलिकाएँ लेकर उनसे शिवजीका पूजन करे और 'त्वामशोक नमाम्येनं मधुमाससमुद्भवम्। शोकार्तः कलिकाः प्राश्य मामशोकं सदा कुरु ॥' से आठ कलिकाएँ भक्षण करके व्रत करे तो वह शोकरहित रहता है। यदि उस दिन बुधवार हो या पुनर्वसु हो या दोनों हों तो व्रतीको किसी प्रकारका शोक नहीं होता।

(२२) **भवानीव्रत** (भविष्यपुराण)—चैत्र शुक्ल अष्टमीको भवानीका प्रादुर्भाव हुआ था, अतः उस दिन देवीका पूजन करके अपूप आदिका भोग लगाये और व्रत करे।

(२३) **रामनवमी** (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतकी चार जयन्तियोंमें गणना है। यह चैत्र शुक्ल नवमीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी शुद्धा तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहला व्रत करना चाहिये। इसमें अष्टमीका वेध हो तो निषेध नहीं, दशमीका वेध वर्जित है।[1] ······ यह व्रत नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारका है।[2] नित्य होनेसे इसे निष्काम भावना रखकर आजीवन किया जाय तो उसका अनन्त और

१. अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिभिः।
न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन ॥
(अगस्त्य)

२. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं वेति विचार्यते।
निष्कामना विधानात्तु तत् काम्यं तावदिष्यते ॥
(अगस्त्य)

मन्दिर बन्द होता है और किसी निमित्त या कामनासे बिना उत्सव तो उनका दर्शनमात्र मिलता है। भगवान् रामचन्द्रका जन्म हुआ, उस समय चैत्र शुक्ल नवमी, गुरुवार, पुष्य (या दूसरे मतसे पुनर्वसु), मध्याह्न और कर्क लग्न था। उत्सवके दिन ये सब तो सदैव आ नहीं सकते, परन्तु जन्मर्क्ष कई बार आ जाता है; अतः वह हो तो उसे अवश्य लेना चाहिये।......जो मनुष्य रामनवमीका भक्ति और विश्वासके साथ व्रत करते हैं, उनको महाफल मिलता है।......व्रतीको चाहिये कि व्रतके पहले दिन (चैत्र शुक्ल अष्टमीको) प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर भगवान् रामचन्द्रका स्मरण करे। दूसरे दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) नित्यकृत्यसे अति शीघ्र निवृत्त होकर 'उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव। तेन प्रीतो भव त्वं भो संसारात् त्राहि मां हरे॥' इस मन्त्रसे भगवान्के प्रति व्रत करनेकी भावना प्रकट करे। और 'मम भगवत्प्रीतिकामनया (वा मुक्तिकामनया) रामजयन्तीव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके काम क्रोध लोभ-मोहादिसे वर्जित होकर व्रत करे।......तत्पश्चात् मन्दिर अथवा अपने मकानको ध्वजा-पताका, तोरण और वन्दनवार आदिसे सुशोभित करके उसके उत्तर भागमें रंगीन कपड़ेका मण्डप बनाये और उसके अंदर सर्वतोभद्रमण्डलकी रचना करके उसके मध्यभागमें यथाविधि कलश स्थापन करे। कलशके ऊपर रामपञ्चायतन (जिसके मध्यमें राम-सीता, दोनों पार्श्वोंमें भरत और शत्रुघ्न, पृष्ठ-प्रदेशमें लक्ष्मण और पादतलमें हनुमान्‌जी) की सुवर्ण-निर्मित मूर्ति स्थापन करके उसका आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। व्रतराज, व्रतार्क, जयसिंहकल्पद्रुम और विष्णु-पूजन आदिमें वैदिक और पौराणिक दोनों प्रकारकी पूजन-विधि है। उसके अनुसार पूजन करे।......उस दिन दिनभर भगवान्का भजन-स्मरण, स्तोत्रपाठ, दान-पुण्य, हवन, पितृश्राद्ध और उत्सव करे और रात्रिमें उत्तम प्रकारके गायन-वादन-नर्तन (रामलीला) और चरित्र-श्रवणादिके द्वारा जागरण करे और दूसरे दिन (दशमीको) पारण करके व्रतका विसर्जन करे। सामर्थ्य हो तो सुवर्णकी मूर्तिका दान और ब्राह्मण भोजन करावे और इस प्रकार प्रतिवर्ष करता रहे।

(२४) मातृकाव्रत (विष्णुधर्म)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) होता है। इसमें भैरव और चौसठ योगिनियोंका सफेद रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन किया जाता है।

(२५) शुक्लैकादशी (नानापुराणस्मृति)—इसको चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन पूर्वोक्त प्रकारसे करना चाहिये। व्रतके पहले दिन (दशमीके मध्याह्नमें) जौ, गेहूँ और मूँग आदिका एक बार भोजन करके भगवान्का स्मरण करे। दूसरे दिन (एकादशीको) प्रातःस्नानादि करके 'ममाखिल-पापक्षयपूर्वकपरमेश्वरप्रीतिकामनया कामदैकादशीव्रतं करिष्ये' यह संकल्प करके रात्रिके समय भगवान्को दोलारूढ करे और उनके सम्मुख जागरण करे। फिर दूसरे दिन पारण करे तो सब प्रकारके पाप दूर होते हैं।......इसका कथा-सार यह है कि प्राचीन कालमें सुवर्ण और रत्नोंसे सुशोभित भोगिपुर नगरके पुण्डरीक राजाके ललित और ललिता नामके गन्धर्व-गन्धर्विणी गायन-विद्यामें बड़े प्रवीण थे। एक दिन राजाके बुलानेपर ललित कार्यवश नहीं आया, तब राजाने उसको राक्षस बना दिया। इसपर ललिता बहुत दुखी हुई और शृङ्गीऋषिकी आज्ञासे उसने कामदाका व्रत करके पतिको पूर्वरूपमें प्राप्त किया।

(२६) मदनद्वादशी (मत्स्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल द्वादशीको किया जाता है। उस दिन गुड़के जलसे स्नान करके एक वेदीपर चावलोंसे भरा हुआ कलश स्थापन करे। और उसके ऊपर ताँबेके पात्रमें गुड़ और सुवर्णकी मूर्ति रखकर उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। साथ ही अनेक प्रकारके फल, पुष्प, ईख और नैवेद्य अर्पण करे और उनमेंसे एक फल लेकर उसको भक्षण करे। इस प्रकार १३ महीने करे तो उसको पुत्र-शोक नहीं होता।

(२७) मदनपूजा (धर्मशास्त्रसमुच्चय)—यह व्रत चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको किया जाता है। उस दिन स्नान करके उत्तम कपड़ेपर मदनदेवकी मनोमोहक मूर्ति अङ्कित करे

---

१. 'श्रीरामश्चैत्रमासे दिनदलसमये पुष्यभे कर्कलग्ने
जीवेन्दोः कीटराशौ मृगभगतकुजे त्रे झषे मेषगेऽर्के।
मन्दे जूकेऽङ्गनायां तमसि शफरिगे भार्गवेये नवम्यां
पक्षोचे चावतीर्णो दशरथतनयः प्रादुरासीत् स्वयम्भूः॥'
(रामचन्द्रजन्मपत्री)

२. चैत्रे मासि नवम्यां तु शुक्लपक्षे रघूत्तमः।
प्रादुरासीत् पुरा ब्रह्मन् परब्रह्मैव केवलम्॥
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यमुपवासव्रतं सदा।
तत्र जागरणं कुर्याद्रघुनाथपरो भुवि॥
उपोषणं जागरणं पितृनुद्दिश्य तर्पणम्।
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यं ब्रह्मप्राप्तिमभीप्सुभिः॥
(रामार्चनचन्द्रिका)

(१५) लक्ष्मीव्रत (भविष्योत्तर)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल पञ्चमीको) किया जाता है। इसमें लक्ष्मीका पूजन और व्रत करके सुवर्णके बने हुए कमलका दान करे तो सब प्रकारके दुःख दूर होते हैं।

(१६) सौभाग्य-व्रत (भविष्योत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल पञ्चमीको होता है। इसमें पृथ्वीका, पञ्चमीका और चन्द्रमाका गन्धादिसे पूजन करके एक बार भोजन करे तो आयु और ऐश्वर्य दोनों बढ़ते हैं।

(१७) कुमारव्रत (कालोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल षष्ठीको किया जाता है। उस दिन मयूरपर बैठे हुए स्वामिकार्तिककी सुवर्णके समान मूर्ति बनवाकर उसका पूजन करे। आचार्यको वस्त्र और सुवर्ण दे। उपवास रक्खे और सद्वैद्यकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मीका रस और घी पिये। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पञ्चमीको एक वर्षपर्यन्त करनेसे महाबुद्धिमान् होता है। शास्त्रोंका आशय सहज ही समझमें आ सकता है। और शास्त्रार्थमें स्फुरणाशक्तिका भलीभाँति विकास होता है।

(१८) मोदनव्रत (हेमाद्रि)—यह चैत्र शुक्ल सप्तमीको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानादि करके सूर्यनारायणका पूजन करे। ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराये और आप भी एक बार उसीका भोजन करे।

(१९) नामसप्तमी (भविष्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमीसे वर्षपर्यन्त होता है। और चैत्रादि १२ महीनोंमें सूर्यके १२ नामोंसे यथाक्रम पूजन किया जाता है। यथा—१ चैत्रमें धाता, २ वैशाखमें अर्यमा, ३ ज्येष्ठमें मित्र, ४ आषाढ़में वरुण, ५ श्रावणमें इन्द्र, ६ भाद्रपदमें विवस्वान्, ७ आश्विनमें पर्जन्य, ८ कार्तिकमें पूषा, ९ मार्गशीर्षमें अंशुमान्, १० पौषमें भग, ११ माघमें त्वष्टा और १२ फाल्गुनमें जिष्णु नामसे यथाविधि पूजन करके एकभुक्त व्रत करे तो आयु, आरोग्यता और ऐश्वर्यकी अपूर्व वृद्धि होती है।

(२०) सूर्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल सप्तमीको ही होता है। इसके लिये एकान्तके मकानको लीपकर या धोकर स्वच्छ करे और उसके मध्यमें वेदी बनाकर उसपर अष्टदल कमल लिखे। और कमलके प्रत्येक दलमें निम्न मूर्ति स्थापित करे। यथा पूर्वके दलपर दो 'सूर्य', आग्नेयपरपर दो ऋतुकारक 'गन्धर्व', दक्षिण दलपर दो 'अप्सराएँ', नैर्ऋत्यके दलपर दो 'राक्षस', ... दलपर ऋतुकारक दो 'महानाग', वायव्यके दल ... 'यातुधान', उत्तरके दलपर दो 'ऋषि' और ईशानके ... एक 'ग्रह' स्थापन करके उन सबका यथाक्रम ... गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पञ्चोपचार पूजन ... सूर्यके निमित्त घीकी १०८ आहुतियाँ दे और अन्य ... निमित्त आठ-आठ आहुतियाँ दे। और प्रत्येकके नि... एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराये। इस प्रकार शुक्ल ... प्रत्येक सप्तमीको एक वर्षतक करे तो उसको सूर्यलोककी ... होती है।

(२१) अशोककलिकाप्राशनव्रत (कृत्यर... कूर्मपुराण)—यह चैत्र शुक्ल अष्टमीको किया जाता है। ... दिन प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर अशोक (आसा... के वृक्षका पूजन करके उसके पुष्प अथवा कोमल ... आठ कलिकाएँ लेकर उनसे शिवजीका पूजन करे ... 'त्वामशोक नमाम्येनं मधुमाससमुद्भवम्। शोकार्तः ... प्राश्य मामशोकं सदा कुरु ॥' से आठ कलिकाएँ भक्षण ... व्रत करे तो वह शोकरहित रहता है। यदि उस दिन बुध... हो या पुनर्वसु हो या दोनों हों तो व्रतीको किसी प्रकार... शोक नहीं होता।

(२२) भवानीव्रत (भविष्यपुराण)—चैत्र शुक्ल अष्ट... को भवानीका प्रादुर्भाव हुआ था, अतः उस दिन देवी... पूजन करके अपूप आदिका भोग लगावे और व्रत करे।

(२३) रामनवमी (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतकी ... जयन्तियोंमें गणना है। यह चैत्र शुक्ल नवमीको किया ... है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी शुद्धा तिथि ली जाती है। यदि ... दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो या दोनों दिनोंमें ही न हो ... पहला व्रत करना चाहिये। इसमें अष्टमीका वेध हो तो नि... नहीं, दशमीका वेध वर्जित है।[1] ...... यह व्रत नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारका है।[2] नित्य होनेसे इसे निष्काम भावना रखकर आजीवन किया जाय तो उसका अनन्त ...

---

१. अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिभिः।
न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन ॥
(दीपि...

२. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं चेति त्रिधा मतं।
[illegible]
(...

[illegible] हुई उसको और कितने मतानुसार हनुमानजी [illegible] हुए। यह व्रत अखण्ड [illegible] होता है। क्योंकि हनुमान[illegible] यह कथा [illegible] है, जिससे हनुमान्जीका [illegible] बहुत पहले उत्पन्न होना [illegible] होता है। [illegible] जन्मतिथिके अनेकमें [illegible] है। उसमें हनुमान्जीकी जन्मकथा (किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ६६ और उत्तरकाण्ड सर्ग ३५ में) दूसरे प्रकारसे दी गयी है। उससे ज्ञात होता है कि अञ्जनीके उदरसे हनुमान्जी उत्पन्न हुए। भूखे होनेसे ये आकाशमें उछले और उदय होते हुए सूर्यको फल समझकर उनके समीप गये। उस दिन पर्वतिथि (अमावास्या) होनेसे सूर्यको ग्रसनेके लिये राहु● आया था। परन्तु वह इनको दूसरा राहु समझकर भागने लगा, तब इन्द्रने अञ्जनीपुत्रपर वज्रका प्रहार किया, उससे इनकी ठोडी टेढ़ी हो गयी। इसीसे ये हनुमान् कहलाये। इस अवसरमें चैत्र या कार्तिका नाम नहीं है। सम्भव है कल्पभेद या भ्रान्तिवश अन्य ग्रन्थोंमें चैत्र लिखा गया हो।······हनुमान्जीका एक जन्मपत्र भी है, उसमें तिथि चतुर्दशी, वार मङ्गल, नक्षत्र चित्रा और मास अनिर्दिष्ट है। कुण्डलीमें सूर्य, मङ्गल, गुरु, भृगु और शनि—ये उच्च हैं और ये ४, १, ७, २ और १० इन स्थानोंमें यथाक्रम बैठे हैं। इन सबके देखनेसे यह तथ्य निकलता है कि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिमें हनुमान्जीका जन्म हुआ था। और चैत्र शुक्ल पूर्णिमाको सीताकी खोज, राक्षसोंके उपमर्दन, लङ्काके दहन और समुद्रके उल्लङ्घन आदिमें हनुमान्जीके विजयी होने और निरापद वापस लौटनेके उपलक्ष्यमें *हर्षोन्मत्त वानरोंने* मधुवनमें मनाया था और उससे सभी नर-वानर सुखी हुए थे। इस कारण उक्त दोनों दिनोंमें व्रत और उत्सव किया जाय तो 'अधिकस्याधिकं फलम्' तो होगा ही।······इस व्रतमें तात्कालिक (रात्रिव्यापिनी) तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो तो दूसरा व्रत करना चाहिये। व्रतीका कर्तव्य है कि वह हनुमज्जन्मदिनके व्रत-निमित्त धनत्रयोदशी (का० कृ० १३) को [illegible] एक [illegible] और हनुमान्जीका स्मरण करके [illegible] शयन करे। और प्रातःकाल [illegible] (का० कृ० १४) को [illegible] उठकर राम-जानकी और हनुमान्जीका पुनः स्मरण करके प्रातःस्नानादिसे जल्दी निवृत्त हो ले। तत्पश्चात् हाथमें जल लेकर 'ममाखिल[illegible]पूर्वक [illegible] [illegible]प्रेतोन्मादादि-बाधानिवृत्तये च हनुमत्प्रीतिकामनया [illegible]पूजनं च करिष्ये।' यह संकल्प करके हनुमान्जीकी पूर्वप्रतिष्ठित प्रतिमाके समीप पूर्व या उत्तरमुख बैठकर अति नम्रताके साथ 'अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्। सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥' से प्रार्थना करे और फिर उनका यथाविधान षोडशोपचार पूजन करे। स्नानके समीप हो तो नदीका और न हो तो भीजल मिला हुआ कुशोदक, वस्त्रोंमें लाल कौपीन और पीताम्बर, गन्धमें केसर मिला हुआ चन्दन, मूँजका यज्ञोपवीत, पुष्पोंमें शतपत्र (हजारा), केतकी, कनेर और अन्य पीले पुष्प, धूपमें अगर-तगरादि, दीपकमें गोघृतपूर्ण बत्ती और नैवेद्यमें घृतपक्व अपूप (पूआ) अथवा आटेको घीमें सेंककर गुड़ मिलाये हुए मोदक और केला आदि फल अर्पण करे। और नीराजन, नमस्कार, पुष्पाञ्जलि और प्रदक्षिणाके बाद 'मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्। वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥' से प्रार्थना करके प्रसाद वितरण करे और सामर्थ्य हो तो ब्राह्मणभोजन कराकर स्वयं भोजन करे। रात्रिके समय दीपावली, स्तोत्रपाठ, गायन-वादन या संकीर्तनसे जागरण करे।······यदि किसी कार्य-सिद्धिके लिये व्रत करना हो तो मार्गशीर्ष शुक्ल *त्रयोदशीको प्रातःस्नानादि करके एक वेदीपर अक्षत-पुञ्जसे* १३ कमल बनाये। उनपर जलपूर्ण पूजित कलश स्थापन करके उसके ऊपर *लगाये हुए पीले वस्त्रपर १३ कमलोंमें १३ गाँठ* लगा हुआ नौ सूतका पीला डोरा रक्खे। फिर वेदीका पूजन करके उपर्युक्त विधिसे अथवा पद्धतिके क्रमसे हनुमान्जीका पूजन और जप, ध्यान, उपासना आदि करे। और ब्राह्मण-भोजनादिके पीछे स्वयं भोजन कर व्रतको पूर्ण करे तो सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध होते हैं।······कथा-सार यह है कि सूर्यके वरसे सुवर्णके बने हुए सुमेरुमें केसरीका राज्य था। उसके अति सुन्दरी अञ्जना नामकी स्त्री थी। एक बार उसने शुचिस्नान करके सुन्दर वस्त्राभरण धारण किये। उस समय पवनदेवने उसके कर्णरन्ध्रमें प्रवेश कर आते समय आश्वासन दिया कि

● यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः।
तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम्॥
अथाह पर्वकाले तु जिघृक्षुः सूर्यमागतः।
अथान्यो राहुरासाद्य जग्राह सहसा रविम्॥
(वाल्मीकीय रामायण)

और उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके घीमें बनाये हुए मोदकारी मोदकोंका 'नमो रामाय कामाय कामदेवस्य मूर्तये । ब्रह्मविष्णुशिवेन्द्राणां नमः क्षेमकराय वै ॥' से नैवेद्य अर्पण करे । और रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन पारण करे तो पति-पुत्रादिका अखण्ड सुख होता है ।

(२८) प्रदोषव्रत (व्रतविधान)—यह अतिप्रशस्त सर्वाचरणीय श्रेष्ठ व्रत प्रत्येक मासकी शुक्ल और कृष्ण त्रयोदशीको किया जाता है । कृष्णका विधान पहले लिखा ही जा चुका है, उसीके अनुसार शुक्लका व्रत करना चाहिये । विशेषता यह है कि सन्तानके लिये 'शनिप्रदोष', ऋणमोचनके लिये 'भौमप्रदोष' और शान्तिरक्षाके लिये 'सोमप्रदोष' अधिक फलदायी हैं । इनके सिवा आयु और आरोग्यकी वृद्धिके लिये 'अर्कप्रदोष' उत्तम होता है । व्रतीको चाहिये कि उस दिन सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करके शिवजीका पूजन करे और 'भवाय भवनाशाय महादेवाय धीमते । रुद्राय नीलकण्ठाय शर्वाय शशिमौलिने ॥ उग्रायोग्राघनाशाय भीमाय भयहारिणे । ईशानाय नमस्तुभ्यं पशूनां पतये नमः ॥' से प्रार्थना करके भोजन करे ।

(२९) चैत्री पूर्णिमा (पुराणसमुच्चय)—प्रत्येक मासकी पूर्णिमाको पूर्ण चन्द्रमाका और तत्प्रकाशक सूर्यका तथा विष्णुरूप सत्यनारायणका व्रत किया जाता है । यह पूर्णिमा चन्द्रोदयव्यापिनी ली जाती है । इसमें देवपूजन, दान-पुण्य, तीर्थ-स्नान और पुराण-श्रवणादि करनेसे पूर्ण फल मिलता है । यदि इस दिन चित्रा हो तो विचित्र वस्त्रोंका दान करनेसे सौभाग्यकी वृद्धि होती है ।

(३०) तिथीशपूजन (धर्मानुसन्धान)—यह व्रत प्रतिपदादि प्रत्येक तिथिके स्वामीका पूजन करनेसे सम्पन्न होता है । विधान यह है कि प्रातःस्नानादिके पीछे वेदी या चौकीपर रक्त वस्त्र बिछाकर उसपर अक्षतोंका अष्टदल बनावे । उसके मध्यमें जिस दिन जो तिथि हो, उसके स्वामीकी सुवर्णमयी मूर्तिका पूजन करे । तिथियोंके स्वामी प्रतिपदाके 'अग्निदेव', द्वितीयाके 'ब्रह्मा', तृतीयाकी 'गौरी', चतुर्थीके 'गणेश', पञ्चमीके 'सर्प', षष्ठीके 'स्वामिकार्तिक', सप्तमीके 'सूर्य', अष्टमीके 'शिव' (भैरव), नवमीकी 'दुर्गा', दशमीके 'अन्तक' (यमराज), एकादशीके 'विश्वेदेवा', द्वादशीके 'हरि' (विष्णु), त्रयोदशीके 'कामदेव', चतुर्दशीके 'शिव', पूर्णिमाके 'चन्द्रमा' और अमाके 'पितर'

हैं । इनका व्रत और पूजन प्रतिदिन करते रहने[illegible] उत्साह और आरोग्यकी वृद्धि होती है ।

(३१) हनुमद्व्रत (उत्सवसिन्धु व्रतरत्नाकर)—[illegible] हनुमान्जीकी जन्मतिथिका है । जिन पञ्चाङ्गोंके [illegible] व्रतोंका निर्णय किया जाता है, उनमें हनुमान्जीके [illegible] किसीमें कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी और किसीमें चै[illegible] पूर्णिमा है । किसी भी देवताकी अविह्व या [illegible] एक होती है, परन्तु हनुमान्जीकी दो मानते हैं । [illegible] विशेषता है । इस विषयके ग्रन्थोंमें इन दोनोंके [illegible] अवश्य हैं, परन्तु आचार्योंमें भिन्नता है । पहला [illegible] है और दूसरा 'विजयाभिनन्दन' का महोत्सव ।[illegible] सिन्धु' में लिखा है कि—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी, [illegible] स्वाति नक्षत्र और मेष लग्नमें अञ्जनीके गर्भसे हनुम[illegible] रूपमें स्वयं शिवजी उत्पन्न हुए थे । 'व्रतरत्नाकर'[illegible] है कि कार्तिक कृष्णकी भूततिथि (चतुर्दशी) को [illegible] के दिन महानिशामें अञ्जनादेवीने हनुमान्जीको जन्म[illegible] था । दूसरे वाक्यकी अपेक्षा पहलेमें स्वाति नक्षत्र और [illegible] लग्न विशेष है । परन्तु कार्तिकीको कृत्तिका होनेसे [illegible] चतुर्दशीको चित्रा या स्वातिका होना असम्भव नहीं ।" इनके विपरीत 'हनुमदुपासनाकल्पद्रुम'[3] नामक ग्रन्थमें [illegible] एक महाविद्वान्का सङ्कलन किया हुआ है, चैत्र [illegible] पूर्णिमा, मङ्गलवारके दिन मूँजकी मेखलासे युक्त, कौ[illegible] संयुक्त और यज्ञोपवीतसे भूषित हनुमान्जीका उत्पन्न होना [illegible] है । साथमें यह विशेष लिखा है कि 'कैकेयीके हाथसे [illegible]

१. ऊर्जस्य चासिते पक्षे स्वात्यां भौमे कपीश्वरः ।
मेषलग्नेऽञ्जनीगर्भाच्छिवः प्रादुरभूत् स्वयम् ॥
(व्रतर[illegible])

२. कार्तिकस्यासिते पक्षे भूतायां च महानिशि ।
भौमवारेऽञ्जना देवी हनुमन्तमजीजनत् ॥
(व्रतर[illegible])

३. चैत्रे मासि सिते पक्षे पौर्णमास्यां कुजेऽहनि ।
मौञ्जीमेखलया युक्तः कौपीनपरिधारकः ॥
([illegible])

४. कैकेयीहस्ततः पिण्डं जहार चिल्हपक्षिणी । [illegible] तदा वायुर्नेहानभूत् ॥ [illegible] पिण्डे वायुर्नीत्वाञ्जनाकरौ । क्षिप्तवान् [illegible] पिण्डं [illegible] ॥ [illegible] पुत्रं सुषुवे साञ्जना शुभम् ।
(हनुमदुपासनाकल्पद्रुम)

दिक, और इनके मन अच्छा हुनर न लगनेका रुख होता है। अब मनुष्यको इन चीजोंमें तसल्ली नहीं मिलती तो उसके दिलमें किसी ऐसी चीजकी तलाश पैदा हो जाती है कि जिसमें उसे शान्ति मिल सके। अक्सर यह होता है कि जब मनुष्य दुनियावी पुरुषार्थमें असफल होता है और उसके दिलमें परमानन्दको प्राप्त करनेकी तड़प पैदा हो जाती है तो उसको निराशाओंकी दुनियामें ईश्वरकी ओरसे कोई ऐसी झलक मिल जाती है कि जिसको देखते ही मनुष्यका दिल लोक और परलोककी कामनाओंका त्याग कर देता है, जिस तरह आँखमें सुरमा डालनेसे दो आँसू खुदबखुद बह निकलते हैं।

तात्पर्य यह कि मनुष्यको किसी-न-किसी दिन उस पूर्ण सत्ताकी तरफ मुँह करना ही पड़ता है। जब इधर इच्छा है और उधर इच्छित पदार्थ है तो फिर यह सन्देह करना कि इसको पाना असम्भव है ग़लत हो जाता है। जब यह सिद्धान्त ठीक है तो फिर मानना ही पड़ेगा कि पूर्वके महात्माओंको पूर्णता प्राप्त होती रही, अब भी प्राप्त है और आगे भी प्राप्त होती रहेगी। धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने कभी ऐसे महात्माओंके दर्शन किये हैं। मनुष्यमें स्वाभाविक इच्छा है कि वह दुःखोंको जड़से उखाड़कर फेंक दे और सुखके अणु-अणुको जहाँ भी हो समेटकर अपना कर ले। जब इस किस्मका पूर्ण सुख दुनियावी पदार्थोंमें न मिल सके तो फिर किसी-न-किसी सत्ताको तो हमारी इस स्वाभाविक इच्छाका स्वाभाविक जवाब देना ही पड़ेगा। यह सिद्धान्त दुरुस्त और बिल्कुल दुरुस्त है, लेकिन ऐसी महान् आत्माएँ सर्वत्र नहीं होतीं। लंबे अर्सेतक घूमनेके बाद यह कालचक्र अपने विकासवादके वृक्षसे ऐसा सुन्दर और आनन्ददायक फूल पैदा करता है कि जिसकी खुशबूसे सामने आनेवालोंके हृदय और दिमाग़ तर हो जायँ। वे कहते फिरें कि—

> बदाँ चमन कि नसीमे वज़द ज़ तुर्रए दोस्त।
> चिह जाए दम ज़दने नाफ़हाए तातारीस्त॥

'उस बाग़में कि जिसमें प्यारेके तुर्रोंको छूकर हवा चलती है, नाफ़हाए तातार (यह वह जगह है, जहाँ कस्तूरीवाले हिरन पैदा होते हैं) की क्या मजाल है कि दम मार सके! यानी आत्मानन्दके सामने दुनियावी आनन्द हेच हो जाते हैं।'

प्रश्न-ऐसे महात्माओंके दर्शन कैसे हों और उनकी पहचान क्या है?

उत्तर—जब ख्वाहिश पैदा होती है तो उस ख्वाहिशकी दृष्टि ही ऐसे पुरुषोंकी पहचान लेती है या ऐसे महात्मा खुद जिज्ञासुओंको दर्शन दे देते हैं। जिस तरह पानी और दरियाके दरम्यान सम्बन्ध स्थापित होता है, उसी तरह जिज्ञासु और ब्रह्मज्ञानीमें रिश्ता कायम होता है। इनकी पहचानके सम्बन्धमें सिर्फ यह है कि जिन्होंने अपनी दृष्टि दे दी, वही समझ सकता है। ज़ाहिरी बातोंसे अन्दाज़ा करना इसलिये मुश्किल हो जाता है कि अगर किसी अभिनेताको एक ब्रह्मज्ञानीका पार्ट करना पड़े तो उसमें ज़ाहिरी बातें तो वे सब होंगी जो एक पूर्ण ब्रह्मज्ञानीके सम्बन्धमें किताबोंमें लिखी हैं, लेकिन उसके दिलपर खुद उन बातोंका कोई असर नहीं होता। वैसे तो पूर्ण ब्रह्मज्ञानीकी पहचान हम ऊपर बता ही आये हैं।

> हेच मेदानी कि बाशंद औलिया।
> आँ के कर्द अज़ गैर हक़ दिल रा सफ़ा॥

यानी तू कुछ जानता है कि औलिया—पूर्णपुरुष किसे कहते हैं! जिसने दिलकी तख़्तीको सिवा सत्यके और सब बातोंसे साफ़ कर डाला हो, जिसके दिलमें न तो किसी चीज़को हासिल करनेकी ख्वाहिश पैदा हो और न किसी चीज़के जानेका डर रहे, जो भी सामने आये उससे अपने-ही-जैसी मोहब्बत करे, सबमें एक ही सत्ताको देखता हो और ऐसी पूर्ण स्थितिपर पहुँचा हो कि जहाँ पहुँचकर फिर गिरनेका डर न हो।

> न मुझे किसीका ख़याल है न ज़रा भी खोफे ज़वाल है।
> जिसे होवे असर ख़वाल ना, मेरा वह कमाले-कमाल है॥
> है फ़िराक़ आब मेआरज़ू कि विसाले आब हो किस तरह।
> ये ख़याले वस्ल है हिज्र-सा, इसे तर्क कर-यह विसाल है॥
> मेरा रंग पर्दाए-मौजमें न छुपा छुपायेसे भी कभी।
> मैं सरापा हक़ीक़ए-आब हूँ, न फ़िराक़ है न विसाल है॥
> है वहूर हस्तो यह 'नाथ' जो, वह ख़याले हस्तीए ख़ाम है।
> इसे छोड़ जाय यहाँ पै जो, उसे फिरके आना मुहाल है॥

यानी एक मुक्तकी परिभाषा यह है कि जो त्याग और ग्रहण और हर किस्मकी इच्छाओंसे दूर हो। लेकिन ये सब बातें दिलसे ताल्लुक़ रखती हैं और किसीके दिलकी पहचान दिलहीसे हो सकती है।

मैंने जिस आत्माके सम्बन्धमें अफ़सोस ज़ाहिर किया है, वह मेरी नज़रोंमें पूर्ण और परमपूर्ण थी। ज़ाहिरी रिश्तेमें वे मेरे पूज्य पिता थे और परमार्थके लिहाज़से सद्गुरु थे। मैंने उनको उसी हदतक समझा कि जिस हदतक

। और कहा कि 'देखो, तुमको कर्ममें अधिकार है; इसका जिस तरह चाहो उपयोग करो।' श्रीबाबाजी महाराज, जो कि दुनियावी सम्बन्धोंसे कहीं ऊपर थे, इस दौलतको पाकर ज़रा भी खुश न हुए बल्कि लगातार अतिथि-सेवा और दुखियोंका दुःख दूर करनेमें खर्च करने लगे। आपने अपनी क्रिया शक्तिसे यह बतला दिया कि दौलत बुरी चीज़ नहीं, अगर उसका उपयोग न्याययुक्त हो। आप दुनियामें रहे, लेकिन कमलके फूलकी तरह, या इस तरह कि जिस तरह धूप कुल चीज़ोंपर पड़ती है और उनके गुणोंसे हमेशा अलग रहती है या जिस तरह दृष्टि हर चीज़से सम्बन्ध पैदा करती है लेकिन बँधती कहीं नहीं। अक्सर यह शेर फ़रमाते—

तअल्लुक हिजाबस्तो बे हासिली।
चू पैवंद हा बिगुसली वासली॥

यानी सांसारिक सम्बन्ध तेरे और ईश्वरके बीच एक पर्दा है, जब तू इन पैवंदों (सम्बन्धों) को तोड़ देगा तो तू अपने मालिकसे मिल जायगा। इसका मतलब ज़ाहिरी त्याग नहीं बल्कि दिली त्याग था। दूसरा शेर फ़रमाते—

खुलासये रा कि अज़ दुनिया ओ उक़बा करदा अम्
हमा तअल्लुक मुर्दनस्तो बेतअल्लुक जीस्तन।

यानी मैंने लोक और परलोकका निचोड़ यह निकाला है कि मनुष्य सम्बन्धहीन होकर मरे और बिना किसी उसके जीवन यापन करे। यानी दुनियासे जुदाईके वक्त सिवा अपने ख़ुदाके किसी और चीज़से ताल्लुक़ न हो और दुनियामें जैसा वक्त आये काटता जाय।

दुनियावी लहरोंके मुताबिक़ आपके सामने रंज और ख़ुशीकी ख़बरें आती रहीं, लेकिन आप हर हालतमें इस तरह स्थिर रहे कि जिस तरह कोई बड़ी चट्टान समुद्रकी लहरोंकी चोटोंसे परेशान नहीं होती। अकसर फ़रमाते कि 'जिन हालतोंमें दुनियाको परेशानियाँ होती हैं, उन्हीं हालतोंकी उपस्थिति हमारे लिये सुख और सन्तोषका कारण होती है।' लेकिन फिर फ़रमाते कि 'यह भी एक कमी ही थी, वर्ना सुख और दुःखमें तो कोई फ़र्क़ ही नहीं होना चाहिये।' जैसे—

दिले दारम कि दर वै ग़म न गुंजद।
च जाये ग़म कि शादी ॥

यानी

नहीं घबड़ाता कि जिसको ख़ुशीकी ज़रूरत नहीं। अकसर फ़रमाते—

ऐ गिरफ़्तारे मुकर्रां तू मारा दर्दों, बरें दुख पय।
छड दे पल्ला मुकर्रां दा, नाम दुख मो गय॥

यानी ऐ ज़्यादा आरामके अभिलाषी, यह अभिलाषा ही दुःखको बुलाती है। अगर तू किसी तरह सुखोंका पल्ला छोड़ दे यानी सुखोंकी ख़्वाहिश छोड़ दे तो फिर तेरे लिये जगत्‌में दुःख है ही नहीं।

अपने जीवनके नाटकको पूरा करनेके लिये वक़्तके मुताबिक़ आपने अपने हर पार्टको इस उम्दगीके साथ अदा किया कि देखनेवाले हैरान रह गये। आपकी ज़िंदगीका एक-एक क्षण और एक-एक चेष्टा दूसरोंके लिये लगातार शिक्षाप्रद रही। इसके बाद आपने सरकारी नौकरी की। जब आपकी तनख़्वाहकी तरक़्क़ीका ज़िक्र आता तो आप फ़रमाते 'कि मेरी तरक़्क़ीकी फ़िक्र कोई क्यों करे जब कि मेरी तनख़्वाह पहले ही हदसे ज़्यादा है।' अकसर फ़रमाते—

I am content with what God has given
me as my share,
And commit to my Creator my every
care.
To do good in the past has been
indeed His will,
He will do good as well in what is to
come still.*

ईमानदारीका यह हाल कि कभी सरकारी समयमें दफ़्तर-की स्याहीसे अपनी व्यक्तिगत चिट्ठीतक न लिखते। सचाईका यह हाल कि कभी कोई बात दिलके ख़िलाफ़ न करते, चाहे कितना भी नुक़सान हो जाय।

जब आप दफ़्तर पहुँचते तो बड़े-छोटे ख़िदमतमें हाज़िर होते और आपसे ईश्वरका नाम सुननेकी ख़्वाहिश ज़ाहिर करते। आपकी एक-एक बात उनके दिलोंको यहाँतक ऊँचा कर देती कि दुनियाके सुख-दुःख उनके लिये बेमाने हो जाते। गोया घरमें भगवान्‌का ज़िक्र, रास्तेमें उसीका ख़याल और दफ़्तरके काम उसीके हुक्मकी तामील। यानी ज़िंदगी

* भगवान्‌ने जो कुछ मुझे दिया है, उसीसे मैं सन्तुष्ट हूँ और अपनी प्रत्येक चिन्ता अपने सिरजनहारके चरणोंमें समर्पित करता हूँ। उसका पहले भी मंगलमयी रही है और आगे जो कुछ होने-वाला मंगल ही निश्चित है।

दी और कहा कि 'बेटा, तुमको अभीसे अधिकार है; इसका जिस तरह चाहो उपयोग करो । श्रीबाबाजी महाराज, जो कि दुनियावी प्रलोभनोंसे कहीं ऊपर थे, इस दौलतको पाकर ज़रा भी खुश न हुए बल्कि लगातार अतिथि-सेवा और दुखियोंका दुःख दूर करनेमें खर्च करने लगे । आपने अपनी क्रिया-शक्तिसे यह बतला दिया कि दौलत बुरी चीज़ नहीं, अगर उसका उपयोग न्याययुक्त हो । आप दुनियामें रहे, लेकिन कमलके फूलकी तरह, या इस तरह कि जिस तरह धूप कुल चीज़ोंपर पड़ती है और उनके गुणोंसे हमेशा अलग रहती है या जिस तरह दृष्टि हर चीज़से सम्बन्ध पैदा करती है लेकिन बँधती कहीं नहीं । अक्सर यह शेर फ़रमाते—

तआल्लुक हिजाबस्तो बे हासिली ।
चू पैवंद हा बिगुसली वासली ॥

यानी सांसारिक सम्बन्ध तेरे और ईश्वरके बीच एक पर्दा है, जब तू इन पैवंदों (सम्बन्धों) को तोड़ देगा तो तू अपने मालिकसे मिल जायगा । इसका मतलब ज़ाहिरी त्याग नहीं बल्कि दिली त्याग था । दूसरा शेर फ़रमाते—

इन्तख़ाबे रा कि अज़ दुनिया ओ उक़बा करदा अम्
रा तआल्लुक मुर्दनस्तो बेतअल्लुक ज़ीस्तन ।

यानी मैंने लोक और परलोकका निचोड़ यह निकाला है कि मनुष्य सम्बन्धहीन होकर मरे और बिना किसी उम्रके जीवन यापन करे । यानी दुनियासे जुदाईके वक्त सिवा अपने खुदाके किसी और चीज़से ताल्लुक़ न हो और दुनियामें जैसा वक्त आये काटता जाय ।

दुनियावी लहरोंके मुताबिक़ आपके सामने रंज और खुशीकी खबरें आती रहीं, लेकिन आप हर हालमें इस तरह स्थिर रहे कि जिस तरह कोई बड़ी चट्टान समुद्रकी लहरोंकी चोटोंसे परेशान नहीं होती । अक्सर फ़रमाते कि 'जिन हालतोंमें दुनियावी परेशानियाँ होती हैं, उन्हीं हालतोंमें उपस्थित हमारे लिये सुख और सन्तोषका कारण होती है ।' लेकिन फिर फ़रमाते कि 'यह भी एक कमी ही थी, वर्ना सुख और दुःखमें तो कोई फ़र्क़ ही नहीं होना चाहिये ।' जैसे —

दिल हासिल कि दर है [illegible] न गुंजद ।
व आंच [illegible] कि शादी हम न गुंजद ॥

यानी मेरा वह दिल है कि जिसमें रंज तो क्या, खुशी भी नहीं समा सकती; क्योंकि खुशीसे खुश रहनेवाला कभी रंजसे सम्बन्धित नहीं हो सकता । रंज तो सिर्फ वही [illegible]

नहीं घबड़ाता कि जिसको खुशीकी [illegible] फ़रमाते—

बाज़ सुखाँ नू माफ़ दवाँ, बा[illegible]
उह दे पल्ला सुखाँ दा, नाम दु[illegible]

यानी ऐ ज़्यादा आरामके अधिकारी, [illegible] ही दुःखको बुलाती है । अगर तू किसी तरह [illegible] छोड़ दे यानी सुखोंकी ख़्वाहिश छोड़ दे तो जगत्में दुःख है ही नहीं ।

अपने जीवनके नाटकको पूरा करनेके मुताबिक़ आपने अपने हर पार्टको इस उम्दगी[illegible] किया कि देखनेवाले हैरान रह गये । आप[illegible] एक एक क्षण और एक एक पेशा दूसरोंके [illegible] शिक्षाप्रद रही । इसके बाद आपने सरकारी नौ[illegible] आपकी तनख़्वाहकी तरक़्क़ीका ज़िक्र आता तो [illegible] 'कि मेरी तरक़्क़ीकी फ़िक्र कोई क्यों करे [illegible] तनख़्वाह पहले ही हदसे ज़्यादा है ।' अक्सर फ़[illegible]

I am content with what God [illegible]
me as [illegible]
And commit to my Creator [illegible]

To do good in the past [illegible]
indeed
He will do good as well in w[illegible]
co[illegible]

ईमानदारीका यह हाल कि कभी सरकारी [illegible] की ख़्वाहिशसे अपनी व्यक्तिगत [illegible] [illegible] कि कभी कोई बात [illegible] करते, चाहे कितना भी नुकसान हो जाय ।

[illegible]

...था थी—एक अविच्छिन्न हरिस्मरणका नमूना था । ...कसर फ़रमाते—

'जो दम गाफ़िल सो दम काफ़िर ।'

अर्थात् जो श्वास भगवान्की स्मृतिसे शून्य है वह विधर्मी है, ईश्वरविमुख है ।

सन् १९०४ के भूडोलकी चर्चाको लेकर लोग आपके पास हाज़िर हुए और कहने लगे कि 'कलका दिन निहायत खौफ़नाक था, क्योंकि दिनभर भूकम्पके धक्के आते रहे; मगर साथ ही यह बात भी थी कि जबतक ज़मीन हिलती रही हिंदू 'राम-राम' और मुसलमान 'अल्लाह-अल्लाह' करते रहे, मगर जबसे भयोत्पादक असर ग़ायब हो गये दुनिया फिर अपने कामोंमें उसी तरह लग गयी । तो आपने फ़रमाया कि फिर तो वह भूकम्प ही वरणीय था कि जिससे उसकी याद आती रही ।

आपके पास हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई, अंग्रेज़—सब आते और आपके उपदेशसे कृतार्थ होते । आपकी नज़रोंमें अपना-पराया कोई न था । आप फ़रमाते कि 'ईश्वर एक है; बाक़ी सब उसके बच्चे हैं, इसलिये सब भाई हैं । मज़हबी मतभेद एक ही मंज़िलपर पहुँचनेके भिन्न-भिन्न रास्ते हैं ।' आप फ़रमाते कि 'आजतक किसी मज़हबमें यह बहस नहीं हुई कि खुदा दो हैं । पानीके अलग-अलग नाम होनेपर भी पानी एक ही रहता है ।' आप इस सिद्धान्त-पर यहाँतक स्थिर थे कि किसी मज़हबवालेको आपके सामने आकर अपने पार्थक्यका अनुभव न होता था । गोया यह सूरत होती कि—

बनी आदम आज़ाए यक दीगर अंद ।
कि दर आफ़रीनश ज़ यक जौहर अंद ॥

अर्थात् मनुष्यके बच्चे एक-दूसरेके अंग हैं, क्योंकि उत्पत्तिके समय एक ही तत्त्वसे प्रकट हुए हैं ।

आपने अपनी ज़िंदगीमें सिवा अपने ईश्वरके और कुछ न चाहा । अक्सर यही सुनाते—

तुद बाझ और जा मँगना, सिर दुक्खाँ दे दुक्ख ।
दे नाम संतोखिया, उ उतरे मन दी भुक्ख ॥

यानी तुझसे सिवा तेरे और कुछ माँगना दुःखोंको दावत देना है; मनकी भूख तो सिर्फ़ तेरे नामसे दूर हो सकती है । आपने इसको यहाँतक क्रियात्मक रूप दे रक्खा था कि एक दिन एक अंग्रेज़ आपके पास आये और कहने लगे कि आपकी एक चीज़ गिर गयी थी, मैं उसे लेकर आया हूँ । श्रीबाबाजीने जवाब दिया कि 'वैसे तो आपको धन्यवाद है, लेकिन मेरे खयालमें तो मेरी कोई चीज़ गिर ही नहीं सकती; क्योंकि गिरनेवाली चीज़ोंको तो मैंने पहले ही गिरा दिया है और जो मेरे पास है, वह कभी गिर ही नहीं सकती ।' उन्होंने कहा कि 'महाराज, कुछ भी हो, यह चीज़ तो आपकी ही है' । हँसे और कहा—'अच्छा, तो फिर लाइये; हम भी देखें वह चीज़ क्या है ।' उस साहबने एक टाइप किया हुआ काग़ज़ आपके सामने रक्खा, जिसपर लिखा हुआ था—

I am convinced there is no condition higher than that silence which comes of the abandonment of all latent desires.

यानी मुझे पक्का यक़ीन हो गया है कि उस हालतसे बड़ी कोई हालत नहीं कि जो तमाम वासनाओंके त्यागसे मिलती है ।

श्रीबाबाजीने फ़रमाया कि 'वाक़ई यह चीज़ हमारी ही थी; लेकिन यह गिरी कहाँ थी, यह तो हर वक्त हमारे पास मौजूद है ।' कुछ अर्से बाद आपने नौकरी भी छोड़ दी और उसके बाद पेन्शन भी । पेन्शन इस खयालसे कि पेन्शनका हक़दार नौकरी करनेवाला हो सकता है, न कि वह कि जिसने नौकरी नहीं की । नौकरी करनेवाला 'मैं' और 'मेरा' था । जब वह न रहा तो फिर पेन्शनका हक़ ही क्या रहा ।

भ्रातृत्वका यह हाल कि सबको अपना भाई समझते । एक दिन आप नाभासे शिमला तशरीफ़ ले जा रहे थे । रास्तेमें गाड़ी बदलनी थी, दैवयोगसे उस वक्त आप अकेले थे । स्टेशनपर कोई कुली वग़ैरह भी नहीं था । सामनेसे कोई शख्स जा रहा था । आपने उसको आवाज़ दी—'भाई साहब, हमारा ट्रंक उठाकर दूसरी गाड़ीमें रख दीजिये ।' उसने झुँझलाकर कहा—'क्या आपने मुझे कुली समझा है जो मैं आपका ट्रंक उठाता फिरूँ ?' आपने फ़रमाया कि 'नहीं, मैंने आपको कुली कब कहा ? मैंने तो कहा है कि भाई साहब, मेरा ट्रंक उठाकर दूसरी गाड़ीमें रख आइये ।' उसने कहा 'यह हर्गिज़ नहीं हो सकता, मैं ट्रंक न उठाऊँगा ।' आपने फ़रमाया कि 'आप तो ट्रंक उठायेंगे नहीं और मैं उठा नहीं सकता; इसलिये बेहतर यही है कि मैं इसको

चाबियोंके इन्तिज़ार लगा हूँ और आप इनको अपने घर ले जायें। अब आपको अपना ट्रंक इस हालतमें अपने घर ले जाते तो शर्म न आयेगी; शर्म तो इसलिये आती है कि आपको किसी दूसरेका ट्रंक उठाना पड़ता है।' आपने जेबसे चाबियाँ निकालीं, उन ट्रंकपर रक्खीं और ख़ुद चले गये। इस दृश्यको देखकर वह शख़्स हैरान हो गया। उसने झट ट्रंक उठाया और आपके पीछे-पीछे हो लिया, ट्रंकको गाड़ीमें रखकर आपसे माफ़ी माँगी और कहा 'मैं जानता न था कि आप कौन हैं!' श्रीबाबाजीने फ़रमाया— भाईको भाईका काम करनेमें क्या शर्म है!

बनी आदम आज़ाए यक दीगर अंद।
कि दर आफ़रीनश ज़ यक जौहर अंद॥

आपको एक दफ़ा एक शख़्सने आकर कहा कि 'आप बाग़की सैरको नहीं निकलते!' तो फ़रमाने लगे कि 'बाग़की सैर तो बीमार किया करते हैं।' उसने कहा हुज़ूर! हम बीमार नहीं हैं, लेकिन फिर भी बाग़की सैर करते हैं।' श्रीबाबाजीने पूछा कि 'आप सैर करने किसलिये जाते हैं?' तो कहा कि 'बैठे-बैठे दिल घबड़ा जाता है तो सैरको चले जाते हैं और जब वहाँ घबड़ाता है तो वापस आ जाते हैं।' तब आपने फ़रमाया कि 'हमें न तो घबड़ाहटकी बीमारी लगती है और न हम इसके इलाजके लिये बाग़में जाते हैं।' उसने पूछा 'तो क्या आप सैर बिल्कुल नहीं करते?' तो जवाब दिया कि नहीं, करते तो हैं लेकिन किसी और बाग़की!

अंदेशए ख़ारस्त दरीं सैरे गुलिस्ताँ।
दर ख़ल्वते दिल गुलशने बेख़ार बबीनेद॥

'ज़ाहिरी बाग़ोंमें काँटोंका भी डर है, किन्तु जिस बाग़की हम सैर करते हैं वहाँ कोई काँटा है ही नहीं।' इच्छाओंका यह हाल फ़रमाते कि हमें दुनियाँमें कभी किसी चीज़की ख्वाहिश ही पैदा न हुई, क्योंकि हमको मालूम हो गया था कि इन इच्छाओंका दो वजहसे कोई अर्थ नहीं होता—अगर 'उसे' भूलकर ये पदार्थ हासिल किये जाते हैं तो आराम न मिलेगा और अगर उसे (ईश्वरको) हासिल करके इनको चाहते हैं तो समुद्रकी मौजूदगीमें जलकण अलहदा रह ही नहीं जाते। फ़रमाते—

ख़याले मुल्के दो आलम नियायदद ब ख़याल।
सरे कि नेस्त दमे ख़ाली अज़ ख़याले हबीब॥

आ सकता है कि जिसे दमभरके लि[ए]
फ़ुरसत नहीं।

फ़रमाते कि जबतक मनुष्यके दि[ल में]
जितनी भी ख्वाहिश बाक़ी है वह ज्ञात हो[...]
महात्माओं और महापुरुषोंके तरीक़ेके [...]
सिवा ईश्वरके कुछ भी माँगा जाय। और तो [...]
ख़ुदाको पा लेनेपर किसी और चीज़का मिलना [...]
यहाँ तो सिद्धान्त यह है कि जो उसकी तरफ़ चल[...]
उसके पीछे दौड़ती है॥

मोहब्बतका यह हाल कि जो सामने आता [...]
'मैं तुम्हारे साथ तुमसे ज़्यादा मोहब्बत करता [...]
असली सबूत यह था कि आपने ज़िंदगीके ६[...]
लिये कुरबान कर दिया था। अपने शरीर [...]
ताक़तोंपर यहाँतक क़ाबू था कि अगर तीन-तीन [...]
नहीं खाया और बीस-बीस घंटे बोलते रहे तो [...]
कुछ असर न पड़ता था। आसनके यहाँतक पक[्के ...]
साल बैठकर गुज़ार दिये। आहिस्ता-आहिस्ता [...]
अपनी ख़ुदीको क्षीण करते गये और सन् १९[...]
ख़ुदीको छोड़कर अपने मालिकसे एक हो गये। [...]
हालत देखनेयोग्य थी। ऐसा मालूम होता था [...]
त्मिकताका समुद्र चारों तरफ़ हिलोरें ले रहा है। [...]
दर्शनोंको आते और निहाल होते। जिस तरह [...]
सताया पानीमें ग़ोता लगाकर ठंडा हो जाता है [...]
दुनियाके दुखी प्राणी आपकी ख़िदमतमें आ[...]
थे। आपके नज़दीक बैठ जाना ही ख़ुदाके असि[...]
दे देता था। दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता आपके [...]
टेककर आपका सम्मान करते थे। ग़रीब और [...]
और महाराजे आपके चरणोंको चूमकर निहाल [...]
आपकी नज़दीकी ही आत्मानन्दका आस्वादन [...]
थी। इस अहङ्कारके त्यागके बाद आप अब [...]
कि 'एक तिनकेकी सत्ता तो ख़ुदा और दुनियाके [...]
होगी, लेकिन मेरी अलहदा हस्ती उसके साथ इतन[ी ...]
पूर्णतापर पहुँच जानेके बाद भी आपने अपने-आप[...]
किया बल्कि फ़रमाने लगे कि 'मैं उस वक़्ततक अ[...]
मुक्त पुरुषोंमें शुमार नहीं कर सकता कि जबतक [...]
कोई अणु भी अज्ञान और शोककी ज़ंजीरोंमें ज[...]
है' और यह बात उस वक्त फ़रमायी कि अब [...]

अब मैं आपकी शिक्षाओंके सम्बन्धमें कुछ अर्ज़ करता हूँ—
'ईश्वर एक है। उसके सिवा आपको कोई नफ़ा या नुक़सान नहीं पहुँचा सकता।'
'जङ्गलोंमें जानेकी ज़रूरत नहीं, दुनियामें—यहाँ भी वह मिल सकता है।'
'अपने कर्तव्योंको उसका हुक्म समझकर पालन करते जाओ।'
'सबमें भगवान्‌को देखकर प्यार करो।'
'किसीका बुरा न चाहो।'
'हर मज़हब और उनके महात्माओंकी क़द्र करो।'
'अगर ख्वाहिश करना ही है तो उसकी ख्वाहिश करो कि जिसको हासिल कर लेनेसे सब चीज़ें खुद-बखुद मिल जाती हैं।'
'दुनियासे दिल न लगाओ। मौतको याद रक्खो, लेकिन नेक काम करते वक्त अपनेको अमर समझो।'
'दुनियाके भोगोंका आवश्यकतानुसार और बतौर दवाई उपयोग करो।'
'इस मुसाफ़िरखानेसे मोहब्बत करो, लेकिन इतनी कि जिससे घर न भूल जाय।'
'उसकी मर्ज़ीपर राज़ी रहो; जो कुछ वह दे, उसको सबसे ज़्यादा समझो।'
'सब्रसे बड़ी दौलत कोई नहीं।'
'अगर दुनियाको हासिल ही करना है तो पहले इसके मालिकसे रिश्ता जोड़ लो, यह खुद-बखुद मिलेगी।'
'कोई काम छिपकर न करो।'
'किसी कामको करके झूठ न बोलो।'
'कठिनाइयोंमें ईश्वरकी याद करो।'
'इच्छाओंको कम करो।'
'हो सके तो किसीकी मदद करो, नहीं तो कम-से-कम किसीको तकलीफ़ न दो।'
'मौतसे न डरो, क्योंकि उसका वक़्त नियत है।' इत्यादि, इत्यादि·····

इस छोटेसे लेखमें आपकी शिक्षाओंका कहाँतक बयान किया जा सकता है। जिज्ञासु इनको किसी-न-किसी तरह हासिल करते रहेंगे।

आपने आखिरकार १३ दिसम्बर १९४० की रातको सवा नौ बजे अपने शरीरको बड़े इतमीनान और शान्तिके साथ छोड़ दिया। हज़ारों-लाखोंको इसका रंज है और रहेगा, यद्यपि आप अपने उपदेश और आध्यात्मिक भावोंके रूपमें हमेशा ही ज़िंदा रहेंगे। आपने अपनी ज़िंदगीके आखिरी क्षणोंमें भी इसी बातको ज़ाहिर किया कि मनुष्य 'उस' की मर्ज़ीपर किस तरह खुश रह सकता है। आप दो रोज़ बीमार रहे। शहरके काबिल डाक्टर-हकीम खिदमतमें हाज़िर हुए, लेकिन उनसे यही कहा गया कि 'हम बीमार नहीं हैं, अगर बीमार होते तो तन्दुरुस्तीकी ख्वाहिश करते। और अगर दवाई करना ज़रूरी है तो हम दवा खा ही रहे हैं और वह है—'सर्व रोगका औषध नाम।' यानी सब बीमारियोंकी दवा उसका नाम है और सच बात तो यह है कि हमें यह बीमारी बीमारी नहीं मालूम होती। यह उसकी मर्ज़ी है और हमें उससे हरगिज़ विरोध नहीं। हमने उससे विरोध सीखा ही नहीं। इसलिये जो उसकी मर्ज़ी है, वह हर तरह पूरी हो; क्योंकि वही बेहतर और दुरुस्त है।' और इसके बाद आपने ज़ाहिरी दुनियासे आँखें बंद कर लीं और वास्तविक दुनियामें आँखोंको खोल दिया। हुज़ूरका शेर याद आया—

> बेदार शो अज़ ख़ाब कि ई जुम्ला ख़यालात।
> अंदर नज़रे मर्दमे बेदार चूँ ख़ाबस्त॥

यानी ऐ प्यारे! जाग और समझ कि इस संसार और उसके पदार्थोंके खयाल एक जागते हुए शख़्सकी नज़रमें स्वप्नकी तरह हैं।

मेरी ईश्वरसे प्रार्थना है कि वे हम लोगोंको भी उस पारमार्थिक धनमेंसे कोई कण प्रदान करें कि जिसका अनन्त खज़ाना श्रीबाबाजी भगवानके पवित्र दिलमें मौजूद था, ताकि हम भी इतमीनानसे अपनी ज़िंदगी बसर कर सकें।

मैं हुज़ूरकी ख़िदमतमें अपने आँसू जो कि (आँसू यानी जो कि उनके तरफ़से दूर हैं) पेश करता हूँ।

एक अंग्रेजकी राम-भक्ति

('अमर सन्देश')

मधुरांतकम चेंगलपेट जिलेका एक छोटा-सा शहर है, जो मद्राससे पाडिचेरीके रास्तेपर है। वहाँपर श्रीरामचन्द्रजीका एक छोटा-सा मन्दिर है। उस मन्दिरके नजदीक एक बड़ी झील भी है।

मद्राससे पाडिचेरी जानेवालोंको, जो मधुरांतकमकी उस झीलके बाँधपर है, उसी सड़कसे जाना पड़ता है। वह झील इतनी सुन्दर और काफी बड़ी है कि जिन लोगोंको उस रास्तेपर जाना पड़ता है, उन लोगोंका मन उस झीलकी तरफ़ आकर्षित हो जाता है और वे लोग उस झीलके सुन्दर और मनोहर दृश्यको कभी भूल नहीं सकते। उपर्युक्त झील और श्रीरामचन्द्रजीके मन्दिरके बारेमें एक विचित्र लेकिन सच्ची कहानी प्रचलित है, जिससे मालूम होता है कि एक ईसाई अंग्रेज साहब भी श्रीरामचन्द्रजीके भक्त बन सके और उनको भगवान्‌के दर्शन भी मिले थे।

बात १८८२ ई० की है। उस समय लियानल प्राइस साहब चेंगलपेट जिलेके कलक्टर थे। उनको मधुरांतकमकी झील देखनेकी बड़ी इच्छा हुई। झील इतनी बड़ी थी कि उसके आसपासके कई गाँवोंकी खेतीबारीके लिये उसका जल पर्याप्त था। लेकिन दुर्भाग्यवश हर साल बरसातमें जब झील भर जाती थी तब उसका बाँध टूटकर सारा पानी बाहर चला जाता था और झील हमेशा सूखी-की-सूखी ही रह जाती थी।

इलाकेवाले प्रतिवर्ष गर्मीके दिनोंमें उस झीलके बाँधकी मरम्मत करते थे। हर साल मरम्मतके समय मि० प्राइस खुद वहाँ आकर पड़ाव डालते और अपनी मौजूदगीमें ही सारा काम कराते थे। बरसातमें बादमें इसका बाँध हर साल टूट जाया करता था। कलक्टर साहबको झीलकी बड़ी चिन्ता होती थी। सन् १८८२ में भी सदाकी तरह झीलकी मरम्मत शुरू हुई। स्वयं कलक्टर साहब उसका निरीक्षण कर रहे थे। एक बार आप मन्दिरके पाससे निकले। उनकी इच्छा हुई कि चलकर मन्दिर देख आवें।

वे मन्दिरमें आये। ब्राह्मणोंने उनको दिखाया। साहबने देखा कि एक स्थानपर ढेरों जमा हैं। साहबने ब्राह्मणोंसे पत्थरोंके जमा कर [illegible] कारण पूछा। ब्राह्मणोंने जवाब दिया—'साहब! श्री-सीताजीका मन्दिर बनाना है। लेकिन उसके लिये हम लोग सिर्फ पत्थर ही जमा कर सके हैं। शेष कामके लिये काफी धन जमा करनेमें हम असमर्थ हैं। ऐसे सत्कार्यके सफलतापूर्वक सिद्ध होनेमें धनका अभाव ही एक बाधा हो रही है।'

'मुझे भी तुम्हारी देवीजीसे एक प्रार्थना करने दो।'

वहाँके भक्त ब्राह्मण अपनी-अपनी मनोवृत्तिके अनुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और माता सीताजीके गुणों और महिमाओंका वर्णन करने लगे। उसे सुनकर साहबने उन लोगोंसे पूछा,—'क्या तुमलोग विश्वास करते हो कि तुम्हारी देवी भक्तोंकी मनोकामना पूरी करेंगी?'

ब्राह्मणोंने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया—'निस्सन्देह।' कलक्टर साहबने फिर पूछा, 'अच्छा, यदि मैं भी तुम्हारी देवीजीसे कुछ प्रार्थना करूँ तो मेरी भी इच्छा उनकी कृपासे पूरी होगी?' ब्राह्मणोंने जवाब दिया 'जरूर।' तब साहबने उन लोगोंसे कहा, 'यदि तुम लोगोंकी बात सच हो तो मैं भी तुम्हारी देवीजीसे प्रार्थना करता हूँ कि इस झीलकी रक्षा, जिसकी मरम्मत हर साल हो रही है और फिर जिसका नाश भी होता आ रहा है, यदि तुम्हारी देवीजीकी कृपासे हो जाय तो तुम्हारी देवीजीका मन्दिर बनानेका भार मैं अपने ऊपर लूँगा।' प्रार्थना करके साहब वहाँसे लौट गये। मरम्मतका काम पूरा हो जानेके बाद साहब अपने घर चले गये।

फिर वर्षा शुरू हुई। [illegible] अबकी बार साहब अपने घर न रह सके। उन्होंने मधुरांतकममें अपना डेरा डाला। एक दिन बहुत जोरसे पानी बरस रहा था। [illegible]

थी कि उस समय बाहर निकलना भी बहुत कठिन था। साहब बहुत अधीर हो उठे। उनको ज़रा भी चैन न मिला। वे तुरंत हाथमें छत्री लेकर झीलकी तरफ़ लपके। उनके दो नौकर, जो उस समय जाग रहे थे, पीछे-पीछे चले। उनको साहबके कामपर बड़ा अचरज हो रहा था।

साहब झीलके बाँधपर आकर खड़े हो गये। आकाशसे मूसलधार वृष्टि हो रही थी। रह-रहकर बिजली चमकती थी। बिजलीके प्रकाशमें साहबने देखा कि झील पानीसे ठसाठस भरी है। अब यदि थोड़ा भी जल उसमे ज़्यादा पड़ जायगा तो बस, सारा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा।

साहब घबड़ाये हुए वहाँ आकर खड़े हो गये, जहाँ हर साल बाँध टूटता था। लेकिन वहाँ उन्हें कहीं टूट जानेका कोई लक्षण नहीं दिखायी पड़ा। अकस्मात् वहाँ बिजलीकी रोशनी दीख पड़ी। उस तेजःपुञ्जके बीचमें श्याम और गौर वर्णके दो सुन्दर युवक हाथमें धनुष-बाण लिये खड़े नज़र आये। उन दोनोंके सुन्दर और सुदृढ शरीर और उनके अनुपम रूप-लावण्यको देखकर साहबको बड़ा अचंभा हुआ। एक साथ आश्चर्य और भयका अनुभव होने लगा। वे एकाग्र-दृष्टिसे उसी तरफ़ देखने लगे, जहाँ दोनों वीर खड़े थे। अब साहबको पक्का विश्वास हो गया कि वे दोनों अलौकिक और अतुलनीय हैं। साहब अपनी छत्री और टोपी दूर फेंककर उन करुणामूर्तियोंके पैरोंपर गिर पड़े और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे।

नौकरोंको साहबका यह अद्भुत आचरण देखकर सन्देह हुआ कि कहीं हमारे साहब पागल तो नहीं हो गये। वे दोनों दौड़कर साहबके पास आये और घबड़ाये हुए-से पूछने लगे, 'साहब! आपको क्या हो गया?' [illegible] उन लोगोंसे ज़ोर ज़ोरसे कहने लगे—'नादानो! उधर देखते नहीं हो? देखो उधर, उधर! कैसे सुन्दर-दो सुन्दर और बलवान् युवक हाथोंमें धनुषबाण लिये खड़े हैं। उनके चारों ओर बिजलीकी-सी रोशनी फैल रही है! उनमें एक हैं श्यामवर्णके और दूसरे गौर-वर्णके। उनकी आँखोंसे करुणाकी मानो वर्षा हो रही है। उनको देखते ही हमारी भूख-प्यास मिटती जा रही है। अभी उन दोनोंको देख लो। उधर देखो, उधर!!!'

नौकरोंको कुछ भी दिखायी नहीं पड़ा। साहबको पूरा विश्वास हो गया कि स्वयं श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीने ही झीलकी रक्षा की। दूसरे दिन सवेरे ही मधुरांतकम्-के लोगोंने पहली बार देखा कि झील पानीसे परिपूर्ण है। लोगोंके आनन्दकी कोई सीमा न थी। साहबने अपने कथनानुसार दूसरे ही दिनसे श्रीसीताजीके मन्दिरका काम शुरू कर दिया। जबतक मन्दिरका काम पूरा न हुआ, तबतक वे वहीं रहे। जिस दिन झीलकी रक्षा हुई, उस दिनसे वहाँके श्रीरामचन्द्रजीका नाम पड़ा 'एरि कात्त पेरुमाल' अर्थात् 'भगवान् जिसने झीलकी रक्षा की है।'

श्रीजानकीजीके मन्दिरमें एक पत्थरपर तामिलमें यह बात खुदी हुई है, जिसके माने यह हैं कि, 'यह धर्म-कार्य जान कम्पनीके जागीर-कलेक्टर लियानल प्राइसका है।' इस विचित्र घटनासे हम लोगोंको मालूम होता है कि एक अंग्रेज ईसाई सज्जन श्रीरामचन्द्रजीके भक्त बनकर उनके दर्शन पा सके और श्रीसीताजीके मन्दिरके निर्माता बने। जो मनुष्य भगवान्‌का सच्चा भक्त है और भगवान्‌पर विश्वास करके उनको मानता है, वह चाहे जिस कुलका भी क्यों न हो, उसपर दयासिन्धु भगवान्‌की पूर्ण रूपसे अनुकम्पा रहती है।

(हिन्दीप्रचार-समाचार)

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्‌ एल्० बी०)

व्यायाम और खेल-कूद

पिता—केशव ! क्या तुम जानते हो कि हर एक मशीन काम करनेसे घिसती है ?

केशव—हाँ, सो तो घिसेगी ही।

पिता—लेकिन कुछ मशीनें ऐसी भी हैं जो काम करनेसे घिसती नहीं, बल्कि और सुन्दर, मजबूत तथा बढ़िया बन जाती हैं।

केशव—वाह ! यह तो एक विचित्र बात है !

पिता—हाँ, दुनियाकी सबसे विचित्र बात !

केशव—भला, ये मशीनें हैं कहाँ ?

पिता—सबके पास हैं।

केशव—अरे, क्या इतनी सस्ती हो गयीं ? पर आपके पास तो नहीं हैं।

पिता—मेरे पास भी हैं और तुम्हारे पास भी।

केशव—अयँ ! आप किन मशीनोंकी बात कह रहे हैं ?

पिता—मेरा मतलब अपनी देहकी मशीनोंसे है।

केशव—ओह, अब समझा। परन्तु क्या हमारी देहकी मशीनें काम करनेसे घिसती नहीं ?

पिता—घिसती हैं, परन्तु ये मशीनें सजीव होती हैं। इसलिये अपनी क्षतिको अपने-आप पूरा कर लिया करती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि इनमें क्षतिकी अपेक्षा पूर्तिकी चाल अधिक तेज हो जाती है। इसीलिये ये मशीनें काम करनेसे दिन-पर-दिन अधिक पोढ़ी, अच्छी और सुन्दर बनती जाती हैं।

केशव—क्या इसके लिये कोई प्रमाण भी मौजूद है ?

पिता—हाँ, प्रमाण एक नहीं अनेक हैं और सब प्रत्यक्ष हैं। तुम उस जीवन लोहारको तो जानते होगे जिसकी दूकान लोहड्डीमें है ?

केशव—जी हाँ, खूब अच्छी तरह जानता हूँ। उसे तो मैं रोज ही आते-जाते देखा करता हूँ।

पिता—क्या तुमने उसकी भारी-भारी भुजाओंपर भी ध्यान दिया है ? कैसी मोटी और मजबूत हैं !

केशव—हाँ, बहुत ही मजबूत हैं। तभी तो वह इतना भारी घन उठा-उठाकर घंटोंतक चलाता है और फिर भी नहीं थकता।

पिता—हाँ, लेकिन ये भुजाएँ भी इतनी मोटी और मजबूत केवल इसीलिये हैं कि उन्हें रोज उस घनको घंटोंतक चलाना पड़ता है। यदि आज वह इस कामको छोड़ दे और पढ़ने-लिखनेका काम करने लगे, तो वे भुजाएँ भी वैसी न रह जायँगी। भला क्या तुमने कभी दफ्तरके बाबुओंकी भी भुजाएँ ऐसी मोटी और मजबूत देखी हैं ?

केशव—नहीं, उनकी भुजाएँ तो प्रायः कोमल और सुकुमार हुआ करती हैं।

पिता—हाँ, क्योंकि बाबुओंको लोहारकी तरह भारी-भारी घन नहीं चलाना पड़ता, केवल क़लम चलानी पड़ती है। यदि आज जीवन लोहार किसी दफ्तरके बाबूसे अपना काम बदल ले, तो थोड़े ही दिनोंके बाद उन दोनोंकी भुजाओंमें बहुत बड़ा परिवर्तन दिखायी देने लगेगा। अर्थात् जीवनकी भुजाएँ तो दिन-पर-दिन कोमल और कमज़ोर होती जायँगी और बाबूकी भुजाएँ अधिकाधिक मोटी तथा मजबूत होने लगेंगी। यही नियम शरीरके हर एक अंगके लिये लागू है। उदाहरणार्थ जिन लोगोंको नित्य दिनभर बाइसिकिलपर दौड़ना पड़ता है, उनकी टाँगें उसी प्रकार मजबूत हो जाती हैं, जैसे लोहारके हाथ। इसी तरह आँखें और कान भी नित्यके अभ्याससे बहुत अधिक तेज हो जाते हैं। जिन लोगोंको आँखोंसे बराबर काम लेना पड़ता है, उनकी आँखें बहुत-सी ऐसी चीजोंको देख सकती हैं, जिन्हें दूसरे लोग नहीं देख पाते और जिन लोगोंको अपने कानसे बराबर काम लेना पड़ता है उनके कान बहुत-से ऐसे शब्द सुन सकते हैं, जिन्हें दूसरे लोग नहीं सुन पाते। मैंने उस दिन एक किताबमें पढ़ा था कि जंगली आदमियोंकी आँखें कुछ मोटी और उभरी हुई हुआ करती हैं, क्योंकि उनकी मांसपेशियाँ शत्रु या शिकारकी खोजमें दूर-दूरतक देखने और

ज़ोर देकर देखनेके कारण बड़ी हो जाती हैं। इसी प्रकार उनके कान भी ज़ोर देकर सुननेके कारण बहुत तेज़ हो जाया करते है।

केशव—अच्छा यदि किसी अंगको बिल्कुल ही काममें न लाया जाय तो क्या हो?

पिता—जो अंग बिल्कुल ही काममें न लाया जायगा उसकी मांसपेशियाँ सिकुड़ कर छोटी पड़ जायँगी और वह अंग सूखकर मुर्दा हो जायगा। क्या तुमने प्रयागके माघमेलेमें उस साधूको नहीं देखा था, जो अपने हाथको सदा ऊपर ही उठाये रहता था?

केशव—हाँ-हाँ देखा था। ठीक है, अब ख़याल आया। उसका एक हाथ ऊपरको उठा हुआ था और सूखकर बिल्कुल लकड़ी-सा बन गया था।

पिता—हाँ, वह लकड़ी-सा इसीलिये बन गया था कि उससे वर्षोंतक कोई काम नहीं लिया गया। यदि हम अपने शरीरको बिल्कुल ठीक हालतमें मज़बूत और नीरोग रखना चाहते हैं तो यह ज़रूरी है कि अपने प्रत्येक अङ्गसे उचित ढंगसे काम लें। कुछ धंधे ऐसे हैं, जिनमें शरीरपर अपने-आप काफी मेहनत पड़ जाती है, जैसे किसानोंका काम, बागवानीका काम, मल्लाहोंका काम, धोबीका काम इत्यादि। अतः ऐसे धंधेवालोंको अलगसे मेहनत करनेकी ज़रूरत नहीं जान पड़ती। किन्तु बहुत-से धंधे ऐसे हैं, जिनमें या तो सवेरेसे शामतक बैठे रहना पड़ता है अथवा केवल आँखों और अङ्गुलियोंसे काम करना पड़ता है, जैसे दर्जीका काम, मोचीका काम, दुकानदारीका काम, लिखनेका काम इत्यादि। [illegible]

दिनभर शारीरिक परिश्रम करना पड़ता हो, उन्हें आवश्यक है कि वे अपने शरीरको कुछ देर आराम दें और जिन्हें सवेरेसे सन्ध्यातक केवल बैठना पड़ता है अथवा मस्तिष्कसे काम करना पड़ता हो, उन्हें आवश्यक है कि वे कुछ देरतक शारीरिक परिश्रम करें। ऐसा शारीरिक परिश्रम जो नियमपूर्वक शरीरको ठीक रखने या उसे अधिक उन्नत और बलवान् बनानेके लिये किया जाता है, कसरत या व्यायाम कहलाता है। व्यायामकी महिमा बड़ी भारी है। हमारे प्राचीन आर्योंमें इसका बेहद प्रचार था। इसीके प्रतापसे बालि, अङ्गद, हनूमान्, बलराम तथा भीम-जैसे अलौकिक बलशाली पहलवान यहाँ हो चुके हैं, जिनकी कीर्ति-कहानी हमारे यहाँ आज भी घर-घर कही और सुनी जाती है। प्राचीन यूनान देशमें भी, जिसने समस्त यूरोपको पहले-पहल [illegible] का मार्ग दिखलाया था, व्यायामकी लोकप्रियता बहुत बढ़ी हुई थी। व्यायामके ही द्वारा वहाँके निवासियोंने किसी समय अपने शारीरिक विकासको यहाँतक पूर्णताको पहुँचा दिया था, कि इटलीके शिल्पकार आजतक उनके शारीरिक सौन्दर्यको अपनी मूर्तियोंमें दिखानेकी चेष्टा किया करते हैं। यूनानी व्यायामशालाओंके नाम हजारों वर्ष बाद आज भी बड़े आदरके साथ लिये जाते हैं और [illegible] खेलों (Olympic Games) की चर्चा आज भी दुनियामें बड़े गौरवकी चीज बनी हुई है। आजकल भी तुमने [illegible]

केशव—जी हाँ। मैंने सुना है [illegible]

[illegible]

कि उचित भोजनकी आवश्यकता। व्यायाम और भोजन—बस ये ही दो ऐसे पहिये हैं, जिनपर हमारे शरीरकी गाड़ी उन्नतिके रास्तेपर आगे बढ़ सकती है। यदि इनमेंसे किसी एकका भी अभाव हो जाय तो गाड़ी लँगड़ी हो जायगी और नीचे गिर पड़ेगी। अतएव हमें इन दोनोंहीपर पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। दुनियामें आजकल जितने भी उन्नतिशील राष्ट्र हैं, सबोंमें इन दोनों बातोंपर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है। जर्मनी हो या जापान, इंगलैंड हो या अमेरिका—सब जगह व्यायामकी महत्ता उतनी ही अधिक मानी जाती है, जितनी भोजनकी आवश्यकता। किन्तु हमारे देशमें बात बिल्कुल उल्टी दिखायी देती है। यहाँ तो जिन लोगोंको सबेरेसे शामतक कठिन शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है, उन्हें पेटभर भोजन नहीं जुरता और जिन्हें दूध-मलाई और मालपूआ खानेको मिलता है, वे शारीरिक परिश्रमके पास नहीं फटकते। अस्तु, ऐसी अवस्थामें यदि हम अधिकतर रोगी और कमजोर बने रहें तो उसमें आश्चर्य ही क्या है! याद रखो कि व्यायामको छोड़कर और कोई भी ऐसा दूसरा साधन नहीं है, जिससे हमारा खून हमारे शरीरके हर एक भागमें अच्छी तरह बराबर चक्कर लगाता रहे। हमारे शरीरमें मीलों लंबी खूनकी ऐसी पतली-पतली नालियाँ बिछी हैं कि उनके सामने एक बाल भी इतना मोटा जान पड़ता है जितना एक बारीक सूतके सामने मोटा रस्सा। अस्तु, इन तमाम नालियोंमें खूनका बराबर दौड़ते रहना तभी सम्भव है जब कि हम कसरतद्वारा शरीरके हर एक हिस्सेपर पूरा जोर डालें और उसे सञ्चालित करें।

केशव—यदि यह खून सब जगह ठीक-ठीक न दौड़े तो क्या होगा?

पिता—देखो, खूनके दौड़नेसे हमारे शरीरमें दो प्रकारके काम होते हैं; प्रथम तो शरीरके हर एक हिस्सेको पूरा-पूरा भोजन मिल जाता है, जिससे हमारी तमाम क्षति पूरी हो जाती है। इस सम्बन्धमें पहले बतला चुका हूँ कि अन्य मशीनोंके समान हमारे शरीरकी मशीनें भी काम करनेसे बराबर घि[illegible] स्वयं चाहे कोई काम न क[illegible] मशीनोंका काम नहीं रुक [illegible] काम हर घड़ी और हर क्षण, [illegible] करती ही जायँगी। उदाहरणार्थ ह[illegible] पाकाशय, जिगर, गुर्दे आदि अपना क[illegible] भरके लिये भी नहीं छोड़ सकते, चाहे हम [illegible] या जागते, काम करते रहें या बैठे। अतएव घिसना और छीजना भी दिन-रात बराबर जारी है। लेकिन यह सारी क्षति हमारे भोजन किये [illegible] पदार्थोंके रससे ये पूरी कर लिया करते हैं और यह रस इनके पासतक हमारे खूनके ही द्वारा पहुँच सकता है। अस्तु, जबतक हमारा खून इनकी बारीक-से-बारीक रगोंमें स्वतन्त्रतापूर्वक न दौड़े, तबतक इन्हें पूरी-पूरी खूराक नहीं मिल सकती और न ये अपनी क्षतिको ही किसी तरह पूरा कर सकते हैं। खूनके दौड़नेसे जो दूसरा काम हमारे शरीरमें हुआ करता है, वह है शरीरकी भीतरी सफाई। इस सम्बन्धमें हम उस दिन 'स्वच्छ वायु-सेवन' की चर्चा करते हुए तुम्हें बतला चुके हैं* कि किस प्रकार हमारे भीतरकी गंदगी खूनके साथ शरीरके हर एक भागसे बहकर फेफड़ोंमें आती है और फिर किस प्रकार कार्बोनिक एसिड गैसके रूपमें वह श्वासके द्वारा बाहर निकाल दी जाती है। पश्चात् हमारा खून फेफड़ोंसे हवाकी आक्सीजनको लेकर शरीरके प्रत्येक भागमें लौट जाता है और फिर उसे पोषित करता है। अस्तु, यदि यह खून शरीरके हर एक भागमें और उसकी पतली-से-पतली नालियोंमें स्वतन्त्रतापूर्वक न दौड़े, तो न तो हमारे भीतरकी भलीभाँति सफाई होगी और न उसे पूरी-पूरी खूराक या पोषण ही मिलेगा। परिणाम यह होगा कि हमारा शरीर दिन-पर-दिन दुर्बल, रोगी और क्षीण होता जायगा।

केशव—अच्छा तो व्यायाम किया कैसे जाता है?

पिता—व्यायाम करनेकी सैकड़ों विधियाँ हैं। इनमेंसे दंड और बैठक करना तथा मुगदर भाँजना—हमारी देशी

* 'कल्याण' का गत ज्येष्ठ[illegible] अङ्क देखिये।

जोर देकर देखनेके कारण बड़ी हो जाती हैं। इसी प्रकार उनके कान भी जोर देकर सुननेके कारण बहुत तेज हो जाया करते हैं।

केशव—अच्छा यदि किसी अंगको बिल्कुल ही काममें न लाया जाय तो क्या हो?

पिता—जो अंग बिल्कुल ही काममें न लाया जायगा उसकी मांसपेशियाँ सिकुड़ कर छोटी पड़ जायँगी और वह अंग सूखकर मुर्दा हो जायगा। क्या तुमने प्रयागके माघमेलेमें उस साधूको नहीं देखा था, जो अपने हाथको सदा ऊपर ही उठाये रहता था?

केशव—हाँ-हाँ देखा था। ठीक है, अब खयाल आया। उसका एक हाथ ऊपरको उठा हुआ था और सूखकर बिल्कुल लकड़ी-सा बन गया था।

पिता—हाँ, यह लकड़ी-सा इसीलिये बन गया था कि उससे वर्षोंतक कोई काम नहीं लिया गया। यदि हम अपने शरीरको बिल्कुल ठीक हालतमें मजबूत और नीरोग रखना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि अपने प्रत्येक अङ्गसे उचित ढंगपर काम लें। कुछ धंधे ऐसे हैं, जिनमें शरीरपर अपने-आप काफी मेहनत पड़ जाती है, जैसे किसानोंका काम, बागवानीका काम, मल्लाहीका काम, धोबीका काम इत्यादि। अतएव ऐसे धंधेवालों-को अलगसे मेहनत करनेकी जरूरत नहीं जान पड़ती। किन्तु बहुत से धंधे ऐसे हैं, जिनमें या तो सबेरेसे शामतक बैठे रहना पड़ता है अथवा केवल आँखों और अङ्गुलियोंसे काम करना पड़ता है, जैसे दर्जीका काम, मोचीका काम, दुकानदारोंका काम, चित्रकारोंका काम इत्यादि। ऐसे धंधेवालोंके लिये जरूरी है कि वे नित्य नियमपूर्वक कुछ देर ऐसे परिश्रमके काम करें, जिनसे उनके हाथ, पैर और सम्पूर्ण शरीरकी मांसपेशियाँ [illegible]

दिनभर शारीरिक परिश्रम करना पड़ता हो, उ आवश्यक है कि वे अपने शरीरको कुछ देर आराम दें और जिन्हें सवेरेसे सन्ध्यातक केवल बैठना पड़ता अथवा मस्तिष्कसे काम करना पड़ता हो, उन्हें आव है कि वे कुछ देरतक शारीरिक परिश्रम करें। दे शारीरिक परिश्रम जो नियमपूर्वक शरीरको ठीक रख या उसे अधिक उन्नत और बलवान् बनानेके लिये कि जाता है, कसरत या व्यायाम कहलाता है। व्याया महिमा बड़ी भारी है। हमारे प्राचीन आर्योंमें इस बेहद प्रचार था। इसीके प्रतापसे बालि, अङ्गद, हनुम बलराम तथा भीम-जैसे अलौकिक बलशाली पुरुष यहाँ हो चुके हैं, जिनकी कीर्ति-कहानी हमारे यहाँ आ भी घर-घर कही और सुनी जाती है। प्राचीन यू देशमें भी, जिसने समस्त यूरोपको पहले-पहल अनुकर का मार्ग दिखलाया था, व्यायामकी लोकप्रियता बे बढ़ी हुई थी। व्यायामके ही द्वारा वहाँके निवासियोंने कि समय अपने शारीरिक विकासको यहाँतक पूर्णतापर पहुँ दिया था, कि इटलीके शिल्पकार आजतक उनके शारीरि सौन्दर्यको अपनी मूर्तियोंमें दिखानेकी चेष्टा किया कर हैं। यूनानी व्यायामशालाओंके नाम हजारों वर्ष ब आज भी बड़े आदरके साथ लिये जाते हैं और ओलम्पि खेलों (Olympic Games) की यादगार आज भी दुनियामें बड़े गौरवकी चीज बनी हुई है। आजकल तुमने सैण्डो और प्रोफेसर राममूर्तिका नाम तो सुना होगा?

केशव—जी हाँ। मैंने सुना है कि राममूर्ति [illegible] मोटरोंको एक साथ रोक लेते थे और [illegible] जंजीरोंको केवल अपने झटकेसे तोड़ देते थे।

पिता—हाँ, यह सारी महिमा भी व्यायामकी [illegible]

शरीरका व्यायाम हो जायगा और फिर किसी दूसरे प्रकारके व्यायामकी जरूरत न रहेगी।

केशव—लेकिन क्या इतनी ही कसरतसे हम राममूर्ति-की तरह बलवान् बन सकते हैं?

पिता—नहीं, और न हमें उसकी आवश्यकता ही है। लोहेकी जंजीरें तोड़ना, मोटरगाड़ियाँ रोकना अथवा पहलवानी करना पेशेवर लोगोंके काम है। ऐसे लोग अपना सारा ध्यान केवल शारीरिक बलको बढ़ानेमें ही लगाया करते है और फिर उनसे दूसरा काम नहीं हो सकता। मस्तिष्कका काम तो ऐसे लोगोंसे बहुत ही कम हो सकता है और ये दीर्घायु भी अधिकतर नहीं देखे जाते। हम और तुम-जैसे व्यक्तियोंका उद्देश्य शारीरिक बलको उतना बढ़ाना नहीं है, जितना उसे स्वस्थ, नीरोग और जीवनमें अधिक-से अधिक काम लायक बनाये रखना है। अतएव हमें केवल उतने ही व्यायामकी जरूरत है, जितनेसे हमारा शरीर सदा स्वस्थ और फुर्तीला रह सके और हमारी मानसिक शक्तियोंके विकासमें स[illegible]

केशव—अच्छा, हमें कसरत करनी किस [illegible]

पिता—कसरतका सबसे अच्छा समय [illegible] है। सन्ध्याको भी वह की जा सकती है, [illegible] सन्ध्यामें मनुष्य दिनभरकी मेहनतके बाद [illegible] हुआ-सा रहता है। अतएव ऐसे समयमें [illegible] व्यायामके लिये तबियत नहीं होती। लेकिन सबेरे [illegible] या सन्ध्या, कसरत कभी भोजनके बाद तत्काल ही नहीं करने लगना चाहिये, नहीं तो लाभके बजाय हानि ही उठानी पड़ेगी। भोजनके कम-से-कम तीन-चार घंटे बाद ही कसरत की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कसरत सदैव स्वच्छ और खुली हुई हवामें करनी चाहिये। बंद कोठरियोंमें अथवा गर्द या धुएँसे भरी हुई हवामें कसरत करना सदैव हानिकारी सिद्ध होती है।

केशव—समझ गया। अब कल सबेरेसे ही कसरत शुरू कर दूँगा।

भय अध्यात्ममार्गका बाधक है

(लेखक—प्रो० श्रीफीरोज कावसजी दावर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

ईश्वरमें विश्वास अध्यात्ममार्गकी पहली सीढ़ी है। यह पहला गुण है, जो साधकके प्राणोंमें भगवत्कृपा प्राप्त करनेकी आशाका सञ्चार करता है। भगवान्में विश्वास और उनकी कृपाकी आशा—इन दो गुणोंको जिज्ञासु जितने अंशमें अपना पाता है, उतने ही अंशमें वह मनोबलसे सम्पन्न होता है, निर्भीक होता है। और सदुद्देश्यकी सिद्धिके लिये निर्भीक चेष्टा ही उसे मार्गके क्लेश और आयासको सहन करनेकी शक्ति देकर अन्ततः अपने चरम लक्ष्यतक पहुँचाती है। संशय और सन्देह बहुत अंशोंमें मनुष्यको आशाहीन बना देता है, उसके बलको क्षीण कर देता है, और शुभ एवं पुण्य कर्म करनेके सङ्कल्पको शिथिल कर देता है। संशयात्मा पुरुषमें साहस और मनोबलका अभाव होता है; वह सदा सन्देह और भयका शिकार बना रहता है, जिसके कारण वह धैर्यके साथ आये हुए दुःखोंको सहन नहीं कर पाता बल्कि नये-अनागत दुःखोंके जालमें स्वयं फँस जाता है। भय अध्यात्मरूपी शरीरके लिये एक जहरीला फोड़ा है, जो मनुष्य-को भगवान् एवं मनुष्यके प्रति अपने कर्तव्यका पालन नहीं करने देता और उसके चित्तको अपनेमें ही फुलाये रखता है। [illegible] दुःखकी निवृत्ति करानेवाला नहीं होता; वह तो पहलेसे दुःख-की सम्भावना खड़ी कर देता है और दुःखको बुलाता है, फिर चाहे दुःख आये ही नहीं, तथा दुःखके आनेपर वह उसे बढ़ा देता है और तिलको पहाड़का रूप दे देता है। मनुष्य-के भाग्यमें सुख बदा हो, तो भी भय उस भाग्यको चरितार्थ नहीं होने देता। यह उक्ति सर्वथा सत्य है कि 'अविश्वास' नामकी कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि अविश्वास भी एक प्रकारका विश्वास ही है—विश्वासके अभावमें विश्वासका ही नाम तो अविश्वास है! इसी प्रकार भयका अर्थ अविश्वास नहीं किन्तु विश्वास ही है—वह विश्वास [illegible] न होकर अशुभमें होता है, और इस प्रकार भीरु मनुष्य चाहे वह धर्मात्मा ही क्यों न हो, अनजानमें [illegible] बन सकता है, [illegible] आता है। गीता (१६ । १-३) में जिन दैवी [illegible] आता है, उनमें सर्वप्रथम स्थान 'अभय' को दिया गया है; और उस [illegible] दैवी सम्पदा [illegible] सम्पदा [illegible]।

[illegible]

और बहुत पुरानी चीज है। आजकलके नये ढंगके डम्बेल और जिम्नास्टिककी कसरतें भी बहुत अच्छी हैं। इनसे शारीरिक विकास बड़े सुन्दर रूपमें होता है। इनके अतिरिक्त दौड़ना, कूदना, उछलना, पानीमें तैरना, नाव खेना और घुड़सवारीका काम भी व्यायामके ही अन्तर्गत है। भाँति-भाँतिके खेल-कूद भी व्यायाममें ही शामिल हैं, जैसे टेनिस, पोलो, हाकी, फुटबाल, वालीबाल, क्रिकेट इत्यादि। इनमेंसे कुछ खेलोंका प्रबन्ध प्रायः हर एक अंग्रेजी स्कूल और कालिजमें रहा करता है। किन्तु ये सब खेल पैसेवालोंके लिये हैं। हमारा हिंदुस्तानी कबड्डीका खेल एक ऐसा खेल है, जिसमें कसरत और मनबहलाव तो उतना ही होता है जितना उपर्युक्त खेलोंमें, किन्तु पैसा एक भी नहीं खर्च होता। अतएव इससे गरीब और अमीर सब लाभ उठा सकते हैं। योगासनकी क्रियाएँ भी हमारी नसों, रगों और मांसपेशियोंको खींचने और ताननेमें बड़ा काम करती हैं। साथ ही इनसे साँस भी जल्दी नहीं फूलती। अलग-अलग प्रकारके आसन अलग-अलग अंगोंके लिये उपयोगी बतलाये जाते हैं। इनमेंसे 'शीर्षासन' की प्रशंसा सबसे ज़्यादा है। किन्तु कुछ लोगोंको यह ठीक नहीं पड़ती। मैंने भी जब-जब इसे आरम्भ किया तब-तब सिरमें कठिन पीड़ा पैदा हो गयी। इसलिये मुझे तो 'सर्वांगासन' और 'मयूरासन' ही ज़्यादा अच्छे जँचे। इनसे पेट, पीठ, छाती, टाँगों और अँतड़ियोंकी कसरत बहुत अच्छी हो जाती है। किन्तु प्रत्येक व्यक्तिको अपनी-अपनी रुचि और सामर्थ्यके अनुसार अपने ढंगकी कसरत स्वयं पसंद कर लेनी चाहिये। उद्देश्य सबका एक ही है, अर्थात् शरीरका स्वास्थ्य। हाँ, कसरत चुननेमें इस बातका ध्यान जरूर रहे कि शरीरकी सम्पूर्ण मांसपेशियोंपर या अधिक-से-अधिक मांसपेशियोंपर जहाँतक जोर डाला जा सके और यह जोर कभी अधिक न हो। वैसे तो हमारे प्रत्येक अं दूसरे अंगोंके साथ इतना घनिष्ठ है कि किसी अंगके सञ्चालनसे दूसरे अंगोंपर प्रभाव

है। उछल-कूदके लिये दौड़नेमें कुछ अधि
में काम लेना पड़ता है, किन्तु
और फेफड़ोंका काम भी उसमें
इनके सञ्चालनमें भी तेजी आ
सम्पूर्ण क्रिया तेज हो जाती
मांसपेशियोंपर खिंचाव पड़ने और
उसी भागका विकास अधिक होने
उतना विकास नहीं पाते। अ
वह है, जिससे शरीरके प्रत्येक
और उचित मात्रामें जोर पड़े औ
समानरूपसे विकास हो। इस विच
प्रातःकाल तेजीके साथ पैदल चलना
कही जा सकती है। इससे हाथ, पैर
अँतड़ियोंका एक साथ और समानरूपसे
है। साथ ही मैदानकी स्वच्छ वायुके से
चित्र-विचित्र दृश्योंको देखनेसे मन भी
और पवित्र हो जाता है। तुम्हारे लिये हम
बतलाते हैं, जिसे तुम घरपर आसानीसे क

केशव—यह कौन-सी कसरत है?

पिता—यह है एक जिम्नास्टिककी घरपर आसानीसे की जा सकती है और भी है। एक मामूली लोहेका दो हाथ अथवा लकड़ीका चिकना डंडा, लाठी या और उसके दोनों सिरोंको तार या रस्‍ उसे छतसे आड़ा टाँग लो। और बस फिर रोज दोनों हाथोंसे पकड़कर लटको और जोर इस प्रकार दो-चार मिनट झूल लेनेके
टॅ
कड़ा कर
अपने मुँह
रे फिर नीचेके
करो। तत्पश्चा
कड़ा करके टाँ
धीरे ले जा

दण्डका भय होता है। भय दुराचारका असाधारण लक्षण है, जिस प्रकार जाड़ेकी शीतज्वर (मलेरिया) का लक्षण है; और दोनों ही व्याधियोंका शमन हो सकता है। अपराध-को छिपानेकी चेष्टा कदापि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अपराधोंके लिये अपने अपराधको छिपाना स्वयं अपराध है। अतिशय स्पष्टवादिताके द्वारा अपराधी समाजकी सहानुभूति प्राप्त कर सकता है, फिर उसे चाहिये कि वह कानूनको अपना काम करने दे। दुराचाररूपी रोगकी दवा भय नहीं है, किन्तु निर्भीकता और परिणामको भुगतनेकी तैयारी—चाहे वह कैसा ही भयङ्कर क्यों न हो—यही उसका समुचित उपचार है। इसके साथ-साथ हार्दिक पश्चात्ताप एवं उसी जातिका पापाचरण पुनः न करनेका दृढ संकल्प भी आवश्यक है। बीती हुई बातके लिये रोने-धोने और कायरकी भाँति लोकापवाद अथवा कानूनी दण्डके भयसे अभिभूत होनेकी अपेक्षा दुराचारीको स्पष्टवादिता एवं पश्चात्तापके द्वारा अपने हृदयको शुद्ध करनेसे अधिक शान्ति मिलेगी। ऐसे अनेक संगीन अपराध हैं, जो कानूनकी दृष्टिमें अपराध ही नहीं हैं, अतएव जिनके लिये कानूनमें कोई दण्डविधान नहीं है; अथवा जहाँ कानूनी कार्रवाई हो भी सकती है, वहाँ बहुधा योग्य वकीलकी युक्तियोंके द्वारा कानूनकी कड़ाईसे बचा जा सकता है। परन्तु इस प्रकारकी युक्तियोंसे मनुष्य-समाजकी दृष्टिमें कलंकसे भले ही बच जाय, परन्तु वह अपने सरजनहारके कोपसे अपनी आत्माकी रक्षा नहीं कर सकता। प्रतिभायुक्त किन्तु दूषित चतुराईके द्वारा पार्थिव शासकोंकी आँखोंमें धूल झोंकी जा सकती है, परन्तु अपराधीके हृदयमें बैठी हुई अदालत तो पहले ही उसके विरुद्ध फैसला दे चुकती है। वास्तवमें किये हुए अपराधका भय जीवनभर मनुष्यका पिंड नहीं छोड़ेगा और दूसरे अन्याय्य उपायोंके द्वारा यदि उसे दबानेकी चेष्टा की जायगी तो वह आत्माके लिये और भी क्लेशदायक हो जायगा। भयसे मुक्त होनेके लिये अपराध-का दण्ड भुगतना ही होगा और अपराध-स्वीकार एवं पश्चात्तापके द्वारा उसके परिणामको निर्भय होकर ग्रहण करना होगा।

कभी-कभी सदाचारी पुरुष भी अपने पुत्रों अथवा सम्बन्धियोंके दूषित आचरणोंको निर्दोष सिद्ध करनेकी व्यर्थ चेष्टामें पड़कर स्वयं अपराध कर बैठते हैं, और उस भूलके परिणामका भय उनके सम्पूर्ण शेष जीवनको अशान्तिमय बना देता है। भगवान् हमें पुत्र इसलिये देते हैं कि हम उन्हें शिक्षित कर धर्मके—न्यायके मार्गपर चला सकें, न कि इसलिये कि वे अपने माता-पिताकी आध्यात्मिक प्रगतिमें रोड़े अटकावें। दुर्भाग्यवश यदि किसी पिताको अपने पुत्रके दोषयुक्त आचरणका जान-बूझकर झूठा और पक्षपातपूर्ण समर्थन करना पड़े तो हमारी समझमें उस भूलके सर्वोत्तम उपाय यह है कि जिन जिन लोगोंसे उसका ... हो, उन सबके सामने स्पष्ट शब्दोंमें अपनी भूल स्वीकार कर ली जाय और उसके लिये हृदयसे पश्चात्ताप तथा भगवान्से क्षमा-प्रार्थना की जाय।

अवश्य ही मानवीय विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें असंस्कृत एवं अविकसित प्रकृतिके जीवोंके लिये, जिनपर प्रेमका प्रभाव नहीं पड़ता अथवा जिनपर दूसरे प्रकारसे शासन नहीं किया जा सकता, भयकी आवश्यकता है। कुछ लोगों-के हृदयमें किसी मात्रामें भयका सञ्चार करना आवश्यक होता है; क्योंकि कुछ समयतक उनके लिये वह हितकारी होता है—जबतक कि वे इस योग्य न हो जायँ कि उन्हें तर्कके द्वारा समझाया जा सके, उनपर साम-नीतिका प्रयोग हो सके, उतने समयके लिये प्रेमके ही अरुणोदयके रूपमें भयकी आवश्यकता है। उदारतापूर्ण एवं अनुकूल व्यवहारके द्वारा प्रजा एवं सैनिकोंके हृदयपर अधिकार कर सकनेके पूर्व राजा एवं सेनापतिके लिये बहुधा यह आवश्यक होता है कि वे उनके भय एवं सम्मानके पात्र बनें। सरकसके बाघको तब-तक भूखों मारते हैं, जबतक वह अपने रक्षककी आज्ञाओंका दुम दबाकर पालन न करने लगे; बालक जब अपने अध्यापककी बात माननेको किसी प्रकार भी राजी नहीं होता तब उसे बेंत दिखाकर डराया जाता है; जंगली जातियोंको, यदि वे समाजमें रहना चाहती हैं तो, समाजके नियमोंका पालन करनेके लिये कठोर कानूनद्वारा बाध्य किया जाता है; अपराधीको कानूनके भयसे शासनमें रक्खा जाता है और जिस क्षण वह उच्छृंखलता करता है, उसी क्षण उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई शुरू कर दी जाती है। परन्तु सरकसवाले यदि बाघको सदाके लिये भूखा रक्खें तो परिणाममें वह मर ही जायगा, और बालकको यदि निरन्तर ताड़ना ही दी जाय तो वह निश्चय ही मन्दबुद्धि हो जायगा, उसकी बुद्धिका विकास मारा जायगा। यह याद रखना चाहिये कि हम सभी पशुसे मनुष्य बनते हैं और मानवतासे देवत्वकी ओर—दैवी राज्यकी ओर बढ़ते हैं। अतः सभी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें तथा असंस्कृत प्रकृतिके जीवोंके लिये कुछ समयतक भय उपयोगी सिद्ध होता है; सहृदयतापूर्ण बर्तावका तबतक उनपर कोई असर नहीं होता जबतक कि पहले उन्हें भय नहीं दिखलाया जाता, और भयकी तभीतक आवश्यकता होती है, जबतक कि उनका हृदय सहृदयताको ग्रहण करनेके योग्य न बन जाय, प्रेमपूर्ण बर्तावकी कदर न करने लग जाय। 'भय बिनु होइ न प्रीति'—यह लोकोक्ति ऐसे ही जीवोंके सम्बन्धमें लागू होती है। इसी प्रकार सभी मतावलम्बियों-का मार्ग प्रशस्त करनेके लिये नियमोंका बन्धन—शास्त्रोंका

नियन्त्रण आवश्यक होता है, और पूर्णतया उन्नत समाजमें कानूनका पर्यवसान प्रेममें होता है ।

बहुधा हमें यह कहा जाता है कि भगवान् और उनके कोपसे डरो । परन्तु किसीसे डरनेकी आवश्यकता तभी होती है, जब कि हमने उसका कोई अपराध किया हो । यदि हमने उसका कोई अपराध नहीं किया है तो फिर हम उससे डरें क्यों । अतः पापाचारियोंको ही भगवान्से डरनेकी आवश्यकता है—जितने अंशमें उन्होंने पाप किये हैं । इसपर यह कहा जा सकता है कि साधु-से-साधु पुरुषसे भी अपराध बननेमें आते ही हैं, उनसे भी भूल होती है; और जगत्में सर्वथा निष्पाप मनुष्यका मिलना असम्भव है । यह ठीक है कि सर्वथा निष्पाप मनुष्यका जगत्में मिलना कठिन है; फिर भी हम स्पष्टवादिता, पश्चात्ताप एवं जो अपराध एक बार हमसे बन चुका है, उसे दुबारा न करनेके दृढ़ संकल्पके द्वारा अपने अन्तरात्माको शुद्ध करके पापके मार्गसे धर्मके मार्गपर लौट तो सकते ही हैं । ऐसा कर चुकनेके बाद भगवान्से डरते रहनेकी आवश्यकता नहीं है । भगवान्के सम्बन्धमें बहुधा ऐसी कल्पना की गयी है कि वे हमारे पाप-पुण्यका निर्णय करनेवाले न्यायाधीश हैं । परन्तु जबतक हम कोई ऐसा अपराध न कर बैठें, जो कानूनके द्वारा दण्डनीय हो, तबतक हम न्यायाधीशसे कभी नहीं डरते । जब कि हम एक सीमाके अंदर रहकर ईमानदारी एवं सचाईके साथ जीवन यापन करते हैं, तब हमारे लिये निरन्तर अफसरोंसे डरते रहना पागलपन ही है । परन्तु भगवान्की 'पिता'के रूपमें भी कल्पना की गयी है; और यद्यपि एक न्यायाधीशसे तो क्षमाकी आशा नहीं की जा सकती—क्योंकि इच्छा होनेपर भी वह कानूनसे बँधे रहनेके कारण दण्ड्य मनुष्यको क्षमा नहीं कर सकता, किन्तु पितासे तो हम इस प्रकारकी आशा कर ही सकते हैं । अतः 'न्यायाधीश'से निरन्तर डरते रहनेके बदले हम 'पिता' से निरन्तर प्रेम करते हुए उनकी इच्छाको—सङ्कल्पको पूर्ण करनेकी चेष्टा क्यों न करें और इस प्रकार अपने हृदयसे भयके भूतको सदाके लिये भगा दें । मोक्षके मार्गपर पैर रखनेके पहले हमें सन्देहको विश्वासमें, भयको प्रेममें, निराशाको आशामें और नश्वरताको अमरतामें बदल देना होगा ।

भयकी सर्वथा निवृत्ति यद्यपि असम्भव तो नहीं है, किन्तु इसमें सफलता बड़े ऊँचे साधकोंको ही मिल सकती है । भयका मूल अहङ्कार है, जो जगत्के इस विशाल एवं जटिल जालको रच देता है और आत्मा उसीमें फँस जाता है । यदि आत्मा अहङ्कारके द्वारा निर्मित इस जालसे अपनेको पृथक् करके इसका द्रष्टा बन जाय और इसे एक [illegible] किन्तु सार-हीन मायामय खेल समझ ले तो जिस वस्तुके साथ उसका अब कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है, उसके विरूप अथवा नष्ट हो जानेका कोई भय उसके मनमें नहीं रह सकता, इस प्रकारके भयका कोई कारण ही नहीं रह जाता । गीता (१८ । १) में भी अनासक्ति एवं कर्मफलके त्यागपर विशेष जोर दिया गया है और उन्हें वास्तविक त्यागमें सहायक बताया गया है, जो योगीके लिये आवश्यक है । जिसके पास अशर्फियोंकी थैली हो, वह लुटेरों एवं बनैले जन्तुओंके भयसे जंगलमेंसे होकर जानेमें हिचकेगा; परन्तु यदि उसे यह ज्ञान—यह अनुभूति हो गयी है कि शरीर और धन उसे धरोहरके रूपमें इसलिये मिले हैं कि उनका उपयोग भगवत्सेवामें—केवल परोपकारके कार्योंमें किया जाय, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये नहीं, तो वह घने-से-घने जंगलमेंसे होकर बेखटके चला जायगा । यदि उसका मन साफ़ है, उसकी अन्तरात्मा निर्दोष है, तो लोकापवादसे उसे तनिक भी दुःख न होगा । पुत्रके मृत्युशय्यापर पड़े रहनेपर भी वह शोकसे मूर्च्छित नहीं होगा, यदि वह यह अनुभव करेगा कि 'भगवान्ने ही दिया है और वे ही अपनी वस्तुको—अपनी धरोहरको वापस ले रहे हैं ।'

भय और दुःख बहुधा अपने क्षुद्र 'अहं' एवं उससे सम्बद्ध व्यापारोंमें आसक्तिसे, झूठी ममत्वबुद्धिसे तथा मिथ्या अभिमान एवं उससे उत्पन्न होनेवाले सन्तोषसे प्रादुर्भूत होते हैं । हमारे पास कोई पदार्थ हो और साथ ही उसके चले जानेकी आशङ्का, उसके नाशका भय न हो—यह असम्भव है । उस वस्तुके चले जानेका शोक तो केवल उस व्यक्तिको नहीं होगा, जो उस पदार्थका उपयोग केवल इसलिये करता है कि भगवान्ने मुझे उस वस्तुको अपनी (भगवान्की) इच्छाके अनुसार बर्तनेकी आज्ञा दे रक्खी है; क्योंकि उसे इस बातका ज्ञान पहलेसे रहेगा कि वह वस्तु मेरे पास कुछ ही दिनोंके लिये रक्खी गयी है, बराबरके लिये उसपर अधिकार मुझे नहीं दिया गया है । अतः सर्वोत्तम उपाय है—भीतरसे संन्यासी हो जाना, सभी वस्तुओंका उपयोग करना किन्तु भीतर उनसे बेलाग रहना, मानो उनपर हमारा कोई अधिकार नहीं है, भगवान्ने केवल उन्हें बरतनेके लिये हमें दे रक्खा है । यदि मनको इस प्रकारका बना लिया जाय और ममताका भार मनसे निकाल दिया जाय तो भय अपने-आप ठीक उसी प्रकार हमारे मनसे निकल जायगा, जिस प्रकार एक बेल, उस वृक्षके कट जानेपर जिसके चारों ओर वह लिपटी हुई होती है, अपने-आप गिर पड़ती है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि [illegible] ऊँची श्रेणीके पुरुष हैं, [illegible] जिनका अहंभाव [illegible] निवृत्त हो गया है, वे [illegible] नाटकके पात्र न रहकर केवल उसके द्रष्टा बन गये हैं, [illegible] [illegible] निर्विकार रह सकते हैं और [illegible]

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, अप्रैल १९४२ सौर चैत्र १९९८ { संख्या ९ पूर्ण संख्या १८९

मैं फल पायो !

दुहुँ भाँतिन को मैं फल पायो।
पाप किए तातें बिमुखन सँग देस देस भटकायो।
तुच्छ कामना हित कुसंग बसि झूठे लोभ लुभायो॥
कौन पुन्य अब वृंदावन बरसाने सुबस बसायो।
आनँद निधि ब्रज अनन्य मंडली उर लगाय अपनायो॥
सुनियेहू नहिं दुर्लभ सो सब रस बिलास दरसायो।
नाना स्याम दास नागरको कियो मनोरथ भायो॥

—नागरीदास

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥
(अथर्व० ४ । १८ । ६)

जो हिंसाकी इच्छा करता, कभी नहीं कर सके उसे ;
अपने पैर और अङ्गुलिको तोड़ तापमें सदा बसे ॥
करता है कल्याण हमारा, बोता अपने हित विष-बीज ;
पापोंके प्रतिफलमें तपता, जाता उसका वैभव छीज ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥
(ऋ० ७ । ५९ । १२)

जो त्रिकालज्ञ त्रिलोकीमें, त्रिलोचनि अम्बिका—
सुखदा, सुभग सौरभमयी, अमिताभ, पुष्टि-विवर्धिका ॥
वह मृत्यु-भयसे मुक्त कर दे, माँ अमृतमय गोद दे ।
ज्यों कर्कटी-फल वृन्तसे हो मुक्त परम प्रमोद दे ॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥
(अथर्व० १० । ७ । ३७)

नहीं ठहरता अरे, वायु क्यों ? क्यों न कहीं मन रम जाता ?
यह जल—यह प्रवाह क्यों बहता ? क्यों न कहींपर थम जाता ?
अरे, निरन्तर गति-संसृतिमें, इनको यहाँ किधर जाना ?
अन्त कहाँ होगा चलनेका, कभी किसीने पहचाना ?
हाँ, हाँ, यहाँ रहेंगे ये क्यों ? जहाँ असत्य-विनाश रहे ;
इन्हें सत्य पानेकी इच्छा, जहाँ अमरता-स्रोत बहे !

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविहुतम् ॥
(अथर्व० ६ । २६ । १)

पाप ! अब परिपाक तेरा ।
भर गया घट फूटनेको, छूटनेको भाग्य मेरा ॥
अब न मैं आधीन तेरे, तू पड़ा मेरे चरणमें ;
दास बन सुख दे मुझे, फिरसे न हो छल-छन्द तेरा ।
छोड़ दे अब तो, कुटिल ! मैं हूँ सरलताका पुजारी ;
आज मंगल-लोकमें मेरा तने कस्मान डेरा ॥

स्वामी श्रीचन्द्रोदयानन्दजी पुरीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—सारे शरीरको चाहे व्यावहारिक कामोंमें लगा दो, किन्तु जीभको तो प्रभुके नाम लेनेमें ही लगाओ। शरीरमें तरह-तरहके व्यसन भरे पड़े हैं, इसलिये वह सबका त्याग करनेमें तो समर्थ नहीं है। अतः पहले एक व्यसनको त्याग कर जब उसके त्यागमें उसकी निष्ठा स्थिर हो जाती है तो वह दूसरे व्यसनको भी त्याग सकता है। यदि मनुष्य भगवान्‌के नामोंका चिन्तन करनेमें प्रवृत्त रहे तो उसका कल्याण क्यों न होगा। भगवान्‌का आश्रय लेनेपर क्या दुर्लभ है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९। ३२)

'हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर तो जो पापयोनियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य तथा स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं।'

२—मनुष्यजन्मका प्रधान उद्देश्य है अपना परम कल्याण कर लेना और उसके बाद शरीरको परोपकारमें लगा देना। संतजन अपने मुखसे जो वाणी निकालते हैं, वह अपने लिये नहीं वरं परोपकारके लिये ही होती है। अपना उपकार तो वे कर चुके, अब तो परोपकारके लिये ही उनकी सारी चेष्टाएँ होती हैं; क्योंकि सब लोग उन्हींसे अपने आचरणकी शिक्षा लेते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति [illegible]
स यत्प्रमाणं कुरुते [illegible]
([illegible])

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण [illegible] दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। वह जिसे [illegible] कर देता है, उसीका लोग अनुवर्तन करने [illegible]'

३—नाम-कीर्तन करनेवालोंको स्नान, सन्ध्या [illegible] जप आदि नित्यकर्म भी यथाधिकार अवश्य करने चाहिये। शूद्रोंको सन्ध्यादिका अधिकार नहीं है, इसलिये वे केवल कीर्तन ही करें। अपने-अपने अधिकारके अनुसार भगवान्‌का पूजन करनेसे हृदयका कल्मष दूर होकर प्रभुमें प्रेमकी वृद्धि होगी।

४—भक्ति और ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं है। जो ज्ञानका लक्ष्य है, वही भक्तिका भी है। जबतक पुरुष अनन्यभावसे भगवान्‌का चिन्तन नहीं करता, तबतक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता और चित्त शुद्ध हुए बिना ज्ञानमें स्थिति नहीं हो सकती। बोध तो वही प्राप्त कर सकता है, जिसका चित्त शुद्ध हो गया है। अतः प्रत्येक मनुष्यको अपना अधिक-से-अधिक समय भगवान्‌के चिन्तनमें ही लगाना चाहिये तथा संसारकी सारी आस्थाओंको छोड़कर भगवत्प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाकर निष्कामभावसे अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करना चाहिये।

प्रार्थना

दयामय ! जीवनके दिन तो बीते चले जा रहे हैं। वह दिन कब होगा जब मैं ...
धन, घर-संसार—सबकी परवा छोड़कर केवल तुम्हारे भजनमें ही लगा रहूँगा। बहुत बार
सोचता हूँ, परन्तु कर नहीं पाता। समय बीत रहा है। सब ओर, सभी वस्तुओं और स्थिति
परिवर्त्तन हो रहा है। जो आज है, वह कल नहीं दीखता। किसी भी स्थितिमें सच्चे सुखके द
नहीं होते। अपनी भावनाके अनुसार निरन्तर कल्पित सुख-दुःखके सागरमें डूबता-उत
रहता हूँ। जानता हूँ—खूब समझता हूँ कि यह सब कुछ विनाशी है; तथापि इससे मुँह मोड़
तुम्हारे नित्य-नव सुन्दर स्वरूप, नित्य कल्याणमय नाम और नित्य सत्य निर्भय पदका आश्रय
ले पाता। प्रभो ! मेरी यह मोह-निद्रा कब भङ्ग होगी ? दिन-रात चित्त अशान्त रहता
नाना प्रकारकी कल्पनाएँ मनको सर्वथा वैसे ही क्षुब्ध बनाये रखती हैं जैसे भीषण तूफानके का
आकाशमें उछलती हुई ऊँची-ऊँची तरङ्गें समुद्रको !

मेरे स्वामी ! मैं इस अशान्तिसे कब छुटकारा पाऊँगा ? कब मैं जाति, कुल, विद्या, रू
कीर्त्ति, सम्पत्ति, स्थिति और साधनाके अभिमानसे छूटकर तुम्हारे चरणोंपर अपनेको न्योछावर क
सकूँगा ! तुम्हारे ही परम बलसे बलवान् और परम धनसे धनवान् होकर कब मैं सारे अभावों
अभावका शान्तिमय अनुभव कर सकूँगा ?

दीनबन्धो ! मैं यह पढ़ता-सुनता हूँ, कहता हूँ, और कभी-कभी विवेकके जागनेपर ऐसा
देखता भी हूँ कि सर्वत्र, सभी स्थानों, स्थितियों और क्रियाओंमें तुम्हीं भरे हो। तुम्हारी ही स्वरू-
भूता मङ्गलमयी अनिच्छामयी इच्छासे यह सारा खेल हो रहा है। मोहभरी आँखोंसे जहाँ अमङ्ग
दीखता है, वहाँ भी तुम्हारा मङ्गलमय विधान ही काम कर रहा है। जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, संयोग-
वियोग, लाभ-अलाभ, अनुकूलता-प्रतिकूलता—सभीमें तुम्हारा मङ्गलमय करस्पर्श प्राप्त होता है।
सब कुछ तुमसे ही निकला है, तुममें ही वर्तमान है और तुम्हींमें लय हो जायगा। आगे, पीछे और
अभी बीचमें केवल तुम-ही-तुम हो। तुम्हारी स्वाभाविकी मङ्गलमयी करुणा सभी जीवोंपर सदा
बरस रही है और उनका महामङ्गल कर रही है; परन्तु नाथ ! मैं इस सत्यको यथार्थरूपमें ग्रहण नहीं
कर पाता ! वरं अज्ञानवश नाना प्रकारकी कल्पना करके सुखी-दुःखी होता रहता हूँ।

प्रभो ! अब ऐसी कृपा करो जिससे मेरे इस अज्ञानका पर्दा फट जाय, मोहका आवरण हट
जाय और मैं तुम्हारे स्वरूप और तुम्हारे खेलको समझकर तुम्हारा अपना बन जाऊँ। नहीं तो,
प्रभो ! यही कर दो कि मेरे मनमें अच्छी-बुरी कोई इच्छा ही न रहे, मैं कुछ भी न चाहूँ। तुम्हारी
इच्छा हो सो करो, तुम जो चाहो सो होने दो; और मैं, तुम जिस स्थितिमें रखो [illegible]
रहकर सदा तुम्हारा नाम रटता रहूँ।

श्रीभगवन्नाम और स्मरण-भक्ति

(लेखक—श्रीआत्मानन्दजी)

पळसी तूँ तरी नाम कोठें नेशी।
आम्ही अहर्निशीं नाम घोकूँ॥
आम्हां पासोनियाँ जातां नये तुज।
तें हें वर्म बीज नाम घोकूँ॥
देवा आम्हां तुमें नाम हें पाहिजे।
मग भेटी सहजे देणें लागे॥
भोळे भक्त आम्ही चुकलोंपि कर्म।
सांपडलें वर्म रामदास॥ १॥

'प्रभो! चाहे आप हमसे कितना ही दूर भागते रहे, आप निश्चय ही अपना नाम तो हमसे छीन नहीं सकते, हम अहर्निश उसे रटते रहेंगे। वास्तवमें आप हमसे अलग हो ही नहीं सकते, दूर जा ही नहीं सकते। इस बातको भलीभाँति जानकर हम आपके नामकी रट लगाये रहेंगे। बस, हमें आवश्यकता इसी बातकी है कि आपके नामको पकड़े रहें, उससे चिपटे रहें; फिर तो आप निश्चय ही हमारे सामने प्रकट होंगे, प्रकट हुए बिना रह न सकेंगे। हम भोले भक्त अबतक बड़ी भूलमें रहे; अन्तमें हमें आपको पानेका गुर हाथ लग ही गया।'

(समर्थ रामदास)

कल्याण-प्राप्तिके लिये साधकको चाहिये कि वह अपनी प्रकृति एवं रुचिके अनुसार नवधा भक्तिमेंसे किसी एक प्रकारकी भक्तिका अभ्यास शुरू कर दे। प्रकटरूपमें इन नौ प्रकारकी भक्तियोंमेंसे किसी एक प्रकारकी भक्तिका ही आश्रय लेकर भक्त क्रमशः भीतर-ही-भीतर आगे बढ़ता रहता है, और बढ़ते-बढ़ते जब वह भक्तिकी अन्तिम सीढ़ी—आत्मनिवेदन-भक्तिपर पहुँच जाता है, तब उसे भगवत्साक्षात्कार हो जाता है। भक्तहृदयके लोगोंका यह विश्वास होता है कि जीवनमें भगवान् ही उनके प्रधान अवलम्ब हैं, अथवा वे ही उनके प्राणाधार हैं; वे यह समझते हैं कि उनके जीवनका मुख्य कर्तव्य उसे इस प्रकार ढालना, इस प्रकारका बनाना है कि जिससे भगवान्‌में अतिशय प्रेम होकर उनका साक्षात्कार हो सके। हमारे पूर्वजोंने—भारतीय ऋषि-मुनियोंने अपने विशाल अनुभवके आधारपर परिपक्व विचारके द्वारा यह निश्चय किया है कि नवधा भक्तिमें स्मरण-भक्ति ही वर्तमान युगके लिये सर्वोत्तम साधन है। इसमें न तो एक कौड़ीका खर्च है, न इसके लिये शास्त्रोंके अध्ययनकी आवश्यकता है और न इसमें किसी प्रकारका शारीरिक परिश्रम है; और इसका अभ्यास सब समय सब अवस्थाओंमें सब प्रकारके लोग कर सकते हैं—चाहे वे किसी धर्म, किसी जाति, किसी मत, किसी स्थिति और किसी भी उम्रके हों, स्त्री हों अथवा पुरुष। यही कारण है कि स्मरण-भक्ति सबसे अधिक सुसाध्य एवं सरल मानी जाती है, यद्यपि इसमें भगवान्‌के प्रति अटल विश्वास एवं कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी इसे अक्षुण्ण रखनेकी अनवरत मानसिक चेष्टाकी बड़ी आवश्यकता होती है। भारतीय संतोंने सभी युगोंमें पूरे उत्साहके साथ उन सब लोगोंको, जो उनके सम्पर्कमें आये और जो कठिन साधन नहीं कर सकते थे, इसी भक्तिका उपदेश दिया। स्मरण-भक्ति (जिसे साधारणतः लोग नाम-स्मरण कहते हैं) का अर्थ है—भगवान्‌के किसी भी पवित्र नामका (जो भक्तको प्रिय हो) मन-ही-मन उच्चारण करना अथवा नामके सहारेसे नामी (भगवान्) का चिन्तन करना। भगवन्नामकी बार-बार आवृत्ति करनेका नाम है 'जप'। 'जप' शब्दका तात्पर्य यही है। नाम-जप हमारे अंदर सांसारिक पदार्थोंके प्रति, जो सभी अनित्य हैं, वैराग्य उत्पन्न करके हमें जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ा देता है। इसका अभ्यास यदि बराबर चलता रहे तो यह एक दिन अवश्य हमें भगवत्साक्षात्कार करा

प्रार्थना

दयामय ! जीवनके दिन तो बीते चले जा रहे हैं। वह दिन कब होगा जब मैं ... धन, घर-संसार—सबकी परवा छोड़कर केवल तुम्हारे भजनमें ही लगा रहूँगा। बहुत बार ऐसा सोचता हूँ, परन्तु कर नहीं पाता। समय बीत रहा है। सब ओर, सभी वस्तुओं और स्थितियोंमें परिवर्त्तन हो रहा है। जो आज है, वह कल नहीं दीखता। किसी भी स्थितिमें सच्चे सुखके दर्शन नहीं होते। अपनी भावनाके अनुसार निरन्तर कल्पित सुख-दुःखके सागरमें डूबता-उतराता रहता हूँ। जानता हूँ—खूब समझता हूँ कि यह सब कुछ विनाशी है; तथापि इससे मुँह मोड़कर तुम्हारे नित्य-नव सुन्दर स्वरूप, नित्य कल्याणमय नाम और नित्य सत्य निर्भय पदका आश्रय नहीं ले पाता। प्रभो ! मेरी यह मोह-निद्रा कब भङ्ग होगी ? दिन-रात चित्त अशान्त रहता है, नाना प्रकारकी कल्पनाएँ मनको सर्वथा वैसे ही क्षुब्ध बनाये रखती हैं जैसे भीषण तूफानके कारण आकाशमें उछलती हुई ऊँची-ऊँची तरङ्गें समुद्रको !

मेरे स्वामी ! मैं इस अशान्तिसे कब छुटकारा पाऊँगा ? कब मैं जाति, कुल, विद्या, रूप, कीर्त्ति, सम्पत्ति, स्थिति और साधनाके अभिमानसे छूटकर तुम्हारे चरणोंपर अपनेको न्योछावर कर सकूँगा ! तुम्हारे ही परम बलसे बलवान् और परम धनसे धनवान् होकर कब मैं सारे अभावोंके अभावका शान्तिमय अनुभव कर सकूँगा ?

दीनबन्धो ! मैं यह पढ़ता-सुनता हूँ, कहता हूँ, और कभी-कभी विवेकके जागनेपर ऐसा देखता भी हूँ कि सर्वत्र, सभी स्थानों, स्थितियों और क्रियाओंमें तुम्हीं भरे हो। तुम्हारी ही स्वरूप-भूता मङ्गलमयी अनिच्छामयी इच्छासे यह सारा खेल हो रहा है। मोहभरी आँखोंसे जहाँ अमङ्गल दीखता है, वहाँ भी तुम्हारा मङ्गलमय विधान ही काम कर रहा है। जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, अनुकूलता-प्रतिकूलता—सभीमें तुम्हारा मङ्गलमय करस्पर्श प्राप्त होता है। सब कुछ तुमसे ही निकला है, तुममें ही वर्तमान है और तुम्हींमें लय हो जायगा। आगे, पीछे और अभी बीचमें केवल तुम-ही-तुम हो। तुम्हारी स्वाभाविकी स्वरूपमयी करुणा सभी जीवोंपर सदा बरस रही है और उनका महामङ्गल कर रही है; परन्तु नाथ ! मैं इस तत्त्वको यथार्थरूपमें ग्रहण नहीं कर पाता ! वरं अज्ञानवश नाना प्रकारकी कल्पना करके सुखी-दुखी होता रहता हूँ !

प्रभो ! अब ऐसी कृपा हो जिससे मेरे इस अज्ञानका पर्दा फट जाय, [illegible] जाय और मैं तुम्हारे स्वरूप और तुम्हारे खेलको समझकर तुम्हारा अपना बन जाऊँ। प्रभो ! यही कर दो कि मेरे मनमें भली-बुरी कोई इच्छा ही न रहे, मैं कुछ भी न चाहूँ। इच्छा हो सो करो, तुम जो चाहो सो होने दो; और मैं, तुम जिस स्थितिमें रखो उसीमें रहकर सदा तुम्हारा नाम रटता रहूँ।

—[illegible]

जाता है। यह भक्तिकी बहुत ऊँची अवस्था है। परन्तु इससे भी ऊँची अवस्था एक और होती है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। नाम-भक्तिकी महिमाके प्रसङ्गमें यहाँ हम एक महान् संतके जीवनकी एक घटनाका उल्लेख करते हैं—

महर्षि वाल्मीकिका प्रारम्भिक जीवन एक डाकूका जीवन था। एक बार जब वे डाका डालनेकी धुनमें घरसे बाहर निकले थे कि रास्तेमें उनकी नारदजीसे भेंट हो गयी। देवर्षिने उन्हें समझाया कि 'जिन परिवारवालोंके लिये तुम पापमय जीवन व्यतीत कर रहे हो, वे तुम्हारे सुखके ही साझेदार हैं; इस पापके परिणाममें तुम्हें जिन घोर नरकोंकी प्राप्ति होगी, उन्हें भोगनेको उनमेंसे कोई भी तैयार न होगा।' सन्तका उपदेश व्यर्थ नहीं जाता। नारदजीकी वह बात रत्नाकर (वाल्मीकिके डाकू-जीवनका नाम) को लग गयी। उन्हें अपनी मूर्खता ध्यानमें आ गयी। उन्होंने ऋषिके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर दिया और उनसे अपने पूर्व कुकृत्योंके लिये क्षमा-याचना की और उनका आशीर्वाद माँगा। डाकूको हृदयसे पश्चात्ताप करते देख ऋषिको दया आ गयी और उसी समय उन्होंने रत्नाकरको राम-मन्त्रकी दीक्षा दी। धैर्यपूर्वक दीर्घकालतक राम-नामका जप करनेसे रत्नाकरका अन्तःकरण शुद्ध होकर उन्हे भगवान्का साक्षात्कार हो गया और आगे चलकर वे महर्षि वाल्मीकिके नामसे प्रसिद्ध हुए; उन्होंने रामायण-जैसे अनुपम ऐतिहासिक महाकाव्यका निर्माण करके सारे जगत्को ज्ञान दिया। इस घटनासे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नाम-स्मरणमें नीच-से-नीच मनुष्यको भी महात्मा बना देनेकी शक्ति है, जिससे वह दूसरोंका भी कल्याण करनेमे समर्थ हो जाता है। शर्त यह है कि नाम किसी योग्य गुरुसे प्राप्त होना चाहिये और उसका अभ्यास पूरी लगनके साथ दीर्घकालतक किया जाना चाहिये। भक्तिकी साधनामें केवल भगवन्नामके मानसिक जपकी अपेक्षा भी भगवच्चिन्तनका स्थान अधिक ऊँचा है। क्योंकि भगवच्चिन्तनमें ध्यान भी आ जाता है, जिसके द्वारा साधक नामीके स्वरूपमें गहरी डुबकी लगानेमें समर्थ होता है और ध्यानसे, ध्यानरहित नामस्मरणकी अपेक्षा, भगवत्साक्षात्कार बहुत जल्दी होता है। नामोच्चारण तो नामस्मरणमें छिपा रहता है।

कभी-कभी जब भक्त भगवान्के चिन्तनमें तन्मय हो जाता है तो उनका पवित्र नाम उसकी वैखरी वाणीसे अनायास निकल पड़ता है। नामोच्चारणकी अपेक्षा नामस्मरण निःसन्देह भक्तिकी उच्चतर साधना है और नामोच्चारणकी अपेक्षा नामस्मरणका फल भी अधिक होता है। क्योंकि उससे साधकका जीवन सब ओरसे पवित्र हो जाता है—उसके मन, वाणी और शरीर तीनों शुद्ध हो जाते हैं। नामस्मरणसे मानस रोगोंकी निवृत्ति तो होती ही है; साथ ही यदि शरीरमें किसी प्रकारकी व्याधि या पीड़ा हो तो मन दूसरी ओर लग जानेके कारण उसकी तीव्रता भी कम हो जाती है। नामस्मरणसे पूरा लाभ तो तब होता है जब उसका अभ्यास तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे किया जाय, उसका तार कभी टूटे ही नहीं। स्मरण निरन्तर होने लगे, इसके लिये यह आवश्यक है कि साधक नियमितरूपसे तथा निश्चित समयतक इसका एकाग्र मनसे प्रतिदिन अभ्यास करे और क्रमशः स्मरणके समयको बढ़ाता जाय। यदि सम्भव हो और साधक आवश्यक समझे तो अपने उपासना-गृहकी पवित्रताको बढ़ानेके लिये उसे भगवान् तथा संतोंके चित्रोंसे सजा ले, ताकि उन मूक चित्रोंसे मिलनेवाले महान् उपदेशोंकी उसे बार-बार स्मृति होती रहे। परन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें साधकको अनुभव होगा कि उसका मन भगवन्नामके साथ जबर्दस्ती बाँधे जानेमें आनाकानी करता है। क्योंकि मन स्वभाव-

और योग्य नौकर अपने मालिककी नेकनामीके साथ नौकरी बजाकर तरक्की पा जाते हैं और अपने मालिकके सहायक अथवा मुनीम बन जाते हैं और अन्तमें उनके साझेदार भी हो जाते हैं। इसी प्रकार जो भक्त दास्यभक्तिका पार्ट पूरी तरह निभा लेते हैं, उन्हें इस सेवाके पुरस्कारमें मित्रता (सख्य-भक्ति) का दर्जा मिलता है। इस भूमिकाकी बाहरी पहचान यह होती है कि साधक भगवान्के उच्च श्रेणीके भक्तोंकी अन्तरङ्ग गोष्ठियोंमें प्रवेश पा जाता है और उसे इस योग्य समझ लिया जाता है कि वह अपने आध्यात्मिक अनुभवोंका दूसरोंके साथ मिलान कर सके। यह सभी लोग जानते हैं कि ज्यों-ज्यों अधिक समय बीतता है और दो मित्र एक दूसरेसे अपने मनकी बात कहकर तथा अपनी बीती हुई सुनाकर और कठिन समयमें एक दूसरेकी सहायता करके, दुःखमें धीरज बँधाकर तथा बीमारी आदिमें सेवा करके हृदयसे एक दूसरेके अधिक निकट होते जाते हैं—यहाँतक कि उनके हृदय एक प्रकारसे अभिन्न हो जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी मित्रता अधिकाधिक गाढ़ होती जाती है; परन्तु अपने-अपने स्वाँगके अनुकूल उन्हें बाहरी भेद रखना ही पड़ता है। यही बात भक्त और भगवान्के सम्बन्धमें भी माननी चाहिये। जबतक भक्तका शरीर एवं बाह्य जगत्में अध्यास रहता है, तबतक उसे यह अनुभव होता है कि मैं भगवान्से पृथक् हूँ। परन्तु भगवान्से गाढ़ प्रेम हो जानेपर उसके लिये भगवान्का पार्थक्य असह्य हो जाता है। अतः भक्तिकी चरम सीमापर पहुँचकर वह अपने शरीर और आत्मा दोनोंको बिना किसी शर्तके भगवान्के अर्पण कर देता है। उसे यह अनुभव हो जाता है कि मेरा यह नश्वर शरीर, जिसे मैं अबतक अपना स्वरूप मानकर उससे प्रेम करता रहा हूँ, मुझे कुछ ही काल-के लिये भगवान्की उपासनाके निमित्त, अर्थात् भगवान्के नित्य स्वरूपका अनुभव करनेके लिये और न केवल मनुष्यमात्रकी अपितु मनुष्येतर प्राणियोंकी भी सेवा करनेके लिये धरोहररूपमें मिला है और उसे किसी भी समय बिना क्षणभरकी पूर्व सूचनाके मुझसे छीना जा सकता है, वापस लिया जा सकता है। इस प्रकार वह आत्मनिवेदनकी भूमिकामें पहुँच जाता है और अब उसे भगवान्से पृथक् होनेका भाव नहीं सताता। ऊपर बताये हुए भावोंमेंसे किसी भी भावको लेकर जो साधक भक्तिका साधन शुरू कर देता है और बराबर किये ही चला जाता है, उकताकर उसे छोड़ नहीं देता, वह भगवद्विश्वासके बलसे अपने-आप ही आगेकी भूमिकाओंमें पहुँच जाता है। स्मरण भक्ति जब गाढ़ हो जाती है और भक्तका मन उसके काबूमें हो जाता है तब उसे परा भक्ति प्राप्त होती है, जिसमें जीवका यह भ्रम कि मैं भगवान्से भिन्न हूँ, मिट जाता है। परन्तु भक्तकी यह स्थिति अधिक दिनोंतक ठहरती नहीं, जिसके कारण उसे दुःख होता है। कहते हैं कि स्मरणकी अत्यन्त गाढ़ अवस्थामें भक्त आत्मनिवेदनकी भूमिकामें पहुँच जाता है और उस स्थितिमें कुछ समयतक परा भक्तिका आनन्द लूटता है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गयी कि भगवान्के नाममें महान् शक्ति है। उससे साधकके पिछले (सञ्चित एवं क्रियमाण) कर्मोंका क्षय हो जाता है, उसे भगवान्के तत्त्वका ज्ञान हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। अतः साधकको चाहिये कि अपने जाग्रत्कालके प्रत्येक पलको, जब उसे कोई दूसरा उपयोगी काम न हो, नामस्मरणमें लगाये। साधक जब आत्मनिवेदनकी भूमिकामें पहुँचनेको होता है, तब उसे केवल भगवन्नामके मानसिक जप एवं मूर्तिध्यानसे सन्तोष नहीं होता। जब वह किसी परम भूमिकामें पहुँच जाता है तब वह अधिकाधिक चिन्तनशील—ध्यानपरायण होता जाता है—यहाँतक कि उसका जीवन बिल्कुल बदल जाता है। उसकी स्मरण-शक्ति

से ही नवीनताका प्रेमी है, उसे लगातार एक ही व्यापारमें लगे रहना पसंद नहीं है; और सामान्यतः वह संसारका ही चिन्तन करना, नामस्मरणको छोड़कर दूसरी ही उधेड़बुनमें लग जाना अधिक पसंद करता है, जिसका उसकी ध्येय वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं होता । जो साधक दृढनिश्चयी एवं दृढसंकल्प होता है, वह इस प्रकारके अनुभवसे घबड़ाता नहीं, हताश नहीं होता, परन्तु अपने पवित्र उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भगवान्में पूर्ण विश्वास करके धैर्यपूर्वक एवं तत्परताके साथ अपने चञ्चल मनको उसके लिये नियत किये हुए कार्यमें बार-बार लगानेका अभ्यास करता है (देखिये गीता ६ । २५-२६)। दूसरे साधकोंके बहुमूल्य अनुभवोंसे लाभ उठानेके लिये वह सत्संगका सेवन करता है तथा श्रवण एवं कीर्तनके उसे अनेकों अवसर प्राप्त होते रहते हैं, जिससे उसे मनोबल प्राप्त होता है एवं उसके मनमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। कभी-कभी साधक केवल नामस्मरणके द्वारा अपने मनको निगृहीत करनेमें असमर्थ पाता है। अतः मनको एकाग्र करनेके लिये वह अपने मानसिक नेत्रोंके सामने भगवान्की एक मनोमोहक मनुष्याकार मूर्ति स्थापित करता है; क्योंकि अतीत कालमें भक्तोंके सामने उनके मनुष्याकारमें प्रकट होनेका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है। इस उपायसे उसका चित्त भगवान्में अधिक सुगमतासे स्थिर हो जाता है। वह प्रारम्भमें अपने हृदयमें ही भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करता है। यहींसे नवधा भक्तिकी अगली सीढ़ी—पादसेवन-भक्तिका प्रारम्भ होता है। नामस्मरण एवं मूर्तिध्यान—इन द्विविध साधनोंका अभ्यास करनेसे साधकका मन अधिक ठहरने लगता है और धीरे-धीरे वह अपने [illegible] मनको निगृहीत करनेमें समर्थ होता है। [illegible] से [illegible] होनेके [illegible] उच्चतर शक्तियोंके [illegible]

साधकके बार-बार समझानेसे यह उसकी बात मान लेता है, उसके द्वारा नियत किये हुए काममें स्थिरतासे लग जाता है और अन्तमें संसारका चिन्तन छोड़कर भगवान्के चरणकमलोंसे चिपट जाता है, चिहुँट जाता है। इस प्रकार साधक पादसेवनकी मंजिलको सफलतापूर्वक तै कर लेता है। इसके बाद वह एक-एक करके नखसे शिखातक भगवान्के सम्पूर्ण श्रीअङ्गोंका ध्यान करता है और अन्तमें उनके मन्दस्मितयुक्त मुखारविन्दपर चित्तको टिका देता है । इस ध्यानके साथ-साथ वह भगवान्की मानस पूजा भी करता है और इस प्रकार अर्चन-भक्तिकी भूमिकामें प्रवेश करता है।

इस भूमिकामें पहुँचकर भक्त भगवान्की महिमाको पूर्णरूपसे जान लेता है, उसका अहङ्कार विलीन हो जाता है और वह अत्यन्त विनम्रभावसे भगवान्को साष्टाङ्ग प्रणाम करता है, उनके चरणोंमें लोट जाता है। इस प्रकार वह वन्दन-भक्तिकी भूमिकामें पहुँच जाता है। इसके बाद उसे यह अनुभव होता है कि मनुष्यमात्र तथा कीट-पतंगादिसे लेकर पशु-पक्षी आदि सभी निम्न कोटिके जीव भी भगवान्के ही रूप हैं और उन सबकी सेवा भगवदुपासनाका ही अङ्ग है। यों समझकर वह छोटे-से-छोटे प्राणीको भी बड़े चावसे सेवा करता है और इस प्रकार आगे चलकर वह दास्य-भक्तिकी भूमिकामें पहुँच जाता है। परन्तु [illegible] आध्यात्मिक स्थिति क्रमशः ऊँची-से-ऊँची होती चली जाती है और वह सदा दास्यकी ही स्थितिमें नहीं रहता। कपीश्वर हनुमान्जी [illegible] भगवान् रामचन्द्रजीके [illegible] श्रीरामका दास मानते थे और [illegible] अपना [illegible] [illegible]

और [illegible] अपने [illegible] बनकर [illegible] बन जाते हैं और उसके बाद [illegible] अथवा मुनीम बन जाते हैं और अन्तमें उनके साझेदार भी हो जाते हैं। इसी प्रकार जो भक्त दास्यभक्तिका पाठ पूरी तरह सीख लेते हैं, उन्हें इस सेवाके पुरस्कारमें मित्रता (सख्य-भक्ति) का दर्जा मिलता है। इस भूमिकाकी बाहरी पहचान यह होती है कि साधक भगवान्‌के उच्च श्रेणीके भक्तोंकी अन्तरङ्ग गोष्ठियोंमें प्रवेश पा जाता है और उसे इस योग्य समझा जाता है कि वह अपने आध्यात्मिक अनुभवोंका दूसरोंके साथ मिलान कर सके। यह सभी लोग जानते हैं कि ज्यों-ज्यों अधिक समय बीतता है और दो मित्र एक दूसरेसे अपने मनकी बात कहकर तथा अपनी बीती हुई सुनाकर और कठिन समयमें एक दूसरेकी सहायता करके, दुःखमें धीरज बँधाकर तथा बीमारी आदिमें सेवा करके हृदयसे एक दूसरेके अधिक निकट होते जाते हैं—यहाँतक कि उनके हृदय एक प्रकारसे अभिन्न हो जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी मित्रता अधिकाधिक गाढ़ होती जाती है; परन्तु अपने-अपने स्वाँगके अनुकूल उन्हें बाहरी भेद रखना ही पड़ता है। यही बात भक्त और भगवान्‌के सम्बन्धमें भी माननी चाहिये। जबतक भक्तका शरीर एवं बाह्य जगत्‌में अध्यास रहता है, तबतक उसे यह अनुभव होता है कि मैं भगवान्‌से पृथक् हूँ। परन्तु भगवान्‌से गाढ़ प्रेम हो जानेपर उसके लिये भगवान्‌का पार्थक्य असह्य हो जाता है। अतः भक्तिकी चरम सीमापर पहुँचकर वह अपने शरीर और आत्मा दोनोंको बिना किसी शर्तके भगवान्‌के अर्पण कर देता है

स्त हो जाता है कि मेरा
नतक अपना स्वरूप
काल-
रात्
अ
और

न केवल मनुष्यमात्रसे अपितु मनुष्येतर प्राणियोंसे भी प्रेम करनेके लिये परमेश्वररूपसे मिला है और उसे किसी भी समय बिना [illegible] पूर्व सूचनाके छीना जा सकता है, वापस लिया जा सकता है। इस प्रकार वह आत्मनिवेदनकी भूमिकामें पहुँच जाता है और अब उसे भगवान्‌से पृथक् होनेका भाव नहीं सताता। ऊपर बताये हुए भावोंमेंसे किसी भी भावको लेकर जो साधक भक्तिका साधन शुरू कर देता है और बराबर किये ही चला जाता है, उकताकर उसे छोड़ नहीं देता, वह भगवद्विश्वासके बलसे अपने-आप ही आगेकी भूमिकाओंमें पहुँच जाता है। स्मरण भक्ति जब गाढ़ हो जाती है और भक्तका मन उसके काबूमें हो जाता है तब उसे परा भक्ति प्राप्त होती है, जिसमें जीवका यह भ्रम कि मैं भगवान्‌से भिन्न हूँ, मिट जाता है। परन्तु भक्तकी यह स्थिति अधिक दिनोंतक ठहरती नहीं, जिसके कारण उसे दुःख होता है। कहते हैं कि स्मरणकी अत्यन्त गाढ़ अवस्थामें भक्त आत्मनिवेदन-की भूमिकामें पहुँच जाता है और उस स्थितिमें कुछ समयतक परा भक्तिका आनन्द लूटता है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गयी कि भगवान्‌के नाममें महान् शक्ति है। उससे साधकके पिछले (सञ्चित एवं क्रियमाण) कर्मोंका क्षय हो जाता है, उसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। अतः साधकको चाहिये कि अपने जाग्रत् कालके प्रत्येक पलको, जब उसे कोई दूसरा उपयोगी काम न हो, नामस्मरणमें लगाये। साधक जब आत्म-निवेदनकी भूमिकामें पहुँचनेको होता है, तब उसे केवल भगवन्नामके मानसिक जप एवं मूर्तिध्यानसे सन्तोष नहीं होता। जब वह किसी खास भूमिकामें पहुँच जाता है तब वह अधिकाधिक चिन्तनशील—ध्यानपरायण होता जाता है—यहाँतक कि उसका जीवन बिल्कुल बदल जाता है। उसकी स्मरण-भक्ति

ज्ञानमें परिणत हो जाती है और उसके ध्यानका क्षेत्र अधिक व्यापक एवं विशाल हो जाता है। जीवनके सम्बन्धमें उसकी दृष्टि उदार हो जाती है, पहले-जैसी संकुचित—सीमित नहीं रहती। वह अनुभव करने लगता है कि नाम और रूप ईश्वरकी उपाधियाँ हैं; अतः अब उनसे उसका पहले-जैसा प्रेम नहीं रहता। उसे यह निश्चय हो जाता है कि मायाके कार्य होनेके कारण वे परिणामी हैं, और वह दोनोंके आवरणको भेदकर उनके अन्तरालमें पहुँच जाता है। इस प्रकार ध्यान करते-करते उसे यह अनुभव हो जाता है कि भगवान्‌का निर्गुण स्वरूप ही इस परिच्छिन्न नित्य-परिवर्तनशील अनित्य वैचित्र्यमय सृष्टि—इस नामरूपात्मक जगत्‌का अपरिच्छिन्न अपरिणामी नित्य एकरस आधार है। उसे यह भी अनुभव हो जाता है कि जीवात्माके रूपमें मैं परमात्माका प्रतिबिम्ब हूँ और प्रत्यगात्माके रूपमें परमात्मासे अभिन्न हूँ। भक्तिकी उच्चतर भूमिकामें भक्तको यह अनुभव होता है कि मृत्युके समय जीवको इस संसारकी सभी प्रिय वस्तुओंसे—शरीर, स्त्री, पुत्र, सगे-सम्बन्धी, मित्र-बान्धव, धन और कीर्ति—सभीसे नाता तोड़ना पड़ता है, सब कुछ यहीं छोड़कर अकेले ही अपने घरकी ओर जाना पड़ता है। उस समय उसके साथ यदि कोई चीज जाती है तो वह है उसके शुभ कर्म जो उसने अपने जीवनमें इस जगत्‌में रहकर किये हैं, भगवद्भक्तिकी साधना जो उसने दीर्घकालतक अविच्छिन्नरूपसे की है तथा जगत्‌की सेवा जो मनुष्य एवं दूसरे प्राणियोंकी सेवाके द्वारा उसने की है। ध्यानकी इस शैलीसे संसारके प्रति आसक्तिके जो अन्तिम संस्कार उसके मनमें होते हैं, वे सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं—वह आसक्ति जिसने चिरकालतक मानो जीवात्मा और परमात्माका वियोग कर रखा था, यद्यपि भक्तके हृदयमें दोनों बराबर साथ रहे। इन अनुभवके साथ ही उसके अंदर ज्ञानोत्तरा भक्ति परा भक्तिका विकास होता है, और भक्तके जीवनका शेष भाग सर्वव्यापी परमात्मा और जीवात्माकी एकताका अखण्ड चिन्तन अथवा स्मरणरूप ही होता है। उसकी इस अनुपम भक्तिका पुरस्कार उसे यह मिलता है कि मृत्युके समय उसे भगवान्‌की स्मृति और शरीर छोड़नेपर उनके साथ नित्य संयोग प्राप्त होता है (देखिये गीता ८।५)।

इन सब बातोंका निचोड़ अथवा निष्कर्ष यह है कि भगवन्नामके स्मरणरूपी शस्त्रके द्वारा साधक अपनी विशृङ्खल वृत्तियों (बहिर्मुख मन) को निगृहीत कर लेता है और उन्हें अन्तर्वीक्षण एवं सदाचारके मार्गमें चलाता है और चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा, जो भक्तिकी पूर्णता एवं मोक्षकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है, हृदयके दुर्गपर अधिकार कर लेता है। यह है स्मरण-भक्तिकी महिमा।

जीवनकालमें, मृत्युके समय तथा मृत्युके बाद भी नामस्मरण बहुत काम आता है। चित्त अथवा चेतना अन्तिम क्षणतक आत्माका साथ देती है, उसके साथ सम्बन्धको निभाती है, इन्द्रियोंकी भाँति उसका साथ छोड़ नहीं देती। चेतनाशून्य तो प्रतीत होता है केवल शरीर और जगत्‌के बाहरी सम्बन्ध जिन्हें जीव जल्दी ही छोड़नेवाला होता है। इसके बाद जीवात्मा अपने पिछले पार्थिव जीवन और अगले जन्मकी सम्भावनापर विचार करने लग जाता है। इसीलिये मुमूर्षु व्यक्ति जिस स्थानमें हो, वहाँ पूर्ण शान्ति बनाये रखनेकी आवश्यकता है। नामस्मरणका दीर्घकालतक अभ्यास किये रहनेपर मृत्युकी असह्य वेदना तथा पिछले जीवनकी घटनाओं तथा आगामी जीवनकी सम्भावनापर विचार करनेके कारण मनमें [illegible] होनेपर भी नामस्मरणका यह अभ्यास [illegible] मुमूर्षु व्यक्तिके [illegible] आ जाता है। [illegible]

पार्थिव स्तरसे ऊपर उठना आसान हो जाता है। शास्त्र कहते हैं कि शरीर छोड़नेके अन्तिम क्षणमें स्वयं भगवान् भक्तकी रक्षा करते हैं—सँभाल करते हैं (गीता ९ । २२)।

जीवनके अन्तिम क्षणोंमें मुमूर्षु व्यक्तिको नामस्मरण-का लाभ मिले ही, इसके लिये एक खास सम्प्रदायके साधक दीर्घ अभ्यासके द्वारा प्राणवायुको इस प्रकार साधते हैं कि प्रत्येक श्वासके साथ भगवान्‌का पवित्र और मधुर नाम शरीरके बाहर और भीतर सञ्चारित होने लगे और मन साथ-ही-साथ जीवात्मा और परमात्माका अभेद-चिन्तन करता रहे। इस साधनाका नाम है 'अजपा जप'। यह उच्चतम कोटिका नामस्मरण है। यह बात कही जाती है कि मृत्युके समय मनुष्यके मनमें जो विचार होता है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि मनुष्यको मरते समय भगवान्‌की स्मृति हो, जिससे वह आनन्दनिधि भगवान्‌को ही प्राप्त हो और उसे इस दुःखमय संसारमें फिर न आना पड़े (देखिये गीता २ । ७२; ८ । ६)। कहते हैं कि अजपा जपसे अन्तसमयमें भगवत्स्मृति अवश्य होती है। ऊपर यह बात कही जा चुकी है कि भक्त पहले मुक्तिके लिये भक्तिकी साधना करता है और आगे चलकर भगवत्प्रेमका उद्रेक होनेपर उसकी मनोवृत्ति इतनी बदल जाती है कि वह मुक्तिको न चाहकर नित्य-निरन्तर भक्तिकी ही कामना करता है। परन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है भागवतीय नियम अचूक होते हैं और उन नियमोंके अनुसार जब जीव आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त करके शरीर त्याग करता है तो वह अनायास ही परमात्माके स्वरूपमें लीन हो जाता है—जिस परमात्माको वेदान्ती अपरिच्छिन्न, नित्य निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं। भगवन्नाम एवं भगवद्भक्तिमें ऐसी महान् शक्ति है।

आध्यात्मिक मार्गमें आगे बढ़ते-बढ़ते, लक्ष्यपर पहुँचनेके पहले ही, यदि शरीर छूट जाय तो भी जीव-का अकल्याण नहीं होता, उसका किया हुआ साधन व्यर्थ नहीं जाता। उसका पृथ्वीपर अच्छे घरानेमें—किसी सुखी परिवारमें जन्म होता है और पिछले जन्ममें जहाँ उसकी साधना छूटी थी, वहींसे पुनः अपने-आप उसकी साधना शुरू हो जाती है और इस प्रकार उसे अपनी साधना पूरी करनेका अवसर मिल जाता है (देखिये गीता ६। ४०–४४)। आध्यात्मिक राज्यका यह नियम है कि आत्मज्ञानके साधनके रूपमें आध्यात्मिक भूमिमें जो बीज एक बार बो दिया गया है, उसका कभी नाश नहीं होता ('नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'); वह अङ्कुरित होता है, बढ़ता है और ठीक समयपर उसमें मधुर फल भी लगते है। साधकका कर्तव्य इतना ही होता है कि वह उस छोटे-से बीजको धैर्यके साथ पोसता रहे, उसकी सँभाल करता रहे। भगवान् अपने भक्तोंका कभी परित्याग नहीं करते ('न मे भक्तः प्रणश्यति'); इसीलिये गीतामें अनन्यभावसे उन्हींकी उपासना करनेका आदेश दिया गया है (देखिये गीता १२ । ६–८)। इससे भक्तका कल्याण निश्चित है। भगवान्‌की भक्ति करनेका यही पुरस्कार है।

ऊपर यह बात कही गयी है कि भगवान्‌में चित्तको एकाग्र करनेका अभिलाषी भक्त नामस्मरणके साथ-साथ मूर्तिध्यानका भी अभ्यास करता है। यह मूर्तिपूजाका प्रसङ्ग है और इसपर फिर कभी पाठकोंकी सेवामें कुछ निवेदन करनेका विचार है।

विज्ञान और अध्यात्मज्ञान

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

ईश्वर अर्थात् जगत्‌के एक सचेतन निर्माता है—इस बातके असन्दिग्ध प्रमाणके रूपमें किसी समय जगत्‌की निर्माण-चातुरीको ही पेश किया जाता था। जब हम एक घड़ीको देखते हैं, उसके बहुतेरे कल-पुर्जोंको देखते हैं,—किस प्रकार वे सब सजाये गये हैं, कितने छोटे-छोटे उनके अंग-प्रत्यंग हैं, कितनी जटिल उनकी गति है, फिर भी परस्पर मिल-जुलकर कितने अद्भुत सामञ्जस्यके साथ चलते हुए एक उद्देश्यकी सिद्धिमें लगे हुए हैं,—तब हम इससे निश्चितरूपमें यह सिद्धान्त करते हैं कि कोई एक घड़ीका बनानेवाला है, जिसकी बुद्धि-चातुरी उसकी बनायी हुई वस्तुके अंदर प्रतिफलित हो रही है। क्या जगत् भी ठीक उसी प्रकारका एक चमत्कारपूर्ण यन्त्र नहीं है?

ज्योतिष्कमण्डली किस प्रकार अव्यभिचारी नियमसे पारस्परिक सम्बन्धको अटूट रक्खे हुए कोटि-कोटि वर्षोंसे चल रही है; ऋग्वेदीय ऋषिकी भाषामें, वे मिल भी नहीं जाते, खड़े भी नहीं हो जाते—'न मेथते न तस्थतुः।' और जिस नियमसे वे चल रहे हैं, जिसका आविष्कार हमने बुद्धिकी पराकाष्ठा दिखाकर किया है, वह कितना अद्भुत गाणितिक नियम है। वृहत्‌को छोड़कर क्षुद्रके अंदर दृष्टि ले चलिये—देखिये प्रकृतिके अंदर दाना (Crystal) बाँधनेकी ज्यामितिको; परमाणुके अंदर चले जाइये, देखिये प्रोटन-इलेक्ट्रोनकी सजावटको; उसके सामने ताजमहलका स्थापत्यकौशल भी नहीं टिक सकता!

एक फूलके अंदर—उसका डंठल, उसकी पँखुड़ियाँ, उसका गर्भकोष, उसका पराग, उसके रंगोंका मेल, रेखाओंका सन्निवेश—कितनी निर्दोष निपुण कारीगरी होती है! उसपर जरा-सा ध्यान देनेपर दंग रह जाना पड़ता है। उसके बाद किस प्रकार फूल फलके रूपमें बदल जाता है, फल धीरे-धीरे किस प्रकार पुष्ट-परिणत-रसपूर्ण होकर एक सुन्दर मूर्ति धारण करता है—यह इतिहास भी कम चित्ताकर्षक नहीं होता।

और देखिये; ये जो लाखों, करोड़ों, असंख्य तृण, लता, गुल्म, वृक्ष आदि हैं, उनका जीवन कितना विचित्र, कितना बहुरूपी है—प्रत्येक देशकी मिट्टी, आबहवाके साथ अपरूप सामञ्जस्य बनाये रखकर कितने आकार-प्रकारमें उन्होंने अपनी छटा दिखायी है! मरुभूमिमें रहना होगा तृणको; देखिये कितना कठोर, समर्थ, आभरणहीन, बाहुल्यवर्जित तपस्वीके समान उसका गठन है—कितने थोड़े-से जलसे ही उसकी आवश्यकता पूरी हो जाती है; उसका सिर, उसकी जड़, उसका अंग-प्रत्यंग—सब उसी एक लक्ष्यके अनुसार प्रस्तुत हुआ है। शीतप्रधान देशका, साइबेरियाका 'लिचेन' एक दूसरी ही परिस्थितिके साथ ताल मिलाते हुए चलनेके लिये एकदम पृथक् रूप धारण किये हुए है। उष्ण प्रदेशके गुल्मसे लेकर महान् महीरुहतक एक तीसरी प्रकारकी व्यवस्थाको प्रकट करते हैं। प्राणि-जगत्‌की ओर दृष्टि दौड़ाइये; जलचर, थलचर, उभयचर, खेचर—प्रत्येकका शरीर गठित हुआ है अपने-अपने पारिपार्श्विक प्रयोजनके अनुसार। यह जो आवश्यकतानुसार भिन्नता है, इसके अंदर कितना परिमिति-शास्त्रज्ञान है—इसका कोई अन्त नहीं। परिमितिका अर्थ है आवश्यकताके अनुसार आयोजन; व्यर्थ जरा भी व्यय नहीं—अभाव भी [illegible]। मछलीको जलमें रहना होगा, [illegible] होगा—[illegible] दबाव सहन करनेकी दृष्टिसे उसके अंग-प्रत्यंग [illegible] हुए हैं, सजाये गये हैं, [illegible]

लिये उसे एक विशेष आकार भी दिया गया है (जिसकी नकल करके मनुष्यने 'मशीनगन टारपेडो' तैयार किया है)। पक्षीको आकाशमें उड़ना होगा—जिस वस्तुका अवलम्ब लेकर वह उड़ेगा उसका वजन होना चाहिये थोड़ा, साथ ही उसका गठन होना चाहिये दृढ़ पर नमनीय। पक्षीके पंखकी कलमको देखिये—उसे हलका होना चाहिये; इसी कारण वह भीतरसे पोला, फिर पतला किन्तु दृढ़ होता है, झुक जाता है पर टूटता नहीं। मनुष्यका बनाया हुआ 'एरोप्लेन' ठीक इन्हीं नियमोंके ऊपर प्रतिष्ठित है।

और सब छोड़कर हम अपनेको ही देखते हैं, मनुष्यकी देहको देखते हैं—कैसी अपरूप अद्भुत एक वस्तु है यह ! वास्तवमें वह एक विपुल जटिल कारखाना ही है। मनुष्य स्वयं जैसा एक यन्त्र है, उसकी तुलनामें मनुष्यके बनाये हुए सभी यन्त्र तुच्छ हैं। अस्थि, पेशी, ग्रन्थि, स्नायुजालका सगठन, रक्तका दौर-दौरा, श्वास-प्रश्वासका कौशल, पाचन-निःसारणकी व्यवस्था, पञ्चेन्द्रियका गठन और क्रियाकलाप—पदार्थतत्त्वके, रसायनतत्त्वके कितने प्रकारके प्रयोगोंका क्षेत्र यह शरीर है ! जब हम इस वस्तुको पुंखानुपुंखरूपसे देखते हैं तब साधारण मनुष्यके लिये यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि यह वस्तु अपने-आप ही तैयार हो गयी है, इसका कोई भी परम निपुण सचेतन कारीगर नहीं है।

एक समय ऐसा ही मालूम होता था, जगत्-यन्त्रके यन्त्रीके रूपमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करनेके सिवा और कोई उपाय ही न था। चार्वाकपंथियों, नास्तिकोंका दल अवश्य था; परन्तु उनकी अस्वीकृतिका कोई विशेष मूल्य न था। कारण-वे लोग, जिसे कहते हैं जोर-जबर्दस्ती करके, अस्वीकार करते, अस्वीकृतिके लिये यथोचित युक्ति नहीं देते। सृष्टि अपने-आप हुई [illegible] री चल रही है; प्रकृतिके यन्त्रोंमें, कल-कब्जोंमें कोई रहस्य नहीं; प्रकृतिकी प्रकृति ही ऐसी है—'स्वभावो यदृच्छा'। इस प्रकार कहनेसे वास्तवमें कुछ भी नहीं कहा गया। (अवश्य ही अध्यात्मपंथियोंमें भी कोई-कोई—बौद्धमतवादी, सांख्यमतवादी—ईश्वरको नहीं मानते; किन्तु वे चिन्मय पुरुष या चिन्मयी प्रकृति या चिन्मय पुरुषके संस्पर्शद्वारा सचेतन हुई प्रकृतिको मानते हैं।)

किन्तु विज्ञानका युग ले आया एक नया रूढ़ आलोक। मनुष्यकी एक नयी दृष्टि खुली, उसके कारण सृष्टिरहस्यकी सभी बातोंकी उसने सहज स्वाभाविक व्याख्या कर डाली। सृष्टिसे अतीत एक जादूगर (Deus ex machina) की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। लामार्क-डारविनके क्रमपरिणामवादने सृष्टिधाराके अंदर एक ऐसा प्रकाश फेंका कि सभी समस्याएँ अपनी-अपनी सरल अव्यर्थ मीमांसाके साथ स्पष्टरूपमें प्रकट हो गयीं। उनके आविष्कारके फलस्वरूप मोटी बात यह सामने आयी—सृष्टिके अंदर जो हम अद्भुत लक्ष्यानुसरण, उद्देश्यानुसार यथायथ उपायनिर्देश, अवस्थानुरूप व्यवस्थाका समावेश देखते हैं, उसका कारण है वस्तु-विशेषके एक क्रमपरिणामकी धाराके अंदर निर्वाचन और उद्वर्तनका अलङ्घनीय फल मात्र। पारिपार्श्विक अवस्थाके साथ सजीव देहका, देह और अपने सभी अंगोंका परस्पर जो जटिल छन्द-सौषम्य है, सृष्टिमें सर्वत्र जो इतना कला-कौशल दिखायी देता है, यह सब एक दिनमें ही प्रकट नहीं हो गया, आरम्भमें वह इतना विचित्र, इतना निर्दोष नहीं था। आरम्भमें एक मोटे प्रकारकी, एक किसी प्रकारकी व्यवस्था भर थी; संस्पर्श, संघर्षकी क्रिया-प्रतिक्रियाके, आदान-प्रदानके फलस्वरूप धीरे-धीरे यह सामञ्जस्य, यह लक्ष्यानुसरण—वस्तुका उद्देश्यानुयायी गठन और क्रिया प्रस्फुटित हो उठी है। जीवन-धारणके कठोर प्रयोजनके दबावसे जीव-जगत्में, जड देहमें यह

विज्ञान और अध्यात्मज्ञान

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

ईश्वर अर्थात् जगत्‌के एक सचेतन निर्माता हैं—इस बातके असन्दिग्ध प्रमाणके रूपमें किसी समय जगत्‌की निर्माण-चातुरीको ही पेश किया जाता था। जब हम एक घड़ीको देखते हैं, उसके बहुतेरे कल-पुर्जोंको देखते हैं,—किस प्रकार वे सब सजाये गये हैं, कितने छोटे-छोटे उनके अंग-प्रत्यंग हैं, कितनी जटिल उनकी गति है, फिर भी परस्पर मिल-जुलकर कितने अद्भुत सामञ्जस्यके साथ चलते हुए एक उद्देश्यकी सिद्धिमें लगे हुए हैं,—तब हम इससे निश्चितरूपमें यह सिद्धान्त करते हैं कि कोई एक घड़ीका बनानेवाला है, जिसकी बुद्धि-चातुरी उसकी बनायी हुई वस्तुके अंदर प्रतिफलित हो रही है। क्या जगत् भी ठीक उसी प्रकारका एक चमत्कारपूर्ण यन्त्र नहीं है?

ज्योतिष्कमण्डली किस प्रकार अव्यभिचारी नियमसे पारस्परिक सम्बन्धको अटूट रक्खे हुए कोटि-कोटि वर्षोंसे चल रही है; ऋग्वेदीय ऋषिकी भाषामें, वे मिल भी नहीं जाते, खड़े भी नहीं हो जाते—'न मेथते न तस्थतुः।' और जिस नियमसे वे चल रहे हैं, जिसका आविष्कार हमने बुद्धिकी पराकाष्ठा दिखाकर किया है, वह कितना अद्भुत गाणितिक नियम है। बृहत्‌को छोड़कर क्षुद्रके अंदर दृष्टि ले चलिये—देखिये प्रकृतिके अंदर दाना (Crystal) बाँधनेकी ज्यामितिको; परमाणुके अंदर चले जाइये, देखिये प्रोटन-इलेक्ट्रोनकी सजावटको; उसके सामने ताजमहलका स्थापत्यकौशल भी नहीं टिक सकता!

एक फूलके अंदर—उसका डंठल, उसकी पंखुड़ियाँ, उसका गर्भकोष, उसका पराग, उसके रंगीन बेल, रेखाओंका सन्निवेश—कितनी निर्दोष निपुण कारीगरी होती है! उसपर जरा-सा ध्यान देनेपर दंग रह जाना पड़ता है। उसके बाद किस प्रकार फूल फलके रूपमें बदल जाता है, फल धीरे-धीरे किस प्रकार पुष्ट-परिणत-रसपूर्ण होकर एक सुन्दर मूर्ति धारण करता है—यह इतिहास भी कम चित्ताकर्षक नहीं होता।

और देखिये; ये जो लाखों, करोड़ों, असंख्य तृण, लता, गुल्म, वृक्ष आदि हैं, उनका जीवन कितना विचित्र, कितना बहुरूपी है—प्रत्येक देशकी मिट्टी, आबहवाके साथ अपरूप सामञ्जस्य बनाये रखकर कितने आकार-प्रकारमें उन्होंने अपनी छटा दिखायी है! मरुभूमिमें रहना होगा तृणको; देखिये कितना कठोर, समर्थ, आभरणहीन, बाहुल्यवर्जित तपस्वीके समान उसका गठन है—कितने थोड़े-से जलसे ही उसकी आवश्यकता पूरी हो जाती है; उसका सिर, उसकी जड़, उसका अंग-प्रत्यंग—सब उसी एक लक्ष्यके अनुसार प्रस्तुत हुआ है। शीतप्रधान देशमें, साइबेरियाका 'लिचेन' एक दूसरी ही परिस्थितिके साथ ताल मिलाते हुए चलनेके लिये एकदम पृथक् रूप धारण किये हुए है। उष्ण प्रदेशके गुल्मसे लेकर महान् महीरुहतक एक तीसरी प्रकारकी व्यवस्थाको प्रकट करते हैं। प्राणि-जगत्‌की ओर दृष्टि दौड़ाइये; जलचर, थलचर, उभयचर, खेचर—प्रत्येकका शरीर गठित हुआ है अपने-अपने पारिपार्श्विक प्रयोजनके अनुसार। यह जो आवश्यकतानुसार [illegible] है, इसके अंदर कितना परिमिति-ज्ञान है—[illegible] नहीं। परिमितिका अर्थ है आवश्यकताके अनुसार [illegible]; [illegible] जरा भी [illegible] नहीं—[illegible]। [illegible] रहना होगा, [illegible] होगा—[illegible] हुए हैं, [illegible]

लिये उसे एक विशेष आकार भी दिया गया है (जिसकी नकल करके मनुष्यने 'सबमेरीन टारपेडो' तैयार किया है)। पक्षीको आकाशमें उड़ना होगा—जिस वस्तुका अवलम्ब लेकर वह उड़ेगा उसका वजन होना चाहिये थोड़ा, साथ ही उसका गठन होना चाहिये दृढ़ पर नमनीय। पक्षीके पंखकी कलमको देखिये—उसे हल्का होना चाहिये; इसी कारण वह भीतरसे पोला, फिर पतला किन्तु दृढ़ होता है, झुक जाता है पर टूटता नहीं। मनुष्यका बनाया हुआ 'एरोप्लेन' ठीक इन्हीं विधानोंके ऊपर प्रतिष्ठित है।

और सब छोड़कर हम अपनेको ही देखते है, मनुष्यकी देहको देखते हैं—कैसी अपरूप अद्भुत एक वस्तु है यह ! वास्तवमें यह एक विपुल जटिल कारखाना ही है। मनुष्य स्वयं जैसा एक यन्त्र है, उसकी तुलनामें मनुष्यके बनाये हुए सभी यन्त्र तुच्छ हैं। अस्थि, पेशी, ग्रन्थि, स्नायुजालका संगठन, रक्तका दौर-दौरा, श्वास-प्रश्वासका कौशल, पाचन-नि सारणकी व्यवस्था, पञ्चेन्द्रियका गठन और क्रियाकलाप—पदार्थतत्त्वके, रसायनतत्त्वके कितने प्रकारके प्रयोगोंका क्षेत्र यह शरीर है! जब हम इस वस्तुको पुंखानुपुंखरूपसे देखते हैं तब साधारण मनुष्यके लिये यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि यह वस्तु अपने-आप ही तैयार हो गयी है, इसका कोई भी परम निपुण सचेतन कारीगर नहीं है।

एक समय ऐसा ही मालूम होता था, जगत्-यन्त्रके यन्त्रीके रूपमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करनेके सिवा और कोई उपाय ही न था। चार्वाकपंथियों, नास्तिकोंका दल अवश्य था; परन्तु उनकी अस्वीकृतिका कोई विशेष मूल्य न था। कारण-वे लोग, जिसे कहते हैं जोर-जबर्दस्ती करके, अस्वीकार करते, अस्वीकृतिके लिये यथोचित युक्ति नहीं देते। सृष्टि अपने-आप हुई [illegible] चल रही है; प्रकृतिके यन्त्रोंमें, कल-कब्जोंमें कोई रहस्य नहीं; प्रकृतिकी प्रकृति ही 'स्वभावो यदृच्छा'। इस प्रकार कहनेसे [illegible] नहीं कहा गया। (अवश्य ही अध्यात्मप[illegible] कोई-कोई—बौद्धमतवादी, सांख्यमतवादी—[illegible] मानते; किन्तु वे चिन्मय पुरुष या चिन्मयी प्र[illegible] चिन्मय पुरुषके संस्पर्शद्वारा सचेतन हुई प्र[illegible] मानते है।)

किन्तु विज्ञानका युग ले आया एक नया रूढ़ आलोक। मनुष्यकी एक नयी दृष्टि खुली, उसके कारण सृष्टिरहस्यकी सभी बातोंकी उसने सहज स्वाभाविक व्याख्या कर डाली। सृष्टिसे अतीत एक जादूगर (Deus ex machina) की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। लामार्क-डारविनके क्रमपरिणामवादने सृष्टि-धाराके अंदर एक ऐसा प्रकाश फेंका कि सभी समस्याएँ अपनी-अपनी सरल अव्यर्थ मीमांसाके साथ स्पष्टरूपमें प्रकट हो गयीं। उनके आविष्कारके फलस्वरूप मोटी बात यह सामने आयी—सृष्टिके अंदर जो हम अद्भुत लक्ष्यानुसरण, उद्देश्यानुसार यथायथ उपायनिर्देश, अवस्थानुरूप व्यवस्थाका समावेश देखते हैं, उसका कारण है वस्तु-विशेषके एक क्रमपरिणामकी धाराके अंदर निर्वाचन और उद्वर्तनका अलङ्घनीय फल मात्र। पारिपार्श्विक अवस्थाके साथ सजीव देहका, देह और अपने सभी अंगोंका परस्पर जो जटिल छन्द-सौषम्य है, सृष्टिमें सर्वत्र जो इतना कला-कौशल दिखायी देता है, वह सब एक दिनमें ही प्रकट नहीं हो गया, आरम्भमें वह इतना विचित्र, इतना निर्दोष नहीं था। आरम्भमें एक मोटे प्रकारकी, एक किसी प्रकारकी व्यवस्था भर थी; संस्पर्श, सङ्घर्षकी क्रिया-प्रतिक्रियाके, आदान-प्रदानके फलस्वरूप धीरे-धीरे यह सामञ्जस्य, यह लक्ष्यानुसरण—वस्तुका उद्देश्यानुयायी गठन और क्रिया प्रस्फुटित हो उठी है। जीवन-धारणके कठोर प्रयोजनके दबावसे जीव-जगत्में, जड देहमें यह

अपरूप यन्त्र तैयार हो गया है। आज जो बचे हुए हैं—चाहे उद्भिज्ज हो, प्राणी हो या मनुष्य हो—वे बचे हुए हैं ठीक इसीलिये कि वे जीवनयुद्धमें विजयी हुए हैं, उनका आधार—उनकी देहका गठन और कर्म-सामर्थ्य—बहुत दिनोंकी बहुत युगोंकी काट-छाँटके फलस्वरूप तैयार हुआ है। जितने अपटु आधार थे, वे नष्ट और लुप्त हो गये हैं; जहाँपर पटुता प्रकट हुई है, बढ़ सकी है, वहीं उद्वर्तनकी सम्भावना हुई है। उद्भिज्जसे प्राणी, प्राणीसे मनुष्यने भी इसी प्रकार एक सुन्दरसे सुन्दरतर, सरल सामञ्जस्यसे बहुमुखी सामञ्जस्य-की ओर क्रमगतिका परिचय दिया है। अतएव प्रकृति-के अंदर जो हम यन्त्र-कौशल देखते हैं वह क्रिया-प्रतिक्रियाके दबावसे, काट-छाँटके फलस्वरूप अव्यर्थभाव-से प्रकट हुआ है—अन्य प्रकार होनेका कोई अवसर ही यहाँ नहीं था। पहाड़ी नदीकी धारमें घात-प्रतिघात खाकर जिस प्रकार एक पत्थरका टुकड़ा खूब चिकना और गोल हो जाता है, प्रायः एक सुन्दर रूप ग्रहण करता है, यहाँ भी बात ठीक वैसी ही है। प्रकृति अपने भीतरसे ही यन्त्र बन गयी है, बाहरके किसी यन्त्रीके हाथकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

प्रकृतिरूप यन्त्रकी इस प्रकार व्याख्या करके वैज्ञानिकोंने ईश्वरको सृष्टिसे निकाल बाहर किया है—लापलास (Laplace) सृष्टिके अपने मानचित्रमें स्रष्टा या भगवान्‌के लिये कोई स्थान ही न पा सके; भगवान्‌की कोई आवश्यकता ही वह नहीं समझ सके। यदि सृष्टिका कोई स्रष्टा, यन्त्रका कोई यन्त्री कहीं हो तो उसके लिये वैज्ञानिक कहते हैं—'Verily thou art a God that hidest thyself.'—अवश्य ही तू एक ऐसा ईश्वर है जो अपनेको छिपाता है।

विज्ञान सृष्टितत्त्वकी यह मीमांसा पाकर और पकड़कर कुछ दिन बहुत निश्चिन्त था। परन्तु अन्यान्य क्षेत्रोंकी तरह यहाँ भी कुछ कसर दिखने लगी, सन्देहके बादल घने होने लगे। नये-नये तथ्यों, घटनाओं, कार्योंके आविष्कारने पूर्वकी मीमांसाको हिलाकर गिरा दिया। पहले यह मीमांसा निश्चित हुई थी, प्रायः स्वतःसिद्ध सिद्धान्त हो गया था कि जीवन धारण करनेमें आधारका जो परिवर्तन काम आता है, वह बच जाता है और धीरे-धीरे पुष्ट होता रहता है और जो कुछ अनुपयोगी होता है, वह घटने लगता है, अन्तमें लुप्त हो जाता है। परन्तु सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि आरम्भमें जो परिवर्तन हठात् दिखायी पड़ता है वह तो बहुत साधारण, तुच्छ होता है; उस समय तो उसकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। उपयोगिता तो प्रमाणित होती है उस समय जब वह परिवर्तन पूर्ण, यथेष्ट परिणत हो जाता है। लामार्कका तत्त्व अगर हम मानें तो यह कहना होगा कि पीछे काम आयेगा, इस भावी आशासे या पूर्वदृष्टिकी आशासे साधारण-सा परिवर्तन बचा रहता है और बढ़ता रहता है। परन्तु यह तो बिल्कुल ही यान्त्रिकताका धर्म नहीं है—यह तो चैतन्यका धर्म है। इसी कारण इस सङ्कटसे त्राण पानेके लिये आकस्मिक बृहत् परिवर्तनके तत्त्व (Mutation) का आविष्कार किया गया। परन्तु उससे भी क्या सारी मुश्किल आसान हो गयी! वास्तविक वस्तुका और घटनाका पर्यवेक्षण और परीक्षण जितना ही विस्तृत होने लगा उतना ही यह देखा गया कि दूर, सुदूर भविष्यमें जो काममें आयेगा उसकी वर्तमानकालमें कोई भी आवश्यकता नहीं; इस प्रकारकी व्यवस्था जीवदेहमें या जीव और उसकी परिस्थितिके सम्बन्धके अंदर यथेष्ट पायी जाती है। केवल यन्त्रकी तरह क्रिया-प्रतिक्रियाके फलस्वरूप इस प्रकारकी व्यवस्था भी उत्पन्न होती है, यह स्वीकार करना कठिन हो जाता है। अधिक तो क्या, जब विचार करके देखते हैं कि एक [illegible] अंदर [illegible]

हीरह किस प्रकार लीन हुआ रहता है, एक ही र्गमें एक ही आहार्यमें एक बीजकोष अपनेको विराट् अश्वत्थ वृक्षके रूपमें परिणत करता है और एक दूसरा सामान्य लता या गुल्मकी सीमा पार नहीं कर पाता, कुछ जोड़े 'क्रोमो सोम' के अंदर जीव-देहका, जीवचरित्रका यावतीय वैविध्य सम्पुटित रहता है, तब यह सिद्धान्त जबर्दस्ती ही मानना पड़ता है कि बीजकोष केवल एक जड यन्त्र है, रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रियाका क्षेत्रमात्र है।

केवल जडशक्तिके क्षेत्रमें चाहे जो हो—उसकी बात हम पीछे कहेंगे—जीवनी शक्तिके क्षेत्रमें एक प्रकारकी पूर्वानुभूति, उद्देश्यपरायणता, लक्ष्याभिमुखी गति, भावी आवश्यकताके लिये वर्तमानमें आयोजन आदिके उदाहरण यथेष्ट पाये जाते हैं और आजकल उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राणशक्तिकी क्रियाकी केवल जड शक्तिकी बात कहकर पूर्णरूपसे और सन्तोषजनक व्याख्या देना असम्भव है। मनके जगत्में (विशेषकर मनुष्यके अंदर तथा कुछ सम्भवतः उच्च कोटिके प्राणियोंके अंदर) सचेतन इच्छाशक्ति स्पष्टरूपसे प्रकट है। प्राणके, जीवनी शक्तिके जगत्में इच्छाशक्ति सचेतन नहीं हुई है; परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उसका वहाँ एकदम अभाव है। मानसिक इच्छाशक्तिके बदले वहाँ निम्नतर प्राणी-के अंदर तथा उद्भिज्जके अंदर प्राणज इच्छाशक्ति वर्तमान है। मानवेतर उच्चतर प्राणियोंके अंदर प्राणज इच्छाशक्ति ही प्रधान होती है, तब उसके अंदर मानसिक इच्छाशक्तिका थोड़ा-बहुत आवेश होता है, प्राणज इच्छाशक्ति-अविकृत मानस-इच्छाशक्तिका ही नाम है पशुसुलभ सहजात प्रेरणा (Instinct)। उद्भिज्ज-के अंदर मनका तनिक भी आवेश नहीं होता, वहाँ विशुद्ध अमिश्र प्राणज इच्छाशक्ति होती है। उद्भिज्ज-की जिस वृत्तिको 'आभिमुख्यता' (Tropism) कहते हैं, अर्थात् जिस ओर प्रकाश या आहार या अवलम्बन-की सम्भावना होती है उसी ओर बीचमें बाधा होनेपर भी, घूमकर, झुककर जानेकी प्रवृत्ति—वह उद्भिज्ज-की प्राणज इच्छाशक्तिका अपूर्व परिचय देती है।

तो क्या जड स्तरमें, विशुद्ध जड स्तरमें किसी प्रकार-की इच्छाशक्तिका कोई चिह्न पाया जाता है? अगर कोई जडज इच्छाशक्ति हो तो वह किस प्रकारकी चीज हो सकती है? अवश्य ही जडके आकर्षण-विकर्षणको बहुत-से लोग इसी प्रकारकी शक्ति कहते हैं, किन्तु वैज्ञानिक लोग ऐसा नहीं मानते; वे कहते हैं यह केवल कविता है, उपमा है—pathetic fallacy है। इच्छा-शक्तिकी क्रियाके अंदर एक प्रकारका निर्वाचन या निर्वाचनकी सम्भावना होनी चाहिये, द्वैधीभावकी अनिश्चयताका अवकाश होना चाहिये—अन्यथा वह वस्तु एकदम यन्त्र, सब प्रकारसे नियमके अधीन, बद्ध हो जायगी। परन्तु वर्तमान युगका विज्ञान हमें जडके एक ऐसे स्तरमें ले गया है, जहाँ जडका आचार-व्यवहार एकदम अप्रत्याशित प्रकारका हो गया है—और वहाँ यह कहना अब नहीं बनता कि वह यन्त्रवत् नियमबद्ध है, उसकी गतिके अदर द्वैधीभावकी अनिश्चयताका कोई अवकाश नहीं। जडका जो क्षुद्रतम खण्ड है—वैद्युतिक कण—उसकी गतिविधिका निर्णय व्यष्टि-हिसाबसे नहीं किया जा सकता, किसी प्रकार हिसाब-किताब करके भी यह पता नहीं लगाया जा सकता कि प्रत्येक किस पथसे चलेगा या नहीं चलेगा। ऐसा कहनेको इच्छा होती है कि वे सब खामखयाली मिजाजके होते हैं; उनकी समष्टिबद्ध गतिविधिको ही केवल नियमके अंदर बाँधा जा सकता है। केवल यही नहीं, और भी आश्चर्यजनक बातें हैं। कहते हैं वैद्युतिक कण भी सब प्रकारके यान्त्रिक धर्म और नियमको अस्वीकार कर सामने बाधा होनेपर भी बाधा-

को पार कर दूरस्थ अपने सहधर्मीके साथ मिलनेके लिये चला जाता है* ।

इस प्रकारकी गति या वृत्तिको हमलोग इच्छाशक्ति-की कोटिमें नहीं डालना चाहते, क्योंकि इच्छाशक्तिका मतलब हम प्रधानतः मानसिक इच्छाशक्ति समझते हैं—प्राणज इच्छाशक्तिको कल्पनाके बलपर कुछ-कुछ समझ भी सकते है, परन्तु जडज इच्छाशक्ति हमारी कल्पनासे, धारणासे एकदम अतीत है ।

किन्तु प्रकृतिके अंदर क्रमपरिणाम या विवर्तनका होना यदि सत्य हो तो साहस करके उस प्रकारकी वस्तुको अस्वीकार करना भी हमारे लिये समीचीन न होगा । हम विवर्तनके जितने नीचे स्तरमें उतरते हैं उतना ही चेतनाकी अभिव्यक्ति भी कम होती [illegible] है । मनुष्यके अंदर जो वृत्ति स्पष्ट, प्रस्फुट, [illegible] है, मानवेतर उच्चतर प्राणियोंमें उसके ऊपर पर्दा [illegible] उसका निमीलन होना आरम्भ हुआ है, निम्नतम प्राणियों-में वह क्षीण हो गयी है, उद्भिज्जमें वह सन्देहका [illegible] हो गयी है और जड पदार्थोंमें वह एकदम लीन [illegible] आच्छन्न हो गयी है । तब बात यह है कि लीन [illegible] आच्छन्न हो जानेके कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु एकदम लय या लोपको प्राप्त हो गयी है, एकदम है ही नहीं । निम्नतम, स्थूलतम जडके [illegible] भी चेतना, इच्छाशक्ति विद्यमान है—तब वह [illegible] अन्तर्लीन, अन्तर्गूढ़ अवस्थामें है—और उस अवस्थामें रहते हुए भी पीछेसे उसका एक निभृत दबाव [illegible] क्रियाकलापपर कुछ प्रभाव डालता ही है, बाहरके [illegible] को थोड़ा-बहुत नियन्त्रित करता ही है । वृक्षकी [illegible] देहस्थ बाल और नख पृथक् करके देखनेपर मृत [illegible] पदार्थमात्र मालूम होते हैं, किन्तु जीवित वृक्ष और देहकी जीवनी शक्ति जब पीछेसे दबाव डालती है [illegible] ये सजीव होते हैं, इनके व्यवहारमें [illegible] दिखायी देता है । ठीक इसी प्रकारकी बात [illegible] ।

प्रकाशके पीछे—प्रकाश है [illegible] मात्रामें जड़रूप—जिस प्रकार [illegible] का अस्तित्व विज्ञानने खोज निकाला है, [illegible] और भी आगे अगर हम बढ़ [illegible] इसके पीछे भी [illegible] है एक [illegible] नहीं [illegible]

* कहीं आपलोग यह न समझें कि मैं मूल विज्ञानकी बात न कहकर उपन्यासकी रचना कर रहा हूँ; इसलिये मैं यहाँ एक वैज्ञानिककी ही भाषा उद्धृत कर रहा हूँ, यद्यपि ये वैज्ञानिक केवल 'प्राण-वैज्ञानिक' हैं, पूरे-पूरे आदि अकृत्रिम 'जड-वैज्ञानिक' नहीं हैं—"One of the most amazing features of quantum mechanical theory is the discovery that electrons and other elementary particles will leak through a potential barrier which they could never cross if the classical physics were true. The electron is imprisoned, for example, in a metal filament and would gain kinetic energy like a stone rolling downhill, if it could cross a gap to a positively charged plate. But to leave the metal it has to traverse a potential barrier at the surface of the filament and does not possess the requisite energy. According to the classical physics, it is like a stone in a small depression on a hillside, which cannot get out so as to roll down the hill There is no force acting on the electron or the stone which

ज्ञानी है। मालूम होता है तेजको छोड़कर विज्ञान वायुका आश्रय करने जा रहा है, किन्तु उसके भी आगे वर्तमान है व्योम—चिदाकाश।

जड प्रकृतिके, अत्यन्त जडके अंदर—चाहे वह महतो महीयान् ज्योतिष्कमण्डल हो या अणोरणीयान् परमाणु हो—सर्वत्र जो एक अपरूप *शृङ्खला*, नियमानुवर्तिता, छन्दोमय गति, ताल-मान विद्यमान है वह खूब स्पष्ट है। सभी जानते हैं, हमने भी कहा है, वस्तुओंके पारस्परिक सम्बन्धमें, उनकी क्रिया-प्रतिक्रियामें, उनके आणविक गठनमें, वजनमें परिमाणकी अर्थात् संख्याकी जो नियमित धारा, मेल या 'पैटर्न' हम पाते हैं वह बड़ी ही आश्चर्यजनक है। वस्तुओंकी चालके अंदर जड विज्ञानने आविष्कार किया है समताल और पर्यावृत्तिका नियम (law of harmonies and periodicity) वस्तुओंके गठनमें आविष्कार करता है ज्यामितिक आकृति।

ऐसा कहा जाता है कि जड वस्तुका धर्म ही ऐसा है; जड जो जड है—*इसका प्रमाण भी यही, यही* है। क्रियाकी धारामें एक प्रकारका पुनरावर्तन, पर्यावृत्ति, गठनमें एक प्रकारका सममान, समभंग ही है—यन्त्रकी यान्त्रिकताका लक्षण। घड़ीका 'पेंडुलम' यदि एक तालसे झूल रहा है तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? अवश्य, केवल बाहरी ओरसे देखनेपर प्रकृतिकी चाल-ढालका तालसाम्य, मानसाम्य आदिके विषयमें उनकी सूक्ष्मता, यथायोग्यताकी प्रशंसा करके ही चुप हो जाना पड़ता है। विश्वप्रकृतिकी अपरूप यान्त्रिकताका विश्लेषण करके—सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग, कल-कब्जे खोल-खोलकर हमने उनकी एक सूची भी सम्भवतः तैयार कर ली है; परन्तु ऐसी यान्त्रिकताकी उत्पत्ति क्यों हुई, किस प्रकार हुई यह हम नहीं जानते, नहीं समझते। *क्रमपरिणामवादने* अवश्य ही इस समस्यापर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला है, परन्तु एकदम बाह्य दृष्टिसे और सो भी उसका अत्यन्त सामान्य अंश लेकर। अधिक भाग अन्धकारमें ही पड़ा हुआ है, और कुछ भाग तो और भी जटिल हो गया है। विज्ञानका प्रधान अङ्ग है परिमाणनिर्णय—माप-खोज करना। परन्तु उस दृष्टिसे देखनेपर भी क्या यह कहा जा सकता है कि इन्द्रधनुषमें सात रंग क्यों होते हैं, स्वरग्राममें सात पर्दे क्यों होते हैं, परमाणुके अन्तर्गत 'इलेक्ट्रॉन' के (*क्रियाशक्तिके हिसाबसे*) सात क्रम क्यों होते हैं, और वह 'इलेक्ट्रॉन' चौम्बक क्षेत्रके द्वारा ठीक सात ही प्रकारसे क्यों प्रभावान्वित होता है? दूसरी ओर सृष्टिके मूलतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाले जिन क्रमों या लोकोंकी बात आध्यात्मिक द्रष्टा कहा करते हैं, उनकी संख्या भी सात ही है—'सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः' (ऋग्वेद), 'सप्त इमे लोकाः' (मुण्डकोपनिषद्)।

फलतः एक आध्यात्मिक दृष्टिद्वारा ही हम इस प्रकारकी समस्याका समाधान पा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अवश्य ही इसीलिये हम यहाँ ऐसा नहीं कहना चाहते—जैसा कि मध्ययुगमें यह सिद्धान्त किया गया था कि विश्वके एक निपुण चतुर स्रष्टा हैं, विधाता हैं जिन्होंने अपनी सृष्टिसे ऊपर बैठकर एक प्रकारसे गिन-गिनकर, माप-तौलकर, सजा-सजाकर, जगत्को रचा है। (कोई-कोई कहते हैं कि इस कार्यके करनेमें उन्हें छः दिन लगे थे, सातवें दिन उन्होंने बैठकर अपनी गढ़ी हुई चीजोंको स्वयं देख-देखकर आनन्द-उपभोग किया था—यहाँ भी सातका प्रभाव है!) परन्तु बात ऐसी न होनेपर भी ऐसा होना असम्भव नहीं है, हमने पहले ही यह बात कही है कि एक चेतनाका दबाव पीछेकी ओर वर्तमान रहनेके कारण ही उसकी छाप बाहर इस गिनतीके साँचेमें प्रस्फुटित हो उठी है।

एक घड़ीके अंदर जो कला-कौशल है (जिसका स्वरूप गाणितिक है), उससे घड़ी बनानेवालेके अस्तित्वको स्वीकार करना चाहे जितना भी आसान क्यों न हो, उससे भी कहीं अधिक रहस्यकी बात यह है कि कला-कौशलके अंदर मनकी या चेतनाकी छाप ही अभिव्यक्त हुई है। चेतनाके संस्पर्शसे जड भी चेतनवत् हो जाता है। यहाँपर हम घड़ीसे भी अधिक सजीव रचनाका उदाहरण ले सकते हैं—एक चित्र या एक कविताको। कविताके अंदर काफी गणित विद्यमान है, चित्रके अंदर भी पर्याप्त मात्रामें ज्यामिति वर्तमान है। परन्तु वह गणित, वह ज्यामिति एक सजीव अनुभव या चेतनाका अव्यर्थ प्रकाश या सुश्री अवयव है। रंग, रेखा और ध्वनिके विक्षिप्त परमाणुओं-को संश्लिष्ट, सुपीन, मूर्त्तिमान् कर डाला है शिल्पीकी चेतनाके दबावने। चेतनाका ही धर्म है, नियम है—शृङ्खला, सुसंस्थान, संगठन; अचेतनाका धर्म है—विशृङ्खला, विश्लिष्टता, विपर्यस्तता।

मैं कह चुका हूँ कि चेतनाके संस्पर्शसे जड भी चेतनवत् हो उठता है—परन्तु क्यों, किस प्रकार ! यदि वे दोनों एकदम पृथक् चीजें हों, विभिन्न पर्यायकी हों तो उनका संयोग, परस्पर एकका दूसरेके ऊपर

परन्तु हमारा कहना यह है कि जडका चे[तना]के द्वारा प्रभावान्वित होनेका कारण यह है कि [जड]के अंदर निहित, विलीन हो रही है चेतना, जड चेत[ना]का ही आत्मविस्मृत घनीभूत आकार है।

इस विषयमें एक विचित्र बातका उल्लेख यहाँपर किया जा सकता है—उस बातने, सम्भव है, बहुत-से लोगोंकी दृष्टि आकर्षित की हो; परन्तु इस बातमें सन्देह है कि कभी किसीने साहसपूर्वक यह विचार किया है कि उसका आखिर अर्थ क्या है। बहुत बार हमें किसी यन्त्रका व्यवहार अद्भुत-सा दिखायी देता है। कोई घड़ी, इंजिन, नौका या जहाज कभी-कभी (यदि प्रायः न भी हो) सजीव प्राणीकी तरह गतिविधि दिखाता है—मानो उसका भी एक व्यक्तिगत ख्याल, मिजाज हो, जिद्दी हो। एकदम जड यन्त्रके धर्मके अतिरिक्त भी उसके अंदर बीच-बीचमें आकस्मिकरूपमें जडातिरिक्त किसी वस्तुका, सजीव किसी वस्तुका आभास फूट उठता है। इंजिनका चालक, नौकाका केवट, जहाजका सारंग (या कप्तान) इस विषयमें गवाही दे सकते हैं; वे अपने यन्त्रको सजीव वस्तुके रूपमें अनुभव करते हैं और यह अनुभव केवल काल्पनिक आरोप मात्र नहीं होता।

इस प्रकारके आरोप या अधिकारकी बात सम्भवतः साधारण सत्य न भी हो, परन्तु इस दृष्टान्तसे हम एक साधारण सिद्धान्त निश्चित कर सकते हैं कि जहाँ यन्त्रकार है वहाँ यन्त्रके अंदर जो उद्देश्यानुगतता (Purposiveness) है वह यन्त्रकारकी चेतनाका प्रतिरूप है और उसी तरह जहाँ यन्त्रकार नहीं है, जहाँ हम केवल यन्त्रको ही देखते हैं वहाँ भी यन्त्रगत जो उद्देश्यानुगतता है वह एक प्रकारके चैतन्यका ही परिचय देती है—वह चेतना किसी बाहरी यन्त्रकारके यहाँसे न आनेपर भी वह यन्त्रके ही अन्तर्गत एक प्रच्छन्न आत्मविस्मृत चेतना ही होती है। समस्त जड सृष्टिको यदि हम इसी प्रकार एक यन्त्रके रूपमें ग्रहण करें तो वहाँ भी हमें, बाह्य यन्त्री न भी हो, एक अन्तर्यन्त्रीका, एक प्रसुप्त पर साथ ही सक्रिय इच्छाशक्तिका पता तो मिलता ही है।

आध्यात्मिक दृष्टि और अनुभूति यह बतलाती है कि समस्त सृष्टि ही चैतन्यका (चिन्तनका नहीं—व्यष्टिगत चिन्तनका तो नहीं ही) विकास है। आपाततः प्रतीयमान जडके भीतर भी वर्तमान है चैतन्यका अस्तित्व; तब वहाँपर चैतन्य है अवचेतन अर्थात् सुप्त, आत्मगुप्त, अन्तर्लीन। इस अन्तर्लीन चैतन्यके प्रच्छन्न दबावसे ही जडके अंदर हम देखते हैं—जड-जगत्‌के अपरूप अत्याश्चर्यमय छन्द, ताल और मानकी शृङ्खला और नियम। जीवके अंदर, जीवनके क्रमविकासकी धाराके अंदर यह चैतन्य जितना सजग, परिस्फुट प्रकट हुआ है—पहले उद्भिज्जमें, उसके बाद इतर प्राणियोंमें और अन्तमें मनुष्यमें—उतना ही आधारका यान्त्रिक संगठन भी जैविक धर्मको प्राप्त करता दिखायी देता है। दूसरी ओर, मनुष्यके अंदर जो चिन्मय इच्छाशक्ति पूर्ण जाग्रत् है, इतर प्राणियोंमें वह अर्द्धजाग्रत् है, उद्भिज्जमें वह स्वप्नगत हो गयी है और जडमें तो वह एकदम सुप्त ही है—परन्तु सुप्त होनेके कारण उसका अभाव नहीं है। उच्चतम स्तरमें जो सजग इच्छाकी क्रिया है, उद्देश्यमुखी सचेतन चेष्टा है, वही निम्नतम स्तरमें क्रमशः अनिच्छाकृत, अवश और अन्तमें यान्त्रिक व्यवहारके रूपमें परिणत हो गयी है। ऐसा होनेपर भी सर्वत्र ही विद्यमान है एक ही चैतन्यका दबाव, अवश्य है वह विभिन्न रूपोंमें, विभिन्न मात्रामें—

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

मालिक ! तू निश्चय दयालु है

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुआ, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

मालिक ! तू निश्चय दयालु है।
पर जब तपा तपाकर सोनेको तू पिघला लेता।
तप तपकर वह अपने अवगुण-कलुष छाँट सब देता॥
तभी दयाके शीत-बिन्दुसे दग्ध हृदय सिंचवाकर।
सुख-संतोष और श्रद्धासे उसको चमका देता॥
मालिक ! तू निश्चय दयालु है॥

ध्यान परिवर्तन नहीं होगया; क्योंकि इस अवतारके लिये उनका कोई सङ्कल्प नहीं था। भगवान्का यह आवेशावतार दूसरेके लिये था, और जिसके सङ्कल्पके लिये था उसका सङ्कल्प पूरा हो गया। इसी तरह मनुष्योंमें देवी देवताओंका भी आवेश देखा जाता है। देवी अपना कार्य करती है; किन्तु जिसकी देहमें वह प्रवेश करती है, उसको अपना भान नहीं रहता। कभी कभी वास्तवमें देवी देवताओंका आवेश न होनेपर भी मनुष्य जो *ढोंग करने लगता है, यह दूसरी बात है।* इसी तरह हिप्नोटिज्ममें, निगेटिव हिप्नोटाइज्ड पुरुषमें जिसपर कि शक्ति डाली जाती है—शक्ति डालनेवाला पॉज़िटिव हिप्नोटाइज़र प्रवेश करता है और अपना उद्दिष्ट कार्य करता है। इस समय निगेटिव प्राणी कुछ भी नहीं करता। यहाँतक कि उसको अपना भान भी नहीं रहता।

इस आवेशावतारके अतिरिक्त भगवान् अर्चामें भी प्रकट होते हैं। इसे अर्चावतार कहते हैं। यदि पूजन करनेवाला शुद्ध हृदयका हो और उसका सङ्कल्प दृढ़ हो तो उसके सङ्कल्पानुसार भगवान् मूर्तिमें प्रकट हो जाते हैं। पंढरीनाथ भगवान् विट्ठलने एक भक्त बालकका सङ्कल्प पूर्ण करनेके लिये साक्षात् प्रकट होकर उसके रक्खे हुए नैवेद्यमेंसे भोजन पाया था। इसी प्रकार वे प्रत्यक्ष प्रकट होकर नामदेवके साथ खेला करते थे। ऐसे ही और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं।

अर्चाविग्रह दो प्रकारके होते हैं। एक स्वयंसिद्ध और दूसरे स्थापित–प्राणप्रतिष्ठा किये हुए। श्रीबद्रीनारायण, श्रीद्वारकाधीश, श्रीजगन्नाथ, श्रीरणछोड़राय, श्रीपंढरीनाथ-जैसे बहुतसे विग्रह स्वयंसिद्ध हैं। भक्तोंके सङ्कल्पके अनुसार जैसे भगवान् देहधारी होकर अवतरित होते हैं, वैसे ही उनके लाभ और धर्मकी रक्षाके लिये वे इस लोकमें अर्चारूपमें निवास करते हुए भी सब प्रकारसे भक्तोंके सङ्कल्प पूर्ण करते रहते हैं।

अर्चावतारके सम्बन्धमें कितने ही लोगोंको यह शङ्का होती है कि यदि अर्चाविग्रह प्रत्यक्ष भगवान् ही हैं तो इसका क्या कारण है कि जो लोग सदैव भगवान्की सन्निधिमें रहते हैं और उनकी सेवा-पूजा करते हैं, उनके चित्त भी अशान्त रहते हैं और वे दुःखी दिखायी देते हैं। भगवान् उनपर कृपा करके उनका योगक्षेम क्यों नहीं चलाते? वे उनकी सार-सँभाल क्यों नहीं करते?

इस विषयमें प्रथम तो यह बात याद रखनी चाहिये कि भगवान् भक्तोंके सङ्कल्पानुसार ही सब काम करते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि 'जीवोंका सङ्कल्प ही भगवान्का सङ्कल्प है।' यदि यह बात ठीक-ठीक ध्यानमें रहे तो ऊपरकी शङ्काओंका सहजही समाधान हो जाता है। भक्तोंके जो सङ्कल्पसमुदाय और उनसे होनेवाले जो संस्कार होते हैं, उनके अनुसार ही सिद्धि मिलती है। अर्चाविग्रह प्रत्यक्ष भगवान् ही हैं—पुजारियोंका ऐसा दृढ़ भाव नहीं होता। उसमें उनका भगवद्भावके साथ साथ स्थूल मूर्तिका भाव भी रहता ही है। उनके आचरण इस प्रकारके होते हैं मानो वह अर्चाविग्रह स्थूल जड मूर्ति ही है। प्रत्यक्ष भगवान्के सामने खड़े होनेपर जैसा बर्ताव होगा, वैसा अर्चाविग्रहके सामने नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें उनकी दृष्टिमें वह स्थूल मूर्ति ही होती है, वे भगवान्की तो उसमें केवल भावना ही करते हैं। इसलिये वे भगवान्से जो कार्य होनेकी आशा रख सकते थे, वह मूर्तिसे नहीं रखते। ऐसे भक्तोंके सङ्कल्पमें कुछ भी बल नहीं होता और न विग्रह ही उनके लिये प्रत्यक्ष भगवान् होता है। इसीसे न तो उनकी तुरंत अन्तःकरण-शुद्धि होती है और न योगक्षेमका ही निर्वाह होता है। अर्चाविग्रह-की तो बात ही क्या, वे तो अवतारविग्रहमें भी प्रत्यक्ष भगवान्को प्रत्यक्ष नहीं समझते; जैसे यादवकुलमें श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष थे, किन्तु बहुत कम लोग उनको भगवान् समझते थे। इसीसे यादव भी दूसरे लोगोंकी तरह ही रहे, समुद्र तो परिपूर्ण है; किन्तु मनुष्य उसमेंसे अपने पात्रके अनुसार ही तो जल ले सकता है, वह अधिक किस प्रकार लेगा। किन्तु यदि छोटे पात्रमें अधिक जल न आवे तो इससे समुद्रके समुद्रत्वमें कोई बाधा नहीं आती, वह तो पूर्ण ही है। इसी प्रकार यदि भगवान्से कोई पूरा लाभ नहीं उठा पाता तो इससे उनकी भगवत्तामें कोई बाधा नहीं आती।

अवतार-रहस्य

(श्रीकृष्ण)

जो सर्वव्यापक, शुद्ध, चेतन, निर्गुण, निराकार और अव्यक्त ब्रह्म है वही विश्वरूपसे सगुण, साकार और व्यक्त होता है। इस विश्वव्यापक ब्रह्मको ईश्वर कहते हैं। ब्रह्म ईश्वरकी पराविभूति है। ईश्वर तीन गुणोंके आश्रयसे उत्पत्ति, स्थिति और लयका कार्य करता है। जब वह रजोगुणके आश्रयसे उत्पत्तिका कार्य करता है तब ब्रह्मा कहलाता है, जब सत्त्वगुणके आश्रयसे पालन–रक्षणका कार्य करता है तब विष्णु, और जब तमोगुणके आश्रयसे लयका कार्य करता है तब शङ्कर कहा जाता है। जब जीव किसी आपत्तिमें फँस जाता है तब वह अपनी रक्षाके लिये विष्णुभगवान्‌की प्रार्थना करता है और वे उसकी मनोकामना पूर्ण करते एवं उसकी सहायता करते हैं। जब-जब अधर्मका बहुत विस्तार होता है, तब-तब अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये वे अवतार भी लेते हैं। अवतारका मुख्य कारण भक्तोंका सङ्कल्प ही है, उनके सङ्कल्पको पूरा करनेके लिये वे परिस्थितिके अनुसार जैसी आवश्यकता होती है उसीके अनुरूप अवतार लेते हैं। भक्त प्रह्लादके लिये, हिरण्यकशिपुको प्राप्त हुए वरदानके अनुसार भगवान्‌का श्रीनृसिंहरूपसे और ध्रुवके लिये श्रीनारायणरूपसे अवतार हुआ। इन अवतारोंका हेतु कभी तो एक ही भक्तका सङ्कल्प होता है और कभी बहुत-से भक्तोंके सङ्कल्प होते हैं और इन सङ्कल्पोंके अनुसार कभी तो एक-दो कार्य ही करने होते हैं और कभी अनेकों छोटे-बड़े कार्य करने होते हैं। श्रीनारायण-अवतार भक्त ध्रुवके सङ्कल्पके लिये था और उसका मुख्य कार्य उनके सङ्कल्पकी पूर्ति करना ही था। श्रीनृसिंह अवतारके हेतु प्रह्लादके सङ्कल्पके अतिरिक्त और भी बहुत-से भक्तोंके सङ्कल्प थे। हिरण्यकशिपुका अत्याचार बहुत बढ़ गया था, अनेकों लोगोंको अपने धर्मकार्य करनेमें बाधा होती थी; इसीसे बहुत-से भक्तोंकी प्रभुसे प्रार्थना थी। इसी प्रकार कार्यके अनुसार कोई अवतार थोड़े समयके लिये होता है और कोई बहुत समयके लिये। ध्रुवके लिये श्रीनारायणका अवतार और प्रह्लादके लिये श्रीनृसिंह-अवतार थोड़े समयके लिये हुए थे। किन्तु दशरथ, कौसल्या और दूसरे अनेकों भक्तोंके लिये श्रीरामावतार तथा देवकी, वसुदेव और उस समयके अनेकों भक्तोंके लिये श्रीकृष्णावतार बहुत कालके लिये हुए थे। अन्य सब अवतारोंकी अपेक्षा श्रीकृष्णावतार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अवतारमें भगवान्‌ने धर्मकी रक्षा और असुरोंके संहारके अतिरिक्त जीवोंकी मोक्षप्राप्तिके लिये उपनिषद्-जैसे गहन ग्रन्थोंका मन्थन करके उनका साररूप श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे महत्त्वपूर्ण और सरल ग्रन्थकी अवतारणा की और उसके अनुसार स्वयं आचरण करके दिखाया। उन्होंने यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि पूर्णज्ञानयुक्त व्यवहार कैसा होता है। ऐसे व्यवहारमें स्वभावतः ही पूर्ण ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आ जाते हैं। यही इस अवतारकी मुख्य विशेषता है। भगवान्‌के स्वयं आचरण करके दिखा देनेसे उनका उपदेश बड़ा ही सरल और प्रभावशाली हो गया है।

भगवान् कार्यके अनुसार कभी तो इस तरह स्वतन्त्र देह धारण करके अवतार लेते हैं और कभी जब ऐसी आवश्यकता नहीं होती, कोई साधारण कार्य होता है, तो दूसरोंके शरीरमें आविष्ट होकर अवतीर्ण होते हैं। इसे आवेशावतार कहते हैं। जब दूसरेकी देहमें भगवान् आविष्ट हो जाते हैं, तब उस देहधारी जीवको अपना कोई भान नहीं रहता। भगवान् उस देहद्वारा अपना कार्य सिद्ध करते हैं। ऐसे समयपर उस देहकी कान्ति बदल जाती है। शरीर, नेत्र, वाणी—सब दिव्य हो जाते हैं। कार्य पूरा हो जानेपर भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं। फिर उस जीवको धीरे-धीरे अपना भान होने लगता है। इस समय उसे एक विलक्षण आनन्द और शान्तिका अनुभव होता है, किन्तु भगवान् जो कार्य कर गये हैं, उसका उसे कोई ज्ञान नहीं होता। वह शान्ति कुछ कालतक रहती है। फिर वह प्राणी जैसे पहले था प्रायः वैसा ही बन जाता है, उसमें कोई

खास परिवर्तन नहीं दीखता; क्योंकि इस अवतारके लिये उसका कोई सङ्कल्प नहीं था । भगवान्का यह आवेशावतार दूसरेके लिये था, और जिसके सङ्कल्पके लिये था उसका सङ्कल्प पूरा हो गया । इसी तरह प्राणियोंमें देवी देवताओंका भी आवेश देखा जाता है । देवी अपना कार्य करती है; किन्तु जिसकी देहमें वह प्रवेश करती है, उसको अपना भान नहीं रहता । कभी-कभी वास्तवमें देवी-देवताओंका आवेश न होनेपर भी मनुष्य जो ढोंग करने लगता है, यह दूसरी बात है । इसी तरह हिप्नोटिज्ममें, निगेटिव हिप्नोटाइज्ड पुरुषमें जिसपर कि शक्ति डाली जाती है—शक्ति डालनेवाला पॉज़िटिव हिप्नोटाइज़र प्रवेश करता है और अपना उद्दिष्ट कार्य करता है । इस समय निगेटिव प्राणी कुछ भी नहीं करता । यहाँतक कि उसको अपना भान भी नहीं रहता ।

इस आवेशावतारके अतिरिक्त भगवान् अर्चामें भी प्रकट होते हैं । इसे अर्चावतार कहते हैं । यदि पूजन करनेवाला शुद्ध हृदयका हो और उसका सङ्कल्प दृढ़ हो तो उसके सङ्कल्पानुसार भगवान् मूर्तिमें प्रकट हो जाते हैं । पंढरीनाथ भगवान् विठ्ठलने एक भक्त बालकका सङ्कल्प पूर्ण करनेके लिये साक्षात् प्रकट होकर उसके रक्खे हुए नैवेद्यमेंसे भोजन पाया था । इसी प्रकार वे प्रत्यक्ष प्रकट होकर नामदेवके साथ खेला करते थे । ऐसे ही और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं ।

अर्चाविग्रह दो प्रकारके होते हैं । एक स्वयंसिद्ध और दूसरे स्थापित-प्राणप्रतिष्ठा किये हुए । श्रीबद्रीनारायण, श्रीद्वारकाधीश, श्रीजगन्नाथ, श्रीरणछोड़राय, श्रीपंढरीनाथ-जैसे बहुतसे विग्रह स्वयंसिद्ध हैं । भक्तोंके सङ्कल्पके अनुसार जैसे भगवान् देहधारी होकर अवतरित होते हैं, वैसे ही उनके लाभ और धर्मकी रक्षाके लिये वे इस लोकमें अर्चारूपमें निवास करते हुए भी सब प्रकारसे भक्तोंके सङ्कल्प पूर्ण करते रहते हैं ।

अर्चावतारके सम्बन्धमें कितने ही लोगोंको यह शङ्का होती है कि यदि अर्चाविग्रह प्रत्यक्ष भगवान् ही हैं तो इसका क्या कारण है कि जो लोग सदैव भगवान्की सन्निधिमें रहते हैं और उनकी सेवा-पूजा करते हैं, उनके चित्त भी अपवित्र रहते हैं और वे दुःखी दिखायी देते हैं । भगवान् उनपर कृपा करके उनका योगक्षेम क्यों नहीं चलाते ? वे उनकी सार-सँभाल क्यों नहीं करते ?

इस विषयमें प्रथम तो यह बात याद रखनी चाहिये कि भगवान् भक्तोंके सङ्कल्पानुसार ही सब काम करते हैं । पीछे कहा जा चुका है कि 'जीवोंका सङ्कल्प ही भगवान्का सङ्कल्प है ।' यदि यह बात ठीक-ठीक ध्यानमें रहे तो ऊपरकी शङ्काओंका सहजही समाधान हो जाता है । भक्तोंके जो सङ्कल्पसमुदाय और उनसे होनेवाले जो संस्कार होते हैं, उनके अनुसार ही सिद्धि मिलती है । अर्चाविग्रह प्रत्यक्ष भगवान् ही हैं—पुजारियोंका ऐसा दृढ़ भाव नहीं होता । उसमें उनका भगवद्भावके साथ साथ स्थूल मूर्तिका भाव भी रहता ही है । उनके आचरण इस प्रकारके होते हैं मानो वह अर्चाविग्रह स्थूल जड मूर्ति ही है । प्रत्यक्ष भगवान्के सामने खड़े होनेपर जैसा बर्ताव होगा, वैसा अर्चाविग्रहके सामने नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें उनकी दृष्टिमें वह स्थूल मूर्ति ही होती है, वे भगवान्की तो उसमें केवल भावना ही करते हैं । इसलिये वे भगवान्से जो कार्य होनेकी आशा रख सकते थे, वह मूर्तिसे नहीं रखते । ऐसे भक्तोंके सङ्कल्पमें कुछ भी बल नहीं होता और न विग्रह ही उनके लिये प्रत्यक्ष भगवान् होता है । इसीसे न तो उनकी तुरंत अन्तःकरण शुद्धि होती है और न योगक्षेमका ही निर्वाह होता है । अर्चाविग्रह-की तो बात ही क्या, वे तो अवतारविग्रहमें भी प्रत्यक्ष भगवान्को प्रत्यक्ष नहीं समझते; जैसे यादवकुलमें श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष थे, किन्तु बहुत कम लोग उनको भगवान् समझते थे । इसीसे यादव भी दूसरे लोगोंकी तरह ही रहे, समुद्र तो परिपूर्ण है; किन्तु मनुष्य उसमेंसे अपने पात्रके अनुसार ही तो जल ले सकता है, वह अधिक किस प्रकार लेगा । किन्तु यदि छोटे पात्रमें अधिक जल न आवे तो इससे समुद्रके समुद्रत्वमें कोई बाधा नहीं आती, वह तो पूर्ण ही है । इसी प्रकार यदि भगवान्से कोई पूरा लाभ नहीं उठा पाता तो इससे उनकी भगवत्तामें कोई बाधा नहीं आती ।

याद रक्खो—मनके मलोंमें सबसे बढ़कर गहरा चिपटा हुआ मल है अहङ्कार। यह सहज ही दूर नहीं होता
इसके नाशके लिये लगातार जीतोड़ जतन करना पड़ता है। परन्तु जबतक अहङ्कार रहता है
सिद्ध नहीं हो सकती। अहङ्कारकी जरा-सी हुङ्कारसे ही किया-कराया चौपट हो जाता है।
होता है अपने गौरव या बड़प्पनका त्याग करनेसे! बात भी यही है—मनुष्यके पास अपने
सी है ! यदि कहीं कुछ गौरव है तो वह श्रीभगवान्‌का ही है। जो मनुष्य मोहवश
अपनेमें आरोप करनेकी चेष्टा करता है, वह अहङ्कारके वशमें हो जाता है। और
वहीं सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं—'अहङ्काराङ्कुरस्याग्रे तदा पुण्यं न तिष्ठति

याद रक्खो—भगवान्‌को छोड़कर और किसीका भी सहारा ऐसा नहीं
समूल नाश कर दे। यहाँतक कि साधन करनेवाला पुरुष भी यदि यह
मैं सारी बाधा-विपत्तियोंसे छूट जाऊँगा तो वह भी गलती करता है। सर्व
उनकी अहैतुकी और असीम दयापर विश्वास करके—उन्हींकी दयाका आश्रय

याद रक्खो—श्रीभगवान् मङ्गलमय हैं, उन्होंने तुम्हारे लिये जो कुछ
मङ्गलसे परिपूर्ण है। यदि तुम उनके मङ्गल विधानको प्रसन्नताके
कि तुम बड़े ही अभागे हो। तुम अबोध हो, तुम्हें वह बुद्धि ही कहाँ है
बुराईको समझ सको। इसीसे दयासागर सर्वज्ञ भगवान्‌ने तुम्हारा सारा
तो बस यही काम है कि तुम उनके मङ्गलमय श्रीचरणोंमें अपनेको
निश्चिन्त होकर उनके प्रत्येक विधानको सानन्द सिर चढ़ाते रहो!

याद रक्खो—जिसका हृदय सङ्कीर्ण है, जो दूसरेकी श्री, कीर्ति
कर सदा जलता रहता है, जो दूसरोंकी हानिमें आनन्द-लाभ करता
हो सकता है और न कभी असली सुखका ही मुँह देख सकता है।
विचारोंका त्याग करके हृदयको विशाल बनाओ। दूसरोंकी उन्नतिमें ही
और सम्पत्तिमें ही अपनी सम्पत्ति समझकर प्रसन्न होते रहो एवं सदा
जीव सच्ची श्री-कीर्ति, सम्पत्ति-उन्नति और सुख-शान्तिको प्राप्त करें।

याद रक्खो—जब कभी तुमपर कोई विपत्ति आती है तो
तुम्हारे पीछे खड़े होते हैं। तुम जो अपने सामने एक घना अन्धकार
है। भगवान्‌के उस परम प्रकाशमय दिव्यस्वरूपको देखो जो अपनी
चिपटाकर सदाके लिये सुखी करनेको तैयार खड़े हैं।

याद रक्खो—विकाररूपा प्रकृतिमें स्थित सभी जीव भूलसे भरे हैं
दोष सभीमें रहते हैं। तुम कितने ही भले क्यों न हो सर्वथा निर्दोष नहीं
देखो, दीख जाय तो उसकी निन्दा मत करो। देखो—तुम्हारे अंदर वैसे ही
पश्चात्ताप करो और चेष्टा करो जिसमें वे मिट जायँ। निश्चय समझो—दुनियाँ उसी
है। तुम निर्दोष हो जाओगे तो फिर तुम्हें कहीं दोष दीखेगा ही नहीं।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आप लोगोंको इतने दिन हो गये पर अभीतक तेज नहीं हुआ। पहलेकी अपेक्षा तो कुछ चेष्टा दीखती है परन्तु जितनी चेष्टा होनी चाहिये नहीं हुई तथा योग्यताके अनुसार चेष्टा नहीं खैर, जो कुछ हुआ सो हुआ; अब तो बहुत जोरसे करनी चाहिये। अपने आत्मबलको देखना ये और साधन बहुत तेज हो इसके लिये चेष्टा चाहिये। मान-अपमानमें, निन्दा-स्तुतिमें, सुख-में और मिट्टी-सुवर्णमें समान और राग-द्वेषरहित र संसारमें जीवन्मुक्तकी तरह विचरनेके लिये साधन चाहिये तथा उत्तम गुण स्वाभाविक ही होने ये। तेज, क्षमा, धृति, शौच, अमानित्व, अदम्भित्व सद्गुणोंकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान-सत्सङ्गका न निष्काम प्रेमभावसे करनेकी विशेष चेष्टा करनी हये। एक सत्-चित्-आनन्दघनमें मग्न होनेके लिये जो भजन-सत्सङ्गका अभ्यास करना है वही निष्काम ावसे तेज साधन करना है। शरीर तथा संसारके सब नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं—ऐसा जानकर सच्चे प्रेमीको अपने चित्तसे कभी नहीं भूलना हिये। अन्य कार्योंमें भले ही हर्ज हो, शरीरको भी है जितनी तकलीफ हो, संसारके आराम चाहे चले जायँ किन्तु एक श्रीभगवान् अवश्य मिलने हिये—ऐसा भाव हर समय रखना चाहिये।

(२)

उधर सत्सङ्गका प्रचार कैसा हो रहा है? आप गोंको कटिबद्ध होकर भगवद्भक्तिका प्रचार करना हिये और निष्कामभावसे लोगोंकी सेवा करनी हिये। सब जीवोंकी जो सेवा है वही नारायणदेवकी ा है। श्रीभगवान्‌को सच्चे निष्काम प्रेमसे समझकर उन मनमोहन श्रीहरि भगवान् आदिनारायणदेवको अपने चित्तसे कभी नहीं भुलाना चाहिये। इस असार संसारसे रवाना होंगे उस दिन यहाँकी कोई भी वस्तु आपके साथ नहीं जायगी। शरीर भी यहीं रह जायगा। श्रीनारायणदेवका चिन्तन किया हुआ होगा तो वह काम आवेगा। उत्तम कर्म भी साथ जा सकते हैं इसलिये उत्तम-उत्तम आचरणोंके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। एक श्रीहरि भगवान्‌के सिवा आपका और कोई भी नहीं है। सारा संसार अपने मतलबका है। आप इसके मोहजालमें फँसकर अपने अमूल्य जीवनको किसलिये मिट्टीमें मिला रहे हैं। यदि ऐसे मौकेपर भी नहीं चेतेंगे तो पीछे पछताना पड़ेगा।

(३)

नित्यबोधस्वरूप आनन्दघनमें निरन्तर विशेष स्थिति रहनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये। सामान्य स्थिति तो रहती ही है परन्तु बोध और आनन्दकी बहुलता गाढ़रूपसे निरन्तर रहे—इसीके लिये विशेष चेष्टा करनी है। अब जल्दी ही श्रीपरमात्मादेवको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हो जाना चाहिये। बहुत समय हो गया है, अब तो विचारना चाहिये। श्रीपरमात्माका वियोग आप लोग सह सकते हैं तभी वियोग हो रहा है। जिस दिन वियोग सहन नहीं हो सकेगा उस दिन संयोग होनेमें देर नहीं होगी। जो कुछ विलम्ब होता है, उसमें अपने ही साधनकी त्रुटि समझनी चाहिये। श्रीपरमात्मदेवकी ओरसे तो कुछ भी देर नहीं है। भगवान् तो सब जगह प्राप्त ही हैं, केवल विश्वासकी त्रुटि है। इसी कारण प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त-से हो रहे हैं। श्रीपरमात्मदेव सब जगह प्रत्यक्ष हैं। इसमें कुछ भी सन्देहकी बात नहीं है। वे [illegible]

ही वचन हैं पर श्रद्धा होनी चाहिये। जो कुछ भी उपाय करना है वह इस श्रद्धाके लिये ही करना है।

(४)

श्रीभगवान्‌का भरोसा रखना चाहिये। किसी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। गीता अध्याय २ श्लोक ११ के* अर्थका मर्म समझ लेनेके बाद किसी बातकी चिन्ता रह नहीं सकती; क्योंकि चिन्ताके योग्य कोई वस्तु है ही नहीं। आपने लिखा कि कृपा करके ऐसा उपाय लिखना चाहिये जिससे मेरा भजनमें प्रेम हो जाय। सो ठीक है, पर यदि लिखनेसे प्रेम होता तो कई बार लिखा हुआ है ही, प्रेम हो जाना चाहिये था। जिनके लिखनेसे, भाषणसे, दर्शनसे और स्पर्शसे भगवान्‌में पूर्ण प्रेम हो जाया करता है, ऐसे पुरुषोंका संयोग लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीपरमात्मादेव यदि मुझको ऊपर लिखे अनुसार गुण-प्रभाववाला बना देते तो फिर आपको इतना लिखना भी नहीं पड़ता किन्तु इस प्रकारका प्रभाव होना बहुत दुर्लभ है। श्रीभगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंमें भी कोई विरला ही ऐसे प्रभाववाला होता है। श्रीपरमात्मादेवको प्राप्त हुए पुरुषोंमें भी ऐसे प्रभाववाला शायद ही कोई होता है। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ। इसलिये मेरी बड़ाईका समाचार नहीं लिखना चाहिये। गीता अध्याय २ श्लोक ११ के अर्थका अभ्यास करना चाहिये।

(५)

साधन तेज हो—इसके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। जैसा स्वभाव जीवन्मुक्त पुरुषोंका होता है, वैसा ही ऊँचे दर्जेका स्वभाव आपको बनाना चाहिये। जो भी कुछ हो, सबमें समभाव रखकर एक श्रीपरमात्म-देवके सिवा अन्य कुछ भी न प्रतीत हो—ऐसी स्थिति प्राप्त करनी चाहिये।

(६)

साधनमें त्रुटि होनेके कारण आपका प्रेम कम है। जिस प्रकार धन, शरीर और संसारमें प्रेम है, उसी प्रकार भगवान्‌में प्रेम होना चाहिये। आपलोग तो समझते हैं कि संसारमें रुपये ही सबसे बढ़कर हैं क्योंकि रुपयेसे सब कुछ मिल सकता है। इसी कारण रुपयेमें विशेष प्रेम हो रहा है किन्तु इस प्रकार समझना बहुत ही भूल है। रुपयेसे श्रीपरमात्मादेव नहीं मिलते। श्रीपरमात्मादेवकी तो बात ही दूर है, भगवान्‌का प्रेमी भक्त भी रुपयेसे नहीं मिलता। प्रेमसे ही प्रेमी भक्त मिल सकते हैं फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है! भगवान्‌के भक्तोंके सङ्गके सामने रुपये कुछ भी नहीं हैं। एक पलके सङ्गके सामने लाख रुपये भी कुछ नहीं हैं परन्तु आप तो दस रुपयोंके लिये भी चार दिनका सत्सङ्ग छोड़ देते हैं। आपने सत्सङ्गका प्रभाव नहीं जाना है; रुपयेको ही बड़ी बात समझ रक्खी है। भगवान्‌का प्रभाव जान लेनेके बाद तो रुपये मिट्टीके समान लगने लग जाते हैं। कारण, रुपया उसके आगे फिर क्या वस्तु है! जब त्रिलोकीका मालिक उसका प्रेमी है तो फिर रुपया क्या चीज है!

(७)

भजन-ध्यान होनेका उपाय है सत्सङ्ग तथा भजन-ध्यानके लिये चेष्टा करना। किन्तु सत्सङ्ग भी प्रेम होनेसे, सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की कृपासे तथा भगवान्‌की कृपा मानकर उनके शरण होकर चेष्टा करनेसे ही हो सकता है। इस बातमें पुरुषार्थ ही प्रधान है। भगवान्‌की शरण ... [illegible]

---

* अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

'तू न शोक करने योग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है। परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

तो पुरुषार्थका अभिमान हो सकता है। अपने पुरुषार्थसे भगवान् मिलते हैं—इस तरहका अभिमान भी साधनमें बाधा देनेवाला है, इनके नाशके लिये भगवत्कृपाका आश्रय ही एकमात्र साधन है। साधन तेज नहीं होता तो समझना चाहिये कि भगवत्कृपाके आश्रयमें ही भूल है और वह शरणागत भी कहनेमात्रका ही है। हाँ, न होनेसे तो कहनामात्र भी अच्छा है। वस्तुतः शरण हो जानेके बाद तो मनुष्य जो कुछ भी हो उसीमें आनन्द मानना है क्योंकि जो कुछ होना है सब भगवान्की इच्छासे ही होता है। इस तरह मानकर हर समय आनन्दमें मग्न रहना चाहिये।

(८)

लोभसे ही झूठ बोला जाता है। लोभ ही पापका मूल है। इसलिये लोभका त्याग करना चाहिये। लोभके त्यागके लिये निष्कामभावसे भगवान्का भजन-ध्यान करना चाहिये, मृत्युको याद रखना चाहिये एवं शरीर, भोग और संसारके सब पदार्थोंको क्षणभङ्गुर तथा नाशवान् समझना चाहिये। अनित्य संसारके भोगोंके लिये उस नित्य सच्चे प्रेमी भगवान्को नहीं भूलना चाहिये। संसारके सारे पदार्थ नाशवान् हैं, कोई भी पदार्थ साथ नहीं जायगा, एक भगवान् ही साथ जायँगे। इस तरह समझकर भगवान्के भजन-ध्यानको भूलना नहीं चाहिये। भजन-ध्यानसे ही झूठ बोलना छूट सकता है। झूठसे भगवत्प्राप्तिमें बड़ी भारी रुकावट पड़ती है—ऐसा समझ लेनेपर झूठ छूट सकता है।

(९)

आप जिस कामके लिये आये थे, उसे आपको याद करना चाहिये। मनुष्यका शरीर केवल पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। जिस प्रकार भगवान् मिलें, सच्चा कल्याण हो—वैसी चेष्टा करनी चाहिये। इससे बढ़कर आपके लायक और कोई भी काम नहीं है। जबतक भगवान्की प्राप्ति नहीं हुई तबतक कुछ भी नहीं हुआ। भगवान्की प्राप्ति होती है निरन्तर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्का भजन-ध्यान करनेसे तथा सत्सङ्ग और सेवा करनेसे। इसलिये अपने शरीरको संसारकी सेवा करनेमें तथा भगवान्के भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये। इससे बढ़कर और कोई काम नहीं है।

(१०)

सत्सङ्गमें अधिक मनुष्य नहीं आते सो ठीक है। सब प्रकारसे स्वार्थ और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाको त्याग कर मन, वाणी और शरीरसे सबकी सेवा करनेका भाव रखते हुए प्रयत्न करना चाहिये। स्वार्थ-त्यागके व्यवहारसे सत्सङ्गमें लोग कुछ जुट सकते हैं किन्तु चेष्टा करनेकी विशेष आवश्यकता है। बहुत जल्दी सब भगवान्की भक्तिमें लग जायँ, बहुत जल्दी सबका भगवान्में प्रेम हो जाय और बहुत जल्दी सबको लाभ पहुँच जाय—इसके लिये उपाय पूछा सो ठीक है। श्रीपरमात्माके प्रेमी भक्तोंको उधर बुलाना चाहिये और उनका सत्सङ्ग करनेके लिये सब भाइयोंसे आग्रह करना चाहिये तथा भगवद्भक्तिके प्रचारके लिये तन-मन-धनसे सबकी निष्कामभावसे विशेष सेवा करनी चाहिये एवं श्रीपरमात्मादेवकी शरण लेनी चाहिये। उसीको सब कुछ समझना चाहिये। फिर वह जो कुछ भी करे उसीमें आनन्द मानना चाहिये। सबके साथ बहुत ही उत्तम बर्ताव करना चाहिये। माता-पिताकी सेवा करने, प्रतिदिन उनके चरणोंमें सिर नवाने और उनकी आज्ञा पालन करनेका विशेष ध्यान रखना चाहिये। अपने आचरण उत्तम बनाने चाहिये। अपने आचरण उत्तम बनाये बिना दूसरोंपर प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये पहले आचरण सुधारनेकी तरफ तो बहुत ही ध्यान देनेकी आवश्यकता है। बहुत दिनोंतक इस प्रकार चेष्टा करनेपर बहुत आदमी सत्सङ्गमें लग

सकते हैं। ... में बहुत आदमी लगे हैं वे बहुत दिनोंकी चेष्टासे लगे हैं, मनुष्योंकी संख्या बढ़ते-बढ़ते बढ़ी है, वहाँकी जन-संख्या भी अधिक है। चिन्ता-फिक्र तो किसी बातका करना ही नहीं चाहिये। यदि भगवान्की मर्जी आदमी कम बढ़ानेकी हो तो इसमें भी आनन्द मानना चाहिये पर अपनी चेष्टा नहीं छोड़नी चाहिये। चेष्टा करना तो अपना कर्तव्य ही है।

सत्, चित्, आनन्दघन परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं—सब समय इस प्रकारका अभ्यास करना चाहिये। चाहे सो हो श्रीपरमात्मादेवका भजन-ध्यान एक पल भी नहीं छोड़ना चाहिये। जिस जगह भी मन और नेत्र जायँ उसी जगह एक वासुदेवको देखना चाहिये। अभ्यास बहुत तेज हो जानेपर तो संसारका काम करते हुए भी श्रीपरमात्मामें अटल स्थिति रह सकती है; फिर भगवद्गुणानुवादके द्वारा सब भाइयोंकी भगवान्में स्थिति बनी रहनी कौन बड़ी बात है! यदि लोग एक बार भगवद्भक्तिमें अच्छी तरह लग जायँ और भगवद्विषयका उन्हें आनन्द आ जाय तो फिर उनका अपने-आप ही प्रेम हो सकता है। एक बार इस विषयका सच्चा आनन्द आये बिना पूरा लाभ होना कठिन है। परन्तु पहले-पहल तो विश्वास कराके ही लगाना पड़ता है; साधन तेज होने तथा आनन्द आनेपर तो लोग स्वतः ही जोरसे लग सकते हैं और फिर लाभ भी जल्दी हो सकता है।

(११)

एक तो निष्काम भावमें किञ्चित् भी दोष नहीं [आ]ना चाहिये। दूसरे, शास्त्रोंका अभ्यास तुम्हारे बहुत [क]म है सो शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये और [श्री]गीताजीके अर्थमें बुद्धि लगानी चाहिये जिससे [श्री]परमात्माका प्रभाव तथा गुप्त रहस्य जाना जाय। [बहु]त ही श्रद्धा-प्रेमसे भगवान्के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग [कर]के उनसे भगवान्का प्रभाव समझना चाहिये। और [सत्] पुरुषोंके वचनोंके अनुसार साधन करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्नशील हो जाना चाहिये। उत्तम आचरणोंके लिये भी विशेष कोशिश करनी चाहिये। यद्यपि उत्तम आचरणोंके लिये चेष्टा करनेकी भी बहुत आवश्यकता है परन्तु यदि भगवान्की भक्ति तथा सत्पुरुषोंके सङ्गके द्वारा श्रीपरमात्माका प्रभाव जान लिया जाय तो फिर उत्तम आचरण तो स्वाभाविक ही आ सकते हैं। श्रीपरमात्माकी प्राप्तिके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा अवसर पाकर भी यदि नहीं करेंगे तो फिर कब करेंगे। श्रीनारायणदेवकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये। श्रीपरमात्मादेव जिस प्रकार चेष्टा करनेसे शीघ्र प्रसन्न हों उसी प्रकार तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। भले ही प्राण चले जायँ, शरीर मिट्टीमें मिल जाय, कोई चिन्ता नहीं; शरीर फिर है ही किसलिये!

(१२)

तुम्हारा प्रेम आजकल किसमें हो रहा है! × × × × तुम संसारके विषय-भोगोंमें फँसकर अपने अमूल्य समयको बिता रहे हो पर विचारनेकी बात है, क्या यह समय फिर वापस आवेगा! याद रखना, यदि तुच्छ कामोंमें ही समय बिता दोगे और भगवान्के दर्शन हुए बिना ही इस असार संसारसे चले जाओगे तो अन्तमें पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा।

तुम अपनी शक्तिको क्यों नहीं सम्हालते हो! तुम किसलिये भूल रहे हो! पहले तुम्हारा साधन बहुत तेज हो रहा था। किन्तु उस तरहका रोजगार अब क्यों नहीं होता है! चाहे जो हो, सांसारिक जालमें मनको एक क्षणके लिये भी नहीं फँसने देना चाहिये। जिस कामके लिये आये हो, उस काममें तुम्हें बहुत तेजीसे लग जाना चाहिये। ऐसा मौका क्या सदा ही रहेगा! समय बीता जा रहा है; गये दिन वापस नहीं आते। कलियुगके इस घोर समयमें थोड़े-से साधनसे भी परमात्मादेवकी प्राप्ति हो सकती है, ... तुम किसलिये कटिबद्ध होकर चेष्टा नहीं करते.

(१३)

तुमने लिखा कि आपके जचे सो लिखना चाहिये सो भाई! पहलेकी अपेक्षा तुम्हारा सत्सङ्गमें प्रेम कम दीखता है। पत्र पढ़नेमें भी पहले और भी अधिक प्रेम था, साधनकी ओर भी समय-समयपर बहुत उत्तेजना हुआ करती थी, संसारके काम झंझटकी तरह माळूम दिया करते थे। ये सब बातें देखनेसे साधन कुछ कम माळूम देता है सो क्या बात है? तुम्हें जो पहले पत्र लिखा गया था उसमें बड़ा उत्साह दिलाया गया था, उसका तुमपर क्या असर पड़ा? पहले तुम्हारे एकान्तकी तथा सत्सङ्गकी बहुत टान रहा करती थी और बहुत जोशकी बातें भी हुआ करती थीं, पर अब क्या हुआ? विचारना चाहिये और पहलेकी बातोंको बार-बार याद करना चाहिये। एक बार तुम्हारी झझट जानकर काम छोड़ देनेकी भी इच्छा हो गयी थी एवं कई बार सब कुछ छोड़ देनेकी भी उत्तेजना हुआ करती थी किन्तु अब संसारके पदार्थोंमें, स्त्री-पुत्रोंमें एवं शरीरके आराम और भोगोंमें प्रेम कुछ अधिक माळूम देता है। इस प्रेमको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर साधन करना चाहिये और श्रीगीताजी-के पढ़नेका आसरा लेना चाहिये। श्रीभगवान्के वचनोंको अमूल्य समझकर हृदयमें धारण करना चाहिये। इसमें श्रीपरमात्मादेवके गुणानुवाद ही भरे हुए हैं, इसलिये रात-दिन श्रीगीताजीके रटनेका जो अभ्यास है वह नाम-जपसे भी बढ़कर है। यदि अर्थ और भाव-सहित इसका अभ्यास किया जाय तो उसकी तो बात ही क्या है! यदि श्रीगीताजीके उपदेशके अनुसार आचरण हो जायँ अर्थात् उपदेश धारण हो जाय तब तो उसमें अनेकों मनुष्योंका उद्धार करनेकी सामर्थ्य हो जाय; फिर अपने कल्याणकी तो बात ही क्या है! इसलिये श्रीगीताजीका अभ्यास करनेके लिये विशेष-रूपसे लिखा जाता है किन्तु तुम तो इतना ख्याल करते नहीं। भाई! हम-तुम मित्र हैं, अतः हमारी बातोंको तुम खयाल न भी करो तो भी कोई हर्ज नहीं परन्तु श्रीगीताजी तो श्रीभगवान्के वाक्य हैं, उनकी तरफ तो जरूर ध्यान देना चाहिये। ज्यादा क्या लिखें?

(१४)

श्रीपरमात्माके नामका जप हर समय करना चाहिये। जैसे लोभी मनुष्य रुपयेको नहीं भूलता इसी प्रकार भगवान्को कभी नहीं भूलना चाहिये। आपको विचारना चाहिये, यदि रुपयेके समान भी भगवान् न होते तो फिर भगवान्को कौन बुद्धिमान् पूछता? पहले जितने महात्मा, साधु, योगी, ऋषि, मुनि हुए हैं, सब भजन, ध्यान, सत्सङ्गके प्रतापसे ही हुए हैं। अतः भगवान्का भजन-ध्यान तेज हो—ऐसी चेष्टा जल्दी करनी चाहिये।

(१५)

संसारमें आकर अपने मालिकको नहीं भूलना चाहिये। जिस कामके लिये संसारमें आना हुआ है, उस कामका भी खयाल रखना चाहिये। यदि अपना काम बनाये बिना ही चले जाना होगा तो बहुत भारी हानि है, इसे विचार लेना चाहिये। संसारमें आकर क्या किया? संसारकी तो सारी ही वस्तुएँ धोखा देनेवाली हैं। इसलिये निरन्तर भगवान्की स्मृति रहे वही काम करना चाहिये।

> धन जोबन यों जायँगे जा बिधि उड़त कपूर।
> नारायण गोबिन्द भज क्यों चाटै जगधूर॥

ऐसा विचारकर उस नारायणदेवका भजन-ध्यान करना चाहिये और भजन-ध्यान होनेके लिये उनके प्रेमी भक्तोंका सङ्ग करना चाहिये तथा कुछ शास्त्रोंका अभ्यास भी करना चाहिये।

मिलनेकी इच्छा लिखी सो आपके प्रेमकी बात है। संसारके झंझटसे कुछ समय निकालना चाहिये। समय बीता जाता है, उसे अनमोल कामोंमें लगाना चाहिये और विचारना चाहिये कि हमने दिनभरमें क्या किया! यदि आगे भी इसी तरह समय बिता देंगे तो फिर श्रीभगवान्के दर्शन कैसे होंगे!

महान् सङ्कटसे बचनेके साधन

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब क्या करते हैं किसीको कुछ पता नहीं चलता। परन्तु इतना निश्चय है कि उनकी लीला होती है कल्याणमयी ही, फिर वह देखनेमें चाहे अत्यन्त सुन्दर हो या भयानक भीषण! इस समयका यह विश्वव्यापी महायुद्ध भी भगवान्‌की कल्याणमयी लीलाका ही एक दृश्य है। यह है बड़ा भीषण! चारों ओर जल, स्थल और आकाशमें अग्निवर्षा हो रही है। धन, जन, शताब्दियों-से संग्रह की हुई बहुमूल्य सामग्रियों और जनस्थानोंका बड़ी बर्बरताके साथ विनाश किया जा रहा है। निरीह बच्चे और स्त्रियोंका भी निर्दयरूपसे संहार हो रहा है। करोड़ों टनोंके जहाज समुद्रके गर्भमें जा चुके हैं और प्रतिदिन जा रहे हैं। अभी गैसोंका प्रयोग तो बाकी ही है। यह भगवान्‌की लीलाका एक रोमाञ्चकारी भयानक दृश्य है। मालूम होता है भगवान् कालरूप होकर अपनी अनन्त ज्वालामयी कालजिह्वाओंसे सबको समेटकर भीषण दाढ़ोंसे सबका चूर्ण करके अपने अंदर ले जा रहे हैं। महाभारतके समय भी भगवान्‌ने कहा था—

> कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
> लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
> (गीता ११। ३२)

'मैं काल हूँ और लोकोंका नाश करनेके लिये बढ़ा हुआ हूँ। इस समय इन लोकोंका संहार करनेमें लगा हूँ।'

परन्तु अन्तर इतना ही है कि उस समय यह धर्मके साथ अधर्मका, न्यायके साथ अन्यायका, दैवीसम्पदा-युक्त पाण्डवोंके साथ आसुरीभावापन्न कौरवोंका युद्ध था; इसीसे स्वयं भगवान् प्रत्यक्ष अवतीर्ण होकर धर्म और न्यायके लिये लड़नेवाले पाण्डवोंकी सहायता कर रहे थे। और इसीसे धर्मपरायण पाण्डव विजयी हुए थे। इस समय यह युद्ध धर्माधर्म, न्यायान्याय या दैवासुरमें नहीं हो रहा है, यह तो भौतिक विज्ञानबलसे गर्वित प्रबलतम आसुरी शक्तियोंका घोर पापयुद्ध है जो अन्तमें उभयशक्तियोंका विनाश करके ही पूर्णतया शान्त होगा। दोनों ही कहते हैं कि हम जगत्‌से अन्याय, अत्याचार, स्वार्थ और अशान्तिका नाश करके जगत्‌को चिरशान्तिसुखका आस्वादन करानेके उद्देश्यसे न्यायका आश्रय लेकर लड़ रहे हैं परन्तु आश्चर्य तो यह है, युद्धमें परस्पर दोनों ही नि.सङ्कोच अन्याय, असत्य और अत्याचारका आश्रय लेते हैं। कोई-सा पक्ष किसी प्रकारकी बर्बरता करनेमें कुछ भी नहीं हिचकता। नाज़ीवादी हिटलर और फैसिस्ट मुसोलिनीके अनुयायी जर्मन और इटालियन बुरे हैं तो जनतन्त्रवादी रूजवेल्ट और चर्चिलके अनुगामी अमेरिकन और ब्रिटिश भी इस दृष्टिसे अच्छे नहीं कहे जा सकते। नाज़ी यहूदियों-पर अत्याचार करने और निरीह लोगोंकी स्वतन्त्रता छीननेवाले हैं तो सरल हृदयके हब्शियोंके साथ पशुओंके समान बर्ताव करनेवाले अमेरिकन और भारतको चिरकालसे अन्यायमूलक परतन्त्रताकी बेड़ीमें बाँध रखनेवाले अंगरेज क्या नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि भलाई-बुराईमें कुछ न्यूनाधिकता हो और तरीके पृथक् हों। इसीसे भगवान्‌की लीला-शक्ति आज इस रूपमें प्रकट हो रही है। असलमें यह समष्टि-शरीरका महान् ऑपरेशन है, जो समष्टिके कल्याणके लिये परम आवश्यक था और जबतक सड़न पूरी निकल न जायगी, जबतक समष्टिका शरीर नीरोग न हो जायगा तबतक यह चलता ही रहेगा। भगवान् बड़े निपुण सर्जन हैं, उनका यह फलरूप चाकू तबतक बंद नहीं हो सकता जबतक कि सड़न बिल्कुल न निकल जाय। बीचमें यदि यही शान्ति-सी दीखेगी तो वह चाकूकी धार सुधारने [illegible] लिये होगी, जो शेष सड़नको निकालनेके लिये और भी प्रबलताके साथ काम करेगी।

जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, इटली आदि तो लड़ ही रहे थे, अब चालाक-चुस्त जापान और धन-मदगर्वित-अमेरिका भी लड़ाईमें कूद पड़े। कहा जाता है कि प्रेसिडेण्ट रूजवेल्टको उचित था कि वे अमेरिकाको युद्धमें न उतारकर विश्वशान्तिके लिये प्रभावशाली मध्यस्थका काम करते और पृथ्वीभरको खूनकी नदीमें नहानेसे बचाते।' परन्तु यह होता कैसे! ऐसा होता तो अमेरिकाके धन-जनका नाश क्योंकर हो पाता! सङ्गन तो सभी अङ्गोंकी निकलनी चाहिये न। असलमें सर्वश्री रूजवेल्ट, चर्चिल, स्टैलिन, हिटलर, मुसोलिनी और टोजो आदि तो निमित्तमात्र हैं उन्हें तो इस संहारनाट्यके परस्परविरोधी नायकोंका पार्ट दिया गया है। होता तो वही है जो मङ्गलमय भगवान् करवा रहे हैं। ये लोग अहङ्कारवश अपनेको पार्ट करनेवाले ऐक्टर न मानकर कर्त्ता मान रहे हैं। यह दूसरी बात है, और इसीसे यह युद्ध पापयुद्ध बना हुआ है। भगवान्की सृष्टिमें आकस्मिक या अनियमित कुछ नहीं हो रहा है। वही हो रहा है जो होना चाहिये था—जिसका होना विश्वकल्याणके लिये जरूरी था। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये इन लोगोंको निमित्त बनाया गया है। धर्मयुद्धके समयपर प्रकट हुई गीतामें भगवान्की वाणी है—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
(गीता ११। ३३)

'इन सबको मैं पहले ही मार चुका हूँ, हे अर्जुन! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा।'

यहाँ यह कहा जा सकता है कि मनुष्योंको तो अपने कर्म-फलका भोग करनेके लिये बलात्कारसे मौतके मुँहमें जाना पड़ता है परन्तु अनगिनत इमारतें, बड़े-बड़े औद्योगिक कारखाने, विविध कलाओंके सुन्दर समद्र-भवन, साहित्य-मन्दिर, विज्ञानशाला, धर्म-मन्दिर (गिरजे आदि) और अस्पताल आदिका ध्वंस क्यों होता है, इसमें भगवान्का क्या अभिप्राय है! असलमें भगवान्का अभिप्राय तो वे ही जानें परन्तु अपनी समझसे तो यह बात प्रत्यक्ष है कि मनुष्यकी बनायी हुई प्रत्येक वस्तुसे उसका और उसके भावोंका गहरा और अटूट सम्बन्ध रहता है। जैसे मनुष्य दैवी या आसुरी सम्पदावाला होता है, वैसे ही उससे सम्बन्धित वस्तुएँ भी दैवी या आसुरी भावकी होती हैं। न्याय और धर्मके मार्गसे उपार्जित धन बुरा नहीं होता परन्तु जहाँ चोरी, डकैती, छल, जालसाजी करके परस्वाप-हरण किया जाता है, जो न्यायसे नहीं किन्तु अन्यायसे प्राप्त होता है, वह धन तो दूषित ही होता है और उससे बनी हुई प्रत्येक वस्तु भी दोषयुक्त हो जाती है। शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप स्थितिमें विषमताका होना अनिवार्य है। कर्मवश कोई धनी हो सकता है कोई निर्धन। परन्तु जहाँ निर्धनके प्रति घृणा नहीं है, निर्बलके प्रति बलप्रयोग नहीं है वरं धनके द्वारा बिना किसी अभिमान, अहसानके उनकी सेवा की जाती है वहाँ तो धन होना अच्छा ही है। वह धन किसीका अपना नहीं होता। वह भगवान्का होता है और उससे वैसा ही लोकोपकार होता है जैसा सूर्यकी रश्मियोंद्वारा समुद्रादि नाना स्थानोंसे खींचे हुए जलके यथायोग्य आवश्यकतानुसार पृथ्वीपर खेतों और जलाशयों-में बरसनेसे होता है। उस धनको बटोरने और बाँटने-वाला उसका स्वयं मालिक नहीं होता, वह तो ईमान-दार और दक्ष ट्रस्टी होता है जो लोगोंके जहाँ-तहाँ बिखरे हुए धनको एकत्र करके उसे व्यवस्थापूर्वक उन्हीं लोगोंकी भलाईके लिये यथायोग्य बाँटता रहता है। एक ओर तो गरीबों और निर्बलोंको लूटकर अन्यायसे उपार्जित धनसे प्राप्त किये हुए शानदार ऊँचे-ऊँचे महल, मोटर, विमान, हाथी, घोड़े, अधिकार, हुकूमत आदि भोग-सुखकी अनन्त सामग्री हो और वह हो गरीब पड़ोसियोंको सताने तथा उनका सर्वस्व नाश करके और भी सुखके साधन जुटानेके

लिये, और दूसरी ओर अपने ही जैसे हाथ-पैरवाले नर-नारी वस्त्र और अन्न-जलके लिये तरसते हों और माँगनेपर कुत्तोंकी तरह दुत्कारे जाते हों, वहाँ वह धन बड़ी भारी सड़न पैदा करनेवाला होता है। अन्यायोपार्जित होनेसे वह स्वयं तो विषरूप होता ही है, और अपने संयोगसे विष ही बढ़ाता है। कलासंग्रह, साहित्यमन्दिर, विज्ञानशाला, धर्मालय आदि भी यदि अन्यायोपार्जित होते हैं और होते हैं अपने अभिमान, ऐश्वर्य या गौरवके प्रतीकस्वरूप तथा दूसरोंको नीचा दिखानेके लिये, तो वे भी सड़नरूप ही हो जाते हैं। इस युगमें मानव आसुरी सम्पदासे भरकर अहङ्कार और मदसे चूर हो रहा है। गीतामें भगवान्‌ने इस असुर-मानवका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। धन, जन, विज्ञान, कला, कौशल आदिसे सम्पन्न अपनेको सफल और समुन्नत माननेवाला मदगर्वित असुर-मनुष्य कहता है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
(गीता १६। १३—१५)

'आज यह प्राप्त कर लिया है, अब उस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास इतना धन हो गया है फिर और भी हो जायगा। मैंने उस प्रबल शत्रुको तो मार डाला, जो दूसरे बचे हैं उनको भी ठिकाने लगा दूँगा। मेरा सबपर सभी जगह प्रभुत्व है। सारे ऐश्वर्योंका भोगनेवाला मैं ही हूँ, मनमाना कर डालने और पा लेने-की सिद्धि मुझमें है, मैं बड़ा बलवान् हूँ, मैं ही सुखी हूँ, मेरी अटूट सम्पत्ति है और लोकबलका तो पार ही नहीं है। मेरे समान दूसरा है कौन! बस, एक बार सफलता तो हो जाय, मैं बड़े-बड़े यज्ञ करूँगा और जीवनभर खुशियाँ मनाऊँगा।'

आजके बड़े-बड़े राष्ट्रनायकोंकी घोषणाओं, रेडि ब्रॉडकास्टों, डिक्टेटरों, महामन्त्रियों और सेनानायक वक्तृताओंमें सब ओर यही आसुरी वाणी सुनायी दे है। इस प्रकारके आसुरीभावापन्न नरसमाजके द्व प्रस्थापित, संवर्धित और सुरक्षित सामग्री भी भगवान् द्वारा किये जानेवाले ऑपरेशनमें सड़नके रूपमें निका फेंकने योग्य ही होनी चाहिये। यह सत्य है कि मधुरातिमधुर भगवान् सुन्दर सामग्रियोंका विनाश नहीं चाहते, परन्तु विषपूर्ण मधुर और सुन्दर पकान्नका तो नाश ही इष्ट होता है। हम असली रूप नहीं जानते इसीसे इन वस्तुओंके विनाशमें मर्माहत होते हैं और हमारी दृष्टिमें इनकी बाहरी चमक-दमकका ही भारी मूल्य है, इसीसे हम इनके विनाशको बड़ी हानि समझते हैं परन्तु सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता भगवान्‌की दृष्टिमें इनका कोई महत्त्व या मूल्य नहीं है। न उन्हें इनके नाशमें कोई दुःख ही होता है। यों तो अचिन्त्य लीलामय भगवान् स्वरूपतः सुख-दुःखकी सीमासे परे ही हैं परन्तु जैसे हमारी दृष्टिमें भी वह माता कभी दुःखी नहीं होती जो बच्चेके रोते रहनेपर भी उसके सड़े फोड़ेको चिरवा देती है और मवादसे भरा कपड़ा उतार कर उसे नया साफ कपड़ा पहना देती है। वैसे ही भगवान् भी नवीन सुन्दर सृजनके लिये ही—विश्वकल्याण-के लिये ही जीर्ण-शीर्ण जगत्‌में भीषण प्रलयका नाश करते हैं, इसमें उन्हें दुःख क्यों होता! इस विनाशमें ही विश्वका मङ्गल निहित है, इसीसे यह हो रहा है!

'यह महायुद्ध कबतक चलेगा' 'इसमें किसकी जीत होगी' 'इसका क्या परिणाम होगा' 'भारतपर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा' 'हमें किस बातका भय है' 'धनवान् अपने धनको कैसे बचावें' 'हम लोगोंको क्या करना चाहिये' 'किस बातमें हमारा मङ्गल है' ऐसे बहुत-से प्रश्न लोगोंने किये हैं। यद्यपि इन प्रश्नोंका हमारी समझसे यही एक उत्तर है कि भगवान्‌की इच्छापर विश्वास करके उनकी लीला देखते हुए निरन्तर उनका स्मरण करे

रहना चाहिये। फिर सब बातोंका समयपर आप ही पता लग जायगा और मङ्गल-ही-मङ्गल होगा। तथापि कई सज्जनोंने बड़े आग्रहसे पूछा है, इसलिये इन प्रश्नोंके उत्तरमें यथामति कुछ विचार प्रकट किये जाते हैं।

'युद्ध कबतक चलेगा?' इसका उत्तर ऊपर आ चुका है। जबतक ऑपरेशनका कार्य सफल नहीं होगा, तबतक चलता रहेगा परन्तु दोनों पक्षोंकी स्थितिपर ध्यान देनेसे ऐसा अनुमान होता है कि अभी शायद आठ डेढ़ सालतक युद्ध और चले।

'किस पक्षकी जीत होगी?' इसका उत्तर भी ऊपर आ चुका है। असलमें यह संहारकारी युद्ध है। जो जीतेगा वह भी हारकर यानी सब कुछ गँवाकर ही अपनेको जीता हुआ मानेगा, और जो हारेगा, वह तो हारेगा ही। यह युद्ध असलमें हार-जीतके लिये नहीं है यह तो महासंहारके लिये है। जर्मनीने रूसपर आक्रमण किया, तब रूसके गाँवों और नगरोंपर गोले बरसा-बरसाकर उन्हें जलाया। रूसी वहाँसे हटे तब अपनी निश्चित नीतिके अनुसार वहाँके उपयोगी सामानों और साधनोंको ध्वंस करके हटे जिसमें शत्रुके कामकी कोई चीज रह न जाय। इसके बाद रूसने प्रत्याक्रमण-के समय गोले बरसाकर उन्हीं गाँवों और नगरोंको जलाया और उन्हें छोड़कर भागते हुए जर्मनोंने रहा-सहा सारा फिर खाक कर डाला। उस दिन हिटलरने कहा था कि 'रूसियोंका उन स्थानोंमें ध्वंसावशेषके सिवा और कुछ नहीं मिल रहा है।' अब यदि पुनः जर्मनीने आक्रमण किया, जैसी कि आशंका है, तो फिर उसी बर्बरतापूर्ण ध्वंसका बोलबाला होगा। यही अवस्था सुदूर पूर्वकी लड़ाईमें हो रही है। मलाया, सिंगापूर, बर्मा, डच ईस्ट इन्डीज और आस्ट्रेलियाके टापुओंमें अबतक परेच्छा और स्वेच्छासे अग्निदेवको भरपेट भेंट दी गयी है। जावाके लिये बड़े गर्वसे यह कहा गया कि फौजी स्थान, कारखाने, टेलीफोन, रेडियो, तार, मकान, दूकान आदिकी बात तो अलग रही 'धान-खेत' तकमें आग लगा दी गयी है। रंगूनके बारेमें कहा गया कि वहाँ अपनी ही लगायी हुई आगसे रंगून ऐसा जला कि उसकी आकाशमें बहुत ऊपरतक उठती हुई अग्निकी लपटें चालीस मीलतक दिखलायी दीं। और जैसा कि प्रेसिडेंट श्रीरूजवेल्ट और श्रीचर्चिल कहते हैं—जब पूरे बलके साथ इन्हीं स्थानोंपर मित्रशक्तियाँ प्रत्याक्रमण करेंगी तब फिर इसी प्रकार अग्निके मुँहमें अनन्त आहुतियाँ पड़ेंगी। 'जीतनेवालेको कुछ नहीं मिला' अब भी जब दोनों ओरसे यह कहा जाता है तब कई बार जला देनेके बाद जीतने-वालेको क्या मिलेगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। और यह भी कौन कह सकता है कि आजके मित्र कल शत्रु बनकर अथवा विजयके बाद विजेता-लोग बटवारेके समय आपसमें न लड़ मरेंगे।

निकुम्भ राक्षसके सुन्द और उपसुन्द नामक दो लड़के थे। दोनों भाई बड़े तेजस्वी थे। दोनोंमें पटती भी खूब थी। रूप, गुण और बलमें उनकी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी। बड़े होनेपर उन्होंने सारे विश्वपर विजय पानेके लिये विन्ध्याचलपर जाकर कठोर तपस्या की। वे हवा खाकर रहने और अपने शरीरके मांसकी आहुति देने लगे। ब्रह्माजीने उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उनको यह वर दिया कि 'तुम लोगोंको जगत्में कोई भी नहीं मार सकेगा, तुम्हीं परस्पर एक दूसरेको मारोगे तो मार सकोगे।' उन्होंने वर पाकर तीनों लोकोंको जीत लिया। देवता भयके मारे जहाँ-तहाँ भाग चले। ऋषि-मुनि बुरी तरह मारे गये। सब ओर हाहाकार मच गया। सारा संसार उन्हींके भोग-सुखका साधन बन गया। देव-दानव सभी उन बलमदमत्त दैत्योंके अत्याचारकी चक्कीमें पिसने लगे। तब सब मिलकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये। ब्रह्माजीके आदेशसे विश्वकर्माने तिलोत्तमा नामकी एक त्रिभुवनमोहिनी कन्या उत्पन्न की। सुन्दरी तिलोत्तमा

(७) भटसैन लोगोंकी भगदड़में उनका काफी नुकसान हो सकता है ।

(८) विचारशून्य बदमाश फौजी सिपाहियोंद्वारा भी लूट-खसोट और स्त्रियोंपर पाशविक बलप्रयोग होना सम्भव है । और भी कई बातें हो सकती हैं जिनका विचार आज नहीं करना है ।

इनमें पहली तीन बातें तो प्रायः युद्धके समय सभी देशोंमें होती हैं । परन्तु पाँचवीं, छठी और सातवीं बातें दुर्भाग्यवश भारतमें विशेषरूपसे हैं । इंग्लैंड आदि देशोंमें बमवर्षा बड़ी भयानक हुई परन्तु वहाँ यह भय प्रायः नहीं हुआ कि युद्धका अवसर देखकर हमारे देश और गाँवके लोग हमें लूट लेंगे या हमारे ही पड़ोसियोंसे लड़-झगड़कर हम मारे जायँगे । हमारे यहाँ यह भय सबके दिलमें समाया है और यह बहुत ही बुरा है । इसी प्रकार अव्यवस्थित रूपसे घबड़ाहटमें होनेवाली भाग-दौड़में भी यहाँ विशेष हानि होती है ।

आठवीं बातका भय भी प्रायः इसी देशमें अधिक है । इसका कारण यह है कि हमलोगोंको प्राणोंका मोह बहुत अधिक हो गया है । वास्तवमें तो बदमाशों-का निर्दयतापूर्ण अत्याचार सहन करनेकी अपेक्षा उनका सक्रिय विरोध करके प्राण दे डालना कहीं अच्छा है । भारतीय देवियोंका सतीत्व और सतीत्वकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते प्राणोंकी आहुति दे डालना प्रसिद्ध है । अपने सतीत्वके तेजसे वे अत्याचारीको परास्त कर सकती हैं । भारतीय सतियोंसे बड़े-बड़े देवता और यमराजतक डरा करते थे । वे अपने तपोबलसे अत्याचारी-को भस्म कर सकती थीं । आज यदि सतीत्वमें वैसी श्रद्धा न हो तो कम-से-कम इतना तो होना ही चाहिये कि जिस देवीपर अत्याचार हो वह अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर हर तरहसे अत्याचारीको रोके । उस समय जो कुछ भी पास हो या सूझ पड़े, उसीसे काम ले । यह याद रखना चाहिये कि हिन्दूशास्त्रके अनुसार आततायीका वध भी पाप नहीं है । वसिष्ठस्मृतिमें आततायियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

> अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
> क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥
> (३ । १९)

आग लगाने, विष देने, हाथमें शस्त्र लेकर आक्रमण करने, धन और जमीन छीनने तथा स्त्रीका हरण करने-वाले—ये छहों आततायी हैं । मनुमहाराज इन आत-तायियोंके बारेमें कहते हैं—

> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
> नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥
> (८ । ३५०–५१)

आततायीको बिना विचार मार डालना चाहिये, आततायीको मारनेसे मारनेवालोंको कुछ भी दोष नहीं होता ।

ऐसे प्रसंगोंपर जो कोई भी स्त्री या पुरुष वहाँ उपस्थित हों उनको भी चाहिये कि वे अपने प्राणोंको सङ्कटमें डालकर भी उस बहिनको बचानेके लिये उस समय जो प्राप्त हो उसी उपायसे काम लें ।

'धनवान् अपने धनको कैसे बचावें ?' इस प्रश्नके साथ लोगोंने कई बातें पूछी हैं, जैसे—रुपयोंको बैंकोंमें रखना चाहिये या नहीं, घरोंमें रखना उचित है या नहीं, रखने चाहिये तो नोट रखने चाहिये या नकद रुपये, सोना-चाँदी खरीदकर रखनेमें क्या आपत्ति है, और कोई चीज खरीदनी चाहिये क्या ? आदि-आदि । इन सब बातोंका उत्तर अलग-अलग व्यक्तिगत स्थिति समझ-कर देना उचित होता है परन्तु पूछनेवालोंकी संख्या अधिक है इसलिये संक्षेपसे अपनी समझकी कुछ बातें लिखनेकी चेष्टा की जाती है ।

मेरी समझसे धनकी रक्षाका सर्वोत्तम साधन तो यह है, कि अपनी परिस्थितिके अनुसार जिससे जितना सम्भव हो गरीब भाइयोंकी सेवामें भगवत्प्रीत्यर्थ लगा दे । इसीमें धनका सदुपयोग है और यही उसका यथार्थ संरक्षण है । जो धन सात्त्विक दानमें लग गया असलमें वही बचा । शेष तो किसी-न-किसी रूपमें नाश होगा ही ।

यदि सचमुच कोई परिवर्तन हुआ या कोई असाधारण क्रान्ति हुई तो जैसे बैंकोंके रुपयोंको डर है, वैसे ही घरमें रक्खे हुए रुपयोंको भी हो सकता है। अवश्य ही वैसी हालतमें सब जगह समान स्थिति नहीं रह सकेगी। ब्रिटेनके विजयी होनेपर अथवा भारतमें ब्रिटिश प्रभुत्वके रहते जैसे नोट हैं वैसे ही नकद रुपये हैं। चाँदी-सोनेमें सुरक्षा न होनेपर क्रान्तिकी दशामें लुटनेका डर तो किसी अंशमें रहता ही है। साथ ही शान्ति होनेपर कीमत घटनेकी भी पूरी सम्भावना है। इतना होनेपर भी जो लोग कुछ रखना ही चाहें उनके लिये चाँदी रखना बुरा नहीं है। इसके अतिरिक्त रूई, सरसों आदि सस्ती चीजें रखनेमें भी हानिकी गुंजाइश कम है। घबड़ाना तो किसी भी हालतमें नहीं चाहिये। घबड़ानेसे धन नहीं बच सकता। अपने रहनेके स्थान-की और अपनी परिस्थिति आदिपर भलीभाँति विचार करके अपने समीप रहनेवाले समझदार हितैषी सज्जनों-की सलाहसे यथायोग्य व्यवस्था करनी चाहिये। सबके लिये एक-सी व्यवस्था नहीं हो सकती।

'हमलोगोंको क्या करना चाहिये।' इस प्रश्नपर भलीभाँति विचार करना आवश्यक है। यद्यपि यह सत्य है कि जो कुछ हो रहा है मंगलमय भगवान्‌के विधान-से ठीक ही हो रहा है परन्तु जैसे घरमें आग लगने या बदमाश-गुंडों अथवा चोर-डाकुओंके द्वारा आक्रमण होनेपर हम उसे सङ्कट मानते हैं और उससे बचनेकी कोशिश करते हैं वैसे ही इस समय इस महायुद्धको भी विश्वपर एक महान् सङ्कट समझना चाहिये। और सभी विचारशील पुरुषोंको अपनी-अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे यह घोर विश्व-सङ्कट शीघ्र-से-शीघ्र दूर हो और लोग शान्तिके साथ सुखकी नींद सो सकें। इस महायुद्धके आज परिणामस्वरूप अव्यवस्था, विविध भौतिक रोगोंका प्रसार, दरिद्रताका विस्तार और धीर, वीर, मननशील पुरुषोंका अभाव भी होगा ही। इसके लिये भी सभीको और सचेष्ट रहना चाहिये।

इस घोर सङ्कटसे बचनेके लिये नीचे लिखे करने चाहिये—

१-सच्चे हृदयसे ऐसी शुभ भावना कर चाहिये कि विश्वके सभी जीव आनन्द और शान्ति प्राप्त करें। सबका मंगल हो, सभी सद्विचारसम्प हों और सभी श्रीभगवान्‌के भक्त बनें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सब सुखी हों, सब रोगमुक्त हों, सब कल्याण-ही-कल्याण देखें और किसीको भी जरा भी दुःख न प्राप्त हो।'

२-कलकत्ता, मद्रास, चटगाँव, आसाम आदि स्थानों-से, जहाँ-जहाँ जापानके हमलेका भय सरकार बतलाती है, स्त्रियों और बच्चोंको अपेक्षाकृत सुरक्षित स्थानोंमें हटा देना चाहिये। सिंगापुर इण्डियन चेम्बर आफ कामर्सके प्रेसिडेंट श्रीजूमा भाईके तथा बरमा आदिसे लौटे हुए भाइयोंके कथनानुसार यह सिद्ध है कि देरसे लौटनेवाले नर-नारियोंको बड़ी ही भयानक कठिनाइयों, उपेक्षाओं और अपने ही लोगोंके द्वारा किये हुए भीषण अत्याचारोंका भोग होना पड़ा है। वैसा ही कहीं यहाँ भी हो तो बड़ी कठिनता हो सकती है। यह भी सम्भव है कि जहाँ इस समय कोई भय नहीं प्रतीत होता, वहीं भय उपस्थित हो जाय।

३-किसी भी हालतमें घबड़ाना नहीं चाहिये। घबड़ानेसे चित्तमें दुर्बलता आती है। अव्यवस्था उत्पन्न होती है और विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। लंदनपर गत वर्ष बड़ी भीषण बमवर्षा हुई परन्तु लंदनके लोग घबड़ाये नहीं। वे [illegible]

अपनी स्थितिके अनुसार यथासाध्य अपना-अपना कार्य करते रहे।

४-झूठी अफवाहें न फैलानी चाहिये और न उनपर विश्वास ही करना चाहिये। पता नहीं क्यों—वर्तमानमें अपनी प्रत्यक्ष हानि देखते और जानते हुए लोग जर्मन और जापानकी जीतके समाचारोंसे प्रसन्न होते हैं और जर्मन या जापानी बेतार यन्त्रसे कुछ सनसनीखेज सुन लेते हैं तो उसे बढ़ा-चढ़ाकर कहना चाहते हैं। ऐसी प्रवृत्तियोंमें भी उचित संयम होना चाहिये।

५-विपत्तिका सामना करनेके लिये अपने-अपने शहरों, गाँवों और मुहल्लोंमें यथायोग्य संरक्षक-दल बनाने चाहिये और उन दलोंके लोगोंको समयपर सावधानीसे बचावका कार्य करनेकी ट्रेनिंग दिलानी चाहिये। तथा परस्पर एक दूसरेकी सहायता करनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। बम गिरनेके समय लोगोंको घरोंके अंदर रहना चाहिये।

६-जिनके पास धन हो, उन्हें चाहिये कि वे अपने आस-पासके गरीब भाइयोंकी उदारतापूर्वक विनम्रभावसे सेवा-सहायता करें। विपत्तिके समय उनसे बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। जहाँतक हो, व्यापार आदि कम करने चाहिये, जिसमें काम समेटना हो तो जल्दी समेटा जा सके। लेनदेन भी जितना घटाया जा सके, उतना ही उत्तम है।

७-आपसके वैर-विरोधका त्याग करके प्रेम बढ़ाना चाहिये और जहाँतक हो हिंदू, मुसल्मान और अन्य सभीको—एक दूसरेको चिढ़ाने या चोट पहुँचानेकी कल्पना तथा हिंसा-प्रतिहिंसाका त्याग कर परस्पर सहानुभूति, सेवा और सहायता करनी चाहिये। आपसके विरोधी भाव दूर हों, और मेल बढ़े, सबको ऐसी कोशिश छल छोड़कर करनी चाहिये।

८-अपनी-अपनी सामर्थ्य और सुभीतेके अनुसार अनाजका काफी संग्रह रखना चाहिये जिसे समयपर अड़ोसी-पड़ोसियोंकी भी सेवामें लगाया जा सके। ऐसे समय धन कमानेके उद्देश्यसे अनाज इकट्ठा करना तो पाप ही है।

९-घर-घरमें अन्याय और अधर्मके विनाश, धर्मके अभ्युदय, विश्वकल्याण और सर्वत्र सुख-शान्तिके विस्तारके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। प्रसिद्ध महात्मा श्रीश्रीकरपात्रीजीकी प्रेरणासे काशीमें 'धर्म-संघ' की स्थापना हुई है और देशमें स्थान-स्थानपर उसकी शाखाएँ भी खुली हैं। उसके सदस्योंको संकल्प करके प्रतिदिन यथाशक्ति अपने श्रद्धा-विश्वासके अनुसार भगवान्के किसी भी नाम या मन्त्रका जप करना पड़ता है। जगत्के कल्याणके लिये यह कार्य बहुत ही उत्तम है। सञ्चालक 'धर्मसङ्घ' सन्मार्ग-कार्यालय, भदैनी काशीके पतेसे पत्रव्यवहार करके सङ्घके विषयमें पूछ-ताछ की जा सकती है।

१०-कम खर्च और बिना आडम्बरके श्रद्धालु पुरुषोंके कीर्त्तनदल बनने चाहिये और स्थान-स्थानमें तथा घर-घरमें भगवान्का नाम-कीर्त्तन होना चाहिये।

११-श्रीमद्भागवतके सप्ताह-पारायण, श्रीरामचरितमानसके नवाह-पारायण, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीशिवसहस्रनाम आदि स्तोत्रोंके पारायण, देवाराधना, यज्ञ और भगवत्पूजन आदि सत्कार्य करने चाहिये और श्रीभगवान्में विश्वास करके उनके मङ्गल-विधानमें सदा प्रसन्न रहना और हर समय उनकी कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये। विपत्तिसे बचनेके लिये सब नरनारियोंको हर समय 'हरिःशरणम्' मन्त्रका जाप करते रहना चाहिये। यह मन्त्र अमोघ है और इसीके नित्य उच्चारणके प्रभावसे सनकादि सदा कुमार रहते हैं।

'किस बातमें हमारा मङ्गल है!' इस अन्तिम

प्रश्नका तो यही उत्तर है कि अनन्य मनसे भगवान्‌के शरण होकर उनका भजन करनेमें ही हमारा यथार्थ और परम मङ्गल है ।

सची बात तो यह है कि हम भगवान्‌को भूल गये हैं । हमें व्यर्थ चर्चा, भोग-विलास, इन्द्रियसेवन और लड़ाई-झगड़ेके लिये तो समय मिल जाता है परन्तु भगवान्‌के भजनके लिये जरा भी समय नहीं है । हम असलमें भजनकी आवश्यकता ही नहीं समझते । श्रीमद्भागवतमें तो कहा गया है—

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥
बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥
(२ । ३ । १८-२४)

'जड वृक्ष क्या जीते नहीं हैं ! लोहारकी धौंकनी क्या श्वास नहीं लेती ! गाँवके जानवर क्या खाते-पीते नहीं या क्या मल-मूत्रका त्याग नहीं करते ! फिर उनमें और मनुष्योंमें अन्तर ही क्या है ! जिसने भगवान्‌के गुणानुवाद कभी नहीं सुने, वह नरपशु कुत्ते, सूअर, ऊँट और गधेसे भी गया-गुजरा है । सूतजी ! जो कान भगवान्‌की कथा नहीं सुनते वे साँप आदिके बिलके समान हैं । जो जीभ भगवान्‌के नामगुणोंका गान नहीं करती, वह मेंढककी जीभके समान टर्र-टर्र करनेवाली है । उसका तो न रहना ही उत्तम है । जो सिर भगवान् मुकुन्दके चरणोंमें कभी नहीं झुकता, वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त होनेपर भी भाररूप ही है । जो हाथ भगवान्‌की सेवा नहीं करते वे सोनेके कंकणोंसे विभूषित होनेपर भी मुर्देके हाथ हैं । जो आँखें भगवान्‌को याद दिलानेवाली वस्तुओंका निरीक्षण नहीं करतीं वे मोरोंकी पाँखमें बने हुए आँखोंके चिह्नके समान व्यर्थ हैं । जो पैर भगवान्‌के लीलास्थल तीर्थोंकी यात्रा नहीं करते वे जड वृक्षोंके समान हैं । जिस मनुष्यने भगवद्भक्त संतोंकी चरणधूलि अपने सिर नहीं चढ़ायी, वह जीता ही मुर्दा है । जिस मनुष्यने भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीजीकी सुगन्ध नहीं ली, वह श्वास लेता हुआ भी बिना श्वासवाला शवमात्र है । वह हृदय नहीं है वज्र है जो भगवान्‌के मङ्गलमय नामोंका श्रवण-कीर्तन करनेपर भी पिघलकर भगवान्‌की ओर बह नहीं जाता । हृदय पिघलनेपर तो नेत्रोंमें प्रेमानन्दके आँसू छलक उठते हैं और शरीरका रोम-रोम खिल उठता है ।'

अतएव जबतक जीवन है, जबतक इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं और कार्यशील हैं, तबतक अपने जीवनको और समस्त इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगा देना चाहिये, इसीमें सची बुद्धिमानी है । उम्र बीती जा रही है, मृत्यु समीप आ रही है, अब तो शीघ्र ही सावधान होकर अपनेको सब प्रकारसे श्रीभगवान्‌के चरणोंमें समर्पण कर देना चाहिये ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

संन्यासीके कर्तव्य

किं तस्य कार्यम् ?—संन्यासीके कर्तव्य क्या हैं ?

सम्भिं समाधौ आत्मनि आचरेत् ।

(श्रुति)

'वह प्रतिदिन नियमितरूपसे समाधिमें जीवात्मा और परब्रह्मके ऐक्यज्ञानरूपी सन्धिका अभ्यास करे ।'

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया ।

(श्रुति)

'संन्यास-आश्रममें प्रवेश करके अधिकारी पुरुष सुषुप्तिसे आरम्भ करके सभी अवस्थाओंमें वेदान्तशास्त्रका चिन्तन करते हुए मृत्युपर्यन्त समय व्यतीत करे ।'

न्यस्य श्रवणं कुर्यात् नान्यत् कुर्याद् यतिः क्वचित् ।

(स्मृति)

'संन्यास लेनेके बाद केवल वेदान्तश्रवण ही यतिका कर्तव्य है; इसके अतिरिक्त संन्यासीके लिये अन्य कोई कर्तव्य नहीं ।'

श्रवणम् किम् ?–श्रवण किसे कहते हैं ?

मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते ॥
इत्थं वाक्यैक्यार्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत् ॥

(श्रुति)

ब्रह्म माया-उपाधिरूपी उपाधिके सम्बन्धसे ईश्वर कहलाते हैं, तथा अविद्यारूपी उपाधिके योगसे 'जीव' नामसे अभिहित होते हैं, इन दोनों उपाधियोंका बाध होनेपर एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्द परम ब्रह्म विराजमान होते हैं । 'तत्त्वमसि'—यह श्रुतिवाक्य 'तत्' पदप्रतिपाद्य सर्वज्ञत्व-परोक्षत्वादिधर्मविशिष्ट ईश्वरत्वका तथा 'त्वं' पदप्रतिपाद्य अल्पज्ञत्व-प्रत्यक्त्वादिधर्मयुक्त जीवत्वका त्याग कर, दोनोंमें एक रूपसे स्थित अखण्ड सच्चिदानन्द परम ब्रह्मका लक्ष्य कराता हुआ 'तत्' और 'त्वं' दोनों पदोंके ऐक्यको सम्यक्रूपसे समझाता है । श्रीगुरुदेवके मुखारविन्दसे इसे सुनकर, इसके विषयमें जो अनुसन्धान किया जाता है, उसका नाम श्रवण है । केवल कानसे सुननेको ही 'श्रवण' नहीं कहते । संसारमें जिसे साधारणतः 'श्रवण' समझा जाता है, वैसा 'श्रवण' ज्ञानकी प्राप्तिमें विशेष उपकारक नहीं होता । श्रुत विषयका अर्थानुसन्धानरूप 'श्रवण' ही ज्ञानोत्पत्तिमें उपकारक होता है ।

विवरणेऽप्युक्तम्—'श्रवणं नाम तत्त्वमस्यादिवाक्यं यदि ब्रह्मात्मैक्यपरं न स्यात् तदोपक्रमोपसंहारादिकमद्वैतब्रह्मबोधकं न स्यादित्यादि तर्करूपम् । तस्य च प्रमाणीभूतवाक्यतात्पर्यविषयकत्वेन प्राधान्यम् । ब्रह्मात्मैक्यसिद्ध्यनुकूलतर्कादयोऽपि श्रवणेऽन्तर्भवन्ति ।'

'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य यदि ब्रह्मात्मैक्य सिद्धान्तमूलक नहीं होते तो उपनिषदोंमें कहे गये—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् '

(छा० ६ । १ । ४)

(विकार अर्थात् कार्यपदार्थ केवल शब्दात्मक नाममात्र हैं; केवल मृत्तिका ही—घट, शराव आदि द्रव्योंमें-सत्य पदार्थ है ।)—इत्यादि शब्दसमूहसे आरम्भ करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'—(छा० ६। ८ । ७) *(ये सभी आत्मस्वरूप हैं)*—इत्यादि ऐक्यात्मप्रतिपादक समस्त वाक्य 'अद्वैतब्रह्मबोधक' नहीं हो सकते; परन्तु 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्योंमें जीव-चैतन्य और ईश्वर-चैतन्यके जीवत्व और ईश्वरत्वका त्याग कर अद्वितीय शुद्ध ब्रह्मचैतन्य ही प्रतिपादित हुआ है—इस प्रकारके विचारका ही नाम 'श्रवण' है । ब्रह्मात्मैक्यसिद्धान्तके अनुकूल विचार भी 'श्रवण' शब्दके अन्तर्गत आ जाते हैं ।

जीव और ब्रह्ममें जो भेद भासित होता है, वह भेद मायाके प्रपञ्चज्ञानके कारण तथा मायाके सम्बन्धके तारतम्यके कारण केवल कल्पित होता है, तथा 'सभी प्रपञ्च मिथ्या हैं'—यह निश्चय कर 'जो जीवात्मा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंमें अनुभूत प्रपञ्चका साक्षी है, वही जीवात्मा समस्त जीवोंके जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकालीन समष्टि प्रपञ्चके साक्षी ईश्वरात्मासे अभिन्न है, तथा साक्षी जीवात्मा और साक्षी ईश्वरात्मा दोनोंका ही पर्यवसान अद्वितीय शुद्ध चैतन्य-

रूप परब्रह्ममें होता है'—इस प्रकार प्रतिक्षण स्मरण करते रहना ही सर्वकर्मत्यागी परिव्राजक संन्यासीके लिये परम कर्तव्य है ।

> परस्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं
> तद्ब्रह्मनिष्कलमहं न च भूतसङ्घः ।

—इस प्रकार विचारपूर्वक ध्यान करे ।

'मन और वाणीके लिये अगोचर रहकर भी जो मन और वाणीके सञ्चालक और नियामक हैं, जो समस्त उपास्य देवताओंसे भी श्रेष्ठ हैं, जो सब देवताओंके प्रकाशक हैं—'देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च'—वही जन्मरहित, अच्युत, असङ्ग, परब्रह्म मैं हूँ ।' 'मैं ही वह हूँ'—इस प्रकार अहंग्रह-ध्यान-योगमें आत्मस्वरूपकी उपासना ही सर्वकर्मपरित्यागी यति—संन्यासीके लिये नित्य अवश्यकर्तव्य है ।

जो अपने आश्रित मायाकी आवरणशक्तिके प्रभावसे पहले अपनेको अज्ञानसे आवृत करता है, तथा पश्चात् इसी मायाकी विक्षेपशक्तिके प्रभावसे रज्जुमें सर्पदर्शनके समान अपनेमें इस जगत्-प्रपञ्चको देखता है, तथा यह जीव और जगत् जिसमें कल्पित हैं, उस परब्रह्मकी सत्ता ही हमारी सत्ता है, अर्थात् हमारी सत्ता ब्रह्मसत्तासे भिन्न नहीं, अभिन्न है—इस प्रकार निश्चय करते हुए तत्सत्ताधीन आत्मसत्ताका चिन्तनरूप ध्यान ही चतुर्थाश्रमी यतिका नित्यकर्तव्य है ।

> वेदान्तश्रवणं कुर्यान्मननं चोपपत्तिभिः ।
> योगेनाभ्यसनं नित्यं ततो दर्शनमात्मनः ॥
> (सदाचार १८)

'यति—संन्यासीको प्रतिदिन वेदान्तश्रवण करना चाहिये, तथा युक्तिद्वारा सुने हुएका मनन करना चाहिये एवं नित्य योगका अभ्यास करना चाहिये; तभी आत्माका दर्शन होगा ।'

> एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम् ।
> पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ॥
> (साधनपञ्चक ५)

'यति—संन्यासीको एकान्तमें सुखपूर्वक बैठना चाहिये, परब्रह्ममें चित्तको समाहित करना चाहिये, पूर्ण आत्मस्वरूपकी सम्यक्‌रूपसे समीक्षा करनी चाहिये, तथा यह जगत् आत्म-स्वरूपद्वारा बाधित है—यह देखना चाहिये ।'

> अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद् दृढीभवेत् ।
> शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥
> (वाक्यवृत्ति ४९)

'यति—संन्यासीको शमदमादिसे युक्त रहकर 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, इस महावाक्यका विचार करना चाहिये, तथा जबतक इस महावाक्यके लक्ष्यार्थका दृढ बोध न हो तबतक श्रवण, मनन और निदिध्यासनका अभ्यास करते रहना चाहिये ।'

अब मनु, वसिष्ठ और दक्ष-संहितासे संन्यासाश्रमके धर्मोंका वर्णन किया जाता है । पूर्व आयुके तीन भागोंतक वानप्रस्थ धर्ममें रहकर संन्यासी बने । इस आश्रममें प्रवेश करनेके लिये पहले सब भूतोंके उद्देश्यसे अभय-दक्षिणा देकर प्रव्रज्या करे । समस्त कर्मोंका संन्यास करे, केवल वेद-का संन्यास न करे ।* तब बिल्कुल निःसङ्ग हो जाय । स्त्रीसङ्ग आदि विषयोंका चिन्तन भी न करे । संन्यासीको अकेले रहना चाहिये, आत्मचिन्तनमें रत रहना चाहिये । भिक्षा करना चाहिये तथा पवित्रभावसे रहना चाहिये । सिरको मुँड़ाये रखना चाहिये । किसी वस्तुमें ममता नहीं रखनी चाहिये । सञ्चय न करे, पहले सङ्कल्प न करके सात घरोंमें मधुकरी भिक्षा करे । भिक्षा दोपहरके बाद करे । जमीनपर सोवे । एक वस्त्र या मृगचर्म पहने । एक स्थानमें कई दिन न रहे, किसी दिन गाँवमें वास न करे । गाँवके प्रान्तभागमें, देवालयमें, परित्यक्त गृहमें अथवा वृक्षके नीचे रहे । धनकी प्राप्ति या ख्यातिके लिये कुछ न करे । संन्यासी थोड़ा भोजन करे और निर्जन स्थानमें रहकर विषयासक्त इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करे । शास्त्र-व्याख्या और शिष्य-संग्रह कुसंन्यासी ही करते हैं । कर्मोंके दोषसे नाना योनियोंमें जन्म, नरक-भोग, प्रिय-वियोग, अनिष्टप्राप्ति तथा जरा-व्याधि आदि दोषोंका चिन्तन संन्यासीको करना चाहिये तथा योगके द्वारा परमात्माके सूक्ष्म स्वरूपका साक्षात्कार करना चाहिये ।

उपसंहार

> या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता ।
> नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥
> ([illegible])

---

* 'स्वाध्यायं च संन्यसेत् ।' ([illegible])

[illegible]

पुरुष या आत्मा जबतक प्रकृतिके साथ मिले रहेंगे, जबतक प्रकृति साम्यावस्थाको प्राप्त न होगी, तबतक प्रकृति पुरुषके आश्रय कर्म करेगी ही। प्रकृति जबतक कर्ममें रत रहेगी तबतक सत्त्व, रज और तम—इन गुणत्रयोंका वैषम्य रहेगा ही, गुणवैषम्यके रहते वर्णभेद अवश्य रहेगा। अतएव जबतक सृष्टि है, तबतक वर्णाश्रमधर्म प्राकृतिक है। हे माता! तुम नित्य हो, तुम्हारी यह जातिमूर्ति भी नित्य है। जबतक जीव-जगत् है, सृष्टि है, तबतक जातिभेद रहेगा ही।

वीर्य और रजका प्रभाव बलपूर्वक केवल बातोंसे उड़ा देनेपर भी उड़ाया नहीं जा सकता। नीमको प्रतिदिन गुड़में डालकर धोनेसे उसका कड़ुआपन नहीं जा सकता। मिर्चके पौधेको चीनीके शर्बतसे सींचनेपर भी मिर्चमें तीतापन रहेगा ही। मनुष्य-शरीरमें मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रियकी अस्पृश्यता प्रतिदिन धोनेपर भी दूर नहीं होती। जिस जातिके माता-पितासे जो व्यक्ति जन्म लेता है, मृत्युपर्यन्त वह व्यक्ति उसी जातिका रहता है। जबतक स्थूलशरीर विद्यमान रहता है, तबतक स्थूलशरीरके आरम्भक संस्कारोंसे उत्पन्न परिणाम अन्यथा नहीं होते—यही साधारण प्राकृतिक नियम है। जबतक शरीर भस्मीभूत नहीं हो जाता अथवा पच-गलकर इसके परमाणु जबतक अदृश्य नहीं हो जाते, तबतक इसकी जातिका परिवर्तन नहीं होता। हरिणके मृतदेहको हरिण ही कहा जाता है। उसे भैंसा या अन्य किसी पशुके नामसे नहीं पुकारते। आमकी लकड़ी सूख जानेपर भी आमकी ही लकड़ी कहलाती है।

अपने-अपने कर्मफलके अनुसार जिसका जिस वर्णमें जन्म हुआ है, उन्हीं वर्णोंके विशेष धर्म तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि अपने-अपने आश्रमके कर्म, एवं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह प्रभृति साधारण धर्मोंका* अनुष्ठानरूपी तप करते रहो, निष्कपट हृदयसे शुभ वासना-बीजका पोषण करते रहो। देखोगे कि तुम्हारे निष्कामभावसे अनुष्ठित कर्मोंके फल अकस्मात् तुम्हारे अभीष्ट साधनमें अनुकूल हो उठेंगे। श्रुति और स्मृति आदिमें विहित वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करनेसे सभीको परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। वर्णाश्रमधर्मका यदि सुचारुरूपसे अनुष्ठान किया जाय तो मनुष्यको चित्तशुद्धिकी प्राप्ति होती है और उसका मोक्षद्वार खुल जाता है। मोक्षकी इच्छा होते ही समझना चाहिये कि भगवत्कृपाका उदय हो गया—भगवत्कृपाकी प्राप्ति हो गयी। इस अभीप्सित कृपाकी प्राप्तिका उपाय शास्त्रोंमें इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है—

कदाचिच्छुद्धभावेन गङ्गातीरे कृतं तपः।
तत्पुण्यपरिपाकेन मुमुक्षा जायते सताम्॥

'किसी समय निष्कामभावसे गङ्गातीरपर (अथवा किसी पुण्य क्षेत्रमें) यम-नियमादि पालन करते हुए, शीतोष्णादि सहते हुए, गायत्री-जप आदि पुण्यकार्यका अनुष्ठान करनेसे उन शुभकर्मोंके फलस्वरूप शुद्ध अन्तःकरणवाले साधकके अंदर मोक्षेच्छा उत्पन्न होती है।'

अथवा—

विदुषां वीतरागाणामन्नपानादिसेवया।
सङ्गत्या प्रणयेनापि मुमुक्षाऽऽकस्मिकी भवेत्॥

'अन्न-पान, वस्त्रादिके द्वारा विषयासक्तिसे हीन ज्ञानियोंकी सेवा करते हुए प्रीतिपूर्वक उनके साथ सत्सङ्ग (शास्त्र-चर्चा) करनेसे अकस्मात् मोक्षकी इच्छा उत्पन्न हो सकती है।'

भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने 'अपरोक्षानुभूति'में भी यही बात कही है—

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरि (गुरु) तोषणात्।
साधनं च भवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥

'अपने-अपने वर्णाश्रमोचित धर्मका पालन करनेसे, धर्मके लिये कष्ट सहनेसे और भगवान्‌को [अथवा गुरुको] भक्ति करनेसे मनुष्यके अंदर वैराग्यादि साधन-चतुष्टयका उदय होता है।'

वर्णाश्रमधर्मका ठीक-ठीक पालन करनेपर वैराग्यके उदयसे जो फल प्राप्त होता है,† उसका उल्लेख करते हुए नारद-परिव्राजकोपनिषद्‌ने लिखा है—

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम्।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम्॥ ९॥
परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्॥

([illegible])

---

* अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

[illegible]

† The [illegible] cannot end until equilibrium is reached, and that equilibrium must at last be reached.

—[illegible]

'शरीर, इन्द्रिय, मन आदिसे पर सर्वसाक्षी पारमार्थिक विज्ञान और सुखस्वरूप, स्वप्रकाश, परात्पर आत्माका विशेषरूपसे साक्षात्कार कर लेनेपर मनुष्य वर्णाश्रमके बन्धनसे ऊपर उठ जाता है, अतिवर्णाश्रमी हो जाता है ।'

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥१०॥
नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥११॥

'वर्णाश्रमादि देह-सम्बन्धरूप उपाधिसे युक्त आत्मामें कल्पित होते हैं, बोधस्वरूप आत्माके लिये कभी वर्णाश्रमादि नहीं होते'—जिन्होंने वेदान्तश्रवणादिके द्वारा इस तत्त्वको यथार्थरूपसे जान लिया है, वे वर्णाश्रमके दायरेसे ऊपर उठ जाते हैं ।

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान् सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥१२॥
योऽतीत्य स्वाश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥१३॥

'आत्मस्वरूपका ज्ञान होनेपर जिसे यह बोध हो जाता है कि वर्णाश्रमादि चिन्मय आत्मामें कल्पित हैं; ये वस्तुतः आत्माके धर्म नहीं हैं, तथा जिसके वर्णाश्रमके आचार विगलित हो गये हैं, अर्थात् जिसका देहादिमें आत्मत्वाभिमान नष्ट हो गया है, तथा इस प्रकार वर्णाश्रमसे अतीत होकर जो सर्वदा आत्मतत्त्वमें स्थित रहता है, सर्ववेदार्थके ज्ञाता उसे अतिवर्णाश्रमी नामसे पुकारते हैं ।'

अब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भक्तावतार श्रीहनुमान्‌को वर्णाश्रमके सम्बन्धमें जो उपदेश दिया था, उसका उल्लेख करके हम इस लेखको समाप्त करते हैं ।

वर्णाश्रमव्यवस्थेयं पूर्वैः पूर्वतरैः कृता ।
सर्वलोकेश्वरेणापि न दूष्या देहिना स्वयम् ॥
स्वस्ववर्णाश्रमाचारैः प्रीणयन् परमेश्वरम् ।
क्रमेण याति पुरुषो मामकं पदमुत्तमम् ॥
वर्णाश्रमाचारहीनं वेदान्ता न पुनन्ति हि ।
महान्तो गुरवश्चापि शिष्यं गृह्णन्ति नैव तम् ॥
विदुषोऽपि सुखं भूरि वर्णाश्रमनिबन्धने ।
स्वेच्छाचाराद्यहेतुत्वात्स्वभयेनात्र संशयः ॥

वर्णाश्रमाचारबद्धो न बद्धो मोक्षकाङ्क्षिणाम् ।
भयावहोऽन्यधर्माणामाचारो बन्ध इष्यते ॥
यस्य वर्णाश्रमाचारे श्रद्धातीव प्रवर्तते ।
स कर्मतत्परोऽविद्वानपि विद्वत्वमाप्नुयात् ॥
× × ×
भक्तिज्ञानविरक्त्यादिपादपस्याश्रमाश्रमी ।
वर्णाश्रमसमाचारा यन्मूलानि न तांस्त्यजेत् ॥
निर्मूलः पादपोऽम्भोभिः संसिक्तोऽपि यथा फलम् ।
जनयेन्नाश्रमाचारहीनो भक्त्यादिराशिभिः ॥

'यह वर्णाश्रमव्यवस्था अति प्राचीन ऋषियोंके द्वारा (सनातन वेदके प्रमाणके अनुसार) प्रवर्तित हुई है, अतएव दूसरेकी तो बात ही क्या, देहधारी स्वयं सर्वलोकेश्वरके द्वारा भी यह उल्लंघनीय नहीं है । अपने-अपने वर्णाश्रमाचार अनुष्ठानके द्वारा परमेश्वरको प्रसन्न करके पुरुष क्रमशः हम(परमात्माके) उत्तम पदको प्राप्त होता है । सारे वेदा पढ़कर भी यदि कोई अपने वर्णाश्रमके सदाचारका पाल नहीं करता तो उसका वेदान्तज्ञान उसकी रक्षा नहीं क सकता । वर्णाश्रमाचारसे हीन पुरुषको श्रेष्ठ गुरुजन शिष्यरूपमें नहीं ग्रहण करते । वर्णाश्रमाचारसम्बन्धी नियमके द्वारा नियमित होनेपर विद्वान्‌को भी अत्यन्त सुख प्राप्ति हो सकती है । वर्णाश्रमाचारके पालनमें तत्पर पु स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते, अतएव वे अभ्युदय अ निःश्रेयसकी प्राप्ति कर सकते हैं—यह निश्चय है । मोक्ष चाह रखनेवालेके लिये वर्णाश्रमके आचारका बन्धन क बन्धन नहीं है, भयावह अन्य धर्मके आचरणको ही बन कहते हैं । जिस व्यक्तिको वर्णाश्रमके आचारमें अत्यन्त श्र होती है, वही श्रेष्ठ कर्मी अविद्वान् होते हुए भी विद्वा हो जाता है । भक्ति, ज्ञान और वैराग्यादि वृक्षका वर्णाश्रमाचार है, अतएव इसका कभी त्याग करना उ नहीं है । मूलरहित वृक्षमें जलसिञ्चन करनेसे जैसे वह नहीं देता उसी प्रकार आश्रमाचारसे हीन व्यक्तिको भ ज्ञान और वैराग्यका फल नहीं होता ।'

अन्तमें हम निम्नलिखित श्लोकोंके द्वारा भगवान् प्रार्थना करते हुए पाठकोंसे विदा लेते हैं—

परामृष्टोऽसि लब्धोऽसि प्रोद्धृतोऽसि चिराय च ।
बहुधतोऽसि चिरकालेभ्यो योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥

'श्रेष्ठ आत्मचिन्तनके द्वारा तुम ज्ञात होते हो, बहुत दिनों बाद मैं तुम्हें प्राप्त हुआ हूँ, बहुत दिनोंके बाद तुम [illegible]

साम्यावस्थाको प्राप्त हो प्राकृतिक परिणामकी अन्तिम अवस्था है; किसी-न-किसी दिन जगत्‌की यह गतिशीलता, प्रवृत्ति, परिवर्तन, परिणाम या व्यापार स्थिर, निवृत्त या बन्द होगा ही ।

है छिपे हो गगनमें स्वप्रकाशमें उदित हुए हो और तुमने मेघरूपी [illegible]में मेरा उद्धार किया है। तुम जो हो, वह हो, तुम्हें नमस्कार !"

> गगनघनपरिपूर्णमिन्दुबिम्बं
> गतकलनावरणं स्वमेव रूपम्।
> स्वरुचि मुदितं स्वयं स्वमंस्थं
> स्वसमुदितं स्ववशं स्वयं नमामि ॥११५॥
> (योगवासिष्ठ उपशम १४ सर्गः)

चन्द्रकी एक कला क्षीण रही थी और पन्द्रह कलाएँ मेघसे आवृत था। मेघका आवरण दूर होनेपर पूर्णबिम्बके साथ चन्द्रमा प्रकाशित हुआ। संकल्पका आवरण हट गया, स्वयं अपना रूप प्रकाशित हुआ। आनन्दैकरस अपना शरीर अपने आत्मामें निराधार स्वयं विश्रान्त हुआ। अहा! स्वयं उदित, स्वप्रकाश, स्ववश, स्वाधीन आनन्द! और कुछ नहीं, स्वयं आत्मा! इस स्वयंको मैं नमस्कार करता हूँ। (समाप्त)

महासती जीरादेई

(लेखक—साकेतवासी महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक*)

जिस समय लिच्छविकुलोत्पन्न प्रबल और सुबल, युगलबन्धु अपने-अपने भाग्यकी परीक्षा करनेके हेतु अपनी माता हीरादेईकी आशिष और अपनी कटार लेकर महलसे निकले, उस समय अपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ। एक काक अपनी काकलीसे मार्गप्रदर्शक बना। प्रबलने उड़ते हुए काकके साथ अपना घोड़ा दौड़ाया। चलते-चलते वह चम्पारण्यमें प्रवेश कर गया। और सुबल शुभ शकुनकी प्रतीक्षा न करके नैर्ऋत्य-कोणकी ओर चल पड़ा। टेढ़ीका टाँघन थिरकता हुआ चलता था। अस्तु, अपने अश्वको नचाता हुआ वह सारण्यमें विलीन हो गया।

संवत् ७०१ वै०में, मकरान (बलुचिस्तान) के राजा सहसराय एक बौद्धधर्मानुयायी भारतीय शूद्र थे। इनके पुत्र बड़े साहसी थे।† जब छाछ नामक ब्राह्मण-ने इनका राज्य छीन लिया, राजा सहसराय लड़ाईमें मारे गये, तब उपर्युक्त दोनों राजकुमार महलसे निकल पड़े।

प्रबलरायने प्रतिष्ठानपुरके ज्योतिर्विद्के कहनेसे चम्पारण्यमें प्रवेश किया था। वहाँ एक साधु-तपस्वी-से भेंट होनेपर उन्हें अकीक नामक बहुमूल्य रत्न प्राप्त हुआ। उन्होंने जङ्गल कटवाकर प्रजा बसायी और गुरौलमें जहाँ उसे रत्न प्राप्त हुआ था और तपस्वी बाबाकी कुटी थी, अपना गढ़ बनवाकर राज्य करने लगा।

सुबलरायने जब सारण्यमें प्रवेश किया तब उनके नेत्रोंके सामने बहुत दूरपर बीहड़ जङ्गलमें एक ज्योति झलकी। उसीको लक्ष्य करके वे घोड़ा बढ़ाते गये। वहाँ जानेपर पता चला कि वह ज्योति एक सुन्दरीके ताटककी आभा और शोभा थी। वह सुन्दरी एक प्रबल डाकूकी बेटी थी। भू-गर्भालयके बाहर निकलकर टहल-फिर रही थी। अश्वारोहीको देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई। वह उसपर मोहित हो गयी। सुबलराय

* महात्माजी श्रीअयोध्या-धामके प्रतिष्ठित संत थे। 'कल्याण' पर आपकी सदा कृपा रहती थी। गत ४ जनवरीको आपका साकेतवास हो गया। महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजीने लिखा था—'महात्मा श्रीबालकराम विनायकजी लीला-धामको छोड़-कर सरकारके नित्य-धामको प्राप्त हुए। ४ जनवरीको प्रातःकाल कोई पाँच बजे शौचादिसे निवृत्त होनेके पश्चात् बिना किसी कष्ट आदि और बिना किसी पूर्व कष्टके आपने नश्वर देह इस तरह त्याग दिया—'सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानै नाग।'

† V. A. Smith P. 355.

भी रसिक राजकुमार था। युवतीकी अतुल [illegible] सुन्दरता और सहृदयतापर वह भी मुग्ध हो गया। प्रणयके चिह्न दोनोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे [illegible] होने लगे। उस कन्या-ने राजकुमारको एक घने छायादार वृक्षके नीचे ठहराया। घोड़ा लंबे रस्सेसे बाँधकर मनमाना चरनेके लिये छोड़ दिया गया। भोजन और आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कर कुमारीने अपने प्रेम एवं शीलका परिचय दिया। दूसरे-तीसरे दिन जब डाकू-सरदार बहुमूल्य सामानके साथ घर लौटा तब बेटीने अवसर पाकर एक राजकुमारके आनेकी बात बतायी और निष्कपटभावसे अपने प्रणयको भी सूचित कर दिया। यह सुनकर पहले तो वह डाकू बहुत बिगड़ा। उसने डाँटकर कहा—'जीरादेई! तुम्हारा यह आचरण मेरे उग्र स्वभाव और प्रतिष्ठाके प्रतिकूल है। मैं नहीं कह सकता कि इसका क्या परिणाम तुम्हें भोगना पड़ेगा। स्मरण रक्खो—मैं पक्का निर्दयी हूँ।' बेचारी जीरादेई काँपने लगी। उसके कोमल कण्ठसे एक शब्द भी न निकल सका। यह दशा देखकर उस निर्दयीको भी दया आ गयी। फ़र्शपर गिरती हुई कन्याको उसने सँभालकर बैठाया। आश्वासनभरे वचन कहकर उसने समझाया। इस प्रकार धीरज देकर वह उस वृक्षके नीचे गया, जहाँ राजकुमार ठहरा हुआ था। सरदारको देखते ही वह राजकुमार खड़ा हो गया और स्वागतपूर्वक आसनपर बैठाया। बातचीत हुई। राजकुमारने अपना पूर्ण परिचय देकर कहा—'मैं तो भाग्यकी परीक्षा करनेके लिये निकला हूँ। अनेक प्रकारके कष्टोंको झेलता हुआ यहाँतक पहुँचा हूँ।' सरदारने सब सुनकर सन्तोष प्रकट किया और कहा—'जिस कन्याने आपको ठहराया है, वह मेरी धर्मपुत्री है। वह भारतीय नरेश राजा रतिवल्की कन्या है। संवत् ७५६ वै० में जब राजा रतिवलने शिशातानके आगे, ईरानियोंको घेरकर हराया था* उसी समान यह कन्या मेरे औरसमें आयी। मैं उस देशकी राजधानीमें था। राजा मुझे बहुत मानता था। परन्तु इसी कन्याके लोभमें आकर मैंने राजाके [illegible] [विश्वा]सघात किया, अपने प्रिय परिवारको छोड़, इसको लेकर भागा और यहाँ इस जङ्गलमें आश्रय लिया। जब कन्या बड़ी हुई तब स्वभावतः मेरी इच्छा इसके विवाह करनेकी हुई। मैंने हिन्दुकुशसे लेकर अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग सब देशोंको छान डाला, परन्तु इसके योग्य कोई राजकुमार मिला नहीं। मैं ऐसा राजकुमार चाहता था, जो विवाह करके मेरे ही पास रहे और मेरा उत्तराधिकारी बने। ऐसा अबतक कोई मिला न था। भगवान्की लीला अपार है। उसने अनायास आपको यहाँ भेजकर मेरी इच्छा पूरी कर दी।'

अनन्तर सरदारने कुमारको साथ लेकर भूगर्भालय-में गुप्त मार्गसे प्रवेश किया। वह पाताल-भवन बड़ी कारीगरीसे बना हुआ था। उसमें सब तरहका सुपास था। इतने जवाहिरात उसमें धरे और भरे थे, जितने किसी प्रतापी राजाने भी न देखे होंगे। इसी तरह और सामान भी थे। यूनान-जैसे विदेशोंके प्रसिद्ध पदार्थ भी वहाँ मौजूद थे। राजकुमार मन-ही-मन भगवान्को धन्यवाद देता था, जिसने इस अतुल सम्पत्तिका उसे उत्तराधिकारी बनानेका विधान किया। राजकुमार अब भवनहीमें रहने लगा। प्रतिदिन अपने घोड़ेपर सवार होकर आखेटके लिये निकल जाता था। कुमारीको यह क्षणिक वियोग भी अखर जाता था। जबतक वह लौटकर न आता, तबतक वह बेचैन रहती। सरदारने एक तरफसे जङ्गल कटाना और आबाद करना आरम्भ किया। थोड़े ही दिनोंमें यह प्रान्त आबाद हो गया। धानकी खेती होने लगी। बाग-बगीचे, कूप-तड़ाग

* During the course of the campaign beyond Sistan an Indian King, named Ratibil, had defeated a Muslim force by alluring it into the defiles of Afghanistan. (*History of Persia Vol. II. P. 52*)

सरूपसे निर्मित हुए। देश हरा-भरा हो गया।

अब विवाहकी ठनी। सरदार यद्यपि डाकूका काम ता था, परन्तु वह धर्मभीरु भी था। राजा रतिबलके थ उसने जो विश्वासघात किया था, उसका पश्चात्ता से था और अब वह स्वयं महाराज रतिबलको बुलाकर न्हींके हाथसे कन्यादान कराकर उसका प्रायश्चित्त रना चाहता था। वह राजाके पास गया। उनसे ला। सब समाचार सुनाया और अपने अपराधके ये क्षमा माँगी। राजाने उदारतापूर्वक क्षमा प्रदान ी। दोनों वहाँसे तैयारीके साथ सारण्यके लिये चल ड़े। भूगर्भालयके पास ही बने हुए किलेमें ठहरे। शुभमुहूर्तपर कन्यादान हुआ। भाँवरें फिरीं। दान-पुण्य हुआ। तत्पश्चात् स्वयं राजा रतिबलने राजकुमार सुबलरायको अभिषिक्त करके अपने देशको प्रस्थान किया। राजा सुबलराय रानी जीरादेईके साथ सुरौलमें राजधानी स्थापित करके राज्य करने लगे और सरदार जङ्गलमें कुटी बनाकर भजन करने लगे।

कुछ दिनोंके पीछे गुर्जराधिपति राजा प्रबलरायने अपने भाई सुरौलाधिपति सबलरायके दरबारमें अपना दूत भेजा। उसका अच्छा स्वागत हुआ। नैसर्गिक सम्बन्ध—पत्र-व्यवहार, आना-जाना, आदान-प्रदान आरम्भ हुआ। उभय नृपति उच्च कोटिके मनुष्य थे। प्रजापालनमें सदा तत्पर रहते थे। प्रजाके सुख-दुःखका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये घोड़ेपर चढ़कर स्वयं गाँव-गाँवका चक्कर लगाया करते थे। दरबारमें साधारण-से-साधारण प्रजाकी पहुँच थी। वह आसानीसे राजासे भी मिल सकती थी। इस प्रकार उदार-नीतिके अवलम्बनसे दोनों रियासतें खूब फूली-फली।

प्रबलरायके दो पुत्र थे। परन्तु सबलराय सन्तान-हीन थे। इसलिये गुर्जराधिपतिके छोटे राजकुमारको महारानी जीरादेईने अपना दत्तक पुत्र बनाया। वह सुरौलमें रहने लगा। उसकी अच्छी शिक्षा भी हुई। वह राज-काज भी सँभालने लगा। उसके राजोचित गुणोंसे सन्तुष्ट होकर सुबलराय उसे गद्दीपर बैठाकर राजधानीके बाहर अग्निकोणमें, सुन्दर आराममें, त्रिवटीके नीचे पर्णकुटी बनाकर महारानी जीरादेईसमेत उसमें वास करके तप करने लगे। राजाके तप और त्यागका प्रभाव प्रजावर्गके ऊपर भी पड़ा। प्रजामें भी सात्त्विक गुण भर गये। सब संयमी, सदाचारी नर-नारी अपने-अपने धर्म-कर्ममें निष्ठावान् हो गये। राजाका दर्शन किये बिना कोई अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करता था।

इतनी सात्त्विकता होनेपर भी कलिप्रभावसे एक महान् दोष बन जानेके कारण सामूहिक दण्ड-फलोत्पादक इस गुरुतर अपराधको क्षमामयी पृथ्वी तो क्षमा कर गयी, परन्तु दैवने उसे न सहन कर घोर दुर्भिक्ष देशमें उपस्थित कर दिया। पाँच वर्षतक लगातार एक बूँद भी पानी नहीं बरसा। इस घोर दुष्कालसे प्रजाकी जान बचानेके लिये तपस्वी राजा सुबलराय अपनी रानी जीरादेईके साथ दरिद्र-नारायणकी सेवामें लग गये—तनसे, मनसे और धनसे। राज्यके बखारसे सदाव्रत बँटता। पका भोजन भी दिया जाता। राज्यके बखार सब रिक्त हो गये। तब सुदूर प्रान्तोंसे अन्न मोल मँगाकर बाँटा जाने लगा। जब खजाना भी खाली हो गया; तब राज-दम्पति बड़े सोचमें पड़े। यहाँतक कि शरीर त्याग करनेपर तुल गये। यह दुःखद समाचार तुरंत सर्वत्र फैल गया। राज्यके धनाढ्य लोगोंने आकर राजाको आश्वासन दिया कि हमलोग अपने धनसे प्रजाके प्राण बचानेमें कुछ उठा नहीं रखेंगे, आप प्राण विसर्जन न करें। राजाने मान लिया। धनिकोंने भिखमं-गोंको अच्छी तरह सँभाल लिया। कोई भूखों मरने न पाया। सत्यके प्रभावसे वृष्टि हुई। धानके खेत लहराने लगे। खूब उपज हुई। प्रजाका कष्ट दूर हुआ। परन्तु राजा सुबलरायकी अवस्था शिथिल हो गयी। बैठ न सके। प्रजाजनोंने उनकी अनुमतिसे उनके दत्तकर

चोट की। उस चोटको सह न सकनेके कारण उनकी धुकधुकी एकदम बंद हो गयी। बड़ा शोक मनाया गया। महारानी जीरादेई उनके शवको गोदमें लेकर सती हो गयीं। उस समय लाखों नर-नारी एकत्र हुए थे। अपूर्व दृश्य था। महारानीके अञ्चलसे आप-से-आप अग्निकी लपट निकली। जलने-जलते सतीने वरदान दिया कि इस प्रान्तमें जब-तब सतियाँ उत्पन्न होती रहेंगी। सतीशिरोमणि श्रीजनक-नन्दिनीकी जन्मस्थलीके प्रान्तमें ऐसा होना ही [illegible]

रानी 'जीरादेई' जहाँ सती हुई थीं, उस [illegible] नाम जीरादेई पड़ गया। यही नाम अबतक [illegible] है। सुरौल भी पासहीमें है, जिसको लोग [illegible] कहते हैं। ग्राम जीरादेई बी० एन० डब्ल्यू० [illegible] भाटापोखर स्टेशनसे एक कोस दक्षिण है। [illegible] देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजीकी जन्मभूमि [illegible] सौभाग्य प्राप्त है।

सन्तोष

(सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः)

आनेवाला यह कोई धनी, पर नवीन व्यापारी है।' गिरिधारीसिंहको अपने घरसे क्या देना था। झटपट मोलभाव हो गया। इन्होंने पाँच रुपये देकर उन लोगोंसे गेहूँ बेचनेकी रसीद लिखा ली।

लोग कहते हैं कि भगवान्‌को देना होता है तो छप्पर फाड़कर देते हैं। रसीद लिखाकर गिरिधारीसिंह हटे ही थे कि जहाजके अधिकारीने उन्हें फिर बुलवाया 'आस्ट्रेलियासे कम्पनीके स्वामीका तार आया है कि गेहूँ अभी न बेचा जाय।' गिरिधारीसिंह समझ गये कि गेहूँका बाजार चढ़ गया है। उन्होंने गेहूँ वापस देना अस्वीकार कर दिया। जहाजके स्वामियोंने फिर आस्ट्रेलिया तार खटकाये। गिरिधारीसिंहसे अनुनय-विनय की। अन्ततः खरीदे हुए भावसे आधपाव प्रति रुपये कम करके जहाजवालोंको ही गेहूँ बेच दिया गया। पूरे तेरह हजार सात सौ पचपन रुपयेका चेक लेकर गिरिधारीसिंह नगरमें लौटे।

[२]

भगवती भागीरथीके भव्य कूलपर अक्षयवटमूलमें आज तीन-चार माससे एक मस्त महात्मा पड़े हैं। कमरमें एक कौपीनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। मध्याह्नमें गाँवमें जाकर 'नारायण हरि' करते हैं और जो कुछ मिला, अञ्जलिमें लेकर मुखमें डाल लेते हैं वहीं। दो-चार घरोंसे इसी प्रकार भिक्षा करके लौटते हैं और फिर भर-भर अञ्जलि वह श्रीहरिका चरणोदक पान करते हैं। उसे किसीसे माँगना तो है नहीं।

भावुक भक्त अपनी भावनाके अनुसार स्वामीजीके सम्बन्धमें चर्चा करते हैं। कोई उन्हें सिद्ध बतलाता है, कोई तपस्वी, कोई विरक्त और कोई आत्मदर्शी। स्वामीजी कुछ भेंट तो लेते नहीं, गाँवके भोले लोग दो ही उनके दर्शनोंको सुविधानुसार आया करते हैं। स्वामीजी महात्माओंके दर्शनसे पुण्य होता है या उनका दर्शन करना चाहिये, इसी सामान्य भावनासे लोग आते हैं। जो हो सकता है, सेवा भी करते हैं। पुण्य होगा, घरमें मङ्गल होगा—इस लोभसे या महात्मा कहीं अप्रसन्न होकर कोई शाप न दे दें—इस भयसे भी।

दोपहरीकी भिक्षा करके स्वामीजी लौटे तो एक दिन उन्होंने एक ग्रामीणको अपनी प्रतीक्षा करते पाया। वैसे ये सज्जन प्रायः नित्य प्रातः-सायं आते हैं और स्थानपर झाड़ू देना आदि छोटी-मोटी सेवाएँ करते ही रहते हैं। आनेवालोंमें सबसे उज्ज्वल वस्त्रोंवाले होनेपर भी यहाँ निस्संकोच धूलिमें बैठते हैं। आज इस दोपहरीमें सब अपने-अपने काममें लगे होंगे, स्वामीजीके पास एकान्त होगा—यह समझकर वे आये थे। स्वामीजीसे अकेलेमें वे कुछ कहना चाहते थे, और अवसर मिलता ही न था।

'गिरिधारीसिंह! आज दोपहरीमें कैसे!' असमयमें आनेके कारण स्वामीजीने पूछा। उत्तरके स्थानपर आगन्तुक स्वामीजीके चरणोंमें मस्तक रखकर सिसकने लगा। ठीक बच्चोंके समान। स्वामीजीने उसे उठाया और आश्वासन देकर कारण पूछा।

'माता-पिताके प्यारने कष्ट सहनेमें असमर्थ बना दिया है। कभी अपमान सहना नहीं पड़ा और न परिश्रम ही करना पड़ा। पिछले वर्ष पिताके देहान्तसे ही विपत्ति प्रारम्भ हुई। घरमें कोई सम्पत्ति नहीं। इतना श्रम सहा नहीं जाता। दर्शन पढ़े-लिखे भी नहीं कि कहीं नौकरी करें। अब महाजनने ब्याज लिया है। महाजन चुप रहा नहीं और पुराने ऋणको कागजमें माँगता है। अपने लोगोंके लिये भी नहीं।' इतना कहकर सिसकते हुए युवकने पश्चात् वे फिर स्वामीजीके चरणोंपर सिर रख फूट-फूटकर रोने लगा।

(१)

राग-द्वेषके प्रभावसे बचना चाहिये

राग-द्वेषकी बात लिखी सो ठीक है। राग-द्वेष सभी गह लिखा यह तो श्रीभगवान्‌ने कहा ही है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

प्रत्येक इन्द्रियके प्रति अर्थमें राग-द्वेष हैं, हमें उनको अपना शत्रु समझकर उनके वश नहीं होना चाहिये। वास्तवमें राग-द्वेषादिका कारण अपनी ही भूल है। हमारे मनसे राग-द्वेष निकल जायगा तो जगत्‌में हमें कहीं राग-द्वेषके दर्शन नहीं होंगे। ब्रह्मविद् सर्वत्र ब्रह्म ही देखता है। राग-द्वेष मायाका कार्य है। माया-की ग्रन्थिसे छूटा हुआ व्यक्ति राग-द्वेषका दर्शन वस्तुतः नहीं पाता। वैसी स्थिति न होनेतक यथासाध्य राग-द्वेषका प्रभाव अपने चित्तपर नहीं पड़ने देना चाहिये—

तेरे भाएँ जो करो भलो-बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥

आपने लिखा कि मेरे लायक कोई शिक्षा लिखियेगा, सो ऐसा आपको नहीं लिखना चाहिये। मुझमें न तो शिक्षा देनेकी कोई योग्यता है और न अधिकार ही है। आपकी मुझपर सदासे कृपा रही है, उसी कृपाके भरोसे प्रार्थना या सलाहके रूपमें आपको कुछ लिखनेकी धृष्टता—आपके पूछनेपर—कर बैठता हूँ।

परम प्रेम

(१) ... यथार्थ-रूपसे जानने ... है ... न्

रूप ...

जो परम प्रेम है, वही सर्वोच्च प्रेम है। उसी प्रेमको भक्तोंने रसाद्वैत कहा है। यहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदकी एकता हो जाती है। परस्पर दोनों एक-दूसरेमें विलीन हो जाते हैं। दो मिलकर एक हो जाते हैं। इसीको परम शान्ति कह सकते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान्‌के गुणविशेषके प्रति आकृष्ट होकर प्रेम करना शान्तिका हेतु नहीं होता। निर्गुणके साधकतकको आरम्भमें गुण देखकर ही अर्थात् निर्गुण-की साधनासे ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होगी—ऐसा समझकर साधनामें प्रवृत्त होना पड़ता है। यथार्थ ज्ञान अपने-आप नहीं हो जाता।

ज्ञानवान्‌की अभेदभक्ति

(२) आपका दूसरा प्रश्न है—'भगवान्‌के साथ अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से हो सकती है या नहीं? यदि हो सकती है तो उससे उसको विशेष क्या लाभ है?' इसका उत्तर यह है कि अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से ही हो सकती है—अज्ञानीसे नहीं। पहले यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि इस अवस्थामें 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ क्या है। ज्ञानवान् वही होता है, जो मायाके बन्धनसे मुक्त हो चुका। जिसके अज्ञानकी समस्त ग्रन्थियाँ सदाके लिये खुल गयीं, जो मायास्वप्नसे सर्वथा जग गया। परन्तु यह भी नहीं कि उस पहलेके अज्ञानकी स्मृति हो और अब ज्ञानवान् होनेका भान हो। वास्तवमें 'ज्ञानवान्' शब्द अज्ञानियोंके लिये ही सार्थक होता है। ज्ञानवान् मुक्त पुरुषके लिये 'ज्ञान' और 'अज्ञान' दोनों शब्द निरर्थक हो जाते हैं। वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप होता है, ज्ञानका भोक्ता नहीं—इसीसे उसकी स्थिति अनिर्वचनीय होती है। वह सर्वत्र सबमें एकमात्र सम ब्रह्मको देखता है—'ब्रह्म-... न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु

भूतेषु·······॥' इस प्रकार ब्रह्मभूत होनेपर ही भगवान् कहते हैं कि उसे मेरी भक्ति प्राप्त होती है—'मद्भक्तिं लभते पराम्।' यह परा भक्ति ही अभेदभक्ति है, जो ब्रह्मभूत हुए बिना नहीं मिलती। इस परा भक्तिसे ही भगवान्‌का, समग्र भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान होता है—'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।' और यह तत्त्वज्ञान ही सर्वतोभावसे एकत्व कराता है। यहाँपर यही 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्द-का अर्थ है। इस भक्तिके बिना पूर्णरूपसे वास्तविक एकत्व नहीं होता। इसके अनन्तर ही होता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'विशते तदनन्तरम्।' यही विशेष लाभ है, जो अवश्य प्राप्त करना चाहिये। अतएव अभेदभक्ति अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। इस अभेदभक्तिको ही ज्ञानकी परानिष्ठा कहते हैं। इसीको भक्त प्रेमाभक्ति कहते हैं। अवश्य ही बाह्यरूपमें देखनेपर दोनोंमें बहुत कुछ भेद प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः है एकही-सी स्थिति। यही असली ज्ञान है और इस ज्ञानको प्राप्त पुरुष ही यथार्थ ज्ञानवान् है।'

ज्ञानवान्‌की स्थिति

(३) आपका तीसरा प्रश्न है—'स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेके पश्चात् ज्ञानवान्‌की वृत्ति क्या काम करती है? ज्ञानवान्‌को सङ्कल्प-विकल्प रोकनेकी आवश्यकता है या नहीं? यदि है तो क्यों है? यदि नहीं है तो सङ्कल्पसे न्याय या विपरीतादि कर्मसे उसका मोक्षमें प्रतिबन्धक है या नहीं?' इस प्रश्नके उत्तरमें सबसे पहले मेरा यह निवेदन है कि पहले ज्ञानवान्‌के स्वरूपको समझ लेना चाहिये। यदि ज्ञानवान् शब्दसे हम केवल शास्त्रज्ञानी या परोक्षज्ञानी लेते हैं, तब तो यह स्पष्ट ही है कि उसकी अविद्या-ग्रन्थि अभी टूटी नहीं है। वह अहङ्कारवृत्तिके द्वारा समाश्रित होता है, ऐसी अवस्थामें आत्माके विरुद्ध विजातीय सङ्कल्प-विकल्पोंको रोकनेका साधन करनेकी उसे नितान्त आवश्यकता है। यदि वह नहीं रोकेगा तो उसकी चित्त-वृत्तियाँ सतत विषयाभिमुखी होकर उसे शास्त्रज्ञानकी कुछ परवा न करके उसे मोहके गहरे गर्त्तमें डाल देंगी—विषयासक्तिके प्रवाहमें उसको बहा देंगी। और यदि ज्ञानवान्‌का अर्थ यथार्थ ज्ञानी अथवा मुक्त पुरुष है, तब वह वृत्तियोंका धर्मी या कर्त्ता हुआ नहीं। वस्तुतः वह स्वयं उस अनिर्वचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गया है जो चित्त तो क्या बुद्धिसे भी अतीत परे है। जहाँ चित्त ही नहीं है वहाँ चित्तवृत्ति कहाँसे आती और चित्तवृत्तिके अभावमें चित्तवृत्तियोंके कार्यका प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो स्थिति है। अब यदि प्रारब्धवश जीवित रहे हुए शरीरमें स्थित चित्तवृत्तियोंकी बात कहें तो वहाँ यह कहना और मानना पड़ता है कि पहले अन्तःकरणके शुद्ध और निष्काम हुए बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता और ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर शरीरमें स्थित उस निष्काम और शुद्ध अन्तःकरणमें ऐसा कोई सङ्कल्प-विकल्प या तज्जन्य विपरीत कर्म होता ही नहीं जो दूषित हो या विपरीत हो। और स्वाभाविक ही होनेवाले न्यायकर्मका भी कोई धर्मी या कर्त्ता न होनेसे फल उत्पन्न नहीं होता। प्रतिबन्धकी तो बात ही नहीं उठती क्योंकि बाधा तो पथमें ही होती है। घर पहुँच जानेपर मार्गकी बाधाका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। अतएव मेरा तो यही निवेदन है कि ज्ञानवान् वृत्तिसे ऊपर उठा हुआ है अतएव उसके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ज्ञानवान् और मोक्षप्राप्त एकार्थवाची ही शब्द हैं। फिर प्रतिबन्ध कैसा!

इस प्रकार आपके तीनों प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने, जो कुछ मनमें आया, लिख दिया है। मैं यह [illegible] नहीं करता कि मेरा [illegible] है। न यह [illegible] हूँ कि यह [illegible] है। [illegible] अच्छी तरह समझना चाहिये [illegible] करना चाहिये। [illegible]

होनेपर सब झगड़ा मिट जाता है। मैं ऐसी किसी स्थितिको नहीं मानता, जिसके लिये यह कहा जाय कि पूर्ण-यथार्थ ज्ञान भी हो गया और मोक्ष बाकी भी रह गया। और ऐसी स्थिति न माननेपर आपका तीसरा प्रश्न उठता ही नहीं। भूल-चूकके लिये क्षमा कीजियेगा। मैंने जो कुछ लिखा है, उसे प्रार्थनाके रूपमें समझियेगा, उपदेशके रूपमें नहीं। आपकी कृपा सदा रहती ही है।

(२)

सात आध्यात्मिक प्रश्न

आपका कृपापत्र मिला। आपने जो प्रश्न किये हैं बहुत विचारपूर्ण हैं। मैं यथामति उनपर अपना विचार लिखनेका प्रयत्न करता हूँ। यदि इससे आपका कुछ सन्तोष हो सके तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है। आपके प्रश्न अंग्रेजीमें हैं। इसलिये उनका हिन्दी-अनुवाद देते हुए उसके साथ ही अपना उत्तर लिखता हूँ—

प्रश्न १—निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दोंका क्या तात्पर्य है—

(१) अचल सत्य।
(२) चल सत्य।
(३) ईश्वर।
(४) मनुष्यको ईश्वरका ज्ञान होना।
(५) आत्मप्रकाश।
(६) अन्तःप्रज्ञा।
(७) अनुभूति।

उत्तर—(१,२) अचल सत्य और चल सत्यसे सम्भवतः आपका तात्पर्य पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्यसे है। इनके स्वरूपका यदि सूत्ररूपसे उल्लेख किया जाय तो पारमार्थिक सत्य तो सत्यके अपने स्वरूपको कहते हैं और व्यावहारिक सत्य उसे कहते हैं जिस रूपमें उसीको हम अनुभव करते हैं। वास्तवमें परमार्थ सत्य ही अपनी अचिन्त्य लीलाशक्तिसे इस विश्वप्रपञ्चके रूपमें भास रहा है। हम सब उसकी लीलाशक्तिके एक क्षुद्र विलास हैं। हमारे मन और बुद्धि, जो उसका अनुभव करनेके लिये उत्सुक हैं, वे भी इस व्यावहारिक चेतनाके ही तो क्षुद्र अणु हैं। अतः इनके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है वह व्यावहारिक सत्य ही है, भले ही वह ऊँची-से-ऊँची और अत्यन्त अलौकिक वस्तु हो। व्यावहारिक सत्य परमार्थ सत्यमें अध्यस्त है और अध्यस्त वस्तु अपनी सत्ता रखते हुए अपने अधिष्ठानका अनुभव किसी प्रकार नहीं कर सकती। अतः इन मन-बुद्धि आदिसे परमार्थ सत्यके स्वरूपका आकलन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता; वह स्वतःसिद्ध और स्वानुभूतिमात्र है। फिर भी यह जो कुछ है—उसीका प्रकाश है—इस रूपमें भी क्रीडा उसीकी हो रही है। अतः तत्त्वज्ञ पुरुष इस व्यावहारिक सत्यमें भी अपनी निर्विकल्प दृष्टिसे उसीकी झाँकी कर लेते हैं।

(३) यद्यपि परमार्थ सत्य और ईश्वर दो नहीं हैं, परन्तु 'ईश्वर' यह संज्ञा व्यावहारिक है। जो ऐश्वर्यवान् हो उसे 'ईश्वर' कहते हैं। इस प्रकार राजा, लोकपाल, दिक्पाल और प्रजापति आदि भी 'ईश्वर' शब्दसे कहे जा सकते हैं। किन्तु उनका ऐश्वर्य परिमित है, इसलिये उनमें इस शब्दका औपचारिक प्रयोग होता है। निरपेक्ष ईश्वर वही हो सकता है जिसका ऐश्वर्य पूर्ण हो—समग्र हो, ऐसी कोई वस्तु न हो जो उसके ऐश्वर्यसे बाहर हो। ऐसा ऐश्वर्य तो उस 'परमार्थसत्य' का ही है जिसमें यह निखिल प्रपञ्च अध्यस्त है। अतः इसका अधिष्ठान होनेसे उसे ही परमार्थ सत्य कहा जाता है और इसका स्वामी होनेसे वही ईश्वर है।

(४) ईश्वरके समग्र ऐश्वर्यवान् [illegible] [illegible]

पूर्ण ज्ञान होना किसी भी जीवको सम्भव नहीं है। किसी बड़े राजाके सम्पूर्ण वैभवका ठीक-ठीक ज्ञान होना भी प्राय: असम्भव-सा है, फिर समग्र ऐश्वर्यवान् श्रीभगवान्के वैभवकी तो बात ही क्या है। अत: ईश्वरज्ञानसे अपने शास्त्रोंमें ईश्वरके स्वरूपका ही ज्ञान माना गया है। ईश्वरने अपने स्वरूपको अपनी ही प्रकाशभूता माया और मायाके कार्योंद्वारा ढक-सा रक्खा है; अत: उसका ज्ञान इस मायाके पर्देको हटनेपर ही हो सकता है। इसलिये भगवत्कृपाजनित ज्ञानके प्रकाशसे मायाकी निवृत्ति होनेपर, जिसका अनुभव होता है वही ईश्वरका स्वरूप है। इसीको वेदान्तकी भाषामें 'ब्रह्म' कहते हैं और इसीसे इसे ईश्वरज्ञान न कहकर 'ब्रह्मज्ञान' शब्दसे कहा जाता है।

(५, ६, ७) आत्मप्रकाश, अन्त:प्रज्ञा और अनुभूति, जिन्हें आपने क्रमश: Revelation, Intuition और Realization शब्दोंसे कहा है, वास्तवमें अनुभवके ही तीन प्रकार हैं। परन्तु इनके स्वरूपमें भेद अवश्य है। ये तीनों ही अनुभवकी चरम अवस्थाएँ हैं; किन्तु इनमेंसे प्रत्येक एक विशेष प्रकारके अधिकारीकी अपेक्षा रखता है। आत्मप्रकाश भगवत्कृपासाध्य है। जो साधक सब प्रकारके साधनोंका आश्रय छोड़कर भगवान्को आत्मसमर्पण कर देता है, अथवा किसी अन्य कारणसे जिसपर भगवान् स्वयं कृपा करते हैं उसके प्रति वे अपने स्वरूप या ज्ञानको प्रकट कर देते हैं। यही 'आत्मप्रकाश' जब साधकका अपना कोई संकल्प न होनेपर भी संस्कारवश अकस्मात् होता है तो इसे अन्त:प्रज्ञा या 'प्रातिभज्ञान' कहते हैं। कई बार यह साधकके जीवनके प्रवाहको बदलनेके लिये भी होता है। ऐसा करके एक प्रकारसे भगवान् स्वयं ही उसका पथ प्रदर्शन कर देते हैं। 'अनुभूति' पुरुषार्थसाध्य है। इसमें भी [illegible] आवश्यकता तो रहती है किन्तु [illegible]

है। यहाँ पहुँचकर ही उसके कर्तव्यकी समाप्ति होती है।

प्रश्न २—जब हम कहते हैं कि वेद ईश्वर[illegible] तो इसका ठीक-ठीक तात्पर्य क्या होता है? [illegible] कि वे सर्वथा निर्दोष और चरम ज्ञानरूप हैं? (या यह निर्दोषता चारों वेदोंके विषयमें समानरूपसे [illegible] है अर्थात् उनमें जितना ज्ञान और विषय निहित है [illegible] सभीके लिये कही जा सकती है अथवा किसी [illegible] अंश या मन्त्रके लिये ही?)।

उत्तर—वेदोंको ईश्वरकृत नहीं बल्कि 'अपौरुषेय' [illegible] जाता है। योगदर्शनमें ईश्वरको भी पुरुषविशेष [illegible] है—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष [illegible]' अत: ईश्वरकृत माननेपर इन्हें अपौरुषेय नहीं [illegible] जायगा। वास्तवमें बात ऐसी है कि जिस [illegible] इस अनादि प्रपञ्चका अधिष्ठान और कर्ता अनादि [illegible] उसी प्रकार इसका ज्ञान भी अनादि है। अनादि [illegible] ज्ञान भी अनादि होना ही चाहिये। परन्तु [illegible] अनादि वस्तु व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारसे [illegible] है। इन्हें ही उसके सृष्टि और प्रलय अथवा आ[illegible] और तिरोभाव कहते हैं। इसी प्रकार वेदोंका [illegible] आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। किन्तु [illegible] उनका आविर्भाव होता है तब-तब उनके [illegible] आनुपूर्वी वही रहती है और उनके द्रष्टा [illegible] वे ही रहते हैं। जिस प्रकार साधारणतया [illegible] दिन अथवा ऋतुओंके परिवर्तनका क्रम पुन: एक [illegible] रूपमें होता दिखायी देता है उसी प्रकार [illegible] प्रलयके क्रममें एक नियम [illegible] रहता है। [illegible] वेदोंके आविर्भावका क्रम [illegible] यह नियम [illegible] वैदिक• इतिहास, पुराण, [illegible]

[illegible]

ख्यान और व्याख्यानोंके लिये भी है; जैसा कि त कहती है—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित- ग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि ानानि' (बृह० २ । ४ । १०) इस श्रुतिमें उपनिषद् और इतिहास आदि सभीको इस परम- का श्वास बताया गया है । जिस प्रकार श्वास पौरुष-प्रयत्नके चलता रहता है उसी प्रकार ये भी विना पौरुष-प्रयत्नके ही अभिव्यक्त होते हैं । से इन्हें अपौरुषेय कहा गया है । मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर ही इनका साक्षात्कार ा है; ये उनकी बुद्धिसे प्रसूत नहीं हैं, इसलिये की अपौरुषेय संज्ञा उचित ही है ।

प्रश्न ३—यदि वेद ईश्वरकृत हैं तो ईश्वरद्वारा इनके ानके आविर्भाव और प्रसारका तथा मनुष्यद्वारा उसके हणका क्या क्रम है ?

प्रश्न ४—क्या यह ज्ञानका प्रसार केवल एक ही ार होता है, या इसकी पुनरावृत्ति भी होती रहती है ?

प्रश्न ५—यदि इसकी पुनरावृत्ति होती है तो क्या इनके द्वारा व्यक्त होनेवाला ज्ञान अपने विस्तार या स्वरूपकी दृष्टिसे समान ही रहता है ?

उत्तर—इन सब प्रश्नोंका उत्तर प्रसंगवश पहले आ चुका है, इसलिये उसकी पुनरावृत्ति करनेकी आवश्य- कता नहीं जान पड़ती । वेदोंका आविर्भाव सृष्टिके आरम्भके समय प्रत्येक कल्पमें होता रहता है और उसके तो ज्ञान ही नहीं वर्णोंके क्रममें भी समानता ही रहती है । यही शास्त्रोंका सिद्धान्त है ।

प्रश्न ६—यदि समान ज्ञानकी ही पुनरावृत्ति हो सकती है तो चार वेदोंको ही विशेष महत्त्व और प्रधानता क्यों दी जाती है ?

उत्तर—वेदोक्त ज्ञानका भी किसी अधिकारीविशेष- को स्वयं अनुभव हो तो सकता है, किन्तु उसे जो अनुभव हुआ है वह वेदोक्त है या नहीं—इसका निश्चय कैसे होगा । साधनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें साधकके जन्मान्तरके संस्कार, जीवमें स्वाभाविक रूपसे रहनेवाला संकोच और पक्षपात आदि दोषोंके कारण प्रायः अपूर्णता ही रहती है । किन्तु अपनी अपूर्ण प्रज्ञासे वह उसीको पूर्ण मान बैठता है । इस- लिये उसके ज्ञानको श्रुतिकी कसौटीपर परखना होता है । वह अपौरुषेय और नित्य ज्ञान होनेके कारण इन दोषोंसे रहित है । इसलिये जो ज्ञान उसके अनुकूल होता है वही प्रामाणिक माना जाता है ।

प्रश्न ७—क्या मनुष्यके द्वारा आध्यात्मिक सत्यकी अनुभूतिका अर्थ वही है जो कि ईश्वरके द्वारा उसके प्रति सत्यके आविर्भाव करनेका है ?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर प्रथम प्रश्न खण्ड ५, ६, ७ के उत्तरमें आ गया है । वहाँ जो बात कही गयी है उसके अनुसार इन दोनों प्रकारके अनुभवोंके साधक और क्रममें तो भेद है किन्तु स्वयं अनुभवमें भेद नहीं होता । साधककी प्रकृतिके भेदसे अनुभवके भी स्वरूप या आस्वादनमें भेद हो सकता है किन्तु वस्तुतः तत्त्व एक ही है । अतः दोनों ही प्रकारके अनुभवोंसे उन्हें पूर्ण कृतकृत्यता और शान्तिका बोध हो सकता है ।

प्रश्न ८—क्या यह सच नहीं है कि जहाँतक मनुष्य- की गति है उसके लिये चरम और सर्वथा निर्दोष सत्य- को प्रस्तुत करना असम्भव है, क्योंकि मनुष्यका मस्तिष्क विकासशील है और विकास किसी भी अवस्थामें चरमकोटिका या सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता ।

उत्तर—मनुष्य किसी भी अवस्थामें चरम और सर्वथा निर्दोष सत्यको प्रस्तुत नहीं कर सकता—यह बात तो बिल्कुल ठीक है, क्योंकि जिसमें स्वयं अपूर्णता है

इत्यादि उपासना, श्लोक='तदेते श्लोकाः' इत्यादि ब्राह्मण- भागके मन्त्र, सूत्र='आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादि वस्तुके संग्राहक वाक्य, [illegible] और [illegible] ार्य- [illegible] है । [illegible]

वह पूर्ण सत्यका प्रतिपादन कैसे कर सकता है; परन्तु मेरे विचारसे यदि मानव-मस्तिष्कको 'विकासशील' न कहकर 'परिवर्तनशील' कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्यके मस्तिष्कमें उसकी आयुके साथ कुछ विचारोंका विकास होता है तो किन्हीं-किन्हीं गुणोंका ह्रास भी हो जाता है। किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियोंका तो ऐसा मन्दभाग्य होता है कि उनका मस्तिष्क दिनों-दिनों और भी विकृत और कुण्ठित होता जाता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि मनुष्यका मस्तिष्क विकासशील है। जो बात व्यक्तियोंमें देखी जाती है वही जातियों और देशोंके विषयमें भी लागू है। मस्तिष्क ही नहीं प्रकृतिके सारे ही विकार परिवर्तनशील ही विकासशील नहीं। एक मोटी [illegible] रखनी चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ जैसे बढ़ना आरम्भ करता है वैसे [illegible] अपने नाशके समीप भी जाने [illegible] चरम अवस्था ही विनाश है। वृद्धिमें केवल विकास ही निहित [illegible] अन्तिम परिणाम नाश नहीं होना [illegible] लिये प्रकृतिके सारे ही कार्य विकासशी[illegible] शील ही हैं। हाँ, अन्तमें नष्ट होने[illegible] विनाशशील तो कहा जा सकता है।

मानसिक शान्ति

(लेखिका—बहिन गायत्रीदेवी बाजोरिया)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाली एक ऐसी चञ्चल शक्ति है, जो प्राणियोंको अपनी शृङ्खलामें बाँधकर उन्हें मनमाने मार्गपर ले जाती है। इस शक्तिका दमन करना सरल काम नहीं। बड़े-बड़े तपस्वी, महात्मा इस शक्तिको दमन करनेके लिये अनेकों प्रकारके उपाय करनेपर भी इसे वशमें न ला सके। वास्तवमें यदि मनुष्य इस शक्तिपर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसके लिये यह जीवन-मार्ग अत्यन्त सरल तथा सुखकर हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णसे अर्जुनने जब यह पूछा—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् 'हे भगवन्! यह मन अत्यन्त चञ्चल है। [illegible] हृदयमें उद्वेग उत्पन्न करनेवाला तथा [illegible] और बलवान् [illegible] है, इसका दमन करना [illegible] अत्यन्त कठिन होनेके कारण मैं इसे वशमें करूँ!' उस समय भगवान्‌ने अर्जुन[illegible] निग्रहके लिये अभ्यास एवं वैराग्य ही [illegible] बताये थे। परन्तु, इन उपायोंका आ[illegible] पहले मनुष्यको अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर[illegible] तभी मनुष्य अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मन [illegible] कर सकता है। उपनिषद्‌में मनको [illegible] उपाय एक बड़े अच्छे रूपकके द्वारा [illegible] समझाया गया है—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
> इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
> आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

[illegible] शरीर [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible]

नेपर रथको ऊबड़-खाबड़ मार्गमें ले जाकर पटक देते ठीक उसी प्रकार यदि इन इन्द्रियरूपी घोड़ोंको में न किया जायगा तो ये न जाने इस आत्माको पने इच्छानुसार किस पतनके गर्तमें डाल दें।' अतः इ आवश्यक है कि मनुष्य मनरूपी लगामके साथ न्द्रियरूपी अश्वोंको विवेकके द्वारा वशमें करे, और न्हें ठीक मार्गपर चलने योग्य बनाये।

मनुष्यका मन इतना चञ्चल है कि वह प्रत्येक क्षण, यहाँतक कि सुषुप्ति-अवस्थामें भी, कार्य करता ही रहता है। यदि इस मनके आगे हमारे कल्पनारूपी पदार्थ अच्छे रूपमें उपस्थित होंगे तो यह अच्छी चेष्टाएँ करेगा; कल्पनाएँ ही दूषित होंगी तो मनकी चेष्टाएँ भी दूषित होंगी। इसलिये मनके सामने अच्छे-अच्छे कल्पनारूपी खाद्य उपस्थित करना मनुष्यका कर्तव्य है। इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य कुछ विवेकसे काम ले और सद्ग्रन्थों एवं सत्पुरुषोंका सत्सङ्ग करे।

जो मनुष्य मनको वशमें करनेका अभ्यास करता है, उसकी चेष्टाएँ बड़ी विचित्र हो जाती हैं। मान लीजिये चक्षुरिन्द्रियके वशीभूत होकर उसके मनने कभी यह चाहा कि अपने नगरमें आये हुए सिनेमाको देखने चलो, मनकी प्रेरणासे वह सिनेमाहाउस चला भी गया, परंतु हालका टिकट भी खरीद लिया; किन्तु यदि वह मनको रोकनेके अभ्यासमें लगा हुआ है तो सिनेमा देखनेके लिये सिनेमाहालमें प्रवेश करते समय उसका विवेक जाग्रत् होकर उसे सचेत कर देगा और उसे कहेगा—'अरे आज तू इस चक्षुरिन्द्रिय और मन-के वशमें होकर कहाँ चला जा रहा है ? आज यह मन सिनेमा देखना चाहता है, कल न जाने क्या दुर्लभ वस्तु माँग बैठे ? यहाँतक इस मनकी इच्छाओंकी पूर्ति कर सकोगे ?' यह विचार आते ही वह सिनेमाहाउससे उसी समय वापस लौट आयेगा। इस प्रकार अपनी मानसिक वृत्तियोंको रोकनेवाला मनुष्य ही अभ्यास परिपक्व हो जानेपर 'वशी' कहलाता है।

अतः यह सिद्ध हो गया कि मन महाराजको वशमें करनेके लिये सबसे पूर्व इन्द्रियदमन करना होगा। उसके पश्चात् हमें मनको स्थिर एवं शान्त करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यकी आवश्यकता होगी। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इस चञ्चल मनको वशमें करनेके लिये इन्द्रियदमन, अभ्यास और वैराग्य—यही उपाय बताये हैं। किन्तु इन्द्रियदमनके लिये मनुष्यको विवेक-का आश्रय लेना होगा, बिना विवेकके वह इन्द्रियोंको दमन करनेमें समर्थ न हो सकेगा।

यदि मनुष्यने मनको वशमें कर लिया तो मानो उसने अपने जीवनकी सबसे कठिन समस्या हल कर ली, सबसे बड़ी गुत्थी सुलझा ली, क्योंकि मनके वशीभूत हो जानेपर मनुष्य उसे किसी भी साधनमें लगा सकता है। भक्ति, ज्ञान, योग सभी साधनोंमें मनोनिग्रहकी आवश्यकता होती है। मनको निगृहीत करनेका अर्थ है उसे विवेकद्वारा बाँध लेना। मनको हम जहाँ ले जाना चाहें वहीं जाय और जहाँसे हटाना चाहें तुरंत हट जाय—यही उसके निगृहीत होनेकी पहचान है। मनके निगृहीत हो जानेपर मनुष्यके द्वारा कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता, जिससे उसके हृदयमें किसी प्रकारका उद्वेग पैदा हो। तभी मनुष्य इस अशान्तिपूर्ण संसारमें रहते हुए भी शान्तिका अनुभव कर सकता है। और यदि मनुष्यके हृदयमें शान्ति है तो वह एक प्रकार-से मुक्तिके द्वार पहुँच गया है। अतः यह सिद्ध हो गया कि संसार-सागरमें रहते हुए इसमें डूबनेसे बचनेका यह मन ही सबसे प्रबल साधन है और मनको वशमें करना ही संसार-सागरसे छुटकारा पानेका प्रधान साधन है।

वह पूर्ण सत्यका प्रतिपादन कैसे कर सकता है; परन्तु मेरे विचारसे यदि मानव-मस्तिष्कको 'विकासशील' न कहकर 'परिवर्तनशील' कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्यके मस्तिष्कमें उसकी आयुके साथ कुछ विचारोंका विकास होता है तो किन्हीं-किन्हीं गुणोंका ह्रास भी हो जाता है। किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियोंका तो ऐसा मन्दभाग्य होता है कि उनका मस्तिष्क दिनों-दिनों और भी विकृत और कुण्ठित होता जाता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि मनुष्यका मस्तिष्क विकासशील है। जो बात व्यक्तियोंमें देखी जाती है वही जातियों और देशोंके विषयमें भी लागू है। मस्तिष्क ही नहीं प्रकृतिके सारे ही विकार परिवर्तनशील ही कहे विकासशील नहीं। एक मोटी बात रखनी चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ जैसे बढ़ना आरम्भ करता है वैसे ही अपने नाशके समीप भी जाने लगता चरम अवस्था ही विनाश है। अत वृद्धिमें केवल विकास ही निहित हो अन्तिम परिणाम नाश नहीं होना चाहि लिये प्रकृतिके सारे ही कार्य विकासशील शील ही हैं। हाँ, अन्तमें नष्ट होनेवाले विनाशशील तो कहा जा सकता है।

मानसिक शान्ति

(लेखिका—बहिन गायत्रीदेवी बाजोरिया)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाली एक ऐसी चञ्चल शक्ति है, जो प्राणियोंको अपनी शृङ्खलामें बाँध-कर उन्हें मनमाने मार्गपर ले जाती है। इस शक्तिका दमन करना सरल काम नहीं। बड़े-बड़े तपस्वी, महात्मा इस शक्तिको दमन करनेके लिये अनेकों प्रकारके उपाय करनेपर भी इसे वशमें न ला सके। वास्तवमें यदि मनुष्य इस शक्तिपर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसके लिये यह जीवन-मार्ग अत्यन्त सरल तथा सुखकर हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णसे अर्जुनने जब यह पूछा—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् 'हे भगवन्! यह मन अत्यन्त चञ्चल एवं हृदयमें उद्वेग उत्पन्न करनेवाला तथा दृढ़ और बलवान् है, इसका दमन करना वायुके वेगको रोकनेके समान अत्यन्त कठिन होनेके कारण मैं इसे वशमें करूँ!' उस समय भगवान्ने अर्जुनको निग्रहके लिये अभ्यास एवं वैराग्य ही बताये थे। परन्तु, इन उपायोंका अवलम्ब पहले मनुष्यको अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर तभी मनुष्य अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मन कर सकता है। उपनिषद्में मनको वशमें उपाय एक बड़े अच्छे रूपकके द्वारा समझाया गया है—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव
> इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तु
> आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता

'शरीर रथ है। सारथि है। मन घोड़े हैं चक

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

(१४)

(परिशिष्ट)

(१) अधिमासव्रत

(१) अधिमास (श्रुति-स्मृति-पुराणादि)—जिस महीनेमें सूर्यसंक्रान्ति न हो, वह महीना अधिमास होता है और जिसमें दो संक्रान्ति हों, वह क्षयमास होता है। इसको 'मलिम्लुच' भी कहते हैं।[1]......अधिमास ३२ महीने, १६ दिन और ४ घड़ीके अन्तरसे आया करता है और क्षयमास १४१ वर्ष पीछे और उसके बाद १९ वर्ष पीछे आता है।[2] क्षयमास कार्तिकादि तीन महीनोंमेंसे होता है।......लोकव्यवहारमें अधिमासके 'अधिक मास', 'मलमास', 'मलिम्लुच मास' और 'पुरुषोत्तममास' नाम विख्यात हैं।......चैत्रादि १२ महीनोंमें वरुण, सूर्य, भानु, तपन, चण्ड, रवि, गभस्ति, अर्यमा, हिरण्यरेता, दिवाकर, मित्र और विष्णु—ये १२ सूर्य होते हैं।[3] और अधिमास इनसे पृथक् रह जाता है। इस कारण यह मलिम्लुच मास कहलाता है।......अधिमासमें, फलप्राप्तिकी कामनासे किये जानेवाले प्रायः सभी काम वर्जित हैं[4] और फलकी आशासे रहित होकर करनेके आवश्यक सब काम किये जा सकते हैं। यथा—कूएँ, बावली, तालाब और बाग आदिका आरम्भ और प्रतिष्ठा; किसी भी प्रकार और किसी भी प्रयोजनके व्रतोंका आरम्भ और उत्सर्ग (उद्यापन); नवविवाहिता वधूका प्रवेश; पृथ्वी, हिरण्य और तुला आदिके महादान; सोमयज्ञ और अष्टकाश्राद्ध (जिसके करनेसे नितृगण प्रसन्न हों); गौका यथोचित दान; आग्रयण (यज्ञविशेष नवीन अन्नसे किये जानेवाला यज्ञ: ... वर्षा ऋतुमें 'सावाँ' ... जौसे किया (साँवक्या) से, शरद्‌में चावल ... जाता है); पोखरेका प्रथम ... पूर्णिमाका ऋषिपूजन); वेदव्रत ... नीलवृषका विवाह; अतिपन्न (... किये हुए संस्कार); देवताओंका ... दीक्षा (मन्त्रदीक्षा, गुरुसे ... संस्कार); विवाह; मुण्ड ... हुए देव और तीर्थोंका ... (अग्निका स्थायी ... यात्रा, चातुर्मासीय ... परीक्षा—ये सब काम ... तथा उनके विशुत्व और ... मासमें भी सर्वथा वर्जित हैं।[5] ... ज्वरादि प्राणघातक रोगादिकी ... कपिलषष्ठी-जैसे अलभ्य योगोंके प्रयोग; वर्षा करानेके पुरश्चरण; वषट्कारवर्जित हवन; ग्रहणसम्बन्धी श्राद्ध, दान और जपादि; ... कृत्य और पितृमरणके श्राद्धादि तथा गर्भाधान, ... सीमन्त-जैसे संस्कार और नियत अवधिमें समाप्त ... पूर्वागत प्रयोगादि किये जा सकते हैं।

१. असंक्रान्तिमासोऽधिमासः स्फुटः स्याद् द्विसंक्रान्तिमासः क्षयाख्यः कदाचित्। (ज्योतिःशास्त्र)

२. द्वात्रिंशद्भिर्गतैर्मासैर्दिनैः षोडशभिस्तथा।
घटिकानां चतुष्केण पतति ह्यधिमासकः॥ (वसिष्ठसिद्धान्त)

३. वरुणः सूर्यो भानुस्तपनश्चण्डो रविर्गभस्तिश्च।
अर्यमहिरण्यरेतोदिवाकरा मित्रविष्णू च॥ (ज्योतिःशास्त्र)

४. न कुर्यादधिके मासि काम्यं कर्म कदाचन। (स्मृत्यन्तर)

५. वाप्यारामतडागकूपभवनारम्भप्रतिष्ठेव्रता-
रम्भोत्सर्गवधूप्रवेशनमहादानानि सोमाष्टके।
गोदानाग्रयणप्रपाप्रथमकोपाकर्मवेदव्रतं
नीलोद्वाहमथातिपन्नशिशुसंस्कारान् सुरस्थापनम्॥

(२) अधिमासव्रत (भविष्योत्तर)—चैत्रादि

दीक्षामौञ्जिविवाहमुण्डनमपूर्वं देवतीर्थेक्षणं
संन्यासाग्निपरिग्रहौ नृपतिसंदर्शाभिषेकौ गमम्।
चातुर्मास्यसमावृती श्रवणयोर्वेधं परीक्षां त्यजेद्
वृद्धत्वास्तशिशुत्व इज्यसितयोर्न्यूनाधिमासे तथा॥
(मुहूर्तचिन्तामणि)

स्थित हो, उसे छोड़कर जब दूसरी राशिमें प्रवेश करे, उस समयका नाम संक्रान्ति है। ऐसी बारह संक्रान्तियोंमें मकरादि छः और कर्कादि छः राशियोंके भोगकालमें क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन—ये दो अयन होते हैं। इनके अतिरिक्त मेष और तुलाकी संक्रान्तिकी 'विषुवत्'; वृष, सिंह, वृश्चिक और कर्ककी 'विष्णुपदी' और मिथुन, कन्या, धनु एवं मीनकी 'षडशीत्यानन' संज्ञा होती है। अयन या संक्रान्तिके समय व्रत-दान या जपादि करनेके विषयमें 'हेमाद्रि' के मतसे संक्रमण होनेके समयसे पहले और पीछेकी १५-१५ घड़ियाँ, 'बृहस्पति' के मतसे अयनोंके पहले और पीछेकी २०-२० घड़ियाँ और 'देवल' के मतसे पहले और पीछेकी ३०-३० घड़ियाँ पुण्यकालकी होती हैं। इनमें 'वसिष्ठ' के मतसे 'विषुव' के मध्यकी, विष्णुपदी और दक्षिणायनके पहलेकी तथा षडशीतिमुख और उत्तरायणके पीछेकी उपर्युक्त घड़ियाँ पुण्यकालकी होती हैं। वैसे सामान्य मतसे सभी संक्रान्तियोंकी १६-१६ घड़ियाँ अधिक फलदायक हैं।''''''यह विशेषता है कि दिनमें संक्रान्ति हो तो पूरा दिन, अर्धरात्रिसे पहले हो तो उस दिनका उत्तरार्ध, अर्धरात्रिसे पीछे हो तो आनेवा[ले] दिनका पूर्वार्ध, ठीक अर्धरात्रिमें हो तो पहले और पीछे तीन-तीन प्रहर और उस समय अयनका भी परिवर्तन हो [तो] तीन-तीन दिन पुण्यकालके होते हैं। उस समय दान देने[में] भी यह विशेषता है कि अयन अथवा संक्रमण-समयका दा[न] उनके आदिमें और दोनों ग्रहण तथा षडशीतिमुख[के] निमित्तका दान अन्तमें देना चाहिये।

(२) संक्रान्तिव्रत (बङ्गऋषिसम्मत)—मेषादि किसी भी संक्रान्तिका जिस दिन संक्रमण हो उस दिन प्रातः स्नानादिसे निवृत्त होकर 'मम ज्ञाताज्ञातसमस्तपातकोपपातकदुरितक्षयपूर्वकश्रुतिस्मृतिपुराणोक्तपुण्यफलप्राप्तये श्रीसूर्यनारायणप्रीतये च अमुकसंक्रमणकालीनमयनकालीनं वा स्नानदानजपहोमादिकर्माहं करिष्ये।'—यह संकल्प करके वेदी या चौकीपर लाल कपड़ा बिछाकर अक्षतोंका अष्टदल लिखे और उसमें सुवर्णमय सूर्यनारायण[...] करके उनका पञ्चोपचार (स्नान, गन्ध, [...] नैवेद्य) से पूजन और निराहार, साहार, [...] या एकभुक्त व्रत करे तो सब प्रकारके [...] प्रकारकी आधि-व्[...] और हीनता अथवा संक्[...] सुख-सम्पत्ति, सन्तान[...] है

(३) [...]
किसी भी अधिकृत [...] प्रवेश करे (अथवा सौम्य या [...] समय दिन-रात्रि, पूर्वाह्न-पराह्न, [...] कुछ भी विचार न करके तत्[...]

---

१. मकरकर्कटसंक्रान्तिक्रमेणोत्तरायणं दक्षिणायनं स्यात्। (मुक्तकसंग्रह)

२. अयने द्वे विषुवती चतस्रः षडशीतयः।
चतस्रो विष्णुपद्यश्च संक्रान्त्यो द्वादश स्मृताः॥ (वसिष्ठ)

३. अधः पञ्चदश ऊर्ध्वं च पञ्चदशेति। (हेमाद्रि)

४. अयने विंशतिः पूर्वा मकरे विंशतिः परा। (बृहस्पति)

५. संक्रान्तिसमयः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयः पिशितेक्षणैः।
तद्योगाच्चाप्यधश्चोर्ध्वं त्रिंशन्नाड्यः पवित्रिताः॥ (देवल)

६. मध्ये तु विषुवे पुण्यं प्राग्विष्णौ दक्षिणायने।
षडशीतिमुखेऽतीते अतीते चोत्तरायणे॥ (वसिष्ठ)

७. अर्वाक् षोडश विज्ञेया नाड्यः पश्चाच्च षोडश।
कालः पुण्योऽर्कसंक्रान्तेः''''''''''''''''॥ (शातातप)

८. अह्नि संक्रमणे पुण्यमहः सर्वं प्रकीर्तितम्।
रात्रौ संक्रमणे पुण्यं दिनार्धं स्नानदानयोः॥

अर्धरात्रादधस्तस्मिन्मध्या[...]
ऊर्ध्वं संक्रमणे [...]

१. पूर्णे चेवार्धरात्रे तु य[...]
तदा दिनत्रयं पुण्यं [...]

२. अयनादौ सदा देयं द्रव्यमिष्टं [...]
षडशीतिमुखे चैवं विमोक्षे चन्द्रसूर्ययोः॥ (संक्रान्तितत्त्व)

३. उपोष्यैवं तु संक्रान्तौ प्रातः [...]ऽभ्यर्चयेद्रविम्।
प्रातः पञ्चोपचारेण स सम्यं फलमश्नुते॥ (वसिष्ठ)

४. रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते।
स्नानदानतपःश्राद्धहोमादिषु महाफला॥ (नारदपुराण)

धारण करके अक्षतादिके अष्टदलपर स्थापित किये हुए सुवर्णमय सूर्यका उपर्युक्त प्रकारसे पूजन करे। साथ ही 'ॐ आकृष्णेन०' या 'ॐ नमो भगवते सूर्याय' अथवा 'ॐ सूर्याय नमः' का जप और आदित्यहृदयादिका पाठ करके घी, शक्कर और मेवा मिले हुए तिलोंका हवन करे और अन्न-वस्त्रादि देय वस्तुओंका दान दे तो इनमेंसे एक-एक भी पावन करनेवाला होता है। स्मृत्यन्तरोंमें रात्रिको स्नान और दान वर्जित किये हैं। इसका 'विष्णु'ने यह समाधान किया है कि विवाह, व्रत, संक्रान्ति, प्रतिष्ठा, ऋतुस्नान, पुत्रजन्म, चन्द्रादित्यके ग्रहण और व्यतीपात—इनके निमित्तका 'रात्रिस्नान' और ग्रहण, उद्वाह (विवाह), संक्रान्ति, यात्रा, प्रसवपीडा और इतिहासोंका श्रवण—इनके निमित्तका 'रात्रिदान' वर्जित नहीं है। यही नहीं, यदि कोई ग्रहणादि उक्त अवसरोंमें रात्रिके विचारसे स्नान (और दान) न करे तो वह चिरकाल (कई वर्षों) तक रोगी और दरिद्री रहता है। मतसंख्यामें यह विशेषता है कि वृद्धवसिष्ठके मतानुसार अयन (मकर-कर्क-संक्रमण) और विषुव (मेष-तुला-संक्रमण)—इनमें तीन रात्रिका और आपस्तम्बके मतानुसार अयन, विषुव और दोनों ग्रहण—इनमें अहोरात्र (सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त) का उपवास करनेसे सब पाप छूट जाते हैं। परन्तु पुत्रवान् गृहस्थीके लिये [illegible] चन्द्रादित्यके ग्रहण और कृष्णपक्षकी ५० [illegible] की आज्ञा नहीं है। अतः उनको चाहिये कि [illegible] अपेक्षा स्नान और दान अवश्य करें। इनके [illegible] और भोक्ता दोनोंका कल्याण होता है। [illegible] (कन्या, मिथुन, मीन और धन) तथा विषुवती [illegible] और मेष) संक्रान्तिमें दिये हुए दानका [illegible] अयनमें दिये हुएका करोड़गुना, विष्णुपदीमें दिये [illegible] लाखगुना, षडशीतिमें हजारगुना, इन्दुक्षय (चन्द्रग्रहण) सौगुना, दिनक्षय (सूर्यग्रहण) में हजारगुना और व्यतीपातमें दिये हुए दानादिका अनन्तगुना फल होता है। देयके विषयमें भी यह विशेषता है कि—१ 'मेष' संक्रान्तिमें मेढ़ा, २ 'वृष'में गौ, ३ 'मिथुन'में अन्न-वस्त्र और दूध-दही, ४ 'कर्क'में धेनु, ५ 'सिंह'में सुवर्णसहित छत्र (छाता), ६ 'कन्या'में वस्त्र और गायें, ७ 'तुला'में अनेक प्रकारके धान्य-बीज (जौ, गेहूँ और चने आदि), ८ 'वृश्चिक'में घर-मकान या झोंपड़े (पर्णकुटी), ९ 'धनु'में बहुवस्त्र और सवारियाँ, १० 'मकर'में काष्ठ और अग्नि, ११ 'कुम्भ' में गायोंके लिये जल और घास तथा १२ 'मीन'में उत्तम प्रकारके माल्य (तेल-फुलेल-पुष्पादि) और स्थानका दान करनेसे सब प्रकारकी कामनाएँ सिद्ध होती हैं और संक्रान्ति आदिके अवसरोंमें द्रव्य-कन्यादि जो कुछ दिया जाता है सूर्यनारायण उसे जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त प्रदान करते रहते हैं।

(४) महाजया संक्रान्तिव्रत (ब्रह्मपुराण)-किसी

---

१. अत्र स्नानं जपो होमो देवतानां च पूजनम्।
उपवासस्तथा दानमेकैकं पावनं स्मृतम्॥
(संवर्त)

२. विवाहव्रतसंक्रान्तिप्रतिष्ठाऋतुजन्मसु।
तथोपरागपातादौ स्नाने दाने निशा शुभा॥
(विष्णु)

३. ग्रहणोद्वाहसंक्रान्तियात्रार्तिप्रसवेषु च।
श्रवणे चेतिहासस्य रात्रौ दानं प्रशस्यते॥
(सुमन्तु)

४. रविसंक्रमणे प्राप्ते न स्नायाद् यस्तु मानवः।
चिरकालिकरोगी स्याद्दरिद्रश्चैव जायते॥
([illegible])

५. अयने विषुवे चैव त्रिरात्रोपोषितो नरः।
(वृद्धवसिष्ठ)

६. अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
अहोरात्रोषितः स्नातः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(आपस्तम्ब)

१. आदित्येऽहनि संक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
[illegible] न [illegible] गृहिणा पुत्रिणा तथा॥
'पुत्रीगृहस्थानां' निषेधः। (नारद)

२. [illegible]
[illegible] ([illegible])
[illegible]
[illegible]
[illegible] ([illegible])
[illegible]

३. [illegible]
([illegible])

४. [illegible]
[illegible]
([illegible])

महीनेकी कोई भी संक्रान्ति यदि शुक्ल पक्षकी सप्तमी और रविवारको हो तो वह 'महाजया' होती है। उस दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् अक्षतोंके अष्टदलपर सुवर्णमय सूर्य-मूर्तिको अथवा पूर्वप्रतिष्ठित सूर्यप्रतिमाको स्थापित करके गौके घी और दूधसे पूर्ण स्नान कराये और पञ्चोपचार पूजन करके सोपवास जप, तप, हवन, देवपूजा, पितृतर्पण और दान करे तथा ब्राह्मण-भोजन कराये तो अश्वमेधादिके समान फल होता है और व्रत करनेवालेको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(५) धनसंक्रान्तिव्रत (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय मनुष्य अछिद्र (बिना छेदके) कलशमें जल, फल, सर्वौषधि और दक्षिणा रखकर उसको अष्टदलपर स्थापित करके उसके मध्यमें सुवर्णमय सूर्यका गन्धादिसे पूजन करे, एकभुक्त व्रत करे और इस प्रकार वर्षपर्यन्त करके उद्यापन करे तो धनसे संयुक्त रहता है।

(६) धान्यसंक्रान्तिव्रत (स्कन्दपुराण)—मेषार्क-के समय स्नान करके सूर्यका ध्यान करे और 'करिष्यामि व्रतं देव त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः। तदा विघ्नं न मे यातु तव देव प्रसादतः ॥' से संकल्प करके व्रत करे। तत्पश्चात् अष्टदलपर पूर्वमें भास्कर, अग्निकोणमें रवि, दक्षिणमें विवस्वान्, नैर्ऋत्यमें पूषा, पश्चिममें वरुण, वायव्यमें दिवाकर, उत्तरमें मार्तण्ड, ईशानमें भानु और मध्यमें विश्वात्माका नाम-मन्त्रोंसे पूजन करके व्रत करे और इस प्रकार बारह महीने करनेके बाद पूजनसामग्री और १६ सेर अन्न सत्पात्रको दे तो धान्यकी वृद्धि होती है।

(७) भोगसंक्रान्तिव्रत (स्कन्दपुराण)—संक्रान्ति-के समय सपत्नीक ब्राह्मणको बुलाकर उसको उत्तम पदार्थोंका भोजन करावे। कुङ्कुम, कज्जल, कौसुम्भ, सिन्दूर, पान, पुष्प, फल और तण्डुल देकर दोनोंको दो-दो वस्त्र और दो-दो दक्षिणा दे तो यथारुचि भोग मिलते हैं।

(८) रूपसंक्रान्तिव्रत (मत्स्यपुराण)—संक्रान्तिके समय तैलमर्दनके अनन्तर शुद्ध स्नान करके सोने, चाँदी, ताँबे या पलाशके पात्रमें घी और सोना रखकर उसमें अपने शरीरका छायावलोकन करे और ब्राह्मणको देकर व्रत रूप बढ़ता है।

(९) तेजःसंक्रान्तिव्रत (मत्स्यपुराण)—सं पुण्यकालमें सुपूजित कलशको चावलोंसे भरकर उस दीपक रक्खे और उसके समीपमें मोदक रखकर, 'म दोषप्रशमनपूर्वकतेजःप्राप्तिकामनयेदं पूर्णपात्रं गन्धपु यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे।' से ज कर सम्पूर्ण सामग्री ब्राह्मणको दे तो इससे तेज बढ़ता

(१०) आयुःसंक्रान्तिव्रत (स्कन्दपुराण)- के समय काँसीके पात्रमें यथासामर्थ्य घी, दूध औ रखकर गन्धादिसे पूजन करके 'क्षीरं च सुरभीजातं मलं घृतम्। आयुरारोग्यमैश्वर्यमतो देहि द्विजा से उसका दान करे तो तेज, आयु और आरोग्यता वृद्धि होती है।

(११) मेषादिगत सूर्यव्रत (लक्ष्मीनाराय व्रतीको चाहिये कि मेषसंक्रान्तिमें सूर्य रहे तबत रविवारको तीन बूँद 'गोबरजल' पीकर व्रत प्रकार वृषमें केवल तीन अञ्जलि जल। मिथुनमें मिर्च। कर्कमें तीन मुट्ठी गोधूमसत्तू। सिंहमें ती शृंगका धोया हुआ जल। कन्यामें तीन पल खन केवल प्राणायामकी वायुका भक्षण। वृश्चिकमें ती दल। धनमें तीन पल गोघृत। मकरमें तीन मु कुम्भमें तीन पल गौका दही और मीनमें तीन पीकर उपवास करे तो सब प्रकारके अरिष्ट, कष्ट य दूर हो जाती हैं और शरीरकी सुन्दरता तथा जाती है।

(३) अयनव्रत

(१) अयनव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—उ प्रवृत्तिके समय गौके दो सेर घृतसे विष्णुको स्नान सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुसायुज्यको प्राप्त होत

(२) अयनव्रत २ (भविष्योत्तर)—उत्तरा ब्राह्मणको दो सेर घी और सुपूजित घोड़ी दे तो प्राप्ति होती है।

(४) पक्षव्रत

(१) पक्ष—(धर्मसार)— अर्थ पृथक्-पृथक् परिम[illegible] किया

---

१. शुक्लपक्षे तु सप्तम्यां यदा संक्रमते रविः।
महाजया तदा सा वै सप्तमी भास्करप्रिया ॥
(मत्स्यपुराण)

पक्ष कहते हैं । अथवा जिसमें चन्द्रमाकी कलाएँ पूर्ण अथवा क्षीण हों उसे पक्ष कहते हैं । ऐसे दो पक्ष 'शुक्ल' और 'कृष्ण' अथवा पूर्व और पर नामसे प्रसिद्ध हैं । ये दोनों पक्ष धर्मशास्त्रके अनुसार 'देव' निमित्तके जप, ध्यान, उपासना, होम, यज्ञ, प्रतिष्ठा अथवा सौभाग्य-वृद्धिके सदनुष्ठान आदिमें और 'पितृ' निमित्तके श्राद्ध, तर्पण, हन्तकार या महालयादि कार्योंमें उपयुक्त किये जाते हैं । और ज्योतिःशास्त्रके अनुसार सब प्रकारके शुभकार्य—यथा आभ्युदयिक श्राद्ध या माङ्गलिक होत्सव और 'अशुभ' कार्य—यथा मृत मनुष्यकी अज्ञात त्युके अन्त्येष्टिकर्मादि या तन्निमित्तक तीर्थश्राद्ध अथवा यायाश्रा आदि कार्योंमें उपयुक्त किये जाते हैं ।

(२) पक्षव्रत—(मुक्तकसंग्रह)—यह व्रत शुक्ल पक्षमें प्रतिपदासे प्रारम्भ करके पूर्णिमापर्यन्त प्रतिदिन किया जाता है। उसमें प्रातःस्नानादिके अनन्तर सुवर्णमय सूर्यका पञ्चोपचार पूजन करके दोनों हाथोंकी अञ्जलिमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर 'एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते। अनुकम्पय मां देव गृहाणार्घ्यं दिवाकर ॥' से तीन बार अर्घ्य दे और मध्याह्नमें हविष्यान्नका एक बार भोजन करे ।······और कृष्ण पक्षमें प्रतिपदासे प्रारम्भ करके अमावस्यापर्यन्त प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् चाँदीके बने हुए चन्द्रमाका पञ्चोपचार पूजन करे और अञ्जलिमें यथापूर्व जल लेकर 'सोमप्रकाशकाय सूर्याय एषोऽर्घः ।' से अर्घ्य देकर—'आदित्यस्य नमस्कार ये कुर्वन्ति दिने दिने । जन्मान्तरसहस्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते ॥' से नमस्कार करे तो आयु, आरोग्य और सौभाग्यकी वृद्धि होती है और ऋण हो तो वह उतर जाता है ।

(५) वारव्रत

(१) वारव्रत—(श्रुति, स्मृति, पुराणादि)—सप्ताहमें सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, भृगु और शनि—ये सात वार यथाक्रम हैं और आजके सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतक रहते हैं । तिथ्यादिकी क्षय-वृद्धि अथवा उनके मानका न्यूनाधिक्य होता है, किन्तु वारोंमें ऐसा नहीं होता । जिनके नामसे वार प्रसिद्ध हैं उनके अधिष्ठाता सूर्यादि सात ग्रह आकाशमें प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं । उनमेंसे सूर्य निरञ्जन निराकार ज्योतिःस्वरूप परमात्माकी प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति हैं और चन्द्रादि छः ग्रहों तथा अन्य सभी तारागणोंको प्रकाशित करते हैं । इसी कारण शास्त्रकारोंने ग्रह-नक्षत्रादि सभीमें परमेश्वरका अंश होना प्रकट किया है और इस कारण उनके निमित्तसे जप, दान, प्रतिष्ठा, पूजा और व्रत आदिके विधान नियत किये हैं। अन्य देवी-देवताओंके व्रतोंकी भाँति उपलब्धिके हेतुसे तो वारोंके व्रत करते ही वर्षलग्न, मासलग्न, उनकी दशा-विदशा, गोचराष्टक वर्गादिमें कोई ग्रह अनिष्टकारी शान्तिके लिये भी व्रत किये जाते हैं । इसी वारोंके व्रत लिखे गये हैं ।········धर्मशास्त्रोंने ग्रहोंमें ईश्वरका अंश निर्धारित किया है उसी प्रकार भी ईश्वरका अंश सूचित किया है । इस कारण व्रता देवपूजामें सुवर्णकी मूर्ति स्थापित की जाती है । रस-शास्त्रमें चाँदीको सुवर्णके रूपमें परिणत करनेके विधान हैं और ताँबा सुवर्णका सहयोगी है इस कारण सोनेके अभावमें चाँदी और चाँदीके अभावमें ताँबा काममें आता है । जो कुछ हो, सबमें ईश्वरका अंश तो विद्यमान है ।

(२) रविवारव्रत (व्रतरत्नाकर)— वारोंके व्रतका आरम्भ विशेषकर वैशाख, मार्गशीर्ष और माघमें होता है । अतः मार्ग शुक्लके पहले रविवारको प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर 'मम जन्म-वर्ष-मास-दिन-होरा-अष्टकवर्ग-दशा-विदशा-सूक्ष्म-दशादिषु येऽनिष्टफलकारकास्तज्जनितजनिष्यमाणाखिलारिष्टाद्यनिष्टशान्तिप्रशमनपूर्वकदीर्घायुर्बलपुष्टिनैरुज्यादिसकलशुभफलप्राप्त्यर्थं श्रीसूर्यनारायणप्रीतिकामनयाद्यारभ्य यावद्वर्षपर्यन्तं रविवारे रविवारव्रतं करिष्ये ।'—यह संकल्प करके सुवर्णनिर्मित सूर्यमूर्तिका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और मध्याह्नमें अलवण पदार्थोंका एकभुक्त भोजन करे । इस प्रकार वर्षपर्यन्त करके उद्यापन करे तो दाद, कोढ़, नेत्रपीड़ा और दीर्घरोग दूर होते हैं और आरोग्यता बढ़ती है ।

(३) रविवारव्रत २ (भविष्यपुराण)—चैत्र या मार्गशीर्षके शुक्ल पक्षमें पहले रविवारको गोबरसे चौका लगाकर उसपर चन्दनसे द्वादशदल पद्म लिखे । उसके मध्यमें सूर्यकी मूर्ति स्थापित करके षोडशोपचार पूजन करे । विशेषता यह है कि चैत्रके व्रतमें 'भानु' नामकी पूजा, घी और पूरीका नैवेद्य, दाडिमका अर्घ्य, मिठाईका दान और तीन पल (तीन छटाक) दूधका प्राशन (भोजन) । वैशाखमें तपनका पूजन, उड़द और घीका नैवेद्य, दाखका अर्घ्य, उड़दका दान और गोबरका प्राशन । ज्येष्ठमें 'इन्द्र' (सूर्य) का पूजन, दही और सत्तूका नैवेद्य, आम्रफलका अर्घ्य, चावलोंका दान और दध्योदनका भोजन । आषाढ़में 'सूर्य' का पूजन, जायफलका नैवेद्य, चिउड़ाका अर्घ्य, भोजनका दान और तीन काली मिर्चोंका प्राशन । श्रावणमें 'गभस्ति' का

महीनेकी कोई भी संक्रान्ति यदि शुक्ल पक्षकी सप्तमी और रविवारको हो तो वह 'महाजया' होती है। उस दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् अक्षतोंके अष्टदलपर सुवर्णमय सूर्य-मूर्तिको अथवा पूर्वप्रतिष्ठित सूर्यप्रतिमाको स्थापित करके गौके घी और दूधसे पूर्ण स्नान कराये और पञ्चोपचार पूजन करके सोपवास जप, तप, हवन, देवपूजा, पितृतर्पण और दान करे तथा ब्राह्मण-भोजन कराये तो अश्वमेधादिके समान फल होता है और व्रत करनेवालेको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(५) धनसंक्रान्तिव्रत (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय मनुष्य अछिद्र (बिना छेदके) कलशमें जल, फल, सर्वौषधि और दक्षिणा रखकर उसको अष्टदलपर स्थापित करके उसके मध्यमें सुवर्णमय सूर्यका गन्धादिसे पूजन करे, एकभुक्त व्रत करे और इस प्रकार वर्षपर्यन्त करके उद्यापन करे तो धनसे संयुक्त रहता है।

(६) धान्यसंक्रान्तिव्रत (स्कन्दपुराण)—मेषार्कके समय स्नान करके सूर्यका ध्यान करे और 'करिष्यामि व्रतं देव त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः। तदा विघ्नं न मे यातु तव देव प्रसादतः ॥' से संकल्प करके व्रत करे। तत्पश्चात् अष्टदलपर पूर्वमें भास्कर, अग्निकोणमें रवि, दक्षिणमें विवस्वान्, नैर्ऋत्यमें पूषा, पश्चिममें वरुण, वायव्यमें दिवाकर, उत्तरमें मार्तण्ड, ईशानमें भानु और मध्यमें विश्वात्माका नाम-मन्त्रोंसे पूजन करके व्रत करे और इस प्रकार बारह महीने करनेके बाद पूजनसामग्री और १६ सेर अन्न सत्पात्रको दे तो धान्यकी वृद्धि होती है।

(७) भोगसंक्रान्तिव्रत (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय सपत्नीक ब्राह्मणको बुलाकर उसको उत्तम पदार्थोंका भोजन कराये। कुङ्कुम, कज्जल, कौसुम्भ, सिन्दूर, पान, पुष्प, फल और तण्डुल देकर दोनोंको [illegible] वस्त्र दो-दो दक्षिणा दे तो यथारुचि [illegible]

(८) रूपसंक्रान्ति[illegible]
समय तैलमर्दनके अनन्तर
ताँबे या पलाशके पात्रमें

१. [illegible]
[illegible]

शरीरका छायावलोकन करे और ब्राह्मणको देकर व्रत करे तो रूप बढ़ता है।

(९) तेजःसंक्रान्तिव्रत (मत्स्यपुराण)—संक्रान्तिके पुण्यकालमें सुपूजित कलशको चावलोंसे भरकर उसपर घीका दीपक रक्खे और उसके समीपमें मोदक रखकर, 'ममाखिल-दोषप्रशमनपूर्वकतेजःप्राप्तिकामनयेदं पूर्णपात्रं गन्धपुष्पाद्यर्चितं यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे।' से जल छोड़कर सम्पूर्ण सामग्री ब्राह्मणको दे तो इससे तेज बढ़ता है।

(१०) आयुःसंक्रान्तिव्रत (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय काँसीके पात्रमें यथासामर्थ्य घी, दूध और [illegible] रखकर गन्धादिसे पूजन करके 'क्षीरं च सुरभीजातं [illegible] मलं घृतम्। आयुरारोग्यमैश्वर्यमतो देहि दिवाकर' से उसका दान करे तो तेज, आयु और आरोग्यता[illegible] वृद्धि होती है।

(११) मेषादिगत सूर्यव्रत (लक्ष्मीनारा[illegible] व्रतीको चाहिये कि मेषसंक्रान्तिमें सूर्य रहे त[illegible] रविवारको तीन बूँद 'गोबरजल' पीकर [illegible] प्रकार वृषमें केवल तीन अञ्जलि जल। मि[illegible] मिर्च। कर्कमें तीन मुट्ठी गोधूमसत्तू। [illegible] शृंगका धोया हुआ जल। कन्यामें तीन [illegible] केवल प्राणायामकी वायुका भक्षण। [illegible] दल। धनमें तीन पल गोघृत। मकरमें कुम्भमें तीन पल गौका दही और मी[illegible] पीकर उपवास करे तो सब प्रकारके [illegible] दूर हो जाती हैं और शरीरकी शु[illegible] जाती है।

(३) अय[illegible]

(१) अयनव्रत ([illegible]
[illegible] समय गौके दो सेर [illegible]
पापोंसे मुक्त होकर विष्[illegible]

(२) अयनव्रत २ ([illegible]
[illegible] दो सेर घी और [illegible]
[illegible] होती है।

आश्विनके शुक्ल रविवारसे माघकी शुक्ल सप्तमीतक ा जाता है। विधि यह है कि प्रातःस्नानादिके पश्चात् ाय: सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन- ्रविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मय- धृतशङ्खचक्रः॥' से सूर्यका ध्यान करके सुवर्णकी सूर्यमूर्ति- पद्मासनपर विराजमानकर 'जगन्नाथाय आवाहनम्, पद्मा- ाय आसनम्, ग्रहपतये पाद्यम्, त्रैलोक्यतमोहर्त्रे अर्घ्यम्, ाय आचमनीयम्, विश्वतेजसे पञ्चामृतम्, सवित्रे स्नानम्, ात्पतये वस्त्रम्, त्रिमूर्तये यज्ञोपवीतम्, हरये गन्धम्, सूर्याय क्षतानि, भास्कराय पुष्पाणि, अहर्पतये धूपम्, अज्ञाननाशिने पम्, लोकेशाय नैवेद्यम्, रवये ताम्बूलम्, भानवे दक्षिणाम्, ्णे फलम्, खगाय नीराजनम्, भास्कराय पुष्पाञ्जलिम् और र्वात्मने नमः प्रदक्षिणा समर्पयामि। ('नमः' और 'समर्पयामि' ा सब नामोंके साथ उच्चारण करना चाहिये।) इस प्रकार पूजन रके 'दिवाकर नमस्तुभ्यं पापं नाशय भास्कर। त्रयीमयाय स्वात्मन् गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥' से अर्घ्य दे। फिर प्रथम र्षमें ५ प्रस्थ (१० सेर) चावल, दूसरेमें ५ प्रस्थ गेहूँ, ीसरेमें ५ प्रस्थ चने, चौथेमें ५ प्रस्थ तिल और पाँचवेंमें ५ प्रस्थ उड़दोंका दान करे और १२ ब्राह्मणोंको भोजन ्करावे तो इस व्रतके प्रभावसे समृद्धि-वृद्धि और स्त्री-पुत्रादिका ुख मिलता है।

(७) वैदिक रविवारव्रत (हेमाद्रि)—रविवारके दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् 'तिथिर्विष्णुस्तथा वारं नक्षत्रं विष्णुरेव च। योगश्च करणं विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥' से पञ्चाङ्गरूप विष्णुका स्मरण करके सूर्यके सम्मुख नतमस्तक हो और अञ्जलि बाँधकर नीचे लिखे मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ साष्टाङ्ग (सम्पूर्ण शरीरको पृथ्वीपर फैलाकर) नमस्कार करे। यथा ॐ ह्रां हंसः शुचिषदिति [illegible] नमः। ॐ ह्रीं वसुरन्तरिक्षसद् रवये नमः। ॐ ह्रूं होता वेदिषद् सूर्याय नमः। ॐ ह्रैं अतिथिर्दुरोणसद् भानवे नमः। ॐ ह्रौं नृषद् खगाय नमः। ॐ ह्रः वरसद् पूष्णे नमः। ॐ ह्रां ऋतसद् हिरण्यगर्भाय नमः। ॐ ह्रीं व्योमसद् मरीचये नमः। ॐ ह्रूं अब्जा गोजा आदित्याय नमः। ॐ ह्रैं ऋतजा अद्रिजाः सवित्रे नमः। ॐ ह्रौं ऋतम्बृहत् अर्काय नमः। और ॐ ह्रः [illegible] भास्कराय नमः। इस प्रकार जितनी आवृत्ति की जा सके करे और फिर १ [illegible], २ [illegible] ह्रीं ह्रीं स.। ३ [illegible] नमः और ४ ह्रीं ह्रीं स. सूर्याय [illegible]। इन चार मन्त्रोंसे [illegible]

यथासामर्थ्य जप करके नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे। इस प्रकार एक वर्ष करके समाप्तिके दिन सूर्योपासक वेदपाठी ब्राह्मणोंको भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रतका विसर्जन करे।

(८) हृदयरविवारव्रत (भविष्योत्तर)—यदि सूर्य-संक्रान्तिके दिन रविवार हो तो वह 'हृदय' योग होता है। ऐसे योगमें सूर्यभगवान्का भक्तिपूर्वक पूजन और व्रत करके सूर्यके सम्मुख खड़ा होकर आदित्यहृदयके १०८ पाठ करे तो सम्पूर्ण काम सिद्ध होते हैं।

(९) सोमवारव्रत (स्कन्दपुराण)—यह व्रत चैत्र, वैशाख, श्रावण, कार्तिक और मार्गशीर्षमें किया जाता है। विशेषकर श्रावणके व्रतका अधिक प्रचार है। व्रतीको चाहिये कि सोमवारके दिन प्रातःस्नान करके 'मम क्षेमस्थैर्य-विजयारोग्यैश्वर्याभिवृद्ध्यर्थं सोमव्रतं करिष्ये।' यह—संकल्प करके 'ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं रत्ना-कल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्। पद्मासीनं समन्तात्स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥' से ध्यान करे। फिर 'ॐ नमः शिवाय' से शिवजीका और 'ॐ नमः शिवायै' से पार्वतीजीका षोडशोपचार पूजन करके शमीके किसी पुष्पोद्यानमें जाकर एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार १४ वर्षतक व्रत करके फिर उद्यापन करे तो इससे पुरुषोंको स्त्री-पुत्रादिका और स्त्रियोंको पति पुत्रादिका अखण्ड सुख मिलता है।……प्राचीन कालमें [illegible] पुत्री [illegible] पति (नलपुत्र) [illegible] जानेसे जलमें डूबकर नागलोकमें चला गया था। वह इसी व्रतके प्रभावसे वापस आकर [illegible] हुआ और बहुत वर्षोंतक [illegible] स्वर्गमें गया।

(१०) [illegible] सोमवारव्रत—(स्कन्दपुराण)—जिस दिन [illegible], उस दिन [illegible] करके, [illegible] करे। और [illegible] पूजन करे। [illegible] करे। फिर 'ॐ नमो [illegible]' [illegible]।—इन मन्त्रोंसे पूजन कर और [illegible] हवन करे। इसके करनेसे सम्पूर्ण [illegible] सिद्ध होते हैं। [illegible]

सत्कार्योंसे जो फल मिलता है वही इस सोमवारके व्रतसे मिलता है। इसके विषयमें मार्गशीर्षके व्रतका फल ऊपर लिखे अनुसार जानना चाहिये। आगे पौषमें अग्निष्टोम यज्ञके समान, माघमें गोदुग्ध और इक्षुरससे स्नान करके ब्रह्महत्यादिसे निवृत्त होनेके समान, फाल्गुनमें सूर्यादिके ग्रहणोंमें गोदान करनेके समान, चैत्रमें गङ्गाजलसे सोमनाथको स्नान करानेके समान, वैशाखमें अपूपादिसे पूजन कर कन्यादान करनेके समान, ज्येष्ठमें पुष्करस्नान करके गोदान करनेके समान, आषाढमें बृहत् यज्ञोंके समान, श्रावणमें अश्वमेधके समान, भाद्रपदमें सवत्स गोदान करनेके समान, आश्विनमें सूर्योपरागके समय कुरुक्षेत्रमें रसधेनु और गुड़धेनु देनेके समान और कार्तिकमें चारों वेदोंके पढ़े हुए चार पण्डितोंको चार-चार घोड़े जुते हुए रथ देनेके समान फल होता है। भाव यह है कि किसी भी महीनेमें सोमवारका व्रत किया जाय तो वह निष्फल नहीं होता।

(११) श्रावणमासीय सोमवारव्रत (शिवरहस्य)—श्रावण मासके सोमवारोंमें केदारनाथ जाकर उनका अनेक प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादि उपचारोंसे पूजन करे और शक्ति हो तो निराहार उपवास करे। शक्ति न हो तो नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे। इससे शिवजी प्रसन्न होते हैं और शिवसायुज्य प्रदान करते हैं।

(१२) भौमवारव्रत (वीरमित्रोदय)—भौमवारके दिन स्वातिनक्षत्र हो तो उस दिन प्रातःस्नानादि करके भौमकी मूर्तिका लाल पुष्पोंसे पूजन करे, लाल वस्त्रसे आच्छादित करे, गुड़, घी और गेहूँका नैवेद्य भोग लगावे। नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे और भूशयन करे। इस प्रकार छः [illegible] करके [illegible] भौमकी सुवर्णकी मूर्तिका पूजन करे। दो [illegible] वस्त्रोंसे आच्छादित करे। [illegible] करे। धूप, पुष्प, [illegible] और दीपक दे। और [illegible] लगावे। घी, [illegible] करे। [illegible] और [illegible] [illegible] उसको दे तो [illegible] होते हैं।

[illegible]

(१३) [illegible]

रहे और वर्षकी समाप्तिमें यथाविधि गोदान करे तो [illegible] सुखकी प्राप्ति होती है।

(१४) भौमव्रत २ (पद्मपुराण)—मङ्गलवारके दिन प्रातःस्नानादि करके ताँबेके त्रिकोण पत्रमें केसर, कस्तूरी या लालचन्दनसे मध्यमें भौमाकृतिका प्रतिबिम्ब बनाकर तीनों कोणोंमें आर, वक्र और भूमिज—ये तीनों नाम लिखे। फिर उनका लाल वर्णके गन्ध, पुष्प और लाल [illegible] आदिसे पूजन करे। रक्तधान्य (गेहूँ आदि) के बने [illegible] पदार्थोंका नैवेद्य अर्पण करे और 'प्रसीद देवदेवेश [illegible] हर्तर्धनप्रद। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं मम शान्ति प्रयच्छ [illegible]' से अर्घ्य देकर व्रत करे। और 'मङ्गलो भूमिपुत्रश्च ऋणहर्ता धनप्रदः। स्थिरासनो महाकायः सर्वकर्मविरोधकः॥ लोहितो लोहिताक्षश्च सामगानां कृपाकरः। धरात्मजः कुजो भौमो भूमिजो भूमिनन्दनः॥ अङ्गारको यमश्चैव सर्वरोगापहारकः। वृष्टिकर्ताऽपहर्ता च सर्वकामफलप्रदः॥'—इन २१ नामोंका पाठ करे तो सब प्रकारके ऋणसे उऋण होकर धनवान् होता है।

(१५) भौमव्रत ३ (पद्मपुराण)—मङ्गलवारके दिन लाल अक्षतोंके अष्टदलपर सुवर्णमय भौमकी मूर्ति स्थापित करके लाल रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और 'भूमिपुत्र महातेजाः कुमारो रक्तवस्त्रकः। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं शान्ति प्रयच्छ मे॥' से अर्घ्य दे। और पूजाके बाद घार बत्तियोंका दीपक जलावे। ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उनको यथाशक्ति सुवर्णका दान करे। और स्वयं [illegible] पदार्थका भोजन करके एकभुक्त व्रत करे। और [illegible] लाल धेनुका दान करे। इस प्रकार [illegible] व्रत [illegible] उद्यापन करनेसे सब प्रकारकी कामनाएँ सफल होकर [illegible] मिलता है और [illegible] [illegible] [illegible] है। ([illegible]) [illegible] करते हैं।)

(१६) [illegible]

सर्वदा नृणाम् । तत्तावरोधं कुरुते सोमपुत्र नमो नमः ॥' से बुधकी प्रार्थना करे । इस प्रकार सात व्रत करनेसे बुध-जनित सम्पूर्ण दोष दूर होकर सुख-शान्ति मिलती है और बुद्धि बढ़ती है ।

(१७) गुरुव्रत (भविष्यपुराण)–किसी महीनेके शुक्ल पक्षमें जिस दिन अनुराधा और गुरुवार हो उस दिन बृहस्पतिकी सुवर्णनिर्मित मूर्तिको सोनेके पात्रमें स्थापित करके पीतवर्णके गन्ध-पुष्प, पीताम्बर और अक्षतादिसे पूजन करे । छत्र, उपानद्, पादुका और कमण्डलु अर्पण करे । और पीतरंगके फल पुष्प और यज्ञोपवीत ग्रहण करके 'धर्मशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ ज्ञानविज्ञानपारग । विविधार्तिहराचिन्त्य देवाचार्य नमोऽस्तु ते ॥' से प्रार्थना करके ब्राह्मणोंको पीली गौके घीमें बनाये हुए पीतधान्य (चने) के पदार्थोंका भोजन करावे, सुवर्णकी दक्षिणा दे और फिर स्वयं भोजन करे । इस प्रकार सात व्रत करनेसे गुरुग्रहसे उत्पन्न होनेवाला अनिष्ट नष्ट होकर स्थायी सुख मिलता है ।

(१८) शुक्रवारव्रत (भविष्योत्तरपुराण)–शुक्रवार और ज्येष्ठा नक्षत्रके योगमें सुवर्णनिर्मित शुक्रमूर्तिको चाँदी या काँसीके पात्रमें स्थापित करके शुक्लवेत गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे । दो सफेद वस्त्र धारण करावे और 'भार्गवो भृगुशिष्यो वा श्रुतिस्मृतिविशारदः । हत्वा महत्कृतान् दोषानायुरारोग्यदो भव ॥' से प्रार्थना करके नक्तव्रत (रात्रि-भोजन) करे । इस प्रकार सात शुक्रवारोंका व्रत करके शुक्रके नाममन्त्रसे हवन करे । ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराकर मूर्तिसहित पूजन-सामग्रीका दान करे और नक्तव्रत करके उसे समाप्त करे तो शुक्रजनित सम्पूर्ण व्याधियाँ शान्त होकर सब प्रकारका सुख मिलता है ।

(१९) अनिष्टहर शनिव्रत (भविष्योत्तरपुराण)–शनिवारको लोहमयी शनिमूर्तिका कृष्ण वर्णके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके व्रत करे तो चतुर्थाष्टमद्वादशस्थशनिजनित सकलारिष्टोंकी निवृत्ति और सुख-सम्पत्ति आदिकी प्रवृत्ति होती है ।

(२०) सराहुकेतुशनिवारव्रत (मत्स्यपुराण, भविष्य-पुराण)–इस व्रतके लिये लोह और सीसेकी शनि, राहु और केतुकी तीन मूर्तियाँ बनवावे । उनमें कृष्ण वर्ण, कृष्ण वस्त्र, दो भुजाओंमें दण्ड और अक्षमाला, कृष्ण वर्णके आठ घोड़ोंवाले शीशेके रथमें बैठे हुए शनि, करालवदन, खड्ग, चर्म और शूलसे युक्त, नीले सिंहासनमें विराजमान, वरप्रद राहु और धूम्रवर्ण, भुजदण्डोंमें गदादि आयुध, गृध्रासनपर विराजे हुए विकटानन और वरप्रद 'केतु' की मूर्ति हो । ऐसी न हो तो गोलाकार बनवावे । फिर उनको कृष्ण वर्णके अक्षतोंसे बनाये हुए चौबीस दलके कमलपर मध्यमें शनि, दक्षिण भागमें राहु और वाम भागमें केतुको स्थापित करे और कृष्ण वर्णके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे । रक्त चन्दनमें केशर मिलाकर 'कृष्ण गन्ध', अक्षतोंमें कज्जल मिलाकर 'कृष्ण अक्षत', काकमाची (कागलहर) के 'कृष्ण पुष्प', कस्तूरी आदिका 'कृष्णरंग धूप' और तिलविशिष्ट पदार्थोंका 'कृष्ण नैवेद्य' सम्पन्न करके अर्पण करे और 'शनैश्चर नमस्तुभ्यं नमस्ते त्वथ राहवे ।' तथा–'केतवेऽथ नमस्तुभ्यं सर्वशान्तिप्रदो भव ॥' से प्रार्थना करके व्रत करे । इस प्रकार सात शनिवारोंका व्रत करके शनिके निमित्त 'शन्नोदेवी०' मन्त्रसे शमीकी समिधाओंमें राहुके निमित्त 'कयानश्चित्र०' मन्त्रसे दूर्वाकी समिधाओंमे और केतुके निमित्त 'केतुकृण्वन्न०' मन्त्रसे कुशकी समिधाओंमें कृष्ण गौके घी और काले तिलोंकी प्रत्येककी १०८ आहुति देकर हवन करे । और यथा-शक्ति ब्राह्मणभोजन कराकर व्रतका विसर्जन करे तो सब प्रकारके अरिष्ट, कष्ट या आधि-व्याधियोंका सर्वथा नाश होता है और अनेक प्रकारके सुखसाधन एवं पुत्र-पौत्रादिका सुख प्राप्त होता है ।

---

१. शनैश्चरं राहुकेतू लोहपात्रे व्यवस्थितान् ।
कृष्णागुरुः स्मृतो धूपो दक्षिणा चात्मशक्तितः ॥
(भविष्योत्तर)

'कृष्णायसेन घटितां सहराजमूर्तिम् ।'

२. कृष्णवासास्तथा कृष्णः शनिः कार्यः शिरानतः ।
दण्डाक्षमालासंयुक्तः करद्वितयभूषणः ।
कार्ष्णायसे रथे कार्यस्तथैवाष्टतुरंगमे ॥ (भविष्योत्तर)

३. करालवदनः खड्गचर्मशूली वरप्रदः ।
नीलसिंहासनयुतो राहुरत्र प्रशस्यते ॥
(मत्स्यपुराण)

४. धूम्राद्विबाहवः सर्वे गदिनो विकृताननाः ।
गृध्रासनगता नित्यं केतवः स्युर्वरप्रदाः ॥
(मत्स्यपुराण)

दूषित होते हैं। पुराणोंमें इनकी उत्पत्ति सूर्य और चन्द्रमाके क्रोधावेशसे प्रकट की गयी है।......लिखा है कि एक बार सूर्यनारायणने चन्द्रमाको गुरुपत्नी (तारा) के त्यागकी आज्ञा दी, उसको शशिने स्वीकार नहीं किया, इस कारण दोनोंके परस्पर क्रोध बढ़ गया और उनके सन्तप्त अश्रु पृथ्वीपर गिर गये। उनसे व्यतीपात उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि क्रोधावेशसे उत्पन्न होनेके कारण विवाहादि शुभकामोंमें इसका त्याग किया गया है और लोकोपकार एवं आत्मोद्धारके दान-पुण्य और व्रतादिमें इसका ग्रहण किया गया है।......व्रतीको चाहिये कि किसी शुभ दिनके व्यतीपातको प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर 'मम करिष्यमाणोपवासजनितानन्तफलप्राप्तिकामनया मत्पितृप्रीतये व्यतीपातव्रतं करिष्ये।'—यह सङ्कल्प करके सुवर्णके सूर्य और चन्द्रमाको शक्करसे भरे हुए वस्त्रके शीर्षस्थानीय पूर्ण पात्रमें स्थापित करे और आवाहनादि उपचारोंसे पूजन करके उपवास करे। दूसरे दिन पारण करके प्रथमावृत्ति समाप्त करे। इस प्रकार बारह महीनेतक प्रत्येक व्यतीपातका व्रत करके तेरहवीं आवृत्तिके दिन उद्यापन करे। उसमें सर्वतोभद्र-मण्डलपर सुवर्णमय विष्णुका पूजन, तिलादिका हवन; गौ, शय्या, सुवर्ण, अन्न, धन, आभूषण और यथोचित वस्त्र आदिका दान करके खीर आदि पदार्थोंसे ब्राह्मणोंको भोजन कराकर और यथासामर्थ्य दक्षिणा देकर व्रतको समाप्त करे और बन्धुवर्गादिको साथ लेकर भोजन करे तो गङ्गादि तीर्थों, कुरुक्षेत्रादि सुक्षेत्रों और अयोध्या आदि पुरियोंमें ग्रहण, संक्रान्ति, मलमास और पञ्चाङ्गजनित सुयोगोंके समय दान, जप और व्रतादि करनेसे जो फल होता है उससे अनेक गुना अधिक फल व्यतीपातके व्रतादिसे होता है।......इसकी कथाका सार यह है कि प्राचीन कालमें दुर्यश राजाने बहुत दिनोंतक उक्त व्रत किया था। एक बार उसने शिकारके प्रयोजनसे गहन वनमें जाकर जले हुए अंगवाले एक शूकरसे पूछा कि 'तुम्हारी यह दशा कैसे हुई?' तब उसने कहा कि पूर्व जन्ममें मैं पुराणादि धर्मशास्त्रोंको सुननेवाला महाधनी वैश्य था। परन्तु किसीको कुछ देता न था। ऐसी अवस्थामें एक आशार्थी ब्राह्मणने मुझसे याचना की तो मैंने उसे कुछ भी नहीं दिया, तब उसने कहा कि तुमने मेरी आशाओंको जलाया है, इस कारण आगे तुम्हारे भी ये अंग जल जायँगे। इसी कारण मेरी यह दशा हुई है। अब यदि आप अपने किये हुए व्यतीपातके व्रतोंका फल मुझे दे दें तो मैं अपनी पूर्व अवस्थाको प्राप्त हो सकता हूँ। तब राजाने वैसा ही किया और शूकर यथापूर्व होकर सुख भोगने लगा।

(२६) करणव्रत (हेमाद्रि)—माघ शुक्लमें बव करण हो, उस दिन उपवास करके ताँबेके पात्रमें तण्डुल भरकर उसपर कलश स्थापन करे और उसके पूर्णपात्रमें सुवर्णकी बनी हुई अच्युत भगवान्‌की मूर्ति रखकर उसका गन्धादि उपचारोंसे पूजन करके अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय) मन्त्रका जप करे। इस प्रकार छः बार करके सातवेंमें उद्यापन करे। उसमें सात ब्राह्मणोंको भोजन कराके दक्षिणा दे। और इसी प्रकार बालव आदि शेष करणोंके व्रत भी करे तो यथासम फल होता है।

(२७) भद्राव्रत (भविष्योत्तर)—बवादि करणोंमें ग्यारहवाँ करण भद्रा है। इसमें प्रायः सभी प्रकारके मङ्गल और महोत्सवादि न तो आरम्भ होते हैं और न समाप्त। यदि प्रमादवश किये जायँ तो उनमें बड़े विघ्न होते हैं और वे दुःखदायी बन जाते हैं। पुराणोंमें भद्राको मार्तण्ड (सूर्य) की पुत्री और शनिकी बहिन नियत की है और सब प्रकारके माङ्गलिक या अभ्युदयकारी कामोंमें इसकी उपस्थिति निषिद्ध बतलायी है। विशेषता यह है कि इसके निमित्तसे जो कुछ व्रत-दान या जपादि किये जायँ उनका उत्तम फल होता है।......व्रतीको चाहिये कि जिस दिन उदयकी भद्रा हो उस दिन नदी, तालाब या गृहमध्यमें सर्वौषधिके जलसे स्नान करके देवताओंका पूजन और पितरोंका श्राद्ध (मातृका-पूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध) करे। तत्पश्चात् भीगी हुई कुशा (डाभ) की त्रिकोण (या तीन ग्रन्थि) युक्त भद्रा बनाकर उसको अक्षतोंके अष्टदलपर विराजमान कर ऋतु-कालके गन्ध, पुष्प, फल, धूप, दीप और तिलयुक्त खीरके नैवेद्य आदिसे पूजन करके 'छायासूर्यसुते देवि विष्टे इष्टार्थनाशिनि। पूजितासि मया शक्त्या भद्रे भद्रप्रदा भव॥' से प्रार्थना करे। फिर घी, तिल और शर्करासे 'ॐ भद्रं कर्णेभिः' या 'ॐ भद्राय नमः'—इन मन्त्रोंकी १०८ आहुति देकर ब्राह्मणोंको तिल और खीरका भोजन कराकर दक्षिणा दे और स्वयं तेल और खिचड़ीका एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार सात या दस बार क्रमशः करके उद्यापन करे तो व्रतीको भूत प्रेत पिशाचादिसे कोई भय नहीं हो और न अन्य प्रकारकी रोग-पीड़ा या भय चिन्ता आदिकी बाधा हो।

(२८) विघ्नव्रत (भविष्योत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीको प्रातःस्नानादिके अनन्तर 'भद्रे भद्राय भद्र हि

करिष्ये व्रतमेव ते । निर्विघ्नं कुरु मे देवि कार्यसिद्धिं च भावय ॥' —यह संकल्प करके विद्वान् ब्राह्मणका पूजन करे । साथ ही लोह, पाषाण या काष्ठकी मुद्रा बनवाकर उसे अष्टदलके आसनपर प्रतिष्ठित करे और पूर्वोक्त प्रकारसे पूजन, हवन, ब्राह्मणभोजन और दान आदि करके व्रत करे । इस प्रकार वर्षपर्यन्त करनेके पश्चात् उद्यापन करके विसर्जन करे । उस अवसरमें 'अज्ञानादथ वा दर्पात्त्वामुल्लङ्घ्य कृतं हि यत् । तत्क्षमस्वाशुभं मातर्दीनस्य शरणार्थिनः ॥' से प्रार्थना करके ब्राह्मणके किये हुए अभिषेकसे अभिषिक्त हो तो सब प्रकारकी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और उत्तम प्रकारके सुख और उनके साधन उपस्थित रहते हैं । इस व्रतको वृत्रासुरके मारनेके लिये इन्द्रने, त्रिपुरासुरको मारनेके लिये शिवने, विमानके लिये वरुणने और पाञ्चजन्य (शंख) के लिये विष्णुने किया था । इससे उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हुए थे ।

(७) प्रकीर्णव्रत

(२९) **मौनव्रत** (शिवधर्म)-इसके निमित्त चन्दनकी शिवमूर्ति (अण्डाकार शिवलिङ्ग) बनवावे । उसका गोमय, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत और गोलोचन नामकी औषधके जलसे प्रोक्षण करे । फिर शिवमन्दिरके शान्तिकारी एकान्तस्थानमें शुभासनपर बैठकर सुगन्धयुक्त गन्ध, पुष्प, गोरोचन, धूप, दीप, नैवेद्य और नीराजनादिसे पूजन करके हाथ, पैर और मस्तकको भूमिमें लगाकर प्रणाम करे । यदि सामर्थ्य हो तो मन्दिरके मध्य भागमें शिवजीके आगे सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, काँसी और लोह—इनमेंसे किसी भी धातुका या सबके यथोचित योगका 'विजयघंट' बनवाकर लगावे । तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको घी, सत्तू और मण्डक (रोटीविशेष) का भोजन करवाकर दक्षिणा दे और चन्दनकी उक्त मूर्तिको ताम्रपात्रमें स्थापित कर मस्तकपर धारण करके घर आवे और वहाँ उसको मध्यस्थ देवके दक्षिण भागमें प्रतिष्ठित करके गन्ध-पुष्पादिसे पुनः पूजन करे । इसके बाद काममोधादिका त्याग करके स्थिरासनसे उपविष्ट होकर (भलीभाँति बैठकर) 'मौनव्रत' धारण करे । उस अवस्थामें किसी प्रकारके दन्तघर्षण या [illegible] ([illegible] और बातचीतको सुनकर) हूँ हाँ, हुं-हुं आदि [illegible] शब्दोंका उच्चारण भी न होने दे । ऐसा ही [illegible] निषेधके) आँखोंसे [illegible] भी न [illegible] (या देखना नहीं) मानो नेत्रोंसे कोई भी दृश्य देखना नहीं (या सुनना नहीं) । और कानोंसे कोई शब्द सुनना नहीं

'''इस प्रकार बारह, छः, तीन या एक महीने [illegible] इससे भी कम पंद्रह, बारह, छः, तीन या एक दिन [illegible] सामर्थ्य और अवकाश हो, वैसा ही व्रत करे तो सब प्रकार [illegible] अभिलषित अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाते हैं और [illegible] बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों परिस्थितियाँ [illegible] जाती हैं । ऋषि-मुनियोंने इसी मौनव्रतके प्रभावसे [illegible] रचनाके द्वारा संसारका महान् उपकार किया था और [illegible] तपोधनका अमित सञ्चय करके स्वर्गमें गये थे ।

(३०) **शत्रुनाशकव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—[illegible] दिन भरणी या कृत्तिका हो, उस दिन श्वेत रंगके गन्ध[illegible] गन्ध-पुष्पादिसे वासुदेवका पूजन करके सर्षपका हवन [illegible] और ब्राह्मणोंको भोजन, वस्त्र और आयुध देकर [illegible] तो मनुष्य विजयी होता है ।

(३१) **लक्षपूजाव्रत** (ब्रह्माण्डपुराण)—[illegible] महीनेकी कृष्ण चतुर्दशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् [illegible] आरम्भमें पुनः स्नान करके यथोचित गुणोंसे युक्त [illegible] वर्जित दोषोंसे विमुक्त विद्वान्का वरण कर स्त्री और [illegible] सहित पूजाका आरम्भ करे । उसके लिये मालती, [illegible] चमेली, टेसू (पलास-कुसुम), पाटल (गुलाब) [illegible] कदम्ब आदिके जितने पुष्प मिल सकें लाकर [illegible] स्थानमें रख दे । और विविध प्रकारके अन्न और [illegible] अक्षत (चावल) लेकर साम्ब शिवका विधिवत् पूजन [illegible] और 'ॐ नमः शिवाय' के उच्चारणके साथ एक-एक पु[illegible] उनके अर्पण करे । उनमें दस-दस हजारकी दस आवृत्ति[illegible] करके प्रत्येक आवृत्तिके पश्चात् स्वर्णपुष्प अर्पण करे । इस प्रकार एक ही दिनमें या दो दिनमें अथवा तीन दिनमें या जिस प्रकार पुष्प प्राप्त हों, उतने दिन[illegible] लक्ष पुष्प अर्पण करके समाप्तिमें सुवर्णका १ विल्वपत्र''' शिवके और गोनेका एक पुष्प शिवाके अर्पण करे । इसके पीछे 'विरूपाक्ष महेशान [illegible] महेश्वर । मया कृता [illegible] गृहीत्वा वरदो भव ॥' से प्रार्थना करके '[illegible] देवदेवाय शम्भवे । [illegible] महादेवाय ते नमः ॥'

१. [illegible] ॥ ([illegible])

२. [illegible] ॥ ([illegible])

से नमस्कार करे। इसके करनेसे गोहत्या, ब्रह्महत्या, गुरुस्त्रीगमन, मद्यपान और परधनका अपहरण आदि पापोंका नाश होता है और मनुष्य सब प्रकारसे सुखी रहता है। इसके उद्यापनमें यह विशेषता है कि हवनमें विष्णुसहस्रनामसे आहुति दे और दशांश हवन करके पूजनको समाप्त करे।

(३२) लक्षतुलसीदलार्पणव्रत (भविष्यपुराण)—कार्तिक या माघमें भगवान्‌के तुलसीदल अर्पण करे और माघ या वैशाखमें (अथवा कार्तिकका माघमें और माघका वैशाखमें) उद्यापन करे। पत्रार्पणकी क्रिया यह है कि वृन्दा (तुलसी) के वनमें जाकर तुलसीके उत्तम और समान आकारके एक हजार पत्र लावे। उनमें गन्धसे विष्णुका नाम लिखे। पीछे शालग्रामजीका तथा नामाङ्कित तुलसीपत्रोंका गन्धाक्षतसे पूजन करे। उस समय स्नान कराकर गन्ध और अक्षत अर्पण करे और पुष्पार्पणके पहले विष्णुसहस्रनामके एक-एक नामसे एक-एक तुलसीपत्र भगवान्‌के अर्पण करे। इस प्रकार सौ दिनमें लक्षदल अर्पण करके यथाविधि हवन आदि करे तो इससे सम्पूर्ण प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं।

(३३) लक्षप्रणामव्रत (वसिष्ठाम्बरीषसंवाद)—आषाढ शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् भगवान्‌का विधिवत् पूजन करे और विनयावनत होकर भगवान्‌के नामस्मरणसहित एक-एक करके जितने बन सकें प्रणाम करे और एकभुक्त व्रत करके अतिथि आदिका सत्कार करे। इस प्रकार चार महीनेमें एक लाख नमस्कार पूर्ण करके कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको उद्यापन करे तो अभक्ष्यभक्षण, अगम्यागमन, अदृश्य-दर्शन, अपेयपान और अनृतभाषण आदिसे उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और पुण्यका उदय होता है।

(३४) लक्षप्रदक्षिणाव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—आषाढ शुक्ल एकादशीसे कार्तिक शुक्ल एकादशीपर्यन्त प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् वेदमन्त्रों (पुरुषसूक्तके मन्त्रों) से पूजन करके 'कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने' या 'केशवाय नमः' आदि किसी नामके उच्चारणसे भगवान्‌की प्रदक्षिणा करे। इस प्रकार यथाक्रम एक लक्ष पूर्ण होनेके पश्चात् उद्यापन, ब्राह्मण-भोजन और विसर्जन करे तो पूर्व-जन्म, वर्तमान-जन्म और पुनर्जन्म (इन तीन जन्मों) के पाप दूर हो जाते हैं और सुख शान्तिके साथ सानन्द जीवन व्यतीत होता है।

(३५) लक्षवर्तिप्रदानव्रत (भविष्यपुराण)—जिस समय श्रद्धा, सुविधा और अवकाश हो उस समय कपासकी एक लाख बत्तियाँ बनाकर तैलपूर्ण दीपकोंमें (एक-एक) रक्खे। और उनका पंक्तिरूपमें प्रज्वालन करके शिव, केशव या हनुमान् आदि किसी भी अभीष्ट देवके मन्दिरमें सुचारुरूपसे स्थापित करके नक्तव्रत करे। इस प्रकार एक, तीन या पाँच आवृत्तियोंमें लक्ष दीपदान पूर्ण करके उद्यापन करे तो इससे देवलोककी प्राप्ति होती है।

(३६) लक्षवर्तिदानव्रत (वायुपुराण)—किसी भी शुभ दिनमें कपासकी एक लाख बत्तियाँ बनाकर उनको घृत-प्लावित करे (भलीभाँति भिगोये) और उनमेंसे शत, सहस्र या अयुत (जैसी सुविधा और अनुकूलता हो) मन्दिरमें देकर एक लाख पूर्ण करे तो बड़ा पुण्य होता है, सब प्रकारके उपद्रव शान्त हो जाते हैं और देवलोककी प्राप्ति होती है।

(३७) गोपद्मव्रत (भविष्यपुराण)—आषाढ शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् गौके निवासस्थानको गोबरसे लीपकर उसमें ३३ पद्म (कमल) स्थापन करके उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और ३३ अपूप (पूए) भोग लगाकर उतने ही अर्घ्य, प्रदक्षिणा और प्रणाम अर्पण कर व्रत करे। इस प्रकार कार्तिक शुक्ल एकादशी-पर्यन्त प्रतिदिन करनेके पश्चात् द्वादशीको पहले वर्षमें पूए, दूसरेमें खीर और पूए, तीसरेमें मँडके, चौथेमें गुड़ और मँडके और पाँचवेंमें घृतपाचित (घीमें पकाये हुए) मण्डकोंसे पारण करके उद्यापन करे तो जीवनपर्यन्त सुख-सम्पत्तिसे युक्त रहता है और परलोकमें स्वर्गीय सुख प्राप्त होते हैं।

(३८) धारणपारणव्रत (भविष्योत्तर)—देवशयनीसे देवप्रबोधिनीपर्यन्त (चातुर्मास्यके चार महीनोंमें) प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् भगवान्‌का स्मरण, पूजन या स्मरण करके 'ॐ नमो नारायणाय' अथवा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का मानसिक जप करे। और धारणके दिन (निराहार, क्रोधादि होकर) उपवास करे और पारणके दिन एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार कार्तिकी पूर्णिमापर्यन्त करके उद्यापन करे तो ब्रह्महत्या-जैसे महापाप भी उतर जाते हैं।

(३९) अश्वत्थोपनयनव्रत (शौनक)—वृक्षारोपणके शुभ दिवसमें पुरुष जातिके पीपलका रोपण करे। उसको आठ वर्षपर्यन्त जल आदि सेचनोंसे दीर्घजीवी बनावे।

और ज्योतिःशास्त्रोक्त उत्तम मुहूर्तमें अश्वत्थका उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) करे। उसके लिये वेदपाठी ब्राह्मणोंका वरण करके गणपतिपूजन, मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके गायन, वादन, नर्तनकी तथा स्त्रीसमाज और बन्धु-बान्धवोंसहित अभीष्ट पीपलके ईशान कोणमें बैठकर पुण्याहवाचन करे। पीपलको पञ्चामृत (दूध, दही, घी, खाँड और शहद) से स्नान कराये। धोती और अँगोछा धारण कराये। उसके पीछे मूँजकी मेखलाको अश्वत्थको तीन बार लपेटे और 'यज्ञोपवीतं०'से यज्ञोपवीत धारण कराकर दण्ड और कृष्णाजिन उसके समीप रक्खे। फिर उससे पश्चिममें उपस्थित होकर गन्ध-पुष्पादिसे उसका पूजन करे और उससे पूर्वमें अपनी पद्धतिके विधानसे हवन करे। इसमें 'इन्द्राय', 'अग्नये', 'सोमाय', 'प्रजापतये' आदिके अनन्तर 'अश्वत्थेवो०', 'ॐ या ओषधी०' और 'वनस्पतये०'–इन मन्त्रोंसे तीन-तीन आहुतियाँ और दे फिर अश्वत्थसे पश्चिममें पूर्वाभिमुख बैठकर दहिने हाथसे अश्वत्थको स्पर्श करके उसको तीन बार गायत्री-मन्त्र श्रवण कराये। पीछे हवनको समाप्त कर सवत्सा गौ, अन्न और पूजन-सामग्री आदिका दान करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे तो लक्ष्मीकी प्राप्ति और कुलका उद्धार होता है।

(४०) अश्वत्थप्रदक्षिणाव्रत (अद्भुतसागर)–किसी शुभ दिनमें प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् 'ममाखिलपापक्षय-पूर्वकसकलसुरासुरेश्वरप्रीतिद्वारा विष्णुरूपस्याश्वत्थस्य [illegible] प्रदक्षिणाभिः सेविष्ये।'—यह संकल्प करके अश्वत्थके समीप विष्णुकी मूर्ति स्थापित करके दोनोंका षोडशोपचार पूजन करे। दो वस्त्र (धोती और दुपट्टा) उढ़ावे। ब्रह्मचर्यका पालन करे। काम, क्रोध, मद, मोह, [illegible] और [illegible] न होने दे। [illegible]

व्रतसे श्वास, कास, उदरशूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, कोढ़, मन्दाग्नि और राजयक्ष्मा या सर्वज्वर-जैसे घातक रोग, [illegible] प्रकारके महापाप और राजभयादि-जैसे अरिष्ट, कष्ट या [illegible] आदिका निवारण होकर सब प्रकारके सुख और उनके [illegible] प्राप्त होते हैं।

(४१) द्वादशमासव्रत (श्रुति-स्मृति-पुराणादि)–[illegible] प्रत्येक महीनेमें यथाविधि स्नान, दान, देवार्चन और [illegible] भोजनादि करनेसे सम्पन्न होता है। विधि यह है कि १–चैत्रमें एक ही प्रमाणका एकभुक्त व्रत करे तो सुवर्ण और मुक्ता आदिसे युक्त कुलमें जन्म होता है। २–वैशाखमें [illegible] पुष्पका दान करे तो आरोग्यता बढ़ती है। ३–ज्येष्ठमें [illegible] पूर्ण कुम्भ, सवत्सा गौ, पंखा और चन्दन दे तो [illegible] शाली होता है। ४–आषाढमें एकभुक्त भोजन, [illegible] पालन और भगवान्का स्मरण रक्खे तो धन-धान्य और पुत्रादिका सुख मिलता है। ५–श्रावणमें घी-दूधसे भरे [illegible] पूरी और फल दे तो श्रीधरकी प्रसन्नता प्राप्त होती है। ६–भाद्रपदमें मधु और घी मिली हुई खीर और [illegible] गुड़ोदनका दान करे तो हृषीकेशभगवान्का अनुग्रह [illegible] होता है। ७–आश्विनमें अश्विनीकुमारोंकी प्रसन्नता [illegible]

१. चैत्रे तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।
सुवर्णमणिमुक्ताढ्ये कुले महति जायते॥
([illegible])

२. गन्धमाल्यानि च तथा वैशाखे सुरभीणि च।
देयानि [illegible]॥
([illegible])

३. [illegible]

[illegible]

घीका दान देनेसे रूप और सौभाग्य बढ़ता है। ८—कार्तिकमें[1] चाँदी, सोना, दीप, मणि, मोती और वस्त्रादिका दान करे तो दामोदर भगवान्‌की प्रसन्नता होती है। ९—मार्गशीर्षमें[2] एक महीनेतक एकभुक्त व्रत करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये तो व्याधि, पीड़ा और पाप दूर होते हैं। १०—पौषमें[3] ब्राह्मणोंको घृतविशिष्ट भोजन कराये, घीका दान दे और मास समाप्त होनेपर घी, सोना और पात्र सत्पात्रको देकर तीन दिनका उपवास करे तो उत्तम फल प्राप्त होता है। ११—माघमें[4] तिल-धेनुका दान करे और गरीबोंकी शीतबाधा मिटानेके लिये ईंधन और धनका दान करे तो धनी होता है। और १२—फाल्गुनमें[5] गौ, वस्त्र, चावल और कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) दान करके व्रत करे तो गोविन्द-भगवान् प्रसन्न होते हैं।

—o◇o—

बुद्धधर्मका उदय और अभ्युदय

(लेखक—प० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य)

[गताङ्कसे आगे]

बौद्धधर्मके विभिन्न वाद

वि० पू० ४२६में भगवान् गौतमबुद्धके निर्वाणके अवसर-पर उनके प्रधान शिष्योंकी सहायतासे राजगृहमें प्रथम संगीति निष्पन्न हुई, जिसमें सुत्त तथा विनयपिटकोंका रूप निर्धारणकर लिपिबद्ध किया गया; पर सौ वर्षके भीतर ही विनयके कठोर नियमोंको लेकर एक प्रबल विरोधी मतवाद खड़ा हो गया। इस विरोधका झंडा ऊँचा करनेवाले थे वज्जीदेशीय भिक्षु, जिन्हें वज्जिपुत्तक, वज्जिपुत्तिय तथा वत्सीपुत्रीयके नामसे पुकारते हैं। इन्हींके विरोधकी शान्तिके लिये वैशालिकी द्वितीय संगीति ३२६ वि० पू० में की गयी। पर प्राचीन विनयोंके पक्षपाती भिक्षुओंके सामने अपनी चलती न देखकर भिक्षुओंने कौशाम्बी (प्रयाग जिलेके वर्तमान 'कोसम' नगर) में दस हजार भिक्षुओंके महासंघके साथ अपनी संगीति अलग की। उसी दिनसे बुद्धधर्ममें दो प्रधान भेद खड़े हो गये—प्राचीन विनयनियमोंको माननेवाले स्थविरवादी कहलाये तथा विनयोंमें नवीन संशोधनोंको स्वीकार करनेवाले भिक्षु महासंघके कारण महासंघिक कह-लाये। इस संगीतिके १०० वर्षके अनन्तर ही १८ भिन्न-भिन्न मत उठ खड़े हुए। लोकप्रियताका यही मूल्य है। बुद्धधर्ममें अनेक भिन्न प्रकृतिके लोग सम्मिलित होने लगे, जिन्हें बुद्धके मूल नियमोंका अक्षरशः पालन कष्टकारक प्रतीत होने लगा और जो अनेक सिद्धान्तोंके परिवर्तनके पक्षपाती थे, इन्हीं मतवादोंका निर्णय करनेके लिये सम्राट् अशोकके समय तृतीय संगीतिकी स्थापना महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्सकी अध्यक्षतामें हुई।

इन अष्टादश निकायोंके नाम तथा पारस्परिक सम्बन्धके विषयमें बौद्धग्रन्थोंमें खूब वैमत्य दीख पड़ता है। आचार्य वसुमित्रने 'अष्टादशनिकायशास्त्र' नामक नवीन ग्रन्थकी इन्हीं निकायोंके सिद्धान्तके विषयमें रचना कर इस विषयके स्पष्टीकरणके लिये खूब प्रयत्न किया; पर आचार्य वसुमित्र[1] तथा आचार्य भव्यके द्वारा उल्लिखित तथा दीपवंस[2] और कथावत्थुकी अट्ठकथामें निर्दिष्ट इन निकायोंके नाम तथा सम्बन्धकी विषमता आज भी बनी हुई है। अट्ठकथाके अनुसार इन अष्टादश निकायोंकी स्थिति इस प्रकार थी—

---

१. रजतं काञ्चनं दीपान् मणिमुक्ताफलादिकम्। दामोदरस्य प्रीत्यर्थं प्रदद्यात् कार्तिके नरः॥　(वामन)

२. मार्गशीर्षे तु यो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्। भोजयेत्तु द्विजान् भक्त्या मुच्यते व्याधिकिल्बिषैः॥　(महाभारत)

३. घृतं द्विजेभ्यो दद्याच्च घृतमेव निवेदयेत्। पौषे ··· ··· ·· · ··· · ··· ··· ·· ··· ···॥　(वामन)

४. माघे मासि तिला दान्ता कामधेनुश्च दानतः। इन्धनं धनादयश्चान्ये माधवप्रीणनाय तु॥

५. फाल्गुने व्रीहयो गावो वस्त्रं कृष्णाजिनान्वितम्। गोविन्दप्रीणनार्थाय दातव्यं पुरुषर्षभैः॥　(वामनपुराण)

१. वसुमित्र तथा भव्यकी सूचीके लिये देखिये—कथावत्थुके अंग्रेजी अनुवादकी भूमिका पृ० १६, १७।

२. दीपवंसकी सूचीके लिये देखिये अभिधर्मकोश भूमिका पृ० ४।

बुद्धसंघ

- १ महासंघिक
  - ३ गोकुलिक
    - ५ प्रज्ञप्तिवादी
    - ६ बाहुलिक
      - ७ चैत्यवादी
  - ४ एकव्यावहारिक
- २ स्थविरवाद
  - ८ महीशासक
    - १० सर्वास्तिवादी
      - १२ काश्यपीय
        - १३ संक्रान्तिक
          - १४ सूत्रवादी (सौत्रान्तिक)
    - ११ धर्मगुप्तिक
  - ९ वृजिपुत्रक (वात्सीपुत्रीय)
    - १५ धर्मोत्तरीय
    - १६ भद्रयाणिक
    - १७ षाण्णागारिक
    - १८ साम्मितीय
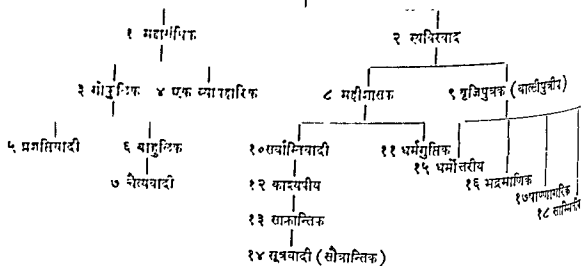
इन अष्टादश निकायोंकी उत्पत्ति अशोकसे पहले ही हो चुकी थी; पर उनके बाद भी इस मतवादका प्रवाह रुका नहीं प्रत्युत बुद्धधर्मके विपुल प्रसारके साथ-साथ विभिन्न सिद्धान्तोंके कारण नवीन सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति तथा पुष्टि होती ही रही। कथावत्थुमें इन अवान्तर तथा अपेक्षाकृत नवीन सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंका भी वर्णन उपलब्ध होता है। चैत्यवादी सम्प्रदायसे आन्ध्रभृत्य राजाओंके राज्यमें विस्तार पानेवाले 'अन्धक' सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। आन्ध्रभृत्योंकी राजधानी धान्यकटक (जिला गुंटूरका धरनीकोट नगर) इस सम्प्रदायका केन्द्रस्थल था। इसी 'अन्धक' सम्प्रदायसे कालान्तरमें ई० पू० प्रथम शताब्दीमें चार अन्य सम्प्रदायोंका जन्म हुआ—पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक तथा सिद्धार्थक। धान्यकटकके स्तूपका नाम ही 'महाचैत्य' था, जिसके कारण वहाँका सम्प्रदाय चैत्यवादी कहलाया। 'राजगिरिक' तथा 'सिद्धार्थक' नामकरणके कारणका पता नहीं चलता; पर पूर्वशैलीय तथा अपरशैलीय सम्प्रदाय, भोटियाग्रन्थोंके आधारपर, धान्यकटकके पूर्व तथा पश्चिममें होनेवाले पर्वतोंके ऊपर स्थित विहारोंके कारण तत्तत् नामसे अभिहित हुए हैं। अन्धकोंकी एक और शाखा थी जिसे वैपुल्यवादी या वेतुल्यवादीके नामसे पुकारते थे। इन अन्धक सम्प्रदायों तथा वैपुल्यवादके सिद्धान्तोंका सम्मिश्रण हो जानेसे महायान सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई।

संक्षिप्त मत

इन विभिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंका परिचय पानेके लिये सर्वोपयोगी पालीग्रन्थ 'कथावत्थु' है। पर स्थानाभावके कारण इन सब सिद्धान्तोंका वर्णन यहाँ नहीं दिया जा रहा है। भोटग्रन्थोंमें इन अष्टादश निकायोंमेंसे चार सम्प्रदायोंको विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है—(१) आर्य सर्वास्तिवाद, (२) महासंघिक, (३) आर्य-साम्मितीय तथा (४) आर्य-स्थविर। अधिक-कालव्यापी होनेके कारण ये चार ही प्रधान सम्प्रदाय हैं, जिनके भीतर उपरिनिर्दिष्ट अष्टादश निकायोंका अन्तर्भाव किया जा सकता है। ब्राह्मण दार्शनिकों (शङ्कराचार्य, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र आदि) के ग्रन्थोंमें इनके सिद्धान्तों का उल्लेख भी इनकी प्रधानता तथा महत्ता प्रदर्शित करनेके लिये पर्याप्त माना जा सकता है। आर्य-स्थविरवाद बुद्धके मूल उपदेशोंको माननेवाला सम्प्रदाय है, जिसमें अनेक विनयगत नियमोंमें शिथिलता स्वीकार कर

महासंघिक

महासंघिक सम्प्रदाय सबसे प्रथम पृथक् हुआ। पालीपिटकोंमें उल्लिखित सिद्धान्त स्थविरवादके ही माने जाते हैं। महासंघिकोंके स्वतन्त्र सिद्धान्तोंका वर्णन भी उनके विशिष्ट ग्रन्थोंमें मिलता है। इनके मतानुसार बुद्ध लोकोत्तर (अलौकिक) थे; सासारिक (साश्रव) धर्मका स्पर्श उनमें तनिक भी न था; इतिहासप्रसिद्ध शाक्यमुनि

---

१. श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे मुनि॥
—मञ्जुश्रीमूलकल्प (दशम पटल)

लोकानुवर्तनके निमित्त उस लोकोत्तर बुद्धका अवतार धारण करनेवाले व्यक्तिविशेष थे। बुद्ध सर्वशक्तिमान् हैं और वे सदा सदयभावना किया करते हैं। बुद्ध अलौकिक शक्तिसम्पन्न हैं; *उनमें आकाशके किसी भी भागमें व्यापक होनेकी शक्ति* है। वे ऋद्धि (विशेष शक्ति) के द्वारा नैसर्गिक नियमोंको रोक सकते हैं। मनुष्यको योगक्रियाकी सहायतासे दीर्घजीवन प्राप्त करनेकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। पर सबसे विशेषता थी बोधिसत्त्वकी कल्पना। स्थविरवादके अनुसार अर्हत्का पद ही सर्वश्रेष्ठ था, पर महासंघिकोंके अनुसार अर्हत्पद प्राप्त करनेपर भी एक प्रकारका अज्ञान अवशिष्ट रहता ही है, जिसे वे दूर नहीं कर सकते।

सर्वास्तिवाद

सर्वास्तिवादियोंके अपने खास ग्रन्थ थे, जिनमें अनेक आजकल उपलब्ध हो गये हैं। उनके ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें मिलते हैं। कश्मीर इनका केन्द्रस्थल था, जहाँसे ये अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया करते थे। उनके सिद्धान्तानुसार इस जगत्‌की प्रत्येक वस्तु—भूतात्मक तथा चित्तात्मक—विद्यमान है, भूतकालमें थी तथा भविष्यत्कालमें भी विद्यमान रहेगी। इनके अनेक सिद्धान्तोंमें स्थविरवादसे साम्य होनेपर भी ये लोग स्कन्धोंकी सत्ता माननेमें उनसे पृथक् थे। बुद्धको ये लोग दैवी शक्तियोंसे समन्वित मानवमात्र ही मानते थे। महासंघिकोंके समान ये लोग बुद्धका इस जगत्‌में विद्यमान रहना काल्पनिक तथा कायिक नहीं मानते थे।

साम्मितीय

साम्मितीयोंकी सृष्टि अशोकवर्धनके पहले ही हो चुकी थी, पर उत्तरी भारतमें इसका विपुल प्रचार गुप्तकालमें ही हुआ। हर्षवर्धनके समय यह सम्प्रदाय अपनी उन्नतिके शिखरपर था। हुएनत्सांग इस सम्प्रदायके १५ ग्रन्थोंको अपने साथ चीन ले गये थे। इसके ग्रन्थोंका पता नहीं चलता, पर उनकी भाषा अपभ्रंश बतलायी जाती है। *इनके २० सिद्धान्तोंकी सूचना कथावत्थुकी* आलोचनासे मिलती है, पर इनका सबसे सुप्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गलके विषयमें है। ये लोग पञ्चस्कन्धके अतिरिक्त एक अन्य पदार्थकी भी सत्ता मानते हैं—जो पञ्चस्कन्धोंको धारण किये रहता है, पर जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। स्कन्धपञ्चकके उत्पत्ति तथा विनाशके साथ ही इस पुद्गल पदार्थके उत्पत्ति-लय हुआ करते हैं। यह पुद्गल हिंदू दार्शनिकोंके जीवके समान होता है, पर एक अंशमें भिन्न होता है। स्कन्धपञ्चकके नाश होनेपर इस पुद्गलका नाश साम्मितीयोंको अभिमत था। ये लोग अन्तराभव (जीवकी मृत्यु तथा पुनर्जन्मके बीचमें होनेवाले) देहको मानते थे और इस कार्यके लिये पुद्गलकी कल्पना की गयी थी। अन्तराभव देहकी कल्पना पूर्वशैलीय सम्प्रदायकी भी थी। अर्हत्पदकी प्राप्ति शाश्वतिक नहीं है, प्राचीन कर्मोंके फलानुसार अर्हत्पदसे पतन भी हो सकता है[1]।

वैपुल्यवाद

अन्धक-सम्प्रदायोंमें वैपुल्यवादी अपना खास महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कथावत्थुकी अट्ठकथामें इन्हें महाशून्यतावादी कहा गया है। इनके मत संघ, बुद्ध तथा मैथुनके विषयमें अन्य सम्प्रदायोंसे विभिन्न थे[2]। इनका कहना था कि (१) सङ्घकी कल्पना अलौकिक है; अतः संघ न दान ग्रहण करता है न उसे परिशुद्ध या उपभोग करता है। इसलिये संघको दान देनेमें महाफलकी प्राप्ति नहीं होती। (२) बुद्ध इस लोकमें न आकर ठहरे और न धर्मोपदेश किया। अतः बुद्धको दान देनेमें महाफलकी प्राप्ति नहीं होती। (३) मैथुनके विषयमें इनका सिद्धान्त था कि किसी खास मतलबसे (एकाभिप्रायेण) यदि पति-पत्नीमें स्वाभाविक अनुरक्ति हो या भविष्य लोकोंमें एक साथ निवास करनेकी इच्छा हो—मैथुनका आचरण किया जा सकता है। यह नियम बौद्ध भिक्षुओंके लिये भी जायज था। कहना न होगा कि ये सिद्धान्त बौद्धधर्ममें भयङ्कर विप्लव मचानेवाले थे। वैपुल्यवादियोंके प्रथम-द्वितीय सिद्धान्तोंमें महायानके विकासकी सूचना है, तथा अन्तिम सिद्धान्तमें तान्त्रिक या वज्रयान सम्प्रदायके स्फुट बीज। बुद्धकी ऐतिहासिकताको स्वीकार न करना तथा किन्हीं अवस्थाओंमें मैथुनकी अनुज्ञा देना एकदम घोर परिवर्तनके सूचक सिद्धान्त थे। पहला *सिद्धान्त महायानको मान्य है।* वैपुल्यवादियोंमें सबसे बड़े प्रचारक नागार्जुन माने जाते हैं। इन सब बातोंकी आलोचनाके निष्कर्षरूपमें यह कहना अनुचित न होगा कि महासंघिकोंका ही अन्धक-सम्प्रदाय तथा वैपुल्यवादके रूपमें विकसित रूप महायान सम्प्रदाय है।

---

१. महासंघिक आदि सम्प्रदायोंके मतवादके लिये देखिये 'कथावत्थु'का अंग्रेजी अनुवाद पृ० १८–२७।

१. देखिये 'कथावत्थु' के अंग्रेजी अनुवादकी भूमिका पृ. १८-१९।

२. देखिये 'कथावत्थु' के भाग १८, २३।

महायान-सम्प्रदाय

आजकल समस्त बौद्ध जगत् प्रधानतया दो सम्प्रदायोंका अनुयायी है। सिंहल, बर्मा, स्याम आदि दक्षिणी देशोंमें हीनयानका प्रचार है; पर तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया तथा जापान आदि उत्तरी प्रदेशोंमें महायानका बोलबाला है। महायान सम्प्रदायकी अश्वघोषके समय प्रथम शताब्दीमें उत्पत्ति मानी जाती है; इस सम्प्रदायवालोंने अपनी महत्ता प्रदर्शित करनेके लिये निर्वाणकी प्राप्तिमें प्रधान साधनभूत होनेके कारण अपनेको महायान तथा स्थविरवादियोंको हीनयानके नामसे अभिहित किया है। इन दोनों सम्प्रदायोंका भेद मौलिक है।* वैमत्यका सबसे प्रधान विषय है इस मानव-जीवनके अन्तिम लक्ष्य तथा तत्सम्बद्ध निर्वाणकी विभिन्न कल्पना। बौद्धग्रन्थोंमें जीवन्मुक्ति या 'बोधि' विविध मार्गोंमें तीन प्रकारकी मानी गयी है—श्रावकबोधि, प्रत्येक बुद्धबोधि तथा सम्यक्सम्बोधि। बुद्धके पास धर्म सीखनेवालेको 'श्रावक' कहते हैं। श्रावकबोधि हीनयानका चरम लक्ष्य है। बुद्धका कहना है कि मनुष्य अपने भाग्यका विधाता आप स्वयं है; अतः इस भव-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये उसे परमुखापेक्षी होनेकी जरूरत नहीं, वह स्वयं आर्य अष्टांगिक मार्गका अनुसरण कर राग-द्वेषकी विषम वागुरासे छुटकारा पाकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। ऐसे साधकके लिये चार अवस्थाओंका वर्णन महालिसुत्तने किया है। पहली अवस्था 'स्रोत आपन्न' कही जाती है, जब मनुष्यका चित्त प्रपञ्चमार्गसे नितरां हटकर निर्वाण-मार्गकी ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है। दूसरी भूमि 'सकृदागामी' कही जाती है, जिसमें इस जन्ममें नहीं बल्कि अगले जन्ममें साधक निर्वाणका अधिकारी बन जाता है। और इसके लिये उसे एक बार पुनः संसारमें आनेकी आवश्यकता बनी रहती है। 'अनागामी' भूमिकामें फिर इस क्लेशबहुल संसारमें आनेकी आवश्यकता नहीं रहती और चतुर्थी भूमिका 'अर्हत्' कहलाती है—जिसमें साधक अपने

...स्थितिगत कल्याणकी साधना का ... है, पर उसे अन्य जीवोंको मुक्त करनेकी ... प्राप्त होती। अर्हत्के लिये निर्वाण अ... आपन्नाभावन्न है। यही अर्हत्की प्र... लक्ष्य है।

'प्रत्येक बुद्ध'की कल्पना अर्हत् तथा बो... साधनाकी सूचक है। गुरुके पास उपदेश प्र... ही जिसे स्वतः ही बुद्धत्वका लाभ हो जाता ... बुद्ध' कहते हैं; पर उसमें दूसरे लोगोंको तार... रहती यह तो केवल जङ्गल आदि एकान्त स... विमुक्तिसुखका अनुभव करता है। तीसरी ... सम्बोधि' कही जाती है और उसके प्राप्त कर... कहते हैं। बुद्धत्वके अधिकारी साधकको 'बोधि...

बोधिसत्त्वकी कल्पना महायान-सम्प्रदाय... विशेषता है। यह कल्पना इत... इतनी मनोरम है कि केवल ... आधारपर यह धर्म संसारके ... महत्त्वपूर्ण स्थान पानेका अधिकारी है। '... शाब्दिक अर्थ है बोधि-ज्ञान प्राप्त करनेकी इ... व्यक्ति (बोधौ सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिस... तथा प्रत्येक बुद्धका लक्ष्य नितान्त सीमित रह... अभ्युदय तथा व्यक्तिगत कल्याण-साधन क... दोनोंके अनुष्ठानका अन्तिम उद्देश्य रहता है, ... संसारके समस्त प्राणियोंके समग्र दुःखोंका ... निर्वाण-प्राप्ति करा देना अपना जीवन-उद्देश्य ... संसारका एक भी प्राणी जबतक मुक्त नहीं हो ज... वह स्वयं निर्वाणसुखको भोगनेके लिये कथमपि ... होता। उसके जीवनका ध्येय स्वार्थसिद्धि न होकर ... रत रहता है। वह जगत्के प्रत्येक व्यक्तिको ... स्वरूप समझता है। अतः बोधिसत्त्वका 'स्व' इ... रहता है कि उसकी परिधिमें जगत्के समस्त जीव... हैं। बोधिसत्त्व यही चाहता है[2] कि बुद्धप्रदर्शित मार्ग...

* महायान मुख्यतया निम्नलिखित सिद्धान्तोंको माननेवाला है—(१) बोधिसत्त्वकी कल्पना, (२) षट् पारमिताओंका अनुष्ठान, (३) बोधिचित्तका विकास, (४) आध्यात्मिक उन्नतिकी दस भूमियाँ, (५) बुद्धत्वका चरम लक्ष्य, (६) धर्मकाय, संभोग-काय तथा निर्माणकाय—इन त्रिविध कायोंकी कल्पना तथा (७) धर्मशून्यता या धर्मसमता या तथताकी कल्पना।

१. बोधिचर्यावतारपंजिका पृष्ठ ४२१।

२. एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम्... तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्... मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः... तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्... (बोधि...

से जिस पुण्यसम्भारका उसने अर्जन किया है, उसके द्वारा समस्त प्राणियोंके दुःखकी शान्ति हो। समग्र जीवोंके मुक्तिलाभ करनेपर जो आनन्दसमुद्र हिलोरें मारने लगता है, वही उसके जीवनको आनन्दमय—सार्थक बनानेके लिये पर्याप्त है; रसहीन—सूखे मोक्षको लेकर क्या करना है? बोधिसत्त्वमें प्रधान गुण होता है—महाकरुणा। पिपीलिकासे लेकर हस्ती पर्यन्त निखिल जीवोंके क्लेशमय जीवनको देखकर उसके हृदयमें उनके प्रति नैसर्गिक रूपसे करुणाका आविर्भाव होता है तथा उनके दुःखोंका सर्वथा नाश कर उन्हें आनन्द प्रदान करनेका पवित्र आदर्श ही उसके जीवनका महान् व्रत बन जाता है। बोधिसत्त्वका अवसान है—बुद्धत्वकी प्राप्ति अर्थात् सम्यक् संबोधिकी उपलब्धि। इसे पाये बिना दूसरोंको मुक्त करनेकी तथा उपदेश देनेकी योग्यता आ ही नहीं सकती। महायान महाकरुणाको सम्यक् संबोधिका प्रधान साधन मानता है।

महायान ग्रन्थोंमें बोधिसत्त्वके उच्च आदर्शकी प्राप्तिके लिये अनेक शिक्षाओं तथा अनुष्ठानोंका विधान किया गया है, जिन्हें 'बोधिचर्या' के नामसे पुकारते हैं। बोधिसत्त्वको सबसे पहले बोधिचित्तका परिग्रह करना चाहिये। सब जीवोंके समुद्धरणके लिये बुद्धत्वकी प्राप्तिके अभिप्रायसे सम्यक् संबोधिमें चित्तका प्रतिष्ठित करना बोधिचित्तका ग्रहण करना है। भवसागरसे पार जानेके लिये सभी प्राणियोंको बोधिचित्तका ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। बोधिचित्तके उत्पादके लिये सप्तविध अनुत्तर पूजाका विधान बौद्धग्रन्थोंमें किया गया है। इन पूजाविधानोंके नाम हैं—वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना। इन अनुष्ठानोंके साथ-साथ षट् पारमिताओंका अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। 'पारमिता' कहते हैं पूर्णत्वको। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन षट् पारमिताओंका उपार्जन बुद्धत्व प्राप्तिका प्रधान साधन है। स्वार्थबुद्धि बन्धनमें हेतु है। अतः आत्मभावका त्याग निर्वाणका हेतु माना जाता है। इस निःस्वार्थबुद्धिकी पराकाष्ठा दानपारमिताकी सूचिका मानी जाती है। प्राणातिपात आदि गर्हित कार्योंसे निवृत्ति विरति 'शील' कहलाता है। दूसरेके द्वारा अपकारके होते हुए भी चित्तकी अकोपनता 'क्षान्ति' है। समस्त दुःखोंके उत्पन्न होनेपर भी उनके द्वारा अभिभावित न होना दुःखाधिवासना-क्षान्ति कहलाता है तथा दूसरोंके अपकारोंका सहन करना परापकारमर्षण क्षान्ति कहलाता है। क्षान्तिके साथ कुशल कर्म करनेके सामर्थ्यका होना भी नितान्त उपयुक्त है। इसीको 'वीर्य' कहते हैं। वीर्यका फल ध्यान चित्तैकाग्रता है। समाहितचित्त पुरुष प्रज्ञाका उपार्जन कर सकता है; चित्तके ध्यान-सम्पादनसे निष्कलुष होनेपर ही प्रज्ञाका उदय हो सकता है। दानादि पञ्च पारमिताओंका सुफल प्रज्ञापारमिताका आविर्भाव माना जाता है; प्रज्ञाके बिना उदय हुए बुद्धत्वकी प्राप्ति असम्भव ही है।

शून्यतामें प्रतिष्ठित होनेवाला व्यक्ति ही प्रज्ञापारमिता (पूर्णज्ञान, सर्वज्ञता) को प्राप्त कर लेता है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावोंकी उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है और न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञापारमिताका उदय होता है। उस समय किसी प्रकारका व्यवहार नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्यकी प्रतीति होती है कि यह दृश्यमान वस्तुजात मायाके सदृश है, तथा स्वप्नकी तरह अलीक और मिथ्या है। इसकी व्यावहारिक सत्ता (सांवृतिक सत्य) ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं। व्यवहारदशामें ही प्रतीत्यसमुत्पादकी कल्पना है, परमार्थदशामें सर्वभाव धर्मशून्य हैं। वास्तवमें सब भावोंकी शून्यता ही पारमार्थिक ज्ञान है। उस समय समुत्पन्न बोधिचित्त (संबोधिनिहित चित्त) निःस्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय तथा प्रपञ्चसमतिक्रान्त माना जाता है[1]। वह काठिन्य तथा मार्दव, उष्णता तथा शीतलता, संस्पर्श तथा ग्राह्यता आदि धर्मोंसे शून्य होता है। प्रज्ञापारमिताको प्राप्त करनेवाले पुरुषके लिये इस जगत्का समग्र व्यवहार स्वप्नसे अधिक सत्ता नहीं रखता। संसृति—संसार समस्त दोषोंका आकर है, पर निर्वृति=निर्वाण—समस्त गुणोंका

१. बोधिचित्तके स्वरूपके लिये देखिये 'नैरात्म्यपरिपृच्छा-सूत्र' ११–२६ (विश्वभारती सीरीज नं० ४)

निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम् ।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम् ॥१॥

भण्डार है। इस प्रज्ञापारमिताकी कल्पना पूर्वकाल देवीके रूपमें पारमितासूत्रोंमें की गयी है[1]। प्रज्ञाकी उपासना महायानकी प्रधान विशेषता मानी जाती है।

महायानने त्रिकाय (निर्माण या रूपकाय, सम्भोगकाय तथा धर्मकाय) की कल्पना कर बुद्धके आदर्शको बहुत ही ऊँचा दिखलाया है। शाक्यमुनिके सब कार्य तात्त्विक बुद्धिके आचरण नहीं हैं, प्रत्युत मानव-समाजके सामने 'बुद्धत्वकी प्राप्ति नितान्त काल्पनिक न होकर वास्तविक है' इस शिक्षाको देनेके लिये लोकानुवर्तनके निमित्त बुद्धके निर्माणकायके द्वारा किये गये हैं। धर्मकाय अनन्त तथा अपरिच्छेद्य है। सम्पूर्ण स्थानमें यह व्यापक है। सम्भोग तथा निर्माणकायका यह मूल आधार है। यह नित्य, सत्य तथा परिच्छेदातीत गुणोंका निकेतन है। धर्मकाय एक—अभिन्न रूपमें स्थित रहता है। इस धर्मकायकी कल्पना बुद्धको ईश्वररूपमें माननेके लिये की गयी है। परमसत्यस्वरूप बुद्ध मानव-समाजके कल्याणसाधनके निमित्त अनेक रूपोंको धारण किया करते हैं। ऐतिहासिक बुद्ध भी उन्हींके एक अवतार-मात्र माने जाते हैं। इनकी भक्तिपूर्वक उपासना करनेसे मनुष्य अपने लक्ष्यतक पहुँच सकता है। सद्धर्मपुण्डरीकका कहना है कि सच्चे प्रेमसे भगवान् बुद्धकी एक पुष्पके अर्पण-द्वारा पूजा करनेसे साधकको अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार महायान-धर्मने निरीश्वरवादी शुष्कनिवृत्तिप्रधान हीनयानकी काया पलटकर उसे सेश्वरवादी तथा प्रवृत्तिप्रधान-के मनोरम रूपमें उपस्थित किया है। भक्तियोगने मानव-समाजकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंके नैसर्गिक विकासके लिये बुद्धधर्मको एक नवीन मार्गपर आरूढ़ किया। इस कारण सद्धर्मपुण्डरीक शीलनिष्ठा बड़ी तथा निपुण इसने कल्याणसाधनके सुगम मार्गको सीखकर बुद्ध, धर्म तथा [illegible] की शरणागति ग्रहण की। महायानकी कल्पनाके [illegible] गीताका भक्तिसमन्वित कर्मयोग कारण माना जाता है। भोटदेशीय सुप्रसिद्ध विद्वान् तारानाथने गीताधर्मके प्रभा[illegible] महायानके रूपपरिवर्तनमें प्रधान कारण माना है[2]।

इस महायानके रूपका विकास चलता ही [illegible] वैपुल्यवादियोंने मन्त्र तन्त्रकी ओर विशेष रुचि दिखला[illegible] इस मतके आचार्य नागार्जुन एक प्रकाण्ड तान्त्रिक [illegible] सिद्ध पुरुष माने जाते हैं। इनकी गुह्य शिक्षाओंने महा[illegible] का स्वरूप बदलनेमें विशेष सहायता दी। वैपुल्[illegible] 'मञ्जुश्रीमूलकल्प'में हम नाना मन्त्र-तन्त्रोंका विधान पा[illegible] पर उस रूपका यहाँ अभाव है, जो वज्रयानमें दीख[illegible] है। पहले मन्त्रयानकी उत्पत्ति हुई, भोटग्रन्थोंके आ[illegible] धान्यकटक तथा श्रीपर्वतके आसपास इसकी उत्पत्ति [illegible] जा सकती है। धारणियोंकी रचना हुई; मन्त्र[illegible] विपुलताने प्राचीन बुद्धत्वके आदर्शको ढक दिया। आ[illegible] कर मन्त्रयानसे वज्रयानकी उत्पत्ति हुई—जिसमें मद्य, [illegible] हठयोग तथा मैथुनकी शिक्षाएँ प्रधान विषय हैं। व[illegible] है तान्त्रिक बुद्धधर्मका विकसित रूप। दार्शनिक दृष्टि[illegible] वादकी है[3] पर आचारमें तान्त्रिक क्रियाकलापकी [illegible] है। यही वज्रयान सहजयानके रूपमें परिवर्तित [illegible] तिब्बत, चीन आदि भारतेतर देशोंके तथा स्वयं भारतके धार्मिक विकासका कारण माना जाता है।

(स[illegible]

---

१. देखिये—प्रज्ञापारमितासूत्र—
यारिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला ॥ ६ ॥
सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम् । मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥ ७ ॥
बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता ।

२. तिलक—गीतारहस्य (पृष्ठ ५७०—८५)।

३. अविनाशी तथा सारभूत होनेके कारण शून्यता ही 'वज्र' शब्दका वाच्यार्थ है—
दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् । अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ॥
—वज्रशेखर (अद्वयवज्रसंग्रह पृष्ट

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीकुलनन्दनजी गेरा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

फोटोका दैवी केमेरा

केशव—पिताजी ! मामाजी बम्बईसे फोटो खींचनेका एक बहुत बढ़िया केमेरा लाये हैं। आज उन्होंने उसीसे मेरा चित्र खींचा है।

पिता—परन्तु क्या तुम्हें मालूम नहीं कि उससे भी बढ़िया दो-दो केमेरे स्वयं तुम्हारे पास मौजूद हैं ? ये केमेरे तो ऐसे बढ़िया हैं कि बंबई क्या, दुनियाके किसी भी देशमें किसी दामपर नहीं मिल सकते।

केशव—मेरे पास ? मेरे पास ऐसे कौन-से केमेरे हैं ?

पिता—तुम्हारे ये दोनों नेत्र। ये फोटोके केमेरे ही तो हैं। बल्कि यों कहो कि फोटोके केमेरे इन्हींकी नकलपर बनाये गये हैं। असल केमेरा तो नेत्र ही है, जो ईश्वरका बनाया हुआ है और जिसे हम अपना दैवी केमेरा कह सकते हैं।

केशव—क्या नेत्रोंकी बनावट फोटोके केमेरेकी तरह होती है ?

पिता—हाँ, बिल्कुल उसी तरहकी। केवल बाज़ारू केमेरा साधारण तौरपर चौकोर होता है और हमारी आँखें अण्डाकार हैं। किन्तु यह अन्तर भी केवल बाहरी रूपमें है। भीतरके यन्त्र और पुर्ज़े तो दोनोंमें एकहीसे हुआ करते हैं।

केशव—कैसे ?

पिता—देखो, केमेरेके सामनेवाले भागमें तुमने देखा होगा कि एक काँच लगा रहता है, जिसे 'लेन्स' (Lense) या 'ताल' कहते हैं। बाहरी ... *छाया इसी काँचसे होकर केमेरेके* ... गिरती है और ...

इसी छेदसे होकर बाहरी चीज़ोंकी जो छाया केमेरेके भीतर पहुँचती है, वह काँचके एक मसाला लगे हुए प्लेट या फिल्मपर गिरती है और बस वहीं वह उपट आती है। केमेरेका कुल भीतरी भाग काले रंगसे रँगा रहता है। यही सब बातें हमारी आँखोंमें भी पायी जाती हैं। इनमें भी सामनेकी ओर एक लेन्स या 'ताल' लगा रहता है, जो भीतरकी ओर एक काले पर्देसे ढँका रहता है। इसे हम आँखकी पुतली कहते हैं। यूरोपनिवासियोंकी आँखोंमें यह पर्दा काला न होकर नीला या फिरोज़ी रंगका हुआ करता है। इसी पर्देके बीचोबीच एक नन्हा-सा गोल-गोल बिन्दु भी दीखता है, जिसे हम *आँखका 'तिल' या 'तारा' कहते हैं और जो वास्तवमें* एक छेद है। यह छेद काले रंगका दिखायी देता है क्योंकि आँखका अन्तर्पटल बिल्कुल काला है। जिस प्रकार एक घरके भीतरका गहरा अन्धकार एक छोटेसे छेदद्वारा काले रंगका दीखता है, उसी प्रकार हमारी आँखका यह काला तिल भी भीतरके काले रंगको प्रकट करता है। तेज़ प्रकाशमें यह तिल अर्थात् छेद पुतलीके पर्देसहित सिकुड़कर छोटा-सा हो जाता है, परन्तु अन्धकारमें यह फैल जाता है। इसी छेदके द्वारा लेन्सको पार करके बाहरी चीज़ोंका जो प्रतिबिम्ब अर्थात् चित्र आँखके अंदर पहुँचता है वह वहाँके पिछले भागमें एक दूसरे पर्दे (Retina) पर गिरता है, जिसे हम फोटोका प्लेट या फिल्म कह सकते हैं। इस पर्देका सम्बन्ध स्नायुओंद्वारा मस्तिष्कसे रहता है, जिससे पर्देपर चित्र गिरते ही तुरंत उसकी ... मस्तिष्कको मिल जाती है और वह जान सकता ... क्या वस्तु है। फोटोका केमेरा ... और कपड़ेसे मढ़े हुए ढाँचेमें ... इसी प्रकार हमारे ये नेत्र भी ... में सुरक्षित हैं और ऊपरसे पलकें ... करती हैं। कुछ केमेरोंमें तुमने

देखा होगा कि उनके मुँहको चित्र लेते समय ठीक सीधान पर रखनेके लिये कुछ ऊपर-नीचे हटानेका भी प्रबन्ध रहता है। उसी प्रकार हमारे नेत्रोंकी पुतलियाँ भी इच्छानुसार ऊपर-नीचे और इधर-उधर फिरायी जा सकती हैं, जिससे हम बिना सिर घुमाये इधर-उधरकी चीजोंको देख सकते हैं। प्रत्येक नेत्रमें इसके लिये छः-छः मांसपेशियाँ लगी रहती हैं। इस प्रकार तुम देखते हो कि हमारे नेत्र फ़ोटोके कैमेरेसे हर एक बातमें मिलते-जुलते हैं। अपूर्वता केवल इतनी ही है कि आदमीके बनाये हुए बाजारू कैमेरेमें एक प्लेटपर केवल एक ही चित्र खिंच सकता है; और दूसरा चित्र लेनेके लिये उसमें दूसरा प्लेट भरनेकी जरूरत होती है। किन्तु हमारे नेत्ररूपी इस दैवी कैमेरेमें एक प्लेट जीवन-पर्यन्त सब प्रकारकी तस्वीरें खींचनेके लिये काफी है। ईश्वर और मनुष्यके काममें यही अन्तर है।

केशव—अच्छा, ये आँखें दो क्यों दी गयी हैं? क्या एक ही आँखसे काम नहीं चल सकता था?

पिता—चल सकता था, परन्तु उतना अच्छा नहीं जितना दो आँखोंसे। हमारे ज्ञानका अधिकतर भाग केवल देखने और सुननेकी शक्तियोंपर निर्भर रहता है। इसीलिये हमें आँख और कान दो-दो दिये गये हैं। ये आँखें सिरके सामनेवाले भागमें रखी गयी हैं, क्योंकि इससे हमें देखनेमें सुविधा मिलती है। यदि ये शरीरके किसी अन्य स्थानमें होतीं तो हमें उतनी सुविधा न होती।

केशव—नेत्रोंके ऊपर-नीचे पलकोंपर बरौनीके बाल क्यों पैदा किये गये हैं? क्या इनसे भी कुछ प्रयोजन है?

पिता—हाँ, इनसे भी आँखोंकी रक्षा होती है, और बाहरसे धूल, गर्द इत्यादि आँखोंके अंदर नहीं जाने पाती। साथ ही नेत्रोंको साफ़ और निर्मल रखनेके लिये ऊपरी पलकोंके अंदर पानी निकालनेवाला एक-एक यन्त्र रहता है, जिसे 'अश्रुग्रन्थि' (Tear-gland) [illegible] [illegible] छोटी-सी नली नाकके अंदर लगी है। धुआँ लगने अथवा रोते समय जब अश्रुग्रन्थिसे आँसू बहुत अधिक मात्रामें बन-बनकर बहने लगता है, तब उसका कुछ पानी इस नलीद्वारा नाकमें भी आकर टपकने लगता है।

केशव—मेरे दरजेके कई लड़के आँखोंपर चश्मा लगाते हैं और कहते हैं कि बिना चश्मा उन्हें दूरकी चीजें साफ़ तौरसे दिखायी नहीं देतीं। इसका क्या कारण है?

पिता—यह दृष्टिदोष नेत्रोंके सामनेवाले पारदर्शक भाग (Cornea) में कुछ विरूपता उत्पन्न हो जानेके कारण आ जाया करता है। जिन लोगोंको नजदीककी चीजोंपर नित्य बहुत समयतक दृष्टि गड़ाये रखना पड़ता है, उनके नेत्रका यह पारदर्शक भाग बीचमें कुछ मोटा और किनारेकी ओर कुछ पतला पड़ जाता है, जिससे दूरकी वस्तुओंसे आनेवाली प्रकाशकी किरणें टेढ़ी आकर बिखर जाती हैं और अंदरके चित्रपट (Retina) पर ठीक ढंगसे अङ्कित (focussed) नहीं हो सकतीं। निदान उन वस्तुओंका चित्र भी नेत्रोंके भीतर स्पष्ट रूपसे नहीं खिंच सकता और वे धुँधली दिखायी देती हैं। किन्तु जब चश्मेका एक ऐसा कृत्रिम ताल उनके सामने लगा दिया जाता है जिसका बीचका भाग तो पतला और किनारेका भाग मोटा है, तब यह सारा दोष मिट जाता है और उन वस्तुओंका चित्र नेत्रोंके भीतर फिरसे अपने स्वाभाविक ढंगसे प्राप्त होने लगता है। आँखोंमें इस प्रकारका दोष अधिकतर पढ़े-लिखे लोगोंमें ही दिखायी देता है, क्योंकि उन्हें नित्य घंटोंतक अपनी दृष्टि पुस्तकके बारीक अक्षरोंमें गड़ाये रखना पड़ता है। परन्तु कभी-कभी यह दोष पैदायशी भी हुआ करता है और छोटे-छोटे बच्चोंमें देखा जाता है। इसके सिवा एक दूसरे प्रकारका [illegible]

केशव—यह दोष कैसे हो जाता है ?

पिता—यह दोष भी नेत्रोंके सामनेवाले पारदर्शक भाग (Cornea) की विरूपतासे ही उत्पन्न हो जाता है, किन्तु इसमें विरूपता दूसरे प्रकारकी होती है अर्थात् इसमें पारदर्शक भागका बीचवाला अंश मोटा न होकर पतला पड जाता है और मोटाई किनारेके भागोंपर चढ़ जाती है। अतएव इसके लिये एक ऐसे ऐनककी जरूरत होती है, जिसके ताल बीचमें तो मोटे हों और किनारेकी ओर पतले। जिन्हें पढ़ने-लिखने या सीने-पिरोनेके लिये ऐनक लगाना पड़ता है, उनका ऐनक बस इसी प्रकारका होता है। किन्तु दूरका दृष्टिदोष हो या नजदीकका—सबका मूल कारण प्रायः स्वास्थ्यके नियमोंकी अवहेलना और नेत्रोंका अनुचित उपयोग ही हुआ करता है। यदि आरम्भसे ही स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करते हुए नेत्रोंकी रक्षाका पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाय तो चश्मा लगानेका अवसर बहुत ही कम आने पावे।

केशव—अच्छा तो नेत्रोंकी रक्षाके लिये करना क्या चाहिये ?

पिता—देखो, विद्यार्थियोंमें जो आँखोंकी कमजोरी अधिकतर देखी जाती है,वह उनके पढ़ने-लिखनेके अनुचित ढंगसे ही उत्पन्न हो जाया करती है। अतएव सबसे पहले उन्हें अपने पढ़ने-लिखनेका ढंग ही सुधारना चाहिये।

केशव—कैसे ?

पिता—देखो, बहुत-से लड़कोंकी आदत होती है कि पुस्तकको आँखोंके बिल्कुल पास ले जाकर पढ़ते हैं। यह आदत अच्छी नहीं। इससे आँखें बहुत जल्द खराब हो जाती हैं। पढ़नेमें किताबको न तो बहुत पास रखना चाहिये और न बहुत दूर। करीब एक हाथकी दूरीपर रखकर पढ़ना चाहिये। किताबको धूपमें भी रखकर पढना ठीक नहीं है। इससे आँखें कमजोर हो जाती हैं। सदैव छायामें ही बैठकर पढ़ना चाहिये और पढ़ते समय बैठना इस तरह चाहिये कि प्रकाश सामनेकी तरफसे न आवे, बल्कि बाईं तरफसे आता रहे। सन्ध्या समय या धीमी रोशनीमें भी कभी न पढ़ना चाहिये, क्योंकि इससे भी आँखोंपर बड़ा जोर पड़ता है। कुछ लड़के शरीर हिल-हिलकर पढ़ा करते हैं और कुछको पेटके बल लेटकर पढ़नेकी आदत होती है। ये दोनों आदतें भी बहुत बुरी हैं। इनसे न केवल आँखें ही खराब होती हैं, बल्कि फेफड़े और पेट भी दबकर कमजोर पड़ जाते हैं। पढ़ने-लिखनेका काम जहाँतक हो सके किसी मेज या डेस्कपर रखकर करना उत्तम है। डेस्ककी ऊँचाई इतनी हो कि पढ़ते समय शरीरको झुकाना न पड़े। डेस्क नीचा होनेसे लड़कोंको झुककर बैठनेकी आदत पड़ जाती है, जिससे रीढ़ टेढ़ी पड़ जाती है। यदि मेज या डेस्क न मिले तो किताब रखनेके लिये किसी संदूकचीको ही काममें लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब कभी बहुत देरतक लगातार लिखने-पढ़नेका काम करना पडे तो थोडी-थोड़ी देरमें नेत्रोंको किताब या कागजपरसे हटाकर एक या दो मिनटतक किसी दूरकी चीजको देखने लग जाय। इससे आँखोंमें जल्दी दृष्टिदोष नहीं पैदा होने पाता और न वे उतनी जल्दी थकती ही हैं। यह सावधानी तो पढ़ने-लिखनेके सम्बन्धमें हुई। अब कुछ दो-एक बातें और हैं, जिन्हें सीने-पिरोनेवाली लड़कियों एवं सिनेमा-थियेटर देखनेवाले शौकीनोंको ध्यानमें रखना चाहिये।

केशव—वे क्या हैं ?

पिता—बहुधा लड़कियाँ सीने-पिरोनेके समय नेत्रोंपर बहुत अनुचित जोर डाला करती हैं, जिससे उनकी आँखें और सिर दर्द करने लगते हैं और धीरे-धीरे नेत्रोंकी शक्ति भी घट जाती है। सीते समय इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि गर्दन और छाती बहुत झुकी हुई न हो और दृष्टि सदा एक ही स्थानपर न गड़ी रहे, बल्कि सुईके साथ-साथ ऊपर और नीचेको बराबर फिरती रहे। इससे नेत्रोंपर जोर बहुत कम पड़ेगा और आँखें जल्दी खराब न होने पावेंगी।

देखा होगा कि उनके मुँहको चित्र लेते समय ठीक सीधान पर रखनेके लिये कुछ ऊपर-नीचे हटानेका भी प्रबन्ध रहता है। उसी प्रकार हमारे नेत्रोंकी पुतलियाँ भी इच्छानुसार ऊपर-नीचे और इधर-उधर फिरायी जा सकती हैं, जिससे हम बिना सिर घुमाये इधर-उधरकी चीजोंको देख सकते हैं। प्रत्येक नेत्रमें इसके लिये छः-छः मांसपेशियाँ लगी रहती हैं। इस प्रकार तुम देखते हो कि हमारे नेत्र फोटोके केमेरेसे हर एक बातमें मिलते-जुलते हैं। अपूर्वता केवल इतनी ही है कि आदमीके बनाये हुए बाजारू केमेरेमें एक प्लेटपर केवल एक ही चित्र खिंच सकता है; और दूसरा चित्र लेनेके लिये उसमें दूसरा प्लेट भरनेकी जरूरत होती है। किन्तु हमारे नेत्ररूपी इस दैवी केमेरेमें एक प्लेट जीवन-पर्यन्त सब प्रकारकी तस्वीरें खींचनेके लिये काफ़ी है। ईश्वर और मनुष्यके काममें यही अन्तर है।

केशव—अच्छा, ये आँखें दो क्यों दी गयी हैं? क्या एक ही आँखसे काम नहीं चल सकता था?

पिता—चल सकता था, परन्तु उतना अच्छा नहीं जितना दो आँखोंसे। हमारे ज्ञानका अधिकतर भाग केवल देखने और सुननेकी शक्तियोंपर निर्भर रहता है। इसीलिये हमें आँख और कान दो-दो दिये गये हैं। ये आँखें सिरके सामनेवाले भागमें रखी गयी हैं, क्योंकि इससे हमें देखनेमें सुविधा मिलती है। यदि ये शरीरके किसी अन्य स्थानमें होतीं तो हमें उतनी सुविधा न होती।

केशव—नेत्रोंके ऊपर-नीचे पलकोंपर बरौनीके बाल क्यों पैदा किये गये हैं? क्या इनसे भी कुछ प्रयोजन है?

पिता—हाँ, इनसे भी आँखोंकी रक्षा होती है, और बाहरसे धूल, गर्द इत्यादि आँखोंके अंदर नहीं जाने पाती। साथ ही नेत्रोंको साफ़ और निर्मल रखनेके लिये ऊपरकी पलकोंके अंदर पानी निकालनेका एक-एक यन्त्र भी रहता है, जिसे 'अश्रुग्रन्थि' (Tear-gland) कहते हैं। इससे थोड़ा-थोड़ा जल निकलकर नेत्रोंको सरस और साफ़ रखता है। इस यन्त्रसे मिली हुई एक छोटी-सी नली नाकके अंदर लगी है। धुआँ ल[गने]
अथवा रोते समय जब अश्रुग्रन्थिसे आँसू बहुत अ[धिक]
मात्रामें बन-बनकर बहने लगता है, तब उस[का]
पानी इस नलीद्वारा नाकमें भी आकर टपकने ल[गता है।]

केशव—मेरे दरजेके कई लड़के आँखोंपर [चश्मा]
लगाते हैं और कहते हैं कि बिना चश्मा उन्हें दूरकी [चीजें]
साफ़ तौरसे दिखायी नहीं देतीं। इसका क्या का[रण है?]

पिता—यह दृष्टिदोष नेत्रोंके सामनेवाले प[ारदर्शक]
भाग (Cornea) में कुछ विरूपता उत्पन्न हो[नेके]
कारण आ जाया करता है। जिन लोगोंको न[जदीककी]
चीजोंपर नित्य बहुत समयतक दृष्टि गड़ाये रख[नी पड़ती]
है, उनके नेत्रका यह पारदर्शक भाग बीचमें कु[छ मोटा]
और किनारेकी ओर कुछ पतला पड़ जाता है[।]
दूरकी वस्तुओंसे आनेवाली प्रकाशकी कि[रणें]
आकर बिखर जाती हैं और अंदरके चित्रपट(
पर ठीक ढंगसे अङ्कित (focussed) नहीं हो[तीं।]
निदान उन वस्तुओंका चित्र भी नेत्रोंके भी[तर]
रूपसे नहीं खिंच सकता और वे धुँधली
देती है। किन्तु जब चश्मेका ए[क]
कृत्रिम ताल उनके सामने लगा दिया जाता [है]
बीचका भाग तो पतला और किनारेका भाग
तब यह सारा दोष मिट जाता है और उन
चित्र नेत्रोंके भीतर फिरसे अपने स्वाभाविक ढं[गसे]
होने लगता है। आँखोंमें इस प्रकारका दो[ष]
पढ़े-लिखे लोगोंमें ही दिखायी देता है, क[्योंकि]
नित्य घंटोंतक अपनी दृष्टि पुस्तकके अ[क्षरों]
गड़ाये रखना पड़ता है। परन्तु कभी-कभी
पैदायशी भी हुआ करता है और छोटे-छो[टे]
तकमें देखा जाता है। इसके विपरीत एक दूसरे
दृष्टिदोष भी होता है, जिसमें आदमीको
तो स्पष्ट दिखायी देती हैं, किन्तु पासकी
जान पड़ती हैं। ऐसे लोग दूरस्थ हो ...
अक्षरोंको तो आसानीसे पढ़ लेते हैं, कि[न्तु]
हुई पुस्तकके अक्षरोंको बिना चश्मेके नहीं ...

रोग इस दोषके कारण हुआ करते हैं। अतएव इनके विषयमें किसी प्रकारकी भी उपेक्षा या लापरवाही करना भयङ्कर भूल है। जिस समय किसीको अपने नेत्रोंमें किसी प्रकारकी भी शिकायत जान पड़े, तो उसे तुरंत किसी अच्छे चिकित्सकसे मिलकर उसकी राय लेनी चाहिये और उसीकी सलाहसे काम करना चाहिये। आँखोंमें बहुत-से संक्रामक रोग भी हुआ करते हैं। अतएव उनकी छूतसे आँखोंको सदा बचाये रखना चाहिये। बहुधा देखा जाता है कि घरमें यदि एक बच्चेकी आँख उठी हो तो दूसरे बच्चोंकी भी आँखें उठ आया करती हैं। अतएव इस प्रकारकी छूतसे बचना बहुत जरूरी है। जिस बर्तनसे और जिस तौलिया या रुमालसे ऐसे बच्चोंका आँख-मुँह धोया और पोंछा जाता है, उसे दूसरोंके व्यवहारमें हर्गिज नहीं लाना चाहिये, नहीं तो उसकी छूत दूसरोंको भी लग जायगी। सब बातोंको विस्तारपूर्वक समझानेके लिये यहाँ समय और स्थान नहीं है। संक्षेपमें केवल इतना ही समझ लो कि सब प्रकारकी शुद्धता और नेत्रोंका उचित उपयोग ही नेत्ररक्षाका सर्वश्रेष्ठ साधन है, और इन्हींकी उपेक्षा भाँति भाँतिके नेत्ररोगोंका आह्वान है।

केशव—मैं समझ गया हूँ और आपकी बतायी हुई बातोंपर सदा ध्यान रखूँगा।

बलात्कारके समय क्या करें ?

(लेखक—महात्मा गांधी)

एक बहनने अपने पत्रमें मुझसे नीचे लिखे सवाल पूछे हैं—

१. कोई दैत्य-जैसा मनुष्य राह चलती किसी बहनपर हमला करके उसपर बलात्कार करनेमें सफल हो जाय, तो क्या उस बहनका सतीत्व भङ्ग हुआ माना जायगा ?

२. क्या वह बहन तिरस्कारकी पात्र है ? उसका बहिष्कार किया जा सकता है ?

३. ऐसे सङ्कटमें फँसी हुई स्त्री क्या करे ? जनता क्या करे ?

तिरस्कार नहीं, दयाकी पात्र

मैं मानता हूँ कि हर अवस्थामें तो इसे सतीत्व-भङ्ग ही कहना होगा। लेकिन जिसपर सफल बलात्कार किया जाय, वह स्त्री किसी भी तरह तिरस्कार या बहिष्कारकी पात्र नहीं, वह तो दयाकी पात्र है। उसकी गिनती घायलोंमें होनी चाहिये; और इसलिये घायलोंकी सेवाकी तरह उसकी भी सेवा करनी चाहिये।

सच्चा सतीत्व-भङ्ग तो उस स्त्रीका होता है, जो उसमें सम्मत हो जाती है; लेकिन जो विरोध करते हुए भी घायल हो जाती है, उसके सम्बन्धमें सतीत्व-भङ्गकी अपेक्षा यह अधिक उचित है कि उसपर बलात्कार हुआ। 'सतीत्व भङ्ग' या व्यभिचार शब्द बदनामीका सूचक है, इसलिये वह बलात्कारका पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। जिसका सतीत्व बलात्कारपूर्वक नष्ट किया गया है, उसको किसी भी तरह निन्दनीय न माना जाय, तो ऐसी घटनाओंको छिपानेका जो रिवाज पड़ गया है, वह मिट जाय। यदि मिट जाय, तो खुले दिलसे ऐसी घटनाओंके विरुद्ध ऊहापोह कर सकेंगे।

अगर अखबारोंमें इन घटनाओंके खिलाफ ठीक-ठीक आवाज उठायी जाय तो सैनिकोंकी छेड़खानी बहुत कुछ रुक सकती है और तब उनके सरदार भी उन्हें बहुत हदतक रोक सकेंगे।

आज शहरोंमें रहनेवाली प्रत्येक स्त्रीके सामने यह खतरा तो है ही, और इसीलिये पुरुषोंको इसके सम्बन्धमें चिन्तित रहना पड़ता है। इसलिये मेरी सलाह तो यह है कि डरकर नहीं, बल्कि सावधानीके विचारसे स्त्रियोंको गाँवोंमें जाकर बस जाना चाहिये और वहाँ गाँवोंकी कई तरहसे सेवा करनी चाहिये। गाँवोंमें खतरेकी कम-से-कम सम्भावना है। यह याद रखना होगा कि गाँवोंमें धनवान् बहनोंको सादगी और गरीबीसे रहना पड़ेगा। अगर वे वहाँ कीमती गहने और कपड़े पहनकर अपने धनका प्रदर्शन करेंगी तो एक सङ्कटसे बचकर दूसरेमें जा पड़ेंगी। और हो सकता है कि देहातमें उन्हें एकके बदले दो-दो सङ्कटोंका सामना करना पड़े।

स्त्रियाँ निर्भय बनें

लेकिन असल चीज तो यह है कि स्त्रियाँ निर्भय बनना सीख जायँ । मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो स्त्री निडर है और जो दृढ़तापूर्वक यह मानती है कि उसकी पवित्रता ही उसके सतीत्वकी सर्वोत्तम ढाल है, उसका शील सर्वथा सुरक्षित है । ऐसी स्त्रीके तेजमात्रसे पशुपुरुष चौंधिया जायगा और लाजसे गड़ जायगा।

इस लेखको पढ़नेवाली बहनोंसे मेरी सिफारिश है कि वे अपने अंदर हिम्मत पैदा करें । परिणाम इसका यह होगा कि वे भयसे छुटकारा पा जायँगी और निर्भय रह सकेंगी। वे स्त्रियोंमें पायी जानेवाली थरथराहट या कम्पनका त्याग कर देंगी। यह कोई नियम नहीं कि हर एक सोल्जर (सैनिक) पशु बन ही जाता है । बेशरमीकी इस हदतक जानेवाले सोल्जर कम ही होते हैं । सौमें बीस ही साँप जहरीले होते हैं और बीसमें भी डँसनेवाले तो इने-गिने ही होते हैं । जबतक कोई छेड़े या सताये नहीं, साँप हमला नहीं करता । लेकिन डरपोकको इस ज्ञानसे कोई लाभ नहीं होता । वह तो साँपको देखते ही थर-थर काँपने लगता है । अतएव जरूरत तो यह है कि हर एक स्त्री निर्भय बननेकी शिक्षा प्राप्त करे । माता-पिताओं और पतियोंका काम है कि वे उन्हें यह शिक्षा दें । इस शिक्षाको प्राप्त करनेका सबसे सरल उपाय तो ईश्वरमें आस्था रखना है । अदृश्य होते हुए भी वह हर एककी रक्षा करनेवाला अचूक साथी है । जिसमें यह भावना उत्पन्न हो चुकी है, वह सब प्रकारके भयोंसे मुक्त है ।

निडरता या आस्थाकी यह शिक्षा एक दिनमें नहीं मिल सकती । अतएव यह भी समझ लेना चाहिये कि इस दरम्यान क्या किया जा सकता है । जिस स्त्रीपर इस तरहका हमला हो, वह हमलेके समय हिंसा अहिंसाका विचार न करे । उस समय अपनी रक्षा ही उसका परम धर्म है । उस वक्त जो साधन उसे सूझें, उनका उपयोग करके वह अपनी [illegible] और अपने शरीरकी रक्षा करे । ईश्वरने उसे [illegible] दिये हैं, [illegible] दिये हैं और [illegible] दी है । वह इनका उपयोग करे [illegible] और इन्होंसे मर जाय । [illegible] अपने [illegible] एक पुरुष [illegible]

लेता है और कोई चींटीकी तरह रेंगना पसंद करता [illegible] इसी तरह कोई स्त्री लाचार होकर, जूझना छोड़, [illegible] पशुताके वश हो जाती है ।

ये बातें मैंने तिरस्कारवश नहीं लिखीं; केवल [illegible] स्थितिका ही जिक्र किया है । सलामीसे लेकर [illegible] तककी सभी क्रियाएँ एक ही चीजकी सूचक हैं । [illegible] लोभ मनुष्यसे क्या-क्या नहीं कराता ? अतएव जो [illegible] लोभ छोड़कर जीता है, वही जीवित रहता है । '[illegible] भुञ्जीथाः' इस मन्त्रके अर्थको हर एक पाठक समझ ले [illegible] कण्ठाग्र कर लें।

दर्शक पुरुष क्या करे ?

यह तो स्त्रीका धर्म हुआ । लेकिन दर्शक पुरुष [illegible] करे ? सच पूछो तो इसका जवाब मैं ऊपर दे चुका [illegible] वह दर्शक न रहकर रक्षक बनेगा । वह खड़ा-खड़ा [illegible] नहीं । वह पुलिसको ढूँढ़ने नहीं जायगा । [illegible] जंजीर खींचकर अपने-आपको कृतार्थ नहीं मानेगा । [illegible] वह अहिंसाको जानता होगा तो उसका उपयोग करेगा । [illegible] मर मिटेगा और संकटमें फँसी हुई बहनको उबारेगा । [illegible] अहिंसासे नहीं तो हिंसाद्वारा बहनकी रक्षा करेगा । [illegible] हो या हिंसा, आखिरी चीज तो मौत है । [illegible] कारण अशक्त और बिना [illegible] समय यह कहकर छूटना चाहे कि मैं तो कमजोर [illegible] मैं क्या कर सकता हूँ ? मुझे तो अहिंसा ही [illegible] उसी क्षण उसका [illegible] नष्ट हो [illegible] निन्दनीय बन जायगा क्योंकि अगर [illegible] मिटनेका निश्चय कर ले और [illegible] तो बहनकी रक्षा हो ही जायगी, [illegible] भी न रहेगा ।

[illegible]

अशुर-मानव

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, मई १९४२ सौर वैशाख १९९९ { संख्या १० पूर्ण संख्या १९०

नाम-कामतरु

कलि नाम काम तरु रामको ।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घनघामको ॥
नाम लेत दाहिनो होत मन बाम बिधाता बामको ।
कहत मुनीस महेस महातम उलटे सूधे नामको ॥
भलो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित-ललामको ।
तुलसी जग जानियत नामते सोच न कूच मुकामको ॥

—तुलसीदासजी

१—२—

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥
(अथर्व० १ । ३४ । ३)

मेरा निकट गमन मधुमय हो, मेरा मधुमय दूर गमन ।
वाणीसे मैं मधुमय बोलूँ, बन जाऊँ माधुर्य-सदन ॥

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥
(अथर्व० १० । ८ । २६)

उठ, जाग, जीव ! टुक देख यहाँ; माँ तुझे जगाने आयी है ;
अजरा-अमरा माँ कल्याणी पय तुझे पिलाने आयी है ।
यह मर्त्य अनित्य विनश्वर घर—जर्जर, भर्भर गिरनेवाला ;
चल निकल यहाँसे, माँ तुझको अमरत्व दिलाने आयी है ॥
उठ, लाल ! पड़ा क्यों सोता है ! जननीकी सूनी गोद भरे ;
यह सुधा-सिन्धु हिल्लोल उठे, तू चिदानन्द बन मोद करे ।
यह बैठी तेरे लिये यहाँ, क्या जाने कबसे जाग रही ;
माताकी ममताने अपनी बाँकी झाँकी दिखलायी है ॥

अव यत्त्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे ।
राजन्नप द्विषः सेध मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥
(ऋ० ८ । ७९ । ९)

मेरे राजा सोम, हृदयसे द्वेष भावना दूर भगा दो ;
रहे न हिंसा वृत्ति, अमृत-सिञ्चन कर ऐसे रंग रँगा दो ।
बन जातीं विपरीत इन्हींके कारण दिव्य वृत्तियाँ मेरी ;
हो जाता है हृदय कुमतिका केन्द्र, कलुषकी बजती भेरी ।
हृदय, जहाँ तुम शोभित होते मेरे साथ परमपद शोभी,—
फिर कैसे टिक सकें वहाँपर दुर्मतियाँ दुखदायिनि लोभी ।
दूर भगा दो, दूर भगा दो—द्वेष लेश भर भी न रहे प्रभु !
हृदय सधस्थ रहे नित निर्मल, धवल धर्मकी धार बहे प्रभु ।

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥
(अथर्व० ७ । १०९ । ७)

नाथ ! विकट सङ्कटकी वेला !
रिपु दल चारों ओर खड़ा है देख मुझे असहाय, अकेला !
देवोंका आह्वान करूँ मैं, पर वे भी मुख मोड़ चले क्यों !
ब्रह्मचर्य व्रत, तप संयम सब मुझ निबलको छोड़ चले क्यों !
इन्द्रिय-दमन, शमन-मन-तनका मैंने खेल स्वयं ही खेला !
मेरी इस दयनीय दशापर दया दृष्टि करुणाकर डालो !
मेरी बिगड़ी बात बनाकर कष्ट-कूपसे नाथ निकालो !
उलटे पुण्य कर्म सिर मेरे, क्यों सि [illegible] ठेला !

प्रार्थना

दयामय ! यह सच है कि तुम्हारी दया सभी जीवोंपर समान है और वह है असीम । परन्तु मैं इतना अभागा हूँ कि तुम्हारे उस करुणामृतकी वर्षामें सदा नहा नहीं पाता । जब अपने अनुकूल कोई बात देखता हूँ तब तो कभी-कभी तुम्हारी दया मान भी लेता हूँ परन्तु प्रतिकूलमें तो कभी मानता ही नहीं ! यह भी जानता हूँ कि तुम्हारी दया दोनों ही रूपोंमें आती है और आती है मेरा कल्याण करनेके लिये ही, परन्तु प्रतिकूलताके रूपमें मन उसे स्वीकार नहीं करता । प्रभो ! वह दिन कब होगा जब मैं अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंको ही तुम्हारी कृपा-सुधा समझकर बड़े आनन्दसे पी जाऊँगा । कब मैं अपमान-मान, तिरस्कार-पुरस्कार, प्रशंसा-निन्दा, लाभ-हानि, सुख-दुःख और जीवन-मरण सभीमें तुम्हारी दयाके दर्शन कर परम शान्ति और सन्तोषका अनुभव करूँगा ?

मेरे प्रभो ! इस समय इस बातसे मनमें बड़ी ही पीड़ा हो रही है कि मैं तुम्हारा कहलाकर भी वस्तुतः अपनेको तुम्हारा बना नहीं पाया । देखता हूँ—स्पष्ट देख पाता हूँ कि मुझपर अब भी विषयोंका अधिकार है । कभी-कभी तो बड़ी ही बुरी तरहसे विषय-वासना अपना प्रभुत्व प्रकट करती है और बाध्य करना चाहती है अपनी गुलामी करानेके लिये ! उस समय बड़ी व्यथा होती है—बस, तुम्हारी कृपा ही उस समय बचाती है । देखता हूँ—तुम्हारी कृपाके द्वारा क्षणमें ही उस वासनाका विनाश हो जाता है । इतना होनेपर भी मैं सर्वथा तुम्हारा ही नहीं बन पाता हूँ !

मेरे सर्वशक्तिमान् स्वामी ! मालूम होता है मेरे प्रयत्नसे कुछ नहीं होगा । अब तो तुम्हीं अपनी शक्तिसे इस अधमको उठाकर हृदयसे चिपका लो । यह तुम जानते ही हो कि कभी-कभी तो मेरे प्राण तुम्हारे लिये छटपटाते ही हैं । बुद्धिका निर्णय भी यही होता है कि तुम्हारा ही बन जानेमें मेरा कल्याण है । परन्तु दुष्ट मन नहीं मानता । मेरे प्राणोंकी छटपटाहटपर विचार कर मेरे प्रभो ! तुम्हीं अपनी कृपासे मुझे बचाओ । ऐसा न करो तो यही कर दो कि मुझे न तो कभी कोई चाह हो और न मैं बार-बार प्रार्थना करके उसके लिये तुम्हें सताऊँ ही । तुम जो करो, जैसे करो, जब करो, मुझे किसी भी हालतमें कैसे भी रक्खो—मैं उसीमें सन्तुष्ट रहूँ और इस बातका अनुभव करता रहूँ कि यह सब तुम्हारी ही कृपा है । तुम्हारे अजानमें कुछ नहीं हो रहा है । तुम सोच-समझकर ही मुझे इस स्थितिमें रक्खे हुए हो—और सचमुच इसीमें कल्याण है ।

—तुम्हारा ही कोई ।

कल्याण

याद रक्खो—भगवान्की भक्तिमें आडम्बरकी आवश्यकता नहीं है। बाहरी दिखावा तो वहाँ होता है जहाँ भीतरकी अपेक्षा बाहरका—करनेकी अपेक्षा दिखानेका महत्त्व अधिक समझा जाता है। भक्ति तो करने की वस्तु है—करनेकी चीज है इसमें दिखावा कैसा ? बस, चुपचाप मनको चले जाने दो उनके चरणोंमें और मस्त हो रहो। जब तुम्हारे पास मन ही अपना न होगा तो दूसरी बात सोचोगे ही कैसे ? दिन-रात आलिङ्गन करते रहो अपने प्रियतमका भीतरके बंद कमरेमें, और बाहरको भूल जाओ। वस्तुतः ऐसी अवस्थामें— मस्तीकी मौजमें बाहरकी याद आती ही किसे है !

याद रक्खो—किसी दूसरे कामके लिये भगवान्से प्रेम करना सच्चा प्रेम नहीं है। वह तो असलमें प्रेम का तिरस्कार है। प्रेममें चाह नहीं होती 'फिर प्रेम क्यों करते हो ?' 'इसीलिये कि किये बिना रहा नहीं जाता।' 'मनको न जाने दो उधर !' 'जाने देनेकी कौन-सी बात; मन इधर तो आता ही नहीं। एक क्षणके लिये भी तो वहाँसे हटना नहीं चाहता। उसे न कोई चाह है न परवाह ! वह तो मतवाला हो गया है।' यह है भगवत्प्रेम। इसीकी साधना करो।

याद रक्खो—जब सच्चे प्रेमका स्रोत हृदयमें बह निकलेगा तब क्षणमें ही अनन्त कालकी सारी वासनाएँ धुल जायगी। फिर स्मरण, कीर्त्तन, ध्यान और तन्मयता अपने-आप ही होने लगेंगे। रोमाञ्च, अश्रुपात आदि सात्त्विक भावोंका उदय और अभ्युदय स्वाभाविक ही होता रहेगा। ऐसा ही भक्त भुवनको पावन करनेवाला होता है। 'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।'

याद रक्खो—सच्चा सौन्दर्य वही है, जहाँ भगवान्का प्रेम छलक रहा है। भगवत्प्रेमको छोड़कर जो कुछ भी है वह तो सदा ही भयानक और बीभत्स है। मन जब विषयासक्तिसे रहित होकर सारी असद्भावनाओंसे शुन्य हो जाता है तब उसमें भगवत्प्रेमकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रेमसे जिस स्वरूपका प्रकाश होता है, वस्तुतः वही यथार्थ सुन्दर है।

याद रक्खो—इस प्रेमकी साधनाके लिये आवश्यकता है निष्कपट प्रेम-कामनाकी। बस, उनका प्रेम ही चाहो, प्रेमसे ही चाहो, प्रेममें ही चाहो। दिल खोलकर सरलतासे उन्हें पुकारो। भगवत्प्रेम निष्कपट प्रेम-कामनासे ही मिलता है। मनको टटोल-टटोलकर देखते रहो उसमें कोई दूसरी कामना छिपी तो नहीं है।

याद रक्खो—तुम जिसको चाहते हो, जिसको अपना बनाना चाहते हो उसके अनुकूल तो तुम्हें होना ही पड़ेगा। तुम भगवान्को और उनके प्रेमको चाहोगे तो तुम्हारा पहला कर्तव्य होगा, तन-मनसे उनके अनुकूल चलना ! साथ ही तुम्हें अपने बाहर-भीतरके आचरणोंसे यह भी सिद्ध कर देना होगा कि तुम उनके सामने भोग-मोक्ष सभीको तुच्छ समझते हो। इसमें विशेष सावधानीकी आवश्यकता है, नहीं तो विशुद्ध प्रेम-कामना ही ... नहीं होगी।

'शिव'

श्रीश्रीहाथीबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रश्न—बाबा, श्रीकृष्णदर्शनका उपाय क्या है ?

उत्तर - श्रीकृष्णके दर्शनोंकी लालसा ही श्रीकृष्णदर्शनका मुख्य उपाय है। जबतक मन इस संसारसे नहीं फिरता, तबतक आनन्द नहीं आता। देखो, गोसाईंजी भी कहते हैं—

> जगते रहु छत्तीस ह्वै, रामचरन छः तीन।
> तुलसी देखि बिचारिऐ, है यह मती प्रबीन॥

संसारमें हमारा जितना राग है, उससे हजारों गुनी अधिक लालसा कृष्णदर्शनकी बनी रहनी चाहिये। जबतक मन संसारमें भटकेगा, तबतक कृष्णदर्शन नहीं हो सकता। अरे, जब तुम जगत्‌को देखोगे तो जगत् दिखायी देगा और जब श्रीकृष्णको देखना चाहोगे तब श्रीकृष्ण दिखायी देंगे।

प्र०—कीर्तन कैसे करना चाहिये ?

उ०—कीर्तन हर समय और अत्यन्त प्रेमपूर्वक करना चाहिये। भगवान् स्वयं कह रहे हैं—'सततं कीर्तयन्तो माम्।' उसके साथ हार्दिक प्रेम भी होना चाहिये। प्रेम वह वस्तु है, जिससे प्रभु मिल जाते हैं। किन्तु वह होना चाहिये सर्वथा शुद्ध, उसमें कपटका लेश भी नहीं होना चाहिये। देखो, भगवान् ही कह रहे हैं—

> निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

प्र०—बाबा, हम लोग गृहस्थ हैं; हमारा उद्धार कैसे होगा ?

उ०—गृहस्थ क्या नरकमें जानेके लिये ही आया है ? और साधु क्या बिना भजन किये ही तर जायगा ! अरे ! चौबीस घंटोंमें कुछ समय तो भजनमें लगाओ। गृहस्थ हो या साधु—कल्याण तो सबका भजनसे ही होगा, बिना भजन तो कुछ होना नहीं है।

× × × × ×

१. जिनकी सब आशाएँ शान्त हो गयी हैं, वे ही सुखी हैं और वे ही धनी हैं। जिसे तरह-तरहकी आशाएँ घेरे रहती हैं, वह पैसेवाला होनेपर भी काहेका धनी है।

२. सब महापुरुषोंका मत यही है कि सत्यको ग्रहण करे और भगवान्‌का भजन करे। भजन ही जीवोंका सच्चा स्वार्थ है।

श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

> स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥

भजन ही ऐसा स्वार्थ है, जिससे जीवका कल्याण हो सकता है। और सब स्वार्थ तो आत्मकल्याणसे दूर ही ले जानेवाले हैं।

३. सारे संसारको प्रभुमय देखना ही सम्यक् ज्ञान है। ऐसी दृष्टि बनानेकी कोशिश करनी चाहिये। सर्वत्र समदृष्टि रखनेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है। जिसकी दृष्टिमें सारा जगत् प्रभुमय है, वह किससे विरोध करेगा ? उसके लिये तो किसीसे विरोध करना प्रभुसे ही विरोध करना है। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

> उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
> निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

४. सत्संगकी बड़ी महिमा है, वह सुगमतासे मिलता भी नहीं। जब भगवान्‌की कृपा होती है, तभी सच्चे साधुओंका संग मिलता है, उस साधुसमागमके बिना जीवके विवेकरूप नेत्र नहीं खुलते। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

याद रक्खो—भगवान्‌की भक्तिमें आडम्बरकी आवश्यकता नहीं है। बाहरी दिखावा तो वहीं है जहाँ भीतरकी अपेक्षा बाहरका—करनेकी अपेक्षा दिखानेका महत्त्व अधिक समझा जाता है। भक्ति तो करने की वस्तु है—करनेकी चीज है इसमें दिखावा कैसा? बस, चुपचाप मनको चले जाने दो उनके चरणोंमें मस्त हो रहो! जब तुम्हारे पास मन ही अपना न होगा तो दूसरी बात सोचोगे ही कैसे? दिन-रात [illegible] करते रहो अपने प्रियतमका भीतरके बंद कमरेमें, और बाहरको भूल जाओ। वस्तुतः ऐसी अन्तर्ग [illegible] मस्तीकी मौजमें बाहरकी याद आती ही किसे है?

याद रक्खो—किसी दूसरे कामके लिये भगवान्‌से प्रेम करना सच्चा प्रेम नहीं है। वह तो अनन्त [illegible] का तिरस्कार है। प्रेममें चाह नहीं होती 'फिर प्रेम क्यों करते हो?' 'इसीलिये कि किये बिना रहा नहीं [illegible] 'मनको न जाने दो उधर!' 'जाने देनेकी कौन-सी बात; मन इधर तो आता ही नहीं। एक क्षणके [illegible] तो वहाँसे हटना नहीं चाहता। उसे न कोई चाह है न परवाह! वह तो मतवाला हो गया है।' यह है म[illegible] इसीकी साधना करो।

याद रक्खो—जब सच्चे प्रेमका स्रोत हृदयमें बह निकलेगा तब क्षणमें ही अनन्त कालकी सारी [illegible] धुल जायगी। फिर स्मरण, कीर्त्तन, ध्यान और तन्मयता अपने-आप ही होने लगेंगे। रोमाञ्च, अश्रु [illegible] सात्त्विक भावोंका उदय और अभ्युदय स्वाभाविक ही होता रहेगा। ऐसा ही भक्त भुवनको पावन करने [illegible] है। 'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।'

याद रक्खो—सच्चा सौन्दर्य वही है, जहाँ भगवान्‌का प्रेम छलक रहा है। भगवत्प्रेमको छोड़कर [illegible] भी है वह तो सदा ही भयानक और बीभत्स है। मन जब विषयासक्तिसे रहित होकर सारी असुन्दरताओं [illegible] हो जाता है तब उसमें भगवत्प्रेमकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रेमसे जिस स्वरूपका प्रकाश होता है, [illegible] यथार्थ सुन्दर है।

याद रक्खो—इस प्रेमकी साधनाके लिये आवश्यकता है निष्काम प्रेम-कामनाकी। बस, उन [illegible] ही चाहो, प्रेमसे ही चाहो, प्रेममें ही चाहो। दिल खोलकर सरलतासे उन्हें पुकारो। भगवत्प्रेम [illegible] कामनासे ही मिलता है। मनको टटोल-टटोलकर देखते रहो उसमें कोई दूसरी कामना [illegible] नहीं है [illegible]

याद रक्खो—तुम जिसको चाहते हो, जिसको अपना बनाना चाहते हो [illegible] ही देगा। तुम भगवान्‌को और उनके प्रेमको चाहोगे तो तुम्हारा [illegible] चलना! साथ ही तुम्हें अपने बाहर-भीतरके [illegible] प्रेम-प्रेम [illegible] मनको दो। इसमें [illegible] [illegible] नहीं होगी।

'शिव'

श्रीश्रीहाथीबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रश्न—बाबा, श्रीकृष्णदर्शनका उपाय क्या है ?

उत्तर श्रीकृष्णके दर्शनोंकी लालसा ही श्रीकृष्णदर्शन-मुख्य उपाय है । जबतक मन इस संसारसे नहीं ता, तबतक आनन्द नहीं आता । देखो, गोसाईंजी कहते हैं—

जगते रहु छत्तीस है, रामचरन छः तीन ।
तुलसी देखि बिचारिऐ, है यह मतो प्रवीन ॥

संसारमें हमारा जितना राग है, उससे हजारों गुनी धिक लालसा कृष्णदर्शनकी बनी रहनी चाहिये । बतक मन संसारमें भटकेगा, तबतक कृष्णदर्शन नहीं हो सकता । अरे, जब तुम जगत्‌को देखोगे तो जगत् दिखायी देगा और जब श्रीकृष्णको देखना चाहोगे तब श्रीकृष्ण दिखायी देंगे ।

प्र०—कीर्तन कैसे करना चाहिये ?

उ०—कीर्तन हर समय और अत्यन्त प्रेमपूर्वक करना चाहिये । भगवान् स्वयं कह रहे हैं—'सततं कीर्तयन्तो माम् ।' उसके साथ हार्दिक प्रेम भी होना चाहिये । प्रेम वह वस्तु है, जिससे प्रभु मिल जाते हैं । किन्तु वह होना चाहिये सर्वथा शुद्ध, उसमें कपटका लेश भी नहीं होना चाहिये

रहे हैं—

गृहस्थ हो या साधु —कल्याण तो सबका भजनसे ही होगा, बिना भजन तो कुछ होना नहीं है ।

× × × × ×

१. जिनकी सब आशाएँ शान्त हो गयी हैं, वे ही सुखी हैं और वे ही धनी हैं । जिसे तरह-तरहकी आशाएँ घेरे रहती हैं, वह पैसेवाला होनेपर भी [illegible] धनी है ।

२. सब महापुरुषोंका मत यही है कि [illegible] ग्रहण करे और भगवान्‌का भजन करे । [illegible] जीवोंका सच्चा स्वार्थ है ।

श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा । मन क्रम [illegible]

भजन ही ऐसा स्वार्थ है, [illegible] हो सकता है । और सब [illegible] दूर ही ले जानेवाले हैं ।

३. सारे संसारको [illegible] है । ऐसी दृष्टि बनाके [illegible] बनो । सर्वत्र समदृष्टि रक्खे [illegible], अथवा दूसरे जिसकी दृष्टिमें [illegible] करके झगड़ा न विरोध [illegible] उससे न्याय, प्रेम और [illegible] आचार्यों, धर्मों तथा [illegible] । गरीब और अमीर, [illegible] शासितमें भेद-भाव [illegible] अपने कर्तव्योंमें रत [illegible] रो । निरन्तर मनः- [illegible] दूर करने और आदर्श [illegible] अन्तमें साधुताका

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

सत्संगकी महिमाका वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

५. आजकल बहुत-से साधु आश्रम और कुटिया बनानेमें लग जाते हैं। यह ठीक नहीं। साधुको ऐसी प्रवृत्तिमें नहीं फँसना चाहिये। यदि इसमें कोई दोष न होता तो शास्त्र मने क्यों करता? साधुको चाहिये कि फूसकी कुटीमें पड़ा रहे। इस प्रकार रहेगा तो जब जीमें होगा छोड़कर चल देगा। घर बनाक तो उसे छोड़ना कठिन ही होगा।

६. याद रक्खो, जन्म और मृत्यु—ये द रोग हैं, जो सभीको लगे हुए हैं। जब इन दो छुटकारा मिले, तभी समझना चाहिये कि का ये बड़े दारुण दुःख हैं। इनसे छुट्टी पानेकी महौषधि भगवद्-भजन ही है; बिना भगवान किये जन्म-मरणसे मुक्ति नहीं मिल सकती श्रीगोसाईंजी भी कहते हैं—

'भज मन राम चरन दिन राती॥'

एक एकान्तवासी महात्माके उपदेश

स्थिर हो जाओ और अनुभव करो कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' हाँ, मनकी स्थिरताका अभ्यास करते रहो, और सब-कुछ ठीक हो जायगा। सारे विषयसम्बन्धी विचारोंको दूर करके, अन्तःकरणमें चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करो; मान लो वहाँ (तुम्हारे हृदयमें) एक सुन्दर कमल है, जहाँ नित्य चैतन्यका निवास है। यह केवल एकाग्रताका एक ढंग है, और कुछ नहीं। वस्तुतः चितिशक्तिका न कोई नाम है न रूप। जब मनको तुम निर्विषय कर देते हो उस समय केवल चितिशक्ति रह जाती है, जो प्रेममय, शान्तिमय और आनन्दमय है। तब मन निश्चयपूर्वक उस चितिशक्ति अर्थात् नित्य-चैतन्यमें विलीन हो जाता है। इस साधनाको प्रतिदिन कुछ समयतक नियमितरूपसे करो, और उस समय किसी भी प्रकारके चिन्तन या विचारको मनमें न आने दो। दूसरे समय विक्षेप डालनेवाले वैषयिक विचारोंसे बिल्कुल दूर रहनेकी यथाशक्ति चेष्टा करो। सदा मनको शान्त और स्थिर रक्खो; केवल प्रेम, शान्ति और आनन्दके विचारोंको स्थान दो। वासनाओंको दूर करके शुद्धता प्राप्त करो, तुम्हें नित्य शान्तिकी प्राप्ति होगी, जो जीवनका लक्ष्य है। याद रक्खो—'स विचरण करना और सबके प्रति प्रेमभाव रखना जीवन है, वास्तविक जीवन है।'

शान्ति और आनन्दकी प्राप्तिके लिये तुम्हें सके अपने विचारोंको शुद्ध करना पड़ेगा। रक्खो, स्वार्थपरताकी भावना कभी तुम्हारे मनक न करे। सांसारिक जीवोंको यहाँ केवल एक ही और दैवी शिक्षा लेनी है, और वह है पूर्ण भावना। सभी युगोंमें जिन्होंने इस शिक्षाकी अपनेको लगा दिया, इस शिक्षाको प्राप्त कर तद आचरण किया, वे ही संत, महात्मा और उ कहलाये। संसारके समस्त धर्मग्रन्थ इसीका पाठ प के लिये रचे गये हैं। समस्त बड़े-बड़े आचार्य इ दुहराते हैं। संसार····जो इसकी अवहेलना करके स्व परताके जटिल पथपर लड़खड़ा रहा है उसके लिये सरल शिक्षा है। हृदयको पवित्र करना ही लक्ष्य है और यहीसे आध्यात्मिकताका प्रा

फलकी चिन्ता छोड़कर पूरी ईमानदारीसे अपने कर्तव्योंका पालन करो। सुख या स्वार्थकी कोई कामना तुम्हें कर्तव्य-पथसे च्युत न करे। दूसरोंके कर्तव्यमें हस्तक्षेप मत करो। सदा न्यायशील बने रहो। कठिन-से-कठिन परीक्षामें, तुम्हारा जीवन और सुख खतरेमें पड़ जाय तो भी, सत्यसे विचलित न होओ। दृढ़ सङ्कल्पवाला पुरुष अजेय होता है। वह धोखा नहीं खा सकता, और वह संशय तथा भ्रमके दुःखमय जालसे बचा रहता है। यदि कोई तुम्हें गाली दे, तुम्हारी निन्दा या उपहास करे, तो तुम शान्त और धीर बने रहो; और यह स्मरण रखनेकी चेष्टा करो कि तुम्हारी बुराई करनेवाला तबतक तुम्हें हानि नहीं पहुँचा सकता जबतक तुम बदला लेनेके लिये तैयार नहीं होते, और स्वयं तदनुकूल मानसिक अवस्थाको नहीं प्राप्त होते। बल्कि उस बुरा करनेवालेके प्रति दयाका भाव रक्खो, यह समझकर कि वह स्वयं अपनी ही हानि कर रहा है।

पवित्र विचारवाला पुरुष कभी नहीं सोचता कि दूसरेसे उसकी हानि होती है। वह तो अपने अहङ्कार-के सिवा किसीको शत्रु ही नहीं मानता।

केवल उन्हीं बातोंको कहो जो सत्य और यथार्थ हों। शब्द, संकेत या भावके द्वारा किसीको धोखा न दो। मिथ्यापवादसे उसी प्रकार बचो, जिस प्रकार तुम घातक सर्पसे बचते हो; नहीं तो तुम उसके जालमें फँस जाओगे। वह मनुष्य जो दूसरोंकी निन्दा करता है कभी शान्तिके मार्गपर नहीं पहुँच सकता। व्यर्थके बकवादसे दूर रहो। दूसरोंकी निजी बातोंपर विचार न करो, समाजके रंग-ढंगपर बहस न करो और किसी प्रसिद्ध पुरुषकी आलोचना न करो। किसी-[illegible] दोषी बताता है, दोषी न [illegible] इस अपने

ऊपर आरोपित दोषका निराकरण करो। जो सत्य [illegible] नहीं चल रहे हैं, उनकी निन्दा मत करो, [illegible] स्वयं सन्मार्गपर चलते हुए दयाभावसे उनकी रक्षा करो। सत्यके शुद्ध जलसे क्रोधकी अग्निको शान्त कर दो। विनीत होकर बातें करो; और नीरस, व्यर्थ, निष्प्रयोजन परिहासमें भाग न लो। गम्भीरता [illegible] सबके प्रति पूज्य भाव ही शुद्धता और ज्ञानके चिह्न हैं।

सत्यके विषयमें विवाद न करो, बल्कि सत्य[illegible] जीवन बनाओ। सारे भ्रम और संशयको दूर कर[illegible] अपरिमित श्रद्धापूर्वक ज्ञानके पाठका अभ्यास करो। किसी प्रलोभनमें पड़कर सत्पथसे विचलित न होओ। आवेशमें न आओ। वासनाओंके जाग्रत् होनेपर उन्हें रोको और निर्मूल करो। जब मन चञ्चल हो उठे तो उसे लौटाकर ऊँची वस्तुओंमें लगाओ। यह मत [illegible] कि तुम्हें गुरुसे या पुस्तकोंसे सत्यकी प्राप्ति हो सकती है। तुम्हें सत्यकी प्राप्ति केवल साधनासे ही हो सकती है। गुरु और ग्रन्थ तुम्हें शिक्षाके अतिरिक्त और [illegible] नहीं प्रदान कर सकते, और उसे तुम्हें स्वयं आचरणमें लाना होगा। केवल वे ही पुरुष, जो प्राप्त हुए [illegible]का तथा शिक्षाओंका श्रद्धापूर्वक अभ्यास करते हैं, और पूर्णतया अपने प्रयत्नका ही भरोसा करते हैं, [illegible] उपलब्धि कर सकते हैं। सत्यका अर्जन [illegible] होगा। शकुनोंके फेरमें न पड़ो। आत्माओं [illegible] पुरुषोंसे वार्तालाप करनेका उद्योग न करो, [illegible] सत्यकी साधनाके द्वारा दिव्यज्ञान, [illegible] और [illegible] प्राप्ति करो। गुरुमें विश्वास रक्खो, धर्ममें विश्वास रक्खो, और धर्मके मार्गपर विश्वास रक्खो।

[illegible] बनो। एक उद्देश्य रक्खो। [illegible] [illegible] दृढ़ [illegible] ।

[illegible]

न्ति, तपस्या, दया, साधुता, श्रद्धा, विनय, धैर्य और न्द्रिय-निग्रह आदि दैवी गुणोंका ही प्रकाश करो। ोध, भय, सन्देह, ईर्ष्या, मात्सर्य, राग, द्वेष और शोक- पूर्णतः मुक्त हो जाओ। भागवतधर्ममें जीवन व्यतीत रते हुए सांसारिक गुणोंके विपरीत गुणोंको ही भिव्यक्त करो जिनको लोक मूढ़ताके नामसे पुकारते । अधिकारकी इच्छा न करो, अपने पक्षका समर्थन करो। बदला लेनेका विचार छोड़ दो। जो तुम्हें ानि पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं; उनका भी भला करो। अपना विरोध करनेवालों तथा आक्षेप करनेवालोंके प्रति भी उसी प्रकारकी सज्जनताका व्यवहार करो, जैसा कि तुम उन लोगोंके प्रति करते हो जो तुम्हारे-जैसे ही विचार रखते हैं। दूसरोंके विषयमें अपना निर्णय मत दो। किसी भी आदमी या मतका विरोध मत करो, और सबके साथ शान्तिसे रहो।

याद रक्खो—स्वर्ग कोई ऐसी काल्पनिक वस्तु नहीं है जो मरनेके बाद प्राप्त होती है, वह एक यथार्थ वस्तु है और सदा ही हृदयमें उपस्थित रहती है। जहाँ प्रेम है *वहीं ही स्वर्ग है, और वहाँ सदा ही शान्तिका* निवास है।

सदा प्रेम और शान्तिका चिन्तन करो। ये ही दो मुख्य वस्तुएँ हैं। इनके अनुसार ही पूर्णतः अपने चरित्रका गठन करो और तुम्हारा जीवन अत्यन्त ही आनन्दमय हो जायगा।

भव-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये धर्म एवं सदाचारके प्रसिद्ध नियमोंको ही यहाँ बारंबार दुहराया गया है, केवल इसी दृष्टिसे कि वे तुम्हें बराबर स्मरण रहें और तुम दृढ़तापूर्वक उनका अभ्यास करते रहो। मेरे विचारसे जीवनको शान्तिमय और आनन्दमय बनानेके लिये और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं। अतएव खूब दृढ़तापूर्वक इनकी साधनामें लगे रहो। अद्भुत सफलतापूर्वक तुम्हें उद्देश्यकी प्राप्ति हो जायगी।

कामना

नर-देह पाऊँ, जन्म धारूँ पयस्विनीके तीर,
कामद की नित्य ही परिक्रमा लगाऊँ मैं।
पूरा जो बनूँ तो मन्दाकिनी किनारे वहीं,
कुञ्ज-कुटीर बनाऊँ मैं॥

मुख्यलीला-रहस्य

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ।

श्रीभागवतम् ।

श्रीकृष्णभगवान्‌की मुख्य लीलाएँ रासलीला आदि हैं। श्रीकृष्ण यदि रासलीला आदि चरित्र न करते तो श्रीकृष्णका वास्तविक भगवत्त्व प्रकाशित न होता। रासलीलासे ही भगवान् श्रीकृष्णका पूर्ण परब्रह्मत्व सिद्ध हुआ है। इसलिये ये मुख्य लीलाएँ हैं।

राजसूय यज्ञके सम्पूर्ण होनेपर राजा युधिष्ठिरने देवर्षि श्रीनारदसे वर्णाश्रमधर्मोंका रहस्य पूछा। श्रीनारदजीने संक्षेपमें उनका वर्णन किया। वर्णनके समाप्तिमें श्रीनारदने कहा—

'यूयं नृलोके बत भूरिभागाः।'

'राजन्! इस मनुष्यलोकमें तो तुम सबसे अधिक भाग्यवान् हो।' 'क्यों भगवन्?'

'लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।'

'क्योंकि तुम्हारे घरपर आ-आकर, लोकको पवित्र करनेवाले बड़े-बड़े मुनिलोग निवास कर रहे हैं।'

राजाने कहा—भगवन्! यह तो इनका अनुग्रह है। किन्तु यज्ञ तो समाप्त हो चुका, उनका पूजन भी हो चुका; फिर ये क्यों निवास कर रहे हैं? तो नारद उत्तर देते हैं—

'येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।'

(श्रीमद्भा० ७। १५। ७५)

'तुम्हारे घरमें मनुष्यके चिह्नोंको धारण करके छिपे हुए परब्रह्म निवास करते हैं; इसलिये जबतक यह परब्रह्म यहाँ निवास करते रहेंगे; मुनिलोग भी तुम्हारे घरसे नहीं जायँगे।' नारदजीकी बात राजा युधिष्ठिरकी समझमें न आयी। कौन परब्रह्म? क्या गूढ़? क्या मनुष्यलिङ्ग? तो सबको निःसन्देह करनेके लिये श्रीनारद ऋषि पासमें ही विराजित श्रीकृष्णका श्रीहस्त पकड़कर बोले—'राजन्!

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। ७६)

ये श्रीकृष्ण ही वह परब्रह्म हैं, यह आप निश्चित [illegible] ऐसे बड़े-बड़े मुनिलोग जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं और जो [illegible] सबके अन्तमें बाकी रहनेवाले, अप्रमेय, आनन्दके अनु[illegible] मात्र कहे जाते हैं, वे ही अप्रमेय आनन्दानुभव आ[illegible] आपके अति प्यारे, जातिके, मामाके पुत्र, आत्मा (अन्त[illegible]) पूजनीय, नौकर भी और गुरु भी बनकर आपके [illegible] विराजमान हैं।'

'इन श्रीकृष्णके अव्यक्त मूलस्वरूपको तुमने नहीं [illegible] इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। इनकी माया ही ऐसी है—

न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। ७७)

तुम ही क्या इनके वास्तविक रूपको अपनी बुद्धिसे [illegible] भलीभाँति समझकर, श्रीमहादेव और ब्रह्मादि देवगण [illegible] वर्णन नहीं कर पाये। केवल चुपचाप और हृदयको निर्वि[illegible] विशुद्ध बनाकर प्रेमसे इनकी पूजा-सेवा करते रहे और अ[illegible] करते हैं।'

इस प्रकार एक श्रीनारद ऋषिने ही नहीं, ब्रह्मा, [illegible] महादेव, सनकादि और कपिलादि महर्षियोंने भी खूब अनु[illegible] करके श्रीकृष्णके स्वरूपको अप्रमेयानन्द [illegible] है। साधारण जनता जिसे न समझ सके, ऐसा इनका [illegible] है; इसमें किसीका दोष नहीं है। [illegible] ऐसा होता है, जहाँ प्रत्यक्ष [illegible] माना है, युक्ति काम नहीं करती, पर जिसे [illegible] मानना पड़ता है। [illegible] लिये ही वेद है।

[illegible]तापिनी, [illegible], [illegible] आदि वेद ऐसे हैं जो अनुभूत [illegible] परब्रह्मका निरूपण करते हैं, और [illegible] वेद ऐसे हैं, [illegible] [illegible] परब्रह्मका निरूपण करते हैं। [illegible] निरूपण करते हैं, [illegible] [illegible]

— [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥
([illegible])

[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] ।
([illegible])

[illegible] अपने अपार [illegible], [illegible] [illegible] लौकिक [illegible] प्रकट करना पड़ा । [illegible] लौकिक [illegible] । इन [illegible] गोपियोंके चार यूथ हैं । नित्यसिद्धा [illegible] होती हैं, इनका [illegible] । दूसरा [illegible] तीसरा यूथ । चौथी [illegible] और [illegible] सर्वांशोंका यूथ । इनमें नित्यसिद्धाओंमें कामना नहीं है, क्योंकि वे नित्यसिद्धा हैं । भगवान्‌की ही एक स्वरूपा शक्ति हैं । अतएव उनमें कामका उदय होना सम्भव नहीं । अभावमें काम (इच्छा) होता है । किन्तु नित्यसिद्धा तो सर्वदा ब्रह्मानुभव करनेवाली हैं और अवतारोंमें [illegible], रमा, सीता आदि होकर साथ ही रहती हैं; इसलिये उनमें कामना नहीं है । अन्य तीन यूथवाली गोपियोंमें अधिकारानुसार थोड़े-बहुत रूपमें काम (गुणभोगेच्छा) था । भगवद्विषयक कामकी पूर्ति भगवान्‌से ही हो सकती थी, इसलिये उन्हें स्वीकार किया गया और आप पुरुषरूप हुए । कामकी पूर्तिको ही निष्कामता कहा गया है । पूर्णकाम भगवान्‌के द्वारा जिन जिनकी कामपूर्ति हुई, वे-वे गोपियाँ निष्काम, निर्गुण, अतएव मुक्त हो गयीं । भगवान् तो पूर्णकाम (पूर्णानन्द) थे ही, अतएव उनमें तो कामकी शंका ही नहीं थी ।

प्राकृत पुरुषोंकी तरह भक्तहृदयमें भी किसी तरहका अन्यथा ज्ञान न होने पावे, इसलिये यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि गोपीजन और श्रीभगवान्‌में देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और उनके धर्म प्राकृत नहीं हैं, आनन्दरूप ही हैं; भगवद्रूप ही हैं किन्तु लोकको तन्मय करनेके लिये रसविशेषकी स्फूर्ति करानेके लिये अप्राकृतमें भी प्राकृतका आभास तो दिखाना पड़ा । भगवान् सर्वधर्मविशिष्ट हैं, अतएव आभासधर्म भी उनमें सर्वदा विद्यमान रहता है । ब्रह्मका स्वरूप ही ऐसा है । कुछ-का-कुछ दिखा देना—यह भी ब्रह्मधर्म ही है । यही भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

[illegible] [illegible] ।

[illegible] [illegible] इन्द्रिय और उनके गुणों (धर्म) का [illegible] है, न [illegible] लौकिक देहेन्द्रिय [illegible] [illegible] है ।

[illegible] खिलौने बच्चोंको खेल ही खेलमें तन्मय बना देते हैं । इन खिलौनेके सभी अवयव हाड़ चाम मांसके नहीं हैं, उनमें केवल खाँड़ ही खाँड़ है । पर अवयवोंके आभास तो हैं ही, और वे झूठे भी नहीं हैं । बच्चे उन्हें उन आभासोंके द्वारा ही हाथी, घोड़ा आदि मानते हैं । उन्हें इनमें बड़ा रस आता है । खेलते खेलते तन्मय हो जाते हैं । इसी तरह रसमय भगवान्‌के सभी देह इन्द्रिय आदि अवयव और उनकी क्रियाएँ मानुष नहीं हैं, प्राकृत नहीं हैं, अपितु केवल आनन्दमय हैं । गोपी, गोप, गाय प्रभृति दर्शक लोकको तन्मय, निजरसमय बनानेके लिये उस रसरूपानन्दमें ही उस रसमय पुरुषोत्तमने देहेन्द्रियान्तःकरण क्रियाओंका आभास दिखाया है, और दिखाना असत्य भी नहीं है । स्वसामर्थ्यसे सब ही तरह रूपोंको धारण करता है । बस, यही इसकी सिद्धि और शक्ति है ।

श्रुतिरूपा गोपियाँ भी शब्दब्रह्म होनेसे अप्राकृत हैं । उनको रसरूप अपने स्वरूपका अनुभव करानेके लिये गोपीरूपमें प्रकट किया, यह पुराणोंमें प्रसिद्ध है । नित्यसिद्धा गोपियाँ रसकी ही लहरें हैं । समुद्र जब शान्त रहता है, तब उसकी लहरें उसीमें समायी रहती हैं किन्तु जब वह उद्वेल होता है, उमड़ता है, तब उसकी वे लहरें प्रकाशित होती हैं । उस अप्रमेय रसरूप भगवान्‌की लहरें ये नित्यसिद्धा गोपियाँ हैं । इन्हें 'सिद्धि' भी कहते हैं ।

सबमें प्रथम और श्रेष्ठ सिद्धि राधस् या राधा है । राधस्, राधा, राधिका, मुख्यस्वामिनी एक ही पदार्थ हैं ।

निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।
(श्रीमद्भागवत द्वि० स्कं०)

यह 'राधस्' सिद्धि असम और अनतिशय है । अर्थात् भगवद्रूप ही है । 'सिद्धि' शब्दका अर्थ ही तद्रूपतापत्ति अर्थात् अपने आपको तद्रूपमें सिद्ध कर लेना है । रस ही लहरोंका रूप ले लेता है । रसस्वरूप परमपुरुषको जब बाहरसे अपने रसका आस्वाद लेना होता है तब वह अपने-आपको उन-उन सिद्धियोंके रूपमें प्रकाशित करता है । कभी-कभी हमें अपने

आनन्द रहता है । और फिर यह द्रढिष्ठ और बलिष्ठ भी हो, अर्थात् पूर्ण मनोबल और शारीरबलवाला हो । इससे सुखकी सीमा और बढ़ी । इसपर भी यदि सब तरहके द्रव्योंसे भरी हुई यह पृथ्वी उसीकी हो । यह एक पूर्ण मानुष-आनन्द है । यद्यपि विचित्र कर्मवश मनुष्यके पास ये सब सुखसाधन होने दुर्लभ हैं, तथापि 'स्यात्' यह देकर सम्भावना की है । कदाचित् एकके पास ही ये सब सुख हों, तब वह सब एक 'मानुषसुख' कहा जाता है । यह मानुष आनन्द सबको प्रत्यक्ष है । अब इस आनन्दको दृष्टान्त बनाकर यदि इससे भी सौगुने, हजारगुने या अनन्त आनन्दका भी अंदाजा लगाया जाय तो बात कुछ समझमें आ सकती है । यों समझकर ही श्रुतिने मनुष्य और गन्धर्वोंके आनन्दोंसे प्रारम्भ कर अक्षरब्रह्मपर्यन्त एक-एकसे सौगुने आनन्दोंका अंदाजा लगाया है । और वहाँ सर्वत्र 'स्यात्' पदकी अनुवृत्ति की गयी है ।

'ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः (स्युः) स एको ब्रह्मण आनन्दः ।'

अर्थात् प्रजापतिके आनन्दका जो सौगुना आनन्द है, वह अक्षर ब्रह्मका एक आनन्द है । अब इसके आगे जो परब्रह्म है, उसके आनन्दके अनुमानके लिये श्रुति कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।'

परब्रह्मके आनन्दको समझानेके लिये तो वाणी और मन दोनों असमर्थ हैं । इतना होनेपर भी पूर्वोक्त सम्भावनात्मक दृष्टान्तोंसे आस्तिकोंके हृदयमें किसी तरह उस अमेय अनन्त पूर्ण आनन्दरूप भगवान्‌की धारणा जम जाती है । किन्तु क्या यह धारणा, यह समझ, प्रत्यक्ष आनन्दकी समझके बराबर है ? कभी नहीं । भले मानुषानन्द प्रत्यक्ष हो; किन्तु उसके दृष्टान्तसे सहस्रों श्रुतियाँ भी यदि उस अनन्तानन्दकी समझको हृदयमें जमाना चाहें तो भी प्रत्यक्षकी तरह यह समझ पूर्णताको प्राप्त नहीं होती । कुछ-न-कुछ समझकी न्यूनता बनी ही रहती है । और न्यूनता वेदके हृदयमें भी खटकती है । श्रुतियाँ भी समझती हैं कि उस आनन्दका प्रत्यक्ष हुए बिना हम उसे न समझा सकती हैं और न समझा ही सकती हैं ।

हमारी समझ (ज्ञान) हम हैं, हमारी इन्द्रियाँ भी हम हैं, और हमारा शब्द भी हम हैं । इसी तरह वेदरूप शब्दराशि भी भगवान्‌का ही एक रूपान्तर है, यह ठीक है ।

तथापि यह अपने (भगवान्‌के) ही स्वरूपको [illegible] बिना लोकके हृदयमें वैसे परब्रह्मको उतार नहीं [illegible] और जबतक यह हृदयमें जमता नहीं, तबतक लोक [illegible] तन्मय नहीं हो सकता । और वेद तो लोकों[illegible] बनाना चाहता है ।

इसलिये एक बार श्रुतियोंने उस अ[illegible] अनन्तानन्दसे ही अपने आनन्दका मानुष [illegible] करानेकी प्रार्थना की । 'हे भगवन् ! जिस प्रकार [illegible] गोपिकाएँ आपके आनन्दका अनुभव करती हैं, [illegible] हम भी आपके रसका अनुभव कर सकें-ऐ[illegible] कीजिये । हम अपने साधनोंसे अनुभव करनेमें [illegible] अब तो अनुग्रह-मार्गके सिवा अन्य गति नहीं [illegible] अनुग्रह कीजिये ।' (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

नित्यसिद्धा गोपियोंकी तरह पूर्णानन्दका [illegible] इसके लिये मनुष्य-जन्म और स्त्री जन्म आवश्य[illegible] जन्ममें ज्ञानके साधन ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकर[illegible] अतएव रसका अनुभव इस जन्ममें जितना पूर्ण हो[illegible] अन्य जन्ममें नहीं । अतएव परब्रह्म पुरुषोत्तमने [illegible] विचारकर सचेतना श्रुतियोंको सारस्वतकल्पमें ब्रज[illegible] गोप-स्त्रीरूपसे प्रकट किया । श्रुतियाँ दो प्रकारकी हैं[illegible] और अनन्यपूर्वा । गौरी, गणपति, इन्द्र, पृथ्वी, [illegible] उसीके चेतनाचेतन अवयवोंद्वारा उस परब्रह्मका [illegible] करनेवाली श्रुतियाँ अन्यपूर्वा हैं । क्योंकि पूर्वमें अ[illegible] फिर उसके द्वारा अङ्गी भगवान्‌के स्वरूपका अनु[illegible] हैं, और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दं ब्रह्म', '[illegible] 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुतियाँ साक्षात् [illegible] निरूपण करती हैं—इसलिये अनन्यपूर्वा कही [illegible] जब ये ब्रजगोपी रूपमें मानुष होकर प्रकट हुईं [illegible] अन्यपूर्वा-अनन्यपूर्वा रूपमें ही प्रकट हुईं ।

इधर पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम भी [illegible] उसी समय पुरुषरूपमें श्रीनन्दरायके [illegible] प्रकट हुए । यह बात हम [illegible] [illegible]

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
(श्रीप्रह्लाद)

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ।
(श्रीवृत्र)

अतएव भगवान्‌को अपने अवयव नित्यसिद्धा, श्रुति
ौर अपने-आपको लौकिक पुरुषरूपमें प्रकट करना पड़ा ।
द्यपि यह लौकिकता भी अलौकिक ही थी । इस अवतारमें
न गोपियोंके चार यूथ हैं । नित्यसिद्धा जिन्हें 'सिद्धि' भी
हते हैं, इनका अवतार भी गोपीरूपमें हुआ । दूसरा श्रुति-
रूपाओंका यूथ । तीसरी ऋषिरूपा और चौथा वाणी आदि
प्रकीर्णाओंका यूथ । इनमें नित्यसिद्धाओंमें कामांश नहीं है,
क्योंकि वे नित्यसिद्धा हैं । भगवान्‌का ही एक रूपान्तर
'सिद्धि' है । अतएव उसमें कामका अंश होना सम्भव नहीं ।
अभावमें काम (इच्छा) होता है । किन्तु नित्यसिद्धा तो
सर्वथा ब्रह्मानुभव करनेवाली हैं और अवतारोंमें भी स्वामिनी,
रमा, सीता आदि होकर साथ ही रहती हैं; इसलिये उनमें
कामांश नहीं है । अन्य तीन यूथवाली गोपियोंमें अधिकारा-
नुसार थोड़े-बहुत रूपमें काम (सुखभोगेच्छा) था । भगव-
द्विषयक कामकी पूर्ति भगवान्‌से ही हो सकती थी, इसलिये
उन्हें स्त्रीरूप दिया गया और आप पुरुषरूप हुए । कामकी
पूर्तिको ही निष्कामता कहा गया है । पूर्णकाम भगवान्‌के
द्वारा जिन-जिनकी कामपूर्ति हुई, वे-वे गोपियाँ निष्काम,
निर्गुण, अतएव मुक्त हो गयीं । भगवान् तो पूर्णकाम
(पूर्णानन्द) थे ही, अतएव उनमें तो कामकी शंका ही
नहीं थी ।

प्राकृत पुरुषोंकी तरह भक्तहृदयमें भी किसी तरहका
अन्यथा ज्ञान न होने पावे, इसलिये यहाँ इतना कह देना
आवश्यक है कि गोपीजन और श्रीभगवान्‌में देह, इन्द्रिय, अन्तः-
करण और उनके धर्म प्राकृत नहीं हैं, आनन्दरूप ही हैं; भगवद्-
रूप ही हैं किन्तु लोकको तन्मय करनेके लिये रसविशेषकी
स्फूर्ति करानेके लिये अप्राकृतमें भी प्राकृतका आभास तो
दिखाना पड़ा । भगवान् सर्वधर्मविशिष्ट हैं, अतएव
आभासधर्म भी उनमें सर्वदा विद्यमान रहता है । ब्रह्मका
स्वरूप ही ऐसा है । कुछ-का-कुछ दिखा देना—यह भी
ब्रह्मधर्म ही है । यही भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

उस परब्रह्ममें सब इन्द्रिय और उनके गुणों (धर्म)
का आभास है, पर वास्तवमें वह लौकिक देहेन्द्रिय एवं
तद्धर्मोंसे रहित है ।

खाँड़के खिलौने बच्चोंको खेल-ही-खेलमें तन्मय बना देते
हैं । इन खिलौनेके सभी अवयव हाड़ चाम-मांसके नहीं हैं,
उनमें केवल खाँड़-ही खाँड़ है । पर अवयवोंके आभास तो
हैं ही, और वे झूठे भी नहीं हैं । बच्चे उन्हें उन आभासोंके
द्वारा ही हाथी, घोड़ा आदि मानते हैं । उन्हें इनमें बड़ा
रस आता है । खेलते-खेलते तन्मय हो जाते हैं । इसी तरह
रसमय भगवान्‌के सभी देह-इन्द्रिय आदि अवयव और
उनकी क्रियाएँ मानुष नहीं हैं, प्राकृत नहीं हैं, अपितु केवल
आनन्दमय हैं । गोपी, गोप, गाय प्रभृति दर्शक लोकको
तन्मय, निजरसमय बनानेके लिये उस स्वरूपानन्दमें ही
उस रसमय पुरुषोत्तमने देहेन्द्रियान्तःकरण क्रियाओंका आभास
दिखाया है, और दिखाना असत्य भी नहीं है । स्वसामर्थ्यसे
ब्रह्म ही तत्तत् रूपोंको धारण करता है । बस, यही इसकी
सिद्धि और शक्ति है ।

श्रुतिरूपा गोपियाँ भी शब्दब्रह्म होनेसे अप्राकृत हैं ।
उनको रसरूप अपने स्वरूपका अनुभव करानेके लिये
गोपीरूपसे प्रकट किया, यह पुराणोंमें प्रसिद्ध है । नित्य-
सिद्धा गोपियाँ रसकी ही लहरें हैं । समुद्र जब शान्त रहता
है, तब उसकी लहरें उसीमें समायी रहती हैं किन्तु जब वह
उद्वेल होता है, उमड़ता है, तब उसकी वे लहरें प्रकाशित
होती हैं । उस अप्रमेय रसरूप भगवान्‌की लहरें ये नित्य-
सिद्धा गोपियाँ हैं । इन्हें 'सिद्धि' भी कहते हैं ।

सबमें प्रथम और श्रेष्ठ सिद्धि राधस् या राधा है ।
राधस्, राधा, राधिका, मुख्यस्वामिनी एक ही पदार्थ हैं ।

निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।
(श्रीमद्भागवत द्वि० स्कं०)

यह 'राधस्' सिद्धि असम और अनतिशय है । अर्थात्
भगवद्रूप ही है । 'सिद्धि' शब्दका अर्थ ही तद्रूपापत्ति अर्थात्
अपने आपको तद्रूपमें सिद्ध कर लेना है । रस ही लहरोंका
रूप ले लेता है । रसस्वरूप परमपुरुषको जब बाहरसे अपने
रसका आस्वाद लेना होता है तब वह अपने आपको उन उन
सिद्धियोंके रूपमें प्रकाशित करता है । कभी-कभी हमें अपने

आनन्द रहता है । और फिर वह द्रढिष्ठ और बलिष्ठ भी हो, अर्थात् पूर्ण मनोबल और शारीरबलवाला हो । इससे सुखकी सीमा और बढ़ी । इसपर भी यदि सब तरहके द्रव्योंसे भरी हुई यह पृथ्वी उसीकी हो । यह एक पूर्ण मानुष-आनन्द है । यद्यपि विचित्र कर्मवश मनुष्यके पास ये सब सुखसाधन होने दुर्लभ हैं, तथापि 'स्यात्' यह देकर सम्भावना की है । कदाचित् एकके पास ही ये सब सुख हों, तब यह सब एक 'मानुषसुख' कहा जाता है । यह मानुष आनन्द सबको प्रत्यक्ष है । अब इस आनन्दको दृष्टान्त बनाकर यदि इससे भी सौगुने, हजारगुने या अनन्त आनन्दका भी अंदाजा लगाया जाय तो बात कुछ समझमें आ सकती है । यों समझकर ही श्रुतिने मनुष्य और गन्धर्वोंके आनन्दोंसे प्रारम्भ कर अक्षरब्रह्मपर्यन्त एक-एकसे सौगुने आनन्दोंका अंदाजा लगाया है । और वहाँ सर्वत्र 'स्यात्' पदकी अनुवृत्ति की गयी है ।

'ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः (स्युः) स एको ब्रह्मण आनन्दः ।'

अर्थात् प्रजापतिके आनन्दका जो सौगुना आनन्द है, वह अक्षर ब्रह्मका एक आनन्द है । अब इसके आगे जो परब्रह्म है, उसके आनन्दके अनुमानके लिये श्रुति कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।'

परब्रह्मके आनन्दको समझानेके लिये तो वाणी और मन दोनों असमर्थ हैं । इतना होनेपर भी पूर्वोक्त सम्भावनात्मक दृष्टान्तोंसे आस्तिकोंके हृदयमें किसी-तरह उस अमेय अनन्त पूर्ण आनन्दरूप भगवान्‌की धारणा जम जाती है । किन्तु क्या यह धारणा, यह समझ, प्रत्यक्ष आनन्दकी समझके बराबर है ? कभी नहीं । भले मानुषानन्द प्रत्यक्ष हो; किन्तु उसके दृष्टान्तसे सहस्रों श्रुतियाँ भी यदि उस अनन्तानन्दकी समझको हृदयमें जमाना चाहें तो भी प्रत्यक्षकी तरह यह समझ पूर्णताको प्राप्त नहीं होती । कुछ-न-कुछ समझकी न्यूनता बनी ही रहती है । और न्यूनता वेदके हृदयमें भी खटकती है । श्रुतियाँ भी समझती हैं कि उस आनन्दका प्रत्यक्ष हुए बिना हम उसे न समझ सकती हैं और न समझा ही सकती हैं ।

हमारी समझ (ज्ञान) हम हैं, हमारी इन्द्रियाँ भी हम हैं, और हमारा शब्द भी हम हैं । इसी तरह वेदरूप शब्दराशि भी भगवान्‌का ही एक रूपान्तर है, यह ठीक है ।

तथापि यह अपने (भगवान्‌के) ही स्वरूप [illegible] बिना लोकके हृदयमें वैसे परब्रह्मको उतार न[illegible] और जबतक यह हृदयमें जमता नहीं, तबतक [illegible] तन्मय नहीं हो सकता । और वेद तो [illegible] बनाना चाहता है ।

इसलिये एक बार श्रुतियोंने उस अन[illegible] अनन्तानन्दसे ही अपने आनन्दका मानुष [illegible] करानेकी प्रार्थना की । 'हे भगवन् ! जिस प्रकार [illegible] गोपिकाएँ आपके आनन्दका अनुभव करती हैं, [illegible] हम भी आपके रसका अनुभव कर सकें ऐसा [illegible] कीजिये । हम अपने साधनोंसे अनुभव करनेमें [illegible] अब तो अनुग्रह-मार्गके सिवा अन्य गति नहीं है, अनुग्रह कीजिये ।' (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

नित्यसिद्धा गोपियोंकी तरह पूर्णानन्दका अ[illegible] इसके लिये मनुष्य-जन्म और स्त्री जन्म आवश्यक है [illegible] जन्ममें ज्ञानके साधन ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण [illegible] अतएव रसका अनुभव इस जन्ममें जितना पूर्ण होता [illegible] अन्य जन्ममें नहीं । अतएव परब्रह्म पुरुषोत्तमने [illegible] विचारकर सचेतना श्रुतियोंको सारस्वतकल्पमें [illegible] गोप-स्त्रीरूपसे प्रकट किया । श्रुतियाँ दो प्रकारकी हैं—[illegible] और अनन्यपूर्वा । गौरी, गणपति, इन्द्र, पृथ्वी, [illegible] उसीके चेतनाचेतन अवयवोंद्वारा उस परब्रह्मका [illegible] करनेवाली श्रुतियाँ अन्यपूर्वा हैं । क्योंकि पूर्वमें [illegible] फिर उसके द्वारा अङ्गी भगवान्‌के स्वरूपका [illegible] हैं, और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दं ब्रह्म', [illegible] 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुतियाँ साक्षात् [illegible] निरूपण करती हैं—इसलिये अनन्यपूर्वा [illegible] जब ये व्रजगोपी रूपमें मानुष होकर प्रकट हुईं, [illegible] अन्यपूर्वा-अनन्यपूर्वा रूपमें ही प्रकट हुईं ।

इधर पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम भी वरदानकी पूर्तिके [illegible] उसी समय पुरुषरूपसे श्रीनन्दरायके [illegible] प्रकट हुए । यह बात हम 'स या अर्थ ब्रह्म' [illegible] द्वारा कह चुके हैं । पूर्णानन्द [illegible] और उसके आनन्दका पूर्ण अनुभव करना—[illegible] स्त्री-पुरुष जन्ममें ही सम्भव है । इसका [illegible] है ही नहीं । अतएव शास्त्रोंने कहा है—

[illegible] करता रहता है और [illegible] [illegible] भी [illegible] है । [illegible] लौकिक [illegible] ही चाहते हैं अतएव [illegible] ही नहीं जाती । [illegible] ही [illegible] है । [illegible] जब अपने [illegible] है और बच्चा रोता है तब वहाँ [illegible] खिलौने दे [illegible] है, नहीं चुप होता तो कुछ मिठाई खानेको दे देती है, और जब किसीसे भी रोना बंद नहीं होता तब वह जान लेती कि अब बिना मेरे रोना बंद नहीं होगा तब उसको गोदमें ले लेती है । और तब बच्चा भी सुखी होता है । यही रहस्य यहाँ भी है ।

भगवान् सात्त्विक, राजसोंको आत्मदानसे भिन्न मुक्ति पर्यन्तके अन्य सब फल दे देकर सुखी करते रहते हैं किन्तु ये अनुग्रहीत तामस भक्त तो उन फलोंको चाहते ही नहीं । उनकी तो केवल भगवान्‌के स्वरूपमें ही आसक्ति होती है अतएव भगवान् भी अपने अनुग्रहके परवश होकर उन्हें अपना दान—आत्मप्रदान करते हैं । भगवान्‌को पाकर ही ये लोग प्रसन्न होते हैं । इससे मालूम होता है ऐसोंपर ही प्रभुका अनुग्रह है । यह बात वृत्रासुरने भी कही है—

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥

हमारा पति भक्तका त्रैवर्गिक श्रम मिटा देता है, यही प्रभुका पूर्ण अनुग्रह है । अतएव कहना पड़ता है कि यह तामस शब्द प्राकृत तामस नहीं है । ये अलौकिक तामस हैं । अनुग्रहको गुप्त रखनेके लिये और पूर्वोक्त अन्य प्रयोजनोंके लिये ही इन्हें भगवान्‌ने अपनी वासनासे तामस बनाया है । एक दृढधर्मको लेकर ही ये तामस हैं । जीव-वासना दूसरी और भगवद्वासना दूसरी । जीववासना कर्मकृत होती और भगवद्वासना स्वेच्छाकृत किंवा क्रीडाकृत होती है । हाँ, एक दृढधर्म दोनोंका समान-सा दीखता रहता है ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

जो ज्ञान एकहीमें सब कुछ समझाता है, और कार्यकी ही बुद्धि रखता है कारणकी नहीं और कार्यमें ही निर्हेतुक आसक्ति कराता है, जिसमें कोई भी तात्त्विक फल नहीं होता और जो अल्प होता है वह तामस ज्ञान (समझ) होता है ।

यह तामस ज्ञानका लक्षण तामस व्रजमें भी आपाततः पाया जाता है । सारा व्रज एक श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व समझता था । और श्रीकृष्णमें उनकी देखनेमें मनुष्य-बुद्धि ही थी, [illegible] ईश्वर-बुद्धि नहीं थी । [illegible] अन्य पुरुषोंकी तरह ही श्रीकृष्णको भी मित्र मानकर उनमें दृढ आसक्ति थी, और वह भी निर्हेतुक । वास्तविक भगवत्-तत्त्व क्या है, इस प्रीतिका परिणाम क्या होगा । हम कौन हैं, हमारा क्या कर्तव्य है । उनके हृदयमें यह तत्त्व विचार नहीं हुआ ।

इस भावना: [illegible] तामस कहलायेंगे ही यह व्रज तामस था, और अब भी कहा गया है । व्रजमें कोई देवरूप थे, कोई देवपत्नी थीं, कोई [illegible] थे, कोई श्रुतियाँ थीं, कोई ऋषिकुमार थे, कोई भिन्नभिन्न भगवद्विभूतियाँ थीं । किन्तु जिस समय गोप-गोपी, गाय बछड़े प्रभृति हुए उस समय वे [illegible]में तामस ही थे, न राजस, न सात्त्विक । अतएव कहा है कि 'सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ।' '[illegible] ते देवतामयाः ।' इत्यादि ।

वास्तवमें देखा जाय तो सत्त्व, रजस्, तमस् गुण और सात्त्विक, राजस, तामस आदि पदार्थ, और उत्तम, मध्यम, अधम आदि अधिकार—ये सब मानुषदृष्टि हैं । प्राकृत दृष्टि है । गुणातीत दृष्टिमें या भगवान्‌की दृष्टिमें तो सब समान हैं । ब्रह्मा भी जीव हैं, चाण्डाल भी जीव है । पत्थर भी पार्थिव है, हीरा पत्थर ही है । मत्स्य-जन्म अधम नहीं तो देवावतार उत्तम नहीं । कहा है कि—

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः । (भाग० ११)

भगवान्‌की दृष्टि प्रेम है । जिसका प्रेम दृढ और सर्वतः अधिक है वही उत्तम है, वही प्रिय है 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' । उत्तम-अधम, साधन-असाधन सभी प्रेमके सहयोगसे ही उत्तम और भगवत्प्रिय होते हैं । 'येऽपि स्युः पापयोनयः' । अनुग्रहका स्वीकार कर लेनेपर जैसा ब्राह्मण्यादि अधिकार वैसा ही ब्रह्महादि अधिकार । जैसा अश्वमेध, सोमयाग, सहस्रसमा तप और वैसा ही एक बार 'श्रीकृष्ण' नाम-ग्रहण, दोनों समान हैं । छप्पन भोग भी सम है, एक तुलसीदल भी सम है । अधिकार-अनधिकार, साधन-असाधनपर असमर्थ स्वामियोंकी दृष्टि रहती है । अतएव कहा है कि—

'हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि ।'

भगवान् श्रीकृष्ण अक्लिष्टकर्मा भी हैं । न भक्तको और न अपने ही कष्ट करना चाहते हैं । उस-उस अधिकारको उन-उन अधिकारियोंको उसी अवस्थामें रखकर फलदान देते हैं । अतः यह फलदान है फल-प्राप्ति नहीं । अतएव निर्दोष है, निःशङ्क है ।

वैदिक मर्यादामें गुणातीत निर्गुण अधिकारीको मुक्ति होती है अतएव राजस प्रकरणमें मुचुकुन्दको मुक्ति न मिली । उसे जन्मान्तरमें भगवत्प्राप्ति हुई । यह वहाँ स्पष्ट है ।

कृष्णवाक्यं सदा कार्यं मायामोहं निवार्य हि।
पृथक्वस्तु स्थितिः कार्या शुद्धाचेन च वर्तयेत्॥
इच्छां विज्ञाय दातव्यं माहात्म्यज्ञानपूर्वकम्।
यागाद्योऽपि त्यक्तव्यास्तदिच्छा चेद् व्रतानि च॥

शास्त्रने जिन नियमोंको तैयार किया है, उन बनावटी कृति किंवा कर्तव्योंको यदि छोड़ दिया जाय और अपने प्राकृत बहावकी ओर दृष्टि दी जाय तो कहना होगा कि ऐसी अवस्थामें कोई भी नियत साधन नहीं है। जिसके द्वारा फल-प्राप्ति हो जाय वही साधन है 'यदेव स्यात्तदेव हि'। जो कुछ भी हो वही साधन। गोवत्स-गोप-गोपी कोई भी निरोध्य, वैदिक बनावटी साधनोंके अधिकारी नहीं थे। गोवत्सादि पशु-पक्षी, जिनको श्रीकृष्णने निरोध (अति आसक्ति) का दान किया था वे तो तिर्यक् होनेसे बनावटी धर्मोंके अधिकारी हो ही नहीं सकते। रहे गोप-गोपी शूद्र जातिके, सो वे भी तामसप्रधान होनेसे उन नियमोंके अधिकारी नहीं थे। पशु आदिको भी निरोध प्राप्त हुआ था।

> 'धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एताः'
> 'गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
> पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।'
> 'प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्'
> 'अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्'
> (श्रीमद्भा० वेणुगीत)

> वत्सालोकस्मरणसुलभप्रस्नवप्रावनीयं
> धूलीजालं नयनसलिलैरघ्रसु प्रावयन्त्यः।
> त्वामन्विष्य व्रजपुरसरित्तीरभूपु भ्रमन्त्यः
> सद्यो जातानपि सुरभयो नार्भकान् पाययन्ति॥१॥
> निष्प्रेमाणो ललितपवसे श्याम सीमन्तरण्ये
> न्यस्त न्यस्य स्वदनुगतये चक्षुषी दिक्षु दिक्षु।
> आजिघ्रन्ति व्यथितमनसः किञ्च सिञ्चन्ति बाष्पैः
> वीरुत्तीरं तव मधुपते वत्सला वत्सतर्षैः॥२॥
> ([illegible])

यह प्रकार कुछ और ही है। [illegible] वैदिक कर-[illegible] भी [illegible] है। इसी [illegible] के [illegible] के लिये [illegible] और [illegible] है कि—

[illegible]

मयि ते तेषु चाप्यहम्।

ये सब साधन भगवद्वासनासे प्राप्त होते हैं, [illegible] नहीं। सप्तम स्कन्ध वासना (कृति) स्कन्ध है। [illegible] विस्तार है। अतएव हमारे लिये अनुग्रहमार्ग [illegible] कहीं उच्चतम है। और इसीलिये निरोध (दशम) स्क[न्ध] सबसे पहले तामस-प्रकरण है।

इन वेदजड पण्डितोंको यह 'तामस' शब्द बड़ा [illegible] होगा। इसलिये यहाँ इसके विषयमें भी कुछ क[हना] उचित है। वेदके कोई भी नियम ईश्वरेश्वर, [illegible] सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सर्वशक्ति इस अशान्त परब्रह्म श्री[कृष्ण]के व्यवहारोंके बाधक या साधक नहीं हो सकते, यह [illegible] सिद्धान्त है। व्रज, गोवत्स, गोप-गोपी, प्रभृति सब कुछ [illegible] उस परब्रह्मका व्यवहार है। अतएव जैसा वह चाहे ([illegible]) वैसा ही सब व्यवहार रहता है। प्रभुने अपनी पूर्ण [illegible] और अक्लिष्टकारिता दिखानेके लिये ही व्रज और [illegible] जीवोंको उस समय तामस बनाया और यथा तथा [illegible] ही उनका उद्धार किया, उनको तन्मयता दी एवं [illegible] भी दिया। अतएव कारिकामें कहा कि—

> दैहिकान् सकलान् भावान् निर्जां मीडां च दैहिकीम्।
> परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि॥

दैहिक भाव (व्यवहार) सब ही छूट गये और [illegible] भूषण किंवा अवश्य रक्षणीय लज्जा धर्म भी [illegible] तो फिर भगवत्प्राप्तिके लिये कौन-से साधन बन [सके]। ऐसी अवस्थामें तो जो कुछ बन जाय वही साधन है।

यहाँ तामस शब्द पारिभाषिक है। आ, ऐ, औ, [illegible] शब्दका अर्थ नहीं है तथापि वैयाकरणोंने ऐसी परिभाषा [illegible] रक्खी है। [illegible] अर्थ [illegible] उन तीनों अक्षरोंको वृद्धि कहते हैं। यह पारिभाषिक [illegible] और अर्थ कहा जाता है। इसी तरह यहाँ [illegible] तामस शब्द भी ऐसा ही है। [illegible]

[illegible]

धनोंसे अपना उद्धार करना चाहते हैं और इच्छानुकूल भी-कभी उससे उनका उद्धार हो भी जाता है। राजस . देहात्मादिके लौकिक सुख ही चाहते हैं अतएव पूर्ण नुग्रहकी अपेक्षा ही नहीं रहती। पूर्ण अनुग्रह तो आत्मदान नेपर ही समझा जाता है। माता जब अपने गृहकार्यमें व्यग्र हती है और बच्चा रोता है तब पहले खेलनेको खिलौने दे ती है, नहीं चुप होता तो कुछ मिठाई खानेको दे देती है, और जब किसीसे भी रोना बंद नहीं होता तब वह जान लेती ' कि अब बिना मेरे रोना बंद नहीं होगा तब उसको गोदमें ले लेती है। और तब बच्चा भी सुखी होता है। यही रहस्य यहाँ भी है।

भगवान् सात्त्विक, राजसोंको आत्मदानके सिवा मुक्ति-पर्यन्तके अन्य सब फल दे-देकर सुखी करते रहते हैं किन्तु ये अनुगृहीत तामस भक्त तो उन फलोंको चाहते ही नहीं। उनकी तो केवल भगवान्‌के स्वरूपमें ही आसक्ति होती है अतएव भगवान् भी अपने अनुग्रहके परवश होकर उन्हें अपना दान—आत्मप्रदान करते हैं। भगवान्‌को पाकर ही ये लोग प्रसन्न होते हैं। इससे मालूम होता है ऐसोंपर ही प्रभुका अनुग्रह है। यह बात वृत्रासुरने भी कही है—

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥

हमारा पति भक्तका त्रैवर्गिक श्रम मिटा देता है, यही प्रभुका पूर्ण अनुग्रह है। अतएव कहना पड़ता है कि यह तामस शब्द प्राकृत तामस नहीं है। ये अलौकिक तामस हैं। अनुग्रहको गुप्त रखनेके लिये और पूर्वोक्त अन्य प्रयोजनोंके लिये ही इन्हें भगवान्‌ने अपनी वासनासे तामस बनाया है। एक दृढधर्मको लेकर ही ये तामस हैं। जीव-वासना दूसरी और भगवद्वासना दूसरी। जीववासना कर्मकृत होती और भगवद्वासना स्वेच्छाकृत किंवा क्रीडाकृत होती है। हाँ, एक दृढधर्म दोनोंका समान-सा दीखता रहता है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो ज्ञान एकहीमें सब कुछ समझाता है, और कार्यकी ही बुद्धि रखता है कारणकी नहीं और कार्यमें ही निर्हेतुक आसक्ति कराता है, जिसमें कोई भी तात्त्विक फल नहीं होता और जो अल्प होता है यह तामस ज्ञान (समझ) होता है।

यह तामस ज्ञानका लक्षण तामस व्रजमें भी आपाततः पाया जाता है। सारा व्रज एक श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व समझता था। और श्रीकृष्णमें उनको देखनेमें मनुष्य-बुद्धि ही थी, सर्वकारण ईश्वर-बुद्धि नहीं थी। अपनी जाति किंवा अन्य पुरुषोंकी तरह ही श्रीकृष्णको भी प्रिय मानकर उनमें दृढ आसक्ति थी, और वह भी निर्हेतुक। वास्तविक भगवत्-तत्त्व क्या है, इस प्रीतिका परिणाम क्या होगा। हम कौन हैं, हमारा क्या कर्तव्य है। उनके हृदयमें यह तत्त्व-विचार नहीं हुआ।

इस आपाततः प्रतीत तामस लक्षणोंसे ही यह व्रज तामस था, और अब भी कहा गया है। वास्तवमें कोई देवरूप थे, कोई देवस्त्री थीं, कोई वाणी थी, कोई श्रुतियाँ थीं, कोई ऋषि-कुमार थे, कोई नित्यसिद्ध भगवद्विभूतियाँ थीं। किन्तु जिस समय गोप-गोपी, गाय-वत्स पशु प्रभृति हुए उस समय वे लीला-में तामस ही थे, न राजस, न सात्त्विक। अतएव कहा है कि 'सम्भवन्तु सुरस्त्रियः।' 'सर्वे वै देवताप्रायाः।' इत्यादि।

वास्तवमें देखा जाय तो सत्त्व, रजस्, तमस् गुण और सात्त्विक, राजस, तामस आदि पदार्थ, और उत्तम, मध्यम, अधम आदि अधिकार—ये सब मानुषदृष्टि हैं। प्राकृत दृष्टि है। गुणातीत दृष्टिमें या भगवान्‌की दृष्टिमें तो सब समान हैं। ब्रह्मा भी जीव हैं, चाण्डाल भी जीव है। पत्थर भी पार्थिव है, हीरा पत्थर ही है। मत्स्य-जन्म अधम नहीं तो देवावतार उत्तम नहीं। कहा है कि—

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः। (भाग० ११)

भगवान्‌की दृष्टि प्रेम है। जिसका प्रेम दृढ और सर्वतः अधिक है वही उत्तम है, वही प्रिय है 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'। उत्तम-अधम, साधन-असाधन सभी प्रेमके सहयोगसे ही उत्तम और भगवत्प्रिय होते हैं। 'येऽपि स्युः पापयोनयः'। अनुग्रह-का स्वीकार कर लेनेपर जैसा ब्राह्मण्यादि अधिकार वैसा ही ब्रह्महादि अधिकार। जैसा अश्वमेध, सोमयाग, सहस्रमख तप और वैसा ही एक बार 'श्रीकृष्ण' नाम ग्रहण, दोनों समान हैं। छप्पन भोग भी सम है, एक तुलसीदल भी सम है। अधिकार-अनधिकार, साधन-असाधन असमर्थ स्वामियोंकी दृष्टि रहती है। अतएव कहा है कि—

'हरिरप्यर्थे यदेव स्यात्तदेव हि।'

भगवान् श्रीकृष्ण अक्लिष्टकर्मा भी हैं। न भक्तको और न अपने ही कष्ट करना चाहते हैं। उस उस अधिकारको उन-उन अधिकारियोंको उसी अवस्थामें रखकर फलदान देते हैं। अतः यह फलदान है फलप्राप्ति नहीं। अतएव निर्दोष है, निःशङ्क है।

वैदिक मर्यादामें गुणातीत निर्गुण भक्तिहीसे मुक्ति होती है अतएव राजस प्रकरणमें मुचुकुन्दको मुक्ति न मिली। उसे जन्मान्तरमें भगवत्प्राप्ति हुई। यह यहाँ स्पष्ट है।

क्षात्रधर्मे स्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः॥
जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम्॥

तामसकी तामसताको दूर करे, राजस बनावे, फिर राजसताको दूर करे, फिर सात्त्विक बनावे और फिर सात्त्विकताको भी दूर कर निर्गुण करे तब निर्गुण भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो। किन्तु यह सब असमर्थ और क्लिष्टकर्मा स्वामीसे हो सकता है, अक्लिष्टकारी सर्वसमर्थ करुणाकर प्रभुसे कभी भी बन नहीं सकता। यह तो अति तामसादिके भी उन्हीं स्वरूपों और साधनोंको कायम रखकर उन्हीं साधनोंसे उनका उद्धार करते हैं। अनुग्रहमार्गमें यही सर्वतोभद्र विशेष है। पूतनाको तुलसी-चन्दन चढ़ानेसे नहीं किन्तु जहर पिलानेके साधनद्वारा ही मुक्ति दी।

अनुग्रहमार्गमें केवल भगवत्स्वरूपसे सम्बन्ध होनेकी अपेक्षा है अन्य साधनोंकी नहीं। स्वरूप-सम्बन्धसे ही आश्चर्यकारक उत्तमोत्तम फल मिल जाता है। पूतनाके समय उसके किसी भी साधनकी ओर या उसके अधिकारपर दृष्टि नहीं थी। केवल अपने स्वरूपका उसने सम्बन्ध किया, इतने मात्रसे ही उसे मुक्ति दे दी।

कं वा दयालुं शरणं व्रजेम। (भाग० स्कन्ध ३)
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता)

अनुग्रह होनेपर राग, द्वेष, भय, सांसारिक सम्बन्ध, जारभाव, वैदिक मर्यादा, ज्ञान-भक्ति सभी साधन हो सकते हैं, इनमें परस्पर कोई न्यूनता या विशेषता नहीं है।

उत्तम अधिकारियोंको उत्तम साधनोंद्वारा मुक्ति देना या उनका उद्धार कर देनेमें ईश्वरेश्वरका ईश्वरत्व प्रकाशित नहीं होता। अधिकार और साधनका भी महत्त्व रहता है। किन्तु जब अधम अधिकारीके अधम साधनोंद्वारा उत्तमोत्तम गति दी जाय तभी ईश्वरका ईश्वरत्व प्रसिद्ध होता है। यह अधम अधिकार और उत्तम साधनोंका परस्पर विरोध रहता है। यह मर्यादा है। अधम अधिकारी उत्तम साधन नहीं करता और उत्तम अधिकारी अधम साधन नहीं कर सकता। गोप-गोपी, गाय, वत्स, तिर्यक् आदि वैदिक [illegible] अधिकारी हैं। इनको भगवत्सेवा, भगवन्नाम और [illegible] का निरन्तर सम्बन्ध होना मर्यादासे असम्भव है। [illegible] इनका भगवान् और भगवत्प्रेमादिसे नित्य सम्बन्ध है [illegible] स्पष्ट होता है कि ये सब अधम अधिकारी नहीं [illegible] अधिकारी ही थे।

किन्तु भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अक्लिष्टकारिता [illegible] रता और असीम दयालुता लोकमें प्रकाशित करनेके [illegible] उत्तमाधिकारियोंको ही गो-गोप-गोपी बनाकर उनके [illegible] जारभावादि अधम साधनोंद्वारा ही उनका उद्धार [illegible] इससे भगवान्‌का आश्चर्यकारक माहात्म्य फैल गया। श्रीकृष्णकथा जितनी प्रसिद्ध हुई उतना [illegible] शतशतवर्षीय तपका माहात्म्य और उनके फलदानकी [illegible] भी साधारण लोकमें न फैली।

श्रीगोपीजन श्रीकृष्ण परब्रह्ममें कैद हो चुकी [illegible] हो चुकी थीं। लोक और वेद भी उनकी भगवद्[illegible] या प्रेममयी वृत्तिमें बाधा न दे सके। फलप्रकरणमें [illegible] ने स्पष्ट कह दिया कि—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

मूलमें उत्तमाधिकार होनेसे इन्हें आत्मज्ञान है, [illegible] साम्प्रतमें केवल संसारी होनेसे मुग्ध सर्वतोधिक [illegible] है। दोनोंकी यहाँ युक्तिसे सङ्गति है। इसके प्रेमका [illegible] लोक, वेद किसीकी रोक नहीं मानता, यह सर्वसिद्ध [illegible] रोकना चाहिये या नहीं। रोकनेसे लाभ होता है या [illegible] दूसरी बात है किन्तु अतिशय प्रीतिप्रवाहमें जब मन [illegible] बँध जाता है, तब प्रेमका प्रवाह लोककी लज्जा, [illegible] वेदकी मर्यादाकी ओर देखता भी नहीं। [illegible]
[illegible]

१. [illegible]
[illegible] ([illegible])

मान-बड़ाईका त्याग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जो उच्च कोटिके पुरुष हैं, जिन्होंने परमात्माका तत्त्व भलीभाँति जान लिया है वे मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिको समान समझते हुए भी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठासे बहुत दूर रहते हैं। क्योंकि साधनकालमें वे इन्हें विषके समान हेय तथा आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक समझकर इनसे बचते आये हैं और दृढ़ अभ्यासके कारण यही आचरण उनके अंदर सिद्धावस्थामें भी देखा जाता है। सिद्ध पुरुष वास्तवमें तो कुछ करते नहीं, किन्तु उनके द्वारा लोकमें वैसा ही आचरण होते देखा जाता है, जैसा आचरण वे सिद्धावस्थाके ठीक पहले करते रहे हैं। सिद्धावस्थाके समीप पहुँचा हुआ उच्च कोटिका साधक कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो संसारके लिये अनुकरणीय न हो। स्वयं भगवान्ने गीतामें कहा है—

> यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
> (३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी उस-उस प्रकारका ही आचरण करते हैं। वह पुरुष जिसको प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तने लगते हैं।'

ऐसे पुरुष अपने जीवनकालमें तथा मरनेके बाद भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको नहीं चाहते। जो लोग उनके इस रहस्यको जानकर स्वयं भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे दूर रहते हैं वे ही उनके सच्चे अनुयायी कहलानेयोग्य हैं। इसके विपरीत जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके गुलाम हैं किन्तु कहते हैं अपनेको महात्माओंका अनुयायी, वे तो वास्तवमें महात्माओंके संगको लजानेवाले हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि महात्मालोग लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे ही लोगोंको अपनी पूजा करनेसे रोकते हैं वे तो ऐसा करनेवाले महात्माओंको एक प्रकारसे दम्भी सजाते हैं। जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्याग इसलिये करते हैं कि ऐसा करनेसे लोकमर्यादाकी रक्षा होती है, किन्तु हृदयसे अपनेको पुजवाना चाहते हैं, वे वास्तवमें महात्मा नहीं हैं। मरनेके बाद पूजा चाहनेका स्वरूप यह है कि लोग मरनेके बाद उनकी कीर्तिको स्थायी रखनेके लिये, उनकी स्मृति बनाये रखनेके लिये किसी स्मारकका आयोजन करें और वे लोगोंके इस विचारका समर्थन करें। यही नहीं, जो लोग अपने किसी पूज्य पुरुषके लिये इस प्रकारके स्मारकका आयोजन करते हैं, उनके सम्बन्धमें भी ऐसी धारणा अनुचित नहीं कही जा सकती कि वे स्वयं भी अपने लिये यही चाहते हैं कि मेरे मरनेके बाद लोग मेरे लिये भी इसी प्रकारका स्मारक बनायें।

जो कोई भी ऐसा चाहता है कि मरनेके बाद लोग मेरा चित्र रखकर उसकी पूजा करें और मेरी कीर्ति अखण्ड रहे, उसके सम्बन्धमें यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि वह परमात्माके रहस्यको नहीं जानता, वह निरा अज्ञानी है। ज्ञान एवं भक्ति दोनोंके ही सिद्धान्तसे हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं। ज्ञानके सिद्धान्तसे तो एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब कौन किससे पूजा करे और कौन किससे पूजा कराये। एक ही परमात्मा सर्वत्र स्थित है, वह अनन्त और सम है; ऐसी स्थितिमें अपने एकदेशीय स्वरूपकी पूजा करानेवाला महात्मा कैसे समझा जाय। यदि कोई यह समझे कि पूजा ग्रहण करनेमें मेरा तो कोई लाभ नहीं परन्तु पूजा करनेवालेको लाभ

पहुँचेगा, वहाँ यह स्पष्ट है कि ऐसा समझनेवाला अपनेको ज्ञानी और पूजा करनेवालोंको अज्ञानी समझता है। किन्तु जो अपनेको ज्ञानी और दूसरोंको अज्ञानी समझता है, वह स्वयं अज्ञानी ही है। ज्ञानीके अंदर यह भावना कदापि सम्भव नहीं है कि मेरी पूजासे दूसरोंको लाभ पहुँचेगा। यदि यह कहा जाय कि ऐसा माननेवाला ज्ञानी तो नहीं हो सकता किन्तु जिज्ञासु तो ऐसा मान सकता है, तो यह भी ठीक नहीं। अपनी पूजासे दूसरोंका लाभ समझनेवाला जिज्ञासु भी नहीं हो सकता। इस प्रकारकी धारणा जिज्ञासुके अंदर भी नहीं हो सकती। निरा अज्ञानी ही ऐसा सोच सकता है।

यदि यह मानें कि महात्मा स्वयं तो पूजा नहीं चाहते परन्तु लोगोंकी दृष्टिसे, उन्हें महात्माओंकी पूजामें प्रवृत्त करनेके लिये वे ऐसा करते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंको महात्माओंकी पूजामें लगाना तो ठीक है, परन्तु ऐसा करना चाहिये अपने व्यक्तित्वको बचाकर ही। महात्माओंकी पूजाका आदर्श स्थापित करनेके लिये भी अपनेको पुजवाना ठीक नहीं। यदि महात्माओंकी पूजाका प्रचार ही करना है तो पहले भी तो अनेकों एक-से-एक बढ़कर महात्मा हो गये हैं और उनसे भी बढ़कर स्वयं भगवान्‌के अवतार हो चुके हैं। उन सबको छोड़कर अपनी पूजा करवानेकी क्या आवश्यकता है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा और परमात्मा एक हैं, अतः अपनेसे भिन्न कोई है ही नहीं। इस सिद्धान्तको माननेवालेकी दृष्टिमें ... श्रीराम और श्रीकृष्ण भी अपने ही स्वरूप हैं,

विरोध करे, जिससे उसका ... करके यदि वह स्वयं अप... मानना पड़ेगा कि या तो व... ढोंगी है, दम्भके द्वारा अप... मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका ... और क्या कहा जा सकता ... आदिके स्वरूप तो नित्य ... पाञ्चभौतिक—मायिक नहीं ... तो ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर ... कारण नाशवान्, क्षणभंगुर ... भी मनुष्यका शरीर, चाहे वह ... क्यों न हो, भगवान् राम-कृष्णा... माधुर्यसे पूर्ण विग्रहोंकी समत... अतः भगवान् राम-कृष्णादिके ... अपने नाशवान् शरीरको पु... भगवान्‌के तत्त्वको नहीं जानता ... दिव्य एवं मधुर नामोंसे हटाव... पूजा, अपने नामका प्रचार क... नहीं, अज्ञानी ही है।

यह तो हुई ज्ञानकी बात ... भगवान्‌को प्राप्त कर चुका है, वह ... अपनेको कैसे बैठाना चाहेगा। जो ... अपनेको घोर अन्धकारमें डालता है ... कि वह स्वयं तो पूजा नहीं चाहता ... होनेके कारण वह दूसरोंको पूजा करने... तो इसका उत्तर यह है कि जो म... साथ अनुचित व्यवहार करनेसे रोक... समझा नहीं सकता ...

सहन कैसे कर सकता है । किसी महात्माके नामपर, चाहे वह भक्ति, ज्ञान, योग—किसी भी मार्गमें पहुँचा हुआ हो, कोई अनुचित व्यवहार करे और वह उसे रोक न सके—यह असम्भव है । यदि कोई श्रीहनुमान्‌जी-को भगवान् श्रीरामके स्थानपर बिठाकर पूजना चाहे तो भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्‌जी उसको इस पूजाको कैसे स्वीकार कर सकते हैं । यदि किसी सेठकी गद्दीपर कोई उसके गुमाश्ते या मुनीमको ही सेठके रूपमें सजाकर उसकी इज्जत करनी चाहे और वह गुमाश्ता या मुनीम स्वामिभक्त है तो वह उस इज्जतको कब स्वीकार करेगा । और यदि करता है और सेठको इस बातका पता चल जाय तो वह अपने गुमाश्ते या मुनीमके इस व्यवहारको कैसे सहन करेगा । नमकहराम नौकर ही ऐसा कर सकता है । सच्चा भक्त ऐसी बात कभी सोच भी नहीं सकता । यहाँ तो गुमाश्ता या मुनीम सेठ बनकर ऐसा कर भी सकता है और सेठको पता ही न चले; परन्तु भगवान् तो सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ ठहरे, उनसे छिपाकर कोई कुछ कर ही नहीं सकता । भगवान् सजकर पूजा ग्रहण करना कोई भगवत्प्राप्त पुरुष तो कर ही नहीं सकता, भक्तिमार्गपर चलनेवाला साधक भी ऐसा नहीं कर सकता । इस प्रकारका अवसर अनायास कभी प्राप्त भी हो जाय तो भक्त साधक ऐसी अवस्थामें रोने लग जायगा, वह समझेगा कि यह तो मेरे लिये कलङ्क-की बात होगी । बात भी सच है, ऐसा करने-करानेवाला अपने और अपने भगवान् दोनोंपर कलङ्क लगाता है । जो भगवान्‌के नामपर अपनेको पुजवाता है, वह भक्ति-का प्रचार करना तो दूर रहा उल्टा संसारमें भ्रम फैलाता है और भगवान् भी उसकी इस करतूतपर मन-ही-मन हँसते हैं ।

जो मनुष्य भगवान्‌के स्थानपर अपनेको बिठाकर पूजा ग्रहण करता है, उसके प्रति स्वाभाविक ही हमारी अश्रद्धा हो जाती है । इसी प्रकार हमें भी सोचना चाहिये कि यदि हम भी ऐसा करेंगे तो लोग हमें भी घृणाकी दृष्टिसे देखने लग जायँगे । तथा इस प्रकार हम लोग भी महात्माओंके प्रति श्रद्धा बढ़ानेके बदले अश्रद्धा उत्पन्न करनेमें ही सहायक बनेंगे । क्योंकि वास्तवमें इस प्रकारका व्यवहार निन्दनीय ही है । सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही ऐसा आचरण होगा जो साधकोंके लिये लाभ-दायक हो । संसारमें ऐसे पुरुष ही आदर्श माने जाते हैं जिनके आचरण, उपदेश, दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषणसे दूसरोंका कल्याण हो । अच्छे पुरुषोंके आचरण ही दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं । यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि महात्माओंमें अविद्याका लेश भी नहीं होता; फिर अविद्याका कार्य—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा—तो हो ही कैसे सकती है । स्वयं महापुरुष, जो इस तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं, इसका प्रचार एवं प्रकाश करके लोगोंके अज्ञानान्धकारका नाश करते हैं । वास्तवमें जो मान, बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा एवं सत्कार आदि चाहते हैं अथवा सम्मति देकर लोगोंसे अपनी पूजा आदि करवाते हैं वे तो महामूढ हैं ही । किन्तु जो न तो दूसरोंको अपनी पूजा करनेके लिये कहता है और न पूछनेपर सम्मति देता है परन्तु पूजा आदि मिलनेपर उसे प्रसन्न मनसे स्वीकार कर लेता है, उसका विरोध नहीं करता, वह भी मूढ ही है । जो पूजा मिलनेसे प्रसन्न तो नहीं होता, चाहता भी नहीं कि लोग मुझे पूजें, किन्तु हृदयसे पूजा-सत्कारका विरोध नहीं करता, वह भी ज्ञान और भक्तिसे अभी बहुत दूर है ।

वर्तमान समयमें असली श्रद्धा और प्रेम बहुत कम लोगोंमें देखनेको मिलता है, अधिकांश लोगोंमें श्रद्धा और प्रेमकी नकल ही देखनेको मिलती है । असली श्रद्धाका रूप बाहरी पूजा, नमस्कार, सत्कार आदि

ियोगका दुःख कम न था। एक-एक दिन गिनकर ्होंने चौदह वर्ष व्यतीत किये और विरह-व्यथामें ूखकर काँटा हो गये। यही नहीं, चौदह वर्ष बीतनेके ाद यदि श्रीराम वनसे लौटनेमें क्षणभरका भी विलम्ब रते तो उनका प्राण बचना कठिन था। इस प्रकार ्रेमकी ऊँची-से-ऊँची अवस्था उनके अंदर व्यक्त थी। ाथ ही उनमें श्रद्धा भी कम न थी। इसीलिये उन्होंने ोचा कि जब श्रीराम अपनी इच्छासे वनमें जा रहे हैं ो उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें लौटानेके लिये मुझे ाग्रह क्यों करना चाहिये। इस प्रकार अतिशय प्रेमके ाथ-साथ उनमें श्रद्धा भी उच्चतम कोटिकी थी। किन्तु च्च श्रेणीके प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी और सब बातें ानते हुए भी कभी-कभी उनके सङ्गके लिये अड़ जाते हैं। सङ्ग के लिये उनका इस प्रकार आग्रह करना भी दोषयुक्त नहीं माना जाता। इससे उनकी श्रद्धामें कमी नहीं मानी जाती। सारांश यह है कि प्रेमी किसी भी हेतुसे प्रेमास्पदका त्याग नहीं करता। प्रेमास्पदका सङ्ग बना रहे, इसके लिये वह कभी-कभी अपने प्रेमास्पदकी रुचिकी भी उपेक्षा कर देता है। इसके विपरीत श्रद्धालु अपने श्रद्धेयकी रुचि रखनेके लिये उनके सङ्गका भी प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है, परन्तु उनकी रुचिके प्रतिकूल कोई चेष्टा नहीं करता। प्रेमीको प्रेमास्पदका सङ्ग छोड़नेमें मृत्युके समान कष्ट होता है और श्रद्धालु-को श्रद्धेयकी रुचिके प्रतिकूल आचरण मरणके समान प्रतीत होता है। प्रेमास्पद प्रेम बढ़ानेके लिये यदि प्रेमीको कभी अलग कर देता है तो प्रेमीको उसका वियोग असह्य हो जाता है। इसी प्रकार श्रद्धालुसे श्रद्धेयकी रुचिका पालन करनेमें तनिक भी कोर-कसर सहन नहीं होती। सच्चे प्रेम और श्रद्धाका यही स्वरूप है।

इसपर कोई यह कह सकते हैं कि सच्चे भगवद्भक्त सन्त आदि तो बिल्कुल नहीं चाहते, न वह चाहते हैं कि लोग उनके चित्रकी पूजा करें, उनके नामका प्रचार हो अथवा उनकी जीवनी लिखी जाय। परन्तु यदि भक्त और ज्ञानी यदि इन सब बातोंका कड़ाईके साथ विरोध करने लग जायँ तो फिर अच्छे पुरुषोंकी जीवनियाँ अथवा स्मारक संसारमें मिलने ही कठिन हो जायँगे, जिससे आगेकी पीढ़ियाँ उनसे मिलनेवाले लाभसे सदाके लिये वञ्चित हो जायँगी। इसका उत्तर यह है कि अच्छे पुरुष इन सब बातोंका तनिक भी विचार नहीं करते। अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करनेवाला क्या कभी यह सोचता है कि मेरी देखा-देखी यदि दूसरे लोग भी स्त्री-सुखका त्याग कर देंगे तो फिर संसारका व्यवहार कैसे चलेगा, सृष्टिका कार्य ही बंद हो जायगा। ऐसा सोचनेवाला कभी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता। इसी प्रकार अच्छे पुरुष यह कभी नहीं सोचते कि यदि हम पूजा ग्रहण करना छोड़ देंगे तो संसारसे महापुरुषोंकी पूजाकी पद्धति ही उठ जायगी। संसारका व्यवहार तो सदा इसी प्रकार चलता आया है और चलता रहेगा। यदि कोई कहे कि अबतकके महात्माओंकी इच्छा एवं प्रेरणासे ही उनकी जीवनियाँ लिखी गयी हैं अथवा उनके स्मारकोंका निर्माण हुआ है, तो ऐसा कहना अथवा सोचना उन महात्माओंपर झूठा कलङ्क लगाना, उनपर स्वार्थका दोषारोपण करना है। महात्माओंकी बात तो अलग रही, ऊँचे साधकके मनमें भी यह वासना हट जाती है; यदि उठती है तो यह मानना चाहिये कि वह उच्च कोटिका साधक नहीं है। इस सम्बन्धमें यह निश्चित सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि अच्छे पुरुषोंके मनमें यह कामना कभी उठती ही नहीं कि मेरे जीवन-कालमें अथवा मरनेके बाद लोग मेरे शरीर या मूर्तिकी पूजा करें, मेरे नामका प्रचार हो अथवा मेरी जीवनी लिखी जाय। इस प्रकारकी इच्छाका अच्छे पुरुषोंमें अभाव-सा हो जाता है। और महात्माओंका सच्चा अनुयायी एवं सच्चा श्रद्धालु वही है जो उनके आदेश, उनकी इच्छाके अनुकूल अपने जीवनको बना लेता है। वही सच्चा भगवद्भक्त और वही सच्चा भक्त है।

प्रमाणित करता है कि ज्ञान ही सामर्थ्य है। न और तत्त्वज्ञानशास्त्रके अन्वेषणोंके बलपर पाश्चात्य जितनी सत्ता स्थापित की है। लेकिन ही प्राप्तिके लिये विज्ञानको सृष्टिके भावोंका वर्गी- पड़ता है। यह सृष्टिको विभाजित कर एक-एक शाखाओंको सौंप देता है। विज्ञानमें इस तरह का श्रीगणेश होता है। ज्योतिषशास्त्र खगोलों- की स्थिति और गतियोंपर विचार करता है। न वस्तुओंके द्रव्य और उनकी क्रियाओंका अध्य- । इसी तरह वनस्पति-शास्त्र आदि अनेक विज्ञान एक कोनेमें अपना कार्य कर रहे हैं। वैज्ञानिक तीके लिये यह विशेषीकरण अत्यन्त आवश्यक है। (विशेषीकरण) के कारण विज्ञानके कार्यमें ती है। सम्पूर्ण विज्ञानोंके सब सिद्धान्तोंके एकत्री- होनेवाला सृष्टिज्ञान बिखरा सा और कुछ अंशों- होगा। इन वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी गुदड़ी हमें स्वरूप नहीं समझा सकती। सृष्टिके वास्तविक ान प्राप्त करनेके लिये हमें तत्त्वज्ञानकी ओर जाना सृष्टिका वास्तविक ज्ञान-प्रदान तत्त्वज्ञानका के लिये विज्ञानसे तत्त्व-ज्ञान अधिक अधिकारी है। है। सृष्टिका विचार तत्त्वज्ञानसाकल्यको लेकर ौर विज्ञान वैकल्य (एकदेशित्व) को लेकर। ष्टि पृथक्करण करती है और तात्त्विक दृष्टि एकी- ज्ञानिक दृष्टि भेदक है, तात्त्विक दृष्टि संग्राहक है। ष्टि नानात्व देखती है तो तात्त्विक दृष्टि एकत्व। 'नेह ञ्चन' यह नानात्व निरासात्मक एकत्वदर्शन तत्त्वदृष्टि- रहस्य है। विज्ञान सृष्टिकी ओर एकांगी दृष्टिसे अतः उसे उसका सम्पूर्ण सत्य ज्ञात नहीं होता। ष्टि साकल्यसे विचार करती है अर्थात् वर्तमान, भविष्य, अत्र-तत्र, आदि काल-देश-भेदको एक सम्पूर्ण अस्तित्वका समष्टिरूपसे दर्शन करती इसीलिये यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटोने तत्त्वज्ञानको सर्व- दर्शन Philosophy is synopsis कहा है। तीय तत्त्वज्ञ उसे 'सर्वसंग्राहक दर्शन' की अपेक्षा र्शन' कहना ठीक समझते हैं। हाँ! सर्वसंग्राहक सम्यग् दर्शन हो सकता है। एकदेशीय दर्शन कभी र्थात् वस्तुस्थितिनिदर्शक [illegible] सकता। वैज्ञानिक [illegible] विशेष [illegible] विस्तारसे किया गया है ताकि दोनोंके ध्येयोंका अन्तर अधिक स्पष्ट हो जा तात्पर्य, सृष्टिज्ञान विज्ञानका ध्येय है और सत्यज्ञान तत्त्व का। सब पदार्थोंका वर्गीकरण तथा उनकी प्रक्रिया-सम्ब नियमोंको निश्चय करते समय विज्ञानको उनके (पदार्थों अन्तिम सत्यके बारेमें कोई शंका नहीं रहती। यह पदार्थ सत्यत्व मानकर आगे बढ़ता है। विज्ञानकी यह दृढ़ धा है कि वस्तुओंका अस्तित्व स्वतन्त्र और स्वयंसिद्ध है। ज्ञान उनके अस्तित्वमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकत विज्ञानके प्रामाण्यको एक तरहसे इस बातकी आवश्यक रहती है। लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि व्यक्ति वस्तुमें विज्ञान जो सम्पूर्ण विभिन्नता उपस्थित करता है समर्थनीय है या नहीं। विज्ञान व्यक्तिके ज्ञानका विचार कर केवल वस्तुका एक संसार खड़ा कर देता है। लें वास्तवमें वस्तुका स्वरूप व्यक्तिके ज्ञानके साथ अविच्छे रीतिसे सम्बद्ध रहता है। वस्तुका दृश्यमानस्वरूप ज्ञानीत्प नियमोंसे निश्चित किया गया है। किंबहुना यों भी कहा सकता है कि वस्तुका स्वरूप ज्ञानमें ही उत्पन्न होता वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय, अनुभव और अनुभाव्य विषयों अटूट एकरूपता है। तत्त्वज्ञान दृष्टिके अनुसार भवद्वारा वस्तुओंकी ओर देखता है। और विज्ञान ज्ञा गूदेसे वस्तुके छिलकोंको अलग कर उन्हींपर विचार क रहता है। जब हम अनुभवज्ञात वस्तु और ज्ञानकी ए रूपतापर ध्यान देते हैं तब यह सारा वैज्ञानिक विवेचन कृ विषयोंपर विचारविनिमय-सा ज्ञात होता है। विज्ञानके वि वस्तुस्थितिके एक अंग रहते हैं इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान ज्ञान नहीं है। विज्ञानका विश्व अन्तिम पूर्ण सत्य नहीं विषयोंके सत्यासत्यका प्रश्न विज्ञानके सम्मुख उपस्थित होता। यह उसका कार्य नहीं है लेकिन तत्त्वज्ञानके सत्यासत्यका विवेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रिय है। अनुभवद्वारा सत्यासत्यका निश्चय करना पड़ता है। जाता है कि भाषाकी शुद्धता अथवा अशुद्धताका ज्ञान व्याकरण होता है उसी तरह तत्त्वज्ञानके अध्ययनसे सत्यासत्यका होता है। तत्त्वज्ञान अनुभवका व्याकरण है।

विज्ञान विषयोंको अनुभवसे विलिप्त करता है, वैज्ञा अपूर्णताका यह एक कारण है। इसके अतिरिक्त और कई कारण हैं। विज्ञानकी खोज उपपत्तिस्पद रहती है। अ एक कार्य क्यों हुआ? उसके कारण क्या है? विज्ञान समझानेका प्रयत्न करता है। थोड़ा विचार करनेमें ज्ञात हो

विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान

(लेखक—डॉ० डी० जी० [illegible], एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

तत्त्वज्ञानके अभ्यासियोंसे प्रायः एक प्रश्न पूछा जाता है—'तत्त्वज्ञान क्या है ?' यह प्रश्न दीखता बड़ा सरल है, परन्तु समझानेवालेको बड़े झमेलेमें डाल देता है। इसका उत्तर उसे ज्ञात रहता है और वह थोड़े शब्दोंमें भी दिया जा सकता है। लेकिन उसके सामने समस्या यह रहती है कि इस छोटे-से उत्तरसे प्रश्नकर्त्ताका समाधान होगा या नहीं। 'तत्त्वसम्बन्धी ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्' यह उत्तर अपने साथ ही 'तत्त्व क्या है ?' इस प्रश्नको घसीट लाता है; और 'तत्त्व यानी सत्य, अन्तिम सत्य'। तत्त्वज्ञानका उद्देश्य है सत्यका ज्ञान प्राप्त करना। इतनी रामायण पढ़नेके बाद भी प्रश्नकर्त्ताकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होती। उसे अभी भी यह ज्ञात नहीं हुआ कि तत्त्व-ज्ञान किन-किन विशेष प्रश्नोंकी चर्चा करता है। इसलिये तत्त्वज्ञानके ग्रन्थोंमें 'तत्त्वज्ञान क्या है ?' की समस्या सुलझाते समय विज्ञान और तत्त्वज्ञानका भेद स्पष्ट करनेकी परिपाटी उचित ही है।

साधारणतः 'विज्ञान' शब्दकी योजना किसी एक ज्ञान-शाखाके अर्थमें होती है। प्रत्येक ज्ञानशाखाका एक विवक्षित विषय होता है। इसकी एक पद्धति और परिभाषा रहती है। किसी भी विषयका सुव्यवस्थित तथा परिभाषाबद्ध ज्ञान ही उस विषयका 'विज्ञान' है। इस अर्थके अनुसार वैद्यक, ज्योतिष तथा संगीत विज्ञान हैं। इसी तरह वेदान्तशास्त्र, सांख्यशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा धर्मशास्त्र भी प्रयोगसम्मत होनेसे विज्ञान है। इस लेखमें 'विज्ञान' शब्दकी योजना किसी एक 'ज्ञान-शाखा' के सामान्य अर्थमें नहीं हुई है। क्योंकि इस अर्थके अनुसार तो तत्त्वज्ञान भी एक विज्ञान है। 'विज्ञान' शब्द यहाँ भौतिक शास्त्र, प्रयोगप्रधान शास्त्र सायन्स (Science) के [illegible]

स्थूलरूपमें सम्पूर्ण मानवीय ज्ञानके दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं—एक शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक तथा दूसरा तात्त्विक। क्या ये भेद क्षेत्रभेद अथवा प्रान्तभेदके कारण हुए हैं ? क्या विज्ञानका और तत्त्वज्ञानका विषय-क्षेत्र भिन्न-भिन्न है ? पहले-पहले देखा मालूम होता है कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानके क्षेत्र [illegible] भिन्न-भिन्न हैं। विज्ञान दृश्य-सृष्टिका विचार

करता है और तत्त्वज्ञान दृश्य-सृष्टिके परे जो अदृश्य है उसपर। दृश्य-सृष्टिसे तत्त्वज्ञानका कोई सरोकार नहीं [illegible] तरह विज्ञानका अदृश्य सृष्टिसे कोई सम्बन्ध नहीं। [illegible] Physics फिजिक्स और मेटेफिजिक्स Meta-Ph[illegible] शब्द भौतिकज्ञान-विषयको अतिभौतिकज्ञान-विषयसे [illegible] दिग्दर्शित करते हैं। ॲरिस्टॉटल् (Aristotle [illegible] दृश्य-दृष्टिसम्बन्धी 'फिजिक्स' ग्रन्थ पहले लिखा। [illegible] फिर दृश्यातीत वस्तुओंके बारेमें 'मेटेफिजिक्स' [illegible] ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। इसलिये कुछ [illegible] सोचने लगे हैं कि जहाँ विज्ञानका क्षेत्र समाप्त होता है [illegible] तत्त्वज्ञानका क्षेत्र प्रारम्भ होता है। लेकिन आगे विचार [illegible] से ज्ञात होगा कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानकी सीमाएँ [illegible] क्षेत्रपरसे अलग नहीं की जा सकतीं। मनुष्यकी बुद्धिका [illegible] एक ही है दृश्य अथवा अनुमान्य जगत्। हमारी बुद्धिसे [illegible] प्रश्न किये जायँगे वे सब इस संसारके बारेमें ही होंगे। [illegible] का विषय-क्षेत्र एक है, लेकिन दोनों अलग-अलग [illegible] विचार करते हैं। संसारके विषयमें विज्ञान एक प्रश्न [illegible] है तो तत्त्वज्ञान दूसरी तरहका। संसारकी वस्तुओंके [illegible] कौन-कौनसे हैं ? पदार्थोंकी स्थिति कैसे बदलती है ? उनमें होनेवाली क्रियाओंके बारेमें कुछ नियम बनाये [illegible] सकते हैं या नहीं ? विज्ञानके लिये ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। विविध पदार्थसम्बन्धी अन्तिम सत्यके प्रश्नको तत्त्वज्ञान अधिक महत्त्व देता है। नित्य क्या है और अनित्य क्या है ? सत्य किसे कहें और असत्य किसे कहें ? बाह्य जगत्के अनुभवोंका स्वरूप क्या है ? उसकी मर्यादा और शर्तें कौन-कौन-सी हैं ? तत्त्वज्ञान इन प्रश्नोंपर विचार करता है। हम देख चुके हैं कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानके क्षेत्रों अथवा प्रदेशोंमें कोई भेद नहीं है। उनके ध्येय तथा पद्धतियोंमें क्या भेद है—क्रमशः इसका विचार करें।

इस [illegible] वर्गीकरण तथा उनमें [illegible] विशद [illegible] जिन नियमोंके अनुसार होती है उनका विचार करना [illegible] वैज्ञानिक [illegible] है। विज्ञानके [illegible] [illegible] [illegible] भी है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कर [illegible] है। वैज्ञानिक [illegible] [illegible]

बातको प्रमाणित करता है कि ज्ञान ही सामर्थ्य है।

विज्ञान और रसायनशास्त्रके अन्वेषणोंके अन्तर ने निसर्गपर कितनी सत्ता स्थापित की है। लेकिन ज्ञेयकी प्राप्तिके लिये विज्ञानको सृष्टिके भागोंका वर्गीकरण करना पड़ता है। यह सृष्टिको विभाजित कर एक-एक विभिन्न शाखाओंको सौंप देता है। विज्ञानमें इस तरह विशेषीकरणका श्रीगणेश होता है। ज्योतिश्शास्त्र खगोलों- तथा उनकी स्थिति और गतियोंपर विचार करता है। रसायन विज्ञान वस्तुओंके द्रव्य और उनकी क्रियाओंका अध्ययन करता है। इसी तरह वनस्पति-शास्त्र आदि अनेक विज्ञान सृष्टिके एक-एक कोनेमें अपना कार्य कर रहे हैं। वैज्ञानिक ज्ञानकी प्रगतिके लिये यह विशेषीकरण अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि इस (विशेषीकरण) के कारण विज्ञानके कार्यमें अपूर्णता रहती है। सम्पूर्ण विज्ञानोंके सब सिद्धान्तोंके एकत्रीकरणसे प्राप्त होनेवाला सृष्टिज्ञान बिखरा सा और कुछ अंशोंमें विसङ्गत होगा। इन वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी गुदड़ी हमें सृष्टिका सत्य स्वरूप नहीं समझा सकती। सृष्टिके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हमें तत्त्वज्ञानकी ओर जाना चाहिये। सृष्टिका वास्तविक ज्ञान-प्रदान तत्त्वज्ञानका ध्येय है। इसके लिये विज्ञानसे तत्त्व-ज्ञान अधिक अधिकारी है। कारण स्पष्ट है। सृष्टिका विचार तत्त्वज्ञानसाकल्यको लेकर करता है और विज्ञान वैकल्य (एकदेशित्व) को लेकर। वैज्ञानिक दृष्टि पृथक्करण करती है और तात्त्विक दृष्टि एकीकरण। वैज्ञानिक दृष्टि भेदक है, तात्त्विक दृष्टि संग्राहक है। वैज्ञानिक दृष्टि नानात्व देखती है तो तात्त्विक दृष्टि एकत्व। 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह नानात्व निरासात्मक एकत्वदर्शन तत्त्वदृष्टिके लिये ही शक्य है। विज्ञान सृष्टिकी ओर एकांगी दृष्टिसे देखता है, अतः उसे उसका सम्पूर्ण सत्य ज्ञात नहीं होता। तात्त्विक दृष्टि साकल्यसे विचार करती है अर्थात् वर्तमान, भूत और भविष्य, अत्र-तत्र, आदि काल-देश-भेदको एक ओर रख सम्पूर्ण अस्तित्वका समष्टिरूपसे दर्शन करती है। और इसीलिये यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटोने तत्त्वज्ञानको सर्वसंग्राहक दर्शन Philosophy is synopsis कहा है। लेकिन भारतीय तत्त्वज्ञ उसे 'सर्वसंग्राहक दर्शन' की अपेक्षा 'सम्यग् दर्शन' कहना ठीक समझते हैं। हाँ! सर्वसंग्राहक दर्शन ही सम्यग् दर्शन हो सकता है। एकदेशीय दर्शन कभी सम्यक् अर्थात् वस्तुस्थितिनिदर्शक नहीं हो सकता। वैज्ञानिक तथा तात्त्विक दृष्टिभेदका विवेचन यहाँ इतने विस्तारसे किया गया है ताकि दोनोंके ध्येयोंका अन्तर अधिक स्पष्ट हो जाय। तात्पर्य, सृष्टिज्ञान विज्ञानका ध्येय है और सत्यज्ञान तत्त्वज्ञानका। सृष्ट पदार्थोंका वर्गीकरण तथा उनकी विक्रिया-सम्बन्धी नियमोंको निश्चय करते समय विज्ञानको उनके (पदार्थोंके) अन्तिम सत्यके बारेमें कोई शंका नहीं रहती। वह पदार्थोंका सत्यत्व मानकर आगे बढ़ता है। विज्ञानकी यह दृढ़ धारणा है कि वस्तुओंका अस्तित्व स्वतन्त्र और स्वयंसिद्ध है। तथा ज्ञान उनके अस्तित्वमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। विज्ञानके प्रामाण्यको एक तरहसे इस बातकी आवश्यकता रहती है। लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि व्यक्ति और वस्तुमें विज्ञान जो सम्पूर्ण विभिन्नता उपस्थित करता है वह समर्थनीय है या नहीं। विज्ञान व्यक्तिके ज्ञानका विचार न कर केवल वस्तुका एक संसार खड़ा कर देता है। लेकिन वास्तवमें वस्तुका स्वरूप व्यक्तिके ज्ञानके साथ अविच्छेद्यरीतिसे सम्बद्ध रहता है। वस्तुका दृश्यमानस्वरूप ज्ञानोत्पादक नियमोंसे निश्चित किया गया है। किंबहुना यों भी कहा जा सकता है कि वस्तुका स्वरूप ज्ञानमें ही उत्पन्न होता है। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय, अनुभव और अनुभाव्य विषयोंकी अटूट एकरूपता है। तत्त्वज्ञान दृष्टिके अनुसार अनुभवद्वारा वस्तुओंकी ओर देखता है। और विज्ञान ज्ञानके गूदेसे वस्तुके छिलकोंको अलग कर उन्हींपर विचार करता रहता है। जब हम अनुभवज्ञात वस्तु और ज्ञानकी एकरूपतापर ध्यान देते हैं तब यह सारा वैज्ञानिक विवेचन कृत्रिम विषयोंपर विचारविनिमय-सा ज्ञात होता है। विज्ञानके विषय वस्तुस्थितिके एक अंग रहते हैं इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान सत्य ज्ञान नहीं है। विज्ञानका विश्व अन्तिम पूर्ण सत्य नहीं है। विषयोंके सत्यासत्यका प्रश्न विज्ञानके सम्मुख उपस्थित नहीं होता। यह उसका कार्य नहीं है लेकिन तत्त्वज्ञानके लिये सत्यासत्यका विवेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रिय है। उसे अनुभवद्वारा सत्यासत्यका निश्चय करना पड़ता है। कहा जाता है कि भाषाकी शुद्धता अथवा अशुद्धताका ज्ञान व्याकरणसे होता है उसी तरह तत्त्वज्ञानके अध्ययनसे सत्यासत्यका ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान अनुभवका व्याकरण है।

विज्ञान विषयोंको अनुभवसे विलिप्त करता है, वैज्ञानिक अपूर्णताका यह एक कारण है। इसके अतिरिक्त और भी कई कारण हैं। विज्ञानकी खोज उपपत्तिरूप रहती है। अमुक एक कार्य क्या हुआ? उसके कारण क्या हैं? विज्ञान इन्हें समझानेका प्रयत्न करता है। थोड़ा विचार करनेसे ज्ञात होगा

विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान

(लेखक—डॉ० डी० जी० लोंढे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

तत्त्वज्ञानके अभ्यासियोंसे प्रायः एक प्रश्न पूछा जाता है—'तत्त्वज्ञान क्या है ?' यह प्रश्न दीखता बड़ा सरल है, परन्तु समझानेवालेको बड़े झमेलेमें डाल देता है। इसका उत्तर उसे ज्ञात रहता है और वह थोड़े शब्दोंमें भी दिया जा सकता है। लेकिन उसके सामने समस्या यह रहती है कि इस छोटे-से उत्तरसे प्रश्नकर्ताका समाधान होगा या नहीं। 'तत्त्वसम्बन्धी ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्' यह उत्तर अपने साथ ही 'तत्त्व क्या है ?' इस प्रश्नको घसीट लाता है; और 'तत्त्व यानी सत्य, अन्तिम सत्य'। तत्त्वज्ञानका उद्देश्य है सत्यका ज्ञान प्राप्त करना। इतनी रामायण पढ़नेके बाद भी प्रश्नकर्ताकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होती। उसे अभी भी यह ज्ञात नहीं हुआ कि तत्त्व-ज्ञान किन-किन विशेष प्रश्नोंकी चर्चा करता है। इसलिये तत्त्वज्ञानके ग्रन्थोंमें 'तत्त्वज्ञान क्या है ?' की समस्या सुलझाते समय विज्ञान और तत्त्वज्ञानका भेद स्पष्ट करनेकी परिपाटी उचित ही है।

साधारणतः 'विज्ञान' शब्दकी योजना किसी एक ज्ञान-शाखाके अर्थमें होती है। प्रत्येक ज्ञानशाखाका एक विवक्षित विषय होता है। इसकी एक पद्धति और परिभाषा रहती है। किसी भी विषयका सुव्यवस्थित तथा परिभाषाबद्ध ज्ञान ही उस विषयका 'विज्ञान' है। इस अर्थके अनुसार वैद्यक, ज्योतिष तथा संगीत विज्ञान हैं। इसी तरह वेदान्तशास्त्र, सांख्यशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा धर्मशास्त्र भी प्रयोगसम्मत होनेसे विज्ञान है। इस लेखमें 'विज्ञान' शब्दकी योजना किसी एक 'ज्ञान-शाखा' के सामान्य अर्थमें नहीं हुई है। क्योंकि इस अर्थके अनुसार तो तत्त्वज्ञान भी एक विज्ञान है। 'विज्ञान' शब्द यहाँ भौतिक शास्त्र, प्रयोगप्रधान शास्त्र सायन्स (Science) के विशिष्ट अर्थमें आया है। तत्त्वज्ञान दर्शनशास्त्र(*Philosophy*) या मेटेफिजिक्सके अर्थमें रक्खा गया है।

स्थूलरूपमें सम्पूर्ण मानवीय ज्ञानके दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं—एक शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक तथा दूसरा तात्त्विक। क्या ये भेद क्षेत्रभेद अथवा प्रान्तभेदके कारण हुए हैं ? क्या विज्ञानका और तत्त्वज्ञानका विषय-क्षेत्र भिन्न-भिन्न है ? पहले-पहले ऐसा भास होता है कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानके क्षेत्र सम्पूर्णतया भिन्न-भिन्न हैं। विज्ञान दृश्य-सृष्टिका विचार करता है और तत्त्वज्ञान दृश्य-सृष्टिके परे जो अदृश्य है उसका। दृश्य-सृष्टिसे तत्त्वज्ञानका कोई सरोकार नहीं। उसी तरह विज्ञानका अदृश्य सृष्टिसे कोई सम्बन्ध नहीं। Meta-Physics फिजिक्स और मेटेफिजिक्स Meta-Physics शब्द भौतिकज्ञान-विषयको अतिभौतिकज्ञान विषयसे दिग्दर्शित करते हैं। ॲरिस्टॉटल् (Aristotle) ने दृश्य-दृष्टिसम्बन्धी 'फिजिक्स' ग्रन्थ पहले लिखा। फिर दृश्यातीत वस्तुओंके बारेमें 'मेटेफिजिक्स' ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। इसलिये कुछ व्यक्ति ऐसे सोचने लगे हैं कि जहाँ विज्ञानका क्षेत्र समाप्त होता है वहाँ तत्त्वज्ञानका क्षेत्र प्रारम्भ होता है। लेकिन आगे विचार करनेसे ज्ञात होगा कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानकी सीमाएँ विषय-क्षेत्रपरसे अलग नहीं की जा सकतीं। मनुष्यकी बुद्धिका विषय एक ही है दृश्य अथवा अनुमान्य जगत्। हमारी बुद्धिसे जो प्रश्न किये जायँगे वे सब इस संसारके बारेमें ही होंगे। दोनों का विषय-क्षेत्र एक है, लेकिन दोनों अलग-अलग ढंगसे विचार करते हैं। संसारके विषयमें विज्ञान एक प्रश्न पूछता है तो तत्त्वज्ञान दूसरी तरहका। संसारकी वस्तुएँ कौन-कौनसे हैं ? पदार्थोंकी स्थिति कैसे बदलती है ? उनमें होनेवाली विक्रियाओंके बारेमें कुछ नियम बनाये जा सकते हैं या नहीं ? विज्ञानके लिये ये प्रश्न महत्त्वके हैं। विविध पदार्थसम्बन्धी अन्तिम सत्यके प्रश्नको तत्त्वज्ञान अधिक महत्त्व देता है। नित्य क्या है और अनित्य क्या है ? सत्य किसे कहें और असत्य किसे कहें ? बाह्य जगत्के अनुभवोंका स्वरूप क्या है ? उसकी मर्यादा और शर्तें कौन-कौन-सी हैं ? तत्त्वज्ञान इन प्रश्नोंपर विचार करता है। हम देख चुके हैं कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानके क्षेत्रों अथवा प्रदेशोंमें कोई भेद नहीं है। उनके ध्येय तथा पद्धतियोंमें क्या भेद है—क्रमशः इसका विचार करें।

दृश्य भावोंका वर्गीकरण तथा उनमें चलनेवाली क्रियाएँ जिन नियमोंके अनुसार होती हैं उनका निश्चय करना वैज्ञानिक अन्वेषणका ध्येय है। [illegible] व्यावहारिक पहलू भी है। [illegible] नियमोंके [illegible] मनुष्य [illegible] प्राप्त कर सकता है। वैज्ञानिक [illegible]

तात्पर्य प्रमाणित करता है कि ज्ञान ही सामर्थ्य है। विज्ञान और रसायनशास्त्रके अन्वेषणोंके बलपर ने निसर्गपर कितनी सत्ता स्थापित की है। लेकिन ध्येयकी प्राप्तिके लिये विज्ञानको सृष्टिके भावोंका वर्गी-करना पड़ता है। वह सृष्टिको विभाजित कर एक-एक विभिन्न शाखाओंको सौंप देता है। विज्ञानमें इस तरह वर्गीकरणका श्रीगणेश होता है। ज्योतिषशास्त्र खगोलों-तथा उनकी स्थिति और गतियोंपर विचार करता है। विज्ञान वस्तुओंके द्रव्य और उनकी क्रियाओंका अध्य-करता है। इसी तरह वनस्पति-शास्त्र आदि अनेक विज्ञान सृष्टिके एक-एक कोनेमें अपना कार्य कर रहे हैं। वैज्ञानिक ज्ञानकी प्रगतिके लिये यह विशेषीकरण अत्यन्त आवश्यक है। यदि इस (विशेषीकरण) के कारण विज्ञानके कार्यमें उत्पन्न रहती है। सम्पूर्ण विज्ञानोंके सब सिद्धान्तोंके एकत्री-करणसे प्राप्त होनेवाला सृष्टिज्ञान विचित्र सा और कुछ अशों-में विसङ्गत होगा। इन वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी गुदड़ी हमें सृष्टिका सत्य स्वरूप नहीं समझा सकती। सृष्टिके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हमें तत्त्वज्ञानकी ओर जाना चाहिये। सृष्टिका वास्तविक ज्ञान-प्रदान तत्त्वज्ञानका ध्येय है। इसके लिये विज्ञानसे तत्त्व-ज्ञान अधिक अधिकारी है। कारण स्पष्ट है। सृष्टिका विचार तत्त्वज्ञानसाकल्यको लेकर करता है और विज्ञान वैकल्य (एकदेशित्व) को लेकर। वैज्ञानिक दृष्टि पृथक्करण करती है और तात्त्विक दृष्टि एकी-करण। वैज्ञानिक दृष्टि भेदक है, तात्त्विक दृष्टि संग्राहक है। वैज्ञानिक दृष्टि नानात्व देखती है तो तात्त्विक दृष्टि एकत्व। 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह नानात्व निरासात्मक एकत्वदर्शन तत्त्वदृष्टि-के लिये ही शक्य है। विज्ञान सृष्टिको ओर एकांगी दृष्टिसे देखता है, अतः उसे उसका सम्पूर्ण सत्य ज्ञात नहीं होता। तात्त्विक दृष्टि साकल्यसे विचार करती है अर्थात् वर्तमान, भूत और भविष्य, अत्र-तत्र, आदि काल-देश-भेदको एक ओर रख सम्पूर्ण अस्तित्वका समष्टिरूपसे दर्शन करती है। और इसीलिये यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटोने तत्त्वज्ञानको सर्व-संग्राहक दर्शन Philosophy is synopsis कहा है। लेकिन भारतीय तत्त्वज्ञ उसे 'सर्वसंग्राहक दर्शन' की अपेक्षा 'सम्यग् दर्शन' कहना ठीक समझते हैं। हाँ! सर्वसंग्राहक दर्शन ही सम्यग् दर्शन हो सकता है। एकदेशीय दर्शन कभी सम्यक् अर्थात् वस्तुस्थितिनिदर्शक नहीं हो सकता। वैज्ञानिक तथा तात्त्विक दृष्टिभेदका विवेचन यहाँ इतने विस्तारसे किया गया है ताकि दोनोंके ध्येयोंका अन्तर अधिक स्पष्ट हो जाय। तात्पर्य, सृष्टिज्ञान विज्ञानका ध्येय है और सत्यज्ञान तत्त्वज्ञान-का। सृष्ट पदार्थोंका वर्गीकरण तथा उनकी क्रिया-सम्बन्धी नियमोंको निश्चय करते समय विज्ञानको उनके (पदार्थोंके) अन्तिम सत्यके बारेमें कोई शंका नहीं रहती। वह पदार्थोंका सत्यत्व मानकर आगे बढ़ता है। विज्ञानकी यह दृढ़ धारणा है कि वस्तुओंका अस्तित्व स्वतन्त्र और स्वयंसिद्ध है। तथा ज्ञान उनके अस्तित्वमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। विज्ञानके प्रामाण्यको एक तरहसे इस बातकी आवश्यकता रहती है। लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि व्यक्ति और वस्तुमें विज्ञान जो सम्पूर्ण विभिन्नता उपस्थित करता है वह समर्थनीय है या नहीं। विज्ञान व्यक्तिके ज्ञानका विचार न कर केवल वस्तुका एक संसार खड़ा कर देता है। लेकिन वास्तवमें वस्तुका स्वरूप व्यक्तिके ज्ञानके साथ अविच्छेद्य-रीतिसे सम्बद्ध रहता है। वस्तुका दृश्यमानस्वरूप ज्ञानोत्पादक नियमोंसे निश्चित किया गया है। किंबहुना यों भी कहा जा सकता है कि वस्तुका स्वरूप ज्ञानमें ही उत्पन्न होता है। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय, अनुभव और अनुभाव्य विषयोंकी अटूट एकरूपता है। तत्त्वज्ञान दृष्टिके अनुसार अनु-भवद्वारा वस्तुओंकी ओर देखता है। और विज्ञान ज्ञानके गूदेसे वस्तुके छिलकोंको अलग कर उन्हींपर विचार करता रहता है। जब हम अनुभवज्ञात वस्तु और ज्ञानकी एक-रूपतापर ध्यान देते हैं तब यह सारा वैज्ञानिक विवेचन कृत्रिम विषयोंपर विचारविनिमय-सा ज्ञात होता है। विज्ञानके विषय वस्तुस्थितिके एक अंग रहते हैं इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान सत्य ज्ञान नहीं है। विज्ञानका विषय अन्तिम पूर्ण सत्य नहीं है। विषयोंके सत्यासत्यका प्रश्न विज्ञानके सम्मुख उपस्थित नहीं होता। यह उसका कार्य नहीं है लेकिन तत्त्वज्ञानके लिये सत्यासत्यका विवेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रिय है। उसे अनुभवद्वारा सत्यासत्यका निश्चय करना पड़ता है। कहा जाता है कि भाषाकी शुद्धता अथवा अशुद्धताका ज्ञान व्याकरणसे होता है उसी तरह तत्त्वज्ञानके अध्ययनसे सत्यासत्यका ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान अनुभवका व्याकरण है।

विज्ञान विषयोंको अनुभवसे विलिप्त करता है, वैज्ञानिक अपूर्णताका यह एक कारण है। इसके अतिरिक्त और भी कई कारण हैं। विज्ञानकी खोज उपपत्तिमूल रहती है। अमुक एक कार्य क्यों हुआ? उसके कारण क्या हैं? विज्ञान इन्हें समझनेका प्रयत्न करता है। थोड़ा विचार करनेसे ज्ञात होगा

विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान

(लेखक—डॉ॰ [illegible])

तत्त्वज्ञानके अभ्यासार्थियोंसे प्रायः एक प्रश्न पूछा जाता है—'तत्त्वज्ञान क्या है ?' यह प्रश्न दीखता बड़ा सरल है, परन्तु प्रश्नकर्ताओंको यह प्रश्नोंमें डाल देता है। इसका उत्तर उसे ज्ञात रहता है और यह थोड़े शब्दोंमें भी दिया जा सकता है। लेकिन उसके सामने समस्या यह रहती है कि इस छोटे-से उत्तरसे प्रश्नकर्ताका समाधान होगा या नहीं। 'तत्त्वसम्बन्धी ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्' यह उत्तर अपने साथ ही 'तत्त्व क्या है ?' इस प्रश्नको उपस्थित करता है; और 'तत्त्व यानी सत्य, अन्तिम सत्य'। तत्त्वज्ञानका उद्देश्य है सत्यका ज्ञान प्राप्त करना। इतनी रामायण पढ़नेके बाद भी प्रश्नकर्ताकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होती। उसे अभी भी यह ज्ञात नहीं हुआ कि तत्त्व-ज्ञान किन-किन विशेष प्रश्नोंकी चर्चा करता है। इसलिये तत्त्वज्ञानके ग्रन्थोंमें 'तत्त्वज्ञान क्या है ?' की समस्या सुलझाते समय विज्ञान और तत्त्वज्ञानका भेद स्पष्ट करनेकी परिपाटी उचित ही है।

साधारणतः 'विज्ञान' शब्दकी योजना किसी एक ज्ञान-शाखाके अर्थमें होती है। प्रत्येक ज्ञानशाखाका एक विवक्षित विषय होता है। इसकी एक पद्धति और परिभाषा रहती है। किसी भी विषयका सुव्यवस्थित तथा परिभाषाबद्ध ज्ञान ही उस विषयका 'विज्ञान' है। इस अर्थके अनुसार वैद्यक, ज्योतिष तथा संगीत विज्ञान हैं। इसी तरह वेदान्तशास्त्र, सांख्यशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा धर्मशास्त्र भी प्रयोगसम्मत होनेसे विज्ञान है। इस लेखमें 'विज्ञान' शब्दकी योजना किसी एक 'ज्ञान-शाखा' के सामान्य अर्थमें नहीं हुई है। क्योंकि इस अर्थके अनुसार तो तत्त्वज्ञान भी एक विज्ञान है। 'विज्ञान' शब्द यहाँ भौतिक शास्त्र, प्रयोगप्रधान शास्त्र सायन्स (Science) के विशिष्ट अर्थमें आया है। तत्त्वज्ञान दर्शनशास्त्र(Philosophy) या मेटेफिजिक्सके अर्थमें रक्खा गया है।

स्थूलरूपमें सम्पूर्ण मानवीय ज्ञानके दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं—एक शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक तथा दूसरा तात्त्विक। क्या ये भेद क्षेत्रभेद अथवा प्रान्तभेदके कारण हुए हैं ? क्या विज्ञानका और तत्त्वज्ञानका विषय-क्षेत्र भिन्न-भिन्न है ? पहले-पहले ऐसा भास होता है कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानके क्षेत्र सम्पूर्णतया भिन्न-भिन्न हैं। विज्ञान दृश्य-सृष्टिपर विचार करता है और तत्त्वज्ञान दृश्य-सृष्टिके परे जो [illegible] है उसपर। दृश्य-सृष्टिसे तत्त्वज्ञानका कोई सरोकार नहीं। [illegible] तरह विज्ञानका अदृश्य सृष्टिसे कोई सम्बन्ध नहीं। Physics फिजिक्स और मेटेफिजिक्स Meta [illegible] Physics शब्द भौतिकशास्त्र-विषयको अतिभौतिकशास्त्र-विषयसे [illegible] दिग्दर्शित करते हैं। ॲरिस्टॉटल् (Aristotle आदि [illegible] दृश्य-इन्द्रियसम्बन्धी 'फिजिक्स' ग्रन्थ पहले लिखा। [illegible] फिर दृश्यातीत वस्तुओंके बारेमें 'मेटेफिजिक्स' [illegible] ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। इसलिये कुछ [illegible] सोचने लगे हैं कि जहाँ विज्ञानका क्षेत्र समाप्त होता है [illegible] तत्त्वज्ञानका क्षेत्र प्रारम्भ होता है। लेकिन आगे विचार [illegible] से ज्ञात होगा कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानकी सीमाएँ [illegible] क्षेत्रपरसे अलग नहीं की जा सकतीं। मनुष्यकी बुद्धिका [illegible] एक ही है दृश्य अथवा अनुमान्य जगत्। हमारी बुद्धिसे [illegible] प्रश्न किये जायँगे वे सब इस संसारके बारेमें ही होंगे। [illegible] का विषय-क्षेत्र एक है, लेकिन दोनों अलग-अलग [illegible] विचार करते हैं। संसारके विषयमें विज्ञान एक प्रश्न [illegible] है तो तत्त्वज्ञान दूसरी तरहका। संसारकी वस्तुओंके [illegible] कौन-कौनसे हैं ? पदार्थोंकी स्थिति कैसे बदलती [illegible] उनमें होनेवाली विक्रियाओंके बारेमें कुछ नियम बनाये [illegible] सकते हैं या नहीं ? विज्ञानके लिये ये प्रश्न महत्त्व [illegible] हैं। विविध पदार्थसम्बन्धी अन्तिम सत्यके प्रश्न [illegible] तत्त्वज्ञान अधिक महत्त्व देता है। नित्य क्या है [illegible] अनित्य क्या है ? सत्य किसे कहें और असत्य किसे [illegible] बाह्य जगत्के अनुभवोंका स्वरूप क्या है ? उसकी मर्यादा और शर्तें कौन-कौन-सी हैं ? तत्त्वज्ञान इन प्रश्नोंपर विचार करता है। हम देख चुके हैं कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानके क्षेत्रों अथवा प्रदेशोंमें कोई भेद नहीं है। उनके ध्येय [illegible] पद्धतियोंमें क्या भेद है—क्रमशः इसका विचार करें।

दृश्य भावोंका वर्गीकरण तथा उनमें चलनेवाली क्रिया[illegible] जिन नियमोंके अनुसार होती हैं उनका निश्चय कर[illegible] वैज्ञानिक अन्वेषणका ध्येय है। विज्ञानके ध्येयका [illegible] व्यावहारिक पहलू भी है। वैज्ञानिक नियमोंके ज्ञान[illegible] प्रकृतिपर शासन कर सकना [illegible]

ने प्रमाणित करता है कि ज्ञान ही सामर्थ्य है। ान और रसायनशास्त्रके अन्वेषणोंके बलपर निसर्गपर कितनी सत्ता स्थापित की है। लेकिन ाकी प्राप्तिके लिये विज्ञानको सृष्टिके भावोंका वर्गी-ना पड़ता है। वह सृष्टिको विभाजित कर एक-एक भिन्न शाखाओंको सौंप देता है। विज्ञानमें इस तरह रणका श्रीगणेश होता है। ज्योतिषशास्त्र खगोलीं-उनकी स्थिति और गतियोंपर विचार करता है। ज्ञान वस्तुओंके द्रव्य और उनकी क्रियाओंका अध्य-ता है। इसी तरह वनस्पति-शास्त्र आदि अनेक विज्ञान एक-एक कोनेमें अपना कार्य कर रहे हैं। वैज्ञानिक प्रगतिके लिये यह विशेषीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इस (विशेषीकरण) के कारण विज्ञानके कार्यमें ा रहती है। सम्पूर्ण विज्ञानोंके सब सिद्धान्तोंके एकत्री-से प्राप्त होनेवाला सृष्टिज्ञान बिखरा सा और कुछ अंशों-सङ्गत होगा। इन वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी गुदड़ी हमें का सत्य स्वरूप नहीं समझा सकती। सृष्टिके वास्तविक रूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हमें तत्त्वज्ञानकी ओर जाना होगे। सृष्टिका वास्तविक ज्ञान-प्रदान तत्त्वज्ञानका है। इसके लिये विज्ञानसे तत्व-ज्ञान अधिक अधिकारी है। रण स्पष्ट है। सृष्टिका विचार तत्त्वज्ञानसाकल्यको लेकर ता है और विज्ञान वैकल्य (एकदेशित्व) को लेकर। ज्ञानिक दृष्टि पृथक्करण करती है और तात्त्विक दृष्टि एकी-करण। वैज्ञानिक दृष्टि भेदक है, तात्त्विक दृष्टि संग्राहक है। वैज्ञानिक दृष्टि नानात्व देखती है तो तात्त्विक दृष्टि एकत्व। 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह नानात्व निरासात्मक एकत्वदर्शन तत्त्वदृष्टि-के लिये ही शक्य है। विज्ञान सृष्टिको और एकाङ्गी दृष्टिसे देखता है, अतः उसे उसका सम्पूर्ण सत्य ज्ञात नहीं होता। तात्त्विक दृष्टि साकल्यसे विचार करती है अर्थात् वर्तमान, भूत और भविष्य, अत्र-तत्र, आदि काल-देश और सब सम्पूर्ण अस्तित्वका है। और इसीलि संग्राहक

गया है ताकि दोनोंके ध्येयोंका अन्तर अधिक स्पष्ट हो जाय। तात्पर्य, सृष्टिज्ञान विज्ञानका ध्येय है और सत्यज्ञान तत्त्वज्ञान-का। सृष्ट पदार्थोंका वर्गीकरण तथा उनकी विक्रिया-सम्बन्धी नियमोंको निश्चय करते समय विज्ञानको उनके (पदार्थोंके) अन्तिम सत्यके बारेमें कोई शंका नहीं रहती। वह पदार्थोंका सत्यत्व मानकर आगे बढ़ता है। विज्ञानकी यह दृढ़ धारणा है कि वस्तुओंका अस्तित्व स्वतन्त्र और स्वयंसिद्ध है। तथा ज्ञान उनके अस्तित्वमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। विज्ञानके प्रामाण्यको एक तरहसे इस बातकी आवश्यकता रहती है। लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि व्यक्ति और वस्तुमें विज्ञान जो सम्पूर्ण विभिन्नता उपस्थित करता है वह समर्थनीय है या नहीं। विज्ञान व्यक्तिके ज्ञानका विचार न कर केवल वस्तुका एक संसार खड़ा कर देता है। लेकिन वास्तवमें वस्तुका स्वरूप व्यक्तिके ज्ञानके साथ अविच्छेद्य-रीतिसे सम्बद्ध रहता है। वस्तुका दृश्यमानस्वरूप ज्ञानोत्पादक नियमोंसे निश्चित किया गया है। किंबहुना यों भी कहा जा सकता है कि वस्तुका स्वरूप ज्ञानमें ही उत्पन्न होता है। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय, अनुभव और अनुभाव्य विषयोंकी अटूट एकरूपता है। तत्वज्ञान दृष्टिके अनुसार अनु-भवद्वारा वस्तुओंकी ओर देखता है। और विज्ञान ज्ञानके गूदेसे वस्तुके छिलकोंको अलग कर उन्हींपर विचार करता रहता है। जब हम अनुभवज्ञान वस्तु और ज्ञानकी एक-रूपतापर ध्यान देते हैं तब यह सारा वैज्ञानिक विवेचन कृत्रिम विषयोंपर विचारविनिमय सा ज्ञात होता है। विज्ञानके विषय वस्तुस्थितिके एक अंश रहते हैं इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान सत्य ज्ञान नहीं है। विज्ञानका विषय अन्तिम पूर्ण सत्य नहीं है। विषयोंके सत्यासत्यका प्रश्न विज्ञानके सम्मुख उपस्थित नहीं होता। यह उसका कार्य नहीं है लेकिन तत्त्वज्ञानके लिये सत्यासत्यका विवेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रिय है। उसे अनुभवद्वारा [illegible] निश्चय करना पड़ता है। कहा जाता है कि [illegible] शुद्धता अथवा अशुद्धताका ज्ञान [illegible] होता है उसी तरह तत्त्वज्ञानके [illegible] सत्यासत्यका ज्ञान [illegible] है। तत्त्वज्ञान अनुभवका व्याख्यान है।

[illegible] अनुभवसे [illegible] करता है, वैज्ञानिक [illegible] करता है। इसके [illegible] और [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible] करता है। विज्ञान [illegible] करता है। [illegible]

लिये अन्तर्निरीक्षण ही आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण नका सम्बन्ध जड पदार्थोंसे है, इसलिये उनका व तथा उनकी क्रिया प्रक्रियाओंका निरीक्षण के लिये आवश्यक है। लेकिन तत्त्वज्ञान किसका य करे ? जहाँ स्थल, काल, क्रिया प्रक्रियासे कूटस्थ नित्य एवं स्वयंप्रकाश सत्की कल्पना और स्वरूपका विचार करना हो वहाँ बाह्य प्रयोगोंसे क्या रता है ? हमारे अनुभवका स्वरूप क्या है ? उसे किन निश्चित किया है ? अनुभवमें जो एकसूत्रता है की सम्भवताके लिये अखण्ड स्वयंसिद्ध चित्-तत्त्वको ल्पन मानना चाहिये या नहीं ? इन तथा अन्य प्रश्नोंको जानेके लिये अन्तर्निरीक्षण ही योग्य पद्धति है। यहाँ रीक्षण और प्रयोगका कोई उपयोग नहीं हो सकता। अनुभव- अन्तर्निरीक्षण करनेवाली पद्धतिको जर्मन तत्त्वज्ञ 'काण्ट' Kant) एक विशेष दृष्टिसे चिकित्सक पद्धति कहता है। सका समर्थन करते हुए वह कहता है कि पहले तत्त्वज्ञानके रूपके सम्बन्धमें अन्धश्रद्धायुक्त (Dogmatic) था। ानका स्वरूप क्या है ?' इसका विचार न करते हुए तत्त्वज्ञ ष्टिमें तत्त्व ढूँढने लग जाते हैं। इससे उनके सिद्धान्त कान्तिक तथा परस्पर अत्यन्त विरोधी रहते हैं और इसलिये स पद्धतिके दोष दिखलाकर, ज्ञानके स्वरूपपर विचार रनेके लिये उसने चिकित्सक (Critical) पद्धतिका हारा लिया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है विज्ञानके समान तत्त्वज्ञान भी ार्किक पद्धतिका उपयोग करता है। इस बातमें तत्त्वज्ञान ौर विज्ञान समान हैं। तत्त्वज्ञान तथा तर्कके सम्बन्धमें ाश्चात्यों तथा हमारी वृत्तिमें जो भेद है वह इस स्थानपर स्पष्ट होना चाहिये। पाश्चात्योंके मतानुसार तत्त्वज्ञान केवल र्कनिष्ठ है। आरम्भसे लेकर अन्ततक वह तर्कसे नाता नहीं ोड़ सकता। भारतीय मतके अनुसार वह केवल तर्कमय हीं है। वह तर्कप्रधान किन्तु अनुभवमें पर्यवसित होनेवाला ै। तर्ककी दौड़ एक सीमातक है। आगे तर्क रुक जाता ै, बुद्धि थक जाती है और प्रत्यक्ष अनुभवमें उसका र्यवसान हो जाता है। केवल तर्क अप्रतिष्ठित है। अकेले उसे कहीं भी स्थान न मिलेगा। केवल तर्कपर प्रतिष्ठित त्त्वज्ञान बालूकी भीत (Wall on Sand) के समान ै। तर्कमें मतमतान्तरोंकी खिचड़ी बन जायगी, सत्यकी ्राप्ति नहीं होगी, इसलिये यह सदैव ध्यानमें रखना चाहिये कि तर्क अनुभवशरण है। इसीलिये तो हमारे अध्यात्म-शास्त्रोंमें श्रुतिका महत्त्व है। उसमें मूर्तिमान् अनुभव ही शब्द-रूपमें प्रकट हुआ है। प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंके शब्दोंमें व्यक्त हुआ अनुभव ही श्रुति है। बुद्धिके चमत्कार दिखलाकर स्वमत मण्डन तथा परमत खण्डन ही तत्त्वज्ञानका ध्येय नहीं है। तत्त्वको जानकर तद्रूप होना, सत्यज्ञान प्राप्तिके बाद उससे समरस होना—यही हमारे यहाँ तत्त्वज्ञानका उदात्त और अन्तिम ध्येय माना गया है। श्रुतिकी प्रतिज्ञा है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'।

पाश्चात्य मतके अनुसार तत्त्वज्ञान 'विज्ञानोंका विज्ञान' है। वैज्ञानिक ज्ञानमें जो कमियाँ हैं, उनको पूरी करना तत्त्वज्ञान-का काम है। विभिन्न विज्ञानोंके गृहीत तत्त्वोंकी चिकित्सा तत्त्वज्ञानको करनी पड़ती है। वैज्ञानिक सिद्धान्त जब परस्पर विसङ्गत होते हैं तब उनकी एकवाक्यताका कार्य भी तत्त्व-ज्ञानके पल्ले पड़ता है। सारांश, अलग-अलग विज्ञानोंके पूर्व तथा उत्तर संस्कार कर वैज्ञानिक ज्ञानकी पूर्ति करना—*यह तत्त्वज्ञानका महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस पाश्चात्य मतके अनुसार* तत्त्वज्ञान विज्ञानोंको सुव्यवस्थित करता है। इसलिये उसकी व्याप्ति विज्ञानसे अधिक है। यद्यपि यह सब ठीक है; तथापि इस तरह तत्त्वज्ञान एक प्रकारका विज्ञान ही बन जाता है। तत्त्वज्ञानका क्षेत्र सारे विज्ञानोंके क्षेत्रसे विस्तृत है। लेकिन तत्त्वज्ञान और विज्ञानकी जाति एक है। किन्तु भारतीय मतके अनुसार *दोनोंकी जाति अलग-अलग है और दोनोंके स्वरूपमें* भी भेद है। केवल व्याप्तिमें भेद नहीं है।

विज्ञान तथा तत्त्वज्ञानका भेद स्पष्ट करनेके लिये दोनोंके ध्येय तथा उनकी पद्धतिका अन्तर बतलानेवाली दो विधियोंके सिवा एक और भी विधि है। और वह है—'विज्ञान जिज्ञासा-मूलक है और तत्त्वज्ञान मुमुक्षामूलक।' यह क्या है ? इस प्रश्नमें जो आश्चर्यभाव छिपा है वह जिज्ञासा है। आकाश बिना आधारके कैसे खड़ा है ? पर्वत अपने स्थानसे हिले नहीं, समुद्र अपनी मर्यादाका अतिक्रमण न करे, पृथ्वी भूतोंका वहन करे, जल नीचेकी ओर बहे, पवन निश्चल न रहे, इस तरहकी नियमितता कहाँसे आयी ? सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? संसारका मूल द्रव्य क्या होगा ? आप्, वायु या तेज ? ये या ऐसे ही अनेकों प्रश्न जिज्ञासासे निकला करते हैं। जिज्ञासा विचारकी प्रवर्तक है। यद्यपि यह सत्य है कि जिज्ञासामें बुद्धिहीन तथा पाशविक समाधानसे ऊपर उठाकर बौद्धिक व्यापार-क्षेत्रमें ला छोड़नेका सामर्थ्य है तथापि गणितशास्त्र,

भूगर्भशास्त्र या प्राणिशास्त्रके सिद्धान्त खोजनेमें जितने अंशोंमें यह वृत्ति उपयोगी होगी उतने ही अंशोंमें वह सृष्टि-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त ढूँढ़ते समय साधनस्वरूपा होगी। तत्त्वज्ञान अर्थात् 'सृष्टिका सामान्य विचार' इस पाश्चात्त्य व्याख्याके अनुसार जिज्ञासा तत्त्वज्ञानके लिये भी आधारभूत है। लेकिन जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस तरह तत्त्वज्ञान केवल एक विज्ञान हो जाता है। जिज्ञासामें एक प्रकारकी वैकल्पिक वृत्ति रहती है। यह होगा या शायद न भी हो। वस्तुके संशोधनमें यह लापरवाही चल सकती है कि अन्तिम सिद्धान्त यों रहा तो क्या और त्यों रहा तो क्या ! किन्तु सत्य-संशोधनमें जहाँ कि आत्माका शोधन है वहाँ ऐसी वृत्तिको कोई स्थान नहीं है।

जिज्ञासामें सर्वदा तटस्थताका अंश रहता है। नटका खेल होते देखकर 'देखें तो जरा क्या हो रहा है !' ऐसा कहते समय हमारी जो वृत्ति रहती है कुछ वैसी ही वृत्ति विज्ञानका ज्ञान प्राप्त करते समय नहीं रहती है क्या ? दोनोंमें जो थोड़ा अन्तर है वह जातिनिष्ठ नहीं है अंशात्मक है ? वैज्ञानिक संशोधनके लिये एकनिष्ठता तथा तीव्रताकी आवश्यकता है; परन्तु संशोधनको इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसके संशोधन-से यह सिद्धान्त निकले या वह अथवा इनमेंसे कोई-सा भी न निकले। वैज्ञानिकके जीवनसे संशोधनका निकट सम्बन्ध नहीं रहता। जिज्ञासामें विकल्प है आवश्यकता नहीं। जिज्ञासित ज्ञान केवल पसंदगीका विषय है। ऐसे विषयके व्यासंगमें अपरिहार्यता नहीं है; क्योंकि पसंद व्यक्तिनिष्ठ है, किसीको उत्साह रहता है, किसीको नहीं। अन्तर्भावना रहती है इसलिये ज्ञान प्राप्त करना है, यदि यह ज्ञान प्राप्त हुआ तो अच्छा ही है और न मिला तो कुछ नुकसान नहीं। जिज्ञासा केवल 'शौक' का स्वरूप प्राप्त कर लेती है। किसी-को प्राणियोंके ढाँचे एकत्रित करनेका शौक रहता है तो किसीको अनेक प्रकारके पत्थर संग्रह करनेका। 'तत्त्वज्ञान केवल जिज्ञासामूलक है' इस कथनका अर्थ है कि तत्त्वज्ञान एक शौक है। सारांश, जिज्ञासा प्रत्येक व्यक्तिके जीवन [illegible] भविष्यके साथ अपरिहार्यरूपसे निगडित नहीं है। वह [illegible] है। यह अन्तःकरणसे [illegible] [illegible]। जिज्ञासामूलक [illegible] [illegible] [illegible] अपरिचित और दूर रहते हैं किन्तु [illegible] [illegible] हैं उनका व्यक्तिके जीवनसे निकट सम्बन्ध रहता [illegible] हों या न हों [illegible] उनके सम्बन्धमें [illegible]। [illegible]

ज्ञात न हुए तो मनुष्य सर्वदा सन्ताप[illegible] आगमें जलता रहता है, 'जीवन सफल नहीं हु[illegible] नहीं, मृत्युसे मुक्ति नहीं हुई'—यह भावना करती रहती है। 'जीवनमें जो करना था वह [illegible] यह कष्टप्रद भावना तबतक शान्त नहीं हो [illegible] अन्तिम और वास्तविक तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मज्ञा[illegible] न हो।

'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इन महावा[illegible] ज्ञानकी ओर संकेत किया है वह मुमुक्षावृत्तिसे ही [illegible] इसलिये ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार प्राप्त करनेके [illegible] पूर्व तैयारीका वर्णन किया है उसमें नित्यानित्य[illegible] शम, दम तथा वैराग्यके साथ ही मुमुक्षाका भी [illegible] है। तटस्थ बौद्धिक कुतूहल जिज्ञासा है, और अन्त[illegible] बौद्धिक कुतूहलसे उत्पन्न भावना मुमुक्षा है। [illegible] भलीभाँति समझ लेनेपर तत्त्वज्ञान जिज्ञासामूलक [illegible] मुमुक्षामूलक क्यों है तथा तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें [illegible] पाश्चात्त्यवृत्तिमें क्या भेद है—यह स्पष्ट हो जायगा। [illegible] मतानुसार तत्त्वज्ञान केवल 'विज्ञानोंका विज्ञान' नहीं है, 'अध्यात्मज्ञान' है।

छान्दोग्योपनिषद्के सप्तम अध्यायमें एक [illegible] है जो विज्ञान और तत्त्वज्ञानके भेदके सम्बन्ध[illegible] कल्पनाको भलीभाँति स्पष्ट कर देता है। एक बार [illegible] सनत्कुमारके पास गये और प्रार्थना करने लगे कि [illegible] प्राप्त करा दीजिये।' सनत्कुमारजीने पूछा कि 'आपने [illegible] किस-किस विद्याका अध्ययन किया है ?' नारदजीने उत्त[illegible] 'मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और इ[illegible] पुराणादिसहित पाँच वेद, [illegible], राशिविद्या (गणित), [illegible] शास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, भूतविद्या, धनुर्वेद, [illegible] विद्या तथा देवजन विद्या ([illegible]) का अध्ययन [illegible] है। किन्तु भगवन् ! मैं केवल मन्त्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं। मैंने [illegible] सुना है कि आत्मवित् शोकसे [illegible] जाता है। मुझे दुःख होता है। मुझे दुःखसे मुक्त कीजिये।' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

नादी है । स्व 'भूमन्' है । जो भूमन् है वही सुख-दायी होता है । अल्पमें कभी सुख नहीं होता । इस सर्व-व्यत्का आत्मासे आदेश किया जाता है । आत्मा ऊपर-आगे-पीछे, सर्वत्र व्याप्त है । 'यह सब आत्मा है' यह जान आत्मामें रममाण है । यह आत्मामें क्रीड़ा करता आत्मामें उसका आनन्द रहता है । वही वस्तुतः समस्त न सञ्चार करता है ।' यह आत्मज्ञान प्राप्त कर नारद में मुक्त हो गये और उनके हृदयकपाट खुल गये ।

यह संवाद स्पष्टरूपेण एक बात निदर्शित करता है कि ानिक ज्ञान-सम्पादनके बाद भी मनुष्यके मनमें एक प्रकार-' अतृप्ति बनी रहती है । सर्वशास्त्रोंमें पारङ्गत होनेके बाद ी नारदजी मनःशान्ति प्राप्त न कर सके । क्या इससे यह ष्टिगोचर नहीं होता कि सम्पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुतः अज्ञान ी है ! मराठी संत ज्ञानेश्वरने सर्वशास्त्रपारङ्गत कलाप्रवीण, रन्तु आत्मज्ञानविहीन अज्ञानीका, जो केवल ज्ञानका बोझा ही ढो रहा है, बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—'वह कर्मकाण्ड जानता है, पुराण उसे कण्ठस्थ है, ज्योतिषशास्त्रमें वह इतना प्रवीण है कि जो कुछ कहेगा वही होगा, शिल्पशास्त्रका वह अधिकारी है, विधि, वशीकरण तथा अथर्वण—ये सभी उसे खूब अभ्यस्त हैं । कोकशास्त्रका यह पूरा पण्डित है । किसी भी बातपर वह महाभारत रच देता है, आगम तो उसके सामने हाथ जोड़े खड़े हैं । नीतिशास्त्र, वैद्यकशास्त्र तथा तर्कशास्त्रमें उसने अच्छी गति प्राप्त कर ली है । निघण्टु उसका सेवक है । अन्य सब शास्त्रोंमें भी वह पूर्ण निष्णात है । किन्तु आत्मज्ञानमें कोरा है ।' सम्पूर्ण विज्ञानोंका आधारस्तम्भ होनेपर भी यदि वह अध्यात्मसे एकदम कोरा है तो उसके उस ज्ञानका क्या उपयोग ! संत ज्ञानेश्वर कहते हैं कि जिस ज्ञानसे आत्मा नहीं जानी जा सकती वह जल जाय, नष्ट हो जाय—

पै एक वाचुनी आघवां शास्त्रीं । सिद्धान्तनिर्माण धात्रीं । परिजळो ते मूल नक्षत्रीं । न पाहेगा ।'

मूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुए पुत्रके समान सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त वह ज्ञान अलक्षणी—अपशकुनरूप है । ज्ञान-प्राप्तिमें विज्ञान-का उतना ही उपयोग है जितना कि देखनेके लिये मोरपंखके नेत्रोंका ।

तत्त्वज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञानके सम्बन्धमें भारतीय मत क्या है इसे समझानेके लिये ही यह विवेचन किया गया है ।

साराशमें विज्ञान तथा तत्त्वज्ञानके भेद तीन तरहसे बतलाये जा सकते हैं—

(१) वैज्ञानिक संशोधनका ध्येय 'सृष्टि-ज्ञान' है तो तात्त्विक संशोधनका ध्येय 'सत्य ज्ञान' है ।

(२) वैज्ञानिक पद्धति निरीक्षणात्मक, प्रयोगप्रधान तथा केवल तार्किक रहती है । तत्त्वज्ञानकी पद्धति आन्तर-निरीक्षणात्मक, तार्किक, परन्तु अनुभव-शरण रहती है ।

(३) विज्ञान जिज्ञासामूलक है और तत्त्वज्ञान मुमुक्षा-मूलक है ।

आराधना

(रचयिता—'तिवारी सुमन')

सभी सिद्धियाँ सत्यसे साधना । करो ईशकी नित्य आराधना ॥

सदा सर्वदा सत्य बोला करो ।
कभी झूट का घूँट कोई न लो ॥
कहो जो करो, या करो जो कहो ।
बुरा ताकि कोई तुम्हारा न हो ॥ सभी० ॥

बुरा है किसीका बुरा सोचना ।
भला है सभीका भला सोचना ॥
करो सामना शत्रु-सन्तापका ।
रखो ध्यान आस्तीनके साँपका ॥ सभी० ॥

भले काम सारे करो सर्वदा !
बढ़े नाम गौरव मिले सम्पदा ॥
कहो बात सारी पतेकी सदा !
मिटें क्लेश सारे मिटे आपदा ॥

नहीं मोहना सज्जनोंको कभी ।
कि हो जाय वे भी यहीं दुन्दुभी ॥
सुहाने भले बोल बोलो सभी ।
बने प्यारका हार संहार भी ॥

ा अग्निमें जलते रहनेमें मानता है। 'हा प्राणनाथ! ियतम, हा श्रीकृष्ण! इस तरह रोते-कराहते न्मान्तर बीत जायँ। मैं मिलना नहीं चाहता, ा हूँ तुम्हारे विरहमें जी भरकर रोना और तुम्हारे ाकी आगमें जलते रहना। मुझे इसमें क्या सुख है ो मैं ही जानता हूँ।'

> बना रहे हमेशा यह विरह-दुख दिवाना,
> मैं जानता हूँ इसमें कितना मज़ा मुझे है।
>
> × × ×
>
> ख़ुदा करे कि मज़ा इंतज़ारका न मिटे;
> मेरे सवालका वह दे जवाब बरसोंमें।

भगवत्प्रेमका पागल वह विरही अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सिवा और किसीको जानता ही नहीं, वह तो अपनेको सदाके लिये उनकी चरणदासी बनाकर उन्हींकी इच्छापर अपनेको छोड़ देता है और वियोगकी ज्वालामें जलता हुआ ही उन्हें सुखी देखकर परम सुखका अनुभव करता है। महाप्रभु कहते हैं—

> आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
> मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
> यथातथा वा विदधातु लम्पटः
> मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वह लम्पट मुझ चरणदासीको प्रिय समझकर चाहे आलिङ्गन करे, चाहे अपने पैरोंसे कुचले और चाहे दर्शन न देकर विरहकी आगसे मेरे प्राणोंको जलाता रहे—जो चाहे सो करे, परन्तु मेरा तो प्राणवल्लभ वही है, दूसरा कोई नहीं।'

आपको यदि भगवान्‌के विरहमें कुछ मज़ा आता है तो यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। रोनेमें आनन्द आता है यह भी बहुत उत्तम है। बस, रोते रहिये और प्रेमके आँसुओंसे सींच-सींचकर विरहकी बेलको सारे तन-मनमें फैलाने दीजिये। उसकी जड़को पातालमें पहुँचा दीजिये, और फिर उसीकी सघन छायामें उसीसे उलझे बैठे रहिये। देखिये, आपका मज़ा कितना बढ़ता है—

श्रीसूरदासजीने रोते-रोते गाया था—

> मेरे नैना बिरहकी बेल बई।
> सींचत नीर नैनको सजनी! मूल पताल गई॥
> बिगसत लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
> अब कैसें निरुवारौं सजनी! सब तन पसर गई॥

यह सच है कि ऐसा विरही मिलनसे वञ्चित नहीं रहता। सच्ची बात तो यह है कि वह नित्यमिलनमें ही इस विरह-सुखका अनुभव करता है। भगवान् उससे कभी अलग होते ही नहीं।

(३)

विषयोंमें सुख नहीं है।

× × × मौतके मुँहमें पड़े हुए मनुष्यका भोगोंकी तृष्णा रखना वैसा ही है जैसा कालसर्पके मुँहमें पड़े हुए मेंढकका मच्छरोंकी ओर झपटना! पता नहीं कब मौत आ जाय। इसलिये भोगोंसे मन हटाकर दिन-रात भगवान्‌में मन लगाना चाहिये। जबतक स्वास्थ्य अच्छा है तभीतक भजनमें आसानीसे मन लगाया जा सकता है। अस्वस्थ होनेपर बिना अभ्यासके भगवान्‌का स्मरण होना भी कठिन हो जायगा। इसीसे भक्त प्रार्थना करता है—

> कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
> अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
> प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
> कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

'श्रीकृष्ण! मेरा यह मनरूपी राजहंस तुम्हारे चरण-कमलरूप पिंजड़ेमें आज ही प्रवेश कर जाय। प्राण निकलते समय जब कफ-वात-पित्तसे कण्ठ रुक जायगा, इन्द्रियें असमर्थ हो जायँगी तब स्मरण मैं [illegible] तुम्हारा नाम-स्मरण कैसे हो सकेगा।' अतएव अभीसे मनको भगवान्‌में लगाना और जीभसे उनके नामका जप आरम्भ कर देना चाहिये।

धन-ऐश्वर्य, कुटुम्ब-परिवार सभी क्षणभङ्गुर हैं। इनकी प्राप्तिमें सुख तो है ही नहीं वरं दुःख ही बढ़ता है। संसारमें ऐसा कोई भी विचारशील पुरुष नहीं है जो विवेक-बुद्धिसे यह कह सकता हो कि इनमेंसे किसीसे भी उसे कोई सुख मिला है। यहाँकी प्रत्येक स्थितिमें विरोधी स्थिति वर्तमान है—सुख चाहते हैं मिलता है दुःख, स्वास्थ्य चाहते हैं, आती है बीमारी, प्रकाशके पीछे अन्धकार लगा है, जवानीके साथ बुढ़ापा सटा है, जीवनका विरोधी मरण सिरपर सवार है। यहाँ कौन-सा सुख है जिसमें आसक्त होकर मनुष्यको अपना जीवन बरबाद करना चाहिये। यह तो मूर्खता है जो हम विषयोंमें सुख मानकर दुर्लभ मानव-जीवनको खो रहे हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

परन्तु विचार कर देखिये, मनुष्य सचमुच इसी तरह अपने अमृतसे मानव-जीवनको विषय-विष बटोरने और चाटनेमें ही खो रहा है। इसीसे उसे एकके बाद दूसरे—लगातार दुःखोंकी परम्परामें ही रहना पड़ता है। याद रखना चाहिये, यहाँकी कोई भी चीज, कोई भी सम्बन्धी उसको दुःखोंसे नहीं छुड़ा सकता। भगवान्का भजन ही एक ऐसी चीज है जो मनुष्यको दुःखके सारे बन्धनोंसे छुड़ा सकता है। अतएव मन लगाकर खूब भजन कीजिये। बस रटते रहिये—

गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे
गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे।
गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

(४)

'अर्थ' और 'अनर्थ'

आपका कृपापत्र मिला। आपने 'अर्थ' और 'अनर्थ'का भाव एवं अनर्थकी निवृत्तिका [illegible] आपकी कृपा है। 'अर्थ' शब्दका अर्थ [illegible] मनुष्यका प्रयोजन—उसकी चाह एक [illegible] है असीम अपार अनन्त नित्य और पू[illegible] इस आनन्दके बिना उसकी कभी तृप्ति न[illegible] इसीलिये वह हर अवस्थामें अभावका अनुभव [illegible] ऐसा पूर्ण आनन्द है एकमात्र भगवान्में। भ[illegible] विशुद्ध आनन्दमय हैं। अतएव भगवत्प्राप्ति ही [illegible] 'अर्थ' है। यही परमार्थ है। एक संतने कहा है [illegible] गीताका अर्थार्थी भक्त वस्तुतः इसी 'अर्थ' की [illegible] करता है। इसके विपरीत जो कुछ भी है सो [illegible] 'अनर्थ' है चाहे वह संसारकी दृष्टिमें अच्छा हो या बु[illegible] भगवान्को भूलकर जो कुछ भी पुण्य-पाप, सुख-दु[illegible] लाभ-हानि, हर्ष-शोक, प्राप्ति-विनाश और जीवन-[illegible] है—सभी अनर्थरूप है। भगवान्की प्राप्ति है[illegible] भगवत्तत्त्वका यथार्थ रहस्य जानकर उनकी [illegible] करनेसे—'भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः' 'भक्त्याहं[illegible] ग्राह्यः' 'भक्त्या मामभिजानाति' आदि भगवद्वाक्य प्र[illegible] है। भक्ति जब पूर्णत्वको प्राप्त हो जाती है तब [illegible] नाम पराभक्ति या भगवत्-प्रेम हो जाता है। इस प्रेम[illegible] भगवान्के साथ कभी विछोह नहीं होता। यह [illegible] ही पूर्ण परम अर्थ है। इससे विपरीत ले जानेवाले [illegible] इस ओर आनेमें बाधा पहुँचानेवाले जितने भी [illegible] पदार्थ हैं वे सभी अनर्थ हैं। 'माधुर्यकादम्बिनी' में [illegible] प्रकारके अनर्थ बतलाये गये हैं—

(१) दुष्कृतोत्थ—(पापोंके परिणामस्वरूप [illegible] मूलक विषयासक्ति बढ़ जाती है। उससे मनुष्य [illegible] भोगोंकी प्राप्ति तथा उनके भोगमें इतना उन्मत्त हो जाता है कि वह नित्य नये-नये [illegible] अनुभव करता है।)

(२) सुकृतोत्थ—(पुण्योंके फलस्वरूप मनुष्यको धन, जन, मान, आराम आदि [illegible]

। तब उनमें उसकी ममता और आसक्ति इतनी ती है कि वह उन्हींमें रमा रहता है तथा केवल ३ भरण-पोषणकी चिन्ता करता है। भगवान्‌की वृत्त नहीं होना चाहता।)

(३) अपराधोत्थ-(भगवान्‌के नाम और स्वरूप का अपराध होनेपर साधनमें विघ्न और प्रत्यवाय परीत फल) उत्पन्न हो जाते हैं।)

(४) भक्त्युत्थ-(भक्तिमें लगनेपर मनुष्यकी कुछ तिष्ठा बढ़ती है, लोगोंमें उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने गती है। इधर उसकी भोगवासना अभी मिटी नहीं, सी हालतमें वह धन, मान, पूजा, प्रतिष्ठा आदिको विकार करके उन्हींमें रत हो जाता है।)

इन चारों ही प्रकारके 'अनर्थों' की निवृत्ति त्सङ्ग, सत्कर्म, नाम-जप और विनय तथा श्रद्धापूर्ण गवत्सेवनसे होती है। अनर्थनिवृत्ति पाँच प्रकारकी मानी गयी है। 'एकदेशवर्तिनी,' 'बहुदेशवर्तिनी', 'प्रायिकी', 'पूर्णा' और 'आत्यन्तिकी'। स्वल्प सत्सङ्ग आदिके प्रभावसे कुछ अंशमें जो अनर्थ छूटते हैं, वह 'एकदेशवर्तिनी' निवृत्ति है। अधिक अंशमें छूटनेपर उसे 'बहुदेशवर्तिनी' कहते हैं। बहुत ही थोड़े-से अनर्थ शेष रह जायँ इसे 'प्रायिकी' कहते हैं और अनर्थोंकी पूर्ण निवृत्ति हो जानेपर उसे 'पूर्णा' कहते हैं। पूर्णा निवृत्ति हो जानेपर भी जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक अनर्थका बीज नष्ट नहीं होता, इसलिये अभिमानजनित भक्तापराध आदि दुष्कर्मों-से पुनः 'अनर्थ' की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु 'आत्यन्तिकी' निवृत्ति होनेपर अनर्थबीजका नाश हो जाता है। वह आत्यन्तिकी निवृत्ति है—प्रेमस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति। यह पञ्चम तथा परम-पुरुषार्थ है और यही यथार्थ परमार्थ है।

अनुनय

(गीत)

अनुनय मेरी मान, सनेही।
युगसे साध लिये बैठी हूँ, अब दे दर्शन-दान सनेही॥
आ इस आसनपर तू जम जा,
सजन, संगिनीके हित थम जा,
जीवनकी सूनी कुटियामें
मैं तुझमें, तू मुझमें रम जा।
चिर वियोगके बाद पूर्ण हो, जीका यह अरमान सनेही।
युगसे साध लिये बैठी हूँ, अब दे दर्शन-दान सनेही॥
अब फिर भेद-विभेद न कर तू,
'बन्धन' का विच्छेद न कर तू,
गिरा-अर्थ-सी एक कर दो,
सम्बल हूँगी: खेद न कर तू।
मैं हो चिरसंगिनी प्रकृति हूँ, तू है 'पुरुष पुराण', सनेही!
हे मेरे भगवान, सनेही!!
युगसे साध लिये बैठी हूँ, अब दे दर्शन-दान, सनेही॥

—[illegible], एम० ए०, [illegible]

तप

(कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः)

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

चारों ओर सुनसान जंगल देखकर शिष्यने कहा, 'गुरुदेव, हम सब मार्ग भूल गये हैं ।'

'नहीं वत्स, यहाँ आनेका मुख्य उद्देश्य है । गोरख कभी मार्ग नहीं भूलता । देखो, उस पीपलको सीधमें वह ग्राम दिखायी दे रहा है । वहाँ पर्याप्त भीड़ है । आज एक भक्तने साधुओंको भोजन करानेका निश्चय किया है । कोलाहल स्पष्ट सुनायी पड़ता है और घीकी सुगन्धि भी आती है ।' महात्मा गोरखनाथजीने एक ओर संकेत किया 'यह सीधा मार्ग है । दूसरे मार्गसे आनेपर सन्ध्यातक भी वहाँ न पहुँचते ।'

चलते-चलते दिन ढलने लगा और तब जाकर कहीं ग्राममें पहुँचे । शिष्य सोच रहा था 'अवश्य गुरुदेवने वह बातें अनुमानसे कही होंगी । अन्यथा उतनी दूरसे ग्राम देख लेना, शब्द सुन लेना या सुगन्धि प्राप्त कर लेना कैसे सम्भव है । जो भी हो, गुरुदेवका अनुमान अत्यन्त सच्चा होता है ।'

पङ्क्ति बैठी और साधु भोजन करने लगे । महात्मा गोरखनाथजीने एक लड्डूको काटते हुए कहा, 'इधर लड्डुओंमें नीमके पत्ते डालनेकी भी प्रथा है क्या ?' गृहस्थ उस नवीन शिष्यकी भाँति महात्माजीसे अपरिचित नहीं था । वह उन योगिराजकी अलौकिक शक्तियोंसे परिचित था । उसने घरमें पूछताछ की और यह स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की कि 'घृत खौलाते समय दो-तीन नीमके पत्ते हवासे उड़कर कड़ाहेमें जा गिरे थे ।'

भोजनोपरान्त सबको आसन देकर बैठाया गया । श्रीगोरखनाथजीने अपना आसन छोड़ते हुए क... अस्थिपर तो बैठनेसे रहा !' वहीं एक दूसरे लि... थे । उन्होंने उस आसनपर चरण रक्खा 'पृथ्वी... अस्थि नहीं है ! सो यहाँ तो पूरे एक हाथ नीचे... पशुका पैर मात्र है ।' वे वहीं बैठने लगे । उपस्थित लोगोंने उन्हें दूसरे आसनपर बैठाकर उस स्थल... खोदा । निकला क्या ? एक कुत्तेका पैर !

शिष्यको अब गुरुकी शक्तिका बोध हुआ । ... प्राप्त कर उसने वहाँसे आश्रममें आनेपर एक दि... महान् गुरुके पदप्रान्तमें मस्तक रखकर इन सि... रहस्य जाननेकी इच्छा प्रकट की ।

'ये कोई सिद्धियाँ नहीं हैं, यह तो स्वा... शक्ति है प्रत्येक मानवकी ।' योगिराजने गम्भीरता... समझाया । 'आदिशक्तिने किसीसे पक्षपात नहीं... है । सबको समान शक्ति प्रदान की है । गिद्धकी... पिपीलिकाकी घ्राणशक्ति, हंसकी रसना, श्वानका श्र... अन्धोंकी स्पर्शशक्ति और मकड़ीका कालज्ञान प्र... प्राणीको प्राप्त है । उपयोग न करनेसे इन स... स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है और उनपर... एकत्र हो जाता है । तपस्याके द्वारा अशुद्धि नष्ट होने... वे शक्तियाँ पुनः जाग्रत् हो जाती हैं ।'

समर्थ गुरुने भाँप लिया कि शिष्यमें इनके प्र... अनावश्यक उत्सुकता है, 'ये कोई महत्त्वकी वस्तुएँ नह... हैं । गिद्धादि पक्षी बननेकी अपेक्षा तुम्हें मानवतासे भी... ऊपर उठना है और वह दिव्य बोध प्राप्त करना है जो... इस शरीरका लक्ष्य है । तुम्हारी शक्तिका उपयोग उसीके... लिये होना चाहिये । इन बातोंमें [illegible]

। समय तो शिष्यने गुरुदेवके वचनोंको स्वीकार या, पर उनके हृदयमें वह उत्सुकता गयी नहीं। क शिक्षा प्राप्त कर उसे तपस्या करनेका आदेश । नैपालकी तराईके एक उपयुक्त वनके लिये उसने न किया।

[२]

'तुम बड़े बलसे गर्वित दीखते हो, तनिक वह मेरा ण्डलु तो दे दो!' एक हट्टे-कट्टे पहलवानको सिद्धनाथ-का आदेश हुआ। उस बेचारेने बड़ा बल लगाया, उसके माथेपर पसीना आ गया; लेकिन वह तुम्बी उससे ठी नहीं। 'बस, इसीपर इतने घमंडी बने हो?' सने लज्जासे मस्तक झुका लिया।

कुछ अधिक सम्पन्नलोग आ गये थे दर्शनार्थ। इतनी सिद्धि दिखानेसे सन्तोष हुआ नहीं। 'बच्चे! मुझे तनिक उठाकर वहाँ तो बैठा दो!' भला वह आठ वर्षका बालक उन्हें कैसे उठाता? लोगोंके पुचकारनेपर वह उठा। यह क्या? उसने फूलके समान स्वामीजीको उठाकर दूसरी चौकीपर बैठा दिया। लोगोंको तब और भी आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि महाराजका शरीर उस चौकीपर पहुँचनेके पश्चात् ही घटने लगा और घटते-घटते नवजात शिशुके समान हो गया। उसी अवस्थामें रहकर वह उपदेश और प्रवचन करते रहे।

दिन थे गर्मीके, आम पकने लगे थे। महात्माजीने पासके वृक्षके शिखरपर चमकता बड़ा पीला आम लानेका आदेश दिया। चढ़नेको एक व्यक्ति चढ़ गया, पर वह फल बहुत दूर सीधी डालपर था वहाँ चढ़ना बहुत कठिन था। डाल हिलानेपर कच्चे फल कई गिरे, पर वह नहीं गिरा। 'व्यर्थमें कच्चे फल मत गिराओ!' महाराजने आदेश किया। विवश होकर लंबे बाँसकी खोज होने लगी।

सच्ची बात तो यह थी कि महाराजको चमत्कार दिखाना था। 'मैं स्वयं तोड़ लूँगा!' कहकर वे उठे और उनका शरीर लंबा होने लगा। इतने लंबे हुए कि हाथसे ही फलको तोड़ा। फल एक भक्तको जो सबमें सम्पन्न जान पड़ता था, प्रसादरूपमें दिया गया। शरीर अपनी माध्यम स्थितिमें आ गया।

भीड़ जुटने लगी सिद्धनाथजीके समीप। जनता तिलका ताड़ तो चुटकी बजाते करती है। चर्चा होने लगी कि वे पत्थरको मनुष्य, बाघको बछड़ा आदि बना देते हैं। सबके मनकी बात बतला देते हैं। रोगी रोगसे त्राण पाने, दरिद्र धनके लिये, संतानहीन पुत्रके लिये, इस प्रकार लोग अपनी-अपनी कामनाके लिये आने लगे।

महाराजको खाँसी भी आ जाय तो भक्त उसका कुछ-न-कुछ अर्थ अवश्य लगा लेते। प्रसिद्धिके साथ माया भी एकत्र होने लगी। भव्य मठ तो बन ही गया था, सरोवरके घाट बँध रहे थे। बगीचा लग गया था। आगन्तुकोंके ठहरनेके लिये धर्मशालाकी नींव भी पड़ गयी। भण्डारा तो नित्य होता है।

[३]

पूरे चौदह वर्ष पश्चात् शिष्यको सुयोग मिला कि वह अपने परम पूज्य गुरुदेवके श्रीचरणोंमें उपस्थित हो सके। बाबा गोरखनाथजी आये थे और उन्होंने घाघरा-के दूसरे तटपर एक वटवृक्षके नीचे आसन लगा दिया था। पता नहीं क्या समझकर वे इस पार श्रीसिद्धनाथजीके मठपर नहीं पधारे।

'गुरुदेव नहीं पधारे तो मुझे तो उनके चरणोंमें उपस्थित होना ही चाहिये।' सिद्धनाथजीके साथ उनका सेवकमण्डल भी चला। सिद्ध और साधारण मानवमें प्रभेद ही क्या हो, यदि वह भी सर्वसाधारणके सदृश ही सब काम करे! लोग तो बैठे नौकाओंपर; किन्तु सिद्धनाथजी तो सिद्ध ठहरे, वे खड़ाऊँ पहने ही नदीके

वक्षस्पर चलने लगे। उनके खड़ाऊँ जलके ऊपर वैसे ही पड़ते थे, जैसे पृथ्वीपर। चरणकी अंगुलियोंको भी जलने स्पर्श नहीं किया। वे घाघरा पार हो गये।

वटकी सघन छायामें मूलके समीप बाबा गोरखनाथजी एक शिलापर व्याघ्राम्बर डाले शान्त बैठे थे। धूनी जल रही थी और लंबा चिमटा गड़ा हुआ था। दोनों कानोंमें विशाल मुद्रा झूल रही थी। पास ही बहुत-से भक्त मस्तक झुकाये पृथ्वीपर बैठे थे।

सीधे पहुँचकर सिद्धनाथजी सम्मुख दण्डकी भाँति गिर पड़े। भक्तोंने उनके लिये मार्ग छोड़ दिया था। गुरुने मस्तक उठाया। पता नहीं क्यों महापुरुषका मुख तमक उठा। नेत्र लाल हो गये। चिमटा उखाड़कर उन्होंने अंधाधुंध बौछारें प्रारम्भ कर दीं सिद्धनाथकी पीठपर।

किसीमें इतना साहस नहीं था कि उन योगिराजको उस समय रोके। प्रसिद्ध सिद्ध सिद्धनाथ भी इस प्रकार भीत हुए पिट रहे थे, जैसे अध्यापकके हाथों कोई बालक ताड़ना पा रहा हो। गुरुदेवकी उग्र मुखाकृतिको एक बार देखनेके पश्चात् फिर नेत्र नहीं उठ सके। चिमटेकी मार पीठ, सिर, हाथ, पैर जहाँ भी जो आगे सामने पड़ता, वहीं देवाकी पड़ रही थी।

'क्यों रे, नदी पार होनेमें कितने पैसे लगते हैं?'

भली प्रकार पीठ-पूजा करनेके उपरान्त [illegible]

'केवल एक पैसा और साधुसे कुछ [illegible] डरते शिष्यने उत्तर दिया।

'इतने दिनों शरीरको तपस्याकी अग्निमें [illegible] तूने यह एक पैसेकी मजदूरीका [illegible] मूर्ख, ताड़ तुझसे अधिक लंबा है और [illegible] तू बन नहीं सकता। कोई तेरा कमण्डलु [illegible] या न उठा सके, तुझे क्या लाभ! तूने [illegible] बननेके लिये ही घर-द्वार छोड़कर [illegible] उठाया था?'

चिमटेकी मार उतनी गहरी नहीं थी, [illegible] शब्दोंकी। गुरु क्या जो शिष्यके [illegible] प्रतिपलका ज्ञान न रक्खे! चिमटेकी मार [illegible] रहनेवाले सिद्धनाथ बच्चोंकी भाँति [illegible] श्रीचरणोंमें फूट-फूटकर रोने लगे।

'बस—इसीलिये आया था। अब [illegible] चौदह वर्ष बाद।' गोरखनाथजीने चिमटा और [illegible] उठाया और एक ओर सघन वनमें लीन हो गये। [illegible] चौदह वर्ष पश्चात् सिद्धनाथजीको [illegible] तो पता नहीं पर इतिहास साक्षी है कि [illegible] गुरुदेवसे तनिक भी न्यून नहीं थे। वे एक [illegible] महापुरुष हो गये हैं।

आनन्द

आनन्द चाहोगे और [illegible] मिलेगा [illegible] आनन्दकी [illegible] नहीं। क्योंकि [illegible] है और [illegible] आनन्द नहीं है! [illegible] आनन्दमय [illegible] ही आनन्दमय हो जाता है।

'दि फ्यूचर आफ मारल्स' (सदाचारका भविष्य) नामक पुस्तकमें इंगलैण्डके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीजोड लिखते हैं कि जिस लहरमें पड़कर स्त्रियाँ नौकरियों और व्यवसायोंके लिये दौड़ रही थीं, वह अब निश्चित रूपसे पीछे हट रही हैं, युद्धके वे दिन, जब आवश्यकतावश सभी व्यवसायोंके द्वार स्त्रियोंके लिये खुले हुए थे, बीत चुके। अब तो समाज उन्हें कम वेतनपर जी उबानेवाले काम ही देनेके लिये तैयार हैं । बड़ी-बड़ी नौकरियोंके लिये उन्हें कोई पूछतातक नहीं । उनके अधीन काम करनेमें पुरुष अपना अपमान समझते हैं । विश्वविद्यालयोंसे प्रतिवर्ष सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें उच्चशिक्षाप्राप्त स्त्रियाँ निकल रही हैं, जिनके लिये कहीं उपयुक्त काम नहीं मिल रहा है । केवल लन्दन नगरमें मध्यम श्रेणीकी ५३,००० स्त्रियाँ कामकी तलाशमें भटक रही हैं। उसके फलस्वरूप उन्हें घरोंकी याद फिर आ रही है और वे सोचती हैं कि कितने ही मालिकोंकी घुड़की-धमकी सहनेसे तो यही अच्छा कि विवाह करके घरके मालिकपर ही शासन करें । इस भावकी पुनर्जागृतिके आज कितने ही लक्षण दिखलायी पड़ रहे हैं । स्त्रियोंको अपने बनाव-सिंगारकी फिर सूझ रही है । प्रत्येक स्त्रीकी शृङ्गारसामग्री झोलेमें हमेशा साथ रहती है, जरा-सा अवकाश मिलते ही, वह अपना मुख सँवारने लगती है। इन छोटी-छोटी बातोंसे ही पता लग रहा है कि हवा किस ओर बह रही है ।'

यह वर्तमान महायुद्धके पहलेकी बात है। अब उसमें पुरुषोंके फँस जानेके कारण स्त्रियोंकी फिर बड़ी माँग हो रही है। ब्रिटेनमें स्त्रियोंसे भिन्न-भिन्न विभागोंमें भरती होनेके लिये अपील की जा रही है। परन्तु युद्ध खत्म होनेपर इस बार भी क्या यह लहर फिर न [illegible] ! स्त्रियोंकी आर्थिक स्वतन्त्रताका क्या परिणाम हो रहा है इसका दिग्दर्शन श्रीमती [illegible] ने अपनी 'रि दी बेल्स' ([illegible]) नामक पुस्तकमें कराया है। वे लिखती हैं कि [illegible]

को नौकरीकी चिन्ता होने लगी । [illegible] मिल जाता है, उनका मन फिर गृहस् [illegible] लगता । चार पैसा कमा सकने योग [illegible] उन्हें हर बातमें—वैवाहिक बन्धनोंमें, [illegible] में, उनके पालने-पोसनेमें, अपने [illegible] उपयोग करनेमें—स्वतन्त्रता सूझने [illegible] तरह उनमें एक विद्रोहका भाव जाग्रत् हो [illegible] जो किसी प्रकारकी रुकावटको सहन नहीं क[illegible] गृहस्थीकी प्रवृत्तियाँ उनमें नष्ट हो जाती [illegible] 'बेबी' (बच्चे) की अपेक्षा उन्हें 'बेबी [illegible] (छोटी मोटर) की आवश्यकता अधिक प्र[illegible] लगती है ।' पति-पत्नी दोनोंको जब धन क[illegible] सवार होती है, तब घर तो चौपट हो ही [illegible] इसमें सन्देह नहीं । यदि पतिको एक ज[illegible] मिलती है तो पत्नीको किसी दूसरी जगह, [illegible] से नौकरी बजाना है, घरका काम देख[illegible] अवकाश नहीं है, बच्चोंकी देखरेख नौकरोंके [illegible] इस जीवनमें भी क्या कोई सुख है ! फिर यह [illegible] है या पूरी परतन्त्रता ? घरका काम सँभालना [illegible] हुई और दफ्तरमें घंटों नीरस काममें पिसना [illegible] अपने बच्चोंको पालना-पोसना, उन्हें अच्छी-से[illegible] देना तो हुआ 'समयका नष्ट करना' और दूस[illegible] धाय बनकर रहना या स्कूलोंमें जाकर उनको [illegible] समयका 'सदुपयोग' ! पति जो प्रेमका पात्र [illegible] एक कटु बात भी सहन नहीं हो सकती, [illegible] की घुड़कियों-धमकियोंपर मुँहसे एक शब्द भी [illegible] साहस नहीं होता । यह भी क्या कोई स[illegible] जिसके लिये इतना ऊधम मचाया जा रहा है [illegible]

स्त्रियोंके नौकरियोंके पीछे पड़नेसे घर [illegible] है, इसका अनुभव पाश्चात्य देशोंमें भी ह[illegible] [illegible] स्त्रियाँ शिक्षा तथा अन्य [illegible] काम नहीं कर सकतीं । कई लोगोंकी सम्मति [illegible] यह निश्चय है कि विवाह हो जानेके प[illegible]

ने हटा दी जाती है। सुधारकोंकी दृष्टिमें यह
े मर्यादा तथा केवल रूढ़ि है। सोवियट
देशोंको इस सम्बन्धमें पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी
। लेनिनकी राय थी कि स्त्रियोंको गृहस्थीके
था बच्चोंकी परवरिशसे मुक्त कर देना चाहिये,
वे देशकी सेवा कर सकें। इसलिये बच्चोंके पालन-
और उनकी शिक्षाका भार राष्ट्रने लिया। बच्चों-
लेके लिये सरकारी 'सूतिकागृह' खोले गये,
ाओंमें उनका पालन-पोषण होने लगा और
नेपर स्कूलोंमें उनकी शिक्षाका प्रबन्ध किया
स तरह माता-पिता तथा घरके प्रभावसे बच्चे
कर दिये गये। इन संस्थाओंमें सब तरहकी
एँ दी गयीं, इनका सञ्चालन विशेषज्ञोंके हाथमें
गया। एक तो सब गाँवोंमें और शहरोंमें ऐसी
खोलना मुश्किल है, दूसरे यह देखा गया कि
कारका आदर्श-प्रबन्ध होनेपर भी इनमें पले हुए
यह बात नहीं आती, जो घरके पले हुए बच्चोंमें
है। इसका अनुभव स्वयं लेनिनकी पत्नी श्रीमती
याने किया। बहुत दिनोंतक 'शिशुपालनविभाग'
रीक्षण उन्हींके हाथमें था। उनको यह मानना
कि 'मनुष्योंमें सन्तानप्रवृत्ति स्वाभाविक है, वह
ी नहीं जा सकती। जो श्रमजीवी अपने बच्चोंको
ारी सस्थाओंमें भेजनेसे इनकार करते हैं, उनके
को मैं ठीक समझती हूँ। मेरी रायमें साम्यवादी
जमें बच्चोंकी शिक्षाका ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये
जिसमें शिक्षकके साथ-साथ उनके माता-पिता भी
ले सकें।' अब वहाँ जगह-जगह यह लिखा हुआ
रहता है कि 'माताके दूध और उसके प्रेमका
न कोई दूसरी वस्तु नहीं ले सकती', 'जिस तरह
ड़ोंको दूध पिलानेके लिये स्त्रियाँ नहीं हैं, उसी तरह
देशोंमें भी ोंको दूध देनेके लिये गायें नहीं हैं।' अब वहाँ
तथा अन्य ाकको सुविधाएँ कम की जा रही हैं, गर्भपात अपराध
नारीको सूति दिया गया है और अधिक बच्चे जननेके लिये
जानेके पश्चात्

इनाम तथा अन्य प्रोत्साहन दिये जा रहे हैं। क्या इन सबका इशारा स्त्रियोंको घरमें रहकर अपने बच्चोंकी देख-रेख करनेकी ओर नहीं है ?

कहा जा सकता है कि यह स्वतन्त्रता या समानताका शौक नहीं है, जिसके कारण स्त्रियाँ नौकरियोंके पीछे दौड़ती हैं, वास्तवमें यह उनकी आर्थिक विवशता है। सन् १९३७ में राष्ट्रसंघने भिन्न-भिन्न देशोंमें *स्त्रियोंकी परिस्थितिका पता लगानेके लिये एक प्रश्नावली* निकाली थी। उसके उत्तरमें स्त्रियोंकी 'समानाधिकार *अन्तर्राष्ट्रीय संस्था*' ने एक वक्तव्य भेजा था, इस सम्बन्धमें उसपर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। यूरोपकी यह एक प्रसिद्ध संस्था थी, जिसकी शाखाएँ वहाँके बीस प्रधान देशोंमें स्थापित थीं। इसके वक्तव्यमें यह बतलाया गया है कि 'स्त्रियोंको सामान खरीदना, खाना बनाना, घरकी सफाई रखना, कपड़े सीना और उनकी मरम्मत करना, कपड़े धोना, घरके रोगियोंकी *सेवा-शुश्रूषा करना, बच्चोंको पालना-पोसना,* उनको पाँच सालकी अवस्थातक उन्हें शिक्षा देना, घरका हिसाब रखना तथा घरके अन्य कितने ही काम करने पड़ते हैं। देहातोंमें खेती-बारी तथा पुरुषोंके अन्य कामोंमें भी हाथ बटाना पड़ता है। इन सबके बदलेमें कानूनकी दृष्टिसे प्रायः सभी देशोंमें स्त्रीको केवल घरमें रहने और खाने-पहननेका अधिकार प्राप्त है ! बाकी सब उसके पतिकी इच्छापर निर्भर है, वह चाहे उसे पैसा दे या न दे, कानूनन वह और कुछ नहीं पा सकती, वास्तवमें उसकी दशा एक मजदूरसे गयी बीती है। मजदूरको कुछ निश्चित समयतक ही काम करना पड़ता है, रातमें वह आराम कर सकता है, महीनेमें उसे कई दिनकी छुट्टी भी मिलती है। पर स्त्रीको तो दिन-रात और प्रतिदिन घरके कामोंमें पिसना पड़ता है। ऐसी दशामें स्त्रियोंका एक निश्चित वेतन होना चाहिये, जिसको अपने पतिसे अदालतद्वारा पा सकनेका उन्हें अधिकार हो।' एक दूसरे वक्तव्यका यह सारांश

'दि फ्यूचर आफ मारल्स' (सदाचारका भविष्य) नामक पुस्तकमें इंगलैण्डके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीजोड लिखते हैं कि जिस लहरमें पड़कर स्त्रियाँ नौकरियों और व्यवसायोंके लिये दौड़ रही थीं, वह अब निश्चित रूपसे पीछे हट रही हैं, युद्धके वे दिन, जब आवश्यकतावश सभी व्यवसायोंके द्वार स्त्रियोंके लिये खुले हुए थे, बीत चुके। अब तो समाज उन्हें कम वेतनपर जी उबानेवाले काम ही देनेके लिये तैयार हैं। बड़ी-बड़ी नौकरियोंके लिये उन्हें कोई पूछतातक नहीं। उनके अधीन काम करनेमें पुरुष अपना अपमान समझते हैं। विश्वविद्यालयोंसे प्रतिवर्ष सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें उच्चशिक्षाप्राप्त स्त्रियाँ निकल रही हैं, जिनके लिये कहीं उपयुक्त काम नहीं मिल रहा है। केवल लन्दन नगरमें मध्यम श्रेणीकी ५२,००० स्त्रियाँ कामकी तलाशमें भटक रही हैं। उसके फलस्वरूप उन्हें घरोंकी याद फिर आ रही है और वे सोचती हैं कि कितने ही मालिकोंकी घुड़की-धमकी सहनेसे तो यही अच्छा कि विवाह करके घरके मालिकपर ही शासन करें। इस भावकी पुनर्जागृतिके आज कितने ही लक्षण दिखलायी पड़ रहे हैं। स्त्रियोंको अपने बनाव-सिंगारकी फिर सूझ रही है। प्रत्येक स्त्रीकी श्रृङ्गारसामग्री झोलेमें हमेशा साथ रहती है, जरा-सा अवकाश मिलते ही, वह अपना मुख सँवारने लगती है। इन छोटी-छोटी बातोंसे ही पता लग रहा है कि हवा किस ओर बह रही है।'

यह वर्तमान महायुद्धके पहलेकी बात है। अब इसमें पुरुषोंके फँस जानेके कारण स्त्रियोंकी फिर वही माँग हो रही है। ब्रिटेनमें स्त्रियोंसे भिन्न-भिन्न विभागोंमें भर्ती होनेके लिये अपील की जा रही है। परन्तु युद्ध समाप्त होनेपर इस बार भी क्या यह लहर फिर न [illegible]? स्त्रियोंकी आर्थिक स्वतन्त्रताका क्या परिणाम हो रहा है इसका दिग्दर्शन श्रीमती [illegible] 'दि [illegible] वोमन' ([illegible]) नामक [illegible] कराया है। वे लिखती हैं कि [illegible]

को नौकरीकी चिन्ता होने [illegible] मिल जाता है, उनका मन फिर [illegible] लगता। चार पैसा कमा सकने [illegible] उन्हें हर बातमें—वैवाहिक बन्धनों [illegible] में, उनके पालने-पोसनेमें, अपने [illegible] उपयोग करनेमें—स्वतन्त्रता सूझने [illegible] तरह उनमें एक विद्रोहका भाव जाग्रत् [illegible] जो किसी प्रकारकी रुकावटको सहन नहीं [illegible] गृहस्थीकी प्रवृत्तियाँ उनमें नष्ट हो [illegible] 'बेबी' (बच्चे) की अपेक्षा उन्हें [illegible] (छोटी मोटर) की आवश्यकता अधिक [illegible] लगती है।' पति-पत्नी दोनोंको जब धन [illegible] सवार होती है, तब घर तो चौपट हो [illegible] इसमें सन्देह नहीं। यदि पतिको एक [illegible] मिलती है तो पत्नीको किसी दूसरी जगह [illegible] से नौकरी बजाना है, घरका काम देखने [illegible] अवकाश नहीं है, बच्चोंकी देखरेख नौकरों [illegible] इस जीवनमें भी क्या कोई सुख है! फिर यह [illegible] है या पूरी परतन्त्रता! घरका काम सँभालना [illegible] हुई और दफ्तरमें घंटों नीरस काममें पिसना [illegible] अपने बच्चोंको पालना-पोसना, उन्हें अच्छी [illegible] देना तो हुआ 'समयका नष्ट करना' और दूसरे [illegible] धाय बनकर रहना या स्कूलोंमें जाकर उनको [illegible] समयका 'सदुपयोग'! पति जो प्रेमका पात्र [illegible] एक कटु बात भी सहन नहीं हो सकती, [illegible] की घुड़कियों-धमकियोंपर मुँहसे एक शब्द भी [illegible] साहस नहीं होता। यह भी क्या कोई सुख [illegible] जिसके लिये इतना ऊधम मचाया जा रहा है।'

स्त्रियोंके नौकरियोंके पीछे पड़नेसे घर [illegible] है, इसका अनुभव पाश्चात्य देशोंमें भी [illegible]

[illegible] अन्य [illegible]

—[illegible]

ने योग्य स्त्रियाँ निश्चिन्तताके साथ बाहर जदूरी करती हैं। दूसरी बात यह है कि प्रायः पने घरके पुरुषोंके काममें ही उनका हाथ हैं। किसानके घरकी स्त्रियाँ खेती-बारीमें अपने पुरुषोंके साथ पूरी मेहनत करती हैं। पेशेवरों व्यवसायियोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। उनकी अपने पतिके काममें बराबर सहायता करती रहती 'साहजी' की दूकान बहुत कुछ 'साहुनि' की यतासे चलती है। बढई, दर्जी, लोहार, मनिहार देकी स्त्रियाँ अपने पतियोंके काममें कितनी दक्ष हो ती हैं, आवश्यकता पड़नेपर बिना पुरुषोंकी सहायता-वे अपना काम चला लेती हैं। इसमें एक और बसे बड़ा लाभ यह होता है कि बच्चोंको छुटपनसे अपने माता-पिताके कामकी शिक्षा मिलने लग जाती है। प्रत्येक घर 'बेसिक ट्रेनिंग सेंटर' हो जाता है। बच्चोंको जीविकोपार्जनके योग्य बनानेमें एक पैसा खर्च नहीं होता। क्या यह बात बनावटी वातावरणवाली संस्थाओंमें आ सकती है, जिनपर आजकल इतना रुपया फूँका जा रहा है !

केवल पति-पत्नीका कुटुम्ब और दोनोंके विभिन्न व्यवसाय यह सर्वथा आधुनिक भाव है। किसी कुटुम्बी-जनको घरमें रखनेसे स्वतन्त्रतामें बाधा पड़ती है। ऐसी दशामें यदि पति-पत्नीका कार्यक्षेत्र अलग हुआ तो फिर न बच्चोंकी देख-रेख हो सकती है और न घरकी ही। इन व्यावहारिक अड़चनोंके अतिरिक्त इस प्रकारकी आर्थिक स्वतन्त्रतामें केवल घरके ही नहीं, समाजके विघटनके बीज अन्तर्हित हैं। अपने यहाँका यह प्राचीन आदर्श है कि स्त्री, अपनी देह और सन्तान ये तीनों मिलकर पुरुष होता है। जो भर्ता है, वही भार्या है, इन दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है—

> एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
> विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥
> (मनु० ९। ४५)

इसलिये जीवनपर्यन्त स्त्री-पुरुष धर्म, अर्थ, काम आदिमें पृथक् न हों, आपसमें यही उनका धर्म बतलाया गया है—

> अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः।
> एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥
> (९। १०१)

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटोने कहा है कि 'वह बड़ा ही सौभाग्यशाली तथा सुखी राष्ट्र है, जहाँ 'मेरा' और 'तेरा' ये शब्द बहुत कम सुनायी देते हैं, क्योंकि वहाँके नागरिकोंका सभी प्रधान बातोंमें सम्मिलित स्वार्थ होना है—इसी तरह विवाहित स्त्री-पुरुषकी पूँजी एक ही होनी चाहिये—जिसमें कि उनमें भी 'मेरे' और 'तेरे' का भाव न हो।' अपने यहाँ अब भी पुरानी चालके घरोंकी यही रीति है कि पति जो कुछ कमाकर लाया, अपनी पत्नीके हाथमें रख दिया, वह चाहे जैसे खर्च करे, वह घरकी रानी है। बैंकोंमें दोनोंके अलग-अलग खाते, अलग हिसाब-किताब, अलग-अलग खर्च ये सब नये भाव हैं, जिनका परिणाम यह हो रहा है कि 'संघटन' 'संघटन' चिल्लाते हुए भी सर्वत्र विघटन-ही-विघटन देख पड़ रहा है। विश्वमें शान्ति स्थापित करनेके लिये जिन विद्वानोंका दिमाग किसी 'रामबाण' की खोजमें है, उनमें बहुतोंकी यही राय है कि इसकी कुंजी देश या व्यक्तिकी आर्थिक 'आत्मनिर्भरता' में नहीं बल्कि 'परस्पर निर्भरता' में है। आर्थिक ही क्यों, यदि देखा जाय तो जीवनके सभी विभागोंमें परस्पर निर्भरतामें ही सहयोगकी प्रवृत्ति आ सकती है। पर जब उनका धर्म ही अन्त कर दिया जायगा तो क्या यह फिर राष्ट्र या विश्वके सम्बन्धमें आ सकती है ?

('सिद्धान्त')

तृष्णा !

(श्रीजगदीशशरण सिंहजी एम्० ए० (प्रथम))

(१)

धनाशासे मैंने बहु बार—
हृदय वसुधाका किया विदीर्ण।
गलाई अतुलित गिरिकी धातु,
किए गंभीर-सिंधु निस्तीर्ण।
नृपति-सेवा, आराधन-मंत्र—
किया शव-भू में निशिको जाग।
न पाई लघु वराटिका किन्तु,
अरी तृष्णे, अब मुझको त्याग॥

(२)

किया दुर्गम देशोंमें वास,
कुपथमें घूमा मैं अज्ञान।
किया अंगीकृत सेवा-धर्म,
त्याग कर जाति-वंश अभिमान।
मान-वर्जित-परगृह-आहार—
काकवत् करता रहा सदोष।
पाप रत दुर्मति तृष्णे! किन्तु,
न तुझको फिर भी है सन्तोष॥

(३)

खलोंका सहकर भी [illegible]
किया आराधन उनका [illegible]
शून्य मनसे मैं हुआ [illegible]
रोककर शोक अश्रु-[illegible]
चित्त भी करके वृत्ति-[illegible]
किया करबद्ध विनयका [illegible]
अरी आशा संगिनि तू [illegible]
नचाएगी अब कितना नृत्य!!

(४)

हुई भोगोंकी तृष्णा [illegible]
रूपगत हुआ, हुए क्षय [illegible]
गये समवय साथी सुर[illegible]
त्याग करके जीवनका [illegible]
यष्टि-बलसे उठते हैं [illegible]
हुए तमसावृत नैन पुरा[illegible]
अहो धिक्, फिर भी काया [illegible]
मरणके भयसे है भयभीत।

(५)

उठाते हैं हम क्या आनन्द,
आह! उठ जाते हैं हम आप।
तापसे मिलती है क्या सिद्धि,
और बढ़ जाता है सन्ताप।
समय होता है कहाँ व्यतीत,
हमारा ही होता है अंत।
बलवती तृष्णा हुई न जीर्ण,
हुए हम स्वयं जीर्ण, हा हंत॥

(राजर्षि भर्तृहरिके श्लोकोंका भावानुवाद)

अज्ञात चेतनाका अगाध रहस्य

(लेखक—[illegible] एम० ए०)

[illegible] अपने मस्तिष्कके [illegible] जो कुछ करता [illegible] कुछ सोचता है, यदि विशेष दृष्टिसे उसका [illegible] किया जाय, तो पता चलेगा कि उसमें परस्पर विरोधिता [illegible] कल्पनातीत रूपसे वर्तमान है। हमलोग [illegible] ऐसी ऐसी बातें करते रहते हैं, ऐसी ऐसी बातें सोचते हैं जिनका न कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य हमारे सामने रहता है, [illegible] स्पष्ट कारण। प्रत्येक व्यक्तिको समय-समयपर इस [illegible] पर आश्चर्य होता है कि वह करना चाहता है कुछ, पर [illegible] बैठता है कुछ और; बोलना कुछ दूसरी ही बात चाहता पर बोल बैठता है कुछ और ही। इच्छा न रहनेपर भी, [illegible]वश, अज्ञातरूपसे हमारे प्रतिदिनके जो कर्म और विचार समय-समयपर हमें किंकर्तव्यविमूढ करते रहते हैं, उनका रहस्य वास्तवमें अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है।

कवियों और दार्शनिकोंने इस रहस्यका उल्लेख बार-बार किया है और उसपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा भी की है। हमारे यहाँ कालिदासने इस परम गहन मनोवैज्ञानिक तत्त्वके सम्बन्धमें अपनी जिस जानकारीका परिचय दिया है वह संसारके आधुनिक मनोविज्ञानाचार्योंको भी चक्करमें डाल देनेवाला है। दुष्यन्त जब एक बार शकुन्तलाको अपनी जाग्रत् चेतनासे एकदम बिसारकर अपने महलमें शान्तचित्तसे बैठे हुए थे, तो अकस्मात् रानी हंसपदिकाका गाना सुनकर उनका चित्त चञ्चल हो उठा, और एक अज्ञात, अस्फुट वेदना उनके मनमें आलोड़ित हो उठी। अपनी इस मानसिक स्थितिसे परिचित होकर उन्होंने अपने-आपसे प्रश्न किया—'किन्तु खलु प्रियजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि ?'—'किसी प्रियजनके विरहमें पीड़ित न होनेपर भी मेरे मनमें बरबस (विरहकी) उत्कण्ठा क्यों जाग पड़ी है ?' इस प्रश्नका उत्तर भी उनका मन उन्हें अपनी समझके अनुसार अपने-आप दे देता है। उत्तर इस प्रकार है—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

अर्थात् 'सुन्दर वस्तुके दर्शन और मधुर शब्दोंके श्रवणसे सुखी जीवके मनमें भी जो एक उत्सुकता और उत्कण्ठाका भाव जाग्रत् हो उठता है, उसका कारण यह है कि वे दो बातें उसके जन्मान्तरके किसी अज्ञात और भावमय प्रेमकी स्मृतिको उसकी (जाग्रत्) चेतनाके सम्मुख ला देती हैं।'

इस एक श्लोकमें कालिदासने आधुनिक मनोविज्ञान-विशेषज्ञोंकी अज्ञात चेतना (Unconscious) सम्बन्धी सिद्धान्तका जो निरूपण किया है वह वास्तवमें अद्भुत और अपूर्व है। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे। पर यहाँपर जो बात ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि दुष्यन्त अपनी 'अकारण'-उत्थित विरह-वेदनाका जो कारण खोज निकालता है वह केवल मूल और वास्तविक कारणको भुलानेकी एक छलनामात्र है। इसमें सन्देह नहीं कि इस छलनाका प्रयोग वह अपने आपको ठगनेके लिये करता है, और इससे भी अधिक मनोरञ्जक तथा आश्चर्यजनक बात यह है कि वह जान-बूझकर ऐसा नहीं करता, बल्कि किसी अज्ञात रहस्यमय कारणसे प्रेरित होकर करता है।

दुष्यन्तके शान्त और सुखी मनमें बेचैनी उठनेका मूल कारण *रानी हंसपदिकाके संगीतकी मधुर स्वरलहरी नहीं*, बल्कि उसके पदोंका अर्थ था। हंसपदिका जो गीत गाती है, उसका संक्षिप्त शब्दार्थ यह है कि 'हे मधुलोभी भौंरे ! तू अब मालती-कुसुमका प्रेम भुलाकर आम्र-मञ्जरीके मोहमें क्यों लिप्त हो गया ?' इस अर्थकी ध्वनिने परस्पर सम्बन्धित विचारोंकी *सम्पर्कज प्रेरणा* (*Association of ideas*) के रहस्यमय नियमसे दुष्यन्तकी अज्ञात चेतनामें दबी हुई शकुन्तलाके प्रति प्रेम-भावनाको उभाड़ना प्रारम्भ कर दिया, पर चूँकि उसका सचेत मन (जाग्रत् चेतना) उस विचित्र सुख-दुःखमयी असामाजिक प्रेमानुभूतिको भुलाना चाहता था, इसलिये उसने उस बरबस उत्थित विरह-वेदनाका एक विश्वजनीन दार्शनिक कारण खोज निकाला, और इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत समस्याको दबाकर अपने-आपको ठगा। यह सारा क्रियाचक्र ज्ञातरूपसे नहीं, किन्तु अज्ञातरूपसे चला।

एक और उदाहरण देकर हम इस बातको स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे। *पाश्चात्य देशोंमें सम्मोहन-तन्त्र* (*Hypnotism*)

तृष्णा !

(श्रीजगदीशशरण सिंहजी एम्० ए० (प्रथम))

(१)

धनाशासे मैंने बहु बार—
हृदय वसुधाका किया विदीर्ण।
गलाई अतुलित गिरिकी धातु,
किए गंभीर-सिंधु निस्तीर्ण।
नृपति-सेवा, आराधन-मंत्र—
किया शव-भू में निशिको जाग।
न पाई लघु वराटिका किन्तु,
अरी तृष्णे, अब मुझको त्याग॥

(२)

किया दुर्गम देशोंमें वास,
कुपथमें घूमा मैं अज्ञान।
किया अंगीकृत सेवा-धर्म,
त्याग कर जाति-वंश अभिमान।
मान-वर्जित-परगृह-आहार—
काकवत् करता रहा सदोष।
पाप रत दुर्मति तृष्णे! किन्तु,
न तुझको फिर भी है सन्तोष॥

(३)

खलोंका सहकर भी उपहास
किया आराधन उनका द्वार!
शून्य मनसे मैं हुआ प्रसन्न
रोककर शोक अश्रु-समुदार।
चित्त भी करके वृत्ति-निरोध
किया करबद्ध विनयका कृत्य
अरी आशा संगिनि तू और,
नचाएगी अब कितना नृत्य!!

(४)

हुई भोगोंकी तृष्णा शान्त,
रूपगत हुआ, हुए श्लथ अंग।
गये समवय साथी सुरधाम,
त्याग करके जीवनका संग।
यष्टि-बलसे उठते हैं पैर,
हुए तमसावृत नैन पुनीत।
अहो धिक्, फिर भी काया नित्य,
मरणके भयसे है भयभीत॥

(५)

उठाते हैं हम क्या आनन्द,
आह! उठ जाते हैं हम भार।
तापमें मिलती है क्या सिद्धि,
और बढ़ जाता है सन्ताप।
समय होता है कहाँ व्यतीत,
हमारा ही होता है अंत।
बलवती तृष्णा हुई न जीर्ण,
हुए हम स्वयं जीर्ण, हा हंत॥

([illegible])

———

अज्ञात चेतनाका अगाध रहस्य

(लेखक—श्रीइलाचन्द्रजी जोशी एम्० ए०)

प अपने प्रतिदिनके जीवनमें जो कुछ करता -कुछ सोचता है, यदि निरपेक्ष दृष्टिसे उसका कया जाय, तो पता चलेगा कि उनमें परस्पर-विरोधिता ामञ्जस्य कल्पनातीत रूपसे वर्तमान है । हमलोग ऐसे ऐसे कार्य करते रहते हैं, ऐसी-ऐसी बातें सोचते . जिनका न कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य हमारे सामने रहता है, स्पष्ट कारण । प्रत्येक व्यक्तिको समय-समयपर इस आश्चर्य होता है कि वह करना चाहता है कुछ, पर -रता है कुछ और; बोलना कुछ दूसरी ही बात चाहता र बोल बैठता है कुछ और ही । इच्छा न रहनेपर भी, स, अज्ञातरूपसे हमारे प्रतिदिनके जो कर्म और विचार ्रायः हमें विस्मयविमूढ करते रहते हैं, उनका रहस्य तवमें अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है ।

कवियों और दार्शनिकोंने इस रहस्यका उल्लेख बार-बार ्या है और उसपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा भी की है । मारे यहाँ कालिदासने इस परम गहन मनोवैज्ञानिक तत्त्वके म्बन्धमें अपनी जिस जानकारीका परिचय दिया है वह समारके आधुनिक मनोविज्ञानाचार्योंको भी चक्करमें डाल देनेवाला है । दुष्यन्त जब एक बार शकुन्तलाको अपनी जाग्रत् चेतनासे एकदम बिसारकर अपने महलमें शान्तचित्तसे बैठे हुए थे, तो अकस्मात् रानी हंसपदिकाका गाना सुनकर उनका चित्त चञ्चल हो उठा, और एक अज्ञात, अस्फुट वेदना उनके मनमें आलोडित हो उठी । अपनी इस मानसिक स्थितिसे परिचित होकर उन्होंने अपने-आपसे प्रश्न किया—'किन्तु खलु प्रियजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि !'—'किसी प्रियजनके विरहमें पीड़ित न होनेपर भी मेरे मनमें बरबस (विरहकी) उत्कण्ठा क्यों जाग पड़ी है !' इस प्रश्नका उत्तर भी उनका मन उन्हें अपनी समझके अनुसार अपने-आप दे देता है । उत्तर इस प्रकार है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा -बोधपूर्वं
-नरसौहृदानि ॥

र मधुर शब्दोंके श्रवणसे सुखी जीवके मनमें भी जो एक उत्सुकता उत्कण्ठाका भाव जाग्रत् हो उठता है, उसका कारण है कि वे दो बातें उसके जन्मान्तरके किसी अज्ञात और भावमग्न प्रेमकी स्मृतिको उसकी (जाग्रत्) चेतनाके सम्मुख ला देती हैं ।'

इस एक श्लोकमें कालिदासने आधुनिक मनोविज्ञान-विश्लेषकोंकी अज्ञात चेतना (Unconscious) सम्बन्धी सिद्धान्तका जो निरूपण किया है वह वास्तवमें अद्भुत और अपूर्व है । इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे । पर यहाँपर जो बात ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि दुष्यन्त अपनी 'अकारण'-उत्थित विरह-वेदनाका जो कारण खोज निकालता है वह केवल मूल और वास्तविक कारणको भुलानेकी एक छलनामात्र है । इसमें सन्देह नहीं कि इस छलनाका प्रयोग वह अपने-आपको ठगनेके लिये करता है, और इससे भी अधिक मनोरञ्जक तथा आश्चर्यजनक बात यह है कि वह जान-बूझकर ऐसा नहीं करता, बल्कि किसी अज्ञात रहस्यमय कारणसे प्रेरित होकर करता है ।

दुष्यन्तके शान्त और सुखी मनमें बेचैनी उठनेका मूल कारण रानी हंसपदिकाके संगीतकी मधुर स्वरलहरी नहीं, बल्कि उसके पदोंका अर्थ था । हंसपदिका जो गीत गाती है, उसका संक्षिप्त शब्दार्थ यह है कि 'हे मधुलोभी भौंरे ! तू अब मालती-कुसुमका प्रेम भुलाकर आम्र-मञ्जरीके मोहमें क्यों लिप्त हो गया !' इस अर्थकी ध्वनिने परस्पर सम्बन्धित विचारोंकी संलग्न प्रेरणा (Association of ideas) के रहस्यमय नियमसे दुष्यन्तकी अज्ञात चेतनामें दबी हुई शकुन्तलाके प्रति प्रेम-भावनाको उभाड़ना प्रारम्भ कर दिया, पर चूँकि उसका सचेत मन (जाग्रत् चेतना) उस विचित्र सुख-दुःखमयी असामाजिक प्रेमानुभूतिको भुलाना चाहता था, इसलिये उसने उस बरबस उत्पन्न विरह-वेदनाका एक विश्वजनीन दार्शनिक कारण खोज निकाला, और इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत समस्याको दबाकर अपने-आपको ठगा । यह सारा क्रियाचक्र ज्ञातरूपसे नहीं, किन्तु अज्ञातरूपसे चला ।

एक और उदाहरण देकर हम इस बातको स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे। पाश्चात्त्य देशोंमें सम्मोहन-तन्त्र (Hypnotism)

ने एक विशिष्ट वैज्ञानिक रूप धारण कर लिया है। सम्मोहन-विशेषज्ञ अपने पात्र (Subject) को एक प्रकारकी योग-निद्रामें मग्न कर देता है, और उस जाग्रत्-निद्रावस्थामें वह जैसा कुछ करनेको कहता है, उसका पात्र कठपुतलीकी तरह ठीक वैसा ही करता है; उससे जैसा कुछ सोचनेको कहा जाता है, ठीक वैसा ही वह सोचता है। एक बार एक सम्मोहन-विशेषज्ञने अपने एक पात्रको उसकी मोहनिद्राकी अवस्थामें यह आदेश दिया कि निद्रासे जगनेपर उसे एक कुर्सीको फर्शपरसे उठाकर ऊपर मेज़पर रख देना होगा। जगते ही उस सम्मोहित पात्रने फ़र्शपरसे एक कुर्सी-को उठाकर मेज़पर रख दिया। जब उससे यह पूछा गया कि उसने क्यों ऐसा अनोखा कार्य किया, तो उसने उत्तर दिया कि कुर्सी बीचमें पड़ी होनेसे आने-जानेमें बाधा पहुँचा रही थी, इसलिये उसने उसे हटाकर अलग रख देना उचित समझा। इस उत्तरसे स्पष्ट हो जाता है कि उस व्यक्तिके मनमें यह चेतना नहीं रह गयी थी कि जब वह मोहनिद्रा (Hypnotic sleep) में मग्न था, तो उस समय सम्मोहक-ने उसे जगनेपर कुर्सीको हटानेका आदेश दिया था और वह अनजानमें उसी आज्ञाका पालन कर रहा है। असलमें बात यह थी कि उसकी अज्ञात चेतना सम्मोहककी आज्ञाको नहीं भूली थी, और जाग्रत् चेतना उसे भूल गयी थी। जगने-पर उसे उसकी अज्ञात चेतनाने उस आदेशकी पूर्तिके लिये प्रेरित किया, और वह (अज्ञात चेतना) उसके कारणसे भी परिचित थी; पर जाग्रत् चेतना कुर्सीको हटानेके उस रहस्यमय कारणसे यद्यपि परिचित नहीं थी, तथापि उसे एक स्वकल्पित कारणको पेश करनेमें न क्षणभरकी देर लगी, न कोई द्विविधा हुई।

इस उदाहरणसे सम्मोहित व्यक्तिके व्यवहार और स्वभावकी जो एक विशेषता हमारे सामने आती है, उसकी तुलना दुष्यन्तके पूर्ववर्णित व्यवहारसे की जा सकती है। यह बात केवल दुष्यन्त या किसी सम्मोहित व्यक्तिके सम्बन्ध में ही लागू नहीं होती, बल्कि प्रत्येक व्यक्तिके प्रतिदिनके जीवनमें इस तरहके कितने उदाहरण पाये जा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति बहुधा ऐसी बात कर बैठता है, ऐसा काम कर बैठता है, जिसका वास्तविक कारण (जो कि उसकी अज्ञात चेतनाकी आड़में छिपा रहता है) उसके सचेत मनको पता नहीं रहता, पर जिसकी सफाईके लिये

एक स्वकल्पित कारण खोज निकालनेमें [illegible] देर नहीं लगती।

अज्ञातरूपसे हम अपने छोटे-छोटे [illegible] कारण जानते हैं, पर चूँकि उस [illegible] हमारे मनको सुखकर नहीं होती, अथवा [illegible] दृष्टिसे वह निन्दनीय होती है, इसलिये हम [illegible] उसे भुलाकर अपने-आपको (और [illegible]) ठगनेके लिये बिना विलम्ब कोई कल्पित [illegible] देनेकी तत्परतामें कमाल कर दिखाती है।

वास्तवमें यह बात मनुष्यके लिये [illegible] है कि उसे स्वयं अपने कृत्यों और भावनाओं [illegible] और वास्तविक कारणोंका पता नहीं लगने [illegible] कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने प्रतिदिन [illegible] जीवनमें अपनी प्रत्येक बात या कामसे [illegible] प्रत्येक व्यक्तिके मनमें बहुधा यह असन्तोष [illegible] कि उसका कार्यचक्र उसके विचारोंके एकदम [illegible] जाता है। रवीन्द्रनाथने अपना यह असन्तोष [illegible] कवितामें बड़े सुन्दर रूपसे व्यक्त किया है। वे [illegible]

ए कि कौतुक नित्य नूतन
ओगो कौतुकमयी!
आमि जाहा किछु चाइ बलिबारे
बलिते दितेछो कइ!
अन्तर माझे बसि, अहरह
मुख हते तुमि भाषा केड़े लओ,
मोर कथा लये तुमि कथा कहो
मिशाये आपन सुरे!
जा बलिते चाइ सब भूले जाइ
तुमि जा बोलाओ आमि बलि ता'इ—

'हे कौतुकमयी! तुम्हारा यह नित्य नूतन कौतुक [illegible] है! मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे तुम कहने [illegible] हो! निरन्तर मेरे भीतर बैठकर तुम मेरे मुँहसे [illegible] छीन लेती हो, और मेरी बातको लेकर तुम उसे अपने सुरमें मिलाकर एक नयी बात कह देती हो। मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, सब भूल जाता हूँ, और तुम जो कुछ मुझसे कहलाती हो वही [illegible]।'

[illegible]
हमारे [illegible]

नेके जो मूल कारण निहित रहते हैं उनसे अपरिचित
नी वेदना उक्त कवितामें अत्यन्त मार्मिक रूपमें फूट
ी है।

बहुधा यह देखा जाता है कि जब दो मित्र तर्ककी रगड़-
से गरम हो उठते हैं, तो एक दूसरेको लक्ष्य करके ऐसे ऐसे
मार्मिक व्यंगपूर्ण व्यक्तिगत आक्षेप और कटाक्ष कर बैठते हैं,
जिनके लिये उन्हें बादमें शान्त होनेपर पछताना पड़ता है।
उनसे जब कारण पूछा जाता है, तो वे कहते हैं—'मैं ऐसी
बात कहना नहीं चाहता था, पर वाद-विवादके कारण क्षणिक
उत्तेजनाके आवेशमें आकर मेरे मुँहसे इस तरहकी बात निकल
गयी।' पर मनोविज्ञान-विश्लेषक इस दलीलकी सचाईको
सन्देहकी दृष्टिसे देखता है। वह जानता है कि साधारण
परिस्थितिमें भले ही उस व्यक्तिकी जाग्रत् चेतनामें अपने
मित्रके प्रति विद्वेषके वे भाव न रहे हों, जिन्हें असाधारण
परिस्थितिमें वह अपने मुँहसे बाहर निकाल बैठा है, पर उसकी
अज्ञात चेतनामें वे भाव बराबर, सब समय वर्तमान रहे हैं।

किसी भयङ्कर सङ्कटके समय हम आत्मरक्षाके भावसे
प्रेरित होकर कभी-कभी ऐसी आश्चर्यजनक शक्ति और अपूर्व
विवेचनाका परिचय दे बैठते हैं जिसकी कल्पना भी हम
साधारण अवसरोंपर नहीं कर सकते। हमारी जाग्रत् चेतना
उस आकस्मिक और अद्भुत शक्ति-स्फूर्तिका कोई कारण
खोज सकती, क्योंकि उसका मर्म हमारी अज्ञात चे
भीतर निहित है। हमें ऐसे अवसरोंपर कभी-कभी यह
होने लगता है कि यह असाधारण शक्ति हमारी अपनी
है, बल्कि किसी अज्ञात अलौकिक प्रेरणासे हमें प्राप्त हुई है
इसी अनुभूतिसे प्रणोदित होकर प्राचीन कालके एक मनीषी
मुखसे यह उद्गार निकला था—

केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

—'मेरे हृदयके भीतर किसी अज्ञात देवताका वास है, वह
मुझसे जैसा करवाता है, मैं वैसा ही करता हूँ।'

वास्तवमें यह अज्ञात देवता कौन है? रवीन्द्रनाथने जिसे
'कौतुकमयी' कहकर सम्बोधित किया है, उसका रहस्य क्या
है? यह है मनुष्यकी अज्ञात चेतना, जिसे पिछले युगोंके
पण्डित अन्तश्चेतना (Sub-conscious) कहा करते थे।
जो सचमुच अपार रहस्यमयी और अनन्त लीलामयी है।
अगले लेखमें उसकी गहनतापर थोड़ा-बहुत प्रकाश
डालनेका प्रयत्न किया जायगा।

भक्तवर वालि

(लेखक—श्रीराजेन्द्रनाथ मिश्र अनुरागी)

जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुचि राखी॥

—या बाना धरनेवाले संसारको 'दारु जोषित की
नाईं' नचानेवाले राम मूर्तिमान् भक्तिस्वरूपा शबरीको
कृतार्थ करने पहुँचे। उसे भक्तिका परम सुन्दर उपदेश
दिया।

ऐसी भक्तिके उपदेशक श्रीरामजी जनरघुनाथकी सुधि
उस 'भामिनी' से पूछते हैं। यह भी स्वामी 'जानत हूँ'
पूछते हैं अतएव आज्ञापालनपूर्वक निवेदन करती है—

पंपा सरहि जाहु रघुराई। तहँ

भगवानका एक परम
धैर्यका पहले खबर
भक्तकी परीक्षा भी

साधन भी। राम ताड़का-वध पहले करते हैं, विश्वा
के यज्ञकी रक्षा पीछे। पंपापुरी-समीपवर्ती पंपासर
पहुँचते हैं, सुग्रीवकी भेंट पीछे। लंकाके नटल
पहुँच जाते हैं तब विभीषणको दर्शन होता है
न होता तो सुग्रीवको यह भ्रम कदापि न होत
न होता तो सुग्रीवको यह भ्रम कदापि न होत
वाति होहि मन मैत्रा।'

अस्तु, भगवान् पंपासर पहुँचे किन्तु
शान्ति और जानकी सुधि
शोक-सन्ताप दोई
पुनरी

है परन्तु भक्तकष्ट-कातर भगवान् उससे 'कारन कवन बसहु बन' पूछने लगते हैं। भाव है शीघ्र बतलाओ मुझे बालिको दर्शन देने हैं।

सुग्रीव बालिकी सब कथा संक्षेपमें सुनाकर कहता है—

रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी

अतएव लोकदृष्टिसे मित्रके दुःखसे दुखी भगवान्‌की विशाल भुजाएँ सुग्रीवका कष्ट मिटानेके लिये फड़कने लगती हैं मानो वे अपने परम वैरभावसे भजनेवाले भक्तका शीघ्र आलिङ्गन करना चाहती हैं।

'बिपति काल कर सतगुन नेहा' करनेवाले रामजी सुग्रीवको 'निज बल सोच त्यागने' का भरोसा देते हैं परन्तु उसे 'बालि महाबल अति रनधीरा' का विचार आ जानेसे प्रबोध नहीं होता। अतएव भगवान्‌को अस्थि और ताल ढहानेका काम करना पड़ता है। सब काम इतनी फुर्तीसे होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मर्कटोंकी तरह सबको नचानेवाले रामके हृदयमें उत्सुकता हो रही है। यहाँ बालिको मुक्त करनेके अतिरिक्त और उत्सुकता हो ही क्या सकती है?

अब तो सुग्रीवकी इच्छा नहीं है कि बालि-वध हो, शत्रु बालि उसे अब 'परम हित' जान पड़ता है परन्तु राम बिहँसकर कहते हैं—'सखा बचन मम मृषा न होई।' मैं बालिको अवश्य मुक्त करूँगा। क्योंकि वह भी तुम्हारी ही भाँति 'सुख सम्पति-परिवार बड़ाई'का इच्छुक नहीं है। वह इस लौकिक कलेवरका परित्याग कर 'राम चरन दृढ़ प्रीति' ही चाहता है?

अहा हा!! कैसे परस्पर-विरोधी स्वभाववाले दो भक्त उपस्थित हैं। एकके पास राज्यसम्पत्ति है वह उनका त्यागकर सनाथ होना चाहता है, दूसरेके पास कुछ नहीं है वह सब कुछ चाहता है। भक्तवत्सल दोनोंकी इच्छाएँ पूर्ण करते हैं। वे सचमुच भक्तोंके योगक्षेमको स्वयं ढोकर भक्तके घर पहुँचाते हैं और गीतोक्त वचनका प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं।

अस्तु! चापसायकहाथ राम सुग्रीवको बालिके द्वार पहुँचाते हैं। 'हिमायत' की गधी ऐरावतके लात मारने पहुँचती है। बालि क्रोधातुर हो दौड़ता है। रावणमें एक दोष था—'अहंकार' और बालिमें एक दोष है—'क्रोध'। 'काम' की रावण, बालि, सुग्रीव और विभीषण सभीमें समानता है। इन्हीं दो गुणोंके कारण वे शीघ्र ही परम पद प्राप्त करते हैं परन्तु शेष दोनों कालान्तरमें।

बालिकी पत्नी तारा पतिके चरण पकड़कर समझाती है—

कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

पतिदेव! मोह छोड़कर उनके शरण हो जाओ, शक्ति अपने शक्तिमान्‌को उपदेश देती है परन्तु आत्माभिमानी क्रोधी बालि कहता है—

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥

अर्थात् हे भीरु! वे प्यारे रघुनाथजी (रघुवंशके स्वामी जिन्होंने दिग्विजयमें इस देशको जीतकर स्ववश कर लिया था) मेरे स्वामी हैं, वे समदर्शी हैं, उनका कोई शत्रु-मित्र नहीं है अथवा सम-विषम, अन्तर-बाहर सब ओरकी समान रूपसे देखनेवाले हैं। वे क्या मेरे हृदयगत प्रेमको नहीं जानते? क्या तू जानती है कि वे बिना सब कुछ जाने ही यहाँ आये हैं। तू भीरु है अतएव तू नहीं समझ सकती कि वे मेरा वही मनोरथ पूर्ण करने आये हैं जिसे मैंने हृदयके गुह्यतम स्थलमें छिपा रक्खा है। वे मेरे प्रिय-प्यारे हैं। बालि ताराको लोकदृष्टिसे समझाता हुआ कहता है—क्या तू मेरे बलको नहीं जानती? मैं सम्मुख पड़नेपर दूसरेका आधा बल खींच लेता हूँ अतएव यह सम्भव ही नहीं कि कोई मुझे मार सके परन्तु यदि उन्होंने मुझे मार भी दिया तो मैं समझूँगा कि आज सेरको सवासेर मिला। सचमुच मैं सनाथ हो जाऊँगा (मुझ उद्धत पशुके भी नाथ पड़ जायगी) किन्तु अपने गम्भीर प्रेमकी व्यञ्जना करते हुए कहता है कि कदाचित् उस समदर्शीको यदी करे

कि मैंने गुरुसे ही मैंने बनाया है तो भी कोई हानि
नहीं, मैंने तो उनसे भी नव गुण बनता है, मैं अपने
नापकर ... बन जाऊँगा ।
...... महा अभिमानी। ....॥
... सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा ॥
अन्तर्मुखी भक्तिके सम्मुख बहिर्मुखी संसारकीय
भक्ति भाग नहीं हुई। पहिलेमें सुग्रीव प्रेमी भाग नहीं
टलता। अनएव रामने बालिको नहीं मारा। लोकदृष्टिमें
अभी बालिका अन्याय अधिक नहीं हुआ था। सुग्रीवने
बालिकी स्त्री ली थी, राज्य लिया था अतएव बालिने भी
वैसा ही किया। दोनों समान थे।

बालिद्वारा सुग्रीवको अभी विशेष कष्ट नहीं पहुँचा
था अतएव बालिको नहीं मारा अथवा प्रेमी सुग्रीवने
आत्मसमर्पण नहीं किया था।

इसी वानरको वे प्रच्छन्नरूपसे पढ़ते हैं— ....॥
एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। .... 'मेली कंठ सुमन कै माला' इत्यादि

अतएव उन्होंने 'मेली कंठ सुमन कै माला' डालते
करके सुग्रीवको फिर भेजा। गलेमें फूलोंकी माला डालते
ही उसका मन शुद्ध हो गया, तब उसे भेजा अर्थात्
उसे 'मन्मना' करके भेज दिया परन्तु सदियोंका संस्कार
क्षणभरमें नहीं निकलता। अतएव 'पुनि नाना बिधि
भई लराई' परन्तु वे रघुराई 'बिटपकी ओट' खड़े
सब देखते रहे।

यहाँ लोग रामपर अन्यायका आरोप करते हैं परन्तु
वे भक्तिकी महिमा नहीं जानते। भगवान् तो 'जीते
जीत भगत अपनेकी हारे हारि बिचारी।' की प्रतिज्ञा
किये बैठे हैं। उनकी अघटनघटनापटीयसी भक्ति
भी भक्त-प्रतिज्ञाके सम्मुख कुण्ठित हो जाती है। अतएव
बालिकी मर्यादा रखना उन्हें अभीष्ट था, वे कैसे उसे
सम्मुख होकर मारते।

जब सुग्रीव 'बहु छल बलकर भय मानि हिय
हारकर'—रामकी शरणको प्राप्त हो गया तो भक्त-भय-
भंजन रामने तानकर बालिके हियमें बाण मार दिया
मानो क्रोधके मन्न हृदयको नष्ट कर दिया, अथवा
अपना प्रताप-शौर्य-सागर उसके हृदयदेशमें स्थापित
कर दिया, या उसके अन्तर्निहित प्रेमके प्रकट होनेके
लिये आत्माभिमानरूपी कपाट हटाकर हृदयके द्वारको
उद्घाटित कर दिया।

अब वह रणधीर बालि क्षणमात्रके लिये विकल हो
महिपर गिरा परन्तु तुरंत ही फिर उठ बैठा। सम्भव
था कि सुग्रीवको आगे पाकर उस समय वह भुनगा-सा
पीस देता परन्तु अब सुग्रीव कहाँ थे। अब तो उसके
हृदयस्थ राम ही सामने उपस्थित थे। वे उस समय
थे—'स्याम गात सिर जटा बनाएँ। अरुन नयन सर चाप
चढ़ाएँ॥' मानो बालिका सम्पूर्ण कलङ्क-कलुष उसे छोड़
रामके रूपमें पुञ्जीभूत हो रहा था, अथवा राज्यश्री-
विमुख बालिका वैराग्य हृदयस्थल छोड़कर सामने आ
गया था अथवा विद्धहृदयनिस्सृत रक्तधारारूपसे उसका
क्रोध निकलकर राम-नेत्रोंकी अरुणिमामें समा गया था
या बालिको सनाथ बनानेवाला संसार-शासक स्वरूप
शर-चाप चढ़ाये सम्मुख उपस्थित था। फिर क्या था—
पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥
हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥

बालि! तू सुग्रीवकी अपेक्षा भी परम धन्य है। तू
अपने स्वामीको पहचान गया, तूने उनके चरणोंमें
अपना चित्त लगा दिया। हम परम पापिष्ठोंकी भाँति
'मुँह मेँह राम बगलमें छुरी' की कहावत चरितार्थ न
करके तूने अपने गुप्त प्रेमका माहात्म्य बनाये रक्खा और
'हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा'
हो गया। तू कहता है—
'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥'
और
'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥'

इससे तू मानो स्पष्ट कह रहा है कि, नाथ!
मैं जानता हूँ तुमने सर्वथा उचित किया है'
परन्तु संसारके लोग तुमपर कलङ्क लगायेंगे कि तुमने

है परन्तु भक्तकष्ट-कातर भगवान् उससे 'कारन कवन बसहु बन' पूछने लगते हैं। भाव है शीघ्र बतलाओ मुझे बालिको दर्शन देने हैं।

सुग्रीव बालिकी सब कथा संक्षेपमें सुनाकर कहता है—

रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी

अतएव लोकदृष्टिसे मित्रके दुःखसे दुखी भगवान्‌की विशाल भुजाएँ सुग्रीवका कष्ट मिटानेके लिये फड़कने लगती हैं मानो वे अपने परम वैरभावसे भजनेवाले भक्तका शीघ्र आलिङ्गन करना चाहती हैं।

'बिपति काल कर सतगुन नेहा' करनेवाले रामजी सुग्रीवको 'निज बल सोच त्यागने' का भरोसा देते हैं परन्तु उसे 'बालि महाबल अति रनधीरा' का विचार आ जानेसे प्रबोध नहीं होता। अतएव भगवान्‌को अस्थि और ताल ढहानेका काम करना पड़ता है। सब काम इतनी फुर्तीसे होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मर्कटोंकी तरह सबको नचानेवाले रामके हृदयमें उत्सुकता हो रही है। यहाँ बालिको मुक्त करनेके अतिरिक्त और उत्सुकता हो ही क्या सकती है?

अब तो सुग्रीवकी इच्छा नहीं है कि बालि-वध हो, शत्रु बालि उसे अब 'परम हित' जान पड़ता है परन्तु राम बिहँसकर कहते हैं—'सखा बचन मम मृषा न होई।' मैं बालिको अवश्य मुक्त करूँगा। क्योंकि वह भी तुम्हारी ही भाँति 'सुख सम्पति-परिवार बड़ाई'का इच्छुक नहीं है। वह इस लौकिक कलेवरका परित्याग कर 'राम चरन दृढ़ प्रीति' ही चाहता है?

अहा हा!! कैसे परस्पर-विरोधी स्वभाववाले दो भक्त उपस्थित हैं। एकके पास राज्यसम्पत्ति है वह उनका त्यागकर सनाथ होना चाहता है, दूसरेके पास कुछ नहीं है वह सब कुछ चाहता है। भक्तवत्सल दोनोंकी इच्छाएँ पूर्ण करते हैं। वे सचमुच भक्तोंके योगक्षेमको स्वयं ढोकर भक्तके घर पहुँचाते हैं और गीतोक्त वचनका प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं।

अस्तु! चापसायकहाथ राम सुग्रीवको बालिके द्वार पहुँचाते हैं। 'हिमायत' की गधी ऐरावतके लात मारने पहुँचती है। बालि क्रोधातुर हो दौड़ता है। रावणमें एक दोष था—'अहंकार' और बालिमें एक दोष है—'क्रोध'। 'काम' की रावण, बालि, सुग्रीव और विभीषण सभीमें समानता है। इन्हीं दो गुणोंके कारण वे शीघ्र ही परम पद प्राप्त करते हैं परन्तु शेष दोनों कालान्तरमें।

बालिकी पत्नी तारा पतिके चरण पकड़कर समझाती है—

कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

पतिदेव! मोह छोड़कर उनके शरण हो जाओ, शक्ति अपने शक्तिमान्‌को उपदेश देती है परन्तु आत्माभिमानी क्रोधी बालि कहता है—

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥

अर्थात् हे भीरु! वे प्यारे रघुनाथजी (रघुवंशके स्वामी जिन्होंने दिग्विजयमें इस देशको जीतकर स्ववश कर लिया था) मेरे स्वामी हैं, वे समदर्शी हैं, उनका कोई शत्रु-मित्र नहीं है अथवा सम-विषम, अन्तर-बाह्य सब ओरकी समान रूपसे देखनेवाले हैं। वे क्या मेरे हृदयगत प्रेमको नहीं जानते? क्या तू जानती है कि वे बिना सब कुछ जाने ही यहाँ आये हैं। तू भीरु है अतएव तू नहीं समझ सकती कि वे मेरा वही मनोरथ पूर्ण करने आये हैं जिसे मैंने हृदयके गुप्ततम स्थलमें छिपा रक्खा है। वे मेरे प्रिय—प्यारे हैं। बालि ताराको लोकदृष्टि-से समझाता हुआ कहता है—क्या तू मेरे बलको नहीं जानती? मैं सम्मुख पड़नेपर दूसरेका आधा बल खींच लेता हूँ अतएव यह सम्भव ही नहीं कि कोई मुझे मार सके परन्तु यदि उन्होंने मुझे मार भी दिया तो मैं समझूँगा कि आज सेरको सवासेर मिला। सचमुच मैं सनाथ हो जाऊँगा (मुझ उद्धत पशुके भी ... जायगी) किन्तु अपने ... हुए कहता है कि

निरपराध वालिका वध किया । अतएव इस समय स्पष्ट कह डालो, जिससे तुम, मेरे स्वामी संसारकी दृष्टिके सामने निष्कलङ्क हो सको, साफ-साफ बतला दो—मैं वैरी क्यों, सुग्रीव प्यारा क्यों ?

भगवान् उत्तर देते हैं—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई ॥

अर्थात् संसारका वह मनुष्य वध्य है जो ऐसे नीच कर्म करता है । यदि भगवान् इस समय यह कहते कि तूने ऐसे कर्म किये अतएव तुझे मैंने मारा तो समझा जाता कि वालिका पूर्वोक्त प्रश्न वैयक्तिक था परन्तु उत्तर उक्त शङ्काका सहज ही निराकरण करता है ।

अब भगवान् 'मैं वैरी' का उत्तर देते हैं कि तुझे मैं अपना वैरी कब समझता हूँ । मैंने तो लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये अपने भक्तकी रक्षा की है । संसार जान गया कि सुग्रीव रामका मित्र है । तू उसे मारना चाहता था । वह निर्बल निरभिमान प्रसिद्ध है, तू उसके विपरीत है अतएव मैने तुझे मारा । मानो उन्होंने वाणीरूप दूसरे बाणसे उसके हृदयके अभिमानरूप दूसरे कपाटको भी खोल दिया । अब बालि वह बालि है जिसके सामने बड़े-बड़े भक्त निछावर हैं, वह कहता है—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि ।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ॥

मेरे रामजी ! सुनो । मैंने चतुराई की । अबतक अपने प्रेमशुकको हृदय-पिंजरमें छिपा रक्खा था परन्तु अब न चल सकी । वह अकस्मात् छूट निकला । हे प्रभो ! क्या अब भी मैं पापी हूँ । (अपनी दृष्टिमें तो मैं कभी पापी न था परन्तु लोकदृष्टिमें) जब कि अन्त-कालमें मेरे सामने आप स्वयं उपस्थित हैं । क्या किसी पापीके भी अन्तकालमें आप उपस्थित होते हैं ? क्या अब आपको मेरे चलनकी चातुरीने वशमें नहीं कर लिया ? क्या मेरे हृदयके तालोंमें आपको खुद चले आनेके लिये मजबूर नहीं कर दिया ?

रामकी कृपा देखिये । राम बालिके सिरपर हाथ रखते हैं, सुग्रीवके केवल अङ्गपर, परन्तु बालिके उत्तमाङ्गपर रामके करकमलका स्पर्श होता है । वे उससे कहते हैं कि 'तुम्हारे शरीरको मैं अचल कर दूँगा, तुम अपने प्राण रक्खो 'अचल करौं तनु राखहु प्राना ।' परन्तु कोप-वाणीके द्वारा अभिमानसे बंद गुप्त प्रेमका खुला हुआ द्वार पुनः कृपाविगलित वचनोंका आश्रय पाकर बंद हो जाता है मानो उसका आत्माभिमान पुनः जाग्रत् हो गया । मोहसे नहीं, प्रेमसे ।

अब रामकी भी कृपा चाहनेवाला बालि कहता है—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥
जासु नाम बल संकर कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी ॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा । बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ॥

सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं ।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं ॥
मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखु सरीरही ।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही ॥
अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ ।
जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ ॥
यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ ॥

अर्थात् हे नाथ ! तुम्हारे नाम-बलसे काशीपति शङ्कर पापी पुण्यात्मा सभी काशीवासियोंको समगति देते हैं, वे तुम मेरे (पापी अथवा भक्त जो कुछ जानिये—उसके) सम्मुख हो, जिसके लिये जन्म-जन्मान्तर यम-नियमरत मुनि यत्न करते हैं परन्तु अन्त समयमें उसका नाम मुखसे नहीं निकलता, वही मेरे प्रत्यक्षानुभवका विषय हो रहा है । वेद जिसे 'नेति' कहते हैं, मुनि पञ्चप्राण इन्द्रिय मन आदिको तद्विषयक रसानुभवसे रहित करके ध्यानमें कभी ही स्थिर कर पाते हैं—वही मेरी आँखोंके सामने है ।

[illegible]! [illegible] मुझे [illegible] यह
स्थिर करके कि [illegible] दूसरे शरीरमें देह
[illegible] होता है) शरीरके [illegible] अनुरूप [illegible] है
परन्तु [illegible] कोई देह भी [illegible] होता है [illegible]
[illegible]) [illegible]
नश्वर शरीरकी [illegible]), वधूको सीखनेकी चाह
ता है!

भगवन्! इस विषयमें तो कृपा कीजिये। मुझे
स शरीरकी चाह नहीं है परन्तु ऐसी कृपा कीजिये
और मुझे अभीष्ट वरदान दीजिये मैं आपसे मुक्ति
नहीं चाहता क्योंकि ऐसी याचना करनेपर शायद
आपका श्रुति-मार्ग भग्न हो जायगा। मैंने जैसे भी कर्म
किये हों (आप समदर्शी हैं सब जानते हैं), उन
कर्मोंके अनुसार मुझे जिस योनिमें जन्म लेना पड़े
उसी योनिमें आपहीके चरणोंमें मेरा प्रेम लगा रहे।

परन्तु मैं प्रभुकी शरीरसम्बन्धी कृपाका भी अनादर
नहीं करता। यह पुत्र मेरे समान विनय और बलमें
है (मानो मैं बलका उपमान हूँ, विनयमें भी मेरी उपमा
दी जा सकती है) अथवा आपको इस समय बलशाली
विनीत सेवकोंकी आवश्यकता है इसीलिये

अपना-सा एक सेवक सौंपता हूँ अथवा
इसके मान मेरे 'आत्मा वै जायते
अंगदकी रक्षा करना क्योंकि इसको भी
रहेगी जैसे आगे चलकर अंगदने कहा है
निहोर न ओही' आदि) हे देव!
इसे अपना दास बनाइये।'

बस! रामके 'उत्तर' अथवा 'तथास्तु' की
[illegible]ता नहीं। स्थिर विश्वासी भक्तकी भाँति मानो
ज्ञात था कि उसकी प्रार्थना भगवान्ने स्वीकार कर ली
अथवा भक्तके लिये भगवान्का कोई रहस्य अप्रकट नहीं
है अतएव उसे 'तथास्तु' सुननेकी आवश्यकता ही नहीं
थी।

बालिने राम-चरणमें दृढ़ प्रीति करके—अन्तिम
समयमें भी अपने बल, त्याग, सहनशक्ति और निर्मोह-
का उदाहरण देकर इस प्रकार सहज ही शरीर छोड़
दिया जैसे हाथीके गलेमें पड़ी हुई माला गिरनेपर वह
जान भी नहीं पाता।

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

बोलो भक्त और भगवान्की जय!

उत्कण्ठा

(गीत)

(रचयिता—पं० श्रीगार्गीदत्तजी मिश्र)

मैं तो कृष्णसे मिलने जाऊँगी।
भानु-भेद चल भव्य भवनमें,
प्रियतम कंठ लगाऊँगी॥

[illegible]र अन्तरकी विरह व्यथाकी,
किसको कथा सुनाऊँगी?॥
चलूँ चलूँ अब चैन न पड़ती,
नयन नेहकी नदी उमड़ती।
प्राण पंछियोंपर चढ़ करके,
मोहन-वन उड़ जाऊँगी॥
यमके डरसे नहीं डरूँगी,
वज्रपातसे भय न करूँगी।
रोक सकेगा कौन जाल अब,
काट चुकी हूँ कर्म-काल सब।
'गार्गीदत्त' सदाको सुग धन,
स्याम-चरण लिपटाऊँगी॥

निरपराध बालिका वध किया । अतएव इस समय स्पष्ट कह डालो, जिससे तुम, मेरे स्वामी संसारकी दृष्टिके सामने निष्कलङ्क हो सको, साफ-साफ बतला दो—मैं वैरी क्यों, सुग्रीव प्यारा क्यों ?

भगवान् उत्तर देते हैं—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधें कछु पाप न होई ॥

अर्थात् संसारका वह मनुष्य वध्य है जो ऐसे नीच कर्म करता है । यदि भगवान् इस समय यह कहते कि तूने ऐसे कर्म किये अतएव तुझे मैंने मारा तो समझा जाता कि बालिका पूर्वोक्त प्रश्न वैयक्तिक था परन्तु उत्तर उक्त शङ्काका सहज ही निराकरण करता है ।

अब भगवान् 'मैं वैरी' का उत्तर देते हैं कि तुझे मैं अपना वैरी कब समझता हूँ । मैंने तो लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये अपने भक्तकी रक्षा की है । संसार जान गया कि सुग्रीव रामका मित्र है । तू उसे मारना चाहता था । वह निर्बल निरभिमान प्रसिद्ध है, तू उसके विपरीत है अतएव मैंने तुझे मारा । मानो उन्होंने वाणीरूप दूसरे बाणसे उसके हृदयके अभिमानरूप दूसरे कपाटको भी खोल दिया । अब वालि वह वालि है जिसके सामने बड़े-बड़े भक्त निछावर हैं, वह कहता है—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि ।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ॥

मेरे रामजी ! सुनो । मैंने चतुराई की । अबतक अपने प्रेमशुकको हृदय-पिंजरमें छिपा रक्खा था परन्तु अब न चल सकी । वह अकस्मात् छूट निकला । हे प्रभो ! क्या अब भी मैं पापी हूँ । (अपनी दृष्टिमें तो मैं कभी पापी न था परन्तु लोकदृष्टिमें) जब कि अन्त-कालमें मेरे सामने आप स्वयं उपस्थित हैं । क्या किसी पापीके भी अन्तकालमें आप उपस्थित
अब आपको मेरे चलनकी चातुरीने

लिया ? क्या मेरे हृदयके ना[illegible]
आनेके लिये मजबूर नहीं क[illegible]

रामकी कृपा देखिये । [illegible]
रखते हैं, सुग्रीवके [illegible]
उत्तमाङ्गपर रामके [illegible]
उससे कहते हैं कि [illegible]
तुम अपने प्राण रक्खो [illegible]
परन्तु कोप-वाणीके द्वारा
खुला हुआ द्वार पुनः
पाकर बंद हो जा[illegible]
पुनः जाग्रत् हो [illegible]

अब रामकी [illegible]

जन्म जन्म मुनि [illegible]
जासु नाम [illegible]
मम लोचन गो[illegible]
सो नयन [illegible]
जिति [illegible]
मोहि [illegible]
अस [illegible]
अब [illegible]
जेहि
यह [illegible]
गहि

[illegible]

शङ्कर [illegible]
देते हैं, [illegible]
जानिये—
जन्मान्तर [illegible]
समयमें उस[illegible]
प्रत्यक्षानुभव [illegible]
करते हैं मनि[illegible]

इस कालमें भक्तके भगवान् श्रीकृष्ण ही सबसे अधिक निपुण समझे जाते हैं। कहते हैं, उन्होंने ही इस वादक-यन्त्रका पहले-पहल आविष्कार किया और गोपिकाओंके सम्मुख उसका प्रदर्शन किया। उनके नामके साथ ही इसका भी नाम लिया जाता है और वंशीधर, मुरलीवाले आदि तो उनके उपनाम हैं भी। वास्तवमें उनको पाकर ही मुरली अधिक प्रशंसित हुई है। उनके वंशी-नादका कैसा व्यापक प्रभाव था, इसका विशद वर्णन हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ भक्त महाकवि सूरदासने अपनी अनूठी पुस्तक 'सूरसागर' में किया है। वास्तवमें श्रीकृष्ण सौन्दर्यके मूर्तिमान् अवतार थे। उनमें रसिकता कूट-कूटकर भरी थी। वे रसराज थे, रसरूप ही थे। उनके सौन्दर्य और रसिकताको लेकर भाषा-भंडार काफी समृद्ध हुआ है। उनके इन गुणोंके प्रशंसास्वरूप अबतक लाखों छन्द रचे जा चुके हैं, जो अपनी ललिततामें दुनियाकी किसी भी भाषाके पदके समकक्ष बैठ सकते हैं। जब मुरली उनके अधरसे स्पर्श करती थी तो उनकी रमणीयता चरम सीमाको पहुँच जाती थी। उस समय उनकी आकृति और भावभंगी देखने ही लायक हो जाती थी। देखिये सूरदासके शब्दोंमें—

जब जब मुरलीके मुख लागत।
तब स्याम कमलदललोचन नख-सिख ते रस पागत॥
न कहत रहत टेढे होइ बाँह अलिंगन मानत।
भृकुटि अधर-बिंब नासापुट सूधो चितवन त्यागत॥

❀ ❀ ❀

लटकत मुकुट भौंह छबि मटकत नैनसैन अति राजत।
ग्रीव नवाइ अटकि बंसीपर कोटि मदन छबि लाजत॥
लोल कपोल झलक कुंडलकी यह उपमा कछु लागत।
मानहु मकर सुधा-रस क्रीडत आप-आप अनुरागत॥

● ● ●

चपल नयन भृकुटी नासापुट सुनि सुंदर मुख बैन।
मानहु नृत्यत भाव दिखावत रति लिए नायक मैन॥
चमकत मोर चंद्रिका माथे कुंचित अलक सुभाल।
मानहु कमल-कोश रस चाखत उड़ि आए अलिमाल॥
कुंडल लोल कपोलन झलकत ऐसी शोभा देत।
मानहु सुधा-सिंधुमें क्रीडत मकर पानके हेत॥

यमुना-तटपर या वृन्दावनकी सघन छायामें अथवा गली-कूचेमें कहीं भी मनमोहन श्यामकी वंशी बजती है और व्रजवनिताएँ एक साथ ही उद्विग्न हो उठती हैं—

मुरली सुनत भईं सब बौरी।

❀ ❀ ❀

कोउ धरणी कोउ गगन निहारे। कोऊ करतें बासन डारे॥
गृह गुरुजन तिनहूँ सुधि नाहीं। कोउ कतहूँ कोउ कतहूँ जाहीं॥
कोउ मन-ही-मन बुद्धि बिचारे। कोउ बालक नहिं गोद सँभारे॥

वंशीकी सुरीली आवाज उनके कर्ण-कुहरोंमें पड़ी नहीं कि उनकी स्थिरता सदाके लिये कहीं कूच कर गयी—

तब लगि सबै समान रही।
जब लगि श्रवण-रंध्र मग मिलिकै नाहीं दृहै कही॥
तब लगि तरुनि तरल चंचलता बुधिबल सकुचि रही।
सूरदास जबलगि वह ध्वनि सुनि नाहिन बनत कही॥

उन युवतियोंको क्या गम—लाज भी कैसी! उनपर तो उस गोपाल-बाल श्रीकृष्णकी जादूभरी मुरलीने बेतरह असर कर डाला है, वे करतीं तो क्या। उनके मन क्या उनके वशमें थे!

मुरली अधर बजाई स्याम।
मन हरि लियो, भवन नहिं भावै, ब्याकुल ब्रजकी बाम॥
भोजन-भूषनकी सुधि नाहीं, तनुकी नाहिं सँभार।
गृह गुरु लाज सूत ज्यों तोरी डरी नहीं ब्यवहार॥

❀ ❀ ❀

मनो चित्रकी-सी लिखि काढ़ी सुधि नाहीं मन वाको।
लोकलाज कुलकानि भुलानी लुब्धी स्याम सुंदरको॥
कोउ रिसाय कोउ कहै आप कछु, डरी न काहू डरको।

श्रीकृष्णने वंशी बजायी। दिशाओंको चीरती हुई उसकी आवाज सर्वत्र गूँज उठी। एक सखी दूसरीसे कहती है कि चलो, देर न करो; सब सखियाँ कबकी चली गयीं, अकेली हम ही बच रही हैं। नाद-माधुरीने सृष्टि-व्यापारकी गतिमें विचित्र तरहकी मंदता और तल्लीनता भर दी है—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रज बनिता मिलि धाई॥
जमुना नीर प्रवाह थकित भयो पवन रह्यो मुरझाई।
खग मृग मीन अधीन भए सब अपनी गति बिसराई॥
द्रुमवल्ली अनुराग पुलक तनु शशि थक्यो निशि न घटाई।
सूरश्याम वृन्दावन विहरत चलहु सखी सुधि पाई॥

श्रीकृष्णकी वंशी भी क्या बला है! उसने गजबका राग फूँका है। सारा व्रजमण्डल उससे प्रभावित है। गोकुलकी ललनाओंमें उससे ईर्ष्या पैदा हो गयी है। इसे ईर्ष्या कहें या प्रेमानुकरण? देखिये, वृषभानुनन्दिनीजी कहती हैं—

बिहारीलाल मुरली नेक बजाऊँ।
जो जिय होत प्रीत कहिबे की सो धरि अधर सुनाऊँ॥
जैसी तान तुम्हारे मुखकी तैसिय मधुर उपाऊँ।
जैसे फिरत रंध्रमग अंगुरि तैसे मैंहु फिराऊँ॥
जैसे आपु अधर धरि फूँकत मैं अधरनि पसराऊँ।
हाहा करति पाय हौं लागति बाँस बँसुरिया पाऊँ॥

मुझे वंशी दे दीजिये बनवारी! मैं आपसे कम शिफतसे न बजाऊँगी।

तहँ लगि गान सुनाऊँ मोहन जहँ लगि तान सुरन मैं पाऊँ।
सुरन विमान थकित करि राखौं कालिंदी थिर नीर बहाऊँ॥

जरा तो मानो। कुछ मुझे भी नाम कमाने दो—

बेणी शीश फूल पहिरो हरि मैं सिर मुकुट बनाऊँ।
तुम वृषभानु सुता ह्वै बैठो मैं नंदलाल कहाऊँ॥

देखो तो तुमने क्या-क्या रंग ढहाया है। बड़े-बड़े दिग्गज, शूरवीर, मुनि-महात्मा, गुणी-गन्धर्व—सभी एक साथ ही भूल पड़े हैं तुम्हारी मुरली-माधुरीपर। मुझे भी यदि वह सौभाग्य प्राप्त होता!

धरणि जीव जल थलके मोहे नभ मंडल सुर थाके।
तृण द्रुम सलिल पवन गति भूले श्रवण शब्द पर्‍यो जाके॥
बच्यो नहीं पाताल रसातल कितकि उदै लौं भान।
नारद शारद शिव यह मारुत कछु तन रह्यो न ध्यान॥
यह अपार रस रास उपाए सुन्यो न देख्यो नैन।
नारायण ध्वनि सुनि ललचाने श्याम अधर सुनि बैन॥

इतनी अदना-सी चीज और यह करामात!

मुरली तो यह आदि बाँसकी।
बाजत स्वास परत नहिं जानति भई रहति पिय पासकी।
चेतनको चित हरति अचेतनि भूखी डोलत भासकी।
सूरदास सब ब्रजबासिन कौं लिए रहति हौ गासकी॥

तुम्हारी वंशीने तो यह घोर संग्राम जीता है। सारे ब्रह्माण्डमें अब उसके लिये बच ही क्या रहा! उसका विजय-केतु आज सर्वत्र फहरा रहा है—

जीती-जीती है रन बंसी।
मधुकर सूत बदत बंदी पिक मागध मदन प्रसंसी॥
मथ्यो मान बलदर्प महीपति जुवति जूथ गहि आने।
ध्वनिको खंड ब्रह्मांड भेद करि सुर सम्मुख सर ताने॥
खग मृग मीन कुमार किए सब जड़-जंगम जित येथ।
छाजत छत मद मोह कवच कटि तजत न नैन निमेष॥

अन्तमें यही स्वीकार करना पड़ता है कि—

यह निर्मोल, मोल नहिं याको, भली न याते कोई॥
सूरदास याको पटतरको तो दीजै जो होई॥

एक भक्तके उद्गार

(अनुवादक—श्रीयुत मुरलीधरजी श्रीवास्तव्य)

(१)

प्राचीन महात्मा

१—उन प्राचीनकालीन महात्माओंके दिव्य जीवनपर विचार करो, जिनमें सच्ची पूर्णता और धार्मिकता चमकती थी।

हाय ! उनके जीवनकी तुलनामें हमारा जीवन कैसा क्षुद्र है !

२—वे इस भोगमय सांसारिक जीवनसे घृणा करते थे ताकि अनन्त जीवन प्राप्त कर सकें।

अहा ! वे महात्मागण जङ्गलोंमें कितना कठोर और गपूर्ण जीवन बिताते थे ! कैसे बड़े और दुःखद लोभन उन्हें सहने पड़े। कितनी ही बार वे शत्रुओं-द्वारा पीड़ित हुए। वे निरन्तर प्रभुकी प्रार्थनाएँ करते रहे। कैसे-कैसे कठोर त्याग उन्होंने किये। आत्मोन्नतिकी सिद्धिमें वे कैसा उत्साह और सावधानी रखते थे। वासनापर विजय पानेके लिये उन्हें कैसे भयङ्कर युद्ध करने पड़े ! प्रभुके प्रति उनकी भावनाएँ कितनी सच्ची और पवित्र थीं !

वे दिनमें परिश्रम और रातमें उपासना करते। परिश्रमके समय मानसी पूजा करते रहते थे।

३—वे सारा समय लाभके साथ बिताते थे। प्रभु-सेवाके लिये हरेक घड़ी अल्प जान पड़ती थी। ध्यानमें प्राप्त महान् माधुर्यके कारण वे शारीरिक रोंकी आवश्यकताको भूल गये थे।

उन्होंने धन, मर्यादा, गौरव, मित्र, सम्बन्धी सबका परित्याग कर दिया। वे संसारकी किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं करते थे। जीवन-निर्वाहके लिये जरूरी चीजोंका व्यवहार भी बहुत कम करते थे। [illegible] पड़नेपर भी शरीर-सेवामें उन्हें कष्ट मालूम होता था।

बाहर वे आवश्यक वस्तुओंसे रहित थे, परन्तु भीतर ईश्वरानुग्रह और दिव्य सन्तोषसे प्रफुल्लित रहते थे।

४—वे दुनियाके लिये अजनबी, पर प्रभुके समीपी अन्तरङ्ग मित्र थे।

वे निज दृष्टिमें नगण्य और प्रस्तुत संसारके आगे निन्दनीय थे, किन्तु प्रभुकी दृष्टिमें प्रिय एवं बहुमूल्य थे।

सच्ची नम्रता उनका आधार थी; सरल आज्ञापालन जीवन था तथा वे प्रेम और धैर्यके बीच चलते थे। अतः वे प्रतिदिन आत्मोन्नति करते और प्रभुकी दृष्टिमें महान् कल्याण प्राप्त करते थे।

वे सब धार्मिकोंके लिये आदर्श थे। आत्म-कल्याण-की ओर बढ़नेमें वे हमें विशेष प्रेरणा दें और हम तुच्छ मानवोंद्वारा कुमार्गमें प्रवृत्त न हो सकें।

५—अहा ! प्राचीन कालमें उन धार्मिकोंका कैसा उत्साह था !

प्रार्थनामें कैसी लगन थी ! एक-दूसरेसे धर्ममें बढ़नेकी कैसी महत्त्वाकांक्षा थी। उस समय कैसा कठोर संयम प्रचलित था। अपनेसे बड़े महात्माओंके शासनमें रहकर वे कितनी श्रद्धासे आज्ञापालन करते थे।

अब वही बड़ा समझा जाता है जो पाप नहीं करता, और हमारे लिये कामको धीरजके साथ निबाह सकता है।

आह ! हम लोगोंकी तुच्छता और उदासीनता — हम धर्मसे इतना शीघ्र गिर जाते हैं।

भगवान् करें तुम्हारे हृदयकी धार्मिक पूर्णता सुप्त न हो जाय, जिसके [illegible] महात्माओं और सन्तोंके उदाहरण देते हैं।

श्रीकृष्णने वंशी बजायी। दिशाओंको चीरती हुई उसकी आवाज सर्वत्र गूँज उठी। एक सखी दूसरीसे कहती है कि चलो, देर न करो; सब सखियाँ कबकी चली गयीं, अकेली हम ही बच रही हैं। नाद-माधुरीने सृष्टि-व्यापारकी गतिमें विचित्र तरहकी मंदता और तल्लीनता भर दी है—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रज बनिता मिलि धाई॥
जमुना नीर प्रवाह थकित भयो पवन रह्यो मुरझाई।
खग मृग मीन अधीन भए सब अपनी गति बिसराई॥
द्रुमबेली अनुराग पुलक तनु शशि थक्यो निशि न घटाई।
सूरश्याम वृन्दावन विहरत चलहु सखी सुधि पाई॥

श्रीकृष्णकी वंशी भी क्या बला है! उसने गजबका राग फूँका है। सारा व्रजमण्डल उससे प्रभावित है। गोकुलकी ललनाओंमें उससे ईर्ष्या पैदा हो गयी है। इसे ईर्ष्या कहें या प्रेमानुकरण? देखिये, वृषभानुनन्दिनीजी कहती हैं—

बिहारीलाल मुरली नेकु बजाऊँ।
जो प्रिय होत प्रीत कहिबे की सो धरि अधर सुनाऊँ॥
जैसी तान तुम्हारे मुखकी तैसिय मधुर उपाऊँ।
जैसे फिरत रंध्रमग अंगुरि तैसे मैंहु फिराऊँ॥
जैसे भरु अधर धरि फूँकत मैं अधरनि पसराऊँ।
हाहा करति पाय हौं लागति बाँस बँसुरिया पाऊँ॥

मुझे वंशी दे दीजिये बनवारी! मैं आपसे कम सिखलाये न बजाऊँगी।

जहँ लगि तान सुनाऊँ मोहन जहँ लगि तान सुरन मैं पाऊँ।
सुरन बिमान थकित करि राखौं कालिंदी थिर नीर बहाऊँ॥

जरा तो रुकिये। कुछ मुझे भी नाम कमाने दो—

वेणी शीश फूल पहिरो हरि मैं सिर मुकुट बनाऊँ।
तुम वृषभानु सुता ह्वै बैठो मैं नंदलाल कहाऊँ॥

देखो तो तुमने क्या-क्या रंग ढहाया है। बड़े-बड़े दिग्गज, शूरवीर, मुनि-महात्मा, गुणी-गन्धर्व—सभी एक साथ ही भूल पड़े हैं तुम्हारी मुरली-माधुरीपर। मुझे भी यदि वह सौभाग्य प्राप्त होता!

धरणि जीव जल थलके मोहे नभ मंडल सुर थाके।
तृण द्रुम सलिल पवन गति भूले श्रवण शब्द पर्यो जाके॥
बच्यो नहीं पाताल रसातल कितकि उदै लौं भान।
नारद शारद शिव यह भाखत कछु तन रह्यो न ध्यान।
यह अपार रस रास उपाए सुन्यो न देख्यो नैन।
नारायण ध्वनि सुनि ललचाने श्याम अधर सुनि बैन॥

इतनी अदना-सी चीज और यह करामात!

मुरली तो यह आदि बाँसकी।
बाजत स्वास परत नहिं जानति भई रहति पिय पासकी।
चेतनको चित हरति अचेतनि भूली डोलत आसकी।
सूरदास सब ब्रजबासिन कों लिए रहति है गासकी॥

तुम्हारी वंशीने तो यह घोर संग्राम जीता है। सारे ब्रह्माण्डमें अब उसके लिये बच ही क्या रहा! उसका विजय-केतु आज सर्वत्र फहरा रहा है—

जीती-जीती है रन बंसी।
मधुकर सूत बदत बंदी पिक मागध मदन प्रसंसी॥
मथ्यो मान बल दर्प महीपति जुवति जूथ गहि आने।
ध्वनि कोदंड ब्रह्मांड भेद करि सुर सन्मुख सर ताने॥
खग मृग मीन कुमार किए सब जड़-जंगम जित जेते।
छाजत छत्र मद मोद कवच कटि तजत न नैन निमेष॥

अन्तमें यही स्वीकार करना पड़ता है कि—
सद निर्मोल, मोल नहिं वाको, भली न काहे कोई॥
सूरदास [illegible] बजाओ तो [illegible] सो होई॥

विशेष तत्पर होनेके कारण साधारण अभ्यासोंकी उपेक्षा न करो। पर जिन कर्मोंको करनेका तुम्हें आदेश है या जिन्हें करनेके लिये तुम बाध्य हो उन्हें पूर्णतः सचाईसे पूरा करनेपर अगर तुम्हें फालतू समय मिले तो अपनी भक्तिके अनुकूल कार्यमें लगो।

सब लोग एक ही प्रकारकी साधना नहीं कर सकते। किसीको एक विशेष लाभप्रद हो सकती है, तो दूसरेको दूसरी।

समयकी स्थितिके अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकारकी साधनाएँ उपयोगी हो सकती हैं। कुछ कामके दिनोंके लिये ज्यादा उपयुक्त हैं तो कुछ छुट्टीके दिनोंके लिये।

कुछकी जरूरत प्रलोभनके समय होती है और कुछकी शान्तिके समय।

कुछपर हम हृदयकी क्षुब्ध अवस्थामें और कुछ प्रभुकी आनन्द-सिद्धिके समय ध्यान देते हैं।

६—मुख्य पर्वोंपर साधनाओंको फिर आरम्भ करना चाहिये तथा भक्तोंकी प्रार्थनाओंको अधिक श्रद्धासहित स्मरण करना चाहिये।

एक पर्वसे दूसरे पर्वतक हमें अपना सदुद्देश्य निश्चित कर लेना चाहिये, मानो हमें दुनियासे कूच कर स्वर्गके शाश्वत पर्वमें सम्मिलित होना हो।

अतः पुण्यपर्वमें हमें सावधानीसे अपनेको तैयार रखना चाहिये, भक्तिपूर्ण जीवन बिताना और सब वस्तुओंको ध्यानसे निरीक्षण करना चाहिये, मानो हमें शीघ्र ही भगवान्‌के हाथों अपने परिश्रमका पुरस्कार पाना हो।

'प्रभुका वह सेवक धन्य है, जिसे प्रभु ऐसा आचरण करते हुए पायेंगे। मैं यथार्थ कहता हूँ कि प्रभु अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्योंका शासक उसे बना देंगे।'

(३)

झूठा अहङ्कार

१—सभी स्वभावतः ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, पर बिना धर्मभीरु बने ज्ञानप्राप्तिसे क्या लाभ ?

एक मामूली किसान जो प्रभुका दास है, उस अहङ्कारी दार्शनिकसे बेहतर है जो आकाशका रहस्य समझनेका परिश्रम करता है।

अपनेको भलीभाँति जाननेवाला अपनेको तुच्छ समझता और दूसरोंकी प्रशंसामें आनन्द नहीं मानता।

यदि हम दुनियाकी सब चीजोंका ज्ञान प्राप्त कर लें पर उदार न हों तो प्रभुके आगे हमें क्या मदद मिलेगी, जो हमारे कार्योंपर विचार कर निर्णय करता है।

२—अधिक ज्ञानप्राप्तिकी कामनासे अपनेको बचाओ, चूँकि उसमें धोखा और भ्रान्ति है।

ऐसी बहुतेरी चीजें हैं, जिनके ज्ञानसे आत्माका तनिक कल्याण नहीं होता।

वह बड़ा मूढ़ है, जो मुक्तिकी साधक वस्तुओंके अतिरिक्त दूसरी वस्तुओंकी कामना करता है।

अधिक शब्द आत्माको सन्तोष नहीं देते। पर सात्त्विक जीवनसे मनको शान्ति और प्रभुके सम्मुख शुद्ध अन्तःकरणके कारण बड़ा अवलम्ब मिलता है।

३—जितना ज्यादा तुम जानते हो और जितना ज्यादा तुम्हारा ज्ञान है, यदि तुम्हारा जीवन भी उतना ही पवित्र नहीं है तो तुम्हारा निर्णय उतनी ही कठोरता-से होगा।

किसी कला या विज्ञानका ज्ञान प्राप्त कर अपनेको गौरववान् न मानो, वरं अपनेको अधिक सावधान और विनयी बनाओ।

यदि तुम सोचते हो कि तुम्हारा ज्ञान या बुद्धि अधिक है तो यह भी जान लो कि ऐसी बहुतेरी चीजें हैं, जिन्हें तुम नहीं जानते।

अपनेको अधिक बुद्धिमान् मत जनाओ, वरं अपना अज्ञान स्वीकार कर लो।

अपनेको दूसरोंसे बढ़कर क्यों मानते हो, अनेकों तुमसे अधिक विद्वान् और पण्डित हैं।

(२)

सदाचारी और संतोंकी साधना

१—सत्पुरुषका जीवन सद्गुणमण्डित होना चाहिये, ताकि जैसा वह बाहरसे प्रतीत होता है वैसा ही भीतरसे भी बन सके।

जितना बाहरसे दीखता है, उससे अधिक अन्तरमें होना चाहिये। हम कहीं भी रहें, ईश्वर हमें देखता रहता है। उसीकी उपासना करना और देवदूतोंके समान पवित्र जीवन बिताना उचित है।

नित्य हमें अपना ध्येय यों पुष्ट करना चाहिये, धर्मरुचिसे संलग्न होना चाहिये, मानो सात्त्विक जीवनमें प्रवेशका पहला दिन हो। तथा हमें यों प्रार्थना करनी चाहिये—

प्रभो! इस पवित्र ध्येय और अपनी सेवामें बढ़नेमें मेरी मदद करो। मेरा दिन आजसे पूर्णताके साथ आरम्भ हो। आजतक जो कुछ मैंने किया, वह नगण्य है।

२—हमारे ध्येयके अनुसार ही आत्म-कल्याणमें हमारी सफलता होगी। जो ज्यादा लाभ चाहता है, उसे ज्यादा परिश्रम करना होगा।

जब दृढ़ संकल्प भी प्रायः असफल होता है, तब उसकी क्या दशा होगी जो शायद ही कोई काम दृढ़ निश्चयके साथ करता हो!

अनेक मार्गोंसे हम अपने ध्येयसे विचलित हो सकते हैं। साधनामें जरा छूट होते ही आत्म-कल्याणमें कुछ-न-कुछ हानि हो ही जाती है।

संतोंका ध्येय उनकी बुद्धिपर नहीं, प्रभुके प्रसादपर निर्भर है, जिसपर वे हाथमें लिये हुए सभी कामोंके लिये विश्वास रखते हैं।

मानव योजनाएँ बनाता और ईश्वर उन्हें पूरा करता है। मानवको अपने बनाये मार्गपर भी अधिकार नहीं।

३—यदि कोई आध्यात्मिक साधना किसी मार्मि... लाभ या धर्मकृत्यके पीछे छूट जाय तो वह सि... आसानीसे जारी की जा सकती है।

पर यदि आलसी स्वभाव या असावधानीसे हम उसे तुच्छ समझकर छोड़ दें तो यह प्रभुके प्रति बड़ा अपराध होगा और हमारी हानि करेगा। यथाशक्ति हम चाहे जितना अच्छा करनेकी चेष्टा करें पर अनेक विषयोंमें असफल हो जायँगे।

फिर भी हमें एक निश्चित पथपर चलना चाहिये और विशेषतः उन दोषोंके विरुद्ध चलना चाहिये, जिनसे हम विशेष पीड़ित होते हैं।

४—यदि तुम निरन्तर आत्मचिन्तन नहीं कर सकते तो कभी-कभी किया करो या कम-से-कम दिनमें एक बार प्रातःकाल या रात्रिमें कर लिया करो।

प्रभातमें अपना सदुद्देश्य निश्चित करो। रातमें आत्म-परीक्षा करो कि मैंने मनसा, वाचा, कर्मणा कैसा आचरण किया। चूँकि इन्हीं कामोंसे अकसर तुमने ईश्वर और अपने पड़ोसीको खिन्न किया है।

मोहके नीच हमलोंके विरुद्ध मर्दकी तरह कमर कस कर डट जाओ। उच्छृङ्खल स्वादेन्द्रियपर लगाम कसे रहो, इस प्रकार शरीरकी अदम्य वासनाओंपर विशेष नियन्त्रण रख सकोगे।

कभी भी पूर्णतः आलसी मत बनो, वरं लोक-कल्याणके लिये अध्ययन, लेखन, प्रार्थना, चिन्तन या अभ्यास ही करते रहो।

५—असाधारण साधनाको सर्वसाधारणके बीच नहीं करना चाहिये। विशेष प्रकारकी साधनाएँ परम सुरक्षित रूपसे एकान्तमें होनी चाहिये।

[illegible]

विशेष तत्पर होनेके कारण साधारण अभ्यासोंकी उपेक्षा न करो। पर जिन कर्मोंको करनेका तुम्हें आदेश है या जिन्हें करनेके लिये तुम बाध्य हो उन्हें पूर्णतः सचाईसे पूरा करनेपर अगर तुम्हें फालतू समय मिले तो अपनी भक्तिके अनुकूल कार्यमें लगो।

सब लोग एक ही प्रकारकी साधना नहीं कर सकते। किसीको एक विशेष लाभप्रद हो सकती है, तो दूसरेको दूसरी।

समयकी स्थितिके अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकारकी साधनाएँ उपयोगी हो सकती हैं। कुछ कामके दिनोंके लिये ज्यादा उपयुक्त हैं तो कुछ छुट्टीके दिनोंके लिये।

कुछकी जरूरत प्रलोभनके समय होती है और कुछकी शान्तिके समय।

कुछपर हम हृदयकी क्षुब्ध अवस्थामें और कुछ प्रभुकी आनन्द-सिद्धिके समय ध्यान देते हैं।

६—मुख्य पर्वोंपर साधनाओंको फिर आरम्भ करना चाहिये तथा भक्तोंकी प्रार्थनाओंको अधिक श्रद्धासहित स्मरण करना चाहिये।

एक पर्वसे दूसरे पर्वतक हमें अपना सदुद्देश्य निश्चित कर लेना चाहिये, मानो हमें दुनियासे कूच कर स्वर्गके शाश्वत पर्वमें सम्मिलित होना हो।

अतः पुण्यपर्वमें हमें सावधानीसे अपनेको तैयार रखना चाहिये, भक्तिपूर्ण जीवन बिताना और सब वस्तुओंको ध्यानसे निरीक्षण करना चाहिये, मानो हमें शीघ्र ही भगवान्के हाथों अपने परिश्रमका पुरस्कार पाना हो।

'प्रभुका वह सेवक धन्य है, जिसे [illegible], ऐसा आचरण करते हुए [illegible] प्रभु [illegible]

[illegible]

बिना धर्मभीरु बने ज्ञानप्राप्तिसे क्या लाभ?

एक मामूली किसान जो प्रभुका दास है, उस अहङ्कारी दार्शनिकसे बेहतर है जो आकाशका रहस्य समझनेका परिश्रम करता है।

अपनेको भलीभाँति जाननेवाला अपनेको तुच्छ समझता और दूसरोंकी प्रशंसामें आनन्द नहीं मानता।

यदि हम दुनियाकी सब चीजोंका ज्ञान प्राप्त कर लें पर उदार न हों तो प्रभुके आगे हमें क्या मदद मिलेगी, जो हमारे कार्योंपर विचार कर निर्णय करता है।

२—अधिक ज्ञानप्राप्तिकी कामनासे अपनेको बचाओ, चूँकि उसमें धोखा और भ्रान्ति है।

ऐसी बहुतेरी चीजें हैं, जिनके ज्ञानसे आत्माका तनिक कल्याण नहीं होता।

वह बड़ा मूढ़ है, जो मुक्तिकी साधक वस्तुओंके अतिरिक्त दूसरी वस्तुओंकी कामना करता है।

अधिक शब्द आत्माको सन्तोष नहीं देते। पर सात्विक जीवनसे मनको शान्ति और प्रभुके सम्मुख शुद्ध अन्तःकरणके कारण बड़ा अवलम्ब मिलता है।

३—जितना ज्यादा तुम जानते हो और जितना ज्यादा तुम्हारा ज्ञान है, यदि तुम्हारा जीवन भी उतना ही पवित्र नहीं है तो तुम्हारा निर्णय उतनी ही कठोरतासे होगा।

किसी कला या विज्ञानका ज्ञान प्राप्त कर अपनेको गौरववान् न मानो, वरं अपनेको अधिक सावधान और निरभी बनाओ।

यदि तुम सोचते हो कि तुम्हारा ज्ञान या बुद्धि अधिक है तो यह भी जान लो कि ऐसी बहुतेरी चीजें हैं, जिन्हें तुम नहीं जानते।

अपनेको अधिक बुद्धिमान् मत बनाओ, वरं अपना [illegible] स्वीकार कर लो।

अपनेको [illegible] क्यों मानते हो, [illegible]

[illegible] है।

यदि तुम कोई उपयोगी चीज जानते हो या सीखना चाहते हो तो अज्ञात रहकर मानवद्वारा कम आदर पानेकी इच्छा करो ।

आत्मचिन्तन और आत्मज्ञान ही सर्वोच्च और सर्वाधिक लाभपूर्ण अध्ययन है ।

अपनेको कुछ नहीं समझना और दूसरोंके प्रति अच्छी और ऊँची धारणा रखना, यह बहुत बड़ी बुद्धिमानी और पूर्णता है ।

किसीको खुले रूपसे पाप करते या कोई घृ[illegible] अपराध करते देखकर अपनेको अच्छा नहीं सम[illegible] चाहिये, चूँकि तुम नहीं जानते कि कबतक तुम स्थितिमें रह सकोगे ।

हम सब दुर्बल हैं, पर तुम्हें अपनेसे दुर्बल कि[illegible] दूसरेको नहीं समझना चाहिये ।

प्रज्ञाकी सिद्धिमें वृत्तिकी प्रयोजनशीलता

(लेखक–साधु श्रीप्रज्ञानाथजी)

तत्त्वम्पदस्य शुद्धस्य लक्ष्यभावावगाहिनी ।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ॥

'तत्त्वं' (अर्थात् 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका 'तत् त्वं' अंश) इस शुद्ध पदके लक्ष्यार्थको ग्रहण करनेवाली जो विकल्परहित चिन्मात्रवृत्ति है, उसे 'प्रज्ञा' कहते हैं । यहाँ यह प्रश्न होता है कि वृत्तिकी कल्पना क्यों की जाती है; क्योंकि इस कल्पनासे ज्ञानके एकत्वमें बाधा पड़ती है, और दो प्रकारके ज्ञानको स्वीकार करनेमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि कहो कि 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारके अनुभवसे यह बात सिद्ध होती है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनुभवकी विषयता तो तुम्हारे स्वीकार किये हुए चैतन्यकी भी है, अतः इससे भी ज्ञानकी द्विविधता प्राप्त होगी ही । वृत्तिका काम तो इन्द्रियसन्निकर्षसे भी हो सकता है, क्योंकि जडत्व तो वृत्ति और इन्द्रिय दोनोंमें समान ही है ।

परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अपरोक्ष घटादिका यदि किसी कालमें ज्ञान नहीं हुआ, तो तद्विषयिणी अविद्याकी निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। यदि कहो कि वृत्तिके समान इन्द्रियसम्बन्ध ही ज्ञानके लिये चैतन्यका सहकारी माना जा सकता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्माकी अविद्यानिवृत्तिमें इन्द्रियसम्बन्धका अभाव है । तथा उसमें शब्द भी सहकारी नहीं है, कारण कि वहाँ ज्ञानके साथ शब्दकी उपलब्धि नहीं होती ।

यह भी नहीं कह सकते कि प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के करणके रूपमें वृत्तिके लिये शब्दप्रमाणकी आवश्यकता होती है । इसीसे प्रमाणरूपसे ज्ञानमें शब्दका अनुगम होता है, क्योंकि ज्ञानकी प्राप्तिमें साधारणतः शब्दप्रमाणके समान ही अनुमानादि प्रमाण भी हेतु हैं । अतएव लाघवकी दृष्टिसे यह स्वीकार करना पड़ता है कि अपरोक्ष वृत्ति ही ज्ञान-प्राप्तिका कारण है ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारका अनुभव भी स्वरूप (आत्म) ज्ञानको विषय करता है, क्योंकि अदृश्य चैतन्यको चैतन्यकी विषयता नहीं हो सकती तथा कोई सम्बन्ध न होनेके कारण आप ही अपना विषय होना भी सम्भव नहीं है । अतएव 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारका अनुभव वृत्तिको ही विषय करता है, इस प्रकार इससे वृत्तिकी सिद्धि होती है । इन्द्रियसम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाली यह वृत्ति [illegible] क्रमानुसार विषयदेशमें ही उत्पन्न होती है, और न अन्तःकरणमें ही अन्तःकरणमें ही नहीं रहती, उत्पन्न होकर विलीन होती है ।

वृत्तिके द्वारा ही जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति— इन तीनों अवस्थाओंमें सम्बन्धित होता है। वृत्तिके द्वारा ही पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है और संसारसे मुक्ति मिलती है। इन्द्रियोंके द्वारा जो विषयज्ञान होता है, उसे जाग्रत्-अवस्था कहते हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञानके बिना जाग्रत्-अवस्थाका व्यवहार हो ही नहीं सकता। वह इन्द्रियजन्य ज्ञान भी अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ही है। आवरणके अभिभवके लिये भी वृत्तिको स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार खद्योतके प्रकाशसे अन्धकारका एक अंश ही नष्ट होता है, उसी प्रकार अज्ञानके अंशके नाशको ही अभिभव कहा जाता है।

जीव-चैतन्यके साथ विषयका सम्बन्ध होनेके लिये भी वृत्तिकी आवश्यकता होती है। एकजीववादके अनुसार समष्टि अज्ञानमें चेतनका प्रतिबिम्ब ही जीव है। उसके साथ घट आदिका नित्य सम्बन्ध होते हुए भी इनका प्रकाश नित्य नहीं होता, क्योंकि इसके लिये उनसे विलक्षण किसी सम्बन्धकी आवश्यकता होती है। जीव-चैतन्यके साथ विषयका नित्य सम्बन्ध होते हुए भी विषयका नित्य प्रकाश नहीं होता, बल्कि वृत्तिविशिष्ट जीव-सम्बन्धके द्वारा ही विषय प्रकाशित होता है; क्योंकि प्रकाशका हेतुरूप सम्बन्ध वृत्तिके ही अधीन रहता है और वह सम्बन्ध अभिव्यञ्जक और अभिव्यङ्ग्य (प्रकाशक और प्रकाश्य)-रूप ही होता है। यहाँ *विषय अभिव्यञ्जक और जीव-चैतन्य अभिव्यङ्ग्य है।* जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह अभिव्यञ्जक होता है और जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह अभिव्यङ्ग्य कहलाता है। जिस प्रकार दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब पड़नेपर दर्पण अभिव्यञ्जक और मुख अभिव्यङ्ग्य होता है, उसी प्रकार घटादिमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेवाली *व्यञ्जकता घटादिमें ही है और चैतन्यमें भी प्रतिबिम्बको समर्पण करनेवाली व्यङ्ग्यता है ही।* घटादिमें प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य स्वाभाविक नहीं है, बल्कि अपने आकारमें परिणत हुई वृत्तिके सम्बन्धसे ही होती है। जिस प्रकार दर्पणके सम्बन्धके बिना दीवालमें सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखलायी नहीं देता, बल्कि दर्पणके सम्बन्धसे ही होता है। सूर्यके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी योग्यता दीवाल आदिमें दर्पणके सम्बन्धसे ही आती है। उसी प्रकार जीव-चैतन्यका विषयसे नित्य सम्बन्ध होते हुए भी वृत्तिके सम्बन्धके बिना विषय प्रकाशित नहीं होता। यदि अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्यको ही जीव मानें, तो भी वृत्तिके बिना जीव-चैतन्यके साथ विषयोंका सम्बन्ध न होनेके कारण उनका प्रकाश नहीं हो सकता। इन्द्रियोंके द्वारा अन्तःकरणकी वृत्ति विषय-देशमें जाकर उसके आवरणको हटा देती है। इससे जीव-चैतन्यके साथ विषयगत चैतन्यका एकीभाव होनेसे विषयका प्रकाश होता है। वृत्तिके गये बिना आन्तर जीवके साथ बाह्य घटादिकोंका सम्बन्ध न होनेसे उनका प्रकाश भी नहीं होता। इसलिये भी वृत्तिकी आवश्यकता होती है। सिद्धान्ततः तो 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति स्वीकार की जाती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वह वृत्ति क्या है? उसका प्रयोजन क्या है? और उसका कारण क्या है? वृत्तिका प्रयोजन कहीं अविद्याकी निवृत्ति और कहीं *व्यवहारकी प्राप्ति पहले ही बतला चुके हैं। अब यह* बताते हैं कि अज्ञानसे होनेवाला अन्तःकरणका परिणाम ही वृत्ति है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि वृत्ति निरवयव अन्तःकरणका परिणाम कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि अन्तःकरण निरवयव नहीं है, बल्कि सादि द्रव्य होनेके कारण सावयव है। इसके सादित्वमें श्रुति प्रमाण है—यथा '*तन्मनोऽसृजत*' अर्थात् उसने मनकी सृष्टि की। वृत्तिरूप ज्ञान मनका ही धर्म है। श्रुति भी कहती है—'कामसङ्कल्पो विचिकित्साश्रद्धा-

श्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरिति एतत्सर्वं मन एव' । अर्थात् काम, सङ्कल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मनके ही रूप हैं । 'धी' शब्द वृत्तिरूप ज्ञानका वाचक होनेके कारण कामादि मनके धर्म हैं, ऐसा समझना चाहिये । अब यह प्रश्न होता है कि यदि कामादि अन्तःकरणके धर्म हैं तो 'मैं चाहता हूँ' इस अनुभवमें आत्मधर्मत्वकी अनुभूति कैसे होती है ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार लौह-पिण्डके न जलनेपर भी दाहक अग्निके साथ उसके तादात्म्यका अध्यास होनेसे 'लौहपिण्ड जलता है' इस प्रकारका व्यवहार होता है, उसी प्रकार सुखादि-आकारोंमें परिणत होनेवाले अन्तःकरणके साथ ऐक्यका अध्यास होनेसे आत्माका भी 'मैं सुखी हूँ, मै दुःखी हूँ'—इस प्रकारका व्यवहार होता है। यद्यपि काम-क्रोध-सुखादि भी अन्तःकरणके परिणाम हैं, तथापि इनके द्वारा पदार्थ प्रकाशित नहीं होते । इसलिये इन्हें 'वृत्ति' नामसे नहीं पुकारा जाता ।

अतएव अन्तःकरणके ज्ञानरूप परिणामका नाम ही वृत्ति है । और वह दो प्रकारकी है—प्रमारूप और अप्रमारूप । प्रमाणजन्य ज्ञानको प्रमा कहते हैं और इससे अतिरिक्त ज्ञानको अप्रमा । इनमें प्रमा ज्ञान यथार्थ होता है और अप्रमा ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ भेदसे दो प्रकारका । दोषजन्य ज्ञान अयथार्थ कहलाता है और वह भ्रमरूप होता है, तथा प्रमाणजन्य ज्ञानको यथार्थ कहते हैं । शुक्तिमें रजतज्ञान और चन्द्रमें प्रादेश-परिमाण—ये दोषजन्य अयथार्थ ज्ञानके उदाहरण हैं । दोषके बिना अयथार्थ ज्ञान नहीं होता । जहाँ कुछ भी दोष नहीं होता, वहाँ अविद्यारूप दोष तो रहता ही है। अतः सुख-दुःखादिका प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृतिज्ञान और ईश्वरज्ञान—ये दोषजन्य न होनेके कारण अयथार्थ नहीं हैं तथा प्रमाणजन्य न होनेके कारण प्रमा भी नहीं हैं । अतएव दोनोंसे विलक्षण यथार्थ ज्ञान हैं । क्योंकि व्यवहारदशामें इनका बाध नहीं होता ।

संस्कारजन्य पूर्वानुभूत ज्ञान स्मृतिका कारण होता है तथा यथार्थ अनुभवसे उत्पन्न स्मृति यथार्थ होती है, और भ्रमरूप अनुभवसे उत्पन्न स्मृति अयथार्थ होती है । अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न सुख-दुःखके आकारका अन्तःकरणका परिणाम सुख और दुःखका हेतु होता है । अदृष्टके कारण ही अन्तःकरणकी वृत्ति सुख-दुःखका आकार ग्रहण करती है । वृत्तिमें ही आरूढ होकर साक्षी सुख-दुःखको प्रकाशित करता है । वह वृत्ति प्रमाणजन्य न होनेके कारण प्रमा नहीं है । ईश्वरज्ञान भी मायिक वृत्तिरूप है । वह जीवके अदृष्टवश उत्पन्न होता है, इसलिये प्रमाजन्य नहीं है, और दोषजन्य न होनेके कारण भ्रमरूप भी नहीं है । परन्तु निष्फल प्रवृत्तिका उत्पादक न होनेके कारण यथार्थरूप ही है ।

प्रमाके साधनको प्रमाण कहते हैं । अनधिगत (अप्राप्त) और अबाधित विषयके ज्ञानको प्रमा कहते हैं । किन्तु वह स्मृतिरूप नहीं होना चाहिये । अबाधित विषयज्ञानत्व तो स्मृतिमें भी समान रूपसे है । ये प्रमाण छः प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और उपलब्धि । इसमें प्रत्यक्ष प्रमाके साधनरूप प्रमाणको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । यहाँ प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है । श्रुति भी कहती है ।

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म ।'

अपरोक्ष होनेके कारण जो साक्षात् ब्रह्म है ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि चैतन्य तो अनादि है, वह किस प्रकार चक्षु आदिका उनके फलरूपसे प्रमाण हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि चैतन्य अनादि है तथापि उसकी अभिव्यञ्जक अन्त:-करणवृत्ति इन्द्रियसन्निकर्षसे ही उत्पन्न होती है; अतः वृत्तिविशिष्ट चैतन्य अभिनव कहलाता है । इसका [illegible] परिच्छेद करनेके कारण वृत्तिमें [illegible] होता है ।

अतः पूछते हैं कि प्रत्यक्षका प्रयोजक क्या है? तो इसका उत्तर यह है कि क्या ज्ञानगत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक पूछते हो या विषयगत प्रत्यक्षत्वका? यदि ज्ञानगत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक पूछते हो तो मैं कहूँगा कि चैतन्यका विषयावच्छिन्न चैतन्यके साथ अभेद ही इसका प्रयोजक है। चैतन्य तीन प्रकारका होता है—प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य। अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचैतन्य कहलाता है तथा अन्तःकरणकी वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण-चैतन्य और घटादि विषयोंसे अवच्छिन्न चैतन्य विषय-चैतन्य कहलाता है। जिस प्रकार तड़ागका जल छिद्रोंके द्वारा निकलकर छोटी नालियोंका रूप धारण कर क्यारियोंमें प्रविष्ट होकर उसी प्रकारके आकारको प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस अन्तःकरण चक्षु आदिके द्वारा निकलकर विषयप्रदेशमें जाकर उसीके आकारमें परिणत हो जाता है। इस परिणामको ही वृत्ति कहते हैं।

किन्तु अनुमिति आदिके समय अन्तःकरण वह्नि आदि बाह्य विषयप्रदेशमें नहीं जाता, क्योंकि उस समय वह्नि आदिसे चक्षुका सन्निकर्ष नहीं होता। प्रत्यक्षादिके समय तो—जैसे यह घट है—इसमें घट और तदाकार-वृत्तिके एक बाह्य देशमें स्थित होनेसे इन दोनोंके द्वारा अवच्छिन्न चैतन्यकी एकता हो जाती है। घटाकारवृत्ति घटसे संयोग रखनेवाली है, अतः घट-प्रत्यक्षके समय घटावच्छिन्न चैतन्यका घटाकारवृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यके साथ अभेद होनेके कारण घटांशमें ही घट-ज्ञानका प्रत्यक्ष होता है। सुखादिसे अवच्छिन्न चैतन्य और सुखाकार-वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य नियमसे एक देशमें स्थित दो उपाधियोंसे अवच्छिन्न हैं, इसीसे नियमसे 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकारके ज्ञानका प्रत्यक्ष होता है।

किन्तु इस प्रकार तो सुखादिके स्मरणकी प्रत्यक्षता भी सुखादिके अंशमें ही होगी। परन्तु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि स्मर्यमाण सुख अतीतकालीन होता है और स्मृतिरूप अन्तःकरणकी वृत्ति वर्तमानकालिक होती है, अतः इन दोनों प्रकारकी उपाधियोंका सम्बन्ध भिन्न कालोंमें होनेके कारण इनके द्वारा अवच्छिन्न चैतन्योंमें भेद रहता है, क्योंकि उपाधियोंकी एकदेशीयता होनेपर ही एककालीनता उनके अभेदकी प्रयोजक होती है।

ऐसा होनेपर भी यह नहीं कहना चाहिये कि वर्तमान कालमें भी 'तुम सुखी हो' इत्यादि वाक्यसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें प्रत्यक्षताकी आपत्ति होगी; क्योंकि सुखकी प्रत्यक्षता इष्ट ही है। दस पुरुषोंकी गणना करते समय जब अज्ञानवश मनुष्य केवल नौको ही गिनता है, अपनेको भूल जाता है तो उस समय 'दसवाँ तू है' ऐसा कहनेसे सन्निकृष्ट विषयमें वाक्यके द्वारा भी अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति होती है। 'पर्वत अग्निवाला है' इस स्थलमें, पर्वत-अंश और वह्नि-अंशमें अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें भेद स्वीकार करनेके कारण इन वृत्तियोंके अवच्छेदकोंके भेदसे एक ही चैतन्यवृत्तिमें प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्व दोनोंके रहनेमें कोई विरोध नहीं होता। [इसी प्रकार विभिन्न इन्द्रियोंके योग्य वर्तमान विषयोंसे अवच्छिन्न जो चैतन्यकी अभिन्नता है, वही तदाकार वृत्तियोंसे अवच्छिन्न उन विषयोंमें प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। घटादि विषयोंका प्रत्यक्षत्व तो उनका प्रमातासे अभेद होना ही है।

यहाँ प्रश्न होता है कि घटादि विषयोंका अन्तः-करणसे अवच्छिन्न चैतन्यसे अभेद कैसे हो सकता है, क्योंकि उसका विरोध तो 'मैं इसे देख रहा हूँ' इस भेद-सम्बन्धी अनुभवसे ही सिद्ध होता है? परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि प्रमातासे अभिन्न होनेका अर्थ उनकी एकता नहीं है, बल्कि प्रमाताकी सत्तासे अति-रिक्त सत्तावाला न होना ही है। इस प्रकार घटादिका अपनेसे अवच्छिन्न चैतन्यमें अध्यास होनेके कारण विषय-चैतन्यकी सत्ता ही घटादिकी सत्ता है, क्योंकि

आरोपित पदार्थकी सत्ता अधिष्ठानकी सत्तासे अतिरिक्त स्वीकार नहीं की जा सकती और उपर्युक्त रीतिसे विषयचैतन्य प्रमातृ-चैतन्य ही है । घटादिकी अधिष्ठानता प्रमातृ-चैतन्यकी ही होनेके कारण प्रमातृ-सत्ता ही घटादिसत्ता है, अन्य नहीं; इससे घटादिका अपरोक्षत्व सिद्ध होता है । योग्यताके अभावसे घटके धर्मादिकोंका प्रत्यक्ष इसे नहीं कह सकते ।

यह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकारका होता है—सविकल्पक और निर्विकल्पक । घट-पटादिविशिष्ट ज्ञानको सविकल्पक कहते हैं। संसर्गसे असम्बद्ध ज्ञानको निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं । जैसे, 'यह वही देवदत्त है,' 'वह तू है' (तत्त्वमसि) इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है । यदि शङ्का करो कि यह ज्ञान तो शब्दजनित है, इसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि यह इन्द्रियजन्य नहीं है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि दोषयुक्त होनेके कारण प्रत्यक्षत्वमें इन्द्रियजन्यत्वका कोई सिद्धान्त नहीं है । बल्कि योग्य वर्तमान विषयकता रहते हुए प्रमाणचैतन्यकी विषयचैतन्यके साथ अभिन्नता ही प्रत्यक्षता कहलाती है । इस प्रकार 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्यसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सन्निकृष्ट-वस्तुविषयक होनेसे तथा अन्तःकरणकी बहिर्गामिनी वृत्ति स्वीकार करनेके कारण उसके द्वारा देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यका अभेद होनेसे 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्यसे होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष माना गया है ।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही माना गया है । क्योंकि यहाँ प्रमाता ही विषय है, अतः विषयावच्छिन्न और प्रमात्रवच्छिन्न- दोनों चेतनोंका अभेद है ही । यहाँ प्रश्न हो सक[ता है] कि वाक्यजन्य ज्ञान तो पदार्थके साथ संसर्ग करता है, वह निर्विकल्पक कैसे हो सकता है ? उत्तर यह है कि वाक्यज्ञानकी विषयता रहने[पर] पदार्थके साथ संसर्ग रहनेका कोई नियम नहीं है; [illegible] जिसका संसर्ग अभिमत नहीं है ऐसी वस्तु वाक्यजन्य ज्ञानकी विषय हो सकती है, किन्तु उसकी विषयता तात्पर्य (लक्ष्यार्थ) मात्रमें है [illegible] प्रकृतिस्थलमें तो 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्' [illegible] प्रारम्भ कर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' यहाँतक शुद्ध ब्रह्ममें ही वेदान्त-वाक्योंके तात्पर्यका पर्यवसान होता है, अतः जो इनके तात्पर्यका विषय नहीं है, उस संसर्गका इनसे किस प्रकार बोध हो सकता है । यही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंकी अखण्डार्थता है कि वे संसर्गसे असम्बद्ध यथार्थज्ञानके उत्पादक हैं । यही अखण्डा[र्थता] प्रातिपदिकार्थता और प्रज्ञा नामसे कही जाती है । महावाक्यसे उत्पन्न हुई यह वृत्ति ही पद और वाक्यों-के अर्थमें कुशल संस्कृतचित्तवाले पुरुषोंकी अविद्या तत्काल ही निवारण करके उन्हें परमानन्द प्रदान करती है । किन्तु असंस्कृत अन्तःकरणवाले पुरुषोंको यह कालान्तरमें प्रतिबन्धोंका नाश होनेपर ज्ञानरूप फल प्रदान करती है । इसमें [illegible] सम्पन्न विरक्त ही अधिकारी है—श्रुति भी कहती है—

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।'

अर्थात् [illegible], दुर्गुण, अशान्त और असमाहित चित्तवाला इसे प्राप्त नहीं कर सकता ।

पथिकसे

(लेखक—ब्रह्मचारी आनन्द)

अ ह····ह····ह····!

पथिक ! भवसागर तरना चाहते हो !

इस शून्य जीवनकी बोझभरी गठरी लेकर !

अरे ! इस सागरके अथाह जलकी लोल-लहरोंमें अपनी जीवन-नौका हँसते-हँसते पार ले जाना चाहते हो !

जिसमें दु:खका अपार जल विकराल कालके आनन्दाश्रु बनकर भयङ्कर झंझाके झोंकोंसे मिश्रित सन्ताप-भँवरको साथ लिये हुए प्रबल वेगसे बह रहा है, उस सागरके वक्ष:स्थलपर अपना यह नश्वर जीवन-पोत दौड़ाना चाहते हो !

कठिन है पथिक !············असम्भव है····!

पथिक ! इस मनकी प्रेम-भेंट लेकर स्नेहाकाङ्क्षामें····और स्मृतिकी छायामें····आगे बढ़ना चाहते हो !

अज्ञ पथिक ! ठहरो····लौट आओ ··!

उन्मत्त ! यह क्या····ममत्वकी झलक और उत्सर्गका निश्चय लिये हुए आगे बढ़ना····तुम्हारा प्रेम····शून्य है !

पागल ! वहाँ जाना चाहते हो ·· ··· उसके पास····वह तो योगी है····निर्लिप्त है····संसारसे····भिन्न है···· तुम उसके पास नहीं जा सकते !

तुम उसके पास पहुँच सकते हो कामना····वासना····और··· अभिलाषा लेकर !····नहीं····इन्हें छोड़कर !

क्या तुम्हें विश्वास है कि····इस सागरकी कोई भी कठिनता····भयङ्कर झंझाके झोंके ·· विकराल काल भँवर····उन्मत्त अन्धकार-जीवन-नैराश्य और····सन्ताप-सन्तप्त सागरकी उत्ताल तरङ्गें तुम्हें विचलित न करेंगे !

सरल ! तुम दृढ़तापूर्वक कह सकते हो····तुम्हारे पास अपना कुछ भी नहीं····! बोलो पथिक ! है.... क्या ! ममत्व····सम्पत्ति····प्रेम, पर झूठा, इसे लेकर वहाँ जाओगे !····जा सकते हो··· पर इन्हें छोड़कर !

पथिक ! उस पार जाओगे····परन्तु उस पार मिलन नहीं है । तो ! यहाँ है आत्मविसर्जन !············ ································चलोगे !

महाराष्ट्रके वारकरी सम्प्रदायकी प्रेम-साधना

(लेखक—श्रीभालचन्द्र पं० बहिरट बी० ए०)

महाराष्ट्रके इस श्रेष्ठ प्रेमोपासक सम्प्रदायके आद्य-प्रवर्तक श्रीपुण्डरीक महामुनि हुए । इस सम्प्रदायका प्रासाद निर्माण करनेके लिये श्रीज्ञानेश्वर महाराज इसकी नींव बने । श्रीनामदेवरायकी नामभक्ति इसका विस्तृत प्राङ्गण बनी । उसपर श्रीएकनाथ महाराजने श्रीमद्भागवत-के खंभे खड़ेकर पूरा मन्दिर खड़ा किया । श्रीतुकाराम महाराज इस मन्दिरके शिखर बने । इस प्रकार संतों-द्वारा निर्मित इस विशाल सम्प्रदाय-मन्दिरका कुछ ऐसा ही वर्णन स्वयं श्रीतुकाराम महाराज कर गये हैं । इस मन्दिरकी ओर जानेका रास्ता कौन-सा है, कौन भगवान् इसमें विराजते हैं, उनके दर्शन करनेकी विधि क्या है और क्या उसका फल है, इन्हीं बातोंको संत-वचनोंके आधारपर यथामति यहाँ लिखते हैं ।

वारकरी सम्प्रदाय सरूप-सम्प्रदाय नहीं प्रत्युत स्वरूप-सम्प्रदाय है । सरूप-सम्प्रदाय मूर्तिके ध्यानके द्वारा परमात्मलाभका साधन करता है और स्वरूप-सम्प्रदाय यह है कि स्वयं सर्वव्यापक चैतन्य ही भक्ति-प्रेमके कारण सगुण रूपमें अवतीर्ण है—उस प्रियरूप-का सेवन ही जीवनकी चरितार्थता है । सरूप-सम्प्रदाय-में जीवात्मा और परमात्मा भिन्न माने जाते हैं और मूर्तिको साधन बनाकर अभेद लाभ करनेका प्रयत्न किया जाता है । परन्तु स्वरूप-सम्प्रदायमें जीवात्मा और परमात्माका अभेद स्वतःसिद्ध है, उसमें कोई भेद हुआ ही नहीं है, स्वरूप स्वतःसिद्ध और स्वयम्भू है, उसके सगुण प्रियरूपका आस्वादन मानव-जीवनका परम साध्य है । यही स्वरूप-सम्प्रदायकी मान्यता है ।

वारकरी सम्प्रदायके अधिष्ठाता पंढरपुरनिवासी — हैं । भगवान्‌के अन्य अवतार किसी-संतोंपर सङ्कट आये, तब-तब पृथ्वीसे दुष्टोंका भार न सहा गया और वह धेनुरूप धारणकर भगवान्‌के समीप गयी और तब दुष्टोंके संहारके लिये भगवान्‌ने अवतार लिया, यही सब अन्य अवतारोंके होनेका क्रम देख पड़ता है और फिर यह भी देखा जाता है कि जिस कार्यके लिये इस प्रकार भगवान् आये उस कार्यके हो चुकनेपर वे यहाँसे चले भी गये । पर भगवान् जो श्रीविट्ठलरूपमें अवतीर्ण हुए सो केवल भक्ति-प्रेमसे मुग्ध होकर ही हुए और इसमें अन्य कोई कार्य-कारण-भाव नहीं है । श्रीपुण्डरीकके दृढ़प्रेमसे ही श्रीभगवान् यहाँ पधारे हैं । केवल प्रेमके लिये ही ये प्रेमस्वरूप यहाँ विराज रहे हैं । श्रीनिळोबाराय कहते हैं कि 'स्वयं श्रीसच्चिदानन्द भगवान् पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर श्री-विट्ठलरूपमें इस ईंटपर अड़े खड़े हैं और भक्तोंको देख-देखकर सुप्रसन्न हो रहे हैं ।'

वारकरी सम्प्रदाय इन्हीं प्रेमस्वरूप भगवान्‌का उपासक है । वारकरी शब्दका अर्थ ही है, प्रति वर्ष नियत समयपर पंढरीके इन प्रेममय भगवान्‌से मिलनेके लिये आना । इस 'वारी'—इस मिलन-यात्राका मर्म क्या है ? किस प्रकारकी यह भक्ति है ? भक्त और भगवान् जब एक ही हैं तब भक्ति कोई किसीकी किसलिये करता है ? वारकरी सम्प्रदाय अद्वैत सिद्धान्तको माननेवाला है पर इस अद्वैतमें, वह यह दिखाता है कि, भक्ति हो सकती है, अद्वैत और भक्तिका कोई परस्पर-विरोध नहीं, बल्कि भक्ति अद्वैतानुभूतिकी सबसे ऊँची चोटी है ।

'अमृतानुभव ग्रन्थ' में श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि जब देव, देवल और परिवार एक ही पर्वतके अंदर उकोरे जा सकते हैं तो एक ही अद्वैतमें भगवान्, भक्त ... क्यों नहीं बन सकते

भक्त हो, दुःखी ही दुःख करे, अन्तर्यामी ही केवल रहे और सब रस ही रसना हो जाये, वैसे ही भगवान् ही भक्त बनकर रहते ही प्रेमका अनुभव करते हैं। (अमृतानुभव ९। ५) प्रेम ही प्रेमसे मिलनेके लिये निर्मित बना लिया है।

यह केवल तत्त्वज्ञानकी बात हुई। तत्त्वका ज्ञान जीवनमें उतर आना चाहिये, तभी उसका आनन्द मिलता है। इस आनन्दका भोग ही भक्ति है। भक्ति केवल कोई बाह्य क्रिया नहीं है। भक्ति की नहीं जाती, हुआ करती है। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं और यह प्रेम ही जगत् और मानव-जीवनका आधार है। प्रेमका स्वभाव है अनन्य होना। इसीलिये यथार्थमें भगवान् ही जीवके लिये अनन्य हैं। माँ अपने बच्चेके लिये अनन्य होती है और अपने बच्चेपर प्रीतिकी वर्षा बराबर करती ही रहती है। उसी प्रकार भगवान् जीवपर सतत स्नेहकी वर्षा कर रहे हैं, इसीसे जीव जगत् जी रहा है। बच्चा माँकी क्या सेवा कर सकता है? माँने ही तो उसे नौ मास गर्भमें रखकर 'रजसे गज' बनाया है। माताकी इस सतत स्नेह-वर्षाको जानकर बच्चा कभी पात्रमें जल भरकर माताको हाथमें ला दे सकता है। इससे माताको बहुत बड़ा सन्तोष भी होगा। बच्चा माताके प्रेमको जाने, यही भक्ति है। जहाँ प्रेमकी यह पहचान है वहाँ भक्तिकी श्रवणादि क्रियाएँ अनायास ही हो सकती हैं। पर इन सबका मूल है प्रेमकी पहचान। इस प्रेमके सेवनकी जो पद्धति है वही वारकरी सम्प्रदाय है।

इस प्रेम-सेवनके लिये संतोंने पंढरी-धाम निर्माण किया और प्रेममूर्ति विठ्ठल भगवान् वहाँ आकर खड़े हो गये। संतोंने सबसे कहा—आओ, चाहे तुम किसी जातिके, किसी वर्णके, किसी गुणके हो, जैसे हो, जो हो, यहाँ आकर इस प्रेमका सेवन करो। आषाढकी शुक्ल एकादशी और कार्तिककी शुक्ल एकादशी पंढरीकी 'वारी' है। प्रतिवर्ष इन दो वारियोंको कोई कर ले, उतनेसे भी भगवान् प्रसन्न होते हैं। तुकाराम महाराज कहते हैं, ये ही दो हाट हैं—इनमें जो कमाना हो कमा लो, और व्यापार फैलानेकी फिर कोई जरूरत नहीं। वारीके दिनोंमें पंढरीमें प्रेमानन्दकी वर्षा होती रहती है।

वारकरी सम्प्रदायमें आराध्य श्रीविठ्ठल भगवान्, क्षेत्र पंढरपुर, नियम पंढरीकी वारी और मन्त्र 'राम कृष्ण हरि' है। गलेमें तुलसीकी माला, हाथमें पताका, भालमें गोपीचन्दन और बुका, ये ही वारकरियोंके मङ्गलचिह्न हैं। रुचिके साथ भगवन्नाम-स्मरण ही इनका कर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी साधनकी आवश्यकता नहीं, तुकाराम महाराज कहते हैं 'नाम-संकीर्तन सुलभ साधन है, इससे जन्मान्तरोंके पाप जल जाते हैं। नाम लेनेसे मन शान्त होता और जिह्वासे अमृत स्रवता है और लाभके शकुन ही होते रहते हैं।' श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं 'तत्त्वमसि आदि महावाक्योपदेश नामका अर्द्धांश भी नहीं है।'

रुचिसे नाम-स्मरण, रुचिसे भजन और रुचिसे ही कीर्तन वारकरी सम्प्रदायकी प्रेमपद्धतिके अङ्ग हैं। भजनमें पहले 'जय जय राम-कृष्ण-हरि'का घोष किया जाता है। जबतक भगवान्का रूप प्रियत्वके साथ हृदयमें प्रतिष्ठित न हो ले तबतक यह घोष किया जाता है। पीछे हृदयमें ध्यान स्थिर होनेपर 'सुन्दर तें ध्यान उभे विटेवरी।' यह अभंग कहकर 'विठोबा-रखुमाई' इस नामका भजन किया जाता है। इसके बाद उस प्रिय दर्शनका आस्वादन करते हुए जिन अभंगोंको गानेकी इच्छा हो वे गाये जाते हैं। इसके बाद फिर 'विठोबा-रखुमाई' का नामघोष किया जाता है। इसके अनन्तर अपने मनकी उस समय जैसी स्थिति हो उसके अनुसार करुणापरक, नामपरक अथवा विनयपरक अभंग गाये जाते हैं। गानेमें कलाकी

अपेक्षा सहृदयताका ही होना अधिक आवश्यक है, इससे संतहृदयके साथ अपना हृदय मिल जाता और अनायास प्रेमप्रसाद प्राप्त होता है। यह स्मरण रहे कि भजन भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रेमसेवन ही है। अस्तु, इसके पश्चात् 'जय विट्ठल' कहकर भजन किया जाता है और फिर अभंग कहकर 'ज्ञानेश्वर माउली ज्ञानराज माउली तुकाराम' यह धुन गायी जाती है। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्रीज्ञानदेव और श्रीतुकारामकी आरती करके 'ज्ञानबा तुकाराम' की धुन गाकर 'पुण्डलीकवरद हरि-विट्ठल' के जयघोषमें भजन समाप्त किया जाता है।

कीर्तन (अर्थात् नारदजीकी पद्धतिसे नामगुणगानके साथ भगवत्कथा कहने) की रीति—कीर्त्तन भगवान्, भक्त और नामका त्रिवेणी-सङ्गम है। संतोंने इस हरिकथाके विषयमें कहा है कि, 'हरिकथा माता है, यह श्रोताओंको जो दूध पिलाती है उससे कभी पेट नहीं भरता, वैष्णवजन इसे पीते हुए कभी अघाते नहीं। इसको देखकर अमृत भी झेंपकर सामने नहीं आता।' कीर्तनमें श्रीहरिके सगुण चरित्रोंका वर्णन होता है। यह काम जितने अधिक प्रेमसे होता है उसमें उतना ही अधिक आनन्द है। कीर्तनकार स्वयं कीर्तनमें रँग जाय और श्रोताओंको रँग दे। दशमी और एकादशीको कीर्तन और हरिजागरण तथा द्वादशीको 'श्रीगुरु'-प्रसाद [illegible] है।

दिनचर्या—[illegible]

दिनचर्या इस प्रकार है—प्रातःकाल उठनेके [illegible] पहले श्रीविट्ठलका स्मरण और वन्दन करना, बाद प्रातःकृत्य स्नानादि करके तुलसीको जल और श्रीज्ञानेश्वरीकी पूजा करके उसकी कुछ ओवी पाठ कर लेना। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्री[illegible] और श्रीतुकारामकी मानस-पूजा करके भोग [illegible] और उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करना। भोजन [illegible] हुए प्रत्येक कौरके साथ भगवान्‌का नाम लेना और लेते हुए नामकी रुचिके साथ भोजन करना। [illegible] संसारमें अपने जिम्मे जो काम-धंधा हो उसे [illegible] और तत्परताके साथ करना। भगवान्‌का ही [illegible] विश्वसंसार है। इसमें जिसके जिम्मे जो काम भग[वान्ने] कर दिया है उसे प्रेमसे करना भगवान्‌का ही [illegible] रूपसे भजन है। कामसे लौटनेपर सायं[illegible] होकर 'हरिपाठ' का नियमपूर्वक पाठ करना। [illegible] भोजनके पश्चात् बिस्तरपर बैठे-बैठे वीणा, [illegible] हाथमें लिये ऊपर कहे अनुसार श्रीविट्ठल भज[न] [illegible] भजन करना और उसी भजनके आनन्दमें प्रभु[illegible] [illegible] सो जाना।

इस प्रकार वारकरी सम्प्रदायकी प्रेम[illegible] भक्तप्रेमका ही [illegible] है। प्रेम ही [illegible] है प्रेम ही [illegible]। [illegible] [illegible]

'कल्याण'के पाठकोंसे प्रार्थना

(लेखक-श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

'कल्याण'के पिछले अङ्क (अप्रैल १९४२) में कल्याण-सम्पादकका एक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने 'महान् सङ्कटसे बचनेके साधन' बतलाये हैं । मैं 'कल्याण'के समस्त पाठकोंका ध्यान उन साधनोंकी ओर खींचता हूँ, और चाहता हूँ कि प्रत्येक भारतीय उन साधनोंको यथोचित रूपसे काममें लावें। यह विश्वपर महान् विपत्तिका समय है । सारा संसार त्रस्त है। सभी राष्ट्र भयानक शस्त्रास्त्रोंकी तैयारीमें लगे हैं। असंख्य धन-जन विश्वके विनाशके काममें लग रहा है । आज विराट् पुरुष मानो आप ही अपने अंगोंको चीरनेके काममें व्यस्त है । मनुष्य अपने राक्षसी कृत्यों-द्वारा भयानक राक्षस बनता जा रहा है । यह चाहे हमारे पापोंका फल हो या विधाताका विधान, है बड़ा भयङ्कर, और इससे हमारी मानवता लुटी जा रही है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो नयी-पुरानी कोई-सी सभ्यता भी न रह जायगी और अपना-पराया भूलकर आदमी ही आदमीको खा डालनेके लिये तैयार हो जायगा । लगातार विपत्ति-पर-विपत्ति पड़नेपर प्रायः मनुष्य कालवश होकर अत्यन्त क्रूर हो जाता है। कुम्भकर्णने अपने छोटे भाई विभीषणसे कहा है—

> बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर ।
> जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर ॥

दोहेके अर्धांशमें कितना सुन्दर भगवद्भजनका उपदेश है, परन्तु दूसरे ही क्षण कितने भयानक उद्गार हैं । यही हाल आज हमारे राष्ट्रोंका है । विज्ञानने बड़ी उन्नति की परन्तु विज्ञानका उपयोग किया गया भोग और आरामके साधन जुटानेमें । धन और भोग ही सबका उद्देश्य हो गया । धर्म और भगवान्‌की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी । ईश्वरको तो लोग 'भ्रम' सिद्ध करने लगे । उसीका यह भीषण परिणाम है ! ऐसी भयानक परिस्थितियोंमें हमारे ऋषि-मुनि सम्मिलित या व्यक्तिगत प्रार्थना और कीर्तन, जप, पाठ, यज्ञ आदि अमङ्गलनाशक अनुष्ठान किया करते थे । आज भाई हनुमानप्रसादजी पोद्दारने महान् सङ्कटसे [illegible] लिये हमें वही पवित्र और अचूक साधन बतलाये हैं मैं कल्याणके पचास-साठ हजार ग्राहकोंसे यह निवेदन करना चाहता हूँ, वे अपने-अपने ग्रामों या [illegible] उद्योग करके ऐसे ७२० मनुष्योंको उत्साहित करें जो महीनेमें एक घंटा किसी एक नियत स्थानमें [illegible] होकर भगवन्नाम-कीर्तन करें । ऐसा करनेसे महीनेभरके ७२० घंटेके समयमें निरन्तर कीर्तन चल सके है। इसीके साथ लोग अपने-अपने घरोंमें नित्य कीर्तन करें ।

इसी प्रकार 'मानसपारायण'का भी प्रचार हो। संस्कृतके ग्रन्थोंको सब लोग नहीं पढ़ सकते परन्तु श्रीरामचरितमानसको तो हिन्दी जाननेवाले हरेक नर-नारी पढ़ सकते हैं । प्रत्येक स्थानपर एक सौ पचीस (१२५) व्यक्ति तैयार हों और वे किसी भी मासकी शुक्ला प्रतिपदासे नवमी तक नौ दिनोंमें पूरा पारायण कर लें । एक व्यक्ति आगे बोले, शेष सब एक ही साथ उसके पीछे-पीछे बोलें । भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजी महाराजका यथाप्राप्त सामग्रियोंसे पूजन करके पाठ आरम्भ किया जाय। इस प्रकार पारायण करनेसे अपूर्व आनन्द आता है और विघ्न तो टलते ही हैं । यह पारायण गाँव-गाँवमें आरम्भ हो जाय तो वातावरणको बदलते देर नहीं लगेगी । 'कल्याण'के इतने पाठकोंमें हजार-दो-हजार ग्राहक भी कमर कसकर उद्योग करें तो यह कोई असम्भव बात नहीं है । [भाई श्रीनिवासदासजी पोद्दारकी सलाह बहुत ही उत्तम और आदर करने योग्य है । पाठक ध्यान देकर करें तो इससे उनका और जगत्का बहुत कुछ मङ्गल हो सकता है । जहाँ ऐसा आयोजन हो, वहाँकी सूचना 'कल्याण' सम्पादकके नाम भेज दी जा सके तो उत्तम है । हनुमानप्रसाद पोद्दार सम्पादक]

अपेक्षा सहृदयताका ही होना अधिक आवश्यक है, इससे संतहृदयके साथ अपना हृदय मिल जाता और अनायास प्रेमप्रसाद प्राप्त होता है। यह स्मरण रहे कि भजन भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रेमसेवन ही है। अस्तु, इसके पश्चात् 'जय विट्ठल' कहकर भजन किया जाता है और फिर अभंग कहकर 'ज्ञानेश्वर माउली ज्ञानराज माउली तुकाराम' यह धुन गायी जाती है। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्रीज्ञानदेव और श्रीतुकारामकी आरती करके 'ज्ञानबा तुकाराम' की धुन गाकर 'पुण्डलीकवरद हरि-विट्ठल' के जयघोषमें भजन समाप्त किया जाता है।

कीर्तन (अर्थात् नारदजीकी पद्धतिसे नामगुणगानके साथ भगवत्कथा कहने) की रीति—कीर्त्तन भगवान्, भक्त और नामका त्रिवेणी-सङ्गम है। संतोंने इस हरिकथाके विषयमें कहा है कि, 'हरिकथा माता है, वह श्रोताओंको जो दूध पिलाती है उससे कभी पेट नहीं भरता, वैष्णवजन इसे पीते हुए कभी अघाते नहीं। इसको देखकर अमृत भी झेंपकर सामने नहीं आता।' कीर्त्तनमें श्रीहरिके सगुण चरित्रोंका वर्णन होता है। यह काम जितने अधिक प्रेमसे होता है उसमें उतना ही अधिक आनन्द है। कीर्त्तनकार स्वयं कीर्त्तनमें रँग जाय और श्रोताओंको रँग दे। दशमी और एकादशीको कीर्त्तन और हरिजागरण तथा द्वादशीको 'क्षीरापन'-प्रसाद बाँटनेकी प्रथा है।

दिनचर्या—वारकरी सम्प्रदाय प्रपञ्चको छोड़ देनेकी शिक्षा नहीं देता। श्रीएकनाथ, तुकारामादि संत प्रपञ्चमें रहते हुए हरिभक्ति कैसे की जाती है यही तो अपने उदाहरणोंसे सिखा गये हैं। अस्तु, वारकरियोंकी दिनचर्या इस प्रकार है—प्रातःकाल उठनेके स पहले श्रीविट्ठलका स्मरण और वन्दन करना, बाद प्रातःकृत्य स्नानादि करके तुलसीको जल और श्रीज्ञानेश्वरीकी पूजा करके उसकी कुछ ओ पाठ कर लेना। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्री और श्रीतुकारामकी मानस-पूजा करके भोग और उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करना। भोजन हुए प्रत्येक कौरके साथ भगवान्‌का नाम लेना औ लेते हुए नामकी रुचिके साथ भोजन करना। इस संसारमें अपने जिम्मे जो काम-धंधा हो उसे और तत्परताके साथ करना। भगवान्‌का ही यह विश्वसंसार है। इसमें जिसके जिम्मे जो काम भ कर दिया है उसे प्रेमसे करना भगवान्‌का ही रूपसे भजन है। कामसे लौटनेपर सायंकाल होकर 'हरिपाठ' का नियमपूर्वक पाठ करना। भोजनके पश्चात् बिस्तरपर बैठे-बैठे वीणा, हाथमें लिये ऊपर कहे अनुसार श्रीविट्ठल भग भजन करना और उसी भजनके आनन्दमें प्रभु मस्तक रखकर सो जाना।

इस प्रकार वारकरी सम्प्रदायकी प्रेम भगवत्प्रेमका ही सेवन है। प्रेम ही साधन है प्रेम ही साध्य। बन्ध-मोक्षादिकी कोई कल्पना नहीं है। हठयोगादिमें प्रमाद होनेसे जो भय है इसमें नहीं है, इसके सिवा बालक यदि कहीं लड़खड़ाकर गिर पड़े तो जैसे माँ ही दौड़ी आती और बच्चेको उठा लेती है वैसे ही भगवान् इस अपने भक्तको सदा सँभाले रहते हैं।

'कल्याण'के पाठकोंसे प्रार्थना

(लेखक-श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

'कल्याण'के पिछले अङ्क (अप्रैल १९४२) में कल्याण-सम्पादकका एक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने 'महान् सङ्कटसे बचनेके साधन' बतलाये हैं । मैं 'कल्याण'के समस्त पाठकोंका ध्यान उन साधनोंकी ओर खींचता हूँ, और चाहता हूँ कि प्रत्येक भारतीय उन साधनोंको यथोचित रूपसे काममें लावें। यह विश्वपर महान् विपत्तिका समय है । सारा संसार त्रस्त है। सभी राष्ट्र भयानक शस्त्रास्त्रोंकी तैयारीमें लगे हैं। असंख्य धन-जन विश्वके विनाशके काममें लग रहा है । आज विराट् पुरुष मानो आप ही अपने अंगोंको चीरनेके काममें व्यस्त हैं । मनुष्य अपने राक्षसी कृत्यों-द्वारा भयानक राक्षस बनता जा रहा है । यह चाहे हमारे पापोंका फल हो या विधाताका विधान, है बड़ा भयङ्कर, और इससे हमारी मानवता लुटी जा रही है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो नयी-पुरानी कोई-सी सभ्यता भी न रह जायगी और अपना-पराया भूलकर आदमी ही आदमीको खा डालनेके लिये तैयार हो जायगा । लगातार विपत्ति-पर-विपत्ति पड़नेपर प्रायः मनुष्य कालवश होकर अत्यन्त क्रूर हो जाता है। कुम्भकर्णने अपने छोटे भाई विभीषणसे कहा है—

> बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर ।
> जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर ॥

दोहेके अर्धांशमें कितना सुन्दर भगवद्भजनका उपदेश है, परन्तु दूसरे ही क्षण कितने भयानक उद्गार हैं । यही हाल आज हमारे राष्ट्रोंका है । विज्ञानने बड़ी उन्नति की परन्तु विज्ञानका उपयोग किया गया भोग और आरामके साधन जुटानेमें। धन और भोग ही सबका उद्देश्य हो गया । धर्म और भगवान्की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी । ईश्वरको तो लोग 'भ्रम' मात्र सिद्ध करने लगे । उसीका यह भीषण परिणाम है! ऐसी भयानक परिस्थितियोंमें हमारे ऋषि-मुनि सम्मिलित या व्यक्तिगत प्रार्थना और कीर्तन, जप, पाठ, यज्ञ आदि अमङ्गलनाशक अनुष्ठान किया करते थे । आज भाई हनुमानप्रसादजी पोद्दारने महान् सङ्कटसे बचने लिये हमें वही पवित्र और अचूक साधन बतलाये हैं मैं कल्याणके पचास-साठ हजार ग्राहकोंसे यह [illegible] करना चाहता हूँ, वे अपने-अपने ग्रामों या [illegible] उद्योग करके ऐसे ७२० मनुष्योंको उत्साहित करें महीनेमें एक घंटा किसी एक नियत स्थानमें [illegible] होकर भगवन्नाम-कीर्तन करें । ऐसा करनेसे महीने भरके ७२० घंटेके समयमें निरन्तर कीर्तन चल स[illegible] है। इसीके साथ लोग अपने-अपने घरोंमें नि[illegible] कीर्तन करें ।

इसी प्रकार 'मानसपारायण'का भी प्रचार हो। संस्कृतके ग्रन्थोंको सब लोग नहीं पढ़ सकते परन्तु श्रीरामचरितमानसको तो हिन्दी जाननेवाले हरेक नर-नारी पढ़ सकते हैं । प्रत्येक स्थानपर एक सौ पचीस (१२५) व्यक्ति तैयार हों और वे किसी भी मासकी शुक्ला प्रतिपदासे नवमी तक नौ दिनोंमें पूरा पारायण कर लें । एक व्यक्ति आगे बोले, शेष सब एक ही साथ उसके पीछे-पीछे बोलें । भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजी महाराजका यथाप्राप्त सामग्रियोंसे पूजन करके पाठ आरम्भ किया जाय। इस प्रकार पारायण करनेसे अपूर्व आनन्द आता है और विघ्न तो टलते ही हैं । यह पारायण गाँव-गाँवमें आरम्भ हो जाय तो वातावरणको बदलते देर नहीं लगेगी । 'कल्याण'के इतने पाठकोंमें हजार-दो-हजार ग्राहक भी कमर कसकर उद्योग करें तो यह कोई असम्भव बात नहीं है । [भाई श्रीनिवासदासजी पोद्दारकी सलाह बहुत ही उपादेय और अवश्य करने योग्य है । पाठक ध्यान देकर करें तो इससे उनका और जगत्का बहुत कुछ मङ्गल हो सकता है । जहाँ ऐसा आयोजन हो, वहाँकी सूचना 'कल्याण' सम्पादकके नाम भेज दी जा सके तो उत्तम है । हनुमानप्रसाद पोद्दार 'सम्पादक']

अपेक्षा सहृदयताका ही होना अधिक आवश्यक है, इससे संतहृदयके साथ अपना हृदय मिल जाता और अनायास प्रेमप्रसाद प्राप्त होता है। यह स्मरण रहे कि भजन भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रेमसेवन ही है। अस्तु, इसके पश्चात् 'जय विट्ठल' कहकर भजन किया जाता है और फिर अभंग कहकर 'ज्ञानेश्वर माउली ज्ञानराज माउली तुकाराम' यह धुन गायी जाती है। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्रीज्ञानदेव और श्रीतुकारामकी आरती करके 'ज्ञानबा तुकाराम' की धुन गाकर 'पुण्डलीकवरद हरि-विट्ठल' के जयघोषमें भजन समाप्त किया जाता है।

कीर्तन (अर्थात् नारदजीकी पद्धतिसे नामगुणगानके साथ भगवत्कथा कहने) की रीति—कीर्त्तन भगवान्, भक्त और नामका त्रिवेणी-सङ्गम है। संतोंने इस हरिकथाके विषयमें कहा है कि, 'हरिकथा माता है, वह श्रोताओंको जो दूध पिलाती है उससे कभी पेट नहीं भरता, वैष्णवजन इसे पीते हुए कभी अघाते नहीं। इसको देखकर अमृत भी झेंपकर सामने नहीं आता।' कीर्त्तनमें श्रीहरिके सगुण चरित्रोंका वर्णन होता है। यह काम जितने अधिक प्रेमसे होता है उसमें उतना ही अधिक आनन्द है। कीर्त्तनकार स्वयं कीर्त्तनमें रँग जाय और श्रोताओंको रँग दे। दशमी और एकादशीको कीर्त्तन और हरिजागरण तथा द्वादशीको 'क्षीरापत'-प्रसाद बाँटनेकी प्रथा है।

दिनचर्या—वारकरी सम्प्रदाय प्रपञ्चको छोड़ देनेकी शिक्षा नहीं देता। श्रीएकनाथ, तुकारामादि संत प्रपञ्चमें रहते हुए हरिभक्ति कैसे की जाती है यही तो अपने उदाहरणोंसे दिखा गये हैं। अस्तु, वारकरियोंकी दिनचर्या इस प्रकार है—प्रातःकाल उठनेके साथ ही पहले श्रीविट्ठलका स्मरण और वन्दन करना, इसके बाद प्रातःकृत्य स्नानादि करके तुलसीको जल देना और श्रीज्ञानेश्वरीकी पूजा करके उसकी कुछ ओवियोंका पाठ कर लेना। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्रीज्ञानदेव और श्रीतुकारामकी मानस-पूजा करके भोग लगाना और उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करना। भोजन करते हुए प्रत्येक कौरके साथ भगवान्‌का नाम लेना और नाम लेते हुए नामकी रुचिके साथ भोजन करना। इसके बाद संसारमें अपने जिम्मे जो काम-धंधा हो उसे सचाई और तत्परताके साथ करना। भगवान्‌का ही यह सारा विश्वसंसार है। इसमें जिसके जिम्मे जो काम भगवान्‌ने कर दिया है उसे प्रेमसे करना भगवान्‌का ही कर्म-रूपसे भजन है। कामसे लौटनेपर सायंकाल शुचि होकर 'हरिपाठ' का नियमपूर्वक पाठ करना। रातको भोजनके पश्चात् बिस्तरपर बैठे-बैठे वीणा, करताल हाथमें लिये ऊपर कहे अनुसार श्रीविट्ठल भगवान्‌का भजन करना और उसी भजनके आनन्दमें प्रभुचरणोंमें मस्तक रखकर सो जाना।

इस प्रकार वारकरी सम्प्रदायकी प्रेम-साधना भगवत्प्रेमका ही सेवन है। प्रेम ही साधन है और प्रेम ही साध्य। बन्ध-मोक्षादिकी कोई कल्पना इसमें नहीं है। हठयोगादिमें प्रमाद होनेसे जो भय है वह इसमें नहीं है, इसके विपरीत बालक यदि कहीं ठोकर लगकर गिर पड़े तो जैसे माँ ही दौड़ी चली आती और बच्चेको उठा लेती है वैसे ही भगवान् इस मार्गमें अपने भक्तको सदा सर्वत्र सम्हाले रहते हैं।

'कल्याण'के पाठकोंसे प्रार्थना

(लेखक—श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

'कल्याण'के पिछले अङ्क (अप्रैल १९४२) में कल्याण-सम्पादकका एक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने 'महान् सङ्कटसे बचनेके साधन' बतलाये हैं । मैं 'कल्याण'के समस्त पाठकोंका ध्यान उन साधनोंकी ओर खींचता हूँ, और चाहता हूँ कि प्रत्येक भारतीय उन साधनोंको यथोचित रूपसे काममें लावें। यह विश्वपर महान् विपत्तिका समय है । सारा संसार त्रस्त है। सभी राष्ट्र भयानक शस्त्रास्त्रोंकी तैयारीमें लगे हैं। असंख्य धन-जन विश्वके विनाशके काममें लग रहा है । आज विराट् पुरुष मानो आप ही अपने अंगोंको चीरनेके काममें व्यस्त है । मनुष्य अपने राक्षसी कृत्यों-द्वारा भयानक राक्षस बनता जा रहा है । यह चाहे हमारे पापोंका फल हो या विधाताका विधान, है बड़ा भयङ्कर, और इससे हमारी मानवता छुटी जा रही है । यदि ऐसा ही चलता रहा तो नयी-पुरानी कोई-सी सभ्यता भी न रह जायगी और अपना-पराया भूलकर आदमी ही आदमीको खा डालनेके लिये तैयार हो जायगा । लगातार विपत्ति-पर-विपत्ति पड़नेपर प्रायः मनुष्य कालवश होकर अत्यन्त क्रूर हो जाता है। कुम्भकर्णने अपने छोटे भाई विभीषणसे कहा है—

> बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर ।
> जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर ॥

दोहेके अर्धांशमें कितना सुन्दर भगवद्भजनका उपदेश है, परन्तु दूसरे ही क्षण कितने भयानक उद्गार हैं । यही हाल आज हमारे राष्ट्रोंका है । विज्ञानने बड़ी उन्नति की परन्तु विज्ञानका उपयोग किया गया भोग और आरामके साधन जुटानेमें । धन और भोग ही सबका उद्देश्य हो गया । धर्म और भगवान्की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी । ईश्वरको तो लोग [illegible] सिद्ध करने लगे । उसीका यह भीषण परिणाम है ! ऐसी भयानक परिस्थितियोंमें हमारे ऋषि-मुनि सम्मिलित या व्यक्तिगत प्रार्थना और कीर्तन, जप, तप, यज्ञ आदि अमङ्गलनाशक अनुष्ठान किया करते थे । आज भाई हनुमानप्रसादजी पोद्दारने महान् सङ्कटसे [illegible] लिये हमें वही पवित्र और अचूक साधन बतलाये हैं मैं कल्याणके पचास-साठ हजार ग्राहकोंसे यह नि[illegible] करना चाहता हूँ, वे अपने-अपने ग्रामों या [illegible] उद्योग करके ऐसे ७२० मनुष्योंको उत्साहित करें जो महीनेमें एक घंटा किसी एक नियत स्थानमें [illegible] होकर भगवन्नाम-कीर्तन करें । ऐसा करनेसे महीने भरके ७२० घंटेके समयमें निरन्तर कीर्तन चल सकता है । इसीके साथ लोग अपने-अपने घरोंमें नियमित कीर्तन करें ।

इसी प्रकार 'मानसपारायण'का भी प्रचार हो। संस्कृतके ग्रन्थोंको सब लोग नहीं पढ़ सकते परन्तु श्रीरामचरितमानसको तो हिन्दी जाननेवाले हरेक नर-नारी पढ़ सकते हैं । प्रत्येक स्थानपर एक सौ पचीस (१२५) व्यक्ति तैयार हों और वे किसी भी मासकी शुक्ला प्रतिपदासे नवमी तक नौ दिनोंमें पूरा पारायण कर लें । एक व्यक्ति आगे बोले, शेष सब एक ही साथ उसके पीछे-पीछे बोलें । भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजी महाराजका पञ्चोपचार सामग्रियोंसे पूजन करके पाठ आरम्भ किया जाय । इस प्रकार पारायण करनेमे अपूर्व आनन्द आता है और फिर तो [illegible] ही है । यह पारायण नवरात्रोंमें आरम्भ हो जाय तो वातावरणको बदलते देर नहीं लगेगी । 'कल्याण'के इतने ग्राहकोंमें हजार-दो-हजार ग्राहक भी कमर कसकर उद्योग करें तो यह कोई असम्भव बात नहीं है । [भाई श्रीनिवासदासजी पोद्दारकी सम्मति बहुत ही [illegible] और आदर करने योग्य है । [illegible] ऐसा करें तो इससे उनका और जगत्का बहुत कुछ मङ्गल हो सकता है । [illegible] — हनुमानप्रसाद पोद्दार सम्पादक]

अपेक्षा सहृदयताका ही होना अधिक आवश्यक है, इससे संतहृदयके साथ अपना हृदय मिल जाता और अनायास प्रेमप्रसाद प्राप्त होता है। यह स्मरण रहे कि भजन भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रेमसेवन ही है। अस्तु, इसके पश्चात् 'जय विट्ठल' कहकर भजन किया जाता है और फिर अभंग कहकर 'ज्ञानेश्वर माउली ज्ञानराज माउली तुकाराम' यह धुन गायी जाती है। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्रीज्ञानदेव और श्रीतुकारामकी आरती करके 'ज्ञानबा तुकाराम' की धुन गाकर 'पुण्डलीकवरद हरि-विट्ठल' के जयघोषमें भजन समाप्त किया जाता है।

कीर्तन (अर्थात् नारदजीकी पद्धतिसे नामगुणगानके साथ भगवत्कथा कहने) की रीति—कीर्तन भगवान्, भक्त और नामका त्रिवेणी-सङ्गम है। संतोंने इस हरिकथाके विषयमें कहा है कि, 'हरिकथा माता है, वह श्रोताओंको जो दूध पिलाती है उससे कभी पेट नहीं भरता, वैष्णवजन इसे पीते हुए कभी अघाते नहीं। इसको देखकर अमृत भी झेंपकर सामने नहीं आता।' कीर्तनमें श्रीहरिके सगुण चरित्रोंका वर्णन होता है। यह काम जितने अधिक प्रेमसे होता है उसमें उतना ही अधिक आनन्द है। कीर्तनकार स्वयं कीर्तनमें रँग जाय और श्रोताओंको रँग दे। दशमी और एकादशीको कीर्तन और हरिजागरण तथा द्वादशीको 'क्षीरापन'-प्रसाद बाँटनेकी प्रथा है।

निष्कर्ष—वारकरी सम्प्रदाय प्रपञ्चको छोड़ देनेकी शिक्षा नहीं देता। श्रीएकनाथ, तुकारामादि संत प्रपञ्चमें रहते हुए हरिभक्ति कैसे की जाती है यही तो अपने उदाहरणोंसे सिद्ध करते हैं। अस्तु, वारकरियोंकी दिनचर्या इस प्रकार है—प्रातःकाल उठनेके साथ पहले श्रीविट्ठलका स्मरण और वन्दन करना, बाद प्रातःकृत्य स्नानादि करके तुलसीको जल और श्रीज्ञानेश्वरीकी पूजा करके उसकी कुछ ओवियाँ पाठ कर लेना। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्रीज्ञान और श्रीतुकारामकी मानस-पूजा करके भोग लगा और उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करना। भोजन क हुए प्रत्येक कौरके साथ भगवान्‌का नाम लेना और लेते हुए नामकी रुचिके साथ भोजन करना। इसके संसारमें अपने जिम्मे जो काम-धंधा हो उसे स और तत्परताके साथ करना। भगवान्‌का ही यह विश्वसंसार है। इसमें जिसके जिम्मे जो काम भगवा कर दिया है उसे प्रेमसे करना भगवान्‌का ही रूपसे भजन है। कामसे लौटनेपर सायंकाल होकर 'हरिपाठ' का नियमपूर्वक पाठ करना। भोजनके पश्चात् बिछावनपर बैठे-बैठे वीणा, हाथमें लिये ऊपर कहे अनुसार श्रीविट्ठल भगवा भजन करना और उसी भजनके आनन्दमें प्रभुचर मस्तक रखकर सो जाना।

इस प्रकार वारकरी सम्प्रदायकी प्रेमलक्ष भगवत्प्रेमका ही सेवन है। प्रेम ही साधन है और प्रेम ही साध्य। बन्ध-मोक्षादिकी कोई कल्पना [illegible] नहीं है। हठयोगादिके प्रकार होंगे जो [illegible] है [illegible] इसमें नहीं है, [illegible]

'कल्याण'के पाठकोंसे प्रार्थना

(लेखक-श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

'कल्याण'के पिछले अङ्क (अप्रैल १९४२) में कल्याण-सम्पादकका एक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने 'महान् सङ्कटसे बचनेके साधन' बतलाये हैं । मैं 'कल्याण'के समस्त पाठकोंका ध्यान उन साधनोंकी ओर खींचना हूँ, और चाहता हूँ कि प्रत्येक भारतीय उन साधनोंको यथोचित रूपसे काममें लावें। यह विश्वपर महान् विपत्तिका समय है । सारा संसार त्रस्त है। सभी राष्ट्र भयानक शस्त्रास्त्रोंकी तैयारीमें लगे हैं। असंख्य धन-जन विश्वके विनाशके काममें लग रहा है । आज विराट् पुरुष मानो आप ही अपने अंगोंको िरनेके काममें व्यस्त है । मनुष्य अपने राक्षसी कृत्यों- ारा भयानक राक्षस बनता जा रहा है । यह चाहे मारे पापोंका फल हो या विधाताका विधान, है बड़ा यङ्कर, और इससे हमारी मानवता लुटी जा रही है। दि ऐसा ही चलता रहा तो नयी-पुरानी कोई-सी भ्यता भी न रह जायगी और अपना-पराया भूलकर आदमी ही आदमीको खा डालनेके लिये तैयार हो ायगा । लगातार विपत्ति-पर-विपत्ति पड़नेपर प्रायः नुष्य कालवश होकर अत्यन्त क्रूर हो जाता है। कुम्भकर्णने अपने छोटे भाई विभीषणसे कहा है—

बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम र ।

अमङ्गलनाशक अनुष्ठान किया कर भाई हनुमानप्रसादजी पोद्दारने महा लिये हमें वही पवित्र और अचूक मैं कल्याणके पचास-साठ हजार प्र करना चाहता हूँ, वे अपने-अपने उद्योग करके ऐसे ७२० मनुष्योंके महीनेमें एक घंटा किसी एक ि होकर भगवन्नाम-कीर्तन करें । ऐ भरके ७२० घंटेके समयमें निरन्तर है । इसीके साथ लोग अपने-अप कीर्तन करें ।

इसी प्रकार 'मानसपारायण'का संस्कृतके ग्रन्थोंको सब लोग नहीं श्रीरामचरितमानसको तो हिन्दी जा नारी पढ़ सकते हैं । प्रत्येक स्थान (१२५) व्यक्ति तैयार हों और शुक्ल प्रतिपदासे नवमी तक नौ ि कर लें । एक व्यक्ति आगे बोले, उसके पीछे-पीछे बोलें । भगवान महाराजका यथाप्राप्त सामग्रियोंसे आरम्भ किया जाय । इस प्रकार प

किन्हीं एक प्रेमीका पत्र और उसका उत्तर

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

मधुमास कृष्णैकादशीकी सन्ध्या

परम-पूज्य प्रिय सखा, स्वामि, गुरु, हित् हमारे।
श्रीहनुमानप्रसाद (जी) भाव के भोरे-भारे॥
बंदौं चरन-सरोज शीस धरि सदा, तुम्हारे।
देहु इहै आसीस, बसैं हिय जुगुल हमारे॥
छायो अब कलिकाल घोर, नहिं धर्म-लेश कहुँ।
अनाचार, पाषण्ड, पाप बाढ्यो देखत चहुँ॥
कपटी, कायर, कुटिल, काम-वश, अतिसै क्रोधी।
बाढ़े चोर, जुवार, विप्र-गुरु-संत-विरोधी॥
तिन के मधि बसि रहब, कठिन जिमि दसनन जीहा।
साँच कहे है मरब, मिलन-पिय कठिन अलीहा॥
ताहू पै त्रै-ताप-घोर सों तपत सदा तनु।
ऐसे भीषण विपति-काल, नहिं कोउ अवलंबनु॥
होते जौ संसारी तौ यह सब सहि लेते।
काहू को उपकार-भार नहिं सिर पै लेते॥
कहा कहैं ! कहि जात नहीं अब जिय की घातें।
बड़ी मरम की पीर, वीर ! रसिकन की वातें॥
मातु-पितादिक, स्वजन, निरस अति ज्ञान सिखावैं।
कोउ निहकाम सकाम कर्मके मर्म सुझावैं॥

एकौ लागत नाहिं, किए उन अमित
कहा करौं, है गई संग-बस कु
सो अब छूटत नाहिं, जतन मैं हूँ ब
बरबस ही करि लई श्याम बिनु-मोल
ना जानौं प्रारब्ध कौन, सो बिमुख प
जो बैरी इहि भाँति मोहिं ते रहत अर
अनइच्छित जे कर्म तिनहिं बरबस क
पेरत है दिन रैन मूढ़ तउ नास न
नित दुःसंगति पर्‍यो, नाहिं सत्संग बसत
नहिं भागवत-पुरान कथा को श्रवन-की
अपनेहिं कर करि रह्यो हाय ! अपनी ही
यहि सोचत हौं जबहिं, तबहि भरि आवत
बिनु पंखनु के बिहँग सरिस उछरत औ गिरत
भव-दवाग्नि में बिबस हाय ! अब चह्यो मरत
काढ़ि लीजियो मित्र ! मोहिं हिय करुना करि
या दीजो मत उचित, करौं सोइ हिय हरि धरि
कठिन कुअवसर मोहि है रही मति-गति, गं
ओ 'कल्यान' सुदानी ! भरियो 'नेह' की झो

इति श[illegible]

१३—३—४२ ई०

—[illegible]

[उपर्युक्त पत्र किनका है यह पता नहीं। मालूम होता है पत्र-लेखक महानुभाव मुझसे कुछ परिचित हैं। उन्होंने अपना नाम-पता कुछ भी नहीं दिया; इसीसे 'कल्याण' के द्वारा उनके पद्यात्मक पत्रका उत्तर दिया जा रहा है। उनसे प्रार्थना है कि वे उत्तरमें किसी तुकबंदीकी [illegible] पर ध्यान न देकर [illegible] ध्यान दें। मैं कवित्वज्ञानसे शून्य हूँ। एक प्रार्थना और है—उन्होंने पत्रमें जो मुझको प्रणाम किया है और मुझसे 'आशीष' माँगी है, इससे मुझे बड़ा संकोच हुआ है। क्योंकि मैं न तो प्रणामका अधिकारी हूँ और न मुझमें आशीर्वाद देनेकी योग्यता है। पत्र-लेखक महोदय [illegible]

सङ्कीर्तन और वर्तमान सङ्कट

(लेखक—रायबहादुर पंडित श्री[illegible], बी० ए०)

इस सङ्कट-समयमें सभी भारतवासियोंके चित्त बहुत चिन्तातुर हो रहे हैं। लोगोंको रक्षाके उपाय नहीं दीख रहे हैं। ऊँचे लोकोंमें यही उपदेश मिलता है कि जिनको इस सङ्कटसे बचना हो उन्हें प्रतिदिन अपने घर या मुहल्लेमें नियमित रूपसे श्रद्धापूर्वक नाम-सङ्कीर्तन करना चाहिये। यह भी आदेश मिलता है कि इस बातका अच्छीतरह प्रचार करना चाहिये।

सङ्कीर्तनमें भगवान्का साक्षात्कार होना सम्भव है। इसके सिवा और भी बहुत-सी क्रियाएँ हो सकती हैं या होती देखी गयी हैं—जैसे नाडीशुद्धि, अन्तःशुद्धि, बुरे प्रारब्धका क्षीण होना इत्यादि। जो श्रद्धा-विश्वासके साथ नित्य कीर्तन करते हैं उनकी खास प्रकारसे देवतागण रक्षा करते हैं। हमारी भक्तिसे और लोगोंका भी कल्याण होता है। जब अच्छी तरह जमकर गाढ़ भक्तियुक्त कीर्तन होता है तब देव और महर्षिगण उस भक्तिको जगत्कल्याणके लिये बाहर भेजते हुए भी देखे जाते हैं। कलिसन्तरणोपनिषद्में 'हरे राम हरे राम०' १६ नामवाले महामन्त्रको कलिपापनाशके लिये सर्वोत्तम उपाय कहा है। संन्यास-उपनिषद्में कहा है—

सर्वेषामेव पापानां संघाते समुपस्थिते।
तारं द्वादशसाहस्रं समभ्यसेच्छेदनं हि तत्॥१०३॥
यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परब्रह्म प्रकाशते॥१०४॥

जब पापोंका उदय हो तब १२००० प्रणवका जप करनेसे यह पापसंघात कट जायगा। जो बारह हजार प्रणव प्रतिदिन जपता है उसके लिये १२ मासमें परब्रह्म प्रकट होता है। प्रणवसे भगवान्का नाम ही समझना चाहिये। योगसूत्रमें भी प्रणव अर्थात् ईश्वरनाम-के जपसे ईश्वरकी चेतना आनेके सिवा सब प्रकारकी व्याधियोंका नाश होना बतलाया है। जब कीर्तनका इतना माहात्म्य है तो जो लोग और लोगोंको कीर्तन करनेमें लगावेंगे, उनको भी बहुत भारी पुण्य होगा। कीर्तनको नियत समयपर करना ही अच्छा होता है क्योंकि नियत समय रहनेसे देवगणोंको आनेमें भी सुविधा होती है। कीर्तनमें परमप्रेमका आविर्भाव होना चाहिये। कीर्तन मुस्लिम भाई भी अपनी विधिसे कर सकते हैं। उसमें भी ईश्वर-नाम आता है और कल्याण-कारी क्रियाएँ होती हैं। वे सङ्कीर्तनको 'जिक्र' कहते हैं।

भयहारी भगवान्का नाम

यत्र गोविन्दनामानि भयहारीणि सर्वदा।
कलिं दोषनिधिं चापि पूजयन्ति सतां गणाः।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोपलभ्यते॥
अश्वमेधादितुल्यन्तु नाम यत्र हरेर्मतम्।
सर्वप्रायश्चित्तरूपं परमं कर्णरोचनम्॥

(बृहद्धर्मपुराण)

कलियुगमें भगवान्का नाम सदा-सर्वदा भयका नाश करता है। इसीलिये दोषोंका भण्डार होनेपर भी सत्पुरुष इस कलियुगका सम्मान करते हैं। कलियुगमें एकमात्र हरिसङ्कीर्तनसे ही—सारे मनोरथोंकी प्राप्ति हो जाती है। कलियुगमें हरिनाम अश्वमेधादि यज्ञोंके समान है, सारे पापोंका प्रायश्चित्तरूप है और कानोंको बड़ा ही सुख देनेवाला है।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

पाचन और परिपुष्टि

केशव—पिताजी! मुन्नी बहनके पेटमें दर्द है और बार-बार दस्त लगते हैं। माताजी कहती हैं कि उसे अपच हो गया है।

पिता—खाने-पीनेमें लापरवाही की होगी, इसीसे हो गया होगा। आज कुछ न खायेगी तो ठीक हो जायगा।

केशव—किन्तु यह अपच है क्या चीज?

पिता—बात यह है कि जब कभी हम केवल स्वादके लोभमें पड़कर कुछ ऐसी चीजें खा लिया करते हैं, जिनकी उस समय हमें कोई आवश्यकता नहीं रहती या जो जल्दी पच नहीं सकतीं, अथवा जब कभी हम आवश्यकतासे अधिक भोजन कर लेते हैं या भोजनको बिना अच्छी तरह चबाये ही जल्दी-जल्दी निगल जाया करते हैं, तो हमारे अंदर भोजन पचानेकी जो मशीनें हैं वह उस भोजनको पचानेमें असमर्थ हो जाया करती हैं। निदान वह भोजन हमारे शरीरके काममें न आकर सड़ने लग जाता है, जिससे हमारे अंदर भाँति-भाँतिके उपद्रव पैदा हो जाते हैं—जैसे पेट फूलना, पेटमें दर्द, छातीमें जलन, खट्टी डकार, बार-बार दस्त इत्यादि। इन्हीं सब उपद्रवोंको हम अपचके नामसे पुकारते हैं।

केशव—अच्छा तो भोजन हमारे शरीरमें पचता कैसे है?

पिता—यह उस सर्वशक्तिमान् परमात्माकी अलौकिक कारीगरीका एक अद्भुत उदाहरण है। हमारी खायी हुई रोटी, पूरी, फल, मेवे, पकवान और मिठाइयाँ किस प्रकार अंदर जाकर निर्जीव होती हुई भी सजीव रक्त, मांस और हड्डियोंके रूपमें बदल जाती हैं—यह एक बड़ी मनोरञ्जक कहानी है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने इसे जाननेके लिये बड़ी-बड़ी खोजें की हैं और अपना सारा-का-सारा जीवन उसीमें खपा दिया है। बड़े होनेपर तुम उनकी लिखी हुई किताबें स्वयं पढ़ सकोगे। यहाँ अभी हम उनके आधारपर केवल कुछ मुख्य-मुख्य बातें ही तुम्हें बतला देंगे।

केशव—बतलाइये, मैं ध्यानसे सुन रहा हूँ।

पिता—अच्छा, तुम यह तो जानते ही होगे कि हमारे मकानकी यह दीवार किस-किस चीजसे मिलकर बनी है।

केशव—जी हाँ, ईंटोंको चूनेसे जोड़-जोड़कर बनायी गयी है।

पिता—हाँ, ठीक है। उसी प्रकार हमारा शरीर भी अत्यन्त नन्हीं-नन्हीं ईंटोंको जोड़कर बनाया गया है। हमारे शरीरकी ईंटें इतनी सूक्ष्म हैं कि बिना अणुवीक्षण-यन्त्रके देखी नहीं जा सकतीं। ये ईंटें कई आकारकी होती हैं—कोई छोटी, कोई बड़ी, कोई पतली, कोई मोटी, कोई चिपटी और कोई उभरी हुई। दीवारकी ईंटोंमें हमारे शरीरकी ईंटोंमें एक बहुत बड़ा अन्तर यह भी है कि दीवारकी ईंटें निर्जीव होती हैं और हमारे शरीरकी ईंटें सजीव होती हैं तथा इनमें अपना-अपना काम करनेकी ताकत भी होती है। विज्ञानने इन ईंटोंका नाम 'सेल' (Cell) या 'कोशाणु' रक्खा है। इन्हीं कोशाणुओंके बढ़ने और पुष्ट होनेसे हमारा शरीर बढ़ता और पुष्ट होता है। और इनके क्षीण होनेसे हमारा शरीर क्षीण तथा दुर्बल हो जाता है। अस्तु, जिस-जिस पदार्थसे ये कोशाणु बने हैं और जिनसे ये [illegible]

पहुँचाते रहना हमारे भोजनका एकमात्र उद्देश्य है।

केशव—किन-किन तत्त्वोंसे ये कोषाणु बने हैं?

पिता—ये कोषाणु प्रायः सोलह प्रकारके मूलतत्त्वोंसे बने पाये जाते हैं, जिनके नाम ये हैं—(१) कार्बन, (२) नत्रजन, (३) हाइड्रोजन, (४) आक्सीजन, (५) गंधक, (६) फास्फोरस, (७) सोडियम, (८) पोटाशियम, (९) कैल्शियम, (१०) मैग्नीशियम, (११) लीथियम, (१२) फ्लोरीन, (१३) क्लोरीन, (१४) आयोडीन, (१५) सिलाकन तथा (१६) लोहा। इनमेंसे प्रथम चार तत्त्व हमारे मांसके कोषाणुओं-को बनाने और बढ़ानेका काम करते हैं। उन चारोंके रासायनिक मेलसे एक यौगिक पदार्थ बन जाता है, जिसे अंग्रेजीमें 'प्रोटीन' कहते हैं। हम उसे 'मांस-पोषक पदार्थ' कह सकते हैं, क्योंकि उसके द्वारा हमारे मांसकी वृद्धि तथा पुष्टि होती है। शेष बारह तत्त्व हमारे अंदर रक्त, हड्डी तथा शरीरके अन्य भागोंको बनानेमें काम आते हैं। इनके भी अलग-अलग मेलोंसे अलग-अलग यौगिक रूप बना करते हैं, जिन्हें विद्वानोंने चार श्रेणियों-में बाँटकर रक्खा है। उनके नाम हैं—(१) चिकनाईवाले या वसाजातीय पदार्थ (Fat); (२) कर्बोज या माड़ीकी जातिवाले पदार्थ (Carbo-hydrates); (३) खनिज पदार्थ जिनमें कई प्रकारके क्षार या नमक शामिल हैं और (४) जल।

केशव—तो क्या यही सब चीजें हमारे भोजनमें भी पायी जाती हैं।

पिता—हाँ, अलग-अलग अनेकों चीजोंमें ये पदार्थ अलग-अलग मात्रामें मौजूद रहते हैं—जैसे दूधमें, छेना, दही, खोआ, मटर, सेमके बीज, मूँग, [illegible] अधिक होती है; घी, तेल और मक्खन आदिमें वसाजातीय पदार्थ अधिक होता है; आलू, चावल, चीनी, साबूदाना और अरारोट आदिमें कर्बोज अर्थात् माड़ीवाले पदार्थकी अधिकता रहती है; इसी प्रकार शाक और हरी तरकारियोंमें खनिज पदार्थ अधिक होते हैं और जल तो स्वयं अपने असली ही रूपमें पिया जाता है तथा ताजे फल, शाक एवं दूधसे भी वह पर्याप्त मात्रामें मिल सकता है। इनके अतिरिक्त एक प्रकारकी चीज और है, जिसका हमारे भोजनमें होना बहुत जरूरी है और जिसके बिना हमारे शरीरका काम नहीं चल सकता।

केशव—वह क्या है?

पिता—उसे अंग्रेजीमें 'विटामिन' (Vitamin) कहते हैं। हिंदीमें हम उसे 'प्राण-पोषक तत्त्व' के नामसे पुकार सकते हैं। जिस प्रकार ईंट, गारा, लोहा, लकड़ी सब मौजूद रहते हुए भी बिना मिस्त्री, मजदूर और राजगीरोंके कोई मकान नहीं खड़ा किया जा सकता, उसी प्रकार शरीरमें भोजनद्वारा सम्पूर्ण आवश्यक तत्त्वोंके पहुँच जानेपर भी बिना इन विटामिनोंके उनका कोई उपयोग नहीं किया जा सकता। आगे चलकर किसी दिन जब हम तुम्हें उचित खान-पान और उसकी व्यवस्थाके विषयमें अलग समझायेंगे, तब इन विटामिनोंका भी हाल अधिक विस्तारसे बतला देंगे। अभी यहाँ तुम इतना ही समझ लो कि ये विटामिन भिन्न-भिन्न खाद्य-वस्तुओंमें अबतक कुल छः प्रकारके पाये गये हैं और इनके अभावमें शरीरकी बाढ़ बिल्कुल रुक जाती है तथा उसमें कई प्रकारके रोग भी पैदा हो जाते हैं। इनकी उपस्थिति वस्तुओंकी ताजी और स्वाभाविक अवस्थामें ही सबसे अधिक पायी जाती है; किन्तु उनमें नमक डालने, पकाने या [illegible] वे या तो बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं या [illegible] कम हो जाते हैं। अस्तु, अब तुम्हें [illegible]

गया कि शरीरके सम्पूर्ण तत्त्व भोजन-सामग्रीमें मौजूद रहते हैं और भोजनसे ही हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

केशव—जी हाँ, परन्तु शरीर उन्हें किस प्रकार भोजनसे अलग करके प्राप्त करता है और किस प्रकार उन्हें अपनेमें मिला लेता है—यह अभी नहीं समझा।

पिता—हाँ, वही तो अब तुम्हें बतलाने जा रहा हूँ। जिस ढंगसे शरीर भोजनमेंसे आवश्यक तत्त्वोंको लेकर अपनेमें मिला लेता है, उसे 'पाचन-क्रिया' कहते हैं। यह पाचन-क्रिया हमारे शरीरमें कुछ विशेष प्रकारकी मशीनोंद्वारा की जाती है, जो हमारे भोजनको अच्छी तरह कुचलकर, दल-मलकर तथा उसमें अपने पाससे कई प्रकारके रसोंको मिलाकर ऐसा कर देती हैं कि भोजनका उपयोगी भाग तो अलग होकर अंदरकी दीवारोंमें सोख जाता है तथा खूनमें मिल जाता है तथा उसका अनुपयोगी और बेकार भाग मलके रास्ते बाहर निकल जाता है। जो भाग खूनमें पहुँचता है, उसका एक बार फिरसे पाचन होता है और तब वह शरीरमें बैठकर जहाँ जिस तत्त्वकी जरूरत होती है वहाँ जाकर मिल जाता है और शरीरको बनाने, कायम रखने या बढ़ानेका काम किया करता है।

केशव—अच्छा, तो ये भोजन पचानेवाली मशीनें कैसी हैं और किस प्रकार इनका काम होता है—जरा इसे भी बतला दीजिये।

पिता—सबसे पहली मशीन तो हमारा मुख ही है, जो हमारे भोजनके लिये भीतर जानेका बाहरी फाटक है। यहाँ दाँतोंकी दो पंक्तियाँ ऊपर और नीचेके जबड़ोंमें हीरेके टुकड़ोंके समान जड़ी हुई हैं। इनकी संख्या एक पूरी आयुवाले मनुष्यके मुँहमें बत्तीस होती है—सोलह ऊपर और सोलह नीचे। किन्तु आरम्भमें ये केवल बीस ही निकलते हैं, जो 'दूधके दाँत' कहलाते हैं। जिस समय बच्चा छः महीनेका होता है उसी समयसे ये दूधके दाँत उगने लगते हैं। और छः वर्षकी अवस्थातक पूरे बीस दाँत निकल आते हैं। बादमें ये गिरने लगते हैं और इनकी जगहपर नये और स्थायी दाँत निकलते हैं, जिनकी संख्या बत्तीस होती है। ये सब दाँत अठारह वर्षकी अवस्थातक पूरी तौरसे निकल आते हैं और उसी समयसे मनुष्य वयस्क या [illegible] समझा जाने लगता है। हमारे स्वास्थ्यके [illegible] मुँहमें मजबूत और स्वस्थ दाँतोंका होना बहुत जरूरी है। इनसे न केवल हमारे मुँहकी शोभा ही रहती है, बल्कि भोजनको कुचलने और पचने योग्य बनानेमें भी ये बड़े जरूरी औजार हैं। ज्यों ही भोजनका कौर हमारे मुँहमें पहुँचता है, त्यों ही वह दाँतोंकी चक्कीमें पिसने लगता है। और जीभ भी उसे बराबर उलटती-पलटती रहती है तथा उसमें मुखका रस मिला-मिलाकर दाँतोंके नीचे ढकेलती रहती है, जिससे प्रत्येक ग्रास अच्छी तरह पिसकर चूर्ण हो जाता है और मुखके रसमें सन जाता है।

केशव—मुखमें रस कहाँसे आ जाता है?

पिता—यह रस वही है, जिसे हम 'थूक' या 'लार' कहते हैं। हमारे मुँहके भीतर दीवारोंमें डरी हुई छः नन्ही-नन्ही ग्रन्थियाँ रहा करती हैं—तीन दाहिनी ओर और तीन बायीं ओर। यह रस उन्हींमेंसे बन-बनकर निकला करता है। तुम जानते हो कि तुम्हारा मुँह भीतरसे हर समय गीला ही रहता है, क्योंकि थोड़ा-थोड़ा रस इन ग्रन्थियोंसे हर समय ही निकला करता है। किन्तु भोजनके समय यह रस-प्रवाह और तेज हो जाता है, जिससे भोजन उसमें अच्छी तरह सन सके। अच्छी तरह

चबाकर खानेसे एक समयके भोजनमें करीब पावभर या डेढ़ पाव रस इन ग्रन्थियोंसे निकलता है।

केशव—इससे लाभ क्या है?

पिता—यह एक प्रकारका पाचक रस है, जिससे मिलकर भोजनका कर्बोज (Carbo-hydrates) अर्थात् माड़ीवाला अंश शर्कराके रूपमें बदल जाता है और उसके साथ घुलकर मुँहमें ही पचने योग्य बन जाता है। बिना इस रसके मिले भोजनका यह अंश हमारे शरीरमें किसी प्रकार नहीं पच सकता और अपच रोगका कारण बनता है। यही कारण है कि जो लोग भोजनको बिना अच्छी तरह चबाये जल्दी-जल्दी निगल जाया करते हैं, वे बहुधा अपच और वायुकी शिकायतोंसे दुखी रहा करते हैं; और यदि अपच न हो तो भी ऐसे लोगोंका शरीर अपने भोजनसे विशेष लाभ नहीं उठा सकता। प्रायः देखा जाता है कि ऐसे लोग भोजन तो दूसरों-की अपेक्षा बहुत अधिक किया करते हैं, किन्तु भीतरसे उन्हें न तो तृप्ति होती है और न शरीरमें कोई स्फूर्ति या शक्ति ही दिखायी देती है। बात यह है कि अच्छी तरह कुचल-कुचलकर न खानेसे मुँहका रस भलीभाँति भोजनमें नहीं मिल सकता, जिससे उसका बहुत-सा अंश अन-पचा ही रह जाता है और अनपचा ही वह मलके रास्ते बाहर निकल जाया करता है। शरीरकी आवश्यकता पूरी नहीं होती। अतएव जी भी नहीं भरता और सुस्ती तथा आलस्य घेरे रहते हैं। अस्तु, भोजनके भलीभाँति पचने और उससे पूरी-पूरी शक्ति प्राप्त करनेके लिये हर एक ग्रासको अच्छी तरह चबाना और उसमें मुँहकी लारको मिलने देना उपयोगी ही नहीं अत्यन्त आवश्यक भी है। कदाचित इस बड़ी आवश्यकताको समझकर ही प्रकृतिने कुछ ऐसा प्रबन्ध किया है कि भूख लगनेपर आहारको देखते ही, बल्कि स्वादिष्ट पदार्थोंका ध्यान करते ही, मुँहमें पानी भर आता है। लारके मिलनेसे दूसरा लाभ यह भी है कि ग्रासको चबाने और गलेके नीचे उतारनेमें आसानी पड़ती है।

केशव—अच्छा फिर क्या होता है?

पिता—जब ग्रास दाँतोंके द्वारा अच्छी तरह पिस जाता है और मुखके रसमें सन जाता है, तब वह गले-के अंदर एक नलीमें निगल लिया जाता है, जो उसे तुरंत पेटमें उतार देती है। यह नली 'भोजनकी नली' कहलाती है। इसके अतिरिक्त इसीसे सटी हुई सामनेकी तरफ़ एक दूसरी नली भी होती है, जो 'वायु-नली' कहलाती है और जिसके द्वारा श्वासकी हवा नाकसे होकर फेफड़ों-के अंदर जाया-आया करती है। इन दोनों नलियोंका मुँह आकर गलेके अंदर खुलता है; किन्तु फिर भी यह ईश्वरकी कारीगरीका एक अद्भुत चमत्कार है कि जो भोजन या पानी हम गलेके अंदर निगलते हैं, वह सदैव भोजनकी नलीमें ही जाता है, वायुकी नलीमें नहीं जाता। यदि कहीं वह 'वायुकी नली' में चला जाय तो उसी क्षण हमारा दम घुट जाय और हम मर जायँ।

केशव—अच्छा तो इसमें तर्कीब क्या की गयी है?

पिता—तर्कीब बहुत बढ़िया है। वायु-नलीके मुँह-पर एक ऐसा ढकन लगा रहता है, जो हर समय तो खुला रहता है, किन्तु ज्यों ही हम कोई ग्रास गलेके अंदर घुटकने लगते हैं, त्यों ही वह दब-कर बंद हो जाता है और भोजनका ग्रास ढकन-परसे होता हुआ पीछेकी ओर भोजनकी नलीमें गिर पड़ता है। इसके पश्चात् वह ढकन फिर उछलकर पहलेकी तरह ऊपरको उठ जाता है, जिससे वायु-नलीका मुँह खुल जाता है और

बाहरकी हवा फेफड़ोंमें फिर पूर्ववत् आने-जाने लगती है। कभी-कभी खानेके समय बोलते-बोलते या हँसते-हँसते ग्रासका कोई टुकड़ा वायु-नलीमें भी चला जाया करता है। उस समय हमको तत्काल धाँस चढ़ जाती है और जोर-जोरसे खाँसी आने लगती है, जिससे वह टुकड़ा वायु-नलीसे निकलकर फिर ऊपरको आ जाय। जबतक वह ऊपरको नहीं आता, तबतक हमारी खाँसी भी नहीं बंद होती और हमारा दम घुटता हुआ-सा जान पड़ता है।

केशव—सचमुच तर्कीब तो बहुत ही बढ़िया है। ईश्वरकी कारीगरी हर जगह अनोखी ही दिखायी देती है। अच्छा तो निगलनेके बाद भोजनका ग्रास पेटमें चला जाता है?

पिता—हाँ, दाँतोंके नीचे कुचलकर और मुँहके रससे पतला बनकर भोजनका ग्रास जब निगल लिया जाता है, तब वह भोजनकी नलीसे होता हुआ नीचे पेटमें उतर जाता है। भोजनकी नली लगभग दस इंच लंबी होती है और नीचे पेटकी थैलीके मुँहसे जुड़ी रहती है। पेटकी यह थैली, जो उदर, आमाशय या पाकस्थलीके नामसे भी प्रसिद्ध है, आकारमें बहुत कुछ मशकसे मिलती हुई जान पड़ती है और पेड़ूके ऊपर कुछ बायीं ओरको लेटी हुई-सी पड़ी रहती है। यह थैली रबड़के गुब्बारेकी तरह बिल्कुल लचीली हुआ करती है, जिससे ज्यों-ज्यों भोजन इसमें पहुँचता जाता है त्यों-त्यों उसका आकार भी बढ़ता जाता है, और खाली होनेपर वह पिचककर छोटा हो जाता है। तुम्हें सुनकर अचंभा होगा कि एक बार डाक्टरोंने एक आदमीके पेटमें भोजन पचते हुए स्वयं अपनी आँखोंसे देखा था।

केशव—यह कैसे?

पिता—बात यह है कि करीब डेढ़ सौ वर्ष हुए कनाडामें एक आदमी (Alexis St. Martin नामक) की बायीं कोखमें अकस्मात् एक गोली लग गयी थी। कुछ दिनोंके इलाजसे वह अच्छा तो हो गया, परन्तु गोलीका छेद ज्यों-का-त्यों खुला ही रहा, बंद नहीं हुआ। अतएव भीतरकी चीजें देखनेके लिये वह छेद एक खिड़कीका काम देने लगा। डाक्टरोंने उसके भीतर झाँक-झाँककर बहुत दिनोंतक पाकस्थलीकी जाँच की और उसके अंदर भोजन पचनेका काम अपनी आँखोंसे देखा।

केशव—अच्छा तो उन्हें क्या दिखायी दिया?

पिता—उन्होंने देखा कि पाकस्थलीमें भोजन पहुँचते ही उसकी भीतरी दीवारोंमें एक प्रकारकी गति आरम्भ हो जाती है, जिससे तमाम खाया हुआ भोजन उसके अंदर घूम-घूमकर मथने लग जाता है। साथ ही पाकस्थलीकी दीवारसे एक प्रकारका बहुत-सा खट्टा रस (Gastric juice) भी छूटने लगता है, जो भोजनके साथ-साथ अच्छी तरह सनता जाता है। यह रस हजारों नन्ही-नन्ही ग्रन्थियोंसे निकलता है, जो पाकस्थलीकी दीवारमें चारों ओर झिल्लीके नीचे ढँकी रहती हैं। इधर यह होता है और उधर भोजनमें जो माड़ीजाति-वाला भाग मुँहकी लारमें मिलकर चीनी (Glucose) के रूपमें बदल जाता है, वह यहाँ आकर अन्तिम रूपमें पचता रहता है। जब पाकस्थलीका खट्टा रस काफी मात्रामें निकल चुकता है, तब भोजनका प्रोटीनवाला अंश भी पचने लग जाता है। इस रसमें मुख्यतः तीन प्रकारकी चीजें पायी जाती हैं—(१) जामन (Renin), (२) पचाइन (Pepsin) और (३) नमकका तेजाब (Hydrochloric acid)। नमकके तेजाबके कारण ही यह रस खट्टा होता है और अपच रोगमें जो खट्टी-खट्टी डकारें आया करती हैं, वह भी

इसीके कारण खट्टी हुआ करती है। यह रस प्रोटीनको एक घुलने योग्य रूप (Peptone)में बदल देता है, जिससे वह पतली पड़ जाती है और फिर उसका कुछ अंश पेटकी दीवारोंमें सोखकर खूनके साथ मिल जाता है। बाकी बचा हुआ अंश भोजनके अन्य भागोंके साथ खूब मथ जानेके बाद मुलायम और पतला होकर पाकस्थलीके दूसरे द्वारसे अँतड़ियोंमें चला जाता है। डाक्टरोंने यह भी देखा कि जब कभी वह आदमी कोई ऐसी चीजें खा लेता था, जो आसानीसे न पच सकती थीं अथवा हानिकारक होती थीं, तो उसके पेटकी भीतरी दीवारें अत्यन्त प्रदाहित हो उठती थीं और सुर्ख पड़ जाती थीं। पाकस्थलीका जो दूसरा द्वार अँतड़ियोंकी तरफ है, वह भी ईश्वरकी कारीगरीका एक अद्भुत नमूना है।

केशव—सो कैसे ?

पिता—यह दरवाजा ऐसा है कि जबतक पाकस्थली-की क्रिया भोजनपर पूरी तौरसे समाप्त न हो जाय, बतक वह भोजनको अँतड़ियोंमें नहीं घुसने देता, ल्कि उन्हें पाकस्थलीमें ही वापस फेंक देता है। न्तु जब पाकस्थलीका काम पूरा हो चुकता है और भोजनका जितना भाग वहाँ पचना चाहिये पच चुकता है तब यह दरवाजा स्वयं खुल जाता है, और उस अधपचे मुलायम भोजनको अँतड़ियोंके अंदर जाने देता है। अब तुम्हीं सोचो कि यदि कोई मिस्त्री हमारे मकानमें ऐसे दरवाजे बना दे, जो केवल उन्हीं लोगोंको अंदर जाने दे जिन्हें जाना उचित है, और बाकी सब लोगोंको बाहर ही रक्खे, तो तुम उस मिस्त्रीको कैसा कारीगर समझोगे ?

केशव—दुनियामें उसे बेजोड़ कारीगर समझूँगा। निस्सन्देह ईश्वरकी कारीगरी हर बातमें बेजोड़ ही दिखायी देती है यह मैं समझ रहा हूँ। अच्छा, पिताजी, ये अँतड़ियाँ क्या चीज हैं और इनके अंदर भोजनका क्या होता है ?

पिता—ये अँतड़ियाँ एक बहुत लंबी नली जिनके भीतरसे होकर हमारा भोजन अपनी यात्रा समाप्त करता है। लगभग नौ गज लं या नलके रूपमें ये हमारी पाकस्थलीके नीचे पड़ी र हैं। इनके दो भाग होते हैं—एक 'क्षुद्रान्त्र' या आँत और दूसरा 'बृहदन्त्र' या बड़ी आँत। क्षुद्रा की लंबाई करीब सात गज अर्थात् २१ या २२ होती है और बृहदन्त्रकी लंबाई लगभग ५ फुट है। किन्तु बृहदन्त्रकी नली क्षुद्रान्त्रकी नलीसे चौड़ ज्यादा होती है, इसीसे वह बड़ी आँत और क्षुद्रान्त्र छोटी आँत कहलाती है। पाकस्थलीका अधपचा भोजन क्षुद्रान्त्र अर्थात् छोटी आँतमें ही जाता है। यह सात गज लंबी होती हुई भी इस प्रकार गुड़री लपेटी पड़ी रहती है कि बहुत थोड़ी जगहमें आ जाती है। भोजनका वह सम्पूर्ण भाग जो पाकस्थलीमें नहीं पच सकता या अधपचा रह जाता है, यहीं आकर पचता है।

केशव—यहाँ वह कैसे पचता है ?

पिता—पाकस्थलीसे निकलकर भोजनको क्षुद्र करीब २२ फ़ीट लंबी यात्रा करनी पड़ती है। बीचमें उसके साथ तीन प्रकारके रसोंका मेल होता और साथ ही वह फिरसे अच्छी तरह मथा भी जा है, जिससे उसका रहा-सहा सम्पूर्ण उपयोगी अंश भी घुलकर पच जाता है।

केशव—उसमें ये तीन प्रकारके रस कौन-कौन-से मिलते हैं ?

पिता—पहला रस तो क्षुद्रान्त्रकी भीतरी दीवारोंसे ही निकला करता है। जिस प्रकार मुख और पाकस्थलीकी दीवारोंमें छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ रहती हैं, उसी प्रकार क्षुद्रान्त्र-में भी होती हैं और उन्हींमेंसे यह रस छूटता रहता है। इसे हम 'आन्त्रिक' रस कह सकते हैं। [illegible] प्रकारके और रस यहाँ [illegible] हैं, [illegible] नाम हैं—(१) [illegible] और (२) [illegible]।

केशव–ये रस कहाँसे आते हैं ?

पिता–इनमेंसे पित्तरस तो हमारे यकृत (अर्थात् गर) नामक ग्रन्थिसे बनकर आता है और क्लोमरस म ग्रन्थिसे बनकर आता है। ये दोनों ही ग्रन्थियाँ मारी अँतड़ियोंसे बाहर रहती हैं और अपना-अपना स स्वतन्त्ररूपसे तैयार किया करती हैं। यकृतका स्थान ो हमारी दाहिनी अन्तिम पसुलियोंके नीचे है और वह हमारे शरीरकी सबसे बड़ी ग्रन्थि है। इसका आकार लगभग ९ या १० इंचतक लंबाईमें होता है और इसीके साथ एक अमरूदकी आकृतिवाली थैली भी लगी रहती है जिसे 'पित्ताशय' (Gall-bladder) कहते हैं। जो कुछ पित्तरस यकृतमें तैयार होता है, वह सब आकर इसी थैलीमें भर जाता है और फिर यहींसे एक नलीद्वारा आवश्यकता पड़नेपर क्षुद्रान्त्रमें जाता है। पित्तका रस कुछ पीलापन लिये हुए हरे रंगका होता है। इसमें कई प्रकारके नमक और दो प्रकारके रंग घुले रहते हैं। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय और स्वाद कड़ुआ हुआ करता है। क्लोम-ग्रन्थि हमारी पाकस्थली (अर्थात् पेट) के पीछेकी तरफ नीचेकी ओर रहती है। इसकी लंबाई ५ या ६ इंच और तौल एक या डेढ़ छटाँकतक होती है। इसमेंसे जो रस बनकर निकलता है वह स्वच्छ वर्णवाला, पतला और क्षारीय होता है। क्षुद्रान्त्रमें भोजन एक फुट भी आगे बढ़ने नहीं पाता, कि उसमें पित्त और क्लोम दोनों ही प्रकारके रस आकर मिल जाते हैं।

केशव–फिर क्या होता है ?

पिता–बस, फिर इन दोनों रसोंमें सना हुआ भोजन क्षुद्रान्त्रमें जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है वैसे-ही-वैसे वह आँतकी दीवारोंकी गतिसे खूब मथता जाता है। यह गति केंचुआ या जोंककी चालसे बहुत कुछ मिलती जुलती है, अर्थात् पीछेसे फूलकर लहरकी तरह आगेकी ओरको ढकेलती आती है, जिससे भोजन मथनेके साथ-साथ आगेको सरकता जाता है। पेटके रसकी जो खटास उसमें मौजूद रहती है, वह इन दोनों रसोंके खारेपनके कारण दूर हो जाती है और साथ ही उसमें क्षुद्रान्त्रकी भीतरी ग्रन्थियोंका रस भी मिलता जाता है। इस प्रकार ये तीनों रस हमारे भोजनके सम्पूर्ण शरीरोपयोगी अंश–अर्थात् प्रोटीन, लवण, वसा और कर्बोज—को अच्छी तरह घुलाकर हमारे शरीरमें प्रवेश करने योग्य बना देते हैं। वसा अर्थात् चिकनाईवाले पदार्थको पचानेके लिये पित्तरस मुख्यरूपसे काम आता है और इसीलिये घी, मक्खन, तेल आदिका पाचन क्षुद्रान्त्रमें ही आकर होता है। पित्तके संयोगसे ये चीजें एक दूधिया रंगके घोल (या साबुनके घोल) में बदल जाती हैं और तब वे शरीरके ग्रहण करने योग्य होती हैं। जिन लोगोंका यकृत ठीक-ठीक नहीं काम करता और पित्तका रस यथोचित मात्रामें नहीं बनता, उनके शरीरमें चिकनाई-वाले पदार्थोंका पाचन भी नहीं होता—जिससे वे शरीरके बाहर (मलके साथ) अनपचे ही रूपमें निकल जाया करते हैं और शरीर दुर्बल बना रहता है। लवणजातीय भाग और जलको पचानेमें किसी सहायता-की जरूरत नहीं पड़ती। वे ज्यों-के-त्यों शरीरमें ग्रहण कर लिये जाते हैं। प्रोटीनका कुछ अंश पेटमें पचता है और बाकी क्षुद्रान्त्रमें। कर्बोज या माड़ीवाले भागका पाचन भी, जो मुखके रससे नहीं हो पाता, वह क्षुद्रान्त्रमें आकर और क्लोमरसके साथ मिलकर हो जाता है। इस प्रकार भोजनका सम्पूर्ण उपयोगी भाग क्षुद्रान्त्रमें पचकर शरीरमें ग्रहण कर लिया जाता है और बाकी अनपचा तथा अनुपयोगी भाग, जो खुज्जीके रूपमें बच रहता है, बड़ी आँतमें

चला जाता है और वहींसे मलके रास्ते बाहर निकल जाता है। छोटी आँत और बड़ी आँतके बीचमें एक दरवाजा होता है, जो चूहेदानीके द्वारके समान केवल एक ही ओरको अर्थात् बड़ी आँतकी ही तरफ खुल सकता है। अतएव इस द्वारसे छोटी आँतकी चीजें बड़ी आँतमें तो चली जाती हैं किन्तु बड़ी आँतकी कोई वस्तु छोटी आँतमें वापस नहीं आ सकती। बड़ी आँत दाहिनी ओरकी कोखके पाससे आरम्भ होकर पहले ऊपरकी ओर जाती है और फिर बायीं ओरको घूमकर छोटी आँतको घेरेमें डालती हुई नीचे आकर मलद्वारमें खुलती है। बड़ी आँतको हम 'मल-भाण्ड' भी कह सकते हैं, क्योंकि यही स्थान मल या विष्ठाके एकत्रित होनेकी जगह है। जबतक मलद्वारसे मल बाहर नहीं निकल जाता, तबतक वह यहीं जमा होता रहता है। इस प्रकार मुखसे लेकर बड़ी आँततक पहुँचनेमें हमारे भोजनको क़रीब १५ से लेकर १८ घंटेतकका समय लग जाता है, अर्थात् ५ या ६ घंटे तो उसे पेटमें रहना पड़ता है और दस या बारह घंटे क्षुद्रान्त्रकी २२ फीट लंबी यात्रामें लग जाते हैं।

केशव—अच्छा तो छोटी आँतसे भोजनके तमाम उपयोगी पदार्थोंको शरीर ग्रहण कैसे करता है?

पिता—भोजन जब ऊपर कहे हुए तीनों प्रकारके रसोंमें सनकर पतला पड़ जाता है और मथा जानेके कारण बिल्कुल चूर भी हो जाता है, तब क्षुद्रान्त्रकी दीवारोंमें उसके तमाम उपयोगी भाग सोख लिये जाते हैं। क्षुद्रान्त्रकी भीतरी दीवारें बिल्कुल चिकनी नहीं होतीं, बल्कि [illegible] हुआ करती हैं। जिस प्रकार मखमलमें खूब घने और बारीक रोयें हुआ करते हैं, उसी प्रकार क्षुद्रान्त्रकी भीतरी दीवारोंमें भी हुआ करते हैं। ये रोयें अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और उनकी लंबाई [illegible] नहीं होती। दीवारोंमें ये इतने घने [illegible] हैं कि नयी चालके (निकलवाले) एक [illegible] नीचे कम-से-कम पाँच सौ ऐसे रोयें [illegible] हैं। ये रोयें 'केशिका' (Villi) [illegible] हैं। क्योंकि ये केशों (अर्थात् बालों) की [illegible] बारीक होते हैं; किन्तु वास्तवमें ये [illegible] करोड़ोंकी संख्यामें दीवारसे जीभकी तरह [illegible] रहती हैं और भोजनके रसोंको चाटा या [illegible] करती हैं। इनमेंसे कुछ केशिकाएँ (लिम्फ केशिकाएँ) वसाजातीय रसोंको चूसती हैं और कुछ ([illegible] केशिकाएँ) प्रोटीन और शर्कराजातीय रसोंको [illegible] जल और लवणके रस तो दोनों ही प्रकार[illegible] केशिकाओंमें पहुँचते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उ[illegible] भाग इन्हीं नन्ही-नन्ही जीभोंद्वारा चाट या चूस [illegible] जाता और फिर वह हमारे रक्तमें पहुँच जाता है।

केशव—रक्तमें पहुँचकर उसका क्या होता है?

पिता—रक्तमें उसका दोबारा पाचन होता है, [illegible] हम 'आत्मीकरण'के नामसे पुकार सकते हैं। [illegible] क्रिया आक्सीजन गैसकी सहायतासे होती है। [illegible] दिन 'स्वच्छ वायु-सेवन' के विषयपर समझाते हुए तुम्हें बतलाया था कि हमारे शरीरके तन्तु (अ[illegible] कोषाणु) किस प्रकार प्रतिक्षण टूटते-फूटते [illegible] जल-जलकर भस्म होते रहते हैं और हमारे [illegible] ली हुई हवाका आक्सीजन ही उन्हें जला-ज[illegible] रक्तको साफ किया करता है। [illegible] एक बड़ी तेज [illegible] होती है और [illegible] प्रकारकी [illegible] है। [illegible]

[illegible] फेफड़ोंसे [illegible] हो इस [illegible] है। नाइट्रोजन गैस इसमें [illegible] को पहुँचाते हैं। ऑक्सिजन भी [illegible] कार्बन [illegible] है और इसके साथ जब इसके ऑक्सीजन-का मेल होता है तभी वह [illegible] करता है। किन्तु [illegible] अकेला कार्बनमें ऑक्सीजनके मेलसे, ऐसी [illegible] गैस होती है। इसलिये उसमेंसे [illegible] भी [illegible] लगती है। और जो कार्बोनिक एसिड गैस पैदा होती है, वह चूँकि [illegible] निकल जाती है तब [illegible] बच रहती है। इसी प्रकार हमारे रक्तमें भी जो कुछ हिस्सा कार्बनका होता है, वह ऑक्सीजनके मेलसे जल जाता है और उससे जो कार्बोनिक एसिड गैस तथा जल बनती है, वह श्वासद्वारा बाहर निकल जाती है तथा जो गरमी पैदा होती है, वह हमारे शरीरमें बनी रहती है और हमें गरमी देती है। अस्तु, यहाँतक तो आक्सीजनकी जलानेवाली क्रिया हुई। अब देखो कि जो भोजनका उपयोगी अंश छिन-छिनकर क्षुद्रान्त्रसे हमारी शिराओंमें पहुँचता है, वह हमारे रक्तके साथ बहता हुआ हृदयके दाहिने भागमें जाता है। उसके साथ ही खूनमें शरीरके बहुत-से टूटे-फूटे कोषाणु भी रहा करते हैं। अतएव इन दोनों प्रकारकी चीजोंसे लदा हुआ खून जब हमारे हृदयमें पहुँचता है तो वह उसे फेफड़ोंमें फेंक देता है। फेफड़ोंमें श्वाससे आयी हुई हवाके आक्सीजनसे उसका मेल होता है, जिससे टूटे-फूटे कोषाणु भस्म हो जाते हैं। साथ ही हमारे भोजनके जो वसा और कर्बोज-जातिवाले भाग खूनमें मौजूद रहते हैं, वे भी मुख्यतः कार्बनसे बने हुए होनेके कारण आक्सीजनके मेलसे जल जाते हैं और इन सबके जलनेसे जो गरमी छूटती है, वह हमारे शरीरको गरम रखने तथा शक्ति देनेका काम करती है। प्रोटीन और लवणका अंश ज़्यादा जलता नहीं, बल्कि रक्तके साथ-ही-साथ शुद्ध हो जाता है और फिर उसीके साथ हृदयमें लौटकर [illegible] पहुँच जाता है तब शरीरके टूटे-फूटे कोषाणुओं [illegible] दूर करने और नयोंकी मरम्मत करनेके काम आता है। इस प्रकार तुम देखते हो कि तुम्हारे भोजनको पचाने और उससे तुमको फायदा पहुँचानेके लिये तुम्हारे शरीरमें कितने प्रकारके कल-कारखाने काम करते हैं और उन सबोंकी रचना तथा प्रबन्धमें कैसी-कैसी अद्भुत कारीगरी की गयी है—

केशव—निस्सन्देह मैं समझ रहा हूँ। पहले दिन ईश्वरकी कारीगरीके सम्बन्धमें आपने मुझे जो प्रार्थना सिखायी थी, उसकी इन पंक्तियोंका अर्थ वास्तविक रूपसे मेरी समझमें अब आ रहा है—

'जो-जो हम पदार्थ हैं खाते,
प्यार जीभपर वे दिखलाते॥
फिर वे आँतोंमें हैं जाते,
लोहू बनते ताक़त लाते॥
अद्भुत है मशीन, बलिहारी।
कैसी कारीगरी तुम्हारी॥'

पिता—अच्छा तो अब इस बातका सदैव ध्यान रखना कि खाने-पीनेमें स्वादके लालचमें पड़कर कभी ऐसी भूल न कर बैठना, जिससे हमारी इन मशीनोंके काममें गड़बड़ी पैदा हो। क्योंकि इनकी गड़बड़ीसे ही अधिकतर तमाम रोगोंका जन्म हुआ करता है। उदाहरणार्थ पेट या आँतोंका पाचन बिगड़नेसे मन्दाग्नि, कब्ज, शूल, अतिसार, अफरा आदि रोग हो जाते हैं और खूनमें होनेवाला (दूसरे प्रकारका) पाचन बिगड़नेसे बाई, गठिया, मधुमेह आदि उपद्रव खड़े हो जाते हैं। लेकिन अब समय बहुत हो गया है। आगे किसी दिन तुम्हे समझायेंगे कि हमें कब, कैसे और किस-किस प्रकारका भोजन करना चाहिये और किन बातोंसे बचना चाहिये।

केशव—बहुत अच्छा।

इस प्रकार हमारे बीचमें जान-बूझकर उत्पन्न किये हुए समस्त अनाचारोंकी भयङ्करताके होते हुए, अपने अत्यन्त दुर्दिनमें भी बढ़ते हुए विश्वासके साथ हम भगवान्‌के सम्मुख होकर कहते हैं—'प्रभो ! तुम्हारा ही है शक्ति और ऐश्वर्यका साम्राज्य । तुम्हारी इच्छा पूरी हो ।' हमें जो आध्यात्मिक जागृति प्राप्त हो रही है, हमारे हृदयमें जो नये सङ्कल्प उठ रहे है, भगवान्‌में हमारा विश्वास जो अधिकाधिक दृढ़ होता जा रहा है, हमारी मैत्री जो बढ़ रही है, एक दूसरेको जो हम और भी अच्छी तरह समझ रहे हैं, तथा अपना सर्वस्व अर्पण करके भी अपने अधिकारकी रक्षाके लिये जो दृढ़तर साहस हमें मिल रहा है—इन सबके लिये 'हम भगवान्‌के कृतज्ञ हैं ।'

सेनाके लिये प्रार्थना

सच्ची प्रार्थना है (भगवान्‌के अस्तित्व और उनकी लीलाका) गान करना, न कि (अपनी इच्छाओंकी पूर्त्तिके लिये) आवेदन करना । ईश्वर सर्वव्यापी है—इसका अभिप्राय यह है कि 'जो कुछ यहाँ है, सब ईश्वर ही है ।' यहाँतक कि युद्धक्षेत्रमें, हवाई आक्रमणमें, समुद्रके अतलप्रदेशके एक पनडुब्बे जहाजमें या वहाँ, जहाँ कि टैंक और छोटी-बड़ी भयानक बंदूकें सर्वनाशकी क्रीड़ा कर रही हैं—सर्वत्र ईश्वर ही है ।

प्रार्थना जो सदा स्वीकार की जाती है, वह है (भगवान्‌के प्रति) कृतज्ञ होना तथा (उनकी सत्ता और महिमाका) मनन करना । ऐसी प्रार्थनामें भगवान्‌से किसी वस्तुविशेषकी माँग नहीं की जाती । ऐसी प्रार्थनाएँ हानि और विपत्तिकी भावनाओंसे रहित होती हैं, ये भयको दूर करती हैं । इनमें दया-भीख नहीं माँगी जाती । सच्ची प्रार्थना है भगवत्स्व-विश्वास और वह विश्वास एक ऐसा ज्ञान है, जो इन्द्रियों-से सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तुके प्रति स्वाभाविक विचारको अतिक्रमण कर जाता है । वे जो युद्धमें लड़नेवाले अपने मित्रोंको रक्षा करके भगवद्भावनासे रक्षित करना चाहते हैं, कृतज्ञताके शब्दोंका प्रयोग करें, जैसे—'अनन्त प्रेम तुम्हारे चारों ओर व्याप्त हो रहा है और तुम्हारी रक्षा करता है।' अथवा 'भगवान् तुम्हारी देख-भाल कर रहे हैं' अथवा 'जहाँ भगवान् हैं, वहाँ कुशल है ।' साधारण शब्द ही सदा श्रेष्ठ होते हैं ।

तब भी याद रखना चाहिये कि हम सदा-सर्वदा इस प्रकारसे चिन्तन करते रहें और प्रार्थना करते रहें। पहले हमें चाहिये कि अपने विचारों और शब्दोंका सावधानीके साथ निरीक्षण करें, फिर क्रमशः भगवान्‌के अस्तित्वकी सत्यताका ऐसा अनुभव होगा कि हमारे मन और हृदय निरन्तर शान्तिसे पूर्ण हो रहेंगे। क्योंकि उन ज्ञानी पुरुषोंने ऐसा ही कहा है—

'हे भगवन् ! जिसका मन तुममें लग गया, उसे तुमने पूर्ण शान्ति प्रदान की; क्योंकि उसका तुममें विश्वास है ।'

—([illegible])

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि ।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥
(ऋ० ४ । २ । १)

आकर यहाँ विराजे मेरे आत्मदेव, माटीके घरमें ।
वे अविनाशी मरणशील यह, वे सत, यहाँ असत स्वर-स्वरमें ;
वे देवोंमें देव असंगी निहित इन्द्रियोंके दर्शनमें ॥
सर्वश्रेष्ठ यजनीय बने वे होता-यज्ञ शरीर-सदनमें ।
अपनी महिमासे मानवको त्याग-यागका पाठ पढ़ाने,
शुचि प्रदीप्तिको प्रेरित करते आए पुण्य प्रकाश बढ़ाने ।

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि ।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥
(ऋ० ४ । १८ । २)

आज दिखाई दिया मुझे पथ, यही राजपथ जाता घरको ;
मंगल-मार्ग सामने मेरे, अब क्यों खोजूँ डगर-डगरको ।

अब न चलूँगा इस जग-मगपर, इसमें जगमग चमके माया ।
मेरे लिये विकट बीहड़ वन, पग-पगपर कंटक-दल छाया ।
इसकी चकाचौंधमें पड़कर, भटक गया मैं भोजन भरको ;

अब मैं तोड़ पाश सम्मुखका अपनी सीधी राह चलूँगा ।
अबतक किये गये न किसीसे, ऐसे कर्म अनेक करूँगा ।
मुक्ति-युक्ति पाकर निकलूँगा इस भव-बन्धनसे बाहरको ।

अब भवसे विग्रह ठन जाए, पर भव-भव प्रसन्न हो जाए ;
नम्र बनूँ, पूछूँ निज गुरुसे चारु चरित उपदेश गुराए ;
बहुत दिनोंके बाद देख लूँ प्रेम-पयोधि, [illegible] निर्झरसे ।

प्रार्थना

प्रभो ! अन्तर्यामिन् ! मेरे मनकी कोई भी दशा तुमसे छिपी नहीं है । कितना गंदा है व॰ वृथा गर्व, दम्भ, काम, क्रोध, विषयासक्ति, ममता, मान, मद, लोभ आदि कोई ऐसा दोष नहीं है जिसने उसमें अपना डेरा न जमा रक्खा हो । बुद्धि कहती है, इनका रहना अच्छा नहीं है । ये लोक परलोक दोनोंको बिगाड़नेवाले बड़े बुरे वैरी हैं । परन्तु क्या करूँ, चेष्टा करनेपर भी ये मेरा साथ नहीं छोड़ते । सर्वशक्तिमान् ! मैं तो हार गया हूँ इनसे, और अपने पुरुषार्थसे सर्वथा निराश होकर तुम्हारी शरण आया हूँ। तुम्हारी शक्ति अतुल है । अब तो मेरे इन सदा दुःख देनेवाले दोषोंका शीघ्र ही नाश करके मनको पवित्र बना दो मेरे मालिक ! सचमुच मैं इनके मारे बेमौत मरा जा रहा हूँ,बचाओ—जल्दी बचाओ !

दीनबन्धो ! तुम्हें छोड़कर दीन-हीन और किसके दरवाजेपर जायँ ? ऐसा कौन है जो दीन-हीन कङ्गाल कुकर्मियोंपर स्नेह बरसाकर उन्हें आश्रय दे और अपनी कृपाशक्तिसे ही उनकी सारी दीनता, दरिद्रता, कुचेष्टा और कुप्रवृत्तिको मिटाकर उन्हें सुखी, सम्पन्न और सदाचारी बना दे ? मैं जो तुमसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ यह भी असलमें तुम्हारी दयाका प्रभाव न समझनेका ही परिणाम है। तुम तो अहैतुक दयालु हो । मुझपर तो तुम्हारी असीम अनन्त दया है । मुझसे बदलेमें तुम कभी कुछ भी नहीं पाते, परन्तु तुम तो सभी तरहसे सदा-सर्वदा मुझपर अपनी दया बरसाते रहते हो । मैं कैसे सुखी और सदाचारी रहूँ, कैसे आनन्द और शान्ति प्राप्त करूँ, तुम रात-दिन वही कर रहे हो। अपने अबतकके जीवनकी घटनाओंको याद करता हूँ और अपनी नीचता एवं तुम्हारी नित्य एक-सी अनन्त दयालुताका विचार करता हूँ तो हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है । कहाँ मैं दुर्विनीत, दुर्बुद्धि, दुराचारी, दुष्ट प्रकृतिका दरिद्र क्षुद्र प्राणी, और कहाँ तुम महामहिम सर्वलोकमहेश्वर साक्षात् भगवान् ! परन्तु तुमने तो मुझको कभी नहीं भुलाया, कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा। विपत्तियोंकी उन घड़ियोंमें जिस समय संसारमें सहारा देनेवाला मेरा कोई भी साथी नहीं था, कुविचारके उन क्षणोंमें जब मैं पाप-प्रवृत्तिमें पड़कर अतल नरक-कुण्डमें गिरना ही चाहता था । तुमने किस विलक्षण कौशलसे, कितनी शीघ्रतासे मुझे सहारा दिया—बचाया और उठाकर अपनी स्नेह-सुधासे सींचकर सुखी कर दिया । एक बार नहीं बार-बार; यह कोई पुरानी बात नहीं । अब भी तो रोज-रोज तुम यही कर रहे हो ! मैं अपने पाजीपनसे बाज नहीं आता और तुम अपने अनोखे विरदसे कभी विच्युत नहीं होते ! धन्य मेरे स्वामी !

दयामय ! मैं कितना नीच हूँ जो तुम्हारी इतनी और ऐसी अहैतुकी दयाको देख-देखकर भी भूल जाता हूँ । तुम्हारे चरणोंमें लोटकर केवल उन्हींको अपने प्राणोंके प्राण, जीवनके जीवन नहीं बना लेता ! तुम मेरी नीचताकी ओर न देखना ! कहाँ देखते हो ! मुझ-सा नीच कौन होगा ? मेरी नीचताकी ओर देखते तो इतना स्नेह, इतना प्यार कैसे दे सकते ? अब तो प्रभो ! यह करो और तुरंत ही करो—(क्योंकि पता नहीं यह क्षुद्र-सा मेरा जीवन-दीपक किस क्षण बुझ जाय ।) कि मैं तुम्हारी कृपाको कभी भूलूँ ही नहीं, और प्रतिक्षण कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे तुम्हारे पावन चरणोंका स्मरण करता हुआ तुम्हारे दरवाजेपर ही पड़ा रहूँ। —तुम्हारा ही एक व्याकुल, व्यथित पागल !

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाके उपदेश

[प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी]

१. दूसरोंका अनिष्ट-चिन्तन, परधनकी इच्छा और शरीरमें आत्मबुद्धि करनेसे मनकी शान्ति नष्ट हो जाती [illegible]

२. जप और भजन करनेवाला पुरुष यदि अश्लील शब्द बोलता है तो उसका भजन व्यर्थ हो जाता [illegible] ऐसे भजनसे क्या लाभ है ?

३. आजकल बहुत लोग अपनी बनायी हुई कविताओंको गाकर या पढ़कर अपना हित करना चाहते [illegible] किन्तु इससे कोई विशेष लाभकी सम्भावना नहीं है। हमारी वाणीमें वह शक्ति कैसे आ सकती है, जो [illegible] जी आदिके वचनोंमें है। हमारे अंदर वह तप या भगवत्प्रेम कहाँ है ? अतः जो अपना कल्याण करना [illegible] तो भगवत्प्राप्त महापुरुषोंकी वाणीका ही आश्रय लेना चाहिये।

४. जिसका देहाभिमान गल गया है वस्तुतः उसीने कुछ पाया है।

५. भजन निरन्तर होना चाहिये। यदि उसमें एक दिनका भी व्यवधान होगा तो कई दिनोंकी [illegible] पूँजी नष्ट हो जायगी। इसलिये नियमित भजनमें कभी त्रुटि नहीं आने देनी चाहिये।

६. साधन करनेवालेकी प्रतिक्षण उन्नति होती है, परन्तु उसे यह बात मालूम नहीं होती। [illegible] यह है कि जीवको भजनकी भूख बहुत बढ़ी हुई है। अतः जिस प्रकार बहुत भूखे आदमीको [illegible] तनिक भी तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार जबतक पूरा भजन नहीं होता तबतक साधकको शान्ति नहीं होती।

७. अधिक लाभ उन्हीं लोगोंके सत्सङ्गसे होता है, जिनसे अपने इष्ट, साधन और [illegible] है। दूसरी निष्ठाके साधकोंका सङ्ग करनेसे कई बार अपने साधनमें सन्देह उत्पन्न हो जाता है। अतः [illegible] सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये जिनसे अपना इष्ट मिले, निष्ठा मिले और मत मिले।

८. देहमें अहंता और भोगपदार्थोंमें ममता—ये दो दुःखके प्रधान कारण हैं। [illegible] [illegible] सुख पाना चाहते हैं, परन्तु इनसे तो वे उलटे दुःखमें ही पड़ते हैं।

९. राग-द्वेष—इन दोनोंके [illegible] सभी दुःख [illegible] हो सकते। [illegible]

[illegible]

[illegible]

कल्याण

निश्चय करो-मैं सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का सनातन अंश हूँ, भगवान्‌की शक्ति मुझमें है। किसी पाप-तापकी ताकत नहीं जो भगवान्‌की शक्तिका सामना कर सके।

निश्चय करो-मैं सत् हूँ, चेतन हूँ और आनन्द हूँ। मेरी नित्य सत्ताको कोई भी मौत नहीं मिटा सकती। मेरे अखण्ड चित्स्वरूपमें कभी अज्ञान या मोहका प्रवेश नहीं हो सकता; और मेरे अनन्त अनामय एकरस आनन्दमें तो कभी कोई रूपान्तर होता ही नहीं।

निश्चय करो-मेरे नित्य निरामय चित् स्वरूपपर किसी भी जड पदार्थ या जागतिक स्थितिका कोई भी असर नहीं हो सकता। मेरी अखण्ड शाश्वत शान्तिको कोई भङ्ग कर ही नहीं सकता।

निश्चय करो-मैं नित्य निर्मल और अनन्त आनन्दके भण्डार भगवान्‌का स्व-अंश हूँ। कोई भी रोग, शोक, विषाद, भय, निराशा, दरिद्रता, दुर्भावना और दुराचार मुझमें नहीं रह सकते। मैं सदा नीरोग, सदा प्रसन्न, सदा निर्भय, सदा सम्पन्न, सदा सफल, सदा सद्विचारी और सदा सदाचारी हूँ।

निश्चय करो-भगवान्‌का निष्कपट निःस्वार्थ प्रेम मेरे हृदयमें भरा है। कृपा, सेवा, उदारता, स्वतन्त्रता, समानता, शान्ति, साधुता आदि तो मेरे उस प्रेमके परिकर हैं, जो नित्य निरन्तर निकल-निकलकर सर्वत्र फैलते और सबको सुख पहुँचाते रहते हैं।

निश्चय करो-मुझमें कोई अशुभ या अकल्याण है ही नहीं। क्योंकि परम शुभ और परम कल्याणस्वरूप भगवान् सदा मेरे हृदयमें बसते हैं और उसी हृदयको लेकर मैं सदा उन्हीं भगवान्‌में निवास कर रहा हूँ।

निश्चय करो-जो भगवान् मुझमें हैं और जिन भगवान्‌में मेरा निवास है, वही भगवान् सबमें हैं और उन्हीं भगवान्‌में सबका निवास है। अतएव दूसरा कोई है ही नहीं। भगवान् ही भगवान्‌में बसकर भगवान्‌की भागवती-लीला कर रहे हैं।

निश्चय करो-सत्य, अहिंसा, उत्साह, साहस, शक्ति, शान्ति, ज्ञान, वैराग्य, पुण्य, क्षमा, पवित्रता आदिसे मेरा हृदय सदा पूर्ण रहता है। ये कभी मेरे हृदयसे जा नहीं सकते—क्योंकि ये भगवान्‌के चरणसेवक हैं और भगवान् एक क्षणके लिये भी कभी मेरे हृदयसे विलग होते नहीं।

निश्चय करो-मैं कभी बुरा विचार, असत् सङ्कल्प, पाप-निश्चय और दूसरेके अनिष्टका चिन्तन कर ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌के सान्निध्यके कारण मेरा हृदय सदा सद्विचार, सत्-संकल्प, शुभ निश्चय और परहितके भावसे भरा रहता है।

निश्चय करो-मैं जगत्‌में आया हूँ केवल सुख, शान्ति, पुण्य, प्रेम, परमात्माकी भक्ति और भगवान्‌का अखण्ड ज्ञान पाने, और सारे जगत्‌में वितरण करनेके लिये। यही मेरे जीवनका परम व्रत है।

'शिव'

गुरुतत्त्व और सद्गुरुरहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०)

'सद्गुरु' शब्दका प्रयोग शास्त्रोंमें, विभिन्न स्थानोंमें, विभिन्न प्रसंगोमें पाया जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि बहुत जगह 'गुरु' और 'सद्गुरु' दोनों शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें किया गया है, परन्तु साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी-किसी जगह 'सत्' विशेषण लगाकर असद्गुरुसे गुरुविशेषकी विलक्षणता बतलायी गयी है । अतएव 'सद्गुरु' से क्या समझा जाना चाहिये और प्रसङ्गतः असद्गुरु कौन है, इसपर भी विचार करना आवश्यक है । इस विषयमें शास्त्रका गूढ रहस्य क्या है, उसे जाननेकी भी स्वाभाविक ही इच्छा होती है । परन्तु इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिये भी शास्त्रका आश्रय ही एकमात्र उपाय है । 'मालिनीविजयमें' है—

> 'स यियासुः शिवेच्छया ।
> भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥'

इससे यह सिद्ध होता है कि सद्गुरुका आश्रय प्राप्त किये बिना जीवको एक ही साथ भोग और मोक्षकी अभिन्नभावसे प्राप्ति नहीं होती । अर्थात् वह पूर्णत्वको प्राप्त नहीं हो सकता ।* सद्गुरुप्राप्तिकी जड़में भगवदिच्छा ही मुख्य कारण है और जीवकी इच्छा उस मूल भगवदिच्छाकी ही अनुगामिनी है, यह उपर्युक्त 'यियासुः शिवेच्छया' इस वाक्यांशसे स्पष्ट प्रकट है । परन्तु याद रखना चाहिये कि असद्गुरुकी प्राप्तिके मूलमें भी वह एक भगवदिच्छा ही काम करती है, [illegible] कुछ भी सन्देह नहीं है । इसका विशेष विवरण [illegible] प्रकाशित होगा ।

परमेश्वरका साक्षात् ज्ञान प्राप्त करके उनके साथ [illegible] तादात्म्य नहीं हो गया है, ऐसे केवल तत्त्वका उपदेश करनेवाले आचार्यविशेषको असद्गुरु कहते हैं । जिन साधकोंके चित्तमें इस प्रकारके आचार्यके प्रति गाढ़ विश्वास है, [illegible] आगमशास्त्रोंमें बतलायी हुई परामुक्तिको तो प्राप्त [illegible] नहीं, मायाराज्यको लाँघनेमें भी समर्थ नहीं होते । उन्हें जो मुक्ति मिलती है, वह वास्तविक मुक्ति नहीं है—वह [illegible] प्रलय-कैवल्यकी भाँति एक अर्धजड़ अवस्थामात्र होती है । वास्तविक मुक्तिमें पशुत्वकी निवृत्ति होकर [illegible] अभिव्यक्ति होती है । परन्तु इन साधकोंका पशुत्व [illegible] अवस्थामें भी नहीं छूटता । वह मायाराज्य अथवा [illegible]

---

* भोग और मोक्षकी साम्यावस्था ही जीवन्मुक्ति है । 'भोग' [illegible] हो जाता है, तब उस [illegible] [illegible] कहते हैं, [illegible] भी कहते हैं । [illegible] कहा गया है—

[illegible]

इस भोग और मोक्षकी [illegible] सहजिया लोग कहते हैं कि वायुके [illegible] चन्द्र-सूर्यके [illegible] [illegible] है । [illegible] निर्गम=[illegible]

[illegible]

मा नाम्नी शक्तिके द्वारा संक्षिप्त होनेके कारण ऐसे साधकमें सद्गुरुके प्रति प्रगाढ़ अनुराग और विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

परन्तु ऐसी बात नहीं है कि इनमेंसे किसी किसीको सद्गुरुकी प्राप्ति न होती हो। भगवत्कृपाको प्राप्त—शक्तिपातके द्वारा पवित्रताको प्राप्त—साधक जब अपने स्वरूपलाभके लिये व्याकुल हो उठता है, तब ज्येष्ठा शक्ति नाम्नी भगवदिच्छाकी * प्रेरणासे उसके चित्तमें सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये शुभ इच्छा जाग उठती है। यही इच्छा 'शुद्ध विद्याके विकास' और 'सत्तर्क' के नामसे प्रसिद्ध है।

असद्गुरु हो या सद्गुरु—दोनोंकी ही प्रवृत्तिके मूलमें है भगवदिच्छा। असल बात यह है कि शक्तिपातकी प्रवृत्ति क्रमिक होती है। इसीसे कोई-कोई साधक असद्गुरु और अपूर्ण तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका आश्रय लेकर उसके पश्चात् सद्गुरुके आश्रयको प्राप्त होता है, और कोई कोई पहलेसे ही सद्गुरुकी कृपा प्राप्त कर लेते हैं। शक्तिपातकी विचित्रताके कारण ही, गुरु और शास्त्रगत सद्भावोंकी विचित्रता होती है। जो शास्त्र या गुरु परिपूर्ण तत्त्वको प्रकट नहीं करते, वे ही माया, या वामाशक्तिके द्वारा अधिष्ठित होनेके कारण असत्शास्त्र या असद्गुरु कहलाते हैं। पूर्ण सत्यके प्रतिपादक शास्त्र और गुरु ही सत्शास्त्र और सद्गुरु हैं। वास्तविक मोक्ष न होनेपर उसे मोक्ष मानने और उसीको प्राप्त करनेकी स्पृहा होनेमें, एकमात्र माया ही कारण है। यह माया ही इस प्रकार जीवको इधर-उधर विभिन्न दिशाओंमें भटकाकर कष्ट देती है। परन्तु मायाके पीछे-पीछे भगवान्‌की करुणा भी जाग्रत् रहती है। इसीसे साधक चित्त दृढ़ संस्कारवश असत्शास्त्र और असद्गुरुमें आसक्त होनेपर भी उसमें भगवत्कृपासे सत्तर्क और परामर्शका आविर्भाव हो सकता है। उस समय क्या सार है और क्या असार—इसे समझनेमें कोई कष्ट नहीं होता। इस प्रकार शुद्ध विद्याके प्रभावसे—ज्येष्ठाशक्तिके अधिष्ठानवश—पवित्रताकी प्राप्ति होती है और बिना किसी विघ्नके सत्यका आश्रय प्राप्त करनेकी शक्ति पैदा हो जाती है।

(२)

सत्तर्क या शुद्ध विद्याका उदय कैसे हो? किरणागमके मतानुसार किसीमें सत्तर्क गुरुके उपदेशद्वारा तो किसीमें शास्त्रके द्वारा सत्तर्ककी उत्पत्ति होती है। परन्तु ऐसे उत्तम साधक भी होते हैं जिनमें सत्तर्क गुरुके उपदेश या शास्त्रादिकी अपेक्षा नहीं होती और अपने-आप ही सत्तर्क या शुद्ध विद्याका उदय हो जाता है। इनमें वस्तुविषयक सुनिश्चित ज्ञान अपनेसे (स्वतः) ही उत्पन्न होता है—वह गुरु आदिके अधीन नहीं होता।† यह ज्ञान जैसे स्वभावसिद्ध होता है, वैसे ही इस प्रकारका साधक भी स्वभावसिद्ध (सांसिद्धिक) होता है। परन्तु ऐसी बात भी नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञान सर्वथा निमित्त-हीन ही है। क्योंकि, भगवान्‌का शक्तिपात आदि अदृष्ट निमित्त तो अवश्य ही होता है। यह सत्य है कि इसमें कोई लौकिक निमित्त नहीं होता। परामर्श-उदयकी पूर्वोक्त कारण-परम्परामें गुरुसे शास्त्र श्रेष्ठ है और शास्त्रसे स्वभाव। क्योंकि, गुरु जैसे शास्त्राधिगमके लिये उपायरूप है, वैसे ही शास्त्र भी स्वभावप्राप्तिका द्वारभूत है। इसीलिये गुरु और शास्त्रकी कारणता गौण है, मुख्य नहीं। स्वभाव ही मुख्य कारण है।‡

ही है—अवश्य ही सर्वथा ध्वंस भी हो सकता है। 'विज्ञानकेवली'की कर्म न होनेके कारण पुनरावृत्ति नहीं होती—आणव-मल ध्वंसोन्मुख होनेके कारण उससे कर्मोंकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। वेदान्त-मोक्षमें पुनरावृत्ति निवृत्त नहीं होती। कोई-कोई वेदान्त-मोक्षको 'विज्ञानकैवल्य'के सदृश मानते हैं। वैष्णवादिका मोक्ष इस मतके अनुसार प्रलयाकलकी तरहका है। उस स्थानमें दीर्घकालतक भोग होता है—फिर (नयी सृष्टिमें) जन्म होता है। न्यायादिका अपवर्ग आत्माका सर्वविशेषोच्छेद होनेके कारण अपवेद्य प्रलयाकलके सदृश है।

* इस बातको सभीने माना है कि भगवान्‌की कृपासे सद्गुरुकी प्राप्ति होती है।

† त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्डमें है—

'उत्तमानां तु विज्ञानं गुरुशास्त्रानपेक्षणम्' कहा जाता है कि वामदेव, जडभरत एवं अन्यान्य अकृतश्रवण व्यक्तियोंका ज्ञान इस प्रकार सांसिद्धिक ही था। आत्माके स्वरूपमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानका भेद नहीं है; वह पराक्तरूप, सद्रूप विकल्पहीन और मोहहीन है। नित्य सिद्ध होनेपर भी जीव इसको नहीं जानता, उसे उपलक्षण या परिचय नहीं है। गुरु और शास्त्र परिचय करा देते हैं। किसी-किसीको अपने-आप ही परिचय हो जाता है।

‡ योगवासिष्ठमें है—'शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः।' (निर्वाणप्रकरण १। १२८। १६३) अर्थात् गुरुवाक्यसे जो बोध पैदा होता है, उसमें शिष्यकी प्रज्ञा ही कारण है। अतएव गुरु और

(३)

जिसका सत्तर्क स्वभावतः (अपने-आप ही) उदित होता है, उसके अधिकारमें बाधा पहुँचा सके, ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है । उसको बाह्य दीक्षा और बाह्य अभिषेककी आवश्यकता नहीं होती । वह स्वयं संवित्ति देवियोंके द्वारा ही दीक्षित और अभिषिक्त होती है । उसकी अपनी इन्द्रियाँ ही अन्तर्मुखी होकर प्रमाताके साथ—उसके स्वात्माके साथ—ऐक्य सम्पन्न करा देती है । यही द्योतनकारिणी संविद् देवियाँ हैं । ये उसके ज्ञानक्रियाख्य प्रसुप्त चैतन्यको उत्तेजित करती हैं । यही दीक्षा है । जिस क्रियाके फलस्वरूप वह सर्वत्र स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, वही अभिषेक है । बहिर्मुख चित्तकी वृत्तियाँ ही अन्तर्मुखी अवस्थामें 'शक्ति' कहलाती हैं । इस प्रकारका साधक सारे आचार्योंमें श्रेष्ठ माना जाता है । उसकी विद्यमानतामें दूसरा कोई भी परानुग्रह आदि कार्योंका अधिकारी नहीं होता । साधारण साधक-गुरुसे शास्त्ररहस्य जाना जाता है । परन्तु जिसका ज्ञान स्वभावसिद्ध है, उस सत्तर्कसे समस्त शास्त्रोंका अर्थ समझा जा सकता है, बाह्य गुरुकी सहायता उसके लिये आवश्यक नहीं होती । ऐसा कोई सत्य न तो है और न हो सकता है,—जो शुद्ध विद्याकी ज्योतिसे प्रकाशित न हो सके । इसीलिये इस प्रकारका साधक किसी लौकिक निमित्तका आश्रय लिये बिना ही सारे शास्त्रोंके गूढ़ रहस्यको जान लेता है । यही प्रातिभ महाज्ञानकी विशेषता है ।

यहाँ जिस स्वभावज महाज्ञानकी बात कही गयी है, वह महाज्ञान वस्तुतः एक होनेपर भी उपाधिभेदसे अर्थात् भित्ति और उसके अंशके भेदसे नाना प्रकारका हो सकता है । जिसके आश्रयसे (उपजीव्य) ज्ञानका उदय होता है, उसे उस ज्ञानकी भित्ति कहते हैं । यह अपने विमर्श और परकृत तत्तत् कर्मके अभिधायक शास्त्रको छोड़कर और कुछ नहीं है । स्वभावसिद्ध ज्ञान किसीका भी आश्रय करके उदय नहीं होता, इसीसे उसे भित्तिहीन कहा जाता है । परन्तु किसी-किसी [illegible] वह भित्तिविशिष्ट भी हो सकता है । वह कैसे होता है, इसीपर विचार करना है ।

जिनके स्वतः ही सत्तर्कका उदय होता है, उनके सारे बन्धन ढीले हो जाते हैं और उनमें पूर्ण [illegible] आविर्भाव होता है । उनको सांसिद्धिक गुरु कहा जा सकता है । उनमें

[illegible]

अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता। आत्मामें कृतकृत्य होते हैं; इसलिये दूसरेपर अनुग्रह एकमात्र प्रयोजन रहता है ।

स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयँल्लोक एष प्रयत्नाद्
नो पारक्यं प्रतिघटयते काञ्चन स्वात्मवृत्ति।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्र।

अर्थात् योगभाष्यकार व्यासदेवने ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ कहा है, इस प्रकारके सांसिद्धिक गुरुके सम्बन्धमें वही बात कही जा सकती है—

'तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्।'

इस परानुग्रहको ग्रहण करनेवाले अपनी-अपनी योग्यताके तारतम्यसे विभिन्न प्रकारके हुआ करते हैं । जो शिष्य [illegible] संवित्-सम्पन्न या शुद्धचित्त होता है, उसपर अनुग्रह करते समय गुरुको किसी उपकरणका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं होती । वे केवल निष्काम (अनुसन्धानहीन) [illegible] द्वारा ही इस प्रकारके अनुग्रह चाहनेवाले योग्य शिष्यपर अनुग्रह कर देते हैं । निजबोधरूप स्व-शक्तिके [illegible] शिष्यको अपने साथ समभावापन्न कर लेना ही अनुग्रहका लक्षण है ।

तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलमन्विताः ।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता ॥

इस प्रकारके निष्काम शिष्यपर अनुग्रह करनेमें उपकरण की आवश्यकता नहीं होती । यह निर्भित्तिक ज्ञानका उदाहरण है ।

परन्तु अनुग्राह्य शिष्य यदि वैसा निर्मल [illegible] नहीं होता तो उपकरणकी आवश्यकता होती है । अर्थात् ऐसे अवसरपर सांसिद्धिक गुरुमें भी 'इसपर इस प्रकार [illegible] करूँगा ।' ऐसी अनुसन्धानमूलक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । इसीसे बाह्य उपकरणोंकी आवश्यकता होती है और [illegible] मर्यादाका आश्रय लेना पड़ता है । [illegible]

[illegible]

पड़ता है। इस प्रकार गुरु-आराधनके क्रमसे उनमें शुद्ध विद्याका उदय हो सकता है। यही आगे चलकर अभिषेक प्राप्त होनेपर परानुग्रह आदिका अधिकार पाते हैं। इनको 'कल्पित' गुरु कहते हैं। परन्तु कल्पित अर्थात् दूसरे आचार्य-के द्वारा निष्पादित होनेपर भी इनमें समस्त पाशोंको पूर्णरूपसे काट देनेकी शक्ति होती है।

[ग] कोई-कोई 'कल्पित' होनेपर भी गुरु आदिकी अपेक्षा न करके अपनी प्रतिभाके बलसे ही अकस्मात् लोकोत्तर शास्त्रीय तत्त्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेते और उसका रहस्य समझ लेते हैं। 'कल्पित' होनेपर भी इनका बोध स्वतः प्रवृत्त होनेके कारण ये 'अकल्पित' होते हैं। इसीसे ऐसे गुरुको 'कल्पिताकल्पित' कहते हैं। इनमे कल्पितांशकी अपेक्षा अकल्पित भाग ही श्रेष्ठ होता है।

[घ] पूर्वोक्त विवरणसे समझा जा सकता है कि ये चारों प्रकारके गुरु कल्पित और अकल्पित,—इन दोनों भेदोंका परस्पर मिश्रणजनित अवान्तर विभाग हैं। फलतः कल्पित और अकल्पित गुरुमें कोई भेद नहीं है—कल्पित गुरु भी शिष्यका पाशछेदन करके शिष्यत्वकी अभिव्यक्ति कर सकते हैं। कारण, स्वयं परमेश्वर ही आचार्यदेहमे अधिष्ठित होकर बन्धन खोलते हैं—नहीं तो एक जीव दूसरे जीवका उद्धार नहीं कर सकता। शास्त्रमें कहा गया है—

यस्मान्महेश्वरः साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः॥

अर्थात् स्वयं महेश्वर ही मानुष-मूर्ति धारण करके कृपा-पूर्वक गुरुरूपसे (माया) मग्न जीवोंका उद्धार करते हैं।

यहाँ हम मनुष्य-गुरुकी चर्चा कर रहे हैं। वस्तुतः सिद्धगुरु और दिव्यगुरु भी हैं। अवश्य ही सबके मूलमें तो एकमात्र परमेश्वर ही अनुग्राहक हैं। उनके सिवा और कोई भी अनुग्रह नहीं कर सकता।

गुरुका प्रकारभेद तो ज्ञानेन्द्रियादिके प्रणालीभेदके कारण है। किसी भी उपायसे हो या बिना उपायसे, ज्ञान उत्पन्न होना चाहिये। ज्ञान होनेपर कार्य होगा ही। अग्नि चाहे लकड़ीसे लकड़ी घिसकर उत्पन्न करें, ...

नित्यसिद्ध परमशिवमें और बन्धनसे मुक्त ... को प्राप्त होनेवालेमें सर्वज्ञत्वादि सामर्थ्य समान है ... जैसे परम शिवका उत्कर्ष अधिक मानना पड़ता है, ... अकल्पित गुरुकी महिमा भी स्वीकार करनी पड़ती है। ... अकल्पित गुरुके सामने कल्पितादि गुरु या तो ... निष्क्रिय बने बैठे रहते हैं अथवा उनका अनुवर्तन करते ...

अतएव 'सद्गुरु' शब्दसे या तो साक्षात् परमे... समझना चाहिये अथवा उनके अनुग्रहप्राप्त तत्त्वापर्... जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुषको। ये अधिकारी देवता, ... और मनुष्य—तीनों ही हो सकते हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'असद्गुरुमे गुरुत्व ... है?' 'गुरु' शब्दका वास्तविक अर्थ लेनेपर ही इस प्रकारकी शङ्का होती है। 'गुरु' शब्दका सङ्कुचित अर्थ ग्रहण करने पर यह शङ्का नहीं होती। क्योंकि, मायासे उद्धार न कर सकनेपर भी जो ऊँचे लोकोंके भोगैश्वर्य और अजरत्व, अमरत्व आदि परिमित सिद्धियाँ दे सकते है, वे भी व्यवहारतः ... ही कहे जाते हैं। मायिक जगत्मे भी भिन्न-भिन्न उच्च ... आनन्द और भोग्यकी कमी नहीं है। पृथ्वीतत्त्वसे ले... कलातत्त्वतक प्रत्येक तत्त्वमें ही भोग्यविषय और भोगोपकरण... से भरे अनेकों भुवन हैं। इन सब भुवनोंमें भी गुरु हैं ... इनके सिवा, भुवनेश्वरगण भी ज्ञानसम्पन्न अधिकारी पुरुष होते हैं। योगी पूर्ण सिद्धावस्था लाभ करनेके पूर्व ऐसी शक्ति प्राप्त हो सकते हैं कि जिसके द्वारा वे व्यक्तिविशेषको—व... जिस तत्त्वमें है, उसे वहाँसे,—उठाकर दूसरे वाञ्छित तत्त्व... और उस तत्त्वके भुवनविशेषमें वहाँके ऐश्वर्यका भोग करनेके लिये भेज सकते हैं। इसके लिये दीक्षाकी आवश्यकता नहीं होती। उन-उन भुवनेश्वरोंकी आराधनाके द्वारा ... उन भुवनोंमें गमन और निवास किया जा सकता है। इन सब भोग-लोकोंसे भी भोगके अन्तमें पतन होना अवश्यम्भावी है। हाँ, यदि किसी सद्गुरुकी कृपासे ... मिल जाय तो दूसरी बात है। ये सब गुरु ...

• ...

ते हैं, दिव्यज्ञान नहीं दे सकते। इसी कारण ये मायासे
। तार सकते। यही उपर्युक्त असद्गुरु हैं।

ऐसे गुरु भी हैं जो ज्ञान दे सकते हैं; परन्तु भोग या
ज्ञान नहीं दे सकते। ज्ञान देकर वे मायासे मुक्त
र देते हैं परन्तु विज्ञानके अभावसे वह अधिकार नहीं
। सकता। वह स्वयं मुक्त हो जाता है, परन्तु दूसरेको
ुक्त नहीं कर सकता। परोपकार नहीं कर सकता। ऐसा
ुरु 'ज्ञानी गुरु' होता है—योगी नहीं होता। वह प्रकृत
द्गुरु भी नहीं है। सिद्धयोगी होनेके कारण जो एक ही साथ
योगी और ज्ञानी—उभयात्मक होते हैं, वे ही 'सद्गुरु' हैं।
वे शिष्यके भोग-मोक्ष दोनोंका विधान कर सकते हैं। कारण,
वे विज्ञान प्रदान करते हैं। पूर्णत्वकी प्राप्ति उन्हींकी कृपासे
हो सकती है।

'ब्रह्मानन्दं परमसुखदम्' कहकर जिन सद्गुरुको
नमस्कार किया जाता है और गुरुप्रणाममें जिनको 'तत्पदका
प्रदर्शक' तथा 'ज्ञानाञ्जन शलाकाद्वारा अज्ञान तिमिरान्धके
ज्ञानचक्षु खोल देनेवाले कहा जाता है, वे दोनों एक ही हैं।'
साधारणतः 'गुरु' शब्दसे सद्गुरु ही समझा जाता है।
कारण, गुरुरूपी भगवान् अथवा गुरुदेहमें अधिष्ठित भगवान्
अपनी क्रियाशक्तिके द्वारा (दीक्षाके द्वारा) पशुके स्वतःसिद्ध
दिव्यज्ञानरूप चक्षुओंका अवरोध करनेवाले अनादि मलका
नाश कर देते हैं। जिससे उसका पशुत्व मिटकर उसमें
सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्वकी अभिव्यक्ति होती है और उसे
शिवसाधर्म्यकी प्राप्ति हो जाती है।

इस क्रिया-शक्तिका दर्शन, स्पर्श आदि विभिन्न उपायों-
से प्रयोग किया जा सकता है और उसीके अनुसार दीक्षामें
भी प्रकारभेद हुआ करता है। शिष्यको उद्धार करनेकी
शक्ति ही गुरुका लक्षण है। योगवासिष्ठमें कहा है—

'दर्शनात् स्पर्शनाच्छब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः॥'
(निर्वाणप्रकरण १। १२८। १६१)

अर्थात् जो कृपापूर्वक दर्शन, स्पर्शनका शब्दके द्वारा
शिष्यके देहमें शिवभावका 'आवेश' करा सकते हैं वे ही
देशिक या गुरु हैं। कुण्डलिनी जगाकर षट्चक्रका भेद
करके जब ब्रह्मरन्ध्रमें परशिवके साथ जा मिलती है, तब वह
'आवेश' हुआ करता है। उत्तमकल्प गुरु केवल एक बार
कृपापूर्ण दृष्टिपात करके ही इस सुमहान् कार्यको
कर सकते हैं।

योग्य शिष्यका उद्धार करना और अयोग्यको योग्य
बनाकर उसे तार देना यही गुरुका कार्य होता है। योधसारमें
नरहरिने कहा है—

तत्तद्विवेकवैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभिः।
श्रीगुरुः प्रापयत्येव न पद्ममपि पद्मताम्।
प्रापय्य पद्मतामेनं प्रबोधयति तत्क्षणात्॥

अर्थात् श्रीगुरु विवेक-वैराग्ययुक्त वेदान्त युक्तियोंके
द्वारा अपद्मको भी पद्मरूपमें परिणत कर देते हैं। फिर
उसे उसी क्षण जगा देते हैं। भास्कररायने ललिता
सहस्रनामके भाष्य (१०) में स्पष्ट ही कहा है—'अयोग्येऽपि
योग्यतामापाद्य श्रीगुरुसूर्यो बोधयति।' अर्थात् श्रीगुरुरूपी
सूर्य अयोग्यको भी योग्य बनाकर प्रबुद्ध कर देते हैं।*

(५)

वैदिक शास्त्रकी तरह 'आगम' में भी श्रौत, चिन्तामय
और भावनामय—इन तीन प्रकारके ज्ञानका वर्णन मिलता
है।† इनमें पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञानमें हेतु है। चिंतित

---

* 'नवचक्रेश्वर-तन्त्र' में कहा गया है—

'पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति स गुरुः परिकीर्तितः॥'

अर्थात् जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत—इन चारोंको
सम्यक् रूपसे जानते हैं, वे ही गुरु हैं। 'गुरुगीता' के अनुसार
कुण्डलिनी शक्ति, हंस, बिन्दु और निरञ्जन—इन्हीं चारोंको यथाक्रम
पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत कहा गया है—

पिण्डं कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम्॥

'स्वच्छन्द-संग्रह'में भी यह श्लोक है। परन्तु उसमें अन्तिम पद
है—'रूपातीतं हि चिन्मयम्।' 'योगिनीहृदय'ने इसी क्रमसे चारोंका
उल्लेख है। परन्तु संत दादूजीके शिष्य सुन्दरदासजीने अपने
'ज्ञान समुद्र' नामक ग्रन्थमें ध्यानके वर्णनप्रसंगमें पदस्थ,
पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—यह क्रम माना है (श्लोक ३१–
८४) जैनग्रन्थोंमें भी इन चार ध्यानोंकी बात मिलती है। इसके
द्वारा जाना जाता है कि पूर्व और [illegible] क्रम ही [illegible]
[illegible] है।

† बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी श्रुतचिन्ताभावनामयी प्रज्ञाका वर्णन है।

पड़ता है । इस प्रकार गुरु-आराधनके क्रमसे उनमें शुद्ध विद्याका उदय हो सकता है । यही आगे चलकर अभिषेक प्राप्त होनेपर परानुग्रह आदिका अधिकार पाते हैं । इनको 'कल्पित' गुरु कहते हैं । परन्तु कल्पित अर्थात् दूसरे आचार्यके द्वारा निष्पादित होनेपर भी इनमें समस्त पापोंको पूर्णरूपसे काट देनेकी शक्ति होती है ।

[ग] कोई-कोई 'कल्पित' होनेपर भी गुरु आदिकी अपेक्षा न करके अपनी प्रतिभाके बलसे ही अकस्मात् लोकोत्तर शास्त्रीय तत्त्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेते और उसका रहस्य समझ लेते हैं । 'कल्पित' होनेपर भी इनका बोध स्वतः प्रवृत्त होनेके कारण ये 'अकल्पित' होते हैं । इसीसे ऐसे गुरुको 'कल्पिताकल्पित' कहते हैं । इनमें कल्पितांशकी अपेक्षा अकल्पित भाग ही श्रेष्ठ होता है ।

[घ] पूर्वोक्त विवरणसे समझा जा सकता है कि ये चारों प्रकारके गुरु कल्पित और अकल्पित,—इन दोनों भेदोंका परस्पर मिश्रणजनित अवान्तर विभाग हैं । फलतः कल्पित और अकल्पित गुरुमें कोई भेद नहीं है—कल्पित गुरु भी शिष्यका पाशछेदन करके शिवत्वकी अभिव्यक्ति कर सकते हैं । कारण, स्वयं परमेश्वर ही आचार्यदेहमें अधिष्ठित होकर बन्धन खोलते हैं—नहीं तो एक जीव दूसरे जीवका उद्धार नहीं कर सकता । शास्त्रमें कहा गया है—

> यस्मान्महेश्वरः साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम् ।
> कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः ॥

अर्थात् स्वयं महेश्वर ही मानुष-मूर्ति धारण करके कृपापूर्वक गुरुरूपसे (मग्न) भव-जीवोंका उद्धार करते हैं ।

यहाँ हम मनुष्य-गुरुकी चर्चा कर रहे हैं । वस्तुतः [illegible] और [illegible] भी हैं । अवश्य ही सबके मूलमें तो एकमात्र परमेश्वर ही अनुग्राहक हैं । उनके सिवा और कोई भी अनुग्रह नहीं कर सकता ।

[illegible]

नित्यसिद्ध परमशिवमें और [illegible] को प्राप्त होनेवालेमें सर्वज्ञत्वादि सामर्थ्य [illegible] जैसे परम शिवका उत्कर्ष अधिक मानना पड़ता है, [illegible] अकल्पित गुरुकी महिमा भी स्वीकार करनी पड़ती है । [illegible] अकल्पित गुरुके सामने कल्पितादि गुरु या तो [illegible] निष्क्रिय बने बैठे रहते हैं अथवा उनका अनुवर्तन [illegible]

अतएव 'सद्गुरु' शब्दसे या तो साक्षात् [illegible] समझना चाहिये अथवा उनके अनुग्रहप्राप्त [illegible] जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुषको । ये अधिकारी देव, [illegible] और मनुष्य—तीनों ही हो सकते हैं ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'असद्गुरुमें गुरुत्व [illegible] है ?' 'गुरु' शब्दका वास्तविक अर्थ लेनेपर ही [illegible] शङ्का होती है । 'गुरु' शब्दका सङ्कुचित अर्थ ग्रहण [illegible] पर यह शङ्का नहीं होती । क्योंकि, मायासे उद्धार [illegible] सकनेपर भी जो ऊँचे लोकोंके भोगैश्वर्य और [illegible] आदि परिमित सिद्धियाँ दे सकते हैं, वे भी [illegible] ही कहे जाते हैं । मायिक जगत्में भी भिन्न-भिन्न [illegible] आनन्द और भोग्यकी कमी नहीं है । [illegible] कलातत्त्वतक प्रत्येक तत्त्वमें ही भोग्य [illegible] और [illegible] से भरे अनेकों भुवन हैं । इन सब भुवनोंमें [illegible] इनके सिवा, भुवनेश्वरगण भी [illegible] होते हैं । योगी पूर्ण सिद्धावस्था लाभ करनेके पूर्व [illegible] प्राप्त हो सकते हैं कि जिसके द्वारा वे [illegible] जिस तत्त्वमें है, उसे वहाँसे,—उद्धार [illegible] और उस तत्त्वके भुवनाधिपतिने वहाँके [illegible] लिये भेज सकते हैं । इसके लिये [illegible] नहीं होती । उन-उन [illegible] उन भुवनोंमें गमन और [illegible] इन सब भोग-भूमियोंमें भी [illegible] अवस्थामें ही है । हाँ, वहाँ [illegible] भिन्न [illegible] ।

[illegible]

आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ॥

जो गुरु विज्ञान दानमें समर्थ नहीं है, वह शक्तिहीन है। जो स्वयं अज्ञ है, वह दूसरेको ज्ञान कैसे दे सकता है ? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'भावना ही तो मुख्य है, अज्ञ गुरुके द्वारा भी शिष्यकी भावनाके कारण उत्तम फल हो सकता है। अतएव अज्ञ प्राप्त गुरुके त्यागकी क्या आवश्यकता है ?' जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष देखकर भी अधम पदपर स्थित रहता है वह अभागा है। जो भोग, मोक्ष और विज्ञान चाहता है, उसका गुरु स्वभ्यस्त ज्ञानी योगसिद्ध ही होना चाहिये। यही तीसरे प्रकारका योगी है। जो मोक्ष और विज्ञान चाहता है, उसका गुरु ज्ञानी होना चाहिये। इस गुरुसे भोगसिद्धि नहीं होती। जो मितयोगी है अर्थात् जो 'घटमान' और 'सिद्ध' अवस्थाके बीचका है, वह गुरु होनेपर केवल भोगाश दे सकता है—मोक्ष और विज्ञान नहीं दे सकता। केवल 'संप्राप्त' और 'घटमान' अवस्थामें स्थित योगी तो शिष्यको मोक्ष और विज्ञानकी बात बहुत दूर है, भोगमात्र भी नहीं दे सकता। वह तो केवल उपाय बतला सकता है। जो मितयोगी भी नहीं है, ऐसे योगाभ्यासीके अपेक्षा मितज्ञानी भी गुरुकी दृष्टिसे श्रेष्ठ है, क्योंकि, वह ज्ञानके साधनोंका उपदेश देकर शिष्यको क्रमशः मुक्त कर सकता है।

गुरु यदि ऐसे मितज्ञानी हों तो शिष्यको क्या करना चाहिये ? एक ही पूर्ण ज्ञानी गुरु या सद्गुरु न मिलनेकी अवस्थामें साधकको चाहिये कि वह भिन्न-भिन्न परिमित-ज्ञानी गुरुओंसे अंशांशिक क्रमसे ज्ञान ले-लेकर अपने अखण्डमण्डल पूर्ण ज्ञानका सम्पादन करे। एक ही मितज्ञानीसे *पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती*, अतएव अपने ज्ञानकी पूर्णताके लिये विशेष प्रयत्नके साथ असंख्य गुरु करनेकी आवश्यकता होती है। इसमें प्रत्यवाय नहीं होता।

सद्गुरुकी प्राप्ति भगवान्के अनुग्रह बिना नहीं होती। जहाँ तीव्र शक्तिपात होता है, वहाँ पूर्ण ज्ञानसम्पन्न ऐसे गुरु मिल जाते हैं—जिनकी कृपामात्रसे स्वात्मविज्ञानका पूर्ण रूपसे उदय हो जाता है। फिर बार-बार गुरु करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

प्रभुसे—

प्रभु मैं चरण-कमलकी चेरी।
आई शरण हरण करिए अब सब भव बाधा मोरी॥
तुम सर्वज्ञ अखिल जग स्वामी मैं अल्पज्ञ कमेरी।
परमधाम अमिताभ तुम्हारा, मेरी सृष्टि अँधेरी॥
प्रभु सच्चिदानन्द परमेश्वर गति अति अलखित तेरी।
शरणागत प्रपन्नकी तुमने जीवन-विपति निबेरी॥
'शशि' अमहार प्रबल माया-विष षड्रिपु-राहु गहेरा।
बन्धन-मुक्ति हेतु श्री-पद-नख भानु-उदयकी देरी॥

—[illegible] देवी

चित्तके शास्त्रार्थ-ज्ञानको 'श्रौतज्ञान' कहते हैं। यह सबसे निकृष्ट है। शास्त्रार्थकी आलोचना करके 'यहाँ यही उपयोगी है' इस आनुपूर्वीके द्वारा व्यवस्था करना 'चिन्तामय ज्ञान' है। यह मन्दाभ्यस्त और स्वभ्यस्त-भेदसे दो प्रकारका है। स्वभ्यस्त चिन्तामय ज्ञानसे 'भावनामय ज्ञान' उत्पन्न होता है, जिसको पण्डितोंने मोक्षका एकमात्र कारण माना है। वस्तुतः यही श्रेष्ठमय ज्ञान है। इसीसे योग और योगफलकी प्राप्ति होती है। भावनामय ज्ञान न होनेपर अशुद्ध शिष्यको मायिक तत्त्वसे उद्धार करके इच्छानुसार सकल सदाशिवमें अथवा निष्कल परमशिवमें युक्त करना सम्भव नहीं है। अर्थात् गुरु स्वभ्यस्त ज्ञानी होनेपर भी यदि वह भावना-विशेषके अभावसे उक्त तत्त्व-विशेषका साक्षात्कार न करके अशुद्ध ही बना रहता है तो वह पूर्वोक्त प्रकारसे उद्धार और योजन करनेमें समर्थ नहीं होता। परन्तु सिद्ध योगी मायिक तत्त्वोंकी सिद्धि प्राप्त करके भी सदाशिवादि उत्तम पदका स्वभ्यस्त ज्ञानी होनेके कारण योजना कर सकता है। यद्यपि योगी उन-उन तत्त्वोंकी सिद्धि प्राप्त करता है, तथापि योग-बलसे शिष्योंकी उन-उन तत्त्वोंमें योजना नहीं कर सकता। कारण, निम्न-स्तरके तत्त्वोंकी योगज सिद्धि मुक्तिका उपाय नहीं है।

प्रश्न यह है कि जिसके प्रभावसे योगी सारे जगत्का बन्धन काट सकता है, वह सदाशिवादिसे उच्चस्तरके तत्त्वकी योगसिद्धि उसे क्यों नहीं होती? इसका समाधान यह है कि यद्यपि योगीकी भाँति ज्ञानी भी अभ्यासहीन है, तथापि ज्ञानी सर्वथा स्वभ्यस्त भावनाके विज्ञान-प्रसंगमें शिव-भावको प्राप्त हो गया है, इसलिये वह दीक्षादि कर्ममें योगीसे श्रेष्ठ है।

इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिये योगीके भेदके सम्बन्धमें भी कुछ साधारण ज्ञान होना आवश्[यक है।] आगमके मतानुसार संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और [सुसिद्ध] भेदसे योगी चार प्रकारके होते हैं। जिस साधकने [योगका] उपदेशमात्र पाया है उसे 'संप्राप्त' और योगाभ्यासमें [भली] भाँति लगे हुए साधकको 'घटमान' कहते हैं। ये [दोनों] प्रकारके साधक जब स्वयं ही योग अथवा ज्ञानमें [सिद्ध] नहीं हैं, तब दूसरेका उपकार करनेमें कैसे समर्थ हो [सकते] हैं! परन्तु जिनका योग सिद्ध हो गया है, उनमें [स्वभ्यस्त] ज्ञान भी अवश्य ही होता है। इस ज्ञानके द्वारा वे [दूसरोंको] मुक्त कर सकते हैं—अन्य प्रकारसे अर्थात् सिद्धिके प्रभावसे नहीं। योगी और ज्ञानीमें यही सर्वश्रेष्ठ हैं; कारण, [योगी] होकर भी ये ज्ञानी हैं। जो सुसिद्ध योगी हैं, वे भावना-भूमिसे अतीत हैं। वे किसी समय भी अपने स्वरूपसे स्खलित नहीं होते। वे किसी भी स्थानमें रहें, कैसा भी [भोग] भोग करें—सदा निर्विकार रहते हैं। वे नररूपी शिव [ही] हैं। सकलाधार सिद्धि एकमात्र उन्हींमें प्रकट होती है। परन्तु वे गुरु-भावका अवलम्बन करके साधारण मर्त्यगणोंको मुक्त नहीं करते—विद्येश्वरगणोंके द्वारा करते हैं।

अतएव ज्ञान और योगका विचार करके 'मालिनी-तन्त्र' में कहा है कि मुमुक्षुके लिये स्वभ्यस्त ज्ञानवान् गुरु ही श्रेष्ठ हैं। इसीलिये 'स्वभ्यस्त विज्ञान' ही गुरुका प्रधान लक्षण है—'योगित्व' नहीं।

परन्तु योगी गुरु भी है। यह सत्य है कि फिर योगीकी अपेक्षा ज्ञानी श्रेष्ठ है। जहाँ ज्ञानी गुरु करना चाहिये और जहाँ योगी गुरु, एवं कहाँ-कहाँ [illegible] करना चाहिये, इस विषयमें आचार्य अभिनवके गुरु [illegible] [illegible] कहा है कि जो शिव [illegible] और [illegible] है, [illegible] [illegible] ज्ञानी गुरुको [illegible] है। [illegible] गुरु [illegible] [illegible] अधिकारी है। [illegible]—

शान्तिदेवके 'बोधचर्यावतार' की प्रभाकरकृत पञ्जिका नाम्नी टीकामें इस प्रज्ञाको भूमिनिविष्ट प्रज्ञासे पृथक् किया गया है। 'अभिधर्म-कोश' में भी और यशोमित्रकृत विवरण है। वैभाषिक मतमें श्रुतमयी प्रज्ञाका विषय 'नाम', चिन्तामयी प्रज्ञाका विषय 'नाम' और 'अर्थ' एवं भावनामयी प्रज्ञाका विषय केवल 'अर्थ' है। सौत्रान्तिक मतमें [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] और [illegible] है, [illegible] [illegible] है। ([illegible]—[illegible] [illegible] [१])

ने-अन्तवाले कर्मका फल कभी अनादि अथवा न्त नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि र्ग अथवा नरकमें चाहे किसी जीवको दीर्घकालतक वास करना पड़े, परन्तु कभी-न-कभी उसे वहाँसे वश्य हटना पड़ेगा। हिंदूधर्मके अनुसार स्वर्ग अथवा रकमें नियत कालतक (चाहे वह अवधि हजारों र्षोंकी ही क्यों न हो) रह चुकनेके बाद जीवको पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि मरनेके बाद सभी जीवोंको स्वर्ग अथवा नरकमें जाना ही पड़ता है। सुकृती लोग ही स्वर्गमें जाते हैं तथा पापाचारी नरकोंमें जाते हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्होंने जीवनमें न तो कोई विशेष पुण्य ही किया है न पाप ही। हिंदूधर्मके अनुसार ऐसे जीव न स्वर्गमें जाते हैं न नरकमें वरं मरनेके बाद तुरंत ही उनका मर्त्यलोकमें पुनः जन्म हो जाता है।

मोक्ष नामक स्थितिको भी केवल हिंदूधर्मने ही माना है, दूसरे धर्मोंने उसे स्वीकार नहीं किया है। स्वर्ग अथवा नरककी प्राप्ति एक निश्चित अवधिके लिये ही होती है; किन्तु मोक्षसुखको निरवधि अथवा शाश्वत माना गया है। स्वर्ग अथवा नरक जिस प्रकार हमें कर्मोंके फल रूपमें मिलता है, उस प्रकार मोक्ष किसी कर्मका फल नहीं है। स्वर्ग अथवा नरककी भाँति यदि मोक्ष भी हमारे कर्मका फल होता तो वह भी अन्तवाला होता। मोक्ष तत्त्वज्ञानका फल है। आत्मा अपने स्वरूपको जान लेता है। उसे यह अनुभव हो जाता है कि मैं शरीरसे भिन्न शुद्ध चित् अथवा ज्ञानस्वरूप हूँ। प्रकृतिकी संहारशक्ति सभी प्राकृतिक—जड वस्तुओंका नाश कर सकती है, परन्तु वह शुद्ध चित् अथवा ज्ञानका नाश नहीं कर सकती। अतः एक बार आत्माको जब यह ज्ञान हो जाता है कि म चित् अथवा ज्ञानस्वरूप हूँ, तो फिर शरीरका अन्त . जानेपर भी आत्माकी इस स्थिति (मोक्षकी स्थिति) य कदापि अन्त नहीं हो सकता जैसा कि हम ऊप कह आये है, मोक्ष किसी कर्मका फल नहीं है। किन्त कर्म अज्ञानके पर्देको हटानेमें सहायक होते हैं, जि पर्देके कारण आत्मा अपने स्वरूपको नहीं पहचान पाता। तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली मोक्षरूप इ अविनाशी स्थितिको केवल हिंदूधर्मने स्वीकार किया हैं यही मनुष्यजीवनका परम पुरुषार्थ है।

सभी धर्मोंने सृष्टिकी उत्पत्तिका कोई-न-को सिद्धान्त माना है। सभी धर्म इस बातको स्वीकार करते हैं कि एक समय ऐसा था जब कि यह जगत् नहं था। इसीको प्रलयकाल कहते हैं। दूसरे धर्मोंकी मान्यता यह प्रतीत होती है कि प्रलय अनादिकालीन था। परन्तु हिंदूधर्म यह कहता है कि प्रलयके पूर्व भी सृष्टि थी, और उस सृष्टिके पूर्व प्रलय था—इस प्रका. सृष्टि एवं प्रलयका यह चक्र अनादिकालसे चला आता है। सन्ध्योपासनके समय जो यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व॥'

(ब्रह्माजीने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोककी रचना पूर्वकल्पके अनुसार ही की)—उससे इस बातका संकेत मिलता है कि प्रत्येक सृष्टिके पूर्व भी कोई-न-कोई सृष्टि अवश्य थी। प्रत्येक सृष्टिके आदिमें जो विषमता देखनेमें आती है, वह प्राक्तन सृष्टिमें किये हुए जीवोंके विविध कर्मोंका फल है। प्रत्येक सृष्टिके आदिमें कुछ जीव मनुष्यके रूपमें उत्पन्न होते हैं, कुछ पशुओंके रूपमें जन्म लेते हैं। इसकी संगति इस सिद्धान्तको माननेसे ही हो सकती है कि इन जीवोंने प्राक्तन सर्गमें भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्म किये थे।

हिंदूधर्ममें सत्यका समग्र रूप

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्. ए.)

कर्मके इस नियमको एक प्रकारसे सभी धर्मोंने स्वीकार किया है कि मनुष्य भला-बुरा जो कुछ भी कर्म करता है, उसका फल उसे उसी जीवनमें अथवा जन्मान्तरमें अवश्य भोगना पड़ता है। परन्तु यह नियम किस प्रकार काम करता है, इसका साङ्गोपाङ्ग एवं वैज्ञानिक निरूपण केवल हिंदूधर्ममें ही हुआ है। इसी नियमका अङ्गभूत जो यह सिद्धान्त है कि जो भी सुख-दुःख हम इस जीवनमें भोगते हैं, उनमेंसे कुछ हमारे प्राक्तन कर्मोंके फल हैं, इसकी सत्यताका अनुभव दूसरे धर्म नहीं कर पाये हैं। कुछ बच्चे जन्मसे ही रुग्ण रहते हैं। उन्होंने इस जन्ममें कोई ऐसा कर्म किया हो, जिसका फल उन्हें भुगतना पड़ रहा है—यह बात नहीं कही जा सकती। दूसरे धर्म इन बच्चोंके दुःखभोगका कारण नहीं बता सकते। ईश्वर यदि न्यायी एवं सर्वसमर्थ है तो प्रत्येक जीवके दुःखभोगका कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये। एक हिंदूधर्म ही हमें यह बतलाता है कि ऐसे बच्चोंके दुःखभोगका कारण उनके पूर्वकृत कर्म ही हैं। श्रीमती एनी बेसेंटके एक कन्या उत्पन्न हुई थी, जो जन्मसे ही रुग्ण रहती थी और कष्टमय जीवन बिताकर कुछ ही दिनोंके बाद इस लोकसे चल बसी थी। उन्होंने इस प्रश्नपर विचार किया कि उस कन्याको इतना कष्ट क्यों हुआ। उन्होंने कई पादरियोंसे इस प्रश्नका उत्तर पूछा। यही नहीं, उन्होंने विभिन्न धर्मोंके सिद्धान्तोंका निरूपण करनेवाली पुस्तकें भी पढ़ीं। परन्तु जबतक उन्होंने हिंदूधर्मके ग्रन्थ नहीं पढ़े, और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका ठीक-ठीक पता न लगा तबतक उन्हें इस प्रश्नका सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। ऐसे बहुत-से हेतु हैं, जिनके कारण हमें बाध्य होकर पुनर्जन्मको स्वीकार करना पड़ता है। महाकवि कालिदासने अपनी अनुपम कृति अभिज्ञानशाकुन्तलमें एक जगह कहा है कि प्रियजनोंसे संयुक्त होनेपर भी हम कभी-कभी दूरस्थ बन्धुके लिये उत्कण्ठित-से हो जाते हैं। [illegible] कारण वे यही बतलाते हैं कि ऐसे अवसरोंपर हम [illegible] किसी पूर्वजन्मके स्नेहीको याद करते होते हैं*।

हालके पैदा हुए शिशुको माँका स्तन [illegible] कौन सिखलाता है? उसने पिछले जन्मोंमें [illegible] अवश्य पिया होगा और उसका पिछला अभ्यास [illegible] जन्ममें भी उसके काम आता है। पूर्वजन्मके [illegible] एक और भी प्रमाण है। सभी धर्म एक स्वरसे आत्माकी अमरताको—नित्यताको स्वीकार करते हैं। परन्तु जिस वस्तुका आदि है, उसका अन्त भी अवश्य [illegible] चाहिये। अन्त उसी वस्तुका नहीं होता, जिसका आदि नहीं है। अतः आत्माको अविनाशी मानने [illegible] उसे अनादि भी मानना होगा। कोई भी दूसरा [illegible] नहीं बतला सकता कि आत्मा जन्मके पूर्व किस अवस्थामें था। एक हिंदूधर्ममें ही इसका पूरा [illegible] विवरण मिलता है।

सभी धर्म मृत्युलोकके अतिरिक्त स्वर्ग और नरक नामक लोकोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु जहाँ दूसरे धर्म यह कहते हैं—अथवा संकेत करते हैं कि स्वर्ग और नरकमें जाकर कोई वापस नहीं आ[illegible] हिंदूधर्म यह कहता है कि कोई भी आत्मा स्वर्ग अथवा नरकमें सदा नहीं रह सकती। क्योंकि स्वर्ग अथवा नरक हमें अपने किसी कर्मके फलरूपमें ही प्राप्त होते हैं और कर्म सभी आदि-अन्तवाले होते हैं।

---

* [illegible]

कामके पत्र

(१)

ब्रह्मज्ञान, पराभक्ति, भगवान्‌की लीला

आपका कृपापत्र मिला था । उत्तर लिखनेमें बहुत र हो गयी, इसके लिये क्षमा करें । व्यतिरेक और अन्वय—दोनों प्रकारसे ही ब्रह्मज्ञानकी साधना होती है । आजकल अवश्य ही ऐसी प्रथा-सी हो गयी है कि लोग वेदान्तका अर्थ ही व्यतिरेक-साधना करते हैं । वे 'नेति-नेति' कहकर जगत्‌को स्वप्न, गन्धर्वनगर, शशशृंग और रज्जुमें सर्प आदिकी भाँति सर्वथा असत् बतलाकर सबका अस्वीकार तो करते हैं, परन्तु सब कुछको एकमात्र नित्य सच्चिदानन्दघन-स्वरूप मानकर ब्रह्मका स्वीकार नहीं करते । इसीलिये कभी-कभी जगत्‌का बाध करते-करते ब्रह्मका भी बाध हो जाता है और मनुष्यका चित्त एक जड शून्य भूमिकापर जा पहुँचता है । जगत् वस्तुत. न कभी था, न है, न होगा—यह सत्य है, परन्तु इसके साथ यह भी सर्वथा सत्य है कि जगत्‌के रूपमें जो कुछ भी भास रहा है, वह, तथा जिसको भासता है, वह भी ब्रह्म ही है । जगत्‌को सर्वथा वस्तुशून्य समझना 'व्यतिरेक' साधना है और चेतनाचेतनात्मक समस्त विश्वमें एक चेतन अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्मसत्ताका अनुभव करना 'अन्वय' साधना । दोनों साधनाओंके समन्वयसे जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' तत्त्वकी प्रत्यक्षानुभूति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति है ।

यह श्रीभगवान्‌का सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वरूप है । इसके जान लेनेपर ही समग्र पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण-की प्रेमलीला या व्रजलीलाके समझनेका अधिकार प्राप्त होता है । दिव्य हृदय और दिव्य नेत्रोंके बिना व्रजलीलाके दर्शन नहीं हो सकते । विविध साधनाओंके द्वारा हृदय जब समस्त संस्कारोंसे शून्य होकर सत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाता है और जब सम्पूर्ण विश्वमें अखण्ड अनन्त समरस सर्वव्यापक सर्वरूप अव्यक्त साक्षात् अनुभूति होती है तभी प्रेमकी आँखें खु हैं, तभी भगवान्‌की लीलाके यथार्थ और पूर्ण दर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है और तभी प्रेमी भक्तका .. साथ पूर्णैक्यमय मिलन होता है । यही ज्ञानकी निष्ठा है । 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।' श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
> भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

'साधक जब प्रसन्न-अन्तःकरण होकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता है, जब उसे न तो किसी बातका शोक होता है और न किसी बातकी आकांक्षा ही । समस्त प्राणियोंमें उसका समभाव हो जाता है, तब उसे मेरी पराभक्ति—पूर्ण प्रेम प्राप्त होता है । और उस पराभक्तिके द्वारा मुझ भगवान्‌के तत्त्वको—मैं जो कुछ और जितना कुछ हूँ—यह पूरा-पूरा जान लेता है और इस प्रकार तत्त्वसे जानकर वह तुरंत ही मुझमें मिल जाता है ।'

यह ब्रह्मज्ञान और यह पराभक्ति—केवल ऊँची-ऊँची बातोंसे नहीं मिलती । निरी बातोंसे तो ब्रह्मज्ञानके नाम-पर मिथ्या अभिमान और भक्तिके नामपर विषय-विमोहकी प्राप्ति ही होती है । सत्संग, साधुसेवन, सद्विचार, वैराग्य, भजन, निष्काम कर्म, यम-नियमादिका पालन और तीव्रतम अभिलाषा होनेपर ही इनकी प्राप्ति संभव है । भगवत्कृपाकी तो शरीरमें प्राणोंकी भाँति सभी साधनाओंमें अनिवार्य आवश्यकता है ।

केवल हिंदूधर्म ही यह कहता है कि पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओंमें भी मनुष्यों-जैसी ही आत्मा होती है। शुद्ध चैतन्य ही आत्माका स्वरूप है। और पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओंमें भी मनुष्योंकी भाँति चेतनता होती ही है। जैसा भगवान् शङ्कराचार्यने कहा है, 'यदि हम हाथमें लाठी लेकर किसी पशुकी ओर दौड़ें तो वह डरकर भागेगा। भागते समय वह यही सोचेगा कि यदि लाठी मेरे शरीरपर पड़ेगी तो मुझे पीड़ा होगी। इसके विपरीत जब हम घास लेकर किसी जानवरकी ओर बढ़ते हैं तो वह हमारे निकट आ जाता है, क्योंकि वह समझता है कि घास खानेसे उसे तृप्ति मिलेगी।' देवीमाहात्म्यमें कहा है—

ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते न हि केवलम्।
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः॥

'मनुष्य समझदार होते हैं—यह सत्य है, किन्तु केवल वे ही समझदार होते हों—यह बात नहीं है; क्योंकि पशु, पक्षी आदि सभी जीव समझदार होते हैं।'

इसपर कोई यह सोच सकता है कि पशु-पक्षी आदि जीवोंको भले-बुरेकी पहचान नहीं होती और मनुष्यको इसकी पहचान होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि पशु-पक्षी आदि जीवोंमें आत्मा नहीं होती। परन्तु भले-बुरेकी पहचान बुद्धिके द्वारा होती है, और मनुष्यकी बुद्धि पशु-पक्षियोंकी बुद्धिकी अपेक्षा अधिक उन्नत होती है। आत्माका स्वरूप शुद्ध चैतन्य है और वह पशु-पक्षियोंमें उसी रूपमें होता है जिस रूपमें मनुष्यके अंदर होता है। और बच्चों [illegible] भी भले-बुरेकी पहचान नहीं होती। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनके अंदर आत्मा नहीं होती। कुछ पुराने एवं सधे हुए अपराधियोंमें भी भले-[illegible] पहचान नहीं होती। इससे हमें यह मानना पड़े[illegible] पशु-पक्षियोंमें भी मनुष्योंकी भाँति आत्मा होती [illegible] अन्तर केवल बुद्धिके तारतम्यको लेकर ही होता है।

सभी धर्म यह कहते हैं कि विश्वको ईश्वरने [illegible] है। हम इस बातको जानते हैं कि किसी [illegible] उत्पत्तिके लिये दो कारण अपेक्षित हैं—एक [illegible] कर्ता और दूसरा वह उपादान, जिससे उस पदार्थकी रचना की जायगी। पहलेको निमित्तकारण तथा दूसरेको उपादानकारण कहते हैं। सभी धर्म इस सिद्धान्तको [illegible] हैं कि ईश्वर जगत्का निमित्तकारण है। परन्तु जगत्का उपादानकारण, जिससे यह जगत् बना है, क्या है? दूसरे धर्मोंके पास इस प्रश्नका उत्तर नहीं है। उनकी मान्यता ऐसी प्रतीत होती है कि जगत्की उत्पत्ति शून्यसे हुई। परन्तु शून्यसे—अभावसे किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। एक हिंदूधर्म ही इसका समुचित उत्तर देता है। वह यह कहता है कि [illegible] विश्वको भगवान्ने अपनेमेंसे ही रच डाला। उन्हें विश्वकी रचनाके लिये किसी बाह्य उपादानकी अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीरमेंसे [illegible] देती है, उसी प्रकार ईश्वरने अपने आपमेंसे [illegible] रच डाला। इसके बाद हिंदूधर्म [illegible] प्रक्रियाका निरूपण करता है। [illegible] उत्पत्ति हुई, आकाशसे वायु उत्पन्न हुआ, वायुसे [illegible] अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई।

[illegible]

(ञ) गुरुजनोंपर तथा शास्त्रपर श्रद्धा रक्खे । माता-पिताकी सेवा करे । स्त्री-बच्चे तथा सेवकोंके साथ प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार करे । अपनी हानि सहकर भी दूसरोंकी सेवा करे । याद रखना चाहिये दूसरोंका भला करनेवालोंका परिणाममें कभी बुरा हो ही नहीं सकता ।

(ञ) खान-पानमें संयम, सादगी और शुद्धिका पूरा खयाल रक्खे ।

(ट) तन-वचनसे ऐसा कोई भी काम कभी न करे जिसको देख-सुनकर घरके लोगों, साथी कार्यकर्ताओं, सेवकों और पड़ोसियों आदिमें भगवान्के प्रति अविश्वास, धर्ममें शिथिलता और चरित्रमें दोष आनेकी सम्भावना हो ।

(ठ) गरीब, दीन, मजदूर और विपत्तिग्रस्त नर-नारियोंके प्रति विशेष सहानुभूति तथा प्रेमका बर्ताव करे ।

(ड) परनिन्दा, पर-चर्चा, परदोष-दर्शन आदिसे यथासाध्य बचा रहे ।

४—चरित्र शुद्ध हो—

जिसके आचरण शुद्ध हैं, वही सच्चा मनुष्य है और ी भगवत्प्रेमका भी अधिकारी हो सकता है । यह निकर इन बातोंपर ध्यान रक्खे—

(क) जहाँतक हो युवती स्त्रियोंसे मिलना-जुलना बहुत कम रक्खे । एकान्तमें तो साथ रहे ही नहीं । कार्यवश किसीसे मिलनेकी जरूरत पड़े तो दृढ़ताके साथ उसमें भगवद्बुद्धि या मातृबुद्धि करे । स्त्रीमात्रमें ही भगवती या मातृभावना करनी चाहिये । मनमें इतनी विशुद्धि पैदा कर लेनी चाहिये कि किसी भी स्त्रीके चिन्तन, दर्शन या बातचीतसे मनमें कोई विकार आवे ही नहीं ।

(ख) रुपये-पैसेके सम्बन्धमें सदा स्पष्ट और ईमानदार रहे । दूसरेकी छदामपर भी चि न चले । छोटे या बड़े प्रत्येक लेन-देन एक-एक पैसेका हिसाब पूरा और दुरुस् रक्खे और उसे अधिकारियोंको दिखाने जरा भी संकोच या अपमान न समझे । जह तक हो, हिसाब हाथों-हाथ दे दिया जाय

(ग) गंदे साहित्य, गंदी बातचीत और गं नाटक-सिनेमा आदिसे सर्वथा बचा रहे ।

(घ) चरित्र-सम्बन्धी दिनचर्या प्रतिदिन लिखे औ अपनी भूलोंपर पश्चात्ताप करके भविष्यमें भूल न करनेका निश्चय करे ।

५—स्वार्थसिद्धिकी कामना न हो । जैसे—

(क) सेवा करनेसे लोगोंकी मुझपर श्रद्धा होगी तो मैं महात्मा कहलाऊँगा, लोग मुझे अपना गुरु, सरदार या नेता समझेंगे । मेरा सम्मान-पूजन करेंगे, मेरे आज्ञाकारी होंगे । मेरी कीर्ति फैलेगी और इतिहासोंमें मेरा नाम अमर रहेगा ।

(ख) मुझे खाने-पीने-पहननेकी कोई तकलीफ नहीं होगी । शिष्यों, सेवकों तथा अनुयायियोंके द्वारा मुझे सदा अच्छा आराम और अभाव-पूर्तिके लिये आवश्यक सामग्रियाँ अपने-आप मिलती रहेंगी । फिर जीविकाका तो कोई प्रश्न रहेगा ही नहीं ।

६—अभिमान न हो । जैसे—

(क) मैंने सेवाके लिये कितना त्याग किया है जो तन-मन-धनसे सेवामें लगा हूँ ।

(ख) मैं योग्यता होनेपर भी अवैतनिक या केवल निर्वाहमात्रके लिये थोड़ेसे रुपये लेकर इतना काम करता हूँ, अतएव वेतन लेकर या अधिक वेतन लेकर काम करनेवालोंसे श्रेष्ठ हूँ । वे मेरी बराबरी कैसे कर सकते हैं ?

(२)
कार्यकर्ता साधकोंके प्रति

इधर आपसमें कुछ कलह तथा द्वेष बढ़ा दीखता है, यह नया नहीं है। मनमें छिपा था वही बाहर निकल रहा है। पहले थोड़ा काम था और थोड़े कार्यकर्ता थे, इससे थोड़े रूपमें था। अब ज्यों-ज्यों काम बढ़ा, आदमी बढ़े, त्यों-ही-त्यों छिपे दोषोंका भी अधिक प्रकाश और प्रसार होता गया। फिर, इस समय तो सारे भूमण्डलका ही वातावरण विक्षुब्ध हो रहा है। ऐसी अवस्थामें ऐसा न होना ही आश्चर्यकी बात थी। तथापि जो लोग साधनाके उद्देश्यसे यहाँ काम करने आये हैं या करना चाहते हैं उनके लिये तो यह स्थिति अवश्य ही शोचनीय है। सच पूछिये तो बात यह है कि लोगोंने अभीतक अपने जीवनका एक उद्देश्य ही निश्चित रूपसे स्थिर नहीं किया है, और जिन्होंने कुछ किया था, वे भी प्रपञ्चमें पड़कर शायद उसे भूल-से गये हैं। शुद्ध सेवाके भावसे, खास करके परमार्थ-साधनके उद्देश्यसे काम करनेवालोंको नीचे लिखी बातोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये और जहाँतक बने, इन सब बातोंको अपनेमें प्रकट करनेकी पूरी कोशिश करनी चाहिये।

१—जीवनका उद्देश्य है—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति (या भगवत्प्राप्ति)। यह उद्देश्य हमेशा याद रहे और प्रत्येक चेष्टा इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हो। सदा यह ध्यान रहे कि मुझे लौकिक या पारलौकिक प्रत्येक कार्यके द्वारा केवल 'भगवत्सेवा' करना है। जैसे धन कमानेके [illegible] मनुष्य स्वाभाविक ही सदा सावधान रहता है और जान-बूझकर ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे [illegible] आमदनीमें बाधा हो, धनका व्यर्थ व्यय और [illegible] हो। उसे धनकी [illegible] नहीं [illegible], इसी प्रकार सच्चे सेवक [illegible] कोई [illegible] काम नहीं [illegible] [illegible]

२—सब जीवोंमें भगवान्‌का निवास है। [illegible] कर सबका सम्मान करे, सबसे प्रेम करे, सबका [illegible] साधन करे और सबके साथ निष्कपट सत्य [illegible] करे। जिसके व्यवहारमें सम्मान, प्रेम, हित और [illegible] समाया है वह सहज ही सबका प्रिय हो जाता है। कटुता तो अभिमान, द्वेष, अहित और कपटसे आती है।

३—धार्मिक भाव हो—

(क) प्रातःकाल उठते और रातको सोते [illegible] अपने इष्टदेव भगवान्‌का स्मरण करे।

(ख) अपने शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार [illegible] गायत्री-जप और प्रार्थना प्रतिदिन [illegible] करे।

(ग) भगवान्‌के नामका नियमित जप तो करे ही, दिनभर जीभसे नाम-जप करनेकी [illegible] डाले। नित्य भगवद्गीता और रामचरितमानस आदिका नियमित स्वाध्याय करे।

(घ) भगवान्‌में और अपने धर्ममें [illegible] रक्खे और उसे बढ़ाता रहे।

(ङ) भगवान्‌के विधानमें न तो [illegible] और न उसे पलटनेकी कभी इच्छा हो [illegible]।

(च) जहाँतक बने—अहिंसा, सत्य, अक्रोध और ब्रह्मचर्य-व्रतका [illegible] करे। जान-बूझकर इन [illegible] न करे।

(छ) [illegible]

(ज) [illegible]

(झ) गुरुजनोंपर तथा शास्त्रपर श्रद्धा रक्खे । माता-पिताकी सेवा करे । स्त्री-बच्चे तथा सेवकोंके साथ प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार करे । अपनी हानि सहकर भी दूसरोंकी सेवा करे । याद रखना चाहिये दूसरोंका भला करनेवालोंका परिणाममें कभी बुरा हो ही नहीं सकता ।

(ञ) खान-पानमें संयम, सादगी और शुद्धिका पूरा ख्याल रक्खे ।

(ट) तन-वचनसे ऐसा कोई भी काम कभी न करे जिसको देख-सुनकर घरके लोगों, साथी कार्यकर्ताओं, सेवकों और पड़ोसियों आदिमें भगवान्‌के प्रति अविश्वास, धर्ममें शिथिलता और चरित्रमें दोष आनेकी सम्भावना हो ।

(ठ) गरीब, दीन, मजदूर और विपत्तिग्रस्त नर-नारियोंके प्रति विशेष सहानुभूति तथा प्रेमका बर्ताव करे ।

(ड) परनिन्दा, पर-चर्चा, परदोष-दर्शन आदिसे यथासाध्य बचा रहे ।

४—चरित्र शुद्ध हो—

जिसके आचरण शुद्ध हैं, वही सच्चा मनुष्य है और वही भगवत्प्रेमका भी अधिकारी हो सकता है । यह जानकर इन बातोंपर ध्यान रक्खे—

(क) जहाँतक हो युवती स्त्रियोंसे *मिलना-जुलना* बहुत कम रक्खे । एकान्तमें तो साथ रहे ही नहीं । कार्यवश किसीसे मिलनेकी जरूरत पड़े तो दृढ़ताके साथ उसमें भगवद्‌बुद्धि या मातृबुद्धि करे । स्त्रीमात्रमें ही भगवती या मातृभावना करनी चाहिये । मनमें इतनी विशुद्धि पैदा कर लेनी चाहिये कि किसी भी स्त्रीके चिन्तन, दर्शन या बातचीतसे मनमें कोई विकार आवे ही नहीं ।

(ख) रुपये-पैसेके सम्बन्धमें सदा स्पष्ट और ईमानदार रहे । दूसरेकी छदामपर [illegible] न चले । छोटे या बड़े प्रत्येक एक-एक पैसेका हिसाब पूरा औ[illegible] रक्खे और उसे अधिकारियोंको दि[illegible] जरा भी संकोच या अपमान न समझे । [illegible] तक हो, हिसाब हाथों-हाथ दे दिया जाय

(ग) गंदे साहित्य, गंदी बातचीत और गं[illegible] नाटक-सिनेमा आदिसे सर्वथा बचा रहे ।

(घ) चरित्र-सम्बन्धी दिनचर्या प्रतिदिन लिखे औ[illegible] अपनी भूलोंपर पश्चात्ताप करके भवि[illegible] भूल न करनेका निश्चय करे ।

५—स्वार्थसिद्धिकी कामना न हो । जैसे—

(क) सेवा करनेसे लोगोंकी मुझपर श्रद्धा होगी तो मैं महात्मा कहलाऊँगा, लोग मुझे अपना गुरु, सरदार या नेता समझेंगे । मेरा सम्मान-पूजन करेंगे, मेरे आज्ञाकारी होंगे । मेरी कीर्ति फैलेगी और इतिहासोंमें मेरा नाम अमर रहेगा ।

(ख) मुझे खाने-पीने-पहननेकी कोई तकलीफ नहीं होगी । शिष्यों, सेवकों तथा अनुयायियोंके द्वारा मुझे सदा अच्छा आराम और अभाव-पूर्तिके लिये आवश्यक सामग्रियाँ अपने-आप मिलती रहेंगी । फिर जीविकाका तो कोई प्रश्न रहेगा ही नहीं ।

६—अभिमान न हो । जैसे—

(क) मैंने सेवाके लिये कितना त्याग किया है जो तन-मन-धनसे सेवामें लगा हूँ ।

(ख) मैं योग्यता होनेपर भी अवैतनिक या केवल निर्वाहमात्रके लिये थोड़ेसे रुपये लेकर इतना काम करता हूँ, अतएव वेतन लेकर या अधिक वेतन लेकर काम करनेवालोंसे श्रेष्ठ हूँ । वे मेरी बराबरी कैसे कर सकते हैं !

(२)

कार्यकर्ता साधकोंके प्रति

इधर आपसमें कुछ कलह तथा द्वेष बढ़ा दीखता है, यह नया नहीं है। मनमें छिपा था वही बाहर निकल रहा है। पहले थोड़ा काम था और थोड़े कार्यकर्ता थे, इससे थोड़े रूपमें था। अब ज्यों-ज्यों काम बढ़ा, आदमी बढ़े, त्यों-ही-त्यों छिपे दोषोंका भी अधिक प्रकाश और प्रसार होता गया। फिर, इस समय तो सारे भूमण्डलका ही वातावरण विक्षुब्ध हो रहा है। ऐसी अवस्थामें ऐसा न होना ही आश्चर्यकी बात थी। तथापि जो लोग साधनाके उद्देश्यसे यहाँ काम करने आये हैं या करना चाहते हैं उनके लिये तो यह स्थिति अवश्य ही शोचनीय है। सच पूछिये तो बात यह है कि लोगोंने अभीतक अपने जीवनका एक उद्देश्य ही निश्चित रूपसे स्थिर नहीं किया है, और जिन्होंने कुछ किया था, वे भी प्रपञ्चमें पड़कर शायद उसे भूल-से गये हैं। शुद्ध सेवाके भावसे, खास करके परमार्थ-साधनके उद्देश्यसे काम करनेवालोंको नीचे लिखी बातोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये और जहाँतक बने, इन सब बातोंको अपनेमें प्रकट करनेकी पूरी कोशिश करनी चाहिये।

१—जीवनका उद्देश्य है—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति (या भगवत्प्राप्ति)। यह उद्देश्य हमेशा याद रहे और प्रत्येक चेष्टा इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हो। सदा यह ध्यान रहे कि मुझे लौकिक या पारलौकिक प्रत्येक कार्यके द्वारा केवल 'भगवत्सेवा' करना है। जैसे धन कमानेकी इच्छावाला मनुष्य स्वाभाविक ही सदा सावधान रहता है और जान-बूझकर ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे धनकी आमदनीमें बाधा हो, धनका व्यर्थ व्यय और नाश हो। उसे धनकी जरा-सी हानि भी सहन नहीं होती, इसी प्रकार सच्ची सेवा करनेवाला साधक कोई भी ऐसा काम नहीं करता जो भगवान्की सेवाके प्रति द्रोह हो या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके पथमें जरा भी विघ्नकर हो।

२—सब जीवोंमें भगवान्का नि[illegible] कर सबका सम्मान करे, सबसे प्रेम साधन करे और सबके साथ निष्कप[illegible] करे। जिसके व्यवहारमें सम्मान, प्रेम, [illegible] समाया है वह सहज ही सबका प्रिय हो [illegible] कटुता तो अभिमान, द्वेष, अहित और का[illegible]

३—धार्मिक भाव हो—

(क) प्रातःकाल उठते और रातको [illegible] अपने इष्टदेव भगवान्का स्मरण [illegible]

(ख) अपने शास्त्रकी मर्यादाके अनुसा[illegible] गायत्री-जप और प्रार्थना प्रतिदिन [illegible] करे।

(ग) भगवान्के नामका नियमित जप तो [illegible] दिनभर जीभसे नाम-जप करने[illegible] डाले। नित्य भगवद्गीता और रामचरि[illegible] आदिका नियमित स्वाध्याय करे।

(घ) भगवान्में और अपने धर्ममें श्रद्धा[illegible] रक्खे और उसे बढ़ाता रहे।

(ङ) भगवान्के विधानमें न तो [illegible] और न उसे पलटनेकी कभी इच्छा [illegible]

(च) जहाँतक बने—अहिंसा, सत्य, अस्ते[illegible] ब्रह्मचर्य-व्रतका अधिक-से-अधिक पालन [illegible] जान-बूझकर इन व्रतोंको भङ्ग न करे।

(छ) संग्रह-परिग्रह कम-से-कम करे। [illegible] लिये भगवान्पर अटूट श्रद्धा रखे। [illegible] भी लाभके लोभसे कभी भूलकर भी [illegible] और अधर्मका आश्रय न ले।

(ज) बाहर और

जीवन बनानेकी श्रद्धायुक्त चेष्टा करे ।

(घ) नम्रताके साथ अधिकारियोंकी आज्ञाका कर्त्तव्य समझकर सुखपूर्वक पालन करे । कभी भी व्यवस्थामें गड़बड़ी पैदा न करे । अपनी ऐसी सुविधा न चाहे जिससे संस्थाकी कार्य-व्यवस्थामें अड़चन आवे और दूसरोंपर बुरा असर पड़े ।

(ङ) आवश्यकतानुसार मिल-जुलकर काम करनेमें कभी अपमान न समझे, सहयोगियोंके साथ राग-द्वेषरहित प्रेमका बर्ताव करे, उनके कार्यकी उचित प्रशंसा करके—नये हों तो सम्मानपूर्वक उन्हें काम सिखाकर उत्साह दिलाता रहे और उन्हें अपनेसे नीचा न समझे । प्रतिद्वन्द्विता और दलबंदी कभी न करे ।

(च) किसी भी कार्यकी सफलताका श्रेय अपनेको न मिलकर अपने किसी साथीको मिले तो उसमें यथार्थ ही सुख माने । शुद्ध सेवक श्रेय मिलनेके लिये काम नहीं करता, वह तो भगवत्सेवाके लिये करता है । उसे अपने कर्त्तव्यपालनसे काम है, नाम या यशसे नहीं । इसलिये उसे तो चाहिये कि काम स्वयं *करे और श्रेय साथियोंको दिलावे । किसी* दूसरेकी सफलताके श्रेयमें हिस्सा बटानेकी कभी इच्छा या चेष्टा न करे, और न डाहसे उसके कार्यमें दोषारोपण करके उसके श्रेयको कम करने या मिटानेकी ही कल्पना करे ।

मेरी समझसे इन बातोंपर खयाल रखकर इनका पालन करनेसे बहुत कुछ सुधार हो सकता है । यद्यपि है तो यह मेरा परोपदेशमात्र ही । अच्छा तो तब था जब मैं स्वयं इनका पालन करता । मेरी स्थिति तो उस चोरकी-सी समझिये जो स्वयं चोरी नहीं छोड़ सकता परन्तु अपने अनुभवके रूपमें चोरीके बुरे नतीजे जेलके कष्ट आदिको बतलाकर दूसरे लोगोंसे कहता है कि 'भैया ! मैं तो अपनी करनीका फल पा रहा हूँ परन्तु आपलोग ऐसा काम न कीजियेगा जिससे मेरी ही भाँति आप लोगोंको भी पछताना पड़े ।'*

(३)

घर छोड़नेकी आवश्यकता नहीं

आपका मैनपुरीका लिखा पत्र मिला । आपकी भावुकता सराहनीय है परन्तु प्रत्येक काम बहुत विचार-के बाद करना चाहिये । आपकी अभी बाईस सालकी उम्र है । घरमें जवान पत्नी और छोटा बच्चा है—जो आपके ही आश्रित हैं । घरमें और लोग भी हैं । ऐसी हालतमें घबराकर घरसे निकल जाना कहाँतक उचित है, इसपर आपको गम्भीरतासे विचार करना चाहिये । आपने छः महीनेमें घरसे चले जानेका और फिर एकान्त-में रहनेका निश्चय किया है, सो तो ठीक है । परन्तु ऐसा एकान्त आपको वहीं मिलेगा जहाँ आपका चित्त भजनमें ही लगा रहे । ऐसी जगह दुनियामें आज कहाँ है ? सच्चा एकान्त तो मनके निर्विषय होकर भगवत्परायण होनेमें है । आपको आजकी दुनियाका अनुभव नहीं है, इसीसे आप घरको 'मायाजाल' और बाहरको 'मायासे मुक्त' मानते हैं । अनुभव तो यह बतलाता है कि *मायाका जाल घरकी अपेक्षा बाहर ज्यादा फैला है ।* घरमें तो एक जिम्मेवारी होती है, कर्त्तव्यका एक बोध जाग्रत् रहता है, जिससे जीवन प्रमादालस्यमें नहीं पड़ता । बाहर तो सारा जीवन बेजिम्मेवार हो जाता है । और यदि खाने-पहननेको अच्छा मिलनेका सुयोग हो गया तब तो प्रमादसे जीवन छा जाता है । घरसे घबराकर कभी नहीं भागना चाहिये । घरको अपना न मानकर भगवान्‌का मानिये और घरवालोंको

* यह पत्र गीताप्रेसके एक कार्यकर्ताके लिये लिखा गया था । किसी भी सेवा करनेवाली संस्थाके कार्यकर्ता इससे अपने लिये उपयोगी बातें लेकर लाभ उठा सकते हैं ।

(ग) मैं धर्म या देशकी सेवा करता हूँ, दूसरे लोग तो केवल परिवार या अपने ही भरण-पोषणमें लगे हैं, इसलिये मैं उनसे श्रेष्ठ हूँ।

(घ) मुझमें विद्या अधिक है, मैं एम० ए०, आचार्य आदि डिग्रियोंको प्राप्त हूँ। कम पढ़े-लिखे लोग बुद्धि-विचारमें मेरे समान कैसे हो सकते हैं?

७—स्वभाव और वाणीके व्यवहारमें दृढ़ताके साथ पूरी नम्रता, कोमलता और प्रेम हो—

(क) कार्यपद्धति या संस्थाके नियमोंका पालन स्वयं दृढ़तासे करके अपने साथियोंसे करवावे।

(ख) परन्तु स्वभावमें और वाणीमें अमृत-सी मिठास भरी हो, जिससे किसीको भी उसका व्यवहार अखरे नहीं।

(ग) स्वयं आचरण करके अपने साथियोंमें नम्रता, कोमलता, विनय, प्रेम तथा शुद्ध सेवाका भाव जाग्रत् करे—उपदेश या आदेशसे नहीं। जो स्वयं उत्तम आदर्श व्यवहार नहीं करता, उसके उपदेशका दूसरोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। और उसे यह आशा भी नहीं रखनी चाहिये कि मेरे उपदेशसे लोग उत्तम व्यवहार करेंगे। दूसरोंकी बाट न देखकर उत्तम व्यवहार-की शुरुआत पहले अपनेसे ही करनी चाहिये।

८—आर्थिक लोभ न हो—

सेवाके भावसे ही सेवा-कार्य हो; स्वच्छन्द जीविका-निर्वाह और धनकी वृद्धिके उद्देश्यसे नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि अपने और परिवारके निर्वाहके लिये—यदि किसी संस्थामें पूरा समय देकर काम करना है तो वहाँसे कुछ ले ही नहीं। निर्वाहके लिये खर्च लेनेमें कोई भी आपत्ति नहीं; बल्कि न लेनेमें आपत्ति है। खर्च नहीं लिया जायगा तो [illegible] निर्वाहकी चेष्टा दूसरी तरहसे करनी होगी जिससे [illegible] सेवाकार्यमें रुकावट होगी। [illegible] रखना चाहिये कि अनावश्यक खर्च जाय ही नहीं, जहाँतक हो इन्द्रियसंयम, सादगी तथा अपना काम अपने हाथों [illegible] डालकर उत्तरोत्तर खर्च घटाता रहे। [illegible] अभाव जितना ही कम होगा, उतना ही [illegible] होगा और खर्चके लिये रुपयोंकी जरूरत [illegible] होगी उतनी ही सेवा शुद्ध होगी। [illegible] और त्यागियोंका आदर्श सामने रखना चाहिये, [illegible] धनवानोंका नहीं। झूठी मान-बड़ाई, [illegible] विलासितामें पैसा खर्च करना अथवा पैसे [illegible] बननेकी चाह रखना—दोनों ही बातें [illegible] अत्यन्त हानिकर तथा सेवामें कलङ्क लगानेवाली हैं।

९—आत्मश्रद्धा, समयका सदुपयोग, नियम[illegible] आज्ञाकारिता, सहयोग और श्रेय—

(क) भगवान्में, भगवत्कृपामें और [illegible] बलपर अपने आत्मामें पूर्ण श्रद्धा हो। [illegible] दृढ निश्चय करे कि मैं सब दोषोंसे [illegible] स्वाभाविक ही सत्कार्योंके द्वारा पूरी [illegible] साथ भगवान्की सेवा कर सकूँगा [illegible] करूँगा।

(ख) जिस कामके लिये जो समय नियत [illegible] समय वही काम करे, समयका [illegible] कभी न करे। व्यर्थकी बातोंमें, [illegible] दोषकथनमें, ताश-शतरंजमें और [illegible] प्रमादमें जीवनके बहुमूल्य समयको [illegible] खोवे। सदा-सर्वदा किसी-न-किसी [illegible] काममें लगा रहे। [illegible] प्रमाद पैदा करता है।

(ग) संस्थाके सिद्धान्तों और [illegible] करे और उसके उद्देश्यको [illegible] जिम्मेदारी समझकर [illegible] कार्य करे और [illegible]

' दया आती है, घृणा भी और अत्यन्त वेदना भी। ....अब मैं विश्वास करने लगी हूँ कि मेरा मात्र कल्याण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर देनेमें है। परन्तु जब-जब मैं भगवान्‌की रूप-माधुरी आँखोंमें ठाना चाहती हूँ तभी-तभी जैसे बरबस भगवान्‌की र्तिमें पतिका स्वरूप दीखने लगता है। या ऐसा कहूँ कि उन्हींकी कल्पना करने लगती हूँ और मन उपासना-नहीं लगता।'

अन्तमें लिखती हैं—'....पतिने मेरे साथ ऐसे बर्ताव किये किन्तु जिस दिन उन्हें दिनभरके बाद भी न देख पाऊँ तो हृदय विकल हो उठता है। एक अभाव-सा प्रतीत होता है। वे जैसे भी हैं किन्तु मैं उन्हें देखती हूँ यही मनमें रहता है। यदि दो-चार दिन भी किसी कारणवश उपासनाके लिये पूजागृहमें न जाऊँ तो हृदयमें उतनी विकलता नहीं होती।.........आह! जितना प्रेम स्वामीसे करती हूँ उतना ही यदि भगवान्‌से कर सकूँ।....'

लंबे पत्रमेंसे कुछ ही अंश ऊपर उद्धृत किया गया है। भारतकी इन आदर्शपर चलनेवाली देवियोंको धन्य है! मैं तो इनके पत्रके उत्तरमें इतना ही लिखना चाहता हूँ कि आप अपने आदर्शपर दृढ़तासे स्थिर रहें। जरा भी शंका-सन्देह न करें। दूसरोंकी ओर देखनेसे अपने आदर्शकी रक्षा नहीं होती। आदर्शकी रक्षा तो एकाग्री ही होती है और होती है अपने ही बलिदानसे। आज-कलके पाप-पुण्य न माननेवाले स्वेच्छाचारी पुरुष और कालेज गर्ल्सकी बुराइयोंका फल समाजके लिये बहुत ही भयानक होगा। इससे समाजमें ऐसी भयानक दुःखकी आग भड़केगी जो सबको जला देगी—ऐसे समय आप-सरीखी देवियोंकी यह तपस्या ही उस आगसे किसी हदतक समाजको बचानेमें समर्थ होगी। आप अपनी तपस्यासे कभी मुँह न मोड़ें। भगवान्‌पर अटल विश्वास रखें—निश्चय समझें कि,—इस जन्ममें, नहीं तो अगले जन्ममें—सत्यकी और सतीत्वकी विजय अवश्य होगी।

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥' भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—'कल्याणकर कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।' नहीं, किस कर्मके फलस्वरूप आप इस समय क रही हैं। अवश्य ही यह कष्ट आपके इस जीवनके आदर्शवाद, ईश्वरविश्वास, सहनशीलता, औ भलेपनका परिणाम कदापि नहीं है। परिणाम जब सामने आवेगा, तब आप हो जायँगी और साथ ही उसका सुन्दर प्रभाव आपके पतिदेवके लिये भी परम कल्याणकारी होगा। आप जहाँतक बने—अलग रहनेकी भावना छोड़ दीजिये आपके विचार बहुत सुन्दर हैं। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये; वे सबको सुबुद्धि देकर सन्मार्गपर लगावें। भगवान्‌के नामका जप कीजिये और मन-ही-मन पतिदेवके परम कल्याणकी भावना करती रहिये। विश्वास कीजिये—वृन्दावनविहारीमें आपकी लगन सच्ची होगी तो वे अवश्य आपको अपनावेंगे। अपना विशुद्ध प्रेम देंगे और उससे आपका जीवन सफल हो जायगा। इस समय तो आपका यह तप हो रहा है। सचमुच इसे कष्ट न समझकर तप मानिये। अन्य सारी बातोंका उत्तर स्पष्टरूपसे डाकद्वारा पत्रसे लिखा जा सकता है।

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम।'

(५)

कोई किसीका नहीं है

पत्र मिला। आपने लिखा कि 'क्या कारण है कि एक जीव अच्छे श्रीमान्‌के घरमें जन्म लेकर, जिसको कुछ भी तकलीफ नहीं, बचपनमें ही कालके गालमें चला जाता है। बालक आया था सोने-सा शरीर लेकर। ग्यारह महीने अपनी दंतुरी दिखायी, मुझे सुख दिया, मनुष्यदेहमें रहा। फिर मुझे विरह दिया दिया।' इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जगत्‌में जन्म लेता है और उस जन्मका

भगवान्‌की मूर्ति मानिये तथा घरहीमें रहकर घरकी वस्तुओंके द्वारा तन-मन-धनसे उनकी नम्रतापूर्वक सेवा कीजिये । मुँहसे भगवान्‌का नाम लेते और मनको भगवान्‌में लगाते आपको कोई रोक नहीं सकता। फिर, आप स्वयं ही लिखते हैं कि 'घरवाले हमें ईश्वरका भजन करनेसे रोकते नहीं हैं ।' फिर आप क्यों भागना चाहते हैं ? मेरे पास आजकल कम उम्रके विवाहित और अविवाहित युवकोंके ऐसे बहुत-से पत्र आते हैं जो घबराकर घरसे भागना चाहते हैं । मैं सबसे यही निवेदन करना चाहता हूँ कि भागनेसे ही भजन नहीं बनेगा, न मायाजाल ही छूटेगा और न भगवत्प्राप्ति होगी । सदाचारी, संयमी, सहनशील, नम्र और भजनके अभ्यासी बनिये । घरमें रहकर प्रतिकूलताका सहन कीजिये । बहुत जगह तो ऐसा होता है कि सहनशीलताके अभावसे ही ऐसी वृत्ति होती है—मनके प्रतिकूल किसी भी बातको सहनेकी शक्ति न होनेसे पिण्ड छुड़ाकर भागनेको मन होता है । यह कमजोरी है—त्याग नहीं; यह मनके अनुकूल परिस्थितिमें राग है—विषयोंसे वैराग्य नहीं । अतएव मेरी नम्र सम्मति तो यही है और बड़े बलके साथ दृढ़तापूर्वक मैं यह कहता हूँ कि आप इस अवस्थामें घर छोड़नेका विचार बिल्कुल त्याग दें और अपने स्वभावको सहिष्णु बनाकर माता-पिताकी और घरकी भगवद्भावसे सेवा करें ।

(४)

समाजका पाप

एक पढ़ी-लिखी बहिनका बड़ा ही करुणापूर्ण पत्र मिला है । पत्रसे पता लगता है बहिन बहुत विचारशील हैं और उच्च पतिव्रताके आदर्शको मानती हैं परन्तु लगातार दुर्व्यवहारसे इस समय घबरा-सी गयी हैं । लिखती हैं—'मैं भारतकी अभागी स्त्रियोंमेंसे ही एक हूँ ।………मैंने प्राचीन भारतकी आदर्श नारियोंका आदर्श सामने रखकर ही···· पतिगृहमें प्रवेश किया ।

……सासूजीका स्वभाव अत्यन्त उग्र था" उनके अनुकूल चलती थी……किन्तु । प्रसन्न न रहती थीं । मैं कुछ तो समझते ही तथा कुछ विचार इस प्रकारके थे कि जो मेरे [illegible] ये उन्हींकी जननी हैं, यह एक बड़ा गुण [illegible] बातोंपर परदा डालनेके लिये पर्याप्त था, [illegible] मन देखती रहती थी । माँ-बेटोंमें परस्पर कलह हो, इसी डरसे उनकी बात पतिसे छिपा रखती थी धीरे-धीरे फल यह हुआ कि मेरे स्वामीकी मुझपर [illegible] बढ़ने लगी । उनका कहना था मैं माँका पक्ष लेती हूँ माँका कहना था कि मैं पतिको सिखाकर उनसे [illegible] हूँ और इस तरह मैं (निर्दोष होनेपर भी) [illegible] सहानुभूति खो बैठी । सब तरफसे प्रतिकूल [illegible] वाक्-बाणोंकी वर्षा होती रहती ।……मेरी [illegible] पतिको अवगुण-ही-अवगुण दीखते ।……मैं [illegible] दुखी होनेपर एकान्तमें रोकर आँखें पोंछ फिर [illegible] जाती । सुननेमें शायद कुछ नहीं लगता किन्तु [illegible] समय कितना कठिन था, उसे शब्दोंमें कैसे बताऊँ आधार मेरे दो ही थे 'एक मेरा आदर्शवाद और [illegible] पतिका स्वच्छ चरित्र ।'

इसके बाद पतिके चरित्रमें दोष आनेकी बात लिख वे लिखती हैं—'………मैंने हर तरह चेष्टा कर [illegible] प्रेमसे समझाया, नम्रतासे विनय की । [illegible] रोयी, कलपी । सभी कुछ किया परन्तु कुछ न हुआ……… आजकल वेश्याओंसे भी अधिक [illegible] 'सोसाइटी-गर्ल्स' [illegible] ने दा रक्खा है । अत्यन्त लज्जाकी बात है [illegible] के बिगड़े हुए पुरुष वेश्याओंसे भी [illegible] ही अधिक पसन्द करते हैं और ये ([illegible]) [illegible] सोसाइटीमें बैठकर सभी कुछ [illegible] करती हैं । [illegible] की [illegible] [illegible] है । कुछ भी पता नहीं—[illegible] पुरुषको [illegible] है । [illegible]

(६)

कर्म-रहस्य

कर्मके सम्बन्धमें बात यह है कि कर्म तीन प्रकारके हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्य प्रतिक्षण स्वतन्त्रभावसे जो कुछ भी कर्म करता है वह 'क्रियमाण' है। मनुष्यका किया हुआ प्रत्येक कर्म कर्मसंग्रहमें संगृहीत होता रहता है जो समयपर कर्मफलदायिनी भागवती शक्तिके द्वारा 'प्रारब्ध' बनाया जाकर यथायोग्य शुभाशुभ फल प्रदान करता है। यह जमा होनेवाला कर्म सञ्चित है। इस क्षणके पूर्वतकके हमारे सारे कर्म इस कर्मकी गोदाममें जा चुके हैं। इस कर्मराशिमेंसे जितने कर्म अलग करके एक जन्मके लिये फलरूपसे नियत कर दिये जाते हैं, वही 'प्रारब्ध' है। इसीके अनुसार जाति, आयु, भोग इत्यादि प्राप्त होते हैं। प्रारब्धका यह फल साधारणतया सभीको बाध्य होकर भोगना पड़ता है। कोई भी सहजमें इस प्रारब्धफलभोगसे अपनेको बचा नहीं सकता—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इस प्रकार भागवती-शक्तिके नियन्त्रणमें प्रारब्धके अनुसार मनुष्यको कर्मफल भोगना ही पड़ता है। परन्तु यह नियम नहीं है कि पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके सञ्चितसे ही प्रारब्ध बने। प्रबल कर्म होनेपर वह इसी जन्ममें सञ्चितसे तुरत प्रारब्ध बनकर अपना शुभाशुभ फल—फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें ही भुगता देते हैं। इसके भी नियम हैं। मतलब यह कि प्रारब्धके अनुसार जो फल नहीं होना है, वह उस प्रारब्धके अनुसार तो होगा ही नहीं—यह सत्य है—परन्तु 'वह होगा ही नहीं' यह निश्चित नहीं है। नवीन कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, वह कोई ऐसा प्रबल कर्म भी कर सकता है—जो हाथों-हाथ प्रारब्ध बनकर उसे तुरंत फलप्रदान कर दे। जैसे किसीके पूर्वकर्मजनित प्रारब्धके अनुसार 'पुत्र होनेका विधान नहीं है'—परन्तु वह शास्त्रीय 'पुत्रेष्टि यज्ञ' विधि तथा श्रद्धापूर्वक कर ले तो उसको पुत्र सकता है। इसी प्रकारके प्रबल कर्मोंद्वारा धन, आरोग्य, आयु आदि पदार्थोंकी प्राप्ति भी हो है। ठीक ऐसे ही प्रबल अशुभ कर्मोंके द्वारा इसी अशुभ फल भी (पूर्वकर्मजनित प्रारब्धमें न होनेपर भी मिल सकते हैं। इससे पूर्वकृत कर्मोंके द्वारा बने ह प्रारब्धका नाश नहीं हो जाता। ही फल मिल जाता है और उस फलकी होते ही पुनः वही प्रारब्ध लागू हो जाता है।

जैसे कर्म अपना फल अवश्य देता है, यह अटल नियम है। वैसे ही यह भी नियम है 'सम्यक् ज्ञान' अथवा 'भगवान्में पूर्ण समर्पण' से सारे कर्मराशि भस्म भी हो जाती है। 'सञ्चित'—अन जन्मोंके संगृहीत कर्म जल जाते हैं। उनमें 'प्रारब्ध' उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं रह जाती। नवीन 'क्रियमाण' कर्म कर्तृत्वके अभावसे 'सञ्चित' नहीं बन सकते। भूँजे हुए बीजोंसे जैसे अंकुर नहीं उत्पन्न होते, वैसे ही वे सञ्चितका उत्पादन नहीं कर सकते। रहा 'प्रारब्ध' का भोग—सो वह भी भोक्तापनका अभाव और ब्रह्मानन्दस्वरूप हो जानेसे अथवा भगवान्के प्रत्येक मङ्गलमय विधानमें एकरस आनन्दका नित्य अनुभव होते रहनेसे सुख-दुःख उपजानेवाला नहीं होकर खेलमात्र होता है। इस प्रकार तीनों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं। यही कर्मविज्ञानका शास्त्रीय नियम है और यह सर्वथा सत्य है। कर्मकी भूमिकामें इसे असत्य बतलानेका साहस करना दुःसाहस मात्र है।

भगवान्की दृष्टिसे बात दूसरी ही है। वहाँ भूत, भविष्य और वर्त्तमानका भेद नहीं है। उनके लिये सभी वर्त्तमान है। और जो कुछ भी होता है, सब पहलेसे रचा हुआ ही होता है। यह उनकी नित्यलीला है। जगत्की छोटी-बड़ी सभी घटनाएँ उनकी इस नित्यलीलाका ही अंग हैं। वहाँ कुछ भी नया नहीं बनता,

प्रारब्ध पूरा होते ही कर्मवश ही चला जाता है। इसमें प्रायः किसीका कोई वश नहीं चलता। असलमें यहाँ न कोई किसीका पुत्र है—न माता-पिता हैं। ये सब तो नाटकके स्टेजपर खेलनेके स्वाँगकी भाँति हैं। श्रीमद्भागवतमें राजा चित्रकेतुकी कथा आती है। राजा चित्रकेतुके एकमात्र शिशु राजकुमारकी मृत्यु होनेपर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे पुत्रशोकके मारे रोते-कलपते हुए चेतनाहीन-से हो गये। तब महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारदजी उनके पास आये, उन्होंने समझाते हुए राजासे कहा—'तुम जिस बालकके लिये इतना शोक कर रहे हो, बतलाओ तो वह इस जन्म और इससे पहलेके जन्मोंमें वस्तुतः तुम्हारा कौन था और तुम उसके कौन थे और अगले जन्मोंमें उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा ? जैसे जलके वेगसे धूलके कण कभी परस्पर मिल जाते हैं और कभी बिछुड़ जाते हैं, वैसे ही कालके प्रवाहमें जीवोंका मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।····हम, तुम और हमलोगोंके साथ इस जगत्में जितने भी शरीरधारी जीव हैं, वे सब इस जन्मके पहले इस रूपमें नहीं थे, और मरनेके बाद भी नहीं रहेंगे। इसीसे सिद्ध है कि इस समय भी उनका वस्तुतः अस्तित्व नहीं है। सत्य वस्तु कभी बदलती नहीं है। ऐसे एक भगवान् ही हैं। वे ही सारे प्राणियोंके स्वामी हैं। उनमें न जन्मका विकार है न मृत्युका। वे सदा इच्छा-अपेक्षारहित हैं। उन्हींके द्वारा यह प्राणियोंकी रचना, पालन और संहारका खेल होता रहता है।····वस्तुतः अनित्य होनेके कारण ये शरीर असत्य हैं और इसी कारण [illegible] भी असत्य हैं। [illegible] तो एकमात्र परमात्मा ही हैं। [illegible] शोक नहीं करना चाहिये।'

[illegible]

'नारदजी महाराज ! मैं अपने [illegible] देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें कितने जन्मोंसे भटक रहा हूँ। उनमेंसे [illegible] जन्ममें मेरे माँ-बाप हुए। अलग-अलग जन्मोंमें [illegible] सम्बन्ध हो जाते हैं। इस जन्ममें जो [illegible] दूसरे जन्ममें शत्रु हो सकता है, [illegible] अगले जन्ममें पिता हो सकता है। [illegible] परस्पर भाई-बन्धु, शत्रु-मित्र, प्रेमी-द्वेषी, [illegible] बनते रहते हैं। जैसे सोना आदि [illegible] एक व्यापारीसे दूसरे व्यापारीके हाथमें [illegible] रहती हैं, वैसे ही जीव भी कर्मवश भिन्न-भिन्न [illegible] उत्पन्न होता रहता है।····जबतक जिसका जिस [illegible] सम्बन्ध रहता है तभीतक उसकी उसमें [illegible] है। जीव गर्भमें आकर जबतक जिस शरीरमें [illegible] तभीतक उसको अपना शरीर मानता है। [illegible] जीव अविनाशी, नित्य, जन्मादिरहित, सर्वेश्वर और [illegible] प्रकाश है।····इसका न कोई प्रिय है न अप्रिय। [illegible] अपना है न पराया है। ये राजा-रानी [illegible] क्यों शोक कर रहे हैं !'

इसपर राजा चित्रकेतुको [illegible] हो गया। [illegible] जीव वास्तवमें अपना नहीं है। [illegible] जाना लगा रहता है। भोग पूरे होते ही [illegible] जाना पड़ता है। संयोग-वियोगमें [illegible] है। प्रभु तो निर्लेप निष्पक्ष हैं।

(२) [illegible]

सागवालीका बाट

कृष्णनगरके पास एक गाँवमें एक ब्राह्मण रहते थे। वे पुरोहितीका काम करते। एक दिन यजमानके यहाँ पूजा कराकर घर लौटते समय उन्होंने रास्तेमें देखा कि एक मालिन (सागवाली) एक ओर बैठी साग बेच रही है। भीड़ लगी है। कोई साग तुलवा रहा है तो कोई मोल कर रहा है। पण्डितजी रोज उसी रास्ते जाते और सागवालीको भी वहीं देखते। एक दिन किसी जान-पहचानके आदमीको साग खरीदते देखकर वे भी वहीं खड़े हो गये। उन्होंने देखा—सागवालीके पास एक पत्थरका बाट है, उसीसे वह पाँच सेरवालेको पाँच सेर और एक सेरवालेको एक सेर साग तौल रही है। एक ही बाट सब तौलोंमें समान काम देता है। पण्डितजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सागवालीसे पूछा—'तुम इस एक ही पत्थरके बाटसे कैसे सबको तौल देती हो। क्या सबका वजन ठीक उतरता है?' पण्डितजीके परिचित व्यक्तिने कहा—'हाँ, पण्डितजी! यह बड़े अचरजकी बात है। हम लोगोंने कई बार इससे लिये हुए सागको दूसरी जगह तौलकर आजमाया, पूरा वजन उतरा।' पण्डितजीने कुछ रुककर सागवालीसे कहा—'बेटी! यह पत्थर मुझे दोगी?' सागवाली बोली,—'नहीं बाबाजी! तुम्हें नहीं दूँगी। मैंने बड़ी मुश्किलसे इसको पाया है। मेरे सेर-बटखरे खो जाते तो घर जानेपर माँ और बड़े भाई मुझे मारते। तीन वर्षकी बात है—मेरे बटखरे खो गये, मैं घर गयी तो बड़े भाईने मुझको मारा। मैं रोती-रोती घाटपर आकर बैठ गयी और मन-ही-मन भगवान्‌को पुकारने लगी। इतनेहीमें मेरे पैरके पास यह पत्थर लगा। मैंने इसको उठाकर ठाकुरजीसे कहा—महाराज! मैं तौलना नहीं जानती, आप ऐसी कृपा करें जिससे इसीसे सारे तौल हो जायँ। बस, तबसे मैं इसे ... हूँ। अब मुझे अलग-अलग बटखरोंकी जरूरत नहीं होती। इसीसे सब काम निकल जाता है। ... तुम्हें कैसे दे दूँ!' पण्डितजी बोले—'मैं तुम्हें ... रुपये दूँगा।' सागवालीने कहा,—'कितने रुपये दोगे तुम! मुझे वृन्दावनका खर्च दे दोगे? सब लोग ... गये हैं; मैं ही नहीं जा सकी हूँ।' ब्राह्मणने ... 'कितने रुपयेमें तुम्हारा काम होगा?' स... कहा,—'पूरे ३००) रुपये चाहिये।' ब्राह्मण बोले, 'अच्छा बेटी! यह तो बताओ तुम इस शिलाको ... कहाँ हो?' सागवालीने कहा,—'इसी टोकरीमें रखती बाबाजी! और कहाँ रक्खूँगी?'

ब्राह्मण घर लौट आये और चुपचाप बैठ रहे। ब्राह्मणीने पतिसे पूछा,—'यों उदास-से क्यों बैठे हैं? देर जो हो गयी है।' ब्राह्मणने कहा,—'आज मेरा ... खराब हो रहा है, मुझे तीन सौ रुपयेकी जरूरत है।' स्त्रीने कहा,—'इसमें कौन-सी बात है? आपने ही ... मेरे गहने करवाये थे। विशेष जरूरत है तो लीजिये इन्हें ले जाइये, होना होगा तो फिर हो जायगा।' इतना कहकर ब्राह्मणीने गहने उतार दिये।

ब्राह्मणने गहने बेचकर रुपये इकट्ठे किये ... दूसरे दिन सवेरे सागवालीके पास जाकर उसे ... गिना दिये और बदलेमें उस शिलाको ले लिया। गङ्गाजीपर जाकर उसको अच्छी तरह धोया और ... नहा-धोकर वे घर लौट आये। इधर पीछेसे ... छोटा-सा सुकुमार बालक आकर ब्राह्मणीसे कह... 'पण्डिताइनजी! तुम्हारे घर ठाकुरजी आ रहे हैं, घरको

केवल नया—नित्य नया-नया दीखता है। रचा हुआ तो है पहलेसे ही। जैसे सिनेमाके फिल्ममें सारे दृश्य पहलेसे अङ्कित हैं, हमारे सामने एक-एक आते हैं, वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डोंके अनन्त अतीत, वर्त्तमान और भविष्य सभी इस विराट् फिल्ममें अंकित हैं। क्षुद्र-से-क्षुद्र जीवका नगण्य संकल्प भी इस फिल्मका ही दृश्य है।

(७)

दुःखमें भी भगवान्‌की दया

मनुष्यकी दृष्टि अत्यन्त सीमित है। वह अपनी आँखोंके सामने घटनेवाली कुछ घटनाओंको ही केवल देख सकता है। उसकी दृष्टिमें केवल स्थूल देह ही सत्य है और वह ममता-मोहके चक्करमें फँसकर चाहता है कि मेरा और मेरे सम्बन्धियोंके स्थूल शरीर मुझसे अलग न हों। यदि कहीं उसकी इच्छाके विपरीत कोई घटना घटित हुई तो वह बहुत दुखी होता है और विक्षिप्त होकर भगवान्‌की सत्ता, महत्ता और उनकी दयालुतापर ही आक्षेप करने लगता है। परन्तु इससे भगवान्‌की दयापूर्ण दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे सदासे सबका कल्याण करते आये हैं और कल्याण ही करते रहते हैं।

इसे इस प्रकार समझिये—कोई दयालु स्वामी अपने किसी कर्मचारीको कोई उपहार देना चाहता हो और इसीके लिये उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानके लिये परिवर्तन कर रहा हो—परन्तु [illegible] और उसके घरतक उपहार [illegible] [illegible]

अपनी दयाकी वर्षा करता है। आपके [illegible] थे। उनके कर्म उज्ज्वल और साधना ऊँची [illegible] बातका यह प्रबल प्रमाण है कि अन्तिम [illegible] उन्होंने भगवन्नामका उच्चारण किया। [illegible] है कि भगवान्‌ने उन्हें इससे भी उत्तम [illegible] लिये आपसे अलग किया और अपने पास [illegible] भगवान् अपनी वस्तुको अपनालें, उसे [illegible] लिये अपने पास रख लें—यह हमारे लिये [illegible] बात होनी चाहिये। परन्तु हमारी ममता, [illegible] जन्मान्तरोंका अभ्यस्त मोह हमें बार-बार [illegible] और वही हमें इस बातके लिये प्रेरित करता है [illegible] भगवान्‌की इच्छा पूरी न होने दें—अपनी [illegible] करें।

केवल आपके पुत्रको सुख हो और आप[illegible] यह भी इस घटनाका उद्देश्य नहीं समझना [illegible] क्योंकि आपकी पूरी ममता भगवान्‌पर ही होनी [illegible] जैसे भगवान् जीवके अनन्य प्रेमी हैं वैसे ही [illegible] अनन्य प्रियतम भी हैं। [illegible]

सोचने लगे—'अहा ! कितने सुन्दर हैं दोनों, कभी भी इनके दर्शन होंगे !'

ब्राह्मणने फूल देखकर सोचा—'फूल तो बहुत अच्छा है, कैसी मनोहर गन्ध आ रही है इसमें, पर इसका क्या करूँगा और रखूँगा भी कहाँ । इससे अच्छा है, राजाको ही दे आऊँ । नयी चीज है, वह राजी होगा ।' यह सोचकर पण्डितजीने जाकर फूल राजाको दे दिया । राजा बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उसे महलमें ले जाकर बड़ी रानीको दिया । इतनेहीमें छोटी रानीने आकर कहा,—'मुझे भी एक ऐसा ही फूल मँगवा दो । नहीं तो मैं डूब मरूँगी ।'

राजा दरबारमें आये और सिपाहियोंको उसी समय पण्डितजीको खोजने भेजा । सिपाहियोंने ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जाकर देखा—ब्राह्मणदेवता सिरपर शिला बाँधे पेड़की छायामें बैठे गुनगुना रहे हैं । वे उनको राजाके पास लिवा लाये । राजाने कहा,—'महाराज ! वैसा ही एक फूल और चाहिये ।' पण्डितजी बोले,—'राजन् ! मेरे पास तो वह एक ही फूल था, पर देखिये, चेष्टा करता हूँ ।' ब्राह्मण उन लड़कोंकी खोजमें निकल पड़े । अकस्मात् उन्हें मुरलीवाली बात याद आ गयी । उन्होंने मुरली बजायी । उसी क्षण गौर-श्याम जोड़ी प्रकट हो गयी । ब्राह्मण रूपमाधुरीके पानमें मतवाले हो गये । कुछ देर बाद उन्होंने कहा—'भैया ! वैसा एक फूल और चाहिये । मैंने तुम्हारा दिया हुआ फूल राजाको दिया था । राजाने वैसा ही एक फूल और माँगा है ।' गोरे बालकने कहा—'फूल तो हमारे पास नहीं है परन्तु हम तुम्हें एक ऐसी जगह ले जायँगे जहाँ वैसे फूलोंका बगीचा खिला है । तुम आँखें बंद करो ।' ब्राह्मणने आँखें मूँद लीं । बच्चे उनका हाथ पकड़कर न मालूम किस रास्तेसे बात-की-बातमें कहाँ ले गये । एक जगह पहुँचकर ब्राह्मणने आँखें खोलीं । देखकर मुग्ध हो गये । बड़ा सुन्दर स्थान है, चारों ओर सुन्दर-सुन्दर वृक्ष-लता आदि पुष्पोंकी मधुर गन्धसे सुशोभित हैं । बगीचे-के बीचमें एक बड़ा मनोहर महल है । ब्राह्मणने

तो वे बालक गायब थे । वे साहस करके आगे बढ़े । महलके अंदर जाकर देखते हैं, सब ओरसे सुसज्जित बड़ा सुरम्य स्थान है । बीचमें एक दिव्य रत्नोंका सिंहासन है । सिंहासन खाली है । पण्डितजीने उस स्थानको मन्दिर समझकर प्रणाम किया । उनके माथेमें बँधी हुई ठाकुरजीकी शिला खुलकर फर्शपर पड़ गयी । ज्यों ही पण्डितजीने उसे उठानेको हाथ बढ़ाया कि शिला फटी और उसमेंसे भगवान् लक्ष्मीनारायण प्रकट होकर शून्य सिंहासनपर विराजमान हो गये ।

भगवान् नारायणने मुसकराते हुए ब्राह्मणसे कहा—'हमने तुमको कितने दुःख दिये परन्तु तुम अटल रहे । दुःख पानेपर भी तुमने हमें छोड़ा नहीं, पकड़े ही रहे । इसीसे तुम्हें हम सशरीर यहाँ ले आये हैं ।'

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

'जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इह लोक और परलोक सबको छोड़कर हमारी शरण आ गये हैं भला ! उन्हें हम कैसे छोड़ सकते हैं ।' इधर देखो—यह खड़ी है तुम्हारी सहधर्मिणी, तुम्हारी कन्या और तुम्हारा पुत्र । ये भी मुझे प्रणाम कर रहे हैं । तुम सबको मेरी प्राप्ति हो गयी । तुम्हारी एककी दृढ़तासे सारा परिवार मुक्त हो गया ! ('भारतमित्र'से)

अच्छी तरह झाड़-बुहारकर ठीक करो।' सरलहृदया ब्राह्मणीने घर साफ करके उसमें पूजाकी सामग्री सजा दी। ब्राह्मणने आकर देखा तो उन्हें अचरज हुआ। ब्राह्मणीसे पूछनेपर उसने छोटे बालकके आकर कह जानेकी बात सुनायी। यह सुनकर पण्डितजीको और भी ताज्जुब हुआ। पण्डितजीने शिलाको सिंहासनपर पधराकर उसकी पूजा की। फिर उसे ऊपर आलेमें पधरा दिया।

रातको सपनेमें भगवान्‌ने कहा—'तू मुझे जल्दी लौटा आ, नहीं तो तेरा भला नहीं होगा। सर्वनाश हो जायगा।' ब्राह्मणने कहा,—'जो कुछ भी हो, मैं तुमको लौटाऊँगा नहीं।' ब्राह्मण घरमें जो कुछ भी पत्र-पुष्प मिलता उसीसे पूजा करने लगे। दो-चार दिनों बाद स्वप्नमें फिर कहा—'मुझे फेंक आ, नहीं तो तेरा लड़का मर जायगा।' ब्राह्मणने कहा—'मर जाने दो, तुम्हें नहीं फेंकूँगा।' महीना पूरा बीतने भी नहीं पाया था कि ब्राह्मणका एकमात्र पुत्र मर गया। कुछ दिन बाद फिर स्वप्न हुआ—'अब भी मुझे वापस दे आ, नहीं तो तेरी लड़की मर जायगी।' दृढ़निश्चयी ब्राह्मणने पहलेवाला ही जवाब दिया। कुछ दिनों पश्चात् लड़की मर गयी। फिर कहा कि 'अबकी बार स्त्री मर जायगी।' ब्राह्मणने इसका भी वही उत्तर दिया। अब स्त्री भी मर गयी। इतनेपर भी ब्राह्मण अचल अटल रहा। लोगोंने समझा, यह पागल हो गया है। कुछ दिन बीतनेपर स्वप्नमें फिर कहा गया,—'देख, अब भी मान जा, मुझे लौटा दे, नहीं तो सात दिनोंमें तेरे सिरपर बिजली गिरेगी।' ब्राह्मण बोले—'गिरने दो, मैं तुम्हें उस [illegible] नदी टेकरीमें नहीं फेंकूँगा।' ब्राह्मणने एक मोटे कपड़ेमें लपेटकर भगवान्‌को अपने कंधेपर मजबूत बाँध लिया। वे सब समय यों रखते। कड़कड़ाकर बिजली कौंधती पर लौट जाती। अब तीन ही दिन शेष [illegible] एक दिन ब्राह्मण गङ्गाजीके घाटपर सन्ध्या [illegible] रहे थे कि दो सुन्दर बालक उनके पास आकर कूदे। उनमें एक साँवला था, दूसरा [illegible] उनके शरीरपर कीचड़ लिपटा था। वे [illegible] जलमें कूदे कि जल उछलकर ब्राह्मणके शरीरपर [illegible] ब्राह्मणने कहा,—'तुमलोग कौन हो भैया! यहाँ [illegible] तरह जलमें कूदा जाता है? देखो, मेरे शरीरपर [illegible] पड़ गया, इतना ही नहीं, मेरे भगवान्‌पर भी छींटे [illegible] गये। देखते नहीं, मैं पूजा कर रहा था।' दोनों [illegible] कहा—'ओहो, तुम्हारे भगवान्‌पर भी छींटे [illegible] हमने देखा नहीं बाबा, तुम गुस्सा न होना।' पण्डित[illegible] जीने कहा,—'नहीं भैया! गुस्सा कहाँ होता है! बताओ तो तुम किसके लड़के हो?—ऐसा सुन्दर [illegible] तो मैंने कभी नहीं देखा! कहाँ रहते हो [illegible] आहा! कैसी अमृतघोली मीठी बोली है!' बच्चे [illegible] कहा—'बाबा! हम तो यहीं रहते हैं।' पण्डितजी [illegible] बोले—'भैया! क्या फिर भी कभी मैं तुमलोगोंको [illegible] सकूँगा।' बच्चोंने कहा,—'क्यों नहीं बाबा! पुकारोगे [illegible] हम आ जायँगे।' पण्डितजीके नाम पूछनेपर—'हमारा कोई एक नाम नहीं है, जिसका जो मन [illegible] उसी नामसे वह हमें पुकार लेता है।' साँवला इतना कहकर बोला—'यह लो मुरली, जरूरत [illegible] इसे बजाना, बजाते ही हमलोग आ जायँगे।' गोरे लड़केने एक फल देकर पण्डितजीसे कहा,—'बाबा! इस फलको अपने पास रखना, [illegible] [illegible]।' वे जबतक [illegible] नहीं [illegible], [illegible] [illegible]

पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २३ । १८-१९)

'चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, पाखण्ड, काम, क्रोध, मद, ऊँच-नीचकी और अपने-परायेकी भेदबुद्धि, अविश्वास, होड़, लम्पटता, जूआ और शराब—इन द्र अनर्थोंकी जड़ मनुष्यमें यह अर्थ (धन) ही माना ा है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको हिये कि इस 'अर्थ' नामधारी 'अनर्थ'को दूरसे ही ाग दे।'

'बेटा! मैं इस बातको जानता था, इसीसे मैंने झको आजतक इस धनकी बात नहीं बतायी। मैं ाहता था, इसे अपने हाथसे भगवान्‌की सेवामें लगा दूँ न्तु संयोग ऐसे बनते गये कि मेरी इच्छा पूरी न हो की। मनुष्यको चाहिये कि वह दान और भजन-से सत्कार्योंको विचारके भरोसे कलपर न छोड़े। उन्हें ो तुरंत कर ही डाले। पता नहीं कल क्या होगा। स 'कल-कल' में ही मेरा जीवन बीत गया। मेरे प्यारे किट! संसारमें सभी पिता अपने पुत्रके लिये धन कमा-कर छोड़ जाना चाहते हैं, परन्तु मैं ऐसा नहीं चाहता। टा! मुझे प्रत्यक्ष दीखता है कि धनसे मनुष्यमें दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है। इससे मैं तुझे अर्थका धनी न देखकर भजनका धनी देखना चाहता हूँ। इसीलिये तुझसे यह कहता हूँ कि इस सारे धनको तू भगवान्‌की सेवामें लगा देना। तेरे निर्वाहके लिये घरमें जो कुछ पैतृक सम्पत्ति है—जमीन है, खेत है और थोड़ी-बहुत यजमानी है वही काफी है। जीवनको सादा, संयमी और ब्राह्मणोचित त्यागसे सम्पन्न रखना, सदा सत्यका सेवन करना, और करना श्रीरंगनाथ भगवान्‌का भजन। इसीसे तू कृतार्थ हो जायगा, और इसीसे तू पुरखोंके तारनेवाला बनेगा। बेटा! मेरी इस अन्तिम सीखको याद रखना।'

वेंकट अपने पितासे भी बढ़कर विवेकी था। उसने कहा—'पिताजी! आपकी इस सीखका एक-एक अक्षर अनमोल है। सच्चे हितैषी पिताके बिना ऐसी सीख कौन दे सकता है। मोहवश संसारके भोगोंमें फँसाकर जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाले पिता-माता तो बहुत होते हैं परन्तु अज्ञानके बन्धनसे छुटनेका सरल ... वाले तो आप-सरीखे पिता विरले ही होते हैं। मुझे धन न देकर आपने मेरा बड़ा उपकार किया है। परन्तु पिताजी! मालूम होता है, मेरी कमजोरी देखकर ही आपने धनकी इतनी बुराइयाँ बतलाकर धनको महत्त्व दिया है। वस्तुतः धनकी ओर भजनानन्दियोंका ध्यान ही क्यों जाना चाहिये? धनमें और धूलमें फर्क ही क्या है? जो कुछ भी हो—मैं आपकी आज्ञाको सिर चढ़ाता हूँ, और आपके सन्तोषके लिये धनकी ओर ध्यान देकर इसे शीघ्र ही भगवान्‌की सेवामें लगा दूँगा। अब आप इस धनका ध्यान छोड़कर भगवान् श्रीरंगनाथजीका ध्यान कीजिये और शान्तिके साथ उनके परम धाममें पधारिये। मेरी माताने मुझे जैसा आशीर्वाद दिया था वैसे ही आप भी यह आशीर्वाद अवश्य देते जाइये कि मैं कभी भगवान्‌को भूलूँ नहीं—मेरा जीवन भगवत्परायण रहे और आपकी यह पुत्रवधू भी भगवान्‌की सेवामें ही संलग्न रहकर अपने जीवनको सफल करे।'

पिताने 'तथास्तु' कहकर भगवान्‌में ध्यान लगाया, और भगवान्‌के नामकी ध्वनि करते-करते ही उनका मस्तक फट गया। वेंकट और रमायाने देखा—एक उजली-सी ज्योति मस्तकसे निकलकर आकाशमें लीन हो गयी।

वेंकटने पिताका शास्त्रमर्यादाके अनुसार संस्कार

भक्त बेंकट

दक्षिणमें पुल्विवेंदलाके समीप पापघ्नी नदीके किनारेपर एक छोटे-से गाँवमें बेंकट नामक एक ब्राह्मण निवास करता था। ब्राह्मण भगवान् श्रीरंगनाथजीका बड़ा भक्त था। वह दिन-रात भगवान्‌के पवित्र नामका जप करता। ब्राह्मणकी पत्नीका नाम था रमाया। वह भी पतिकी भाँति ही भगवान्‌का भजन किया करती थी। माता-पिता मर गये थे और कोई सन्तान थी नहीं—इसलिये घरमें ब्राह्मण-ब्राह्मणी दो ही व्यक्ति थे। दोनोंमें परस्पर बड़ा प्रेम था। वे अपने व्यवहार-बर्तावसे सदा एक-दूसरेको सुख पहुँचाते रहते थे।

पिता राजपुरोहित थे, इससे उन्हें अपने यजमानोंसे यथेष्ट धन-सम्पत्ति मिली थी। वे बहुत ही सदाचारी, विद्वान्, भगवद्भक्त और ज्ञानी थे। उन्होंने मरते समय बेंकटसे कहा था—'बेटा! मेरी पूजाके कमरेसे दक्षिणवाली कोठरीमें आँगनके बीचोंबीच सात कलसे सोनेकी मोहरोंके गड़े हैं। मैंने बड़े परिश्रमसे धन कमाया है। मुझे बड़ा दुःख है कि मैं अपने जीवनमें इसका सदुपयोग कर सका। बेटा! धनकी तीन गति होती है। उत्तम गति तो यह है कि अपने ही हाथों उसे कमाईके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगा दिया [illegible] मध्यम गति यह है कि उसे अपने [illegible] [illegible] [illegible]

तीसरी अधम गति उस धनकी होती [illegible] भगवान्‌की सेवामें लगाता है और न [illegible] है। वह गति है उसका दूसरोंके [illegible] अथवा अपने या पराये हाथों बुरे [illegible] यदि भगवान्‌की कृपासे पुत्र सन्तो[illegible] के बाद धन सत्कार्यमें लग जाता [illegible] कुपुत्रके द्वारा बुरे-से-बुरे काम [illegible] जूए आदिमें लगकर पीढ़ियों [illegible] कारण बनता है। बेटा [illegible] इससे मुझे विश्वास है कि [illegible] नहीं करेगा। मैं चाहता [illegible] तू भगवान्‌की सेवामें लगा [illegible] धन तभी अच्छा है, [illegible] दुखी प्राणियोंकी सेवा होती [illegible] को [illegible]

किया। फिर श्राद्धमें समुचित ब्राह्मण-भोजनादि करवाकर पिताके आज्ञानुसार स्वर्ण मुद्रोंके घड़ोंको निकाला और तमाम धन-राशि गरीबोंकी सेवाके द्वारा भगवत्सेवामें लगा दी गयी।

तबसे वेंकट और रमायाकी निष्ठा और भी दृढ़ हो गयी। उन्होंने अपना सारा जीवन साधनामय बना डाला। पत्नी अपने पतिकी साधनामें सहायता करती और पति पत्नीकी साधनामें सहायक होता। कहीं किसी कारणसे किसी एकके अंदर कोई दोष दीखता या किसी एकके जरा भी गिरनेकी सम्भावना होती तो दूसरा उसे उचित परामर्श देकर, विनयसे समझाकर, और प्रेमसे सावधान करके रोक लेता। दोनों एक ही भगवत्पथपर चलते थे और दोनोंसे ही दोनोंको बल मिलता था। यही तो सच्चा दाम्पत्य है।

एक दिन दोनों ही भगवान्के प्रेममें तन्मय होकर उनको अपने सामने मानकर—अन्तरके नेत्रोंसे देखकर नाच रहे थे और मस्त होकर कीर्तन कर रहे थे। भगवान् यों तो प्रतिक्षण ही भक्तोंके समीप रहते हैं, पर आज तो वे यहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हो गये और उनके साथ थिरक-थिरक नाचने लगे। भक्त भगवान्पर मु[ग्ध] थे और भगवान् भक्तोंपर। पता नहीं—यह आनन्द नाच कितने समयतक चलता रहा। भगवान्की इच्छा [से] जब वेंकट-रमायाको बाह्य ज्ञान हुआ तो उन्होंने देखा दोनोंका एक-एक हाथ अपने एक-एक हाथसे पकड़े भगवान् श्रीरङ्गनाथ दोनोंके बीचमें खड़े मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। भगवान्को प्रत्यक्ष देखकर दोनों निहाल हो गये। आनन्दका पार नहीं था। उनके शरीर प्रेमावेशसे शिथिल हो गये। दोनों भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े। भगवान्ने उठाकर दोनोंके मस्तक अपनी दोनों जाँघोंपर रख लिये और उनपर वे अपने कोमल करकमल फिराने लगे। इतनेहीमें दिव्य विमान लेकर पार्षदगण पहुँच गये। भगवान् अपने उन दोनों भक्तोंसहित विमानपर सवार होकर वैकुण्ठको पधार गये। कहना नहीं होगा कि भगवान्के संस्पर्शसे दोनोंके शरीर पहले ही चिन्मय दिव्य हो गये थे।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भगवान्की भगवत्तापर, जो मनुष्यको उसकी बुरी आदतों तथा उनके परिणामोंसे सर्वथा मुक्त कर देती है, उन्हीं लोगोंको आश्चर्य होता है जिनमें आध्यात्मिक बुद्धि नहीं है। जो लोग अपने भीतर ईश्वरीय प्रकाशको अभिव्यक्त करनेकी सच्ची चेष्टा कर रहे हैं और उसका पथप्रदर्शकके रूपमें उपयोग करते हैं, वे यह जानते हैं कि जो श्रद्धालु हैं तथा अपनी श्रद्धाको कार्यान्वित करनेमें लगे हुए हैं, उनके लिये सब कुछ सम्भव है।

शुद्धाद्वैत वेदान्तके प्रधान आचार्य और उनके सिद्धान्त

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्यशास्त्री)

(१) श्रीवल्लभाचार्य—शुद्धाद्वैत वेदान्तके आदि आचार्य तथा प्रधान प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्यजी माने जाते हैं। इनका जन्म वि० सं० १५३५ वैशाख कृष्ण ११ को रायपूर (सी० पी०) के चम्पारण्य नामक स्थानमें हुआ था। इनके पिताका नाम लक्ष्मणभट्टजी और माताका नाम श्रीइल्लमागारु था। ये उत्तरादि तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिणके काँकरवाद नामक ग्राममें रहते थे। आपका गोत्र भारद्वाज और सूत्र आपस्तम्ब था। आपके पूज्य पिताने सौ सोमयज्ञ किये थे। उसी सोमयज्ञकी पूर्तिके उपलक्ष्यमें एक लाख ब्राह्मण-भोजन काशीमें जाकर करानेके लिये लक्ष्मणभट्टजी सपत्नीक घरसे चले थे। रास्तेमें चम्पारण्यमें श्रीवल्लभाचार्यका जन्म हुआ। आप अपने पिताके द्वितीय पुत्र थे।

काशीमें आकर, उपनयन संस्कारके बाद, आपने श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे वेद-शास्त्रादिका सम्पूर्ण अध्ययन किया। ११ वर्षकी अवस्थामें आपने अध्ययन समाप्त कर लिया था। काशीसे चलकर वृन्दावन होते हुए आप विजयनगर साम्राज्यके सुप्रसिद्ध राजा कृष्णदेवरायकी सभामें जाकर बड़े-बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें हराया। वहाँपर आपको वैष्णवाचार्यकी उपाधि प्राप्त हुई और राजाने आदरसहित आपको स्वर्ण-सिंहासनपर बैठाकर आपका पूजन किया। तत्पश्चात् उज्जैन आदि घूमते हुए आप फिर काशी लौट आये।

श्रीवल्लभाचार्य वृन्दावनमें रहकर श्रीकृष्णकी उपासना करने लगे। कहा जाता है कि श्रीकृष्णने इनकी अचल भक्ति और कठोर तपसे प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिया और बालगोपालकी पूजाका प्रचार करनेका आदेश किया। तभीसे वल्लभ-सम्प्रदायमें बालगोपालकी पूजा अविच्छिन्नरूपसे चली आ रही है। श्रीवल्लभाचार्यके परमधाम सिधारनेके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती चली आ रही है कि एक दिन काशीके हनुमानघाटपर गङ्गास्नानके स्थानसे—जहाँपर वल्लभाचार्यजी स्नान कर रहे थे—एक उज्ज्वल अग्निशिखा उठी। श्रीवल्लभ सबके सामने ही ऊपर उठने लगे और देखते-देखते आकाशमें लीन हो गये। इस प्रकार वि० सं० १५८७ में ५२ वर्षकी अवस्थामें आचार्यने परमधामको प्रयाण किया।

श्रीवल्लभाचार्यने ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य, भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी, सिद्धान्त-रहस्य, भागवत-लीला-रहस्य, एकान्त-रहस्य, वि[illegible] अन्तःकरणप्रबोध, आचार्यकारिक[illegible]धिकरण, नवरत्न, निरोधलक्षण और उसकी [illegible] संन्यासनिर्णय आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। परन्तु आपकी सबसे प्रसिद्ध तथा प्रधान पुस्तक जो कि आपके सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेवाली है वह ब्रह्मसूत्रका अणुभाष्य है। पीछेके आपके अनुयायियोंने इसी अणुभा[illegible] विशिष्ट टीका-टिप्पणी करके आपके सिद्धान्तका [illegible] किया है। अतएव अणुभाष्यको शुद्धाद्वैत सम्प्रदा[illegible] आदिग्रन्थ कहा जाय तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी। आचार्यकृत भागवतकी 'सुबोधिनी' नामक व्याख्या भी अपना विशेष महत्त्व रखती है; क्योंकि इस व्याख्याको आचार्यने पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार ही लिखा है। इसी महत्त्वपूर्ण व्याख्याके कारण इस सम्प्रदायवाले भागवतको प्रस्थानत्रयीके समकक्ष प्रमाणकोटिमें मानते हैं[1]।

(२) श्रीविट्ठलनाथजी—आचार्य विट्ठलनाथजी वल्लभाचार्यजीके पुत्र थे। जैसे वल्लभाचार्यजी महाप्रभुजीके नामसे प्रसिद्ध हैं उसी प्रकारसे ये 'गोसाईं' जीके नामसे प्रसिद्ध हैं। विट्ठलनाथजीने पुष्टिमार्गके प्रचारमें बहुत ही बड़ा कार्य किया। भगवान्‌की सेवा-पद्धतिकी अच्छी ढंगसे व्यवस्था की तथा इन्हींके उद्योगसे गुजरातप्रान्तमें वैष्णवधर्मका इतना अधिक प्रचार हुआ। इन्होंने वल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंकी पुष्टि करनेके लिये अनेक ग्रन्थोंकी रचना भी की। तीसरा अध्याय दूसरा पाद ३४ सूत्रके बादका अणुभाष्य इन्हींकी रचना है। 'विद्वन्मण्डन' लिखकर इन्होंने सुबोधिनीके कठिन स्थलोंको सुगम बना दिया। 'भक्तिहंस' तथा 'भक्तिहेतु' में इन्होंने भगवान्‌के अनुग्रहको ही भक्तिका प्रधान कारण सिद्ध किया है। इन्होंने 'विद्वन्मण्डन' नामक सुप्रसिद्ध

१. वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥
([illegible] १० ७९)

किया। फिर श्राद्धमें समुचित ब्राह्मण-भोजनादि करवाकर पिताके आज्ञानुसार स्वर्ण मुद्राओंके घड़ोंको निकाला और तमाम धन-राशि गरीबोंकी सेवाके द्वारा भगवत्सेवामें लगा दी गयी।

तबसे वेंकट और रमायाकी निष्ठा और भी दृढ़ हो गयी। उन्होंने अपना सारा जीवन साधनामय बना डाला। पत्नी अपने पतिकी साधनामें सहायता करती और पति पत्नीकी साधनामें सहायक होता। कहीं किसी कारणसे किसी एकके अंदर कोई दोष दीखता या किसी एकके जरा भी गिरनेकी सम्भावना होती तो दूसरा उसे उचित परामर्श देकर, विनयसे समझाकर, और प्रेमसे सावधान करके रोक लेता। दोनों एक ही भगवत्पथपर चलते थे और दोनोंसे ही दोनोंको बल मिलता था। यही तो सच्चा दाम्पत्य है।

एक दिन दोनों ही भगवान्के प्रेममें तन्मय होकर उनको अपने सामने मानकर—अन्तरके नेत्रोंसे देखकर नाच रहे थे और मस्त होकर कीर्तन कर रहे थे। भगवान् यों तो प्रतिक्षण ही भक्तोंके समीप रहते हैं, पर आज तो वे वहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हो गये और उन्हींके साथ थिरक-थिरक नाचने लगे। भक्त भगवान्पर मुग्ध थे और भगवान् भक्तोंपर। पता नहीं—यह आनन्दका नाच कितने समयतक चलता रहा। भगवान्की इच्छासे जब वेंकट-रमायाको बाह्य ज्ञान हुआ तो उन्होंने देखा, दोनोंका एक-एक हाथ अपने एक-एक हाथसे पकड़े भगवान् श्रीरङ्गनाथ दोनोंके बीचमें खड़े मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। भगवान्को प्रत्यक्ष देखकर दोनों निहाल हो गये। आनन्दका पार नहीं था। उनके शरीर प्रेमावेशसे शिथिल हो गये। दोनों भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े। भगवान्ने उठाकर दोनोंके मस्तक अपनी दोनों जाँघोंपर रख लिये और उनपर वे अपने कोमल करकमल फिराने लगे। इतनेहीमें दिव्य विमान लेकर पार्षदगण पहुँच गये। भगवान् अपने उन दोनों भक्तोंसहित विमानपर सवार होकर वैकुण्ठको पधार गये। कहना नहीं होगा कि भगवान्के संस्पर्शसे दोनोंके शरीर पहले ही चिन्मय दिव्य हो गये थे।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भगवान्की भगवत्तापर, जो मनुष्यको उसकी बुरी आदतों तथा उनके सर्वथा मुक्त कर देती है, उन्हीं लोगोंको आश्चर्य होता है जिनमें है। जो लोग अपने भीतर ईश्वरीय प्रकाशको अभिव्यक्त करनेकी हैं और उसका पथप्रदर्शकके रूपमें उपयोग करते हैं, वे यह जानते हैं तथा अपनी श्रद्धाको कार्यान्वित करनेमें लगे हुए हैं, उनके लिये सब

ब्रह्म और जगत्का सम्बन्ध

शुद्धाद्वैत वेदान्तके अनुसार ब्रह्म कारण और जगत् कार्य है। कार्य और कारण अभिन्न हैं। कारण सत् और कार्य भी सत् है; अतएव जगत् भी सत् है। हरिकी इच्छासे ही जगत्का आविर्भाव हुआ है। उसकी इच्छासे ही जगत्का तिरोधान होता है। ब्रह्म खेलके लिये अपनी इच्छासे जगत्‌रूपमें परिणत हुआ है। जगत् ब्रह्मात्मक है, प्रपञ्च ब्रह्मका ही कार्य है। वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवादको स्वीकार करते हैं। उनके मतसे जगत् मायिक नहीं है और न भगवान्‌से भिन्न ही है। उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। जगत् सत्य है, पर *उसका आविर्भाव* और *तिरोभाव* होता है। जगत्का जब तिरोभाव होता है तब वह कारणरूपसे और जब आविर्भाव होता है तब कार्यरूपसे स्थिर रहता है। भगवान्‌की इच्छासे ही सब कुछ होता है। क्रीड़ाके लिये उसने जगत्‌की सृष्टि की। अकेले क्रीड़ा सम्भव नहीं है अतएव उसने जीव और जगत्‌को रचा।

जीवकी कल्पना

जीव ब्रह्मका अंश और अणु है। वह जीव हृदयमें रहता है और ब्रह्मकी तरह शुद्ध और चेतन है। चैतन्य जीवका गुण है। उसके हृदयमें रहनेपर भी उसका चैतन्य सर्वत्र फैल सकता है और अनेक स्थानोंमें व्याप्त रहता है।

मुक्तिकी प्राप्ति

इस मतके अनुसार गोलोकस्थ श्रीकृष्णकी सायुज्यप्राप्ति ही मुक्ति है। श्रीकृष्णकी पतिरूपसे सेवा करना और सर्वात्मभाव रखना ही मुक्ति है। समस्त विश्व ब्रह्मात्मक है। जब सब कुछ सनातन ब्रह्मके रूपमें दिखायी देने लगता है, तब सर्वात्मभाव सिद्ध होता है। शुद्ध जीव समस्त जगत्‌को कृष्णमय देखकर, कृष्णके प्रेममें उनकी स्वामिरूपमें सेवा करके परमानन्दरसमें तन्मय रहता है। इस प्रकार तन्मयता प्राप्त करनेसे मुक्ति मिलती है।

मुक्तिके साधन

श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार शम-दमादि मुक्तिके बहिरङ्ग साधन हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन अन्तरङ्ग साधन हैं। भगवान्‌में चित्तकी प्रवणता सेवा है और सर्वात्मभाव मानसी सेवा है। आचार्यके मतमें पुष्टिमार्गीय साधन ही श्रेष्ठ है। इसीसे ही चारों प्रकारके पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। यह पुष्टिमार्ग क्या है, इसका प्रारम्भ कैसे हुआ तथा शुद्धाद्वैत सम्प्रदायमें इसकी क्या विशेषता है इस विषयका कुछ विस्तृत विवेचन नीचे पाठकोंके लाभार्थ उपस्थित किया जाता है।

'पुष्टि' शब्दका अर्थ

शुद्धाद्वैत वेदान्तमें 'पुष्टि' शब्द एक विशिष्ट अर्थ रखता है। यह एक पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें किया जाता है। बहुत से देशी तथा विदेशी विद्वान् इस शब्दसे अन्नपानके द्वारा शरीरकी पुष्टि करनेवाले कल्पना करते हैं तथा उनके भ्रान्त 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' की ही गूँज उन्हें व. के पवित्र सिद्धान्तोंमें सुन पड़ती है। आचार्यने ऐसे जीवनकी बड़ी निन्दा की है[1]। अतएव 'पुष्टि' शब्दका यह उपर्युक्त अर्थ कदापि नहीं हो सकता। इस कठिन शब्दके अज्ञानसे ही समुज्जृम्भित ये अनर्गल कल्पनाएँ हैं। इस अर्थ भगवान्‌का अनुग्रह है। भागवतपुराण (२। में स्पष्ट ही लिखा है कि 'पोषणं तदनुग्रहः' अर्थात् पुष्टि भगवान्‌के अनुग्रहको कहते हैं। इसी आधारपर वल्लभने अपने सिद्धान्तको 'पुष्टि' के नामसे पुकारा है। वल्लभाचार्यका यह मत है कि भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती और यह भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त हो सकती है। अतएव उन्होंने अपने इस मतको 'पुष्टिमार्ग' का नाम दिया है। यहाँ यह बतलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वल्लभाचार्यका सिद्धान्त दार्शनिक क्षेत्रमें शुद्धाद्वैतके नामसे प्रसिद्ध है उसी प्रकार यह भक्तिके क्षेत्रमें 'पुष्टिमार्ग' के नामसे पुकारा जाता है।

'पुष्टिमार्ग'की प्राचीनता

पुष्टिमार्ग अर्थात् भगवान्‌के अनुग्रहको ही मुक्तिका एकमात्र साधन बतलानेका सिद्धान्त आधुनिक नहीं है। यह तो वेदकालसे चला आता है। यह उपनिषदोंमें यत्र तत्र सूत्ररूपमें पाया जाता है। मुण्डक उपनिषद्‌में आत्माकी उपलब्धिका कारण बतलाते हुए न तो प्रवचनको कारण माना है, न मेधाको और न बहुशास्त्र-श्रवणको; प्रत्युत यही बतलाया है कि जिसपर उसकी कृपा होती है वही उसे प्राप्त कर सकता है[2]। कठोपनिषद् (१। २। २०) में भी—

---

१ [illegible]

२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

ग्रन्थकी रचना की है जिसमें इन्होंने वल्लभके शुद्धाद्वैतमतका विशेष रूपसे प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ इस मतका अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थकी प्रामाणिकताको पीछेके सब आचार्योंने स्वीकार किया है। इनकी मृत्यु माघकृष्ण सप्तमी संवत् १६४२ में हुई। उस समय इनकी उम्र लगभग ७० वर्षकी थी। वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथजीने 'अष्टछाप' की स्थापना कर व्रजसाहित्य-की उन्नतिमें जो उन्नत भाग लिया है, वह साहित्यप्रेमी पाठकों-से अविदित न होगा।

(३) श्रीव्रजनाथ भट्ट—ये शुद्धाद्वैतवादी थे। इन्होंने वल्लभाचार्यके 'अणुभाष्य' पर 'मरीचिका' नामक वृत्तिकी रचना की है। यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त है। इन्होंने लिखा है कि मैंने इस ग्रन्थकी रचना सम्राट् जयसिंहकी आज्ञासे की। अणुभाष्यके टीकाकार गोस्वामी पुरुषोत्तमजीका नामोल्लेख इस ग्रन्थमें नहीं है। इससे ज्ञात है कि ये गोस्वामी पुरुषोत्तमदाससे पहले हुए थे। पुरुषोत्तमजी १८वीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इससे व्रजनाथभट्टका काल १७वीं शताब्दी ज्ञात होता है। इन्होंने 'विद्वन्मण्डन' की 'सुवर्णसूत्र' नामक टीका लिखी है।

(४) गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज—ये विट्ठलनाथजीके पुत्र बालकृष्णके वंशधर थे। इनके पिताका नाम पीताम्बर और पितामहका नाम यदुपति था। ये सम्भवतः १८वीं शताब्दीमें हुए थे। इन्होंने 'अणुभाष्य' की टीका लिखी है जिसका नाम 'भाष्य-प्रकाश' है। इसमें इन्होंने शंकर आदि पूर्वाचार्योंके मतोंका खण्डन कर शुद्धाद्वैतका मण्डन किया है।

(५) श्रीबालकृष्ण भट्टने 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थ-की रचना की है जिसमें इन्होंने सात प्रमेयोंका वर्णन बड़े अच्छे ढंगसे किया है।

(६) गोस्वामी गिरिधरदासजी महाराजने 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' नामक नितान्त उपादेय ग्रन्थको केवल ९५ पद्योंमें लिखा है जिसमें शुद्धाद्वैत वेदान्तका प्रतिपादन परमतके निरसनके साथ बड़ी सुन्दर रीतिसे किया गया है।

१. इन आचार्योंके विशेष विवरणके लिये द्रष्टव्य है—पण्डित बलदेव उपाध्यायविरचित 'भारतीय दर्शन' पृ० ५१३–५२०।

सिद्धान्त

शुद्धाद्वैत नाम-करणका कारण

श्रीवल्लभाचार्यका दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतके नामसे प्रसिद्ध है। महाप्रभु जीव और ब्रह्मकी नितान्त एकताके पक्षपाती हैं। अतः अद्वैतके ये पक्के माननेवाले हैं। इनके मतमें ब्रह्म नितान्त शुद्ध है अर्थात् वह मायासे अलिप्त है। मायाशबल ब्रह्मके माननेवाले अद्वैतवादी शाङ्कर [illegible] अपने मतकी भिन्नता प्रतिपादन करनेके विचारसे [illegible] अपने मतका नाम 'शुद्धाद्वैत' रक्खा। 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' मे इस नाम-करणका यही कारण बतलाया गया है[1]।

मत—ब्रह्मकी कल्पना

श्रीवल्लभाचार्यके मतसे यह परब्रह्म सत्, चित् [illegible] आनन्दस्वरूप है। भगवान् अखिल [illegible] मूर्ति, अखिल लीलानिकेतन श्रीकृष्ण यह परमब्रह्म है[2]। अग्निसे स्फुलिङ्गोंके [illegible] उस परब्रह्मसे जीवोंका आविर्भाव होता है[3]। जगत् [illegible] की लीलाका विलास है। आविर्भाव तथा तिरोभाव [illegible] भगवत्शक्तियोंके कारण इस जगत्का विकास तथा [illegible] होता है[4]। शुद्धाद्वैतवादियोंके मतसे जीव अणु और [illegible] है। प्रपञ्च-भेद (जगत्) सत्य है। ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है। ब्रह्म ही जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों शुद्ध हैं। [illegible] मतानुसार सेवा द्विविध है—फलरूपा और साधनरूपा। सर्वदा श्रीकृष्णप्रवणचित्ततारूप मानसी सेवा फलरूपा और द्रव्यार्पण तथा शारीरिक सेवा साधनरूपा है। इनके मतसे गोलोकस्थ परमानन्दसन्दोह वृन्दावनमें भगवत्कृपासे [illegible] भाव प्राप्त करके अखण्ड रासोत्सवमें निर्भर [illegible] पतिभावसे भगवान्की सेवा करना ही मोक्ष है। [illegible] ज्ञानमार्ग कठिन है, भक्तिमार्ग भी [illegible] प्रीतिमार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है।

१. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः। कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥ (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड सं० १० २८ [illegible])

२. देखिये 'प्रमेयरत्नार्णव' पृ० ११–१५

३. देखिये 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' पृ० [illegible]

४. देखिये 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' पृ० ८–११

पोषण न करेगा ? अवश्य करेगा। परन्तु हममें चाहिये उसके अनुग्रहपर पूरा विश्वास, उसकी अलौकिक कृपापर नितान्त भरोसा।

वल्लभने पुष्टिमार्गकी मर्यादामार्गसे विशिष्टता स्पष्टरूपसे दिखलायी है। मर्यादामार्गमें जीव फलके लिये अपने कर्मोंके अधीन है। 'कर्मानुरूपं फलम्' मर्यादामार्गका प्रसिद्ध सिद्धान्त है। परन्तु पुष्टिमार्गमें कर्मकी क्या आवश्यकता है[1] ? मर्यादामार्गमें शास्त्रविहित ज्ञान, कर्मके आचरणसे ही मुक्तिरूपी फल मिलता है परन्तु पुष्टिमार्गमें ज्ञान, कर्मकी नितान्त निरपेक्षता बनी रहती है[2]। इसी कारणसे सब निराश्रय दीन जीवोंका एकमात्र मोक्षसाधन तथा उद्धारोपाय है—पुष्टिमार्ग जिसमें भगवान् अपनेमें मनसा, वाचा, कर्मणा आत्मसमर्पणशील जीवोंका प्रपञ्चसे उद्धार अपनी दयाके बलसे कर देते हैं[3]। अतः यह मार्ग सब जीवोंके लिये—वर्ण, जाति, देश किसी भी भेदभावके बिना—सर्वदा तथा सर्वथा उपादेय है। यह मार्ग मुक्ति-साधनका सार्वजनिक राजमार्ग है। यही इस मार्गकी विशेषता है[4]।

उपसंहार

श्रीवल्लभाचार्यजीके शुद्धाद्वैतसिद्धान्तका व्यावहारिक दृष्टिसे भले ही कुछ विशेष महत्त्व न माना ॰ परन्तु भक्तिक्षेत्रमें प्रचारित उनके पुष्टिमार्गका इस दृष्टिसे विशेष मूल्य है। मोक्षकी साधना जो ज्ञानमार्गके अनुसार कुछ विद्वानोंके लिये ही सीमित थी, इस मार्गके द्वारा सबके लिये सुलभ हो गयी। मुक्तिकी पुण्यस्थलीमें नीच पुरुषोंका भी प्रवेशाधिकार हो गया। स्त्रियाँ तथा शूद्रलोग भी यह समझने लगे कि हम भी अब भक्तिके द्वारा मुक्त हो सकते हैं। इस प्रकार शूद्रादि जातियाँ यवनधर्म ग्रहण करनेसे रुक गयीं तथा अपने धर्मके द्वारा ही आत्मोन्नतिका उपाय सोचने लगीं। संक्षेपमें पुष्टिमार्गकी सार्वजनीनता ही उसकी विशिष्टता तथा उपादेयता है।

नाम-महिमा

(१)

राम नाम रत्न राशि, राम नाम अमृत है,
राम नाम स्वाति बूँद, चातक के हिय की।
राम ही संजीवन है, राम नाम कल्प तरु,
राम नाम पयुषा, गिरिजा के हिय की॥
राम नाम आनँद, अखण्ड, ब्रह्म, प्यारक है,
राम नाम हीरा मणि, भव्य भक्त हिय की।
राम नाम कामधेनु, हार, चारु, चिन्तामणि,
"मधुकरी" शुभ ज्योति जीवन के हिय की॥

—'मधुकरी'

---

१ देखिये अ. भा. [illegible] पर अनुभाष्य।
२. [illegible] (अ. भा. [illegible] पर अनुभाष्य)
३. [illegible] (अ. भा. [illegible] पर अनुभाष्य)
४. [illegible] ([illegible])

[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]।

इसका भगवान्‌के मुखसे ही भागवतकारके द्वारा कहलानेकी बात कही गयी है। अतः भगवदनुग्रहका यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है।

'पुष्टिमार्ग'का उद्गमस्थान

अब प्रश्न यह उठता है कि पुष्टिमार्गका उद्गमस्थान कहाँ है? आचार्योंने अपने 'पुष्टिमार्ग' की पुष्टि कहाँसे की? क्या उपनिषदोंमें यहाँ-वहाँ बिखरे हुए उपर्युक्त परिचय-संकेत ही इस सिद्धान्तके परिपोषक हुए? अथवा आचार्योंको अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिये किसी अन्य स्थानसे प्रचुर सामग्री मिली। प्राचीन आचार्योंने अपने सम्प्रदायके दार्शनिक आधारके लिये सदा ही प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता—को मूल माना है। महाप्रभुने भी ऐसा ही किया है, परन्तु यह विनम्र लेखक अनेक वर्षोंके अध्ययनके बाद इसी सिद्धान्तपर पहुँचा है कि आचार्यका यह समग्र सिद्धान्त-समुच्चय, पुष्टिमार्गका यह समस्त अनुष्ठान, शुद्धाद्वैतका यह परिमार्जित सिद्धान्त—यह सब तत्त्व श्रीमद्भागवतकी जाज्वल्यमान विभूति है। आचार्यकृत भागवतकी टीका 'सुबोधिनी' के देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। भागवत वेद-वेदान्तका सार है[1]। इसमें वैदिक सिद्धान्तोंकी ही तो विस्तृत व्याख्या है। श्रुतिमें जो सूत्ररूपमें है उसका भाष्य हमें भागवतमें उपलब्ध होता है। भागवतमें भगवदनुग्रहको बड़ा महत्त्व दिया गया है। ज्यों ही भक्त भगवान्‌के सम्मुख होता है, भगवान् दया करके उसके समस्त पातकोंको जलाकर उसे अपना लेते हैं; तथा दुःखोंसे मुक्तिकी व्यवस्था कर देते हैं[2]। अतः इन प्रमाणोंके कारण यह सिद्ध है कि 'पुष्टि' की भक्तिमयी साधना तथा 'शुद्धाद्वैत' के उन्नत तत्त्व—ये सब भागवतकी ही देन हैं। भागवतकी इसी विशेषताके कारण इस सम्प्रदायवाले इस ग्रन्थरत्नको 'प्रमाणचतुष्टय' में मानते हैं[3]।

पुष्टिमार्ग [illegible] [illegible]

यह प्रकार विभिन्नोंका आधार है। [illegible]
विभिन्नों आधार [illegible] [illegible]
अतः सब आचार्योंके [illegible] [illegible]
सिद्ध प्रश्न उपस्थित होता है कि [illegible]
जगत्‌के विविध दुःखोंसे [illegible]
किस प्रकार होगी। प्राचीन आचार्योंने ज्ञान, कर्म, भक्तिके मार्ग मुमुक्षुजनोंके लिये इन दुःखोंसे छुटकारा[illegible] के लिये ही निर्दिष्ट किये हैं। महाप्रभु इन मार्गोंकी उपयोगिताको मानते हैं परन्तु उनकी दृष्टिमें इन मार्गोंका ठीक-ठीक आचरण इस कलिकालमें नहीं हो सकता। महाप्रभुने अपने 'कृष्णाश्रयस्तोत्र' में इस युगका बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है[1]। ऐसे कलि-कालके समयमें क्या ज्ञानसे सिद्धि हो सकती है? अथवा भक्ति-मार्गका ही आचरण क्या भलीभाँति हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। यदि हो भी सकता है, तो केवल वेदाध्ययन-निरत त्रिवर्णके पुरुषोंको ही हो सकता है। शूद्रों तथा स्त्रियोंकी मुक्ति भला इन दुर्गम मार्गोंके अनुसरणसे कैसे हो सकती है? इन निराश्रयोंका उद्धार उसकी भाँति आज भी एक विषम समस्या है। महाप्रभुने इन लोगोंके भी कल्याणके लिये अपना पुष्टिमार्ग चलाया[2]। इस मार्गमें परब्रह्म श्रीकृष्णभगवान्‌का अनुग्रह ही एकमात्र साधन है। जो लोग प्रसिद्ध साधनत्रयके निष्पादनमें अपनेको असमर्थ पाते हैं, उन्हें चाहिये कि अपनी समस्त वस्तुएँ, अपना सर्वस्व भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें समर्पण कर दें। यदि पूर्णभक्तिके साथ हम श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें अपनी निराश्रय आत्माको डाल दें, तो क्या वह करुणावरुणालय हमारा उद्धार न करेगा? क्या वह विश्वम्भर हमारा भरण-

१. सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥
(भा० १२। १३। १५)

२. भागवत—८। २३। ८

३. समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।
(शु० मा० पृ० ४९)

१. म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
अहंकारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
कृष्णाश्रय

२. हरिजन-उद्धारके इस युगमें कितना महत्त्व रखता है क्योंकि इस मार्गमें वर्णजाति अपनी आत्मोन्नति करनेके

रखते हैं एवं जानते हैं। इसकी अवहेलना अथवा उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह अदम्य एवं निश्चयात्मक होती है। इसे बौद्धिकी आवश्यकता नहीं है एवं इसका अपलाप सम्भव नहीं है। इसकी क्रिया सीधे एवं प्रत्यक्षरूपसे होती है और श्रद्धापूर्वक विचार करनेपर ऐसा मालूम होगा कि जहाँतक हमारा सम्बन्ध है इसका निर्णय निर्भ्रान्त होता है; क्योंकि चाहे उसका निर्णय अन्तिम न हो किन्तु हमारे लिये उससे अधिक निर्णय सम्भव नहीं है। हम सबके अंदर भीतरी-से-भीतरी आवाज, यदि हम उसे सुनभर सकें, भगवान्‌की ही आवाज है।

यह सत्य है कि इस आवाजको अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुननेकी आवश्यकता है। पहले-पहल यह अत्यन्त धीमी होती है, परन्तु जितना अधिक हम उसे सुनेंगे उतनी ही यह स्पष्ट होती जायगी। उस भीतरी सहज दृष्टिके द्वारा जो हमारे आन्तरतम प्रदेशमें निश्चित रूपसे जाग्रत् होती है, यदि कोई बात हमें सत्य प्रतीत होती है तो किसी तर्कका आश्रय लेकर हमे उसे तुरंत स्वीकार करने एवं ग्रहण करनेसे इन्कार नहीं करना चाहिये। जब कोई वस्तु, घटना अथवा बाह्य-रूप हमारे सामने अपनी सत्ताको कायम कर देता है तो हमें इस बातको लेकर उसका अपलाप नहीं करना चाहिये कि हम दूसरे तथ्योंके साथ, जो उसकी स्वीकृतिमें बाधक प्रतीत होते हैं, उसका सामञ्जस्य नहीं बैठा सकते। प्रकाशकी सत्ता इसलिये अस्वीकार नहीं की जा सकती कि अन्धकार भी साथ-ही-साथ विद्यमान है; बल्कि इस प्रकारका जो विरोध दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण है—हमारी सीमित शक्तियोंकी सविशेषता। इसी सविशेषताके कारण हम असीमके धरातल्पर समग्रका उसके पूर्ण रूपमें दर्शन नहीं कर सकते—जिस धरातल्पर सीधी रेखा चक्राकार हो जाती है और जिन्हें हम परस्पर विरुद्ध कहते हैं, वे सब एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर सत्यकी एकुमें मिलित एवं एकीभूत हो जाते हैं। जीवनके अनेक अत्यन्त बहुमूल्य रत्नोंसे हम इसलिये वञ्चित रह जाते हैं कि हम उन्हें ग्रहण करनेसे डरते हैं और आत्माकी उन दैवी प्रेरणाओंकी उपेक्षा करते हैं, जिन्हें कार्यान्वित करनेसे हम सत् एवं यथार्थ वस्तुकी उपलब्धि कर सकते हैं। इस पद्धतिसे यदि दुर्दैववश कभी हम किसी भ्रान्त निर्णयपर पहुँच जायँ तो भी यदि हम सच्चे और ईमानदार हैं तो वह निर्णय अपने-आप शीघ्र ही हमारी बुद्धिसे हट जायगा। हमें इस बातसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है कि हमारी सदाके लिये हानि हो जायगी। अवश्य ही हमें सत्यको जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करानेवाले मार्गका अवलम्बन करना चाहिये और जब कि भगवान्‌का दिव्य राज्य हमारे सामने हो, तब हमें प्राथमिक सिद्धान्तोंपर नहीं विरमना चाहिये। हमें चाहिये कि जो वस्तु स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष है, उसकी सिद्धिके लिये तर्क एवं हेतुशास्त्रके गुरोंकी अपेक्षा न करें किन्तु अपनी प्रकृतिकी स्थायी शक्तियोंपर विश्वास करके, जिस प्रकार माली बगीचेमें फूल चुनता है, उसी प्रकार केवल सौन्दर्य एवं संग्राह्यताकी दृष्टिसे ही तथ्योंका संग्रह करें। पुष्पोंकी रमणीयता अथवा संग्राह्यता उनके वैज्ञानिक नामों अथवा उद्भिज्जवर्गमें उनके यथार्थ स्थानके ज्ञानसे नहीं बढ़ती।

आध्यात्मिक विकासकी क्रिया तबतक अबाधित रूपसे चालू रहनी चाहिये, जबतक वह स्वयम्भू ज्योति हमारे समग्र स्वरूपमें व्याप्त होकर उसपर आधिपत्य न कर ले, जबतक कि हम यह न कहने लगें कि 'मैं नहीं किन्तु मेरे अंदर रहनेवाला मेरा प्रभु ही सब कुछ है।' उस समय हमें यह अनुभूति हो जायगी कि हम यह जड शरीर नहीं हैं किन्तु वस्त्रकी भाँति उसे धारण कर उसका उपयोग करनेवाले हैं, हम भावसमूह नहीं हैं किन्तु उनका निग्रह करनेवाले हैं, हम सङ्कल्प

स्वयम्भू ज्योति

(लेखक—रेवरेंड आर्थर ई० मैसी)

प्रत्येक आत्माके अंदर एक आन्तरिक प्रकाश होता है, जिसका अनुसन्धान एवं विकास किये जानेपर उसका (आत्माका) दिव्य स्वरूप स्पष्टतया प्रकट हो सकता है। यह वह अव्यक्त अपार्थिव अनिर्वचनीय स्वयम्भू ज्योति है, वह गूढ आन्तरिक प्रकाश है, जो संसारमें जन्म ग्रहण करनेवाले प्रत्येक मनुष्यको आलोक प्रदान करता है (which lighteth every man that cometh into the world)। उसीके प्रकाशके पीछे सब कुछ प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाशसे सारे पदार्थोंको प्रकाश मिलता है*'—श्रुतिके इस वाक्यके पीछे भी यही अनुभूति काम कर रही है। यहूदियोंके पैगंबर माइका (Micah) ने कहा है—'ईश्वर मुझे प्रकाशके सम्मुख लायेंगे और मैं उनके धर्म और न्यायके दर्शन करूँगा' (He will bring me forth to the light, and I shall behold His righteousness)। इस प्रकाशको वही देख पाता है, जो श्रद्धापूर्वक इसकी खोज करता है, जो इसके सहारे सत्यका दर्शन करना चाहता है, न कि वह जो इसकी अभिव्यक्तिकी ओरसे उदासीन रहता है। यह उसे उस मार्गका दर्शन करा देता है जो शान्ति, विश्राम एवं विजयके नित्य निकेतनकी ओर ले जानेवाला है—जहाँ पहुँचनेपर मनुष्यको लौकिक संघर्षसे विश्राम मिलता है एवं जगत्के तूफानों एवं झंझावातोंसे ऊपर उठकर वह अपनेको एक अनिर्वचनीय शान्तिके वातावरणमें पाता है, जिसपर कालकी [illegible] अथवा मनुष्यकी [illegible] का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह उन्हें उन तेजोमय [illegible] है, जो इस मर्त्यलोकसे इतने ऊपर उठे हुए हैं उनका प्रकाश स्वर्गीय दीपावलीके प्रकाशसे घुल-मिल[illegible] एक हो जाता है। वहाँ यह जाननेके लिये कि हम[illegible] आध्यात्मिक जीवनके अत्यन्त मनोमुग्धकारी स्वप्न उ[illegible] दिव्य अनादि भागवतीय जीवनकी—जिसे हम ईश्वर कह[illegible] हैं तथा जिसके आधारपर एवं जिस उपादानसे समस्[illegible] सत्ता एवं रूपोंकी रचना होती है—प्रभाके सच्चे एवं वास्तविक प्रतीक अथवा प्रतिध्वनि एवं प्रतिबिम्ब हैं, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि [illegible] मर्त्यलोकको ही ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाया जाय अथवा स्वर्गको ही मनुष्यके दृष्टिपथमें ले आया जाय।

एक सच्चे एवं श्रद्धालु साधकको आध्यात्मिक जीवनकी सत्यता एवं वास्तविकताके लिये किसी बाह्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह उसके आत्मामें ओतप्रोत रहता है। आत्मबलके [illegible] आधार तथा अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्तिके निर्माणके लिये वह बाह्य प्रमाणका भरोसा नहीं करेगा, जिसका [illegible] भी किया जा सकता है। उसके भीतर एक [illegible] आवाज होती है, जो [illegible] भी [illegible] होती है, जो किसी भी बाह्य प्रमाणसे अधिक प्रामाणिक होती है, जो लौकिक बाजारोंके कोलाहलके भी ऊपर सुनी जा सकती है। आत्माके अंदर एक गूढ दिव्य [illegible] होती है, जो लौकिक विचारों [illegible] रहती है, जो [illegible] के [illegible] कठिन [illegible] दूर होता है, जो [illegible] [illegible] [illegible]

* तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

करते हैं एवं जानते हैं। इसका अनादर अथवा उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह अदम्य एवं निश्चयात्मक होती है। इसे स्वीकृतिकी आवश्यकता नहीं है एवं इसका अस्वीकार सम्भव नहीं है। इसकी क्रिया सीधे एवं प्रत्यक्षरूपसे होती है और श्रद्धापूर्वक विचार करनेपर ऐसा मालूम होगा कि जहाँतक हमारा सम्बन्ध है इसका निर्णय निर्भ्रान्त होता है; क्योंकि चाहे उसका निर्णय अन्तिम न हो किन्तु हमारे लिये उससे अधिक निर्णय सम्भव नहीं है। हम सबके अंदर भीतरी-से-भीतरी आवाज, यदि हम उसे सुनभर सकें, भगवान्‌की ही आवाज है।

यह सत्य है कि इस आवाजको अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुननेकी आवश्यकता है। पहले-पहल यह अत्यन्त धीमी होती है, परन्तु जितना अधिक हम उसे सुनेंगे उतनी ही वह स्पष्ट होती जायगी। उस भीतरी सहज दृष्टिके द्वारा जो हमारे आन्तरतम प्रदेशमें निश्चित रूपसे जाग्रत् होती है, यदि कोई बात हमें सत्य प्रतीत होती है तो किसी तर्कका आश्रय लेकर हमें उसे तुरंत स्वीकार करने एवं ग्रहण करनेसे इन्कार नहीं करना चाहिये। जब कोई वस्तु, घटना अथवा बाह्य-रूप हमारे सामने अपनी सत्ताको कायम कर देता है तो हमें इस बातको लेकर उसका अपलाप नहीं करना चाहिये कि हम दूसरे तथ्योंके साथ, जो उसकी स्वीकृतिमें बाधक प्रतीत होते हैं, उसका सामञ्जस्य नहीं बैठा सकते। प्रकाशकी सत्ता इसलिये अस्वीकार नहीं की जा सकती कि अन्धकार भी साथ-ही-साथ विद्यमान है; बल्कि इस प्रकारका जो विरोध दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण है—हमारी सीमित शक्तियोंकी सविशेषता। इसी सविशेषताके कारण हम असीमके धरातल्पर समग्रता उसके पूर्ण रूपमें दर्शन नहीं कर सकते—जिस धरातलपर सीधी रेखा चक्राकार हो [और] जिन्हें हम परस्पर विरुद्ध कहते हैं, वे सब एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर सत्यकी रज्जुमें ग्रथित एवं एकीभूत हो जाते हैं। जीवनके अनेक अत्यन्त बहुमूल्य रत्नोंसे हम इसलिये वञ्चित रह जाते हैं कि हम उन्हें ग्रहण करनेसे डरते हैं और आत्माकी दैवी प्रेरणाओंकी उपेक्षा करते हैं, जिन्हें कार्यान्वित करनेसे हम सत् एवं यथार्थ वस्तुकी उपलब्धि कर सकते हैं। इस पद्धतिसे यदि दुर्दैववश कभी हम किसी भ्रान्त निर्णयपर पहुँच जायँ तो भी यदि हम सच्चे और ईमानदार हैं तो वह निर्णय अपने-आप शीघ्र ही हमारी बुद्धिसे हट जायगा। हमें इस बातसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है कि हमारी सदाके लिये हानि हो जायगी। अवश्य ही हमें सत्यको जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करानेवाले मार्गका अवलम्बन करना चाहिये और जब कि भगवान्‌का दिव्य राज्य हमारे सामने हो, तब हमें प्राथमिक सिद्धान्तोंपर नहीं विरमना चाहिये। हमें चाहिये कि जो वस्तु स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष है, उसकी सिद्धिके लिये तर्क एवं हेतुशास्त्रके गुरोंकी अपेक्षा न करें किन्तु अपनी प्रकृतिकी स्थायी शक्तियोंपर विश्वास करके, जिस प्रकार माली बगीचेमें फूल चुनता है, उसी प्रकार केवल सौन्दर्य एवं संग्राह्यताकी दृष्टिसे ही तथ्योंका संग्रह करें। पुष्पोंकी रमणीयता अथवा संग्राह्यता उनके वैज्ञानिक नामों अथवा उद्भिज्जवर्गमें उनके यथार्थ स्थानके ज्ञानसे नहीं बढ़ती।

आध्यात्मिक विकासकी क्रिया तबतक अबाधित रूपसे चालू रहनी चाहिये, जबतक वह स्वयम्भू ज्योति हमारे समग्र स्वरूपमें व्याप्त होकर उसपर आधिपत्य न कर ले, जबतक कि हम यह न कहने लगें कि 'मैं नहीं किन्तु मेरे अंदर रहनेवाला मेरा प्रभु ही सब कुछ है।' उस समय हमें यह अनुभूति हो जायगी कि हम यह जड शरीर नहीं हैं किन्तु वस्त्रकी भाँति उसे धारण कर उसका उपयोग करनेवाले हैं, हम भावसमूह नहीं हैं किन्तु उनका निग्रह करनेवाले हैं, हम सङ्कल्प

स्वयम्भू ज्योति

(लेखक—रेवरेंड आर्थर ई० मैसी)

प्रत्येक आत्माके अंदर एक आन्तरिक प्रकाश होता है, जिसका अनुसन्धान एवं विकास किये जानेपर उसका (आत्माका) दिव्य स्वरूप स्पष्टतया प्रकट हो सकता है। यह वह अव्यक्त अपार्थिव अनिर्वचनीय स्वयम्भू ज्योति है, वह गूढ आन्तरिक प्रकाश है, जो संसारमें जन्म ग्रहण करनेवाले प्रत्येक मनुष्यको आलोक प्रदान करता है (which lighteth every man that cometh into the world)। उसीके प्रकाशके पीछे सब कुछ प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाशसे सारे पदार्थोंको प्रकाश मिलता है*'—श्रुतिके इस वाक्यके पीछे भी यही अनुभूति काम कर रही है। यहूदियोंके पैगंबर माइका (Micah) ने कहा है—'ईश्वर मुझे प्रकाशके सम्मुख लायेंगे और मैं उनके धर्म और न्यायके दर्शन करूँगा' (He will bring me forth to the light, and I shall behold His righteousness)। इस प्रकाशको वही देख पाता है, जो श्रद्धापूर्वक इसकी खोज करता है, जो इसके सहारे सत्यका दर्शन करना चाहता है, न कि वह जो इसकी अभिव्यक्तिकी ओरसे उदासीन रहता है। यह उसे उस मार्गका दर्शन करा देता है जो शान्ति, विश्राम एवं विजयके नित्य निकेतनकी ओर ले जानेवाला है—जहाँ पहुँचनेपर मनुष्यको लौकिक संघर्षसे विश्राम मिलता है एवं जगत्के तूफानों एवं झंझावातोंसे ऊपर उठकर वह अपनेको एक अनिर्वचनीय शान्तिके वातावरणमें पाता है, जिसपर कालकी गतिका अथवा मनुष्यकी बदलनेवाली परिस्थिति-का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह उन्हें उन तेजोमय अट्टालिकाओंके शिखरोंपर ले जाकर खड़ा कर देता है, जो इस मर्त्यलोकसे इतने ऊपर उठे हुए है उनका प्रकाश स्वर्गीय दीपावलीके प्रकाशसे घुल-मि[ल] एक हो जाता है। वहाँ यह जाननेके लिये कि आध्यात्मिक जीवनके अत्यन्त मनोमुग्धकारी स्व[रूप] दिव्य अनादि भागवतीय जीवनकी—जिसे हम ईश्वर क[हते] हैं तथा जिसके आधारपर एवं जिस उपादानसे स[मस्त] सत्ता एवं रूपोंकी रचना होती है—प्रभाके सच्चे [एवं] वास्तविक प्रतीक अथवा प्रतिध्वनि एवं प्रतिबिम्ब [हैं] यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इ[स] मर्त्यलोकको ही ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाया जाय अथवा स्वर्गको ही मनुष्यके दृष्टिपथमें ले आया जाय।

एक सच्चे एवं श्रद्धालु साधकको आध्यात्मिक जीवनकी सत्यता एवं वास्तविकताके लिये किसी बाह्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह उसके आत्मामें ओतप्रोत रहता है। आत्मबलके दृढ़तम आधार तथा अपनी आध्यात्मिक प्रकृतिके निर्माणके लिये वह बाह्य प्रमाणका भरोसा नहीं करेगा, जिसका खण्डन भी किया जा सकता है। उसके भीतर एक ऐसी आवाज होती है, जो तूतीसे भी तेज होती है, जो किसी भी बाह्य प्रमाणसे अधिक प्रामाणिक होती है, जो लौकिक बाजारोंके कोलाहलके भी ऊपर सुनी जा सकती है। आत्माके अंदर एक गूढ़ दिव्य दृष्टि होती है, जो लौकिक विचारोंसे अन्तर्हित रहती है, जो दर्शनों-के टेढ़े-मेढ़े कठिन रास्तोंसे दूर होती है, जो अन्य सभी शक्तियोंकी भाँति स्वरूपमें अंकुर करने, प्रयत्नपूर्वक साधने तथा साधनाके साथ पोषण करनेसे विकसित होती है। यह मानव प्राणीकी [illegible] सम्पत्ति है, यह [illegible] है और [illegible]

---

* तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।

रखते हैं एवं जगते हैं। इसका इन्कार अथवा उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह अदम्य एवं निश्चयात्मक होती है। इसे सिद्धिकी आवश्यकता नहीं है एवं इसका अस्वीकार सम्भव नहीं है। इसकी क्रिया सीधे एवं प्रत्यक्षरूपसे होती है और श्रद्धापूर्वक विचार करनेपर ऐसा मालूम होगा कि जहाँतक हमारा सम्बन्ध है इसका निर्णय निर्भ्रान्त होता है; क्योंकि चाहे उसका निर्णय अन्तिम न हो किन्तु हमारे लिये उससे अधिक निर्णय सम्भव नहीं है। हम सबके अंदर भीतरी-से-भीतरी आवाज, यदि हम उसे सुनभर सकें, भगवान्‌की ही आवाज है।

यह सत्य है कि इस आवाजको अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुननेकी आवश्यकता है। पहले-पहल यह अत्यन्त धीमी होती है, परन्तु जितना अधिक हम उसे सुनेंगे उतनी ही यह स्पष्ट होती जायगी। उस भीतरी सहज दृष्टिके द्वारा जो हमारे आन्तरतम प्रदेशमें निश्चित रूपसे जाग्रत् होती है, यदि कोई बात हमें सत्य प्रतीत होती है तो किसी तर्कका आश्रय लेकर हमें उसे तुरत स्वीकार करने एवं ग्रहण करनेसे इन्कार नहीं करना चाहिये। जब कोई वस्तु, घटना अथवा बाह्य-रूप हमारे सामने अपनी सत्ताको कायम कर देता है तो हमें इस बातको लेकर उसका अपलाप नहीं करना चाहिये कि हम दूसरे तथ्योंके साथ, जो उसकी स्वीकृतिमें बाधक प्रतीत होते हैं, उसका सामञ्जस्य नहीं बैठा सकते। प्रकाशकी सत्ता इसलिये अस्वीकार नहीं की जा सकती कि अन्धकार भी साथ-ही-साथ विद्यमान है; बल्कि इस प्रकारका जो विरोध दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण है—हमारी सीमित शक्तियोंकी सविशेषता। इसी सविशेषताके कारण हम असीमके धरातलपर समग्रका उसके पूर्ण रूपमें दर्शन नहीं कर सकते—जिस धरातलपर सीधी रेखा चक्राकार हो गौर जिन्हें हम परस्पर विरुद्ध कहते हैं, वे सब एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर सत्यकी रज्जुमें ग्रथित एवं एकीभूत हो जाते हैं। जीवनके अनेक अत्यन्त बहुमूल्य रत्नोंसे हम इसलिये वञ्चित रह जाते हैं कि हम उन्हें ग्रहण करनेसे डरते हैं और आत्माकी उन दैवी प्रेरणाओंकी उपेक्षा करते हैं, जिन्हें कार्यान्वित करनेसे हम सत् एवं यथार्थ वस्तुकी उपलब्धि कर सकते हैं। इस पद्धतिसे यदि दुर्दैववश कभी हम किसी भ्रान्त निर्णयपर पहुँच जायँ तो भी यदि हम सच्चे और ईमानदार हैं तो वह निर्णय अपने-आप शीघ्र ही हमारी बुद्धिसे हट जायगा। हमें इस बातसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है कि हमारी सद्‌गतिके लिये हानि हो जायगी। अवश्य ही हमें सत्यको जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करानेवाले मार्गका अवलम्बन करना चाहिये और जब कि भगवान्‌का दिव्य राज्य हमारे सामने हो, तब हमें प्राथमिक सिद्धान्तोंपर नहीं विरमना चाहिये। हमें चाहिये कि जो वस्तु स्पष्ट

सिद्धिके लिये तर्क एवं

करें किन्तु अपन

करके, जिस

उसी प्रकार

तथ्योंका

संग्राहता

उनके यथार्थ

आध्यात्मिक

रूपसे चालू रहनी

हमारे समग्र स्वरूपमें व्याप्त

कर ले, जबतक कि हम यह न

नहीं किन्तु मेरे अंदर रहनेवाला मेरा प्रभु

है।' उस समय हमें यह अनुभूति हो जायगी कि हम यह जड शरीर नहीं हैं किन्तु वस्त्रकी भाँति उसे धारण कर उसका उपयोग करनेवाले हैं, हम भावसमूह नहीं हैं किन्तु उनका निग्रह करनेवाले हैं, हम सङ्कल्प

स्वयम्भू ज्योति

(लेखक—रेवरेंड आर्थर ई० मैसी)

प्रत्येक आत्माके अंदर एक आन्तरिक प्रकाश होता है, जिसका अनुसन्धान एवं विकास किये जानेपर उसका (आत्माका) दिव्य स्वरूप स्पष्टतया प्रकट हो सकता है। यह वह अव्यक्त अपार्थिव अनिर्वचनीय स्वयम्भू ज्योति है, वह गूढ आन्तरिक प्रकाश है, जो संसारमें जन्म ग्रहण करनेवाले प्रत्येक मनुष्यको आलोक प्रदान करता है (which lighteth every man that cometh into the world)। उसीके प्रकाशके पीछे सब कुछ प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाशसे सारे पदार्थोंको प्रकाश मिलता है*'—श्रुतिके इस वाक्यके पीछे भी यही अनुभूति काम कर रही है। यहूदियोंके पैगंबर माइका (Micah) ने कहा है—'ईश्वर मुझे प्रकाशके सम्मुख लायेंगे और मैं उनके धर्म और न्यायके दर्शन करूँगा' (He will bring me forth to the light, and I shall behold His righteousness)। इस प्रकाशको वही देख पाता है, जो श्रद्धापूर्वक इसकी खोज करता है, जो इसके सहारे सत्यका दर्शन करना चाहता है, न कि वह जो इसकी अभिव्यक्तिकी ओरसे उदासीन रहता है। वह उसे उस मार्गका दर्शन करा देता है जो शान्ति, विश्राम एवं विजयके नित्य निकेतनकी ओर ले जानेवाला है—जहाँ पहुँचनेपर मनुष्यको लौकिक संघर्षसे विश्राम मिलता है एवं जगत्के तूफानों एवं झंझावातोंसे ऊपर उठकर वह अपनेको एक अनिर्वचनीय शान्तिके वातावरणमें पाता है, जिसपर कालकी गतिका अथवा मनुष्यकी बदलनेवाली परिस्थिति-का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह उन्हें उन तेजोमय अट्टालिकाओंके शिखरोंकी झाँकी करा देता है, जो इस मर्त्यलोकसे इतने ऊपर उठे हुए हैं कि उनका प्रकाश स्वर्गीय दीपावलीके प्रकाशसे घुल-मिलकर एक हो जाता है। वहाँ यह जाननेके लिये कि हमारे आध्यात्मिक जीवनके अत्यन्त मनोमुग्धकारी स्वप्न उस दिव्य अनादि भागवतीय जीवनकी—जिसे हम ईश्वर कहते हैं तथा जिसके आधारपर एवं जिस उपादानसे समस्त सत्ता एवं रूपोंकी रचना होती है—प्रभाके सच्चे एवं वास्तविक प्रतीक अथवा प्रतिध्वनि एवं प्रतिबिम्ब हैं, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इस मर्त्यलोकको ही ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाया जाय अथवा स्वर्गको ही मनुष्यके दृष्टिपथमें ले आया जाय।

एक सच्चे एवं श्रद्धालु साधकको आध्यात्मिक जीवनकी सत्यता एवं वास्तविकताके लिये किसी बाह्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह उसके आत्मामें ओतप्रोत रहता है। आत्मबलके दृढ़तम आधार तथा अपनी आध्यात्मिक प्रकृतिके निर्माणके लिये वह बाह्य प्रमाणका भरोसा नहीं करेगा, जिसका खण्डन भी किया जा सकता है। उसके भीतर एक ऐसी आवाज होती है, जो तूतीसे भी तेज होती है, जो किसी भी बाह्य प्रमाणसे अधिक प्रामाणिक होती है, जो लौकिक बाजारोंके कोलाहलके भी ऊपर सुनी जा सकती है। आत्माके अंदर एक गूढ दिव्य दृष्टि होती है, जो लौकिक विद्यासे अन्तर्हित रहती है, जो दर्शनों-के टेढ़े-मेढ़े कठिन रास्तोंसे दूर होती है, जो अन्य सभी शक्तियोंकी भाँति स्पष्टरूपसे स्वीकार करने, प्रयत्नपूर्वक साधने तथा सावधानीके साथ पोषण करनेसे विकसित होती है। यह मानव-प्रकृतिकी सबसे बड़ी मौरूसी सम्पत्ति है, यह परम शक्ति है और वेस्लियन सम्प्रदायके बड़े ईसाई उपासनाके समय [illegible]

---

* तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वं विभाति।

सकते हैं एवं डरते हैं । इसका अनादर अथवा उपेक्षा नहीं की जा सकती । यह अदम्य एवं निश्चयात्मक होती है । इसे स्वीकृतिकी आवश्यकता नहीं है एवं इसका अनादर सम्भव नहीं है । इसकी क्रिया सीधी एवं प्रत्यक्षरूपसे होती है और श्रद्धापूर्वक विचार करनेपर ऐसा मालूम होगा कि जहाँतक हमारा सम्बन्ध है इसका निर्णय निर्भ्रान्त होता है; क्योंकि चाहे उसका निर्णय अन्तिम न हो किन्तु हमारे लिये उससे अधिक निर्णय सम्भव नहीं है । हम सबके अंदर भीतरी-से-भीतरी आवाज, यदि हम उसे सुनभर सकें, भगवान्‌की ही आवाज है ।

यह सत्य है कि इस आवाजको अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुननेकी आवश्यकता है । पहले-पहल यह अत्यन्त धीमी होती है, परन्तु जितना अधिक हम उसे सुनेंगे उतनी ही यह स्पष्ट होती जायगी । उस भीतरी सहज दृष्टिके द्वारा जो हमारे आन्तरतम प्रदेशमें निश्चित रूपसे जाग्रत् होती है, यदि कोई बात हमें सत्य प्रतीत होती है तो किसी तर्कका आश्रय लेकर हमें उसे तुरंत स्वीकार करने एवं ग्रहण करनेसे इन्कार नहीं करना चाहिये । जब कोई वस्तु, घटना अथवा बाह्य-रूप हमारे सामने अपनी सत्ताको कायम कर देता है तो हमें इस बातको लेकर उसका अपलाप नहीं करना चाहिये कि हम दूसरे तथ्योंके साथ, जो उसकी स्वीकृतिमें बाधक प्रतीत होते हैं, उसका सामञ्जस्य नहीं बैठा सकते । प्रकाशकी सत्ता इसलिये अस्वीकार नहीं की जा सकती कि अन्धकार भी साथ-ही-साथ विद्यमान है; बल्कि इस प्रकारका जो विरोध दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण है—हमारी सीमित शक्तियोंकी सविशेषता । इसी सविशेषताके कारण हम असीमके धरातलपर समग्रका उसके पूर्ण रूपमें दर्शन नहीं कर सकते—जिस धरातलपर सीधी रेखा चक्राकार हो [illegible] और जिन्हें हम परस्पर विरुद्ध कहते हैं, वे सब एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर सत्यकी रज्जुमें भलि[illegible] एवं एकीभूत हो जाते हैं । जीवनके अनेक [illegible] बहुमूल्य रत्नोंसे हम इसलिये वञ्चित रह जाते हैं कि हम उन्हें ग्रहण करनेसे डरते हैं और आत्माकी दैवी प्रेरणाओंकी उपेक्षा करते हैं, जिन्हें कार्या[illegible] करनेसे हम सत् एवं यथार्थ वस्तुकी उपलब्धि कर सकते हैं । इस पद्धतिसे यदि दुर्दैववश कभी हम किसी भ्रान्त निर्णयपर पहुँच जायँ तो भी यदि हम [illegible] और ईमानदार हैं तो वह निर्णय अपने-आप शीघ्र [illegible] हमारी बुद्धिसे हट जायगा । हमें इस बातसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है कि हमारी सत्ताके लिये हानि हो जायगी । अवश्य ही हमें सत्यको जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करानेवाले मार्गका अवलम्बन करना चाहिये और जब कि भगवान्‌का दिव्य राज्य हमारे सामने हो, तब हमें प्राथमिक सिद्धान्तोंपर नहीं [illegible]

चाहिये कि जो वस्तु स्पष्ट [illegible]

सिद्धिके लिये तर्क [illegible]

करें किन्तु [illegible]

करके, जिस [illegible]

उसी प्रकार [illegible]

तथ्योंका [illegible]

संग्राह्यता [illegible]

उनके यथार्थ [illegible]

आध्यात्मिक [illegible]

रूपसे चालू रहनी चाहिये, [illegible]

हमारे समग्र स्वरूपमें व्याप्त होकर [illegible]

कर ले, जबतक कि हम यह न [illegible]

नहीं किन्तु मेरे अंदर रहनेवाला मेरा प्रभु हा[illegible]

है ।' उस समय हमें यह अनुभूति हो जायगी कि हम यह जड शरीर नहीं हैं किन्तु वस्त्रकी भाँति उसे धारण कर उसका उपयोग करनेवाले हैं, हम भावसमूह नहीं हैं किन्तु उनका निग्रह करनेवाले हैं, हम सङ्कल्प

स्वयम्भू ज्योति

(लेखक—रेवरेंड आर्थर ई० मैसी)

प्रत्येक आत्माके अंदर एक आन्तरिक प्रकाश होता है, जिसका अनुसन्धान एवं विकास किये जानेपर उसका (आत्माका) दिव्य स्वरूप स्पष्टतया प्रकट हो सकता है। यह वह अव्यक्त अपार्थिव अनिर्वचनीय स्वयम्भू ज्योति है, वह गूढ आन्तरिक प्रकाश है, जो संसारमें जन्म ग्रहण करनेवाले प्रत्येक मनुष्यको आलोक प्रदान करता है (which lighteth every man that cometh into the world)। उसीके प्रकाशके पीछे सब कुछ प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाशसे सारे पदार्थोंको प्रकाश मिलता है*'—श्रुतिके इस वाक्यके पीछे भी यही अनुभूति काम कर रही है। यहूदियोंके पैगंबर माइका (Micah) ने कहा है—'ईश्वर मुझे प्रकाशके सम्मुख लायेंगे और मैं उनके धर्म और न्यायके दर्शन करूँगा' (He will bring me forth to the light, and I shall behold His righteousness)। इस प्रकाशको वही देख पाता है, जो श्रद्धापूर्वक इसकी खोज करता है, जो इसके सहारे सत्यका दर्शन करना चाहता है, न कि वह जो इसकी अभिव्यक्तिकी ओरसे उदासीन रहता है। वह उसे उस मार्गका दर्शन करा देता है जो शान्ति, विश्राम एवं विजयके नित्य निकेतनकी ओर ले जानेवाला है—जहाँ पहुँचनेपर मनुष्यको लौकिक संघर्षसे विश्राम मिलता है एवं जगत्के तूफानों एवं झंझावातोंसे ऊपर उठकर वह अपनेको एक अनिर्वचनीय शान्तिके वातावरणमें पाता है, जिसपर कालकी गतिका अथवा मनुष्यकी बदलनेवाली परिस्थिति-का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह उन्हें उन तेजोमय अट्टालिकाओंके शिखरोंकी झाँकी करा देता है, जो इस मर्त्यलोकसे इतने ऊपर उठे हुए उनका प्रकाश स्वर्गीय दीपावलीके प्रकाशसे घुल-[illegible] एक हो जाता है। वहाँ यह जाननेके लिये कि आध्यात्मिक जीवनके अत्यन्त मनोमुग्धकारी स्व[illegible] दिव्य अनादि भागवतीय जीवनकी—जिसे हम ईश्वर[illegible] हैं तथा जिसके आधारपर एवं जिस उपादानसे [illegible] सत्ता एवं रूपोंकी रचना होती है—प्रभाके सच्चे [illegible] वास्तविक प्रतीक अथवा प्रतिध्वनि एवं प्रतिबिम्ब [illegible] यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि मर्त्यलोकको ही ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाया ज[illegible] अथवा स्वर्गको ही मनुष्यके दृष्टिपथमें ले आया जाय[illegible]

एक सच्चे एवं श्रद्धालु साधकको आध्यात्मि[illegible] जीवनकी सत्यता एवं वास्तविकताके लिये किसी बाह्[illegible] प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह उसक[illegible] आत्मामें ओतप्रोत रहता है। आत्मबलके दृढ़तम आधार तथा अपनी आध्यात्मिक प्रकृतिके निर्माणके लिये वह बाह्य प्रमाणका भरोसा नहीं करेगा, जिसका खण्डन भी किया जा सकता है। उसके भीतर एक ऐसी आवाज होती है, जो वृतीसे भी तेज होती है, जो किसी भी बाह्य प्रमाणसे अधिक प्रामाणिक होती है, जो लौकिक बाजारोंके कोलाहलके भी ऊपर सुनी जा सकती है। आत्माके अंदर एक गूढ़ दिव्य दृष्टि होती है, जो लौकिक विषयोंसे अन्तर्हित रहती है, जो दर्शनों-के टेढ़े-मेढ़े कठिन रास्तोंसे दूर होती है, जो अन्य सभी शक्तियोंकी भाँति स्पष्टरूपसे स्वीकार करने, प्रयत्नपूर्वक साधने तथा सावधानीके साथ पोषण करनेसे विकसित होती है। यह [illegible] मौरूसी सम्पत्ति है, यह [illegible] सम्प्रदायके [illegible]

---

* तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

अज्ञात चेतनाका अगाध रहस्य

(लेखक—श्रीरमणचन्द्रजी जोशी एम्० ए०)

(१)

पहले ही कहा जा चुका है कि हमारी जो अनुभूतियाँ हमारे लिये दुःखद होती हैं, उन्हें हमारी जाग्रत् चेतना निरन्तर दबाती चली जाती है, और फलस्वरूप भूलती जाती है। एक बार दबनेपर वे प्रत्यक्षरूपसे आजीवन दबी रहती हैं, पर परोक्षरूपसे वे विभिन्न रूपोंमें फूटती रहती हैं। फल यह होता है कि हमारे सारे जीवनपर अज्ञात और अप्रत्यक्ष-रूपसे उनका प्रभाव पड़ता रहता है, और वह प्रभाव हमारे मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्यके लिये विषमय सिद्ध होता है। हमारे विचारों और मनोभावोंमें बहुत-सी विकृतियाँ आ जाती हैं, हमें पग-पगपर भय, शङ्का और ग्लानिका अनुभव करना पड़ता है। हम अपनेको हीन समझने लगते हैं, और हीनताकी यह अनुभूति समाजसे और संसारसे हमें विच्छिन्न करनेके प्रयत्नमें तत्पर रहती है। समाजसे सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित न कर सकनेके कारण सारा जीवन हमारे लिये भारस्वरूप हो जाता है और घोर निराशा और गहन विषादके भावोंसे वह घन अन्धकारमय बन जाता है।

यह क्रम ठीक उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥*

यदि इन दो श्लोकोंकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक विधिसे की जाय, तो वह इस प्रकार होगी—

आधुनिक मनोविज्ञान-विश्लेषकों (P-

का यह मत है कि सभी मानवीय

एक मूल शक्ति है। इस मूल शक्तिको .

वैज्ञानिकोंने अलग-अलग नाम दिये हैं।

नाम दिया है "Libido", जिसका भावार्थ है '

गीताकारने इसी "आकाङ्क्षा" को पहले "संग"

"काम" कहा है। जीवनकी आकाङ्क्षा, प्रेमकी ·

शक्ति और उन्नतिकी आकाङ्क्षा, ये सब भाव मानवीय

को सब समय सञ्चालित और आलोडित करते रहते हैं '

समाज और संसारके कठोर वास्तविक रूपके संघर्षमें उसे पग-पगपर भयङ्कर बाधाओंका सामना करना पड़ता

जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। इसलिये वह

क्रोधके वशीभूत होता है। पर जब वह देखता है कि

वह क्रोध अथवा आक्रोश शून्यमें पत्थर फेंकनेके ..

निष्फल है, तो उसके भीतर एक प्रकारकी भ्रान्ति या जड़ता-का-सा भाव उत्पन्न हो जाता है, और वह सङ्घर्षकी कठोर अनुभूतियोंको भुलानेके उद्देश्यसे उन्हें अपनी अज्ञात चेतनाके भीतर दबा देता है, गीताकारने दमन (Repression) की इसी क्रियाका फल स्मृति-विभ्रम और बुद्धिनाश बतलाया है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे अत्यन्त युक्तिसङ्गत है। कारण यह है कि दमनके फलस्वरूप व्यक्तिका सचेत मन सङ्घर्षके कटु अनुभवोंकी स्मृतियोंको एकदम भुला देता है। पर जैसा कि हम पहले कह चुके हैं वे स्मृतियाँ पूर्णतः विध्वस्त नहीं हो जातीं। वे अज्ञात चेतनामें दबी और छिपी रहती हैं, और समय-समयपर नाना विकृत रूपोंसे फूटती रहती हैं। फलस्वरूप व्यक्तिके स्वभावमें जो विकृतियाँ आ जाती हैं वे उसकी सारी आत्माको, सारे जीवनको विषमय बना देती हैं। इसी कारण गीताकारने कहा है कि "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति"—बुद्धिका नाश हो जानेसे व्यक्ति भी नाशको प्राप्त हो जाता है।

फ्रायडके मतानुसार मनुष्यके मनका यह अन्तर्दमन चक्र शैशवावस्थामें ही प्रधानरूपसे चलता है। मानव-शिशु जन्म

---

* पुरुष प्रारम्भमें विषयोंका ध्यान करता है, जिससे आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्तिसे काम (सुख-भोगकी इच्छा) उत्पन्न होता है और कामसे क्रोधकी सृष्टि होती है। क्रोधसे संमोह (भ्रान्ति या प्रमाद) उत्पन्न होता है और संमोहसे स्मृति-भ्रम हो जाता है। स्मृति नष्ट होनेसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिनाश हो जानेसे पुरुष स्वयं विनाशको प्राप्त होता है।

जब वे आसन लगाकर प्रारम्भ करते 'सीताराम, सीताराम' तो उन्हें शरीर और संसार दोनों ही विस्मृत हो जाते थे। प्रारम्भ तो वे करते थे उच्च स्वरसे; पर धीरे-धीरे स्वर गिरता और अन्तमें वाणी रुक जाती। जप श्वाससे चलता और जब श्वास भी शिथिल हो जाता तो मनीराम इस गुरुतर कार्यको सम्हालते। सामने रहते थे युगल सरकार और दोनों नेत्रोंसे दो धाराएँ कपोल, हृदय और घुटनोंपर होती हुई श्रीसरयूजीकी रेणुकामें अदृश्य होती जाती थीं। इसके अतिरिक्त भी कोई समाधि हो तो वह हुआ करे। इतना अवश्य है कि यह सबीज समाधि ही थी।

[२]

'नाम' स्वयं महान् है और कहीं उसके साथ नामीका स्मरण भी रहे, तब तो उसकी तुलना केवल उसीसे हो सकती है। क्या आश्चर्य था जो नामके सहारे बाबा रघुनाथदास इस भौतिक शरीरसे ऊपर उठ जाते थे! जिस समय वे आसन लगाकर बैठते थे, लोग कहते हैं कि उनका न श्वास चलता था, न हृदय, और न शरीरमें उष्णता ही रहती थी। वे कनक-भवनसे लौटकर प्रायः ग्यारह-बारह बजे बैठते थे और दस बजे रात्रितक उधर जानेवाले देखते थे कि वे वैसे ही बैठे हैं। प्रातः साढ़े तीन बजे सरयू स्नान करनेवाले एक साधु कहते हैं कि वे 'उस आसनसे चार बजेके लगभग उठते हैं। उठकर स्नानादिमें लग जाते हैं। पता नहीं वे सोते कब होंगे! सोते हैं भी या नहीं!'

एक दिन प्रातःस्नान करनेवालोंने देखा कि रघुनाथदासजी ज्यों-के-त्यों बैठे हैं। जब वे दस बजे तक भी न उठे तो भक्तोंने पुकारा, हिलाया। बड़ी कठिनतासे उन्होंने नेत्र खोले। पता नहीं, उन्हें क्या हो गया था! न तो किसीकी बात सुनते थे और न समझते थे। ऐसे चारों ओर देखते थे, मानो कोई

आश्चर्य देख रहे हों। हाथ जोड़कर रोने भी लगते थे। भक्तोंने उठाकर स्नान कराया। प्रसाद सम्मुख रखे पर भी जब उन्होंने नहीं उठाया तो भक्तोंने उनके मुखमें अपने हाथसे ग्रास दिये।

थोड़े दिनों यही क्रम चलता रहा। भक्तगण लगभग नौ-दस बजे बाबा रघुनाथदासको स्नान कराते और उन्हें अपने हाथसे भोजन कराते। वे अब कभी अपने-आपमें रहते नहीं थे। भक्त उन्हें सरयू-किनारेसे उठाकर कनकभवनमें ले आये। उसी कनकभवनमें, जो आरम्भसे ऐसे प्रभुके लड़ैते लालोंका क्रीडाक्षेत्र बनता रहा है, बाहरी घेरेके एक कमरेमें उनका आसन लगा दिया।

एक दिन लोगोंने देखा कि बाबाके मुखमण्डलसे दीप्त प्रकाश निकल रहा है। उनकी ओर देखा नहीं जाता। नेत्र चकाचौंध करते हैं। मन्दिरमें पहुँचते ही 'सीताराम, सीताराम' की ध्वनि इतनी प्रबलतासे गूँजती है कि प्रतीत होता है कि यदि कोई दुराग्रहपूर्वक सीताराम न कहा जाय तो मस्तिष्क फट जायगा। वहाँ पहुँचते ही प्रत्येक व्यक्ति बराबर वहाँ रहनेतक सीताराम कहनेको विवश हो जाता है।

एक-एक करके अठारह दिन व्यतीत हो गये। भक्तोंने सब प्रकारसे हिलाकर, पुकारकर, शंख-घड़ियाल बजाकर प्रयत्न कर लिया, बाबा रघुनाथदासके नेत्र नहीं खुले। उनके मुखका प्रकाश प्रखरतर होता जा रहा था। वही प्रकाश बतलाता था कि शरीरमें अभी प्राण है। माघ है रामनवमी। ठीक बारह बजे उधर [illegible] [illegible] [illegible] और इधर [illegible] रघुनाथदासजीके [illegible] एक [illegible] हुआ। [illegible] देखा और फिर वही [illegible] [illegible] ठीक [illegible] [illegible] था और [illegible] [illegible] [illegible] पूछ थे!

प्रवृत्ति रहती है, न किसी कर्ममें; वे घोर स्वार्थपरायण और अदूरदर्शिनी बन जाती हैं, और नाना प्रकारकी विकृतियाँ उनके मनको आ घेरती हैं। जो उदाहरण स्त्रियोंके सम्बन्धमें उपस्थित किये गये हैं वही अतृप्ताकाङ्क्षी पुरुषोंके सम्बन्धमें भी पेश किये जा सकते हैं, फ्रायडका कहना है कि अतृप्त वासनाओंकी चरितार्थता ही इस प्रकारकी विकृतियोंके निराकरणका एकमात्र उपाय है। पर युङ्ग (Jung) का कहना है कि न अतृप्त वासनाओंकी चरितार्थतासे मनुष्यके अन्तर्द्वन्द्वोंकी समस्या हल हो सकती है, न उन वासनाओंको अमुक्तरूप देनेसे। उसकी राय किसी अतृप्त आकाङ्क्षाकी समुन्नति (Sublimation) के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया समय-समयपर व्यक्तिके मनमें उत्पन्न होती है वह उसके मनमें अशान्ति उत्पन्न करती है। अन्तर्द्वन्द्वोंसे छुटकारा पानेका जो सर्वश्रेष्ठ उपाय युङ्गने बताया [illegible] गीताके निष्काम कर्मयोगसे बहुत कुछ मिलता-जुल[illegible] जो कुछ भी तथाकथित 'पाप' अथवा 'पुण्य' [illegible] उनमें लिप्त न रहकर उन्हें भगवान्‌के चरणोंपर अ[illegible] और निष्काम हृदयसे, लोकसंग्रहके कार्यमें जुटे रहें [illegible] दार्शनिकोंने मानसिक उलझनों (Complexes) [illegible] पानेका जो एकमात्र उपाय निर्देशित किया है, [illegible] बहुत दिनों बाद आधुनिक मनोविज्ञान-विशारद भी लगे हैं।

जीव और ईश

(लेखक—श्रीकृष्ण)

प्रत्येक पिण्डमें जो अन्तःकरणके सहित आनन्दस्वरूप चेतन है वह जीव कहलाता है। सर्वव्यापी चेतन एक होनेपर भी अन्तःकरणयुक्त जीव अनेक देह होनेके कारण अनेक दिखायी देते हैं; जैसे एक ही सर्वव्यापक आकाश अनेक घटरूप उपाधियोंके कारण अनेक घटाकाशोंके रूपमें दिखायी देता है।

महासागरमें जल अखण्ड रूपसे एक समान व्याप्त है; किन्तु जब हमारी दृष्टि उसके किसी एक विशेष सूक्ष्म स्थानपर जाती है तब उसे जलबिन्दु कहते हैं और जब सम्पूर्ण जलका विचार करते हैं तब उसे महासागर कहते हैं। एक उदाहरण और लीजिये। हमारे पास चौसठ पैसे हैं; उनमेंसे एक-एकको तो पैसा कहते हैं और सारे समुदायको रुपया। प्रत्येक टुकड़ेमें ताँबा और राजाका सिक्का होता है। इस राजाके सिक्केसे युक्त ताँबेके एक टुकड़ेको पैसा कहते हैं और सबको मिलाकर एक रुपया कहा जाता है। वैसे ही एक-एक देहमें व्याप्त अन्तःकरणयुक्त चेतनको जीव कहते हैं और सब देहोंमें व्याप्त अन्तःकरणयुक्त चेतनको ईश, ईश्वर, परमेश्वर या भगवान् कहा जाता है। जीवको अपने देहका ही अभिमान होता है परन्तु ईशको सारी सृष्टिका होता है। देहमें व्याप्त संस्कारयुक्त चेतनको जीव कहते हैं और संस्काररहित चेतनको चेतन, आत्मा, कूटस्थ, साक्षी इत्यादि नामोंसे कहा जाता है। इसी प्रकार सारी सृष्टिमें व्याप्त सब जीवोंके संस्कार-समुदायसहित चेतनको ईश, ईश्वर, परमेश्वर या भगवान् कहते हैं और संस्कार-समुदायरूप उपाधिसे रहित चेतनके ब्रह्म, परब्रह्म, पराविभूति इत्यादि नाम हैं। यों तो जीव, आत्मा, ईश और ब्रह्म सब एक ही सच्चिदानन्द है। जीवका अन्तःकरण विकार यानी अज्ञान या अविद्यासे युक्त है। इसी अविद्याके कारण वह स्वयं आनन्दघन होनेपर भी अपनेको दुखी मानता है तथा पूर्ण होनेपर भी अपूर्ण मानता है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके आगे एक देह तो इतना अल्प है कि नहींके बराबर है। इसीसे उस देहके अभिमानी जीवका ज्ञान भी अत्यन्त अल्प है—नहीं-जैसा है। इसीलिये यह अज्ञानी कहलाता है। अल्प उपाधियोंमें व्याप्त जीव अल्पका अभिमानी होनेसे अल्पज्ञ है और सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त होनेके कारण ईश सर्वज्ञ एवं स्वयंसिद्ध है। इसीसे ज्ञान उसकी उपाधि कहा जाता है।

लेनेके समयसे ही स्वभावतः आत्म-तृप्तिकी आकांक्षा रखता है और सुखके लिये लालायित रहता है। प्रारम्भिक कालमें उसकी यह आत्मसुखाभिलाषा मातृ-स्तन-पानसे तृप्त हो जाती है। पर ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे संघर्षोंका सामना करनेको बाध्य होना पड़ता है। तीन या चार वर्षकी आयुमें ही संघर्षका कटु अनुभव करने लग जाता है। शिशु-के भीतरी संघर्ष—अन्तर्द्वन्द्वका उग्रतम रूप तब देखनेमें आता है, जब उसकी माता उसके छोटे भाई या बहनको जन्म देती है। तब वह देखता है कि इतने दिनोंतक उसकी माता सुखके जिन साधनोंको केवल उसीके लिये काममें लाती रही है, वे अब आधे-आधे बँटने लगे हैं। एक ओर तो अपने नवजात भाई या बहनके प्रति भयंकर आक्रोशका भाव उसके मनमें उत्पन्न होता है, और दूसरी ओर उसके माता-पिता अनेक प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपोंसे उसके मनपर यह संस्कार जमा देते हैं कि उसका छोटा भाई (या बहन) उसकी ममता और प्रेमका पात्र है, और उसके लिये प्रसन्न-चित्त होकर आत्मत्याग करनेको तत्पर रहना उसका कर्तव्य है। कहना नहीं होगा कि इस सामाजिक और नैतिक संस्कारको शिशु अपनी अविकसित बुद्धिके अनुसार ग्रहण करता है, पर इसीसे उसके मनमें अन्तर्द्वन्द्व मचने लगता है, और वह विवश होकर अपने स्वार्थकी स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियोंको दबाकर अपनी जाग्रत् चेतनासे उन्हें हटाकर अज्ञात चेतनामें निर्वासित करने लगता है। पर इस दमनकी प्रतिक्रिया अदृश्य और अज्ञात रूपमें उसके सारे जीवनकालमें चलती रहती है।

[illegible] प्रवृत्तियोंके दमनका केवल एक ही उदाहरण हमने ऊपर दिया है। इस प्रकारके और भी कितने ही उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। [illegible]

डरनेका संस्कार परवर्ती जीवनमें स्वयं अपने [illegible] (Conscience) से डरनेका रूप धारण कर लेता है। शिशु अपने अनेक कार्योंके सम्बन्धमें अपने [illegible] निषेध-वाक्यों और धमकियोंको सुनते-सुनते अपनी [illegible] प्रज्ञाका निर्माण कर डालता है। यह प्रज्ञा उसके मनमें [illegible] कुछ विशेष-विशेष समाज-निषिद्ध कार्योंके सम्बन्धमें [illegible] तीव्र रूपसे तिरस्कृत करती रहती है। साधारण [illegible] मनुष्य (Normal individual) इस आत्म-तिरस्कार[illegible] प्रवृत्तिको अपने असामाजिक और उच्छृंखल मनो[illegible] सुधारके काममें नियोजित करता है, पर असाधारण [illegible] अप-साधारण (Abnormal) कोटिका [illegible] मनोविकृतियोंसे ऐसा ग्रस्त रहता है कि आत्म-तिरस्कार[illegible] भावना उसके जीवनको नष्ट-भ्रष्ट कर डालती है, और [illegible] सदा शंकित, चिन्तित और संकुचित रहता है।

इस प्रकारकी विकृत मनोवृत्तिवाला व्यक्ति [illegible] संसारके साथ अपने जीवनका सामञ्जस्य स्थापित नहीं [illegible] पाता। आत्म-दमनकी मनोवृत्ति, और दबायी गयी [illegible] के आलोडनके कारण उसके भीतर जो अन्तर्द्वन्द्व [illegible] उसका समाधान वह एक विचित्र ढंगसे करता है। [illegible] मनमें तरह-तरहकी रंगीन आशाओं [illegible] बुनता है। इस प्रकार वास्तविक जगत्‌में उसकी [illegible] उच्छृंखल वासनाएँ अतृप्त रह गयी थीं [illegible] रूपकमय आभासोंद्वारा चरितार्थ करता जाता है। [illegible] के लिये बहुधा यह देखा गया है कि [illegible] जीवनमें पतिके सुखसे वंचित रही है, [illegible] कर अपनी अतृप्त [illegible] [illegible]

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

सप्रेम हरिस्मरण। आपके बहुत-से पत्र आये, जिनमें प्रश्न अधिक थे तथा उनका उत्तर देनेके लिये समय भी अधिक आवश्यक था, किन्तु मेरे पास समय बहुत कम रहता है, इसीलिये पत्रोत्तर देनेमें इतना विलम्ब हो गया, अतः इसके लिये विचार न करें। अब इसके लिये समय निकालकर आपके पत्रोंका उत्तर नीचे दिया जाता है—

आपने पत्रमें घर, कुटुम्ब तथा घरवालोंसे इच्छापूर्वक अपने अलग होनेके समाचार लिखे सो मालूम किये।

आपने अपनेको प्रमेहकी बीमारीमें पीड़ित बतलाते हुए इसकी चिकित्साके लिये बहुत रुपया खर्च हो जानेपर भी आराम न होनेकी बात लिखी सो मालूम की। इसके लिये वैराग्य और संयमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन, पथ्य-परहेज एवं संयमसे रहना ही मुख्य ओषधि है।

आपने अपनी जन्मकुण्डली मुझे दिखाकर उचित सलाह लेनेके लिये लिखा सो आपके प्रेमकी बात है किन्तु जन्मकुण्डलीका न तो मुझे कोई विशेष ज्ञान ही है तथा आजकल जन्मकुण्डलीकी सारी बातें न मिलनेके कारण न मेरी इनपर विशेष श्रद्धा ही है। अतः आपको जन्मकुण्डली मेरे पास भेजनेके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

आपने अपनेको शारीरिक अस्वास्थ्य तथा मन, बुद्धि और कर्मका दुःखी बतलाया सो इसके लिये भगवान्‌का भजन-ध्यान और स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे इनका नाश होकर आपके चित्तमें प्रसन्नता हो सकती है।

आपने लिखा कि मैं सब काम छोड़कर छबीले श्याम-को भजना चाहता हूँ किन्तु यह काम प्रारम्भिक अवस्थामें आरम्भ न होनेके कारण अब मन अन्यत्र भटकता है, जप-ध्यान पूर्णरूपेण नहीं बनते हैं इससे मुझको पश्चात्ताप भी है सो मालूम किया। बीती हुई अवस्थामें साधन शुरू न किया तो कोई बात नहीं; अब भी बाकीकी अवस्थाको तो साधनमय ही बना देना चाहिये, न जाने मृत्यु कब अचानक आ उपस्थित हो जाय। यदि बाकीकी अवस्था भी यों ही गफलतमें चली जायगी तो आगे इससे भी ज्यादा पछताना पड़ सकता है। पर, फिर क्या होगा? मनुष्य-जीवन, जो भगवान्‌को प्राप्त करनेका एकमात्र साधन था, वह यों ही खो दिया। अस्तु, अपने हृदयमें श्रद्धा और प्रेमकी कमीको इसका कारण समझकर फिर तत्पर होकर लग जाना चाहिये। विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिसे मनको समझाकर तथा भगवान्‌के अद्भुत गुणोंका मनन करके श्रद्धा और प्रेमपूर्वक तत्परताके साथ भजन करना चाहिये। यदि इस प्रकार न हो सके तो भजनके लिये हठपूर्वक जप बढ़ाकर नियम तो करना ही चाहिये।

आपने लिखा कि सच्चिदानन्द घन निर्गुणका

वे भगवान् सर्वशक्ति, सत्यसङ्कल्प, पूर्ण दया और पूर्ण करुणा आदि दिव्य गुणोंसे विभूषित हैं, इसीसे सगुण विभूति या सगुण ब्रह्म कहे जाते हैं। अज्ञानी जीव अपूर्ण, निःसहाय और दुखी होनेके कारण पूर्ण एवं सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी कृपा सम्पादन करना चाहे, उनकी सहायता माँगे—यह बिलकुल स्वाभाविक ही है। भगवान्‌के बिना जीवका कोई और सहायक न होनेसे उसे भगवान्‌की अनन्यशरणागति ही इष्ट होती है। जीवके एकमात्र सहारे भगवान् ही हैं; उनपर उसका स्वभावसे ही अत्यन्त उत्कृष्ट और अविच्छिन्न प्रेम है, क्योंकि तत्त्वतः तो वे एक ही हैं। जैसे जीवका, वैसे ही भगवान्‌का भी जीवपर स्वाभाविक प्रेम है। जीव भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जान ले—उसका यह स्वभाव ही है, इसके लिये कोई प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु अज्ञानवश वह इस सम्बन्धको भूले हुए है। तो भी स्वाभाविक होनेके कारण वह प्रेम सहजहीमें प्रकट हो सकता है। किन्तु इस ओर उसकी दृष्टि जाय तब न। वह तो विषयोंमें इतना लिप्त है कि ईश्वरकी ओर जानेके लिये उसके पास समय ही नहीं है। यदि वह एक क्षणके लिये भी विषयोंसे मुख मोड़ ले तो वह सहज ही ईश्वरकी ओर मुड़ सकता है और उसके हृदयमें भगवत्प्रेम प्रकट हो सकता है, जिसके सुखकी त्रिलोकीमें कोई उपमा नहीं है।

भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे यह जानते ही हैं कि जीव अपना ही अंश है। इसीसे जीवपर उनका स्वाभाविक प्रेम है। वे जीवको कभी नहीं भूलते। उसको पूर्ण [illegible] करनेको और उसके [illegible] निर्भय करनेके लिये वे [illegible] रहते हैं। वे [illegible] करना चाहते हैं कि उसके [illegible] अज्ञानको दूर करके [illegible] है किन्तु [illegible] विषय दूर हो जाये, [illegible] दुःख हो जाये, [illegible]

भगवान् तो जीवकी ओर मुँह किये बिल्कुल [illegible] हैं किन्तु जीवने उनकी ओर पीठ करके विषयोंकी ओर मुँह घुमा रक्खा है। वह विषयोंमें ही लिप्त है, [illegible] रममाण है; अतः जब भगवान् देखते हैं कि वह [illegible] खेलमें ही रम रहा है, तो वे फिर उसे नहीं छेड़ते। [illegible] हैं कि कभी तो थकेगा, कभी तो विषयोंसे [illegible] उनसे उपरति होगी, तब हम उसको [illegible] बीच-बीचमें भी जब वह संसाररूपी खेलमें [illegible] जाता है और दुखी होने लगता है, तब वे उसे [illegible] करते रहते हैं। इस तरह जीवपर उनकी [illegible] रहती है, तो भी वह विषयोंमें इतना अन्धा हो [illegible] उनकी की हुई कृपाको देख भी नहीं सकता। [illegible] उनकी कृपाका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो [illegible] स्वयं ही भगवान्‌की ओर लग जाय।

उपर्युक्त कथनके अनुसार यदि जीवको ईश्वरके [illegible] अपने सम्बन्धका ज्ञान हो तो उसमें [illegible] प्रेम प्रकट हो जाय। यह प्रेम स्वाभाविक होनेके [illegible] है। इसमें किसी फलकी इच्छा नहीं है। [illegible] है, इसमें दुःख, भय आदि कोई भी [illegible] नहीं [illegible] अपने ऊपर जो अपना प्रेम होता है [illegible] और निरन्तर हुआ करता है। [illegible]

प्र० २३–प्रारब्धका नाश कब हो सकता है ?

उ०–प्रारब्धका नाश प्रारब्धके भोग, प्रायश्चित्त तथा ईश्वर और महापुरुषोंके प्रसादसे हो सकता है ।

प्र० २४–मनुष्य देवताओंकी तरह तेजस्वी और अक्षय किस तरह बन सकता है ?

उ०–योगसाधन एवं ईश्वरकी अनन्य शरण होनेपर ईश्वरकी दया होनेसे बन सकता है ।

प्र० २५–क्या देवता आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकते ?

उ०–देवयोनि भोगयोनि है, इसलिये उनका मुक्तिमें अधिकार नहीं है । किन्तु ईश्वरकी विशेष कृपासे हो सकता है ।

प्र० २६–क्या सुख भी दु:खकी तरह जबरन् भोगना पड़ता है ?

उ०–हाँ, सुख भी दु:खकी तरह बलात्कारसे प्राप्त हो सकता है, किन्तु साधक चाहे तो सुखका त्याग भी कर सकता है ।

प्र० २७–आजकल आकाशवाणी क्यों नहीं होती ?

उ०–श्रद्धा, भक्ति और आस्तिकभावकी कमीके कारण इस घोर कलिकालमें आकाशवाणी होनेका नियम नहीं है ।

प्र० २८–क्या रेडियो स्वर्गतक पहुँच सकता है ?

उ०–शब्द आकाशका गुण होनेसे वह आकाशमें सब जगह व्यापक हो जाता है किन्तु स्वर्गमें इस यन्त्रका सम्बन्ध नहीं है, इस कारण वहाँ रेडियो नहीं पहुँच सकता ।

प्र० २९–ईश्वरने संसार-वैचित्र्य किसलिये बनाया है ? यदि विनोदके लिये बनाया तो अनेक जीवोंको दुखी बनाना विनोद नहीं है, यह तो निर्दयता है ।

उ०–संसार-वैचित्र्य बनानेमें ईश्वरका न तो विनोद ही है तथा न उनकी निर्दयता ही है । परन्तु जीवोंके कर्म ही विचित्र हैं । उनको इन कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये ही बनाया गया है ।

प्र० ३०–जब सबसे पहले सृष्टि हुई थी तो स[illegible] जीव एक-से कर्म करनेवाले हुए होंगे ।

उ०–सृष्टिके आरम्भका प्रश्न [illegible] विरुद्ध है क्योंकि सृष्टि अनादि है, [illegible] नहीं है, इसलिये कर्मकी विचित्रता भी [illegible]

प्र० ३१–पतन होनेकी बुद्धि कहाँसे [illegible]

उ०–अविद्या, अहंकार, राग और द्वेष [illegible] स्वभावसे तथा नीच पुरुषोंके सगसे पतन होनेकी प्राप्त होती है ।

प्र० ३२–ईश्वरेच्छा प्रत्येक बातमें लागू क्यों होती ? जैसे सुख-दु:ख और उत्पत्ति-प्रलय आदि ।

उ०–ईश्वरेच्छा सभीमें लागू होती है किन्तु ई[illegible] अपना कोई निजी स्वार्थ न होनेके कारण उनकी इच्छा शुद्ध होती है और जीवोंके हितके लिये ही जीवोंको कर्मानुसार फल भुगतानेके निमित्त होती है ।

प्र० ३३–"गहना कर्मणो गति:" क्या यह बात मुक्त पुरुषके लिये भी लागू है ?

उ०–मुक्त पुरुषके लिये यह बात लागू नहीं है क्योंकि मुक्त पुरुष इसके रहस्यको जानता है । इसके विशेष विस्तारके लिये गीता अध्याय ४ के १७-१८ वें श्लोकोंका 'गीतातत्त्वांक' में अर्थ देखना चाहिये ।

प्र० ३४–स्वर्गमें साम्यवाद है या अपना-अपना कर्मभोग ?

उ०–स्वर्गमें साम्यवाद नहीं है, वहाँ तो कर्मोंके अनुसार दिव्य भोग भोगे जाते हैं । यथार्थ शुद्ध साम्यवाद तो भगवान्के नित्य परम धाममें है ।

उ०—जो पदार्थ प्रकाशमान हो, अलौकिक हो, शुद्ध हो ऐसे पदार्थके विषयमें दिव्य शब्दका प्रयोग किया जाता है। इस भूलोकके देदीप्यमान शुद्ध पदार्थ भी दिव्य हैं किन्तु इनकी अपेक्षा देवता और उनके भोग दिव्य हैं। तथा ये सब ब्रह्माके प्रपञ्चके अन्तर्गत ही हैं। इन सबसे परम दिव्य भगवान्का स्वरूप और उनका धाम है, जो ब्रह्माके प्रपञ्चसे अत्यन्त विलक्षण है और परम दिव्य है।

प्र० १६—इस ब्रह्माण्डके हरि, हर और ब्रह्मा—ये तीन देव ही मुख्य हैं तो अनेकानेक ब्रह्माण्डोंमें भी यही बात होगी?

उ०—स्वयं परमात्मा ही अनन्त ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु और महेशके रूपमें सम्मिलित होते हैं।

प्र० १७—तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें 'रोम रोम प्रति राजहिं कोटि कोटि ब्रह्मांड' इस प्रकार कहा है तो क्या श्रीकृष्ण और श्रीविष्णु-भगवान्के विषयमें भी यही समझा जाय?

उ०—हाँ; तुलसीदासजीका भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें 'रोम रोम प्रति राजहिं कोटि कोटि ब्रह्मांड' यह मानना उचित ही है क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण एवं श्रीविष्णु पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं। सत्ययुगमें श्रीविष्णु, त्रेतायुगमें श्रीराम तथा द्वापरयुगमें श्रीकृष्ण-रूपसे वे ही प्रकट हुए हैं। जैसे तुलसीदासजीकी दृष्टिमें 'रोम रोम' इत्यादि पद भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें है, उसी प्रकार सूरदासजीकी दृष्टिमें श्रीकृष्णके एवं ध्रुवकी दृष्टिमें श्रीविष्णुभगवान्के विषयमें समझना चाहिये।

प्र० १८—यदि भगवान्के अनन्य भक्त अपने-अपने इष्टके सिवा अन्य किसीको नहीं चाहते तो श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं श्रीविष्णुके उपासक उनके [illegible] लोकोंको प्राप्त होते होंगे?

उ०—नहीं; भगवान्का तो [illegible] है, जो भगवान् श्रीरामके भक्तोंके लिये साकेतलोक, श्रीकृष्ण-भक्तोंके लिये वही गोलोक एवं श्रीविष्णुके भक्तोंके लिये वही वैकुण्ठधाम है।

प्र० १९—गीताडायरीको भले-बुरे हाथोंका स्पर्श होता है तो इसमें कोई अपराध तो नहीं है?

उ०—अपराध तो कुछ भी नहीं है क्योंकि श्रीगीताको डायरीका रूप दे रक्खा है। फिर भी अपवित्र हाथ लगानेसे बचाना ही अच्छा है।

प्र० २०—सुपात्रको दान दिया जाय फिर वही सुपात्र यदि कुपात्र बन जाय तो इसमें दाता अपराधी हुआ या दान लेनेवाला?

उ०—जो दान लेते समय सुपात्र है फिर वही यदि कुपात्र बन जाय तो दान देनेवालेका इसमें कोई दोष नहीं। लेनेवाला तो कर्मोंका फल भोगेगा ही।

प्र० २१—जब आत्मा अमर है तो फिर हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिये?

उ०—आत्मा अमर होनेपर भी मरनेवाले प्राणीको दुःख होता है इसीलिये मारनेवालेको पाप लगता है। अतएव हिंसा नहीं करनी चाहिये।

प्र० २२—योगसाधनाद्वारा आयुकी वृद्धि एवं देह दिव्य हो सकता है या नहीं? शरीर दिव्य होनेपर क्या वह पाञ्चभौतिक देह नहीं रहता? प्रकृतिके नियम आयुवृद्धि होनेमें [illegible] करेंगे?

उ०—योगसाधनाद्वारा आयुकी वृद्धि तथा शरीर दिव्य हो सकता है परन्तु इस प्रकारका देह [illegible]

फैसला सर्वथा यथार्थ होता है। वहाँ अंधेर नहीं है; पर यदि देर है तो उस देरमें भी जीवोंका हित ही भरा हुआ होता है।

प्र० ४४—भगवान् जो करते हैं अच्छा ही करते हैं, फिर क्या वर्तमान महासमर भी भगवान्‌का ही विधान है ?

उ०—जब-जब पृथ्वीपर पापियोंकी वृद्धिके कारण भार हो जाता है, तब-तब पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान् कोई-न-कोई निमित्त बना देते हैं। अतः वर्तमान समयका महायुद्ध भी पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान्‌का ही विधान है।

प्र० ४५—भजन करनेके लिये भगवान्‌ने जब मनुष्य-देह बनायी तो फिर माया पीछे क्यों लगायी ?

उ०—माया तो अनादिकालसे पीछे लगी हुई है, भगवान्‌ने पीछेसे नहीं लगायी।

प्र० ४६—संवत् २००० के अन्तर्गत विश्वमें क्या कोई भारी परिवर्तन होनेवाला है ?

उ०—धन-जनका नाश और राज्यका परिवर्तन हो रहा है तथा और भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त किसी अच्छे परिवर्तन होनेकी या सत्ययुग आनेकी उम्मीद नहीं है।

प्र० ४७—भगवद्दर्शन प्रारब्धसे होता है या पुण्य-कर्मोंसे अथवा भगवदिच्छासे ?

उ०—श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन, ध्यान करनेसे एवं भगवान्‌की दयासे भगवान्‌का दर्शन हो सकता है।

प्र० ४८—ज्योतिःस्वरूप भगवान्‌का क्या स्वरूप है ? क्या वे सबसे अगम्य एवं दुर्भेद्य आदि स्थानमें विराजते हैं ?

उ०—भगवान्‌का ज्योतिःस्वरूप ज्ञानमय है, वे आकाशके समान सभी जगह विराजते हैं।

प्र० ४९—ज्योतिःस्वरूप भगवान्‌का चिन्तन [illegible] प्रकार करना चाहिये ?

उ०—ज्योतिःस्वरूप भगवान्‌का चिन्तन [illegible] में अध्याय ८ के नवें और १३ वें श्लोकका विस्तृत अर्थ देखकर [illegible]

प्र० ५०—श्रद्धा और वि[illegible] पुष्ट किस प्रकार बने रह सकते [illegible]

उ०—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, [illegible] धाम, महिमा, श्रद्धा और प्रेमके वि[illegible] द्वारा बारंबार श्रवण या सच्छास्त्रोंका [illegible] श्रद्धा और विश्वासकी दृढ़ता हो सकती है।

प्र० ५१—विश्वकी विचित्र कारीगरी लीलासे ही हुई है या प्राणियोंके कर्मफलसे ?

उ०—विश्वकी नाना प्रकारकी रचनामें कर्मफल ही प्रधान है। ईश्वरकी लीला तो निमि[illegible]

प्र० ५२—जगत्‌की सुन्दरता मनको मोहित कर[illegible] फिर खिंच लेती है। यह स्वभावतः है या हमारे मिथ्या मोहसे ?

उ०—इसमें मिथ्या मोह ही हेतु है।

प्र० ५३—किसी प्राणिविशेषसे आसक्तिपूर्वक प्रेम होना प्राचीन संस्कारसे है या इसमें मनका मोहरूप दोष एवं मनकी दुर्बलता हेतु है ?

उ०—इसमें अन्य जन्मके संस्कार, मनकी दुर्बलता और मोह तीनों ही हेतु हैं।

प्र० ५४—[illegible] कैसे मिटे ?

उ०—[illegible]

प्र० ३५—आजकल-जैसे आश्चर्यप्रद आविष्कार क्या कभी पहले भी हुए थे ?

उ०—हिरण्यकशिपु तथा रावण आदि असुर और राक्षसोंके समयमें तो इससे भी बढ़कर थे। क्योंकि वे इच्छानुसार अनेक रूप धारण कर लेते थे तथा अन्तर्धान होना और फिर प्रकट होना इत्यादि भी कर सकते थे।

प्र० ३६—भगवान्ने जब तीन सुन्दर-सुन्दर युगोंका निर्माण किया तो फिर इस दानवराज कलिकी सृष्टि इस प्रकार क्यों की ? यदि इस कलिकालमें "हरेर्नामैव केवलम्" इससे कल्याण समझकर की तो फिर सभी लोग सदाचारी क्यों नहीं हैं ? इसपर इस समय होनेवाले पापोंसे यदि पृथ्वी भूकम्प करके जीवोंका संहार कर दे तो क्या कोई हिंसा है ?

उ०—पता नहीं। यह सब ईश्वरकी लीलामयी दिव्य इच्छा है।

प्र० ३७—अप्सराएँ वेश्या हैं या अन्य जाति है ?

उ०—वे वेश्याएँ नहीं हैं, अप्सरा ही हैं। इनमें यही फर्क है कि वेश्या तो स्वेच्छासे पापकर्म करके पतनका मार्ग बनाती है तथा अप्सराएँ ईश्वरके विधानसे स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंको दिव्यभोग भुगतानेके लिये बनायी गयी हैं।

प्र० ३८—[illegible]। फिर उस [illegible] क्यों नहीं दिया, जिससे कि [illegible] बच जाय ?

उ०—उस [illegible] नहीं है, अतः [illegible] है।

प्र० ३९—स्तोत्रपाठ तथा स्वाध्याय मनमें [illegible] चाहिये या कुछ उच्चारणसे ?

उ०—दोनों प्रकार कर सकते हैं किन्तु उच[illegible] करके करना उत्तम है। क्योंकि मनमें करनेसे अ[illegible] रहनेकी सम्भावना है ?

प्र० ४०—श्रीगोपालसहस्रनाम, विष्णुसहस्रना[illegible] गीता, रामायण और श्रीमद्भागवत इत्यादि क्या दु[illegible] सप्तशतीकी तरह कीलित हैं।

उ०—यह सब तन्त्रवादी और फलकी इच्छा रख[illegible] कर्म करनेवालोंके लिये ही कीलित हैं। निष्कामभाव[illegible] भगवदर्थ कर्म करनेवाले भक्तोंके लिये नहीं।

प्र० ४१—जल्दी-से-जल्दी काम बन जाय [illegible] भावनासे भगवान् श्रीकृष्णके लिये स्तोत्रपाठ, स्वाध्याय, श्रवण, जप, ध्यान, चिन्तन और [illegible] चारसे पूजा किस तरह करनी चाहिये ?

उ०—पत्रद्वारा इसे विस्तारसे समझाना कठिन है, कभी प्रत्यक्ष मिलना हो तो पूछ सकते हैं।

प्र० ४२—[illegible] शुभ दिनमें [illegible] प्रारम्भ करनी चाहिये ?

उ०—जिस दिन [illegible] उसी दिन आरम्भ कर देना चाहिये [illegible] ही शुभ [illegible] है।

प्र० ४३—[illegible]

उ०—[illegible]

तैलक्ष सर्वथा यथार्थ होता है। वहाँ अंधेर नहीं है; पर यदि देर है तो उस देरमें भी जीवोंका हित ही भरा हुआ होता है।

प्र० ४४—भगवान् जो करते हैं अच्छा ही करते हैं, फिर क्या वर्तमान महासमर भी भगवान्का ही विधान है?

उ०—जब-जब पृथ्वीपर पापियोंकी वृद्धिके कारण भार हो जाता है, तब-तब पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान् कोई-न-कोई निमित्त बना देते हैं। अतः वर्तमान समयका महायुद्ध भी पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान्का ही विधान है।

प्र० ४५—भजन करनेके लिये भगवान्ने जब मनुष्य-देह बनायी तो फिर माया पीछे क्यों लगायी?

उ०—माया तो अनादिकालसे पीछे लगी हुई है, भगवान्ने पीछेसे नहीं लगायी।

प्र० ४६—संवत् २००० के अन्तर्गत विश्वमें क्या कोई भारी परिवर्तन होनेवाला है?

उ०—धन-जनका नाश और राज्यका परिवर्तन हो रहा है तथा और भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त किसी अच्छे परिवर्तन होनेकी या सत्ययुग आनेकी उम्मीद नहीं है।

प्र० ४७—भगवद्दर्शन प्रारब्धसे होता है या पुण्य-कर्मसे अथवा भगवदिच्छासे?

उ०—श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन, ध्यान करनेसे एवं भगवान्की दयासे भगवान्का दर्शन हो सकता है।

प्र० ४८—ज्योतिःस्वरूप भगवान्का क्या स्वरूप है? क्या वे सबसे अगम्य एवं दुर्भेद्य आदि स्थानमें विराजते हैं?

उ०—भगवान्का ज्योतिःस्वरूप ज्ञानमय है, वे आकाशके समान सभी जगह विराजते हैं।

प्र० ४९—ज्योतिःस्वरूप भगवान्का चिन्तन किस प्रकार करना चाहिये?

उ०—ज्योतिःस्वरूप भगवान्का चिन्तन [illegible] में अध्याय ८ के नवें और १३ वें [illegible] श्लोकका विस्तृत अर्थ देखकर तदनुसार

प्र० ५०—श्रद्धा और विश्वास [illegible] पुष्ट किस प्रकार बने रह सकते

उ०—भगवान्के गुण, प्रभाव, [illegible] धाम, महिमा, श्रद्धा और प्रेमके [illegible] द्वारा बारंबार श्रवण या सच्छास्त्रोंका [illegible] श्रद्धा और विश्वासकी दृढ़ता हो सकती है

प्र० ५१—विश्वकी विचित्र कारीगरी लीलासे ही हुई है या प्राणियोंके कर्मफलसे?

उ०—विश्वकी नाना प्रकारकी रचनामें [illegible] कर्मफल ही प्रधान है। ईश्वरकी लीला तो [illegible]

प्र० ५२—जगत्की सुन्दरता मनको मोहित [illegible] फिर विरह देती है। यह स्वभावतः है या हमारे मिथ्या मोहसे?

उ०—इसमें मिथ्या मोह ही हेतु है।

प्र० ५३—किसी प्राणिविशेषसे आसक्तिपूर्वक प्रेम होना प्राचीन संस्कारसे है या इसमें मनका मोहरूप दोष एवं मनकी दुर्निग्रहता हेतु है?

उ०—इसमें अन्तःकरणके संस्कार, मनकी दुर्निग्रहता और मोह तीनों ही हेतु हैं।

प्र० ५४—कर्मबन्धन कैसे मिटे?

उ०—परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान एवं परमात्मा-

प्र० ३५—आजकल-जैसे आश्चर्यप्रद आविष्कार क्या कभी पहले भी हुए थे ?

उ०—हिरण्यकशिपु तथा रावण आदि असुर और राक्षसोंके समयमें तो इससे भी बढ़कर थे। क्योंकि वे इच्छानुसार अनेक रूप धारण कर लेते थे तथा अन्तर्धान होना और फिर प्रकट होना इत्यादि भी कर सकते थे।

प्र० ३६—भगवान्‌ने जब तीन सुन्दर-सुन्दर युगोंका निर्माण किया तो फिर इस दानवराज कलिकी सृष्टि इस प्रकार क्यों की ? यदि इस कलिकालमें "हरेर्नामैव केवलम्" इससे कल्याण समझकर की तो फिर सभी लोग सदाचारी क्यों नहीं हैं ? इसपर इस समय होनेवाले पापोंसे यदि पृथ्वी भूकम्प करके जीवोंका संहार कर दे तो क्या कोई हिंसा है ?

उ०—पता नहीं। यह सब ईश्वरकी लीलामयी दिव्य इच्छा है।

प्र० ३७—अप्सराएँ वेश्या हैं या अलग जाति है ?

उ०—वे वेश्याएँ नहीं हैं, अप्सरा ही हैं। इनमें यही फर्क है कि वेश्या तो स्वेच्छासे पापकर्म करके पतनका मार्ग बनाती है तथा अप्सराएँ ईश्वरके विधानसे स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंको दिव्यभोग भुगतानेके लिये बनायी गयी हैं।

प्र० ३८—विदेह नगरीमें वेश्याएँ भी रहती थीं। फिर उस समय राजा जनकने उन्हें निकलवा क्यों नहीं दिया, जिससे कि लोगोंका पतन होनेसे बच जाय ?

उ०—उस समयकी परिस्थितिसे हम जानकार नहीं हैं, अतः इसका उत्तर राजा जनक ही दे सकते हैं।

प्र० ३९—स्तोत्रपाठ तथा स्वाध्याय मनमें करना चाहिये या कुछ उच्चारणसे ?

उ०—दोनों प्रकार कर सकते हैं किन्तु उच्चारण करके करना उत्तम है। क्योंकि मनमें करनेसे अशुद्धि रहनेकी सम्भावना है ?

प्र० ४०—श्रीगोपालसहस्रनाम, विष्णुसहस्रनाम, गीता, रामायण और श्रीमद्भागवत इत्यादि क्या दुर्गासप्तशतीकी तरह कीलित हैं।

उ०—यह सब तन्त्रवादी और फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंके लिये ही कीलित हैं। निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करनेवाले भक्तोंके लिये नहीं।

प्र० ४१—जल्दी-से-जल्दी काम बन जाय इस भावनासे भगवान् श्रीकृष्णके लिये स्तोत्रपाठ, स्वाध्याय, श्रवण, जप, ध्यान, चिन्तन और विधिवत् षोडशोपचारसे पूजा किस तरह करनी चाहिये ?

उ०—पत्रद्वारा इसे विस्तारसे समझाना कठिन है, कभी प्रत्यक्ष मिलना हो तो पूछ सकते हैं।

प्र० ४२—आराधनक्रम नित्य नियमपूर्वक आनन्दसे निभ सके इसके लिये मुझे कौन-से शुभ दिनमें आराधना प्रारम्भ करनी चाहिये ?

उ०—जिस दिन दिलमें श्रद्धा, प्रेम और उत्साह हो, उसी दिन आरम्भ कर देनी चाहिये क्योंकि उसके लिये वही शुभ मुहूर्त है।

प्र० ४३—भगवान्‌के घरमें देर है [illegible] अंधेर है, इसका क्या मतलब है ?

उ०—आपने भगवान्‌के बारेमें [illegible] [illegible] कहना उचित नहीं है क्योंकि भगवान्‌के [illegible]

फैसला सर्वथा यथार्थ होता है। वहाँ अंधेर नहीं है; पर यदि देर है तो उस देरमें भी जीवोंका हित ही भरा हुआ होता है।

प्र० ४४—भगवान् जो करते हैं अच्छा ही करते हैं, फिर क्या वर्तमान महासमर भी भगवान्‌का ही विधान है?

उ०—जब-जब पृथ्वीपर पापियोंकी वृद्धिके कारण भार हो जाता है, तब-तब पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान् कोई-न-कोई निमित्त बना देते हैं। अतः वर्तमान समयका महायुद्ध भी पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान्‌का ही विधान है।

प्र० ४५—भजन करनेके लिये भगवान्‌ने जब मनुष्य-देह बनायी तो फिर माया पीछे क्यों लगायी?

उ०—माया तो अनादिकालसे पीछे लगी हुई है, भगवान्‌ने पीछेसे नहीं लगायी।

प्र० ४६—संवत् २००० के अन्तर्गत विश्वमें क्या कोई भारी परिवर्तन होनेवाला है?

उ०—धन-जनका नाश और राज्यका परिवर्तन हो रहा है तथा और भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त किसी अच्छे परिवर्तन होनेकी या सत्ययुग आनेकी उम्मीद नहीं है।

प्र० ४७—भगवद्दर्शन प्रारब्धसे होता है या पुण्य-कर्मसे अथवा भगवदिच्छासे?

उ०—श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन, ध्यान करनेसे एवं भगवान्‌की दयासे भगवान्‌का दर्शन हो सकता है।

प्र० ४८—ज्योतिःस्वरूप भगवान्‌का क्या स्वरूप है? क्या वे सबसे अपूर्व एवं दुर्भेद्य आदि स्थानमें विराजते हैं?

उ०—भगवान्‌का ज्योतिःस्वरूप ज्ञानमय आकाशके समान सभी जगह विराजते हैं।

प्र० ४९—ज्योतिःस्वरूप भ

प्रकार करना चाहिये?

उ०—ज्योतिःस्वरूप

में अध्याय ८ के नवें और १३ वें श्लोकका विस्तृत अर्थ देखकर तदनुसा

प्र० ५०—श्रद्धा और विश्वास अडिग, पुष्ट किस प्रकार बने रह सकते हैं?

उ०—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, धाम, महिमा, श्रद्धा और प्रेमके विषयका महापुरुषों-द्वारा बारंबार श्रवण या सच्छास्त्रोंका स्वाध्याय करनेसे श्रद्धा और विश्वासकी दृढ़ता हो सकती है।

प्र० ५१—विश्वकी विचित्र कारीगरी भगवान्‌की लीलासे ही हुई है या प्राणियोंके कर्मफलसे?

उ०—विश्वकी नाना प्रकारकी रचनामें प्राणियोंका कर्मफल ही प्रधान है। ईश्वरकी लीला तो निमित्तमात्र है।

प्र० ५२—जगत्‌की सुन्दरता मनको मोहित करके खिंच लेती है। यह स्वाभाविक है या हमारे मिथ्या मोहसे?

उ०—इसमें मिथ्या मोह ही हेतु है।

प्र० ५३—किन्हीं व्यक्तियोंसे अनायास ही प्रेम होना प्राचीन संस्कारोंसे है या इसमें मनका मोहरूप दोष एवं मनकी दुर्बलता हेतु है?

उ०—इसमें अन्य जन्मके संस्कार, मनकी दुर्बलता और मोह सभी ही हेतु हैं।

प्र० ५४—कर्मबन्धन कैसे मिटे?

उ०—निष्काम भावसे कर्तव्य कर्म करने एवं भगवान्-

प्र० ३५—आजकल-जैसे आश्चर्यप्रद आविष्कार क्या कभी पहले भी हुए थे ?

उ०—हिरण्यकशिपु तथा रावण आदि असुर और राक्षसोंके समयमें तो इससे भी बढ़कर थे। क्योंकि वे इच्छानुसार अनेक रूप धारण कर लेते थे तथा अन्तर्धान होना और फिर प्रकट होना इत्यादि भी कर सकते थे।

प्र० ३६—भगवान्‌ने जब तीन सुन्दर-सुन्दर युगोंका निर्माण किया तो फिर इस दानवराज कलिकी सृष्टि इस प्रकार क्यों की ? यदि इस कलिकालमें "हरेर्नामैव केवलम्" इससे कल्याण समझकर की तो फिर सभी लोग सदाचारी क्यों नहीं हैं ? इसपर इस समय होनेवाले पापोंसे यदि पृथ्वी भूकम्प करके जीवोंका संहार कर दे तो क्या कोई हिंसा है ?

उ०—पता नहीं। यह सब ईश्वरकी लीलामयी दिव्य इच्छा है।

प्र० ३७—अप्सराएँ वेश्या हैं या अलग जाति है ?

उ०—वे वेश्याएँ नहीं हैं, अप्सरा ही हैं। इनमें यही फर्क है कि वेश्या तो स्वेच्छासे पापकर्म करके पतनका मार्ग बनाती है तथा अप्सराएँ ईश्वरके विधानसे स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंको दिव्यभोग भुगतानेके लिये बनायी गयी हैं।

प्र० ३८—विदेह नगरीमें वेश्याएँ भी रहती थीं। फिर उस समय राजा जनकने उन्हें निकलवा क्यों नहीं दिया, जिससे कि लोगोंका पतन होनेसे बच जाय ?

उ०—उस समयकी परिस्थितिसे हम जानकार नहीं हैं, अतः इसका उत्तर राजा जनक ही दे सकते हैं।

प्र० ३९—स्तोत्रपाठ तथा स्वाध्याय मनमें करना चाहिये या कुछ उच्चारणसे ?

उ०—दोनों प्रकार कर सकते हैं किन्तु उच्चारण करके करना उत्तम है। क्योंकि मनमें करनेसे अशुद्धि रहनेकी सम्भावना है ?

प्र० ४०—श्रीगोपालसहस्रनाम, विष्णुसहस्रनाम, गीता, रामायण और श्रीमद्भागवत इत्यादि क्या दुर्गासप्तशतीकी तरह कीलित हैं।

उ०—यह सब तन्त्रवादी और फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंके लिये ही कीलित हैं। निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करनेवाले भक्तोंके लिये नहीं।

प्र० ४१—जल्दी-से-जल्दी काम बन जाय इस भावनासे भगवान् श्रीकृष्णके लिये स्तोत्रपाठ, स्वाध्याय, श्रवण, जप, ध्यान, चिन्तन और विधिवत् षोडशोपचारसे पूजा किस तरह करनी चाहिये ?

उ०—पत्रद्वारा इसे विस्तारसे समझाना कठिन है, कभी प्रत्यक्ष मिलना हो तो पूछ सकते हैं।

प्र० ४२—आराधनक्रम नित्य नियमपूर्वक आनन्दसे निभ सके इसके लिये मुझे कौन-से शुभ दिनमें आराधना प्रारम्भ करनी चाहिये ?

उ०—जिस दिन दिलमें श्रद्धा, प्रेम और उत्साह हो, उसी दिन आरम्भ कर देना चाहिये क्योंकि इसके लिये वही शुभ मुहूर्त है।

प्र० ४३—भगवान्‌के घरमें देर है अंधेर है, इसका क्या कारण है ?

उ०—आपने भगवान्‌के बारेमें ऐसी बात कहा सो उचित नहीं है क्योंकि भगवान्‌के यहाँ

फैसला सर्वथा यथार्थ होता है । वहाँ अंधेर नहीं है; पर यदि देर है तो उस देरमें भी जीवोंका हित ही भरा हुआ होता है ।

प्र० ४४–भगवान् जो करते हैं अच्छा ही करते हैं, फिर क्या वर्तमान महासमर भी भगवान्का ही विधान है ?

उ०–जब-जब पृथ्वीपर पापियोंकी वृद्धिके कारण भार हो जाता है, तब-तब पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान् कोई-न-कोई निमित्त बना देते हैं । अत: वर्तमान समयका महायुद्ध भी पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान्का ही विधान है ।

प्र० ४५–भजन करनेके लिये भगवान्ने जब मनुष्य-देह बनायी तो फिर माया पीछे क्यों लगायी ?

उ०–माया तो अनादिकालसे पीछे लगी हुई है, भगवान्ने पीछेसे नहीं लगायी ।

प्र० ४६–संवत् २००० के अन्तर्गत विश्वमें क्या कोई भारी परिवर्तन होनेवाला है ?

उ०–धन-जनका नाश और राज्यका परिवर्तन हो रहा है तथा और भी हो सकता है । इसके अतिरिक्त किसी अच्छे परिवर्तन होनेकी या सत्ययुग आनेकी उम्मीद नहीं है ।

प्र० ४७–भगवद्दर्शन प्रारब्धसे होता है या पुण्य-कर्मसे अथवा भगवदिच्छासे ?

उ०–श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन, ध्यान करनेसे एवं भगवान्की दयासे भगवान्का दर्शन हो सकता है ।

प्र० ४८–ज्योति:स्वरूप भगवान्का क्या स्वरूप है ? क्या वे सबसे अगम्य एवं दुर्भेद्य आदि स्थानमें विराजते हैं ?

उ०–भगवान्का ज्योति:स्वरूप ज्ञानमय है, आकाशके समान सभी जगह विराजते हैं ।

प्र० ४९–ज्योति:स्वरूप भगवान्का
प्रकार करना चाहिये ?

उ०–ज्योति:स्वरूप भगवान्का
में अध्याय ८ के नवें और १३ वें अध्याय
श्लोकका विस्तृत अर्थ देखकर तदनुसार करना

प्र० ५०–श्रद्धा और विश्वास अडिग, अचल
पुष्ट किस प्रकार बने रह सकते हैं ?

उ०–भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, धाम, महिमा, श्रद्धा और प्रेमके विषयका महापुरुषों-द्वारा बारंबार श्रवण या सच्छास्त्रोंका स्वाध्याय करनेसे श्रद्धा और विश्वासकी दृढ़ता हो सकती है ।

प्र० ५१–विश्वकी विचित्र कारीगरी भगवान्की लीलासे ही हुई है या प्राणियोंके कर्मफलसे ?

उ०–विश्वकी नाना प्रकारकी रचनामें प्राणियोंका कर्मफल ही प्रधान है । ईश्वरकी लीला तो निमित्तमात्र है ।

प्र० ५२–जगत्की सुन्दरता मनको मोहित करके फिर विरह देती है । यह स्वभावत: है या हमारे मिथ्या मोहसे ?

उ०–इसमें मिथ्या मोह ही हेतु है ।

प्र० ५३–किसी प्राणिविशेषसे आसक्तिपूर्वक प्रेम होना प्राचीन संस्कारसे है या इसमें मनका मोहरूप दोष एवं मनकी दुर्निग्रहता हेतु है ?

उ०–इसमें अन्त:करणके संस्कार, मनकी दुर्निग्रहता और मोह तीनों ही हेतु हैं ।

प्र० ५४–कर्मबन्धन कैसे मिटे ?

उ०–परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान एवं परमात्मा-

प्र० ३५—आजकल-जैसे आश्चर्यप्रद आविष्कार क्या कभी पहले भी हुए थे ?

उ०—हिरण्यकशिपु तथा रावण आदि असुर और राक्षसोंके समयमें तो इससे भी बढ़कर थे। क्योंकि वे इच्छानुसार अनेक रूप धारण कर लेते थे तथा अन्तर्धान होना और फिर प्रकट होना इत्यादि भी कर सकते थे।

प्र० ३६—भगवान्ने जब तीन सुन्दर-सुन्दर युगोंका निर्माण किया तो फिर इस दानवराज कलिकी सृष्टि इस प्रकार क्यों की ? यदि इस कलिकालमें "हरेर्नामैव केवलम्" इससे कल्याण समझकर की तो फिर सभी लोग सदाचारी क्यों नहीं हैं ? इसपर इस समय होनेवाले पापोंसे यदि पृथ्वी भूकम्प करके जीवोंका संहार कर दे तो क्या कोई हिंसा है ?

उ०—पता नहीं। यह सब ईश्वरकी लीलामयी दिव्य इच्छा है।

प्र० ३७—अप्सराएँ वेश्या हैं या अलग जाति है ?

उ०—वे वेश्याएँ नहीं हैं, अप्सरा ही हैं। इनमें यही फर्क है कि वेश्या तो स्वेच्छासे पापकर्म करके पतनका मार्ग बनाती है तथा अप्सराएँ ईश्वरके विधानसे स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंको दिव्यभोग भुगतानेके लिये बनायी गयी हैं।

प्र० ३८—विदेह नगरीमें वेश्याएँ भी रहती थीं। फिर उस समय राजा जनकने उन्हें निकलवा क्यों नहीं दिया, जिससे कि लोगोंका पतन होनेसे बच जाय ?

उ०—उस समयकी परिस्थितिसे हम जानकार नहीं हैं, अतः इसका उत्तर राजा जनक ही दे सकते हैं।

प्र० ३९—स्तोत्रपाठ तथा स्वाध्याय मनमें करना चाहिये या कुछ उच्चारणसे ?

उ०—दोनों प्रकार कर सकते हैं किन्तु उच्चारण करके करना उत्तम है। क्योंकि मनमें करनेसे अशुद्धि रहनेकी सम्भावना है ?

प्र० ४०—श्रीगोपालसहस्रनाम, विष्णुसहस्रनाम, गीता, रामायण और श्रीमद्भागवत इत्यादि क्या दुर्गासप्तशतीकी तरह कीलित हैं।

उ०—यह सब तन्त्रवादी और फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंके लिये ही कीलित हैं। निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करनेवाले भक्तोंके लिये नहीं।

प्र० ४१—जल्दी-से-जल्दी काम बन जाय इस भावनासे भगवान् श्रीकृष्णके लिये स्तोत्रपाठ, स्वाध्याय, श्रवण, जप, ध्यान, चिन्तन और विधिवत् षोडशोपचारसे पूजा किस तरह करनी चाहिये ?

उ०—पत्रद्वारा इसे विस्तारसे समझाना कठिन है, कभी प्रत्यक्ष मिलना हो तो पूछ सकते हैं।

प्र० ४२—आराधनक्रम नित्य नियमपूर्वक आनन्दसे निभ सके इसके लिये मुझे कौन-से शुभ दिनमें आराधना प्रारम्भ करनी चाहिये ?

उ०—जिस दिन दिलमें श्रद्धा, प्रेम और उत्साह हो, उसी दिन आरम्भ कर देनी चाहिये क्योंकि इसके लिये वही शुभ मुहूर्त है।

प्र० ४३—भगवान्के घरमें [illegible] है [illegible] अंधेर है, इसका क्या कारण है ?

उ०—आपने भगवान्के बारेमें [illegible] [illegible] [illegible] हो उचित नहीं है क्योंकि भगवान्के [illegible]

हवन-यज्ञ और राजयक्ष्मा

(२)

(लेखक—डाक्टर श्रीकुन्दनलालजी एम्० डी०, बी० एस्० एल्०, एम्० आर० ए० एस्०)

इस विषयपर मेरा एक लेख 'कल्याण'के किसी अङ्कमें ाशित हो चुका है । मुझे हर्ष है कि उससे अनेकों ोंने लाभ उठाया और कई सज्जनोंने हवन-यज्ञ ना प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार कल्याणके उद्योगसे ारके कल्याण करनेवाले यज्ञका प्रचार बढ़ा । साथ कुछ सज्जनोंने कई शङ्काएँ भी की हैं और कुछ ानुभावोंने ऐसी इच्छा प्रकट की है कि लोकहितके बारसे यज्ञ-चिकित्साविधि भी 'कल्याण'में प्रकाशित नी चाहिये ताकि जनसाधारण उससे लाभ उठा सकें । हीं महानुभावोंके पत्रोंसे प्रभावित होकर समयका भाव होनेपर भी उसी विषयपर आज पुनः लिखा जा ा है । पहले शङ्काओंका उत्तर देकर फिर चिकित्सा-विषर प्रकाश डाला जायगा ।

१—एक शास्त्रीजीने प्रश्न किया है कि वेदमें तपेदिक-ः लिये यज्ञ-चिकित्साका विधान कहाँ है ?

उत्तर—वेदभगवान्‌का प्रमाण पहले लेखमें दिया जा ुका है और भी देखिये—

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निरास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥
पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् ।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥
विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥
(अथर्व० का० ७ व० ७६ मं० ३–५)

'जो रोग पँसलियोंको तोड़ डालता है और समीपके फेफड़ोंमें जा बैठता है और जो कोई रोग गर्दनके नीचे पट्ठों और पीठके बीचमें भी जम जाता है । उस स्त्री-द्वारा प्राप्त होनेवाले राजयक्ष्माके रोगको शरीरसे प्राणके बलसे निकाल दो ।'

'स्त्रियोंके प्रति भोगसे प्राप्त होनेवाला क्षय, शोष रोग पक्षीके समान एक शरीरसे दूसरे कर जाता है । वही भोगके ... पुरुषके थोड़ी मात्रामें ही कर जिसने चिरकालसे ज... जड़ पकड़ ली हो—ऐसे

'हे क्षयरोग ! तेरे उत्पन्न होनेके ... जानते हैं कि तू हे क्षय ! जहाँसे उत्पन्न वहाँ किस प्रकार हानि कर सकता है । ... हम विद्वान् लोग रोगनाशक हवि अग्निहोत्र करते हैं ।'

कोई इस भ्रममें न पड़ जाय कि करते हुए केवल यज्ञ तो करें और ... न रक्खें अथवा खानेको पौष्टिक भोजन औषध न दें । अतः इससे अगले ही मन्त्रमें इस ... इस प्रकार उपदेश किया गया है—

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र
वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व
रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥
(मं० ६

'हे बलवान् जीव ! तू अपने देहके कलश अर्थात् ग्रीवासे लेकर नाभितकके भागमें बाधा रो... विनाश करनेवाले बलसे युक्त होकर देहमें ... प्राणोंके संग्राममें जीवनके निमित्त रोगके ... स्वच्छ वायुरूप अमृतका पान कर । और हे रोगनाश...

की प्राप्ति होनेसे कर्मका बन्धन मिट सकता है।

प्र० ५५—क्रोध और विषाद त्यागनेके क्या उपाय हैं ?

उ०—निष्काम प्रेमभावसे भगवान्के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, सत्संग तथा दुखियोंकी सेवा करनेसे क्रोध और विषादका अत्यन्ताभाव हो सकता है।

प्र० ५६—जीवनमें अनर्थ, बड़ी-बड़ी गलतियाँ एवं किसीका अहित न हो, इस भावसे भगवान्से प्रार्थना करनेपर क्या भगवान् प्रारब्धका नाश कर सकते हैं ?

उ०—निश्चय कर सकते हैं।

प्र० ५७—भगवान्की कृपाका अनुभव कैसे हो ?

उ०—जो कुछ बिना इच्छा आकर प्राप्त हो जाय उसमें ईश्वरका दयापूर्ण विधान समझकर प्रसन्न रहनेसे और सत्पुरुषोंका संग करनेसे भगवान्की कृपाका अनुभव हो सकता है।

प्र० ५८—हिंसा तो सभी प्राणियोंसे होती है। क्या ईश्वर इससे अलग हैं ?

उ०—आरम्भमात्र ही दोषयुक्त होनेके कारण किसी-न-किसी रूपमें हिंसा सभी प्राणियोंसे हो ही जाती है किन्तु ईश्वर हिंसासे अत्यन्त दूर हैं तथा ईश्वरके कर्म दिव्य और अलौकिक होनेके कारण वे कर्म कर्म ही नहीं हैं, इसलिये उनके कर्मोंमें प्रतीत होनेवाली हिंसा, हिंसा ही नहीं है क्योंकि उनका किसी भी कर्ममें आसक्ति और कर्तापनका अभिमान नहीं है। इसका विस्तृत विवरण 'गीता-तत्त्वाङ्क'के अध्याय ४ के १३ और १४ वें श्लोकोंके अर्थमें देखना चाहिये।

प्र० ५९—क्या सूरसागरमें ऐसा कहींपर पद आया है कि संवत् २००० के पश्चात् ८० वर्षके लिये सत्ययुगकी झलक होगी तथा रावणका पुत्र मेघनाद विश्वमें एकछत्र राज्य करेगा ?

उ०—नहीं।

प्र० ६०—भौतिक विज्ञान और ईश्वरेच्छा—इनमें क्या सम्बन्ध है ?

उ०—कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्र० ६१—मुझे बायें कानसे तो घंटानाद-जैसा शब्द सुनायी देता है किन्तु दाहिने कानसे अभ्यास करनेपर भी सुनायी नहीं देता सो क्या कारण है ?

उ०—मालूम नहीं।

प्र० ६२—शुकदेवजीकी तरह जो योगी इस प्रपञ्चसे अलग होकर विचरण करते हैं, वे लोमशजी अथवा काकभुशुण्डिजीकी तरह एक जगह रहकर भजन क्यों नहीं कर सकते ?

उ०—यह प्रश्न युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि शुकदेवजी भी एक जगह रहकर भजन किया करते हैं।

प्र० ६३—मैं यह चाहता हूँ कि जैसे जल बिना मछलीकी दशा होती है वैसी भगवान्के वियोगमें मेरी दशा हो जाय, सो कैसे हो ?

उ०—परम प्रेम और अनन्य श्रद्धा होनेसे इस प्रकारकी दशा हो सकती है।

मनुष्य पशु कैसे बन गया ?

"अन्तरङ्ग सभाकी तीन बैठकें"

[कहानी]

(लेखक—मदनमोहन गुगलानी शास्त्री)

पहली बैठक

उस घने जंगलमें, जहाँ जानेके विचारमात्रसे मनुष्यका हृदय काँप उठे, वह सभा हो रही थी।

सभापति भी था, मन्त्री भी और सभासद् भी। सभापति वनराज 'सिंह' एक ऊँची शिलापर विराज रहे थे। बाकी सब-के-सब नीचे ही थे—कँटीली जमीनपर। सभापति कह रहे थे—

"………मैं नहीं समझ सकता इसका कारण क्या है! मनुष्य—एक नन्हा-सा दुर्बल प्राणी—अपनेसे कई गुना अधिक बलशालियोंपर, हम पशुओंपर, शासन करे, हुक्म चलाये, और जब जी चाहे हमें मार गिराये, यह शरमकी बात है। मुझे दया आती है उन घोड़ोंपर, जो मनुष्यको पीठपर बिठाये लिये फिरते हैं, उन बैलोंपर जो मनुष्यके लिये सैकड़ों मन बोझ खींचा करते हैं और उन हाथियोंपर जो मनुष्यकी एक लोहेके लकुटियाके डरसे बिल्ली बने रहते हैं। क्या है मनुष्यको हक कि वह गाय, भैंस और बकरियोंके बच्चोंके मुँहसे छीनकर, उनका दूध दूहा करे! क्या मनुष्यमें शक्ति इन सबसे अधिक है! यदि नहीं, तो हम उससे दबें क्यों! आज परस्पर वैरभाव छोड़कर आप सब यहाँ एकत्रित हैं। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं सोचा जा सकता जिससे मनुष्यके हाथों छुटकारा पाया जा सके, और हम फिरसे स्वतन्त्रतापूर्वक जंगलों व पहाड़ोंमें घूम सकें!"

वह चुप हो गये।

मन्त्री 'शृगाल' देव विनीत भावसे बोले—

"महाराज, आपके प्रतापसे सब कुछ सम्भव है। पर, क्षमा करें, मनुष्यको नीचा दिखा सकना आसान काम नहीं। यह मनुष्यका बल नहीं जो घोड़ों, बैलों व हाथियोंतकको दबाये हुए है, एवं वनराजपर वार करनेमें भी नहीं हिचकता। यह तो है मनुष्यकी बुद्धि। इसी बुद्धिके सहारे वह सीना अकड़ा कर चला करता है। जबतक मनुष्यमें बुद्धि है, वह काबूमें नहीं आ सकता। मनुष्यको नीचा दिखानेके लिये पहले उसकी बुद्धिका नाश आवश्यक है।"

"हमें तुम्हारी बात पसंद है", … ठीक ही कहा। हमें आज ऐसे उपाय … जिनसे मनुष्यकी बुद्धि नष्ट … हम सफल हों तो … बारेमें कोई राय दे …

सब चुप रहे। दो-त… नहीं। अन्तमें झिझकते हुए …

"हुजूर", वह बोले, … बुद्धि आसानीसे नष्ट की जा स… पर्याप्त पशुता भर दी जाय, तो उस… नष्ट होती जायगी। इसके लिये हमें … हमें स्वयं मनुष्यके आहारका … जाना होगा। तभी सफलता सम्भव … पशु खा चुकनेवाले मनुष्यमें उन सब … संस्कार क्योंकर न होगा ? मनुष्य एक … जायगा और पशुताके ऐसे भयङ्कर कार्य करेगा, … कर पशु भी दंग हुए बिना न रह सकेंगे। और………"

"ठीक है, ठीक है", सभापति बीचमें ही बो… पड़े, "तुम्हारी ही बात ठीक है। मनुष्य पशु … आहार करता है, पर थोड़ा। अब यदि पशु उसकी रुचि इस ओर बढ़ा दें, उसका जीवन केवल पशु-… पर ही निर्भर बना दें, तो मनुष्य धीरे-धीरे … छोड़ पशुताकी ओर बढ़ता जायगा। इसके लि… जाओ, जैसे भी हो, मनुष्यको तरह-तरहके प्रलोभन दो। अपनी जातिके लिये जानकी परवा मत करो। भेड़ें, हरिण, घोड़े, गैयें, बैल सभी छोटेसे लेकर … तक, मनुष्यका आहार बननेका प्रयत्न करो। … अपनी पशुता पर्याप्तरूपमें उसमें भर दो। भगवान् …

. कि कपूरके धूएँमें न केवल जन्तु नाश करने-
की शक्ति है, किन्तु वह उन गैसोंको भी नष्ट
बनाता है जिनके निर्बल होनेसे अथवा शीघ्र-शीघ्र
उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार जिन रोगियोंको मोतीझरा, ज्वर बिगड़-
कर तपेदिक हुआ हो उनको किशमिश और मुनक्काको
विशेषरूपसे जलाना चाहिये क्योंकि यह बात भी
वैज्ञानिक ढंगपर परीक्षणके पश्चात् मान ली गयी है कि
इन वस्तुओंके धूएँसे टायफायडके कीटाणु केवल आध
घंटेमें समाप्त हो जाते हैं।

अब प्रश्न तपेदिक-नाशक हवन-सामग्रीका रहता
है। इस विषयमें निवेदन है कि रोगी दो प्रकारके होते
हैं—एक वे जिनका रोग अभी प्रथम श्रेणीका है और
जो चलते-फिरते, खाते-पीते और अपना काम भी करते
हैं। दूसरे वे जिनका रोग दूसरी अथवा तीसरी श्रेणीपर
पहुँच चुका है। अर्थात् रोग बहुत बढ़ चुका है। ऐसी
कठिन स्थितिपर पहुँचे हुए रोगियोंके लिये तो उनकी
भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके अनुसार भिन्न-भिन्न सामग्री
होगी। परन्तु प्रथम श्रेणीके सज्जनोंके लिये हवन-सामग्री-
का एक नुसखा नीचे दिया जाता है जिससे न केवल
उनके रोगको लाभ होगा किन्तु उनके पास रहनेवाले
अन्य व्यक्ति भी सुरक्षित रहेंगे और उनके इस यज्ञसे
वायुमण्डलमेंसे भी तपेदिकका विष दूर हो जायगा।

हवन-सामग्री

समभाग मण्डूकपर्णी, ब्राह्मी, इन्द्रायणकी जड़,
शतावरी, असगन्ध, विधारा, शालपर्णी, मकोय, अडूसा,
गुलाबके फूल, तगर, रास्ना, वंशलोचन, जायफल, क्षीर-
काकोली, जटामांसी, पण्डरी, गोखरू, गिलो, बादाम,
मुनक्का, लौंग, हरें बड़ी गुठलीसहित, आँवला,
जीवंती, पुनर्नवा, नागेन्द्र बामड़ी, चीड़का बुरादा
सूखकर। चार भाग गिलोय, गूगल। चौथाई भाग केसर,
शहद, देशी कपूर। दस भाग शक्कर (खाँड) देशी
सामग्रीमें घी इतना मिलाना चाहिये कि उन...
तर हो जाय जिससे लड्डू से बन सकें। समिधा
ढाक अथवा बासाकी खूब सूखी हो जिसमें
बिल्कुल न हो।

अन्य उपचार

भोजनमें गौ तथा बकरीका धारोष्ण दूध ...
उत्तम है। यह जितना भी अधिक पच सकेगा उ...
ही शीघ्र आरोग्यता प्राप्त होगी। कुछ लोग—विशे...
यूनानी चिकित्सक दूधको कफ बढ़ानेवाला बत...
मांस-रसपर जोर देते हैं, डाक्टर लोग दूधके स...
अंडेपर जोर देते हैं। पर हमारी सम्मतिमें यह स...
सर्वथा भ्रममूलक और निराधार बातें हैं। तपेदिक...
रोगीके लिये दूधसे बढ़कर दूसरा कोई भोजन नहीं है।
हमारे सब रोगी मांस और अंडे न खाकर ही पूर्ण
स्वस्थ हो गये हैं। बल्कि मांस, अंडा खानेवाले अनेकों
रोगी इस पापको लिये हुए संसारसे विदा होते हमने
देखे हैं। दूधके अतिरिक्त मक्खन, दिनमें ताजा दही
या मट्ठा, मलाई, मूँगकी दाल, मुसम्मी, मूँगकी कढ़ी,
दलिया, पुराने चावल, साठीके चावल, गेहूँकी रोटी,
आटेकी गरम पूरी, पराठा, चीले, सूजीका हलवा, लौकी,
तुरई, मूली, परवल, पपीता, भसीडा, पालक, बथुआ,
टमाटर, गाजर, आँवला इत्यादिका सेवन करना चाहिये।

प्रातः उठना, ईश्वर-भजन करना, प्राणायाम करना,
शुद्ध वायुमें घूमना, वस्तीकर्म, सूर्य-नमस्कार, आसन,
प्रसन्नचित्त रहना, आमोद-प्रमोद करना, धार्मिक
ग्रन्थोंका स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य हितकर है। जिस प्रकार
भोजनमें दूधका महत्त्व है उसी प्रकार अन्य उपचारोंमें
ब्रह्मचर्यका महत्त्व है।

अपथ्य

[illegible] परिश्रम, उपवास, चिन्ता, [illegible]
[illegible] भोजन, अशुद्ध वायुमें रहना, कमरेमें
[illegible] अथवा बंद कमरेमें सोना इत्यादि अपथ्य है।

मनुष्य पशु कैसे बन

"अन्तरङ्ग सभाकी तीन

[कहानी]

लेखक

पहली

उस घने जंगलमें,

मनुष्यका हृदय काँप उठे,

सभापति थे, मन्त्री भी

सभापति वनराज एक ऊँची

थे। बाकी सब

सभापति कह रहे थे—

"………मैं नहीं समझ

है ! मनुष्य—एक नन्हा-सा

कई गुना अधिक बलशालियोंपर, हम

करे, हुकुम चलाये, और जब जी चाहे हमें

यह शरमकी बात है। मुझे दया उन

जो मनुष्यको पीठपर बिठाये लिये

जो मनुष्यके लिये सैकड़ों मन बोझ

और उन हाथियोंपर जो मनुष्यकी एक लोहेके

डरसे बिल्ली बने रहते हैं। क्या है मनुष्यको

वह गाय, भैंस और बकरियोंके बच्चोंके मुँहसे

उनका दूध दुहा करे ! क्या मनुष्यमें शक्ति इन

अधिक है ! यदि नहीं, तो हम उससे दबें क्यों ! आज परस्पर वैरभाव छोड़कर आप सब यहाँ एकत्रित हैं। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं सोचा जा सकता जिससे मनुष्यके हाथों छुटकारा पाया जा सके, और हम फिरसे स्वतन्त्रतापूर्वक जंगलों व पहाड़ोंमें घूम सकें !"

वह चुप हो गये।

मन्त्री 'शृगाल' देव विनीत भावसे बोले—

"महाराज, आपके प्रतापसे सब कुछ सम्भव है। पर, क्षमा करें, मनुष्यको नीचा दिखा सकना आसान काम नहीं। यह मनुष्यका बल नहीं जो घोड़ों, बैलों व हाथियोंतकको दबाये हुए हैं, एवं वनराजपर वार करनेमें भी नहीं हिचकता। यह तो है मनुष्यकी बुद्धि। इसी बुद्धिके सहारे वह सीना अकड़ा कर चला करता

कर पशु भी दंग

"ठीक है, ठीक है',

पड़े, "तुम्हारी ही बात ठीक

आहार करता है, पर थोड़ा। अब यदि

रुचि इस ओर बढ़ा दें, उसका जीवन केवल पशु-मांस पर ही निर्भर बना दें, तो मनुष्य धीरे-धीरे मनुष्यत्व छोड़ पशुताकी ओर बढ़ता जायगा। इसके लिये जाओ, जैसे भी हो, मनुष्यको तरह-तरहके प्रलोभन दो। अपनी जातिके लिये जानकी परवा मत करो भेड़ें, हरिण, घोड़े, गैयें, बैल सभी छोटेसे लेकर बड़े तक, मनुष्यका आहार बननेका प्रयत्न करो। अपनी अपनी पशुता पर्याप्तरूपमें उसमें भर दो। भगवान् पशु

की प्राप्ति होनेसे कर्मका बन्धन मिट सकता है।

प्र० ५५—क्रोध और विषाद त्यागनेके क्या उपाय हैं?

उ०—निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, सत्संग तथा दुखियोंकी सेवा करनेसे क्रोध और विषादका अत्यन्ताभाव हो सकता है।

प्र० ५६—जीवनमें अनर्थ, बड़ी-बड़ी गल्तियाँ एवं किसीका अहित न हो, इस भावसे भगवान्‌से प्रार्थना करनेपर क्या भगवान् प्रारब्धका नाश कर सकते हैं?

उ०—निश्चय कर सकते हैं।

प्र० ५७—भगवान्‌की कृपाका अनुभव कैसे हो?

उ०—जो कुछ बिना इच्छा आकर प्राप्त हो जाय उसमें ईश्वरका दयापूर्ण विधान समझकर प्रसन्न रहनेसे और सत्पुरुषोंका संग करनेसे भगवान्‌की कृपाका अनुभव हो सकता है।

प्र० ५८—हिंसा तो सभी प्राणियोंसे होती है। क्या ईश्वर इससे अलग हैं?

उ०—आरम्भमात्र ही दोषयुक्त होनेके कारण किसी-न-किसी रूपमें हिंसा सभी प्राणियोंसे हो ही जाती है किन्तु ईश्वर हिंसासे अत्यन्त दूर हैं तथा ईश्वर-के कर्म दिव्य और अलौकिक होनेके कारण वे कर्म ही नहीं हैं, इसलिये उनके कर्मोंमें प्रतीत हो... हिंसा, हिंसा ही नहीं है क्योंकि उनका... कर्ममें आसक्ति और कर्तापनका अ... इसका विस्तृत विवरण 'गीता-तत्त्वाङ्क'के

१३ और १४ वें श्लोकोंके अर्थमें देखना चाहिये।

प्र० ५९—क्या सूरसागरमें ऐसा कहीं... है कि संवत् २००० के पश्चात् ८० वर्ष... सत्ययुगकी झलक होगी तथा रावणका पुत्र... विश्वमें एकछत्र राज्य करेगा?

उ०—नहीं।

प्र० ६०—भौतिक विज्ञान और ईश्वरेच्छा—में क्या सम्बन्ध है?

उ०—कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्र० ६१—मुझे बायें कानसे तो ... शब्द सुनायी देता है किन्तु दाहिने कानसे अ... करनेपर भी सुनायी नहीं देता सो क्या कारण है?

उ०—मालूम नहीं।

प्र० ६२—शुकदेवजीकी तरह जो योगी इस प्रकार... से अलग होकर विचरण करते हैं, वे लोगोंकी ... प्रश्न ...

फा।

किया जाय तो अच्छा है, क्योंकि इसकी उत्तरदायी जिम्मेदारी वास्तवमें सरकारपर ही है। हम इस विषय-पर बिना किसी सरकारी सहायताके ३५ वर्षसे परीक्षण कर रहे हैं और १२ वर्षसे इस विषयपर समाचारपत्रोंमें लिख लिख रहे हैं और सबसे कह रहे हैं कि तपेदिक-के वेगको यदि देशसे रोका जा सकता है तो उसका उपाय केवल 'यज्ञ' है। विश्वास न हो तो सरकार स्वयं वैज्ञानिक खोज करा ले, पर किसीने ध्यान नहीं दिया। तब क्या किया जाय !

४—एक सज्जन, जो एक बड़े समाचारपत्रके सम्पादक हैं, कहते हैं कि 'यह बात समझमें नहीं आती कि यज्ञसे तपेदिक दूर हो जाय।'

उत्तर—समझका क्षेत्र तो घटता-बढ़ता रहता है। रामायण आदिमें जब विमानका हाल पढ़ते थे तो बहुत-से नवीन युगके लोगोंकी समझमें ही नहीं आता था कि विमान भी हो सकता है। पर आज हवाई जहाज देखकर समझमें आ गया कि ठीक है। यज्ञके विषयमें भी रामायण बताती है कि पुत्रेष्टि-यज्ञसे मर्यादापुरुषोत्तम राम-जैसे पुत्र उत्पन्न हो सकते हैं। युद्धमें हारकर रावणका पुत्र मेघनाद यज्ञ करने बैठा था जिसको वानरोंने इसी कारण नहीं पूरा होने दिया कि यदि यज्ञ पूरा हो गया तो फिर उसको जीतना असम्भव हो जायगा। जब ऐसे-ऐसे कार्य भी यज्ञसे सिद्ध हो सकते हैं तो फिर एक बीमारीका दूर होना कौन कठिन बात है ? भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें यज्ञकी महिमा इन शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञ-सहित प्रजा-को रचकर कहा, कि इस यज्ञद्वारा तुम लोग वृद्धिको प्राप्त हो, और यह यज्ञ तुम लोगोंको इच्छित कामनाओं-[को देने]वाला होवे।'

> भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

'तुमलोग इस यज्ञद्वारा देवताओंकी उन्नति करो और वे देवता लोग तुमलोगोंकी उन्नति करें। इस प्रकार आपसमें कर्तव्य समझकर एक-दूसरेकी उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होओगे।'

आगे और भी कहा है कि यज्ञा...
लोग तुम्हारे लिये बिना मांगे ...
इत्यादि। यज्ञकी अपार महि...
तो परीक्षा करके ...
आरसी क्या।'
डालते हैं—

हवन
हमारे ...
नित्य ...
हम
...
सफता
सब ..
अतएव ...
उसी विधिसे ...
हों सामग्री इत्यादि .

१—स्थान स्वच्छ ...
पर्वतपर वासाके वनमें ...
करे तो अधिक उपयोगी है।

२—रोगी स्वयं बैठकर यज्ञ करे ...
न कर सके तो पास ही पलंगपर लेटा ...
वस्त्र कम-से-कम रक्खे ताकि रोमछिद्रोंद्वारा गैस अंदर प्रवेश कर सके।

३—हवनकी अग्नि सदा देशी कपूरसे ही प्रदीप्त करनी चाहिये। जिन रोगियोंको शीघ्र-शीघ्र जुकाम नजला हो जाता है उनको कपूरका विशेषरूपसे प्रयोग करना चाहिये और उसके धूएँका अधिक-से-अधिक श्वास लेना चाहिये। इस विषयपर वैज्ञानिक ढंगसे परीक्षण हो

जीव ! तू दिनके मध्यकालके सवनमें बलिवैश्वदेव, अतिथि-यज्ञ आदिके अवसरपर स्वयं भी सब प्रकार अन्न आदि खाकर पुष्ट हो। और शरीरके धनस्वरूप रयि-प्राणमें स्थिति प्राप्त करके हम इन्द्रियगणमें भी उस प्राणको प्रदान कर। जिससे हम सब बलवान् और नीरोग रहें।'

फिर यज्ञचिकित्सामें जो ओषधि प्रयोग होती हैं उनके विषयमें पृथक्-पृथक् वर्णन भी वेदभगवान्‌में मिलता है। जैसे—

गूगलके विषयमें—

न तं यक्ष्मा आ रून्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगाइश्वा इवेरते॥
(अ० का० १९ सू० ३८ मं० १)

'जिसके शरीरको रोगनाशक गूगलका उत्तम गन्ध व्यापता है उसको राजयक्ष्माके रोग पीड़ा नहीं देते, उसको दूसरेका निन्दा-वचन भी नहीं लगता। उससे सब प्रकारके राजयक्ष्मा रोग शीघ्रगामी हरिणोंके समान काँपते हैं, डरकर भागते हैं।'

कुष्ठ नामक औषधके विषयमें—

एतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥
(सू० ३९ मं० १)

'रक्षा करनेवाला दिव्य गुणवान्, हर्षोत्पादक कुष्ठ-नामक वनस्पति हिमवाले पर्वतसे हमें प्राप्त होता है। हे कुष्ठ ! सब प्रकारके पीड़ाकारक ज्वरोंको और सब प्रकारकी पीड़ाकारिणी यातनाओंको नाश कर।'

इसी प्रकार क्षतावर इत्यादि ओषधियोंसे राजयक्ष्मा दूर होनेका वर्णन है। जो विस्तारसे पढ़ना चाहें, वे वेदका स्वाध्याय करें, जिसका स्वाध्याय करना हमारा परम धर्म है क्योंकि वह प्रभुकी अमृत वाणी है और हमें अक्षय सुख व शान्ति देनेवाली है।

२—दूसरे सज्जन लिखते हैं—'यह चिकित्सा तो बड़ी मँहगी पड़ती है, वेदकी बात तो ऐसी होनी चाहिये जिसे सर्व-साधारण आसानीसे कर सकें।'

उत्तर—भगवान्‌ने ओषधियोंके जंगल-के-जंगल उत्पन्न किये हैं। करोड़ों गाय-भैंसें उत्पन्न कीं जिनका घी, दूध खाये न चुके और दिन-रात यत्न करते रहो तब समाप्त न हो। अब यदि कोई प्राणी अथवा देश अपनी मूर्खता और आलस्यसे इन वस्तुओंकी रक्षा न कर इनको नष्ट होने दे और इसी कारण चीजें मँहगी हो जायँ तो इसमें वेदभगवान् अथवा वेदका ज्ञान देनेवाले प्रभुका क्या दोष ? जैसी करनी वैसी भरनी। फिर भी इस अवस्थामें एक उपाय है जिससे यज्ञ-चिकित्सा अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा उपयोगी होनेके साथ-साथ सस्ती भी पड़ सकती है। वह यह है कि किसी स्वास्थ्य-गृह (सेनीटोरियम) में अथवा किसी अन्य उपयुक्त स्थान गङ्गा-तट इत्यादिपर बहुत-से रोगी एक साथ इसका प्रयोग करें। एक ही स्थानपर यज्ञ होनेसे सबको लाभ पहुँच सकता है और व्यय थोड़ा-थोड़ा सबपर बँट जाता है।

३—तीसरा प्रश्न यह आता है कि 'जब यज्ञ-चिकित्सा इतनी उपयोगी है और तपेदिक दिनोंदिन बढ़ रहा है तो सरकार इसको अपनी चिकित्सा-विधिमें सम्मिलित क्यों नहीं करती ?'

उत्तर—प्रथम तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब उपयोगी बातोंको सरकार अपनाती है। ब्रह्मचर्य अत्यन्त उपयोगी है, पर सरकारी स्कूलोंमें उसकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं। [illegible] अत्यन्त ही हानिकारक है पर सरकारी [illegible] एक ही साथ पढ़ाया जाता है। [illegible] उपयोगी है पर सरकारकी [illegible] होता है। फिर यह [illegible]

सिद्ध हो जाय तो अच्छा है, क्योंकि इसके उत्तरकी जिम्मेदारी सरकारपर ही है। हम इस विषयपर बिना किसी सरकारी सहायताके ३५ वर्षसे परीक्षण कर रहे हैं और १२ वर्षसे इस विषयपर समाचारपत्रोंमें लेख लिख रहे हैं और सबसे कह रहे हैं कि तपेदिकके रोगको यदि देशसे रोका जा सकता है तो उसका उपचार केवल 'यज्ञ' है। विश्वास न हो तो सरकार स्वयं वैज्ञानिक खोज करा ले, पर किसीने ध्यान नहीं दिया। अब क्या किया जाय!

४—एक सज्जन, जो एक बड़े समाचारपत्रके सम्पादक हैं, कहते हैं कि 'यह बात समझमें नहीं आती कि यज्ञसे तपेदिक दूर हो जाय।'

उत्तर—समझका क्षेत्र तो घटता-बढ़ता रहता है। रामायण आदिमें जब विमानका हाल पढ़ते थे तो बहुत-से नवीन युगके लोगोंकी समझमें ही नहीं आता था कि विमान भी हो सकता है। पर आज हवाई जहाज देखकर समझमें आ गया कि ठीक है। यज्ञके विषयमें भी रामायण बताती है कि पुत्रेष्टि-यज्ञसे मर्यादापुरुषोत्तम राम-जैसे पुत्र उत्पन्न हो सकते हैं। युद्धमें हारकर रावणका पुत्र मेघनाद यज्ञ करने बैठा था जिसको वानरोंने इसी कारण नहीं पूरा होने दिया कि यदि यज्ञ पूरा हो गया तो फिर उसको जीतना असम्भव हो जायगा। जब ऐसे-ऐसे कार्य भी यज्ञसे सिद्ध हो सकते हैं तो फिर एक बीमारीका दूर होना कौन कठिन बात है! भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें यज्ञकी महिमा इन शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञ-सहित प्रजाओंको रचकर कहा, कि इस यज्ञद्वारा तुम लोग वृद्धिको प्राप्त हो, और यह यज्ञ तुम लोगोंको इच्छित कामनाओंका देनेवाला होवे।'

> देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

'तुमलोग इस यज्ञद्वारा देवताओंकी उन्नति करो और वे देवता लोग तुमलोगोंकी उन्नति करें। इस आपसमें कर्तव्य समझकर एक-दूसरेकी उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होओगे।'

आगे और भी कहा है कि यज्ञद्वारा बढ़ाये हुए देवता लोग तुम्हारे लिये बिना माँगे ही प्रिय भोगोंको देंगे, इत्यादि। यज्ञकी अपार महिमा है। समझमें नहीं आता तो परीक्षा करके देखना चाहिये। 'हाथ-कंगनको आरसी क्या।' अब हम चिकित्सा-विधिपर कुछ प्रकाश डालते हैं—

यज्ञ-चिकित्सा कैसे करनी चाहिये—

हवन-यज्ञ हिंदूधर्मका एक मुख्य अंग है। और हमारे ऋषियोंने 'पञ्चमहायज्ञ'का निरूपण करते हुए नित्य इसका करना आवश्यक बताया है। अतः यदि हम यह मान लें कि यज्ञ करनेकी विधि प्रत्येक हिंदू जानता है अथवा अपने कुल-पुरोहितसे मालूम कर सकता है तो कुछ अनुचित न होगा; क्योंकि यहाँ उस सब विधिका वर्णन करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा। अतएव जिस प्रकार नित्यका हवन-यज्ञ किया जाता है उसी विधिसे इस चिकित्सामें भी हवन करना चाहिये, हाँ सामग्री इत्यादि विशेष होनी चाहिये।

१—स्थान स्वच्छ होना चाहिये। इस रोगका रोगी पर्वतपर बासाके वनमें अथवा गंगा-तटपर रहकर यज्ञ करे तो अधिक उपयोगी है।

२—रोगी स्वयं बैठकर यज्ञ कर सके तो उत्तम है। न कर सके तो पास ही पलंगपर लेटा रहे। शरीरपर वस्त्र कम-से-कम रक्खे ताकि रोमछिद्रोंद्वारा हवनकी गैस अंदर प्रवेश कर सके।

३—हवनकी अग्नि सदा देशी कपूरसे ही प्रदीप्त करनी चाहिये। जिन रोगियोंको शीघ्र-शीघ्र जुकाम नजला हो जाता है उनको कपूरका विशेषरूपसे प्रयोग करना चाहिये और उसके धूएँका अधिक-से-अधिक श्वास लेना चाहिये। इस विषयपर वैज्ञानिक ढंगसे परीक्षण हो

जीव ! तू दिनके मध्यकालके सवनमें बलिवैश्वदेव, अतिथि-यज्ञ आदिके अवसरपर स्वयं भी सब प्रकार अन्न आदि खाकर पुष्ट हो। और शरीरके धनस्वरूप रयि-प्राणमें स्थिति प्राप्त करके हम इन्द्रियगणमें भी उस प्राणको प्रदान कर। जिससे हम सब बलवान् और नीरोग रहें।'

फिर यज्ञचिकित्सामें जो ओषधि प्रयोग होती हैं उनके विषयमें पृथक्-पृथक् वर्णन भी वेदभगवान्‌में मिलता है। जैसे—

गूगलके विषयमें—

न तं यक्ष्मा आ रून्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगादश्वा इवेरते॥
(अ० का० १९ सू० ३८ मं० १)

'जिसके शरीरको रोगनाशक गूगलका उत्तम गन्ध व्यापता है उसको राजयक्ष्माके रोग पीड़ा नहीं देते, उसको दूसरेका निन्दा-वचन भी नहीं लगता। उससे सब प्रकारके राजयक्ष्मा रोग शीघ्रगामी हरिणोंके समान काँपते हैं, डरकर भागते हैं।'

कुष्ठ नामक औषधके विषयमें—

एतु देवस्त्रायमानः कुष्ठो हिमवतस्परि।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥
(सू० ३९ मं० १)

'रक्षा करनेवाला दिव्य गुणवान्, हर्षोत्पादक कुष्ठ-नामक वनस्पति हिमवाले पर्वतसे हमें प्राप्त होता है। हे कुष्ठ! सब प्रकारके पीड़ाकारक ज्वरोंको और सब प्रकारकी पीड़ाकारिणी यातनाओंको नाश कर।'

इसी प्रकार क्षतावर इत्यादि ओषधियोंसे राजयक्ष्मा दूर होनेका वर्णन है। जो विस्तारसे पढ़ना चाहें, वे वेदका स्वाध्याय करें, जिसका स्वाध्याय करना हमारा परम धर्म है क्योंकि यह प्रभुकी अमृत वाणी है और हमें अक्षय सुख व शान्ति देनेवाली है।

२—दूसरे सज्जन लिखते हैं—'यह चिकित्सा तो बड़ी मँहगी पड़ती है, वेदकी बात तो ऐसी होनी चाहि[ए] जिसे सर्व-साधारण आसानीसे कर सकें।'

उत्तर—भगवान्‌ने ओषधियोंके जंगल-के-जंगल उत्प[न्न] किये हैं। करोड़ों गाय-भैंसें उत्पन्न कीं जिनका घी, दू[ध] खाये न चुके और दिन-रात यज्ञ करते रहो तब भ[ी] समाप्त न हो। अब यदि कोई प्राणी अथवा देश अपन[ी] मूर्खता और आलस्यसे इन वस्तुओंकी रक्षा न कर इनक[ो] नष्ट होने दे और इसी कारण चीजें मँहगी हो जायँ त[ो] इसमें वेदभगवान् अथवा वेदका ज्ञान देनेवाले प्रभुका क्या दोष? जैसी करनी वैसी भरनी। फिर भी इस अवस्थामें एक उपाय है जिससे यज्ञ-चिकित्सा अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा उपयोगी होनेके साथ-साथ सस्ती भी पड़ सकती है। वह यह है कि किसी स्वास्थ्य-गृह (सेनीटोरियम) में अथवा किसी अन्य उपयुक्त स्थान गङ्गा-तट इत्यादिपर बहुत-से रोगी एक साथ इसका प्रयोग करें। एक ही स्थानपर यज्ञ होनेसे सबको लाभ पहुँच सकता है और व्यय थोड़ा-थोड़ा सबपर बँट जाता है।

३—तीसरा प्रश्न यह आता है कि 'जब यज्ञ-चिकित्सा इतनी उपयोगी है और तपेदिक दिनोंदिन बढ़ रहा है तो सरकार इसको अपनी चिकित्सा-विधिमें सम्मिलित क्यों नहीं करती?'

उत्तर—प्रथम तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब उपयोगी बातोंको सरकार अपनाती है। ब्रह्मचर्य अत्यन्त उपयोगी है, पर सरकारी स्कूलोंमें उसकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं। युवक-युवतियोंका एक साथ पढ़ना अत्यन्त ही हानिकारक है पर सरकारी शिक्षणालयोंमें उन्हें एक ही साथ पढ़ाया जाता है। घी कितना महान् उपयोगी है पर सरकारकी [illegible] होता है। फिर यह प्रश्न हमसे करनेके बजाय यदि सरकारसे ही

कि कपूरके धूएँमें न केवल नजला नाश करने-का शक्ति है, किन्तु वह उन नसोंको भी बलवान् बनाता है जिनके निर्बल होनेसे नजला शीघ्र-शीघ्र उत्पन्न होता है ।

इसी प्रकार जिन रोगियोंको मोतीझरा, ज्वर बिगड़-कर तपेदिक हुआ हो उनको किशमिश और मुनक्काको विशेषरूपसे जलाना चाहिये क्योंकि यह बात भी वैज्ञानिक ढंगपर परीक्षणके पश्चात् मान ली गयी है कि इन वस्तुओंके धूएँसे टायफायडके कीटाणु केवल आध घंटेमें समाप्त हो जाते हैं ।

अब प्रश्न तपेदिक-नाशक हवन-सामग्रीका रहता है । इस विषयमें निवेदन है कि रोगी दो प्रकारके होते हैं—एक वे जिनका रोग अभी प्रथम श्रेणीका है और जो चलते-फिरते, खाते-पीते और अपना काम भी करते हैं । दूसरे वे जिनका रोग दूसरी अथवा तीसरी श्रेणीपर पहुँच चुका है । अर्थात् रोग बहुत बढ़ चुका है । ऐसी कठिन स्थितिपर पहुँचे हुए रोगियोंके लिये तो उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके अनुसार भिन्न-भिन्न सामग्री होगी । परन्तु प्रथम श्रेणीके सज्जनोंके लिये हवन-सामग्री-का एक नुस्खा नीचे दिया जाता है जिससे न केवल उनके रोगको लाभ होगा किन्तु उनके पास रहनेवाले अन्य व्यक्ति भी सुरक्षित रहेंगे और उनके इस यज्ञसे वायुमण्डलमेंसे भी तपेदिकका विष दूर हो जायगा ।

हवन-सामग्री

समभाग मण्डूकपर्णी, ब्राह्मी, इन्द्रायणकी जड़, शतावरी, असगन्ध, विधारा, शालपर्णी, मकोय, अडूसा, गुलाबके फूल, तगर, रास्ना, वंशलोचन, जायफल, क्षीर-काकोली, जटामासी, पण्डरी, गोखरू, पिस्ता, बादाम, मुनक्का, लौंग, छुहारे बड़ी गुठलीसहित, आँवला, जीवंती, पुनर्नवा, नगेन्द्र बामड़ी, चीड़का बुरादा, सूबकला। चार भाग गिलोय, गूगल। चौथाई भाग केसर, शहद, देशी कपूर। दस भाग शक्कर (खाँड) देशी। इस सामग्रीमें घी इतना मिलाना चाहिये कि सामग्री तू-तर हो जाय जिससे लड्डू-से बन सकें । समिधा आम ढाक अथवा बासाकी खूब सूखी हो जिससे धूआँ बिल्कुल न हो ।

अन्य उपचार

भोजनमें गौ तथा बकरीका धारोष्ण दूध स उत्तम है । यह जितना भी अधिक पच सकेगा उ ही शीघ्र आरोग्यता प्राप्त होगी। कुछ लोग—विशेषत यूनानी चिकित्सक दूधको कफ बढ़ानेवाला बताव मांस-रसपर जोर देते हैं, डाक्टर लोग दूधके सा अंडेपर जोर देते हैं । पर हमारी सम्मतिमें यह स सर्वथा भ्रममूलक और निराधार बातें हैं । तपेदिकके रोगीके लिये दूधसे बढ़कर दूसरा कोई भोजन नहीं है । हमारे सब रोगी मांस और अंडे न खाकर ही पूर्ण स्वस्थ हो गये हैं । बल्कि मांस, अंडा खानेवाले अनेकों रोगी इस पापको लिये हुए संसारसे विदा होते हमने देखे हैं । दूधके अतिरिक्त मक्खन, दिनमें ताजा दही या मट्ठा, मलाई, मूँगकी दाल, मुगौरी, मूगकी कढ़ी, दलिया, पुराने चावल, साठीके चावल, गेहूँकी रोटी, आटेकी गरम पूरी, पराठा, चीले, सूजीका हलवा, लौकी, तुरई, मूली, परवल, पपीता, भसीडा, पालक, बथुआ, टमाटर, गाजर, आँवला इत्यादिका सेवन करना चाहिये।

प्रातः उठना, ईश्वर-भजन करना, प्राणायाम करना, शुद्ध वायुमें घूमना, वस्तीकर्म, सूर्य-नमस्कार, आसन, प्रसन्नचित्त रहना, आमोद-प्रमोद करना, धार्मिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य हितकर है । जिस प्रकार भोजनमें दूधका महत्त्व है उसी प्रकार अन्य उपचारोंमें ब्रह्मचर्यका महत्त्व है ।

अपथ्य

अधिक परिश्रम, उपवास, चिन्ता, [illegible], गरिष्ठ पदार्थोंका सेवन, अशुद्ध वायुमें रहना, [illegible] दुष्ट [illegible] [illegible] अपथ्य है।

मनुष्य पशु कैसे बन गया ?

"अन्तरङ्ग सभाकी तीन बैठकें"

[कहानी]

(लेखक—मदनमोहन गुगलानी शास्त्री)

पहली बैठक

उस घने जंगलमें, जहाँ जानेके विचारमात्रसे मनुष्यका हृदय काँप उठे, वह सभा हो रही थी।

सभापति भी था, मन्त्री भी और सभासद् भी। सभापति वनराज 'सिंह' एक ऊँची शिलापर विराज रहे थे। बाकी सब-के-सब नीचे ही थे—कँटीली जमीनपर। सभापति कह रहे थे—

"………मैं नहीं समझ सकता इसका कारण क्या है! मनुष्य—एक नन्हा-सा दुर्बल प्राणी—अपनेसे कई गुना अधिक बलशालियोंपर, हम पशुओंपर, शासन करे, हुकुम चलाये, और जब जी चाहे हमें मार गिराये, यह शरमकी बात है। मुझे दया आती है उन घोड़ोंपर, जो मनुष्यको पीठपर बिठाये लिये फिरते हैं, उन बैलोंपर जो मनुष्यके लिये सैकड़ों मन बोझ खींचा करते हैं और उन हाथियोंपर जो मनुष्यकी एक लोहेके अंकुटियाके डरसे बिल्ली बने रहते हैं। क्या है मनुष्यको हक कि वह गाय, भैंस और बकरियोंके बच्चोंके मुँहसे छीनकर, उनका दूध दुहा करे? क्या मनुष्यमें शक्ति इन सबसे अधिक है? यदि नहीं, तो हम उससे दबें क्यों? आज परस्पर वैरभाव छोड़कर आप सब यहाँ एकत्रित हैं। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं सोचा जा सकता जिससे मनुष्यके हाथों छुटकारा पाया जा सके, और हम फिरसे स्वतन्त्रतापूर्वक जंगलों व पहाड़ोंमें घूम सकें?"

वह चुप हो गये।

मन्त्री 'शृगाल' देव विनीत भावसे बोले—

"महाराज, आपके प्रतापसे सब कुछ सम्भव है। पर, क्षमा करें, मनुष्यको नीचा दिखा सकना आसान काम नहीं। यह मनुष्यका बल नहीं जो घोड़ों, बैलों व हाथियोंतकको दबाये हुए है, एवं वनराजपर वार करनेमें भी नहीं हिचकता। यह तो है मनुष्यकी बुद्धि। इसी बुद्धिके सहारे वह सीना अकड़ा कर चला करता है। जबतक मनुष्यमें बुद्धि है, वह काबूमें नहीं सकता। मनुष्यको नीचा दिखानेके लिये पहले उ बुद्धिका नाश आवश्यक है।"

"हमें तुम्हारी बात पसंद है", सभापति बोले, "तुमने ठीक ही कहा। हमें आज ऐसे उपाय सोचने होंगे जिनसे मनुष्यकी बुद्धि नष्ट की जा सके। इसमें यदि हम सफल हों तो पौबारह हैं। मित्रो, क्या तुम इस बारेमें कोई राय दे सकते हो?"

सब चुप रहे। दो-तीन मिनट कोई भी बोला नहीं। अन्तमें झिझकते हुए 'ऋषभ' देव खड़े हुए।

"हजूर", वह बोले, "मेरी समझमें तो मनुष्यकी बुद्धि आसानीसे नष्ट की जा सकती है। यदि मनुष्यमें पर्याप्त पशुता भर दी जाय, तो उसकी बुद्धि अवश्य ही नष्ट होती जायगी। इसके लिये हमें बलियाँ देनी होंगी। हमें स्वयं मनुष्यके आहारका बड़े-से-बड़ा अङ्ग बन जाना होगा। तभी सफलता सम्भव है। कई-कई पशु खा चुकनेवाले मनुष्यमें उन सब पशुओंकी पशुताका सञ्चार क्योंकर न होगा? मनुष्य एक बड़ा पशु बन जायगा और पशुताके ऐसे भयङ्कर कार्य करेगा, जिन्हें देख कर पशु भी दंग हुए बिना न रह सकेंगे। और………"

"ठीक है, ठीक है", सभापति बीचमें ही बोल पड़े, "तुम्हारी ही बात ठीक है। मनुष्य पशु-मांसका आहार करता है, पर थोड़ा। अब यदि पशु उसकी रुचि इस ओर बढ़ा दें, उसका जीवन केवल पशु-मांस पर ही निर्भर बना दें, तो मनुष्य धीरे-धीरे मनुष्यत्व छोड़ पशुताकी ओर बढ़ता जायगा। इसके लिये जाओ, जैसे भी हो, मनुष्यको तरह-तरहके प्रलोभन दो। अपनी जातिके लिये जानकी परवा मत करो। भेड़ें, हरिन, घोड़े, गैयें, बैल सभी छोटेसे लेकर बड़े तक, मनुष्यका आहार बननेका प्रयत्न करो। अपनी अपनी पशुता पर्याप्तमात्रामें उसमें भर दो। अर्थात् पशु

श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

शङ्का—श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्डके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जी, सुग्रीव, तारा और वालिको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपका ज्ञान हो चुका था। प्रमाणमें क्रमशः इन सबके वचन देखिये—

हनुमान्‌जी

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

× × × ×

तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥

सुग्रीव

बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥

उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला॥

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥

ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥

सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। माया कृत परमारथ नाहीं॥

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥

सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई॥

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

तारा

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा॥

कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

बालि

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥

यहाँतक इनकी बातें हुईं। अब सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवसे कहते हैं—

एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥

इन सब वचनोंकी संगति नहीं लगती। उपर्युक्त चारों व्यक्ति तो भगवान् रामको पहचान गये थे, लेकिन स्वतः भगवान् राम अपनेको भ्रमयुक्त कर रहे हैं। फिर वे सर्वज्ञ कैसे हुए? यदि वे .. हैं तो उन्होंने अपनी अल्पज्ञता क्यों प्रदर्शित की? ... ही वे अपना ऐश्वर्य भी दिखला रहे हैं। माना ... अल्पज्ञताका प्रदर्शन लीलाके लिये है; परन्तु जो उन्हें पहचान चुके हैं, उनसे छिपाव करनेका . कारण है?

इसी तरहकी शङ्का लङ्काकाण्डकी ... चौपाइयोंको पढ़नेपर भी उपस्थित होती है। ... रावण-युद्धके प्रसङ्गमें देखिये—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन ...

× × × ×

सुनु सरबग्य चराचर नायक। प्रनतपाल सुर मुनि सुखदायक

नाभिकुंड पियूष बस याकें। नाथ जिअत रावनु बल ताकें

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि परम बलके धा... साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको भी क्या ... सांसारिक बलिष्ठ जीवका वध करनेके लिये ... श्रमकी आवश्यकता पड़ती है? यदि नहीं तो ... भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रभावको रामचरित .. जैसे ग्रन्थमें इतना घटाकर क्यों दिखलाया गया है और क्या विभीषणके 'सर्वज्ञ' राम यह स्वयं . जानते थे कि रावणके नाभिकुण्डमें अमृत है, ... वह अमर बना हुआ है? यहाँ भी तो उनकी .. प्रदर्शित हो रही है। इसका क्या कारण है? .. लीलाके लिये ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने को छिपा रहे हैं तो जो विभीषण उन्हें सर्वज्ञ, चरा.. नायक, प्रणतपाल, सुर-मुनि-सुखदायकके रूपमें . मानते थे, उनसे छिपावकी लीला करनेमें क्या रस है

समाधान—आपकी शङ्काएँ बड़ी सुन्दर अतिशय गम्भीर हैं। इन प्रसङ्गोंका पाठ करते ..

पति हमारी सहायता करेंगे। क्या आप सब तैयार हैं !”

“तन-मनसे, तन-मनसे,” चारों ओरसे आवाज आयी। सभा विसर्जित कर दी गयी।

दूसरी बैठक

बहुत समय बाद फिरसे वहीं सभा हुई। सभापति नये थे, मन्त्री नये थे, सभासद् नये थे। पर अपने पुरखाओंके चलाये हुए कार्यको वे भूले न थे। मन्त्री कार्य-विवरण सुना रहे थे—

“हजारों, लाखोंने जानकी परवा नहीं की। आगकी भीषण लपटोंमें जलाये जानेके कष्टको नहीं सोचा। छोटे-बड़े हर प्रकारके पशुओंने भाग लिया है। पक्षियोंने भी बड़ी सहायता की। आशासे अधिक उत्साह दिखाया जा रहा है इस काममें। सफलता भी हमें आशासे अधिक मिल रही है। मनुष्य दिन-प्रति-दिन बुद्धि खो रहा है। और तो और, वह अब अपने आपको भी एक पशु[1] मानने लगा है। यह इस बातका प्रमाण है कि पशुता उसमें घर करती जा रही है। शेर शेरके, बैल बैलके, घोड़ा घोड़ेके खूनका प्यासा नहीं। पर मनुष्य मनुष्यके खूनका प्यासा बन चुका है। पशुता उसमें वह रंग दिखा रही है कि आकाशके देवता भी विस्मित होते होंगे।”

“सन्तोषजनक !” सभापति बोले, “यह सब कुछ सन्तोषजनक है। पर हमें अभी यत्न छोड़ नहीं देना चाहिये। इससे वह फिर होशमें आ जायगा। बुद्धि उसकी ठिकाने आ लगेगी। काम जारी रक्खो, और जारी रक्खो तबतक जबतक मनुष्यका नामतक बाकी है। मनुष्यकी सत्ता ही मिट जाने दो। सैकड़ों पशु खानेवाला मनुष्य सैकड़ों पशुओं-जैसे कार्य कर रहा है तो हजारों पशु खा चुकनेपर वह क्या कुछ न कर गुजरेगा। जब उसकी रग-रगमें हजारों पशुओंका खून दौड़ेगा तो वह अपने निकट बन्धुओंके खूनसे प्यास बुझानेमें न हिचकेगा। इस द्वन्द्वको पैदा हो जाने दो। मनुष्योंको आपसमें ही लड़ मर जाने दो। लगे रहो, पशुपति हमारी रक्षा करें, लगे रहो।”

“हम निरन्तर जानपर खेलते रहेंगे।” सभीने कहा। सभापति चल दिये। सभी उठ-उठकर चल दिये।

तीसरी बैठक

और भी सदियाँ बीत-गयीं। स्थान वही रहा, सभापति बदल गये, सभासद् बदल गये। सभा फिर हुई। सभापति बोल रहे थे—

“आज सौभाग्यका दिन है। सदियों पूर्व अपने पुरखाओंद्वारा चलाये गये कार्यकी सफलताको हम अब निकटतम ही देख रहे हैं। हमारा सबसे बड़ा शत्रु आज अपने गलेपर स्वयं छुरी चला रहा है। खूनकी प्यास मनुष्यमें व्यक्तिगत नहीं रही। जातियोंकी जातियाँ, देशोंके देश, इस खूनकी प्याससे आकुल हो उठे हैं। वह उस कलहकी आगमें जल रहे हैं जो उनकी भस्मतकको जला देगी। मनुष्योंमें वह युद्ध प्रारम्भ हो चुका है जिसे उन्हींकी भाषामें 'विश्वयुद्ध' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यके रहनेका कोई स्थान ऐसा नहीं जो इस युद्धकी लपेटसे बच रहा हो। हर नया सूर्य लाखों नयी मनुष्योंकी लाशोंको देखता है। मनुष्यका सारा ऐश्वर्य शून्यतामें लीन हो रहा है। इससे अधिक सुखद समाचार और हो ही क्या सकता है? पर अभी वह दिन आना है जब पशुमांसाहारी मनुष्य नरमांससे भूख मिटायेगा। माँ बच्चोंको, बड़े छोटोंको खा जायँगे मारकर। मनुष्यका सारा दम्भ मिट्टीमें मिल जायगा। उस दिनको आने दो, हाँ आने दो। अपना यत्न मत छोड़ो। भगवान् पशुपति हमारे मनोरथ पूरे करें। हाँ अब भी यदि मनुष्य चेत गये और उन्होंने मांस खाना छोड़ दिया तो हमारी कामना सफल न होगी! अस्तु!”

“भगवान् पशुपति हमारे मनोरथ पूरे करें,” यही सबने दोहराया। सभा एक बार फिर विसर्जित हुई।

1. Darwin Theory

अस्तु, किष्किन्धाकाण्डके उपर्युक्त पात्रोंके लिये ीप्रभुकी यह नर-लीला धर्म-शिक्षाके उद्देश्यसे अत्यन्त े उपादेय एवं सुखद हुई है। वहाँ किसी छिपाव-ावका प्रयोजन नहीं है।

लङ्काकाण्डके राम-रावण-युद्धके प्रसङ्गमें भी 'मरइ ा रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥' आदि चौपाइयोंको लेकर जो शङ्का है, वह ठीक नहीं है। वहाँ श्रीरामजीके प्रभावको घटाकर नहीं दिखलाया या है, बल्कि वहाँ ऐश्वर्यका प्रमाण उद्घोषित है। था—'उमा काल मर जाकीं ईछा। सो प्रभु जन कर ीति परीछा॥' यहाँ 'संतत दासन्ह देहिं बड़ाई'के वेरदके अनुसार श्रीकरुणासिन्धुजी अपने भक्तवर श्रीविभीषणको भक्तिका प्रमाणपत्र प्रदान कर रहे हैं, अन्यथा उन अन्तर्यामी हृदयस्थ प्रभुको परीक्षा लेनेकी क्या आवश्यकता है? जिस प्रकार श्रीशिवजीने अपने प्रभु भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी 'जाइ बिबाहहु सैलजहि, यह मोहि मागें देहु।' यह प्रकट आज्ञा पाकर भी सप्तर्षियोंको पार्वतीके पास प्रेम-परीक्षार्थ भेजा—'पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु', उसी प्रकार उसी भावकी परीक्षा यहाँ विभीषणकी ली जा रही है। तात्पर्य यह कि जब श्रीशिवजी श्रीरघुनाथजीसे यह कह चुके थे कि 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥' और 'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं' इत्यादि, तब उन्हें पार्वतीजीकी प्रेम-परीक्षा लेनेकी क्या आवश्यकता पड़ी! जब प्रभुकी आज्ञा मानकर निश्चितरूपसे विवाह करना है, तब परीक्षाका प्रयोजन ही क्या है! परन्तु वह परीक्षा परीक्षाके लिये नहीं थी, बल्कि केवल इसलिये थी कि पार्वतीजीको प्रेममें पास करके, उनका सन्देह छुड़ाकर उनकी तपस्याकी पूर्णताका विश्वास दिला दिया जाय और हिमाचलको यह प्रेरणा कर दी जाय कि वे उन्हें अपने भवनमें लिवा ले जायँ—'गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन दूरि करेहु संदेहु।' इसी प्रकार परम उदार श्रीसरकारने यहाँ वि राज्याभिषेकसे पहले ही अपनी परीक्षा करके स्वभक्तिका अमोघ एवं अपूर्व पदक करुणा दिखायी है। अतः यहाँ 'अल्पज्ञता' सर्वज्ञता और दयालुताकी असीम लीला हुई है तथा प्रसङ्ग बड़े ही गम्भीर रहस्यका है। यहाँ विभीषणजी द्वारा संकेतित रावणके नाभिकुण्डकी सुधाके भावार्थ श्रीभगवान्‌की सच्ची सुधा-सिन्धुता उमङ्गित हो रही है

(२) शङ्का—हमारे प्रातःस्मरणीय गोस्वामी श्री तुलसीदासजी महाराज श्रीरामोपासक होते हुए • ग्रन्थारम्भमें 'वन्दे वाणीविनायकौ' क्यों रखते हैं! व तो सर्वप्रथम इष्टवन्दना ही होनी चाहिये थी। फिर आगे भी 'भवानीशङ्करौ वन्दे' लिखते हैं। ऐसा क्य हुआ है!

(२) समाधान—मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम जीके उपासक पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने अपने स ग्रन्थोंमें मर्यादाशैलीको निभाया है। वैसे तो उन्हीं वचन हैं—'····सकल राममय जानि। बंदउँ सब के प कमल सदा जोरि जुग पानि॥' इत्यादि; तथापि उन्होंने और सबकी वन्दना पहले करके अन्तिम वन्दना अप इष्टस्वरूप श्रीरघुनाथजीकी ही समाप्त की है। जै मङ्गलाचरणके श्लोकों और भाषाग्रन्थके पदोंमें देखिये 'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।' 'पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥'

इसके पश्चात् पुनः रामनामकी ही वन्दना है, कि किसी देवकी पुनः वन्दना नहीं की गयी है। इस मालूम होता है कि आदिसे बराबर अन्ततक भ उन्होंने श्रेष्ठ माना है और वही क्रम रक्खा है।

(३) शङ्का—श्रीगोस्वामी [illegible] [illegible] हुई वह रही है कि [illegible] [illegible]। [illegible] ॥' [illegible] [illegible] अपने [illegible] दूर कर •

मेरे हृदयमें भी यह विचार उठता था कि इनके सम्बन्धमें कुछ लिखकर 'कल्याण'के मानसप्रेमी पाठकोंकी सेवा की जाय। आज आपकी प्रेरणासे यह अवसर आ गया। अतः आपको अनेक धन्यवाद। मेरी अल्प मतिके अनुसार आपकी शङ्काओंका समाधान इस प्रकार है—

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अवतार अपने नरवत् चरित्रद्वारा जगत्में लोक-वेदकी मर्यादाके शिक्षार्थ ही हुआ है। यथा—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

श्रीमद्भागवतमें भी प्रमाण है कि 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्।' अर्थात् श्रीभगवान्का मनुष्यावतार मानव-समाजकी शिक्षाके लिये ही होता है, केवल राक्षसोंका वध ही उनके अवतरित होनेका हेतु नहीं होता। अतः बालि और सुग्रीवकी शारीरिक आकृति एक-समान होनेसे यह कहा गया है कि 'एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥' इस कथनसे जीव-मात्रको यह शिक्षा दी जा रही है कि यदि कहीं ऐसे नाजुक खतरेका काम सामने आ जाय तो सन्देहमें शीघ्रतावश सहसा नहीं कर डालना चाहिये। बल्कि वहाँ पूर्ण निश्चयका उपाय करके असन्दिग्ध होकर काम करना ही धर्म है। इसीलिये उस अवसरपर भगवान्ने 'मेली कंठ सुमन की माला'—सुग्रीवके गलेमें फूलोंकी माला पहनायी, ताकि उनकी स्पष्ट पहचान हो जाय और बाण छोड़नेपर धोखा न हो सके! नहीं तो तनिक भी चूक होनेपर कितना अनर्थ हो जाता! असुर-भावापन्न महाअभिमानी बालिके स्थानपर दैवीसम्पत्तिवाले शरणागत सुग्रीवका ही वध हो जाता! क्योंकि प्रभुका बाण अमोघ है। इसलिये ऐसे धोखेके समय एक परम सम्भावित धर्मशील मनुष्यको कितनी सजगतासे काम लेना चाहिये, यही शिक्षा यहाँ प्रदान की गयी है; उन पात्रोंसे अपनेको छिपानेका कोई मुख्य उद्देश्य नहीं है। प्रभुके लीलाचरित्रोंका सुख तो मुख्यतः उन्हीं पात्रोंके लिये सफल होता है, जो श्रीभगवान्के ऐश्वर्यके अनुभवी होते हैं। यथा—'सो महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि एहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी॥' कारण कि 'सोउ जाने कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिबर दम-सीला॥' वस्तुतः श्रीभगवान्की माधुर्य-लीलाके परम अधिकारी वे ही हैं। 'सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥' मतलब यह कि जानकारोंको ही विशेष सुख मिलता है। जनकपुरमें विवाहमण्डपका प्रसङ्ग देखिये। वहाँ विप्रवेशधारी देवोंको श्रीप्रभुने पहचानकर मानसिक आसन दिया है। उनकी इस माधुर्य-लीला और शील-स्वभावको देखकर देवगण गद्गद हो रहे हैं और कहते हैं कि 'बड़ी साहबीमें नाथ बड़े सावधान हैं।' दीनोंपर इतनी दया और किसको हो सकती है। उदाहरणार्थ रामचरितमानस, बालकाण्ड, विवाह-प्रसङ्गका यह छन्द देखिये—

सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए।
अवलोकि सीलु सुभाउ प्रभु को बिबुध मन प्रमुदित भए॥

श्रीभगवान्के अवतार-चरित्र ऐश्वर्य और माधुर्यमिश्रित ही होते हैं। यदि केवल ईश्वरताकी लीला हो तो ईश्वर ही माने जायँ, केवल मनुष्यताकी लीला हो तो मनुष्य ही माने जायँ। अतः मिश्रित लीला ही अवतारको सूचित करती है। श्रीप्रभुका अवतार-चरित्र लोकदृष्टिसे एक सम्भावित नरका आदर्श दिखाना ही सूचित करता है; किसीसे छिपाव करनेका कोई तात्पर्य नहीं है, चाहे वह श्रीभगवान्को जानता हो या नहीं। पहले यह कहा जा चुका है कि जिनको प्रभुके स्वरूपका ज्ञान होता है, उन्हींको उनकी लीला और भी लाभकारी तथा सुखद होती है। प्रमाणमें और देखिये—

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख।

(६) समाधान—श्रीनारदजी परम भागवत (भगवद्भक्त) हैं। उनके लिये भगवान‌का यही विरद है कि जिसमें भक्तका हित होगा, वही वे करते रहेंगे। कभी ज्ञानी बनाकर भक्तका हित करते हैं तो कभी अज्ञानी बनाकर। ज्ञानी बनाकर माया-मोहकी निवृत्ति करते हैं और मूढ़ बनाकर अहङ्कारकी जड़ उखाड़ते हैं। परन्तु जगत्‌के अभक्त जीवोंके लिये इस प्रकारका उत्तरदायित्व न लेकर यही नियम बना दिया गया है कि—

'करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

केवल अपने प्रपन्न दासोंका भार प्रभुपर रहता है, अतः श्रीनारदजीके सम्बन्धमें श्रीशिवजीका उपर्युक्त वचन जगत्‌के सामान्य जीवोंके लिये नहीं, भक्तोंके लिये है।

(७) शङ्का—सुग्रीवसे भगवान् कह रहे हैं कि हरी निसिचर बैदेही।' परन्तु जानकीजीका हरण हुआ पञ्चवटीमें। फिर सुग्रीवसे इहाँ क्यों कहा गया?

(७) समाधान—'इहाँ' का अर्थ 'वन' से है। यथा—'हम पितु बचन मानि बन आए।' अर्थात् यहाँ वनमें आनेपर (पञ्चवटीमें) वैदेहीका हरण हो गया है। उन्हींको खोजते-खोजते हम किष्किन्धातक आये हैं—'बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।' अतः 'इहाँ' शब्दका तात्पर्य किष्किन्धासे न होकर वनसे ही है, जिसके एक भागमें पञ्चवटी अवस्थित था।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

सर गुरुदासकी कट्टरता

कलकत्ता हाईकोर्टके जज स्वर्गीय श्रीगुरुदास बनर्जी अपने आचार-विचार, खान-पानमें बड़े कट्टर थे। 'माडर्न रेव्यू' के गताङ्कमें श्रीअमलहोमने इस सम्बन्धमें उनके जीवनकी एक घटनाका उल्लेख किया है। लार्ड कर्जनके समय जो 'कलकत्ता-विश्वविद्यालय-कमीशन' नियुक्त हुआ था, उसके गुरुदास भी एक सदस्य थे। उसका कार्य समाप्त होनेपर शिमलेसे वे वाइसरायके साथ उनकी स्पेशलमें कलकत्ते जा रहे थे। कानपुरमें वाइसरायने उन्हें अपने डब्बेमें बुला भेजा। दोनोंमें बहुत देरतक कमीशनकी सिफारिशोंके सम्बन्धमें बातचीत होती रही, इतनेहीमें दोपहरके खानेका समय हो गया। वाइसरायने श्रीगुरुदाससे कहा कि 'जाइये, अब आप भी भोजन कीजिये।' उन्होंने इसके लिये धन्यवाद देते हुए कहा—'मैं रेलपर कुछ नहीं खाता।' यह सुनकर वाइसरायको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें विश्वास न हुआ। उन्होंने फिर पूछा तो उत्तर मिला—'मैं रेलपर कुछ गङ्गाजल रखता हूँ और केवल उसीको पीता हूँ।' इसपर वाइसरायने फिर पूछा 'तब फिर आपका लड़का क्या करेगा?' श्रीगुरुदासने कहा—'जबतक मैं उपवास करता हूँ, वह भला कैसे खा सकता है? घरकी बनी हुई उसके पास कुछ मिठाई है, भूख लगती है, तो वह उसे खा लेता है।' वाइसरायने कहा—'तो फिर मैं भी नहीं खाऊँगा, जबतक आप नहीं खाते। आगे किसी स्टेशनपर गाड़ी खड़ी रहेगी और वहाँ आप अपने नियमानुसार भोजन कर लें।' श्रीगुरुदासने बहुत समझाया कि इसकी आवश्यकता नहीं है, आपको कष्ट होगा। पर वाइसरायने एक भी न सुनी और अपने ए० डी० सी० (शरीर-रक्षक) को तुरत बुलाकर पूछा कि 'अगले किस स्टेशनपर गाड़ी खड़ी होगी?' उसने उत्तर दिया—'हुजूर, इलाहाबादमें।' वाइसरायने कहा—'अच्छी बात है, जबतक डाक्टर बनर्जीका भोजन नहीं हो जाता, हम वहीं ठहरेंगे।' प्रयाग स्टेशनपर स्पेशल रुक गयी, पिता-पुत्र दोनोंने जाकर सङ्गमपर स्नान किया और त्रिवेणी-तटकी रेतीपर दाल-भात बना-खाकर जब लौटे, तब कहीं गाड़ी आगे बढ़ी।

श्रीगुरुदास कहा करते थे कि जहाँ जिसके साथ, जो कुछ खा-पी लेनेसे जाति जाती है या नहीं, यह दूसरी बात है। पर इन नियमोंके पालनसे आत्मसंयम और अनुशासनकी कितनी अच्छी शिक्षा मिलती है, जिसका जीवनमें कुछ कम मूल्य नहीं है। नियमपालनमें किसीकी कट्टरता देखकर उसका उपहास भले ही किया जाय, पर हृदयमें उसके प्रति आदरभाव भी बिना जाग्रत् हुए न रहेगा। लार्ड कर्जन-सरीखे उद्दण्ड वाइसरायको भी इन कट्टर सनातनियोंके 'वहमों' का आदर करना पड़ा। परन्तु आजकल तो अनुशासन और संयमका कुछ मूल्य ही नहीं है। उनसे तो स्वतन्त्रता और सुखमें बाधा पड़ती है। आजकल तो जीवनका मन्त्र है—'स्वतन्त्रता और भोग', वैसा ही फल भी मिल रहा है। 'सिद्धान्त'

श्रीकौशल्याजीने नहीं कहा कि भरत हमारे कुलके दीप हैं । इसका क्या कारण है ?

(३) *समाधान*—श्रीकौशल्याजीने श्रीसुनयनाजीसे मिलनेपर उक्त वचन कहा है । यही प्रमाण है कि श्रीदशरथजीने उनसे बार-बार कई अवसरोंपर श्रीभरतजीको अपने कुलका दीपक बताया होगा । कब और किस अवसरपर कहा, यह ग्रन्थमें इसलिये नहीं वर्णित है कि कविश्रेष्ठ श्रीगोस्वामीजी कथाका अनावश्यक विस्तार न करके पहलेसे ही निश्चय कर चुके थे कि श्रीसुनयनाजीके मिलनेपर श्रीकौशल्याजीद्वारा इस बातका वर्णन करा देना ही पर्याप्त होगा । ऐसे प्रसङ्ग और भी हैं । यथा—'सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी । सब बिधि सुखद परम हित जानी ॥' यह बात अवधकाण्डके किसी स्थलमें न लिखकर लङ्काकाण्डके लक्ष्मण-मूर्छाप्रसङ्गमें ही खोली गयी है । और भी 'रामानुज लघु रेख खचाई । सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई ॥' यह बात वनकाण्डके सीताहरण-प्रसङ्गमें नहीं आयी है, परन्तु लङ्काकाण्डमें मन्दोदरीके द्वारा कहलवा दी गयी है—इत्यादि ।

(४) *शङ्का*—श्रीहनुमान्‌जीके विषयमें यह आता है कि उन्होंने शिशु-अवस्थामें सूर्यको गालमें रख लिया था—'बाल समै रवि भच्छ लियो तब तीनिहुँ लोक भयो अँधियारो ।' परन्तु देखा जाय तो सूर्यका व्यास पृथ्वीसे कई गुना बड़ा है तथा तेज भी असह्य है । फिर ऐसा करनेके लिये उन्होंने कितने योजनोंका मुँह फैलाया होगा ? ऐसे ही सञ्जीवनी लानेके समय वर्णन है कि 'सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा ।' यह कितने आश्चर्यकी बात है ? पहाड़की जड़ न जाने कितनी गहराईतक होती है और लंबाई-चौड़ाई भी कुछ कम नहीं होती । अतः तर्ककी कसौटीपर तो उनके सम्बन्धकी ये बातें नहीं जँचती हैं ।

(४) *समाधान*—श्रीहनुमान्‌जीके लिये श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्डमें यह प्रमाण है कि 'कवन सो काज कठिन जग माहीं । जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं ॥' श्रीरघुनाथजीका प्रताप 'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई' की अघटित घटना घटित करनेमें पटु है उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है । इसपर ध्यान देनेसे ऐसी शंका कदापि नहीं उठ सकती । क्योंकि वहाँतक तर्ककी पहुँच नहीं है—'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी ।'

(५) *शङ्का*—श्रीरामचरितमानसके लक्ष्मण-मूर्छा प्रसङ्गमें आता है कि श्रीहनुमान्‌जी लङ्कासे सुषेण वैद्यको उसके घरसमेत उठाकर लाये थे—'आनेहु भवन समेत तुरंता ।' तो क्या वे सचमुच उन्हें घरसहित उखाड़कर लाये थे ? और फिर काम हो जानेपर उनके घरको यथास्थान ले जाकर चिपका दिया था ? यही एक शङ्का और है । लङ्का सोनेकी थी, ऐसा बताया गया है । सोना अग्निमें तपकर पिघल जाया करता है । तब फिर जिस समय श्रीहनुमान्‌जीने लङ्का-दाह किया, उस समय राक्षसोंके घर पिघलकर बह क्यों नहीं गये ?

(५) *समाधान*—लङ्का-दाहके सम्बन्धमें श्रीरामचरितमानसमें जो कुछ कहा गया है, उसीको सत्य मानना चाहिये । क्योंकि वह मनुष्यकृत ग्रन्थ न होकर साक्षात् ईश्वरकृत अलौकिक ग्रन्थ है । उसमें रोचक, भयानक अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन न होकर अक्षर-अक्षर यथार्थ है । स्वयं ग्रन्थकार श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

'तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें ।'

(६) *शङ्का*—श्रीनारदजीके विषयमें श्रीशङ्करजीका उमाजीके प्रति यह वचन है—

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ ॥

यदि यही बात है तो फिर जीवोंको व्यर्थ ही 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इस पचड़ेमें क्यों पड़ना चाहिये ?

(६) *समाधान*—श्रीनारदजी परम भागवत (भगवद्भक्त) हैं। उनके लिये भगवान्‌का यही विरद है कि जिसमें भक्तका हित होगा, वही वे करते रहेंगे। कभी ज्ञानी बनाकर भक्तका हित करते हैं तो कभी अज्ञानी बनाकर। ज्ञानी बनाकर माया-मोहकी निवृत्ति करते हैं और मूढ़ बनाकर अहङ्कारकी जड़ उखाड़ते हैं। परन्तु जगत्‌के अभक्त जीवोंके लिये इस प्रकारका उत्तरदायित्व न लेकर यही नियम बना दिया गया है कि—

> 'करम प्रधान बिस्व करि राखा।
> जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

केवल अपने प्रपन्न दासोंका भार प्रभुपर रहता है, अतः श्रीनारदजीके सम्बन्धमें श्रीशिवजीका उपर्युक्त वचन जगत्‌के सामान्य जीवोंके लिये नहीं, बल्कि भक्तोंके लिये है।

(७) *शङ्का*—सुग्रीवसे भगवान् कह रहे हैं कि इहाँ हरी निसिचर बैदेही।' परन्तु जानकीजीका हरण तो था पञ्चवटीमें। फिर सुग्रीवसे इहाँ क्यों कहा गया?

(७) *समाधान*—'इहाँ' का अर्थ 'वन' से है यथा—'हम पितु बचन मानि बन आए।' अर्थात् वनमें आनेपर (पञ्चवटीमें) वैदेहीका हरण हो गया है। उन्हींको खोजते-खोजते हम किष्किन्धातक आये हैं—'बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।' अतः 'इहाँ' शब्दका तात्पर्य किष्किन्धासे न होकर वनसे ही है जिसके एक भागमें पञ्चवटी अवस्थित था।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

सर गुरुदासकी कट्टरता

कलकत्ता हाईकोर्टके जज स्वर्गीय श्रीगुरुदास बनर्जी अपने आचार-विचार, खान-पानमें बड़े कट्टर थे। 'माडर्न रिव्यू' के शताङ्कमें श्रीअमलहोमने इस सम्बन्धमें उनके जीवनकी एक घटनाका उल्लेख किया है। लार्ड कर्जनके समय जो 'कलकत्ता-विश्वविद्यालय-कमीशन' नियुक्त हुआ था, उसके गुरुदास भी एक सदस्य थे। उसका कार्य समाप्त होनेपर शिमलेसे वे वाइसरायके साथ उनकी स्पेशलमें कलकत्ते आ रहे थे। कानपुरमें वाइसरायने उन्हें अपने डब्बेमें बुला भेजा। दोनोंमें बहुत देरतक कमीशनकी सिफारिशोंके सम्बन्धमें बातचीत होती रही, इतनेहीमें दोपहरके खानेका समय हो गया। वाइसरायने श्रीगुरुदाससे कहा कि 'आइये, अब आप भी भोजन कीजिये।' उन्होंने इसके लिये धन्यवाद देते हुए कहा—'मैं रेलपर कुछ नहीं खाता।' यह सुनकर वाइसरायको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें विश्वास न हुआ। उन्होंने फिर पूछा तो उत्तर मिला—'मैं रेलपर कुछ गङ्गाजल रखता हूँ और केवल उसीको पीता हूँ।' इसपर वाइसरायने फिर पूछा 'तब फिर आपका लड़का क्या करेगा?' श्रीगुरुदासने कहा—'जबतक मैं उपवास करता हूँ, तब भला [illegible] सकता है? परन्तु [illegible] उसके पास कुछ मिठाई है, भूख लगती है, तो वह उसे खा लेता है।' वाइसरायने कहा—'तो फिर मैं भी नहीं खाऊँगा, जबतक आप नहीं खाते। आगे किसी स्टेशनपर गाड़ी खड़ी रहेगी और वहाँ आप अपने नियमानुसार भोजन कर लें।' श्रीगुरुदासने बहुत समझाया कि इसकी आवश्यकता नहीं है, आपको कष्ट होगा। पर वाइसरायने एक भी न सुनी और अपने ए० डी० सी० (शरीर-रक्षक) को तुरत बुलाकर पूछा कि 'अगले किस स्टेशनपर गाड़ी खड़ी होगी?' उसने उत्तर दिया—'हुजूर, इलाहाबादमें।' वाइसरायने कहा—'अच्छी बात है, जबतक डाक्टर बनर्जीका भोजन नहीं हो जाता, हम वहीं ठहरेंगे।' प्रयाग स्टेशनपर स्पेशल रुक गयी, जिसमें [illegible] इन्होंने अच्छी तरह स्नान किया और [illegible] दाल भात बना खाकर जब लौटे, तब कहीं गाड़ी आगे बढ़ी।

श्रीगुरुदास कहा करते थे कि [illegible] है। पर इन नियमोंके पालनमें आत्मबल और अनुशासनका [illegible] नहीं है। विश्वविद्यालयने [illegible] कट्टरता देखकर [illegible] बिना आगे [illegible] न रहेगा। लार्ड कर्जनको [illegible] पड़ा। परन्तु आजकल तो अनुशासन और [illegible] कुछ दूसरा ही [illegible] है। [illegible] है। आजकल तो [illegible] है—'स्वच्छन्दता और [illegible]', [illegible]। [illegible]

श्रीकौशल्याजीसे नहीं कहा कि भरत हमारे कुलके दीप हैं। इसका क्या कारण है?

(३) *समाधान*—श्रीकौशल्याजीने श्रीसुनयनाजीसे मिलनेपर उक्त वचन कहा है। यही प्रमाण है कि श्रीदशरथजीने उनसे बार-बार कई अवसरोंपर श्रीभरतजीको अपने कुलका दीपक बताया होगा। कब और किस अवसरपर कहा, यह ग्रन्थमें इसलिये नहीं वर्णित है कि कविश्रेष्ठ श्रीगोस्वामीजी कथाका अनावश्यक विस्तार न करके पहलेसे ही निश्चय कर चुके थे कि श्रीसुनयनाजीके मिलनेपर श्रीकौशल्याजीद्वारा इस बातका वर्णन करा देना ही पर्याप्त होगा। ऐसे प्रसङ्ग और भी हैं। यथा—'सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी॥' यह बात अवधकाण्डके किसी स्थलमें न लिखकर लङ्काकाण्डके लक्ष्मण-मूर्छाप्रसङ्गमें ही खोली गयी है। और भी 'रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई॥' यह बात वनकाण्डके सीताहरण-प्रसङ्गमें नहीं आयी है, परन्तु लङ्काकाण्डमें मन्दोदरीके द्वारा कहलवा दी गयी है—इत्यादि।

(४) *शङ्का*—श्रीहनुमान्‌जीके विषयमें यह आता है कि उन्होंने शिशु-अवस्थामें सूर्यको गालमें रख लिया था—'बाल समै रबि भच्छ लियो तब तीनिहुँ लोक भयो अँधियारो।' परन्तु देखा जाय तो सूर्यका व्यास पृथ्वीसे कई गुना बड़ा है तथा तेज भी असह्य है। फिर ऐसा करनेके लिये उन्होंने कितने योजनोंका मुँह फैलाया होगा? ऐसे ही सञ्जीवनी लानेके समय वर्णन है कि 'सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा।' यह कितने आश्चर्यकी बात है! पहाड़की जड़ न जाने कितनी गहराईतक होती है और लंबाई-चौड़ाई भी कुछ कम नहीं होती। अतः तर्ककी कसौटीपर तो उनके सम्बन्धकी ये बातें नहीं जँचती हैं।

(४) *समाधान*—श्रीहनुमान्‌जीके लिये श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्डमें यह प्रमाण है कि 'कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं॥' श्रीरघुनाथजीका प्रताप 'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई' की अघटित घटना घटित करनेमें पटु है। उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। इसपर ध्यान देनेसे ऐसी शंका कदापि नहीं उठ सकती। क्योंकि वहाँतक तर्ककी पहुँच नहीं है—'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।'

(५) *शङ्का*—श्रीरामचरितमानसके लक्ष्मण-मूर्छा प्रसङ्गमें आता है कि श्रीहनुमान्‌जी लङ्कासे सुषेण वैद्यको उसके घरसमेत उठाकर लाये थे—'आनेहु भवन समेत तुरंता।' तो क्या वे सचमुच उन्हें घरसहित उखाड़कर लाये थे? और फिर काम हो जानेपर उनके घरको यथास्थान ले जाकर चिपका दिया था? यहीं एक शङ्का और है। लङ्का सोनेकी थी, ऐसा बताया गया है। सोना अग्निमें तपकर पिघल जाया करता है। तब फिर जिस समय श्रीहनुमान्‌जीने लङ्का-दाह किया, उस समय राक्षसोंके घर पिघलकर बह क्यों नहीं गये?

(५) *समाधान*—लङ्का-दाहके सम्बन्धमें श्रीरामचरितमानसमें जो कुछ कहा गया है, उसीको सत्य मानना चाहिये। क्योंकि वह मनुष्यकृत ग्रन्थ न होकर साक्षात् ईश्वरकृत अलौकिक ग्रन्थ है। उसमें रोचक, भयानक अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन न होकर अक्षर-अक्षर यथार्थ है। स्वयं ग्रन्थकार श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

'तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें।'

(६) *शङ्का*—श्रीनारदजीके विषयमें श्रीशङ्करजीका उमाजीके प्रति यह वचन है—

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥

यदि यही बात है तो फिर नारदजीके प्रति ही [illegible]
'असमने? [illegible]' इत्यादि क्यों कहना पड़ा?

धान—श्रीनारदजी परम भागवत
। उनके लिये भगवान्‌का यही विरद
क्तका हित होगा, वही वे करते रहेंगे।
ाकर भक्तका हित करते हैं तो कभी
र । ज्ञानी बनाकर माया-मोहकी निवृत्ति
ूढ़ बनाकर अहङ्कारकी जड़ उखाड़ते हैं।
के अभक्त जीवोंके लिये इस प्रकारका
न लेकर यही नियम बना दिया गया

प्रधान बिस्व करि राखा ।
जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥

दने प्रपन्न दासोंका भार प्रभुपर रहता है,
नारदजीके सम्बन्धमें श्रीशिवजीका उपर्युक्त
वचन जगत्‌के सामान्य जीवोंके लिये नहीं, बल्कि
भक्तोंके लिये है ।

(७) शङ्का—सुग्रीवसे भगवान् कह रहे हैं कि 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही ।' परन्तु जानकीजीका हरण हुआ था पञ्चवटीमें । फिर सुग्रीवसे इहाँ क्यों कहा गया ?

(७) समाधान—'इहाँ' का अर्थ 'वन' से है । यथा—'हम पितु बचन मानि बन आए ।' अर्थात् यहाँ वनमें आनेपर (पञ्चवटीमें) वैदेहीका हरण हो गया है । उन्हींको खोजते-खोजते हम किष्किन्धातक आये हैं—'बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ।' अतः 'इहाँ' शब्दका तात्पर्य किष्किन्धासे न होकर वनसे ही है, जिसके एक भागमें पञ्चवटी अवस्थित था ।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

सर गुरुदासकी कट्टरता

कलकत्ता हाईकोर्टके जज स्वर्गीय श्रीगुरुदास बनर्जी अपने आचार-विचार, खान-पानमें बड़े कट्टर थे । 'माडर्न रेव्यू'
क्रमे श्रीअमलहोमने इस सम्बन्धमें उनके जीवनकी एक घटनाका उल्लेख किया है । लार्ड कर्जनके समय जो 'कलकत्ता-
ालय-कमीशन' नियुक्त हुआ था, उसके गुरुदास भी एक सदस्य थे । उसका कार्य समाप्त होनेपर शिमलेसे वे
ायके साथ उनकी स्पेशलमें कलकत्ते जा रहे थे । कानपुरमें वाइसरायने उन्हें अपने डब्बेमें बुला भेजा । दोनोंमें बहुत
कमीशनकी सिफारिशोंके सम्बन्धमें बातचीत होती रही, इतनेहीमें दोपहरके खानेका समय हो गया । वाइसरायने
रुदाससे कहा कि 'जाइये, अब आप भी भोजन कीजिये ।' उन्होंने इसके लिये धन्यवाद देते हुए कहा—'मैं रेलपर
नहीं खाता ।' यह सुनकर वाइसरायको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें विश्वास न हुआ । उन्होंने फिर पूछा तो उत्तर
ा—'मैं रेलपर कुछ गङ्गाजल रखता हूँ और केवल उसीको पीता हूँ ।' इसपर वाइसरायने फिर पूछा 'तब फिर आपका
का क्या करेगा ?' श्रीगुरुदासने कहा—'जबतक मैं उपवास करता हूँ, वह भला `से खा सकता है ! घरकी बनी हुई
के पास कुछ मिठाई है, भूख लगती है, तो वह उसे खा लेता है ।' वाइसरायने कहा—'तो फिर मैं भी नहीं खाऊँगा,
तक आप नहीं खाते । आगे किसी स्टेशनपर गाड़ी खड़ी रहेगी और वहाँ आप अपने नियमानुसार भोजन कर लें ।'
गुरुदासने बहुत समझाया कि इसकी आवश्यकता नहीं है, आपको कष्ट होगा । पर वाइसरायने एक भी न सुनी और अपने
[illegible]) को तुरत बुलाकर पूछा कि 'अगले किस स्टेशनपर गाड़ी खड़ी होगी ?' उसने उत्तर दिया—
[illegible] है, जबतक डाक्टर बनर्जीका भोजन नहीं हो जाता, हम वहीं
[illegible] स्नान किया और त्रिवेणी-तटकी रेतीपर दाउ-

भारतीय पञ्चाङ्ग

(लेखक—डा० श्रीहंसराज गुप्त एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सूर्य एवं चन्द्रमाकी ओर भूमण्डलके निवासियोंका ध्यान सभ्यताके आदिम युगसे ही, कदाचित् उससे भी पहलेसे, आकर्षित हुआ है। वेदमाता गायत्रीमें सूर्यदेवता (सविता) की ही स्तुति की गयी है। ईसामसीहसे कई हजार वर्ष पूर्व प्राचीन आर्योंके सूर्यकी ओर मुँह करके स्नान करने तथा सूर्यकी स्तुति करनेका वर्णन मिलता है। अब जब हमें यह ज्ञात हुआ है कि सूर्यकी रश्मियोंसे केवल प्रकाश ही नहीं अपितु प्रचुर मात्रामें प्राणशक्ति भी मिलती है, तब हमें आर्योंके ज्ञानका स्पष्टरूपमें पता चलता है।

सूर्य हमारे कालज्ञानका प्रधान साधन है। भूमध्य-रेखाके किसी भी स्थानमें दिन और रात्रिका परिमाण बराबर होता है। भूमध्यरेखापर एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकका समय सदैव समान रहता है। एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकके समयको एक *दिन* या अहोरात्र कहते हैं। हिंदुओंने दिनका विभाग इस प्रकार किया है—

६० घड़ी=१ दिन

६० पल=१ घड़ी

६० विपल=१ पल

उपर्युक्त गणनाके अनुसार १ विपल $\frac{2}{5}$ सेकंडके बराबर होता है। यह प्रसिद्ध है कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर अण्डाकार गति (Elliptic orbit) से घूमती है। जितने समयमें पृथ्वी सूर्यके चारों ओर एक चक्कर लगाती है, उतने समयको एक वर्ष कहते हैं। इसके परिमाणके सम्बन्धमें विभिन्न हिंदू ग्रन्थकारोंका यत्-किंचित् मतभेद है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके अनुसार एक पूरे चक्करमें अनुमानतः ३६५ दिन, १५ घड़ी, ३१ पल, ३१.४ विपल अर्थात् ३६५ दिन, ६ घंटे, [illegible] मिनट, ३६.५६ सेकंड या ३६५.२५८७५६४८ दिन लगते हैं। इस प्रकार, यदि पाश्चात्योंके निर्णयको यथार्थ माना जाय तो मालूम होगा कि हि[illegible] गणितज्ञ बिना किसी प्रकारके वैज्ञानिक यन्त्रोंकी सहायता के भी उक्त परिमाणके अत्यन्त समीप पहुँच गये। [illegible] के इर्दगिर्द ३० डिग्रीका चक्कर लगानेमें पृथ्वीको जितना समय लगता है, उसे एक मास कहते हैं। इस [illegible] परिमाण सदैव समान नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी [illegible] किसी एक केन्द्र (Focus) में रखकर अण्डाकार गतिसे घूमती है। सूर्य जब किसी नयी राशिमें प्रवेश करते हैं, तब नये मासका प्रारम्भ होता है। हिंदुओंने वैशाखसे प्रारम्भ करके प्रत्येक मासका अलग-अलग मान निश्चित किया है। इस प्रकार वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके अनुसार आषाढ़ मास ३१ दिन, १५ घंटे, २८ मिनट, २४ सेकंडका होता है और फाल्गुन मास २९ दिन, १९ घंटे, ४१ मिनट, १२ सेकंडका।

हिंदू-पद्धतिके अनुसार दिनका प्रारम्भ अर्द्धरात्रिसे न होकर सूर्योदयसे होता है। उज्जैन भारतका ग्रीनिच (Greenwich) है, जहाँसे देशान्तर-रेखा (longitude) की गणना प्रारम्भ होती है। सूर्यके किसी राशिमें प्रवेशका समय उज्जैनकी देशान्तर-रेखापर स्थित भूमध्य-रेखाके किसी स्थानपर होनेवाले सूर्योदयके आधारपर निर्धारित किया जाता है। जिस दिन सूर्य किसी राशिमें प्रवेश करते हैं, मासकी पहली तिथि उसी दिन मानी जाती है। इसीको संक्रान्ति-काल कहते हैं। इस प्रकार हिंदुओंका मास २९ से ३२ दिनका होता है। [illegible] होते हैं। इस प्रकार

भारतीय पञ्चाङ्ग

(लेखक—डा० श्रीहंसराज गुप्त एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सूर्य एवं चन्द्रमाकी ओर भूमण्डलके निवासियोंका ध्यान सभ्यताके आदिम युगसे ही, कदाचित् उससे भी पहलेसे, आकर्षित हुआ है। वेदमाता गायत्रीमें सूर्यदेवता (सविता) की ही स्तुति की गयी है। ईसामसीहसे कई हजार वर्ष पूर्व प्राचीन आर्योंके सूर्यकी ओर मुँह करके स्नान करने तथा सूर्यकी स्तुति करनेका वर्णन मिलता है। अब जब हमें यह ज्ञात हुआ है कि सूर्यकी रश्मियोंसे केवल प्रकाश ही नहीं अपितु प्रचुर मात्रामें प्राणशक्ति भी मिलती है, तब हमें आर्योंके ज्ञानका स्पष्टरूपमें पता चलता है।

सूर्य हमारे कालज्ञानका प्रधान साधन है। भूमध्य-रेखाके किसी भी स्थानमें दिन और रात्रिका परिमाण बराबर होता है। भूमध्यरेखापर एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकका समय सदैव समान रहता है। एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकके समयको एक दिन या अहोरात्र कहते हैं। हिंदुओंने दिनका विभाग इस प्रकार किया है—

६० घड़ी=१ दिन

६० पल=१ घड़ी

६० विपल=१ पल

उपर्युक्त गणनाके अनुसार १ विपल २ सेकंडके बराबर होता है। यह प्रसिद्ध है कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर अण्डाकार गति (Elliptic orbit) से घूमती है। जितने समयमें पृथ्वी सूर्यके चारों ओर एक चक्कर लगाती है, उतने समयको एक वर्ष कहते हैं। इसके परिमाणके सम्बन्धमें विभिन्न हिंदू [illegible] किंचित् मतभेद है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके अनुसार [illegible] पद्धतिमें अनुमानतः ३६५ दिन, १५ घ. ३१ पल, ३१.४ विपल अर्थात् ३६५ दिन, ६ घंटे, [illegible] मिनट, ३६.५६ सेकंड या ३६५.२५८७५६[illegible] दिन लगते हैं। इस प्रकार, यदि पाश्चात्योंके [illegible] निर्णयको यथार्थ माना जाय तो मालूम होगा कि हमारे गणितज्ञ बिना किसी प्रकारके वैज्ञानिक यन्त्रोंकी सहायता के भी उक्त परिमाणके अत्यन्त समीप पहुँच गये। सूर्य के इर्दगिर्द ३० डिग्रीका चक्कर लगानेमें पृथ्वीको [illegible] समय लगता है, उसे एक मास कहते हैं। इस [illegible] परिमाण सदैव समान नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी सूर्यको किसी एक केन्द्र (Focus) में रखकर अण्डाकार गतिसे घूमती है। सूर्य जब किसी नयी राशिमें प्रवेश करते हैं, तब नये मासका प्रारम्भ होता है। हिंदुओंने वैशाखसे प्रारम्भ करके प्रत्येक मासका अलग-अलग मान निश्चित किया है। इस प्रकार वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके अनुसार आषाढ़ मास ३१ दिन, १५ घंटे, २८ मिनट, २४ सेकंडका होता है और फाल्गुन मास २९ दिन, १९ घंटे, ४१ मिनट, १२ सेकंडका।

हिंदू-पद्धतिके अनुसार दिनका प्रारम्भ अर्धरात्रिसे न होकर सूर्योदयसे होता है। उज्जैन भारतका ग्रीनिच (Greenwich) है, जहाँसे देशान्तर-रेखा (longitude) की गणना प्रारम्भ होती है। सूर्यके किसी राशिमें प्रवेशका समय उज्जैनकी देशान्तर-रेखापर स्थित भूमध्य-रेखाके किसी स्थानपर होनेवाले सूर्योदयके [illegible] निर्धारित किया जाता है। जिस दिन सूर्य किसी राशिमें प्रवेश करते हैं, [illegible] दिन [illegible] है। [illegible] है। [illegible] दिनका [illegible] है। [illegible]

भारतीय पञ्चाङ्ग

(लेखक—डा० श्रीहंसराज गुप्त एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सूर्य एवं चन्द्रमाकी ओर भूमण्डलके निवासियोंका ध्यान सभ्यताके आदिम युगसे ही, कदाचित् उससे भी पहलेसे, आकर्षित हुआ है। वेदमाता गायत्रीमें सूर्यदेवता (सविता) की ही स्तुति की गयी है। ईसामसीहसे कई हजार वर्ष पूर्व प्राचीन आर्योंके सूर्यकी ओर मुँह करके स्नान करने तथा सूर्यकी स्तुति करनेका वर्णन मिलता है। अब जब हमें यह ज्ञात हुआ है कि सूर्यकी रश्मियोंसे केवल प्रकाश ही नहीं अपितु प्रचुर मात्रामें प्राणशक्ति भी मिलती है, तब हमें आर्योंके ज्ञानका स्पष्टरूपमें पता चलता है।

सूर्य हमारे कालज्ञानका प्रधान साधन है। भूमध्य-रेखाके किसी भी स्थानमें दिन और रात्रिका परिमाण बराबर होता है। भूमध्यरेखापर एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकका समय सदैव समान रहता है। एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकके समयको एक दिन या अहोरात्र कहते हैं। हिंदुओंने दिनका विभाग इस प्रकार किया है—

६० घड़ी=१ दिन

६० पल=१ घड़ी

६० विपल=१ पल

उपर्युक्त गणनाके अनुसार १ विपल २/५ सेकंडके बराबर होता है। यह प्रसिद्ध है कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर अण्डाकार गति (Elliptic orbit) से घूमती है। जितने समयमें पृथ्वी सूर्यके चारों ओर एक चक्कर लगाती है, उतने समयको एक वर्ष कहते हैं। इसके [illegible] परिमाणके सम्बन्धमें विभिन्न हिंदू [illegible] किंचित् मतभेद है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके अनुसार [illegible] एक पूरे चक्करमें अनुमानतः ३६५ दिन, १५ घं० ३१ पल, ३१.४ विपल अर्थात् ३६५ दिन, ६ घंटे, १२ मिनट, ३६.५६ सेकंड या ३६५.२५८७५[illegible] दिन लगते हैं। इस प्रकार, यदि पाश्चात्योंके निर्णयको यथार्थ माना जाय तो मालूम होगा कि हिंदू गणितज्ञ बिना किसी प्रकारके वैज्ञानिक यन्त्रोंकी सहायताके भी उक्त परिमाणके अत्यन्त समीप पहुँच गये। सूर्यके इर्दगिर्द ३० डिग्रीका चक्कर लगानेमें पृथ्वीको [illegible] समय लगता है, उसे एक मास कहते हैं। इस समयका परिमाण सदैव समान नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी [illegible] किसी एक केन्द्र (Focus) में रखकर अण्डाकार गतिसे घूमती है। सूर्य जब किसी नयी राशिमें प्रवेश करते हैं, तब नये मासका प्रारम्भ होता है। हिंदुओंने वैशाखसे प्रारम्भ करके प्रत्येक मासका अलग-अलग मान निश्चित किया है। इस प्रकार वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके अनुसार आषाढ़ मास ३१ दिन, १५ घंटे, २८ मिनट, २४ सेकंडका होता है और फाल्गुन मास २९ दिन, १९ घंटे, ४१ मिनट, १२ सेकंडका।

हिंदू-पद्धतिके अनुसार दिनका प्रारम्भ अर्द्धरात्रिसे न होकर सूर्योदयसे होता है। उज्जैन भारतका ग्रीनिच (Greenwich) है, जहाँसे देशान्तर-रेखा (longitude) की गणना प्रारम्भ होती है। सूर्यके किसी राशिमें प्रवेशका समय उज्जैनकी देशान्तर-रेखापर स्थित भूमध्य-रेखाके किसी स्थानपर होनेवाले सूर्योदयके [illegible] निर्धारित किया जाता है। जिस दिन सूर्य किसी राशिमें प्रवेश करते हैं, [illegible]

ाता है कि जहाँ अंग्रेजी महीनोंके दिनोंकी ळ मनमाने ढंगसे निश्चित की गयी है, हिंदू-नसंख्या वैज्ञानिक आधारपर निर्धारित की गयी के पञ्चाङ्गमें ३६६ दिनके वर्ष (leap year) कता नहीं होती।

र्षके अतिरिक्त, जिसके सम्बन्धमें ऊपर विचार है, हिंदुओंके यहाँ चान्द्र वर्ष भी होता है। मानोंके हिजरी सन्से मिलता-जुलता है। नका सम्बन्ध भी चन्द्रमासे है। चान्द्र वर्ष ५४ दिन, ८ घंटे ४८ मिनट और ३३.६ होता है। इस प्रकार चान्द्र वर्ष सौर वर्षकी अपेक्षा करीब ११ दिन छोटा होता है। तीन वर्षमें यह अन्तर एक माससे अधिक हो जाता है। सौर एवं चान्द्र वर्षों-का मेल बैठानेके लिये हिंदू प्रति तीसरे वर्ष चान्द्र वर्ष में एक अधिक मास जोड़ लेते हैं। इस प्रकार हिंदुओंके चान्द्र मासोंसे भी वर्षकी ऋतुओंका भली प्रकार अनुमान हो जाता है। सौर एवं चान्द्र दोनों ही वर्षोंका ज्येष्ठ सर्वदा गरम होता है। पौष सदा ही ठंढा रहता है। नीचे दी हुई तालिकासे विक्रमाब्द, ईसवी सन् तथा हिजरी सन्की किसी तारीखको कौन-सा दिन पड़ेगा, केवल यही बात नहीं मालूम होती बल्कि तीनों संवत्सरोंकी अलग-अलग तारीखका भी पता चल सकता है।

सार्वभौम पञ्चाङ्ग

द ईसवी सन् हिजरी सन्

तीनोंके लिये

कुंजी

§ १ (क) विक्रम संवत्‌के किसी वर्षकी अमुक तिथिको कौन-सा दिन पड़ा था या पड़ेगा, यह जाननेके लि

यह तिथि जिस मासकी हो, उस मासके सामने कोष्ठ १ में दी हुई संख्या तिथिकी संख्यामें जोड़ द ३६५·२५८७५६४८१ और वर्षकी संख्याका गुणनफल भी उसमें जोड़ दीजिये। यह गुणनफल कोष्ठ २ की सहा जिसमें नौकी संख्यातक ३६५·२५८७५६४८१ के गुणनफल दिये हुए हैं, जल्दी मालूम किया जा सकता है। योग पूर्ण संख्या (integer) को ७ से विभाजित कीजिये और शेष संख्याको कोष्ठ ३ में ढूँढ निकालिये, जिसमें वारोंके दिये हुए हैं।

(ख) हिजरी सन्‌के किसी सन्‌की अमुक तारीखको कौन-सा दिन पड़ा था या पड़ेगा, यह जाननेके लिये कोष्ठ के स्थानमें ४-५ का उपयोग करते हुए उपर्युक्त पद्धतिका अनुसरण कीजिये।

§ २ (क) विक्रम संवत्‌की किसी तिथिको ईसवी सन्‌की कौन-सी तारीख थी या पड़ेगी, यह जाननेके लिये § १ (क में प्राप्त पूर्ण संख्या (integer) मेंसे २०८२० का अन्तर निकालिये। अन्तरको १४६०९७ से विभाजित कीजिये, ब हुई संख्याको ३६५२४ से विभाजित कीजिये, इसके बाद भी जो कुछ बच रहे उसे १४६१ से विभाजित कीजिये और फि भी जो संख्या बचे उसे ३६५ से विभाजित कीजिये। यदि प्राप्त भजनफलोंको क्रमशः क, ख, ग, घ से निर्दिष्ट किया जा और बची हुई संख्याओंमेंसे अन्तिम संख्याको 'ङ' से निर्दिष्ट किया जाय—बशर्ते कि ङ शून्य न हो, ख और ग ३ से अधि न हों और ग २४ से अधिक न हो—तो जो तारीख हम मालूम करना चाहते हैं, वह ईसवी सन् (४०० क + १०० ख + ४ ग + घ) की पहली मार्चसे ङ वीं तारीख होगी।

इस सम्बन्धमें कोष्ठ ६ बहुत उपयोगी है। उसमें पहली मार्चसे लेकर अगले सभी मासोंकी पहली तारीखतककी दिन-संख्या दी गयी है।

इसकी विलोम प्रक्रिया उतनी ही सरल है।

(ख) हिजरी सन्‌की किसी तारीखको ईसवी सन्‌की कौन-सी तारीख थी या पड़ेगी, यह जाननेके लिये § १ (ख) में प्राप्त पूर्ण संख्यामें २२६९६६ जोड़ दीजिये और § २ (क) की प्रक्रियाका अनुसरण कीजिये। देखिये उदाहरण।

उदाहरण

संवत् १९५९ के आश्विनकी २४ वीं तारीखपर विचार कीजिये।

२४	२४
आश्विन	१६७·७२८१५०
१०००	३६५२५८·७५६४८१
९००	३२८७३२·८८०८३३
५०	१८२६२·९३७८२४
९	३२८७·३२८८०८
योग	७१५७३३·६३२०९७

शेष ४ (गुरुवार)

७१५७३३
२०८२०

१४६०९७) ६९४९१३ (४
३६५२४) ११०५२५ (३
१४६१) ९५३ (०
३६५) ९५३ (२
२२३

अतएव [illegible] १९०२

[illegible]
२२६९६६
[illegible]

इसे १४६०९७ से विभाजित करने पर भजनफल [illegible] आता है और शेष [illegible] बचता है। [illegible] तारीख [illegible] है।

प्रियतमसे—

(१)

अगम सिन्धुमें डगमग-डगमग होती मेरी नैया
आवो आवो पार लगाओ खेवनहार कन्हैया !
बीहड़ वनमें भटक रहा यह व्याकुल विपथ बटोही
निज मंजिलकी राह बता दो ओ प्रीतम निर्मोही !

(२)

जीवन-वन यह रस-विहीन-सा लगता सूना-सूना
धधक रहा रह-रहकर इसमें दुख-दावानल दूना
अन्तर्नभमें सुख-सावनकी सरस पवन बन डोलो
अपने रसकी नव रिम-झिमसे अब तो इसे भिगो लो

(३)

जगसे नाता तोड़ मोड़ मुख आकुल और उदासे
टेर रहे घनश्याम ! तुम्हें ही प्रान-पपीहे प्यासे
कितनी बार शरत्-पूनम है आ-आकर मुसकायी
किन्तु यहाँपर मोहन ! तुमने मुरली कहाँ बजायी !

(४)

क्षण-क्षणमें आशा होती है अब आये अब आये
छलक रहीं आँखें पल-पलमें पथपर पलक बिछाये
बाट जोहते युग बीता है, बढ़ती है बेहाली
कब आवोगे इस मधुवनमें ओ मेरे वनमाली !

(५)

बीत चला चुपके-चुपके ही यह मधुमास सलोना
कभी नहीं मुखरित हो पाया इस निकुंजका कोना
ओ मेरे मतवाले कोकिल ! आज मधुर रस घोलो
एक बार भी तो तुम आकर इस डालीपर बोलो

(६)

बड़ी साधसे राह देखती बनकर गोपकि...
मेरे घरमें आज कन्हैया ! हो माखनकी ...
भाव-भरी चंचल चितवनसे मुझे लुभाने आवो
मुरलीके स्वर-संकेतोंमें मुझे बुलाने आवो

(७)

मेरी बुनी हुई चीज़ोंको तुम उधेड़ने आवो
पग-पगपर मेरे मनमोहन ! मुझे छेड़ने आवो
मुसकाते मुखचन्द्र मनोरम लिये नयन मधुमाते
मन्दिरमें मेरे तुम आकर करो सरस रस-बातें

(८)

जड़-जंगममें दीख रहे तुम व्याप्त व्योममें तुम हो
मन-प्राणोंमें तुम्हीं प्राणधन ! रोम-रोममें तुम हो
तो भी दृगको सुलभ तुम्हारी क्यों न हुई छविछाया ?
कैसा जादू ओ मायावी ! कैसी है यह माया ?

(९)

व्यथा-वेदना मेरी तुमसे जाकर कौन बताये
कंठागत पागल प्राणोंको कौन आज समझाये ?
क्या तुमसे है छिपा जगत्‌में बोलो घट-घटवासी
जान जान अनजान हुए तुम बैठ बने उदासी ?

(१०)

आज तुम्हारे लिये वृत्तियाँ अन्तरकी मचली हैं
आज विरहिणी तड़प रही ज्यों जल-विहीन मछली है
आज मिलनकी तीव्र लालसा जाग उठी प्राणोंमें
दृगमें पानी लिये प्रज्वलित आग उठी प्राणोंमें

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

सारङ्गपद*

(श्रीरामचन्द्र)

(प्रेषक—श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा, बी० ए०)

विहरत चित्रकूट गिरि राम लखन सिय सङ्ग ॥(अन्तरा ॥)
तिहि वन किय ऋतुनायक आगम धरि हरि दरस उमङ्ग।
सङ्ग अनङ्ग सौंज्ञ लहि सुन्दर निरखिय राम अभङ्ग ॥ १ ॥
रुचिर विचित्र सिला सिंहासन छत्र विटप बहुरङ्ग।
सौरभ कलित ललित विजना गति चलत सदागति (पवन) सङ्ग॥ २ ॥
हिलत नमित सित कुसुमित शाखा चलत सुचामर ढङ्ग।
ध्वज जिमि ताल तमाल महातरु सूचत विजय अभङ्ग ॥ ३ ॥
मरकत रङ्ग तरुन तरु किसलय सुमन जवाहर पुङ्ग।
गुच्छ अनार डार कचनारन सहकारन बहुरङ्ग ॥ ४ ॥
अलिकुल सङ्कुल करत कुतूहल चौकी भरत सुढङ्ग।
किलकुल कोकिल कल कृत सुन्दर वन्दी जन मदभङ्ग ॥ ५ ॥
अनगिन चित्र विचित्र विहङ्गम स्वन सुनि पुलकत अङ्ग।
तेइ मनु चङ्ग उपङ्ग मुरज धर वीना वेनु मृदङ्ग ॥ ६ ॥
निरमल मधुर सीत जल लहरत प्रतिसर तरल तरङ्ग।
निरझर ढरत झरत उछरत जल स्वच्छ करत नग शृङ्ग ॥ ७ ॥
प्रफुलित कञ्ज मञ्जु मकरन्दित इमि शोभित जलसङ्ग।
कुम्पी कनक किये करि किङ्करि पङ्कित कुङ्कुम रङ्ग ॥ ८ ॥
भ्रम पुष्कर पुष्कर करि करखत उदित पतङ्ग मतङ्ग।
अति गति तरल तुरङ्गहि तरजत विविध विचित्र कुरङ्ग ॥ ९ ॥
आयुधशृङ्ग नखन धरि मृगभट मृगपति अति बल सङ्ग।
वन-वन भ्रमत रमत नित निरखत रघुवर चरन सुरङ्ग ॥ १० ॥
मुकुट जटा मण्डित नव पल्लव कुण्डल कुसुमन तुङ्ग।
धनु कर वाम विशिख कर दक्षिन कटितट कसिय निषङ्ग ॥ ११ ॥
रन विच कठिन मृदुल करपङ्कज रचत कुसुम सिय अङ्ग।
रघुवर रूप अनूप निहारत भो अनङ्ग गति भङ्ग ॥ १२ ॥
लहि रतिराज मित्र ऋतुराजहि परि प्रभु चरन अभङ्ग।
दशरथ राजकुमारहिं अर्पित राजविभूति अनङ्ग ॥ १३ ॥
रघुवर चरन कमल जग जीवन रज मधु आश्रय भृङ्ग।
'जीवन' चहत सदा यहि जीवन जिन जीव न मनभृङ्ग ॥ १४ ॥

---

* बूँदी—राजपूतानाके भूतपूर्व दीवान, [illegible] नागर (जन्म सं० १८७०—मृत्यु १९२६) [illegible]

साधु

(रचयिता—श्रीजगदीशशरणसिंहजी एम्० ए० (प्रथम))

(१)

असनके लिए विविध फल-मूल,
तृप्तिके अर्थ सुधा-जल-पान।
शयनके हेतु धरा विस्तीर्ण,
वसन है वल्कलका परिधान॥
आज करके धन-मधुका पान,
हो रहे जो उन्मत्त अतीव।
विनयका उनसे शिष्टाचार,
करें क्यों, प्रकृति-विहारी जीव॥

(२)

वल्कलोंसे हम हैं परितुष्ट,
दुकूलोंसे तुमको सन्तोष।
हमें सुन्दरतासे क्या काम,
तुल्य है दोनोंका परितोष॥
दरिद्री है वह व्यक्ति अवश्य,
सदा जिसमें तृष्णा सुविशाल।
हृदयमें होनेपर सन्तोष,
कौन है रंक कौन भूपाल॥

(३)

धराकी शय्या है रमणीक,
और वल्कल हैं शुभ उपधान।
व्यजन अनुकूल अनिलका नित्य,
व्योम है सुन्दर महा वितान॥
चन्द्रका उज्ज्वल दीप अखंड,
विरति वनिताका सुख-सहवास।
धन्य हैं मुनि, भूपतिके तुल्य,
किया करते हैं, शान्त-निवास॥

(४)

सुधाकरकी किरणें हैं रम्य,
रम्य है तृण संकुल वनप्रान्त।
रम्य है साधु समागम मोद,
रम्य है काव्य-कला कल कान्त॥
रम्य है रमणीका मुख कंज,
कोपके अश्रु-बिन्दुसे युक्त।
विरागी मेरा मन है किन्तु,
सभीके आकर्षणसे मुक्त॥

(५)

व्याल हो अथवा हो धन-माल,
मित्र हो अथवा रिपु बरिबंड।
मृत्तिका या कंचनकी राशि,
कुसुम शय्या या प्रस्तर खंड॥
एक तृण, अथवा तरुणी नारि,
हमारी हो सबमें सम-दृष्टि।
पुण्य वनमें शिव शिवका जाप,
अहर्निश शुभ-मंगलकी वृष्टि॥

(राजर्षि भर्तृहरिके श्लोकोंका भावानुवाद)

सारङ्गपद*

(श्रीरामचन्द्र)

(प्रेषक—श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा, बी० ए०)

विहरत चित्रकूट गिरि राम लखन सिय सङ्ग ॥ (अन्तरा ॥)
तिहि बन किय ऋतुनायक आगम धरि हरि दरस उमङ्ग ।
सङ्ग अनङ्ग साँझ लहि सुन्दर निरखिय राम अभङ्ग ॥ १ ॥
रुचिर विचित्र सिला सिंहासन छत्र विटप बहुरङ्ग ।
सौरभ कलित ललित बिजना गति चलत सदागति (पवन) सङ्ग ॥ २ ॥
हिलत नमित सित कुसुमित शाखा चलत सुचामर ढङ्ग ।
ध्वज जिमि ताल तमाल महातरु सूचत विजय अभङ्ग ॥ ३ ॥
मरकत रङ्ग तरुन तर किसलय सुमन जवाहर पुञ्ज ।
गुच्छ अनार डार कचनारन सहकारन बहुरङ्ग ॥ ४ ॥
अलिकुल सङ्कुल करत कुतूहल चौकी भरत सुढङ्ग ।
किलकुल कोकिल कल कृत सुन्दर बन्दी जन मदभङ्ग ॥ ५ ॥
अनगिन चित्र विचित्र विहङ्गम रुन सुनि पुलकत अङ्ग ।
तेइ मनु चङ्ग उपङ्ग मुरज वर बीना वेनु मृदङ्ग ॥ ६ ॥
निरमल मधुर सीत जल लहरत प्रतिसर तरल तरङ्ग ।
निरझर ढरत झरत उछरत जल स्वच्छ करत नग शृङ्ग ॥ ७ ॥
प्रफुलित कञ्ज मञ्जु मकरन्दित इमि शोभित जलसङ्ग ।
कुम्पी कनक किये करि किङ्करि पङ्कित कुङ्कुम रङ्ग ॥ ८ ॥
भृम पुष्कर पुष्कर करि करखत उदित पतङ्ग मतङ्ग ।
अति गति तरल तुरङ्गहि तरजत विविध विचित्र कुरङ्ग ॥ ९ ॥
आयुधशृङ्ग नखन धरि मृगभट मृगपति अति बल सङ्ग ।
बन-बन भ्रमत रमत नित निरखत रघुबर चरन सुरङ्ग ॥ १० ॥
मुकुट जटा मण्डित नव पल्लव कुण्डल कुसुमन तुङ्ग ।
धनु कर बाम विसिख कर दक्षिन कटितट कसिय निषङ्ग ॥ ११ ॥
रन बिच कठिन मृदुल करपङ्कज रचत कुसुम सिय अङ्ग ।
रघुबर रूप अनूप निहारत भो अनङ्ग गति भङ्ग ॥ १२ ॥
लहि रतिराज मित्र ऋतुराजहि परि प्रभु चरन अभङ्ग ।
दसरथ राजकुमारहिं अर्पित राजविभूति अनङ्ग ॥ १३ ॥
रघुबर चरन कमल जग जीवन रज मधु भाभय गङ्ग ।
'जीवन' चहत सदा यहि जीवन बिन और न मन-भृङ्ग ॥ १४ ॥

सम्पन्न गृहस्थके घरमें भी उस व्यापक राजशक्तिके बलसे चोर घुसनेका साहस नहीं करता। उसी प्रकार विश्वव्यापिनी इस अलौकिक धर्मशक्तिके शासनसे अनन्तकोटि विश्व-ब्रह्माण्ड धृत और रक्षित होते हैं।

यही हमारे शास्त्रोक्त धर्मका सार्वभौम लक्षण है। संसारके सभी धर्मोंका, धर्मके इस विराट् लक्षणमें अन्तर्भाव हो जाता है। किसी भी दूसरे धर्ममें 'धर्म' का ऐसा महान् लक्षण नहीं पाया जाता। परन्तु इस लक्षणसे धर्मके विषयमें हम मनुष्योंका कोई कर्तव्य-निर्देश नहीं होता, इसलिये शास्त्रोंमें धर्मका दूसरा लक्षण यह बतलाया है कि—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिक दर्शन)

'जिसके द्वारा इहलोक तथा परलोकमें उन्नति और मोक्षकी प्राप्ति हो, उसका नाम धर्म है।' महर्षि वेदव्यासजीने भी महाभारतमें लिखा है—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम्॥

'धर्मके द्वारा ही समस्त जीव क्रमोन्नति लाभ करते हुए अन्तमें परम पदको प्राप्त करते हैं। सारे जीव प्रकृतिके निम्नतम स्तरमें उत्पन्न होकर ईश्वरकी शक्तिके प्रभावसे धीरे-धीरे वृद्धि और उन्नतिको प्राप्त करके अन्तमें परब्रह्ममें लीन होकर मुक्त हो जाते हैं।'

मूल प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण समपरिमाणमें रहते हैं। जब उसमें रजोगुणकी वृद्धि होती है तभी सृष्टि होने लगती है, परन्तु रजोगुणकी सृष्टि जड सृष्टि है; उसमें केवल पञ्चभूत ही उत्पन्न होते हैं। सत्त्वगुण प्रकाशशील है, इसलिये उसमें चेतन परमात्माका प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति है। प्रकृतिमें सत्त्वगुणका प्राधान्य होनेसे जीवकी सृष्टि होने लगती है। सत्त्वगुणमें परमात्माका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उसकी जीव संज्ञा होती है और उसमें क्रिया-शक्ति तथा ज्ञानशक्तिका विकास होता ०
सत्त्वगुण बहुत ही मलिन अवस्थामें रहता
वृक्ष, लता, पर्वत आदिमें। ये उद्भिज्ज हैं।
को भेदकर उत्पन्न होनेके कारण ही इनका उ
नाम पड़ा है। इस योनिमें जीव २० लाख बार उत्
होकर स्वेदज योनिमें आ जाता है। जो स्वेद
पसीनेसे कृमि, कीट, मच्छर आदि उत्पन्न होते हैं, उ
स्वेदज कहते हैं। इस योनिमें ११ लाख बार उत्
होकर जीव पक्षी, साँप, मछली आदिकी अण्डजयोनि
आ जाता है। अण्डेसे उत्पन्न होनेके कारण ही इन
नाम अण्डज है। इन योनियोंमें १९ लाख बार उत्
होकर जीव जरायुज पशुयोनिमें आ जाता है। जराय
उत्पन्न होनेके कारण इनका नाम जरायुज है। ३
लाख बार क्रमशः उन्नततर इन जरायुजयोनियोंमें उत्
होता हुआ जीव वानरयोनिमें आ जाता है। चार ल
बार इस योनिमें जन्म होनेके बाद जीव मनुष्ययोनि
आकर उत्पन्न होता है। मनुष्योंमें भी असभ्य, अस्पृ
शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि क्रमसे उन्नत
शरीरोंमें उत्पन्न होता हुआ जीव मुक्तिका अधिक
होता है। जीवकी क्रमोन्नतिका यह सिलसिला ध
शक्तिके प्रभावसे ही अक्षुण्ण रहता है।

हमारे शास्त्रोक्त धर्मका यह दूसरा लक्षण
संसारके समस्त जीवोंमें व्यापक है। कोई भी धर्म इस
पृथक् नहीं है; परन्तु इस लक्षणसे भी धर्मके सम्बन्ध
हमारा कर्तव्य क्या है, यह निश्चित नहीं हुआ। इ
कारण धर्मका यह तीसरा लक्षण करना पड़ा कि, जि
कर्मोंसे धर्मकी इस उन्नतिशील क्रियामें सहायता ह
क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि हो और किसी दूसरे धर
बाधा न पहुँचे वही धर्म है। हमारे शास्त्रोंमें यज्ञ, हो
दान, तप, सन्ध्यावन्दन, परोपकार, अतिथिसेवा आ
जिन कर्मोंका विधान है वे सभी धर्मकी इस उन्नतिशी
क्रियाके सहायक हैं। एक बालक बढ़ रहा है। भोज

धर्मकी सार्वभौमिकता

(लेखक—पण्डित श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री)

हमारे शास्त्रोंमें सर्वत्र 'धर्म' शब्दका ही प्रयोग हुआ है। उसके साथ कोई विशेषण नहीं दिया गया है। विशेषण देनेसे असीम वस्तु ससीम हो जाती है। जैसे 'फूल' कहनेसे विश्वब्रह्माण्डके सारे फूल समझे जाते हैं; परन्तु 'लाल फूल' या 'सफेद फूल' कहनेसे फूलोंका एक सीमित स्वरूप ही मालूम होता है, उसी प्रकार 'धर्म' कहनेसे संसारके सारे धर्मोंका उसमें अन्तर्भाव हो जाता है और 'बौद्धधर्म', 'जैनधर्म', 'हिन्दूधर्म' आदि कहनेसे हमारे शास्त्रोक्त सार्वभौम 'धर्म'के एक अंशका ही बोध होता है। यद्यपि मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें—'एष धर्मः सनातनः'—कहकर कहीं-कहीं 'धर्म' शब्दके साथ 'सनातन' शब्द जोड़ दिया है, परन्तु उस सनातन शब्दसे 'धर्म' सीमित नहीं हुआ है, बल्कि उससे 'धर्म'का महत्त्व ही बढ़ गया है क्योंकि उसका अर्थ है कि—'यही धर्म सनातन अर्थात् अनादि है।'

हमारा सार्वभौम धर्म विश्वब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्यापक है। 'धृ' धातुसे बननेके कारण 'धर्म' शब्दका अर्थ है—'जो सब वस्तुओंको धारण करता है' अथवा 'जिससे संसारकी सारी वस्तुएँ धृत या रक्षित होती हैं।' नारायण-उपनिषद्में लिखा है—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

'धर्म ही समस्त संसारकी स्थितिका मूल है।' महाभारतने महर्षि वेदव्यासजीने लिखा है—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

'धारण करता है, [illegible] है, [illegible] धर्म ही प्रजाओंको धारण करता है, [illegible]करनेकी शक्ति हो वही धर्म है।' तन्त्रमें लिखा है—

या बिभर्ति जगत्सर्वं ईश्वरेच्छा ह्यलौकिकी।
सैव धर्मो हि सुभगे नेह कश्चन संशयः॥

'ईश्वरकी इच्छारूप जो अलौकिक महाशक्ति जगत्को धारण करती है, वही 'धर्म' है।'

ईश्वर ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्यापक हैं, [illegible] शक्ति भी सर्वपदार्थोंमें व्याप्त है। उस शक्तिसे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—ये पाँच भूत [illegible] इनसे बने सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, पशु, [illegible] कीट, पतंग, वृक्ष, लता, नदी, [illegible] अपनी-अपनी अवस्थामें स्थित हैं। [illegible] प्रापर्टी (Property) भी कहते हैं। [illegible] रहे तो क्षणभरमें संसारका प्रलय हो जा सकता है। पृथ्वीमें यह धारिका शक्ति न रहती तो [illegible] गलकर जल हो जाती या हवा होकर उड़ जाती। [illegible] प्रकार 'धर्म' की इस धारिका शक्तिके न रहने [illegible] संसारकी कोई वस्तु या कोई जीव [illegible] अवस्थामें स्थित नहीं रह सकता। [illegible] इस धर्म-शक्तिके सामने—

[illegible]
[illegible]

गृहस्थके घरमें भी उस व्यापक राजशक्तिके ...र दुर्बलका शासन नहीं करता । उसी प्रकार ...र्वव्यापिनी इस अलौकिक धर्मशक्तिके शासनसे ...कोटि विश्व-ब्रह्माण्ड धृत और रक्षित होते हैं ।

...ी हमारे शास्त्रोक्त धर्मका सार्वभौम लक्षण है । ...के सभी धर्मोंका, धर्मके इस विराट् लक्षणमें ...त्र हो जाता है । किसी भी दूसरे धर्ममें 'धर्म' ...का महान् लक्षण नहीं पाया जाता । परन्तु इस ...से धर्मके विषयमें हम मनुष्योंका कोई कर्तव्य- ... नहीं होता, इसलिये शास्त्रोंमें धर्मका दूसरा ... यह बतलाया है कि—

...तोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।
(वैशेषिक दर्शन)

...जिसके द्वारा इहलोक तथा परलोकमें उन्नति और ...की प्राप्ति हो, उसका नाम धर्म है ।' महर्षि ...व्यासजीने भी महाभारतमें लिखा है—

...प्यति निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह ।
...विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम् ॥

'धर्मके द्वारा ही समस्त जीव क्रमोन्नति लाभ करते ... अन्तमें परम पदको प्राप्त करते हैं । सारे जीव ...तिके निम्नतम स्तरमें उत्पन्न होकर ईश्वरकी शक्तिके ...वसे धीरे-धीरे वृद्धि और उन्नतिको प्राप्त करके ...में परब्रह्ममें लीन होकर मुक्त हो जाते हैं ।'

मूल प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ...परिमाणमें रहते हैं । जब उसमें रजोगुणकी वृद्धि ...ती है तभी सृष्टि होने लगती है, परन्तु रजोगुणकी ...ह जड सृष्टि है; उसमें केवल पञ्चभूत ही उत्पन्न ...ते हैं । सत्त्वगुण प्रकाशशील है, इसलिये उसमें ...ान परमात्माका प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति है । ...कृतिमें ... जीवकी सृष्टि ... प्रतिबिम्ब ...में क्रिया-

...शक्ति तथा ज्ञानशक्तिका विकास होता है ... सत्त्वगुण बहुत ही मलिन अवस्थामें रह... वृक्ष, लता, पर्वत आदिमें । ये उद्भिज ... को भेदकर उत्पन्न होनेके कारण ही इनका नाम पड़ा है । इस योनिमें जीव २० लाख बार उत... होकर स्वेदज योनिमें आ जाता है । जो स्वेद... पसीनेसे कृमि, कीट, मच्छर आदि उत्पन्न होते हैं, उ... स्वेदज कहते हैं । इस योनिमें ११ लाख बार उत... होकर जीव पक्षी, साँप, मछली आदिकी अण्डजयोनि... आ जाता है । अण्डेसे उत्पन्न होनेके कारण ही इन... नाम अण्डज है । इन योनियोंमें १९ लाख बार उत... होकर जीव जरायुज पशुयोनिमें आ जाता है । जरा... उत्पन्न होनेके कारण इनका नाम जरायुज है । ... लाख बार क्रमशः उन्नततर इन जरायुजयोनियोंमें उत... होता हुआ जीव वानरयोनिमें आ जाता है । चार ... बार इस योनिमें जन्म होनेके बाद जीव मनुष्ययोनि... आकर उत्पन्न होता है । मनुष्योंमें भी असभ्य, अस्पृ... शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि क्रमसे उन्नत शरीरोंमें उत्पन्न होता हुआ जीव मुक्तिका अधिक... होता है । जीवकी क्रमोन्नतिका यह सिलसिला ध... शक्तिके प्रभावसे ही अक्षुण्ण रहता है ।

हमारे शास्त्रोक्त धर्मका यह दूसरा लक्षण संसारके समस्त जीवोंमें व्यापक है । कोई भी धर्म इ... पृथक् नहीं है; परन्तु इस लक्षणसे भी धर्मके सम्बन्... हमारा कर्तव्य क्या है, यह निश्चित नहीं हुआ । ... कारण धर्मका यह तीसरा लक्षण करना पड़ा कि, ... कर्मोंसे धर्मकी इस उन्नतिशील क्रियामें सहायता ... क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि हो और किसी दूसरे ध... बाधा न पहुँचे वही धर्म है । हमारे शास्त्रोंमें यज्ञ, हो... दान, तप, सन्ध्यावन्दन, परोपकार, अतिथिसेवा आ... जिन कर्मोंका विधान है वे सभी धर्मकी इस उन्नतिशी... क्रियाके सहायक हैं । एक बालक बढ़ रहा है । भोज...

पान देकर उसकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाना धर्म है। दूसरी ओर हत्या करके उसकी उन्नतिमें बाधा पहुँचाना अधर्म या पाप है। इसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें जिन-जिन कर्मोंका विधान है सभीसे जीवोंकी उन्नतिमें सहायता पहुँचती है।

धर्म क्या है—इसका निष्कर्ष महर्षि वेदव्यासजीने पितामह भीष्मदेवके मुखसे कहलाया था।

कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें पितामह भीष्म शरशय्यापर लेटे हुए थे। युधिष्ठिर आदि पाण्डव उनसे अन्तिम उपदेश लेनेके लिये उनके पास पहुँचे। श्रीकृष्ण, द्रौपदी आदि भी साथमें थे। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदिके विषयके उपदेश सुननेके पश्चात् युधिष्ठिरने धर्मका संक्षिप्त लक्षण पूछा। उसके उत्तरमें महात्मा भीष्मदेवने कहा—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'अपनेको बुरा लगे ऐसा बर्ताव दूसरेसे नहीं करना चाहिये। यही धर्मका सारसर्वस्व है।'

भीष्मदेवका यह उपदेश सुना तो सभीने था, पर उसे कार्यरूपमें परिणत किया था केवल द्रौपदीने।

कुरुक्षेत्र-युद्धके अन्तमें सारे कौरवोंके मारे जानेके अनन्तर राजा दुर्योधन ह्रदमें जा छिपे थे। गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामा खोजते-ढूँढ़ते उनके पास पहुँच गये। उन्होंने राजाको सान्त्वना देते हुए कहा—'मित्र! तुम शोक न करो। तुम्हारे [illegible] गये हैं, उनके बदले आज रातको मैं [illegible] पाण्डवोंके सिर काटकर तुम्हारे सामने ला दूँगा।'

रातको अश्वत्थामा पाण्डवोंके शिविरमें [illegible] [illegible]

काट ले गये। राजा दुर्योधनके पास पहुँचनेपर उन्होंने अँधेरेमें एक-एक सिर हाथमें लेकर दबाया। बालकोंके सिर महाबली दुर्योधनके हाथके दबावसे टूट गये। अन्तमें उन्होंने भीमका सिर माँगा। दबावसे वह भी टूट गया। तब उनके मनमें सन्देह हुआ कि जिस महाबली भीमका सिर अस्सी मन वजनकी लोहेकी गदाके प्रहारसे न टूटा वह आज हाथके दबावसे टूट गया! राजाको निश्चय हो गया कि ये पाण्डवोंके सिर नहीं हैं बल्कि उनके पुत्रोंके सिर हैं। तब उन्होंने विलाप करते हुए कहा—'हाय! हाय! गुरुपुत्र! तुमने यह क्या किया! मेरे वंशका तो नाश हो ही गया है। अब तुमने पाण्डवोंके कुलका भी नाश [illegible] दिया। तुम हमारे सामनेसे हट जाओ।'

प्रातःकाल पुत्रोंके सिर कटे पड़े देखकर द्रौपदी रोने लगी। पाँचों पाण्डव वहाँ आ पहुँचे। पुत्रोंकी मृत्युका कारण कोई भी न समझ सके। श्रीकृष्णने बताया कि—'कौरव-पक्षमें केवल दुर्योधन और अश्वत्थामा ही जीवित हैं। दुर्योधन भाग गया है इस कारण उसका मित्र अश्वत्थामा ही उसे प्रसन्न करनेके लिये पाण्डव समझकर तुम्हारे पुत्रोंके सिर काट ले गये हैं।'

अपने ही गुरुके पुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अपने [illegible] पुत्रोंकी हत्याकी बात सुनकर अर्जुन [illegible]—'द्रौपदी! तुम मत रोओ, अश्वत्थामाने, [illegible]

[illegible]

नहीं है। अश्वत्थामा कोई ऐसा बड़ा वीर नहीं है कि मैं अकेला उसे पकड़ न ला सकूँ।'

श्रीकृष्ण राजी न हुए। वे अर्जुनके साथ ही चल दिये। अर्जुनने द्वैपायन ह्रदके पास जाकर अश्वत्थामाको पकड़ लिया। श्रीकृष्णने कहा,—'बस अब झट इसका सिर काट डालो।'

अर्जुनने कहा—'नहीं, मैंने प्रतिज्ञा की है कि द्रौपदीके सामने ले जाकर इसे काटूँगा।'

श्रीकृष्णने हँसते हुए कहा—'तब तो तुम काट चुके।'

अर्जुनने उनका कहना न माना। वे अश्वत्थामाको पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये। अपनी आसन्न-मृत्यु समझकर अश्वत्थामा रो रहे थे, अर्जुनने अश्वत्थामाके सिरके बाल अपने बायें हाथसे पकड़ रक्खे थे और उनके दाहिने हाथमें नंगी तलवार थी। अश्वत्थामा देखते ही द्रौपदीके मनमें अपने पुत्रोंका शोक आया। उन्होंने अर्जुनसे कहा—

> मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः।
> मा रोदि तस्य जननी गौतमी पतिदेवता॥

'छोड़ दो, इसे छोड़ दो, ब्राह्मण पूज्य हैं, मैं जि प्रकार अपने पुत्रोंके शोकसे रो रही हूँ वैसे इनकी मा पतिपरायणा गौतमी न रोये।'

अन्तमें अर्जुनको उन्हें छोड़ ही देना पड़ा। द्रौप ने 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—य इस सार उपदेशको अपने जीवनमें चरितार्थ कर दिखाय

यदि हम सब भी धर्मके इस एक उपदेश प्रतिदिनके व्यवहारमें लावें तो संसार स्वर्ग हो जाय।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी०ए०, एल्-एल्० बी०)

(गतांकसे आगे)

केशव—अच्छा, भोजनके तमाम आवश्यक अंशोंको तो मैं समझ गया, परन्तु अभी यह नहीं मालूम हुआ कि कौन-कौन-सा अंश कितनी मात्रामें हमारे लिये आवश्यक है और उसे प्राप्त करनेके लिये हमें नित्य क्या-क्या और कितना आहार करना चाहिये।

पिता—इसका निर्णय हर एक व्यक्तिके लिये उसकी आयु, डीलडौल, शारीरिक परिश्रम और ऋतु तथा देशके विचारसे अलग-अलग ही किया जा सकता है। तुम जानते हो कि भोजनका प्रोटीन नामक अंश शरीरको बनाने और बढ़ानेका काम करता है। अतएव जिन लोगोंका शरीर अभी बनने या बढ़नेकी अवस्थामें है उनके (अर्थात् शिशु, बालक और नवयुवकोंके) भोजनमें प्रोटीनकी मात्रा बड़े-बूढ़ोंके (जिनके शरीरको अब आगे नहीं बढ़ना है) भोजनसे ज्यादा होनी चाहिये। इसी प्रकार जो कसरती लोग हैं या जिन्हें शरीरसे का परिश्रम करना पड़ता है, उनके भोजनमें बैठलुओं अपेक्षा कार्बोज (Carbohydrates) नामक अंश अधिक आवश्यकता रहती है, क्योंकि उनके शरी शक्तिका खर्च अधिक होता है और कार्बोजसे ही (मेहनत करनेकी) शक्ति उनके शरीरको मिल सक है। देश और ऋतुका प्रभाव भी इस विषयमें कम मह पूर्ण नहीं होता। जिन देशोंमें सर्दी अधिक पड़ती है शरीरकी गर्मी ज्यादा तेजीके साथ निकलती रहती है अतएव उसे कायम रखनेके लिये भोजनमें चरबीदार पदार्थोंका ज्यादा होना जरूरी है। इसीलिये इंग् लैंड आदि ठंडे देशोंके निवासी चरबीवाले प बड़े शौकसे खाया करते हैं। वहाँके बड़े भोजनप्रिय टुकड़े ऐसे देखने में आते हैं, जैसे पुनर्डेन मिस्र.

पान देकर उसकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाना धर्म है। दूसरी ओर हत्या करके उसकी उन्नतिमें बाधा पहुँचाना अधर्म या पाप है। इसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें जिन-जिन कर्मोंका विधान है सभीसे जीवोंकी उन्नतिमें सहायता पहुँचती है।

धर्म क्या है—इसका निष्कर्ष महर्षि वेदव्यासजीने पितामह भीष्मदेवके मुखसे कहलाया था।

कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें पितामह भीष्म शरशय्यापर लेटे हुए थे। युधिष्ठिर आदि पाण्डव उनसे अन्तिम उपदेश लेनेके लिये उनके पास पहुँचे। श्रीकृष्ण, द्रौपदी आदि भी साथमें थे। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदिके विषयके उपदेश सुननेके पश्चात् युधिष्ठिरने धर्मका संक्षिप्त लक्षण पूछा। उसके उत्तरमें महात्मा भीष्मदेवने कहा—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'अपनेको बुरा लगे ऐसा बर्ताव दूसरेसे नहीं करना चाहिये। यही धर्मका सारसर्वस्व है।'

भीष्मदेवका यह उपदेश सुना तो सभीने था, पर उसे कार्यरूपमें परिणत किया था केवल द्रौपदीने।

कुरुक्षेत्र-युद्धके अन्तमें सारे कौरवोंके मारे जानेके अनन्तर राजा दुर्योधन ह्रदमें जा छिपे थे। गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामा खोजते-ढूँढ़ते उनके पास पहुँचे। उन्होंने राजाको सान्त्वना देते हुए कहा—'मित्र! शोक न करो। तुम्हारे निन्यानबे भाई युद्धमें मारे गये हैं, उसके बदले आज रातको मैं पाँचों पाण्डवोंके सिर काटकर तुम्हारे सामने ला दूँगा।'

रात्रिको अश्वत्थामा पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचे। पाँचों पाण्डव जहाँ नित्य सोते थे, उस दिन [illegible] वे वहाँ नहीं थे। वहाँ द्रौपदीके पाँच पुत्र सोये हुए थे। अँधेरेमें अश्वत्थामा [illegible] पाण्डव समझकर [illegible] काट ले गये। राजा दुर्योधनके पास पहुँचनेपर [illegible] अँधेरेमें एक-एक सिर हाथमें लेकर दबाया। [illegible] सिर महाबली दुर्योधनके हाथके दबावसे टूट गये। अन्तमें उन्होंने भीमका सिर माँगा। दबावसे वह भी टूट गया। तब उनके मनमें सन्देह हुआ कि [illegible] महाबली भीमका सिर अस्सी मन वजनकी लोहे[illegible] गदाके प्रहारसे न टूटा वह आज हाथके दबावसे टूट गया! राजाको निश्चय हो गया कि ये पाण्डवोंके सिर नहीं हैं बल्कि उनके पुत्रोंके सिर हैं। तब उन्होंने विलाप करते हुए कहा—'हाय! हाय! गुरुपुत्र! तुमने यह क्या किया! मेरे वंशका तो नाश हो ही गया है। अब तुमने पाण्डवोंके कुलका भी नाश कर दिया। तुम हमारे सामनेसे हट जाओ।'

प्रातःकाल पुत्रोंके सिर कटे धड़ोंको देखकर द्रौपदी रोने लगी। पाँचों पाण्डव वहाँ आ पहुँचे। पुत्रोंकी मृत्युका कारण कोई भी न समझ सके। श्रीकृष्णने बताया कि—'कौरव-पक्षमें केवल दुर्योधन और अश्वत्थामा ही जीवित हैं। दुर्योधन भाग गया है, इस कारण उसका मित्र अश्वत्थामा ही उसे प्रसन्न करनेके लिये पाण्डव समझकर तुम्हारे पुत्रोंके सिर काट ले गये हैं।'

अपने ही गुरुके पुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अपने सारे पुत्रोंकी हत्याकी बात सुनकर अर्जुन गरज उठे—'द्रौपदी! तुम मत रोओ, अश्वत्थामा स्वर्ग, [illegible] पाताल—[illegible] कहीं हो मैं उसे पकड़ लाऊँगा और तुम्हारे सामने लाकर उसका सिर काट डालूँगा। उसके [illegible] नहाकर तुम अपने हृदयको शान्त कर लेना।'

[illegible]

[illegible]

नहीं है। अश्वत्थामा कोई ऐसा बड़ा वीर नहीं है कि मैं अकेला उसे पकड़ न ला सकूँ।'

श्रीकृष्ण रोके न रुके। वे अर्जुनके साथ ही चल दिये। अर्जुनने द्वैपायन ह्रदके पास जाकर अश्वत्थामाको पकड़ लिया। श्रीकृष्णने कहा,—'बस अब झट इसका सिर काट डालो।'

अर्जुनने कहा—'नहीं, मैंने प्रतिज्ञा की है कि द्रौपदीके सामने ले जाकर इसे काटूँगा।'

श्रीकृष्णने हँसते हुए कहा—'तब तो तुम काट चुके।'

अर्जुनने उनका कहना न माना। वे अश्वत्थामाको पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये। अपनी आसन्न-मृत्यु समझकर अश्वत्थामा रो रहे थे, अर्जुनने अश्वत्थामा-के सिरके बाल अपने बायें हाथसे पकड़ रक्खे थे और उनके दाहिने हाथमें नंगी तलवार थी। अश्वत्थामा देखते ही द्रौपदीके मनमें अपने पुत्रोंका शोक न आया। उन्होंने अर्जुनसे कहा—

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः।
मा रोदि तस्य जननी गौतमी पतिदेवता॥

'छोड़ दो, इसे छोड़ दो, ब्राह्मण पूज्य हैं, मैं जि प्रकार अपने पुत्रोंके शोकसे रो रही हूँ वैसे इनकी मा पतिपरायणा गौतमी न रोये।'

अन्तमें अर्जुनको उन्हें छोड़ ही देना पड़ा। द्रौप ने 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'— इस सार उपदेशको अपने जीवनमें चरितार्थ कर दिय ।

यदि हम सब भी धर्मके इस एक उपदेश प्रतिदिनके व्यवहारमें लावें तो संसार स्वर्ग हो जाय

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी०ए०, एल्-एल्० बी०)

(गतांकसे आगे)

केशव—अच्छा, भोजनके तमाम आवश्यक अंशोंको तो मैं समझ गया, परन्तु अभी यह नहीं मालूम हुआ कि कौन-कौन-सा अंश कितनी मात्रामें हमारे लिये आवश्यक है और उसे प्राप्त करनेके लिये हमें नित्य क्या-क्या और कितना आहार करना चाहिये।

पिता—इसका निर्णय हर एक व्यक्तिके लिये उसकी आयु, डीलडौल, शारीरिक परिश्रम और ऋतु तथा देशके विचारसे अलग-अलग ही किया जा सकता है। तुम जानते हो कि भोजनका प्रोटीन नामक अंश शरीरको बनाने और बढ़ानेका काम करता है। अतएव जिन लोगोंका शरीर अभी बनने या बढ़नेकी अवस्थामें है उनके (अर्थात् शिशु, बालक और नवयुवकोंके) भोजनमें प्रोटीनकी मात्रा बड़े-बूढ़ोंके (जिनके शरीरको अब आगे नहीं बढ़ना है) भोजनसे ज्यादा होनी चाहिये। इसी प्रकार जो कसरती लोग हैं या जिन्हें शरीरसे ज्या परिश्रम करना पड़ता है, उनके भोजनमें प्रोटी अपेक्षा कार्बोज (Carbohydrates) नामक अंश अधिक आवश्यकता रहती है, क्योंकि उनके शरी शक्तिका खर्च अधिक होता है और कार्बोजसे ही (मेहनत करनेकी) शक्ति उनके शरीरको मिल सक है। देश और ऋतुका प्रभाव भी इस विषयमें कम मह पूर्ण नहीं होता। जिन देशोंमें सर्दी अधिक पड़ती है व शरीरकी गर्मी ज्यादा तेजीके साथ निकलती रहती है अतएव उसे कायम रखनेके लिये भोजनमें पदार्थोंका ज्यादा होना जरूरी है। इसीलिये ग्रीनलैंड आदि बर्फीले देशोंके निवासी वसाजातीय प बड़े शौकसे खाया करते हैं। वहाके बच्चे मोमबत्तिये टुकड़े ऐसे प्रेमसे खा जाते हैं, जैसे तुमलोग

पान देकर उसकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाना धर्म है। दूसरी ओर हत्या करके उसकी उन्नतिमें बाधा पहुँचाना अधर्म या पाप है। इसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें जिन-जिन कर्मोंका विधान है सभीसे जीवोंकी उन्नतिमें सहायता पहुँचती है।

धर्म क्या है—इसका निष्कर्ष महर्षि वेदव्यासजीने पितामह भीष्मदेवके मुखसे कहलाया था।

कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें पितामह भीष्म शरशय्यापर लेटे हुए थे। युधिष्ठिर आदि पाण्डव उनसे अन्तिम उपदेश लेनेके लिये उनके पास पहुँचे। श्रीकृष्ण, द्रौपदी आदि भी साथमें थे। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदिके विषयके उपदेश सुननेके पश्चात् युधिष्ठिरने धर्मका संक्षिप्त लक्षण पूछा। उसके उत्तरमें महात्मा भीष्मदेवने कहा—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'अपनेको बुरा लगे ऐसा बर्ताव दूसरेसे नहीं करना चाहिये। यही धर्मका सारसर्वस्व है।'

भीष्मदेवका यह उपदेश सुना तो सभीने था, पर उसे कार्यरूपमें परिणत किया था केवल द्रौपदीने।

कुरुक्षेत्र-युद्धके अन्तमें सारे कौरवोंके मारे जानेके अनन्तर राजा दुर्योधन ह्रदमें जा छिपे थे। गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामा खोजने-ढूँढ़ते उनके पास पहुँच गये। उन्होंने राजासे सान्त्वना देते हुए कहा—'मित्र! तुम शोक न करो। तुम्हारे निन्दानके [illegible] तुमने [illegible] गये हैं, उसके बदले आज [illegible] पाँचों पाण्डवोंके सिर काटकर तुम्हारे सामने ला दूँगा।'

रात्रिके [illegible] पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचे। [illegible] पाँचों पाण्डव वहाँ नहीं थे। [illegible] वे वहाँ नहीं थे। [illegible] द्रौपदीके [illegible] पुत्रोंके [illegible] उन्होंने [illegible]

काट ले गये। राजा दुर्योधनके पास पहुँचनेपर उ[illegible] अँधेरेमें एक-एक सिर हाथमें लेकर दबाया। [illegible] सिर महाबली दुर्योधनके हाथके दबावसे टूट गये। अन्तमें उन्होंने भीमका सिर माँगा। दबावसे वह भी टूट गया। तब उनके मनमें सन्देह हुआ कि जि[illegible] महाबली भीमका सिर अस्सी मन वजनकी लोहेकी गदाके प्रहारसे न टूटा वह आज हाथके दबावसे टूट गया! राजाको निश्चय हो गया कि ये पाण्डवोंके सिर नहीं है बल्कि उनके पुत्रोंके सिर हैं। तब उन्होंने विलाप करते हुए कहा—'हाय! हाय! गुरुपुत्र! तुमने यह क्या किया! मेरे वंशका तो नाश हो ही गया है। अब तुमने पाण्डवोंके कुलका भी नाश कर दिया। तुम हमारे सामनेसे हट जाओ।'

प्रातःकाल पुत्रोंके सिर कटे धड़ोंको देखकर द्रौपदी रोने लगी। पाँचों पाण्डव वहाँ आ पहुँचे। पुत्रोंकी मृत्युका कारण कोई भी न समझ सके। श्रीकृष्णने बताया कि—'कौरव-पक्षमें केवल दुर्योधन और अश्वत्थामा ही जीवित हैं। दुर्योधन भाग गया है, इस कारण उसका मित्र अश्वत्थामा ही उसे प्रसन्न करनेके लिये पाण्डव समझकर तुम्हारे पुत्रोंके सिर काट ले गये हैं।'

अपने ही गुरुके पुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अपने [illegible] पुत्रोंकी हत्याकी बात सुनकर अर्जुन [illegible]— 'द्रौपदी! तुम [illegible] अश्वत्थामा [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

नहीं है। अश्वत्थामा कोई ऐसा बड़ा वीर नहीं है कि मैं अकेला उसे पकड़ न ला सकूँ।'

श्रीकृष्ण सर्जी न हुए। वे अर्जुनके साथ ही चल दिये। अर्जुनने द्वैपायन ह्रदके पास जाकर अश्वत्थामाको पकड़ लिया। श्रीकृष्णने कहा,—'बस अब झट इसका सिर काट डालो।'

अर्जुनने कहा—'नहीं, मैंने प्रतिज्ञा की है कि द्रौपदीके सामने ले जाकर इसे काटूँगा।'

श्रीकृष्णने हँसते हुए कहा—'तब तो तुम काट चुके।'

अर्जुनने उनका कहना न माना। वे अश्वत्थामाको पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये। अपनी आसन्न-मृत्यु समझकर अश्वत्थामा रो रहे थे, अर्जुनने अश्वत्थामाके सिरके बाल अपने बायें हाथसे पकड़ रक्खे थे और उनके दाहिने हाथमें नंगी तलवार थी। अश्वत्थामा देखते ही द्रौपदीके मनमें अपने पुत्रोंका शोक आया। उन्होंने अर्जुनसे कहा—

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः।
मा रोदि तस्य जननी गौतमी पतिदेवता॥

'छोड़ दो, इसे छोड़ दो, ब्राह्मण पूज्य है, मैं [illegible] प्रकार अपने पुत्रोंके शोकसे रो रही हूँ वैसे इनकी मा पतिपरायणा गौतमी न रोये।'

अन्तमें अर्जुनको उन्हें छोड़ ही देना पड़ा। द्रौपदीने 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—इस सार उपदेशको अपने जीवनमें [illegible] कर दि[illegible]

यदि हम सब भी धर्मके इस एक उपदेशको प्रतिदिनके व्यवहारमें लावें तो संसार स्वर्ग हो जाय।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी०ए०, एल्-एल्० बी०)

(गतांकसे आगे)

केशव—अच्छा, भोजनके तमाम आवश्यक अंशोंको तो मैं समझ गया, परन्तु अभी यह नहीं मालूम हुआ कि कौन-कौन-सा अंश कितनी मात्रामें हमारे लिये आवश्यक है और उसे प्राप्त करनेके लिये हमें नित्य क्या-क्या और कितना आहार करना चाहिये।

पिता—इसका निर्णय हर एक व्यक्तिके लिये उसकी आयु, डीलडौल, शारीरिक परिश्रम और ऋतु तथा देशके विचारसे अलग-अलग ही किया जा सकता है। तुम जानते हो कि भोजनका प्रोटीन नामक अंश शरीरको बनाने और बढ़ानेका काम करता है। अतएव जिन लोगोंका शरीर अभी बनने या बढ़नेकी अवस्थामें है उनके (अर्थात् शिशु, बालक और नवयुवकोंके) भोजनमें प्रोटीनकी मात्रा बड़े-बूढ़ोंके (जिनके शरीरको अब आगे नहीं बढ़ना है) भोजनसे ज्यादा होनी चाहिये। इसी प्रकार जो कसरती लोग हैं या जिन्हें शरीरसे [illegible] परिश्रम करना पड़ता है, उनके भोजनमें [illegible] अपेक्षा कार्बोज (Carbohydrates) नामक [illegible] अधिक आवश्यकता रहती है, क्योंकि उनके शरी[illegible] शक्तिका खर्च अधिक होता है और कार्बोजसे ही [illegible] (मेहनत करनेकी) शक्ति उनके शरीरको मिल [illegible] है। देश और ऋतुका प्रभाव भी इस विषयमें कम [illegible] पूर्ण नहीं होता। जिन देशोंमें सर्दी अधिक पड़ती है [illegible] शरीरकी गर्मी ज्यादा तेजीके साथ निकलती रहती है अतएव उसे क़ायम रखनेके लिये भोजनमें वस[illegible] पदार्थोंका ज्यादा होना जरूरी है। इसीलिये [illegible] ग्रीनलैंड आदि बर्फीले देशोंके निवासी वसाजातीय प[illegible] बड़े शौकसे खाया करते हैं। वहाँके बच्चे मोमबत्ति[illegible] टुकड़े ऐसे प्रेमसे खा जाते हैं, जैसे तुमलोग [illegible]

पान देकर उसकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाना धर्म है। दूसरी ओर हत्या करके उसकी उन्नतिमें बाधा पहुँचाना अधर्म या पाप है। इसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें जिन-जिन कर्मोंका विधान है सभीसे जीवोंकी उन्नतिमें सहायता पहुँचती है।

धर्म क्या है—इसका निष्कर्ष महर्षि वेदव्यासजीने पितामह भीष्मदेवके मुखसे कहलाया था।

कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें पितामह भीष्म शरशय्यापर लेटे हुए थे। युधिष्ठिर आदि पाण्डव उनसे अन्तिम उपदेश लेनेके लिये उनके पास पहुँचे। श्रीकृष्ण, द्रौपदी आदि भी साथमें थे। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदिके विषयके उपदेश सुननेके पश्चात् युधिष्ठिरने धर्मका संक्षिप्त लक्षण पूछा। उसके उत्तरमें महात्मा भीष्मदेवने कहा—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'अपनेको बुरा लगे ऐसा बर्ताव दूसरेसे नहीं करना चाहिये। यही धर्मका सारसर्वस्व है।'

भीष्मदेवका यह उपदेश सुना तो सभीने था, पर उसे कार्यरूपमें परिणत किया था केवल द्रौपदीने।

कुरुक्षेत्र-युद्धके अन्तमें सारे कौरवोंके मारे जानेके अनन्तर राजा दुर्योधन ह्रदमें जा छिपे थे। गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामा खोजते-ढूँढ़ते उनके पास पहुँच गये। उन्होंने राजाको सान्त्वना देते हुए कहा—'मित्र! तुम शोक न करो। तुम्हारे निन्यानबे भाई युद्धमें मारे गये हैं, उसके बदले आज रातको मैं पाँचों पाण्डवोंके सिर काटकर तुम्हारे सामने ला दूँगा।'

रात्रिको अश्वत्थामा पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचे। पाँचों पाण्डव जहाँ नित्य सोते थे, उस दिन भाग्यसे वे वहाँ नहीं थे। वहाँ द्रौपदीके पाँच पुत्र सोये हुए थे। अँधेरेमें अश्वत्थामा [illegible] पाण्डव समझकर उनके सिर काट ले गये। राजा दुर्योधनके पास पहुँचनेपर अँधेरेमें एक-एक सिर हाथमें लेकर दबाया। बालक सिर महाबली दुर्योधनके हाथके दबावसे टूट गये। अन्तमें उन्होंने भीमका सिर माँगा। दबावसे वह भी टूट गया। तब उनके मनमें सन्देह हुआ कि जिस महाबली भीमका सिर अस्सी मन वजनकी लोहेकी गदाके प्रहारसे न टूटा वह आज हाथके दबावसे टूट गया! राजाको निश्चय हो गया कि ये पाण्डवोंके सिर नहीं हैं बल्कि उनके पुत्रोंके सिर हैं। तब उन्होंने विलाप करते हुए कहा—'हाय! हाय! गुरुपुत्र! तुमने यह क्या किया? मेरे वंशका तो नाश हो ही गया है। अब तुमने पाण्डवोंके कुलका भी नाश कर दिया। तुम हमारे सामनेसे हट जाओ।'

प्रातःकाल पुत्रोंके सिर कटे धड़ोंको देखकर द्रौपदी रोने लगी। पाँचों पाण्डव वहाँ आ पहुँचे। पुत्रोंकी मृत्युका कारण कोई भी न समझ सके। श्रीकृष्णने बताया कि—'कौरव-पक्षमें केवल दुर्योधन और अश्वत्थामा ही जीवित हैं। दुर्योधन भाग गया है, इस कारण उसका मित्र अश्वत्थामा ही उसे प्रसन्न करनेके लिये पाण्डव समझकर तुम्हारे पुत्रोंके सिर काट ले गये हैं।'

अपने ही गुरुके पुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अपने सारे पुत्रोंकी हत्याकी बात सुनकर अर्जुन गरज उठे—'द्रौपदी! तुम मत रोओ, अश्वत्थामा स्वर्ग, मर्त्य या पाताल—त्रिलोकमें जहाँ कहीं हो मैं उसे पकड़ लाऊँगा और तुम्हारे सामने लाकर उसका सिर काट डालूँगा। उसके बाद स्नान करके पुनः अपने हृदयको शान्त कर लेना।'

[illegible]

[illegible]

नहीं है। अश्वत्थामा कोई ऐसा बड़ा वीर नहीं है कि मैं अकेला उसे पकड़ न ला सकूँ।'

श्रीद्रौपदी राजी न हुए। वे अर्जुनके साथ ही चल दिये। अर्जुनने द्वैतवन हृदके पास जाकर अश्वत्थामाको पकड़ लिया। श्रीकृष्णने कहा,—'बस अब झट इसका सिर काट डालो।'

अर्जुनने कहा—'नहीं, मैंने प्रतिज्ञा की है कि द्रौपदीके सामने ले जाकर इसे काटूँगा।'

श्रीकृष्णने हँसते हुए कहा—'तब तो तुम काट चुके।'

अर्जुनने उनका कहना न माना। वे अश्वत्थामाको पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये। अपनी आसन्न-मृत्यु समझकर अश्वत्थामा रो रहे थे, अर्जुनने अश्वत्थामा-के सिरके बाल अपने बायें हाथमें पकड़ रक्खे थे और उनके दाहिने हाथमें नंगी तलवार थी। अश्वत्थामा देखते ही द्रौपदीके मनमें अपने पुत्रोंका शोक उ[illegible]आया। उन्होंने अर्जुनसे कहा—

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः।
मा रोदि तस्य जननी गौतमी पतिदेवता॥

'छोड़ दो, इसे छोड़ दो, ब्राह्मण पूज्य हैं, मैं जि[स] प्रकार अपने पुत्रोंके शोकसे रो रही हूँ वैसे इनकी मा पतिपरायणा गौतमी न रोये।'

अन्तमें अर्जुनको उन्हें छोड़ ही देना पड़ा। [illegible] ने 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—इस सार उपदेशको अपने जीवनमें चरितार्थ कर दिखा[या]।

यदि हम सब भी धर्मके इस एक उपदेश प्रतिदिनके व्यवहारमें लावें तो संसार स्वर्ग हो जाय।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी०ए०, एल्-एल्० बी०)

(गतांकसे आगे)

केशव—अच्छा, भोजनके तमाम आवश्यक अंशोंको तो मैं समझ गया, परन्तु अभी यह नहीं मालूम हुआ कि कौन-कौन-सा अंश कितनी मात्रामें हमारे लिये आवश्यक है और उसे प्राप्त करनेके लिये हमें नित्य क्या-क्या और कितना आहार करना चाहिये।

पिता—इसका निर्णय हर एक व्यक्तिके लिये उसकी आयु, डीलडौल, शारीरिक परिश्रम और ऋतु तथा देशके विचारसे अलग-अलग ही किया जा सकता है। तुम जानते हो कि भोजनका प्रोटीन नामक अंश शरीरको बनाने और बढ़ानेका काम करता है। अतएव जिन लोगोंका शरीर अभी बनने या बढ़नेकी अवस्थामें है उनके (अर्थात् शिशु, बालक और नवयुवकोंके) भोजनमें प्रोटीनकी मात्रा बड़े-बूढ़ोंके (जिनके शरीरको अब आगे नहीं बढ़ना है) भोजनसे ज्यादा होनी चाहिये। इसी प्रकार जो कसरती लोग हैं या जिन्हें शरीरसे परिश्रम करना पड़ता है, उनके भोजनमें [illegible] अपेक्षा कार्बोज (Carbohydrates) नामक अंश[की] अधिक आवश्यकता रहती है, क्योंकि उनके श[रीरकी] शक्तिका खर्च अधिक होता है और कार्बोजसे ही (मेहनत करनेकी) शक्ति उनके शरीरको मिल सक[ती] है। देश और ऋतुका प्रभाव भी इस विषयमें कम [महत्त्व]पूर्ण नहीं होता। जिन देशोंमें सर्दी अधिक पड़ती है व[हाँ] शरीरकी गर्मी ज्यादा तेजीके साथ निकलती रहती है अतएव उसे कायम रखनेके लिये भोजनमें [illegible] पदार्थोंका ज्यादा होना जरूरी है। इसीलिये [illegible] ग्रीनलैंड आदि बर्फीले देशोंके निवासी वसाजातीय प[दार्थ] बड़े शौकसे खाया करते हैं। वहांके बच्चे मोमबत्तियों[के] टुकड़े ऐसे प्रेमसे खा जाते हैं, जैसे तुमलोग [illegible]

पान देकर उसकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाना धर्म है। दूसरी ओर हत्या करके उसकी उन्नतिमें बाधा पहुँचाना अधर्म या पाप है। इसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें जिन-जिन कर्मोंका विधान है सभीसे जीवोंकी उन्नतिमें सहायता पहुँचती है।

धर्म क्या है—इसका निष्कर्ष महर्षि वेदव्यासजीने पितामह भीष्मदेवके मुखसे कहलाया था।

कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें पितामह भीष्म शरशय्यापर लेटे हुए थे। युधिष्ठिर आदि पाण्डव उनसे अन्तिम उपदेश लेनेके लिये उनके पास पहुँचे। श्रीकृष्ण, द्रौपदी आदि भी साथमें थे। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदिके विषयके उपदेश सुननेके पश्चात् युधिष्ठिरने धर्मका संक्षिप्त लक्षण पूछा। उसके उत्तरमें महात्मा भीष्मदेवने कहा—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'अपनेको बुरा लगे ऐसा बर्ताव दूसरेसे नहीं करना चाहिये। यही धर्मका सारसर्वस्व है।'

भीष्मदेवका यह उपदेश सुना तो सभीने था, पर उसे कार्यरूपमें परिणत किया था केवल द्रौपदीने।

कुरुक्षेत्र-युद्धके अन्तमें सारे कौरवोंके मारे जानेके अनन्तर राजा दुर्योधन ह्रदमें जा छिपे थे। गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामा खोजते-ढूँढते उनके पास पहुँच गये। उन्होंने राजाको सान्त्वना देते हुए कहा—'मित्र! तुम शोक न करो। तुम्हारे [illegible] मारे हैं, उसके बदले आज रातमें मैं पाँचों पाण्डवोंके सिर काटकर तुम्हारे सामने ला दूँगा।'

रात्रिमें अश्वत्थामा पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचे। [illegible]

काट ले गये। राजा दुर्योधनके पास पहुँचनेपर उन्होंने अँधेरेमें एक-एक सिर हाथमें लेकर दबाया। बालकोंके सिर महाबली दुर्योधनके हाथके दबावसे टूट गये। अन्तमें उन्होंने भीमका सिर माँगा। दबावसे वह भी टूट गया। तब उनके मनमें सन्देह हुआ कि जिस महाबली भीमका सिर अस्सी मन वजनकी लोहेकी गदाके प्रहारसे न टूटा वह आज हाथके दबावसे टूट गया! राजाको निश्चय हो गया कि ये पाण्डवोंके सिर नहीं हैं बल्कि उनके पुत्रोंके सिर हैं। तब उन्होंने विलाप करते हुए कहा—'हाय! हाय! गुरुपुत्र! तुमने यह क्या किया? मेरे वंशका तो नाश हो गया है। अब तुमने पाण्डवोंके कुलका भी नाश कर दिया। तुम हमारे सामनेसे हट जाओ।'

प्रातःकाल पुत्रोंके सिर कटे धड़ोंको देखकर द्रौपदी रोने लगी। पाँचों पाण्डव वहीं आ पहुँचे। पुत्रोंकी मृत्युका कारण कोई भी न समझ सके। श्रीकृष्णने बताया कि—'कौरव-पक्षमें केवल दुर्योधन और अश्वत्थामा ही जीवित हैं। दुर्योधन भाग गया है, इस कारण उसका मित्र अश्वत्थामा ही उसे प्रसन्न करनेके लिये पाण्डव समझकर तुम्हारे पुत्रोंके सिर काट ले गये हैं।'

अपने ही गुरुके पुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अपने [illegible] पुत्रोंकी हत्याकी बात सुनकर अर्जुन [illegible]—'द्रौपदी! तुम मत रोओ, [illegible]

[illegible]

नहीं है। अश्वत्थामा कोई ऐसा बड़ा वीर नहीं है कि मैं अकेला उसे पकड़ न ला सकूँ।'

श्रीकृष्ण राजी न हुए। वे अर्जुनके साथ ही चल दिये। अर्जुनने द्वैपायन ह्रदके पास जाकर अश्वत्थामाको पकड़ लिया। श्रीकृष्णने कहा,—'बस अब झट इसका सिर काट डालो।'

अर्जुनने कहा—'नहीं, मैंने प्रतिज्ञा की है कि द्रौपदीके सामने ले जाकर इसे काटूँगा।'

श्रीकृष्णने हँसते हुए कहा—'तब तो तुम काट चुके।'

अर्जुनने उनका कहना न माना। वे अश्वत्थामाको पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये। अपनी आसन्न-मृत्यु समझकर अश्वत्थामा रो रहे थे, अर्जुनने अश्वत्थामा-के सिरके बाल अपने बायें हाथसे पकड़ रक्खे थे और उनके दाहिने हाथमें नंगी तलवार थी। अश्वत्थामा देखते ही द्रौपदीके मनमें अपने पुत्रोंका शोक उ आया। उन्होंने अर्जुनसे कहा—

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः।
मा रोदि तस्य जननी गौतमी पतिदेवता॥

'छोड़ दो, इसे छोड़ दो, ब्राह्मण पूज्य हैं, मैं f प्रकार अपने पुत्रोंके शोकसे रो रही हूँ वैसे इनकी मा पतिपरायणा गौतमी न रोये।'

अन्तमें अर्जुनको उन्हें छोड़ ही देना पड़ा। ने 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'— इस सार उपदेशको अपने जीवनमें चरितार्थ कर

यदि हम सब भी धर्मके इस एक उपदे प्रतिदिनके व्यवहारमें लावें तो संसार स्वर्ग हो जाय

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी०ए०, एल्-एल्० बी०)

(गतांकसे आगे)

केशव—अच्छा, भोजनके तमाम आवश्यक अंशोंको तो मैं समझ गया, परन्तु अभी यह नहीं मालूम हुआ कि कौन-कौन-सा अंश कितनी मात्रामें हमारे लिये आवश्यक है और उसे प्राप्त करनेके लिये हमें नित्य क्या-क्या और कितना आहार करना चाहिये।

पिता—इसका निर्णय हर एक व्यक्तिके लिये उसकी आयु, डीलडौल, शारीरिक परिश्रम और ऋतु तथा देशके विचारसे अलग-अलग ही किया जा सकता है। तुम जानते हो कि भोजनका प्रोटीन नामक अंश शरीरको बनाने और बढ़ानेका काम करता है। अतएव जिन लोगोंका शरीर अभी बनने या बढ़नेकी अवस्थामें है उनके (अर्थात् शिशु, बालक और नवयुवकोंके) भोजनमें प्रोटीनकी मात्रा बड़े-बूढ़ोंके (जिनके शरीरको अब आगे नहीं बढ़ना है) भोजनमें ज्यादा होनी चाहिये। इसी प्रकार जो कसरती लोग हैं या जिन्हें शरीरसे प परिश्रम करना पड़ता है, उनके भोजनमें प्रोटीनकी अपेक्षा कार्बोज (Carbobydrates) नामक अधिक आवश्यकता रहती है, क्योंकि उनके शरी शक्तिका खर्च अधिक होता है और कार्बोजसे ही (मेहनत करनेकी) शक्ति उनके शरीरको मिलती है। देश और ऋतुका प्रभाव भी इस विषयमें कम मह पूर्ण नहीं होता। जिन देशोंमें सर्दी अधिक पड़ती है शरीरकी गर्मी ज्यादा तेजीके साथ निकलती रहती अतएव उसे कायम रखनेके लिये भोजनमें चरबीदार पदार्थोंका ज्यादा होना जरूरी है। इसीलिये इंग्लैंड आदि ठंढे देशोंके निवासी चरबीदार प बड़े शौकसे खाया करते हैं। वहाँके बच्चे मक्खनके टुकड़े ऐसे क्रमसे खा जाते हैं, जैसे तुम लोग मिश्री

इस प्रकारकी तौल-नाप तो मुख्यतः उन लोगोंके उपयोगी होती है जहाँ बहुत-से मनुष्योंको सामूहिक रूपसे खिलाने-पिलानेकी जरूरत पड़ती है। जैसे जेलमें सिपाहियोंके लिये, बोर्डिंग-हाउसमें लड़कोंके लिये, गुरुकुल, अनाथालय और आश्रमोंमें वहाँके निवासियोंके लिये। साधारण व्यक्तिके लिये तो स्वाभाविक भूख ही उसके भोजनकी सबसे बढ़िया तौल-नाप है। यह भूख यदि वास्तवमें सच्ची भूख है तो, हमें ठीक उसी परिमाणमें लगा करती है, जिस परिमाणमें हमें भोजनकी जरूरत रहती है। उदाहरणार्थ—गरम देशोंकी अपेक्षा ठंडे देशोंमें हमें भोजनकी ज्यादा जरूरत रहती है, इसलिये वहाँ भूख हमें ज्यादा तेज लगती है। बैठकुओंकी अपेक्षा परिश्रमी लोगोंको भी भोजनकी ज्यादा जरूरत पड़ती है, अतएव उनकी भूख भी अधिक तेज रहती है। बच्चोंको बड़ोंकी अपेक्षा ज्यादा जल्दी-जल्दी भोजनकी जरूरत पड़ती है, अतएव उन्हें भूख जल्दी-जल्दी लगा करती है। अस्तु, साधारण दशामें हमारी भूख ही सब प्रकारकी वैज्ञानिक तौल-नापोंसे अच्छी और स्वाभाविक तौल-नाप कही जा सकती है और खाने-पीनेमें सदा इसीकी सलाह लेना कल्याणकर है। किन्तु बहुत-से लोग झूठी भूखको भी सच्ची भूख मान बैठते हैं और इसलिये हानि उठाया करते हैं। खान-पानकी खराबियोंसे बहुधा पेटमें एक प्रकारका खमीर या उफान उठा करता है, जिसमें मनुष्यको भूखका-सा कष्ट मालूम होने लगता है। किन्तु यह एक झूठी भूख है और थोड़ी देरमें आप-से-आप शान्त हो जाया करती है अथवा यदि थोड़ा-सा पानी ही पी लिया जाय तो भी शान्त पड़ जाती है। ऐसी भूखको सच्ची मानकर यदि भोजन किया करें तो उससे अनेक प्रकारके रोग उठ खड़े होंगे। इसी प्रकार कुछ लोग रुचि या झूठी इच्छाको भी भूख समझ लेते हैं और फिर उससे हानि उठाते हैं। तरह-तरहके बढ़िया और स्वादिष्ट पदार्थोंको देखकर भूख न रहते हुए भी बहुत खानेको मन चल जाता है। किन्तु इसे केवल मनकी माँग है, शरीरकी माँग न... अतएव इसे दबाना और शरीरकी माँगको ही भूख समझना उचित है। सच्ची भूख आंशिक न... बल्कि स्वतः होती है। साथ ही यह हमें ... बेचैन भी नहीं किया करती। बल्कि उसमें चित्त ... प्रकारसे शान्त और प्रसन्न रहता है तथा पेट ... जान पड़ती है। सच्ची भूखमें रूखा-सूखा भोजन अमृत-जैसा स्वादिष्ट लगता है और ऐसी ही भू... लिये कहावत प्रसिद्ध है कि—

भूख भर खाय नींद भर सोवे।
उसका रोग दूर जा रोवे॥

अस्तु, सब प्रकारकी झूठी भूख और ... दबाकर सच्ची भूखको ही अपनी पथ-प्रदर्शिका ... आवश्यक है। साथ ही कुछ थोड़ी-सी और भी बातें हैं, जिन्हें भोजनके समय ध्यानमें रखना ...

केशव—वे क्या हैं?

पिता—संक्षेपमें वे इस प्रकार हैं—

(१) भोजनपर बैठनेके पहले शरीर और ... सब प्रकारसे स्वच्छ और पवित्र कर लो। हाथ-पैर ... तरह धो डालो और यदि स्नानका समय हो तो ... नहा भी लो। चिन्ता और क्रोध पैदा करनेवाली बातोंको अलग रखकर केवल पवित्र और मनको प्र... करनेवाली बातोंकी ही चर्चा छेड़ो; क्योंकि मनका क्रियापर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

(२) भोजनके समय वस्त्र साफ, पवित्र, ढीले हल्के होने चाहिये। कोट, पतलून आदि ... खाना ठीक नहीं, क्योंकि इनसे शरीर जकड़ा रह... और पाचनेन्द्रियोंके काममें बाधा पहुँचती है।

(३) हर एक कौरको स्वाद ले-लेकर और चबा-चबाकर खाना उचित है। जबतक जी...

खाते हो। एक बार एक ध्रुवप्रदेशके प्रसिद्ध यात्री सर जान फ्रैंकलिनने ग्रीनलैंडमें यह जानना चाहा कि वहाँके निवासी ज़्यादा-से-ज़्यादा कितनी चर्बी खा सकते हैं। अतएव उन्होंने अपनी संदूकसे कुछ मोमबत्तियाँ निकालकर एक एस्किमो (Eskimo) बालकको खिलाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे करके पूरी सात सेर मोमबत्तियाँ उस बालकके पेटमें समा गयीं। तब फ्रैंकलिन साहबको अपनी मोमबत्तियोंका स्टाक खतम हो जानेका भय पैदा हुआ और उन्होंने वह प्रयोग बंद कर दिया। इसी प्रकार एक योरूपीय बन्दरगाहपर भी उत्तरी रूसके कई मल्लाह सड़कके सरकारी लैम्पोंसे तेल पीते हुए पकड़े गये थे। मतलब यह कि भोजनमें चर्बीकी आवश्यकता गरम देशोंसे ठण्डे देशोंमें अधिक रहा करती है। हमलोग भी यहाँ जाड़ेके दिनोंमें बादाम, अखरोट, गाजरका हलुआ इत्यादि चिकनाईदार चीजें अधिक खाया करते हैं, किन्तु गरमीके दिनोंमें नहीं। पृथ्वीके अनेक विद्वानोंने अनेक प्रकारके उपायोंसे यह जाननेकी चेष्टा की है कि मनुष्यके आहारमें किस चीजकी कितनी मात्रा होनी चाहिये और अपने-अपने मतानुसार उन्होंने अलग-अलग श्रेणीके मनुष्योंके लिये अलग-अलग भोजनकी तालिकाएँ भी बना डाली हैं। किन्तु उनमें मतभेद बहुत अधिक है और सबसे ज़्यादा मतभेद प्रोटीनकी मात्राके विषयमें दिखायी देता है। कुछ लोगोंका कहना है कि प्रोटीनका अंश भोजनमें सबसे ज़्यादा होना चाहिये और कुछ इसके विरुद्ध हैं। [illegible] अधिकतर विद्वानोंकी राय इसके विरुद्ध [illegible] देती है। अस्तु, [illegible] भिन्न-भिन्न [illegible] आवश्यक जान पड़ती है—

[illegible] (Carbohydrates) [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यह तालिका एक पूरी अवस्थाके मनुष्यके लिये [illegible] बच्चों और बालकोंके भोजनमें कार्बोजकी मात्रा कुछ [illegible] करके प्रोटीनकी मात्रा अधिक की जा सकती है, [illegible] बच्चोंका शरीर बढ़ता रहता है। इसके विपरीत [illegible] लिये प्रोटीनकी मात्रा कम करके कार्बोजकी मात्रा [illegible] देनी चाहिये।

केशव—परन्तु इसके लिये हमें कौन-कौन-सा [illegible] कितना भोजन करना चाहिये?

पिता—इस सम्बन्धमें एक संयुक्तप्रान्तीय [illegible] हमारे भोजनकी जो सूची तैयार की है वह [illegible] तालिकाके बहुत कुछ अनुकूल बैठती है। उनके [illegible] मानसिक परिश्रम करनेवाले स्वस्थ और [illegible] मनुष्यके लिये दिनभरके भोजनमें इस प्रकार [illegible]—

गेहूँका आटा ३ छटाँक, चनेका आटा २ [illegible], दाल १ छटाँक, दूध १२ छटाँक, घी [illegible] छटाँक, चीनी १ छटाँक, शाक-तरकारी यथारुचि। [illegible] २०३ छटाँक।

इस प्रकारके भोजनसे हमें कार्बोज [illegible] तोला, वसा ८ तोला और प्रोटीन ६.७५ तोला [illegible] हो सकता है। यदि हम इसमें [illegible] और जोड़ दें तो यह सूची हम [illegible] बहुत अच्छी आहार-सूची कही जा सकती है। [illegible]

[illegible]

इस प्रकारकी तौल-नाप तो मुख्यतः उन स्थानोंमें उपयोगी होती है जहाँ बहुत-से मनुष्योंको सामूहिक रूपसे खिलाने-पिलानेकी जरूरत पड़ती है। जैसे सेनामें सिपाहियोंके लिये, बोर्डिंग-हाउसमें छात्रोंके लिये, गुरुकुल, अनाथालय और आश्रमोंमें वहाँके निवासियोंके लिये। साधारण व्यक्तिके लिये तो स्वाभाविक भूख ही उसके भोजनकी सबसे बढ़िया तौल-नाप है। यह भूख यदि वास्तवमें सच्ची भूख है तो, हमें ठीक उसी परिमाणमें लगा करती है, जिस परिमाणमें हमें भोजनकी जरूरत रहती है। उदाहरणार्थ—गरम देशोंकी अपेक्षा ठंडे देशोंमें हमें भोजनकी ज़्यादा जरूरत रहती है, इसलिये वहाँ भूख हमें ज्यादा तेज़ लगती है। बैठलुओंकी अपेक्षा परिश्रमी लोगोंको भी भोजनकी ज़्यादा ज़रूरत पड़ती है, अतएव उनकी भूख भी अधिक तेज़ रहती है। बच्चोंको बड़ोंकी अपेक्षा ज़्यादा जल्दी-जल्दी भोजनकी ज़रूरत पड़ती है, अतएव उन्हें भूख जल्दी-जल्दी लगा करती है। अस्तु, साधारण दशामें हमारी भूख ही सब प्रकारकी वैज्ञानिक तौल-नापोंसे अच्छी और स्वाभाविक तौल-नाप कही जा सकती है और खाने-पीनेमें सदा इसीकी सलाह लेना कल्याणकर है। किन्तु बहुत-से लोग झूठी भूखको भी सच्ची भूख मान बैठते हैं और इसलिये हानि उठाया करते हैं। खान-पानकी खराबियोंसे बहुधा पेटमें एक प्रकारका खमीर या उफान उठा करता है, जिसमें मनुष्यको भूखका-सा कष्ट मालूम होने लगता है। किन्तु यह एक झूठी भूख है और थोड़ी देरमें आप-से-आप शान्त हो जाया करती है अथवा यदि थोड़ा-सा पानी ही पी लिया जाय तो भी शान्त पड़ जाती है। ऐसी भूखको सच्ची मानकर यदि भोजन किया करें तो उससे अनेक प्रकारके रोग उठ खड़े होंगे। इसी प्रकार कुछ लोग रुचि या झूठी इच्छाको भी भूख समझ लेते हैं और फिर उससे हानि उठाते हैं। तरह-तरहके बढ़िया और स्वादिष्ट पदार्थोंको देखकर भूख न रहते हुए भी बहुधा खानेको मन चल आता है। किन्तु हमारे चञ्चल मनकी माँग है, शरीरकी माँग अतएव इसे दबाना और शरीरकी माँगको ही भूख समझना उचित है। सच्ची भूख क्षणिक बल्कि स्थायी होती है। साथ ही वह हमें ज्य बेचैन भी नहीं किया करती। बल्कि उसमें चित्त प्रकारसे शान्त और प्रसन्न रहता है तथा देह ह जान पड़ती है। सच्ची भूखमें रूखा-सूखा भोजन अमृत-जैसा स्वादिष्ट लगता है और ऐसी ही भू लिये कहावत प्रसिद्ध है कि—

भूख भर खाय नींद भर सोवै।
उसका रोग दूर जा रोवै॥

अस्तु, सब प्रकारकी झूठी भूख और इच्छाअ दबाकर सच्ची भूखको ही अपनी पथ-प्रदर्शिका ब आवश्यक है। साथ ही कुछ थोड़ी-सी और भी बातें हैं, जिन्हें भोजनके समय ध्यानमें रखना चाहि

केशव—वे क्या हैं?

पिता—संक्षेपमें वे इस प्रकार हैं—

(१) भोजनपर बैठनेके पहले शरीर और म सब प्रकारसे स्वच्छ और पवित्र कर लो। हाथ-पैर अ तरह धो डालो और यदि स्नानका समय हो तो अ नहा भी लो। चिन्ता और क्रोध पैदा करनेवाली बातोंको अलग रखकर केवल पवित्र और मनको प्र करनेवाली बातोंकी ही चर्चा छेड़ो; क्योंकि मनका पा क्रियापर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

(२) भोजनके समय वस्त्र साफ, पवित्र, ढीले हल्के होने चाहिये। कोट, पतलून आदि पहन जाना ठीक नहीं, क्योंकि इनसे शरीर जकड़ा रहत और पाचनेन्द्रियोंके कामसें बाधा पहुँचती है।

(३) हर एक चीजको स्वाद ले-लेकर और चबा-चबाकर खाना उचित है। जबतक जो

खाते हो। एक बार एक ध्रुवप्रदेशके प्रसिद्ध यात्री सर जान फ्रैंकलिनने ग्रीनलैंडमें यह जानना चाहा कि वहाँके निवासी ज़्यादा-से-ज़्यादा कितनी चर्बी खा सकते हैं। अतएव उन्होंने अपनी संदूकसे कुछ मोमबत्तियाँ निकाल-कर एक एस्किमो (Eskimo) बालकको खिलाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे करके पूरी सात सेर मोमबत्तियाँ उस बालकके पेटमें समा गयीं। तब फ्रैंकलिन साहबको अपनी मोमबत्तियोंका स्टाक खतम हो जानेका भय पैदा हुआ और उन्होंने वह प्रयोग बंद कर दिया। इसी प्रकार एक योरूपीय बन्दरगाहपर भी उत्तरी रूसके कई मल्लाह सड़कके सरकारी लैम्पोंसे तेल पीते हुए पकड़े गये थे। मतलब यह कि भोजनमें चर्बीकी आवश्यकता गरम देशोंसे ठण्डे देशोंमें अधिक रहा करती है। हमलोग भी यहाँ जाड़ेके दिनोंमें बादाम, अखरोट, गाजरका हलुआ इत्यादि चिकनाईदार चीजें अधिक खाया करते हैं, किन्तु गरमीके दिनोंमें नहीं। पृथ्वीके अनेक विद्वानोंने अनेक प्रकारके उपायोंसे यह जाननेकी चेष्टा की है कि मनुष्यके आहारमें किस चीजकी कितनी मात्रा होनी चाहिये और अपने-अपने प्रयोगपर उन्होंने अलग-अलग ... [illegible]

यह तालिका एक पूरी अवस्थाके मनुष्य [illegible] बच्चों और बालकोंके भोजनमें कार्बोजकी मात्रा [illegible] करके प्रोटीनकी मात्रा अधिक की जा सकती है [illegible] बच्चोंका शरीर बढ़ता रहता है। इसके विपरीत [illegible] लिये प्रोटीनकी मात्रा कम करके कार्बोजकी मात्रा [illegible] देनी चाहिये।

केशव—परन्तु इसके लिये हमें कौन-कौन [illegible] कितना भोजन करना चाहिये?

पिता—इस सम्बन्धमें एक संयुक्त [illegible] हमारे भोजनकी जो सूची तैयार की है [illegible] तालिकाके बहुत कुछ अनुकूल बैठती है। [illegible] मानसिक परिश्रम करनेवाले [illegible] और [illegible] लिये दिनभरके भोजनमें इस प्रकार [illegible]

गेहूँका आटा ३ छटाँक, [illegible] दाल १ छटाँक, दूध १२ छटाँक, [illegible] चीनी १ छटाँक, [illegible] २०३ छटाँक।

इस प्रकारकी तौल-नाप तो मुख्यतः उन स्थानोंमें उपयोगी होती है जहाँ बहुत-से मनुष्योंको नियमित रूपसे खिलाने-पिलानेकी जरूरत रहती है। जैसे जेलमें सिपाहियोंके लिये, बोर्डिंग-हाउसमें छात्रोंके लिये, गुरुकुल, अनाथालय और आश्रमोंमें वहाँके निवासियोंके लिये। साधारण व्यक्तिके लिये तो स्वाभाविक भूख ही उसके भोजनकी सबसे बढ़िया तौल-नाप है। यह भूख यदि वास्तवमें सच्ची भूख है तो, हमें ठीक उसी परिमाणमें लगा करती है, जिस परिमाणमें हमें भोजनकी जरूरत रहती है। उदाहरणार्थ—गरम देशोंकी अपेक्षा ठंडे देशोंमें हमें भोजनकी ज्यादा जरूरत रहती है, इसलिये वहाँ भूख हमें ज्यादा तेज लगती है। बैठदुओंकी अपेक्षा परिश्रमी लोगोंको भी भोजनकी ज्यादा जरूरत पड़ती है, अतएव उनकी भूख भी अधिक तेज रहती है। बच्चोंको बड़ोंकी अपेक्षा ज्यादा जल्दी-जल्दी भोजनकी जरूरत पड़ती है, अतएव उन्हें भूख जल्दी-जल्दी लगा करती है। अस्तु, साधारण दशामें हमारी भूख ही सब प्रकारकी वैज्ञानिक तौल-नापोंसे अच्छी और स्वाभाविक तौल-नाप कही जा सकती है और खाने-पीनेमें सदा इसीकी सलाह लेना कल्याणकर है। किन्तु बहुत-से लोग झूठी भूखको भी सच्ची भूख मान बैठते हैं और इसलिये हानि उठाया करते हैं। खान-पानकी खराबियोंसे बहुधा पेटमें एक प्रकारका खमीर या उफान उठा करता है, जिसमें मनुष्यको भूखका-सा कष्ट मालूम होने लगता है। किन्तु यह एक झूठी भूख है और थोड़ी देरमें आप-से-आप शान्त हो जाया करती है अथवा यदि थोड़ा-सा पानी ही पी लिया जाय तो भी शान्त पड़ जाती है। ऐसी भूखको सच्ची मानकर यदि भोजन किया करें तो उससे अनेक प्रकारके रोग उठ खड़े होंगे। इसी प्रकार कुछ लोग रुचि या झूठी इच्छाको भी भूख समझ लेते हैं और फिर उससे हानि उठाते हैं। तरह-तरहके बढ़िया और स्वादिष्ट पदार्थोंको देखकर भूख न रहते हुए भी बहुत खानेको मन चल जाता है। किन्तु हमारे चञ्चल मनकी माँग है, शरीरकी माँग अतएव इसे दबाना और शरीरकी माँगको ही भूख समझना उचित है। सच्ची भूख स्वाभाविक बल्कि स्वस्थ होती है। साथ ही यह हमें ब बेचैन भी नहीं किया करती। बल्कि उसमें चित्त प्रकारसे शान्त और प्रसन्न रहता है तथा देह ह जान पड़ती है। सच्ची भूखमें रूखा-सूखा भोजन अमृत-जैसा स्वादिष्ट लगता है और ऐसी ही भू लिये कहावत प्रसिद्ध है कि—

भूख भर खाय नींद भर सोवै।
उसका रोग दूर जा रोवै॥

अस्तु, सब प्रकारकी झूठी भूख और इच्छाओं दबाकर सच्ची भूखको ही अपनी पथ-प्रदर्शिका बन आवश्यक है। साथ ही कुछ थोड़ी-सी और भी बातें हैं, जिन्हें भोजनके समय ध्यानमें रखना चाहि

केशव—वे क्या हैं?

पिता—संक्षेपमें वे इस प्रकार हैं—

(१) भोजनपर बैठनेके पहले शरीर और म सब प्रकारसे स्वच्छ और पवित्र कर लो। हाथ-पैर अ तरह धो डालो और यदि स्नानका समय हो तो अ नहा भी लो। चिन्ता और क्रोध पैदा करनेवाली बातोंको अलग रखकर केवल पवित्र और मनको प्र करनेवाली बातोंकी ही चर्चा छेड़ो; क्योंकि मनका पा क्रियापर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

(२) भोजनके समय वस्त्र साफ, पवित्र, ढीले हल्के होने चाहिये। कोट, पतलून आदि पहन खाना ठीक नहीं, क्योंकि इनसे शरीर जकड़ा रहत और पाचनेन्द्रियोंके काममें बाधा पहुँचती है।

(३) हर एक चीजको स्वाद ले-लेकर और चबा-चबाकर खाना उचित है। जबतक जी

स्वाद मिलता रहे तबतक कौरको चबाते ही रहना चाहिये और जब वह मुखकी लारसे मिलकर बिल्कुल पतला पड़ जाय तभी उसे निगलना चाहिये। अमेरिका-के होरेस फ्लेचर नामक एक मनुष्यने तो चबाकर खानेकी इस क्रियाको कलाके स्थानतक पहुँचा दिया था। और इसके द्वारा उसने पाचनसम्बन्धी कितने ही प्रकारके रोगोंको जड़से अच्छा कर दिया था। उसकी यह विधि अबतक 'फ्लेचरिज्म'के नामसे पुकारी जाती है।

(४) भोजनकी चीजोंमें सफाई और पवित्रताका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। बाजारू खोनचेवाले और दूकानदार लोग जो चीजें तैयार करते हैं। वह प्राय: बहुत गंदे ढंगसे बनाते हैं और उनसे भाँति-भाँतिके रोग फैला करते हैं। अतएव [illegible] खाकर सदा घरकी ही [illegible]

(८) भोजनके लिये समय [illegible] नियत समयपर ही भोजन करना बहुत [illegible] इससे बँधे हुए समयपर भूख लगती है और [illegible] ठीक रहती है। इस देशकी जलवायु [illegible] पूरी आयुवाले हम भारतीयोंके लिये दिनमें [illegible] बार भोजन करना ठीक समझ पड़ता है। [illegible] अवश्य चार बार खाना उचित है। किन्तु [illegible] कि बहुत-से बालक ऐसे होते हैं, जो [illegible] मुँह बकरीकी तरह चलाया करते हैं। [illegible] मूँगफली, मेवे, बिस्कुट या चनोंसे भरे [illegible] रास्तेमें भी उसे खाते चलते हैं। [illegible] दृष्टिसे बहुत बुरी है। एक [illegible]

से पशुओंके समान [illegible] है ।* महात्मा गांधीजी भी कह है कि यदि हम आवश्यकतासे अधिक खाते हैं तो वह चोरी करते हैं । जितना हम स्वादके लिये खाते हैं वह सच्चे पापकी भाँति किसी-न-किसी रूपमें फूट निकलता है । हम उतने ही दुःखी हो जाते हैं । हमारा स्वास्थ्य उतना ही बिगड़ जाता है ।' अस्तु, मिताहारकी ओर हमारा ध्यान सदैव रहना चाहिये । पेट हल्का होता है तो सारा शरीर हल्का रहता है और तबीअत हल्की रहती है । इसीलिये हमारे वैद्यक ग्रन्थमें लिखा है कि 'पेटके केवल दो कोने भोजनसे भरने चाहिये और तीसरा जलसे । किन्तु चौथा कोना सदैव हवाके चलने-फिरनेके लिये खाली छोड़ देना चाहिये ।'†

(१०) भोजनके उपरान्त थोड़ा लेटना, बैठना या आराम करना चाहिये, दौड़ना-धूपना या मेहनतके काम करना उचित नहीं ।

(११) महीनेमें एक या दो बार एकादशी या पूर्णिमाके दिन उपवास भी करना चाहिये । इससे पाचनेन्द्रियोंको आराम मिलता है और वे पहलेसे अधिक सबल हो जाती हैं । साथ ही भोजनसम्बन्धी जो कुछ भूलें हम किया करते हैं वे भी इस समय बहुत कुछ ठीक हो जाती हैं । हमारी जठराग्नि बढ़ जाती है और पाचनकी क्रिया तेज हो जाती है । साथ ही इससे हममें आत्मिक शक्ति भी प्रबल हो जाती है और विचार शुद्ध एवं बुद्धि पवित्र बन जाती है । लेकिन क्षीण और दुर्बल शरीरवालोंको हम उपवासकी राय नहीं दे सकते ।

इस प्रकार ये ग्यारह शिक्षाएँ भोजनके सम्बन्धमें सदा याद रखनेकी हैं ।

केशव–भोजनके साथ धर्मका भी कोई सम्बन्ध है ?

पिता–हम हिन्दुओंमें तो प्रत्येक कामके साथ धर्मका सम्बन्ध है । भोजनसे तो शरीर और मन बनता है जो धर्मसाधनके प्रधान हेतु हैं; फिर भोजनसे धर्मका सम्बन्ध कैसे न होता ! भोजन एक प्रकारका यज्ञ है जो के अंदर विराजमान भगवान्‌की तृप्तिके लिये किया है । यज्ञमें पवित्र वस्तु ही काममें आती है । इ में भी वही वस्तु काममें लेनी चाहिये जो उदाहरणार्थ, जो चीजें स्वभावसे पवित्र और सात्त्वि जैसे दूध, घी, मक्खन, फल, शाक आदि; जिनमें दोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, बरतन या व्य संयोगसे अपवित्रता न आ गयी हो; जो अन्याय औ अधर्मसे पैदा किये हुए, दूसरेके हकको मारकर ला हुए धनके कारण अपवित्र न हो । एक बात और है- भोजन केवल अपने ही लिये नहीं बनाना-खाना चाहिये अपने खानेसे पहले अतिथि-अभ्यागत, देवता, ऋ तथा दूसरे-दूसरे जीवोंके लिये यथासाध्य हिस्सा [illegible] कर तब खाना चाहिये । भोजन शुरू करते सम [illegible] को भगवत्-स्वरूप पवित्र मानकर प्रणाम करना और प्रत्येक कौरके साथ ऐसी धारणा करनी चाहिये कि इसके द्वारा मैं पवित्र, बलसम्पन्न, शुद्धबुद्धिसम्प और पुष्ट हो रहा हूँ । भोजन करते समय असद्विचा या असत् बातचीत नहीं करनी चाहिये । शुद्ध होक जमीनपर बैठकर भोजन करना चाहिये ।

आहार-शास्त्र एक बहुत बड़ा शास्त्र है और इसक सब बातें बतलानेमें एक भारी ग्रन्थ तैयार हो जायगा इसलिये यहाँ संक्षेपमें हमने केवल इसकी मुख्य-मुख बातें ही बतला दी हैं । आगे चलकर जब तुम ब होओगे तो इस सम्बन्धमें स्वयं पढ़कर सब बातें जा सकोगे । परन्तु जो बातें हमने ऊपर बतला दी हैं उन यदि ध्यानमें रक्खोगे और अपने व्यवहारमें लाते रहो तो हमारा विश्वास है कि बहुत-से नित्यप्रतिके दोषों औ रोगोंसे अपनेको बचा सकोगे ।

केशव–मैं अवश्य इनपर ध्यान रक्खूँगा ।

---

* अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः । रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ —माधवाचार्य

† कुक्षेर्भागद्वयं भोज्यैस्तृतीये वारि पूरयेत् । वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥ —माधवाचार्य